* जयगौर *

पूज्यपाद रसिक-कुल-मुकुटमणि

श्रीकृष्णदास कविराज–गोस्वामि–विरचित

श्री श्री चैतन्यचरितामृत

मध्य-लीला

[प्रथम व द्वितीय खण्ड]

★

सम्पादक :

श्री श्यामदास

श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल,

श्रीधाम–वृन्दावन.

※ जयगौर ※

श्री श्री चैतन्यचरितामृत

मध्य-लीला

[प्रथम व द्वितीय खण्ड]

पूज्यपाद रसिक-भक्त-मुकुटमणि

श्रीकृष्णदास कविराज-गोस्वामि-विरचित

★

श्रीमन्नित्यानन्द-प्रभुवंशावतंस अखण्डगुणगणालंकृत

परमपूज्यपाद श्री १००८ श्री देवकीनन्दन गोस्वामी-प्रभु पदाश्रित

श्री श्यामदास

कर्त्तृक सम्पादित

एवं

तत्कर्त्तृक लिखित श्रीश्रीगौरसुन्दर-कृपा स्फुरित

चैतन्य-चरण-चुम्बिनी टीका सम्वलित

★

श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल,

श्रीधाम-वृन्दावन ।

प्रकाशक :—
श्री श्यामलाल हकीम
कृते श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल
श्रीधाम-वृन्दावन ।

सप्तम् प्रकाशन

प्रथम संस्करण १०००
श्रावण तीज, वि० संवत् २०२१, सन् १९६४
श्री चैतन्याब्द, ४७८

न्यौछावर १५)

(सर्वाधिकार सुरक्षित है)

मुद्रक :
त्रिलोकीनाथ मीतल
अग्रवाल प्रेस, मथुरा ।

समर्पण !

हे महाभाव–रसराज विभो !
हे गौरचन्द्र गौराङ्ग प्रभो !
प्रणवहुँ पदपङ्कज अति पुनीत,
कमला–विष्णु–प्रिय अर्चित है ।
जय कलिपावन, कलिके उपास्य,
जय कृष्णनाम–भक्ति–वदान्य,
प्रेमावतार करुणानिधान
यश शेष–महेश अपरिचित है ।।
नहीं भुक्ति-मुक्ति, नहीं सिद्धि चहौं
आनुगत्यमयी, अनुरागमयी,
उज्ज्वलरस–भक्ति प्रदान करहु,
जो चरीं चिरात् अनर्पित है ।
जन 'श्यामदास' भव पार करहु
उपहार सप्रेम स्वीकार करहु,
चैतन्य–चरण–चुम्बिनी सहित,
चरितामृत चरण–समर्पित है ।।

साङ्केतिक-चिह्न

गी०, श्रीगी०	—	श्रीमद्भगवद्गीता
भा०-श्री भा०	—	श्रीमद्भागवत
भ० र० सि०	—	भक्तिरसामृतसिन्धु
उ० नी० म०	—	उज्ज्वलनीलमणि
वि० पु०	—	विष्णु पुराण
ह० भ० वि०	—	हरिभक्तिविलास
तैति०	—	तैतिरीय श्रुति
पू० वि०	—	पूर्व विभाग
तत्रैव	—	पूर्वोल्लिखित श्लोक-ग्रन्थ
भूमिका, श्रीमद्वै०सि०र०सं०	—	श्रीमद्वैष्णवसिद्धान्त रत्न संग्रह
चै० च० चु० टीका	—	चैतन्य-चरण-चुम्बिनी टीका
चै० च० १-१७-८ श्लोक	—	श्रीचैतन्य-चरितामृत, आदि लीला, १७ परिच्छेद ८ वां श्लोक
चै० च० २-४-६	—	श्रीचैतन्य-चरितामृत, मध्य-लीला, ४र्थ परिच्छेद ६ठा पयार
[ट]	—	टीकान्तर्गत श्लोक

सम्पादकीय

परम करुणासागर कलिपावन प्रेमावतार स्वयं भगवान् श्रीमन्महाप्रभु श्री श्रीगौराङ्गसुन्दर की असीम चरण-कृपा से श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत की मध्य-लीला (प्रथम व द्वितीय खण्ड) चैतन्यलीला-स्वान्ति-चातक पाठकवृन्द के समक्ष्य सहर्ष प्रस्तुत है। इसमें सन्देह नहीं कि आदि-लीला के प्राप्त करने के पश्चात् पाठकवृन्द को चिरकाल पर्यन्त प्रस्तुत खण्ड की प्रतीक्षा करनी पड़ी है, इसका कारण प्रकाशन सम्बन्धीय अनेक समस्याएं थीं, जिनके समाधान करने में अत्यधिक परीश्रम एवं चेष्टा करने पर भी इतना विलम्ब हुआ, जिसके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

पाठकवृन्द यह जानते हैं कि श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत सम्पूर्ण ग्रन्थ की भूमिका एक पृथक् ग्रन्थ—"श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न संग्रह" के रूप में प्रकाशित की जा चुकी है, जो भक्ति-सिद्धान्त विषयक एक उपादेय ग्रन्थ है। श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत की साधक-समाज के लिये सर्व दिशाओं में सम्पूर्णता की विशेषता तो इसके अध्ययन करने पर स्वयं पाठकवृन्द अनुभव करेंगे ही, यहाँ केवल इतना वक्तव्य है कि प्रस्तुत खण्ड—मध्यलीला श्रीग्रन्थरत्न के प्राणतुल्य है। इसमें प्रतिपादित समस्त लीलाएं, समस्त विषय आद्योपान्त परम सरस एवं गम्भीर हैं। विशेषतः 'श्रीसार्वभौम सहित वेदान्त-प्रसङ्ग', 'शङ्कर-भाष्यालोचना,' 'राय रामानन्द के साथ साध्य-साधन-तत्त्वालोचना,' श्रीमहाप्रभुजी की श्रीवृन्दावन-यात्रा,' 'श्रीरूप-गोस्वामी-शिक्षा,' 'श्रीसनातनगोस्वामी शिक्षा', "अभिधेय-तत्व—श्रीकृष्णभक्ति," 'प्रयोजन-तत्व—श्रीकृष्ण-प्रेम,' 'सम्बन्ध-तत्व—परमब्रह्म श्रीकृष्ण', 'आत्मारामाश्च-श्लोक अर्थ,' 'श्रीमद्भागवत का स्वरूप-निरूपण,' 'श्रीमद्भागवत के गुह्यतम सिद्धान्त', 'वैष्णव-व्रत विवरण,' 'ब्रह्मसूत्र-व्याख्या,' 'अचिन्त्यभेदाभेदादिवाद,' 'जन्माद्यस्य-श्लोक के श्रीकृष्ण-लीला व श्रीगौर-लीला सूचक अर्थ—इत्यादि ऐसे अनेक परम महत्वपूर्ण दार्शनिक-विषय आलोचित हैं, जो इस खण्ड का अपूर्व वैशिष्ट्य प्रकाशित करते हैं।

जहाँ तक रस का सम्बन्ध है, इस खण्ड में अथवा सम्पूर्ण श्रीग्रन्थरत्न में अनेक स्थानों पर उज्ज्वलतम रस का परिवेशन हुआ है, रस का स्वरूप, भक्ति की रस में परिणति, भाव-अनुभाव-विभावादि रस सामग्री, एवं मादनाख्य-महाभावमयी-वृन्दावनेश्वरी श्रीराधाजी के प्रेमोद्गार श्रीवृन्दावन की अनेक रसमयी-लीलाओं का यथेष्ट विवरण सुन्दर रीति से मिलता है। किन्तु रस का मूल आधार है सिद्धान्त। जहाँ सिद्धान्त का अभाव है, वहाँ रस पंगुवत् है। जैसे सिंहनी के दूध के लिये स्वर्ण-पात्र की परमावश्यकता है, उसी प्रकार उज्ज्वल-रस-अवस्थान के निमित्त सिद्धान्त-परिपक्व हृदय-पात्र की अनिवार्य्यता है। अतः इस ग्रन्थरत्न में सिद्धान्तालोचना पर विशेष बल देते हुए रसावस्थान योग्य-हृदय निर्माणपूर्वक रस का प्रतिपादन किया गया है। हाँ, आजकल के रसिक जिस मनोकल्पित एवं सिद्धान्त-हानिपूर्ण रस के लोभी हैं, या आत्मेन्द्रिय सुखप्रद इहलौकिक जिस रस का आरोप वे श्रीश्रीराधाकृष्ण की परमोज्ज्वल चिन्मयी लीलाओं में करते हैं, उस रस का आभास भी उन्हें यहाँ नहीं मिलेगा। परमरस-स्वरूप श्रीकृष्णैकविग्रह श्रीमद्भागवतजी, जो चरमतम रसस्वरूपता की एक मात्र अवधि हैं, जब उसमें उन्हें रसास्वादन-सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सकता, तो वे इस ग्रन्थरत्न में, जो श्रीमद्भागवतजी का भाष्य-स्वरूप है, अपने मनोनीत रस का साक्षात् कर पाएंगे, इसमें पूर्ण सन्देह है।

यहाँ एक बात और भी आलोचनीय है, वह है पृष्ठ ४८१ पर वर्णित, सनोड़िया-ब्राह्मणप्रसङ्ग। मूल पयार नं० १६९ में कहा गया है—"**सनोड़िया-घरे संन्यासी ना करे भोजन।**" सनोड़िया-ब्राह्मण से यहाँ सनाढ्य-ब्राह्मण का तात्पर्य है। मल पयार का प्रकृत अर्थ है—'सनोड़िया-ब्राह्मण के घर संन्यासी

भोजन नहीं किया करते थे।' इससे ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय ऐसी कोई प्रथा संन्यासी समाज में प्रचलित होगी कि वे सनोड़ियों के घर भोजन नहीं करते होंगे। उस समय की ऐसी प्रथा का आधार क्या था ? इसका कोई भी युक्त समाधान नहीं किया जा सकता। हम आज के जगत् में भी यह देखते हैं कि कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो वैष्णवाचरणानुरोध से, या जातीय-अनुरोध से अथवा किसी और विशिष्ट धारणा-वश अन्य किसी भी व्यक्ति के हाथ का भोजन ग्रहण नहीं करते, वह व्यक्ति चाहे वैष्णव, उच्चाश्रमी सजातीय, विजातीय कैसा भी क्यों न हो। यहां तक कि कुछ व्यक्ति तो अपनी विवाहिता गृहिणी के हाथ का भोजन भी ग्रहण नहीं करते। उनका ऐसा आचरण क्या किसी के अपकर्ष का सूचक हो सकता है ?—कभी नहीं। इसी प्रकार उस समय यदि संन्यासी सनोड़ियों के घर भोजन नहीं करते थे, तो इसका अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि इसमें सनोड़ियों का अपकर्ष वर्णित है। तथापि ग्रन्थकार ने तो परवर्त्ती पयार में अपने अभिमत का स्पष्ट उल्लेख करते हुए सनोड़िया ब्राह्मण का उत्कर्ष स्थापन किया है, और कहा है—"श्रीपुरी गोस्वामीपाद ने उसके वैष्णव आचार को देखकर उसे दीक्षा दी एवं उसके घर भोज को अङ्गीकार किया।

पयार नं० १७५ में श्रीमन्महाप्रभुजी ने श्रीपादपुरीगोस्वामीजी के आचरण को धर्मस्थापन का हेतु एवं धर्म का सार कहकर वर्णन किया है। इस पयार की टीका में जो लेख है कि 'सनोड़िया ब्राह्मण जाति के हाथ का भोजन सामाजिक दृष्टि से उस समय निषिद्ध माना जाता था—इसका भी एकमात्र यही अभिप्राय है कि ऐसी प्रथा केवल संन्यासी-समाज में ही प्रचलित थी। कारण कि श्रीपाद पुरीगोस्वामी संन्यासी ही थे। श्रीपुरी गोस्वामीपाद ने उस सनोड़िया ब्राह्मण के वैष्णवाचार को देखा एवं फिर उसे दीक्षित किया तथा फिर उसके घर भोजन अङ्गीकार किया—इससे यह अवश्य ध्वनित होता है कि उस समय वैष्णवगण किसी अवैष्णवाचारी या अवैष्णव साम्प्रदायी के घर, चाहे वह कितना भी उत्कृष्ट जाति-कुल का क्यों न हो, भोजन ग्रहण नहीं करते थे। ऐसी प्रथा आज भी अनेक सद्वैष्णवों में प्रचलित है कि वे किसी अवैष्णव-साम्प्रदायी व्यक्ति के हाथ का भोजन ग्रहण नहीं करते।

सारांश यह है कि इस प्रसङ्ग से सनोड़िया-ब्राह्मण के अपकर्ष का किञ्चित्-मात्र भी अभिप्राय न तो ग्रन्थकार का है और न टीकाकार का। विशेषत: अगले प्रसङ्ग में हम देखते हैं कि श्रीमन्महाप्रभुजी ने उस सनोड़िया ब्राह्मण को अपना ब्रज-पुरोहित स्वीकार किया है एवं उसके साथ जाकर समस्त ब्रज-तीर्थों के दर्शन किये हैं। वह ब्राह्मण श्रीमन्महाप्रभुजी का प्रयाग तक साथी रहा है, इससे सनोड़िया-ब्राह्मण जाति का उत्कर्ष ही स्थापन होता है, अत: इस प्रसङ्ग में किसी के अपकर्ष की बात सोचना एक मात्र भ्रान्तिमूलक है।

एक और भी निवेदन आवश्यक है, वह है मूल पयारों के पाठ के सम्बन्ध में। अनेक पयारों में कुछ ऐसे शब्दों का उल्लेख है, जिनका उच्चारण तो ज-कार से प्रचलित एवं शुद्ध है, किन्तु बंगला लेख में वे य-कार से लिखे जाते हैं एवं शुद्ध माने जाते हैं, वे हैं—येइ, यैछे, यार, यांर, यांहार, यबे याय, याव, याउक, यिनि, योड़हस्त, इत्यादि। इन शब्दों का बंग भाषा में लेख इसी रूप में शुद्ध है, किन्तु इनका बंग भाषा में उच्चारण ज-कार से होता है, यथा—जेई, जैछे, जार, जांर, जांहार, जबे, जाय, जाव, जाउक, जिनि, जोड़हस्त, इत्यादि। कुछ एक महानुभावों का परामर्श मिला कि इन शब्दों को उच्चारण के अनुसार हिन्दी-लिपि में ज-कार से प्रकाशित करा दिया जाए। किन्तु यह बात विचारणीय है कि बंगला-लिपि में ज-व्यंजन प्रमाणित है एवं अनेक शब्दों में प्रयुक्त होता है, फिर बंगला-लिपि में इन शब्दों के लेख में ज-व्यंजन की जगह य-अन्तस्थ क्यों प्रचलित एवं शुद्ध माना जाता है ?—इसका कारण इस प्रकार का नियम श्रीहरिनामामृत व्याकरण के एक सूत्र पर ही प्रतिष्ठित है। अत: ऐसा करना एक भूल हो जाती।

द्वितीयतः— मूल ग्रन्थ के शब्दों के लेख को अन्य रूप में परिवर्तित करना लिपि-कार या सम्पादक के पक्ष में अपराधजनक होता है, इसलिये मूल पयारों का उल्लेख मूल प्रति के सर्वथा अनुरूप ही प्रकाशित किया गया है। पाठकवृन्द मूल पयारों का पाठ करते समय उपर्युक्त शब्दों का उच्चारण ज-कार से ही करेंगे, ताकि पाठ में अशुद्धता न रहे। आदि-लीला खण्ड तथा भावी प्रकाशन अन्त्य-लीला खण्ड में भी इस बात का ध्यान रखना चाहिये।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि श्रीग्रन्थ का प्रथम खण्ड अर्थात् 'आदि-लीला' श्रीसर्वेश्वर प्रेस, श्रीजीकुञ्ज, वृन्दावन से प्रकाशित कराई गई थी। प्रेस के अधिकारियों ने पुस्तक बाँधते समय मुझे इस प्रकार धोका दिया कि मेरे कुछ एक पृष्ठ (२६९ से २७४ तक) निकाल लिये और उनकी जगह पर उतने पृष्ठ अपनी ओर से विरोधात्मक आलोचना के छापकर जोड़ दिये। उनका यह कुकृत्य जान लेने पर मैंने पुनः वे पृष्ठ (२६९ से २७४ घ तक) दूसरी प्रेस से छपाकर पुस्तक में लगवा लिये एवं उनके द्वारा जोड़े गये पृष्ठ निकलवा दिये थे। उक्त प्रेस ने अपने द्वारा बिगाड़ी हुई पुस्तक को राजकीय लायब्रेरियों में भी रिकार्ड के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया था, किन्तु प्रेस-मैजस्ट्रेट महोदय, मथुरा के द्वारा पूर्ण जांच कराने के पश्चात् उन लायब्रेरियों में शुद्ध प्रतियों को ही रिकार्ड के रूप में स्थापित करा लिया गया था।

मेरा अनुमान है कि उक्त प्रेस अधिकारियों ने अपने द्वारा बिगाड़ी हुई प्रतियों को कई एक व्यक्तियों में भी अवश्य वितरित किया होगा, अथवा उनकी कुचाल को जानने से पहले मेरे द्वारा भी उस प्रकार की कुछ एक प्रतियों का वितरण सम्भव हो सकता है। अतः जिनके पास आदि-लीला मौजूद है वे सज्जन अपनी-अपनी प्रति की परीक्षा करें। उनकी पुस्तक में यदि पृष्ठों का क्रम २६९ से २७४ घ—इस प्रकार है तो वह प्रति शुद्ध एवं प्रमाणित है, अन्यथा वह अप्रमाणित है। उस प्रकार की अप्रमाणित प्रति को वे सज्जन मुझसे शीघ्र बदल लेने का कष्ट करें। दूरदेशवासी सज्जन उस प्रकार की प्रति को डाक द्वारा मेरे पास भेज दें। उनके बदले में शुद्ध प्रति बिना किसी डाक व्यय के तुरन्त भेज दी जाएगी।

अन्त में मैं श्रीहरिनाम-सङ्कीर्त्तन मण्डल, श्रीधाम वृन्दावन की ओर से प्रस्तुत खण्ड के प्रकाशन निमित्त कागज प्रदान करने वाले महावदान्य श्रीसेठ जी के प्रति अतीव कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ, जिनके सहयोग से यह खण्ड शीघ्र सम्पन्न हुआ है। जिन महापुरुषों ने इस श्रीग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रकाशन में अपना जो भी अमूल्य सहयोग प्रदान किया है, मैं उन सबके प्रति आभार प्रगट करता हूँ।

अनेक यत्न पर करने भी जीव के भ्रम-प्रमादादि धर्मवशतः ग्रन्थ में जो त्रुटि-विच्युति रह गई हैं, उन्हें उदार पाठकवृन्द सुधार कर मुझ दीन-हीन को अपना लेंगे तथा श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल द्वारा प्रकाशित साहित्य के प्रचार एवं प्रसार में हार्दिक सहयोग प्रदान करेंगे।

श्रीश्रीगौराङ्गसुन्दर की असीम कृपा से श्रीग्रन्थ का शेष खण्ड—अन्त्य-लीला भी अति शीघ्र प्रकाशित होकर पाठकवृन्द के समक्ष प्रस्तुत करने की पूर्ण आशा है।

वैष्णवपदरजाभिलाषी—

श्यामलाल हकीम

श्रीधाम—वृन्दावन।

प्राक्कथन

चिन्तामणि प्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मी-सहस्रशत-सम्भ्रम सेव्यमानं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

रसमयी श्रीराधाकृष्ण-भाव-मधुरिमा के अगाध पीयूषार्णव में अहर्निश निमग्न महापुरुषों के परमाराध्यदेव कलिपावनावतार, प्राणिमात्र को उन्मत्त भगवद् प्रेम में विभोर करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्यदेव की पावन-पवित्र लीला का सर्वाङ्गीण बोध कराने वाले, वैष्णव जगत् के शिरोधार्य ग्रन्थ "श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत" का यह मध्य-लीला खण्ड पाठकों के हाथ में है।

'चरितामृत' न केवल लीला-बोधक है, अपितु भक्ति, उपासना एवं विशुद्ध रागानुरागा-प्रेम भक्ति का परम द्योतक तथा सम्पूर्ण सत् सिद्धान्तों का आलय है। यह निर्विवाद है कि 'चैतन्यचरितामृत' जैसे अनूठे ग्रन्थ के स्वाध्याय के पश्चात् भक्ति-रस पिपासु के लिये अन्य कोई भी ग्रन्थ अधिक उपादेय नहीं रह जाता। किन्तु प्रश्न यह है कि भक्तिमार्ग के देदीप्यमान-मणिमय इस ग्रन्थ तक कोई साधक कैसे पहुंचे? यद्यपि अब तक यह क्षोभ का ही विषय रहा कि श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित एवं श्रीपाद षड् गोस्वामियों द्वारा प्रचारित भक्ति साहित्य के महान् श्रेष्ठतम ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर नहीं था। आज ५०० वर्ष के बाद पहली बार यह ग्रन्थ भाषान्तर होकर हिन्दी भाषी भावुक भक्तों को भक्तिरस पिलाने को प्रकट हुआ है।

विश्व की मानवता ने आज दानवीय रूप धारण किया है, हिंसात्मक कर्मों से धरित्री की जाज्वल्यमान चिनगारी समस्त-सात्विक भावों को ग्रस रही है, मनुष्य, मनुष्य का विश्वासी नहीं रहा, चेतन शक्ति जड़त्व की ओर झुक रही है, व्यक्ति का जड़वादी मन इन्द्रिय-जनित सुख-भोगों की लालसा में प्रमत्त है, भोगवादी जगत् मृगमरीचिका की चकाचौंध में पड़कर त्राहि-त्राहि कर रहा है—इस भयभीत विश्व को बचाने का उपाय क्या?

निःसन्देह संसार रूप सर्प से संदष्ट अथवा त्रिताप की आग से झुलसे इन संसारी जीवों को एकमात्र अमृत-सिंचन से ही प्राण-त्राण मिल सकता है, उस अमृत की धारा के लिए प्रेम का ज्वार उत्पन्न करना होगा जिससे सारा विश्व एकबार प्रेमामृत सिन्धु में अवगाहन कर सके, प्रेमामृत बीजमन्त्र के दाता प्रेम-धर्म के गुरु—एकमात्र श्रीकृष्ण चैतन्यदेव हैं।

प्रेम के मूर्तिमान स्वरूप श्रीचैतन्यदेव महाप्रभु संन्यासी थे—महाप्रभु प्रेमी थे। संसार में देखा जाता है—संन्यासी प्रेमी नहीं होता और प्रेमी संन्यासी नहीं होता—किन्तु हमारे गौरसुन्दर प्रेमी और संन्यासी दोनों थे, संन्यासत्व की पराकाष्ठा, प्रेमतत्व की चरमसीमा—उभय विरोधी भाव साक्षात् भगवान् में ही संभव है, उनका अवतार ही इसलिये हुआ है। पाप-ताप के नाश के लिये नामदान और परम सुख-सिन्धु में डुबोने के लिये प्रेम दान—श्रीचैतन्य के श्रेय-मार्ग की यही विशेषता है—जो अन्यत्र किसी भी उपासना-मार्ग में सुलभ नहीं है।

ज्ञान की गरिमा, कर्म की कठोरता, योग की आग, ध्यान की धूनी और तप की तृष्णा में झुलसे, थके-मादे जीव जब श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्त्तित प्रेमधर्म के कल्पतरु की सुखद छाया में पहुंचते हैं—तो विभोर होकर कह बैठते हैं—"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"

पूर्ववर्त्ती आचार्य चरणों ने यद्यपि श्रेय-मार्ग के सम्बन्ध में पर्याप्त अन्वेषणा की है, जिसके फल-स्वरूप अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि सिद्धान्तों की सृष्टि हुई, सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने मत की प्रतिष्ठा स्थापित करने में न जाने कितनी साधनायें की हैं, किन्तु भक्ति मार्ग की रसानुभूति का सर्वोत्कृष्ट भावमय स्वरूप जो चैतन्य-चन्द्र द्वारा प्रकट हुआ है—वह वास्तव में अचिन्त्य है।

भेद और अभेद के सत्य होने पर भी जीव का चिन्त्य विषय नहीं, इस रस का प्राकट्य हुआ नवद्वीप (बङ्गाल) में और लीला-भूमि बनी श्रीवृन्दावन। जहाँ श्रीराधामाधव अपनी नित्य सहचारी ब्रजाङ्गनाओं सहित प्रेम की चन्द्रिका द्वारा समस्त भावुक-भक्तों पर अपना मधुर प्रकाश बिखेरते हैं।

व्रज रस की उपासना भी एक गूढ़ रहस्य है, इसका मूल आधार भगवान् श्रीवेदव्यास प्रणीत श्रीमद्भागवत है, यह भागवत-साहित्य समस्त वेदान्त संहिता का सार एवं सूत्रों का अकृत्रिम भाष्यस्वरूप है, श्रीमद्भागवत ही समस्त वैष्णव दर्शन एवं सम्प्रदायों की भित्ति है, श्रीमद्भागवत के बिना कोई भी वैष्णव सम्प्रदाय अपने को विष्णु उपासकों की पंक्ति में बिठाने को नितान्त असमर्थ है। श्रीमाध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय की आराधना-उपासना तो श्रीमद्भागवत के आधार पर ही प्रवर्तित हुई है, श्रीचैतन्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा गया है—

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतयस्तद्धाम वृन्दावनम्,—
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवत प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्—
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और उनका धाम श्रीवृन्दावन ही परमाराध्य है, ब्रज वधुओं द्वारा सेवित उपासना ही आदर्श मार्ग है, श्रीमद्भागवत ही प्रमाण ग्रन्थ है और प्रेम ही जीव का परम पुरुषार्थ है।

प्रेमभक्ति अथवा रागानुगा भक्ति ही ब्रज रस की सर्वोत्कृष्ट साधिका है, गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य महानुभाव—षड्गोस्वामियों ने इसी रस-सार-सर्वस्व का अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है—जो ब्रज की अन्य सम्प्रदायों में दुर्लभ प्रतीत होता है, श्रीनिम्बार्क आदि सम्प्रदायों में कुछ वाणीकार सन्तों ने इस रस को अभिव्यक्त तो किया है; किन्तु वह उनका स्वानुभव मात्र प्रतीत होता है—शास्त्र सम्मत नहीं। श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों में रसोत्कर्ष की चरमसीमा परकीयात्व में परिलक्षित होती है, महाभाव का पूर्ण विकास परकीयात्व में ही सम्भव है, श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्रीभट्ट जी तथा श्रीहरिव्यास देव जी आदि ने जो अपनी वाणी में नित्य विहार वर्णित किया है—वह श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों से मेल नहीं खाता, रसतत्व की चरमसीमा का पर्यवसान भी नित्य विहार में नहीं होता, कारण नित्यविहार नित्य संयोग—एक सीमाबद्ध दाम्पत्य जीवन का मर्यादित रूप है,—जहाँ रसतत्व उन्मुक्त होकर स्वच्छन्द रूप में प्रकाशित नहीं हो पाता। संयोगनित्य विहार की अपेक्षा वियोग (चिर-अपेक्षित मिलन) में अधिक सुखानुभूति प्रतीत होती है, वियोग का सुख परकीयात्व भाव-भावित होने पर तो अकथनीय रस की चरमोत्कर्षता का द्योतक हो जाता है, गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य चरणों ने इसी परकीया-भाव-भावित उपासना का प्रकाश किया है, जो पहले अन्य किसी के द्वारा ग्रन्थ-बद्ध नहीं हुआ था।

स्वकीया और परकीया—के स्वरूप को समझना भी आवश्यक है। स्वकीया परकीया दो वस्तुएँ नहीं हैं, एक ही वस्तु के दो भाव मात्र हैं। रस अथवा भाव जब तक उद्दीप्त नहीं होता; तब तक उसमें आनन्दातिरेक नहीं बनता। माता के द्वारा शिशु को बहुविधि भोजनादि प्राप्त होने पर भी घर की ही वस्तु को जब तक वह लुक छिप कर चुरा कर आस्वादन नहीं कर लेता—तृप्ति नहीं होती, एक सच्चा सेवक स्वामी की उन सेवाओं में अधिक रत रहता है—जिन्हें स्वामी जानने भी न पावे, सहोदर भ्रातृ स्नेह की अपेक्षा जाति, कुल से भी दूर सुहृद् मित्र का स्नेह अधिक आकर्षक होता है। उक्त सभी रसों में परकीयात्व ही उनके महत्व को बढ़ाता दीखता है। शृङ्गार रस भी अपनी सोपानों को पार करता हुआ जब परकीयात्व भाव की पराकाष्ठा पर पहुँचता है—तभी वह निखरता है। तो परकीया यह एक भाव मात्र है, सिद्धान्त में तो श्रीराधा स्वकीया ही हैं।

श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियों के मध्य में अन्तरङ्गाचिच्छक्ति अथवा स्वरूप शक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, वही स्वरूप शक्ति—ह्लादिनी, सन्धिनी, संवित् इन तीन रूपों में अभिव्यक्त है। इनमें ह्लादिनी शक्ति का सर्वाधिक उत्कर्ष है। श्रीकृष्ण अखण्ड परमानन्द स्वरूप होने पर भी ह्लादिनी शक्ति द्वारा स्वरूपानन्द विशेष का स्वयं उपभोग करते हैं और भक्तों को उपभोग कराते हैं। ह्लादिनी शक्ति ही बाहर में मूर्त्तिमती होकर वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा के रूप में अवस्थित है, ये श्रीराधा (ह्लादिनी शक्ति) ही क्रमोत्कर्ष से—रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव रूप में परिणत होती है। उत्कर्ष को प्राप्त महाभाव ही श्रीराधिका का स्वरूप है अर्थात् महाभाव की मूल आश्रय रूपा श्रीराधा के अङ्ग-प्रत्यङ्गादि सब महाभावाख्य प्रीतिरस से युक्त हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में इसी का उल्लेख किया गया है—

"ह्लादिनीर सार प्रेम, प्रेमेर सार भाव। भावेर परमाकाष्ठा नाम महाभाव॥
महाभाव स्वरूपा श्रीराधा ठाकुरानी। सर्वगुण खानि कृष्णकान्ता शिरोमणी॥
कृष्णप्रेमे भावित जार चित्तेन्द्रिय काय। कृष्णेर निजशक्ति राधा लीलार सहाय॥"

अब यह सिद्ध है कि महाभाव स्वरूपा श्रीराधिका रसिकशेखर श्रीकृष्ण को अशेष विशेष प्रीति-रस आस्वादन कराने के निमित्त विविध रस-सम्भार को स्वयं धारण करती है, श्रीकृष्ण ह्लादिनी स्वरूपा शक्ति श्रीराधिका स्वकीया तो है ही—किन्तु उत्कृष्ट रस-विशेष के आस्वादन के लिये ही परकीया भाव का धारण करना भी आवश्यक है, इसके बिना रसिकेन्द्रमौलि श्रीकृष्ण को अशेष विशेष प्रीतिरस का आस्वादन प्राप्त नहीं होता। सुतरां श्रीराधिकादि ब्रजाङ्गनागण श्रीकृष्ण की निज शक्ति तथा नित्य प्रेयसी हैं और श्रीकृष्ण उनके नित्यकान्त हैं, इसी रूप से गोलोक में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण नित्य विहार करते हैं। गोलोक में श्रीकृष्ण स्वकीया भाव से ही रसास्वादन करते हैं—किन्तु परकीया भाव के बिना शृङ्गार रस की चरमोत्कर्ष-अवस्था का रसास्वादन नहीं होता, इसीलिये गोलोक में श्रीकृष्ण की रसिकशेखरता अथवा रसास्वादन चातुर्य की सफलता नहीं है, क्योंकि परकीयात्व में ही रसोत्कर्ष संभावित है।

"अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गाररस्य प्रतिष्ठितः"—उज्ज्वल नीलमणिः।
परकीया भावे अति रसेर उल्लास। ब्रज विना इहार अन्यत्र नाहि वास॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत।

रसगत उत्कर्ष की चरमावस्था की अभिव्यक्ति एकमात्र भौम ब्रजमण्डल में ही है, ब्रज को छोड़ कर अन्यत्र कहीं भी इस भाव का प्रकाश नहीं है। ब्रजलीला के प्राकट्य का हेतु भी यही है, जो लीला गोलोक में नहीं हो सकती, वह प्रकट लीला (ब्रजधाम) में संभव है। इसी कारण श्रीकृष्ण ने यह संकल्प किया कि—

"वैकुण्ठाद्ये नाहिं ये ये लीलार प्रचार। से से लीला करिव याते मोर चमत्कार॥
मो विषये गोपी गणेर उपपति भावे। योगमाया करिवेक आपन प्रभावे॥
आमिह ना जानि ताहा ना जाने गोपीगण। दोंहार रूपगुणे दोंहार नित्य हरे मन॥"

श्रीचैतन्यचरितामृत।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या ब्रजरस की परम्परा में परकीयाभाव कोई नवीन कल्पना है? अथवा इसे गौड़ीय संप्रदायाचार्यों ने ही प्रकाशित किया है? विवेचन के पश्चात् यह निश्चय रूप से कहना पड़ता है कि—वैष्णव संप्रदायों में जहाँ कहीं भी रस और भाव का विचार हुआ है—वह शास्त्रीय एवं परम्परा प्राप्त ही है। ब्रजरस-रसिकों की परम्परा में गीतगोविन्द के रचयिता श्रीजयदेव, कृष्णकर्णा-मृत के रचयिता श्रीविल्वमङ्गल, मैथिल—कोकिल श्रीविद्यापति और श्रीचण्डीदास का नाम मुख्य रूप से इतिहास में प्रकट है, जिन्होंने ब्रजरस की सरिता में अवगाहन करते हुए ब्रजाङ्गना और श्रीराधिका का

श्रीकृष्ण विषयक प्रेम परकीयात्वेन स्थापित किया है, श्रीमद्भागवत वैष्णवमात्र का आराध्य ग्रन्थ है, भगवान् वेदव्यास और कलिकाल में भागवत धर्म के प्रवर्त्तक भगवान् श्रीशुक ने परकीया भाव के आधार पर ही रासपञ्चाध्यायी का वर्णन किया है, निम्बार्क संप्रदाय श्रीवेदव्या और शुकदेव को अपनी परम्परा में मानते हैं (यद्यपि यह बात प्रमाण रहित प्रलाप मात्र है) आश्चर्य है कि उसी संप्रदाय के अनुयायी श्रीमद्भागवत के परकीय परक सिद्धान्त को मानने में क्यों आना-कानी करते हैं ?

श्रीमद्भागवत में श्रीराधा और ब्रजाङ्गनाओं के परकीया भाव का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। कुलबधु ब्रजाङ्गनाओं के चित्त में प्रतिक्षण श्रीकृष्ण दर्शन की लालसा बनी रहती है, वे जब कभी भी श्रीकृष्ण के नूपुर या वंशी की ध्वनि सुन लेतो है तो बांध तोड़कर सरित-प्रवाह की भांति प्यारे श्याम-सुन्दर के आलिङ्गन को दौड़ पड़ती हैं। स्व-स्व पतियों के द्वारा शत शत वार्यमाण होने पर भी श्रीकृष्ण हृतात्मा गोपीगण अपने घरों को नहीं लौटतीं, श्रीमद्भागवत में इसका उल्लेख है :—

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभि र्भ्रातृ बन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः ।। श्रीमद्भागवत ।

इसी प्रकार सनतकुमार संहिता (जो निम्बार्क मतानुसार उनका अपना ग्रन्थ है) में तथा श्रीमद्भागवत की प्राचीन टीकाओं में (श्रीधरी आदिक में) सर्वत्र ही ब्रजरस की उपासना में ब्रजाङ्गनाओं की परकीया परक भावना का ही उल्लेख किया गया है। शास्त्र प्रमाणित और परम्परा प्राप्त रस को ही श्रीगौराङ्गसुन्दर महाप्रभु ने तथा गौड़ीय आचार्य गण-श्रीरूप सनातन तथा श्रीपाद जीव गोस्वामी प्रभृति ने उस रस विशेष को ही अपने अगाध बोध मय, गौरवपूर्ण पाण्डित्य के आधार पर भक्त समाज को प्रदान किया है। चण्डीदास, विद्यापति और जयदेव कवि की अमृतमयी वाणी ने इस उज्ज्वल रस को जीवित रखा था; किन्तु सखेद कहना पड़ता है कि श्रीजयदेव कवि को अपनी सम्प्रदाय का आचार्य मानने वाले निम्बार्की जन आचार्यों द्वारा प्राप्त परकीया भाव रसतत्व को कैसे हेय दृष्टि से देखते हैं। (वास्तव में तो श्रीजयदेव कवि निम्बार्क मत के नहीं थे क्योंकि उनके वंशज आज भी वृन्दावन में गौड़ीय संप्रदाय में मुख्य स्थान रखते हैं।

रस तत्व के विवेचन में—यहाँ निम्बार्क सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भी कुछ तथ्य रख देना अनुचित न होगा। क्योंकि बीसवीं शताब्दी में आकर निम्बार्काचार्य के सम्बन्ध में भ्रान्ति फैल रही है। विचार यह करना है कि दक्षिण तथा पूर्वी भारत में तो उक्त परकीया भाव की परम्परा श्रीमद्भागवतादि के आधार पर प्रचलित थीं, किन्तु इधर पश्चिमी प्रदेश विशेषतया ब्रजमण्डल के सभी लीलास्थल जो उस समय लुप्त प्रायः थे और ब्रजरस मधुरिमा के ज्ञाता भी विरले ही थे। तब यहाँ रस का प्राकट्य कब हुआ। कुछ आधुनिक पठित समाज जो वैष्णव धर्म के संस्कृत-साहित्य से अनभिज्ञ सा है—उसके विचारों में यह भ्रान्ति है कि वर्त्तमान ब्रजरस की उपासना के प्रवर्त्तक निम्बार्काचार्य या उनके अनुवर्त्ती श्रीश्रीभट्ट तथा श्रीहरिव्यासदेव आदिक थे।

यहाँ थोड़ा सा निम्बार्क सम्प्रदाय की उपासना पद्धति पर विचार करना आवश्यक है, इसके लिये श्रीनिम्बार्काचार्य का जन्मकाल भी देखना पड़ेगा। निम्बार्काचार्य का जन्म-काल अभी तक अनिश्चिता में पड़ा हुआ है, कारण कि उत्तरी भारत में उनकी प्रसिद्धि पिछले दो-तीनसौ वर्षों में ही अधिक हुई है, जहाँतक निम्बार्क मतानुयायी विद्वानों का प्रश्न है—वे तो बिना आधार और बिना किसी प्रमाण के बच्चों जैसी बातें कहते हैं कि श्रीनिम्बार्काचार्य का जन्म द्वापर के अन्त और कलि के प्रारम्भ में हुआ था, एक निम्बार्की सज्जन ने तो यहाँ तक लिखा है कि श्रीकृष्ण और बलराम को निम्बार्काचार्य गोदी में खिलाते थे, इससे भी बढ़ कर और सब से आगे 'अहमदाबाद' से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'भक्ति' में तो लिखा

गया है कि भगवान् निम्बार्क के प्राकट्य को एक लाख वर्ष से भी ऊपर हो गया है। बलिहारी है—इन बुद्धिमान विद्वानों की, जो आज के इस तत्वान्वेषी युग में भी ढपोलशंखी बातें करते हैं, इसी तरह एक और निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्रीश्रीनिवासाचार्य को सात सौ वर्ष की आयु का तथा श्रीपुरुषोत्तमाचार्य को तीन सौ वर्ष की आयु का बताया जाता है—जो निरा कपोल कल्पित मनगढ़न्त सिद्धान्त है, वास्तव में तो इतिहासकारों के मत से श्रीनिम्बार्क का समय तेरहवीं–चौदहवीं शताब्दी ठहरता है। वैसे डाक्टर भाण्डारकर ने तो निम्बार्क का समय बारहवीं शताब्दी के बाद ही माना है।

निम्बार्क सम्प्रदाय की उपासना के दो भेद हैं, एक जो निम्बार्काचार्य से प्रवर्त्तित है, दूसरी जो श्रीश्रीभट्टदेवाचार्य (टट्टी स्थानी, हरिव्यासी या हरिदासी सम्प्रदाय) के नाम से विख्यात है। निम्बार्काचार्य की परम्परा में तो ब्रजरस का कोई विशेष सम्बन्ध ही स्थापित नहीं हुआ है, निम्बार्क सम्प्रदाय के प्राचीन सभी आचार्यों ने अपने को द्वारिका लीला का उपासक माना है—पूर्ववर्त्ती आचार्यों में रुक्मिणी कृष्ण की आराधना और वंशगोपाल मन्त्र का प्रचलन था। श्रीनिम्बार्काचार्य कृत दशश्लोकी की 'वेदान्त रत्न मंजूषा' टीका जो निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य श्रीपुरुषोत्तमभट्ट देव जी द्वारा लिखित है—के **"अङ्गे तु वामे वृषभानुजा मुदा ....."** इत्यादि श्लोक की व्याख्या में वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा का नाम गौण रूप से अन्त में लिया गया है, मुख्य रूप से तो लक्ष्मी और रुक्मिणी को ही स्वीकार किया है, 'वृषभानुजा' शब्द की व्याख्या तोड़ मरोड़ कर—**"श्रीश्चते लक्ष्मीश्च......"** इस श्रुति मन्त्र के अनुसार लक्ष्मी और रुक्मिणी परक की गई है। देखिये टीका का कुछ अंश इस प्रकार है—**"भगवत श्रीकृष्णस्य वामाङ्गे ऽनुरूपसौभगां लक्ष्मीरुक्मिण्याख्यां सदा स्मरेम।"**

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के वामाङ्ग अनुरूप सौभाग्य स्वरूप श्रीलक्ष्मी व रुक्मिणी जी का स्मरण करते हैं।

इसके आगे चल कर लिखा है—**"वृषभानुजां च स्मरेम"** अर्थात् वृषभानुजा का भी स्मरण करते हैं—उक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि लक्ष्मी और रुक्मिणी की ही निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रधानता है, 'वृषभानुजां च' इस वाक्य में 'च' का प्रयोग करके तो आचार्य पाद ने स्पष्ट रूप से श्रीराधा को गौण ठहरा दिया है। इतना ही नहीं आचार्य पाद श्रीपुरुषोत्तमभट्ट जी ने श्रीनिम्बार्काचार्य के श्लोक में 'वृषभानुजा' शब्द का प्रयोग भी अनुचित ठहराया है, देखिये [उसी श्लोक की व्याख्या पृष्ठ सं० ७० पर—"........ **अनयोर्मध्ये ऐश्वर्याधिष्ठातृत्वेन लक्ष्म्या प्राधान्यात् तस्या एव पूर्व प्रयोग उचितः।"**

अर्थात् श्रीराधा और लक्ष्मी दोनों के मध्य में ऐश्वर्याधिष्ठातृ लक्ष्मी का ही श्लोक में मुख्यरूप से प्रयोग होना उचित था।

निम्बार्काचार्य श्रीपुरुषोत्तम देव जी ने अपने समस्त अनुयायी निम्बार्की वैष्णवों को भी रुक्मिणी सहित द्वारकाधीश चतुर्भुज वासुदेव की उपासना का आदेश दिया है, देखिये—

"तथा च रुक्मिणी सत्यभामा ब्रजस्त्री विशिष्टः श्रीभगवतः पुरुषोत्तमो वासुदेवो साम्प्रदायिभिर्वैष्णवैः समोपासनीयः।"

उक्त पंक्तियों से सिद्ध है कि निम्बार्क सम्प्रदाय की उपासना निकुंज केलिपरायण ब्रजबिहारी श्रीराधाकृष्ण की नहीं है—प्रत्युत रुक्मिणी सत्यभामा आदि से युक्त पुरुषोत्तम वासुदेव चतुर्भुज ही निम्बार्क मत के इष्ट एवं उपास्य देव हैं।

उक्त प्रमाणों से अब यह सिद्ध होता है कि निम्बार्काचार्य परम्परा में कभी भी ब्रजरस की उपासना नहीं थी, इसके विपरीत गौड़ीय संप्रदाय के आचार्यों ने तो द्वारिका लीला के ध्यान करने तक का भी निषेध किया है। गौड़ीय संप्रदाय के भक्ति साहित्य के भंडार में सहस्रों ग्रन्थ ब्रजरस के प्रतिपादक हैं—जिनमें ब्रजरस के सर्व श्रेष्ठ परकीया भाव का स्वरूप वर्णन किया गया है।

श्रीपाद जीवगोस्वामी ने "उज्ज्वलनीलमणि" में तीन प्रकार की रति का विश्लेषण किया है, १-साधारणी, २-सामञ्जसा और ३-समर्था, इनका स्थान क्रमशः द्वारिका, मथुरा और वृन्दाबन है। समर्थारति ब्रज छोड़कर अन्यत्र नहीं है। श्रीपादरूपगोस्वामी एवं श्रीदासगोस्वामी ने तो लक्ष्मी रुक्मिणी आदि की भर्त्सना करते हुए कहा है-**"इन्दिरा मृग्य सौन्दर्य स्फुरदाङ्घ्रि नखांचल" "लक्ष्मीर्पदङ्घ्रि कमलस्य-नखांचलस्य सौन्दर्य विन्दुमपि नार्हति लब्धुमीशे"**।

निम्बार्क सम्प्रदाय की उपासना जहाँ लक्ष्मी तक ही सीमित है, वहाँ गौड़ीय उपासना में तो यह कहा गया है कि लक्ष्मी तो उस महाभाव स्वरूपा श्रीराधा के चरण नख के सौन्दर्य विन्दु का कण भी प्राप्त करने में असमर्थ है। इससे यह स्पष्ट है कि निम्बार्क सम्प्रदाय का ब्रज रस पर परम्परागत कोई अधिकार नहीं है। निम्बार्क संम्प्रदाय के परवर्त्ती आचार्यों ने जो ब्रजभाषा के पदों में ब्रजमाधुरी का रस उड़ेला है वह अवश्य ब्रज उपासना से संबंधित है, किन्तु वह भी षड़गोस्वामियों के आधार पर ही अनुवादित हुआ दीखता है। निम्बार्क संप्रदाय के रसिक संतजन ब्रजबिहारी राधाकृष्ण से भिन्न एक और निकुंज बिहारी राधाकृष्ण की कल्पना करते हैं जो परम्परा विरुद्ध एवं शास्त्र विरुद्ध भी है ब्रज के राधाकृष्ण को उनका अंश कला का अवतार मानते हैं। देखिये, वृन्दाबन से प्रकाशित श्रीजीकी निम्बार्की-भक्तमाल के पृष्ठ ५७४ पर पंक्ति १९ में लिखा है—"वे श्यामाकुञ्ज बिहारी तो नित्य विहार का त्यागकर स्वप्न में भी निकुञ्ज से बाहर नहीं आते। ये ब्रजबिहारी श्रीकृष्ण उन निकुञ्ज बिहारी के अंश कला अवतार हैं।" उक्त धारणा वाणीकारों का प्रलापमात्र ही कहा जायगा। यह तो सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है कि मुगल साम्राज्य के कारण अथवा उसके पूर्व से ही लुप्त प्रायः ब्रजमंडल के तीर्थों का पुनरुद्धार श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव के आगमन से लेकर षड्गोस्वामियों एवं उनके अनुयायियों द्वारा होता रहा है, आज तक भी ब्रज और वृन्दाबन में यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि ब्रजमंडल के समस्त तीर्थस्थलों (जैसे वृन्दाबन, नन्दगांव, बरसाना, गोवर्धन, राधाकुण्ड, कामवन आदि) में एकमात्र गौड़ीय संप्रदाय का ही अधिकार है, वृन्दाबन, गोवर्धन और राधाकुण्ड की सम्पूर्ण सम्पत्ति गौड़ीय सम्प्रदाय की निजी हैं, नन्दगांव बरसाना के गोस्वामीगण सभी गौड़ीय सम्प्रदाय में परम्परा में दीक्षित होते आ रहे हैं। इसी प्रसंग में हम जब निम्बार्क सम्प्रदाय के ब्रज में अस्तित्व का विचार करते हैं तो हमें इतिहास, साहित्य, परम्परा रीति-रिवाज और सरकारी फरमानों से यह निश्चय हो जाता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय का ब्रज में विकास दो सौ वर्ष से अधिक का नहीं है।

ब्रज में कहीं भी निम्बार्क की कोई प्राचीन वस्तु कला या जमीन जायदाद दिखाई नही देती—जो कुछ भी आज हैं वे सब गौड़ीय ऐतिहासिक मन्दिरों की भूमि पर ही स्थित हैं। इन सभी बातों के अध्ययन से तो संकेत होता है कि श्रीनिम्बार्काचार्य कभी ब्रज में आये भी थे या नहीं ?—

निम्बार्क सम्प्रदाय की तथा कथित दूसरी धारा—जो श्रीभट्ट जी से प्रवर्त्तित होती है, श्रीहरि-व्यासदेव तथा स्वामी श्रीहरिदास जी प्रभृति महापुरुषों ने इस धारा को और भी अधिक गति प्रदान की और इस सम्प्रदाय का नाम हरिव्यासी, हरिदासी आदि से विख्यात हुआ। इन महानुभावों ने स्वतंत्र रूप से श्रीराधाकृष्ण का लीला गान किया है, ये किसी संप्रदाय के अनुगत प्रतीत नहीं होते क्यों कि इन वाणी-कारों ने कहीं भी अपनी कृतियों में अपनी सम्प्रदाय या आचार्यों का उल्लेख नहीं किया और न ही अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के सिद्धान्तों को ही ग्रहण किया है, हरिव्यास सम्प्रदाय के एक वाणीकार संत ने स्वयं अपने को सब से पृथक् स्वीकार किया है—

"आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, जुगल मंत्र को जाप॥

नाहिं द्वैताद्वैत हरि, नहीं विशिष्टा द्वैत।
बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छा द्वैत ॥ 'भगवत रसिक' ॥

हरिदासी मत की उक्त वाणी से यह सिद्ध है कि निम्बार्क संप्रदाय के लोग जिन श्रीभट्ट श्रीहरिदास आदि संतों को अपने संप्रदाय भुक्त कहते हैं, उन्हीं के सम्बन्ध में उन्हीं के शिष्य भगवत रसिक जी कहते हैं कि हमारी संप्रदाय अलग है, जिसके आचार्य श्रीललितासखी है और 'रसिकता' हमारी छाप (तिलक) है, युगल मंत्र (अर्थात् 'श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः' यह मंत्र) हमारा जाप्य है, विवाहित दंपति किशोर हमारी उपासना है। ये संतजन निम्बार्काचार्य प्रवर्त्तित द्वैताद्वैतवाद के पचड़े से भी अलग रहना चाहते हैं। इन रसिक महानुभावों की बृन्दाबन में एक पृथक् गद्दी है--जो टट्टीस्थान के नाम से प्रसिद्ध है, उस गद्दी पर बैठने वाले सन्तरसिक कहाते हैं, वेद शास्त्र के मार्ग से पृथक् अपने को हरिव्यासी या हरिदासी सम्प्रदाय का मानते हैं, कुछ इतिहासकार तो यह भी कहते हैं कि काठियावाड़ में चलने वाली प्रणामी-सम्प्रदाय (जो राधाकृष्ण की उपासक थी) का ही रूपान्तर यह टट्टीस्थानी सम्प्रदाय है, जो भी हो, यह तो निश्चित है कि निम्बार्क सम्प्रदाय में उनका समावेश उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ है, इसके पहले चतुः सम्प्रदाय वैष्णव समाज से टट्टी स्थान को खान पान व्यवहार में अलग रक्खा जाता था—इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि टट्टीस्थान के मन्दिर में स्वामी हरिदास जी के फोटो (जो अति प्राचीन है) के साथ अकबर बादशाह की फोटो की भी पूजा विधिवत् होती है, स्वामी हरिदास और अकबर बादशाह का फोटो एक ही तसवीर में है, एक यवन की पूजा मंदिर में होने से वैष्णव समाज ने इन्हें पृथक् कर दिया था, पिछले ५० वर्ष से ही वैष्णवों ने विशेष कर निम्बार्क सम्प्रदाय ने इन्हें आत्मसात् कर लिया है। क्योंकि निम्बार्क के पास ब्रजसाहित्य कुछ भी नहीं था और इन लोगों के पास ब्रज की वाणी का भंडार था।

इन उक्त हरिव्यासी या हरिदासी महानुभावों को भी जो कुछ ब्रजरस का आस्वादन मिला है—वह भी श्रीचैतन्य महाप्रभु और छः गोस्वामियों के ग्रन्थों से ही मिला है, क्योंकि श्रीश्रीभट्ट जी का समय समस्त इतिहास कारों ने सत्रहवीं शताब्दी माना है, यह बात उन्हीं के रचित "युगल शतक" ग्रन्थ से भी प्रमाणित होती है 'युगल शतक' की समाप्ति में एक दोहे में श्रीश्रीभट्टजी ने अपने ग्रन्थ की पूर्त्ति का संवत् दिया है, देखिये—

"नयन बाण पुनि राग शशि, गनो अङ्क गति वाम।
युगल शतक पूरण भयौ, यह संवत् अभिराग ॥

उक्त दोहे से इसका रचना काल १६५२ ठहरता है, इससे यह सिद्ध है कि श्रीश्रीभट्ट जी का समय चैतन्य महाप्रभु और रूप-सनातन तथा जीवगोस्वामी के बाद में ही है। एक बात और भी है—जो १६५२ की पुष्टि करती है, यह कि निम्बार्कमतानुसार श्रीश्रीभट्ट जी श्रीकेशव काश्मीरी भट्ट के शिष्य माने जाते हैं, केशव काश्मीरी भट्ट और श्रीचैतन्य महाप्रभु का समय एक है—इसे समस्त इतिहासकारों ने स्वीकार किया है, संस्कृत, हिन्दी, वंगला, उड़िया, मराठी आदि सभी भाषाओं में लिखित प्राचीन ग्रन्थों में यह स्वीकार किया गया है कि केशव काश्मीरी भट्ट जी ने नवद्वीप में जाकर श्रीमहाप्रभु से शास्त्रार्थ में परास्त होकर वैष्णव धर्म की शिक्षा ग्रहण की। आजकल के कुछ नये निम्बार्की इसका विरोध करते हुए यह कहते हैं कि केशव काश्मीरीभट्ट चैतन्यमहाप्रभु से तीन सौ वर्ष पूर्व हुए हैं, किन्तु आधुनिक निम्बार्कियों की खोज बिना शिर पैर की होती है, बिना प्रमाण और आधार के ही वे कुछ न कुछ लिखते ही रहते हैं, उनके यहाँ जो ग्रन्थ आज लिखा जाता है—उसे दो हजार वर्ष पहले लिखे की संज्ञा दी जाती है। किन्तु निम्बार्क संप्रदाय के पुराने संत विद्वान् या आचार्यगण तथ्य को स्वीकार करने में संकोच नहीं करते थे। निम्बार्क संप्रदाय के महामान्य वयोवृद्ध संप्रदाय के कर्णधार पंडित श्रीकिशोरदास जी महाराज

क्या लिखते हैं, देखिये केशव काश्मीरी भट्ट द्वारा लिखित गीताभाष्य की भूमिका (संवत् १९६५ में प्रकाशित) के पृष्ठ ३ पर पंडित जी लिखते हैं—"कुछ दिनों के पीछे केशव काश्मीरी भट्ट ने दिग् विजय का प्रारम्भ किया और वैष्णव-धर्म के प्रबन्ध विरोधी वंगदेशीय शक्ति को निर्मूल करते करते नवद्वीप पहुँचे और वहाँ समस्त विद्वानों पर विजय प्राप्त कर शरणागत चैतन्य को गोपाल मंत्र की दीक्षा दी।"

एक और प्रमाण देखिये, निम्बार्क संप्रदाय के प्रकाण्ड पंडित नीलाम्बर शरण देव ने अपने ग्रन्थ 'केशव दिग्विजय सार समुच्चय में पृष्ठ ७ पर लिखा है कि केशव काश्मीरीभट्ट ने नवद्वीप में जाकर चैतन्य महाप्रभु को दीक्षा दी। उक्त विद्वानों ने केशव काश्मीरी के श्रीमन्महाप्रभु द्वारा परास्त होकर शरणागत होने की बात को उलटा कर इस प्रकार के मिथ्या आडम्बर को तूल देने के लिये मनगढ़न्त कहानी रच डाली है। भारत वर्ष के सभी इतिहासज्ञ साहित्यकार तथा भाषा विद् विद्वान लोग और विदेशी इतिहासकार भी इस बात को भली भाँति जानते हैं कि केशव काश्मीरी की पराजय नवद्वीप में हुई और वहीं से उन्होंने वैष्णवधर्म की शिक्षा ग्रहण की—इस तथ्य को छुपाने के लिये ही आज का निम्बार्की समाज काश्मीरी भट्ट का समय महाप्रभु से तीन सौ वर्ष पूर्व ठहराना चाहता है, पर वास्तव में तो पुराने निम्बार्कियों ने भी यही माना है कि केशव काश्मीरी भट्ट महाप्रभु के समय में ही हुए हैं किन्तु वे अपनी दुर्बलता को छुपाने के लिये काश्मीरी की नवद्वीप में पराजय स्वीकार नहीं करते। जिसे कोई भी इतिहास का साधारण विद्यार्थी भी पहचान सकता है।

कुछ निम्बार्की जन 'युगल-शतक" के उक्त दोहे में 'राग' की जगह 'राम' पाठ पढ़वाना चाहते हैं, वे इसके लिये बहुत प्रयास कर रहे हैं, श्री जी की कुञ्ज वृन्दावन से प्रकाशित—"निम्बार्की भक्तमाल—में ऐसे अनेक प्रकरणों की काफी खेंचतान की गई है, यद्यपि उक्त निम्बार्की भक्तमाल का चतुःसंप्रदाय वैष्णव समाज से सामूहिक बहिष्कार हो चुका है, श्रीजी के अधिकारी तथा भक्तमाल के संपादक अपनी भूलों के लिए क्षमा मांग चुके हैं—किन्तु पुस्तक तो समाज में है ही—जो आगे चल कर शिक्षित लोगों में भी भ्रम उत्पन्न करेगी।

अस्तु हमारा तात्पर्य 'युगलशतक' के दोहे से है। हमने स्वयं काशी में 'नागरी प्रचारिणी सभा' के ग्रन्थागार में 'युगलशतक' की पाँच प्रतियों का निरीक्षण किया है, उन सभी में 'राग' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिस एक प्रति में 'राम' शब्द का प्रयोग है, वह अभी पिछले वर्षों में ही लिखी गई प्रतीत होती है। 'नागरी प्रचारिणीसभा' के संग्रह से काल का निर्णय करते हुए 'युगलशतक' रचना समय सं० १६६६ माना गया है, इसकी लिपि १८७९ में लिखी गई है। शेष ३ प्रतियों की लिपि सं० १९०२ की है और एक प्रति संवत १८९८ में लिखी गई है, दो और प्रतियां इसी लाइब्रेरी में संवत् १७८६ तथा १८२० की लिखी बताई जाती हैं—इन सभी में 'राग' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। इस तरह यह निश्चित है कि 'युगलशतक' की रचना का काल सत्रहवीं शताब्दी है—तब तो यह मानना ही पड़ेगा कि श्रीभट्ट जो आदिक की वाणियों पर भी श्रीरूप-सनातन, श्रीहित हरिवंश, श्रीहरिव्यास आदि का प्रभाव अवश्य पड़ा है। इस प्रसंग में यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि ये सभी निम्बार्की रसिक जन केवल ब्रजभाषा के ज्ञाता थे, संस्कृत साहित्य में अगति एवं अनभिज्ञता के कारण ही वे श्रीरूप-सनातन द्वारा प्रतिपादित ब्रजरस के सर्वोत्कृष्ट परकीया भाव की परिधि में न पहुँच सके होंगे।

अन्त में हम अपने गौड़ीय वैष्णव गृहस्थ-विरक्त बन्धुओं से दो शब्द और निवेदन करना चाहते हैं। श्रीमन्महाप्रभु और उनके परिकर द्वारा जो एक अभूतपूर्व भक्ति रस का महान् भंडार अगाध पांडित्य पूर्ण पठनीय सामग्री प्राप्त हुई है, उसे हम सौभाग्य कहते हुए भी महाप्रभुजी के शब्दों में यह भी कहेंगे कि—"**दुर्दैवमीदृश मिहाजनि नानुरागः**" पारसमणि घर में रहते हुए भी दरिद्रता, गंगा किनारे बैठकर भी तृषा

से आकुलता हमारे अन्दर बनी है, इसका कारण है हम अपनी वस्तु न तो स्वयं आस्वादन करते हैं और न दूसरों के लिए परिवेशन करते हैं। हाँ ! कुछ लोग चोरी-चोरी हमारे साहित्य को छीने ले जा रहे हैं, और हम घोर निद्रा में सोये जा रहे है। हमारे कई अनूठे ग्रन्थों का श्रीराधावल्लभीय संप्रदायी महानुभावों ने अपने नाम में अनुवाद कर लिया। भारत के एक प्रसिद्ध सन्यासी विद्वान ने हमारे षड्सन्दर्भ पर ही हाथ फेर दिया है, इधर निम्बार्क सम्प्रदाय के विद्वानों की गौड़ीया साहित्य पर बड़ी कृपा हो रही है, कोई तो साहित्य की चोरी करता है, पर निम्बार्की महानुभाव हमारे आचार्यों की चोरी कर रहे हैं। 'निम्बार्कमाधुरी' में श्रीचैतन्यमहाप्रभु और श्रीनित्यानन्दप्रभुको निम्बार्की बना दिया गया है। श्रीजयदेव कवि आदिक परकीयाभाव के उपासकों को भी निम्बार्की परम्परा में जोड़ लिया, अभी हाल में ही मथुरा से एक तुच्छ पुस्तिका-प्रकाशित हुई है-इसमें गौड़ीय सम्प्रदाय के उद्‌भट्टविद्वान अनेक ग्रन्थों के रचयिता श्रीपादविश्वनाथ चक्रवर्ती को निम्बार्की बना लिया है। भाई ! बात यह है जिनके पास कागज कलम, प्रेस और स्याही घर की हैं—वे इस जनतन्त्र में कुछ भी लिख कर छापा करें, कौन रोकता है। किन्तु विद्वत् समाज इस धांधली को सब समझ रहा है, समय समय पर विद्वानों ने इन अपहरण कर्त्ताओं को झटके भी दिये हैं, पर वे स्वभाव से लज्जित हैं, जिनके घर में कोई ग्रन्थ नहीं कोई साहित्य नहीं, भक्तिरस-प्रणाली का परिचय नहीं, ब्रज के भाव महाभावों का आस्वादन नहीं वे लोग गौड़ीय साहित्य के अक्षय रस भंडार को लूटना जानते हैं, सुना जा रहा है कि प्रयाग से किन्हीं निम्बार्की सज्जन द्वारा 'उज्ज्वलनीलमणि' और भक्तिरसामृत-सिंधु' के नाम बदल कर प्रकाशन किये जा रहे हैं। गौड़ीयवैष्णवों को इन साहित्य-दस्युओं से सावधान रहना चाहिये। प्रयाग के एक निम्बार्की गोस्वामी ने 'निम्बार्क वेदान्त' प्रकाशित किया है, जिसकी भूमिका में लेखक ने अपनी बाल बुद्धि का परिचय देकर सभी वैष्णवाचार्यो को अनाप-सनाप गालियां दी हैं और कंठी तिलक तक को दूषित रूप से संबोधित किया है—क्या निम्बार्की जन यह समझते हैं कि इन कुत्सित कृत्यों से श्रीनिम्बार्काचार्य की सेवा कर रहे हैं। हम समझते हैं कि वे स्वयं अपना और समस्त वैष्णव सम्प्रदायों का विश्व के इतिहास और साहित्य में नाम कलंकित करा रहे हैं। उन्हें यह ध्यान रहना चाहिये कि गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्ति साहित्य में हेर फेर कर अपने घर को सजाने से सभ्य समाज आप को बधाई नहीं देगा—प्रत्युत आप दूसरों की दृष्टि में गिरते जायेंगे।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन जिन कठिनाइयों में हो रहा है—उसे हम आप नहीं समझ सकते। इस भीषण युग में ग्रन्थ प्रकाशन की बात सोचना उचित नहीं जान पड़ती। परन्तु जिनके हृदय में लगन लगी है, जो यह देख रहे हैं कि यदि इन ग्रन्थों को प्रकाशित न किया गया तो ये अमूल्य ग्रन्थ एक दिन दूसरों की सम्पत्ति बन जायेंगे, वे लोग अपने स्वाथ को ठोकर देकर प्रकाशन में लगे हैं। उनमें ही एक श्रीश्यामलाल जी हकीम हैं। सुदूर देशान्तर से वृन्दावन में आकर यथा-तथा अपनी गृहस्थिति को चला कर सहस्रों रुपये इस महान कार्य में व्यय कर रहे हैं। 'हरिनाम सङ्कीर्त्तन मंडल' को उन्होंने जीवन दान देकर सम्प्रदाय की महान् सेवा की है —भगवान् श्रीचैतन्यदेव उनके इस प्रयास को सफलता प्रदान करते रहें।

समय एवं स्थानाभाव के कारण इस लेख में विषय-भाषा तथा भाव की दृष्टि से कई त्रुटियाँ रह गई हैं। प्रसङ्गवश निम्बार्क सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भी कुछ कटु सत्य कहना पड़ा है, वह कोई प्रतिक्रिया नहीं, अपितु विवशता वश। सम्भवतः इससे निम्बार्की बन्धुओं को अपना मार्ग निश्चित करने में सहायता मिलेगी।

अन्त में श्रीगौरसुन्दर के पावन चरणों में पुनः पुनः अपने को समर्पित करते हुए सभी पाठकों से क्षमा याचना चाहता हूँ।

श्रीगौरचरणानुचर—

रामदास शास्त्री, 'माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदाय मंडलेश्वर'
चार सम्प्रदाय-आश्रम, श्रीधाम-वृन्दावन।

श्रावण एकादशी
सं० २०२१.

॥ जयगौर ॥

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत मध्य-लीला

विषय-सूची

विषय — पृष्ठाङ्क

प्रथम परिच्छेद

मङ्गलाचरण १
श्रीचैतन्यलीला प्रकार-भेद ३
श्रीरूप-सनातन गोस्वामी द्वारा श्रीब्रजमण्डल का प्रागट्य एवं ब्रजभक्ति-शास्त्र समूह सङ्कलन व प्रचार ६
श्री सनातन गोस्वामी-रचित ग्रन्थावली ७
श्री रूपगोस्वामी-रचित ग्रन्थावली ७
श्री जीवगोस्वामी-रचित ग्रन्थावली ६
अन्त्यलीला का संक्षिप्त विवरण १२
कुरुक्षेत्र में श्रीराधा-कृष्ण मिलन-प्रसङ्ग १३
मध्य-लीला का सूत्र-वर्णन २०
अन्त्य-लीला का सूत्र-वर्णन ३४

द्वितीय परिच्छेद

अन्त्य-लीलान्तर्गत प्रेमोन्माद- प्रलापादि सूत्र-वर्णन ३८
अष्ट-सात्विक-भाव ५२–५३
द्वितीय परिच्छेद उपसंहार ५५

तृतीय परिच्छेद

संन्यासानन्तर श्रीचैतन्यदेव का राढ़देश-भ्रमण ५८
श्रीवृन्दाबन-प्रेमावेश में श्रीचैतन्यदेव का श्रीअद्वैत गृह-गमन ६१
श्रीअद्वैत-गृह में श्रीचैतन्यदेव की भोजन-लीला ६३
श्रीअद्वैत-नित्यानन्दप्रभु का प्रेम-कलह ६६
श्रीअद्वैत-गृह में सङ्कीर्त्तन-विलास ६६
श्रीअद्वैत-गृह में श्रीचैतन्य-शची-मिलन ७१
नीलाचल वास के लिये शची माता की अनुमति ७४
श्रीचैतन्यदेव का नीलाचल-गमन ७६

चतुर्थ परिच्छेद

क्षारचोरा श्रीगोपीनाथ का तथा श्रीमाधवेन्द्रपुरी का प्रसङ्ग ७८
श्रीमाधवेन्द्रपुरी द्वारा श्रीगोपाल-स्थापन ७६
श्री गोपाल-सेवा तथा श्रीवल्लभ भट्ट विवरण ८५
श्रीगोपाल की चन्दन-याचना एवं श्री पुरी गोस्वामी का दक्षिण-गमन ८६
कायिक, वाचनिक एवं मानसिक याचना ८८
श्रीगोपीनाथ की क्षीर-चोरी ८८
श्रीपुरी गोस्वामी का श्रीक्षेत्र-गमन एवं चन्दन लेकर प्रत्यावर्त्तन ६०
श्रीपुरी गोस्वामी के प्रति श्रीगोपाल-आज्ञा एवं श्रीगोपीनाथ अङ्ग चन्दन-लेपन प्रसङ्ग ६१
श्रीपुरी गोस्वामी-भक्ति महिमा ६२

पञ्चम परिच्छेद

श्रीचैतन्यदेव का कटक गमन एवं साक्षीगोपाल विवरण ६७
श्रीचैतन्यदेव का कपोतेश्वर गमन एवं दण्डभङ्ग-लीला १०६

षष्ट परिच्छेद

श्रीक्षेत्र में श्रीचैतन्य–सार्वभौम मिलन १११
श्रीसार्वभौम के घर में श्रीनित्यानन्दादि भक्त-मिलन ११३
श्रीसार्वभौम की श्रीचैतन्यदेव की परिचय-जिज्ञासा ११४
सशिष्य श्रीसार्वभौम के साथ श्रीमहाप्रभु सम्बन्ध में श्रीगोपीनाथाचार्य की तर्क-वितर्क ११६
भगवान्-लक्षण व स्वयं भगवान्-लक्षण ११६

विषय	पृष्ठाङ्क
प्रसङ्ग क्रम से वस्तु में वस्तुतत्त्व-ज्ञान	११८
पच्चीस लीलावतार	१२०
श्रीसार्वभौम से श्रीचैतन्यदेव का वेदान्त-श्रवण	१२३
श्रीचैतन्यदेव द्वारा वेदान्त के शङ्करभाष्य का खण्डन	१२४
प्रसङ्ग क्रम से ब्रह्म-तत्व	१२५
जीवतत्त्व व जीव-ईश्वर सम्बन्ध निरूपण	१३०
ब्रह्म-विग्रह-तत्त्व	१३१
परिणामवाद व विवर्त्तवाद	१३१
प्रणव का महावाक्य-स्थापन	१३३
मायावाद के प्रचार का हेतु	१३४
'आत्माराम-श्लोक का अर्थ—प्रकाश	१३७
श्रीचैतन्यदेव की श्री सार्वभौम पर कृपा व षड्भुज रूप दर्शन	१३८
श्रीसार्वभौम द्वारा श्रीमहाप्रसाद—महिमा वर्णन	१३९
श्रीमहाप्रभु का सर्व श्रेष्ठ भक्ति—साधन उपदेश	१४०
श्रीसार्वभौम द्वारा श्रीचैतन्य—स्तुति	१४४
श्रीसार्वभौम द्वारा श्रीभागवत—श्लोक का पाठ परिवर्त्तन	१४४

सप्तम परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
श्रीमहाप्रभु का दक्षिण-गमन	१४९
श्रीमहाप्रभु का प्रेमावेश एवं सर्वदेश का वैष्णवीकरण	१५६
कूर्म-नामक ब्राह्मण के प्रति श्रीचैतन्य—कृपा	१५८
गलित-कुष्टी वासुदेव के प्रति श्रीचैतन्य—कृपा	१५९

अष्टम परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
गोदावरी तीर पर श्रीचैतन्य—रामानन्द मिलन	१६५
रायरामानन्द के साथ साध्यसाधन—तत्त्वालोचना	१७१
स्वधर्माचरण—प्रसङ्ग	१७१
चतुः पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष	१७१
पञ्चम पुरुषार्थ—प्रेम	१७२
विष्णु-भक्ति	१७३
साध्य—भक्ति	१७३
साधन—भक्ति	१७३
शुद्धा—भक्ति	१७३
मिश्रा—भक्ति	१७३
कर्म—मिश्रा—भक्ति	१७३
उत्तमा—भक्ति	१७४
आरोप सिद्धा—भक्ति	१७४
सङ्ग—सिद्धा—भक्ति	१७४
स्वरूप—सिद्धा—भक्ति	१७४
चतुः वर्ण—धर्म	१७५
चतुः आश्रम—धर्म	१७५
श्रीकृष्ण में कर्मार्पण—प्रसङ्ग	१७७
निष्कामा—कर्मज्ञान मिश्रा—भक्ति	१७८
निष्काम—कर्मयोग	१७८
भक्ति—योग	१७९
स्वधर्म—त्याग	१७९
ज्ञानमिश्रा—भक्ति	१८०
आत्यन्तिकी-श्रद्धा	१८१
ज्ञान—मिश्रा—भक्ति	१८२
ज्ञानशून्या—भक्ति	१८४
प्रेमभक्ति	१८६
दास्य प्रेम	१९०
माहात्म्य-ज्ञानयुक्त-प्रेम	१९०
केवल-प्रेम	१९०
सुखैश्वर्य्योतरा—मुक्ति	१९०
प्रेमसेवोतरा—मुक्ति	१९०
दास्य-भाव व दास्य-प्रेम	१९१
सख्य—प्रेम	१९२
सखा व सख्य—प्रेम	१९३
ऐश्वर्य्यात्मक—भाव	१९३
माधुर्य्यात्मिक—भाव	१९३
स्वातन्त्र्यमयी—सेवावासना	१९४
आनुगत्यमयी—सेवावासना	१९४
वात्सल्य-प्रेम	१९५
प्रसङ्ग वश धरा-द्रोण विवरण	१९७
कान्ता—प्रेम	१९९
सम्बन्धानुगा-रति	२००
कामानुगा—रति	२००
राधा—प्रेम	२०५
राधा-प्रेम का अन्यापेक्षत्व-खण्डन	२०६
प्रसङ्गवश गुरु-लक्षण	२१४

विषय	पृष्ठाङ्क
श्रीकृष्ण-तत्व	२१५
काम व मदन	२१६
प्राकृत-काम व अप्राकृत-काम	२१६
प्राकृत-मदन व अप्राकृत-मदन	२१६
अप्राकृत-नवीन मदन	२१६
काम-गायत्री	२१६
काम-बीज	२१६
श्रीकृष्ण का रस-स्वरूपत्व व माधुर्य्य	२१७
श्रीराधा-तत्त्व व प्रेम तत्त्व	२२०
राग	२२४
सात्त्विक-भाव, सुद्दीप्त सात्विक-भाव	२२४
व्यभिचारी-भाव या सञ्चारी भाव	२२४
हर्षादि तेतीस सञ्चारी भाव	२२४
किलकिञ्चित-भाव	२२५
अङ्गज-किलकिञ्चत-भाव	२२५
अयत्न सिद्ध-किलकिञ्चित-भाव	२२५
स्वभावजात-किलकिञ्चित-भाव	२२५
श्रीराधा-कृष्ण-विलास महत्त्व व श्रीकृष्ण का धीर ललितत्व	२२७
प्रेम-विलास-विवर्त्त	२२९
साध्य-अवधि श्रीराधा प्रेम	२३२
गोपी या सखी-स्वरूप व स्वभाव	२३२
गोपी भाव-प्राप्ति का साधन	२३५
श्रुतियों को गोपीभाव की प्राप्ति	२३५
अन्यान्य प्रश्नोत्तर-गोष्ठि	२३८
रायरामानन्द के आगे श्रीमहाप्रभु का स्वरूप-प्रकाश	२४३
रसराज-महाभाव स्वरूप श्रीचैतन्य	२४५

नवम परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
कर्मी-ज्ञानी-आदिकों का वैष्णवी-करण	२४९
सिद्धिवट में नाम माहात्म्य प्रसङ्ग	२५०
तार्किक-मीमांसकादिकों का मत खण्डन	२५२
बौद्धाचार्य्य का गर्वनाश	२५२
श्रीरङ्गक्षेत्र-गमन एवं श्री वैङ्कटभट्ट पर कृपा	२५३
गीताध्यायी विप्र की कथा	२५६
श्रीलक्ष्मीदेवी की श्रीकृष्ण-सेवा वासना	२५७
श्रीकृष्ण स्वरूप एवं श्रीनारायण स्वरूप आलोचना	२५७
भगवत्तत्त्व सम्बन्धी वैष्णव सिद्धान्त	२५९
श्रीसीता-हरण रहस्य	२६५
भट्टमारि-संन्यासियों से श्रीकृष्णदास का उद्धार	२६८
ब्रह्म संहिता-प्राप्ति	२६९
तत्ववादिगणों के साथ साध्य-विचार	२७०
नवलक्षणा या नवविधा-भक्ति	२७१
श्रवणम्	२७२
कीर्त्तनम्	२७२
स्मरणम् एवं धारणा, ध्रुवानुस्मृति व समाधि	२७३
पादसेवनम्	२७३
अर्चनम् व बाह्य-अर्चन एवं मानस-अर्चन	२७३
वन्दनम्	२७३
दास्यम्	२७३
सख्यम्	२७३
आत्मनिवेदनम्	२७३
चतुः-सम्प्रदाय	२७८
श्रीब्रह्म-सम्प्रदाय	२७९
श्रीब्रह्म-माध्व-सम्प्रदाय	२७९
श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय या गौड़ीय सम्प्रदाय	२७९
श्रीचैतन्य-रङ्गपुरी पाद मिलन	२८१
श्रीविश्वरूप सिद्धि प्राप्ति संवाद	२८२
श्रीकृष्णकर्णामृत प्राप्ति	२८२
सप्तताल वृक्ष-उद्धार	२८३
रायरामानन्द के साथ पुनर्मिलन	२८३
श्रीचैतन्यदेव का नीलाचल में प्रत्यावर्त्तन	२८५

दशम परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
श्रीसार्वभौम के साथ राजा प्रतापरुद्र का आलाप	२८८
श्रीकाशीमिश्र के घर श्रीमहाप्रभु-वास	२९०
श्रीमहाप्रभु का चतुर्भुज रूप प्रकाश	२९१
नीलाचलवासी भक्तवृन्द-मिलन	२९२
श्रीकृष्णदास का गौड़-गमन	२९३
गौड़ीय भक्तों का नीलाचल गमनोद्योग	२९४
नीलाचल में श्रीपरमानन्द पुरी मिलन	२९५
श्रीस्वरूपदामोदर का नीलाचल आगमन	२९६
श्रीगोविन्द का नीलाचल आगमन	२९८
श्रीगुरु आज्ञा के सम्बन्ध में आलोचना	३००

विषय	पृष्ठाङ्क
श्रीब्रह्मानन्द भारती मिलन	३०२
श्रीकाशीश्वर गोस्वामी मिलन	३०५

एकादश परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
श्रीसार्वभौम द्वारा राजाप्रतापरुद्र के लिये दर्शन प्रार्थना	३०७
राजा-मिलन सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभु अभिमत	३०८
नीलाचल में रायरामानन्द मिलन	३०८
राजा प्रतापरुद्र का खेद एवं श्री सार्वभौम का उपदेश	३१२
गौड़ीय भक्तों का नीलाचल में आगमन एवं श्रीगोपीनाथाचार्य्य द्वारा उनका परिचय ज्ञापन	३१४
श्रीसार्वभौम द्वारा गौरतत्त्वालोचना	३१५
विधिधर्मापेक्षा रागधर्म का वैशिष्ट्य	३१७
गौड़ीय भक्तों के साथ प्रभु-मिलन	३१८
श्रीमुरारी गुप्त का दैन्याचरण	३२१
श्रीहरिदास का दैन्याचरण	३२१
गौड़ीय भक्तों का प्रसाद-भोजन	३२४
श्रीजगन्नाथ-मन्दिर में कीर्त्तन लीला	३२५

द्वादश परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
श्री राजाप्रताप रुद्र का श्रीसार्वभौम को पत्र	३२८
श्रीनित्यानन्द प्रभु द्वारा पत्र निवेदन	३२९
प्रसङ्गवश याज्ञिक-ब्राह्मणीगण की कथा	३३१
राजा के लिये प्रभु का वहिर्वास प्रेरण	३३१
राजकुमार का श्रीमहाप्रभु-मिलन	३३३
राजकुमार का प्रेम विकार व पुत्रस्पर्शजन्य राजा प्रतापरुद्र का प्रेम विकार	३३३
गुण्डिचा मार्ज्जन-लीला	३३४
जलकेलि व वन-भोजन	३३९
श्रीनित्यानन्द-अद्वैत का प्रेम-कलह	३४२
श्रीजगन्नाथ नेत्रोत्सव	३४४

त्र्योदश परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
श्री जगन्नाथजी की पाण्डु विजय	३४८
राजा प्रतापरुद्र की झाड़ू सेवा	३४९
रथ के आगे प्रभु का नृत्य कीर्त्तनादि	३५१
श्रीमहाप्रभु का ऐश्वर्य्य प्रकाश	३५२
श्रीमहाप्रभु की जगन्नाथ-स्तुति	३५४
श्रीचैतन्यदेव का प्रेमावेश	३५५
गौर-श्याम विचित्र लीला	३५८
कुरुक्षेत्र-मिलन भावावेश	३५९
प्रसङ्गवश व्रजवासियों के मथुरा न जाने का कारण	३६३
कुरुक्षेत्र-मिलन में श्रीकृष्णोक्ति	३६४
राजा के स्पर्श में प्रभु का आत्म-धिक्कार	३६९
वलगण्डि स्थान पर रथ-विश्राम	३७०
पुष्पोद्यान में श्रीमहाप्रभु का विश्राम	३७१

चतुर्दश परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
उपवन में श्रीमहाप्रभु-राजा प्रतापरुद्र मिलन	३७३
राजा प्रति श्रीमहाप्रभु-कृपा	३७४
राजा का महाप्रभु-ऐश्वर्य्य दर्शन	३७४
उपवन में प्रसाद-भोजन लीला	३७५
रथ-चलन रहस्यालोचना	३७७
भक्तगणों का प्रभु को निमन्त्रण	३७८
श्रीकृष्ण के वृन्दावनागमन-भाव में गुण्डिचा-प्राङ्गन में नृत्यकीर्त्तन व जलकेलि	३७९
होरापञ्चमी पर श्रीलक्ष्मी-विजय	३८२
रथयात्रा का गूढ़ उद्देश्य	३८२
श्री जगन्नाथ-सेवकों के प्रति श्रीलक्ष्मी-दासियों का व्यवहार, मान विषयक आलाप एवं गोपीभाव का वैशिष्टच	३८४
मान, ईर्ष्य-मान व प्रणय-मान	३८५
गोपी-मान विलक्षता एवं गोपीभाव की रसाभास-हीनता	३८६
राधाप्रेम का वैशिष्टच	३८८
वैकुण्ठापेक्षा श्रीवृन्दावन का वैशिष्टच	३९६
कुलीन ग्रामी भक्तों के प्रति कृपादेश	३९९

पञ्चदश परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
श्रीमहाप्रभु व श्रीअद्वैताचार्य का परस्पर पूजन	४०१
श्रीअद्वैत का प्रभु-निमन्त्रण	४०१
श्रीकृष्णजन्म लीला-यात्रा	४०२
गौड़ीय भक्तों का विदा-प्रसङ्ग	४०४
शचीमाता से प्रभु की क्षमा प्रार्थना	४०४

विषय	पृष्ठाङ्क
श्रीराघव पण्डित की कृष्ण-सेवा–प्रशंसा	४०७
श्रीगुणराजखान की प्रशंसा	४०९
गृहस्थ वैष्णवों का कर्त्तव्य कथन	४०९
श्रीहरिनाम की दीक्षा–आदि अपेक्षाहीनता	४१०
वैष्णव–लक्षण	४१०
दीक्षा व पुरश्चरण	४१०
खण्डवासी श्रीमुकुन्ददास का प्रसङ्ग	४११
श्रीरघुनन्दन की कृष्ण-सेवा	४१२
श्रीसार्वभौम व श्रीविद्यावाचस्पति प्रति उपदेश	४१२
श्रीमुरारी गुप्त की भक्तिनिष्ठा	४१३
जीवोद्धार निमित्त श्रीवासुदेवदत्त की प्रार्थना व श्रीमहाप्रभु का उत्तर	४१४
जीवमाया व गुणमाया	४१७
श्रीसार्वभौम का प्रभु-निमन्त्रण	४१८
श्रीसार्वभौम-गृह प्रभु–भोजन	४२०
श्रीकृष्ण प्रसादी द्रव्यालोचना	४२२
अमोघ द्वारा प्रभुनिन्दा	४२४
कन्या प्रति श्रीसार्वभौम का आदेश	४२५
अमोघ की विसूचिका एवं उस पर प्रभुकृपा	४२६

षोड़श परिच्छेद

प्रभु की वृन्दाबनगमनेच्छा में राजा की विमनस्कता	४३०
गौड़ीय भक्तों का नीलाचल आगमन	४३१
श्रीनित्यानन्द के साथ प्रभु की एकान्तयुक्ति	४३४
वैष्णव-लक्षण-कथन	४३६
श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि का प्रसङ्ग	४३७
श्रीवृन्दाबन-गमन-छल से गौड़गमन	४३९
कटक में श्रीमहाप्रभु--राजा प्रतापरुद्र से मिलन	४४०
श्रीमहाप्रभु के गौड़गमन में राजा का उद्योग	४४१
श्रीगदाधर का प्रभु-अनुसरण, प्रभु का निषेध	४४२
श्रीगदाधर–तत्त्व	४४३
यवन राजा प्रति प्रभु कृपा	४५०
यवन राजा की प्रभु सेवा	४५३
प्रभु का पावणीहाटी–आगमन	४५३

विषय	पृष्ठाङ्क
प्रभु का शान्तिपुर-आगमन, शचीमाता सहित मिलन, रामकेलि होकर कानाई नाटशाला गमन एवं पुनः शान्तिपुर आगमन	४५४
शान्तिपुर में श्रीरघुनाथदास–मिलन	४५५
श्रीरघुनाथदास के प्रति प्रभु-शिक्षा	४५६
प्रभु का नीलाचल प्रत्यावर्त्तन	४५७

सप्तदश परिच्छेद

झारिखण्ड-पथ से प्रभु की श्रीवृन्दावन यात्रा	४६३
प्रभु की जङ्गली पशुओं पर कृपा एवं नामदान	४६३
बनपथ में प्रभु का सुखाधिक्य	४६७
"न शूद्रा भगवद्भक्ताः"	४६७
प्रभु का काशी–आगमन व श्रीतपन मिश्र के घर अवस्थिति	४६९
श्रीमहाप्रभु का श्रीचन्द्रशेखर व महाराष्ट्रि विप्र सहित मिलन	४७०
श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती की सभा में प्रभु-प्रसङ्ग	४७१
श्रीप्रकाशानन्द का प्रभु–उपहास	४७३
श्रीमहाप्रभु आगे प्रकाशानन्द–प्रसङ्ग	४७३
"मायावादी कृष्ण-अपराधी"	४७४
श्रीमहाप्रभु द्वारा कृष्णनाम-गुणादि स्वरूप कथन	४७४
काशी से प्रभु का मथुरा गमन	४७८
सनौड़िया-विप्र सहित प्रभु मिलन	४७९
साधुव्यवहार अनुसरणीय	४८१
श्रीमहाप्रभु का श्रीवृन्दाबन आगम, श्रीवृन्दाबन दर्शन व प्रेमावेश	४८२

अष्टादश परिच्छेद (द्वितीय-खण्ड)

श्रीमहाप्रभु का आरिटग्राम में आगमन	४८७
श्रीश्यामकुण्ड व श्रीराधाकुण्ड आविष्कार	४८८
श्रीराधाकुण्ड महिमा	४८९
श्रीगोपालराय–दर्शन	४९०
श्रीरूपगोस्वामी का श्रीगोपालराय-दर्शन वृत्तान्त	४९२
श्रीमहाप्रभु का नन्दीश्वर- दर्शन	४९३
श्रीमहाप्रभु का शेषशायी–दर्शन	४९३
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-दर्शन व श्रीकृष्ण-जन्म रहस्य	४९४

विषय	पृष्ठाङ्क
यमलार्जुन–भङ्गस्थान दर्शन	४६४
श्रीवृन्दावन में इमली-तला पर श्रीमहाप्रभु का विश्राम	४६७
राजपूत श्रीकृष्णदास-मिलन	४६७
कालीदह पर कृष्णाविर्भाव–प्रसङ्ग	४६८
जीव-ईश्वर समताज्ञान–प्रसङ्ग	४६६
जीवकोटि ब्रह्मा–रुद्र एवं ईश्वरकोटि ब्रह्मारुद्र	५०१–५६६
श्रीमहाप्रभु में भगवत्तता–लक्षण	५०२
अक्रूरघाट पर प्रभु का यमुना में कूदना	५०४
प्रयाग में मकरस्नान के लिये अनुमति	५०४
म्लेच्छ-पट्टान का उद्धार	५०६
पट्टान-पीर के साथ शास्त्र-विचार	५०७
श्रीचैतन्यदेव का प्रयाग–आगमन	५१०

उनविंश परिच्छेद

श्रीरूप-सनातन का गृहत्याग–प्रसङ्ग	५१२
श्रीसनातन का कारावास	५१३
प्रयाग में श्रीमहाप्रभु–रूप मिलन	५१५
प्रयाग में श्रीमहाप्रभु–वल्लभभट्ट मिलन	५१७
श्रीवल्लभ-भट्ट के घर श्रीमहाप्रभु–गमन	५१६
श्रीवल्लभभट्ट के घर श्रीरघुपति उपाध्याय का मिलन	५२०
प्रयाग में श्रीरूप–शिक्षा	५२२
श्रीवृन्दावन में श्रीरूप-सनातन का आचरण	५२५
श्रीरूप-शिक्षा-प्रसङ्ग में जीव-तत्त्व	५२६
अणिमा-लघिमादि अष्ट-सिद्धि विवरण	५२६
भक्तिलता प्रसङ्ग	
भक्ति-प्रसङ्ग में वैष्णवापराध	५३२
भक्तिलता की उपशाखाएं	५३४
शुद्धाभक्ति–लक्षण	५३५
प्रवृत्यात्मक-कृष्णानुशीलन व निवृत्यात्मक–कृष्णानुशीलन	५३६
सर्वेन्द्र-कृष्ण सेवा	५३६
सगुण-भक्तियोग व निर्गुण-भक्तियोग	५३७
स्वरूपगत या स्वरूप-सिद्धा भक्ति	५३७
कृष्णरति के विभिन्न स्तर	५३८
द्वादश भक्तिरस	५३६
पञ्चविधि मुख्य भक्तिरस	५३६
सप्त गौण भक्तिरस	५४०
शान्तादि रसों के पात्र व उनके भेद	५४०
दास्य-भक्तों का श्रेणीभेद	५४१
ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा व केवला-रति स्वरूप	५४१
शान्तरस का स्वरूप	५४५
दास्यरस का स्वरूप	५४७
सख्यरस का स्वरूप	५४७
वात्सल्यरस का स्वरूप	५४७
मधुररस का स्वरूप	५४८
श्रीरूप के प्रति वृन्दावन गमन का आदेश	५४६
श्रीचैतन्यदेव का काशी में पुनरागमन	५४६

विंश परिच्छेद

कारागार से श्रीसनातन का पलायन	५५१
पातड़ा-पर्वत पर श्रीसनातन का भूमिधर से मिलन	५५२
श्रीसनातन का भगिनीपति श्रीकान्त से मिलन	५५४
काशी में श्रीसनातन का प्रभु के साथ मिलन	५५५
श्रीसनातन का कौपीन-बहिर्वास धारण	५५७
श्रीसनातन का कम्बल-त्याग	५५८
श्रीमहाप्रभु द्वारा श्रीसनातन शिक्षारम्भ	५५६
श्रीसनातन के तीन प्रश्न	५६०
अध्यात्मकादि तापत्रय	५६०
शिक्षा प्रसङ्ग में जीवतत्त्व	५६१
जीव के संसारबन्धन का हेतु	५६४
संसार-मुक्ति का उपाय	५६६
पुराण–लक्षण	५६७
सम्बन्ध-अभिधेय–प्रयोजन तत्त्व	५६७
मुख्य सम्बन्धतत्त्व–श्रीकृष्ण	५७०
श्रीकृष्ण-तत्त्व, अद्वयज्ञान तत्त्व	५७२
सजातीय–आदिक भेदत्रय	५७३
निर्विशेष ब्रह्म व परम ब्रह्म	५७४
परब्रह्म श्रीकृष्ण	५७५
ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्	५७७
भगवान् के विभिन्न स्वरूप: स्वयंरूप – तदेकात्मरूप व आवेश	५७६

विषय	पृष्ठाङ्क
स्वयं रूप व उसके विभिन्न प्रकाश	५७९
प्राभव-प्रकाश, वैभव-प्रकाश	५७९
अनन्त-प्रकाश में मूर्त्तिभेद-हीनता	५८०
स्वयंरूप में सौन्दर्य-माधुर्य का आधिक्य	५८२
तदेकात्मरूप व उसके भेद	५८३
तदेकात्मकरूप के विलास भेद	५८३
द्वादश मास के देवता, द्वादश तिलक स्थान,	५८४
परव्योम में समस्त स्वरूपों के नित्यधाम	५८६
अनेक स्वरूपों का ब्रह्माण्ड में प्रकाश	५८६
अस्त्रधृतिभेद से चौबीस स्वरूपों का नाम भेद	५८६
तदेकात्मरूप के स्वांश-भेद, षड्‌विध अवतार, बाल्य-पौगण्ड विग्रह-धर्म	५८८
स्वांश भेद में--पुरुषावतार	५९०
प्रसङ्ग क्रम से शक्ति तत्त्व	५९१
प्रथम पुरुष	५९३
मायावृत्ति व सृष्टि-प्रक्रिया	५९३
द्वितीय-पुरुष	५९५
तृतीय पुरुष	५९५
लीलावतार	५९९
गुणावतार	५९९
रुद्र व शिव	५९९
पालनकर्त्ता श्रीविष्णु	६००
मन्वन्तरावतार	६०१
युगावतार	६०२
चतुर्युग के साधन	६०२
कलियुग में नामसङ्कीर्त्तन का वैशिष्ट्य	६०४
अवतार की पहिचान	६०५
स्वरूप लक्षण व तटस्थ लक्षण	६०६
शक्त्यावेशावतार	६०७
प्रकट-लीला, अप्रकट-लीला	६०९
पूतनावधादि लीला का नित्यत्व	६१०
लीला नित्यत्व के शास्त्रप्रमाण	६११
ज्योतिश्चक्र-प्रमाण से प्रकटलीला का नित्यत्व	६११
श्रीकृष्ण का पूर्णतमत्व, पूर्णतरत्व व पूर्णत्व	६१३

एकविंश परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
सम्बन्ध तत्व प्रसङ्ग में धामतत्त्व	६१४
श्रीकृष्ण गुणों का आनन्त्य	६१५
श्रीकृष्णचरित्र का अचिन्त्यत्व	६१६
श्रीवृन्दावन की विभुता	६१७
श्रीकृष्ण का अनन्त ऐश्वर्य	६१७
अधीश्वर-शब्द का अर्थ	६१९
देवी-महेश-हरिधाम	६२१
एकपाद-विभूति विस्तार, ब्रह्मा का गर्व खण्डन	६२२
परव्योम के सप्तावरण व उनके चौहत्तर देवता	६२५
योगमाया	६२७
भगवत्ता का सार माधुर्य्य	६२७
माधुर्य वर्णन प्रसङ्ग में कामगायत्रीस्वरूप व अर्थ	६३१

द्वाविंश परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
सनातनशिक्षा में अभिधेय-तत्त्व	६३७
भक्ति का अभिधेयत्त्व	६३७
जीवतत्त्व	६३८
नित्यमुक्तजीव, नित्यबद्ध-जीव	६३९
भक्ति का श्रेष्ठत्व,, कर्म-योग ज्ञान की भक्तिमुख निरीक्षकता	६४०
जीव के मायाबन्धन का हेतु	६४२
भक्ति के बिना बुद्धि की शुद्धता असम्भव	६४२
ज्ञान-मार्ग के साधक	६४३
गुणमयी-भक्ति, निर्गुण-भक्ति	६४३
कृष्ण-भजन से न मांगने पर भी कृष्ण-चरण-प्राप्ति	६४५
साधुसङ्ग व साधुकृपा महिमा	६४७
श्रीगीता में भगवान् के सर्वगुह्यतम वचन	६५०
श्रीकृष्णभजन में कर्मत्याग	६५०
भजनाधिकारी श्रेणीविभाग	६५१
वैष्णव गुण, कृष्णभक्त-लक्षण	६५३
भक्ति-जन्ममूल साधुसङ्ग	६५४
वैष्णवाचार	६५५
शरणागत-लक्षण	६५९
साधन-भक्ति लक्षण	६६०
वैधी, रागानुगा, वैधीभक्ति लक्षण	६६०
साधन के प्राण श्रीकृष्णस्मृति	६६१
चौंसठ-अङ्ग साधनभक्ति	६६२

विषय	पृष्ठाङ्क
साधन भक्ति के पांच श्रेष्ठ अङ्ग	६६३
एक अङ्ग साधन में सार्थकता	६६४
कृष्ण भक्त का अऋणित्व	६६५
देव-ऋषि-आदि पञ्च ऋण	६६५
ज्ञान-वैराग्य भक्ति के अङ्ग नहीं हैं	६६६
ज्ञान के तीन अङ्ग, सद्धर्मपृच्छा	६६६
युक्त वैराग्य, फल्गु वैराग्य	६६७
यम-नियमादि भक्त की सेवा करते हैं	६६७
यम-नियम	६६८
रागानुगा-भक्ति लक्षण	६६८
रागात्मिका भक्ति	६६९
रागानुगा के अन्तर व वाह्य साधन	६७०
सिद्ध या अन्तश्चिन्तित देह	६७१

त्र्योविंश परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
श्री सनातन शिक्षान्तर्गत प्रयोजन-तत्व	६७३
शुद्ध सत्व, गुह्य विद्या या भाव	६७३
प्रेम के लक्षण	६७४
श्रद्धा-उत्पत्ति का उपाय	६७४
अविद्या, विद्या, भक्ति-अनर्थ	६७५
भक्ति विकाश का क्रम	६७५
जातरति-भक्त के लक्षण	६७६
प्रेम विकाश का क्रम	६८०
पञ्चविधा कृष्णरति	६८१
शान्तादि रतियों की वृद्धि सीमा	६८२
प्रियसखा, प्रिय-नर्म-सखा	६८२
योग एवं वियोग	६८२
वियोग के दश विभेद	६८३
मधुरा, समञ्जसा, समर्था-रति	६८३
भाव, महाभाव	६८३
अधिरूढ़-महाभाव	६८३
मादन एवं मोदन या मोहन	६८४
दिव्योन्माद व उद्घूर्णा	६८४
चित्रजल्प व उसके प्रजल्पादि दश अङ्ग	६८४
श्रृंगार रस के भेक्ष—सम्भोग एवं विप्रलम्भ	६८६
विप्रलम्भ के भेद—पूर्वराग, मान, प्रवास एवं प्रेम-वैचित्य	६८६
नायक-नायिका शिरोमणि	६८८
श्रीकृष्ण के चौंसठ गुण	६८९
गुणोत्थ एवं अङ्गोत्थ लक्षण	६९०
श्रीकृष्ण-चरण चिह्न	६९०
श्रीराधाजी के पच्चीस गुण	६९२
श्रीराधा-चरण चिह्न	६९३
रसानुभव के साधन, सहाय व प्रकार	६९४
श्रीकृष्ण भक्त, साधक व सिद्ध भक्त	६९६
युक्त वैराग्यस्थित भक्तों के आचरण	६९८
श्रीमद्भागवत के गूढ़ सिद्धान्त	६९९
गोलोक की स्थिति का विचार	६९९
मौषल-लीला विचार	७०२
श्रीकृष्ण-अन्तर्धान प्रसङ्ग	७०३
केशावतार-प्रसङ्ग	७०८
महिषी-हरण प्रसङ्ग	७१२
श्री सनातन गोस्वामी प्रति श्रीमहाप्रभु-वर	७१५

चतुर्विंश परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
आत्माराम-श्लोक के अर्थ	७१७
अष्टादश सिद्धि	७२१
मुक्ति, सेवा-शून्या व सेवायुक्ता	७२१
स्वरूपानन्द व स्वरूप शक्त्यानन्द	७२२
ऐश्वर्यानन्द व मानसानन्द	७२३
साधन भेद से उपलब्धि भेद	७३०
योगिक, योगरूढ़ व रूढ़ि अर्थ	७३२
दुःसङ्ग—आत्मवञ्चना	७३५
ज्ञानमार्ग के उपासकों के भेद	७३८
योगमार्ग के उपासकों के भेद	७४८
हरिभक्ति सुदुर्लभा	७५५
साधुकृपा-महिमा, व्याध-प्रसङ्ग	७६९
आत्माराम-श्लोक अर्थकरण समाप्ति एवं आत्माराम-श्लोक का श्रीमहाप्रभु-परक अर्थ	७७९
श्रीमद्भागवत जी का स्वरूप	७८०
वैष्णव-स्मृति (श्रीहरिभक्ति विलास) आलोचित विषयों का दिग्दर्शन	७८१
वैष्णव-व्रत आलोचना, एकादशी-नित्यत्वादि	७८५
श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-व्रत	७८६

विषय	पृष्ठाङ्क
श्रीवामन-द्वादशी, श्रीराम नवमी	७८७
श्रीनृसिंह चतुर्दशी	७८८
सम्पूर्णा तिथि एवं विद्धा-तिथि	७८८

पंचविंश परिच्छेद

विषय	पृष्ठाङ्क
काशीवासी संन्यासियों का वैष्णवी-करण प्रसङ्ग	७९३
श्रीप्रकाशानन्द के शिष्य द्वारा श्रीमहाप्रभु कर्त्तृक वेदान्तव्याख्या की प्रशंसा	७९४
परिणामवाद	७९८
विवर्त्तवाद	७९९
शङ्कर भाष्य के सम्बन्ध में श्रीप्रबोधानन्द कथन	८०२
अद्वैतवाद या मायावाद	८०३
पूर्वमीमांसा-दर्शन, उत्तर मीमांसा-दर्शन	८०४
सांख्य-दर्शन	८०४
न्याय-दर्शन	८०५
वैशेषिक-दर्शन	८०५
पातञ्जल या योग-दर्शन	८०६
वेदान्त-दर्शन या उत्तर मीमांसा-दर्शन या ब्रह्मसूत्र	८०६
श्रीपाद शङ्कराचार्य एवं अद्वैतवाद	८०७
श्रीपाद रामानुजाचार्य एवं विशिष्टाद्वैतवाद	८०७
श्रीपाद मध्वाचार्य एवं द्वैतवाद	८०८
श्रीपाद निम्बार्काचार्य एवं स्वाभाविक भेदाभेदवाद	८०८
श्रीपाद वल्लभाचार्य एवं शुद्धाद्वैतवाद	८०९
श्रीपाद विष्णुस्वामी एवं केवलाद्वैतवाद	८१०
श्रीपाद भास्कराचार्य एवं औपचारिक-भेदाभेदवाद	८१०
श्रीमन्माध्व-गौड़ेश्वराचार्यगण एवं अचिन्त्य-भेदाभेदवाद	८११
"श्रीमद्भागवत् पुराणममलं"	८११
श्रीमद्भागवत-सिद्धान्तवाद या अचिन्त्य-भेदाभेदवाद	८१२
अचिन्त्य-शब्द की व्याख्या	८१४
श्रुतार्थापत्ति	८१६
श्रीगोविन्द-भाष्य का अपौरुषेयत्व	८१७
श्रीचैतन्यदेव का विन्दुमाधव-दर्शन एवं नाम सङ्कीर्त्तन	८१९
श्रीचैतन्यदेव निकट श्री प्रकाशानन्द का दैन्य	८२०
श्रीमहाप्रभु से वेदान्तसूत्र का मुख्यार्थ-विवरण	८२२
"श्रीमद्भागवत ही वेदान्तसूत्र का भाष्य है"	८२३
श्रीमद्भागवत के साथ श्रुति-सम्बन्ध	८२३
ज्ञान एवं विज्ञान, अभिधेय-तत्त्व व प्रयोजन-तत्त्व	८२५
सृष्टि के पूर्व षड़ैश्वर्यपूर्ण श्रीभगवान् का अवस्थान	८२६
चतुःश्लोकी-भागवत जी में —अभिधेय, प्रयोजन एवं सम्बन्ध—तत्व	८२६
गायत्री—मन्त्र	८३४
'जन्माद्यस्य'—श्लोक के श्रीकृष्ण-लीला सूचक अर्थ	८३५
'जन्माद्यस्य'—श्लोक के श्रीगौराङ्ग-लीला सूचक अर्थ	८३६
सर्व वेद—शास्त्र—शिरोमणि श्रीमद्भागवत	८३७
श्रीप्रकाशानन्द—प्रति श्रीमहाप्रभु—उपदेश	८३८
काशी-देश का वैष्णवीकरण	८४०
श्री सनातन गोस्वामी प्रति श्रीवृन्दावन गमन-आदेश एवं प्रभु की नीलाचल-यात्रा	८४३
सुबुद्धिराय प्रति श्रीमहाप्रभु—कृपा	८४३
सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित—श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन	८४३
श्रीवृन्दावन में श्रीसनातन का वैष्णवाचरण	८४५
श्रीरूप गोस्वामी का काशी-आगमन	८४५
मध्य-लीला का अनुवाद कथन	८४७
श्रीकृष्ण-लीला एवं श्री गौर-लीला का सम्बन्ध	८५०
श्री श्री चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ का श्रीचैतन्यार्पण	८५३
श्री हरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल—श्रीधाम वृन्दावन के अष्टम एवं नवम भावी—प्रकाशन	८५५

*** मध्यलीला—विषय-सूची—समाप्त ***

वर्णानुक्रमिक—श्लोक-सूची

श्लोक		पृष्ठाङ्क
अ		
अंशवो ये प्रकाशन्ते	(ट)	७०६
अकामः सर्वकामो वा		६४५, ७३३, ७६१
अक्लेशां कमलभुवः		७४०
अखिलरसामृत मूर्त्तिः		२१८
अगत्येकगतिं नत्वा		६१४
अचिन्त्याः खलुः ये	(ट)	८१५
अचिरादेव सर्वार्थः		५६१, ७५४
अजन्मन्यजरेऽनाशिन्य	(ट)	७०४
अटति यद्भवानह्नि		६३१
अतः आत्यन्तिकं क्षेमं		६५५
अतः कलौ भविष्यन्ति	(ट)	२७८
अतः श्रीकृष्णनामादि		४७५
अत्युदण्डं ताण्डवं गौरचन्द्रः		३०७
अर्च्चायामेव हरये		६५२
अथ पञ्चगुणा ये स्युः		६६१
अथ वृन्दावनेश्वर्य्याः		६६२
अथवा बहुनैतेन		५७६, ६०८
अथापि ते देव पदाम्बुज		११८, ३१६
अथासक्तिस्ततो भावः		६७५
अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च		६६१
अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां		८३३
अदर्शनीयानपि नीचजातीन्		३१२
अद्वेष्टा सर्वभूतानां		६६८
अद्वैतवीथी पथिकैरुपास्याः		३०४, ७४३
अधिधरमनुरागं माधवेन्द्रस्य	(ट)	८६
अनन्य ममता विष्णौ		६७४
अन्याभिलाषिताशून्यं	(ट)	१७४
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः		६६८
अनयाराधितो नूनं		२०५
अनारुरुक्षवे शैलं		४६०
अनासक्तस्य विषयान्		६६७
अन्तः स्मेरतयोज्ज्वला		३६१
अन्ये च संस्कृतात्मानो		५८०
अपरिकलित पूर्वः		२२०, ५८३
अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो		५२७
अपरेयमितस्त्वन्यां		१३०, ५६४
अपिचेत् सुदुराचारो	(ट)	५३३
अपि सम्भावना प्रश्न		७२६
अवजानन्ति मां मूढ़ाः		७६७
अवताराह्यसंख्येया		५६०
अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि		४६
अयं नेता सुरम्याङ्गः		६८६
अयि दीनदयार्द्र नाथ		६४
अश्वत्थवृक्षाश्च बटवृक्षाश्च		७७६
अस्मिन् सुखघनमूर्त्तौ		७४२
अहं वैश्वानरो भूत्वा	(ट)	७५३
अहं सर्वस्य प्रभवो		७६०
अहमेवासमेवाग्रे		७३०, ८२८
अहेरिव गतिः प्रेम्नः		२१०, ३८६
अहो धन्योऽसि देवर्षे		७७३
अहो बकीयं स्तनकालकूटं		६५८
अहो वत श्वपचोऽतो		३२३, ५१८
अहो भाग्यमहोभाग्यं		१२८
अहो महात्मन् बहुदोषदुष्टो		७४१
अक्ष्णोः फलं त्वादृशदर्शनं		५५६
आ		
आकारादपि भेतव्यं		३०८
आकृष्टिः कृतचेतसां		४१०
आज्ञायैवं गुणान दोषान्		१७६, २७५
आततत्वाच्च मातृत्वाद्		७३०
आत्मादेहमनोब्रह्म		७१८
आत्मावास्यमिदं सर्वं		८२३
आत्मारामाश्च मुनयो		१३६, ४७७, ७१७, ७६१, ८४०
आत्मारामेति पद्यार्क		७१७
आदरः परिचर्य्यायां		३१०
आदौ श्रद्धा ततः		६७५
आद्योऽवतारः पुरुषः		५६३

श्लोक		पृष्ठाङ्क
आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः		६५९
आयुःश्रियं यशोधर्म		४२७, ८२१
आराधनानां सर्वेषां		३१०
आरुरुक्षो मुनेर्योगं		७५०
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने		६७६
आसन् वर्णास्त्रयोह्यस्य		१२१, ६०२
आहुश्च ते नलिननाभ		१६, ३६०
इ		
इतस्ततस्तामनुसृत्य राधिकां		२०९
इतीदृक् स्वलीलाभिरानन्द		५४८
इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या		१९३
इष्टे स्वारसिकी रागः		६६९
ई		
ईशावरस्तमिदं—सर्वं	(ट)	८२४
ईश्वरः परमः कृष्णः		२१५, ५७६, ६१८
ईश्वरे तदधीनेषु		६५२
उ		
उग्रोऽप्यनुग्र एवायं		१६५
उदरमुपासते य		७५२, ७६५
उद्गीर्णाद्भुतमाधुरी परिमल		५८२
उपर्युपरि तत्रापि—	(ट)	७००
उवाच च सुरानेतौ	(ट)	७०८
उवाच कृष्णो भगवान्		५४४
उरुक्रम एव भक्तिमेव		७७७
ऋ		
ऋतेऽर्थं यत प्रतीयेत		८२९
ऋद्धा सिद्धि ब्रजविजयिता		५३५
ए		
एकदेशस्थितस्याग्ने		५६३
एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा		५८
एतावदेव जिज्ञास्यं		८२९
एते चांशः कलाः पुंसः		२६१, ५७७, ८३२
एते न ह्यद्भुता व्याध		६६८, ७७३
एतेऽलिनस्तव यश		७५६

श्लोक		पृष्ठाङ्क
एतौ हि विश्वस्य बीज योनी		५९२
एवं गुणाश्चतुर्भेदा		६९२
एवं वदन्ति राजर्षे	(ट)	७०६
एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या		२७५, ६८०, ८३३
एवं शशाङ्कांशु विराजिता निशा		३८७
एवं संस्तूयमानस्तु	(ट)	७०८
एवं हरौ भगवति		७५०
क		
कं प्रति कथयितुमीशे		५२१
कंसारिररि संसारवासना		२०९
कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं		६५८
कइ अव रहिअं पेह्मं		४४
ककारः पुरुषः कृष्णः	(ट)	२१६
कदाहं यमुनातीरे		६८०
करुणानिकुरम्बकोमले		६२०
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि	(ट)	१७८
कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे		७६५
कलिं सभाजयन्त्यार्या		६०४
कलेर्दोषनिधे राजन्		६०४
कस्यानुभावोऽस्य न देव		२२०, २५७, ७२६
का कृष्णस्य प्रणयजनिभुः		२३६
कामादिनां कति न		६३९
कालवृत्त्या तु मायायां		५९४
कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं		१४४
कालेन वृन्दाबनकेलिवार्त्ता		५२३, ७९०
का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृत		७२७
किं विधत्ते किमाचष्टे		५७१
किरात हूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा		७५७, ७६४
कुररि विलपसि त्वं		६८७
कृतिसाध्या भवेत् साध्य		६६०
कृते पापेऽनुतापो	(ट)	८४४
कृते यद्ध्यायतो विष्णुं		६०४
कृते शुक्लश्चतुर्बाहु		६०२
कृषिर्भू वाचकः शब्दो		२५१
कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य		६७१
कृष्ण कृष्ण कृष्ण		१५६

श्लोक		पृष्ठाङ्क
कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं		१२१, ३१६, ६०३
कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः		१८६
कृष्णमेनमवेहि त्वम्		५७८
कृष्णस्वरूपमाधुर्यैः		५५६
कृष्णस्य पूर्णतमता		६१३
कृष्णादिभि विभावाद्यै		६६४
कृष्णे स्वधामोपगते		७८१
केचित् स्वदेहान्त		७४६
केशाग्रशत भागस्य		५२७
को वेत्ति भूमन्		६१५
क्रमः शक्तौ परिपाट्यां		७२०

ग

श्लोक		पृष्ठाङ्क
गच्छन् वृन्दावनं गौरः		४६१
गति स्थानासनादीनां		३६२
गतिः शमदमा ढ्यार्ना	(ट)	७००
गते तस्मिन् स भगवान्	(ट)	७०४
गर्भकाले त्वसम्पूर्णे	(ट)	४६५
गर्वाभिलाषरुदित		३६०
गवामेव तु गोलोको	(ट)	७००
गा गोपकैरनुवनं		७६३
गायन्त्य उच्चैरमुमेव		८३१
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्		६१५
गुर्व्वपित गुरुस्नेहो		६६३
गोप्यस्तपः किमचरन्		६२६
गोपीनां पशुपेन्द्र		२६१
गोलोकनाम्नि निजधाम्नि		६२०
गौड़ारामं गौरमेधः		४३०
गौड़ेन्द्रस्य सभाविभूषणमणि		७६०
गौरः पश्यन्नात्मवृन्दैः		३७३
ग्रन्थोधनेऽथ सन्दर्भे		७१६

च

श्लोक		पृष्ठाङ्क
चत्वारो वासुदेवाद्या		५८८
चतुर्लक्ष प्रमाणेन	(ट)	५६७
चतुर्विधा भजन्ते मां		७३४
चान्वाचये समाहारे		७२८
चारुसौभाग्य रेखाढ्या		६६२
चित्रं वर्त्ततदेकेन		५८०
चिदानन्दभानो		६२
चिन्तामणिश्चारणभूषण		३६७
चिराददत्तं निजगुप्तवित्तं		६७३
चीराणि किं पथि		६६६

ज

श्लोक		पृष्ठाङ्क
जगृहे पौरुषं रूपं		५६२
जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद्		२४४, ६०६, ८३५
जय जय जह्यजामजित		४१७
जयतां सुरतौ पङ्गो		२
जयति जननिवासो		३५४
जयति जयति देवो		३५४
जानन्तु एव जानन्तु		६१७
जीवनीभूतगोविन्दपाद		६६४
जीवन्मुक्ता अपि पुनः		८२०
जीवेष्वेते वसन्तोऽपि		६६१

त

श्लोक		पृष्ठाङ्क
तं मत्वात्मजमव्यक्तं		५४४
तं वन्दे गौरजलदं		२८८
तं मोपयातं पतियन्तु		६७७
तं सनातनमुपागतं		७६०
ततो गत्वा बनोद्देशं		५४४
तत्तद भावादि माधुर्ये		६७०
तत्तेनुकम्पां		१४४
तत्रातिशुशुभे ताभिः		२०४
त दिदमतिरहस्य		८५३
तद्भूरि भाग्यमिह जन्म		५५, १६८
तद्वा इदं भुवनमङ्गल		७६६
तपस्विनो दानपरा		६०४
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो		४८२, ८१८
तयोरेको बलभद्रो	(ट)	७०६
तव कथामृतं		३७४
तवास्मीति वदत् वाचा		६५६
तस्माद् भारत सर्वात्मा		६६१
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य		६६७

श्लोक		पृष्ठाङ्क
तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द		४७७, ७२५, ७४०, ८३९
तस्याः पारे परव्योम्नि		६२४
तस्याः सुदुखभय शोक		५४३
तस्यैव हेतोः प्रयतेत		७५४
तस्योपरि गवां लोकः	(ट)	७००
तानहं द्विषतः क्रूरान्		७९७
तावत् कर्माणि कुर्वीति		१८१, २७५, ६९१
तासामाविरभूच्छौरिः		२००, २१७
तितिक्षवः कारुणिकाः		६५४
तुलस्यामृत नामासि	(ट)	७८३
तुलयाम लवेनापि		६४९
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी		६९८
ते वै विदन्त्यतितरन्ति		७६०
तेषां सततयुक्तानां		७५६, ७६०
तेष्वशान्तेषुमूढ़ेषु		६५७
त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतं		४९, ६७९
त्वत्साक्षात्करणाह्लाद		७२४
त्वदगात्र सम्भव	(ट)	७८३
त्वन्तुमर्द्धमास्थाय	(ट)	७०७
त्वयोपयुक्तस्रगगन्ध		४२२
द		
दशमे दशमं लक्ष्यं		५७२
दक्षिणो विनयी श्रीमान्		६९०
दीपार्च्चिरेव हि दशान्तरं		६००
दीव्यद् वृन्दारण्य कल्पद्रुमाधः		२
दुरापा ह्यल्पतपसः		३१०
दुरूहाद्भुतवीर्य्येऽस्मिन		६६४, ७६१
द्युपतय एव ते		६१६
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्		७९६
देवकी वसुदेवश्च		५४२
देवर्षिभूतात्मनृणां		६६६
देवीकृष्णमयी		६८८
दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां		५९३
दैवी ह्येषा गुणमयी		६०, ५६६, ६४१, ७४४
द्वापरे भगवान् श्यामः		६०३
द्विजात्मजा मे युवयो		२१९

श्लोक		पृष्ठाङ्क
ध		
धन्यं तं नौमि चैतन्यं		१४९
धन्यस्यायं नवप्रेमा		६९०
धन्याः स्म मूढ़गतयोः		४६५
धन्येयमद्य धरणी		७६३
धर्मः प्रोज्झितकैतवः		७३५, ८३७
धृतिः स्यात् पूर्णताज्ञान		७५८
धृतो धृतिमता	(ट)	७००
ध्यायन् कृते यजन्		६०४
ध्येयं कैशोरकं ध्येयं	(ट)	५२२
न		
न कर्हिचिन्मत्पराः		६७२
न तथास्य भवेन्मोहो		६५६
न देशनियमस्तत्र		१४०
नन्दः किमकरोद्		१९६
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां		२०४
न प्रेमगन्धोऽस्ति दरापि		४६
न प्रेमा श्रवणादिभक्ति		६७८
नमस्ते वासुदेवाय		६०३
न मृषा परमार्थमेव मे		२९
न मे भक्तश्चतुर्वेदी		४६७, ५१६, ५५५
नमो ब्रह्मण्यदेवाय		३५४
नमो महावदान्याय		५१६
न साधयति मां योगो		५६९, ८३२
न राधिका समा नारी	(ट)	५२२
नातः परं परमयद्		७९६
नानोपचार कृत पूजनं		१८८
नानामतग्रहग्रस्तान्		२४८
नान्तं विदाम्यहममी		६१५
नाम चिन्तामणिकृष्ण		४७४
नायकानां शिरोरत्नं		६८८
नायं श्रियोऽङ्ग उ		२००, २३७, २५८
नायं सुखापो		२३७, २५९, ७३३
नारायणपराः सर्वे		२७७, ५४६
नाहं विप्रो न च		३५५

श्लोक		पृष्ठाङ्क
न्यासं विधायोत्		५८
निगम कल्पतरोर्गलितं फलं		८३७
निभृतमरुन्मनोक्ष		२३५, २५८
निमज्जतोऽनन्त		३२०
निर्निश्चये निष्क्रमार्थे		७१९
निष्किञ्चनस्य भगवद्		३०४
नृत्यन्त्यी शिखिन		७५७
नेमं विरिञ्चो न भवो		१९६
नैवोपयन्त्यपर्चिति		६४८
नैवं ममाधमस्यापि		६४७
नैषां मतिस्तावदुरुक्रम		८२२
नैष्कर्म्यमप्यच्युत		६४०
नौमि तं गौरचन्द्रं		११०
प		
पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृ		६७२
पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान्		५४५
पद्भ्यां चलन् यः		९६
परव्यसनिनी नारी		३०
परित्राणाय साधुनां		१२१
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये		७२५, ८३९
पवित्रापवित्रो वा	(ट)	८४४
पाणिरोधमविरोधित		३९४
पादौ हरेः क्षेत्रपदा		६६५
पीड़ाभिर्नव कालकूटं		४८
पुरः कृष्णालोकात्		३९२
पुराणाणां सामरूपः		८३३
प्रकाशिताखिलगुणः		६१२
प्रतापी कीर्त्तिमान्		६९०
प्रधान परव्योम्नोरन्तरे		६२१
प्रवर्त्तते यत्र रजस्तम		५९३
प्रायश्चितान्यशेषाणि	(ट)	८४३
प्रायोवतान्व मुनयो		७५६
प्रियः सोऽयं कृष्णः		१६
प्रिय स्वरूपे दयित		५२४
प्रेमच्छेदरुजोऽवगच्छति		३९
प्रेमैवंगोपरामाणां		२३४

श्लोक		पृष्ठाङ्क
ब		
बनलतास्तरव आत्मनि		२४४, ७६३
बंशीधारी जगन्नारी		४८४
बालाग्र शतभागस्य		५२७
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा		१८३, ७४३, ८३८
ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे		७८०
भ		
भक्तानां हृदि राजन्ति		६९४
भक्तिर्निर्धूतदोषाणां		६९४
भक्त्या भागवतं ग्राह्यं		७७९
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः		५७०, ८३२
भगवद्भक्तिहीनस्य		५१९
भगवानेक आसेदमग्रे		८३१
भवद्विधा भागवताः		२८९, ५५५
भवन्तमेवानुचरन्		३०, १९२
भवापवर्गो भ्रमतो		६४८, ६५५
भयं द्वितीयाभिनिवेशतः		५६६, ७४४, ८३२
भास्वान् यथाश्म सकलेषु		५९६
भुक्ति-मुक्तिस्पृहा यावत्		५३८
भूमेः सुरेतरवरूथवि	(ट)	७०९
भौमान् मनोरथान् स्वर्गान	(ट)	१७७
म		
मणिर्यथाविभागेन		२९२
मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा		२८
मत्स्याश्वकच्छपवराह		५९६
मत्सेवयो प्रतीतं ते		७५८
मद्गुणश्रुति मात्रेण		५३६
मधुरं मधुरं वपुरस्य		६३४, ६७९
मन्मना भव मद्भक्तो		६५०
मयि भक्तिर्हि भूतानां		२०३, ३६७
मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्त		६६०
महता हि प्रयत्नेन		४२६
महद्विचलनं नृणां		१६९
महत् सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते		६५४
मा द्राक्षीः क्षीणपुण्यान्		६५७
मां विधत्तेऽभिधत्ते		५७१

श्लोक	पृष्ठाङ्क
मायावादमसच्छास्त्रं	१३५
मारः स्वयं नु	५३
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शनेदिशौ	६६४
मुक्ता अपि लीलया	७३६, ७४५, ८३६
मुक्तानामपि सिद्धानां	५३०, ८२३
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं	७४३
मुखबाहुरुपादेभ्यः	६४२, ६६१
मुमुक्षवो घोररूपान्	७४१
मूकं करोति वाचालं	४६६
य	
यः कौमारहरः	१३, ३५८
यः प्रागेव प्रियगुणगणैः	५२३
यः शास्त्रादिष्वनिपुणः	६५२
य एषां पुरुषं साक्षात्	६४२, ७४५
यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृष	७३३
यच्चवहासार्थमसत्	५४२
यच्छक्तयौ वदतां	१२२
यज्ञार्थात् कमर्णोऽन्यत्र (ट)	१७८
यत्करोषि यदश्नासि	१७८
यत्ते सुजात	२३५, ४६४
यत्पाद सेवाभिरुचि	७६६
यत्र नैसर्गदुर्वैराः	४६५
यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः	७२८
यथा काञ्चनतां याति (ट)	१६८
यथा तरोर्मूलनिषेचनेन	६५१
यथा महान्ति भूतानि	८३०
यथा राधा प्रिया विष्णोः	२०५, ४८८
यथोत्तरमसौ	२०१
यदा यमनुगृह्णाति	३१८
यदा यातो दैवान्	४३
यदाहि नेन्द्रियार्थे	७५०
यदृच्छया मत्कथादौ	६४८
यद् यद् विभूतिमत्	६०८
यद् यदाचरति श्रेष्ठः	४८१
यन्नामधेयश्रवणानु	४५२, ५०३

श्लोक	पृष्ठाङ्क
यन्नामश्रुतिमात्रेण	१६१
यन्मर्त्यलीलौपयिकं	६२६
यस्तु नारायणं देवं	५००, ८२१
यस्त्विन्द्रगोप	४१६
यस्य प्रभा प्रभवतः	५७८
यस्य प्रसादादज्ञोऽपि	१
यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिल	५६७
यस्याननं मकरकुण्डल	६३१
यस्यावतारा ज्ञायन्ते	६०५
यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्य	६५३
यस्यैकनिश्वसित	५६४, ६१६
यस्मान्नोद्विजते	६६८
यस्मै दातुं चोरयन्	७७
या ते लीलारस	१६
यावानहं यथाभावः	८२६
या या श्रुतिर्जल्पति	१२६
युक्तश्च सन्ति सर्वत्र	१२२
ये तु धर्मामृतमिदं	६६८
येऽन्येऽरविन्दाक्ष	६४४, ७४२, ७४४, ७६५
ये मे भक्तजनाः	३०६
ये यथा मां	२०३
येषां स एवं भगवान्	१४१
योऽज्ञानमत्तं	५१७
यो दुस्त्यजान् दारसुतान्	२७६, ६७७
यो न हृष्यति न द्वेष्टि	६६८
यो भवेत् कोमलश्रद्धः	६५२
र	
रथारूढ़स्यारादधि	३७१
रमन्ते योगिनोऽनन्ते	२५०
रहूगणैतत्तपसा न	६४६
राधाया भवतश्च	२३१
राधासङ्गे यदा भाति	४८४
राम राघव राम राघव	२४६
राम रामेति	२५१
रोदनविन्दुमकरन्द	६७६

श्लोक	पृष्ठाङ्क
ल	
लब्धानन्दात्मक प्रेमसुख	२१७
लक्षणं भक्तियोगस्य	५३७
लीलो प्रेम्णा प्रियाधिक्य	६६२
लोकाभिरामां स्वतनुं	७०३
व	
वज्रादपि कठोराणि	१५४
वदन्ति तत्तत्त्वविदः	५७८, ७२६, ७३२, ८३१
वन्दे चैतन्यदेवं तं	१
वन्देऽनन्ताद्भुतैश्वर्यं श्रीचैतन्यं	५५१
वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यदेवं	६३७
वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ	२
वयन्तु न वितृप्याम	८३७
वयसो विविधत्वेऽपि	६०६
वरं हुतवहज्ज्वाला	६५७
वरीयान् ईश्वरश्चेति	६६०
वर्णाश्रमाचारवता	१७५
वाग्भिस्तुवन्तो मनसा	६७७
वाचा सूचितशर्वरी	२२८
वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च (ट)	१
वामस्तामरसाक्षस्य	४६१
वाष्पव्याकुलितारुण्य	३६१
विच्छेदेऽस्मिन्	३८
विदग्धस्श्चतुरो	६८६
विदग्धो नवतारुण्यः	२२८
विनीता करुणापूर्णा	५६२
विन्यासभङ्गिरङ्गानां	३६३
विप्राद्द्विषड्गुणयुताद	५५६
विविधाद्भुतभाषावित्	६८६
विमुरति सुखरूपः	२३३
विराजन्तीमभिव्यक्तं	६७०
विलज्जमानया यस्य	६४४
विविध-भजनपुष्टैरिष्ट	८६
विश्वेषामनुरञ्जनेन	२१८
विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता	१२८, २२१, ५६४, ७७७
विष्णोर्नु वीर्य्यगणनां	७१६
विष्णोस्तुत्रीणिरूपाणि	५६०
विसृजति हृदयं न	८३०
वीक्षालकावृतमुखं	७२६
वृन्दावनीयां रसकेलिवार्त्ता	५११
वृन्दावने स्थिरचरान्	४८७
वृहत्ताद् वृंहणत्वाच्च	७२६
वैराग्यविद्यानिजभक्ति	१४४
वैष्णवीकृत्य संन्यासिनुखान्	७६२
व्यामोहाय चराचरस्य	५७०
श	
शक्त्यः सर्वभावानाम् (ट)	८१५
शमो मन्निष्ठता बुद्धेरिति	५४६
शास्त्रे युक्तौ च	६५१
शिवः शक्तियुतः	६००
शुचि सद्भक्तिदीप्ताग्नि	५१६
शुद्धसत्त्वविशेषात्मा	६७३
शुष्कं पर्य्युषितं	१३६
श्यामेमेव परंरूपं	५२१
श्रद्धा विशेषतः	६६३
श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः	२७१
श्रियः कान्ताः परम	३६७
श्रीकृष्णरूपादिनिषेवणं	४१
श्रीगुण्डिचामन्दिरमात्म	३२८
श्रीविष्णोः श्रवणे	६६४
श्रीमन्मदनगोपाल	८५३
श्रीमान् रासरसारम्भी	२
श्रीराधिकायाः प्रियता	४८४
श्रीराधेव हरेस्तदीय	४८६
श्रुत्वागुणान् भुवनसुन्दर	७२६
श्रुतिर्माता पृष्टादिशति	६३८
श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य	१८६, ६४१, ७४४, ७६५
स	
स एव भक्तियोगाख्य	५३८
स चापि केशौ (ट)	७०६

श्लोक	पृष्ठाङ्क
सकृदेव प्रपन्नो	६४४
सखेति मत्वा प्रसभं	५४२
सख्यः श्रीराधिकाया	२३४
सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गदः	६६१
सजातीयाशये स्निग्ध	६६३
सञ्चार्य्य रामाभिध	१६१
सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो	७३४
सतां प्रसङ्गान्मम	१८६, ६७६, ६५५
सत्यं दिशत्यर्थित	६४६, ७३७, ७६२
सत्यं शौचं दया	६५७
सत्यपि भेदापगमे (ट)	१३६
सन्तुष्टः सततं योगी	६६८
सन्तुष्टाऽलोलुपा	४२५
सन्त्ववतारा वहवः	१६६
स वै भगवतः	८२०
स वै मनः कृष्ण	६६४
समः शत्रौ च मित्रे	६६८
सम्यङ्मसृणितस्वान्तो	६७४
सरसि सारसहंस	७५७
सरूपाणामेकशेष	७४७, ७७५
सर्वगुह्यतमं भूयः	६५०
सर्वथैव दुरुहोऽयम्	६६७
सर्वभूतेषु यः पश्येद्	२४४, ६६२, ८३०
सर्वधर्मान् परित्यज्य	१८०, २७५, ६५८
सर्ववेदान्तसारं हि	८३४
सर्ववेदेतिहासानां	८३४
सर्वाद्भुतचमत्कारी	६६२
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं	५३६
स सुश्रुवान् मातरि	३०१
सहस्रनाम्नां पुण्यानां	२५१
सहस्रपत्रं कमल	५६१
साधनौघैरनासङ्गै	७७५
सार्वभौमगृहे भुञ्जन्	४००
सालोक्यसार्ष्टि	१४६, २७६, ५३६
सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि	२५७, २६१
सीतया राधितो वह्निः	२६७
सुवर्णवर्णोहेमाङ्गः	१२१, ३०३
सुविलासा महाभाव	६६३
सूक्ष्माणामप्यहं जीवः	५२७
सृजामि तन्नियुक्तोऽहं	६०१, ६१६
सेवा साधकरूपेण	६७१
सौन्दर्यं ललनालि	४८३
स्तनाधरादिग्रहणे	३६४
स्थानाभिलाषी तपसि	६४७, ७६६
स्थिरो दान्तः	६८६
स्वनिगममपहाय	४४८
स्वपादमूलं भजतः	६६६
स्वयन्त्वसाम्यातिशय	६१८
स्वरितजितः	७२०
स्वर्गादूर्द्ध्वं ब्रह्मलोको (ट)	७००
स्वसुखेनिभृतचेता	४७५, ७२५
स्वागमैः कल्पितैः	१३५
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च	८३३
स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुः	६६१
ह	
हन्तायमद्रिरबला	४६१
हरये नमः कृष्ण	८१६
हरिः पूर्णतमः	६१२
हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्	६००
हरेर्गुणाक्षिप्तमति	७४०
हरेर्नाम हरेर्नाम	१४३
हरौ रतिं वहन्नेषा	६७८
हृदि यस्य प्रेरणया	५२६
हृषीकेश हृषीकाणि	७५६
हे देव हे दयित	५०
हेलोद्धुनितखेदया	२६७
ह्रिया तिर्य्यग् ग्रीवाचरण	३६३
ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्	१२८, २२१
ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः	५००

निवेदनः—

★

वन्दौं चरण-सरोज भक्तगन ।
पद-पराग निज अङ्गराग करि, करौं एक अति नम्र-निवेदन ॥
गौरचरित अमृत सरवर यह, कृष्ण - भक्ति - सिद्धान्त कुमुद-बन ।
स्रवत प्रेम-मकरन्द निरन्तर, तृप्त करहु भव - भ्रान्त भ्रमर मन ॥
विविध-भाव के भक्त हंसगन–चक्रवाक सब करत बिहार ।
कृष्ण - केलि - सुमृणाल मृदुल अति सर्वकाल जिन प्राणाधार ॥
बिलसहु हंस - चक्रवाक ह्वै, यह सरवर सब सुख–भण्डार ।
अनायासहिं सब दुख नासत, हिये प्रकासत प्रेम उदार ॥
सन्त-साधु-घन एहि सर-अमृत वर्षहिं निशिदन विश्वोद्यान ।
उपजै प्रेम परमफल यातें, चाखहिं भक्त सुराखहिं प्रान ॥
कृष्णकेलि - कर्पूर सङ्ग मिलि गौरचन्द्र – लीलामृत पान ।
मधुरास्वादन सोई जन पावहिं जिनहिं सन्त - गुरु करहिं प्रदान ॥
गौरचन्द्र अरु कृष्णचन्द्र गुण - लीलामृत अद्भुत रसरास ।
एक संग नित पान किये ह्वै सबल–भजन, जिये प्रेम प्रकास ॥
तजि कुतर्क, तजि दोषदृष्टि, तजि अन्य भरोस, अन्य तजि आस ।
'श्यामदास' मज्जहु एहि सरवर गौरचरण करि दृढ़ विश्वास ॥

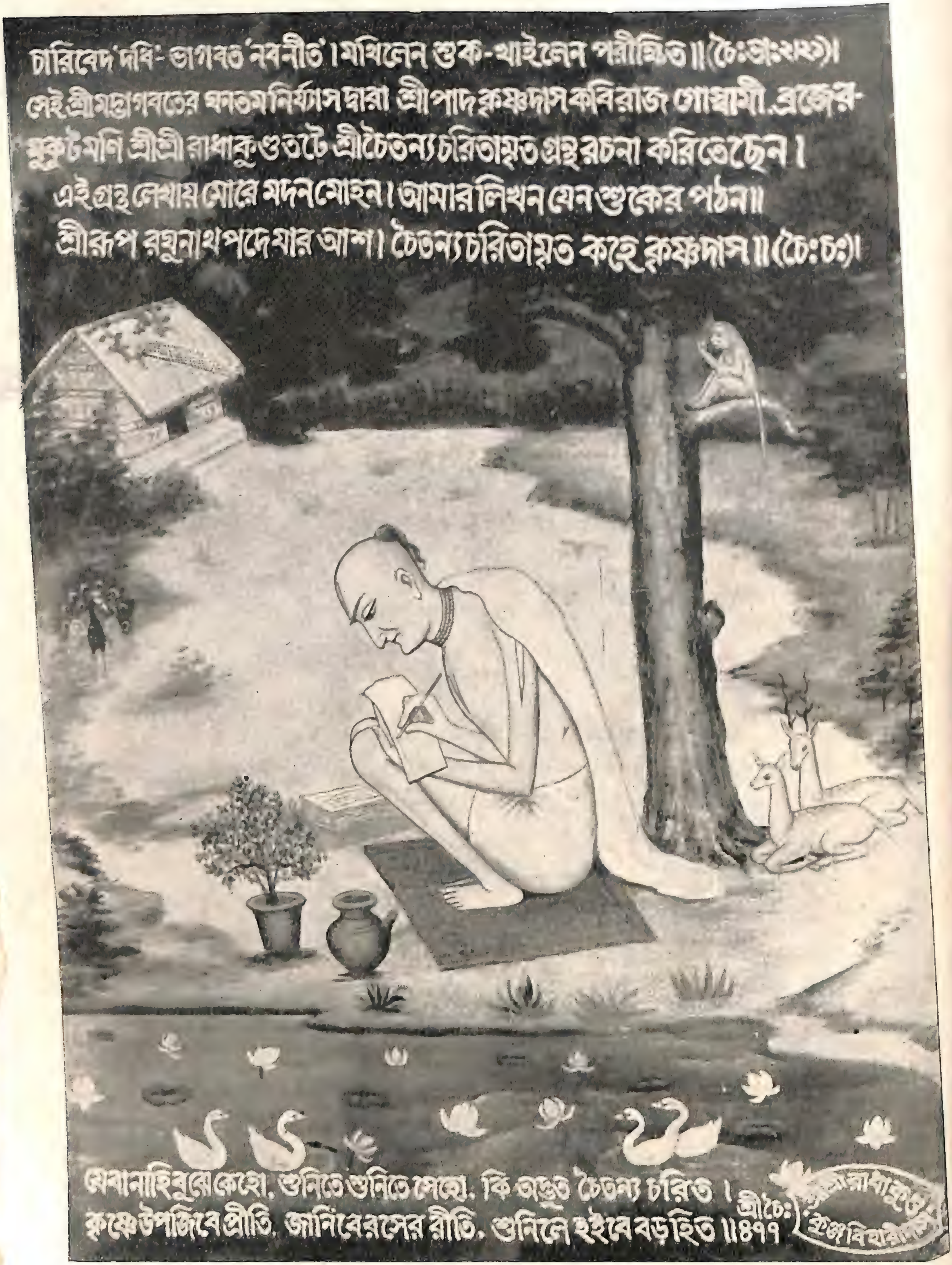

श्री श्री चैतन्य चरितामृत के रचियता

जयगौर

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः *

श्रीकृष्णदास-कविराज-गोस्वामि-विरचित—

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

मध्य-लीला

प्रथम परिच्छेद

★

यस्य प्रसादादज्ञोऽपि सद्यः सर्वज्ञतां व्रजेत् ।
स श्रीचैतन्यदेवो मे भगवान् सम्प्रसीदतु ।।१।।

जिनकी कृपा से बुद्धिहीन व्यक्ति भी तत्क्षण अर्थात् कृपा प्राप्त होते ही सर्वज्ञता (समस्त के ज्ञान) को प्राप्त कर लेता है, वे भगवान् श्रीचैतन्यदेव मुझ पर प्रसन्न हों ।।१।।

* चैतन्य-चरण-चुम्बिनी टीका *

वन्दे चैतन्यदेवं तं भगवन्तं यदिच्छया ।
प्रसभं नर्त्यते चित्रं लेखरङ्गे जड़ोप्ययम् ।।अ।।
वाञ्छा-कल्पतरूभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ।।आ।।

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत के रचयिता कविकुल-कमल-दिवाकर श्रीकृष्णदास गोस्वामीपाद श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव की मध्य-लीला आरम्भ करने से पूर्व श्रीमहाप्रभु की प्रसन्नता अर्थात् उनकी कृपा की याचना करते हैं। कारण कि वे श्रीचैतन्य-लीला वर्णन करने में अपने को अयोग्य, हीन-बुद्धि जानते हैं। जिसके प्रति श्रीमन्महाप्रभु की कृपा होती है, चाहे वह अत्यन्त मूर्ख ही क्यों न हो, कृपा प्राप्त होते ही उसी क्षण वह सर्वज्ञ—सब शास्त्रों का जानकार हो जाता है। उसके चित्त में सर्व विद्या की स्फूर्ति हो उठती है। अतः श्रीकविराज गोस्वामी ने श्रीमहाप्रभु की लीला वर्णन करने की योग्यता को प्राप्त करने के लिये मङ्गलाचरण रूप में इस श्लोक का गान किया है।

अगले श्लोक में श्रीकविराज गोस्वामी अपने इष्टदेव का नमस्कार रूप मङ्गलाचरण करते हैं—

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्य—नित्यानन्दौ सहोदितौ ।
गौड़ोदये पुष्पवन्तौ चित्रौ शन्दौ तमोनुदौ ॥२॥

गौड़-देशरूप उदयाचल पर एक साथ उदित होने वाले आश्चर्यमय सूर्य एवं चन्द्र के समान, परम मङ्गलदाता तथा अज्ञान-रूप अन्धकार को नाश करने वाले श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु की मैं वन्दना करता हूँ ॥२॥

[इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या आदि-लीला के प्रथम परिच्छेद में पृष्ठ नं० २६ पर द्रष्टव्य है। श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण के पश्चात् श्रीकविराज गोस्वामीपाद ने जिस प्रकार श्रीवृन्दावन के अधीश्वर मुख्य तीनों ठाकुर—श्रीश्रीराधामदनमोहन जी, श्रीश्रीराधागोविन्ददेवजी तथा श्रीश्रीगोपीनाथजी महाराज की वन्दना की थी, उसी प्रकार अब मध्य-लीला के मङ्गलाचरण के पश्चात् भी उन्हीं तीनों ठाकुर-स्वरूपों की वन्दना निम्न के तीनों श्लोकों में करते हैं।]

जयतां सुरतौ पङ्गोर्मम मन्दमतेर्गती ।
मत्सर्वस्वं पदाम्भोजौ राधामदनमोहनौ ॥ ३ ॥

मुझ पङ्गु अर्थात् असमर्थ एवं मन्दबुद्धि अर्थात् शास्त्र-ज्ञानहीन-व्यक्ति के जो एकमात्र आश्रय हैं, तथा जिनके श्रीचरणारविन्द ही मेरा सर्वस्व हैं—उन परमदयालु श्रीराधामदनमोहनजी की जय हो ॥३॥

दिव्यद्वृन्दारण्यकल्पद्रुमाधः श्रीमद्रत्नागारसिंहासनस्थौ ।
श्रीमद्राधा-श्रीलगोविन्ददेवौ प्रेष्ठालीभिः सेव्यमानौ स्मरामि ॥ ४ ॥

परमदिव्य-धाम श्रीवृन्दावन में कल्पवृक्ष के नीचे मणिमय मन्दिर में परमसुन्दर रत्नजटित सिंहासन पर जो विराजमान् हैं एवं प्रिय सखीवृन्द जिनकी सेवा में संलग्न हैं—उन श्रीराधा-गोविन्ददेवजी को मैं स्मरण करता हूँ ॥४॥

श्रीमान् रासरसारम्भी बंशीबटतटस्थितः ।
कर्षन् वेणुस्वनैर्गोपीर्गोपीनाथः श्रियेऽस्तु नः ॥ ५ ॥

वेणु-ध्वनि से गोपियों को आकर्षण करने वाले, बंशीबट पर विराजमान् रास-रस के प्रवर्त्तक रसिकशेखर श्रीगोपीनाथजी हम सबका कुशल विधान करें ॥५॥

जय जय गौरचन्द्र जय कृपासिन्धु । जय जय शचीसुत जय दीनबन्धु ॥१॥
जय जय नित्यानन्द जयाद्वैतचन्द्र । जय श्रीवासादि जय गौर-भक्त-वृन्द ॥२॥
पूर्बे कहिल आदि—लीलार सूत्रगण । याहा विस्तारियाछेन दास-वृन्दाबन ॥३॥
अतएव तार आमि सूत्रमात्र कैल । ये किछु विशेष सूत्रमध्येइ कहिल ॥४॥

करुणासिन्धु श्रीगौरचन्द्र की जय हो, जय हो, जय हो। दीनबन्धु श्रीशचीनन्दन की जय हो, जय हो, जय हो ॥१॥ श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो। श्रीवासादि गौर-भक्तवृन्द की जय हो, जय हो ॥२॥ श्रीकृष्णदास कविराज कहते हैं—आदि-लीला के चौदहवें से सत्रहवें परिच्छेदों में मैंने आदि-लीला को सूत्र रूप में वर्णन किया है, जिसे श्रीवृन्दाबनदास जी श्रीचैतन्यभागवत में विस्तार-पूर्वक वर्णन कर चुके हैं ॥३॥ और अन्यान्य जो विशेष चरित्र हैं, (जिन्हें

श्रीवृन्दाबनदासजी ने नहीं कहा है या जिनका संक्षेप से वर्णन किया है) उन्हें भी मैंने उसी सूत्र में ही वर्णन कर दिया है ।।४।।

एबे कहि शेष-लीलार मुख्य सूत्रगण । प्रभुर अशेष लीला–ना याय वर्णन ।।५।।
तांर मध्ये येइ भाग दास–वृन्दाबन । चैतन्यमङ्गले विस्तारि करिला वर्णन ।।६।।
सेइ भागेर इहा सूत्रमात्र लिखिव । इहां ये विशेष किछु ताहा विस्तारिव ।।७।।
चैतन्य-लीलार व्यास, दास–वृन्दाबन । तार आज्ञाय करों तांर उच्छिष्ट-चर्बण ।।८।।
भक्ति करि शिरे धरि तांहार चरण । शेष-लीलार सूत्रगण करिये वर्णन ।।९।।

अब श्रीमहाप्रभुजी के संन्यास से लेकर उनके अन्तर्धान होने तक की जो शेष लीलाएँ हैं, उनमें से मुख्य-मुख्य लीलाओं का मैं सूत्र वर्णन करता हूँ, क्योंकि श्रीमहाप्रभु की लीलाएँ अनन्त ही हैं समस्त लीलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता ।।५।। उन लीलाओं में जिन को श्रीवृन्दाबनदासजी ने श्रीचैतन्यभागवत में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है, उन्हें तो केवल सूत्र-रूप से मैं कहूँगा ; और जो विशेष लीलाएँ हैं, उनका विस्तार से वर्णन करूँगा ।।६-७।। श्रीवृन्दाबनदासजी श्रीचैतन्य-लीला को वर्णन करने में श्रीवेदव्यासजी के समान हैं। अतः मैं उनकी आज्ञा से उनके ही, उच्छिष्ट का चर्बण करता हूँ, अर्थात् उनका ही अनुकरण करता हूँ। मैं श्रद्धापूर्वक उनके चरणों में मस्तक रखकर शेष लीलाओं का सूत्र वर्णन करता हूँ ।।९।।

चब्बिश वत्सर प्रभुर गृहे अवस्थान । ताहां ये करिल लीला–'आदि-लीला' नाम ।।१०।।
चब्बिश–वत्सर-शेषे येइ माघ मास । तार शुक्लपक्षे प्रभु करिला संन्यास ।।११।।
संन्यास करिया चब्बिश वत्सर अवस्थान । ताहां येइ लीला-तार 'शेष-लीला' नाम ।।१२।।
शेष-लीलार 'मध्य' 'अन्त्य' दुइ नाम हय । लीलाभेदे वैष्णव सब नाम–भेद कय ।।१३।।

चौबीस वर्ष की आयु पर्य्यन्त श्रीमन्महाप्रभु गृहस्थाश्रम में रहे थे—उस काल में उन्होंने जो लीलाएँ कीं, उन सबका नाम "आदि-लीला" है ।।१०।। श्रीमहाप्रभु के चौबीसवें वर्ष के शेष का जो माघ मास था, उसके शुक्ल पक्ष में अर्थात् शकाब्द १४३१, माघ मास शुक्ल पक्ष संक्रान्ति के दिन श्रीमन्महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया ।।११।। संन्यास ग्रहण करने के बाद श्रीमहाप्रभु चौबीस वर्ष तक धरातल पर प्रकट रहे। उस काल में जो लीलाएँ उन्होंने कीं—उन सबका नाम "शेष-लीला" है ।।१२।। उस शेष-लीला के दो नाम हैं "मध्य" और "अन्त्य"। लीलाओं के भेद अनुसार ही सब वैष्णवों ने शेष-लीला को इन दो नामों में विभक्त किया है ।।१३।।

तार मध्ये छय-वत्सर गमनागमन । नीलाचल गौड़ सेतुबन्ध वृन्दाबन ।।१४।।
ताहां येइ लीला तार 'मध्य-लीला' नाम । तार पाछे लीला–'अन्त्य लीला' अभिधान ।।१५।।
आदिलीला, मध्यलीला, अन्त्यलीला आर । एबे मध्यलीलार किछु करिये विस्तार ।।१६।।
अष्टादश वर्ष केवल नीलाचले स्थिति । आपनि आचरि जीवे शिखाइल भक्ति ।।१७।।
तार मध्ये छय वत्सर भक्तगण सङ्गे । प्रेम-भक्ति प्रवर्त्ताइल नृत्य–गीत–रङ्गे ।।१८।।

संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् के पहले छः वर्षों तक श्रीमहाप्रभु समय समय पर कभी नीलाचल, कभी गौड़ देश, कभी सेतुबन्ध और कभी श्रीवृन्दाबन में आते जाते रहे। उन स्थानों पर उन्होंने जो

लीलाएँ कीं, वे समस्त "मध्यलीला" के नाम से प्रसिद्ध हैं। बाकी के अठारह वर्षों में नीलाचल में ही रहकर श्रीमहाप्रभु की जो लीलाएँ हैं—उन सबको "अन्त्यलीला" कहा जाता है ॥ १५ ॥ इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु की समस्त लीला के **"आदि-लीला"**, **"मध्य-लीला"**, एवं **"अन्त्य-लीला"**—ये तीन नाम हैं। "आदि लीला" के पश्चात् अब "मध्य लीला" को मैं कुछ विस्तार से वर्णन करता हूँ ॥ १६ ॥ श्रीमन्महाप्रभु ने नीलाचल पर केवल अठारह वर्ष निवास किया। वहां उन्होंने स्वयं भक्ति का आचरण कर जीवों को भक्ति की शिक्षा दी ॥ १७ ॥ उन अठारह वर्षों के पहले छः वर्षों में श्रीमहाप्रभुने भक्तवृन्दों के साथ मिलकर नृत्य-सङ्कीर्त्तन का रसास्वादन करते हुए प्रेमभक्ति का प्रचार किया ॥ १८ ॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकविराज गोस्वामी मध्य-लीला को विस्तारपूर्वक कहने से पहले यहाँ अन्त्य-लीला का ही संक्षेप से वर्णन करते हैं; कारण कि वे अति वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुके थे एवं उनके मनमें यह विचार था कि सम्भवतः उनका शरीर मध्य-लीला के वर्णन करते करते या उसके वर्णन करने के पश्चात् शीघ्र ही छूट जाये तो महाप्रभु की अन्त्य-लीला सर्वथा रह ही जाने से श्रीमहाप्रभु की लीला अधूरी रह जायेगी। अतः उन्होंने इसी शंका से मध्य-लीला के वर्णन करने से पहले अन्त्य-लीला का भी सूत्र रूप से यहाँ वर्णन कर दिया।

अन्त्य-लीला को भी दो भागों में विभक्त किया गया है। अन्त्य-लीला की अभिव्यक्ति कुल अठारह वर्षों तक है। उनमें पहले छः वर्षों की लीलाएँ एक भाग में हैं और बाकी के बारह वर्षों की लीलाएँ दूसरे भाग में आतीं हैं। पहले छः वर्षों के समय में श्रीमहाप्रभु ने नीलाचल में ही रहकर भक्त-वृन्दों के साथ नृत्य-कीर्त्तन के व्यपदेश से प्रेम-भक्ति को प्रवर्त्तित किया एवं श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु को गौड़ देश में प्रेमभक्ति प्रचार करने के लिये भेजा। श्रीमहाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामीपाद एवं श्रीसनातन गोस्वामीपाद को श्रीवृन्दावन-मथुरा की ओर प्रेमभक्ति प्रचार के लिये एवं ब्रजमण्डल के लुप्त तीर्थों के उद्धार एवं श्रीश्रीराधाकृष्ण की लीला-स्थलियों के प्रकट करने के लिये तथा ब्राह्मण-वैष्णव-सेवा के प्रचार और अनेक वैष्णव-धर्म-ग्रन्थों के प्रणयन करने के लिये भेजा। इसी समय में रथ यात्रा के अवसर पर आने वाले गौड़ीय-वैष्णव प्रतिवर्ष नीलाचल में श्रीमहाप्रभु के दर्शन करने के लिये भी इकट्ठे होते थे। वर्षा के चार मास उनके साथ श्रीमहाप्रभु कृष्ण-कथा एवं नृत्य-कीर्त्तन प्रसङ्ग में व्यतीत करते। इस प्रकार अन्त्य-लीला के पहले छः वर्षों की ये समस्त लीलाएँ १८ से ४५ तक के पयारों में वर्णन की गई हैं; और ४६ से ७९ तक के पयारों में शेष के बारह वर्षों की लीलाओं का परिचय दिया गया है। इन बारह वर्षों के काल को श्रीमहाप्रभु ने राधाभाव में भावित होकर केवल श्रीकृष्ण की विरह-स्फूर्ति में ही अति-वाहित किया और उन्हें बाहर की सुधि-बुद्धि प्रायः नहीं रहती थी।

श्रीकृष्णचैतन्य भगवान् के अवतार के दो ही उद्देश्य थे; **पहला**—जगत् में प्रेमभक्ति का प्रचार और **दूसरा**—आश्रयरूप से अर्थात् भक्तरूप से प्रेमभक्ति का आस्वादन। श्रीमहाप्रभु के संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् जो चौबीस वर्षों की लीलाएँ हैं—उनकी आलोचना करने से हम यह देखते हैं कि वे दोनों उद्देश्य ही सिद्धि के पथ पर क्रमशः अति द्रुत चाल से अग्रसर हुए एवं बहुत ही थोड़े समय में अपनी सिद्धि की चरमतम सीमा को प्राप्त होगये।

संन्यास के पश्चात् छः वर्षों तक (मध्य-लीला पर्य्यन्त) श्रीमहाप्रभु ने स्वयं अनेक स्थानों पर पधार कर उपदेशादि एवं अपने आचरण के द्वारा प्रेमभक्ति का प्रचार किया और उसी प्रचार के उपलक्ष में स्वयं भी भक्तभाव से प्रेमभक्ति का आस्वादन किया।

अगले छः वर्षों में अर्थात् अन्त्य-लीला के प्रथम भागकाल में श्रीमहाप्रभु कहीं भी आये-गये नहीं। स्वयं नीलाचल में रहकर ही आदेश, उपदेश एवं आचरण के द्वारा उन्होंने प्रचारकों को अन्यान्य स्थानों पर भेज कर प्रेमभक्ति का प्रचार किया और भक्तभाव में नृत्य-कीर्त्तनादि के द्वारा स्वयं भी प्रेमभक्ति का आस्वादन किया।

अन्तिम बारह वर्षों में अर्थात् अन्त्य-लीला के दूसरे भाग काल में फिर श्रीमहाप्रभु की लीला में आदेश-उपदेशादि भी विशेष नहीं दीखता। प्रेमभक्ति के हृदय में आविर्भूत होने पर भक्त का बाह्यानुसंधान, यहां तक कि प्रचार की वासना एवं चेष्टा पर्यन्त भी कैसे अन्तर्हित हो जाते हैं, प्रेमभक्ति के गाढ़तम रस के निविड़तम आस्वादन में भक्त कैसे विभोर रहता है; प्रेमभक्ति के प्रभाव से भक्त के मनमें और शरीर में कितने कितने अति अद्भुत सात्विक-विकार अपने आप उद्भूत होते हैं और भक्त के मन-देह को ईखबन में मतवारे हाथी की भांति किस प्रकार विदलित कर देते हैं—श्रीमन्महाप्रभु ने ये सब अवस्थाएँ अपनी शेष बारह वर्षों की लीला में जीव को दिखाई हैं और ये समस्त अपूर्वता देखकर आपामर साधारणजन श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रवर्त्तित प्रेमभक्ति की ओर आकृष्ट हो गया।

यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि अपना नृत्य-कीर्त्तन दिखाकर लोगों के चित्त को आकृष्ट करने के लिये श्रीमहाप्रभु नृत्य-कीर्त्तन नहीं करते थे, केवल अपने आस्वादन के उद्देश्य से ही जब वे कीर्त्तन में प्रवृत होते थे, तब कीर्त्तन के प्रभाव से जो प्रेमसमुद्र तरङ्गायित होता था–उसके फलस्वरूप ही वे नाच उठते थे; और उस नृत्य-कीर्त्तन के व्यपदेश से प्रेमभक्ति का जो अपूर्व माधुर्य प्रकट होता था–उसी के प्रति ही सबका मन आकृष्ट हो जाता था।

नित्यानन्दगोसाञिरे पाठाइल गौड़देशे। तेंहों गौड़देश भासाइल प्रेमरसे ॥१९॥
सहजेइ नित्यानन्द कृष्णप्रेमोद्दाम। प्रभु-आज्ञाय कैल यांहा तांहा प्रेमदान ॥२०॥
तांहार चरणे मोर कोटि नमस्कार। चैतन्येर भक्ति येंहो लओयाइल संसार ॥२१॥

श्रीमन्महाप्रभुने श्रीनित्यानन्द गोस्वामी को गौड़देश अर्थात् बाङ्गाल देश में भेजा। उन्होंने वहाँ जाकर बाङ्गालदेश को प्रेमभक्तिरस में डुबा दिया–अर्थात् बाङ्गाल देशवासियों को प्रेमभक्ति प्रदान कर उन्हें कृतार्थ कर दिया॥ १९ ॥ श्रीनित्यानन्द स्वभाव से ही श्रीकृष्ण-प्रेम के असीम सागर हैं और किसी प्रकार का उन्हें बन्धन या सङ्कोच नहीं है। श्रीमहाप्रभु की आज्ञा पाकर (पात्र-अपात्र का कुछ भी विचार न करते हुए) उन्होंने जहाँ-तहाँ सबके प्रति प्रेम का दान दिया ॥२०॥ उनके चरणकमलों में मैं कोटि कोटि नमस्कार करता हूँ, क्योंकि उन्होंने संसारवासी समस्त लोगों को श्रीचैतन्य की भक्ति प्रदान की है ॥२१॥

चैतन्यगोसाञि यांरे बले 'बड़भाइ'। तेहों कहे–मोर प्रभु चैतन्यगोसाञि ॥२२॥
यद्यपि आपने हये प्रभु बलराम। तथापि चैतन्येर करे दास अभिमान ॥२३॥
"चैतन्य सेव, चैतन्य गाओ, लओ चैतन्यनाम। चैतन्ये ये भक्ति करे, सेइ मोर प्राण" ॥२४॥
एइमत लोके चैतन्यभक्ति लओयाइल। दीन-हीन-निन्दकादि सभारे निस्तारिल ॥२५॥

श्रीचैतन्य जिन्हें अपना बड़ा भाई मानते हैं और वे भी कहते हैं कि मेरे स्वामी श्रीचैतन्यगोस्वामी हैं ॥ २२ ॥ यद्यपि श्रीनित्यानन्द स्वयं श्रीबलराम हैं तो भी वे अपने को श्रीचैतन्य (श्रीकृष्ण) का दास ही मानते हैं ॥ २३ ॥ "श्रीकृष्णचैतन्य की सेवा करो, श्रीचैतन्य के गुणगान करो, श्रीचैतन्यनाम का सङ्कीर्त्तन करो—जो श्रीचैतन्य का भजन करता है, वह मुझे प्राणों के समान प्रिय है"—इस

प्रकार सब लोगों को श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीचैतन्य की भक्ति का उपदेश किया एवं भक्तिहीन, नीच प्रकृति तथा निन्दक पुरुषों को भी प्रेमभक्ति प्रदान कर उनका उद्धार कर दिया ॥ २४–२५ ॥

तबे प्रभु ब्रजे पाठाइल रूप-सनातन । प्रभु आज्ञाय दुइ भाइ आइला वृन्दाबन ॥२६॥
भक्ति प्रचारिया सर्वतीर्थ प्रकाशिल । मदनगोपाल–गोविन्देर सेवा प्रचारिला ॥२७॥
नाना शास्त्र आनि कैल भक्ति ग्रन्थसार । मूढ़ाधमजनेरे तेंहो करिला निस्तार ॥२८॥
प्रभु-आज्ञाय कैल सर्वशास्त्रेर विचार । ब्रजेर निगूढ़ भक्ति करिला प्रचार ॥२९॥

इसके बाद श्रीमहाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीसनातन गोस्वामी को ब्रज में भेजा एवं वे दोनों भाई श्रीमहाप्रभु की आज्ञा पाकर श्रीवृन्दावन में आए ॥ २६ ॥ उन्होंने श्रीवृन्दावन में आकर प्रेम-भक्ति का प्रचार किया एवं वहाँ के लुप्त तीर्थों का उद्धार किया । श्रीसनातन गोस्वामी ने श्रीमदनगोपाल जी के तथा श्रीरूप गोस्वामी ने श्रीगोविन्द देव जी के श्रीविग्रह को प्रतिष्ठित कर उनकी सेवा का प्रवन्ध किया ॥ २७ ॥ उन दोनों श्रीगोस्वामीपाद ने (भारतवर्ष के अनेक स्थानों से भक्तिग्रन्थों का संग्रह किया एवं उनका अध्ययन कर) भक्तिग्रन्थों के सार अर्थात् ब्रज की प्रेमभक्ति के प्रतिपादक ग्रन्थों की रचना की । इस प्रकार उन्होंने मूर्ख एवं अधम पुरुषों को प्रेमभक्ति प्रदान कर उनका उद्धार किया ॥ २८ ॥ श्रीमहाप्रभु की आज्ञा से उन्होंने समस्त शास्त्रों की विचारपूर्वक आलोचनाएँ कीं और ब्रज की अत्यन्त गोपनीय मधुर रसमयी प्रेमभक्ति का जगत् में प्रचार किया ॥ २९ ॥

हरिभक्तिविलास, आर भागवतामृत । दशमटिप्पनी, आर दशमचरित ॥३०॥
एइ सब ग्रन्थ कैल गोसाञि सनातन । रूपगोसाञि कैल यत के करे गणन ॥३१॥
प्रधान प्रधान किछु करिये गणन । लक्षग्रन्थ कैल ब्रजविलास वर्णन ॥३२॥
रसामृतसिन्धु, आर विदग्धमाधव । उज्ज्वलनीलमणि आर ललितमाधव ॥३३॥
दानकेलिकौमुदी, आर बहु स्तवावली । अष्टादश-लीलाच्छन्द, आर पद्यावली ॥३४॥
गोविन्द विरुदावली ताहार लक्षण । मथुरा–माहात्म्य, आर नाटक–वर्णन ॥३५॥
लघुभागवतामृतादि के करु गणन ? । सर्बत्र करिल ब्रजविलास वर्णन ॥३६॥

श्रीहरिभक्तिविलास, श्रीवृहद्भागवतामृत, श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध की वृहद्वैष्णव-तोषणी टीका, दशमचरित, ये सब ग्रन्थ श्रीसनातन गोस्वामी जी ने रचे । श्रीरूप गोस्वामी जी ने जितने ग्रन्थ रचे हैं - उन सबकी गणना कौन कर सकता है ? ॥ ३१ ॥ श्रीकृष्ण की ब्रज-लीला का वर्णन श्रीरूप गोस्वामी जी ने एक लाख श्लोकों में किया है । उनके मुख्य मुख्य कुछ एक ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं ॥ ३२ ॥ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, श्रीविदग्धमाधव, श्रीउज्ज्वलनीलमणि, श्रीललितमाधव, श्रीदानकेलिकौमदी, स्तवावली, अष्टादशलीलाच्छन्द, श्रीपद्यावली, श्रीगोविन्द विरुदावली तथा विरुदावली के लक्षण, श्रीमथुरा माहात्म्य, श्रीनाटक चन्द्रिका, श्रीलघुभागवतामृत—आदि आदि अनेक ग्रन्थ हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती—इन सब ग्रन्थों में श्रीब्रजमण्डल की लीलाओं का ही उन्होंने वर्णन किया है ॥ ३३–३६ ॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीरूप-सनातन गोस्वामीपाद द्वारा रचित जिन ग्रन्थों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वे समस्त संस्कृत भाषा में रचित हैं एवं वे प्रायः बङ्गला-लिपि में ही प्रकाशित हुए हैं ।

कुछ एक इने-गिने ग्रन्थ हैं जो हिन्दी लिपि में छपे, वे भी अब सहज में प्राप्त नहीं होते। बङ्ग-भाषी समाज तो भी इन ग्रन्थों से परिचित है, परन्तु हिन्दी समाज इन अपूर्व कृतियों के अनिर्वचनीय रस एवं प्रतिपाद्य विषयों से बहुत ही कम परिचित है। अतः इन सबका संक्षिप्त परिचय हम नीचे उद्धृत करते हैं जिससे हिन्दी समाज के मनमें इन अपूर्व रत्नों के देखने सुनने एवं प्रकाशन की लालसा तो कम से कम उद्भूत हो सके।

श्रीहरिभक्तिविलास—श्रीसनातन गोस्वामी जी के द्वारा यह रचित एवं श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी जी द्वारा समाहृत वैष्णव-स्मृति-ग्रन्थ है, जिसमें बीस विलास हैं। **प्रथम-विलास** में गुरु, शिष्य एवं मन्त्र; **दूसरे विलास** में दीक्षा; **तीसरे** में सदाचार स्मरण एवं शुचि (स्नान-सन्ध्या); **चौथे** में संस्कार, तिलक, मुद्रा, माला व गुरुपूजा; **पांचवें** में आसन, प्राणायाम, न्यास, शालग्रामादि श्रीमूर्त्ति; **छठे** में श्रीमूर्त्ति-आवाहन, सूपन और आनुषङ्गिक आवश्यक-कृत्य; **सातवें** में श्रीविष्णुपूजायोग्य पुष्प-विवरण; **आठवें** में धूप, दीप, नैवेद्य, नृत्य, गीत, वाद्य, नीराजन, स्तुति, नमस्कार एवं अपराधक्षालन; **नौवें** में तुलसी, वैष्णवश्राद्ध एवं नैवेद्य; **दसवें** में भगवद्भक्त, वैष्णव और साधु; **ग्यारहवें** में श्रीमूर्त्ति-अर्चन, श्रीहरिनाम, श्रीनाम-जप-कीर्त्तन, नामापराध और अपराध-मोचन, भक्तिमाहात्म्य तथा शरणा-गति; **बारहवें** में एकादशी विधि; **तेरहवें** में उपवास एवं महाद्वादशीव्रत; **चौदहवें** में नाना मासों के अनेक कृत्य; **पन्द्रहवें** में निर्जला-एकादशी, तप्तमुद्राधारण, चातुर्मास्य, जन्माष्टमी, पार्श्वैकादशी, श्रवणा-द्वादशी, रामनवमी एवं विजयादशमी; **सोलहवें** में कार्तिक-कृत्य एवं दामोदर-व्रत, दीपदानादि, गोवर्द्धन-पूजा, तथा रथयात्रा; **सत्रहवें** में पुरश्चरण, जप और माला; **अठारहवें** में श्रीविष्णु के श्रीमूर्त्ति प्रकार, **उन्नीसवें** में श्रीमूर्ति का प्रतिष्ठापन और उसका स्नपनादि; **बीसवें** विलास में श्रीमन्दिर निर्माणादि, तथा एकान्तिक भक्त कृत्य—इस प्रकार इन समस्त विषयों का श्रीहरिभक्तिविलास ग्रन्थ में शास्त्रानुकूल विधान वर्णन किया गया है।

श्रीवृहद्भागवतामृत—यह भगवद्भक्ति-सिद्धान्तपूर्ण ग्रन्थ है। इसके दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड का नाम '**भगवत् कृपा भरनिर्द्धार**' है। इसमें भौम, दिव्य, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, भक्त, प्रिय, प्रियतम एवं पूर्ण—ये सात अध्याय हैं। द्वितीय खण्ड का नाम "**गोलोक माहात्म्यनिरूपण**" है। उसमें वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, वैकुण्ठ, प्रेम, अभीष्ट लाभ तथा जगदानन्द—ये सात अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में श्रीगोपकुमार के उपाख्यान प्रसङ्ग से विभिन्न साधन-मार्गों से प्राप्त होने वाले विभिन्न भगवत्स्वरूपों के धामों की विशेषता वर्णन करते हुए श्रीब्रजधाम की परमतम महनीयता दिखाई गई है।

दशम टिप्पनी—यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की टीका है जिसका सुप्रसिद्ध नाम '**वृहद्वैष्णवतोषणी**' है।

दशम-चरित—इस ग्रन्थ रत्न में श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर समस्त भगवद्-चरित्र वर्णित हैं।

अब श्रीरूप गोस्वामीपाद द्वारा रचित मुख्य ग्रन्थों का परिचय देते हैं:—

भक्तिरसामृतसिन्धु—इस ग्रन्थ रत्न में कृष्णभक्ति और भक्तिरस के सम्बन्ध में अपूर्व मीमांसा की गई है। इस ग्रन्थ का रचना काल १४६३ शकाब्द या १५४१ ई० सन् है। इसमें पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर—ये चार विभाग हैं। पूर्व विभाग का नाम "**स्थायिभावोत्पादन**" है; उसमें सामान्य भक्ति, साधनभक्ति, भावभक्ति एवं प्रेमभक्ति—ये चार लहरियाँ हैं। दक्षिण विभाग का नाम '**भक्तिरस सामान्य-निरूपण**' है, जिसमें विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी एवं स्थायि ये पांच लहरियाँ हैं।

पश्चिम विभाग का नाम '**मुख्यभक्तिरस निरूपण**' है। उसमें शान्त, प्रीतिभक्तिरस वा दास्य, प्रेयोभक्तिरस वा सख्य, वात्सल्य भक्तिरस, मधुरभक्तिरस– ये पाञ्च लहरियाँ हैं। उत्तर विभाग का नाम '**गौणभक्ति-रसादि-निरूपण**' है और उसमें हास्यभक्तिरस, अद्भुतभक्तिरस, वीरभक्तिरस, करुणभक्तिरस, रौद्रभक्तिरस, भयानकभक्तिरस, वीभत्सभक्तिरस, मैत्र-वैर स्थिति एवं रसाभास—इन नौ लहरियों का वर्णन है।

श्री विदग्धमाधव—यह श्रीकृष्ण की ब्रजलीला-विषयक नाटक-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का रचना-काल १४४५ शकाब्द या १५२३ ई० सन् है। इसमें सात अङ्क हैं। प्रथम अङ्क का नाम '**वेणुनाद-विलास**' है, द्वितीय अङ्क का नाम '**मन्मथ लेख**' हैं, तृतीय अङ्क का नाम '**राधासङ्ग**', चतुर्थ अङ्क का नाम '**वेणुहरण**,' पञ्चम अङ्क का नाम '**राधाप्रसादन**' षष्ठ अङ्क का नाम '**शरद्विहार**' और सप्तम अङ्क का नाम '**गौरी विहार**' है।

श्रीउज्ज्वलनीलमणि--यह अप्राकृत मधुर ब्रजरस विषयक अलङ्कारग्रन्थ है। भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में शान्तादि मुख्य रसों में अत्यन्त रहस्यमय कहकर जिस मधुररस का संक्षेप से वर्णन किया गया है, उस भक्तिरसराज मधुररस का ही इस ग्रन्थ में पृथगभाव से उल्लेख किया गया है। और नायकभेद, सहायभेद, कृष्णवल्लभा, श्रीराधिका, नायिकाभेद, यूथेश्वरीभेद, दूतीभेद, सखी, हरि- वल्लभा, उद्दीपन, अनुभाव, उद्भास्वर, सात्त्विक एवं व्यभिचारीभाव, स्थायीभाव, शृङ्गारभेदान्तर्गत विप्रलम्भ, पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य प्रवास, संयोग-वियोग स्थिति, सम्भोग (मुख्य व गौण) आदि ब्रजप्रेम की विभिन्न स्तरों का विश्लेषण किया गया है।

ललितमाधव—यह श्रीकृष्ण की द्वारका-लीला विषयक नाटक-ग्रन्थ है। इसकी रचना १४५९ शकाब्द या १५३७ सन् ई० में हुई। यह दशाङ्क नाटक है। १—सायं उत्सव, २—शंखचूड़-वध, ३—उन्मत्ता राधिका, ४—राधिकाभिसार, ५—चन्द्रावलीलाभ, ६—ललिता-प्राप्ति, ७—नववृन्दावन सङ्गम, ८—नववृन्दावन विहार, ९—चित्रदर्शन, १०—पूर्णमनोरथ – इन दश नामों से क्रमशः दश अङ्कों का वर्णन किया गया है।

दानकेलि कौमदी—इसमें श्रीश्रीराधाकृष्ण की दानलीला का वर्णन है।

स्तवावली—इसमें अनेक स्तोत्रों का वर्णन है।

अष्टादश लीलाच्छन्द—इसमें श्रीकृष्ण की मुख्य-मुख्य अठारह लीलाओं का वर्णन है।

पद्यावली—इसमें श्रीकृष्ण भक्ति के समस्त विषयों को संग्रह किया गया है।

गोविन्द विरुदावली—यह एक काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें श्रीगोविन्द जी के गुणोत्कर्षादि का वर्णन है।

विरुदावली-लक्षण—इसमें विरुदावली के लक्षण एवं तत्सम्बन्धी श्लोकों के छन्द-प्रबन्ध के विशेष नियमों का उल्लेख है।

मथुरा-माहात्म्य—इसमें मथुरा का माहात्म्य वर्णन किया गया है।

श्रीनाटक-चन्द्रिका—इसमें नाटक के लक्षण एवं नान्दी, सूत्रधार, पात्रादिकों के लक्षण कहे गये हैं।

लघुभागवतामृत—यह ग्रन्थ १-**कृष्णामृत** एवं २-**भक्तामृत**—इन दो खण्डों में रचित है। **प्रथम खण्ड** में निम्न विषय वर्णित हैं—शब्द-प्रमाण की श्रेष्ठता, स्वयंरूप श्रीकृष्ण, उनका विलास, स्वांश और आवेशभेद से तदेकात्मरूप, त्रिविध अवतार (प्रथम, द्वितीय, तृतीय पुरुषावतार), तीन गुणावतारों

में विष्णु की एवं विष्णुभक्ति की निर्गुणता, पच्चीस लीलावतार (चतुःसन, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयग्रीव, हंस, पृश्निगर्भ, ऋषभ, पृथु, नृसिंह, कूर्म्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, दशरथनन्दन श्रीराम, कृष्णद्वैपायन (श्रीवेदव्यास) बलराम या शेष सङ्कर्षण, वासुदेव, बुद्ध और कल्कि) चौदह मन्वन्तरावतार (यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, वामन, सार्वभौम, ऋषभ, विश्वकसेन, धर्मसेतु, सुधामा, योगेश्वर, वृहद्भानु) चतुर्विध युगावतार (शुक्ल, रक्त, श्याम एवं कृष्णवर्ण) विभिन्न कल्प एवं उनके विभिन्न अवतार, आवेश, प्राभव, वैभव एवं पर—इस अवस्था-चतुष्टय में अवस्थित अवतार-विचार, लीलाभेद से भगवन्नाम-महिमा की विचित्रता, शक्ति एवं शक्तिमद् विचार, भगवत्ता के परस्पर विरोधी गुणों का अचिन्त्य समन्वय, श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता, तारतम्य, अवतारित्व, अंशित्व एवं सर्वेश्वरेश्वरत्व, निर्विशेष ब्रह्म का श्रीकृष्ण प्रभात्व, श्रीकृष्ण की द्विभुज नर-लीला का माधुर्य एवं असमोर्द्धत्व, अप्राकृत वैकुण्ठवस्तु का देह-देही भेद निरास, श्रीकृष्ण का अजत्व एवं आविर्भाव का अनादित्व तथा परस्पर का अविरोध, लीला का नित्यत्व, प्रकट एवं अप्रकट भेद लीला का विविधत्व, प्रकटलीला के रस की विचित्रता, व्रज की, मथुरा की एवं द्वारका की लीला का नित्यत्व ; विभिन्न धामतत्त्व एवं माहात्म्य विचार; बाल्य, पौगण्ड, कैशोर एवं यौवन वयस-भेद से माधुर्य की विचित्रता और चतुर्विध माधुरी (ऐश्वर्य, क्रीड़ा, वेणु एवं श्रीविग्रह) आदि ।

द्वितीय खण्ड में—भक्तपूजा का प्रयोजन, भजन के तारतम्य क्रम से भक्ततारतम्य, प्रह्लाद, पाण्डवगण, यादवगण, उद्धव एवं ब्रजगोपीगण तथा सर्वापेक्षा श्रीराधिका और श्रीराधाकुण्ड की महिमा का वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार इन समस्त ग्रन्थों में श्रीपाद रूपगोस्वामी ने श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं का वर्णन किया है ।

अगले पयारों में श्रीपाद जीवगोस्वामी द्वारा रचित ग्रन्थों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं :—

तांर भ्रातुष्पुत्र नाम श्रीजीवगोसाञि । यत भक्तिग्रन्थ कैल, तार अन्त नाइ ॥३७॥
श्रीभागवतसन्दर्भ नाम ग्रन्थ विस्तार । भक्तिसिद्धान्तेर ताते देखाइयाछेन पार ॥३८॥
गोपालचम्पू-नामे ग्रन्थ महाशूर । नित्यलीला-स्थापन याहे ब्रजरसपूर ॥३९॥
एइमत नाना ग्रन्थ करिया प्रकाश । गोष्ठी सहिते कैल वृन्दावने वास ॥४०॥

उनके अर्थात् श्रीरूप-सनातन गोस्वामी के भतीजे अर्थात् श्रीअनुपम गोस्वामी पाद के सुपुत्र श्रीजीवगोस्वामी ने जितने भक्तिग्रन्थ रचे हैं, उनकी तो गिनती ही नहीं है॥३७॥ उन्होंने 'श्रीभागवत-सन्दर्भ' नाम के ग्रन्थ की रचना की जिसमें उन्होंने प्रेम-भक्ति के सिद्धान्तों की चरमसीमा दिखाई है ॥३८॥ श्रीपाद जीवगोस्वामी ने अपने दूसरे महाशूर-ग्रन्थ 'गोपाल चम्पू' में नित्य अप्रकट ब्रजलीला का सिद्धान्त स्थापन किया है एवं जिसमें ब्रजरस भरा हुआ है ॥३९॥ इस प्रकार अनेक ग्रन्थों की रचना करते हुए श्रीपाद-रूप-सनातन गोस्वामी ने अपने वंशज (श्री जीवगोस्वामीपाद) के सहित श्रीवृन्दाबन में वास किया ॥४०॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीपाद जीवगोस्वामी रचित अनेक ग्रन्थों में से केवल दो मुख्य ग्रन्थों का परिचय हम यहाँ उद्धृत करते हैं ।

श्रीभागवत-सन्दर्भ—यह गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का दार्शनिक ग्रन्थ है—इसके छः खण्ड हैं, इसलिए इसका दूसरा नाम 'षट्-सन्दर्भ' भी है । प्रथम खण्ड का नाम 'तत्व-सन्दर्भ' है, जिसमें समस्त शास्त्रों की अपेक्षा श्रीमद्भागवत की प्रमाण—श्रेष्ठता और तत्व-निरूपणता वर्णन की गई है ।

द्वितीय 'भगवत्सन्दर्भ' है जिसमें ब्रह्म-परमात्मा-विचार, वैकुण्ठ एवं विशुद्ध सत्व-निरूपण, स्वरूप का स्वशक्तिकत्व, विरुद्ध शक्ति-आश्रयत्व, शक्ति का अचिन्त्यत्व एवं नानात्व स्थापन, अन्तरङ्गादि भेद,

मायाशक्ति, स्वरूप-शक्ति, गुणों की स्वरूपभूतता, श्रीविग्रह की नित्यता, विभुता, सर्वाश्रयता, स्थूल-सूक्ष्मातिरिक्तता, स्वप्रकाशता, रूपगुणलीलामयत्व, अप्राकृतत्व, पूर्ण स्वरूपत्व, परिच्छिद समूह का स्वरूपांशत्व, वैकुण्ठ, पार्षद, त्रिपाद विभूति की अप्राकृतता, ब्रह्म और भगवान् का तारतम्य, भगवत्ता में ही पूर्णता, सर्ववेदाभिधेयत्व, स्वरूप शक्ति विवरण, भगवान् का वेदभक्त्यैकगम्यत्व आदि विषय वर्णित हैं।

तृतीय खण्ड **'परमात्म-सन्दर्भ'** में परमात्मा एवं उसके भेद, गुणावतारों में तारतम्य, जीव, माया, जगत्, परिणामवाद स्थापन, विवर्त्त-समाधान, जगत् एवं परमात्मा का अनन्यत्व, जगत् की सत्यता और श्रीधरस्वामी-मत, निर्गुण ईश्वर की कर्तृत्व योजना, लीलावतारों की भक्त के उद्देश्य में प्रवृत्ति, षड्विध चिह्नों द्वारा भगवान् का ही तात्पर्यत्व आदि विषयों की समालोचना है।

चतुर्थ खण्ड **'कृष्ण सन्दर्भ'** है–इसमें श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता, कृष्णगुणलीला, पुरुषावतारों का कर्तृत्व, श्रीधरस्वामी की सम्मति, सर्वशास्त्रों में कृष्ण-समन्वय, श्री बलदेवादि का महासङ्कर्षणत्व, श्रीकृष्ण में सर्वांशप्रवेश विचार एवं उनमें उनकी नित्यस्थिति, द्विभुजत्व, गोलोक निरूपण, श्रीवृन्दावनादि का नित्य कृष्णधामत्व, गोलोक तथा श्रीवृन्दावन की एकता, यादव तथा गोपगणों का नित्य कृष्ण–परिकरत्व, प्रकट अप्रकट लीला व्यवस्था, प्रकट-अप्रकट लीला का समन्वय, श्रीकृष्ण का गोकुल में प्रकाशातिशयत्व, पट्ट महिषियों का स्वरूप-शक्तित्व, पट्ट महिषियों की अपेक्षा गोपीगणों का उत्कर्ष, उनके नाम तथा श्रीराधिका की सर्वोत्कर्षता आदि विषय आलोचित हैं।

पञ्चम खण्ड का नाम **'भक्ति सन्दर्भ'** है, जिसमें भगवद्भक्ति का साक्षात् अभिधेयत्व, अन्वय एवं व्यतिरेकभाव से भक्तितत्व निरूपण, सर्वशास्त्र-श्रवण वर्णाश्रमाचार एवं अन्तर्भूत ज्ञान द्वारा अन्वयभाव, कर्मों का अनादर, हरिविमुख-विप्रनिन्दा, भगवदर्पित कर्मों का अनादर, योग का अनादर, ज्ञान का श्रमत्व-प्रदर्शन एवं अन्याश्रय स्वातन्त्र्य के अनादर द्वारा तदीय आदरविधान, अभक्तमात्र का अनादर, जीवन्मुक्त एवं परममुक्त शिवादि पर्य्यन्त भक्त की भक्ति की नित्यता व अभिधेयत्व, भक्ति का सर्वफलदातृत्व, निर्गुणता, स्व-प्रकाशता तथा परम सुखरूपता, भगवत्-प्रीतिहेतु वैशिष्ट, भजनाभास की फलप्राप्ति, निष्काम भक्ति की प्रशंसा, अधिकार भेद से पुनः निष्कामभक्ति स्थापन, साधुसङ्ग का निदानत्व, महाभागवतभेद विशेष, सर्वाश्रय-विवेक, भक्तिभेद निरूपण में ज्ञान का लक्षण, अहंग्रहोपासना का लक्षण, भक्तिलक्षण, आरोपसिद्धादि का लक्षण, वैधिभक्ति से शरणापत्ति, गुरुसेवा, महाभागवत प्रसङ्ग एवं तत्परिचर्य्या, साधारण वैष्णवसेवा, श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, अपराध तथा उनका उपशमन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन, रागानुगा-भक्ति विचार, कृष्ण भजनवैशिष्ट एवं सिद्धि-क्रम आदि विषय वर्णित हैं।

षष्ठ खण्ड **'प्रीति सन्दर्भ'** है–जिसमें, प्रीति का परम पुरुषार्थ निरूपण, मुक्ति में सविशेष तथा निर्विशेष भेद, जीवन्मुक्ति तथा उत्क्रान्त मुक्तिभेद, समस्त मुक्तियों की अपेक्षा भगवत् प्रीति का आधिक्य, परतत्व साक्षात्कार में परम पुरुषार्थ प्राप्ति, सद्यक्रम मुक्ति, ब्रह्म-साक्षात्कार तथा भगवत्-साक्षात्कार लक्षणारूपा जीवन्मुक्ति व उत्क्रान्तमुक्ति, अन्तर्वहिर्भेद से भगवत्साक्षात्कार लक्षणा का द्विविधत्व, ब्रह्म साक्षात्कार लक्षणा की अपेक्षा श्रेष्ठता, वहिः–साक्षात्कार लक्षणा जीवन्मुक्ति व उत्क्रान्तमुक्ति, सालोक्यादि भेद, सामीप्य मुक्ति की अधिकता, भक्ति का मुक्तित्व व उपादेयत्व एवं उसकी उत्पत्ति, प्रीति का स्वरूप लक्षण, गुणातीत प्रीति का तटस्थ लक्षण एवं आविर्भाव-भेद, प्रीति-रति आदि भेद, ब्रज देवियों के काम में शुद्धप्रेमत्व-स्थापन, ज्ञान-भक्ति-आदि का मिश्रत्व, परिकराभिमानी गणों में प्रीति-उत्कर्ष, ऐश्वर्य माधुर्यानुभव का तारतम्य, गोकुलवासियों की श्रेष्ठता, उनमें सखाओं की, माता-पिता की, गोपीगणों की तथा श्रीराधिका की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता, अनुकरण-कार्य में रसत्व, लौकिक रसापेक्षा श्रेष्ठता, आलम्बन विभाग, उद्दीपन विभाग, गुण, धीरोदात्तादि भेद, माधुर्य की उत्तमता, अनुभाव, सञ्चारी, रस का पञ्चविधत्व,

गौण रसों का सप्तत्व, रसाभास, शान्त, दास्य, प्रश्रय, वात्सल्य एवं उज्ज्वल रस में बल्लभभेद, स्थायी, सम्भोग तथा विप्रलम्भभेद, पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्य, प्रवास व श्रीराधिका जी की महिमा आदि विषय वर्णन किये गये हैं।

श्रीगोपालचम्पू—इसके दो विभाग हैं। पूर्व तथा उत्तर। पूर्व चम्पू में तेतीस तथा उत्तर चम्पू में सैंतीस पूरण हैं। इसका रचना काल १५१० शकाब्द या १५८८ सन् ई० है। पूर्व-चम्पू के प्रथम पूरण में श्रीवृन्दावन व गोलोक, (२) प्रस्तावना, पूतनावध लीला वर्णन, यशोदा के आदेश से गोपीजनों का गृह-गमन, श्रीकृष्ण-बलराम की स्नान लीला, स्निग्ध कण्ठ व मधुकण्ठ; (३) श्रीयशोदा का स्वप्न; (४) जन्मोत्सव; (५) श्रीनन्द-वसुदेव मिलन, पूतनावध; (६) औत्तानिक लीला, शकटभञ्जन, नामकरण; (७) तृणावर्त-वध, मृद्भक्षण, बालचापल्य, चौर्य्य; (८) दधिमन्थन, स्तनपान, दधिभाण्ड-भञ्जन, बन्धन, यमलार्जुन-भञ्जन, यशोदा विलाप; (९) श्रीवृन्दावन प्रवेश; (१०) वत्सासुर वध, बकासुर वध, व्योमासुरवध; (११) अघासुर-वध, ब्रह्ममोहन; (१२) गोष्ठगमन; (१३) गोचारण, कालीयदमन; (१४) गर्दभासुरवध, कृष्णलालन; (१५) गोपियों का पूर्वानुराग; (१६) प्रलम्बासुर वध, दावाग्निपान; (१७) गोपियों की कृष्णचेष्टा; (१८) गोवर्धन धारण; (१९) कृष्णाभिषेक; (२०) वरुणालय से श्रीनन्द-आनयन; गोपों का गोलोकदर्शन; (२१) कात्यायनी व्रतानुष्ठान; (२२) यज्ञ पत्नियों के निकट अन्नभिक्षा; (२३) गोपियों का मिलन; (२४) गोपीविहार, श्रीराधाकृष्ण का अन्तर्द्धान, गोपियों का अन्वेषण; (२५) कृष्णाविर्भाव; (२६) गोपियों का सङ्कल्प; (२७) जलविहार; (२८) सर्प-ग्रस्त-नन्दमोक्षण; (२९) विविध रहःक्रीड़ा; (३०) शङ्खचूड़वध, होरी; (३१ अरिष्टासुरवध; (३२) केशीवध; (३३) नारदागमन, ग्रन्थनिर्माण काल आदि का वर्णन है।

उत्तर-चम्पू के प्रथम पूरण में(१) व्रजानुराग; (२) अक्रूर-क्रूरता; (३) मथुरा-प्रस्थान; (४) मथुरान्त प्रदेश निर्देश; (५) कंसवध; (६) व्रजपति-विसर्ज्जनकष्ट; (७) श्रीनन्द का व्रज प्रवेश; (८) अध्ययनादि; (९) गुरुपुत्रानयन; (१०) उद्धव का व्रजागमन; (११) भ्रमर-दूत-भ्रम; (१२) उद्धव का प्रत्यागमन; (१३) जरासन्धबन्धन; (१४) यवन जरासन्ध; (१५) बलभद्रविवाह; (१६) रुक्मिणी विवाह; (१७) सप्त विवाह (१८) नरकवध, पारिजातहरण, शोड़ष सहस्र महिषी विवाह; (१९) बाणविजय, (२०) श्रीराम व्रजागमन-कामना ; (२१) पौण्ड्रकयुद्ध ; (२२) द्विविधवध, हस्तिनापुर विमर्षण ; (२३) कुरुक्षेत्र यात्रा ; (२४) व्रजवासियों की कुरुक्षेत्र यात्रा ; (२५) उद्धवमन्त्रणा ; (२६) राजमोचन ; (२७) राजसूय-यज्ञ ; (२८) साल्व विनाशन ; (२९) व्रजागमन-विषयक विचार ; (३०) कृष्ण का व्रजागमन, (३१) श्रीराधादि-बाधा समाधान ; (३२) सर्वसमाधान ; (३३) श्रीराधामाधव अधिवास ; (३४) श्रीराधाकृष्ण का अलङ्करण, (३५) श्रीराधामाधव विवाह निर्वाह, (३६) श्रीराधामाधव-मिलन ; (३७) गोलोक-प्रवेश आदि लीलाएँ वर्णित हैं। श्रीगोपालचम्पू ग्रन्थ अत्यन्त बृहत् है एवं अप्रकटलीला के सम्बन्ध में सर्वश्रेष्ठ प्रमाण स्थानीय है तथा अन्यान्य विरुद्ध सिद्धान्तों को सम्यक्‌रूप से पराजित करने में समर्थ है। अतः इसे **महाशूर-ग्रन्थ** का नाम दिया गया है।

इस प्रकार गौड़ीय-वैष्णव-गोस्वामीवृन्द द्वारा रचित साहित्य जिसका हमने दिग्दर्शन ऊपर कराया है—एक अपूर्व महाधन है, यह एक ऐसा अद्भुत, परम रसमय भक्ति सिद्धान्तपूर्ण एवं दार्शनिक प्रामाणिक साहित्य है जिसके सामने कोई भी धार्मिक साहित्य सिर नहीं उठा सकता। समस्त ग्रन्थों, वाणियों एवं भाष्यों का शिरमोर है। किन्तु यह केवल बङ्गला-भाषा में प्रकाशित या सीमित होने के कारण हिन्दी समाज के लिये गुप्त एवं लुप्त सा पड़ा हुआ है। इस समस्त साहित्य के हिन्दी भाषा में प्रकाशन एवं प्रचार की अति शीघ्र परमावश्यकता है। गौड़ीय वैष्णव इस ओर अवश्य ध्यान दें।

प्रथम-वत्सरे अद्वैतादि भक्तगण । प्रभुरे देखिते कैल नीलाद्रि-गमन ॥४१॥
रथयात्रा देखि ताहां रहिला चारिमास । प्रभु सङ्गे नृत्य-गीत परम उल्लास ॥४२॥
विदाय-समये प्रभु कहिला सभारे । प्रत्यब्द आसिवे सभे गुण्डिचा देखिवारे ॥४३॥
प्रभुर आज्ञाय भक्तगण प्रत्यब्द आसिया । गुण्डिचा देखिया यान प्रभुरे मिलिया ॥४४॥
विंशति वत्सर ऐछे करे गतागति । अन्योन्ये दोंहार दोंहा बिना नाहि स्थिति ॥४५॥

फिर श्रीअद्वैतादि गौड़ीय भक्तवृन्द पहले वर्ष अर्थात् सर्वप्रथम श्रीमहाप्रभु के दर्शन करने नीलाचल आये। रथ-यात्रा दर्शन करने के पश्चात् चार मास तक (चातुर्मास्यव्रत काल तक) वे सब वहाँ रहे एवं श्रीमहाप्रभु के साथ नृत्य-गान करके उन्होंने परम आनन्द प्राप्त किया ॥४२॥ गौड़देश को वापस लौटते समय उन्हें श्रीमहाप्रभु ने कहा कि—"आप सब लोग प्रति वर्ष श्रीजगन्नाथ की रथ-यात्रा का उत्सव देखने आया करिये" ॥४३॥ इसलिए श्रीमहाप्रभु की आज्ञा पाकर (एवं अपनी भी तीव्र उत्कण्ठा से) वे सब भक्त प्रतिवर्ष गौड़देश से आकर श्रीजगन्नाथ के रथयात्रा-उत्सव को देखते और श्रीमहाप्रभु के दर्शन भी प्राप्त करते ॥४४॥ इस प्रकार बीस वर्ष तक गौड़ीय भक्तगण प्रभु के पास नीलाचल आते जाते रहे। क्योंकि भक्त और भगवान् दोनों एक दूसरे के देखे बिना या मिले बिना रह भी तो नहीं सकते ॥४५॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीमन्महाप्रभु ने १४३१ शकाब्द माघ संक्रान्ति के दिन संन्यास ग्रहण किया एवं फाल्गुन मास में वे नीलाचल आये और परवर्त्ती वैशाख मास में वे दक्षिण-देश की यात्रा के लिए चले गये (२-७-३, ५)। दक्षिण देश की यात्रा में प्रभु को दो वर्ष लगे (२-१६-८३)। नीलाचल वापस लौटने का संवाद पाकर रथयात्रा के उपलक्ष्य से गौड़देशवासी भक्तगण श्रीमहाप्रभु के दर्शन के लिये नीलाचल आये। इससे ज्ञात होता है कि संन्यास ग्रहण करने के ठीक परवर्त्ती यानी १४३२ शकाब्द के आषाढ़ मास के रथयात्रा उत्सव पर प्रभु नीलाचल में नहीं थे और इसलिये गौड़ीय-भक्त भी उस समय नीलाचल नहीं आये। दो वर्ष पीछे श्रीमहाप्रभु के दक्षिणदेश से लौट आने पर १४३४ शकाब्द के आषाढ़ मास के रथयात्रा उत्सव पर गौड़ीय भक्त प्रभु के दर्शन के लिये सर्वप्रथम नीलाचल में आये।

यहाँ तक अन्त्य-लीला के अठारह वर्षों में से प्रथम छः वर्षों की लीलाओं का सूत्र कह कर अब बाकी के बारह वर्षों की लीलाओं का सूत्र कहते हैं :—

शेष आर येइ रहे द्वादश वत्सर। कृष्णेर विरह-लीला प्रभुर अन्तर ॥ ४६ ॥
निरन्तर रात्रि-दिन विरह-उन्मादे। हासे कान्दे नाचे गाय परम विषादे ॥ ४७ ॥
ये काले कारेन जगन्नाथ दरशन। मने भावे—कुरुक्षेत्रे पाञाछि मिलन ॥ ४८ ॥
रथयात्राय आगे यबे करेन नर्त्तन। तांहा एइ पदमात्र करये गायन ॥ ४९ ॥

शेष के बारह वर्षों में श्रीमहाप्रभु में निरन्तर श्रीकृष्ण की विरह-भावना ही जागृत रहती थी ॥४६॥ श्रीकृष्ण के विरह में रात-दिन निरन्तर श्रीमहाप्रभु उन्मत्त होकर कभी हँसते, कभी रोते, कभी नृत्य-गान करते-करते महान् विरह में व्याकुल हो उठते ॥४७॥ जब वे श्रीजगन्नाथ जी का दर्शन करते, वे ऐसा जानते कि उनका कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण से मिलन हुआ है ॥४८॥ श्रीजगन्नाथ के रथयात्रा उत्सव पर जब श्रीमहाप्रभु नृत्य करते, तो केवल यही पद गान करते—("सेइ त प्राणनाथ पाइनु। याहा लागि मदन-दहने झुरि गेनु ॥") ॥४९॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीमद्भागवत जी के दशमस्कन्ध ८२ वें अध्याय में वर्णित है कि एक समय सूर्यग्रहण के पर्व पर भारतवर्ष के विभिन्न राजा लोग एवं जनसाधारण रामह्रद में स्नान-तर्पणादि करने के लिए कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए थे। द्वारका से श्रीकृष्ण अपने परिवार सहित और ब्रज से श्रीनन्द-यशोदादि तथा श्रीराधादि व्रज-सुन्दरियाँ भी उस पर्व पर कुरुक्षेत्र में आकर उपस्थित हुए। ब्रज को छोड़ कर मथुरा जाने के पश्चात् कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण का व्रजवासियों से यह सर्वप्रथम मिलन था। वहाँ श्रीकृष्ण के दर्शन करने से श्रीराधिकाजी के मन में जो भाव उदय हुए थे, वही भाव ही श्रीमन्महाप्रभु के मन में श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करने पर उदित होते थे। वे सर्वदा ही श्रीराधा-भाव में आविष्ट रहते थे, वे अपने को श्रीराधा ही जानते थे और श्रीजगन्नाथजी को श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही मानते थे। किन्तु श्रीजगन्नाथजी की वेषभूषा व्रजवासी श्रीकृष्ण के अनुरूप नहीं थी, कुछ ऐश्वर्य भाव मिश्रित होती थी, तो श्रीमहाप्रभु भी मन में यही विचार करते कि श्रीकृष्ण मथुरा से आये हैं और मथुरा की हो वेशभूषा में सुसज्जित हैं। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करते समय श्रीराधा-भाव में कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण दर्शन-मिलन का अनुभव करते थे।

केवल श्रीमन्दिर में ही नहीं, रथयात्रा के समय जब श्रीजगन्नाथजी रथ में आरोहण करते और श्रीमहाप्रभु उनके सन्मुख नृत्य करते, उस समय भी वे राधाभावाविष्ट होकर श्रीकृष्ण का ही दर्शन करते। कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण-दर्शन पाकर विरहणी श्रीराधाजी के मन में जिन भावों का उदय हुआ था—उन्हीं भावों में आविष्ट होकर श्रीमहाप्रभु रथ के आगे नृत्य करते-करते यह पद गान करने लगते—

तथाहि पदम्—

"सेइ त प्राणनाथ पाइनु। याहा लागि मदन-दहने झुरि गेनु" ॥५०॥

एइ धुया-गाने नाचेन द्वितीयप्रहर। कृष्ण लइ ब्रजे याइ–ए भाव अन्तर ॥५१॥

एइ भावे नृत्यमध्ये पढ़े एक श्लोक। सेइ श्लोकेर अर्थ केहो नाहि बूझे लोक ॥५२॥

"जिन के लिए मैं कामाग्नि में जली जा रही थी, उन प्राणनाथ को मैंने पा लिया है" ॥५०॥ इस पद का गान करते हुए श्रीमहाप्रभु दो प्रहर तक रथ के आगे नृत्य करते और मन में यह भाव रहता कि "मैं श्रीकृष्ण को कुरुक्षेत्र से ब्रज में लिए जारही हूँ" ॥५१॥ इसी भाव में नृत्य करते समय प्रभु एक श्लोक पढ़ते (श्रीस्वरूपदामोदर के बिना) जिसका मर्म और कोई भी नहीं जानता था ॥ ५२ ॥ उस श्लोक को उद्धृत करते हैं।

तथाहि काव्य-प्रकाशे (१।४)–साहित्य दर्पणे (१।१०) पदावल्यां (३८६)—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा—
स्तेचोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरूतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ ६ ॥

एक नायिका अपनी एक सखी से कहती है–"जिसने मेरी कौमार-अवस्था का हरण किया था, वही अब मेरा वर है अर्थात् उसी ने विवाह करके मुझे अपनी पत्नीरूप में अङ्गीकार कर लिया है। (उसके साथ कौमार-अवस्था में प्रथम मिलन के समय जो चैत्रमास की रात्रि थी, अब भी) वही चैत्रमास की रात्रि भी है, (प्रथम मिलन के समय की भाँति) प्रफुल्लित मालती कुसुमों की सुगन्धियुक्त वायु (अब भी) कदम्ब बन की ओर से मन्द-मन्द प्रवाहित हो रही है, मैं भी वही हूँ, फिर भी उसी रेवा नदी के

किनारे वेतसी-वृक्ष के नीचे (प्रथम मिलन समय वाली) सुरत-कौशलमय क्रीड़ा के लिये मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है—अर्थात् उस प्रथम मिलन में रेवा नदी के किनारे मुझे जो सुख मिला था अब इस मिलन में मुझे वह सुख नहीं मिल रहा है ॥ ६ ॥

चै० च० चु० *टीका*—यह श्लोक एक उस नायिका ने कहा है जो जब कुमारी थी अर्थात् जब उसका अभी विवाह नहीं हुआ था, तब किसी एक नायक के साथ चैत्रमास की रात्रि को रेवा नदी के किनारे एक वेतसी-वृक्ष के नीचे उसका मिलन हुआ। वहां से थोड़ी दूर पर एक कदम्ब बन था, जहां से मालती-कुसुमों की मन्द-मन्द सुगन्धित वायु प्रवाहित होरही थी, वहां उस नायक ने उस नायिका की कौमार-अवस्था का हरण किया। दैवयोग से कुछ दिनों के पश्चात् उसी नायिका का विवाह उसी नायक से होगया। चैत्र मास आने पर रात्रि के समय जब मन्द-मन्द सुगन्धित वायु चल रही थी, उस नायिका को अपने प्रथम मिलन की याद आई, जिसने नदी के किनारे अपने प्राणवल्लभ के साथ मिलन की एक बलवती उत्कण्ठा उसके चित्त में उत्पन्न करदी। उस नायिका ने अपनी एक अन्तरङ्गा सखी को यह श्लोक सुनाया था।

तात्पर्य यह है कि श्रीमहाप्रभु श्रीजगन्नाथ जी की रथ के आगे नृत्य करते हुए जब यह श्लोक पढ़ते थे, तब वे राधाभाव में भावित होकर अपने को तो श्रीराधा मानते थे और श्रीजगन्नाथ जी को श्रीकृष्ण मानते थे। और उनका कुरुक्षेत्र में मिलन हो रहा है—यह उनकी भावना होती थी। किन्तु श्रीवृन्दावन के निभृत निकुञ्जों में श्रीकृष्ण के साथ जिस मिलन सुख का अनुभव उन्हें होता था—वह सुख कुरुक्षेत्र में उन्हें नहीं हुआ और न हो सकता था। वही आक्षेप करते हुए श्रीराधाविष्ट महाप्रभु अपनी सखी से मानो कहते थे कि "हे सखी ! वही मैं राधा हूँ, वही श्रीकृष्ण हैं, दोनों का मिलन भी हो रहा है, किन्तु फिर भी श्रीवृन्दावन के निभृत-निकुञ्जों में ही मिलकर श्रीकृष्ण के साथ रमण करने के लिये मेरा मन लालायित हो रहा है। श्रीवृन्दावन-विहार का सुख भला यहाँ कहाँ ? इस भाव में श्रीराधा-भावाविष्ट-महाप्रभु इस श्लोक को पढ़ा करते थे।

एइ श्लोकेर अर्थ जाने एकले स्वरूप। दैवे से-वत्सर तांहा गियाछेन रूप ॥५३॥
प्रभु मुखे श्लोक शुनि श्रीरूपगोसाञि। सेइ श्लोकेर अर्थ-श्लोक करिल तथाइ ॥५४॥
श्लोक करि एक तालपत्रेते लिखिया। आपन वासार चाले राखिल गुंजिया ॥५५॥
श्लोक राखि गेला समुद्र स्नान करिते। हेनकाले आइल प्रभु ताहांरे मिलिते ॥५६॥

उपर्युक्त श्लोक का मर्म केवल श्रीस्वरूपदामोदर ही जानते थे। दैवयोग से एक वर्ष श्रीरूप-गोस्वामी नीलाचल में मौजूद थे ॥ ५३ ॥ श्रीमहाप्रभु के मुख से इस श्लोक को सुनकर श्रीरूपगोस्वामी ने इसके अर्थ को अर्थात् श्रीमहाप्रभु के भावों को जान लिया और इस श्लोक के अर्थ को प्रकाश करने वाला एक और श्लोक रचा ॥ ५४ ॥ उस श्लोक को ताल पत्र पर लिख कर श्रीरूप ने अपनी झोंपड़ी की छत्त में खुरस दिया और आप समुद्र-स्नान करने चले गये ॥ ५५ ॥ इतने में श्रीमहाप्रभु श्रीरूप को मिलने के लिये वहां आये ॥ ५६ ॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीस्वरूपदामोदर ब्रजलीला में श्रीललिता सखी थे, जो श्रीराधिका जी की अन्तरङ्गा सखी हैं और वह श्रीराधा जी के मनोगत भावों को अच्छी प्रकार जानती हैं। इसलिये श्रीस्वरूपदामोदर जी भी राधाभावाविष्ट—श्रीमहाप्रभुजी के मनोगत भावों को अच्छी प्रकार जानते थे। श्रीरूपगोस्वामी भी रूपमञ्जरी हैं एवं यहां श्रीमहाप्रभु के अत्यन्त प्रिय पार्षद हैं। अतः वह भी प्रभु-कृपा से उनके मनोगत भावों को जान गये।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीरूप के वास स्थान पर उनसे मिलने आए—इसका कारण यह है कि श्रीहरिदास ठाकुर, श्रीरूप, श्रीसनातन—ये तीनों दीनतावश अपने को नितान्त दीनहीन मानते थे यहाँ तक कि अपने को अस्पर्श्य (न छूने योग्य) मानते थे। इसलिये वे तीनों श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर में तथा उनके मन्दिर को जाने वाले मार्ग पर भी कभी पांव नहीं धरते थे कि मन्दिर में जाने वाले श्रीजगन्नाथ जी के पुजारी कहीं अपवित्र न हो जाएं—यह है "तृणादपि सुनीच" की पराकाष्ठा जो श्रीगोस्वामीपाद ने अपने जीवन में दरसाई है। श्रीमहाप्रभु का वासस्थान मन्दिर के अति निकट था। अतः वे तीनों प्रभु के दर्शन उनके स्थान पर जाकर न करते थे, अपितु परम उदार श्रीमहाप्रभु ही उनसे मिलने के लिये उनके वासस्थान पर आते थे।

हरिदासठाकुर आर रूप सनातन। जगन्नाथमन्दिरे नाहि याय तिनजन ॥५७॥
महाप्रभु जगन्नाथेर उपलभोग देखिया। निजगृहे यान एइ तिनेरे मिलिया ॥५८॥
एइ तिन मध्ये यबे थाके येइ जन। तारे आसि प्रभु आपने मिले—प्रभुर नियम ॥५९॥
दैवे आसि प्रभु यबे उर्द्ध वेंते चाहिला। चाले गोंजा तालपत्रे सेइ श्लोक पाइला ॥६०॥

श्रीहरिदास-ठाकुर, श्रीरूप तथा श्रीसनातन–ये तीनों श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर में नहीं जाते थे। श्रीमहाप्रभु श्रीजगन्नाथ का प्रातःकालीन भोग दर्शन कर इन तीनों को दर्शन देकर फिर अपने वासस्थान पर जाते थे। इन तीनों में से जब जो कोई घर पर उपस्थित रहता, प्रभु अपने आप आकर उसे वहाँ दर्शन देते—यह प्रभु का नियम था। दैवयोग से प्रभु ने श्रीरूप के वासस्थान की छत की ओर जब देखा, तो ताल पत्र पर लिखा हुआ वह श्लोक प्रभु के हाथ लगा ॥ ६० ॥

श्लोक पढ़ि प्रभु आछेन आविष्ट हइया। रूपगोसाञि आसि पड़िला दण्डवत् हैया ॥६१॥
उठि महाप्रभु तांरे चापड़ मारिया। कहिते लागिला किछु कोलेते करिया—॥६२॥
मोर श्लोकेर अभिप्राय ना जाने कोनजने। मोर मनेर कथा तुमि जानिले केमने? ॥६३॥
एत बलि तांरे बहु प्रसाद करिया। स्वरूपगोसाञिरे श्लोक देखाइल लैया ॥६४॥

श्लोक को पढ़ते ही श्रीमहाप्रभु भावाविष्ट हो गये। इतने में श्रीरूप गोस्वामी भी आ पहुञ्चे एवं उन्होंने प्रभुको दण्डवत प्रणाम की ॥६१॥ श्रीमहाप्रभु ने उठकर वात्सल्य-भाव से श्रीरूप को एक चपेट मारी और प्रेम से उन्हें गलकण्ठ कर प्रभु कहने लगे—॥ ६२ ॥ "रूप! 'यः कौमारहरः' श्लोक जो मैंने उच्चारण किया था उसका जो अभिप्राय है—वह कोई भी नहीं जानता। मेरे मन के भावों को तुमने कैसे जान लिया?" इस प्रकार कहकर प्रभु ने श्रीरूप पर अपार अनुग्रह किया। और उस श्लोक को ले जाकर श्रीस्वरूप को दिखाया ॥ ६४ ॥

स्वरूपे पूछेन प्रभु हइया विस्मिते—। मोर मनेर कथा रूप जानिला केमते ॥६५॥
स्वरूप कहेन—याते जानिल तोमार मन। ताते जानि—हय तोमार कृपार भाजन ॥६६॥
प्रभु कहे—तारे आमि सन्तुष्ट हइया। आलिङ्गन कैल सर्वशक्ति सञ्चारिया ॥६७॥
योग्यपात्र हय गूढ़रस – विवेचने। तुमिओ कहिओ तारे गूढ़रसाख्याने ॥६८॥
ए सब कहिब आगे विस्तार करिया। संक्षेपे उद्देश कैल प्रस्ताव पाइया ॥६९॥

विस्मित होकर श्रीमहाप्रभु श्रीस्वरूप से पूछने लगे कि उनके मन की बात को श्रीरूप ने कैसे जान लिया ॥६५॥ श्रीस्वरूप ने कहा—"श्रीरूप ने आपके मनोगत को जान लिया है, इसलिए मैं जानता हूँ—वह आपका पूर्ण कृपा पात्र है" ॥६६॥ श्रीप्रभु ने कहा—"मैंने सन्तुष्ट होकर श्रीरूप को आलिङ्गन किया है और उसमें सर्वशक्ति का सञ्चार कर दिया है" ॥६७॥ श्रीरूप अत्यन्त योग्यपात्र है, व्रज के उज्ज्वलरस के विचार में विशेष समर्थ है, तुम भी उसके साथ व्रजरस के विषय में आलाप-आलोचना करना ॥६८॥ (ग्रन्थकार श्रीकृष्णदास कविराज कहते हैं)—यह सब कथा हम आगे विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे। प्रसङ्ग पाकर यहाँ संक्षेप में इसका उल्लेख किया है ॥६९॥ (श्री रूपगोस्वामीपाद रचित श्लोक—यह है।)

तथाहि पद्यावल्यां (३८७)—श्रीरूपगोस्वामिचरणैरुक्तोऽयं श्लोकः—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलितस्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम्।
तथाप्यन्तःखेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति ॥७॥

कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के साथ मिलने के पश्चात् श्रीराधाजी मानों अपनी प्रिय सहचरी को कह रही हैं—"हे सहचरी! (जिन्होंने श्रीवृन्दावन में मेरे साथ विहार किया था) श्रीकृष्ण यही हैं, जो मुझे कुरुक्षेत्र में मिले हैं। मैं भी वही राधा हूँ। दोनों का यह सङ्गम सुख भी ठीक वैसा ही है, तथापि जिस श्रीवृन्दावन में क्रीड़ा करते-करते श्रीकृष्ण अपनी मधुर मुरली पञ्चम स्वर में बजाते थे, यमुना के पुलिन अवस्थित उसी श्रीवृन्दावन के लिये ही मेरा मन व्याकुल हो रहा है" ॥७॥

एइ श्लोकेर संक्षेपार्थ शुन भक्तगण। जगन्नाथ देखि यैछे प्रभुर भावन ॥७०॥
श्रीराधिका कुरुक्षेत्रे कृष्णेर दर्शन। यद्यपि पायेन, तबु भावेन ऐछन ॥७१॥
राजवेश हाती-घोड़ा मनुष्यगहन। काहां गोपवेश काहां निर्जन वृन्दावन ॥७२॥
सेइ भाव सेइ कृष्ण सेइ वृन्दावन। यबे पाइ, तबे हय वाञ्छितपूरण ॥७३॥

श्रीकविराज कहते हैं—हे भक्तगण! इस श्लोक का संक्षिप्त अर्थ सुनिये। श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करके श्रीमहाप्रभु के मन में क्या भाव उदय होते थे—उन्हें कहते हैं ॥७०॥ कुरुक्षेत्र में श्रीराधिकाजी को श्रीकृष्ण का जब दर्शन प्राप्त हुआ तो वह इस प्रकार चिन्ता करती थीं ॥७१॥ —("ठीक है—ये मेरे प्राणवल्लभ वही श्रीकृष्ण ही हैं।) किन्तु इनका तो राज-वेश है, इनके साथ तो अनेक हाथी-घोड़े हैं तथा मनुष्यों की भीड़भाड़ है। इनका वह गोपालवेश कहाँ है? वह परम एकान्त श्रीवृन्दावन कहाँ है? ॥७२॥ वही (व्रज का शुद्ध माधुर्यमय) भाव हो, (मुरली मनोहर-गोपवेशधारी) वही श्रीकृष्ण हों और (यमुना-पुलिन स्थित) वही (निर्जन) श्रीवृन्दावन हो—तभी मेरे मन की वाञ्छा पूरण हो सकती है" ॥७३॥ श्रीराधाजी के इन भावों को श्रीभागवतजी के निम्न श्लोक से प्रमाणित करते हैं।

तथाहि (भा० १०-८२-४९)—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहंजुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥८॥

(कुरुक्षेत्र में श्रीराधिकादि प्रमुख गोपसुन्दरियों ने श्रीकृष्ण से कहा—"हे कमलनाभ! परम ज्ञानी योगेश्वरगण भी आप के जिन चरणकमलों का ध्यान धरते हैं, और संसार रूप गर्त्त में पड़े हुए जीवों का उद्धार करने के लिये जो एकमात्र अवलम्बन स्वरूप हैं—वे आप के चरणकमल घरको सेवन करने वाली हम व्रजवासनियों के मन में भी सर्वदा आविर्भूत हों यह हमारी प्रार्थना अथवा कामना है ॥८॥

चै० च० चु० टीका :—कुरुक्षेत्र में समय पाकर श्रीकृष्ण एकान्त में जाकर श्रीराधादि व्रज-सुन्दरियों से मिले एवं उनका आलिङ्गन करके उनसे कुशल प्रश्न किया और हँसते-हँसते बोले—"व्रज-सुन्दरियो ! मुझे तुम से बिछुरे बहुत काल होगया है—क्या तुम्हारे दिल में मेरी कुछ याद है ? कि मुझे अकृतज्ञ जानकर तुमने मुझे भुला दिया है ? देखो ! मैं जान बूझ कर अपनी इच्छा से तुम से दूर नहीं चला गया हूँ ; वायु जिस प्रकार तिनकों को संयुक्त और वियुक्त कर देती हैं—उसी प्रकार ईश्वर ही जीवों को संयुक्त और वियुक्त करते रहते हैं। ईश्वर ने ही मुझे तुम से अलग कर दिया है। यदि तुम कहो कि वह ईश्वर मैं ही हूँ तो भी फिर तुम्हें दुख नहीं मानना चाहिये, क्योंकि यदि मैं ही भगवान हूँ तो मेरे प्रति भक्ति करने से उस भक्ति के प्रभाव से लोग अमृत्व या मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु तुम्हारा तो मुझ में इतना प्रगाढ़ स्नेह है कि तुम से कितना ही दूर क्यों न चला जाऊँ, वह मुझे खींच कर तुम्हारे पास ही ले आता है। और फिर यह बात भी है कि आकाशादि पञ्चभूत जैसे भौतिक पदार्थों के अन्दर बाहिर सदा विद्यमान रहते हैं, वैसे परमात्मा मैं भी सब जीवों के—तुम्हारे भी भीतर-बाहिर सर्वदा वर्त्तमान हूँ—इसलिए तुम्हारा और मेरा वियोग कभी सम्भव ही नहीं हो सकता। अविवेक के कारण ही तुम विरह की कल्पना करके दुख का भोग कर रही हो। कारण कि तुम्हारे देह-आत्मा-मन-प्राण तो सदा मुझ परमात्मा में ही संलग्न हैं। तुम इस तत्त्व को समझने की चेष्टा करो ; फिर तुम्हारे लिये कुछ भी दुख बाकी न रहेगा। मैं तो यह भी अनुभव कर रहा हूँ कि, चाहे तुम यहाँ चली आई हो परन्तु तुम्हारा मन अब भी केवल उसी श्रीवृन्दाबन की ओर घूम रहा है ; क्योंकि श्रीवृन्दाबन में तो तुम्हारा घर है न। अर्थात् तुम्हारी आसक्ति घरों में अधिक है। संसाररूप गर्त्त में पड़े हुए आसक्त लोगों की भाँति तुम्हें अपने घर की ही बार-बार याद आती है। किन्तु याद रखो, संसाररूप गर्त्त में पड़े हुए लोगों के लिये भी मेरे चरण ही एकमात्र आश्रय हैं। इसलिये भी मैं गोपियो ! तुम से कहता हूँ कि मुझ परमात्मा के चरणों का ध्यान करो जिससे तुम्हारी गृहासक्ति दूर हो जायेगी और परम सुख को प्राप्त कर सकोगी।"

प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण के मुखसे इस प्रकार तत्त्वज्ञान की कथा सुनकर भृकुटि को किञ्चित् चढ़ा कर व्रजसुन्दरीगण कहने लगीं—"**नलिननाभ**—हे कमलनाभ ! मधुर एवं सुन्दर मृदुल कमल के जन्म-स्थान तुम्हारे हृदय में से यह कठोर ऐश्वर्यमय रूखी-रूखी बातें कैसे निकल रही हैं ? तुम्हारे मुखकमल, नेत्र कमल, नाभि कमल, चरण कमल के सौन्दर्य में हम इतनी मुग्ध हो रही हैं कि अपनी भगवत्ता स्थापन करते हुए तुम कितना ही तत्त्वज्ञान क्यों न उपदेश करो, वह हमारे कानों में प्रवेश नहीं कर सकता। तुम तो तत्त्वज्ञान का उपदेश करते जारहे हो किन्तु हम विस्फारित नेत्रों से अनवरत तुम्हारी सौन्दर्य-सुधा का ही पान कर रही हैं। **योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः**—बन्धु ! योगेश्वरों की भाँति अपने हृदय में तुम्हारे चरणकमलों का ध्यान करें—ऐसा आप जो उपदेश दे रहे हैं, वह तो हमारे लिए बिल्कुल असम्भव है। कारण कि पहले तो योगेश्वरों की भाँति हमें गम्भीर बुद्धि चाहिये; हम तो बुद्धिहीन चञ्चल-मति गोपबालाएँ हैं—योगेश्वर नहीं हैं। तुम्हारे चरणों का ध्यान कैसे करें ? दूसरे चरणों का हृदय में ध्यान करना तो दूर—तुम्हारे चरणों की बात कानों से सुनते ही हमें उस दिन की बात याद आजाती है जिस दिन प्रफुल्लित कमलों से भी अत्यन्त सुकोमल तुम्हारे युगलचरणों को अपने कठोर स्तनयुगलमय वक्षस्थलों पर धारण करने में हम भयभीत हो रही थीं—इस आशङ्का से कि कहीं तुम्हारे कोमल चरणों में हमारे कठोर स्तनयुगल का आघात न लग जाये। इस बात की याद आते ही तुम्हारी विरह व्यथा हमारे चित्त में शतबिच्छुओं की दंशन पीड़ावत् उदय होकर हमें व्याकुल कर देती है। फिर कहिये, प्यारे ! कैसे हम मन लगाकर तुम्हारे चरणों का चिन्तन करें ?

प्राणवल्लभ ! यह अनुमान भी तुम्हारा ठीक है कि हमारा मन वृन्दावन की ओर ही दौड़ रहा है और उसी पर तुम हमें संसार गर्त्त में पड़ा हुआ जान रहे हो, और संसाररूप गर्त्त से उद्धार पाने का उपाय अपने चरणों का चिन्तन भी बता रहे हो। प्रीतम ! जहाँ जिसका घर-ठिकाना होता है, वहाँ आसक्ति होती ही है--माया-ममता के कारण ही संसारासक्ति होती है। श्रीवृन्दावन के प्रति हमारी आसक्ति है—इसे हम अस्वीकार नहीं कर सकतीं। किन्तु जरा ध्यान से सुनिये, श्यामसुन्दर ! घर-संसार की माया-ममता हमारी श्रीवृन्दावन में आसक्ति का कारण नहीं है। अपनी देह की सुख-सुविधा होने से ही तो सब की अपने घर-संसार में माया-ममता होती है। हमें तो अपने देह तक की सुख-सुविधा का अनुसन्धान नहीं है, घर संसार की ममता तो दूर रही। जिसको देहस्मृति ही नहीं है उसके लिए संसार कूप कैसा ? "देहस्मृति नाहि यार, संसार कूप कांहा तार ?" (२-१३-१३५)॥ प्यारे ! देह गेह सब कुछ तो हमने तुम्हारी प्रीति के ऊपर वार डाले हैं। ये तन-मन-प्राण हमारे अब नहीं हैं—सब तुम्हारे ही हैं। इन्हें धारण करती हैं, तो तुम्हारे लिए, इन्हें सजाती हैं तो तुम्हारे लिए ; इनका शृङ्गार करतीं हैं तो केवल इसलिए कि तुम इन्हें देखकर सुख पाओगे। तुम्हारे सुख के लिये समस्त धर्म-कर्म-स्वजन-आर्यपथ आदिकों को जलाञ्जलि देकर हम आपके चरणों में बिनामूल्य बिक चुकी हैं। प्यारे ! हमें संसार-कूप में पतित मत कहो। हमारा श्रीवृन्दावन में चित्त दौड़ रहा है—यह सत्य है। किन्तु गृह-आसक्ति इसका कारण नहीं है—इसका कारण केवल तुम ही हो। श्रीवृन्दावन का प्रति तरु लता, प्रति फल-फूल, वृन्दावन की रज का प्रत्येक कण तुम्हारी स्मृति के साथ अच्छेद्यभाव से विजड़ित है। तुम्हारी विरहाग्नि में वह भी हम हतभागनियों की तरह प्रति क्षण झुलस रहा है। तुम्हारे चरण पलोटने के लिए श्रीवृन्दावन का प्रति अणु-अणु उत्कण्ठित हो रहा है—अहो निठुर ! "वृन्दावन गोवर्धन, यमुना-पुलिन-वन, सेइ कुञ्जे रासादि लीला। सेइ व्रजे व्रजजन, माता-पिता बन्धुगण, बड़ चित्र केमने पासरिला॥" (२-१३-१३६)—वह श्रीवृन्दावन, वह श्रीगोवर्धन, वे यमुना-पुलिन-वन, वे कुञ्ज जिन में तुमने हमारे साथ रास-लीला की थी, उस व्रज को, वहाँ के व्रजवासियों को हाय ! हाय !! मां यशोदा को, पिता नन्दराज को, अपने प्यारे सखाओं को—तुमने भुला दिया है—यह बड़ा आश्चर्य है।" और फिर श्रीवृन्दावन में जो तुम्हारा सहजभाव था, अपूर्व माधुर्य था, वह यहाँ कहाँ है ? प्राणतल से निसङ्कोच तुम्हारी सेवा यहाँ हम कैसे कर सकती हैं ? इसलिए हमारा मन बार-बार श्रीवृन्दावन की ओर दौड़ रहा है, जहाँ तुम्हारी और हमारी सहज प्रीति अपूर्व माधुर्य धाराओं से विकसित होती थी। हम संसार-कूप में पतित नहीं हैं किन्तु तुम्हारे विरह-सागर में ही हम पड़ी हुई हैं। यहाँ स्वच्छन्द भाव से आपकी सेवा न कर पाने से ही हमारा चित्त बार-बार श्रीवृन्दावन की ओर दौड़ रहा है। इसलिए हे प्राणवल्लभ ! हम कहती हैं कि योगीगणों के ध्यान योग्य एवं संसार-कूप में पड़े हुए लोगों के एकमात्र अवलम्बन स्वरूप तुम्हारे चरण-कमल तुम्हारी कृपा से—**गेहं जुषां नः मनसि उदियात्**—घर को सेवन करने वाली अर्थात् श्रीवृन्दावन को सेवन करने वाली हम गोपियों के मन में उदित हों। तुम्हारे स्वच्छन्द क्रीड़ास्थल वृन्दावन रूप गृह में आसक्ता हमारे मन में—वृन्दावनरूप मन में आपके चरण उदित हों। अर्थात् आप श्रीवृन्दावन में ही पदार्पण करो। श्रीवृन्दावन ही हमारा घर है—उसी श्रीवृन्दावन में हमारा मन आसक्त है क्योंकि श्री वृन्दावन तुम्हारा क्रीड़ास्थल है। श्रीवृन्दावन ही हमारा हृदय—मन है, क्योंकि तुम्हारे क्रीड़ास्थल श्रीवृन्दावन से हम अपने मन को अलग नहीं कर सकती है ; इसलिए हम कहती हैं कि प्यारे ! आप एक बार श्रीवृन्दावन में पदार्पण करो तभी हमारी वाञ्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि कुरुक्षेत्र मिलन में श्रीराधाजी का मन श्रीवृन्दावन के भावों से ही उद्वेलित हो उठा था। अगले पयार में इसी श्लोक का सारांश वर्णन करते हैं :—

तोमार चरण मोर ब्रजपुर घरे। उदय करये यदि, तबे वाञ्छा पूरे ॥ ७४ ॥
भागवतेर श्लोकगूढ़ार्थ विशद करिया। रूपगोसाञि श्लोक कैल लोक बुझाइया ॥ ७५ ॥

श्रीराधा जी ने कहा—"हे प्राणवल्लभ! श्रीवृन्दावन में ही मेरा घर है। यदि वहां आप पदार्पण करें तभी ही मेरी वाञ्छा पूरण हो सकती है ॥ ७४ ॥ श्रीभागवत जी के (आहुश्च-इत्यादि) श्लोक का अर्थ बहुत गूढ़ है। उसको सब लोगों को समझाने के लिये श्रीरूपगोस्वामीजी ने उसे सरल रूप से निम्न श्लोकरूप में प्रकाशित किया ॥ ७५ ॥

तथाहि ललितमाधवे (१०-३६)—

या ते लीलारसपरिमलोद्गारिवन्यापरीता, धन्या क्षौणी विलसति वृता माधुरी माधुरीभिः।
तत्रास्माभिश्चटुलपशुपीभावमुग्धान्तराभिः संवीतस्त्वं कलय वदनोल्लासिवेणुर्विहारम् ॥ ९ ॥

श्रीराधा जी ने कहा—"आपके लीला रस की महान् सुगन्धोद्गारी वन्या से युक्त एवं माधुर्य-सौष्ठव से शोभित एवं परम श्लाघ्य मथुरा के समीप जो श्रीवृन्दावन भूमि है, उसी वृन्दावन में प्रफुल्लित मुख से वेणु बजाते, (श्रीकृष्ण प्रेम जनित उत्कण्ठा वश) चञ्चल-स्वभावा तथा गोपी-भाव से मुग्ध अन्तःकरण युक्त हमारे साथ मिलकर आप विहार करें-(तभी हमारी तृप्ति हो सकती है) ॥ ९ ॥

चै० च० चु० *टीका*—किसी एक कल्प में श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर विरह-वेदना सहन न कर सकने पर श्रीराधाजी यमुना में कूद पड़ीं। सूर्य कन्या यमुना ने श्रीराधा जी को ले जाकर अपने पिता सूर्यदेव के पास रख दिया। श्रीसूर्यदेव ने अपने उपासक एवं मित्र अपुत्रक श्रीसत्राजित राजा को श्रीराधाजी को अर्पण कर दिया और कहा—"इसका नाम सत्यभामा है, तुम इसे अपनी कन्या जानो, और श्रीनारदजी के आदेश से इसे किसी यशस्वी वर को प्रदान करना।" तत्पश्चात् श्रीनारदजी के आदेश से सत्राजित राजा ने, श्रीकृष्ण जब द्वारका में रहते थे. उनके अन्तःपुर में सत्यभामा नाम्नी श्रीराधा को भिजवा दिया। इससे पहले सूर्यपत्नी संज्ञा ने अपने पिता विश्वकर्मा जी के द्वारा सत्यभामा के (श्रीराधा के) मनोरञ्जन के लिये द्वारका में एक नवीन वृन्दावन की रचना करा ली थी। श्रीकृष्ण-पटरानी श्रीरुक्मिणी जी ने उसी नव वृन्दावन में सत्यभामा (श्रीराधा) को छिपा कर रख लिया,:ताकि श्रीकृष्ण उस असाधारण लावण्यमयी सत्यभामा (श्रीराधा) को न देख पावें। घटनापरम्परा से हुआ यह कि श्रीकृष्ण ने उस सत्यभामा (श्रीराधा) को देख लिया। और यह भी रहस्य खुल गया कि सत्यभामा वास्तव में श्रीराधा ही हैं, एवं जो रुक्मिणीजी हैं, वह वास्तव में चन्द्रावलीजी हैं। तत्पश्चात् यथासमय रुक्मिणी नाम्नी चन्द्रावलीजी के उद्योग से सत्यभामा नाम्नी श्रीराधा का श्रीकृष्ण से विवाह हो गया। विवाह से पूर्व यशोदारानी, पौर्णमासी तथा मुखरा आदि ये सब द्वारका में आईं। विवाह के पश्चात् एक दिन इसी नव वृन्दावन में श्रीकृष्ण ने श्रीराधा से कहा—"प्रियतमा! कहिये मैं आपके लिये और क्या प्रिय कार्य करूं?" तब श्रीराधा जी ने कहा—"प्राणेश्वर! ब्रज की समस्त सखियां मुझे यहां आकर मिली हैं, स्वीय भगिनी चन्द्रावली भी यहाँ विद्यमान हैं, ब्रजेश्वरी के भी मैंने दर्शन किये हैं, और इस नवीन वृन्दावन के निकुञ्जों में आप से भी मेरा मिलन हुआ है, इससे अधिक और किस प्रिय वस्तु की प्रार्थना करूं? तथापि आपके चरणों में मेरी एक प्रार्थना यह है कि आप उसी ब्रजधाम में ही चल कर मुझ से विहार करें।" सारांश यह है कि वही श्रीराधा हैं, वही श्रीकृष्ण हैं, तथापि श्रीराधा जी को तृप्ति नहीं हैं। क्यों? इसलिये कि यह मिलन द्वारका में हो रहा है। श्रीकृष्ण यहाँ राजाधिपति परमैश्वर्यमय हैं, एवं श्रीराधा-सत्यभामा रूप में उनकी राजपट महिषी हैं, इस अवस्था में वे लोकधम, वेदधर्म, स्वजन-आर्यपथादि के सर्वविध बन्धन में हैं। गोपबालाओं की भांति परमस्वच्छन्द-

भाव युक्त श्रीकृष्ण-सेवा वासना का स्वच्छन्द विकाश यहाँ हो ही नहीं सकता। इसलिये श्रीराधा जी का मन उस स्वच्छन्दतामयी लीला भूमि श्रीवृन्दाबन की ओर धावमान होता है, जहां वे एक गोपी हैं, सर्वविध बन्धनों से रहित हैं, जहाँ उद्दाम कृष्णसेवा-वासना स्वच्छन्दता से स्वच्छन्द लीलाओं को प्रकाश कर परमा-तृप्ति की अमृतमयी धारा सर्वत्र प्रवाहित कर सकती है।

एइमत महाप्रभु देखि जगन्नाथे। सुभद्रासहित देखे वंशी नाहि हाथे ॥७६॥
"त्रिभङ्ग-सुन्दर ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन। काहां पाव"—एइ वाञ्छा बाढ़े अनुक्षण ॥७७॥
राधिकार उन्माद यैछे उद्धव-दर्शने। उद्‌घूर्णा प्रलाप तैछे प्रभुर रात्रि-दिने ॥७८॥
द्वादश-वत्सर शेष ऐछे गोडाइल। एइमत शेषलीला त्रिविधाने कैल ॥७९॥

इसी प्रकार श्रीमहाप्रभु जब श्रीजगन्नाथ जी को देखते, और उनके साथ सुभद्रा जी को भी विराजमान देखते; और बंसी उनके हाथ में नहीं है-यह देखकर (वह जानते कि ये द्वारकावासी श्रीकृष्ण हैं,) वे कह उठते—"मैं कब श्रीवृन्दावन में त्रिभङ्ग ललित सुन्दर-वपु श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के दर्शन करूंगी ?" बस, यही वाञ्छा उनमें बढ़ती जाती थी ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ मथुरा से आये हुए श्रीउद्धव जी के दर्शन कर श्रीराधाजी श्रीकृष्ण विरह में जैसे उन्मत्त हो उठी थीं और नाना प्रकार की विलक्षण (वैवश्य) चेष्टाएं तथा प्रलाप (अकारण वाक्य-प्रयोग) करने लगी थीं, पिछले बारह वर्षों में (श्रीकृष्ण-विरह-स्फूर्ति में राधाभावाविष्ट होकर) श्रीमहाप्रभु जी उसी प्रकार रातदिन उन्मत्त—अवस्था में प्रलापादि करते रहते थे। इस तरह शेष लीला को तीन भागों में कहा गया है अर्थात् प्रथम-संन्यास के ग्रहण करने के पश्चात् छः वर्ष तक देशदेशान्तर भ्रमण, द्वितीय छः वर्ष तक नीलाचल में रहते हुए केवल प्रेम भक्ति शिक्षादान तथा तृतीय—नीलांचल में श्रीमहाप्रभु का श्रीकृष्ण-विरह में निरन्तर उन्मत्त रहना। ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

संन्यास करि चब्बिश वत्सर कैल ये-ये कर्म। अनन्त अपारतार के जानिवे मर्म ?॥८०॥
उद्देश करिते करि दिग्—दरशन। मुख्य-मुख्य-लीलार करि सूत्र गणन॥८१॥
प्रथम सूत्र—प्रभुर संन्यासकरण। तबे त चलिला प्रभु श्रीवृन्दाबन ॥८२॥
प्रेमेते विह्वल—बाह्य नाहिक स्मरण। राढ़देशे तिनिदिन करिला भ्रमण ॥८३॥

श्रीमहाप्रभु ने संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् चौबीस वर्षों में जो-जो लीलाएँ की हैं—वे अनन्त एवं अपार हैं, उन समस्त को कौन जान सकता है ? ॥८०॥ दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से यहाँ मुख्य-मुख्य लीलाओं को सूत्ररूप में वर्णन करते हैं। अर्थात् संन्यास के बाद छः वर्षों तक की लीला जिसका नाम मध्य-लीला है—अब उसका सूत्ररूप से उल्लेख करते हैं। उनकी प्रथम लीला यह है कि उन्होंने संन्यास ग्रहण किया। संन्यास के पश्चात् वे श्रीकृष्णप्रेम में ऐसे विह्वल हो उठे कि उन्हें बाहर की कुछ भी सुधि-बुद्धि न रही और वे भ्रमण करते हुए यही जानते थे मानों वे श्रीवृन्दावन की ओर जा रहे हैं। इसी आवेश में गङ्गा के किनारे केवल राढ़देश में ही प्रभु तीन दिन तक घूमते रहे ॥८२-८३॥

नित्यानन्द प्रभु महाप्रभु भुलाइया। गङ्गातीरे लञा आइला'यमुना' बलिया ॥८४॥
शान्तिपुरे आचार्येर गृहे आगमन। प्रथम भिक्षा कैला ताहां रात्रे सङ्कीर्त्तन ॥८५॥
माता भक्तगणे ताहां करिल मिलन। सर्वसमाधान करि कैल नीलाद्रि-गमन ॥८६॥
पथे नाना लीलारस देवदरशन। माधवपुरीर कथा,—गोपाल-स्थापन ॥८७॥

(श्रीनित्यानन्द भी प्रभु के साथ थे) श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीमहाप्रभु को "वे उन्हें श्रीवृन्दावन ले जा रहे हैं"—ऐसा बतला कर शान्तिपुर में ले आये और गङ्गा के किनारे आकर उन्हें बताया कि वह यमुना है ॥८४॥ फिर सावधान होने पर प्रभु शान्तिपुर में श्रीअद्वैताचार्य के घर पर आये। वहाँ उन्होंने उपवास के पश्चात् प्रथम भिक्षा की एवं रात्रि को सङ्कीर्तन-उत्सव किया ॥८५॥ शान्तिपुर में शचीमाता व अन्यान्य भक्तों के साथ प्रभु का मिलन हुआ। तत्पश्चात् माता की अनुमति लेकर तथा समस्त भक्तों से विदा लेकर श्रीमहाप्रभु शान्तिपुर से नीलाचल की ओर चले आये ॥८६॥ रास्ते में नानाप्रकार के लीला-रस का आस्वादन करते हुए श्रीमहाप्रभु ने देव-मन्दिरों के दर्शन किये। इस प्रकार फिर श्रीपादमाधव-पुरी की कथा वर्णन की गई है, तत्पश्चात् श्रीमाधवपुरी ने जैसे श्रीगोपालजी की श्रीवृन्दावन में स्थापना की, वह कथा वर्णित है ॥८७॥

क्षीरचुरिर कथा, साक्षिगोपाल–विवरण। नित्यानन्द कैल प्रभुर दण्डभञ्जन ॥८८॥
क्रुद्ध हैया एका गेला जगन्नाथ देखिते। देखिया मूर्च्छित हञा आइला भूमिते ॥८९॥
सार्व्वभौम लञा आइला आपन भवन। तृतीयप्रहरे हैल प्रभुर चेतन ॥९०॥
नित्यानन्द जगदानन्द दामोदर मुकुन्द। पाछे आसि मिलि सभे पाइल आनन्द ॥९१॥

फिर क्षीरचोर श्रीगोपीनाथ की कथा है तथा फिर साक्षिगोपाल का विवरण है। तत्पश्चात् श्रीनित्यानन्द प्रभु ने जैसे श्रीमहाप्रभु का दण्ड भंग किया—वह कथा वर्णित है। फिर श्रीमहाप्रभु क्रोधित होकर अकेले ही श्रीजगन्नाथजी के दर्शनों को चले गये, वहाँ दर्शन करते ही मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर गये ॥८९॥ श्रीसार्व्वभौम श्रीमहाप्रभु को अपने घर में ले आये। श्रीमहाप्रभु को तीसरे प्रहर में चेतना हुई ॥९०॥ श्रीनित्यानन्द, श्रीजगदानन्द, श्रीस्वरूपदामोदर, श्रीमुकुन्द आदि भक्त सब पीछे आकर श्रीमहाप्रभु से मिले एवं आनन्दित हुए, यह सब कथा कही गई है ॥९१॥

तबे त सार्व्वभौमे प्रभु प्रसाद करिल। आपन ईश्वरमूर्त्ति तांरे देखाइल ॥९२॥
तबे त करिल प्रभु दक्षिणगमन। कूर्मक्षेत्रे कैल वासुदेव विमोचन ॥९३॥
जीयड़नृसिंहे कैल नृसिंह–स्तवन। पथे–पथे ग्रामे–ग्रामे नामप्रवर्त्तन ॥९४॥
गोदावरीतीरे बने वृन्दावन भ्रम। रामानन्दराय सने ताहाञि मिलन ॥९५॥

फिर श्रीमहाप्रभु ने श्रीसार्व्वभौम पर कृपा की एवं उन्हें अपना ऐश्वर्यमय रूप दिखाया ॥९२॥ तत्पश्चात् श्रीमहाप्रभु दक्षिण देशों में भ्रमण करने चले गये। कूर्मक्षेत्र में प्रभु ने वासुदेव-विप्र का उद्धार किया ॥९३॥ सीमाचल पर श्रीजीयड़नृसिंहदेव के दर्शन कर प्रभु ने श्रीनृसिंहजी की स्तुति की, इस प्रकार रास्ते में ग्राम-ग्राम में श्रीमहाप्रभु ने नाम का प्रचार किया ॥९४॥ फिर गोदावरी नदी के तीर पर एक बन को देखकर प्रभु को श्रीवृन्दावन का भ्रम हुआ। वहाँ ही श्रीमहाप्रभु का श्रीरायरामानन्दजी से मिलन हुआ ॥९५॥ यह सब प्रसङ्ग वर्णन किया गया है।

त्रिमल–त्रिपदी–स्थान कैल दरशन। सर्व्वत्र करिल कृष्णनाम–प्रचारण ॥९६॥
तबे त पाषण्डिगणे करिल दलन। अहोबल–नृसिंहादि कैल दरशन ॥९७॥
श्रीरङ्गक्षेत्र आइला कावेरीर तीर। श्रीरङ्ग देखिया प्रेमे हइला अस्थिर ॥९८॥
त्रिमल्लभट्टेर घरे कैल प्रभु वास। ताहाञि रहिला प्रभु वर्षा–चारिमास ॥९९॥

फिर श्रीमहाप्रभु ने त्रिमल तथा त्रिपदी स्थान विशेष के जाकर दर्शन किये और सर्वत्र उन्होंने श्रीकृष्णनाम का प्रचार किया ॥९६॥ तत्पश्चात् श्रीमहाप्रभु ने पाखण्डियों को परास्त किया। फिर उन्होंने अहोबल नामक श्रीनृसिंहजी के दर्शन किये ॥९७॥ तत्पश्चात् श्रीमहाप्रभु कावेरी नदी के किनारे श्रीरङ्गक्षेत्र में गये और वहाँ श्रीरङ्गजी के दर्शन कर प्रेम से विह्वल हो उठे ॥९८॥ श्रीरङ्गक्षेत्र में श्रीमहाप्रभु ने त्रिमल्लभट्ट के घर वास किया और वहाँ वर्षा के चार मास पर्यन्त निवास किया—इन सब लीलाओं का वर्णन है ॥९९॥

श्रीवैष्णव त्रिमल्लभट्ट परमपण्डित। गोसाञिर पाण्डित्यप्रेमे हइला विस्मित ॥१००॥
चातुर्म्मास्य ताहां प्रभु श्रीवैष्णव सने। गोङाइला नृत्य-गीत—कृष्णसङ्कीर्त्तने ॥१०१॥
चातुर्म्मास्य अन्ते पुन दक्षिण गमन। परमानन्दपुरी—सने ताहाञि मिलन ॥१०२॥
तवे भट्टमारी हैते कृष्णदासेर उद्धार। रामजपि—विप्रमुखे कृष्णनाम प्रचार ॥१०३॥

श्रीत्रिमल्लभट्ट श्री-सम्प्रदायी (रामानुजी) वैष्णव एवं परमपण्डित थे। वे श्रीमहाप्रभु के पाण्डित्य एवं प्रेम को देखकर चकित हो गये ॥१००॥ चातुर्मास्य को श्रीमहाप्रभु ने श्रीत्रिमल्लभट्ट के साथ नृत्य-गान सहित श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन में बिताया ॥१०१॥ चातुर्मास्य के पश्चात् श्रीमहाप्रभु फिर दक्षिण की ओर चले, वहाँ श्रीपरमानन्दपुरी के साथ श्रीमहाप्रभु का मिलन हुआ ॥१०२॥ फिर प्रभु ने वाममार्गी कृष्णदास का उद्धार किया और राम-नाम जप करने वाले एक ब्राह्मण के मुख से श्रीकृष्ण-नाम को प्रकाशित कराया ॥१०३॥

श्रीरङ्गपुरीर सह हइल मिलन। रामदास-विप्रेर कैल दुख—विमोचन ॥१०४॥
तत्त्वादि-सह कैल तत्त्वेर विचार। आपनाके हीनबुद्धि हैल ता-सभार ॥१०५॥
अनन्त पुरुषोत्तम श्रीजनार्दन। पद्मनाभ वासुदेव कैल दरशन ॥१०६॥
तबे प्रभु कैल सप्ततालविमोचन। सेतुबन्धस्नान रामेश्वर—दरशन ॥१०७॥

फिर श्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य श्रीरङ्गपुरी के साथ श्रीमहाप्रभु का मिलन हुआ। तत्पश्चात् प्रभु ने रामदास विप्र के दुख को दूर किया ॥१०४॥ फिर प्रभु की तत्त्वादियों से तत्व की आलोचना हुई एवं उन समस्त ने अपने को अल्पज्ञ (परास्त) स्वीकार किया ॥१०५॥ उसके बाद श्रीमहाप्रभु ने अनन्त पुरुषोत्तम, श्रीजनार्दन तथा श्रीपद्मनाभ-वासुदेव के दर्शन किये ॥१०६॥ फिर प्रभु ने सात ताल के वृक्षों को आलिङ्गन कर उन सबका उद्धार किया। तत्पश्चात् सेतुबन्ध पर स्नान कर प्रभु ने रामेश्वर के दर्शन किये—ये सब प्रसङ्ग वर्णन किया गया है ॥१०७॥

ताहाञि करिल कूर्म्म-पुराण-श्रवण। 'मायासीता निल रावण'—ताहाते लिखन ॥१०८॥
शुनिया प्रभुर हैल आनन्दित मन। रामदास—विप्रेर कथा हइल स्मरण ॥१०९॥
सेइ पुरातन पत्र आग्रह करि निल। रामदासे देखाइया दुख खण्डाइल ॥११०॥
ब्रह्मसंहिता कर्णामृत-दुइ पुंथि पाञा। दुइ पुस्तक लञा आइला 'उत्तम'जानिञा ॥१११॥

वहाँ प्रभु ने कूर्म्मपुराण को सुना एवं उसमें—'रावण मायावी सीता को हरण कर गया था'—यह लेख भी देखा ॥१०८॥ इस बात को सुनकर श्रीमहाप्रभु बहुत आनन्दित हुए एवं उन्हें श्रीरामदास की कथा याद हो आई ॥०१९॥ उसी कूर्म्मपुराण का प्राचीन पृष्ठ, जिस पर माया सीता का हरण

उल्लिखित था आग्रह पूर्वक श्रीमहाप्रभु ले आये और श्रीरामदास को दिखाकर उनका दुख दूर किया (श्रीरामदासजी सीताहरण से अति दुखित हो रहे थे। प्रभु ने उन्हें प्रमाणपूर्वक बतलाया कि वास्तव में श्रीसीताजी का हरण नहीं हुआ। लीला के लिए माया को सीताजी ही रावण हरण कर ले गया था) ॥११०॥ श्रीमहाप्रभु ने वहाँ ब्रह्म-संहिता तथा कृष्णकर्णामृत—ये दो पुस्तकें भी देखीं एवं उन्हें श्रेष्ठ ग्रन्थ जानकर अपने साथ ले आये (तभी से इन ग्रन्थों का प्रचार हुआ)॥१११॥

पुनिरपि नीलाचले गमन करिल। भक्तगण मिलि स्नानयात्रा देखिल ॥११२॥
अनवसरे जगन्नाथेर ना पाञा दर्शन। विरहे आलालनाथ करिल गमन ॥११३॥
भक्तसङ्गे दिनकथो ताहाञि रहिला। 'गौड़ेर भक्त आइसे'--समाचार पाइला ॥११४॥
नित्यानन्द सार्व्वभौम आग्रह करिया। नीलाचले आइला महाप्रभु के लइया ॥११५॥

तत्पश्चात् श्रीमहाप्रभु फिर नीलाचल में आये और वहाँ भक्तों के सहित श्रीजगन्नाथ की स्नान यात्रा के दर्शन किये ॥११२॥ (स्नानयात्रा के बाद १५ दिन तक श्रीजगन्नाथजी के दर्शन बन्द रहते हैं) इस समय श्रीजगन्नाथजी के दर्शन न मिलने के कारण प्रभु विरह से व्याकुल हो उठे और आलालनाथ में चले गये। (आलालनाथ पुरी से ६ कोस पर अवस्थित है) ॥११३॥ आलालनाथ में श्रीमहाप्रभु कुछ दिन रहे। वहाँ उन्होंने यह समाचार सुना कि नवद्वीप से सब भक्त रथयात्रा के दर्शनों के लिए नीलाचल आगये हैं। श्रीनित्यानन्द तथा श्रीसार्व्वभौम ने आग्रह किया और वे श्रीमहाप्रभु को नीलाचल ले आये ॥ ॥११४–११५॥

विरहे विह्वल प्रभु—ना जाने रात्रि-दिने। हेनकाले आइला गौड़ेर भक्तगणे ॥११६॥
सभे मिलि युक्ति करि कीर्त्तन आरम्भिल। कीर्त्तन-आवेशे प्रभुर मन स्थिर हैल ॥११७॥
पूर्व्वे यबे प्रभु रामानन्देरे मिलिला। नीलाचले आसिबारे तांरे आज्ञा दिला ॥११८॥
राज-आज्ञा लञा तेंहों आइला कथोदिने। रात्रि-दिने कृष्णकथा रामानन्द-सने ॥११९॥

श्रीमहाप्रभु रात-दिन श्रीकृष्ण विरह-स्फूर्ति में व्याकुल रहते थे एवं उन्हें बाहर का कुछ ज्ञान न रहता था। ऐसे समय में गौड़देश के भक्तगण वहाँ पहुँचे। श्रीप्रभु के मन को स्थिर करने के लिए उन्होंने सङ्कीर्त्तन का आरम्भ किया और सङ्कीर्त्तन के आवेश में श्रीप्रभु का मन भी स्थिर होगया ॥११६–११७॥ पहले दक्षिण यात्रा में प्रभु जब श्रीरायरामानन्द से मिले थे, तो उन्हें नीलाचल में आकर मिलने का आदेश दे आये थे ॥११८॥ श्रीरायरामानन्द (क्योंकि राजा प्रतापरुद्र के एक उच्च-कर्मचारी थे) राजा से आज्ञा लेकर कुछ दिन पीछे नीलाचल में आगये थे। श्रीप्रभु तब श्रीरायरामानन्द के सहित रात-दिन श्रीकृष्ण कथा कहा-सुना करते थे—इन सब लीलाओं का वर्णन है ॥११९॥

काशीमिश्रे कृपा, प्रद्युम्नमिश्रादि मिलन। परमानन्दपुरी–गोविन्द-काशीश्वरागमन ॥१२०॥
दामोदरस्वरूप–मिलन परम आनन्द। शिखिमाहिती–मिलन रायभवानन्द ॥१२१॥
गौड़देश हैते सब वैष्णवेर आगमन। कुलीन-ग्रामबासि सङ्गे प्रथम मिलन ॥१२२॥
नरहरिदास आदि यत खण्डवासि। शिवानन्दसेन सङ्गे मिलिला सभे आसि ॥१२३॥

(श्रीरायरामानन्द के मिलने के पश्चात् प्रभु ने जो-जो लीलाएँ कीं अब उनका सूत्र कथन करते हैं) श्रीमहाप्रभु ने काशी मिश्र पर कृपा की। फिर प्रभु के साथ प्रद्युम्न मिश्र आदि का मिलन हुआ। इसके बाद श्रीपरमानन्दपुरी, श्रीगोविन्द तथा श्रीकाशीश्वर महाप्रभु से आकर मिले ॥१२०॥ फिर श्रीस्वरूप-

दामोदर से मिलकर प्रभु को परम आनन्द हुआ। उसके पश्चात् शिखिमाहिती तथा रायभवानन्द का मिलाप हुआ ।।१२१।। फिर गौड़देश से सब वैष्णवों का नीलाचल आगमन हुआ एवं कुलीन—ग्रामवासी भक्तों का महाप्रभु से पहले-पहले मिलन हुआ। श्रीनरहरिदास आदि जितने श्रीखण्डवासी भक्त थे, वे सब शिवानन्दसेन के साथ आकर प्रभु को मिले—यह सब प्रसङ्ग कहा गया है ।।१२३।।

स्नानयात्रा देखि प्रभु सङ्गे भक्तगण। सभा लञा कैल प्रभु गुण्डिचा-मार्जन ।।१२४।।
सभासङ्गे तबे रथयात्रा–दरशन। रथ-आगे नृत्य करि उद्यान–गमन ।।१२५।।
प्रतापरुद्रेरे कृपा कैल सेइस्थाने। गौड़ियाभक्ते आज्ञा दिल विदायेर दिने–।।१२६।।
प्रत्यब्द आसिबे रथ–यात्रा-दरशने। एइ-छले चाहे भक्तगणेर मिलने ।।१२७।।

तत्पश्चात् श्रीमहाप्रभु के साथ सब भक्तों ने श्रीजगन्नाथजी की स्नानयात्रा के दर्शन किये एवं सब को साथ लेकर प्रभु ने गुण्डिचा-मन्दिर का मार्जन किया। प्रभु ने सबके साथ रथयात्रा के दर्शन किये फिर रथ के आगे नृत्य करते हुए प्रभु जिस प्रकार गमन करते थे–उस कथा का वर्णन है ।।१२४-१२५।। उसी स्थान पर श्रीमहाप्रभु ने राजा प्रतापरुद्र पर कृपा की एवं उसी दिन ही प्रभु ने गौड़ भक्तों को, "प्रतिवर्ष रथ-यात्रा के दर्शन करने के लिए आप सब आया कीजिये", ऐसी आज्ञा देते हुए विदा किया। इस बहाने से प्रभु गौड़ भक्तों को मिलना चाहते थे ।।१२६–१२७।।

सार्वभौमघरे प्रभुर भिक्षा–परिपाटी। षाठीरमाता कहे याते–'राण्डी हउक षाठी'।।१२८।।
वर्षान्तरे अद्वैतादि–भक्त–आगमन। शिवानन्दसेन करे सभार पालन ।।१२९।।
शिवानन्देर सङ्गे आइला कुक्कुर भाग्यवान। प्रभुर चरण देखि कैल अन्तर्धान ।।१३०।।
पथे सार्व्वभौमसह सभार मिलन। सार्व्वभौमभट्टाचार्य्येर काशीते गमन ।।१३१।।

रथयात्रा के पश्चात् हर मास में पाँच दिन के लिए श्रीसार्व्वभौम भट्टाचार्य श्रीमहाप्रभु को भिक्षा कराया करते थे। एक दिन जब प्रभु भोजन कर रहे थे, षाठी की माता (श्रीसार्व्वभौम की गृहणी) ने अपनी कन्या—षाठी को कहा कि 'षाठी तुम तो विधवा हो जाओ, सो अच्छा है।'' यह कथा वर्णित है। ।।१२८।। फिर दूसरे वर्ष जब श्रीअद्वैतादि भक्तगण नीलाचल आये, तो रास्ते में श्रीशिवानन्दसेन ने उन सबके वासस्थान, आहारादि का प्रबन्ध किया ।।१२९।। एक वर्ष श्रीशिवानन्दसेन के साथ एक भाग्यवान कुत्ता भी नीलाचल आया एवं प्रभु के चरण दर्शन कर (कृष्ण-कृष्ण) कहता हुआ अन्तर्धान होगया ।।१३०।। एक बार श्रीसार्व्वभौम भट्टाचार्य जब काशी जारहे थे, तब रास्ते में उनके साथ सब गौड़भक्तों का मिलन हुआ ।।१३१।।

प्रभुरे मिलिला सर्व वैष्णव आसिया। जलक्रीड़ा कैल प्रभु सभारे लइया ।।१३२।।
सभा लञा कैल गुण्डिचागृह-सम्मार्ज्जन। रथयात्रा–दरशने प्रभुर नर्त्तन ।।१३३।।
उपवने कैल प्रभु विविध विलास। प्रभुर अभिषेक कैल विप्र कृष्णदास ।।१३४।।
गुण्डिचाते नृत्य अन्ते कैल जलकेलि। होरापञ्चमीते देखिल लक्ष्मीदेवीर केलि।।१३५।।

फिर सब वैष्णव महाप्रभु से आकर मिले एवं प्रभु ने सबके साथ जलक्रीड़ा की ।।१३२।। महाप्रभु ने सदा की भाँति सब को साथ लेकर गुण्डिचा-मन्दिर का मार्ज्जन किया। फिर रथयात्रा दर्शन के समय श्रीमहाप्रभु का नृत्य वर्णन किया गया है ।।१३३।। वहाँ उपवन में श्रीप्रभु ने अनेक लीलाएँ कीं। फिर विप्र कृष्णदास ने श्रीमहाप्रभु को अभिषेक कराया ।।१३४।। गुण्डिचा में नृत्य करने के बाद महाप्रभु

ने जल-केलि की। होरा पञ्चमी के दिन फिर सबने लक्ष्मीदेवी की लीला देखी, जो रथयात्रा के पश्चात् होरा पञ्चमी के दिन जगन्नाथपुरी में होती है ॥१३५॥

कृष्णजन्मयात्राते प्रभु गोपवेश हैला। दधिभार वहि तबे लगुड़ फिराइला ॥१३६॥
गौड़ेर भक्तगणे तबे करिल विदाय। सङ्गेर भक्त लञा करे कीर्त्तन सदाय ॥१३७॥
वृन्दावन याइते कैल गौड़ेरे गमन। प्रतापरुद्र कैल पथे विविध सेवन ॥१३८॥
पुरी गोसाञि सङ्गे वस्त्रप्रदानप्रसङ्ग। रामानन्दराय आइला भद्रकपर्य्यन्त ॥१३९॥

जन्माष्टमी के दिन श्रीमहाप्रभु ने गोपवेश धारण किया एवं दधि की मटुकी सिर पर धारण कर ली तथा लाठी घुमा कर क्रीड़ा दिखाई ॥१३६॥ फिर महाप्रभु ने गौड़भक्तों को विदा कर गौड़ देश भेजा। जो भक्त नीलाचल रहते थे, उन सबके साथ प्रभु सदा सङ्कीर्त्तन किया करते ॥१३७॥ श्रीमहाप्रभु ने गौड़देश होते हुए श्रीवृन्दावन जाने की इच्छा की, तो राजाप्रतापरुद्र ने रास्ते में प्रभु की सेवा का अनेक प्रकार का प्रबन्ध कर दिया ॥१३८॥ उसके बाद महाप्रभु ने जैसे श्रीजगन्नाथजी का प्रसादी वस्त्र श्रीपुरी गोसाई के हाथ शची माता को भेजा—वह कथा कही गई है। महाप्रभु जब गौड़ देश में गये तो श्रीराय-रामानन्दजी रेणुका तक उनके साथ आये ॥१३९॥

आसि विद्यावाचस्पतिगृहेते रहिला। प्रभुरे देखिते लोकसङ्घट्ट हइला ॥१४०॥
पञ्चदिन देखे लोक नाहिक विश्राम। लोक-भये रात्र्ये प्रभु आइला कुलियाग्राम ॥१४१॥
कुलियाग्रामेते प्रभुर शुनि आगमन। कोटि कोटि लोक आसि कैला दरशन ॥१४२॥
कुलियाग्रामे कैल देवानन्देरे प्रसाद। गोपालविप्रेर क्षमाइल श्रीवास-अपराध ॥१४३॥

गौड़देश में जब श्रीमहाप्रभु आये तो कुमारहट्ट ग्राम में श्रीविद्यावाचस्पति के घर में रहे। (श्री विद्यावाचस्पति श्रीसार्व्वभौम भट्टाचार्य के भाई थे) वहाँ प्रभु के दर्शन करने के लिये लोगों की बड़ी भीड़ जुड़ गई ॥१४०॥ पाँच दिन तक लोग जुड़े रहे, जरा भी विश्राम न मिला। भीड़ के भय से महाप्रभु रात्री को गङ्गा के पार कुलियाग्राम में चले गये ॥१४१॥ कुलियाग्राम में महाप्रभु का आगमन सुनकर कोटि-कोटि लोगों ने वहाँ आकर प्रभु के दर्शन किये ॥१४२॥ कुलियाग्राम में प्रभु ने श्रीदेवानन्द पर कृपा की एवं गोपाल विप्र का, जो श्रीवास के प्रति अपराध था, (आदि-लीला सत्रहवें परिच्छेद में जिसका वर्णन कर चुके हैं) उसे क्षमा कराया ॥१४३॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीदेवानन्द पण्डित श्रीमद्भागवत पढ़ाते थे, किन्तु उनका हृदय भक्तिपूर्ण न था। एक समय श्रीवास उनके पाठ के समय उनके घर चले गये। श्रीवास के शरीर में पाठ सुनते-सुनते प्रेम विकार अश्रु-कम्प-रोना आदि उदय हो उठे। श्रीदेवानन्द के शिष्यों ने प्रेमविकारों का कुछ मर्म न जाना और अवज्ञापूर्वक श्रीवास को वहाँ से हटा दिया और श्रीदेवानन्द ने भी अपने शिष्यों को ऐसा करने से रोका नहीं। अतः श्रीवास के निकट श्रीदेवानन्द का यह अपराध हुआ। वह अपराध श्रीमहाप्रभु ने श्रीवक्रेश्वर पण्डित के कहने से आकर क्षमा कर दिया और उस पर कृपा की। श्रीवक्रेश्वर के प्रति देवानन्द श्रद्धा रखते थे एवं श्रीवक्रेश्वर श्रीमहाप्रभु के प्रिय भक्त थे।

पाषण्डी निन्दुक आसि पड़िला चरणे। अपराध क्षमि तारे दिल कृष्णप्रेमे ॥१४४॥
वृन्दावने यावेन प्रभु शुनि नृसिंहानन्द। पथ साजाइल मने पाइया आनन्द ॥१४५॥
कुलियानगर हैते पथ रत्ने बान्धाइल। निर्वृन्त-पुष्पेर शय्या उपरे पातिल ॥१४६॥
पथे दुइ दिके पुष्प बकुलेर श्रेणी। मध्येमध्ये दुइपाशे दिव्य पुष्करिणी ॥१४७॥

पहले काल में जो श्रीमहाप्रभु की निन्दा किया करते थे, वे पाषण्डी निन्दक प्रभु को संन्यासी रूप में देखकर उनके चरणों में आकर प्रणाम करने लगे। प्रभु ने उनके अपराध क्षमा कर उन्हें कृष्णप्रेम प्रदान किया ॥१४४॥ "श्रीमहाप्रभु श्रीवृन्दावन जायेंगे"—यह बात श्रीनृसिंहानन्द ने जब सुनी तो उसने आनन्दित होकर मानसिक चिन्ता से उस रास्ते को सजाना आरम्भ किया ॥१४५॥ कुलियानगर से लेकर उस रास्ते को श्रीनृसिंहानन्द ने मणि-रत्नों से बँधवाया। (किन्तु उसे कठोर जान कर) फिर उस पर बिना काँटे के फूल शय्यावत् बिछवा दिये ॥१४६॥ मार्ग के दोनों ओर वकुलादि फूलों के वृक्ष लगाये। बीच-बीच में दोनों ओर सुन्दर एवं सुगंधित जलपूर्ण तलाइयाँ निर्माण कीं ॥१४७॥

रत्नबान्धा घाट ताहे—प्रफुल्ल कमल। नाना-पक्षी-कोलाहल—सुधासम जल ॥१४८॥
शीतल समीर बहे नाना गन्ध लञा। कानाइर-नाटशाला पर्य्यन्त लइल बान्धिया ॥१४९॥
आगे मन नाहि चले, ना पारे बान्धिते। पथ बान्धा ना याय, नृसिंह हइला विस्मिते॥१५०॥
निश्चय करिया कहि शुन सर्वजन—। एवार ना यावेन प्रभु श्रीवृन्दाबन ॥१५१॥
कानाइर-नाटशाला हैते आसिव फिरिया। जानिवे पश्चात्, कहिनु निश्चय करिया ॥१५२॥

उन तलाइयों के घाट रत्न-जटित थे एवं उनमें कमल खिल रहे थे। अनेक पक्षी कोलाहल कर रहे थे। उनका जल अमृतमय था ॥१४८॥ शीतल सुगन्धित पवन चलता था—इस प्रकार कुलियाग्राम से लेकर कानाई-नाटशाला तक रास्ते को श्रीनृसिंहानंद ने मानसिक चिन्ता द्वारा सजा दिया ॥१४९॥ किन्तु उससे आगे श्रीनृसिंहानंद की मानसिक चिन्ता स्थगित होगई। वे रास्ते को न सजा सके, चेष्टा करने पर भी वे असफल रहे। वे मन में अति विस्मित हुए ॥१५०॥ फिर उस बात का निश्चय कर सबसे कहने लगे कि "प्रभु इस बार वृन्दाबन नहीं जायेंगे। कानाई-नाटशाला से प्रभु वापिस लौट आवेंगे—यह बात आप लोगों को पीछे ज्ञात हो जाएगी, मैं आपको निश्चयपूर्वक यह कह रहा हूँ ॥१५२॥"

गोसाञि कुलिया हैते चलिला वृन्दावन। सङ्गे सहस्रेक लोक—यत भक्तगण ॥१५३॥
याहां-याहां याय, ताहां कोटिसांख्य लोक। देखिते आइसे, देखि खण्डे दुख-शोक ॥१५४॥
याहां ताहां प्रभुर चरण पड़ये चलिते। सेइ मृत्तिका लय लोक गर्त्त हय पथे ॥१५५॥
ऐछे चलि आइला प्रभु रामकेलिग्राम। गौड़ेर निकटे ग्राम अति अनुपाम ॥१५६॥

श्रीमहाप्रभु जब कुलिया से श्रीवृन्दावन की ओर चले तो उनके साथ सहस्र-सहस्र भक्तगण भी चलने लगे ॥१५३॥ जहाँ-जहाँ प्रभु जाते वहाँ कोटि-कोटि लोग साथ हो लेते। प्रभु के दर्शन कर उनके सब दुख-शोक दूर होजाते ॥१५४॥ मार्ग में चलते समय जहाँ-जहाँ श्रीमहाप्रभु के चरण पड़ते, उस स्थान की रज ले-लेकर सब लोग माथे पर चढ़ाते, यहाँ तक कि उस स्थान पर गड्ढा पड़ जाता ॥१५५॥ इसी प्रकार प्रभु चलते हुए रामकेलि ग्राम में पहुंचे, जो बंगाल की राजधानी के निकट है एवं अति अनुपम ग्राम है ॥१५६॥

ताहां नृत्य करे प्रभु प्रेमे अचेतन। कोटि-कोटि लोक आइल देखिते चरण ॥१५७॥
गौड़ेश्वर यवन-राजा प्रभाव शुनिया। कहिते लागिला किछु विस्मित हइया ॥१५८॥
बिना दाने एत लोक यार पाछे हय। सेइ त गोसाञि—इहा जानिह निश्चय ॥१५९॥
काजी यवन! इहार ना करिह हिंसन। आपन इच्छाय बुलुन—याहां उहार मन ॥१६०॥

रामकेलिग्राम में श्रीमहाप्रभु नृत्य करते २ प्रेम में अचेतन होगये। असंख्य लोग आकर प्रभु के चरण दर्शन करने लगे ।।१५७।। गौड़ देश का यवन-राजा (हुसैन शाह) प्रभु के प्रभाव को सुनकर अति विस्मित हुआ और कहने लगा—।।१५८।। "बिना वेतन के इतने लोग जिसका अनुसरण कर रहे हैं, यह निश्चय होता है कि वह (संन्यासी गौराङ्ग) गोस्वामी (इन्द्रियों का नियन्ता अर्थात् ईश्वर) है" ।।१५६।। राजा ने आदेश कर दिया कि काजी अथवा यवन लोग प्रभु के लिये कुछ विघ्न न करें और वे अपनी इच्छानुसार जहाँ उनका मन हो विचर सकें ।।१६०।। इन सब लीलाओं का वर्णन है।

केशवछत्रीरे राजा वार्त्ता पूछिल। प्रभुर महिमा छत्री उड़ाइया दिल ।।१६१।।
भिखारी संन्यासी करे तीर्थ-पर्य्यटन। तारे देखिवारे आइसे दुइ चारि जन ।।१६२।।
यवने तोमार ठाँइ करये लागानी। तांर हिंसाय लाभ नाहि, हय आरो हानि ।।१६३।।
राजारे प्रबोधि केशव ब्राह्मण पाठाइया। चलिवार तरे प्रभुरे पाठाइल कहिया ।।१६४।।

(राजा का एक विश्वस्त हिन्दु कर्मचारी था, उसका नाम श्रीकेशव छत्री था) राजा ने उस श्रीकेशव छत्री से प्रभुके सम्बन्ध में पूछा। उसने प्रभुकी महिमा को छिपाते हुए कहा—"वह एक भिखारी संन्यासी है एवं तीर्थयात्रा करता फिरता है। उसे देखने को कभी कोई दो चार मनुष्य जुड़ जाते हैं, (कोई भीड़भाड़ उसके पास नहीं रहती) ।।१६१-१६२।। यवन आपसे आकर उसके विरोध में लाग-वाज़ी करते हैं (वस्तुतः उसका कुछ प्रभाव नहीं है)। और न ही उसे दुख देने अथवा रोकने-टोकने में कुछ लाभ है, बल्कि और भी आपका अपयश होगा" ।।१६३।। इस प्रकार राजा को समझा-बुझाकर श्रीकेशव छत्री ने एक ब्राह्मण को भेजकर प्रभुको अन्य स्थान पर चले जाने के लिये कहला भेजा। (यवन लोगों के कहने पर हुसैन शाह प्रभु के लिये कोई आपत्ति न खड़ी करदे—इसी आशंका से श्रीकेशव छत्री ने ऐसा किया) ।।१६४।।

दवीरखासेरे राजा पूछिल निभृते। गोसाञिर महिमा तेंहो लागिल कहिते ।।१६५।।
ये तोमारे राज्य दिल तोमार गोसाञा। तोमार देशे तोमार भाग्ये जन्मिला आसिञा।।१६६।।
तोमार मंगल वाञ्छे-कार्य्यसिद्धि हय। इहार आशीर्वादे तोमार सर्वत्रेते जय ।।१६७।।
मोरे केन पुछ, तुमि पुछ आपन मन। तुमि नराधिप हओ-विष्णु अंशसम ।।१६८।।
तोमार चित्ते चैतन्येर कैछे हय ज्ञान ? तोमार चित्ते येइ लय, सेइत प्रमाण ।।१६६।।

राजा हुसैन शाह ने श्रीकेशव छत्री पर पूरा विश्वास न करके दवीरखास अर्थात् श्रीरूप गोस्वामी से (जिन्हें राजा ने दवीरखास की उपाधि दे रखी थी) एकान्त स्थान पर श्रीमहाप्रभु के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। श्रीरूपगोस्वामी महाप्रभु की महान् महिमा कहने लगे—"जिसने (ईश्वर ने) तुम्हें राज्य प्रदान किया है—यह वही गोसाईं हैं। तुम्हारे सौभाग्य हैं कि यह तुम्हारे देश में आये हैं" ।।१६५-१६६ ।। श्रीरूपगोस्वामी जी ने फिर कहा—"वे तुम्हारा मङ्गल वाञ्छा करते हैं, एवं उनके आशीर्वाद से तुम्हारे कार्यों की सिद्धि होगी तथा सर्वत्र जय होगी" ।।१६७।। "आप मुझसे क्या पूछते हो— श्रीरूप ने कहा, "आप अपने मन से पूछिये, आप राजा हो और विष्णु के अंश समान हो" ।।१६८।। आपके चित्त में श्रीचैतन्य के विषय में क्या ज्ञान होता है ? और जो ज्ञान आपके चित्त में हो, बस वही प्रमाण है, सत्य है ।।१६६।।"

राजा कहे—शुन मोर मने येइ लय। साक्षात् ईश्वर इंहो, नाहिक संशय ।।१७०।।
एत कहि राजा गेला निज अभ्यन्तरे। तबे दवीर खास आइला आपनार घरे ।।१७१।।

घरे आसि दुइ भाइ युकति करिया। प्रभु देखिवारे चले वेश लुकाइया ॥१७२॥
अर्द्ध रात्र्ये दुइ भाइ आइला प्रभुस्थाने। प्रथमे मिलिला नित्यानन्द हरिदास सने ॥१७३॥

राजा हुसैन शाह ने कहा—"दवीर! सुन मेरा मन जो मानता है, वह यह है कि यह संन्यासी साक्षात् ईश्वर है, इसमें ज़रा भी संशय नहीं है"। इतना कहकर राजा अपने अन्तःपुर में चला गया और श्रीरूप अपने घर चले आये ॥ १७०–१७१॥ घर में आकर श्रीरूप एवं श्रीसनातन—दोनों भाईयों ने युक्ति की और वेष छिपाकर प्रभु के दर्शन करने चले ॥१७२॥ आधीरात को दोनों भाई प्रभु के स्थान पर पहुँचे। पहले उनका मिलन श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीहरिदास से हुआ। (भगवत् कृपा से पूर्व भक्तकृपा की आवश्यकता है न?) ॥१७३॥

तांरा दुइ जन जानाइल प्रभुर गोचरे। रूप-साकरमल्लिक आइला तोमा देखिवारे ॥१७४॥
दुइ गुच्छ तृण दोंहे दशने धरिया। गले वस्त्र बांधि पड़े दण्डवत् हञा ॥१७५॥
दैन्य रोदन करे आनन्दे विह्वल। प्रभु कहे उठ उठ हइल मङ्गल ॥१७६॥
उठि दुइभाइ तवे दन्ते तृण धरि। दैन्य करि स्तुति करे योड़ हात करि—॥१७७॥
जय जय श्रीकृष्णचैतन्य दयामय। पतितपावन जय जय महाशय ॥१७८॥
नीचजाति नीचसङ्गी करि नीच काज। तोमार अग्रेते प्रभु! कहिते वासि लाज ॥१७९॥

श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीहरिदास—इन दोनों ने महाप्रभु को जाकर बताया कि श्रीरूप एवं साकर मल्लिक (श्रीसनातन) उनके दर्शनों के लिये आये हैं ॥१७४॥ श्रीरूप एवं श्रीसनातन—इन दोनों ने दाँतों में तृण दबाते हुए (पशु की सी दीनता दिखाते हुए) तथा गले में कपड़ा डालकर प्रभुको पृथ्वी पर दण्डवत् प्रणाम की ॥ १७५ ॥ दोनों दीनता पूर्वक रोते हुए आनन्द में विह्वल होगये। श्रीमहाप्रभु ने उन दोनों से कहा—"उठिये, उठिये, आपका कल्याण हुआ" ॥ १७६ ॥ दोनों भाई उठे और दाँतों में तृण दबाकर, दोनों हाथ जोड़ कर अति दीनता पूर्वक श्रीमहाप्रभु की स्तुति करने लगे ॥१७७॥ "हे श्रीकृष्ण चैतन्य! हे दयामय! आपकी जय हो, जय हो। हे पतित पावन महाशय! आपकी जय हो, जय हो ॥१७८॥ हम नीच जाति हैं (वास्तविक वे ब्राह्मण जाति थे) नीच पुरुषों के सङ्ग रहते हैं एवं यवन की नौकरी ही करते हैं। हे प्रभो! आपके आगे अपनी दशा कहने में भी हमें लाज आती है" ॥१७९॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्व्वविभागे साधनभक्तिलहर्य्याम् (२।६५)—

मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा नापराधी च कश्चन।
परिहारेऽपि लज्जा मे किं ब्रुवे पुरुषोत्तम ॥१०॥

मेरे समान पापी एवं मेरे समान अपराधी और कोई नहीं है। हे पुरुषोत्तम! मैं और क्या कहूँ? "मेरे दोष क्षमा कीजिये"–आपके चरणों में इस प्रकार की प्रार्थना करने में भी मुझे लज्जा आती है॥१०॥

पतितपावन-हेतु तोमार अवतार। आमि बहि जगते पतित नाहि आर ॥१८०॥
जगाइ-माधाइ दुई करिले उद्धार। ताहा उद्धारिते श्रम नहिल तोमार ॥१८१॥
ब्राह्मणजाति तारा—नवद्वीपे घर। नीचसेवा ना करे नहे नीचेरे कूर्पर ॥१८२॥
सबे एक दोष तार हय-पापाचार। पापराशि दहे नामाभासेते तोमार ॥१८३॥

श्रीपादरूप-सनातन ने कहा—प्रभो ! पापियों को पवित्र करने के लिये ही आपका अवतार हुआ है। हमारे समान पापी जगत् में और कोई नहीं है ॥१८०॥ जगाई-माधाई उन दोनों का आपने उद्धार किया, किन्तु उनके उद्धार करने में आपको कुछ यत्न नहीं करना पड़ा था ॥ १८१ ॥ क्योंकि जगाई-माधाई का जन्म ब्राह्मण कुल में था एवं उनका निवास नवद्वीप (पुण्यभूमि) में था (जहाँ आपका अवतार हुआ है)। नीच सेवा वे नहीं करते और न ही वे नीच के नौकर थे ॥१८२॥ उनमें केवल एक दोष अवश्य था, वह था पाप का आचरण, किन्तु पापों की राशि तो आपके नामाभास से नष्ट हो जाती है ॥१८३॥

तोमार नाम लञा करे तोमार निन्दन। सेइ नाम हैल तार मुक्तिर कारण ॥१८४॥
जगाइ–माधाइ हैते कोटि-कोटि गुणे। अधम पतित पापी आमि दुइ जने ॥१८५॥
म्लेच्छ जाति म्लेच्छ सेवी करि म्लेच्छ कर्म्म। गोब्राह्मण द्रोहि सङ्गे आमार सङ्गम ॥१८६॥
मोर कर्म मोर हाथे गलाय बान्धिया। कुविषय–विष्ठागर्त्ते दियाछे फेलाइया ॥१८७॥
आमा उद्धारिते बली नाहि त्रिभुवने। पतितपावन तुमि–सबे तोमा–बिने ॥ १८८ ॥
आमा उद्धारिया यदि देखाओ निज बल। पतितपावन–नाम तबे से सफल ॥१८९ ॥
सत्य एक बात कहों—शुन दयामय। मो बिनु दयार पात्र जगते ना हय ॥ १९० ॥
मोरे दया करि कर स्वदया सफल। अखिल ब्रह्माण्ड देखुक तोमार दयाबल ॥ १९१ ॥

हे करुणामय ! आपका नाम ले लेकर जो आपकी निन्दा भी करता है, वही नाम ही उसको मुक्त कर देता है। १८४ ॥ जगाई-माधाई से कोटि-कोटि गुणाधिक अधम, एवं पापी हम दोनों को जानिये ॥१८५ ॥ प्रभो ! हम म्लेछ जाति हैं, नीच सेवा एवं नीच कर्म करने वाले हैं, गो-ब्राह्मणों के साथ द्वेष करने वालों के साथ हमारी रहन-सहन है ॥ १८६ ॥ हमारे कर्मों ने हमारे हाथ एवं गले को बान्धकर बुड़े विषय रूपी विष्ठागर्त्त में डाल रखा है ॥ १८७ ॥ हे गौराङ्ग ! आप पतितपावन हो, अतः आपके बिना हमें उद्धारने वाला और कोई त्रिभवन में नहीं दीखता ॥ १८८ ॥ हमारा उद्धार कर यदि आप अपने बल का परिचय दें-तो तब ही आपका पतितपावन-नाम सफल हो ॥ १८९ ॥ हे दयामय ! सुनिये, एक सत्य बात कहते हैं, जगत् में हमारे समान दया का पात्र और कोई नहीं है ॥ १९० ॥ हम पर दयाकर अपनी दया को सफल करिये–इससे आपके दया के बल को अखिल ब्रह्माण्ड देखेगा ॥ १९१ ॥ जैसा कि कहा गया है–

तथाहि यामुनमुनिविरचिते स्तोत्ररत्ने (५०)—

न मृषा परमार्थमेव मे शृणु विज्ञापनमेकग्रतः।
यदि मे न दयिष्यसे तदा दयिनीयस्तव नाथ दुर्ल्लभः ॥ ११ ॥

हे नाथ ! आपके सामने मेरी एक प्रार्थना है, उसे सुनिये, वह मिथ्या नहीं है, सत्य ही है। वह यह है कि यदि आप मुझ पर दया नहीं करते, तो फिर आपको दया का पात्र भी मिलना दुर्ल्लभ है ॥११॥

आपना अयोग्य देखि मने पाङक्षोभ। तथापि तोमार गुणे उपजय लोभ ॥ १९२ ॥
बामन यैछे चाँद धरिते चाहे करे। तैछे एइ वाञ्छा मोर उठये अन्तरे ॥ १९३ ॥

हे प्रभो ! अपनी अयोग्यता को देखकर मन में बहुत क्षोभ होता है, तथापि आपके गुणों को देखकर हमें लोभ उत्पन्न होता है ॥ १९२ ॥ वामन (बौना) मनुष्य जैसे आकाश के चन्दा को पकड़ना चाहे, वैसे ही इस प्रकार की वाञ्छा अर्थात् आपकी सेवा वासना हमारे हृदय में उठ रही है ॥ १९३ ॥

तथाहि यामुनमुनिविरचिते स्तोत्ररत्ने (४६)—

भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरं प्रशान्तनिःशेषमनोरथान्तरः ।
कदाहमैकान्तिक-नित्यकिङ्करः प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितम् ॥ १२ ॥

हे नाथ ! अन्य समस्त वासनाओं को छोड़कर आपका एकान्तिक नित्य-किङ्कर होकर आपकी सेवा करते करते कब मैं अपने सनाथ जीवन को आनन्दित करूंगा ?" अर्थात् नाथ युक्त जीवन को (दासभावमय जीवन को) प्राप्त कर आनन्दित हूँगा ? ॥ १२ ॥

शुनि प्रभु कहे–शुन रूप–दबीर खास । तुमि–दुइ भाइ मोर पुरातन दास ॥ १६४ ॥
आजि हैते दोहार नाम–रूप सनातन । दैन्य छाड़, तोमार दैन्ये फाटे मोर मन ॥१६५॥
दैन्यपत्री लिखि मोरे पाठाइले बारबार । सेइपत्री–द्वारा जानि तोमार व्यवहार ॥ १६६॥
तोमार हृदय–इच्छा जानि पत्री–द्वारे । तोमा शिक्षाइते श्लोक पाठाइल तोमारे ॥ १६७॥

गोस्वामीपाद की प्रार्थना सुन कर श्रीमहाप्रभु बोले–"सुनो, रूप-सनातन ! तुम दोनों भाई मेरे पुराने (सदा सदा के) दास हो ॥ १६४ ॥ आजसे तुम्हारा नाम रूप-सनातन है। तुम अब इतनी दीनता मत करो। तुम्हारी दीनता को देखकर मेरा हृदय फटता है ॥ १६५ ॥ तुमने दीनता पूर्वक बारबार जो पत्र लिखकर भेजे थे, उन पत्रों के द्वारा तुम्हारा सब व्यवहार मैं जान गया था एवं तुम्हारे हृदय की इच्छा (श्रीकृष्ण-सेवा की इच्छा) को जानकर मैंने तुम्हें शिक्षा देने के लिये यह श्लोक लिखकर भेजा था ॥१६७॥

तथाहि शिक्षा श्लोकः—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु ।
तदेवास्वादयत्यन्त — र्नवसङ्गरसायनम् ॥ १३ ॥

पर-पुरुष में आसक्ति रखने वाली नारी अपने घर के अनेक कामों में लगी रहने पर भी पर-पुरुष के साथ आस्वादन किये हुए उस नव सङ्गम-सुख को मन मन में आस्वादन करती ही रहती है ॥ १३ ॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीरूपसनातनपाद राजा शाहहुसैन की नौकरी में पराधीन रहते हुए श्रीमन्महाप्रभु को अपने उद्धार करने की विनय अनेकबार पत्रों में किया करते थे। सो श्रीमहाप्रभु ने उन्हें उपर्युक्त श्लोक लिख भेजा–जिसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक कुलटा स्त्री अपने घर के कार्यों में व्यस्त रहती हुई मन मन में परपुरुष के सङ्गम सुख की चिन्ता करती रहती है, चाहे उसे उस सुख का आस्वादन नहीं मिलता। उसी प्रकार जिन लोगों को संसार के कामों में व्यस्त रहना पड़ता है, वे संसार के काम करते हुए भी मन मन में श्रीभगवान् की सेवा सुख का चिन्तन या आस्वादन कर सकते हैं। हाथों से काम करते हुए मुख से श्रीराधाकृष्ण के नाम-रूप-लीला आदि का स्मरण करते रहने से उन्हें लीला रस का आस्वादन हो सकता है।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यह उपदेश उन भाग्यशाली लोगों के लिये नहीं है जिनके हृदय में एकान्तिक भाव से भगवत्-सेवा के लिये बलवती वासना उदय हो चुकी है। वे तो फिर भगवत्-सेबा को छोड़कर संसार के कामों में किञ्चित् भी अपना मनोनिवेश नहीं कर सकते। उनकी मनोवृत्ति तो गङ्गाधारा की भाँति निरवच्छिन्न भाव से भगवत्-चरणों में निविष्ट हो जाती है। हां— जिनके चित्त में भगवत् सेवा के लिये कुछ वासना उत्पन्न हुई हो और तब तक संसार के प्रति ममता

भी जिनके हृदय में मौजूद है—उनके लिये यह उपदेश है। संसार के कामों से अवकाश पाने पर अथवा ऐसा सम्भव न होने पर संसार के काम करते हुए वे अपने मन को भगवत् चरणों में लगाये रखने की सदा चेष्टा करें—ऐसा करने से संसार की आसक्ति कम होती जाएगी एवं श्रीभगवान् के चारुचरणों में एकान्तिकी सेवा की योग्यता श्रीभगवान् की कृपा से प्राप्त हो जाएगी। श्रीरूप-सनातन गोस्वामीपाद तो श्रीमन्महाप्रभु के नित्य-परिकर हैं; उनमें संसार की आसक्ति स्वरूपतः ही नहीं है। किन्तु जगत् के लोगों को शिक्षा देने के निमित्त उनको पलक्ष्य करके श्रीमन्महाप्रभु ने भजन के क्रम की इस प्रकार की शिक्षा प्रदान की है।

गौड़ निकट आसिते मोर नाहि प्रयोजन। तोमा दोंहा देखिते मोर इहां आगमन ॥१९८॥
एइ मोर मनेर कथा केहो नाहि जाने। सभे बोले—केने आइला रामकेलिग्रामे ॥१९९॥
भाल हइल, दुइ भाइ आईला मोर स्थाने। घर याह, भय किछु ना करिह मने ॥२००॥
जन्मे जन्मे तुमि दुई किङ्कर आमार। अचिराते कृष्ण तोमार करिब उद्धार ॥२०१॥
एत बलि दोंहार शिरे धरे दुइहाथे। दुइ भाई प्रभुपद निल निज माथे ॥२०२॥
दोंहा आलिङ्गिया प्रभु बलिल भक्तगणे—। सभे कृपा करि उद्धारह दुइजने ॥२०३॥
दुइ जने प्रभुर कृपा देखि भक्तगणे। "हरि हरि" बोले सभे आनन्दित मने ॥२०४॥

श्रीमन्महाप्रभु ने फिर कहा—"हे रूप! हे सनातन! इस रामकेलि ग्राम में आने का मेरा और कुछ भी प्रयोजन न था, केवल तुम दोनों को मिलने के लिये ही मैं यहाँ आया हूँ ॥१९८॥ मेरे मन की इस बात को और कोई नहीं जानता है। और इसलिये सब यह पूछते हैं कि मैं रामकेलि ग्राम में क्यों आया? ॥१९९॥ यह अच्छा हुआ कि तुम दोनों मेरे स्थान पर ही चले आये हो। अब तुम अपने घर जाओ और मनमें कुछ भी भय-चिन्ता नहीं करो ॥२००॥ तुम दोनों जन्म-जन्म के मेरे दास ही हो। श्रीकृष्ण अब शीघ्र ही तुम्हारा उद्धार करेंगे अर्थात् इस पराधीनता से मुक्त कर तुम्हें अपने चरणों की सेवा में अङ्गीकार करेंगे" ॥२१०॥ इतना कहकर श्रीमहाप्रभु ने दोनों भाईयों के सिर पर अपना हस्तकमल रखा अर्थात् उनमें अपनी कृपाशक्ति का सञ्चार किया, और दोनों ने प्रभु के चरणकमलों को अपने मस्तक पर धारण कर लिया ॥२०२॥ श्रीमहाप्रभु ने दोनों को गलकण्ठ किया और साथ के सब भक्तों से प्रभु ने कहा कि "आप सब भी इन पर कृपाकर इन दोनों का उद्धार कीजिये" ॥२०३॥ इन दोनों पर श्रीमहाप्रभु की अपार कृपा जान कर भक्तगण आनन्दित होकर "हरि-हरि" ध्वनि करने लगे ॥२०४॥ इन सब कथाओं का आगे विस्तरशः वर्णन किया गया है।

नित्यानन्द हरिदास श्रीवास गदाधर। मुकुन्द जगदानन्द मुरारि वक्रेश्वर ॥२०५॥
सभार चरण धरि पड़े दुइ भाइ। सभे बोले—धन्य तुमि, पाइले गोसाञि ॥२०६॥
सभा-पाश आज्ञा लञा चलन-समय। प्रभु—पदे कहे किछु करिया विनय ॥२०७॥
इहाँ-हैते चल प्रभु! इहाँ नाहि काज। यद्यपि तोमारे भक्ति करे गौड़राज ॥२०८॥
तथापि यवन जाति, ना करि प्रतीति। तीर्थयात्राय एत सङ्घट्ट-भाल नहे रीति ॥२०९॥
यार सङ्गे चले एइ लोक लक्षकोटी। वृन्दावनयात्रार एइ नहे परिपाटी ॥२१०॥
यद्यपि वस्तुतः प्रभुर किछु नाहि भय। तथापि लौकिकलीला—लोकचेष्टामय ॥२११॥
एत बलि चरण वन्दि गेला दुइ जन। प्रभुर सेइ ग्राम हैते चलिते हैल मन ॥२१२॥

वहाँ श्रीनित्यानन्दप्रभु, श्रीहरिदास, श्रीवास, श्रीगदाधर, श्रीमुकुन्द, श्रीजगदानन्द, श्रीमुरारिगुप्त एवं श्रीवक्रेश्वर-आदि जितने भक्त विद्यमान थे, उन सबके चरणों में दोनों भाईयों ने नमस्कार की। सब कहने लगे—"तुम दोनों भाई श्रीमहाप्रभु की कृपा को प्राप्त कर आज धन्य-धन्य हो गये हो। सबसे आज्ञा लेकर चलते समय श्रीरूप-सनातनपाद ने श्रीप्रभु के चरणों में नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"प्रभो! अब आप यहां से कहीं अन्यत्र पधारो, यहाँ रामकेलि ग्राम में अब और आपके रहने का कुछ प्रयोजन नहीं है। यद्यपि गौड़राज (हुसैन शाह) आप में बड़ी श्रद्धा और भक्ति रखता है, तथापि यवन-जाति का विश्वास नहीं कीजिये, और श्रीवृन्दावन-यात्रा में अनेक लोगों की भीड़भाड़ का साथ होना भी सङ्गत नहीं है" उन्होंने फिर कहा—"श्रीवृन्दावन जाने (यात्रा) की यह परिपाटी भी नहीं है कि कोटि-कोटि लोग साथ हों ॥२१०॥ यद्यपि (आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं। आपके लिये वास्तव में कुछ भी भय नहीं है, तथापि लौकिक लीला करते हुए प्राकृत मनुष्यों की भाँति आपको लीला करनी होगी" ॥२११॥ इतना कहकर श्रीरूप-सनातनपाद प्रभु के चरणों में नमस्कार कर घर चले गये। श्रीमहाप्रभु ने भी अब उस ग्राम से चलने के लिये विचार किया ॥२१२॥

प्राते चलि आइला प्रभु कानाइर नाटशाला। देखिल सकल तांहा कृष्णचरित्रलीला ॥२१३॥
सेइ रात्र्ये प्रभु ताहां चिन्ते मने मन—। 'सङ्गे सङ्घट्ट भाल नहे'—कैल सनातन ॥२१४॥
मथुरा याइव आमि एत लोक सङ्गे। किछु सुख ना पाइव, हवे रसभङ्गे ॥२१५॥
एकाकी याइव—किवा सङ्गे एकजन। तवे से शोभये वृन्दाबनेरे गमन ॥२१६॥

दूसरे दिन प्रातः होते ही श्रीमहाप्रभु रामकेलि ग्राम से चलकर कानाई की नाटशाला (एक ग्राम) में चले आये एवं वहाँ आकर श्रीकृष्ण के लीला-स्थलों को देखा। (दिनाजपुर का नाम अब कानाई-नाटशाला है—वहाँ वाण राजा रहता था। वाण राजा की कन्या ऊषा को हरण करने जब यहाँ अनिरुद्ध आये। तब वाणराजा ने उन्हें यहाँ बन्दी में डाल दिया था। श्रीभागवत् १०।६२ में विस्तरशः कथा है। उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ आकर रहे थे। एवं उन स्थानों के कुछ चिह्न वहाँ थे—उनका दर्शन श्रीमहाप्रभु ने किया।) रात को प्रभु ने मन-मनमें विचार किया कि श्रीसनातन ने यह जो कहा है कि श्रीवृन्दावन यात्रा में भीड़-भीड़ का साथ रहना ठीक नहीं है—सो यथार्थ ही है ॥२१४॥ इतने लोगों के साथ जब मैं मथुरा जाऊँगा, तो कुछ सुखास्वादन नहीं कर सकूंगा, बल्कि रस भङ्ग हो जाएगा ॥२१५॥ इसलिये मैं श्रीवृन्दावन अकेला ही जाऊँगा अथवा एक व्यक्ति को ही साथ ले जाऊँगा—तब ही श्रीवृन्दाबन का जाना सुखमय होगा।"

एत चिन्ति प्रातःकाले गङ्गास्नान करि। 'नीलाचले याव' बलि चलिला गौर हरि ॥२१७॥
एइमत चलि चलि आइला शान्तिपुरे। दिन पाँच सात रहिला आचार्य्येर घरे ॥२१८॥
शचीदेवी आनि तांरे कैल नमस्कार। सात दिन तांर ठाञि भिक्षा—व्यवहार ॥२१९॥
तांर ठाञि आज्ञा लञा करिला गमने। विनय करिया विदाय दिल भक्तगणे ॥२२०॥
जन—दुइ सङ्गे आमि याव नीलाचले। आमारे मिलिवा आसि रथयात्राकाले ॥२२१॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु विचार कर प्रातःकाल गङ्गास्नान करके कहने लगे कि—"मैं तो नीलाचल को वापिस जाता हूँ" इतना कहकर प्रभु नीलाचल की ओर ही लौट चले ॥२१७॥ इस प्रकार चलते २ शान्तिपुर में आ पहुँचे। वहाँ श्रीअद्वैताचार्य के घर पांच-सात दिन रहे ॥२१८॥ शचीमाता

भी वहाँ आईं एवं प्रभु ने उन्हें नमस्कार किया। सात दिन तक प्रभु ने श्रीशचीमाता के पास भिक्षा की ॥२१६॥ फिर प्रभु ने शचीमाता से जाने के लिए आज्ञा माँगी और सब भक्तों को विदा करते हुए प्रभु ने इस प्रकार उनसे विनय की "(आप सब मेरे साथ अब न चलिए) अब मैं केवल दो व्यक्तियों को अपने साथ लेकर नीलाचल जाऊँगा। आप लोग रथयात्रा के अवसर पर आकर मुझे मिलियेगा।"२२१॥

बलभद्र–भट्टाचार्य्य पण्डित–दामोदर। दुइजन-सङ्गे प्रभु आइला नीलाचल ॥२२२॥
दिनकथो तांहा रहि चलिला वृन्दाबन। लुकाइया चलिला रात्र्ये, ना जाने कोनजन ॥२२३॥
बलभद्र-भट्टाचार्य्य रहे मात्र सङ्गे। झारिखण्ड–पथे काशी आइला महारङ्गे ॥२२४॥
दिन चारि काशीते रहि गेला वृन्दावन। मथुरा देखिया देखे द्वादश कानन ॥२२५॥

तत्पश्चात् श्रीमहाप्रभु, बलभद्र भट्टाचार्य्य तथा दामोदर पण्डित—इन दोनों को साथ लेकर नीलाचल चले आये ॥२२२॥ कुछ दिन वहाँ नीलाचल में रहकर फिर प्रभु श्रीवृन्दाबन के लिये चल दिये। प्रभु रात के समय छिप कर चले, जिससे कि कोई जान न पावे ॥२२३॥ केवल श्रीबलभद्र भट्टाचार्य्य को श्रीमहाप्रभु साथ लेकर रवाना हुए। (उनका एक ब्राह्मण-भृत्य भी साथ गया था) श्रीमहाप्रभु झारिखण्ड-बन के रास्ते से अनेक अद्भुत लीला करते हुए काशी में आ पहुँचे। काशी में चार दिन के लिए रहकर श्रीमहाप्रभु श्रीवृन्दावन आ पहुँचे। पहले प्रभु ने मथुरा पुरी देखी एवं फिर बारह बनों के दर्शन किये। वे बारह बन ये हैं—(१) मधुबन, (२) तालबन, (३) कुमुदबन, (४) काम्यबन, (५) बहुलाबन, (६) भद्रबन, (७) खदिरबन, (८) महाबन, (९) लोहजङ्घबन, (१०) बेलबन, (११) भाण्डीरबन, (१२) श्रीवृन्दाबन ॥२२५॥

लीलास्थल देखि प्रेमे हइला अस्थिर। बलभद्र कैल तांरे मथुरा–बाहिर ॥२२६॥
गङ्गातीर–पथे लैया प्रयागे आइला। श्रीरूप आसि प्रभुके ताहांइ मिलिला ॥२२७॥
दण्डवत करि रूप भूमिते पड़िला। परम–आनन्दे प्रभु आलिङ्गन दिला ॥२२८॥
श्रीरूपेर शिक्षा करि पाठाइला वृन्दाबन। आपने करिला वाराणसी आगमन ॥२२९॥

उन बनों में श्रीकृष्ण के लीलास्थल दर्शन कर श्रीमहाप्रभु विह्वल हो जाते। बलभद्रभट्टाचार्य्य प्रभु को मथुरा से बाहिर ले आये और गङ्गा के किनारे होते हुए प्रयाग में आ पहुँचे। वहाँ श्रीरूप-गोस्वामी श्रीमहाप्रभु को आकर मिले ॥२२७॥ श्रीरूप ने भूमि पर पड़कर श्रीमहाप्रभु को दण्डवत् प्रणाम की एवं श्रीप्रभु ने परम आनन्द से उन्हें गलकण्ठ किया ॥२२८॥ श्रीमहाप्रभु ने श्रीरूप को शिक्षा देकर श्रीवृन्दावन भेज दिया और आप काशी में चले आये ॥२२९॥ इन सब लीलाओं का वर्णन है।

काशी ते प्रभुके आसि मिलिला सनातन। दुइमास रहि तांरे कराइल शिक्षण ॥२३०॥
मथुरा पाठाइल तांरे दिया भक्तिबल। संन्यासीरे कृपा करि गेला नीलाचल ॥२३१॥
छयवत्सर ऐछे प्रभु करिला विलास। कभु इति–उति, कभु क्षेत्रे वास ॥२३२॥
आनन्दे भक्तसङ्गे सदा कीर्त्तनविलास। जगन्नाथ दरशने प्रेमेर विलास ॥२३३॥

फिर श्रीसनातन गोस्वामी काशी में आकर श्रीमहाप्रभु से मिले। प्रभु ने वहाँ दो मास रहकर श्रीसनातन को भक्ति शिक्षा दी ॥२३०॥ फिर प्रभु ने श्रीसनातन में भक्ति-शक्ति का सञ्चार कर उन्हें मथुरा भेज दिया। काशी में श्रीमहाप्रभु ने श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती पर कृपा कर उनका उद्धार किया

एवं फिर प्रभु नीलाचल चले आये ॥२३१॥ इस प्रकार छः वर्षों तक श्रीमहाप्रभु ने अनेक लीलाएँ कीं, कभी देश-विदेश घूमने चले जाते और कभी नीलाचल में ही रहते ॥२३२॥ वहाँ पुरी में आनन्दपूर्वक प्रभु भक्तों के साथ कीर्त्तन-विलास करते एवं श्रीजगन्नाथ के दर्शन कर प्रेमरस का आस्वादन करते ॥२३३॥ (कई एक ग्रन्थों में यह पयार नहीं है)।

मध्यलीलार करिल एइ सूत्रेर गणन। अन्त्यलीलार सूत्र एबे शुन भक्तगण ॥२३४॥
वृन्दावन हैते यदि नीलाचल आइला। आठार वर्ष ताहां वास काहां नाहि गेला ॥२३५॥
प्रतिवर्ष आइसे सब गौड़ेर भक्तगण। चारिमास रहे प्रभुर सङ्गे सम्मिलन ॥२३६॥
निरन्तर नृत्य—गीत—कीर्त्तन—विलास। आचण्डाले प्रेमभक्ति करिला प्रकाश ॥२३७॥

यहाँ तक श्रीमहाप्रभु की मध्यलीला का सूत्र रूप से वर्णन किया गया है। (इस खण्ड में इन समस्त लीलाओं का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है)। हे भक्तगण ! अब प्रभु की अन्त्यलीला का सूत्र (विषय सूची) सुनिये। (जिनका वर्णन अन्त्यलीला–तृतीयखण्ड में पाठक देख सकेंगे) ॥२३४॥ श्रीवृन्दावन की यात्रा के बाद श्रीमहाप्रभु जब नीलाचल आये, फिर शेष अठारह वर्षों तक प्रभु नीलाचल ही रहे, इधर-उधर कहीं भी फिर वे नहीं गये ॥२३५॥ प्रति वर्ष नवद्वीप से भक्तगण प्रभु के दर्शन करने नीलाचल आते एवं चार मास तक प्रभु के सङ्ग रहते ॥२३६॥ उस समय श्रीमहाप्रभु निरन्तर नृत्य-गीत-कीर्त्तन में निमग्न रहते और उन्होंने चण्डालादि अस्पर्श्य जातियों में भी प्रेमभक्ति का प्रचार किया ॥२३७॥

पण्डित गोसाञि कैल नीलाचले वास। वक्रेश्वर दामोदर शङ्कर हरिदास ॥२३८॥
जगदानन्द भगवान् गोविन्द काशीश्वर। परमानन्दपुरी आर स्वरूपदामोदर ॥२३९॥
क्षेत्रवासी रामानन्दराय प्रभृति। प्रभु सङ्गे एइ सब कैल नित्यस्थिति ॥२४०॥
अद्वैत नित्यानन्द मुकुन्द श्रीवास। विद्यानिधि वासुदेव मुरारि यत दास ॥२४१॥
प्रतिवर्षे आइसे, सङ्गे रहे चारिमास। तांहासभा लञा प्रभुर विविध विलास ॥२४२॥

श्रीगदाधर पण्डित गोसाईं ने तो नीलाचल वास ही कर लिया था एवं श्रीवक्रेश्वर, श्रीदामोदर, श्रीशङ्कर, श्रीहरिदास, श्रीजगदानन्द, श्रीभगवान्, श्रीगोविन्द, श्रीकाशीश्वर, श्रीपरमानन्दपुरी, श्रीस्वरूप-दामोदर, क्षेत्रवासी श्रीरायरामानन्द आदि ये सब भक्त भी नित्य प्रभु के साथ नीलाचल रहते थे ॥२३८-२४०॥ श्रीअद्वैताचार्य्य, श्रीनित्यानन्दप्रभु, श्रीमुकुन्द, श्रीवास, श्रीविद्यानिधि, श्रीवासुदेव, श्रीमुरारि-गुप्त आदि जितने गौड़भक्त थे, वे (नीलाचल निरन्तर नहीं रहते थे, किन्तु) प्रतिवर्ष गौड़ देश से नीलाचल आते एवं प्रभु के साथ चार मास निवास करते। उन सबके साथ प्रभु जो अनेक लीलाएँ करते— ॥२४१-२४२॥ उनका वर्णन किया गया है।

हरिदासेर सिद्धि प्राप्ति—अद्भुत से सब। आपनि महाप्रभु यांर कैल महोत्सव ॥२४३॥
तबे रूपगोसाञिर पुनरागमन। तांर हृदये कैल प्रभु शक्तिसञ्चारण ॥२४४॥
तबे छोट–हरिदासे प्रभु कैल दण्ड। दामोदर-पण्डित कैल प्रभु के वाक्यदण्ड ॥२४५॥
तबे सनातनगोसाञिर पुनरागमन। ज्येष्ठमासे प्रभु तांरे कैल परीक्षण ॥२४६॥

तत्पश्चात् श्रीहरिदास की सिद्धिप्राप्ति (देह-त्याग) की जो अद्भुत कथा है, जिसमें श्रीमहाप्रभु ने श्रीहरिदास का अपने आप महोत्सव किया है, वह वर्णन की गई है ॥२४३॥ फिर श्रीरूपगोस्वामी

का नीलाचल में पुनः प्रभु से मिलन एवं उनके हृदय में प्रभु ने अपनी शक्ति का जैसे सञ्चार किया है वह कथा वर्णित है ॥२४४॥ फिर श्रीमहाप्रभु ने छोटे हरिदास को दण्ड दिया है अर्थात् एक स्त्री (माधवीदासी) से भिक्षा लाने से वर्ज्जन करने की कथा है। उसके बाद श्रीदामोदर पण्डित ने प्रभु को वाक्यदण्ड किया अर्थात् प्रभु को एक ब्राह्मणी के पुत्र से स्नेह करने से रोका ॥२४५॥ उसके पश्चात् श्रीसनातन गोसाईं श्रीवृन्दावन से पुनः प्रभु के पास नीलाचल में आये एवं ज्येष्ठ मास में प्रभु ने जैसे उनकी परीक्षा ली, वह कथा है ॥२४६॥

तुष्ट हञा प्रभु तांरे पाठाइल वृन्दाबन। अद्वैतेर हाथे प्रभुर अद्भुत भोजन ॥२४७॥
नित्यानन्द सङ्गे युक्ति करिया निभृते। तांरे पाठाइल गौड़े प्रेम प्रचारिते ॥२४८॥
तबे त वल्लभभट्ट प्रभुरे मिलिला। कृष्णनामेर अर्थ प्रभु तांहारे कहिला ॥२४९॥
प्रद्युम्नमिश्रेरे प्रभु रामानन्द स्थाने। कृष्ण कथा शुनाइल—कहि तांर गुणे ॥२५०॥

फिर श्रीमहाप्रभु ने प्रसन्न होकर श्रीपादसनातन को श्रीवृन्दावन भेज दिया। उसके बाद श्रीअद्वैत के हाथ से बना हुआ अद्भुत भोजन जैसे श्रीमहाप्रभु ने किया—वह कथा कही गई है ॥२४७॥ प्रभु ने एकान्त स्थान पर श्रीनित्यानन्द प्रभु से परामर्श कर उन्हें गौड़देश में प्रेम प्रचार करने के लिए भेजा ॥२४८॥ फिर श्रीबल्लभभट्ट श्रीमहाप्रभु से आकर मिले। एवं प्रभु ने उन्हें श्रीकृष्ण-नाम के अर्थ सुनाये ॥२४९॥ फिर प्रभु ने श्रीप्रद्युम्नमिश्र को श्रीरायरामानन्द के गुण कथन करके उनसे मिश्रजी को श्रीकृष्ण-कथा सुनवाई ॥२५०॥

गोपीनाथ पट्टनायक—रामानन्द भ्राता। राजा मारितेछिल प्रभु हैल त्राता ॥२५१॥
रामचन्द्रपुरी—भये भिक्षा घाटाइला। वैष्णवेर दुख देखि अर्द्धेक राखिला ॥२५२॥
ब्रह्माण्ड—भितरे हय चौद्दभुवन। चौद्दभुवने वैसे यत जीवगण ॥२५३॥
मनुष्येर वेष धरि यात्रिकेर छले। महाप्रभु दर्शन करे आसि नीलाचले ॥२५४॥

फिर श्रीरामानन्द के भ्राता श्रीगोपीनाथ पट्टनायक, जिसे राजा मारना चाहता था, प्रभु ने उसकी रक्षा की ॥२५१॥ श्रीरामचन्द्रपुरी के भय से प्रभु ने जैसे अपना भोजन घटा दिया एवं वैष्णवों को दुःखी देखकर जैसे फिर प्रभु ने आधा भोजन करना आरम्भ किया—वह कथा वर्णन की गई है ॥२५२॥ ब्रह्माण्ड के भीतर चौदह लोक हैं। उन चौदह लोकों में जितने भी जीव थे, वे समस्त मनुष्यों का वेष धारण करके यात्री होने के बहाने से नीलाचल आकर श्रीमहाप्रभु के दर्शन करते थे ॥२५४॥

एकदिन श्रीवासादि यत भक्तगण। महाप्रभुर गुण गाञा करेन कीर्त्तन ॥२५५॥
शुनि भक्तगणे कहे सक्रोधवचन—। कृष्णनाम-गुण छाड़ि कि कर कीर्त्तने ॥२५६॥
औद्धत्य करिते हैल सभाकार मन। स्वतन्त्र हइया सभे नाशावे भुवन ? ॥२५७॥
दशदिकेर कोटि-कोटि लोक हेनकाले। "जय कृष्णचैतन्य" बलि करे कोलाहले ॥२५८॥

एक दिन श्रीवासादि जितने भक्तगण थे, वे श्रीमहाप्रभु के गुणों को गाकर सङ्कीर्त्तन करने लगे ॥२५५॥ उसे सुनकर क्रोधित होकर भक्तों से प्रभु कहने लगे—"कृष्णनाम-गुणों को छोड़कर आप यह क्या कीर्त्तन कर रहे हैं ?" ॥२५६॥ आप सबका मन क्या उत्पात करने पर तुल गया है ? शास्त्रमत को-छोड़कर इस प्रकार मनमानी कर क्या जगत् का नाश करना चाहते हो ?" ॥२५७॥ यह सुन कर दशों

दिशाओं में जितने भी उस समय असंख्य लोग विद्यमान थे, वे सब मिलकर "जय कृष्णचैतन्य ! जय कृष्णचैतन्य !!" कहकर और अधिक कोलाहल करने लगे ॥२५८॥

जय जय महाप्रभु व्रजेन्द्रकुमार । जगत् तारिते प्रभु तोमार अवतार ॥२५९॥
बहु दूर हैते आइलाङ हञा बड़ आर्त्त । दरशन दिया प्रभु ! करह कृतार्थ ॥२६०॥
शुनिया लोकेर दैन्य, आर्द्र हैल हृदय । बाहिरे आसि दरशन दिला दयामय ॥२६१॥
बाहु तुलि बोले प्रभु "बोल हरि हरि" । उठिल श्रीहरि-ध्वनि चतुर्द्दिग् भरि ॥२६२॥

सबने कहा—"हे महाप्रभु-व्रजेन्द्रकुमार ! आपकी जय हो,जय हो, जगत् का उद्धार करने के लिये ही आपका अवतार हुआ है ॥२५९॥ हम अति दुखित होकर बहुत दूर से आपके निकट आये हैं, हे प्रभो ! दर्शन देकर हमें कृतार्थ कीजिये" ॥२६०॥ इस प्रकार लोगों की दीनता देखकर प्रभु का मन भी पिघल गया एवं वे भी दयापूर्वक बाहर चले आये एवं सबको दर्शन देकर कृतार्थ किया ॥२६१॥ प्रभु ने दोनों भुजा ऊपर उठाकर कहा—"हरि-हरि बोल ! हरि-हरि बोल !!" इस प्रकार चारों दिशाएँ हरि-ध्वनि से गूँज उठीं ॥२६२॥

प्रभु देखि प्रेमे लोकेर आनन्दित मन । प्रभुरे 'ईश्वर' बलि करये स्तवन ॥२६३॥
स्तव शुनि प्रभुरे कहये श्रीनिवास— । घरे गुप्त हओ, केने बाहिरे प्रकाश ? ॥२६४॥
के शिखाइल ए लोके, कहे कोन् बात ? इहा सभार मुख ढांक दिया निजहाथ ॥२६५॥
सूर्य्य यैछे उदय करि चाहे लुकाइते । बुझिते ना पारि तैछे तोमार चरिते ॥२६६॥
प्रभु कहेन-श्रीनिवास ! छाड़ बिडम्बना । सभे मिलि कर मोर कतेक लाञ्छना॥२६७॥
एत बलि लोके करि शुभदृष्टिदान । अभ्यन्तरे गेला,लोकेर पूर्ण हैल काम ॥२६८॥

श्रीमहाप्रभु के दर्शन कर प्रेम से सबका मन प्रसन्न होगया एवं सबने प्रभु को ईश्वर जानकर उनकी स्तुति की ॥२६३॥ स्तुति को सुनकर श्रीनिवास श्रीमहाप्रभु से कहने लगे— 'प्रभो ! घर में छिप जाओ, बाहर क्यों चले आए हो ? ॥२६४॥ आप क्रोध कर रहे थे कि मेरे नाम का कीर्त्तन क्यों कर रहे हो, कहिये ! लोक जो आपको ईश्वर जानकर आपकी स्तुति कर रहे हैं ? अब आप ही इन सबके मुख पर हाथ रखिये । सूर्य को जैसे कोई छिपाना चाहे, वैसे ही, प्रभो ! आपकी बातें (चरित्र) हैं ।" अर्थात् प्रभो ! आपको अब सब जान गये हैं कि आप श्रीव्रजेन्द्रकुमार परम-ईश्वर हो । अतः आपके नाम गुणगान करने में कुछ भी हमारा औद्धत्य नहीं है" ॥२६६॥ यह सुनकर श्रीमहाप्रभु ने कहा—"श्रीवास ! यह विडम्बना छोड़िये, सब मिलकर मुझे क्यों इतना लज्जित करते हो" ॥२६७॥ इतना कहकर प्रभु ने सब पर शुभ कृपा दृष्टि की एवं वे घर के अन्दर चले गये । सबकी मनोकामना पूर्ण होगई । इन सब लीलाओं का क्रमशः वर्णन है ॥२६८॥

रघुनाथदास नित्यानन्द पाशे गेला । चिड़ा दधि-महोत्सव ताहाइ करिला ॥२६९॥
तांर आज्ञा लञा गेला प्रभुर चरणे । प्रभु तांरे समर्पिल स्वरूपेर स्थाने ॥२७०॥
ब्रह्मानन्द भारतीर घुचाइल चर्माम्बर । एइमत लीला कैल छय-वत्सर ॥२७१॥
एइ त कहिल मध्यलीलार सूत्रगण । अन्त्यलीलार सूत्रेर करि विस्तार वर्णन॥२७२॥
श्रीरूप—रघुनाथ पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२७३॥

फिर श्रीरघुनाथदास पानिहाटी ग्राम में श्रीनित्यानन्द प्रभु के पास गए एवं वहाँ ही चिड़ा-दधि महोत्सव के दर्शन किये ॥२६९॥ फिर श्रीनित्यानन्द प्रभु की आज्ञा से श्रीरघुनाथदास श्रीमहाप्रभु के चरणों में आ पहुँचे और श्रीमहाप्रभु ने उन्हें श्रीस्वरूपदामोदर को सौंप दिया। इस कथा का विस्तरशः वर्णन है ॥२७०॥ उसके पश्चात् श्रीमहाप्रभु ने श्रीब्रह्मानन्द भारती की मृगछाला को हटवाया। (श्रीब्रह्मानन्द भारती मृगछाला धारण कर नीलाचल में गये थे। श्रीमहाप्रभु ने मृगछाला को परित्याग कराकर उन्हें कपड़े की कोपीन आदि धारण कराई)। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने जो छः वर्षों तक लीलाएँ की हैं उनका अन्त्यलीला में समावेश है ॥२७१॥ श्रीकविराज कहते हैं—इस प्रकार मैंने मध्य-लीला का सूत्र—(विषय-सूची) वर्णन की है। अब अन्त्यलीला के सूत्र को (द्वितीय परिच्छेद में) कुछ विस्तार से कहता हूँ ॥२७२॥ श्रीरूपगोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरण-कमलों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज श्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥२७३॥

चै० च० चु० *टीका* :—पयार सं० २७१ एवं २७२ में कहे हुए **"छय-वत्सर"**, **"मध्यलीलार सूत्र-गण"**, एवं **"अन्त्यलीलार सूत्रेर"**—ये तीनों पद भ्रम उत्पादन करने वाले हैं। इनका स्पष्टीकरण यह है। जैसा कि हम पृष्ठ सं० ३ पर उल्लेख कर चुके हैं—संन्यास ग्रहण करने के बाद श्रीमन्महाप्रभुजी ने कुल चौबीस वर्षों तक लीलाएँ दरसाई हैं। पहले छः वर्षों की लीलाओं का नाम "मध्य-लीला" है। इस प्रस्तुत ग्रन्थ में जो लीलाएँ वर्णित हैं वे समस्त मध्य-लीला के अन्तर्गत हैं। इस मध्य-लीला का आरम्भ करने से पूर्व ग्रन्थकार ने मध्य-लीला का सूत्र (विषय-सूची) वर्णन किया है। परन्तु उस विषय-सूची के एवं उन लीलाओं को विस्तारपूर्वक कहने से पहले श्रीकविराज ने अन्त्य-लीला (शेष के अठारह वर्षों की लीलाओं) का सूत्र रूप से वर्णन किया है—इस आशङ्का से—कि कहीं मध्य-लीला का वर्णन करते-करते उनका शरीर-पात होगया तो अन्त्य-लीला रह जायेगी—उसका परिचय तक भी कोई न पा सकेगा, अथवा उनका श्रीचैतन्यचरितामृत का गान अधूरा रह जायेगा। अतः इस परिच्छेद में श्रीकविराज ने पयार सं० १८ से लेकर ४५ सं० पयार तक अन्त्यलीला के प्रथम छः वर्षों की लीला का सूत्र कहा है और पयार सं० ४६ से लेकर ७६ सं० पयार तक अन्त्यलीला के बाकी १२ वर्षों की लीलाओं का सूत्र वर्णन किया है। फिर पयार सं० ८२ से लेकर २३३ तक ग्रन्थकार ने मध्य-लीला अर्थात् जो लीलाएँ प्रस्तुत ग्रन्थ में विस्तरशः वर्णित हैं—उन सबका सूत्र रूप से वर्णन किया है।

फिर शरीर-पात हो जाने की आशङ्का से भयभीत होकर श्रीकविराज ने पयार सं० २३५ से लेकर २८१ तक अन्त्यलीला के प्रथम छः वर्षों की अन्यान्य कुछ लीलाओं को पुनः सूत्र रूप में वर्णन कर दिया है। अत. पयार सं० २७१ में कहे हुए "छय-वत्सर"–पद से अन्त्यलीला के प्रथम छः वर्षों का ही तात्पर्य है। आरम्भ में अन्त्यलीला का सूत्र, बीच में मध्य-लीला का सूत्र और अन्त में पुनः अन्त्य-लीला का सूत्र—इन तीनों विषयों को श्रीकविराज ने मध्यलीला के सूत्र में ही माना है। अतः पयार सं० २७२ में प्रथम परिच्छेद के विषय का उपसंहार करते हुए श्रीकविराज ने कहा है कि– **"मध्यलीलार सूत्र गण"**—इस प्रकार मैंने इस परिच्छेद में "मध्यलीला का सूत्र" वर्णन किया है। श्रीकविराज ने द्वितीय परिच्छेद में वर्णित विषय को पुनः **अन्त्यलीला के सूत्र** का नाम दिया है क्योंकि द्वितीय परिच्छेद में अन्त्यलीला के शेष बारह वर्षों की लीलाओं में से ही दो-एक लीलाओं का कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अब अगले परिच्छेद में पाठकगण अन्त्यलीलान्तर्गत एक-दो लीलाओं का रसास्वादन करें एवं तृतीय परिच्छेद से मध्यलीला का सूत्रानुसार विस्तारपूर्वक आस्वादन करेंगे।

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य-लीलायां मध्यलीलासूत्रवर्णनं नाम प्रथम परिच्छेदः ॥१॥

जयगौर

मध्य-लीला

द्वितीय परिच्छेद

★

विच्छेदेऽस्मिन् प्रभोरन्त्यलीलासूत्रानुवर्णने।
गौरस्य कृष्णविच्छेद—प्रलापाद्यानुवर्ण्यते ॥१॥

इस परिच्छेद में अन्त्य-लीला का सूत्र वर्णन किया गया है। उसके अन्तर्गत श्रीमन्महाप्रभु के श्रीकृष्ण-विरह में होने वाले जो प्रलापादि हैं—उनका कुछ उल्लेख करते हैं ॥१॥

[मध्य-लीला में अन्त्य-लीला के प्रसङ्ग वर्णन करने का कारण श्रीकविराज ने इसी परिच्छेद के ७९-८० पयारों में बताया है, जो द्रष्टव्य है।]

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
शेष ये रहिल प्रभुर द्वादश वत्सर। कृष्णेर विरह-स्फूर्त्ति हय निरन्तर ॥२॥
श्रीराधिकार चेष्टा यैछे उद्धव-दर्शने। एइमत दशा प्रभुर हय रात्रि-दिने ॥३॥
निरन्तर हय प्रभुर विरह–उन्माद। भ्रममय चेष्टा सदा प्रलापमय वाद ॥४॥

श्रीगौरचन्द्र तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र तथा श्रीगौराङ्ग के भक्तों की जय हो, जय हो ॥१॥ (प्रथम परिच्छेद में संन्यास के बाद के बारह वर्षों की लीलाओं का सूत्र कहा जा चुका है) शेष के जो बारह वर्ष हैं उनमें श्रीमहाप्रभु को श्रीकृष्ण की विरह-स्फूर्त्ति दिन-रात रहा करती थी ॥२॥ श्रीउद्धवजी के दर्शन करके श्रीराधिकाजी को जो दशा (विरह-व्याकुलता) होती थी, ठीक वही दशा श्रीमहाप्रभु की निरन्तर रहती थी। वे श्रीकृष्ण के विरह में निरन्तर उन्मत्त रहते थे एवं उनकी समस्त चेष्टाएँ भ्रान्तिमय होती थीं तथा वे प्रलापमय वचन ही बोला करते थे ॥४॥

रोमकूपे रक्तोद्गम, दन्त सब हाले। क्षणे अङ्ग क्षीण हय, क्षणे अङ्ग फुले ॥५॥
गम्भीरा भितरे रात्र्ये नाहि निद्रा–लव। भित्त्ये मुख–शिर घषे क्षत हय सब ॥६॥
तिन द्वारे कवाट प्रभु यायेन बाहिरे। कभु सिंहद्वारे पड़े कभु सिन्धु नीरे ॥७॥
चटक–पर्वत देखि गोवर्द्धन भ्रमे। धाञा चले आर्त्तनादे करिया क्रन्दने ॥८॥

विरह एवं सात्त्विक विकारों के कारण श्रीमहाप्रभु के रोम-विवरों में से रक्त निकलने लगता था एवं उनके सब दाँत हिलने लग जाते थे। एक क्षण में तो उनके अङ्ग पतले पड़ जाते और दूसरे क्षण में वे फूल कर मोटे हो जाते ॥५॥ (श्री काशीमिश्र के घर जिस एकान्त कमरे में श्रीमहाप्रभु निवास करते थे, उस कमरे को 'गम्भीरा' नाम से कहा जाता था) गम्भीरा में रात्रि के समय श्रीमहाप्रभु को लेशमात्र

भी नींद नहीं आती थी और वे दीवारों से अपने मुख एवं सिर को रगड़ा करते थे और घायल हो जाते ॥६॥ गम्भीरा (कमरे) के तीनों दरवाजे बन्द कर देने पर भी प्रभु उस कमरे से बाहर निकल जाते। कभी श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर के मुख्य फाटक—सिंहद्वार के आगे प्रभु जा पड़ते और कभी समुद्र के जल में ही कूद पड़ते ॥७॥ जगन्नाथपुरी के चटक पर्वत को गोवर्द्धन जानकर कभी-कभी प्रभु क्रन्दन एवं चीत्कार करते हुए उसकी ओर दौड़ पड़ते ॥८॥

उपवनोद्यान देखि वृन्दावन ज्ञान। ताहां याइ नाचे गाय, क्षणे मूर्च्छा यान ॥ ६ ॥

काहां नाहि शुनि ये ये भावेर विकार। सेइ भाव हय प्रभुर शरीरे प्रचार ॥१०॥

हस्त-पदेर सन्धि यत वितस्ति प्रमाणे। सन्धि छाड़ि भिन्न हये, चर्म रहे स्थाने ॥११॥

हस्त पद शिर सब शरीर-भितरे। प्रविष्ट हय—कूर्मरूप देखिये प्रभुरे ॥१२॥

वन-उपवनों को देखकर प्रभु उन्हें श्रीवृन्दावन जान लेते और वहाँ जाकर प्रेमावेश में नृत्य-गान करते-करते बेसुधि हो जाते ॥९॥ शास्त्रों तथा लोक में भी जिन प्रेम-विकारों को कहीं नहीं देखा-सुना जाता, वे समस्त विकार श्रीमहाप्रभु के शरीर में प्रगट होते थे ॥१०॥ वे क्या थे ?—भावावेश में प्रभु के हाथ-पाँवों के जोड़ सन्धि-स्थान को छोड़ कर बालिश्त भर परे हट जाते और वहां केवल त्वचा ही त्वचा रह जाती ॥११॥ और कभी उनके हाथ-पांव एवं शिर शरीर के भीतर प्रवेश कर जाते और प्रभु का आकार कछुए की तरह हो जाता ॥१२॥

एइमत अद्भुत भाव शरीरे प्रकाश। मनेते शून्यता, वाक्ये हाहा हुताश ॥१३॥

"काहां करों, काहां पाङ व्रजेन्द्रनन्दन। काहां मोर प्राणनाथ मुरलीवदन ॥१४॥

काहारे कहिव, केवा जाने मोर दुख। व्रजेन्द्रनन्दन बिनु फाटे मोर बुक" ॥१५॥

एइमत विलाप करे, विह्वल अन्तर। रायेर नाटक-श्लोक पढ़े निरन्तर ॥१६॥

इस प्रकार अनेक अद्भुत सात्विक विकार श्रीमहाप्रभु के शरीर पर प्रगट होते और उनके मन में शून्यता प्रतीत होती अर्थात् उन्हें कहीं भी कोई अपना नहीं दीखता था। उनके वचनों में व्याकुलता एवं निराशता का ही अनुभव होता था ॥१३॥ केवल इतना ही बार-बार कहा करते—"क्या करूँ ? श्रीव्रजेन्द्र-नन्दन को कहाँ पाऊँ ? मुरलीधारी मेरे प्राणनाथ कहाँ हैं ? ॥१४॥ किसी से क्या कहूँ ? मेरे दुख को और जानता ही कौन है ? हाय ! हाय !! श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के दर्शन बिना मेरी छाती फटी जाती है।"—इस प्रकार श्रीमहाप्रभु अत्यन्त विह्वल होकर विलाप करते रहते और श्रीरायरामानन्द के रचित श्रीजगन्नाथवल्लभ-नाटक के इस श्लोक का सदा उच्चारण किया करते—॥१६॥

तथाहि जगन्नाथवल्लभनाटके—(३।९)

प्रेमच्छेदरुजोऽवगच्छति हरिर्नायं—नच प्रेम वा

स्थानास्थानमवैतिनापि—मदनोजानाति—नो—दुर्बलाः।

अन्यो वेद न चान्य दुखमखिलं नो जीवनं वाश्रवं—

द्वित्राण्येव दिनानि यौवनमिदं हाहा विधे कागतिः ॥२॥

श्रीकृष्ण प्रेम-विरह-जात रोग लाइलाज है, और प्रेम भी पात्र-अपात्र कुछ नहीं जानता। कामदेव भी दुर्बल जान कर हम पर दया नहीं करता। कोई व्यक्ति पराये समस्त दुखों को नहीं जान सकता। हमारा जीवन क्षणभंगुर है—इसका भी कोई विश्वास नहीं—हमारा यौवन भी तो दो-तीन दिन का ही है। हे विधाता ! हमारी गति क्या होगी ? ॥२॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीरायरामानन्द ''रचित श्रीजगन्नाथवल्लभ-नाटक'' में इस प्रकार उल्लेख है कि एक समय श्रीराधा जी सखियों के सङ्ग श्रीवृन्दावन में गईं; श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ कुछ दूर विचर रहे थे। दूर से एक दूसरे को देखकर प्रिया-प्रीतम एक दूसरे के रूप में मुग्ध होगये एवं परस्पर मिलने के लिये व्याकुल हो उठे। श्रीराधाजी ने अधीर होकर अपनी एक सखी शशिमुखी के हाथ एक प्रेम-पत्री श्रीकृष्णको भेजी। पत्री पाकर श्रीकृष्णकी श्रीराधाजीसे मिलने के लिये व्याकुलता और भी अधिक होगई, किन्तु श्रीराधाजी के प्रेम की गाढ़ता की परीक्षा के लिये श्रीकृष्ण ने अपने मनोभावों को छिपाकर सखी के द्वारा पतिसेवा एवं कुलधर्म रक्षा के लिये श्रीराधाजी को उपदेश कर भेजा। उसे सुनकर श्रीराधाजी ने हताशचित्त होकर इस श्लोक में अपने भावों को प्रकाशित किया। अगले पयारों में ग्रन्थकार इस श्लोक का अर्थ विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

अस्यार्थः। यथारागः॥

उपजिल प्रेमाङ्कुर, भाङ्गिल ये दुखपुर, कृष्ण ताहा नाहि करे पान।
बाहिरे नागर-रे राज, भितरे शठेर काज, परनारी-वधे सावधान॥१७॥
सखि हे! ना बुझिये विधिर विधान।
सुख लागि कैल प्रीत, हैल दुख विपरीत, एबे याय ना रहे परान॥ध्रु०॥१८॥

(श्रीराधा जी के हृदय में श्रीकृष्ण के दर्शनमात्र से ही जो प्रेमरूप अङ्कुर उत्पन्न हुआ था, उसे ही लक्ष्य करके कहते हैं-) ''नवीन-नवीन प्रेमरूप अङ्कुर के तोड़ डालने से जो दुखसमूह उत्पन्न होता है, उसे श्रीकृष्ण अनुभव नहीं कर पाते। बाहरी दृष्टि से तो वे नागरराज दिखाई देते हैं किन्तु भीतर में वे शठों के से कार्य करते हैं अर्थात् मुख पर सामने तो मधुर-मधुर बातें करते है, किन्तु उनका हृदय कठोर है। (मधुर-वचन, मन्द-मुस्कान आदि से) परनारियों के मन-हरण (बध) करने में वे बड़े चतुर हैं॥१७॥ (श्री कृष्ण यदि शठ हैं तो उनसे प्रेम किया ही क्यों था?) हे सखी! विधाता किसी से क्या करता है-यह नहीं जाना जाता। मैंने तो उनसे सुख के लिये प्रीति की थी। किन्तु आशा के विपरीत दुख ही प्राप्त हुआ है। इस दुखके मारे अब मेरे प्राण नहीं रह सकते''॥१८॥

कुटिल प्रेमा अगेयान, नाहि जाने स्थानास्थान, भाल मन्द नारे विचारिते।
क्रूर-शठेर गुणडोरे, हाथ-गले, बान्धि मोरे, राखियाछे, नारि उकाशिते॥१९॥
ये मदन तनुहीन, परद्रोहे परवीण, पाञ्च-बाण सन्धे अनुक्षण।
अवलार शरीरे, विन्धि करे जरजरे, दुख देय, ना लय जीवन॥२०॥

''और सखी! प्रेम की गति भी तो (सर्प की भाँति) कुटिल है एवं वह अज्ञानी है (वह किसी का बुरा-भला भी विचार नहीं कर सकता), स्थान-अस्थान (पात्र-अपात्र) को वह नहीं जानता।'' (अब तो तू ने देख लिया कि प्रेम में सुख नहीं है किन्तु दुख है, अतः अब उसका त्याग कर दे। इसके उत्तर में कहती हैं—) प्रेम ने उस कठोर एवं शठ (श्रीकृष्ण) के गुणरूपी डोरी से मेरे हाथ एवं गले को बांध रखा है (छोड़ूँ तो कैसे?)—मैं तो उस बंधन को खोल ही नहीं सकती॥१९॥ (मेरी इस असहाय अवस्था को देखकर मदन भी मुझे अपने पाञ्च वाणों से पीड़ित कर रहा है''—) यदि कहो कि तुम कामदेव से बदला ले लो-तो) सखी! वह कामदेव तो तन रहित (अनङ्ग) है, (उसके हाथ पांव हैं ही नहीं—उसे कैसे बान्ध लूं) वह दूसरों को ही दुख देने में चतुर है। प्रतिक्षण वह अपने पाञ्चों वाणों को

सन्धान किये रहता है। मुझ अबला के शरीर को वह छिन्न-भिन्न कर रहा है (मेरे प्राण ले ले तो अच्छा है) परन्तु वह मेरे प्राण नहीं लेता बल्कि दुख ही देता रहता है ॥२०॥

अन्येर ये दुख मने, अन्य ताहा नाहि जाने, सत्य एइ शास्त्रेर विचारे।
अन्यजन काहां लिखि, नाहि जाने प्राणसखी, याते कहे धैर्य्य करिवारे ॥२१॥
कृष्ण कृपा-पारावार, कभु करिवेन अङ्गीकार, सखि! तोर ए व्यर्थ वचन।
जीवेर जीवन चञ्चल, येन पद्मपत्रेर जल, ततदिन जीवे कौन जन ॥२२॥

(सखी ने कहा—स्वामिनी! दुःख में अधीर नहीं होना चाहिये, धैर्य्य धारण करो"। तो उसका उत्तर राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु कहते हैं)—"किसी के मनमें कितना दुःख है—यह और कौन जान सकता है—शास्त्र की यह बात सत्य है। और तो कोई कैसे जान लेगा जब तू मेरी प्राण-समान प्यारी सखी ही मेरे दुख को नहीं जानती और मुझे धीरज धारण करने के लिये कह रही है ॥२१॥ सखि! तेरे ये वचन व्यर्थ हैं कि श्रीकृष्ण कृपा के सिन्धु हैं और वे मुझे कभी न कभी अवश्य अङ्गीकार करेंगे। जीव का जीवन तो क्षणभंगुर है, जैसे कमल के पत्ते पर पानी। (जब तक श्रीकृष्ण कृपा करेंगे और मुझे अङ्गीकार करेंगे) उस अवधि तक कौन जीवित रहेगा" ॥२२॥

शत वत्सर पर्यन्त, जीवेर जीवन अन्त, एइ वाक्य कह ना विचारि।
नारीर यौवन धन, यारे कृष्ण करे मन, से यौवन दिन-दुइ-चारि ॥२३॥
अग्नि यैछे निजधाम, देखाइया अभिराम, पतङ्गेरे आकर्षिया मारे।
कृष्ण तैछे निजगुण, देखाइया हरे मन, पाछे दुख-समुद्रे ते डारे ॥२४॥

(जीव की आयु तो सौ वर्ष की कही गई है—तुम इतनी निराश क्यों हो रही हो?"—सखी ने कहा। उत्तर में कहते हैं)—"जीव का जीवन सौ वर्ष तक है—यह बात भी सखि! तुमने विचार कर नहीं कही है (हो सकता है सौ वर्ष तक जीवन रह सके, परन्तु यह यौवन तो सौ वर्ष किसी का नहीं रहता) नारी के जिस यौवन-धन के प्रति श्रीकृष्ण का मन चलता है, वह यौवन तो केवल दो-चार दिन का है। हे सखि! अग्नि जैसे अपनी सुन्दर ज्योति को दिखाकर पतङ्गों को अपनी ओर खींच लेती है और फिर उन्हें जला देती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने (मधुर-मृदु मुस्कान, मधुर-भङ्गी आदिक) गुणोंको दिखाकर मेरे मनको हर लिया है और अब मुझे विरह-दुखके अथाह समुद्रमें डाल दिया है" ॥२४॥

एतेक विलाप करि, विषादे श्रीगौरहरि, उघाड़िया दुखेर कपाट।
भावेर तरङ्गबले, नानारूपे मन चले, आर एक श्लोक कैल पाठ ॥२५॥

इस प्रकार विलाप करते हुए श्रीगौरहरि विरह-वेदना से दुख भण्डार के मानो किवाड़ खोल देते थे, प्रेम समुद्र की भावरूप तरङ्गों में उनका मन बह जाता था और निम्न श्लोक पढ़ने लगते थे ॥२५॥

तथाहि गोस्वामिपादोक्तः श्लोकः

श्रीकृष्णरूपादि निषेवणं बिना व्यर्थानि मेऽहान्यखिलेन्द्रियाण्यलम्।
पाषाण-शुष्केन्धन-भारकाण्यहो विभर्म्मि वा तानि कथं हतत्रपः ॥३॥

श्रीकृष्ण के रूपादि सेवन किये बिना जीवन के दिन एवं मेरी समस्त इन्द्रियाँ सर्वथा व्यर्थ हैं। अहो! पाषाण एवं सखे काठ के बोझे के समान इन इन्द्रियों को मैं निर्लज्ज होकर कैसे धारण करूं और अपने जीवन के दिनों को कैसे बिताऊँ? ॥३॥

चै० च० चु० टीका—श्रीकृष्ण के विरह में ग्रातुरा श्रीराधाजी अपनी एक अन्तरङ्गा सखी को अपनी इन्द्रियों की व्यर्थता का कथन इस श्लोक में कर रही हैं। उसी राधाभाव में आविष्ट श्रीमहाप्रभु सखीस्थानीय किसी एक को लक्ष्य करके श्रीकृष्ण के रूप-रसादि के सेवन बिना क्रमशः पाञ्चों इन्द्रियों की व्यर्थता का वर्णन नीचे की त्रिपदी में करते हैं।

अस्यार्थः । यथा रागः ॥

वंशीगानामृतधाम, लावण्यामृत–जन्मस्थान, ये ना देखे से चान्दबदन।
से नयन किवा काज, पड़ु तार माथे बाज, से नयन रहे कि कारण ॥२६॥

हे सखि ! श्रीकृष्ण का चन्द्रमुख वंशी के मधुरस्वर-रूप अमृत का वासस्थान है और निखिल सौन्दर्य-रूप अमृत का जन्मस्थान है, जिन नेत्रों को उस मुखचन्द्र का दर्शन नहीं होता—वे नेत्र किस कामके ? उन पर वज्र ही गिर पड़े तो अच्छा है ॥२६॥

सखि हे ! शुन मोर हतविधि बल।
मोर वपु चित्त मन, सकल इन्द्रियगण, कृष्ण बिनु सकल विफल ॥ध्रु० ॥२७॥
कृष्णेर मधुरबाणी, अमृतेर–तरङ्गिणी, तार प्रवेश नाहि ये श्रवणे।
काणाकड़ि छिद्रसम, जानह सेइ श्रवण, तार जन्म हैल अकारणे ॥२८॥

हे सखि ! मेरे फूटे भाग्यों की करतूत सुन, मेरा शरीर, मेरा चित्त (अन्तःकरण की अनुसन्धानात्मिका वृत्ति), मेरा मन (अन्तःकरण की संशयात्मिका वृत्ति), नहीं नहीं मेरी तो समस्त इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण की सेवा बिना निष्फल ही हैं ॥२७॥ श्रीकृष्ण की मधुरवाणी तो अमृत की नदी के समान है, वह जिन कानों में प्रवेश नहीं करती, वे कान नहीं बल्कि वे कानी कौड़ी के छिद्र तुल्य हैं, उनका होना न होना समान ही है ॥२८॥

मृगमद नीलोत्पल, मिलने ये परिमल, येइ हरे तार गर्व-मान।
हेन कृष्ण–अङ्ग–गन्ध, यार नाहि से सम्बन्ध, सेइ नासा भस्त्रार समान ॥२९॥
कृष्णेर अधरामृत, कृष्णगुण–चरित, सुधासार–स्वाद–विनिन्दन।
तार स्वाद ये ना जाने, जन्मिया ना मैल केने, से रसना भेक-जिह्वा सम ॥३०॥

कस्तूरी तथा नीलकमल के मिलने से जो सुगन्धि उत्पन्न होती है—उसके भी मान को चूर्ण करने वाली सुगन्धि श्रीकृष्ण के अङ्गों में है—उसका जिस नासिका ने अनुभव नहीं किया—वह नासिका मानो लोहार की धौंकनी के समान है ॥२९॥ हे सखि ! श्रीकृष्ण के अधरामृत (प्रसाद) तथा उनके नाम-गुण लीला के गान रूप-अमृत का आस्वादन अमृत-सार के स्वाद को भी निन्दित करने वाला है। श्रीकृष्ण अधरामृत का एवं उनके नाम-गुण-लीला गानामृत का स्वाद जिसने नहीं लिया है, वह जन्म लेते मर ही क्यों न गया ? (उसके जीवन से क्या लाभ ?) उसकी जिह्वा तो मेंढ़क की जिह्वा के समान टर्र-टर्र करने वाली ही जाननी चाहिये ॥३०॥

कृष्ण कर–पदतल, कोटि–चन्द्र सुशीतल, तार स्पर्श येन स्पर्शमणि।
तार स्पर्श नाहि यार, से याउक छारखार, सेइ वपु लोहसम जानि ॥३१॥
करि एत विलपन, प्रभु शचीनन्दन, उघाड़िया हृदयेर शोक।
दैन्य-निर्वेद-विषादे, हृदयेर अवसादे, पुनरपि पढ़े एक श्लोक ॥३२॥

श्रीकृष्ण के हस्त-चरण कोटि-कोटि चन्द्रों के समान सुशीतल हैं, उनका स्पर्श करना (सेवा करना) मानों पारस मणि के स्पर्श तुल्य है। जिस शरीर ने (मनुष्य ने) उनका स्पर्श नहीं किया है, वह जलकर राख होजाय तो अच्छा है, वह शरीर लोहे के समान है अर्थात् लोहे की तरह अग्नि (त्रितापों) में पड़कर पिटने (दुखों के भोग करने) योग्य है ॥३१॥ श्रीमहाप्रभु इस प्रकार विलाप करते-करते हृदय के शोक को प्रगट करते और) समस्त इन्द्रियों की व्यर्थता का अनुभव करके) अत्यन्त दीनता, निवद तथा दुःख से पीड़ित हृदय से फिर एक श्लोक पढ़ने लगते थे ॥३२॥

चै० च० चु० *टीका* – दुख, भय एवं अपराधादि वशतः अपने को निकृष्ट जानने का नाम दैन्य है। भीषण आर्ति ईर्ष्या-भाव, विच्छेद तथा सद्विवेकादि के द्वारा अपने को कोसने का नाम निर्वेद हैं, और चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य दीर्घश्वासादि निर्वेद के लक्षण हैं। श्रीमहाप्रभु अपनी समस्त इन्द्रियों की व्यर्थता को अनुभव करके दैन्य-निर्वेदादि भावों में आविष्ट होकर इस श्लोक को पढ़ने लगते।

तथाहि श्रीजगन्नाथवल्लभनाटके (३-११)

यदा यातो दैवान्मधुरिपुरसौ लोचनपथं तदास्माकं चेतो मदनहत-केनाहृतमभूत्।
पुनर्यस्मिन्नेष क्षणमपि दृशोरेति पदवीं विधास्यामस्तस्मिन्नखिल-घटिका रत्नखचिताः ॥४॥

मेरे सौभाग्यवश वह मधुरिपु– श्रीकृष्ण जब मेरे नेत्रों के सामने आये थे, तब दुष्ट कामदेव ने मेरे मन को हरण कर लिया था (मैं उनके दर्शन भली-भांति न कर सकी) अब फिर जिस समय एक क्षण भर भी उनके दर्शन पाऊँगी तो उस समय की समस्त घड़ियों को मैं अनेक रत्नों में मढ़कर रखूंगी अर्थात् आनन्द में बेसुद्धि न होकर उस समय के प्रति क्षण में उनके रूपादि की सेवा में मैं अपनी समस्त इन्द्रियों को इस लगन से लगा दूंगी कि उनकी वह माधुरी मूर्त्ति मेरे समस्त जीवन तक स्मृति पथ पर चमकती रहेगी ॥४॥ इस श्लोक का भाव ग्रन्थकार निम्न की त्रिपदी में वर्णन करते हैं।

अस्यार्थः। यथारागः ॥

येकाले वा स्वपने, देखिनु वंशीबदने, सेइकाले आइला दुइ बैरी।
आनन्द आर मदन, हरि निल मोर मन, देखिते ना पाइनु नेत्र भरि ॥३३॥
पुन यदि कोन क्षण, कराय कृष्ण दरशन, तबे सेइ घटी क्षण पल।
दिया माल्य—चन्दन, नाना रत्न आभरण, अलङ्कृत करिमु सकल ॥३४॥
क्षणे बाह्य हैल मन, आगे देखे दुइजन, तारे पूछे–आमि ना चैतन्य ?
स्वप्नप्राय कि देखिनु, किवा आमि प्रलापिनु, तोमारा किछु शुनियाछ दैन्य ? ॥३५॥

श्रीराधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु कहते थे—"दैवयोग से जिस समय जागृत में अथवा स्वप्न में मैंने मुरलीधारी श्रीकृष्ण को देखा, उस समय दो बैरी आ उपस्थित हुए—एक तो आनन्द और दूसरा कामदेव। इन दोनों ने मेरा मन हरण कर लिया, अतः नेत्र भर कर उनका दर्शन न कर सकी ॥३३॥ यदि सौभाग्यवश फिर कभी श्रीकृष्ण के दर्शन पाऊँ (तो फिर इन बैरियों को पास न भटकने दूंगी) उस समय की प्रति घड़ी को, प्रति पल को, प्रति क्षण को माला-चन्दन तथा अनेक रत्न-भूषणों से सुसज्जित करूंगी, अर्थात् नेत्र भर कर उनके दर्शन करूंगी एवं अपनी समस्त इन्द्रियों को सार्थक कर लूंगी ॥३४॥ इस प्रकार की विरहावस्था से श्रीमहाप्रभु का मन जब बाह्यावस्था (चेतनता) को प्राप्त होता, तो वे अपने सामने श्रीरायरामानन्द एवं श्रीस्वरूपदामोदर—इन दोनों को देखते। प्रभु उनसे पूछने लगते—"कि

क्या मैं चैतन्य (कृष्णचैतन्य) नहीं हूँ ? मैं क्या यह स्वप्न देख रहा था ? क्या मैं कुछ प्रलाप भी कर रहा था ? तुमने भी मेरा कुछ दीनतापूर्वक प्रलाप सुना है ? ॥३५॥

शुन मोर प्राणेर बान्धव ।

नाहि कृष्णप्रेमधन, दरिद्र मोर जीवन, देहेन्द्रिय वृथा मोर सब ॥३६॥

पुने कहे हाय हाय, शुन स्वरूप रामराय, एइ मोर हृदय–निश्चय ।

शुनि करह विचार, हय नय कह सार, एत बलि श्लोक उच्चारय ॥३७॥

ओ मेरे प्राण सखा ! मेरे प्राणों की कथा को सुनो । मैं कृष्ण-प्रेमधन से वञ्चित हूँ । मेरा जीवन दरिद्री है । मेरी सब इन्द्रियां एवं शरीर व्यर्थ हैं ॥ ३६ ॥ हाय ! हाय ! स्वरूपदामोदर ! रामानन्द ! सुनो, मेरे हृदय का यही निश्चय है । इसे सुनकर तुम ही विचार पूर्वक कहो-ऐसा है कि नहीं । सत्य कहो ।" इतना कह कर महाप्रभु ने निम्न श्लोक पढ़ा ॥३७ ॥

तथाहि श्रीमद्भागवते दशमस्कस्कन्धस्थैकत्रिशोध्यायस्य प्रथमाङ्कधृत
"जयति — तेऽधिकम्" — इत्यस्य — तोषणीधृतन्याय :—

कइ अव रहिअं पेम्मं णहि होइ माणुसे लोए ।

जइ होइ कस्स विरहो विरहे होन्तस्मि को जीअइ ॥ ५ ॥

संस्कृत – अन्वय :—

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके । यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥

मनुष्य लोक में शुद्ध प्रेम (अपने सुख की कामना रहित प्रेम) प्राप्त होना दुर्लभ है । यदि वह प्राप्त हो जाय तो फिर प्रेमी का प्रेमास्पद से वियाग नहीं होता । यदि वियोग हो तो कोई भी प्रेमी जीवित नहीं रह सकता ॥ ५ ॥ श्री कविराज इस श्लोक का अर्थ निम्न की त्रिपदी में वर्णन करते हैं ।

अस्यार्थः । यथाराग : ॥

अकैतव कृष्ण–प्रेम, येन जाम्बुनद–हेम, सेइ प्रेमा नृलोके ना हय ।

यदि हय तार योग, ना हय तार वियोग, वियोग हैले केहो न जीयय ॥ ३८ ॥

एत कहि शचीसुत, श्लोक पढ़े अद्भुत, शुने दोंहे एकमन हैया ।

आपन हृदयकाज, कहिते वासिये लाज, तबु कहि लाजबीज खाइया ॥ ३९ ॥

कपट रहित अर्थात् विशुद्ध श्रीकृष्ण-प्रेम जो विशुद्ध स्वर्ण की भाँति निर्मल है–वह इस नरलोक में प्राप्त नहीं होता । यदि उसकी प्राप्ति हो जाये, तो फिर वह तिरोहित नहीं होता, क्योंकि उसके तिरोहित होने से फिर कोई जीवित नहीं रह सकता ॥ ३८ ॥ ऐसा कह कर शचीनन्दन श्रीचैतन्य ने एक अद्भुत श्लोक पढ़ा जिसे श्रीस्वरूपदामोदर एवं श्रीरायरामानन्द मन देकर सुनने लगे । श्रीमहाप्रभु ने कहा–अपने हृदय की बात को कहने में लज्जा आती है, तो भी मैं लज्जा के बीज को खाकर अर्थात् निर्लज्ज होकर अपने हृदय की बात को कहता हूँ ॥ ३९ ॥

चै० च० चु० *टीका*—कैतव नाम कपटता का है । अन्दर दूसरा भाव और बाहर दूसरा भाव होना इसका नाम कपटता है । जिस में कैतव नहीं वह अकैतव है । अपने सुख की गन्ध मात्र भी जिस कृष्णप्रेम में न हो, एवं भोगों तथा मुक्ति तक की भी वासना जिस प्रेम में न हो, केवल श्रीकृष्ण के सुख

के लिये जो प्रीति है–उस विशुद्ध प्रेम का नाम 'अकैतव–कृष्णप्रेम' है—इस प्रकार का विशुद्ध प्रेम मनुष्य लोक में नहीं प्राप्त होता। किन्तु "यदि हय तार योग"—इस पद से जाना जाता है कि ऐसे विशुद्ध कृष्ण-प्रेम का जगत् में अत्यन्ताभाव नहीं है अर्थात् मनुष्य लोक में किसी को कभी भी अकैतव-कृष्णप्रेम प्राप्त न होता हो—ऐसी बात नहीं है—इस प्रकार का विशुद्ध प्रेम मनुष्यलोक में प्राप्त होता है, किन्तु कदाचित्, बहुत थोड़े भाग्यवान पुरुषों में। श्रवण–कीर्त्तनादि साधन-भक्ति के अङ्गों का अनुष्ठान करते-करते भगवत् कृपा से जब चित् शुद्ध हो जाता है तब उसमें शुद्ध सत्व का आविर्भाव होता है। क्रमशः समस्त अनर्थों के दूर हो जाने पर वही शुद्ध सत्व कृष्णप्रेमरूप में बदल जाता है, हाँ, किन्तु ऐसा शुद्ध कृष्ण-प्रेम सुदुर्लभा भक्ति की तरह सुदुर्लभ ही है।

कारण यह है कि कृष्णप्रेम स्वरूपशक्ति की वृत्ति विशेष है। इसकी गति सदा श्रीकृष्ण की ओर ही रहती है क्योंकि सब प्रकार से श्रीकृष्ण की ही प्रीति विधान करना स्वरूपशक्ति का परम कर्त्तव्य है। जीव में स्वरूपशक्ति के न होने से स्वरूप शक्ति की वृत्ति विशेष कृष्णप्रेम में जीव भी स्वभावतः नहीं है। इसलिये यह कहा गया है कि विशुद्ध कृष्णप्रेम मनुष्य लोक में नहीं होता। मनुष्य लोक में जीव स्वरूप-शक्ति की कृपा से वञ्चित होकर माया शक्ति के द्वारा ही कवलित होकर विषय भोगों में अर्थात् अपने सुख के लिये ही सब चेष्टाओं को पूरा करने में व्यस्त रहता है। मायावद्ध जीव के हृदय में जो प्रीति देखी जाती है, वह माया की वृत्ति विशेष है। उसकी गति जीव के अपने सुख की ओर ही रहती है। अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करना ही उसका स्वभाव है। अतः जीव में उस अकैतव-प्रेम की उत्पत्ति सुदुर्लभ ही कही गई है।

किन्तु जैसे लोहे में जलाने की शक्ति न होते हुए अग्नि के संयोग से उसमें जलाने की शक्ति का सञ्चार हो जाता है, उसी प्रकार मायावद्ध जीव में स्वरूपशक्ति स्वाभाविक न होने पर भी उस शक्ति के योग से स्वरूपशक्ति की वृत्ति विशेष वह शुद्ध कृष्णप्रेम आविर्भूत हो जाता है। श्रीकृष्ण अपनी स्वरूपशक्ति को सदा निक्षेप करते रहते हैं—श्रवण कीर्त्तनादि साधनों के प्रभाव से जब जीव का चित्त शुद्ध हो जाता है तब उस शुद्ध चित्त को निक्षिप्त स्वरूपशक्ति को ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त होती है। स्वरूपशक्ति का शुद्ध चित्त में संयोग होते ही—उसका तादात्म्य प्राप्त होते ही वही स्वरूपशक्ति की वृत्ति शुद्ध चित्त में कृष्णभक्ति अथवा कृष्णप्रेम में बदल जाती है–इस प्रकार जीव के चित्त में कृष्णप्रेम आविर्भूत होता है।

श्रीकृष्ण कृपा से यदि कृष्णप्रेम चित्त में आविर्भूत हो जाये, फिर उसका चित्त से तिरोभाव नहीं होता। शंका हो सकती है, कि प्रेम जब जीव चित्त की स्वाभाविक वस्तु नहीं है, कृष्णकृपा द्वारा प्राप्त आगन्तुक वस्तु-मात्र है, तो वह स्थायी भी नहीं होना चाहिए, जैसे अग्नि तादात्म्य लोहे की दाहिका शक्ति समय पाकर या अग्नि का संयोग नष्ट होने पर अन्तर्हित हो जाती है, तद्रूप कृष्णप्रेम भी जीव के चित्त से अन्तर्हित हो सकता है। परन्तु उसका समाधान यह है कि लोहे और अग्नि का संयोग जैसे नष्ट हो जाता है उस प्रकार स्वरूपशक्ति का चित्त से संयोग नष्ट नहीं होता। स्वरूपशक्ति जीव के चित्त पर एक बार कृपा करने के बाद फिर उसे वञ्चित नहीं करती। उसका कारण यह है कि स्वरूपशक्ति का एक मात्र कृत्य है श्रीकृष्ण की सेवा या उनकी प्रीति विधान करना। भक्तों के प्रेम-रस-निर्यास के आस्वादन करने में ही श्रीकृष्ण की सर्वातिशायी प्रीति है। अतः इस आस्वादन की अनुकूलता विधान करना स्वरूपशक्ति का स्वरूपधर्म है। इस आनुकूल्य के विधान करने में स्वरूपशक्ति सदा सर्वदा नित्य निरवच्छिन्न भाव से तत्पर रहती है। स्वरूपशक्ति की यह सेवा-उत्कण्ठा प्रशमित नहीं होती बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। भक्तों के चित्त का प्रेम-रस-निर्य्यास आस्वादन श्रीकृष्ण को कराने के लिये स्वरूप शक्ति इतनी लालायित रहती है कि ब्रह्माण्ड के मायावद्ध असंख्य जीवों में शुद्ध चित्त अर्थात् भक्तों की या प्रेम-रस-निर्य्यास के पात्रों की संख्या को बढ़ाने में ही सदा यत्नशील रहती है जिससे श्रीकृष्ण अधिकाधिक प्रेम रस-निर्य्यास

आस्वादन कर सकें। अतः जो चित्त एक बार स्वरूपशक्ति की कृपा प्राप्त करता है-वह फिर उस कृपा से कभी भी वञ्चित नहीं होता-इसलिये कहा गया है कि जिस चित्त में एक बार ऐसा विशुद्ध प्रेम आविर्भूत होता है, फिर वह तिरोहित नहीं होता। विशेषतः प्रेमरस लोलुप श्रीकृष्ण भी उस प्रेम का तिरोहित होना नहीं चाहते और कृष्ण सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा के लिये उत्कण्ठिता स्वरूपशक्ति भी उस प्रेम का अन्तर्हित होना नहीं चाहती-तो फिर और कौन उसको अपसारित कर सकता है?

जब तक भक्त के हृदय में प्रेम रहता है तब तक प्रेमरस लोलुप श्रीकृष्ण भी उस चित्त का त्याग नहीं कर सकते। भक्त-चित्त में जब प्रेम सदा ही रहता है तब श्रीकृष्ण भी सदा सर्वदा भक्त-चित्त में अवस्थान करते हैं। हाँ! उत्कण्ठा बढ़ा कर रस-आस्वादन की नव-नवायमान चमत्कारिता विधान के लिये जब श्रीकृष्ण भक्त के हृदय से कौतुकवश समय समय पर जब कभी थोड़ी दूर चले जाते हैं, तो उस समय भक्त को उस समय के लिये थोड़ा वियोग अनुभव होता है, तब भक्त मानने लगता है कि 'मेरे चित्त में प्रेम नहीं है, यदि प्रेम होता तो भगवान् मुझे छोड़कर क्यों चले जाते? श्रीकृष्ण विरह से उसकी छाती जलने लगती है। भीतर आनन्दमग्न होते हुए भी कृष्णसेवा से अपने आपको वञ्चित मानते हुए, विरह-ज्वाला को असह्य जानकर भक्त अपने प्राणों को छोड़ने के लिये कृतसङ्कल्प हो जाता है। अतः कहा गया है कि उस प्रेम का वियोग होने पर कोई भी जीवित नहीं रहता है— रह सकता भी नहीं।

किन्तु श्रीकृष्ण के विरह से भक्त का वास्तविक मरण भी नहीं होता। भक्त जानता है कि उसके मरण समाचार से भक्तवत्सल भगवान् को दुख होगा जिससे उसकी कृष्ण-सुखैक-तात्पर्य-मयी-सेवा में अन्तराय पड़ता है। दूसरे भक्त श्रीभगवान् के मिलने की आशा में, उनसे मिलकर उनकी सेवा करने की आशा में धधकती हुई विरहानल की ज्वालाओं को भी सहन करके जीता ही रहता है, प्राणों को छोड़ता नहीं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण-विरह में व्याकुल राधाभावाविष्ट महाप्रभु अनेक दैन्य भरे आलापों से अपने आपको निर्लज्ज कहते हुए कहने लगे—"हे स्वरूप! हे रामानन्द! अकैतव-प्रेम की तो बात बहुत दूर है— मुझ में तो कपट-प्रेम भी नहीं है, प्रेम की गन्ध भी मुझ में नहीं है—इसी भाव का एक श्लोक कहते हैं—

तथाहि महाप्रभुपादोक्तः श्लोक :

न प्रेमगन्धोऽस्ति दरापि मे हरौ क्रन्दामि सौभाग्यभरं प्रकाशितुम्।
वंशीविलास्याननलोकनं विना विभर्म्मि यत् प्राणपतङ्गकान् वृथा॥ ६॥

"(विशुद्ध कृष्णप्रेम की बात तो दूर है) मुझ में तो श्रीकृष्ण के प्रेम की लेशमात्र गन्ध भी नहीं है। केवल अपने सौभाग्य को ही प्रगट करने के लिए मैं रोता हूँ। मुझे रोना ही चाहिये—क्योंकि वंशी विलासी श्रीकृष्णचन्द्र के मुखचन्द्र के दर्शन किये बिना भी मैं अपने प्राण पतङ्गों को धारण कर रहा हूँ (और यही प्रमाण है कि मुझ में कृष्णप्रेम की लेशमात्र भी गन्ध नहीं है। यदि मेरा उनमें प्रेम होता तो उनके मुखचन्द्र दर्शन बिना मैं इन प्राणों को त्याग देता)॥ ६॥ परवर्त्ती त्रिपदी में इस श्लोक का तात्पर्य वर्णन करते हैं।

अस्यार्थः। यथारागः॥

दूरे शुद्धप्रेम-गन्ध, कपट प्रेमेर बन्ध, सेइ मोर नाहि कृष्ण-पाय।
तबे ये करि क्रन्दन, स्वसौभाग्य-प्रख्यापन, करि इहा जानिह निश्चय॥४०॥
याते-बंशी-ध्वनि-सुख, ना देखि से चान्दमुख, यद्यपि से नाहि आलम्बन।
निजदेहे करि प्रीति, केवल कामेर रीति, प्राणकीटेर करिये धारण॥४१॥

राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु ने कहा—"विशुद्ध कृष्णप्रेम की गन्ध तो दूर रही मेरा तो श्रीकृष्ण के चरणों में कपट-प्रेम-बन्धन भी नहीं है अर्थात् अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिये भी मेरा उनके चरणों में प्रेम नहीं है। (यदि कोई कहे कि तुम कृष्णप्रेम में रोते तो रहते हो, तो उस का उत्तर देते हैं) मैं कृष्णप्रेम में नहीं रोता हूँ, मैं रोता हूँ अपना सौभाग्य प्रकाश करने के लिये। अर्थात् मुझे लोग रोता देखकर मुझे कृष्ण-प्रेमी कहेंगे, मुझे सौभाग्यवान जानेंगे—मेरी प्रशंसा करेंगे—बस इस लिये मैं रोता हूँ—यह निश्चय जानिये ॥४०॥ जिस मुखचन्द्र में वंशीध्वनि का सुख है, श्रीकृष्ण के उस मुखचन्द्र को तो आजतक मैंने देखा ही नहीं है। अतः मेरी प्रीति का विषय श्रीकृष्ण का मुखचन्द्र नहीं है (क्योंकि जिसे देखा ही नहीं—उसमें प्रेम कैसा ?) कृष्णप्रेम न होते हुए भी मैं अपने शरीर में प्रीति करता हुआ, उसका पालन करता हुआ प्राण-कीटों का पोषण कर रहा हूँ (क्योंकि प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान—ये प्राण श्रीकृष्ण सेवा सम्बन्ध से वञ्चित होने पर कीड़ों के समान तुच्छ एवं निरर्थक हैं) अतः मेरा जीवन अपनी इन्द्रियों के सुख अर्थात् काम के लिये ही व्यर्थ जा रहा है—उसमें प्रेम की गन्ध भी नहीं है ॥४१॥ (उस शुद्ध प्रेम का स्वरूप आगे कहते हैं।)

कृष्णप्रेम सुनिर्मल, येन शुद्ध—गङ्गाजल, सेइ प्रेमा अमृतेर सिन्धु।
निर्मल से अनुरागे, ना लुकाय अन्य दागे, शुक्लवस्त्रे यैछे मसी-बिन्दु ॥४२॥
शुद्धप्रेम सुखसिन्धु, पाइ तार एक बिन्दु, सेइ बिन्दु जगत् डुबाय।
कहिवार योग्य नहे, तथापि बाउले कहे, कहिले वा केवा पातियाय ? ॥४३॥

कृष्णप्रेम अत्यन्त निर्मल है। (तृण-कीचादि मैल से रहित) शुद्ध गङ्गाजल की भाँति कृष्ण प्रेम भी (सांसारिक विषयवासना रूप) मैल से रहित है और जैसे गङ्गाजल सुस्वादु एवं संसार मोचक है, कृष्णप्रेम भी परम मधुर एवं संसार मोचक है) वह प्रेम अमृत के समुद्र के समान है। जैसे सफेद वस्त्र पर स्याही का दाग नहीं छिपता, उसी प्रकार शुद्ध-कृष्णप्रेम में (स्वसुखवासना का) कोई भी धब्बा या दाग नहीं छिप सकता ॥४२॥ वह शुद्ध-कृष्णप्रेम सुख के समुद्रवत् है किन्तु उसका एक मात्र बिन्दु जगत् को डुबाने में समर्थ है अर्थात् जगत् की समस्त विषय-वासनाओं के सुख को लुप्त कर देता है। वह सुख अनिर्वचनीय है, परन्तु (उस प्रेम के बिन्दु का आस्वादन करने वाला) कोई-कोई पागल उसका वर्णन करने लगता है। किन्तु उसकी बात पर कौन विश्वास करता है ? अर्थात् उसका अनुभव किये बिना उस प्रेम-सुख की कथा पर कोई विश्वास नहीं करता ॥४३॥

एइमत दिने दिने, स्वरूप रामानन्द सने, निजभाव करेन विदित।
बाह्ये विषज्वाला हय, भितरे आनन्दमय, कृष्ण-प्रेमार अद्भुतचरित ॥४४॥
एइ प्रेमार आस्वादन, तप्त-इक्षु-चर्वण, मुख ज्वले, ना याय त्यजन।
सेइ प्रेमा यार मने, तार विक्रम से-इ जाने, विषामृते एकत्र मिलन ॥४५॥

इस प्रकार रात-दिन श्रीमहाप्रभु अपने भावों को श्रीस्वरूपदामोदर एवं श्रीरायरामानन्द के आगे प्रकट करते थे। (कृष्णप्रेम में दुख तथा सुख—दोनों विद्यमान हैं) उस प्रेम में बाहर तो विष की ज्वाला के समान महान दुख दीखता है किन्तु प्रेमी के मन में परम आनन्द का अनुभव होता है—कृष्ण-प्रेम की यह अनोखी कहानी है ॥४४॥ कृष्णप्रेम का आस्वादन गरम ईख को चबाने के समान है (गरम ईख को चबाने से मुख जलता है परन्तु स्वादिष्ट होने से उसे त्याग भी नहीं किया जा सकता—उसी प्रकार कृष्णप्रेम विष ज्वाला के समान दुखकारी होते हुए भी भीतर अनिर्वचनीय सुख का आस्वादन कराता है,

अतः उसे प्रेमी त्याग नहीं कर सकता) उस शुद्ध प्रेम का जिसने आस्वादन किया है वह ही उसके प्रभाव को जान सकता है। कृष्णप्रेम में विष तथा अमृत दोनों का मिलाप है ॥४५॥ इसके प्रमाण में एक श्लोक कहते हैं।

तथाहि विदग्धमाधवे (२-३०)

पीड़ाभिर्नवकालकूट--कटुता--गर्वस्व निर्वासनो
निःस्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कार--सङ्कोचनः।
प्रेमा सुन्दरि! नन्दनन्दनपरो जागर्त्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः ॥७॥

श्रीरूपगोस्वामी-कृत विदग्धमाधव-नाटक में पौर्णमासी देवी ने यह श्लोक नान्दीमुखी से कहता है "हे सुन्दरि! श्रीनन्दनन्दन का प्रेम जिसके हृदय में उदित होता है—उस प्रेम की पीड़ा एवं मधुरता को वही व्यक्ति ही ठीक-ठीक जान सकता है। उस प्रेम में ऐसी पीड़ा है कि नवीन सर्प की विष की तीव्रता और अहंकार को चूर-चूर कर देती है और जब उस प्रेम की आनन्दधारा प्रवाहित होती है, तब वह अमृत के माधुर्य के गर्व को भी सङ्कुचित कर देती है ॥७॥

अब श्रीमहाप्रभु की श्रीकृष्ण-विषयक विरह-दशा का दूसरी प्रकार से वर्णन करते हैं। श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर में जाकर श्रीमहाप्रभु जब गरुड़-स्तम्भ के पीछे खड़े होकर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करते, उस समय उनके मन में जिन भावों का उदय होता था—उनका वर्णन करते हैं।

ये काले देखे जगन्नाथ, श्रीराम सुभद्रा-साथ, तबे जाने आइलाङ कुरुक्षेत्र।
सफल हैल जीवन, देखिलुं पद्मलोचन, जुड़ाइल तनु--मन--नेत्र ॥४६॥
गरुड़ेर सन्निधाने, रहि करे दरशने, से--आनन्देर कि कहिव बले।
गरुड़स्तम्भेर तले, आच्छे एक निम्नखाले, से--खाल भरिल अश्रु जले ॥४७॥

श्रीमहाप्रभु जब श्रीबलराम एवं सुभद्रा के सहित श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करते तब वे (राधा-भाव में आविष्ट होकर) मनमें ऐसा जानते कि कुरुक्षेत्र में आकर श्रीकृष्ण दर्शन कर रहे हैं। वे कहने लगते थे—"आज मेरा जीवन सफल हुआ है। कमलनैन श्रीकृष्ण के दर्शन कर आज मेरे तन-मन एवं नेत्र शीतल हुए हैं ॥४६॥ श्रीजगन्नाथ-मन्दिर में जो एक गरुड़-स्तम्भ है, उसके पास खड़े होकर प्रभु श्रीजगन्नाथजी का दर्शन करते थे। उस समय के आनन्द को वर्णन करने के लिये कोई भाषा नहीं है। उस गरुड़-स्तम्भ के नीचे एक गड्ढा है, वह गड्ढा महाप्रभु के अश्रुजल से भर जाया करता था ॥४७॥

ताहां हैते घरे आसि, माटीर उपेर बसि, नखे करे पृथिवी--लिखन।
हाहा काहां वृन्दाबन, काहां गोपेन्द्र--नन्दन, काहां सेइ वंशीबदन ॥४८॥
काहां से त्रिभङ्गठाम, काहां सेइ वेणुगान, काहां सेइ यमुनापुलिन।
काहां रासविलास, काहां नृत्य--गीत--हास, काहां प्रभु मदनमोहन ॥४९॥
उठिल नाना भावावेग, मने हइल उद्वेग, क्षणमात्र नारे गोड़ाइते।
प्रबल विरहानले, धैर्य्य हैल टलमले; नाना श्लोक लागिला पढ़िते ॥ ५० ॥

श्रीजगन्नाथ-मन्दिर से महाप्रभु जब अपने निवास-स्थान पर लौटकर आते तो धूलि में पड़ जाते और अपने नखों से पृथिवी को कुरेदने लगते थे और विरह-व्याकुल होकर कह उठते—"हाय ! हाय !! वह श्रीवृन्दावन कहाँ है ? कहाँ हैं वे श्रीव्रजेन्द्रनन्दन ? हाय ! वे वंशीधारी कहाँ हैं ? वे ललित-त्रिभङ्गी कहाँ हैं ? वह वेणुध्वनि कहाँ है ? वे यमुना-पुलिन किधर हैं ? वह रास-विलास, वह नृत्य-गान, हास्यादि कहाँ गये हैं ? मदन-मनहारी मेरे प्रभु कहाँ हैं ?" इस प्रकार अनेक भावों का वेग उनके मन में उठने लगता एवं उन का मन तड़पने लगता था। उनके लिये एक क्षण भी बिताना असम्भव हो जाता था। श्रीकृष्ण की प्रबल विरह-ज्वाला में अधीर होकर अनेक श्लोक उच्चारण करने लगते थे ॥५०॥ उनमें से श्रीविल्वमङ्गल-रचित 'कृष्णकर्णामृत' का एक श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं।

तथाहि कृष्णकर्णामृते (४१)—

अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि हरे त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो करुणैकसिन्धो हा हन्त हा हन्त कथं नयामि ॥८॥

हाय ! हाय !! हे अनाथबन्धो ! हे करुणैक-सिन्धो ! हे हरे ! तुम्हारे दर्शन बिना दिन का यह प्रतिक्षण, प्रतिमुहूर्त्त—अभागा समय मैं कैसे बिताऊँ ? ॥८॥ इस प्रकार राधाभावावेश में श्रीमहाप्रभु अस्थिर हो जाते थे। इस श्लोक का भाव ग्रन्थकार निम्न-लिखित त्रिपदी में कहते हैं—

तोमार दर्शन बिने, अधन्य एइ रात्रि दिने, एइ काल न याय काटन।
तुमि अनाथेर बन्धु, अपार करुणासिन्धु, कृपा करि देह दरशन ॥५१॥
उठिल भाव चापल, मन हइल चञ्चल, भावेर गति बूझन ना याय।
अदर्शने पोड़े मन, केमने पाव दरशन, कृष्ण ठाञि पूछेन उपाय ॥५२॥

"हे कृष्ण ! तुम्हारे दर्शन के बिना यह दिन और रात निन्दनीय हैं, यह खोटा समय मुझसे नहीं काटा जाता। हे नाथ ! तुम तो अनाथों के बन्धु हो, तुम तो अपार करुणा के सिन्धु हो, कृपाकर मुझे दर्शन दीजिये" ॥५१॥ इस प्रकार श्रीकृष्ण-दर्शनों की तीव्र उत्कण्ठा में प्रभु में चापल-नामक सञ्चारी-भाव उदय हो आता जिससे उनका मन अति अस्थिर हो जाता। भावों की गति का भी उनमें कुछ पता न चलता था। श्रीकृष्ण-दर्शन के लिये वे तड़पने लगते और श्रीकृष्ण से ही उनके दर्शन का उपाय पूछने लगते ॥५२॥

राग-द्वेषादि-जनित चित्त की लघुता एवं गाम्भीर्य-हीनता का नाम **चापल-भाव** है, और अविचार, पारुष्य (कठोरता) तथा स्वच्छन्दाचरण उसके लक्षण हैं (भक्तिरसामृतसिन्धु १-४-८१) श्रीविल्बमङ्गलजी का एक श्लोक उद्धृत करते हैं जिसमें उन्होंने भी श्रीकृष्ण से ही उनके दर्शनों का उपाय पूछा है।

तथाहि तत्रैव (३२)—

त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि मच्चापलञ्च तव वा मम वाधिगम्यम्।
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासि–मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम् ॥९॥

"हे कृष्ण ! तुम्हारा शैशव (कैशोर) और मेरी चपलता ये दोनों त्रिभुवन में विचित्र ही हैं। ये दोनों तुम्हारे और सम्भवतः मेरे जानने योग्य ही हैं (और किसी के लिये नहीं) अब यह तुम ही बतलाओ कि तुम्हारे उस वंशी-विलासी मनोहर मुखकमल को नेत्र भरकर देखने के लिये मैं क्या उपाय करूं ? ॥९॥ इस श्लोक का भाव निम्न-लिखित त्रिपदी में व्यक्त करते हैं।

तोमार माधुरी बल, ताते मोर चापल, एइ तुमि--आमि जानि ।
काहां करों काहां याङ, काहां गेले तोमा पाङ., ताहा मोरे कह त आपनि ॥५३॥
नाना भावेर प्राबल्य, हइल सन्धि शाबल्य, भावे भावे हैल महारण ।
औत्सुक्य चापल्य दैन्य, रोषामर्ष आदि सैन्य, प्रेमोन्माद सभार कारण ॥५४॥

"हे कृष्ण ! आपके माधुर्य का जो प्रभाव है, तथा उससे जो चपलता मुझमें प्रगट होती है, इन दोनों को केवल तुम और मैं ही जानता हूँ । मैं क्या करूं ? कहाँ जाऊँ ? कहाँ जाने से तुम मुझे मिलोगे—यह सब, हे प्राणबन्धो ! मुझे तुम ही बता दो" ॥५३॥ इस प्रकार श्रीमहाप्रभु में नानाविध सञ्चारीभाव प्रबलरूप से उठते थे । उन भावों में सन्धि (दो अथवा अनेक भावों का एकत्र मिलन) तथा शाबल्य (भावों का परस्पर संघर्ष) होने लगता था, मानों भावों में परस्पर महायुद्ध हो रहा हो । औत्सुक्य (श्रीकृष्णदर्शन की असह्य उत्कण्ठा), चापल्य (चित्त की लघुता एवं गम्भीरता की हीनता), दैन्य (दुख, भय एवं अपराधों के वश अपने प्रति निकृष्ट ज्ञान), रोष (उग्रता या क्रोध), अमर्ष (तिरस्कार या अपमान-जनित असहिष्णुता) आदि भाव मानों उस महारण की सैना के सिपाही थे अर्थात् ये भाव श्रीमहाप्रभु के चित्त में उदित होकर एक दूसरे को मर्द्दन करने लगते थे । इस समस्त का कारण एकमात्र प्रभु क प्रेमोन्माद ही होता था ॥५४॥

महागज भावगण, प्रभुर देह इक्षुबन, गजयुद्धे बनेर दलन ।
प्रभुर हइल दिव्योन्माद, तनु–मनेर अवसाद, भावावेशे करे सम्बोधन ॥५५॥

औत्सुक्यादि अनेक भाव मानों मतवारे हाथी थे और श्रीप्रभु का शरीर मानो ईख के बन के समान । ईख के वन में हाथियों के युद्ध से जैसे ईख का बन मर्दित हो जाता है, उसी प्रकार उन भावों के परस्पर संघर्ष में प्रभु का शरीर मर्दित हो जाता था । श्रीमहाप्रभु में दिव्योन्माद होने लगता । (मोहनाख्य-महाभाव, जिसमें विरह की विवशता से समस्त सात्विक-भाव सुदीप्त हो उठते हैं, वह जब कभी एक अनिर्वचनीय वृत्ति विशेष को प्राप्त होता है, तब वह भ्रमसदृशी एक विचित्र दशा को प्राप्त कराता है—उसे 'दिव्योन्माद' कहते हैं)। प्रभु के तन-मन पीड़ित होते और उन भावों के आवेश में वे श्रीकृष्ण को अनेक नामों से पुकारने लगते । जैसा कि कृष्णकर्णामृत में कहा गया है—

तथाहि तत्रैव (४०)—

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो ।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम हा हा कदानु भवितासि पदं दृशोर्मे ॥१०॥

"हे देव ! हे प्यारे ! हे भुवनैकबन्धो ! (जगत् के एकमात्र सुहृद) हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणासागर ! हे नाथ ! हे रमण ! हे नैनाभिराम ! हाय हाय !! आपको कब मैं अपने नेत्रों से देखूंगा ? ॥१०॥ इस श्लोक की व्याख्या निम्न-लिखित त्रिपदी में करते हैं ।

उन्मादेर लक्षण, कराय कृष्ण स्फुरण, भावावेशे उठे प्रणय मान ।
सोल्लुण्ठ वचन रीति, मान गर्व व्याजस्तुति, कभु निन्दा कभु त सम्मान ॥५६॥
तुमि देव क्रीड़ारत, भुवनेर नारी यत, ताहे कर अभीष्ट–क्रीड़न ।
तुमि मोर दयित, मोते बैसे तोमार चित्त, मोर भाग्ये कर आगमन ॥५७॥

श्रीमन्महाप्रभु को उस दिव्योन्माद के कारण श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति होने लगती थी (अर्थात् अपने को वे श्रीराधा मान कर श्रीकृष्ण को अपने सामने साक्षात् खड़ा हुआ देखने लगते थे) भावावेश से उनका प्रेम मान एवं प्रणय-अवस्था को प्राप्त कर लेता (प्रेम की उत्तरोत्तर दशा स्नेह-मान-प्रणयादि का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका स्वरूप 'श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्तरत्न-संग्रह' के पृष्ठ नं० ८७ पर द्रष्टव्य है।) वे कभी परिहासयुक्त वचन कहने लगते, कभी मान-गर्व करने लगते (सौभाग्य, रूप-यौवन, गुण एवं सर्व-श्रेष्ठता तथा प्रियवस्तु की प्राप्ति होने के कारण, दूसरों की अवज्ञा करने का नाम गर्व है) और व्याजस्तुति (निन्दा के छल से स्तुति अथवा स्तुति के छल से निन्दा) करने लगते ॥ ५६ ॥ (वे अपने मनोगत भावों को इस प्रकार प्रकट करते) तुम देव हो—सदा क्रीड़ा-परायण हो-(तुम्हें मुझ से क्या प्रयोजन ? जाओ जाओ) जगत् में अन्यान्य जितनी नारियाँ हैं–उनसे जाकर अभीष्ट क्रीड़ा करो।" (इतना कहने पर मन में विचार आता कि मैंने तो श्रीकृष्ण का तिरस्कार कर दिया–वे तो चले गये। फिर औत्सुक्य भाव का उदय हो आता, उत्कण्ठित होकर कहने लगते)–तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो, तुम्हारा भी चित्त मुझ में ही रहता है—(यही मेरा सौभाग्य है) बस इसी सौभाग्य को सार्थक करने के लिये, हे प्रीतम ! मेरे पास आजाओ।" (इस त्रिपदी में अमर्ष एवं औसुक्य भावों की सन्धि हैं) ॥ ५७ ॥

भुवनेर नारीगण, सभा कर आकर्षण, ताहा कर सब समाधान ।
तुमि कृष्ण चित्तहर, ऐछे कोन पामर, तोमारे वा कोन करे मान ॥ ५८ ॥
तोमार चपलमति, ना हय एकत्र स्थिति, ताते तोमार नाहि किछु दोष ।
तुमि त करुणासिन्धु, आमार प्राणेरबन्धु, तोमाय मोर नाहि कभु रोष ॥ ५९ ॥

(फिर मन में ऐसा प्रतीत होता कि उनके बुलाने से श्रीकृष्ण उनके निकट आगये हैं और अन्यान्य रमणियों के साथ रमण करने के अपराध के लिये उनसे (श्रीराधाजीसे) क्षमा याचना कर रहे हैं। तब श्रीराधाभावाविष्ट प्रभु परिहासपूर्वक वक्रोक्तियुक्त वचन कहने लगते)—"तुमने जगत् की समस्त नारियों के साथ रमण किया है। (तो इसमें तुम्हारा क्या दोष है ? तुम केवल मेरे बन्धु थोड़े ही हो, तुम तो भुवनैकबन्धु हो न।) इसलिये जगत् की समस्त रमणियों को जाकर (वंशीध्वनि से) आकर्षण करो। (मुझ से क्षमा याचना की क्या आवश्यकता है?) उन सब से जाकर अपना समाधान अर्थात् प्रयोजन सिद्ध करो। (मानो श्रीकृष्ण वहाँ से चले जाते हैं, फिर दर्शनों के लिए व्याकुल होकर कहते हैं) 'तुम तो कृष्ण हो कृष्ण ! (अपने-गुण-माधुर्य से) सबके चित्त को हरण करने वाले हो। (मेरा चित्त भी तुमने हरण कर लिया है जिससे मैंने बेसमझे-बूझे आपका तिरस्कार किया है) भला, ऐसा कौन नीच होगा जो आपसे मान करे, आपसे रूठे ? (एक बार आओ प्यारे दर्शन दो)।" (फिर श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति होती है मानों श्रीकृष्ण कह रहे हैं, राधे ! मैं कहीं नहीं गया था। मैं तो कुञ्ज के बाहर खड़ा-खड़ा तुम्हें देख रहा था। तुम मुझ पर प्रसन्न होवो। तो कहते हैं)—हे कृष्ण ! तुम्हारी मति चञ्चल है। तुम्हारा मन एक जगह (एक नारी में) नहीं स्थिर रहता–इसलिये तुम्हारा कुछ दोष नहीं है (तुम बाहर ही चले जाओ, मेरी प्रसन्नता से तुम्हें क्या प्रयोजन ? मानों श्रीकृष्ण कुञ्ज से बाहर चले गये। अपनी क्रूर-उक्ति को जान कर पश्चाताप करते हुए फिर राधाभावाविष्ट प्रभु कहते हैं; हाय ! हाय ! तुम तो सचमुच चले गये, मुझे छोड़कर चले गये ? इतनी कठोरता ? क्या मेरे पास फिर नहीं आओगे ? नहीं, नहीं, तुम अवश्य आवोगे क्योंकि) तुम तो करुणा के सागर हो (मेरे अपराधों को क्षमा करोगे ही) मेरे प्राणबन्धु हो। मैं तुम पर क्रोधित नहीं हूँ। (प्राणबन्धो ! आओ एक बार दर्शन दो। (यहाँ उग्र एवं दैन्य भावों की सन्धि है) ॥ ५९ ॥ [इसके पश्चात् फिर श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति होतीहै मानो श्रीकृष्ण सामने

खड़े हैं, किन्तु स्वयं श्रीराधाजी चुप साधकर बैठी हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं प्रिये ! में आगया हूँ। मेरी ओर देखो न। बोलती क्यों नहीं हो। अपने मान से मुझे दुखी मत करो।''] इसके उत्तर में कहते हैं—

तुमि नाथ व्रजप्राण, व्रजेर कर परित्राण, बहुकार्यें नाहि अवकाश ।
तुमि आमार रमण, सुख दिते आगमन, ए तोमार वैदग्ध्य-विलास ॥६०॥
मोर वाक्य निन्दा मानि, कृष्ण छाड़ि गेल जानि, शुन मोर ए स्तुति-वचन ।
नयनेर अभिराम, तुमि मोर धन–प्राण, हा हा पुन देह दरशन ॥६१॥

हे नाथ ! (ऐसा मत कहो) तुम व्रज के नाथ हो, व्रजवासियों के प्राण हो। व्रजवासियों की रक्षा करने में तुम सदा व्यस्त रहते हो। तुम्हें बहुत काम लगे रहते हैं। मेरे निकट आने का तुम्हें अवकाश कहां हैं ? (आप जाओ, व्रजवासियों की रक्षा करो। इतने में श्रीकृष्ण चले जाते हैं। इधर मन में चपल-भाव का उदय होता है और व्याकुल होकर श्रीराधाभावाविष्ट महाप्रभु कहते हैं)—"तुम तो सदा मुझ से रमण किया करते हो। तुम आकर सदा मुझे सुख देते हो। (मैं जानती हूँ तुम मुझे छोड़कर कहीं दूर नहीं जाते, हाँ मुझे परन्तु दीखते नहीं हो) यह तुम्हारी कला बिलास-निपुणता (नाज-नखरा) है। (एकबार फिर आओ, अब मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी) ॥ ६० ॥ "मैंने तुम्हारा बहुत तिरस्कार किया है—यह जान कर क्या हे कृष्ण ! तुम मुझे छोड़ गये हो ? सुनिये, मेरी एक प्रार्थना सुनिये ! (मानो श्रीकृष्ण का दर्शन पाकर भुजा पसार कर उनसे आलिङ्गन करना चाहते हैं परन्तु आवेश उतर जाता है और अत्यन्त दुख में कहते हैं–) हे नैनाभिराम ! हे प्राणधन !! तुम कहां हो ? हाय ! हाय ! मुझे फिर कब आपका दर्शन होगा ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण-वियोग में स्फूर्त्ति और स्फूर्त्ति के बाद वियोग, फिर संयोग, और संयोग के बाद वियोग। उसमें अनेक भावों की सन्धि एवं शाबल्य पूर्ण श्रीमहाप्रभु को दिव्योन्माद हुआ करता था। अगली त्रिपदी में अष्ट सात्विक विकारों का परिचय देते हैं।

स्तम्भ कम्प प्रस्वेद, वैवर्ण्य अश्रु स्वरभेद, देह हैल पुलके व्यापित ।
हासे कान्दे नाचे गाय, उठि इति-उति धाय, क्षणे भूमे पड़िया मूर्छित ॥६२॥
मूर्च्छाय हैल साक्षात्कार, उठि करे हुहुङ्कार, कहे———एइ आइल महाशय ।
कृष्णेर माधुरी–गुणे, नाना भ्रम हय मने, श्लोक पढ़ि करये निश्चय ॥६३॥

श्रीराधाभावाविष्ट महाप्रभु के शरीर में श्रीकृष्ण विरह के कारण स्तम्भ, कम्प, प्रस्वेद-वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेद एवं पुलकादि सात्विक विकार होने लगते थे। कभी वे हंसने और कभी रोने लगते, नृत्य-गान करते-करते इधर-उधर दौड़ने लगते, कभी पृथ्वी पर गिर कर मूर्च्छित हो जाते ॥६२॥ मूर्च्छावस्था में उन्हें श्रीकृष्ण का साक्षात्कार होता, हुंकार करके उठ खड़े होते और कहते—' लो, यह महाशय आगये हैं।'' श्रीकृष्ण की माधुर्य वैचित्री का दर्शन कर उनके मन में अनेक प्रकार का भ्रम उठने लगता और श्रीमहाप्रभु फिर अपने मन के निश्चय को श्लोक पढ़ कर व्यक्त करते थे ॥ ६३ ॥

चै० च० चु० *टीका*—स्तम्भ कम्पादि—ये समस्त सात्विकभाव के लक्षण हैं। श्रीकृष्ण सम्बन्धित भावों से जब चित्त आक्रान्त होता है तब उसे सत्व कहते हैं। इस सत्त्व से स्वतः उत्पन्न होने वाले भावों को सात्विक-भाव कहते हैं। चित्त भगवद्भावों से आक्रान्त होकर जब अधीर हो उठता है तब वह प्राण वायु को आत्मसमर्पण करता है, फिर विकृत अवस्था को प्राप्त होकर शरीर को अतिशय क्षुभित करता है—उसके फल स्वरूप सात्विकभाव शरीर में दीखने लगते हैं। सात्विकभाव आठ प्रकार के

हैं (१) **स्तम्भ**—हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद और अमर्ष से स्तम्भ उत्पन्न होता है और इससे वाक्यादि शून्यता (मौन), निश्चलता हो जाती है एवं कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया का लोप हो जाता है। (२) **स्वेद**—हर्ष, भय, क्रोधादि के वश शरीर में क्लेद या पसीना आ जाने का नाम स्वेद है। (३) **रोमाञ्च या पुलक**—आश्चर्यमय वस्तु को देखने से, हर्ष, भय एवं उत्साह से शरीर की रोमावली (रोंगटे) खड़ी हो जाती है—उसे रोमाञ्च या पुलक कहते हैं। (४) **स्वरभेद**—विषाद, विस्मय, क्रोध, आनन्द और भय से आवाज के विकृत अथवा गद्गद् हो जाने का नाम स्वरभेद है। (५) **कम्प**—क्रोध, भय एवं हर्ष के कारण शरीर के काम्पने का नाम कम्प है। (६) **वैवर्ण्य**—विषाद, क्रोध, भय के कारण शरीर का पीला पड़ जाना, मलीन एवं कृश हो जाना—वैवर्ण्य कहलाता है। (७) **अश्रु** - हर्ष, भय, क्रोध, विषाद के कारण अपने आप नेत्रों से जल निकलने का नाम अश्रु है। हर्ष जनित अश्रु शीतल होते हैं परन्तु क्रोध शोकादि से आने वाले अश्रु गरम होते हैं। इस प्रकार के अश्रुओं में नेत्र क्षुभित एवं लाल हो जाते हैं एवं नाक बहने लगती है।(८) **मूर्च्छा या प्रलय**–सुखएवं दुःख के कारण चेष्टा-रहित एवं ज्ञान-रहित होजाने का नाम मूर्च्छा या प्रलय है—उससे पृथ्वी पर पतनादि हो जाता है। **हँसना-रोना**—इत्यादि उद्भास्वर-नामक अनुभाव कहे जाते हैं। चित्त के भावों का परिचय बाहर के जन समस्त लक्षणों द्वारा मिलता है—उन्हें **अनुभाव** कहते हैं। उन समस्त बाहरी विकारोंमें जो स्वाभाविक होते हैं अर्थात् जो भक्त के चेष्टा किये बिना अपने आप प्रकाशित होते हैं एवं चेष्टा करने पर भी भक्त जिन विकारों को रोक या छिपा नहीं सकता उन्हें—**सात्विक-भाव** कहा जाता है; जैसे अश्रु-कम्प, पुलकादि। और कई एक ऐसे विकार हैं जिन्हें भक्त चेष्टा करने पर दमन कर सकता है, उन विकारों को **उद्भास्वर-अनुभाव** कहते हैं—जैसे नृत्य, गीत, भूमि पर गिरना, चीत्कार करना, हुङ्कार, दीर्घश्वास, जृम्भा, अंगड़ाई लेना, लोकापेक्षा त्याग, लार-बहाना, अट्टहास्य, घूर्णा, हिचकी आदि। इस प्रकार अष्टम सात्विक-विकार मूर्छा में जब श्रीमहाप्रभु को श्रीकृष्ण की माधुर्य-वैचित्री का दर्शन होता तो वह भ्रम में पड़ जावे। क्रमशः समस्त भ्रम का निरसन करके राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु अपने आप किस निश्चित तथ्य तक पहुँचते–उसको निम्न श्लोक में व्यक्त करते हैं—

तथाहि श्रीकृष्णकर्णामृते (६८)—

मारः स्वयं नु मधुरद्युतिमण्डलं नु माधुर्यमेव नु मनोनयनामृतं नु।
वेणीमृजो नु मम जीवितवल्लभो नु कृष्णोऽयमभ्युदयते मम लोचनाय ॥११॥

"हे सखि ! यह क्या स्वयं कामदेव है ? (जगत् को मारने के लिये आया है क्या ?—फिर माधुर्य का अनुभव कर कहते हैं"—ना, ना, कामदेव में इतनी मधुरता कहाँ ?) या कोई मधुर ज्योति-पुञ्ज है ? (परन्तु ज्योतिपुञ्ज में इतनी चमत्कारिता कहाँ ?) यह मूर्तिमान् माधुर्य है क्या ? (केवल माधुर्य से मन एवं नेत्रों को इतनी तृप्ति नहीं हो सकती) तो क्या मेरे नेत्रों एवं मन को आनन्दित करने के लिये साक्षात् अमृत ही चला आया है ? (ना, ना, इसके तो हाथ-पांव दीख रहे हैं—अमृत के हाथ-पांव कहाँ?) तो क्या मेरी वेणी को संवारने वाले मेरे कान्त ही हैं ये ? (ऐसा ही निश्चित होता है) यह तो मेरे जीवन-वल्लभ श्रीकृष्ण ही हैं—मेंरे नेत्रों को आनन्द प्रदान करने के लिये पधारे हैं ॥११॥ नीचे की त्रिपदी में ग्रन्थकार इस श्लोक के भाव व्यक्त करते हैं।

किवा एइ साक्षात् काम, द्युतिबिम्ब मूर्त्तिमान, कि माधुर्य स्वयं मूर्त्तिमन्त।
किवा मनोनेत्रोत्सव, किवा प्राणवल्लभ, सत्य कृष्ण आइला नेत्रानन्द ॥६४॥

गुरु नाना भावगण, शिष्य प्रभुर तनु-मन, नाना रीते सतत नाचाय ।
निर्वेद विषाद दैन्य, चापल्य हर्ष धैर्य्य मन्यु, एइ नृत्ये प्रभुर काल याय ॥६५॥

"क्या यह साक्षात् कामदेव है ? या मूर्त्तिमान ज्योतिपुञ्ज है ? क्या स्वयं माधुर्य ही मूर्त्ति धारण कर आया है ? या मन एवं नेत्रों को आनन्द देने वाला अमृत है ? यह तो प्राणवल्लभ हैं ? नेत्रों के आनन्दप्रदाता साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं यह ॥६४॥ इस प्रकार अनेक प्रकार के भाव मानो गुरु स्वरूप थे और श्रीमहाप्रभु का तन-मन शिष्य के समान था । (जिस प्रकार शिष्य की समस्त चेष्टाएँ गुरु के आधीन होती हैं) उसी प्रकार अनेक प्रकार के भाव श्रीमहाप्रभु को निरन्तर नचाते रहते थे । निर्वेद (अपना हीन-ज्ञान) विषाद (इष्ट-वस्तु की अप्राप्ति, प्रारब्ध कार्य की असिद्धि, विपत्ति एवं अपराध से होने वाला अनुताप) दैन्य, चापल्य, हर्ष (अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में प्रफुल्लता), धैर्य्य (ज्ञान, दुख का अभाव) एवं मन्यु (प्रेमजनित क्रोध) आदि-आदि भावों से पूर्ण नृत्य गान में श्रीमहाप्रभु का समय बीतता था ॥६५॥

चण्डीदास विद्यापति, रायेर नाटक गीति, कर्णामृत श्रीगीतगोविन्द ।
स्वरूप–रामानन्द सने, महाप्रभु रात्रिदिने, गाय शुने परम आनन्द ॥६६॥
पुरीर वात्सल्य मुख्य,रामानन्देर शुद्ध सख्य, गोविन्दाद्येर शुद्ध दास्य-रस ।
गदाधर जगदानन्द, स्वरूपेर मुख्य रसानन्द, एइ चारि-भावे प्रभु वश ॥६७॥

श्रीचण्डीदास एवं श्रीविद्यापति की पदावली, रायरामानन्दजी का श्रीजगन्नाथ–वल्लभनाटक, श्रीविल्वमङ्गल विरचित श्रीकृष्णकर्णामृत तथा श्रीजयदेव के गीतगोविन्द के गीतों और पदों को श्रीस्वरूप-दामोदर तथा श्रीरायरामानन्द को सुनाकर अथवा उनसे सुनकर श्रीमहाप्रभु (शेष बारह वर्षों में) रात-दिन आनन्दमग्न रहते थे ॥६६॥ (श्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य या श्रीईश्वरपुरी के गुरुभाई) श्रीपरमानन्दपुरी का श्रीमहाप्रभु में वात्सल्य-भाव था । श्रीरायरामानन्द का उनमें शुद्ध सख्य-भाव था और श्रीगोविन्द आदि भक्तों का महाप्रभु में शुद्ध दास्य-रस था और श्रीगदाधर, श्रीजगदानन्द एवं श्रीस्वरूपदामोदरजी का प्रभु के प्रति (श्रीकृष्ण के प्रति) मधुर-भाव प्रधानरूप से था । श्रीमहाप्रभु इन चारों भावों के वशी-भूत रहते थे ॥६७॥ अनेक प्रकार के भावों का श्रीमहाप्रभु में उद्‌गम अथवा उन भावों की वशीभूतता कोई आश्चर्य की बात नहीं है––इसे अगली त्रिपदी में युक्तिपूर्वक कहते हैं ।

लीलाशुक मर्त्यजन, तार हय भावोद्‌गम, ईश्वरे से कि इहा विस्मय ।
ताहे मुख्यरसाश्रय, हइयाछेन महाशय, ताते हय सर्वभावोदय ॥६८॥
पूर्वे ब्रजविलासे, येइ तिन अभिलाषे, यत्नेह आस्वाद ना हइल ।
श्रीराधार भावसार, आपने करि अङ्गीकार, सेइ तिन वस्तु आस्वादिल ॥६९॥

लीलाशुक अर्थात् श्रीविल्वमङ्गल मर्त्यलोकवासी मनुष्य थे, जब उनमें नानाविध भावों का विकाश होता था तो फिर स्वयं भगवान् श्रीमहाप्रभु में इन भावों का उदय होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । उसमें भी फिर श्रीमहाप्रभु तो मुख्य रस अर्थात् मधुररस के आश्रय हैं—राधामहाभाव को ग्रहण किये हुए हैं । अतः उनमें सर्व भावों का उदय होना नितान्त सम्भव है ॥६८॥ द्वापर की ब्रजलीला में–(१) राधाप्रेम की महिमा, (२) अपना माधुर्य-आस्वादन, (३) तथा उस माधुर्य को आस्वादन कर श्रीराधाजी के आनन्द का स्वरूप––इन तीनों को जानने की अभिलाषा श्रीकृष्ण की यत्न करने पर भी पूर्ण न हो सकी । श्रीराधाजी के मादनाख्य महाभाव को अङ्गीकार कर श्रीकृष्ण ही श्रीचैतन्यरूप से प्रगट हुए और उन तीनों रसों का पूर्ण आस्वादन किया ॥६९॥

आपने करि आस्वादने, शिखाइल भक्तगणे, प्रेम-चिन्तामणिर प्रभु धनी ।
नाहि जाने स्थानास्थान, यारे तारे कैल दान, महाप्रभु दाता--शिरोमणि ॥७०॥
एछे गुप्त-भाव सिन्धु, ब्रह्मा ना पाय यार बिन्दु, हेन धन विलाइल संसारे ।
ऐछे दयालु अवतार, ऐछे दाता नाहि आर, गुण केहो नारे वर्णिवारे ॥७१॥

श्रीमहाप्रभुने उन तीनों रसों (वाञ्छाओं) का स्वयं आस्वादन किया एवं उनके आस्वादन करने के उपाय की शिक्षा भक्तगणों को भी दी, क्योंकि श्रीमहाप्रभु तो प्रेमरूप चिन्तामणि धन के धनी हैं न। उस प्रेम को प्रभु ने पात्र अपात्र का कुछ भी विचार न करके जहाँ-तहाँ वितरण किया—श्रीमन्महाप्रभु ऐसे दाता-शिरोमणि हैं ॥७०॥ जिस ब्रजभाव का समुद्र सत्य त्रेता एवं द्वापुर—इन तीनों युगों में गुप्त रहा आया, एवं जिसकी एक बिन्दु भी ब्रह्मा को प्राप्त न हो सकी—उस ब्रजभाव रूप धन को प्रभु ने समस्त संसार भर में लुटा दिया। श्रीगौराङ्ग जैसा दयालु अवतार और कौन है ? इनके समान और कोई भी कृपालु नहीं है। इनके गुणों को कौन वर्णन कर सकता है ॥७१॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकृष्ण के प्रति ब्रजवासियों का जिस प्रकार प्रेम था, वह प्रेम श्रीब्रह्माजी को भी प्राप्त न हो सका अथवा उनके लिये बिल्कुल दुर्लभ था—इसलिये ही ब्रह्म-मोहन लीला के बाद श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए श्रीब्रह्माजी ने उसी के लिये प्रार्थना की थी। श्रीब्रह्माजी ने कहा—(श्री भा० १०-१४-३४" ।)

तद्भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
एज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत् पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥इ॥

अर्थात्—"अनादि काल से अन्वेषण करती हुई भी श्रुतियां जिनकी चरण-रज का सन्धान नहीं प्राप्त कर सकीं; उन्हीं स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को जिन गोकुलवासियों ने प्रेम-प्रभाव से नितान्त अपना कर लिया है—उनमें से किसी एक ब्रजवासी जन की चरणरज यदि प्राप्त हो जाये तो मैं धन्य हो सकूंगा। इसलिये मेरी यही प्रार्थना है कि श्रीवृन्दावन के तृणों में अथवा गोकुल के बछड़ों में जन्म लेने का सौभाग्य मेरा हो, जिससे उन ब्रजवासियों की चरणरेणु प्राप्त कर मैं कृतार्थ हो जाऊँ"। इसलिये ऊपर की त्रिपदी में कहा गया है कि जिस ब्रज-प्रेम की एक बिन्दु भी श्रीब्रह्माजी को प्राप्त नहीं हो सकी—उसी ब्रज-प्रेम को श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी ने सर्वत्र प्रदान कर दिया। अतः इन जैसा दयालु अवतार और कोई भी नहीं हैं।

कहिवार कथा नहे, कहिले केहो ना बूझये, ऐछे चित्र चैतन्येर रङ्ग ।
से-इ-से बुझिते पारे, चैतन्येर कृपा यारे, हय तांर दासानुदास-सङ्ग ॥७२॥
चैतन्य-लीला-रत्नसार, स्वरूपेर भाण्डार, तेंहो थुइला रघुनाथेर कण्ठे ।
ताहा किछु ये शुनिल, ताहा इहा विवरिल, भक्तगणे दिल एइ भेटे ॥७३॥

श्रीचैतन्य की लीलाएँ ऐसी अद्भुत हैं कि कोई उनका वर्णन नहीं कर सकता, कहने पर भी उन्हें कोई समझ नहीं सकता। केवल वही इनकी लीलाओं का रहस्य जान सकता है, जिस पर उनकी कृपा हो एवं जिसको प्रभु के दासानुदास, महत्पुरुषों का सङ्ग प्राप्त हुआ हो ॥७२॥ श्रीचैतन्य की अन्त्य लीला मानो श्रेष्ठ रत्नों के समान है। उन रत्नों का भण्डार श्रीस्वरूपदामोदर के पास था। उन्होंने उन रत्नों की माला गूंथ कर श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के गले में पहनाई। अर्थात् श्रीमहाप्रभु की समस्त

अन्त्य-लीलाओं को श्रीस्वरूपदामोदर जी ने प्रत्यक्ष देखा। (श्रीरघुनाथदास गोस्वामीपाद ने भी चाहे प्रभु की अनेक लीलाओं को प्रत्यक्ष देखा फिर भी) श्रीस्वरूपदामोदरजी ने श्रीरघुनाथ गोस्वामीजी को प्रभु की अन्त्य-लीला सुनाई। ग्रन्थकार श्रीकविराज गोस्वामीपाद कहते हैं कि मैंने वह लीला श्रीरघुनाथ-दास गोस्वामीजी से सुनी और उन समस्त लीलाओं का मैंने श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत में वर्णन किया है। उस श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत को मैं उपहार के रूप में भक्तगणों को समर्पण करता हूँ ॥७३॥

यदि केह हेन कहे, ग्रन्थ हैल श्लोकमये, इतर जन नारिवे बुझिते।
प्रभुर येइ आचरण, सेइ करि वर्णन, सर्वचित्त नारि आराधिते ॥७४॥
नाहि कांहासो विरोध, नाहि कांहा अनुरोध, सहज वस्तु करि विवेचन।
यदि हय रागद्वेष, ताहां हय आवेश, सहज वस्तु न याय लिखन ॥७५॥

यदि कोई यह कहे कि श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में संस्कृत श्लोक अधिक हैं और उसे जन-साधारण नहीं समझ सकेंगे—तो उसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं—कि श्रीमहाप्रभु ने जो-जो लीला जैसे-जैसे की हैं, मैंने ठीक-ठीक उसी प्रकार ही उसका वर्णन किया है। और जो-जो श्लोक वे उच्चारण करते थे अथवा जहाँ-जहाँ जिस श्लोक की आवश्यकता मैंने अनुभव की वहाँ प्रभु के चरित्र-आस्वादन के लिये मैंने श्लोकों का उल्लेख किया है। सबके चित्त को तो कोई प्रसन्न नहीं कर सकता ॥७४॥ मेरा किसी से विरोध नहीं है और न ही किसी विषय में मेरा अनुरोध ही है। किन्तु प्रकृत वस्तु को वर्णन करने का ही मैंने यत्न किया है। जहाँ रागद्वेष होता है वहाँ चित्त भी रागद्वेष में आविष्ट हो जाता है फिर वहाँ सत्य वस्तु का वर्णन नहीं हो सकता ॥७५॥

येबा नाहि बुझे केहो, शुनिते शुनिते सेहो, कि अद्भुत चैतन्यचरित।
कृष्णे उपजिवे प्रीति, जानिबे रसेर रीति, शुनिलेइ हैबे बड़ हित ॥७६॥
भागवत श्लोकमय, टीका तार संस्कृत हय, तभु कैछे बुझे त्रिभुवन ?
इहां श्लोक दुइ-चारि, तार व्याख्या भाषा करि, केने ना बुझिबे सर्वजन ॥७७॥

जो लोग संस्कृत के श्लोकों को नहीं समझते हैं, वे भी इस ग्रन्थ को सुनते-सुनते उन्हें समझने लगेंगे—यह श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत की अद्भुत विशेषता है। इस ग्रन्थ को सुनने से श्रीकृष्ण में प्रेम उत्पन्न होता है एवं रस की रीति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। केवल सुनने से भी जनसाधारण का बहुत हित होगा ॥७६॥ श्रीमद्भागवतजी भी तो श्लोकों में रचित है और उसकी टीकाएँ भी प्राय: संस्कृत में ही हैं। उसे जब सब संसार समझ लेता है, तो यहाँ इस श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत में मैंने तो दो-चार श्लोक ही उद्धृत किये हैं फिर उनकी भी मैंने भाषा में व्याख्या की है, फिर कोई इसे क्यों न समझ सकेगा ? अर्थात् सब लोग इस ग्रन्थ का रस-आस्वादन कर सकेंगे ॥७७॥

शेष लीलार सूत्रगण, कैल किछु विवरण, इहा विस्तारिते चित्त हय।
थाके यदि आयु शेष, विस्तारिब लीला शेष, यदि महाप्रभुर कृपा हय ॥७८॥
आमि वृद्ध जरातुर, लिखिते कांपये कर, मने किछु स्मरण ना हय।
ना देखिये नयने, ना शुनिये श्रवणे, तभु लिखिए, बड़ विस्मय ॥७९॥

श्रीकविराज कहते हैं – श्रीचैतन्य की शेष लीला का सूत्ररूप से मैंने यहाँ थोड़ा वर्णन किया है। इसे विस्तारपूर्वक वर्णन करने की मेरी इच्छा है, हां, यदि मैं जीवित रहा तो प्रभु की शेष-लीला को

विस्तारपूर्वक आगे वर्णन करूंगा, उसमें भी यदि श्रीमहाप्रभु की कृपा बनी रही तो—यह इच्छा पूर्ण हो सकेगी ॥७८॥ मैं वृद्ध हूँ और जरावस्था से पीड़ित हूँ। लिखते हुए मेरे हाथ कांपते हैं। कोई बात याद भी नहीं रहती है, नेत्रों से बहुत कम दीखता है, कानों से पूरा सुन भी नहीं सकता हूँ, परन्तु फिर भी मैं श्रीचैतन्य-चरित को लिख रहा हूँ—यह बड़ा आश्चर्य है ॥७९॥

एइ अन्त्य–लीला सार, सूत्र मध्ये विस्तार, करि किछु करिल वर्णन।
इहा मध्ये मरि यबे, वर्णिते ना पारि तबे, एइ लीला भक्तगण धन ॥८०॥
संक्षेपे एइ सूत्र कैल, येइ इहां न लिखिल, आगे ताहा करिब विस्तार।
यदि ततदिन जीये, महाप्रभु कृपा हये, इच्छा भरि करिब विचार ॥८१॥

(ग्रन्थकार मध्य-लीला के सूत्र में अन्त्य-लीला के सूत्र वर्णन करने का यहाँ कारण कहते हैं) श्रीमहाप्रभु की यह अन्त्य-लीला समस्त लीलाओं का सार है और भक्तगणों का परम धन स्वरूप है। मैं यदि ग्रन्थ के सम्पूर्ण करने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँ तो यह श्रेष्ठतम लीला वर्णित न हो सकेगी। इसलिये उसे मैंने सूत्ररूप से एवं कहीं-कहीं विस्तारपूर्वक भी यहाँ वर्णन कर दिया है। यहाँ अन्त्य-लीला को संक्षेप से सूत्ररूप में ही मैंने वर्णन किया है, जिन लीलाओं को मैंने यहाँ वर्णन नहीं किया है उन्हें आगे विस्तारपूर्वक वर्णन करूंगा। यदि श्रीमहाप्रभु की कृपा से इतने दिन तक अर्थात् ग्रन्थ के शेष करने तक जीवित रहा तो इच्छा भर कर श्रीचैतन्यचरित की आलोचना करूंगा ॥८१॥

छोट बड़ भक्तगण, वन्दो सभार श्रीचरण, सभे मोर करह संतोष।
स्वरूपगोसाञिर मत, रूप रघुनाथजाने यत, ताहा लिखि नाहि मोर दोष ॥८२॥
श्रीचैतन्य नित्यानन्द, अद्वैतादि भक्तवृन्द, शिरे धरि सभार चरण।
स्वरूप रूप सनातन, रघुनाथेर श्रीचरण, धूलि करि मस्तक भूषण ॥८३॥
पाञा यार आज्ञाधन, ब्रजेर वैष्णवगण, वन्दो तार मुख्य हरिदास।
चैतन्यविलास सिन्धु, कल्लोलेर एक बिन्दु, तार कणा कहे कृष्णदास ॥८४॥

श्रीकविराज कहते हैं—"छोटे अथवा बड़े जितने भी भक्त हैं—उन सबके चरणों में मैं वन्दना करता हूँ। सब मुझ पर प्रसन्न हों। श्रीस्वरूपदामोदरजी की कड़चा अनुसार एवं श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामीपाद के कथनानुसार मैंने यह चरित्र लिखा है—इसमें मेरा कुछ प्रयास नहीं है ॥८२॥ श्रीचैतन्यमहाप्रभु, श्रीनित्यानन्दमहाप्रभु एवं श्रीअद्वैतादि भक्तों के चरणों को मैं अपने मस्तक पर धारण करता हूँ। श्रीस्वरूपदामोदर, श्रीरूप-सनातन गोस्वामीपाद तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरणों की धूलि को मैं अपने मस्तक पर भूषण सदृश धारण करता हूँ ॥८३॥ ब्रज के वैष्णव-गण—जिनमें श्रीहरिदासजी मुख्य हैं जिनकी आज्ञाशक्ति को पाकर मैं इस श्रीचैतन्यचरितामृत रूप सागर की तरङ्गों की एक बिन्दु को वर्णन कर सका हूँ—उन समस्त के चरणों में मैं श्रीकृष्णदास वन्दना करता हूँ ॥८४॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य-लीलायां अन्त्य-लीला-सूत्र वर्णने प्रेमोन्माद-प्रलाप वर्णनं-नाम द्वितीय परिच्छेदः ॥२॥

जयगौर

मध्य-लीला

तृतीय परिच्छेद

★

न्यासं विधायोत्प्रणयोऽथ गौरो वृन्दावनं गन्तुमना भ्रमाद्यः ।
राढ़े भ्रमन् शान्तिपुरीमयित्वा ललास भक्तैरिह तं नतोऽस्मि ॥१॥

(चौबीस वर्ष गृहस्थाश्रम में रहने के पश्चात्) जिन्होंने संन्यास ग्रहण किया एवं जो प्रेम के उच्छ्वास से श्रीवृन्दावन जाने के अभिलाषी होकर प्रेम-विह्वलता-जनित भ्रमवश राढ़ देश में भ्रमण करते रहे तथा शान्तिपुर में आकर जिन्होंने भक्तों के सङ्ग अनेक लीलाएँ कीं–उन्हीं श्रीगौरचन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

चै० च० चु० *टीका*—कविराज गोस्वामी श्रीकृष्णदासजी इस परिच्छेद से श्रीगौराङ्गप्रभु की मध्य-लीला का वर्णन आरम्भ करते हैं । इस परिच्छेद में उनका संन्यास-ग्रहण और श्रीवृन्दावन जाने के आवेश में प्रेमविह्वलता के वश राढ़ देश में जिस प्रकार वे तीन दिन तक भ्रमण करते रहे थे तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीचन्द्रशेखर आचार्य की युक्ति से शान्तिपुर में आकर श्रीअद्वैताचार्य प्रभु के घर भक्तों के साथ लीलास्वादन किया और माता-शची से उनका मिलन हुआ—इन समस्त लीलाओं का विस्तार-पूर्वक किया गया है ।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
चब्बिशवत्सर-शेष येइ माघ मास । तार शुक्लपक्षे प्रभु करिला संन्यास ॥२॥
संन्यास करि प्रेमावेशे चलिला वृन्दावन । राढ़ देशे तिन दिन करिला भ्रमण ॥३॥
एइ श्लोक पढ़ि प्रभु भावेर आवेशे । भ्रमिते पवित्र कैल सब राढ़देश ॥४॥

श्रीकृष्ण चैतन्यदेव एवं श्रीनित्यानन्द महाप्रभु की जय हो, जय हो ; श्रीमन्महाप्रभु जब चौबीस वर्ष के थे, उसी वर्ष के शेष में आने वाले माघ मास के शुक्ल पक्ष में (संक्रान्ति के दिन) उन्होंने संन्यास ग्रहण किया । संन्यास ग्रहण कर के श्रीमहाप्रभु प्रेमावेश में श्रीवृन्दावन की ओर चल दिये, किन्तु दिशाओं का ठीक ज्ञान न रहने से वे केवल राढ़ देश में ही तीन दिन तक भ्रमण करते रहे । श्रीमद्भागवत जी के निम्न लिखित श्लोक का गान करते हुए वे भावावेश में भ्रमण करते रहे और इस प्रकार उन्होंने राढ़देश को पवित्र कर दिया ॥१–४॥

तथाहि भागवते (११–२३–५८)—

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा—मध्यासितां पूर्वतमैर्महद्भिः ।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमोमुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥२॥

प्राचीन महर्षिगणों ने जिस परमात्मनिष्ठा का अवलम्बन किया एवं उपदेश दिया है, मैं उसी निष्ठा का अवलम्बन करके केवल मात्र श्रीमुकुन्द-चरण सेवा के द्वारा ही इस दुस्तर संसार या माया से उत्तीर्ण हो जाऊँगा ॥२॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमद्भागवतजी में कथा आई है कि अवन्तीनगरी में एक ब्राह्मण रहता था। वह था तो धनी परन्तु कृपण इतना था कि देव पितरों, बन्धु-बान्धवों, अतिथियों की तो क्या बात, वह अपने सुख-भोग के लिए भी कुछ खर्च न करता था। समय पलटा करता है—दुर्दैव से कुछ काल पीछे उसका समस्त धन-सम्पत्ति नष्ट होगया। वह इस दुःख से महान पीड़ित हुआ। दरिद्री को कौन पूछता है। अँधेरे में तो अपनी छाया भी साथ नहीं देती। फिर क्या था—स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धवों ने भी उसका परित्याग कर दिया। इस महान शोचनीय अवस्था में मानों किसी पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से उसके चित्त में वैराग्य-सा उत्पन्न हो आया और वह तपस्या करने के उद्देश्य से घर से निकल पड़ा। मौनव्रत धारण किये हुए एक भिक्षु के रूप में गाँव-गाँव में भ्रमण करने लगा। दुष्ट लोग जहाँ तहाँ उसे पागल जानकर अनेक प्रकार की पीड़ाएँ देने लगे। किन्तु वह उन पीड़ाओं से किञ्चित् भी विचलित न हुआ। उन अत्याचारों-अपमानादिक को चुपचाप सहन करता रहा और उसे अपना भोक्तव्य समझकर ग्रहण किया और युक्तिपूर्वक विचार कर उसने यही स्थिर किया कि ये दुष्ट-लोग वास्तव में मेरे दुःख का कारण नहीं हैं। इन्द्रियों के देवता, ग्रह, काल, कर्मादि भी दुख के हेतु नहीं हैं। दुख का एकमात्र कारण है—अपना मन। इस शरीर में मन की ही प्रधानता होने से शरीर भी दुख-सुख से प्रभावित होता है। जीवात्मा अप्राकृत चिद्वस्तु है, इसलिए प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होने वाले दुख-सुख भी आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकते। किन्तु जीवात्मा मन को और मनःप्रधान देह को आत्मरूप, अपने से अभिन्न मानकर मन के गुणों के साथ और प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होने वाले कर्मों के साथ लिप्त होकर फँस जाता है और कर्मों के फलानुसार अनेक योनियों में भ्रमण करता रहता है। मन एवं शरीर के सुख-दुख को अपना सुख-दुख मानकर यह जीवात्मा सुखी-दुखी होता है। अतः मन को ही संयत कर लेने पर इस जीव का मङ्गल हो सकता है। शरीर के सुख-दुख को अपना सुख-दुख मान लेना केवल भ्रान्ति है। जीवात्मा का स्वरूप शुद्ध है, अप्राकृत है—इस प्रकार वह भिक्षु जीवात्मा का स्वरूप-लक्षण निश्चय करके "एतां स आस्थाय" इत्यादि श्लोक का गान करता हुआ ग्राम-ग्राम में भ्रमण करता था।

श्रीमन्महाप्रभु भी इस श्लोक का उच्चारण करते हुए भ्रमण कर रहे थे। इस श्लोक में संसार सागर में उत्तीर्ण होने का परम-साधन कथन किया गया है। परात्मनिष्ठा अर्थात् जीवात्मा प्रकृति-माया से परे है, चिन्मय शुद्ध है—जीवात्मा के इस स्वरूप लक्षण में स्थिति या आस्था का नाम परात्मनिष्ठा है। इस प्रकार की आस्था कैसे हो सकती है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि श्रीमुकुन्द—(मुक्तिप्रदाता श्रीकृष्ण) की चरण-सेवा के द्वारा ही इस निष्ठा की आस्था हो सकती है। वस्तुतः श्रीकृष्ण-चरण-सेवा के बिना जीवात्मा के शुद्ध-स्वरूप में जीव की आस्था होना असम्भव ही है। शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि भी नहीं हो सकती। जीवात्मा के शुद्ध-स्वरूप का ज्ञान या विवरण प्राप्त हो सकता है किन्तु अविद्या या माया के कवल से मन को नहीं निकाला जा सकता। जब तक मन मुक्त नहीं कर लिया जाता, तब तक जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप में निष्ठा या अविचलित आस्था की रक्षा नहीं हो सकती। अनेक प्रकार के विघ्न आकर इस जीवात्मा को विचलित कर देते हैं और फिर मन को माया के कवल से मुक्त कर लेना जीव की शक्ति से बाहर हैं, क्योंकि माया श्रीभगवान् की शक्ति है। स्वयं भगवान् ही अपनी शक्ति को अपसारित करें तभी यह जीव उस माया के कवल से निकल सकता है—इसीलिए श्रीकृष्ण-चरण-शरणापन्न होने की परमावश्यकता है। श्रीभगवान् ने गीताजी (७।१४) में कहा है :—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ई॥

"हे अर्जुन ! मेरी यह गुणमयी देवी माया अति दुस्तर है, जो मेरी शरण में आ जाते हैं, केवल मात्र वही इससे उत्तीर्ण हो जाते हैं।" इसीलिये यहाँ कहा गया है कि केवल मात्र श्रीकृष्ण-चरण-सेवा के द्वारा ही जीवात्मा के शुद्ध-स्वरूप में अविचलित निष्ठा की रक्षा हो सकती है।

स्मरण रहे परात्म-निष्ठा से अर्थात् केवल जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने से जीव संसार से मुक्त नहीं हो सकता। संसार से उद्धार पाने का एक मात्र उपाय है श्रीकृष्णचरण-सेवा।

जीव चिन्मय है, अणुचित् है, अप्राकृत है, परपुरुष श्रीकृष्ण का अंश है अर्थात् जीव नित्य कृष्ण-दास है—इस प्रकार की परात्मनिष्ठा ऐकान्तिक भाव से अथवा अपने भावानुकूल भाव से श्रीकृष्ण-चरण-सेवा की अनुकूलता विधान करती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी लक्ष्य से ही प्राचीन महत् पुरुषों ने इस निष्ठा का आचरण या उपदेश किया है। ध्यान से देखा जाये तो जीव अपने स्वरूप (कृष्ण-दास स्वरूप) में ही अवस्थित होकर भगवत्-सेवा की चेष्टा कर सकता है। जब तक जीव अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं होता, उसके साधन-भजन में अनेकों विघ्न उत्पन्न होते रहते हैं और तब तक अविच्छिन्न भगवत्-स्मृति भी सम्भव नहीं हो पाती। साधन भजन का अनुष्ठान करते-करते भगवत्-कृपा से जब चित्त शुद्ध हो जाता है तब ही जीव की स्वरूप में स्थिति या स्वरूप की उपलब्धि कही जा सकती है और तब ही वह भगवत्-सेवा की योग्यता प्राप्त करता है। भगवत्-सेवा प्राप्त कर लेने के पश्चात् जीव सर्वतोभावेन संसार से मुक्त होकर श्रीभगवान् के शाश्वत धाम को प्राप्त करता है। इस प्रकार परात्मनिष्ठा संसार-मुक्ति का गौण ही कारण मानी जा सकती है किन्तु संसारमुक्ति का एक मात्र मुख्य उपाय श्रीकृष्णचरण-सेवा ही है। यही इस श्लोक का तात्पर्य है। जिसे अगले पयारों में कविराज गोस्वामी व्यक्त करते हैं।

प्रभु कहे—साधु एइ भिक्षुर वचन। मुकुन्द–सेवन–व्रत कैल निर्द्धारण ॥५॥
परात्मनिष्ठा मात्र वेशधारण। मुकुन्दसेवाय हय संसारतारण ॥६॥
सेइ वेश कैल एवे वृन्दावन गिया। कृष्णनिषेवन करि निभृते वसिया ॥७॥
एत बलि चले प्रभु प्रेमोन्मादेर चिन्ह। दिग्विदिग् ज्ञान नाहि-किवा रात्रिदिन ॥८॥

श्रीमहाप्रभु ने विचार किया—इस भिक्षुक के वचन यथार्थ हैं, क्योंकि, श्रीकृष्ण की सेवा ही जीव का एक मात्र व्रत (आवश्यक कार्य) है—जो उसने निर्धारित किया है। परात्मनिष्ठा अर्थात् जीवात्मा शरीर के सुख-दुःख से परे-चिन्मय वस्तु है—इसमें मेरी स्थितिमात्र या आस्थामात्र है अर्थात् संसार से मुक्त होने के लिये मैं इस आस्था पर निर्भर नहीं करता। एकमात्र श्रीकृष्ण-सेवा द्वारा ही जीव संसार-समुद्र से उत्तीर्ण हो सकता है अथवा प्रभु ने कहा—"मैंने जो यह वेशधारण अर्थात् संन्यास ग्रहण किया है वह तो केवल प्राचीन महर्षियों द्वारा आचरित परात्मनिष्ठा का मैंने आचरण किया है, केवल इससे संसार-बन्धन निवृत्त नहीं हो सकता। संसार-बन्धन की निवृत्ति तो केवल श्रीकृष्णचरण-सेवा द्वारा ही हो सकती है। इस वेश को मैं (परिचायक रूप में) धारण कर अब श्रीवृन्दावन जाऊँगा और वहाँ एकान्त में रहकर श्रीकृष्ण-सेवा करूंगा ॥७॥ इतना विचार करके श्रीमहाप्रभु श्रीवृन्दावन की ओर चलने लगे। उनमें प्रेमोन्मत्तता के लक्षण प्रगटित हो गये एवं उन्हें दिशा-विदिशा का ज्ञान न रहा कि वे किस ओर जा रहे हैं। यहाँ तक कि, अब रात है कि दिन ?—यह भी उन्हें ज्ञान न रहा ॥८॥

नित्यानन्द आचार्य्यरत्न मुकुन्द–तिनजन। प्रभु पाछे पाछे तिने करेन गमन ॥९॥
येइ येइ प्रभु देखे सेइ सेइ लोक। प्रेमावेशे 'हरि' बोले, खण्डे दुःख–शोक ॥१०॥

गोपबालक सब प्रभुके देखिया। 'हरि हरि' बलि उठे उच्च करिया ॥११॥
शुनि ता-सभार निकट गेला गौरहरि। 'बोल बोल' बोले सभार शिरे हस्त धरि ॥१२॥

श्रीनित्यानन्द, श्रीचन्द्रशेखर आचार्य्य एवं श्रीमुकुन्द—ये तीनों श्रीमहाप्रभु के पीछे-पीछे चलने लगे ॥६॥ जो-जो व्यक्ति प्रभु के दर्शन करते, वही प्रेमावेश में आकर 'हरि-हरि' बोलने लगते एवं उनके समस्त दुख-शोक निवृत्त हो जाते ॥१०॥ (आगे चलने पर कुछ गोपबाल अपनी गायें चरा रहे थे। गोपों के बालक प्रभु के दर्शन कर ऊँचे स्वर से सब 'हरि-हरि' बोल उठे ॥११॥ उनके मुख से श्रीहरिनाम सुन कर प्रभु उनके निकट चले गये और उनके सिर पर हाथ फेरते हुए उनको पुनः पुनः 'हरि-हरि' बोलने के लिये कहने लगे ॥१२॥

ता सभारे स्तुति करे—तोमरा भाग्यवान्। कृतार्थ करिले मोरे शुनाञा हरिनाम ॥१३॥
गुप्ते ता सभारे आनि ठाकुर नित्यानन्द। शिखाइल सभाकारे करिया प्रबन्ध—॥१४॥
वृन्दावन-पथ प्रभु पुछेन तोमारे। गङ्गातीर—पथ तवे देखाइह तांरे ॥१५॥
तबे प्रभु पुछिलेन—शुन शिशुगण। कह देखि कोन पथे याव वृन्दावन ? ॥१६॥

महाप्रभु उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे—"तुम सब भाग्यवान् हो (क्योंकि श्रीहरिनाम उच्चारण करते हो) एवं तुमने मुझे भी श्रीहरिनाम सुनाकर कृतार्थ कर दिया है ॥१३॥ श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीमहाप्रभु से छिपकर उन सब गोपबालकों को प्रीतिपूर्वक सिखाया कि "यदि प्रभु तुमसे श्रीवृन्दावन को जाने का मार्ग पूछें तो उन्हें गङ्गातीर जानेका मार्ग ही दिखा दीजिये"॥१५॥ इतनेमें प्रभुने आकर उनसे पूछा—"हे बालकगण! सुनिये, मुझे यह तो बताओ कि मैं श्रीवृन्दावन किस रास्ते से जाऊँ"॥१६॥

शिशुसब गङ्गातीर-पथ देखाइल। सेइ पथे आवेशे प्रभु गमन करिल ॥१७॥
आचार्य्यरत्नेरे कहे नित्यानन्दगोसाञि। शीघ्र याह तुमि अद्वैत-आचार्य्येर ठाञि ॥१८॥
प्रभु लैया याव आमि तांहार मन्दिरे। सावधाने रहे येन नौका लञा तीरे ॥१९॥
तवे नवद्वीपे तुमि करिह गमन। शचीसह लञा आइस सब भक्तगण ॥२०॥

सब बालकों ने प्रभु को गङ्गातीर का मार्ग ही दिखा दिया। प्रभु भी प्रेमावेश में उसी मार्ग से चल दिये ॥१७॥ श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीचन्द्रशेखर आचार्य्य से कहा कि "तुम शीघ्र ही श्रीअद्वैताचार्य्य के पास चले जाओ" और मैं प्रभु को उन्हीं के मन्दिर पर ला रहा हूँ, और उनसे कहिये कि वे गङ्गातीर पर नौका का प्रबन्ध कर सावधान रहें। तुम फिर वहाँ से शीघ्र नवद्वीप में चले जाना और शचीमाता के सहित सब भक्तों को (शांतिपुर में, श्रीअद्वैताचार्य के घर) ले आना ॥२०॥

तांरे पाठाइया नित्यानन्द महाशय। महाप्रभुर आगे आसि दिला परिचय ॥२१॥
प्रभु कहे-श्रीपाद! तोमार कोथाके गमन। श्रीपाद कहे-तोमार सङ्गे याव वृन्दाबन ॥२२॥
प्रभु कहे—कतदूरे आछे वृन्दाबन ?। तेंहो कहेन—कर एइ यमुना-दर्शन ॥२३॥
एत बलि तांरे निल गङ्गा-सन्निधाने। आवेशे प्रभुर हैल गङ्गाय यमुना-ज्ञाने ॥२४॥
'अहो भाग्य यमुनार पाइल दरशन'। एत बलि यमुनारे करेन स्तवन ॥२५॥

श्रीचन्द्रशेखर को उधर भेजकर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने आगे आकर श्रीमहाप्रभु को जनाया कि मैं (नित्यानन्द) भी आपके साथ चल रहा हूँ। (प्रभु को अभी तक उनके सङ्ग होने का कुछ भी ज्ञान

था) श्रीमहाप्रभु ने उन्हें देखकर कहा—"श्रीपाद ! तुम कहाँ चल रहे हो" ? श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"प्रभो ! मैं भी आपके साथ श्रीवृन्दावन चलूंगा" ॥२३॥ प्रभु ने पूछा—"श्रीवृन्दावन कितनी दूर है ?" श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"वह देखिये, सामने ही तो यमुनाजी हैं।" इतना कहकर वे प्रभु को श्रीगङ्गा के निकट लाए और प्रभु ने भी आवेश में श्रीगङ्गाजी को यमुना ही जाना ॥२४॥ "अहो ! मेरे बड़े भाग्य हैं कि मैंने यमुनाजी के दर्शन किये हैं"—ऐसा कहकर श्रीमहाप्रभु श्रीयमुनाजी की स्तुति करने लगे ॥२५॥

तथाहि चैतन्यचन्द्रोदयनाटके (५।१३)

चिदानन्दभानोः सदा नन्दसूनोः परप्रेमपात्री द्रवब्रह्मगात्री ।
अघानां लवित्री जगत्क्षेमधात्री पवित्रीक्रियान्नो वपुर्म्मित्रपुत्री ॥३॥

"निर्विशेष ब्रह्म जिनकी अङ्गकांति है, उन नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की जो नित्य परम प्रेयसी हैं और जलरूप द्रवब्रह्म जिसका शरीर है, (अर्थात् श्रीयमुना का चिन्मयजल ब्रह्म की द्रवीभूत अवस्था ही है) दर्शनमात्र से ही जो सर्वविध पापों को नाश करने वाली हैं, जगत् का मंगल करने वाली, वही सूर्य्यकन्या श्री यमुनाजी हमारे शरीर को पवित्र करे" ॥३॥

एत बलि नमस्करि कैल गङ्गास्नान । एक कोपीन——नाहि द्वितीय परिधान ॥२६॥
हेनकाले आचार्य्यगोसाञि नौकाते चढ़िया । आइला नूतन कौपीन-बहिर्वास लञा ॥२७॥
आगे आसि रहिला आचार्य्य नमस्कार करि । आचार्य्य देखि बोले प्रभु मने संशय करि—
तुमि त अद्वैतगोसाञि, हेथा केने आइला । आमि वृन्दावने, तुमि केमते जानिला ॥२८॥

इस प्रकार श्लोक पढ़कर प्रभु ने नमस्कार कर श्रीगङ्गा में स्नान किया। प्रभु के पास एक ही कौपीन (लंगोटी) थी, दूसरा कोई भी वस्त्र उनके पास नहीं था ॥२६॥ (वे भीजी हुई कौपीन धारण किये खड़े थे कि) इतने में श्रीअद्वैताचार्य्य नौका पर आ पहुञ्चे एवं प्रभु के लिये अपने साथ नवीन कौपीन एवं नवीन बहिर्वास भी लाये ॥२७॥ श्रीअद्वैताचार्य्यजी ने आगे आकर प्रभु को नमस्कार किया। श्रीआचार्य को देखकर प्रभु सन्देह में पड़ गये और संशयपूर्वक कहने लगे—"तुम तो अद्वैत गोसाईं हो न ? तुम यहाँ कैसे आ पहुँचे ? मैं वृन्दावन आया हूँ—यह तुमने कैसे जाना ?" ॥२८॥

आचार्य्य कहे—तुमि याहां से—इ वृन्दावन । मोर भाग्ये गङ्गातीरे तोमार आगमन ॥३०॥
प्रभु कहे—नित्यानन्द आमारे वञ्चिला । गङ्गाय आनिया मोरे 'यमुना' कहिला ॥३१॥
आचार्य्य कहे—मिथ्या नहे श्रीपादवचन । यमुनाते स्नान तुमि करिला एखन ॥३२॥
गङ्गाय यमुना बहे—हञा एकधार । पश्चिमे यमुना बहे—पूर्व्वे गङ्गाधार ॥३३॥
पश्चिमधारे यमुना बहे, ताहाँ कैले स्नान । आर्द्र-कौपीन छाड़ि शुष्क कर परिधान ॥३४॥

श्रीअद्वैत बोले—"प्रभो ! आप जहां रहो, वहाँ ही श्रीवृन्दावन है, मेरे सौभाग्य से आप तो गङ्गातीर पर पधारे हो" ॥३०॥ प्रभु को अब बाह्यज्ञान हुआ और कहने लगे—"नित्यानन्द ने मुझे धोखा दिया है, श्रीगङ्गाजी पर लाकर मुझे इसे श्रीयमुना ही बता दिया है" ॥३१॥ (प्रयाग में श्रीयमुना एवं श्रीगङ्गा के सङ्गम की धारणा को लेकर) श्रीअद्वैत ने कहा—"प्रभो ! श्रीनित्यानन्द के वचन मिथ्या नहीं हैं, आपने इस समय श्रीयमुना में ही स्नान किया है। क्योंकि श्रीगङ्गाजी और श्रीयमुनाजी (प्रयाग में) एक धारा होकर बहती हैं, पश्चिम में श्रीयमुना एवं पूर्व में श्रीगङ्गा की धारा बहती है। आपने अब पश्चिम धारा में ही स्नान किया है, वह श्रीयमुना की धारा है। (जो भी हुआ सो हुआ) प्रभो ! इस भीजी हुई कौपीन को छोड़ कर इस सूखी कौपीन को धारण कीजिये" ॥३२-३४॥

प्रेमावेशे तिनदिन आछ उपवास। आजि मोर घरे भिक्षा, चल मोर वास ॥३५॥
एकमुष्टि अन्न मुञि करियाछों पाक। शुकारुखा व्यञ्जन, एक सूप आर शाक ॥३६॥
एत बलि नौकाय चढ़ाइ निल निजघर। पादप्रक्षालन कैल आनन्द-अन्तर ॥३७॥
प्रथमेइ पाक करियाछेन आचार्य्याणी। विष्णुसमर्पण कैल आचार्य्य आपनि ॥३८॥

श्रीअद्वैत ने फिर कहा—"प्रेमावेश के कारण आपको तीन दिन का उपवास है, अतः आज मेरे घर पर चलकर भिक्षा (भोजन) कीजिये ॥३५॥ एक मुट्ठी भर चावल मैंने पकाये हैं। रूखा-सूखा एक व्यञ्जन दाल-साग है (और मेरे पास क्या है। आप चलिये)" ॥३६॥ इतना कहकर श्रीअद्वैत ने प्रभु को नौका पर चढ़ाया और उन्हें अपने घर ले आये। आनन्दपूर्वक श्रीअद्वैत ने प्रभु के चरण धोये ॥३७॥ (श्रीमहाप्रभु श्रीअद्वैत का गुरुतुल्य आदर करते थे और आगे चलकर प्रभु ने श्रीअद्वैत को अपने चरण सम्वाहन करने में निषेध भी किया है। अतः इस पयार का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि किसी दूसरे द्वारा पादप्रक्षालन कराया हो अथवा प्रभु ने स्वयं आनन्दपूर्वक पादप्रक्षालन किया हो) श्रीअद्वैत-ग्रहणी-सीतादेवी ने पहले से ही रसोई बना रखी थी। श्रीअद्वैत ने आकर स्वयं ही उसे भगवान् के समर्पण किया ॥३८॥

तिन ठांइ भोग बाढ़ाइल सम करि। कृष्णेर भोग बाढ़ाइल धातुपात्रोपरि ॥३९॥
बत्रिशा-आंठिया-कलार आङ्गटियापाते। दुइ ठांइ भोग बाढ़ाइल भालमते ॥४०॥
मध्ये पीत-घृतसिक्त शाल्यन्नेर स्तूप। चारिदिके व्यञ्जन डोङ्गा, आर मुद्गसूप ॥४१॥
वास्तुक-शाक-पाक विविध प्रकार। पटोल कुष्माण्डबड़ी मानकचु आर ॥४२॥

श्रीअद्वैत ने भगवत्-भोग को तीन सम भागों में सजाया। श्रीकृष्ण के निमित्त स्वर्णादि-पात्र में भोग रखा ॥३९॥ (श्रीचैतन्य एवं श्रीनित्यानन्द के लिये) दो जगह बत्तीस केले की फड़ी वाले केले के बड़े-बड़े पत्तों पर भोग को सजाया। (श्रीमहाप्रभु संन्यासी होने के कारण धातु-पात्रों में भोजन नहीं करते थे) ॥४०॥ श्रीअद्वैत ने भोगपात्र के बीच में हल्दी-युक्त घृत-से निषिक्त बढ़िया चावल रखे एवं उसके चारों ओर व्यञ्जनों के पात्र सजाये। मूंग की दाल, बथुआ के साग के अनेक पाक, एवं पटोल (परवल), कुष्माण्डबड़ी (पेंठे की बड़ी), मानकचु (अरबी) आदि व्यञ्जन सजाये ॥४२॥

चइ-मरीच सुक्ता दिया सब फल-मूले। अमृतनिन्दक पञ्चविध तिक्त झाले ॥४३॥
कोमल-निम्बपत्र-सह भाजावार्त्ताकी। पटोल फुलबड़ी भाजा कुष्माण्ड मानचाकी ॥४४॥
नारिकेलशस्य छाना शर्करा मधुर। मोचाघन्ट दुग्धकुष्माण्ड सकल प्रचुर ॥४५॥
मधुराम्ल बड़ाम्लादि अम्ल पांच-छय। सकल व्यञ्जन कैल-लोके यत हय ॥४६॥

चइ मिरच (एक प्रकार की मसालेदार लता) एवं कच्चे केलादि-फल, मूली आदि देकर बनाया हुआ सुक्ता (एक प्रकार का व्यञ्जन अथवा अचार) तथा नीम-आदि पाँच प्रकार के कडुवे पत्तोंयुक्त एवं मसालेदार व्यञ्जन मानो अमृत के स्वाद की भी निन्दा करने वाले बनाये ॥४३॥ कोमल-कोमल नीम के पत्तोंयुक्त भूने बैंगन का साग, परवल, फुलबड़ी, पेठा या लौकी तथा जिमीकन्द—॥४४॥ नारियल की कच्ची गिरी, पनीर, चीनी से बना हुआ मधुर व्यञ्जन, केले का बना हुआ मोचा-घन्ट (केले के फल लगने वाले कच्चे डण्डे का साग), दूध एवं कद्दू की मिठाई आदि—ये सब पदार्थ बहुत मात्रा में बनाये ॥४५॥ खट्टे-मीठे, दहीबड़े, और पाञ्च-छः प्रकार के खट्टे पदार्थ, और भी अनेक व्यञ्जन जो लोक-प्रसिद्ध हैं—सब श्रीअद्वैत ने भोग में सजाये ॥४६॥

मुद्गबड़ा कलाबड़ा माषबड़ा मिष्ट। क्षीरपुली नारिकेल यत पिठा इष्ट ॥४७॥
वत्रिशा-आंठिया-कलार डोङ्गा बड़बड़। चले हाले नाहि डोङ्गा—अति बड़ दृढ़ ॥४८॥
पञ्चाश पञ्चाश डोङ्गा व्यञ्जने पूरिया। तिन भोगेर आशे पाशे राखिल धरिया ॥४६॥
दुइपाशे धरिल सब मृत्कुण्डिका भरि। चांपाकला दधि सन्देश—कहिते ना पारि ॥५०॥

मूंग की दाल के बड़े, केला के बड़े, माश की दाल के मीठे बड़े, दूध की पूड़ियां, एवं नारियल की जितने प्रकार की सुन्दर पीठी बनाई जा सकती है—ये सब व्यञ्जन बत्तीस फड़ी लगने वाले केले के पत्तों से बनाये हुए दोनों में श्रीअद्वैत ने सजाये। वे दोनें इतने बड़े एवं ऐसे पक्के थे जो सहज में हिलाये-जुलाये नहीं जा सकते थे ॥४७—४८॥ पचासों दोनें व्यञ्जनों से भर-भरकर तीनों भोगों के आस-पास सजाये गए थे ॥४६॥ दोनों ओर छोटे २ केले, दही एवं मिठाई से भरकर मिट्टी के पात्र (सकोरे) सजाये—जिनका वर्णन नहीं हो सकता ॥५०॥

सघृत—पायस नव-मृत्कुण्डिका भरि। तिनपात्रे घनावर्त्तदुग्ध दिला धरि ॥५१॥
दुग्धचिड़ा कला आर दुग्ध लकलकि। यतेक करिल, ताहा कहिते ना शकि ॥५२॥
अन्न-व्यञ्जन-उपरे दिल तुलसीमञ्जरी। तिन जलपात्रे सुवासित जल भरि ॥५३॥
तिन शुभ्रपीठ——तार उपरे वसन। एइरूपे साक्षात् कृष्णे कराइला भोजन ॥५४॥

घी मिश्रित पायस (क्षीर) नवीन सकोरों में भरकर एवं तीन पात्रों में अधरोटा (गाढ़ा किया हुआ दूध) रखा ॥५१॥ दूध से बने चिरवा, केला और दूध में घीया के लच्छे डालकर बनाया हुआ व्यञ्जन आदि-आदि अनेक पदार्थ श्रीअद्वैत ने भोग रखे, जिनकी गणना नहीं हो सकती ॥५२॥ समस्त पकवानों एवँ व्यञ्जनों पर श्रीआचार्य ने तुलसी मञ्जरी चढ़ाई एवं तीन पात्रों में सुगन्धित जल भर कर रखा ॥५३॥ तीन सुन्दर आसन थे, जिन पर सुन्दर कपड़ा बिछाया—इस प्रकार श्रीअद्वैत ने साक्षात् श्रीकृष्ण को भोजन कराया ॥५४॥

आरति काले दुइ प्रभु बोलाइल। प्रभु सङ्गे सभे आसि आरति देखिल ॥५५॥
आरति करिया कृष्णे कराइला शयन। आचार्य्यगोसाञि आसि प्रभुरे कैल निवेदन ॥
गृहेर भितरे प्रभु ! करुन गमन। दुइभाइ आइला तवे करिते भोजन ॥५७॥
मुकुन्द-हरिदास दुइ प्रभु बोलाइला। जोड़हाते दुइजन कहिते लागिला ॥५८॥

भोग-आरती के समय श्रीअद्वैत ने श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु, इन दोनों को बुलाया। प्रभु के सङ्ग और भी सब भक्तों ने आकर आरती के दर्शन किये ॥५५॥ आरती कर श्रीअद्वैत ने श्रीकृष्ण की शयन कराई एवं उन्होंने आकर प्रभु से इस प्रकार निवेदन किया—॥५६॥ "प्रभो ! आप अन्दर पधारो"। यह सुनकर दोनों भाई (श्रीचैतन्य एवं श्रीनित्यानन्द) भोजन करने के लिये उठे ॥५७॥ प्रभु ने श्रीमुकुन्द एवं श्रीहरिदास को भोजन के लिये अन्दर चलने को बुलाया। दोनों हाथ जोड़कर कहने लगे—॥५८॥

मुकुन्द कहे—मोर किछु कृत्य नाहि सरे। पाछे मुञि प्रसाद पामु, तुमि याह घरे ॥५६॥
हरिदास कहे—मुञि पापिष्ठ अधम। बाहिरे एकमुष्टि पाछे करिमु भोजन ॥६०॥

दुइप्रभु लञा आचार्य्य गेला भितर घर। प्रसाद देखिया प्रभुर आनन्द अन्तर—॥६१॥
"ऐछे अन्न ये कृष्णेरे कराय भोजन। जन्मे—जन्मे शिरे धरों ताहार चरण" ॥६२॥

श्रीमुकुन्द ने कहा—"प्रभो ! मेरा नित्यकृत्य (भजनादि) अभी कुछ बाकी है। अतः उसे पूरा कर पीछे मैं प्रसाद लूँगा। आप (भोजन के लिए) घर में अन्दर जाइये" ॥५९॥ श्रीहरिदास ने (अपने को यवनगृह में जन्मा हुआ जानकर) कहा—"मैं तो पापी हूँ, अधम हूँ। मैं अन्दर न जाकर बाहर ही एक मुट्ठी भर प्रसाद ले लूँगा" ॥६०॥ श्रीअद्वैत फिर दोनों प्रभुपादों को साथ लेकर घर के अन्दर गये। प्रसाद को देखकर श्रीमहाप्रभु मन में बहुत आनन्दित होकर कहने लगे—"इस प्रकार (प्रेमपूर्वक एवं अनेकों व्यञ्जनों युक्त) भोजन श्रीकृष्ण के लिए जो कराये, अथवा कराता है। मैं उसके चरणों को जन्म-जन्म अपने सिर पर धारण करने योग्य समझता हूँ" ॥६२॥

प्रभु जाने तिन भोग—कृष्णेर नैवेद्य। आचार्य्येर मनःकथा नहे प्रभुर वेद्य ॥६३॥
प्रभु कहे—बैस तिने करिये भोजन। आचार्य्य कहे—आमि करिव परिवेशन ॥६४॥
कोन स्थाने बसिव? आर आन दुइ पात। अल्प करि आनि, ताहे देह व्यञ्जन भात ॥६५॥
आचार्य्य कहे, बैस दोंहे पीड़िर उपरे। एत बलि हाते धरि बसाइल दोंहारे ॥६६॥

श्रीमहाप्रभु ने उन तीनों भोगों को श्रीकृष्ण के समर्पण किया हुआ जाना और श्रीअद्वैत के मन की बात को वे न जान सके ॥६३॥ प्रभु ने कहा—"बैठिये, तीनों भोजन करेंगे।" श्रीअद्वैत ने कहा—"आप बैठिये, मैं तो परिवेशन करूँगा" ॥६४॥ प्रभु ने पूछा—"हम दोनों कहाँ बैठें ? दो पत्ता लाइये, जिन पर थोड़े चावल और थोड़ा सागादि व्यञ्जन हमारे लिये रख दीजिये।" श्रीअद्वैत ने कहा—"प्रभुपाद ! आप दोनों इन आसनों पर ही बैठिये।" यह बात सुनकर प्रभु कुछ सोचने लगे, परन्तु श्रीअद्वैत ने दोनों का हाथ पकड़ कर अनुरोधपूर्वक उन्हें आसनों पर बैठा ही दिया ॥६६॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीअद्वैतप्रभु ने तीन समान भागों में तीन स्थानों पर पदार्थ सजाये थे। एक तो सोने आदि धातुओं के पात्रों में और दो जगह दोनों-पत्तों पर ही भोग सजाया था। श्रीअद्वैत ने केवल धातु-पात्रों वाले पदार्थों को श्रीकृष्ण के अर्पण किया था और अपनी भावना में दूसरे दोनों पदार्थों को अमनिया (अनिवेदित) ही रहने दिया। कारण कि श्रीचैतन्य, श्रीकृष्ण ही तो हैं और श्रीनित्यानन्द, श्रीबलराम हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण का प्रसादी-पदार्थ श्रीकृष्ण को ही (श्रीचैतन्य महाप्रभु को) अर्पण करना उचित न समझा और इसी प्रकार श्रीकृष्ण का प्रसादी-पदार्थ—श्रीबलराम जी को (श्रीनित्यानन्दप्रभु को) भी अर्पण करना उन्हें सङ्गत नहीं लगा। अतः उन्होंने उन पत्तों पर धरे हुये पदार्थों को अपनी भावना में श्रीकृष्ण को अर्पण नहीं किया—यह थी श्रीअद्वैत की मन-कथा जिसको श्रीमहाप्रभु उस समय न जान सके। श्रीअद्वैत ने परिवेशन का बहाना करके प्रभुपादों को बैठा दिया।

प्रभु कहे—संन्यासीर भक्ष्य नहे उपकरण। इहा खाइले कैछे हय इन्द्रिय वारण ? ॥६७॥
आचार्य्य कहेन—छाड़ तुमि आपनारचुरि। आमि सब जानि तोमार संन्यासेर भारिभुरि॥६८॥
भोजन करह छाड़ वचनचातुरी। प्रभु कहे—एत अन्न खाइते न पारि ॥६९॥
आचार्य्य बोले—अकपटे करह आहार। यदि खाइते नार, पाते रहिवेक आर ॥७०॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"अनेक सुस्वादु उपकरण (पदार्थ) संन्यासी के लिए खाना उचित नहीं है। उनको खाने से फिर इन्द्रियों का संयम कैसे हो सकता है ?" ॥६७॥ श्रीआचार्य्य ने कहा—"मेरे आगे अब अपना छिपाव छोड़ो। मैं तुम्हारी संन्यास की चालाकी को अच्छी तरह जानता हूँ" ॥६८॥ श्रीअद्वैत ने फिर कहा—"चैतन्य ! भोजन करो, अब बहुत बातें मत बनाओ।" प्रभु ने कहा—"इतना भोजन मैं नहीं खा सकता" ॥६९॥ श्रीआचार्य्य ने कहा—"ठीक है, आप कपट छोड़कर (उदर भर कर) भोजन करिये, यदि आप नहीं खा सकेंगे, तो पात्त पर पड़ा रहने देना" ॥७०॥

प्रभु कहे—एत अन्न नारिव खाइते। संन्यासीर धर्म नहे उच्छिष्ट राखिते ॥७१॥
आचार्य्य कहे–नीलाचले खाओ चोयान्नबार। एक एकबारे अन्न खाओ शतशत भार ॥७२॥
तिनजनेर भक्षपिण्ड तोमार एक ग्रास। तार लेखाय एइ अन्न नहे पञ्चग्रास ॥७३॥
मोर भाग्ये मोर घरे तोमार आगमन। छाड़ चातुरी प्रभु ! करह भोजन ॥७४॥

प्रभु ने कहा—"इतना अन्न मैं तो नहीं खा सकूँगा और फिर अपना उच्छिष्ट छोड़ना—संन्यासी का धर्म नहीं है" ॥७१॥ श्रीअद्वैत ने (श्रीजगन्नाथ से श्रीमहाप्रभु को अभिन्न मानते हुए) कहा—"नीलाचल में तो तुम (जगन्नाथरूप से) चौवन बार भोजन करते हो और एक-एक बार में सौ सौ भार अन्न खा जाते हो। (यहाँ इतना ही नहीं खाया जायेगा ?)" ॥७२॥ तीन मनुष्य जितना अन्न खाते हैं, उतना अन्न श्रीजगन्नाथ के एक ग्रास के समान होता है। इस हिसाब से पूरा भोजन एक-एक बार में श्रीजगन्नाथ के भोग लगता है। इसलिए श्रीअद्वैत ने कहा—"तीन मनुष्यों के खाने योग्य अन्न तुम्हारा तो एक ग्रास होता है। उस हिसाब से यह भोजन तो तुम्हारे पाँच ग्रास भी नहीं होगा ॥७३॥ मेरे सौभाग्य से तुम आज मेरे घर में आये हो। अतः अब सब चतुराई छोड़कर भोजन करो" ॥७४॥

एत बलि जल दिल दुइगोसाञिर हाथे। हासिया लागिला दोंहे भोजन करिते ॥७५॥
नित्यानन्द कहे—कैल तिन उपवास। आजि पारणा करिते छिल बड़ आश ॥७६॥
आजि उपवास हैल आचार्य्य-निमन्त्रणे। अर्द्धपेट ना भरिवे एइ ग्रासेक अन्ने ॥७७॥
आचार्य्य कहे–तुमि हओ तैर्थिकसंन्यासी। कभु फल-मूल खाओ कभु उपवासी ॥७८॥
दरिद्र-ब्राह्मण-घरे ये पाइले मुष्ट्येक अन्न। इहाते सन्तोष हओ छाड़ लोभमन ॥७९॥

इतना कहकर श्रीअद्वैत ने दोनों (श्रीचैतन्य एवं श्रीनित्यानन्द) के हाथों में जल दिया एवं दोनों हँसते-हँसते भोजन करने लगे ॥७५॥ श्रीनित्यानन्द ने कहा—परिहास्य करते हुए मुझे तीन दिन तो उपवास करते हो गये हैं। आज भर पेट खाने की बड़ी आशा थी। परन्तु आज भी आचार्य्य के घर निमन्त्रित होने पर मेरा उपवास ही रहेगा, क्योंकि इस एक ग्रास मात्र अन्न से तो मेरा आधा पेट भी नहीं भरेगा ॥७७॥ श्रीआचार्य्य ने कहा—"तुम तीर्थ-तीर्थ में भ्रमण करने वाले संन्यासियों, (जिन्हें भर पेट खाना नहीं मिल पाता) तुम भी उन्हीं में से ही हो। कभी फल, कभी कन्द-मूल खा लेते हो और कभी उपवास भी करना पड़ जाता है। मुझ दरिद्र ब्राह्मण के घर यह जो कुछ मुट्ठी भर भोजन तुम्हें मिला है, अब इसी में ही संतोष करो और अधिक लोभ मत करो" ॥७८-७९॥

नित्यानन्द कहे—यवे कैला निमन्त्रण। तत दिते चाह, यत करिये भोजन ॥८०॥
शुनि नित्यानन्द—कथा ठाकुर अद्वैत। कहिलेन तारे किछु पाइया पिरीत— ॥८१॥
भ्रष्ट अवधूत तुमि उदर भरिते। संन्यास करियाछ बुझि ब्राह्मण दण्डिते ? ॥८२॥
तुमि खाइते पार दश-विश चाउलेर अन्न। आमि ताहां काहां पाव दरिद्र ब्राह्मण ?॥८३॥

श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"जब निमन्त्रण किया था, उस समय तो यह कहते थे कि जितना खाओगे, उतना भोजन कराऊँगा। (अब दरिद्र ब्राह्मण बनते हो)" ॥८०॥ श्रीनित्यानन्द के (परिहास युक्त) वचन सुनकर श्रीअद्वैत ने भी कुछ हँसी करते हुए कहा —" ॥८१॥ श्रीअद्वैत ने कहा— "मैं जानता हूँ, तुम भ्रष्ट-अवधूत (पक्षान्तर-परमहंस) हो, तुमने तो पेट भरने के लिए ही संन्यास धारण किया है और मुझ जैसे (भोले-भाले) ब्राह्मणों को दण्ड देते फिरते हो। तुम तो दस विश अर्थात् पचास मन चावल खा सकते हो। (बीस सेर की एक शली होती है और दस शली का एक विश होता है। अर्थात् २०० सेर का १ विश एवं १० विश बराबर २००० सेर या ५० मन है) मैं गरीब ब्राह्मण हूँ, कहो इतना अन्न कहाँ से लाऊँ ? ॥८३॥

ये पाञाछ मुष्ट्येक अन्न ताहा खाञा उठ। पागलाइ ना करह, ना छड़ाइह झुट ॥८४॥
एइ मत हास्य-रसे करेन भोजन। अर्द्ध अर्द्ध खाञा प्रभु छाड़ेन व्यञ्जन ॥८५॥
सेइ व्यञ्जने आचार्य्य पुन करेन पूरण। एइमत पुनः पुनः परिवेशे व्यञ्जन ॥८६॥
दोना व्यञ्जने भरि करेन प्रार्थन। प्रभु कहेन-आर कत करिव भोजन ? ॥८७॥
आचार्य्य कहे-ये दियाछि ताहा ना छाड़िवा। एखन ये दिये तार अर्द्धेक खाइवा ॥८८॥
नाना यत्न दैन्ये प्रभुरे कराइला भोजन। आचार्य्येर इच्छा प्रभु करिल पूरण ॥८९॥

"एक आध मुट्ठी जो कुछ भी तुम्हारे आगे धरा है, इसको खाओ और उठ खड़े होओ" ।— श्रीअद्वैत ने कहा, "यहाँ पागलपन मत दिखाओ और झूंठन भी मत छोड़ना। (अर्थात् श्रीअद्वैत ने श्रीनित्यानन्द को इशारे में कहा कि कुछ झूंठन-प्रसादी अवश्य छोड़ना)।" इस प्रकार परस्पर हाँसी-मखौल करते हुए प्रभु भोजन कर रहे हैं। प्रभु थोड़ा-थोड़ा हर व्यञ्जन खाकर छोड़ते जाते हैं ॥८४-८५॥ जो जो पदार्थ प्रभु कुछ कुछ खा लेते हैं, श्रीआचार्य्य फिर उसे पूरा कर देते हैं। इस तरह बार-बार वे व्यञ्जन परोसते हैं ॥८६॥ दोनें भर-भर कर फिर फिर श्रीअद्वैत, प्रभु को पाने के लिये प्रार्थना करते हैं और प्रभु कहते हैं—("बस, बस——मत दीजिये।) और कितना भोजन करूंगा ? ॥८७॥" श्रीआचार्य्य कहते हैं—"(अच्छा प्रभु ! और नहीं डालूंगा) किन्तु जो कुछ दिया है—उसे झूँठा मत छोड़ना। (प्रभु नें कहा—"मुझसे अब खाया ही नहीं जाता"—इस पर श्रीअद्वैत कहते हैं)—"जो मैंने अब दिया है—इसमें से आधा खा लीजिये ॥८८॥ श्रीअद्वैत ने अनेक यत्न से एवं दीनता से प्रभु को भोजन कराया और प्रभु ने भी श्रीअद्वैत की इच्छा पूरण की ॥८९॥

नित्यानन्द कहे-मोर पेट ना भरिल। लञा याह तोर अन्न किछु ना खाइल ॥९०॥
एत बलि एकग्रास भात हाते लञा। उझालि फेलिल आगे येन क्रुद्ध हञा ॥९१॥
भात दुइ-चारि लागिल आचार्य्येर अङ्गे। भात अङ्गे लञा आचार्य्य नाचे बड़रङ्गे।९२॥
अवधूतेर झुटा मोर लागिल अङ्गे। परम पवित्र मोरे कैल एइ ढङ्गे ॥९३॥

श्रीनित्यानन्द ने फिर कहा—"मेरा पेट तो भरा नहीं है; लो, अपना भोजन वापिस लो, मैंने तो कुछ खाया ही नहीं है।" इतना कहकर एक ग्रास भर चावल लेकर उछाल फेंके, मानो वे क्रोधित हो गये हैं। ॥९०-९१॥ दो-चार झूँठे चावल श्रीअद्वैत प्रभु को भी जाकर लगे। चावलों का स्पर्श पाकर आचार्य्य परम आनन्दित होकर नाचने लगे और कहने लगे—"ओ ! अवधूत का उच्छिष्ट मेरे अङ्गों को लगा है, मैं तो इससे परम पवित्र हो गया हूँ ॥९२-९३॥

तोरे निमन्त्रण करि पाइनु तार फल । तोर जाति कुल नाहि–सहजे पागल ।।९४।।
आपन–समान मोरे करिवार तरे । झुटा दिले, विप्र बलि भय ना करिले ? ।।९५।।
नित्यानन्द कहे-एइ कृष्णेर प्रसाद । इहाके 'झुटा' कहिले तुमि--कैले अपराध ।।९६।।
शतेक संन्यासी यदि कराह भोजन । तबे एइ अपराध हइवे खण्डन ।।९७।।

श्रीअद्वैत ने (हास्य करते हुए) कहा—"तुम्हें मैंने निमन्त्रण किया, उसका खूब फल पा लिया है । तुम्हारी तो कोई जाति नहीं, कुल नहीं । (श्रीनित्यानन्द परमहंसाश्रम ग्रहण कर चुके हैं ना, उनकी क्या जाति ? क्या कुल ? और फिर वे ईश्वर हैं, भगवान् की क्या जाति-कुल ?) तुम तो पागल हो पागल (प्रेमोन्मत्त) । मुझे भी अपने समान करने के लिये (प्रेमोन्मत्त करने के लिये) अपनी भूंठन मार दी है, इतना भी तुम्हें विचार नहीं कि मैं (श्रीअद्वैत) ब्राह्मण हूँ ? ।।९५।।,, श्रीनित्यानन्द ने कहा—"यह तो श्रीकृष्ण का प्रसाद है । (श्रीबलराम एवं श्रीकृष्ण अभिन्न ही तो हैं) इसे तुमने 'भूंठा' कहा है, तुमने बहुत अपराध किया है । अतः सौ संन्यासियों को यदि भोजन कराओ, तभी तुम्हारा यह अपराध दूर होगा ।" (यह परिहास्योक्ति है) ।।९६।।९७।।

आचार्य्य कहे ना करिव संन्यासि-निमन्त्रण । सन्यासी नाशिले मोर सब स्मृति-धर्म ।९८।
एत बलि दुइजनें कराइल आचमन । उत्तम शय्याते लञा कराइल शयन ।।९९।।
लवङ्ग एलाची आर उत्तम रसवास । तुलसी-मञ्जरीसह दिल मुख वास ।।१००।।
सुगन्धि-चन्दने लिप्त कैल कलेवरे । सुगन्धिपुष्पेर माला दिल हृदय उपरे ।।१०१।।

श्रीअद्वैत ने कहा—"मैं तो कभी संन्यासी को भोजन नहीं खिलाऊँगा । संन्यासी ने तो मेरा सब स्मृति-कथित-आचार बिगाड़ डाला "। इतना कहकर श्रीअद्वैत ने दोनों को आचमन कराया और उत्तम उत्तम शय्याओं पर जाकर दोनों को शयन कराया ।।९९।। तत्पश्चात् श्रीअद्वैत ने लवङ्ग, इलायची एवं कवावचीनी तथा तुलसी मञ्जरीयुक्त पान उन्हें अर्पण किये ।।१००।। उन्होंने प्रभु के शरीर पर सुगन्धित चन्दन का लेप किया एवं सुगन्धित फूलों की माला प्रभु के गले में पहिराई ।।१०१।।

आचार्य्य करिते चाहे–पादसंवाहन । सङ्कोचित हञा प्रभु कहेन वचन–।।१०२।।
बहु नाचाइले आमाय, छाड़ नाचायन । मुकुन्द हरिदास लञा करह भोजन ।।१०३।।
तवे त आचार्य्य सङ्गे लञा दुइजने । करिल इच्छाय भोजन, ये आछिल मने ।।१०४।।

श्रीअद्वैत, श्रीमहाप्रभु के चरण संवाहन करना चाहते थे, किन्तु उन्होंने संकुचित होकर कहा—"तुमने मुझे बहुत नाच नचवाया है, अब ऐसा मत करिये । मुकुन्द एवं हरिदास को साथ लेकर आप भोजन करिये" ।।१०२–१०३।। फिर श्रीअद्वैत ने उन दोनों को साथ ले जाकर अपनी इच्छापूर्वक अर्थात् श्रीमहाप्रभु के एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रसाद का भोजन किया ।।१०४।।

शांतिपुरेर लोक शुनि प्रभुर आगमन । देखिते आइला लोक प्रभुर चरण ।।१०५।।
'हरि हरि' बोले लोक आनन्दित हञा । चमत्कार हैल प्रभुर सौन्दर्य देखिया ।।१०६।।
गौर देह–कान्ति–सूर्य्य जिनिया उज्ज्वल । अरुण वस्त्र कान्ति ताते करे झलमल ।१०७।।
आइसे याय लोक हर्षे नाहि समाधान । लोकेर सङ्घट्टे दिन हैल अवसान ।।१०८।।
सन्ध्याते आचार्य्य आरम्भिल सङ्कीर्त्तन । आचार्य्य नाचेन—प्रभु करेन दर्शन ।।१०९।।

सन्ध्याते आचार्य्य आरम्भिल सङ्कीर्त्तन। आचार्य्य नाचेन–प्रभु करेन दर्शन ॥१०६॥
नित्यानन्द गोसाञि बुलेन आचार्य्य धरिया। हरिदास पाछे नाचे हरषित हैया ॥११०॥

शान्तिपुरके लोगोंने जब श्रीमहाप्रभु का आगमन सुना तो वे प्रभु के चरण-दर्शनके लिये श्रीअद्वैतके घर पहुँचे ॥१०५॥ श्रीमहाप्रभु के दर्शन कर वे लोग आनन्दित होकर "हरि हरि" बोलने लगे एवं प्रभुके उस सौन्दर्य को देखकर सब चमत्कृत हो उठे। (कैसा था वह सौन्दर्य ?) उनके गौर देह की कान्ति की उज्ज्वलता मानो सूर्य्य को परास्त कर रही थी, उस गौरतन पर लाल वस्त्र (कोपीन एवं बहिर्वास) झलमल झलमल कर रहे थे ॥१०७॥ आनन्दपूर्वक लोग आ रहे थे और दर्शन करके जा रहे थे, इस प्रकार लोगों के आने जाने एवं समारोह में दिन व्यतीत होगया ॥१०८॥ सन्ध्या का समय होते ही श्रीअद्वैत प्रभु ने सङ्कीर्त्तन का आरम्भ कर दिया। श्रीअद्वैत प्रेमावेश में नृत्य कर रहे थे एवं प्रभु उन्हें देख रहे थे ॥१०६॥ श्रीनित्यानन्द गोस्वामी श्रीअद्वैतको पकड़कर भ्रमण कर रहे थे (कि वे गिर न पड़ें)। श्रीहरिदास प्रेमविह्वल होकर पीछे-पीछे नाच रहे थे ॥११०॥

॥ धानश्री राग ॥

"कि कहव रे सखि ! (आजुक) आनन्द-ओर। चिरदिने माधव मन्दिरे मोर ॥ध्रु॥१११॥
एइ पद गाइ हर्षे करेन नर्त्तन। स्वेद कम्प अश्रु पुलक हुङ्कार गर्ज्जन ॥११२॥
फिरि फिरि कभु प्रभुर धरेन चरण। चरणे धरिरा प्रभुरे बोलेन वचन—॥११३॥

(श्रीअद्वैत प्रभु इस पद का गान कर रहे थे, जिसे श्रीकृष्ण को श्रीवृन्दावन में पुनः प्राप्त कर श्रीराधाजी ने मानो गाया था) "हे सखि ! आज आनन्द की सीमा क्या कहूँ ? बहुत दिन पीछे माधव-श्रीकृष्ण मेरे घर आये हैं"॥१११॥ श्रीअद्वैत इस पद को गान कर नृत्य कर रहे थे एवं उनके शरीर पर स्वेद, कम्प, अश्रु, पुलकावली, हुङ्कार एवं गर्ज्जनादि सात्विक विकार उत्पन्न हो रहे थे ॥११२॥ घूम-घूम कर कभी वे श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ लेते थे एवं प्रभु से चरण पकड़ कर कहने लगते ॥११३॥

अनेकदिन तुमि मोरे बेड़ाइले भाण्डिया। घरे पाइयाछों एवे-राखिव बान्धिया ॥११४॥
एत बलि आचार्य्य आनन्दे करेन नर्त्तन। प्रहरेक रात्रि आचार्य्य कैल सङ्कीर्त्तन ॥११५॥
प्रेमेर औत्कण्ठ्य प्रभुर–नाहि कृष्णसङ्ग। विरहे बाढ़िल प्रेमज्वालार तरङ्ग ॥११६॥
व्याकुल हइया प्रभु भूमिते पड़िला। गोसाञि देखिया आचार्य्य नृत्य संवरिला ॥११७॥

"अनेक दिनों तक तुम मुझसे छिपते रहे हो, (अर्थात् २४ वर्ष तुम्हें अवतीर्ण हुए हो गये हैं, परन्तु आजतक तुम मुझसे आत्मगोपन करते रहे हो) अब तुम मेरे घर आए हो, मैं तुम्हें बांध कर रखूंगा"। इस प्रकार प्रेमपूर्वक कहकर आचार्य्य आनन्द से नृत्य करने लगे, और रात के एक प्रहर तक निरन्तर नृत्य एवं सङ्कीर्त्तन करते रहे ॥११५॥ श्रीमहाप्रभु के मनमें श्रीकृष्ण दर्शन की निरन्तर उत्कण्ठा थी, परन्तु कहीं दर्शन न हुआ। (आचार्य्य द्वारा 'कि कहिव रे' आदि पद को सुनकर) श्रीमहाप्रभु का श्रीकृष्ण–विरह–समुद्र और भी अधिक उछल उठा एवं प्रेम-ज्वाला की तरङ्गें उमड़ उठीं ॥११६॥ (फिर क्या था ?) श्रीमहाप्रभु व्याकुल होकर पृथ्वी पर अचेत अवस्था में गिर पड़े। प्रभु की यह दशा देखकर श्रीअद्वैत ने अपने नृत्य को वहीं समाप्त कर दिया ॥११७॥

प्रभुर अन्तर मुकुन्द जाने भालमते। भावेर सदृश पद लागिला गाइते ॥११८॥
आचार्य्य उठाइल प्रभुके करिते नर्त्तन। पद शुनि प्रभुर अङ्ग ना याय धारण ॥११९॥
अश्रु कम्प पुलक स्वेद गद्‌गदवचन। क्षणे उठे क्षणे पड़े क्षणेके रोदन ॥१२०॥

श्रीमहाप्रभु के आन्तरिक भावों को श्रीमुकुन्द अच्छी तरह जानते थे, वे भावानुकूल पद का गान करने लगे ॥११८॥ श्रीअद्वैत, प्रभु को उठाने लगे ताकि प्रभु नृत्य करें, किन्तु श्रीमुकुन्द के पद को सुनकर प्रभु को आवेश और भी इतना बढ़ा कि वे अपने शरीर को सम्भाल ही न सके ॥११६॥ अश्रु, कम्प, पुलक, स्वेद, गद्‌गद्‌वचन आदि सात्विक विकार उदय हो आये। वे कभी उठ खड़े होते और कभी गिर जाते। विरह व्याकुल होकर प्रभु रोने लगे ॥१२०॥ श्रीमुकुन्द यह पद गान कर रहे थे।

॥ तथाहि पदम् ॥

"हाहा प्राण प्रियसखि कि ना हैल मोरे। कानुप्रेमविषे मोर तनु-मन जरे ॥ध्रु ॥१२१॥
रात्रि-दिने पोड़े मन, सोयास्ति ना पाङ। याहां गेले कानु पाङ ताहां उड़ि याङ" ॥१२२॥
एइ पद गाय मुकुन्द सुमधुर–स्वरे। शुनिञा प्रभुर चित्त अन्तर विदरे ॥१२३॥
निर्व्वेद विषादामर्ष चापल्य गर्व्व दैन्य। प्रभुर सहित युद्ध करे भावसैन्य ॥१२४॥

श्रीकृष्ण-विरह-व्याकुल मानो श्रीराधाजी कह रही हैं—"हाय, हाय, प्राणप्रिय सखि! मुझे क्या हो गया है?" कान्ह के विरहानल में मेरा तन–मन जला जा रहा है ॥१२१॥ रात-दिन मेरा मन जलता है, क्षण भर के लिये भी मुझे सान्त्वना नहीं मिलती। सखि! मैं क्या करूं? कहाँ जाऊँ? कन्हाई कहाँ मिलेंगे, मैं वहीं उड़ जाऊँ" ॥१२२॥ इस पद को श्रीमुकुन्द मीठे स्वर में गान कर रहे थे, जिसे सुनकर श्रीमहाप्रभु का हृदय फटा ही जा रहा था ॥१२३॥ निर्वेद, विषाद, अमर्ष, चापल्य, गर्व, एवं दैन्यादि समस्त भावों की सैना मानो श्रीमहाप्रभु से युद्ध कर रही थी अर्थात् इन समस्त भावों का उद्दीपन प्रभु में होने लगा था ॥१२४॥

जर्ज्जर हइला प्रभु भावेर प्रहारे। भूमिते पड़िला–श्वास नाहिक शरीरे ॥१२५॥
देखिया चिन्तित हैल सब भक्तगण। आचम्बिते उठे प्रभु करिया गर्ज्जन ॥१२६॥
"बोल बोल' बलि नाचे आनन्दे विह्वल। बुझन ना याय भाव–तरङ्ग प्रबल ॥१२७॥
नित्यानन्द सङ्गे बुले प्रभुर धरिया। आचार्य्य हरिदास बुले पाछेते नाचिया ॥१२८॥

भावों की चोट से श्रीमहाप्रभु का शरीर मानो जर्ज्जरीभूत हो गया। वे पृथ्वी पर गिर गये एवं शरीर श्वासरहित हो गया (प्रलयभाव)। प्रभु की यह अवस्था देखकर सब भक्तगण चिन्तालीन हो गये कि इतने में प्रभु गर्ज्जना करते हुए उठ खड़े हुए ॥१२६॥ "बोल, बोल, मुकुन्द! आगे बोल"–ऐसा कहते हुए श्रीमहाप्रभु आनन्द विह्वल होकर नाचने लगे। श्रीमहाप्रभु के भावों की प्रवल तरङ्गों को कोई भी नहीं जान सकता था ॥१२७॥ श्रीनित्यानन्द श्रीगौराङ्ग प्रभु के पीछे उनको थामें हुए थे एवं श्रीअद्वैत और श्रीहरिदास पीछे-पीछे नाचते हुए भ्रमण कर रहे थे ॥१२८॥

एइमत प्रहरेक नाचे प्रभु रङ्गे। कभु हर्ष कभु विषाद भावेर तरङ्गे ॥१२९॥
तिनदिन उपवासे करिया भोजन। उद्दण्ड नृत्ये प्रभुर हैल परिश्रम ॥१३०॥
तबु त ना जाने प्रेमे भावाविष्ट हइया। नित्यानन्द महाप्रभुके राखिला धरिया ॥१३१॥
आचार्य्यगोसाञि तबे राखिल कीर्त्तन। नाना सेवा करि प्रभुके कराइल शयन ॥१३२॥

इसप्रकार आनन्दमग्न होकर श्रीमहाप्रभु एक प्रहर तक नाचते रहे। भावों की तरङ्गों में कभी हर्षित एवं कभी व्याकुल हो उठते थे ॥१२९॥ उसदिन प्रभुने तीन दिनों के उपवासके पश्चात् भोजन किया था, उस पर इस उद्दण्ड नृत्य में प्रभु को बहुत ही परिश्रम हुआ ॥ १३० ॥ किन्तु उस समय प्रेम एवं

भावाविष्ट होने के कारण महाप्रभु को कुछ भी थकान न व्यापी। श्रीनित्यानन्दजी ने प्रभु को गिरने से सम्भाले रखा ॥ १३१ ॥ श्रीअद्वैत प्रभु ने समय जानकर सङ्कीर्त्तन को समाप्त किया एवं नाना-विध सेवा करके प्रभु को शयन कराई ॥ १३२ ॥

एइमत दशदिन भोजन कीर्त्तन। एकरूप करि कैल प्रभुर सेवन ॥१३३॥
प्रभाते आचार्य्यरत्न दोलाय चढ़ाइया। भक्तगण-सङ्गे आइला शचीमाता लैया ॥१३४॥
नदीया-नगरेर लोक-स्त्री बालक वृद्ध। सब लोक आइला-हैल सङ्घट्ट समृद्ध ॥१३५॥
नृत्य करि करे प्रभु नाम सङ्कीर्त्तन। शची लञा आइला आचार्य्य अद्वैतभवन ॥१३६॥

इस प्रकार दस दिन पर्य्यन्त एक रूप से श्रीअद्वैत ने भोजन एवं कीर्त्तन-आनन्द द्वारा श्रीमहाप्रभु की सेवा की ॥ १३३ ॥ जिस दिन प्रभु श्रीअद्वैत के घर आए, उसके दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीचन्द्रशेखर आचार्य्य नवद्वीप से श्रीशची माता को पालकी में चढ़ा कर एवं भक्तगणों को साथ लेकर आ पहुँचे ॥१३४॥ नवद्वीप नगर के सब लोग क्या स्त्री, क्या पुरुष-बालक एवं वृद्ध सब के सब महाप्रभु के दर्शन करने के लिये वहाँ आ पहुँचे। बड़ी भारी भीड़ जुड़ गई ॥ १३५ ॥ जबकि श्रीगौराङ्ग नृत्य करते करते नामसङ्कीर्त्तन कर रहे थे, उसी समय श्रीचन्द्रशेखर आचार्य्य शचीमाता को साथ लेकर श्रीअद्वैत के घर आए ॥ १३६ ॥

शची आगे पड़िला प्रभु दण्डवत् हैया। कान्दिते लागिला शची कोले उठाइया ॥१३७॥
दोंहार दर्शने दोंहे हइला विह्वल। केश ना देखिया शची हइला विकल ॥१३८॥
अङ्ग मोछे, मुख चूम्बे, करे निरीक्षण। देखिते ना पाय, अश्रु भरिल नयन ॥१३९॥
कान्दिया कहेन शची–वाछारे निमाइ। विश्वरूप सम ना करिह निठुराइ ॥१४०॥

शचीमाता को देखते ही श्रीमहाप्रभु शचीमाता के आगे दण्डवत् पृथ्वी पर गिर पड़े (प्रणाम करने लगे) श्रीशची ने उन्हें उठाकर गले लगाया एवं रोने लगीं ॥ १३७ ॥ एक दूसरे को देख कर दोनों विह्वल हो गये। महाप्रभु के केशों को न देखकर (मुण्डित मस्तक देखकर) शची माता व्याकुल हो गई ॥ १३८ ॥ शचीमाता ने श्रीगौराङ्ग के शरीर पर हाथ फेरा, उनका मुख चूमा एवं उनको एकटक हो कर देखने लगी। किन्तु देख न सकीं—नेत्रों में से अश्रु धारा प्रवाहित होने लगी ॥ १३९ ॥ रोते-रोते शची माता कहने लगी—"वत्स निमाई! विश्वरूप की भाँति तुम निठुराई मत करो॥" १४० ॥

सन्न्यासी हइया मोरे ना दिल दर्शन। तुमि तैछे कैले, मोर हइवे मरण ॥१४१॥
प्रभुओ कान्दिया बोले– शुन मोर आइ। तोमार शरीर एइ, मोर किछु नाइ ॥१४२॥
तोमार पालित देह, जन्म तोमा हैते—। कोटिजन्मे तोमार ऋण नारिब शोधिते ॥१४३॥
जानि वा ना जानि कैल यद्यपि संन्यास। तथापि तोमारे कभु नहिब उदास ॥१४४॥
तुमि याहां कह आमि ताहांइ रहिव। तुमि येइ आज्ञा देह से–इ त करिव ॥१४५॥
एत बलि पुनः पुनः करि नमस्कार। तुष्ट हञा आइ कोले करे बार बार ॥१४६॥

मां शची ने कहा—"विश्वरूप ने तो संन्यासी होने के पश्चात् आजतक मुझे दर्शन ही नहीं दिया (तुम ऐसी निठुराई न करना)। यदि तुम भी वैसे ही करोगे तो, मैं मर जाऊँगी" ॥ १४१ ॥ श्रीमहाप्रभु भी अश्रुधारा को न रोक सके, कहने लगे—"माताजी! सुनो, यह शरीर आपके अर्पण है, मेरा इसमें कुछ नहीं है ॥ १४२ ॥

इस शरीर की आपने पालना की है एवं इसका जन्म भी आपसे हुआ है। अतः कोटि जन्म तक भी आपका ऋण मैं नहीं चुका सकता ॥ १४३ ॥ जानकर अथवा ना जानकर यद्यपि मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया है, तथापि, मां ! मैं तुम्हें कभी नहीं भूल सकता ॥ १४४ ॥ आप जहाँ भी कहोगी, मैं वहाँ ही रहूँगा—और आप जो भी आज्ञा करो, मैं वही करने को तैयार हूँ" ॥ ऐसा कह कर श्रीगौराङ्ग ने शची माता को बार-बार नमस्कार किया और माता शची ने प्रसन्न होकर प्रभु को बारम्बार गले लगाया ॥ १४५ ॥ १४६ ॥

तबे आइ लञा आचार्य्य गेला अभ्यन्तर । भक्तगण मिलिते प्रभु हइला सत्वर ॥१४७॥
एके एके मिलिला प्रभु सब भक्तगण । सभार मुख देखि करे दृढ़ आलिङ्गन ॥१४८॥
केश ना देखिया भक्त यद्यपि पाय दुख । सौन्दर्य देखिते तबु पाय महासुख ॥१४९॥
श्रीवास रामाइ विद्यानिधि गदाधर । गङ्गादास वक्रेश्वर मुरारि शुक्लाम्बर ॥१५०॥
बुद्धिमन्तखान नन्दन श्रीधर विजय । वासुदेव दामोदर मुकुन्द सञ्जय ॥१५१॥
कत नाम लैब यत नवद्वीपवासी । सभारे मिलिया प्रभु कृपादृष्ट्ये हासि ॥१५२॥

इसके बाद श्रीअद्वैताचार्य शची माता को घर के अन्दर ले गये। तब सब भक्तगण प्रभु को मिलने आए। श्रीमहाप्रभु एक एक करके सब भक्तों को मिले एवं सब को प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया॥ श्रीगौराङ्ग प्रभु को मुण्डित-मस्तक देखकर भक्तों को यद्यपि दुख हुआ, तो भी प्रभु की सुन्दरता को देखकर वे महान सुखी हुए ॥ १४९ ॥ श्रीवास, श्रीरामाई, श्रीविद्यानिधि, श्रीगदाधर, श्रीगङ्गादास, श्रीवक्रेश्वर, श्रीमुरारिगुप्त, श्रीशुक्लाम्बर, श्रीबुद्धिमन्तखान, श्रीनन्दन, श्री श्रीधर, श्रीविजय, श्रीवासुदेव, श्रीदामोदर, श्रीमुकुन्द तथा श्रीसञ्जय, कहाँ तक सब के नाम गिने जाएं, जितने भी नवद्वीप वासी गौर-भक्त आए, सब को ही महाप्रभु मन्द-मुस्कानयुक्त कृपादृष्टि करते हुए मिले ॥ १५१ ॥ १५२ ॥

आनन्दे नाचये सभे-बोले 'हरि हरि' । आचार्य्य मन्दिर हैल श्रीवैकुण्ठपुरी ॥१५३॥
यत लोक आइल महाप्रभुरे देखिते । नाना ग्राम हैते आर नवद्वीप हैते ॥१५४॥
सभाकारे वासा दिल-भक्ष्य अन्न पान । बहुदिन आचार्य्यगोसाञि कैल समाधान ॥१५५॥
आचार्यगोसाञिर भाण्डार अक्षय-अव्यय । यत द्रव्य व्यय करि—पुन तैछे हय ॥१५६॥
सेइदिन हैते शची करेन रन्धन । भक्तगण लञा प्रभु करेन भोजन ॥१५७॥

श्रीमहाप्रभु की कृपादृष्टि प्राप्त कर वे लोग 'हरि-हरि' बोलकर नाचने लगे । श्रीअद्वैत का घर मानो श्रीवैकुण्ठधाम बन रहा था ॥१५३॥ श्रीमहाप्रभु के दर्शन करने के लिये अनेक ग्रामों से एवं नवद्वीप से जितने भी लोग आये, उन सबके लिये रहने के स्थान का एवं भोजनादि का प्रबन्ध श्रीअद्वैत ने बहुत दिन तक किया ॥१५५॥ श्रीअद्वैताचार्य्य गोस्वामी का भण्डार अक्षय एवं भरपूर रहा। जितना द्रव्य वे खर्च करते, उतना ही फिर भर जाता ॥१५६॥ जिस दिन शचीमाता आईं, उसी दिन से ही वह स्वयं रसोई करतीं एवं भक्तगणों के साथ श्रीमहाप्रभु मिलकर भोजन करते ॥१५७॥

दिने आचार्येर प्रीति-प्रभुर दर्शन । रात्र्ये लोक देखे प्रभुर नर्त्तन कीर्त्तन ॥१५८॥
कीर्त्तन करिते प्रभुर हय भावोदय । स्तम्भ कम्प पुलकाश्रु गद्गद प्रलय ॥१५९॥
घनघन पड़े प्रभु आछाड़ खाइया । देखि शचीमाता कहे रोदन करिया— ॥१६०॥

चूर्ण हैल हेन वासों निमाइ-कलेवर। हाहा करि विष्णु-पाश मागे एइ वर- ॥१६१॥
बाल्यकाल हैते तोमार ये कैनु सेवन। तार एइ फल मोरे देह नारायण! ॥१६२॥
ये काले निमाइ पड़े धरणी-उपरे। व्यथा येन नाहि लागे निमाइ-शरीरे ॥१६३॥
एइमत शचीदेवी वात्सल्ये विह्वल। हर्ष—भय—दैन्यभावे हइला विकल ॥१६४॥

दिन में तो श्रीअद्वैत का प्रीतिपूर्वक प्रभुसेवन, एवं श्रीप्रभु का दर्शन और रात में महाप्रभु का अद्भुत नृत्य-कीर्त्तन देखकर सब लोग परम आनन्द प्राप्त करते ॥१५८॥ कीर्त्तन करते समय श्रीमहाप्रभु में अनेक भावों का उदय हो आता, कभी स्तम्भ, कभी कम्प, पुलक, अश्रु गद्‌गद् गिरा तथा प्रलयादि भाव उदय होते ॥१५६॥ वे बारबार जोर से पछाड़ खा-खाकर पृथ्वी पर गिरते, उन्हें देखकर वात्सल्यमूर्त्ति शचीमाता रो रो कर पुकार उठतीं—॥ १६० ॥ "हाय हाय मैं तो जानती हूँ—निमाई का शरीर तो चूर्ण चूर्ण हुआ जाता है।" इतना कहकर विष्णु से वर मांगने लगतीं ॥ १६१ ॥ "हे नारायण! मैं ने बालकपन से आज तक जो तुम्हारी सेवा की है, उसका फल मुझे यही दो कि निमाई जिस समय पृथ्वी पर गिरे, तब उसके शरीर में कोई व्यथा न हो।" इस तरह शचीमाता वात्सल्य-रस से विह्वल हो जाती। (निमाई-दर्शन से तो) हर्ष में, (निमाई के गिर कर घायल होने के) भय में, (तथा विष्णु प्रार्थना करके) दीनता से शचीमाता व्याकुल हो जाती ॥ १६३ ॥ १६४ ॥

श्रीनिवास-आदि यत विप्र भक्तगण। प्रभुके भिक्षा दिते हैल सभाकार मन ॥१६५॥
शुनि शची सभाकारे करिल मिनति-। मुञि निमाइर दर्शन आर पाइमु कति ?॥१६६॥
तोमा सभा-सने हवे अन्यत्र मिलन। मुञि अभागिनीर एइमात्र दरशन ॥१६७॥
यावत् आचार्यगृहे निमाइर अवस्थान। मुञि भिक्षा दिमु-सभारे एइ मागों दान ॥१६८॥

श्रीनिवासादि और जितने विप्र एवं भक्तगण वहाँ आए, सब की यह इच्छा हुई कि वे श्रीमहाप्रभु को अपनी ओर से भोजन करावें ॥ १६५ ॥ यह बात सुन कर शचीमाता ने सब को प्रार्थना कि—"मैं निमाई को फिर और कब देख पाऊंगी?" ॥१६६॥ तुम सबों का तो और और स्थानों पर निमाई से अनेक बार मिलना होगा, किन्तु मेरे लिये तो बस यही इसका मिलना है। इसलिये श्रीअद्वैत के घर पर जब तक निमाइ रहे, उसे मैं ही भोजन कराऊंगी—यही दान मैं आप सब से माँगती हूँ ॥ १६८ ॥

शुनि भक्तगण कहे करि नमस्कार-। मातार ये इच्छा, सेइ सम्मत सभार ॥१६९॥
मातार वैयग्र्य देखि प्रभुर व्यग्र मन। भक्तगणे एकत्र करि बलिल वचन ॥१७०॥
तोमासभार आज्ञा बिने चलिलाङ वृन्दावन। याइते नारिल, विघ्न कैल निवर्त्तन ॥१७१॥
यद्यपि सहसा आमि करियाछि संन्यास। तथापि तोमा सभा हैते नहिव उदास ॥१७२॥

शची माता के वचन सुनकर सब भक्तों ने नमस्कार पूर्वक कहा कि "माता की जो इच्छा है, उसमें हम सबकी सम्मति है॥" १६९ ॥ माता की व्याकुलता को देखकर श्रीमहाप्रभु का मन भी विह्वल हो उठा। उन्होंने सब भक्तों को एकत्रित करके कहा—"मैं आपकी आज्ञा लिये बिना ही श्रीवृन्दावन के लिये चल दिया था, जिससे मैं जा नहीं सका एवं विघ्न होने से वापिस लौट आया हूँ ॥ १७१ ॥ यद्यपि मैंने सहसा संन्यास ग्रहण कर लिया है, तो भी मैं आप सब को नहीं छोड़ सकता हूँ ॥ १७२ ॥

तोमा-सभा ना छाड़िव-यावत् आमि जीव। मातारे तावत् आमि छाड़िते नारिव ॥१७३॥
'संन्यासीर धर्म नहे—संन्यास करिया। निजजन्मस्थाने रहे कुटुम्ब लइया ॥१७४॥

कहो येन एइ बोले ना करे निन्दन। सेइ युक्ति कर, याते रहे दुइधर्म ॥१७५॥
शुनिञा प्रभुर एइ मधुर—वचन। शचीपाशे आचार्यादि करिला गमन ॥१७६॥

श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा—"जब तक मेरा जीवन है, तुम सब को मैं नहीं छोड़ूंगा और न ही तब तक माता को छोड़ सकूंगा" ॥ १७३ ॥ किन्तु संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् संन्यासी का यह भी धर्म नहीं है कि वह अपने कुटुम्ब को लेकर अपने जन्म-स्थान पर निवास करे" ॥ १७४ ॥ "कोई ऐसा कहकर मेरी निन्दा न करे, इसलिए कोई ऐसी युक्ति सोचिये कि जिससे ये दोनों बातें मेरी रहीं आवें अर्थात् न तो मैं जन्म-स्थान पर निवास करूं और न ही तुम्हारा त्याग हो। श्रीमहाप्रभु के ये मधुर वचन सुनकर आचार्य्यादि सब भक्तों ने शचीमाता के पास गमन किया ॥ १७६ ॥

प्रभुर निवेदन तांरे सकल कहिला। शुनि शची जगन्माता कहिते लागिला ॥१७७॥
तेंहो यदि इहां रहे, तबे मोर सुख। तांर निन्दा हय यदि सेहो मोर दुख ॥१७८॥
ताते एइ युक्ति भाल मोर मने लय। नीलाचले रहे यदि दुइ कार्य हय ॥१७९॥
नीलाचले नवद्वीपे येन दुइ घर। लोक गतागति—वार्त्ता पाव निरन्तर ॥१८०॥
तुमि-सब करिते पार गमनागमन। गङ्गास्नाने कभु हवे तांर आगमन ॥१८१॥
आपनार दुख सुख ताहा नाहि गणि। तांर येइ सुख—से-इ निजसुख मानि ॥१८२॥

श्रीमहाप्रभु ने जो कुछ कहा, वह सब उन्होंने शचीमाता को कह सुनाया। उसे सुनकर जगन्माता शचीदेवी ने कहा—"निमाई यदि यहाँ रहे, तो तब ही मुझे सुख है। किन्तु यदि उसकी निन्दा हो, तो मेरे लिये बहुत दुख होगा ॥ १७८ ॥ इसलिये मेरे मन में तो यही युक्ति जचती है कि निमाई यदि नीलाचल में निवास करे तो दोनों बातें बन जाती हैं क्योंकि नीलाचल और नवद्वीप दोनों मानों एक घर के समान हैं। लोगों का आना-जाना रहता है, इससे मुझे निमाई का कुशल-समाचार भी निरन्तर मिलता रहेगा। ॥ १८२ ॥ तुम सब लोग भी नीलाचल आ-जा सकोगे। और फिर कभी निमाई भी गङ्गास्नान के बहाने यहाँ आवेगा, (जिससे उसे मैं फिर देख लूंगी) ॥ १८१ ॥ यह तो आप जानते हैं कि अपने सुख-दुख का कोई भी सोच मुझे नहीं है, जिसमें निमाई का सुख हो, मैं तो अपना सुख उसी में मानती हूँ" ॥१८२॥

शुनि भक्तगण तांरे करेन स्तवन। वेद आज्ञा यैछे माता! तोमार वचन ॥१८३॥
भक्तगण प्रभु—आगे आसिया कहिल। शुनिञा प्रभुर मने आनन्द हइल ॥१८४॥
नवद्वीपवासी—आदि यत लोकगण। सभारे सम्मान करि बलिल वचन—॥१८५॥
तुमि-सब लोक मोर परम बान्धव। एइ भिक्षा मागों—मोरे देह तुमि सब ॥१८६॥
घर याञा कर सदा कृष्णसङ्कीर्त्तन। कृष्णनाम कृष्णकथा कृष्ण—आराधन ॥१८७॥
आज्ञा देह नीलाचले करिये गमन। मध्ये मध्ये आसि तोमाय दिव दरशन ॥१८८॥

श्रीशची के वचन सुनकर भक्तगण शचीमाता की स्तुति करते हुए कहने लगे—"माता! आपके वचन वेद-आज्ञा के समान मान्य हैं।" भक्तगणों ने आकर सब बात प्रभु को सुनाई, जिसे सुनकर प्रभु को बहुत आनन्द हुआ ॥ १८३ ॥ १८४ ॥

नवद्वीपवासी एवं और जितने भक्त थे, उनका सम्मान करते हुए महाप्रभुजी ने कहा—"आप सब लोग मेरे परम बान्धव हैं। मैं आपसे एक भिक्षा माँगता हूँ, वह आप मुझे दीजिये" ॥ १८६ ॥ "आप

सब लोग अपने घरों में जाकर सदा श्रीकृष्ण-नाम-सङ्कीर्त्तन, श्रीकृष्ण-नाम-जप, श्रीकृष्ण-कथा तथा श्रीकृष्ण की आराधना करिये, (यही भिक्षा मुझे दीजिये)। मुझे भी आज्ञा दीजिये, कि मैं नीलाचल जाऊं, बीच बीच में आप लोग वहाँ नीलाचल में आकर मुझे दर्शन दीजियेगा ।। १८७ ।। १८८ ।।

एत बलि सभाकारे ईशत् हासिया । विदाय करिल प्रभु सम्मान करिया ।।१८९।।

सभा विदाय दिया प्रभु चलिते कैल मन । हरिदास कान्दि कहे करुण वचन—।।१९०।।

नीलाचल चलिले तुमि, मोर कोन गति ? । नीलाचले याइते मोर नाहिक शकति ।।१९१।।

मुञि अधम तोमार ना पाव दरशन । केमने धरिमु एइ पापिष्ठ जीवन ? ।।१९२।।

ऐसा कहकर प्रभु ने मन्द मुस्काते हुए (कृपादृष्टि करते हुए) एवं सबका सम्मान करते हुए सबको विदा किया । सबको विदाकर प्रभु ने स्वयं भी नीलाचल चलने की इच्छा प्रगट की । यह देखकर श्रीहरिदास रोने लगे एवं दीनतापूर्वक निवेदन करने लगे—।।१९०।। "प्रभो ! आप तो नीलाचल जा रहे हो, मेरी गति क्या होगी ? नीलाचल जाने की शक्ति मुझमें तो नहीं है," (यवनगृह जन्म होने से अपने को अपवित्र जानकर तीर्थस्थल-नीलाचल में जाने का अपना अधिकार न जानकर श्रीहरिदास ने यह बात कही) "मुझ अधम को यदि आपके दर्शन न हुए, तो यह पापी-जीवन कैसे धारण कर सकूंगा? ।"।।१९२।।

प्रभु कहे—कर तुमि दैन्य-संवरण । तोमार दैन्येते मोर व्याकुल हय मन ।।१९३।।

तोमा लागि जगन्नाथे करिव निवेदन । तोमा लैया याव आमि श्रीपुरुषोत्तम ।।१९४।।

तबे त आचार्य्य कहे विनति करिया-। दिन-दुइ-चारि रह कृपा त करिया ।।१९५।।

आचार्य्य-वचन प्रभु ना करे लङ्घन । रहिला अद्वैतगृहे-ना कैल गमन ।।१९६।।

श्रीगौराङ्ग ने कहा—"हरिदास ! इस प्रकार की दीनता तुम अब मत करो, तुम्हारी दीनता को देखकर मेरा मन व्याकुल हो रहा है । श्रीजगन्नाथजी से मैं निवेदन करूंगा—वे तुम पर कृपा करेंगे । मैं तुम्हें उनकी कृपा से श्रीक्षेत्र में ले चलूंगा" ।।१९४।। फिर श्रीअद्वैत ने बहुत विनयपूर्वक प्रभु से दो-चार दिन और ठहर कर कृपा करने की प्रार्थना की । श्रीप्रभु ने आचार्य्य के वचनों का उलङ्घन न किया एवं नीलाचल न जाकर उनके घर पर रुक गये ।।१९६।।

आनन्दित हैला आचार्य्य शची भक्तसब । प्रतिदिन करे आचार्य्य महामहोत्सव ।।१९७।।

दिने कृष्णकथा-रस भक्तगण-सङ्गे । रात्र्ये महामहोत्सव संकीर्त्तन रङ्गे ।।१९८।।

आनन्दित हैया शची करेन रन्धन । सुखे भोजन करे प्रभु लञा भक्तगण ।।१९९।।

आचार्य्येर श्रद्धा-भक्ति गृह सम्पद धने । सकल सफल हैल प्रभु-आराधने ।।२००।।

शचीर आनन्द बाढ़े देखि पुत्रमुख । भोजन कराञा पूर्ण कैल निजसुख ।।२०१।।

एइमत अद्वैतगृहे भक्तगण मेले । वञ्चिल कथोकदिन नाना कुतूहले ।।२०२।।

श्रीमहाप्रभु की स्वीकृति पाकर श्रीअद्वैत, श्रीशची तथा सब भक्तों को बहुत आनन्द हुआ । श्रीअद्वैत प्रतिदिन महोत्सव करते । दिन के समय तो वे भक्तगणों के सहित श्रीकृष्ण-कथा का रस पान करते एवं रात को सङ्कीर्त्तन का महान उत्सव करते ।।१९८।। श्रीशचीमाता प्रतिदिन आनन्दपूर्वक रसोई करतीं एवं प्रभु भक्तोंके सहित सुखपूर्वक भोजन करते ।।१९९।। श्रीअद्वैतकी श्रद्धाभक्ति, घरकी सम्पदा तथा धन—ये सब श्रीमहाप्रभु की सेवा में काम आने से सफल हो गये । शचीमाता का आनन्द श्रीनिमाई के मुखचन्द्र को देखकर प्रतिदिन बढ़ने लगा एवं उनको भोजन कराकर अपने सुख की पूर्ति करने लगीं । इस तरह श्रीअद्वैताचार्य के घर में प्रभु ने भक्तों के सहित और कई एक दिन आनन्द पूर्वक गुजारे ।

आरदिन प्रभु कहे सब भक्तगणे—। निजनिज गृहे सभे करह गमने ॥२०३॥
घरे गिया कर सबे कृष्ण सङ्कीर्त्तन। पुनरपि आमासङ्गे हइवे मिलन ॥२०४॥
कभु वा करिवे तोमा नीलाद्रिगमन। कभु वा आसिव आमि करिते गङ्गास्नान ॥२०५॥

फिर एक दिन प्रभु ने सब भक्तों को कहा—"अब आप सब अपने-अपने घरों को जाइये और वहाँ श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन करते रहिये, फिर भी मेरे साथ आपका मिलन होगा ॥२०४॥ कभी तो आप लोग नीलाचल में आयेंगे और कभी मैं गङ्गा स्नान करने यहाँ आऊँगा" ॥२०५॥

नित्यानन्द गोसाञि, पण्डित जगदानन्द। दामोदर पण्डित, आर दत्त मुकुन्द ॥२०६॥
एइ चारिजने आचार्य्य दिल प्रभुसने। जननी–प्रबोध करि वन्दिल चरणे ॥२०७॥
तांरे प्रदक्षिण करि करिल गमन। एथा आचार्य्येर घरे उठिल क्रन्दन ॥२०८॥
निरपेक्ष हैया प्रभु शीघ्र चलिला। कान्दिते कान्दिते आचार्य्य पाछे त लागिला ॥२०९॥
कथोदूर याइ प्रभु करि योड़हात। आचार्य्य प्रबोधि कहे किछु मिष्ट-बात—॥२१०॥

प्रभु श्रीनित्यानन्द, श्रीजगदानन्द पण्डित, श्रीदामोदर पण्डित एवं श्रीमुकुन्ददत्त—इन चारों को श्रीअद्वैत ने श्रीमहाप्रभु के साथ भेजा। प्रभु ने माता को सान्त्वना दी एवं उनके चरणों में प्रणाम की। उनकी प्रदक्षिणा की एवं वहाँ से चल दिये। इतने में श्रीअद्वैत के घर में तो प्रभु के वियोग में चीत्कार सा मच गया ॥२०८॥ किन्तु श्रीमहाप्रभु कुछ भी किसी की अपेक्षा न करते हुए वहाँ से शीघ्र चल दिये। श्रीअद्वैत रोते-रोते श्रीमहाप्रभु के पीछे दौड़े आये। कुछ दूर जाकर जब प्रभु ने आचार्य्य को पीछे आते देखा तो हाथ जोड़कर उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कुछ मधुर वचन कहे—॥२१०॥

जननी प्रबोधि कर भक्तसमाधान। तुमि व्यग्र हैले कारो ना रहिवे प्राण ॥२११॥
एत बलि प्रभु तांरे करि आलिङ्गन। निवृत्ति करिया कैल स्वच्छन्दगमन ॥२१२॥
गङ्गातीरे तीरे प्रभु चारिजन साथे। नीलाद्रि चलिला प्रभु छत्रभोगपथे ॥२१३॥
चैतन्यमङ्गले प्रभुर नीलाद्रिगमन। विस्तारि वर्णियाछेन दास वृन्दाबन ॥२१४॥
अद्वैत गृहे प्रभुर विलास शुने येइ जन। अचिराते मिलये तारे कृष्ण-प्रेमधन ॥२१५॥
श्रीरूप–रघुनाथ–पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२१६॥

श्रीगौराङ्ग ने कहा—"आचार्य! तुम लौट जाओ, मेरे पीछे मत आओ, देखो, आप जाकर मेरी माता को एवं सब भक्तों को धीर बँधाओ। आपके इस प्रकार व्याकुल होने पर औरों के प्राण नहीं रहेंगे।" इतना कहकर प्रभु ने श्रीअद्वैत को गले लगाया एवं वापिस लौटा दिया और आप स्वच्छन्दता से आगे चल दिये। श्रीमहाप्रभु उन चारों भक्तों के साथ गङ्गा के तीर तीर चलकर छत्रभोग के रास्ते से नीलाचल आ पहुँचे॥ श्रीवृन्दावनदासजी ने श्रीचैतन्यभागवत-ग्रन्थ में श्रीमहाप्रभु के नीलाचल-आगमन की इस लीला को विस्तारपूर्वक वर्णन किया है ॥२१४॥ श्रीअद्वैत के घर में श्रीमहाप्रभु ने जो लीला-विलास किया है—उसे जो व्यक्ति सुनते हैं, उन्हें शीघ्र ही श्रीकृष्ण-प्रेम-धन की प्राप्ति होती है ॥२१५॥ श्रीरूपगोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरणों की आशा रखते हुए श्रीकृष्णदास श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत का गान करते हैं ॥२१६॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य-लीलायां संन्यासकरणाद्वैत-गृहविलासो नाम तृतीय परिच्छेदः ॥३॥

जयगौर

मध्य-लीला

चतुर्थ परिच्छेद

★

यस्मै दातुं चोरयन् क्षीरभाण्डं गोपीनाथः क्षीरचोराभिधोऽभूत् ।
श्रीगोपालः प्रादुरासीद् वशः सन् यत्प्रेम्ना तं माधवेन्द्रं नतोऽस्मि ।।१।।

(रेमुणा ग्राम में विराजमान श्रीकृष्ण-विग्रह) श्रीगोपीनाथजी ने जिन श्रीमाधवेन्द्रपुरी गोस्वामी को देने के लिये क्षीर के भरे हुए पात्र की चोरी की एवं क्षीर-चोर नाम से प्रसिद्ध हुए और जिनके प्रेम के वशीभूत होकर श्रीगोपाल उनके सामने (गोपबालक रूप) में प्रकटित हुए, उन (श्रीमाधवेन्द्रपुरी गोस्वामी) को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१।।

चै० च० चु० *टीका*—इस चतुर्थ परिच्छेद में श्रीमाधवेन्द्रपुरी गोस्वामीपाद का चरित्र एवं उसी प्रसङ्ग में क्षीर चुराने के व्यपदेश से रेमुणा ग्राम के श्रीगोपीनाथजी की भक्तवत्सलता का वर्णन किया गया है ।

जयजय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ।।१।।
नीलाद्रिगमन जगन्नाथ दरशन । सार्वभौमभट्टाचार्य्य-प्रभुर मिलन ।।२।।
एइसब लीला प्रभुर दास वृन्दावन । विस्तारि करियाछेन उत्तम वर्णन ।।३।।
सहजे विचित्र मधुर चैतन्यविहार । वृन्दावनदास-मुखे अमृतेर धार ।।४।।
अतएव ताहा वर्णिले हय पुनरुक्ति । दम्भ करि वर्णि यदि, तैछे नाहि शक्ति ।।५।।
चैतन्यमङ्गले याहा करिला वर्णन । सूत्ररूपे सेइ लीला करिये सूचन ।।६।।
तांर सूत्रे आछे, तेंहो ना कैल वर्णन । यथा कथञ्चित् करि से लीला-कथन ।।७।।
अतएव तांर पाये करि नमस्कार । तांर पाये अपराध नहुक आमार ।।८।।

श्रीगौरचन्द्र प्रभु तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो । श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु तथा गौरभक्त-वृन्द की जय हो, जय हो ।।१।। श्रीमहाप्रभु का नीलाचल जाकर श्रीजगन्नाथ के दर्शन करना एवं श्रीसार्व्व-भौमभट्टाचार्य से प्रभु का मिलन—ये सब लीलाएँ श्रीवृन्दावनदासजी ने श्रीचैतन्यभागवत में उत्तम रीति से विस्तारपूर्वक वर्णन की हैं ।।२-३।। श्रीचैतन्यदेव की लीलाएँ स्वाभाविक ही मधुर हैं एवं विचित्र हैं, फिर भी उनका श्रीवृन्दावनदासजी के मुख से वर्णन होना मानो अमृत तुल्य रसदायक हुआ है ।।४।। अतः उनको फिर वर्णन करना पुनरुक्ति कही जायगी । यदि मैं अहंकारपूर्वक उनका वर्णन करूं (कि मैं उनसे

अच्छा वर्णन करूंगा) तो ऐसी मेरी शक्ति नहीं है ।।५।। श्रीवृन्दावनदास ने श्रीचैतन्यभागवत में जिन-जिन लीलाओं का वर्णन किया है, मैं यहाँ उन्हें अति संक्षेप से सूत्ररूप में वर्णन करूंगा ।।६।। और जो लीलाएँ उन्होंने वर्णन नहीं की हैं या सूत्ररूप से कही हैं, उनको मैं यत्किञ्चित् वर्णन करूंगा ।।७।। अतः मैं उनके चरणों में नमस्कार करता हूँ जिससे उनके प्रति मेरा अपराध न हो ।।८।।

एइमत महाप्रभु चलिला नीलाचले । चारि-भक्त सङ्गे कृष्ण-कीर्त्तन कुतूहले ।। ९ ।।
भिक्षा लागि एक दिन एक ग्रामे गिया । आपने बहुत अन्न आनिल मागिया ।। १० ।।
पथे बड़-बड़ दानी, विघ्न नाहि करे । ता-सभारे कृपा करि आइला रेमुणारे ।। ११ ।।
रेमुणाते गोपीनाथ परम मोहन । भक्ति करि कैल प्रभु तांर दरशन ।। १२ ।।

शान्तिपुर से विदा होकर श्रीमहाप्रभु चारों भक्तों के साथ (श्रीनित्यानन्द, श्रीदामोदर पण्डित, श्रीजगदानन्द एवं श्रीमुकुन्द–इनके साथ) रास्ते में श्रीकृष्णनाम-संकीर्त्तन का आनन्द लेते हुए नीलाचल की ओर चले ।। ९ ।। एक दिन एक ग्राममें जाकर स्वयं श्रीमहाप्रभु बहुत-सा अन्न भोजन के लिये माँग लाए, एवं सबने मिलकर भोजन किया ।। १० ।। रास्ते में कई एक ऐसी चौकियाँ थीं, जिनसे गुजरने के लिये कर देना पड़ता था । उस कर के लेने के लिये बड़े-बड़े बलवान व्यक्ति हर समय विद्यमान रहते थे, किन्तु वे प्रभु के लिये कुछ भी रोक-टोंक न करते । (बिना कर लिये प्रभु को जाने देते ।) प्रभु उन पर कृपा दृष्टि करते हुए रेमुणा नगरी में पहुँचे ।। ११ ।। रेमुणा में श्रीगोपीनाथ जी का परम मनोहर विग्रह है । प्रभु ने श्रद्धापूर्वक उनका दर्शन किया ।। १२ ।।

तांर पाद-पद्म-निकटे प्रणाम करिते । तांर पुष्पचूड़ा पड़िल प्रभुर माथाते ।। १३ ।।
चूड़ा पाइया प्रभु मने आनन्दित हञा । बहु नृत्यगीत कैला भक्तगण लञा ।। १४ ।।
प्रभुर त भाव देखि—प्रेम-रूप-गुण । विस्मित हइला गोपीनाथेर दासगण ।। १५ ।।
नानामते प्रीते कैल प्रभुर सेवन । सेइ रात्रि ताहां प्रभु करिला वंचन ।। १६ ।।

जिस समय श्रीमहाप्रभु ने श्रीगोपीनाथजी के चरणों के निकट जाकर प्रणाम किया, तभी एक पुष्प-माला श्रीगोपीनाथ के गले से टूटकर श्रीमहाप्रभु के कण्ठ में आ पड़ी, (मानो उन्हें अपनी प्रेयसी श्रीराधा जी जानकर (श्रीगोपीनाथ ने) अपनी पुष्प-माला पहरा दी हो) ।। प्रसादी माला को प्राप्त कर प्रभु बहुत आनन्दित हुए एवं सब भक्तों सहित वहाँ नृत्य-कीर्त्तन करने लगे । श्रीमहाप्रभु के अलौकिक भावों, प्रेम एवं रूप तथा गुणों को देखकर श्रीगोपीनाथजी के सेवकगण विस्मित रह गये । उन्होंने नाना-विधि प्रीतिपूर्वक प्रभु की सेवा की एवं उन्होंने उसी रात वहाँ ही निवास किया ।। १६ ।।

महाप्रसाद-क्षीरलोभे रहिला प्रभु तथा । पूर्व्वे ईश्वरपुरी तांरे कहियाछने कथा ।। १७ ।।
'क्षीरचोरा गोपीनाथ' प्रसिद्ध तार नाम । भक्तगणे कहे प्रभु सेइ त आख्यान ।। १८ ।।
पूर्व्वे माधवपुरीर लागि क्षीर कैल चुरि । अतएव नाम हैल 'क्षीरचोरा' करि ।। १९ ।।
पूर्व्वे श्रीमाधवपुरी आइला वृन्दावन । भ्रमिते भ्रमिते गेला गिरि गोवर्धन ।। २० ।।

श्रीगोपीनाथजी के महाप्रसादी क्षीर की आशा से प्रभु वहाँ रहे । जैसे कि श्रीईश्वरपुरीजी ने प्रभु को पहले क्षीर प्रसाद की कथा सुनाई थी ।। १७ ।। जिस तरह उनका 'क्षीरचोरा गोपीनाथ' नाम प्रसिद्ध हुआ था—वही कथा प्रभु सब-भक्तों को सुनाने लगे । प्रभु ने कहा—"एक समय श्रीमाधवेन्द्रपुरी

के लिये इन श्रीगोपीनाथजी ने क्षीर की चोरी की थी, अतः तब से इनका नाम 'क्षीर-चोरा-गोपीनाथ हुआ है ॥१६॥ एक बार श्रीमाधवेन्द्रपुरी श्रीवृन्दावनमें आए एवं भ्रमण करते हुए श्रीगोवर्धनजीमें पहुँचे ॥

प्रेमे मत्त-नाहि तांर दिवा-रात्रि-ज्ञान । क्षणे उठे क्षणे पड़े-नाहि स्थानास्थान ॥ २१ ॥

शलै परिक्रमा करि गोविन्द कुण्डे आसि । स्नान करि वृक्ष तले आछे सन्ध्याय वसि ॥२२॥

गोपाल बालक एक दुग्धभाण्ड लञा । आसि आगे धरि किछु बलिला हासिया ॥२३॥

पुरी ! एइ दुग्ध लैया कर तुमि पान । मागि केने नाहि खाओ, किवा कर ध्यान ॥२४॥

श्रीमाधवेन्द्रपुरी प्रेम में ऐसे उन्मत्त हो रहे थे कि उन्हें दिन-रात का भी ज्ञान नहीं था । कभी उठते, कभी गिरते, स्थान-अस्थान का कुछ भी ज्ञान उन्हें नहीं था ॥ २१ ॥ श्रीगिरिराज की परिक्रमा कर वे श्रीगोविन्दकुण्ड पर आए एवं वहां स्नान करके एक वृक्ष तले बैठे हुए थे, कि एक गोप-बालक एक दूध का भरा हुआ पात्र ले आया और उनके आगे आकर रखा एवं कहने लगा—"पुरी ! इस दूध को तुम पान करो । तुम मांग कर क्यों नहीं खाते ? अब ध्यान किस का कर रहे हो ?"

चै० च० चु०टीका—श्रीमाधवेन्द्रपुरी दूध के अतिरिक्त और कुछ भोजन न करते थे, वह भी किसी से कभी मांगते नहीं थे। अयाचक-वृत्ति में रहते थे। जिनका वे ध्यान कर रहे थे वे श्रीगोपाल तो उनके सामने थे । अतः गोप-बालक ने इशारे में जनाया कि जिसका ध्यान कर रहे हो, वह गोपाल तो तुम्हारे सामने है, फिर ध्यान किसका कर रहे हो।

बालकेर सौन्दर्यें पुरीर हइल सन्तोष । ताहार मधुर वाक्ये गेल भोक-शोष ॥ २५ ॥

पुरी कहे, के तुमि, कांहा तोमार वास ? । केमने जानिले-आमि करि उपवास ? ॥२६॥

बालक कहे, गोप आमि, एइ ग्रामे वसि । आमार ग्रामेते केहो न रहे उपवासी ॥ २७ ॥

केहो मागि खाय अन्न, केहो दुग्धाहार । अयाचक जने आमि दिये त आहार ॥ २८ ॥

श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा—"उस बालक के सौन्दर्य को देखकर श्रीमाधवेन्द्रपुरी अति आनन्दित हुए एवं उसके मधुर वचनों से ही उनकी भूख प्यास जाती रही। पुरी ने पूछा—"तुम कौन हो ? और तुम कहाँ रहते हो ? तुमने यह कैसे जान लिया कि मैं भूखा हूँ ?" गोपबालक ने कहा—"मैं गोप हूँ एवं इसी ग्राम में रहता हूँ, मेरे ग्राम में कोई भी भूखा नहीं रहता है। कोई तो मांग कर भोजन कर लेता है एवं कोई दूध ही पी लेता है और जो अयाचक हैं, कुछ नहीं मांगते, उन्हें मैं ही तो आहार देता हूँ। (मुझे तुम्हारे उपवासी होने का कैसे पता लगा—सो सुनोः— ॥२८॥

जल लैते स्त्रीगण तोमारे देखि गेला । स्त्री-सव दुग्ध दिया आमारे पाठाइला ॥ २६ ॥

गोदोहन करिते चाहि शीघ्र आमि याव । आर वार आसि आमि एइ भाण्ड लैव ॥३०॥

एत बलि बालक गेला ना देखिये आर । माधवपुरीर चित्ते हैल चमत्कार ॥ ३१ ॥

दुग्ध पान करि भाण्ड धुइया राखिल । वाट देखे, सेइ बालक पुन ना आइल ॥ ३२ ॥

कुछ स्त्री-गण जल लेने (इस कुण्ड पर) आई थीं, सो वे तुम्हें यहाँ बैठा देख गई थीं। उन स्त्रियों ने ही दूध देकर मुझे यहां भेजा है । पुरी ! मुझे गो–दोहन करना है, इसलिये मैं अब जल्दी जाता हूँ। यह दुग्ध-पात्र तुम ले लो—इस पात्र को फिर आकर मैं ले जाऊंगा"—इतना कहकर वह गोपबालक वहां से चला गया—फिर कहीं न दीख पड़ा। श्रीमाधवेन्द्रपुरी के चित्त में चमत्कार हुआ। उन्होंने दूध

को पान किया एवं उस पात्र को धोकर रख दिया ! अब तो वे उस बालक की बाट देखने लगे, किन्तु वह बालक फिर न आया ।। ३२ ।।

वसि नाम लय पुरी, निद्रा नाहि हय । शेष रात्रे तन्द्रा हैल--बाह्य वृत्तिलय ।। ३३ ।।
स्वप्न देखे–सेइ बालक सन्मुखे आसिया । एक कुंजे लञा गेला हातेते धरिया ।।३४।।
कुञ्ज देखाइया कहे–आमि एइ कुञ्जे रइ । शीत वृष्टि-दावग्निते दुख बड़ पाइ ।।३५।।
ग्रामेर लोक आनि आमा काढ़ कुञ्ज हैते । पर्व्वत-उपरे लञा राख भालमते ।।३६।।

श्रीमहाप्रभु ने फिर बताया—"श्री माधवेन्द्रपुरी वहाँ बैठ कर नाम जप करने लगे। उन्हें नींद नहीं आई। रात के शेष में पुरी को कुछ तन्द्रा सी आई एवं उनकी बाह्य वृत्ति अर्थात् इन्द्रियों की बाहरी क्रिया लोप होगई (अन्तः वृत्ति तो जागृत रही)। पुरी स्वप्न देखने लगे कि वही गोपबालक सामने आ गया है और वह उनका हाथ पकड़ कर एक कुञ्ज में ले जा रहा है। उस कुञ्ज को दिखा कर बालक ने कहा—"मैं इस कुञ्ज में रहता हूँ एवं सर्दी ,वर्षा एवं गर्मी से बहुत दुख भोगता हूँ ।। ३५ ।। इस लिए तुम ग्राम के लोगों को ले आकर मुझे इस कुञ्ज से बाहर निकालो और फिर गोवर्धन गिरि पर मुझे अच्छी प्रकार से स्थापित करो" ।।३६।।

एक मठ करि ताहा करह स्थापन । बहु शीतल-जले आमा कराह स्नपन ।।३७।।
बहुदिन तोमार पथ करि निरीक्षण– । कबे आसि माधव आमा करिबे सेवन ? ।।३८।।
तोमार प्रेमवशे करि सेवा अङ्गीकार । दर्शन दिया निस्तारिब सकल संसार ।।३९।।
श्रीगोपालनाम मोर गोवर्धन—धारी । बज्रेर स्थापित आमि-इहां अधिकारी ।।४०।।

उस बालक ने फिर कहा—"पर्वत पर एक मन्दिर बनाकर मुझे वहां स्थापित करो और अति शीतल जल से मुझे स्नान कराओ। मैं बहुत दिन से तुम्हारी बाट ताकता था कि कब आकर माधव मेरी सेवा करेगा ?" मै तुम्हारे प्रेम के वशीभूत होकर तुम्हारी सेवा को अङ्गीकार करूँगा। मेरा नाम श्री-गोपाल गोवर्धनधारी है और मुझे वज्रनाभ ने स्थापित किया था और इस स्थल पर मेरा अधिकार है ।।

चै० च० चु० टीका—भगवान् श्रीकृष्ण के पुत्र श्रीप्रद्युम्न एवं उनके पुत्र श्रीअनिरुद्ध हुए। श्रीअनिरुद्ध के पुत्र श्रीवज्रनाभ हुए। मौषललीला से यदुवंश का ध्वंश हुआ किन्तु कुछ बालक, वृद्ध, स्त्रियों के सहित श्रीवज्रनाभ बच गये, जिन्हें श्रीअर्जुन इन्द्रप्रस्थ ले आए। उन्हें वहाँ बसाया एवं श्रीवज्रनाभ का अभिषेक किया। उन्हीं श्रीवज्रनाभजी ने श्रीकृष्ण लीला के अनेक स्थानों का उद्धार किया एवं इस श्रीकृष्ण मूर्त्ति का निर्माण कराकर सेवा प्रतिष्ठा की थी। मुगल राजा औरङ्गजेब ने जब अनेक मन्दिर-मूर्त्तियों को नष्ट-भ्रष्ट किया तब पुजारियों ने भयभीत होकर इस मूर्त्ति को इस कुञ्ज में आकर गाढ़ दिया था। इसी तथ्य का इशारा अगले पयारों में वर्णित है।

शैल उपरे हइते आमा कुञ्जे लुकाइया । म्लेच्छभये सेवक आमार गेल पलाइया ।।४१।।
सेइ हइते रहि आमि एइ कुञ्जस्थाने । भाल हैल आइला, आमा काढ़ सावधाने ।।४२।।
एत बलि से बालक अन्तर्द्धान कैल । जागिया माधवपुरी विचार करिल ।। ४३ ।।
कृष्णके देखिनु मुञि नारिनु चिनिते । एत बलि प्रेमावेशे पड़िला भूमिते ।। ४४ ।।

उस गोप बालक ने फिर कहा—"इस देश पर यवन लोगों ने आक्रमण किया था उस समय मुझे मन्दिर में से ले आकर मुझे इस कुञ्ज में छिपाकर पुजारी म्लेच्छों के भय से भाग गये थे। तभी से

मैं इस कुञ्ज में रहता हूँ। पुरी! अच्छा हुआ, तुम आए हो, अब मुझे यहाँ से सावधानता पूर्वक बाहर निकालो।" इतना कह कर वह गोपबालक अन्तर्धान होगया। इतने में श्रीमाधवपुरी जाग उठे और विचार करने लगे—"हाय! हाय!! मैने तो श्रीकृष्ण को देखा है, परन्तु मै उन्हें पहिचान न सका" ऐसा कह कर वे प्रेमावेश में पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर गये॥४४॥

क्षणेक रोदन करि मन कैल धीर। आज्ञा पालन लागि हइला सुस्थिर॥४५॥
प्रातः स्नान करि पुरी ग्राम मध्ये गेला। सब लोके एकत्र करि कहिते लागिला—॥४६॥
ग्रामेर ईश्वर तोमार गोवर्धन-धारी। कुंजे आछेन, चल तांरे बाहिर ये करि॥४७॥
अत्यन्त निबिड़ कुञ्ज-नारि प्रवेशिते। कुठार कोदालि लह दुयार करिते॥ ४८॥

कुछ देर तक वे रोते रहे, फिर मन में धैर्य्य धारण किया एवं श्री भगवान् की आज्ञा को पालन करने के लिये तैयार हुए। प्रातःकाल स्नान कर श्रीमाधवपुरी ग्राममें चले एवं वहाँ सब लोगों को एकत्रित कर कहने लगे—"तुम्हारे ग्राम का ईश्वर गोवर्धनधारी एक कुञ्ज में दबा हुआ है, तुम सब मेरे साथ चलो और उसे बाहर निकालें॥ ४७॥ वह कुञ्ज बड़ी घनी है, उसमें कोई प्रवेश नहीं कर सकता, इस लिये रास्ता करने के लिये कुठार एवं कुदाल अपने सङ्ग ले चलो॥ ४८॥

शुनि लोक तांर सङ्गे चलिला हरिषे। कुञ्ज काटि द्वार करिला प्रवेशे॥ ४९॥
ठाकुर देखिल माटि-तृणे आच्छादित। देखि सब लोक हइल आनन्दे विस्मित॥५०॥
आवरण दूरि करि करिला विदिते। महा भारि ठाकुर—केहो नारे चालाइते॥५१॥
महा महा बलिष्ठ लोक एकत्र हइया। पर्व्वत-उपरे गेला ठाकुर लइया॥५२॥

श्रीपुरी के वचन सुन कर अनेक ग्रामजन उनके साथ हर्षित होकर चले। वहाँ जाकर कुञ्ज को काट कर रास्ता बनाया एवं उसमें प्रवेश किया। वहाँ श्रीगोवर्द्धनधारी के विग्रह को मिट्टी एवं घास से आच्छादित देखा। श्रीग्रिवह को पाकर सब लोग बहुत आनन्दित एवं विस्मित हुए। उन लोगों ने मिट्टी तृणादि को दूर किया एवं सब को श्रीविग्रह दिखलाया। वह मूर्त्ति बड़ी भारी थी, कोई भी उसे न हिला सका। तत्पश्चात् महान् महान् बलिष्ट लोगों ने एकत्रित होकर उस मूर्त्ति को उठाया एवं गिरि-गोवर्द्धन के ऊपर ले गये॥४९–५२॥

पाथरेर सिंहासने ठाकुर बसाइल। बड़ एक पाथर पृष्ठे अवलम्वन दिला॥५३॥
ग्रामेर ब्राह्मण सब नवघट लञा। गोविन्द कुण्डेर जल आनिल छानिञा॥५४॥
नव शतघट जल कैल उपनीत। नाना वाद्य भेरी बाजे, स्त्रीगणे गाय गीत॥५५॥
केहो गाय केहो नाचे—महोत्सव हैल। अनेक सामग्री यत्न करि आनाइल॥५६॥

एक बड़े पत्थर को मानो सिंहासन बना कर उस पर श्रीमूर्त्ति को बैठाया एवं एक और बड़ा पत्थर पीछे रख कर उसे अवलम्बन दिया। श्रीमूर्त्ति का अभिषेक करने के लिये ग्राम के सब ब्राह्मण नये नये घड़े लेकर गोविन्दकुण्ड का जल छान कर लाने लगे॥५४॥ जल के नवीन सौ घड़े जमा किये गये। अनेक प्रकार के भेरी आदि बाजे बजने लगे एवं स्त्रीगण मंगल-गीत गाने लगीं। कोई गाने लगा, तो कोई नाचने लगा। बड़ा भारी उत्सव मनाया गया एवं यत्न कर अनेक प्रकार की सामग्री वहां लाई गई॥५६॥

दधि दुग्ध घृत आइल यत ग्राम हइते । भोग सामग्री आइल सन्देशादि कते ।।५७।।
तुलस्यादि पुष्प वस्त्र आइल अनेक । आपने माधवपुरी करे अभिषेक ।।५८।।
अङ्ग-मला दूर करि कराइल स्नपन । बहु तैल दिया कैल श्रीअङ्ग चिक्कन ।।५९।।
पञ्चगव्य—पञ्चामृत स्नान कराइया । महास्नान कराइल शतघट दिया ।।६०।।

दधि, दूध एवं घृत तथा भोग की सामग्री, मिठाई आदि सब ग्राम से वहां लाई गई ।।५७।। अनेक वस्त्र, तुलसी, चन्दन, फूलादि पूजा का उपकरण वहाँ जमा हो गया। तब श्रीमाधवपुरी स्वयं भगवान् का अभिषेक करने लगे ।।५८।। श्रीविग्रह की मिट्टी आदि को श्रीपुरी ने स्नान द्वारा दूर किया एवं सुगन्धित तैल द्वारा श्रीअङ्ग को चिकना किया ।।५९।। गोमूत्र, गोबर, दधि, दूध एवं घृत—पञ्च गव्य तथा दधि, दूध, घृत, मधु तथा चीनी—पञ्चामृत से श्रीविग्रह को पहले स्नान कराया, फिर सौ घड़ा जल से महा स्नान कराया ।।६०।।

पुन तैल दिया कैल श्रीअङ्ग चिक्कन । शङ्ख-गन्धोदके कैल स्नान समापन ।।६१।।
श्रीअङ्ग मार्ज्जन करि वस्त्र पराइल । चन्दन तुलसी पुष्पमाला अङ्गे दिल ।।६२।।
धूप दीप करि नाना भोग लागाइल । दधि-दुग्ध-सन्देशादि यत किछु आइल ।।६३।।
सुवासित जल नव्यपात्रे समर्पिल । आचमन दिया पुन ताम्बूल अर्पिल ।।६४।।

श्रीपुरी ने फिर श्रीअङ्गों को तेल लगाकर स्निग्ध किया एवं शङ्ख में धरे हुए कर्पूर आदि के सुगन्धित जल से एक बार स्नान कराया। श्रीअङ्गों को मर्जन कर वस्त्र पहराये तथा चन्दन चढ़ा कर तुलसी एवं पुष्पों की माला गले में धारण कराई। फिर पुरी ने धूप-दिखा कर प्रभु को दधि-दूध, मिठाई आदि जो कुछ ग्राम से आया था, तत्समस्त भोग लगाया। नवीन पात्र में सुगन्धित जल समर्पण किया एवं आचमन देकर फिर श्रीभगवान् को ताम्बूल अर्पण किया ।।६१-६४।।

आरति करिया कैल बहुत स्तवन । दण्डवत करि कैला आत्म समर्पण ।।६५।।
ग्रामेर यतेक तण्डुल दालि गोधूम-चूर्ण । सकल आनिया दिल—पर्व्वत हैल पूर्ण ।।६६।।
कुम्भकारेर घरे छिल यत मृद्भाजन । सब आइल, प्राते हैते चढ़िल रन्धन ।।६७।।
दश विप्र अन्न रान्धि करे एक स्तूप । जन-चारि पांच रान्धे व्यञ्जनादि सूप ।।६८।।

श्रीमाधवपुरी ने फिर श्रीगोपालजी की आरती की एवं बहुत स्तुति की। अन्त में दण्डवत् प्रणाम कर प्रभु को आत्मसमर्पण किया। ग्राम के लोगों ने चावल, दाल, मेदा-आटा सूजी जितना भी ग्राम में था, वह समस्त सामान लाकर दे दिया, उससे पर्वत पूर्ण होगया अर्थात् अन्नकूट बन गया। ग्राम के कुम्हारों के घरों में जितने भी मिट्टी के पात्र विद्यमान थे, तत् समस्त वहाँ लाए गये। प्रातःकाल से ही रसोई बनाना आरम्भ हुआ। दस ब्राह्मण अन्न पकाने लगे एवं एक ब्राह्मण स्तूप (झोल) करने लगा। चार-पांच व्यक्ति मिलकर दाल आदि व्यञ्जन तैयार करने लगे ।।६५-६८।

वन्य शाक-फल-मूले विविध व्यञ्जन । केहो बड़ा बड़ी कड़ि करे विप्रगण ।।६९।।
जन पांच सात रुटी करे राशि राशि । अन्नव्यञ्जन सब रहे घृते भासि ।।७०।।
नव वस्त्र पाति ताते पलाशेर पात । रान्धि-रान्धि तार उपर राशि कैल भात ।।७१।।
तार पाशे रुटिराशि उपपर्व्वत हैल । सूप-व्यञ्जन भाण्ड सब चौदिके धरिल ।।७२।।

वन में होने वाले शाक, फल, मूलादि के अनेक व्यञ्जन बनाए गये। कोई बड़ा, कोई बड़ी एवं कोई ब्राह्मण कढ़ी बनाने लगा। पाञ्च-सात व्यक्ति तो रोटी बनाकर ढेर के ढेर लगाने लगे। अन्न के व्यञ्जन तो घी में ही सराबोर हो रहे थे। नीचे एक नवीन वस्त्र बिछा कर उस पर पलाश-पत्र बिछा दिये गए, चावल रान्ध रान्ध कर उन पर एक बड़ा भारी ढेर लगा दिया गया, उसके चारों ओर रोटियों के ढेर लगाकर एक छोटा पर्वत सा बनाया गया एवं दाल आदि पदार्थों के पात्र भर भर कर उसके चारों ओर रखे गये ॥६९–७२॥

तार पाशे दधि दुग्ध माठा शिखरिणी। पायस मथनी सर पाशे धरि आनि ॥७३॥
हेनमते अन्नकूट करिल साजन। पुरीगोसाञि गोपालेरे कैल समर्पण ॥७४॥
अनेक घट भरि दिल सुशीतल जल। बहु दिनेर क्षुधाय गोपाल खाइल सकल ॥७५॥
यद्यपि गोपाल सब अन्न व्यञ्जन खाइल। तांर हस्तस्पर्शे अन्न पुन तैछे हैल ॥७६॥

फिर चारों तरफ दधि, दूध, मट्ठा तथा शिखरिणी (दधि, दूध, चीनी, मरिच एवं कर्पूर इनको मिलाकर बना हुआ द्रव्य विशेष), खीर, माखन, मलाई—ये वस्तुएं पुरी ने सजाईं। इस प्रकार अन्नकूट सजाकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीगोपाल के समर्पण किया। श्रीपुरी ने सुशीतल जल से भरे हुए अनेक घड़े अर्पण किये; श्रीगोपाल भी बहुत दिन से भूखे थे, उन्होंने सब सामग्री भोजन करली। यद्यपि श्रीगोपाल ने सब पदार्थ आरोग लिये, परन्तु उनके हस्त स्पर्श से वह अन्न-सामग्री फिर वैसी की वैसी होगई ॥७३–७६॥

इहा अनुभव कैल माधव-गोसाञि। तांर ठाञि गोपालेर लुका किछु नाञि ॥७७॥
एक दिनेर उद्योगे ऐछे महोत्सव हैल। गोपाल प्रभावे हय, अन्ये ना जानिल ॥७८॥
आचमन दिञा दिल बिड़ार सञ्चय। आरति करिल—लोके करे जय जय ॥७९॥
शय्या कराइल नूतन खाट आनाइया। नव वस्त्र आनि तार उपरे पातिया ॥८०॥

श्रीगोपाल की इस भोजन-लीला का अनुभव अथवा उनकी अचिन्त्य-शक्ति का यह प्रभाव केवल श्रीमाधवेन्द्रपुरी को ही हुआ, क्योंकि उनसे(भक्तों से)श्रीभगवान् की कोई वस्तु भी छिपी नहीं रह सकती। एक ही दिन में इतना बड़ा भारी उत्सव हुआ, (उसके लिये पहले कुछ भी प्रबन्ध न था) यह सब श्रीगोपाल की ही महिमा थी और कोई इस रहस्य को न जान सका। उन्होंने फिर श्रीगोपाल को आचमन कराके अनेक पान अर्पण किये। जब उन्होंने प्रभु की आरती की, तो सब लोग जय जय-कार करने लगे। तत्पश्चात् श्रीपुरी ने नवीन खाट मंगा कर उस पर सुन्दर नवीन वस्त्र बिछाया एवं श्रीगोपाल को शयन कराई ॥७७-८०॥

तृण-टाटि दिया चारिदिग आवरिल। उपरेह एक टाटि दिया आच्छादिल ॥८१॥
पुरी गोसाञि आज्ञा दिल सकल ब्राह्मणे। आबाल-वृद्ध ग्रामेर लोक कराह भोजने ॥८२॥
सब लोक वसि क्रमे भोजन करिल। ब्राह्मण-ब्राह्मणी गणे आगे खाओयाइल ॥८३॥
अन्य ग्रामेर लोक येइ देखिते आइल। गोपाल देखिया सभे प्रसाद खाइल ॥८४॥

श्रीपुरी ने श्रीगोपाल के चारों ओर तृणों की खिड़की लगादी एवं ऊपर भी एक चटाई सी डाल कर परदा लगा दिया ॥८१॥ पुरी गोसाईं ने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि वे सब ब्राह्मणों को एवं फिर

ग्राम के नर-नारियों, बाल-वृद्धों को भोजन कराएँ ॥८२॥ सब लोग वहाँ बैठ गए एवं क्रमशः सब ने भोजन किया, सब से पहले ब्राह्मण एवं ब्राह्मणों की स्त्रियों ने भोजन किया ॥८३॥ अन्यान्य ग्रामों के लोग जो वहाँ यह कौतुक देखने आए थे, सबने श्रीगोपाल का दर्शन किया एवं वहाँ प्रसाद पाया ॥८४॥

देखिया पुरीर प्रभाव लोके चमत्कार। पूर्व्वे अन्नकूट येन हैल साक्षात्कार ॥८५॥
सकल ब्राह्मणे पुरी वैष्णव करिल। सेइ सेइ सेवामध्ये सभा नियोजिल ॥८६॥
पुन दिनशेषे प्रभुर कराइल उत्थान। किछु भोग लागाइया कराइल जलपान ॥८७॥
'गोपाल प्रकट हैल' देशे शब्द हैल। आश-पाश ग्रामेर लोक देखिते आइल ॥८८॥

श्रीपुरी गोस्वामी के प्रभाव को देख कर सब लोग चमत्कृत हो उठे, ब्रजलीला में जैसे श्रीकृष्ण ने श्रीगिरिराज पूजन कर अन्नकूट भोग लगाया था, मानो आज उसी का साक्षात् दर्शन सब को प्राप्त हुआ। श्रीपुरी ने सब ब्राह्मणों को वैष्णव किया अर्थात् मन्त्र दीक्षा दी एवं सब को यथायोग्य सेवा में लगा दिया ॥८६॥ फिर दिन के अन्त में श्रीपुरी ने श्रीगोपाल का उत्थान किया एवं कुछ भोग लगाकर उन्हें जलपान कराया ॥८७॥ सब देश में यह बात फैल गई कि श्रीगोपाल प्रकट हुए हैं। आस-पास के ग्रामों के लोग दर्शनों के लिये आने लगे ॥८८॥

एकैक दिन एकैक ग्रामे लइल मागिया। अन्नकूट करे सभे हरषित हञा ॥८९॥
रात्रिकाले ठाकुरेरे कराइया शयन। पुरीगोसाञि कैल किछु गव्यभोजन ॥९०॥
प्रातःकाले पुन तैछे करिल सेवन। अन्न लञा एक ग्रामेर आइल लोकगण ॥९१॥
अन्न घृत दधि दुग्ध ग्रामे यत छिल। गोपालेर आगे लोक आनिञा धरिल ॥९२॥

एक एक दिन एक एक ग्राम वालों ने माँग लिया एवं वे हर्षित होकर बारी बारी से अन्नकूट करने लगे ॥८९॥ रात के समय श्रीगोपाल को शयन कराकर फिर श्रीपुरी ने कुछ दूध का पान किया अथवा दूध की बनी कुछ वस्तु का भोजन किया। (इससे जाना जाता है कि वे दूध एवं दूध की वस्तु के अतिरिक्त अन्न-आदि और किसी वस्तु का भोजन नहीं करते थे) ॥९०॥ दूसरे दिन प्रातःकाल फिर उसी प्रकार श्रीपुरी ने श्रीगोपाल का अर्चन किया। एक ग्राम के लोग अन्न-आदि सामग्री लेकर वहाँ पहुँचे। अन्न, घृत, दधि, दुग्ध-जितना भी उनके ग्राम में था-वह सब लाकर उन्होंने श्रीगोपाल के आगे धर दिया।

पूर्व्व दिन-प्राय विप्र करिल रन्धन। तैछे अन्नकूट गोपाल करिल भोजन ॥९३॥
व्रजवासि लोकेर कृष्णे सहज पिरीति। गोपालेर सहज प्रीति व्रजवासि प्रति ॥९४॥
महाप्रसाद खाइल आसिया सब लोक। गोपाल-दर्शने खण्डे सभार दुख शोक ॥९५॥
आश-पाश व्रज—भूमेर यत ग्राम सब। एकैक दिन सभे करे महोत्सव ॥९६॥

पहले दिन की भाँति ब्राह्मणों ने सामग्री तैयार की एवं वह अन्नकूट श्रीगोपाल ने भोजन किया—॥९३॥ क्योंकि व्रजवासियों की श्रीकृष्णगोपाल में निष्कपट प्रीति है और श्रीगोपाल की भी ब्रजवासियों में सहज प्रीति है ॥९४॥ फिर सब लोगों ने श्रीभगवान् का महाप्रसाद भोजन किया एवं उनके दर्शन कर सब अपना दुख-शोक मिटाने लगे ॥९५॥ आस-पास के जितने भी ब्रजभूमि में ग्राम हैं, उन सब ने एक एक दिन श्रीगोपाल का महोत्सव किया ॥९६॥

'गोपाल प्रकट' शुनि नानादेश हैते। नाना द्रव्य लञा लोक लागिल आसिते ॥९७॥
मथुरार लोक सब बड़ बड़ धनी। भक्ति करि नाना द्रव्य भेट धरे आनि ॥९८॥

स्वर्ण रौप्य वस्त्र गन्ध भक्ष्य उपहार। असङ्ख्य आइसे नित्य-बाढ़िल भाण्डार ॥९९॥
एक महाधनी क्षत्रिय कराइल मन्दिर। केहो पाक-भाण्डार कैल केहो त प्राचीर ॥१००

"श्रीगोपाल प्रकट हुए हैं"—यह बात सुन कर अनेक देशों से अनेक लोग नाना प्रकार के द्रव्य-वस्तुएँ ले ले कर वहाँ आने लगे ॥९७॥ मथुरा के बड़े-बड़े धनी लोग श्रद्धापूर्वक नाना वस्तुएँ लाकर गोपाल की भेंट चढ़ाने लगे ॥९८॥ सोने-चान्दी के आभूषण, बहुमूल्य रेशमी वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ एवं खाने की सामग्री तथा अनेक अगणित उपहार वहाँ नित्य आने लगे, यहाँ तक कि भण्डार बढ़ता चला गया। फिर एक क्षत्रिय जातीय महाधनी ने वहाँ श्रीगोपालजी का मन्दिर बनवा दिया और किसी ने रसोई घर बनवा दिया एवं किसी ने बाहर की चारदीवारी तैयार करा दी ॥१००॥

एकैक व्रजवासी एकैक गावी दिल। सहस्र सहस्र गावी गोपालेर हैल ॥१०१॥
गौड़ हैते आइल दुइ वैरागी ब्राह्मण। पुरी गोसाञि राखिल तारे करिया यतन ॥१०२
सेइ दुइ शिष्य करि सेवा समर्पिल। राजसेवा हय, पुरीर आनन्द बाढ़िल ॥१०३॥

एक एक ब्रजवासी ने एक एक गौ श्रीगोपाल को भेंट की, इस प्रकार श्रीगोपाल की हजारों गौवें होगईं ॥१०१॥ बङ्गाल से दो वैरागी ब्राह्मण भी आए, जिन्हें श्रीपुरी गोस्वामी ने यत्न करके अपने पास रखा। उन दोनों ब्राह्मणों को श्रीकृष्ण-मन्त्र की दीक्षा देकर श्रीपुरी गोस्वामी ने अपना शिष्य स्वीकार किया एवं उन्हें ही श्रीगोपाल की सेवा प्रदान कर दी। श्रीगोपाल की राजोपचार से नित्य सेवा होने लगी, जिसे देखकर श्रीपुरी गोस्वामी के आनन्द की सीमा न रही ॥१०२-१०३॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीभक्तिरत्नाकर ग्रन्थ की पञ्चम तरङ्ग में वर्णन है कि—

सेइ दुइ विप्रेर अदर्शने। कथोदिन सेवे कोन भाग्यवन्त जने॥
श्रीदास गोस्वामी आदि परामर्श करि। श्रीविट्ठलेश्वरेकैल सेवा अधिकारी॥
पिता श्रीवल्लभ-भट्ट, ताँर अदर्शने। कथो दिन मथुराय छिलेन निर्ज्जने॥
परम विह्वल गौरचन्द्रेर लीलाय। सदा सावधान एवे गोपाल सेवाय॥

श्रीमाधवपुरी गोस्वामीजी ने जिन दो शिष्यों को सेवा भार दिया था—उन दोनों के भगवत्-धाम जाने के पश्चात् किसी और भाग्यवन्त पुरुष ने सेवा का भार सम्भाला। फिर उसने श्रीरघुनाथदास गोस्वामी से परामर्श करके श्रीगोपालजी की सेवा का अधिकार श्रीविट्ठलेश्वरजी को सौंप दिया। श्रीविट्ठलजी अपने पिता श्रीबल्लभ-भट्टजीके अन्तर्धान हुए पीछें मथुरामें आकर कुछ दिनोंके लिये अकेले निवास कर रहे थे और श्रीगौरचन्द्र की लीलामें परम विह्वल रहा करते थे। जिस समय उन्हें श्रीगोपालजी की सेवा का भार मिला तो वे परम सावधानी एवं श्रद्धा से श्रीगोपालजी की सेवा करने लगे।

श्रीविट्ठलजी की श्रीगोपालजी का सेवा सौंपने का कारण यह था कि इनके पिता श्रीबल्लभ भट्ट जी श्रीचैतन्य महाप्रभु के अत्यन्त प्रेमी थे। श्रीवृन्दावन से लौटते समय श्रीमहाप्रभु जब प्रयाग में पहुँचे एवं श्रीरूप गोस्वामी का उनसे मिलन हुआ, तभी श्रीवल्लभभट्टजी श्रीमहाप्रभुजी को प्रयाग के निकट आडैल ग्राम में अपने घर ले आए एवं श्रीमहाप्रभुजी को अत्यन्त भक्ति-श्रद्धा से भोजन कराया (श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत मध्यलीला १९ परिच्छेद द्रष्टव्य)। इसके कुछ वर्ष बाद श्रीबल्लभ भट्टजी श्रीमद्भागवतजी की टीका लिखकर उसे श्रीचैतन्यमहाप्रभु को दिखाने के लिये नीलाचल में भी पधारे। वहाँ उन्होंने श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामीजी से किशोर-गोपालमन्त्र की दीक्षा भी ग्रहण की। इससे

पहले श्रीवल्लभभट्टजी बाल-गोपालजी की उपासना किया करते थे। इसके पश्चात् वे सपरिवार मथुरा मण्डल में वास करने लगे थे। इनका श्रीरूपादि-गोस्वामीवर्ग के साथ भी खूब मेल-जोल था। श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्त्तीपाद ने अपने "श्रीगोपाल-देवाष्टक" में लिखा है—

अधिधरमनुरागं माधवेन्द्रस्य तन्वं स्तदमलहृदयोत्थां प्रेममेवां विवृण्वन्।
प्रकटित निजशक्त्या वल्लभाचार्यभक्त्या स्फुरति हृदि स एव श्रीलगोपालदेवः ॥उ॥

"श्रीमाधवेन्द्रपुरी गोस्वामी के अति प्रवृद्ध अनुराग का विस्तार करते हुए उनके हृदय की विशुद्ध भाव-मयी प्रेम-सेवा का जिन्होंने आदर्श प्रदर्शन किया है, सुप्रकटित अपनी उस शक्ति के सहित एवं श्री-वल्लभाचार्य की भक्ति के सहित वे श्रीगोपालदेव मेरे हृदय में स्फुरित हों":—इससे ज्ञात होता है श्री-वल्लभभट्ट या श्रीवल्लभाचार्यजी श्रीगोपालजी की सेवा में अत्यन्त निपुण थे। इनके अन्तर्धान हुए पीछे, इनके सुपुत्र श्रीविट्ठलजी मथुरा में निर्ज्जन-वास करते थे और श्रीकृष्ण-चैतन्य-विग्रह की प्रेमपूर्वक सेवा किया करते थे। श्रीराघव पण्डित के साथ श्रीनिवासाचार्य जब ब्रज-मण्डल की परिक्रमा करते हुए श्री-गोपालजी के दर्शनों के लिये गांठूलि ग्राम में पहुँचे, तो वहां उनका मिलन श्रीविट्ठलजी से हुआ। और उन्होंने वहाँ देखा कि श्रीविट्ठलजी श्रीकृष्ण-चैतन्य विग्रह की उपासना करते थे। इस बात का उल्लेख भक्तिरत्नाकर ग्रन्थ में भी आया है, यथाः—

विट्ठलेर सेवा कृष्ण-चैतन्य-विग्रह।
ताहार दर्शने हैल परम आग्रह॥

इस विवरण से जाना जाता है कि उन दो बङ्गाली ब्राह्मणों के बाद कुछ समय श्रीगोपालजी की सेवा किसी भाग्यवन्त महापुरुष ने की, उसके पश्चात् श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, सम्भवतः श्रीजीव गोस्वामी पाद एवं तत्कालीन प्रमुख श्रीवृन्दावन वासियों ने परामर्श करके श्रीगोपालजी की सेवा का भार श्रीविट्ठलेश्वरजी को सौंप दिया। श्रीविट्ठल भट्टजी भी अत्यन्त श्रद्धा एवं प्रीति सहित श्रीगोपालजी की, सेवा करते थे। आजकल वह श्रीगोपाल-विग्रह श्रीनाथद्वारा में "श्रीनाथजी" नाम से प्रसिद्ध है। श्रीविट्ठल भट्टजी की प्रेम-पूर्वक सेवा का वर्णन श्रीदासगोस्वामी ने भी स्वरचित "गोपालराज-स्तोत्र" में दिया है। यथाः—

विविध-भजनपुष्टैरिष्टनामानि गृह्णन् पुलकिततनुरिह श्रीविट्ठलस्योरुसख्यैः।
प्रणयमणिसरं स्वं हन्त तस्मै ददानः प्रतपति गिरिपट्टे सुष्ठु गोपालराजः ॥ऊ॥

"जो (श्रीगोपालजी) श्रीविट्ठलजी के सख्य-प्रधान विविध भजनरूप पुष्प द्वारा पुलकित हुए एवं इष्ट-नाम ग्रहण पूर्वक श्रीविट्ठलजी को जिन्होंने प्रणयरूप (प्रेमरूप) मणिमाला प्रदान की वे श्रीगोपालराज गिरिराज पर प्रतापयुक्त होकर मनोहररूप से विराजमान रहें।"

श्रीयदुनाथदासजी ने अपने "शाखानिर्णय-ग्रन्थ" में श्रीवल्लभाचार्यजी को श्रीगदाधर पण्डित की शाखान्तर्गत वर्णन किया है। श्रीजीव गोस्वामीपाद ने भी "वैष्णव-वन्दना" में श्रीवल्लभाचार्यजी की वन्दना की है। श्रीकविकर्णपूरजी ने "गौरगणोद्देश दीपिका" में श्रीवल्लभाचार्यजी को गौर परिकर में गिनाया है और पूर्व-लीला में उन्हें 'श्रीशुकदेव' कहकर वर्णन किया है।

इस आलोचना से ज्ञात होता है कि श्रीवल्लभाचार्यजी एवं श्रीविट्ठलेश्वरजी गौरगत-प्राण थे और पीछे सम्भवतः उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा एक प्रथक् सम्प्रदाय का गठन किया गया है।

एइमत वत्सर-दुइ करेन सेवन। एक दिन पुरी गोसाञि देखिल स्वपन ॥१०४॥
गोपाल कहे—पुरी! आमार ताप नाहि याय। मलयज चन्दन लेप, तबे जुड़ाय ॥१०५॥

मलयज आन याइ नीलाचल हैते ।
अन्य हैते नहे-तुमि चलत त्वरिते ॥१०६॥

इस प्रकार दो वर्षों तक श्रीगोपालजी की सेवा चलती रही। एक दिन श्रीपुरीगोस्वामीजी ने स्वप्न देखा कि श्रीगोपालजी उन्हें इस प्रकार कह रहे हैं—पुरी! मेरे शरीर का ताप अभी तक नहीं जाता है, इस लिये मुझे मलयाचल के चन्दन का लेप कर, उससे ही मुझे शीतलता मिलेगी मलयाचल का चन्दन नीलाचल में जाकर ले आओ, और कहीं का चन्दन मत लाना। अब शीघ्र ही चले जाओ ॥१०४-१०६॥

स्वप्न देखि पुरी गोसाञि हैला प्रेमावेश। प्रभु-आज्ञा पालिवारे चलिला पूर्व्व देश॥१०७॥
सेवार निर्व्वन्ध लोक करिल स्थापन। आज्ञा मागि गौड़देशे करिल गमन॥१०८॥
शान्तिपुर आइला अद्वैताचार्य्येर घरे। पुरीर प्रेम देखि आचार्य्य आनन्द अन्तरे॥१०९॥
तांर ठांइ मन्त्र लैल यतन करिया। चलिल दक्षिणे पुरी तांरे दीक्षा दिया॥११०॥

इस प्रकार स्वप्न देखकर पुरी-गोसाईं प्रेमाविष्ट हो उठे एवं प्रभु की आज्ञा पालन करने के लिये नीलाचल की ओर चलने को तैयार हुए। श्रीगोपाल की सेवा के लिये सेवकों को लगाया और श्रीगोपाल जी से आज्ञा मांगकर बङ्गालकी ओर चल दिये। श्रीपुरीगोस्वामी जब शान्तिपुरमें आए तो श्रीअद्वैताचार्य के घर रहे। श्रीमाधवेन्द्र पुरी का प्रेमावेश देख श्रीअद्वैतप्रभु आनन्दित हुए एवं आग्रहपूर्वक श्रीअद्वैतप्रभु ने उनसे मन्त्र-दीक्षा ग्रहण की। श्रीपुरी उन्हें दीक्षा दे नीलाचल की तरफ दक्षिण दिशा को चले ॥११०॥

रेमुणाते कैल गोपीनाथ-दरशन। तांर रूप देखि प्रेमावेश हैल मन॥१११॥
नृत्यगीत करि जगमोहने वसिला। काहां काहां भोग लागे? ब्राह्मणे पुछिला॥११२॥
सेवार सौष्ठव देखि आनन्दित मने। उत्तम भोग लागे एथा-बुझि अनुमाने॥११३॥
यैछे इहा भोग लागे—सकलि पुछिव। तैछे भियाने भोग गोपाले लागाव॥११४॥

श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा—"श्रीपुरी गोस्वामी जब रेमुणा में आए तो वहां श्रीगोपीनाथजी के दर्शन किये और उनके रूप-माधुर्य्य को देखकर उनका मन प्रेमाविष्ट हो गया। श्रीपुरी ने प्रभु के आगे नृत्य एवं गान किया एवं फिर जगमोहन (बरामदे) में बैठ गये। पुरी ने श्रीगोपीनाथ के सेवक-ब्राह्मण से पूछा—कि श्रीगोपीनाथ को क्या क्या पदार्थ भोग लगते हैं? ॥११२॥ श्रीपुरी, श्रीगोपीनाथजी की सेवा परिपाटी को देखकर परम आनन्दित हुए एवं अनुमान किया कि "यहाँ उत्तम-उत्तम भोग लगता है। सो जैसा भोग यहां लगता है, मैं सब पूंछ लूं एवं लौटकर जब गोवर्द्धन जाऊँगा तो वैसा ही उत्तम भोग श्रीगोपाल को लगाऊंगा" ॥११४॥

एइ लागि पुछिलेन ब्राह्मणेर स्थाने। ब्राह्मण कहिल सब भोग-विवरणे- ॥११५॥
सन्ध्याय भोग लागे क्षीर—अमृत केलिनाम। द्वादश मृत्पात्र भरि अमृत-समान॥११६॥
'गोपीनाथेर क्षीर' करि प्रसिद्धि याहार। पृथिवीते तैछे भोग कहाँ नाहि आर॥११७॥
हेन काले सेइ भोग ठाकुरे लागिल। शुनि पुरी गोसाञि किछु मने विचारिल॥११८॥
अयाचित क्षीर-प्रसाद अल्प यदि पाइ। स्वाद जानि, तैछे क्षीर गोपाले लागाइ॥११९॥
एइ इच्छाय लज्जा पाञा विष्णु स्मरण कैल। हेन काले भोग सरि आरति बाजिल॥१२०

श्रीगोपालजी को भोग लगाने के लिये ही श्रीपुरी ने सब बात ब्राह्मण से पूछी, ब्राह्मण (पुजारी) ने भोग के बारे में सब बात बताई। उसने कहा—"सन्ध्या के समय अमृत-केलि नाम की क्षीर भोग लगती है, जो द्वादश मिट्टी के सकोरों में भरकर भोग रखी जाती है, वह अमृत के समान स्वादिष्ट होती है ॥११६॥ श्रीगोपीनाथजी की क्षीर, जिसकी मैं प्रशंसा कर रहा हूँ, पृथ्वीपर अर्थात् किसी भी मन्दिर में कहीं भी ऐसा भोग भगवान् को नहीं लगता है" ॥ ११७ ॥ इतने में पुरी-गोस्वामी के कान में यह आवाज आई कि वही क्षीर भोग अब श्रीगोपीनाथ को भोग लग रही है। यह सुनकर श्रीपुरी ने मन में विचार किया कि—॥ ११८ ॥ "बिना माँगे यदि थोड़ा सा क्षीर-प्रसाद मुझे मिल जाये, तो उसका स्वाद देख लूं, और फिर वैसा ही स्वादिष्ट क्षीर श्रीगोपालजी को चलकर भोग लगाऊंगा" ॥११९॥ जिस समय यह इच्छा मन में उदित हुई तो श्रीपरी अपने चित्त में लज्जित हुए एवं "विष्णु-विष्णु" कहने लगे। इतने में भोग लग चुका, और आरती के घंटे बजने लगे ॥१२०॥

चै० च० चु० *टीका*—याचना तीन प्रकार की है। कायिक, वाचनिक एवं मानसिक। किसी के पास जाकर कुछ मांगना—"**कायिक-याचना**" कहलाती है, रास्ते में ही बैठकर अथवा किसी को लक्ष्य न कर भिक्षा की आवाज लगाना—"**वाचनिक-याचना**" है तथा मन में किसी वस्तु के पाने की इच्छा का होना—"**मानसिक-याचना**" है। पुरी-गोस्वामीजी इन तीनों प्रकार की याचना से परे थे—वास्तव में इन तीनों याचनाओं से रहित होना ही, 'अयाचित-वृत्ति' होना है। किन्तु यहाँ जब उनमें मानसिक-याचना उदय हुई तो उन्होंने अपनी भूल अथवा कपट का अनुभव किया। इसीलिये वे लज्जित हुए एवं अपराध क्षमा कराने के लिये उन्होंने भगवत्नाम–'विष्णु' का स्मरण किया।

आरति देखिया पुरी कैल नमस्कार। बाहिरे आइला, किछु ना कहिला आर ॥१२१॥
अयाचित वृत्ति पुरी विरक्त उदास। अयाचित पाइले खान, नहे उपवास ॥१२२॥
प्रेमामृते तृप्त–क्षुधा तृष्णा नाहि बाधे। क्षीरे इच्छा हैल, ताहे माने अपराधे ॥१२३॥
ग्रामरे शून्य हाटे वसि करेन कीर्त्तन। एथा पूजारी कराइल ठाकुरे शयन ॥१२४॥

आरती के दर्शन कर श्रीपुरीगोस्वामी ने भगवान् को नमस्कार किया और मन्दिर के बाहर चले आए। क्षीर-प्रसाद के विषय में किसी से कुछ न कहा ॥१२१॥ श्रीपुरीजी अयाचित्त-वृत्ति, अनासक्त तथा उदासीन थे। बिना मांगे उनको यदि (दूध आदि) कुछ मिल जाता तो वे उसे भोजन करते, वरना उपवास कर लेते ॥११२॥ वे सदा प्रेमामृत से ही तृप्त रहते थे, उन्हें क्षुधा-पिपासा कुछ भी बाधा नहीं करती थी। क्षीर की इच्छा मन में उदय होने पर श्रीपुरी ने अपना अपराध ही माना ॥१२२॥ उसके बाद श्रीपुरी ग्राम में एक शून्य दुकान में आकर बैठ गये एवं नाम-कीर्त्तन करने लगे। इस तरफ मन्दिर में पुजारी ने ठाकुर की शयन कराई ॥१२४॥

निज कृत्य करि पूजारी करिला शयन। स्वपने ठाकुर आसि बोलेन वचन—॥१२५॥
उठह पूजारी! द्वार करह मोचन। क्षीर एक राखियाछि संन्यासी-कारण ॥१२६॥
धड़ार अञ्चले ढाका एक क्षीर हय। तोमरा ना जानिले ताहा आमार मायाय ॥१२७॥
माधवपुरी संन्यासी आछे हाटेते वसिया। ताहाके त एइ क्षीर शीघ्र देह लञा ॥१२८॥

पुजारी ने अपना कार्य समाप्त किया एवं सो गया। उसे स्वप्न में श्रीगोपीनाथजी आकर कहने लगे—"पुजारी! उठ, मन्दिर की किवाड़ खोल और एक क्षीर का सकोरा संन्यासी (श्रीपुरी) के लिये

रखा है ।। १२६ ।। वह मेरे वस्त्र की ओट में ढका रखा है । तुम मेरी लीला-शक्ति के प्रभाव से यह नहीं जान सके, (कि तुमने बारह पात्र उठाये हैं कि ग्यारह ही ।) ।।१२७।। माधवपुरी नाम का संन्यासी एक दुकान पर बैठा है, इस क्षीर-प्रसाद को जल्दी ले जाकर उसे दे आओ" ।।१२८।।

स्वप्न देखि पूजारी करिल विचार । स्नान करि कपाट खुलि मुक्त कैल द्वार ।।१२९।।
धड़ार आँचलतले पाइल सेइ क्षीर । स्थान लेपि क्षीर लैया हइला बाहिर ।।१३०।।
द्वार दिया ग्रामे गेला सेइ क्षीर लञा । हाटे हाटे बुले माधव पुरीरे चाहिया—।।१३१।।
क्षीर लह एइ यार नाम माधव पुरी । तोमार लागि गोपीनाथ क्षीर कैल पुरी ।।१३२।।

स्वप्न देखकर पुजारी उठा और विचार करने लगा । उसने स्नान कर मन्दिर का किवाड़ खोला ।।१२९।। श्रीगोपीनाथ के वस्त्र के आँचल की ओट में वह क्षीर रखा हुआ उसने देखा । उस प्रसादी स्थान को पुजारी ने लीपा और क्षीर को लेकर बाहर आया ।।१३०।। पुजारी ने मन्दिर बन्द किया एवं क्षीर को लेकर ग्राम में घुसा । बाजार-बाजार में श्रीमाधवपुरी की खोज करते हुए कहने लगा—"कोई माधवपुरी है माधवपुरी ? वह आकर यह क्षीर-प्रसाद ले, उसके लिये श्रीगोपीनाथ ने आज इस क्षीर की चोरी की है ।।१३२।।

क्षीर लञा सुखे तुमि करह भक्षणे । तोमासम भाग्यवान् नाहि त्रिभुवने ।।१३३।।
एत शुनि पुरी गोसाञि परिचय दिल । क्षीर दिया पूजारी तांरे दण्डवत् कैल ।।१३४।।
क्षीरेर वृत्तान्त तारे कहिल पूजारी । शुनि प्रेमाविष्ट हैला श्रीमाधवपुरी ।।१३५।।
प्रेम देखि सेवक कहे हइया विस्मित– । कृष्ण ये इहार वश—हय यथोचित ।।१३६।।

"यह क्षीर लेकर वह इसे आनन्द-पूर्वक भोजन करे, उसके समान भाग्यवान् आज त्रिभुवन में और कोई नहीं है" ।।१३३।। इस प्रकार पुजारी की आवाज सुनकर पुरी गोस्वामी ने अपना परिचय दिया । पुजारी ने उन्हें क्षीर दे दी एवं उन्हें दण्डवत प्रणाम की ।।१३४।। क्षीर का सब वृत्तान्त पुजारी ने पुरी से कहा—जिसे सुनकर श्रीमाधवपुरी प्रेममग्न हो गये ।।१३५।। उनकी प्रेम-दशा को देखकर पुजारी विस्मित रह गया और कहने लगा—"श्रीकृष्ण इनके ही वशीभूत हैं, और ऐसा होना उचित भी है"।१३६

एत बलि नमस्करि गेला से ब्राह्मण । आवेशे करिला पुरी से क्षीर भक्षण ।।१३७।।
पात्र प्रक्षालन करि खण्ड खण्ड कैल । बहिर्वासे बान्धि सेइ ठिकारी राखिल ।।१३८।।
प्रतिदिन एक खानि करेन भक्षण । खाइले प्रेमावेश हय–अद्भुत कथन ।।१३९।।
ठाकुर मोरे क्षीर दिला–सर्वलोके शुनि । दिने लोक भिड़ हवे-मोर प्रतिष्ठा जानि ।।१४०।।
एइ भये रात्रि शेषे चलिला श्रीपुरी । सेइ स्थाने गोपीनाथे दण्डवत् करि ।।१४१।।

इतना कहकर पुजारी ने उन्हें नमस्कार किया एवं वह अपने घर चला आया । श्रीपुरी ने प्रेमाविष्ट होकर उस क्षीर-प्रसाद का भोजन किया एवं उस मिट्टी के सकोरे को धोकर टुकड़े २ कर लिया । उन ठीकरियों को अपने बहिर्वास (वस्त्र) की गांठ में बांध लिया ।।१३८।। श्रीमहाप्रभु ने कहा—"श्रीपुरी गोस्वामी प्रतिदिन एक खिपड़ा (ठीकरी) को खाते रहे एवं उससे उनमें अद्भुत एवं अनिर्वचनीय प्रेमावेश उदय होता । श्रीगोपीनाथ ने मेरे लिये क्षीर चुराकर भेजा है—यह बात सवेरे सब लोग सुनेंगे, तो मुझे

बड़ा भक्त जानकर मेरा आदर सम्मान करेंगे—" इस प्रतिष्ठा के भय से रात्रि के शेष में श्रीपुरी वहाँ से ही श्रीगोपीनाथजी को दण्डवत् प्रणाम कर रेमुणा ग्राम से चल दिये ॥१४१॥

चलि चलि आइला पुरी श्रीनीलाचल। जगन्नाथ देखि प्रेमे हइला विह्वल ॥१४२॥

प्रेमावेशे उठे पड़े हासे नाचे गाय। जगन्नाथ—दरशने महा सुख पाय ॥१४३॥

'माधवपुरी श्रीपाद आइला' लोके हैल ख्याति। सब लोक आसि ताँरे करे बहु भक्ति ॥१४४॥

प्रतिष्ठार स्वभाव एइ जगते विदित। ये ना वाञ्छे, तार हय विधाता निर्म्मित ॥१४५॥

वहाँ से चलते चलते श्रीपुरी नीलाचल में पहुँचे एवं श्रीजगन्नाथजी के दर्शन कर प्रेम-विह्वल हो गये ॥१४२॥ प्रेमाविष्ट होकर कभी वे उठते कभी गिर जाते। कभी हंसने लगते तो कभी नाचने लगते। श्रीजगन्नाथ के दर्शनों से उन्हें महाआनन्द की प्राप्ति हुई ॥१४३॥ श्रीजगन्नाथ पुरी में यह बात विख्यात हो गई कि श्रीपाद माधवपुरी वहां आए हैं। सब लोग आकर उनकी सेवा करने लगे ॥१४४॥ प्रतिष्ठा का यह स्वभाव है कि जो उसे नहीं चाहता है, विधाता ही उसकी प्रतिष्ठा को बना देता है—यह बात जगत् जानता है ॥१४५॥

प्रतिष्ठार भये पुरी गेला पलाइया। कृष्णप्रेम सङ्गे प्रतिष्ठा चले लाग लैया ॥१४६॥

यद्यपि उद्वेग हैल – पलाइते मन। ठाकुरेर चन्दनसाधन हइल बन्धन ॥१४७॥

जगन्नाथेर सेवक यत यतेक महान्त। सभाके कहिल पुरी गोपाल वृत्तान्त ॥१४८॥

'गोपाल चन्दन मागे'—शुनि भक्तगण। आनन्दे चन्दन लागि करिला यतन ॥१४९॥

जिस प्रतिष्ठा के भय से श्रीपुरी रेमुणा से आधी रात को भाग निकले थे, (वही प्रतिष्ठा नीलाचल में प्राप्त होने लगी)। क्योंकि कृष्णप्रेम के साथ-साथ प्रतिष्ठा तो लगी-लगी चलती है अर्थात् जिसमें कृष्ण-प्रेम होता है, न चाहने पर भी उसकी प्रतिष्ठा हर जगह होती है ॥१४६॥ अपनी प्रतिष्ठा को देखकर यद्यपि श्रीपुरी को वहुत दुख हुआ और मन में आया कि वहाँ से भाग चलें किन्तु श्रीगोपाल के लिये उन्हें चन्दन संग्रह करना था, इसी कारण उन्हें वहाँ वाध्य होकर रहना पड़ा ॥१४७॥ श्रीजगन्नाथ के जितने सेवक एवं महन्त थे—उन सवसे श्रीपुरी ने श्रीगोपाल के प्राकट्य एवं चन्दन की सब बात कह सुनाई ॥१४८॥ "श्री-गोपाल ने चन्दन मंगाया है"—यह बात सब भक्त सुनकर चन्दन के लिये आनन्दपूर्वक चेष्टा करने लगे ॥१४९

राजपात्र सने यार – यार परिचय। तारे मागि कर्पूर–चन्दन करिला सञ्चय ॥१५०॥

एक विप्र एक सेवक चन्दन वहिते। पुरी गोसाञिर सङ्गे दिल सम्बल-सहिते ॥१५१॥

घाटी दानी छाड़ाइते राजपात्र द्वारे। राजलेखा करि दिल पुरी गोसाञिर करे ॥१५२॥

चलिला माधवपुरी चन्दन लइया। कथोदिने रेमुणाय उत्तरिलासिया ॥१५३॥

उस समय चन्दन राज-सम्पति थी, कोई भी राजकर्मचारियों की अनुमति बिना चन्दन सञ्चय नहीं कर सकता था। राजकर्मचारियों के साथ जिन जिन पुरुषों का मेल-जोल था, उनसे मिलकर श्रीपुरी ने चन्दन एवं कुछ कर्पूर भी इकट्ठा कर लिया। उन्होंने एक ब्राह्मण एवं चन्दन उठाने के लिये एक सेवक श्रीपुरी के साथ दिया तथा कुछ रुपया-पैसा भी रास्ते में सेवक के खर्च आदि के लिये उन्हें दिया ॥१५१॥ रास्ते में घाटियों पर कर लेने वालों से बचने के लिये अर्थात् उन्हें जिससे कर न देना पड़े, उन्होंने राजकर्मचारियों की आज्ञा का पत्र (परमिट) भी लिखवाकर श्रीपुरीगोस्वामी के हाथ में दे दिया, ॥१५२॥ श्रीपुरी चन्दन लेकर नीलाचल से चले और एक दिन के वाद रेमुणा में आ पहुँचे ॥१५३॥

गोपीनाथ चरणे कैला बहु नमस्कार। प्रेमावेशे नृत्य-गीत करिला अपार ॥१५४॥
पुरी देखि सेवक सब सम्मान करिल। क्षीरप्रसाद दिया तांरे भिक्षा कराइल ॥१५५॥
सेइ रात्र्ये देवालये करिल शयन। शेष रात्रि हैले पुरी देखिल स्वपन—॥१५६॥
गोपाल आसिया कहे—शुन हे माधव!। कर्पूर-चन्दन आमि पाइलाम सब ॥१५७॥

श्रीपुरी ने श्रीगोपीनाथ के चरणों में बहुबार प्रणाम की एवं प्रेम-आविष्ट होकर बहुत देर नृत्य-गान किया ॥१५४॥ उन्हें देखकर सब सेवकों ने उनका बहुत सत्कार किया एवं उन्हें क्षीर-प्रसाद देकर भोजन कराया ॥१५५॥ उस रात को श्रीपुरी मन्दिर में सोये। रात के शेष में पुरी ने स्वप्न देखा—श्री-गोपालजी आकर उन्हें कहने लगे-'हे माधवपुरी ! सुनो, मैंने तुम्हारा कर्पूर-चन्दन सब प्राप्तकर लिया है।'

कर्पूर सहित घषि ए सब चन्दन। गोपीनाथेर अङ्गे नित्य करह लेपन ॥१५८॥
गोपीनाथ आमार से एक अङ्ग हय। इहाके चन्दन दिले हवे मोर ताप-क्षय ॥१५९॥
द्विधा ना भाविह, ना करिह किछु मने। विश्वास करि चन्दन देह आमार वचने ॥१६०॥
एत बलि गोपाल गेला, गोसाञि जागिला। गोपीनाथेर सेवकगणे डाकिया आनिला ॥१६१॥

"जो चन्दन-कर्पूर तुम्हारे पास है—वह सब घिसकर श्रीगोपीनाथजी के अङ्गों पर नित्य लेप करो। गोपीनाथ एवं मेरा एक ही शरीर है। उसको चन्दन लेप करने से मेरी जलन दूर हो जायगी।" "श्रीगोपीनाथ और मुझ में कुछ भेद न जानना और मेरे वचनों में भी कुछ सन्देह न करो, मेरे वचनों पर विश्वास कर वह चन्दन वहाँ चढ़ा दो।" इतना कहकर श्रीगोपालजी चले गये। श्रीपुरी की नींद खुली एवं उन्होंने गोपीनाथजी के पुजारियों को बुलाकर कहा—॥१६१॥

प्रभुर आज्ञा हैल—"एइ कर्पूर-चन्दन"। गोपीनाथेर अङ्गे नित्य करह लेपन ॥१६२॥
इंहाके चन्दन दिले गोपाल हइवे शीतल। स्वतन्त्र ईश्वर तांर आज्ञा से प्रबल ॥१६३॥
'ग्रीष्मकाले' गोपीनाथ परिवे चन्दन। शुनि आनन्दित हैल सेवकेर मन ॥१६४॥
पुरी कहे— एइ दुइ घषिवे चन्दन। आर जना-दुइ देह—दिवये वेतन ॥१६५॥

"प्रभु की यह आज्ञा हुई है कि यह कर्पूर तथा चन्दन श्रीगोपीनाथ के अङ्गों पर नित्य लेप करो।" इन्हें चन्दन का लेप देने से ही श्रीगोपाल को शीतलता मिलेगी। वे स्वतन्त्र ईश्वर हैं न ! उनकी आज्ञा सर्वोपरि है ॥१६३॥ ग्रीष्म काल तो था ही, श्रीगोंपीनाथजी के शरीर पर चन्दन लेप होगा—यह सुनकर सेवकों का मन अति आनन्दित हुआ ॥१६४॥ श्रीपुरी ने कहा—"ये दोनों (जो जगन्नाथपुरी से एक ब्राह्मण और एक सेवक आए थे) चन्दन घिसेंगे और दो व्यक्ति और भी इनके साथ लगाईये, जो वेतन होगा उन्हें दिया जायगा" ॥१६५॥

एइमत प्रत्यह देय चन्दन घषिया। पराय सेवक सब आनन्द करिया ॥१६६॥
प्रत्यह चन्दन पराय—यावत् हैल अन्त। तथाय रहिला पुरी तावत्पर्य्यन्त ॥१६७॥
ग्रीष्मकाल-अन्ते पुन नीलाचल गेला। नीलाचले चातुर्म्मास्य आनन्दे रहिला ॥१६८॥
श्रीमुखे माधवपुरीर अमृत चरित। भक्तगणे शुनाञा प्रभु करे आस्वादित ॥१६९॥

श्रीमहाप्रभु ने फिर कहा—"इस तरह नित्य चन्दन घिसकर वे सेवक लोग देते एवं पुजारी श्री-गोपीनाथ को आनन्दपूर्वक लेप करते। जब तक वह चन्दन शेष न हुआ, तब तक श्रीपुरी वहाँ रेमुणा में रहे ॥१६७॥ ग्रीष्मकाल के अन्त में श्रीपुरी फिर नीलाचल आए एवं वहाँ चातुर्मास्य पर्यन्त आनन्दपूर्वक वास किया ॥१६८॥ श्रीमहाप्रभु अपने श्रीमुख से श्रीमाधवपुरी का अमृत-मय-चरित भक्तों को भी सुना रहे थे एवं स्वयं भी उसका आस्वादन कर रहे थे ॥१६९॥

प्रभु कहे-नित्यानन्द ! करह विचार। पुरी सम भाग्यवान् जगते नाहि आर ॥१७०॥
दुग्ध दान–छले कृष्ण याँरे देखा दिल। तिनवार स्वप्ने आसि यांरे आज्ञा कैल ॥१७१॥
याँर प्रेमे वश हञा प्रकट हइला। सेवा-अङ्गीकार करि जगत् तारिला ॥१७२॥
याँर लागि गोपीनाथ क्षीर चुरि कैला। कर्पूर-चन्दन याँर अङ्गे चढ़ाइला ॥१७३॥

श्रीमहाप्रभु ने फिर कहा—"नित्यानन्द ! जरा विचार करो, श्रीपुरी के समान भाग्यवान और जगत् में कौन है ? ॥१७०॥ दूध देने के बहाने से श्रीकृष्ण ने जिन्हें दर्शन दिये एवं तीन बार स्वप्न में आकर श्रीभगवान् ने जिन्हें आज्ञा दी ॥१७१॥ और फिर जिनके प्रेम के वशीभूत हो श्रीगोपालजी प्रकट हुए एवं भक्त की सेवा अङ्गीकार की तथा अपने दर्शनों से जगद्वासियों का निस्तार किया ॥१७२॥ जिन के लिये श्रीगोपीनाथजी ने क्षीर की चोरी की और जिनका कर्पूर-चन्दन अपने शरीर पर धारण किया। (श्रीमाधवपुरी के सिवाय और कौन ऐसा भाग्यवान है ?) ॥१७३॥

म्लेच्छदेशे कर्पूर-चन्दन आनिते जञ्जाल। पुरी दुख पावे-इहा जानिञा गोपाल ॥१७४॥
महा दयामय प्रभु भक्तवत्सल। चन्दन परि भक्तश्रम करिल सफल ॥१७५॥
पुरीर प्रेम पराकाष्ठा करह विचार। अलौकिक प्रेम—चित्ते लागे चमत्कार ॥१७६॥
परम विरक्त मौनी—सर्वत्र उदासीन। ग्रामवार्त्ताभये द्वितीय सङ्गहीन ॥१७७॥
हेनजन गोपालेर आज्ञामृत पाञा। सहस्र क्रोश आसि बुले चन्दन मागिया ॥१७८॥

यवन राजा के देश से कर्पूर-चन्दन ले जाने में श्रीपुरी को बहुत दुख उठाना पड़ेगा—यह जान कर श्रीगोपाल ने, जो परम दयालु हैं एवं भक्तवत्सल प्रभु हैं, श्रीगोपीनाथरूप से उस चन्दन को वहीं रेमुणा में ही धारण कर भक्त (श्रीपुरी) के परीश्रम को सार्थक कर दिया ॥१७४॥१७५॥ नित्यानन्द ! पुरी के प्रेम की पराकाष्ठा का तो विचार करो। कितना अलौकिक प्रेम ! जिसे देखकर चित्त में चमत्कार होता है। (श्रीपुरी कैसे थे ?) वे परम विरक्त थे, सदा मौन रहते थे (अर्थात् वृथा आलाप नहीं करते थे) और भक्त के बिना किसी से कुछ भी सम्बन्ध न रखते थे। और फिर विषयों की कथा से इतने डरते थे कि वे दूसरे किसी के साथ रहते ही न थे—ऐसे वे महान् पुरुष, श्रीगोपाल की आज्ञा को अमृत समान सुखदायक जानकर हजारों कोसों तक चन्दन माँगते फिरे ॥१७८॥

भोके रहे–तबु अन्न मागिया ना खाय। हेन (जन) चन्दनभार वहि लञा याय ॥१७९॥
मोणेक चन्दन तोला—विशेक कर्पूर। गोपाले पराइव–एइ आनन्द प्रचूर ॥१८०॥
उत्कलेर दानी राखे चन्दन देखिया। ताहा एड़ाइल राजपत्र देखाइया ॥१८१॥
म्लेच्छ देश—दूर पथ–जगाति अपार। केमने चन्दन निव ? नहि ए विचार ॥१८२॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"नित्यानन्द ! वे भूखे रह जाते, किन्तु अन्न माँगकर नहीं खाते थे, किन्तु फिर भी वे चन्दन का बोझा उठाये जा रहे थे। (साथ के दो व्यक्ति तो चन्दन उठाये हुए चल ही रहे थे,) किन्तु श्रीपुरीजी एक मन चन्दन एवं बीस तोले कर्पूर स्वयं भी उठाये हुए चल रहे थे। भारी आनन्द यदि कुछ चित्त में था, तो यही था, कि इस चन्दन को वे श्रीगोपालजी पर चढ़ाएंगे ॥१८०॥ उत्कल देश में कर लेने वाले ने (चुंगी वाले ने) जब इन्हें चन्दन ले जाते हुए देखा, तो उसने इन्हें रोक रखा और इन्होंने राजपत्र (परमिट) दिखा कर वहाँ से छुटकारा पाया। (उत्कल में हिन्दुराज्य था,) परन्तु आगे यवनों का राज्य था, बहुत दूर तक जाना है और अनेक चुंगियाँ रास्ते में पड़ेगी अथवा अनेक दुःख-विपति रास्तेमें होगी, वे कैसे चन्दन ले जा सकेंगे–इन बातोंका कुछ भी विचार श्रीपुरीने नहीं किया

सङ्गे एक वट नाहि घाटीदान दिते। तथापि चन्दन लैया उत्साह याइते ॥१८२॥
प्रगाढ़ प्रेमेर एइ स्वभाव आचार। निजदुख–विघ्नादि ना करे विचार ॥१८४॥
एइ तार गाढ़ प्रेम लोके देखाइते। गोपाल ताँरे आज्ञा दिल चन्दन आनिते ॥१८५॥
बहु परिश्रमे चन्दन रेमुणा आनिल। आनन्द बाढ़ये मने—दुख न गणिल ॥१८६॥

श्रीपुरी के पास कर देने के लिये एक कौड़ी भी नहीं थी, तो भी चन्दन लेकर जाने का उत्साह उनके मन में था। शुद्ध एवं दृढ़ प्रेम का यह स्वभाव ही है कि (अपने प्रिय के लिये प्रेमिक व्यक्ति) अपने किसी प्रकार के भी (दारुण एवं महान्) दुख-विघ्नादि का विचार नहीं करता है ॥१८४॥ श्रीपुरी के इस गाढ़प्रेम को जगत् के सामने प्रकट दिखाने के लिये ही श्रीगोपालजी ने उन्हें चन्दन लाने की आज्ञा दी थी ॥१८५॥ बहुत ही परिश्रम कर श्रीपुरी चन्दन को रेमुणा तक ले आए। उनके मन में अति आनन्द ही हुआ, कुछ भी दुख न था ॥१८६॥

परीक्षा करिते गोपाल कैल आज्ञादान। परीक्षा करिया शेषे हैल दयावान् ॥१८७॥
एइ भक्ति—भक्तप्रिय–कृष्ण–व्यवहार। बुझितेहो आमासभार नाहि अधिकार ॥१८८॥
एत कहि पड़े प्रभु तार कृत श्लोक। येइ श्लोकचन्द्रे जगत् करयाछे आलोक ॥१८९॥
घषिते – घषिते यैछे मलयज–सार। गन्ध बाढ़े, तैछे एइ श्लोकेर विचार ॥१९०॥

किन्तु फिर उनकी परीक्षा करने के लिये श्रीगोपालजी ने आज्ञा की (कि इसे श्रीगोपीनाथ पर ही चढ़ा दो। श्रीपुरी के लिये कुछ भी सन्देह एवं ग्लानि न हुई, उन्होंने वैसा ही किया) इस परीक्षा के पश्चात् श्रीगोपालजी ने उन पर पूर्ण दया की। इस प्रकार की भक्ति ही भक्तवत्सल श्रीकृष्ण के लिये प्रिय है अथवा प्रयोजनीय है "प्रभु ने कहा "श्रीपुरी की भक्ति को समझने में हम सब ही असमर्थ हैं" ॥१८८ इतना कहकर श्रीमहाप्रभु नें श्रीपुरी का रचित एक श्लोक पढ़ा, जो चन्द्र की भाँति जगत् के अज्ञान रूप अन्धेरे को हरने वाला है एवं प्रेम रूप प्रकाश को फ़ैलाने वाला है। चन्दन सार को जितना अधिक घिसा जाए, उतनी ही उसकी सुगन्धि बढ़ती है, उसी प्रकार जितना अधिक विचार (आलोचना) इस श्लोक का किया जावे, उतना अधिक रसास्वादन इसमें मिलता है ॥१९०॥

रत्नगण मध्ये यैछे कौस्तुभमणि। रसकाव्य मध्ये तैछे एइ श्लोक गणि ॥१९१॥
एइ श्लोक कहियाछेन राधा–ठाकुराणी। तांर कृपाय स्फुरियाछे माधवेन्द्र वाणी ॥१९२॥

किवा गौरचन्द्र इहा करे आस्वादन। इहा आस्वादिते आर नाहि चौठजन ॥१९३॥
शेषकाले एइ श्लोक पढ़िते पढ़िते। सिद्धि–प्राप्ति हैल पुरीर श्लोकेर सहिते ॥१९४॥

श्रीकृष्णदास कविराज कहते हैं—रत्नों में जैसे कौस्तुभमणि सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार काव्यरस में यह श्लोक सर्वश्रेष्ठ है ॥१९१॥ श्रीराधा-स्वामिनी ने यह श्लोक कहा है एवं उनकी कृपा से ही श्रीमाधवेन्द्र पुरी की वाणी पर इसकी स्फूर्त्ति हुई है" ॥१९२॥ या तीसरे फिर श्रीगौरचन्द्र ही इसका आस्वादन कर सकते है। इस श्लोक के मर्म को और कोई चौथा व्यक्ति आस्वादन या अनुभव नहीं कर सकता। श्री-माधवेन्द्रपुरीजी ने अन्तकाल में इसी श्लोक को पढ़ते पढ़ते सिद्धि प्राप्त की अर्थात् भगवत्धाम को प्राप्त हुए।

चै० च० चु० *टीका*—श्रीराधाजी, श्रीमाधवेन्द्रपुरी तथा श्रीगौरचन्द्र—इन तीनों के अतिरिक्त और चौथा कोई भी व्यक्ति इस श्लोक के रसास्वादन करने में समर्थ नहीं—ऐसा श्रीकविराज गोस्वामी ने क्यों कहा—इसका कारण यह है कि महाभाव के दो प्रकार हैं—रूढ़ तथा अधिरूढ़। अधिरूढ़-महाभाव के फिर दो भेद हैं—मोदनाख्यमहाभाव तथा मादनाख्य-महाभाव। जहाँ समस्त उद्दीप्त सात्विक भाव विशेष रूप से अभिव्यक्त होते हैं—उसे **'मोदनाख्य-महाभाव'** कहते हैं। यह मोदनाख्य-महाभाव श्रीराधाजी के यूथ में हो वर्तमान रहता है, और कहीं भी यह प्रगट नहीं होता। विशेष-विरहावस्था में इसी मोदन को **'मोहनाख्य-महाभाव'** कहते हैं। यह मोहनाख्य-महाभाव केवल मात्र श्रीराधाजी में ही उदित होता है। यह मोहन-महाभाव जब उत्कर्ष-अवस्था को प्राप्त होता है, तब श्रीराधाजी में भ्रममयी चेष्टा, प्रलाप आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं, जिसे **'दिव्योन्माद'** भी कहा जाता है। यह दिव्योन्माद श्रीराधिकाजी को छोड़ कर और कहीं नहीं होता। यह श्लोक, जिसे आगे वर्णन करते हैं—उसी दिव्योन्माद-अवस्था की ही उक्ति है। अतः इसका आस्वादन श्रीराधाजी करती हैं, उन्हीं की कृपा से श्रीमाधवेन्द्रपुरी ने किया, फिर श्रीगौरचन्द्रजी श्रीराधा-भाव अङ्गीकार करके अवतीर्ण हुए हैं—वह भी इस का आस्वादन कर सकते हैं। और चौथे व्यक्ति में न तो श्रीराधा-भाव की अभिव्यक्ति है और न ही वह इस श्लोक का रसास्वादन कर सकता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

तथाहि पद्यावल्याम् (३३४)

अयि दीनदयार्द्र नाथ हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
हृदयं त्वदलोक–कातरं दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम् ॥२॥

हे दीनजनों के प्रति परम-दयालु-हृदय ! हे नाथ ! हे मथुरानाथ ! मुझे कब आप के दर्शन होंगे ? हे प्राणनाथ ! तुम्हारे दर्शनों के बिना मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है, कहो, मैं क्या करूं ? ॥ २ ॥

एइ श्लोक पढ़िते प्रभु हइला मूर्च्छित। प्रेमेते विवश हञा पड़िला भूमित ॥१९५॥
आस्ते-व्यस्ते कोले करि निल नित्यानन्द। क्रन्दन करिया तबे उठे गौरचन्द्र ॥१९६॥
प्रेमोन्माद हैल—उठि इति–उति धाय। हुङ्कार करये क्रोशे हासे नाचे गाय ॥१९७॥
'अयि दीन अयि दीन' बोले बार बार। कण्ठे ना निस्वरे वाणी, वहे अश्रु धार ॥१९८॥

इस श्लोक को पढ़ते ही श्रीमहाप्रभु प्रेमवश मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर गये ॥१९५॥ ज्यों-त्यों श्रीनित्यानन्द ने उन्हें अपनी भुजाओं में सम्भाल लिया। श्रीगौरचन्द्र विरहातुर होकर रोने लगे ॥१९६ श्रीप्रभु प्रेम में उन्मत्त होकर उठे एवं इधर उधर दौड़ने लगे, हुङ्कार करते हुए कभी वे चीत्कार करने लगते, कभी हँसने, एवं कभी नाचने गाने लगते ॥१९७॥ 'अयिदीन, अयिदीन'—यह पाद बार-बार उच्चारण करते, आगे श्लोक उच्चारण न कर पाते। उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती ॥१९८

कम्प स्वेद पुलकाङ्ग स्तम्भ वैवर्ण्य । निर्वेद विषाद जाड्य गर्व्व हर्ष दैन्य ।।१९९।।
एइ श्लोके ऊघाड़िल प्रेमेर कपाट । गोपीनाथ सेवक देखे प्रभुर प्रेमनाट ।।२००।।
लोकेर सङ्घट्ट देखि प्रभुर बाह्य हैल । ठाकुरेर भोग सरि आरति बाजिल ।।२०१।।
ठाकुरे शयन कराइ पुजारी हइला वाहिर । प्रभु-आगे आनि दिल प्रसाद वारो क्षीर।।२०२।।

श्रीमहाप्रभु के शरीर में कम्प, स्वेद, पुलकावली, स्तम्भ, वैवर्ण्य, निर्वेद, विषाद, जड़ता, गर्व, हर्ष एवं दैन्य आदि—सात्विक व्यभिचारी-भाव उदय ही उठे, (पृष्ठ ५२ द्रष्टव्य है) मानो इस श्लोक में उन्होंने प्रेम-भाण्डार के कपाट खोल डाले । श्रीगोपीनाथ के पुजारी-गण ने प्रभु का यह प्रेमनाटक देखा । वहाँ अनेक लोगों की भीड़ देखकर प्रभु का आवेश उतर गया। इतने में श्रीभगवान् का भोग उसर गया और आरती होने लगी ।।२०१।। ठाकुरजी की शयन कराकर पुजारी बाहर आया और प्रसादी क्षीर के बारहों पात्र श्रीमहाप्रभु को ही दे दिये ।।२०२।।

क्षीर देखि महाप्रभुर आनन्द बाढ़िल । भक्तगणे खाओयाइते पञ्चक्षीर लैल ।।२०३।।
सातक्षीर पुजारी के वाहुड़िया दिल । पञ्चक्षीर पञ्चजने बांटिया खाइल ।।२०४।।
गोपीनाथरूपे यदि करियाछेन भोजन । भक्ति देखाइते कैल प्रसाद भक्षण ।।२०५।।
नाम सङ्कीर्त्तने सेइरात्रि गोङाइया । प्रभाते चलिला मङ्गल-आरति देखिया ।।२०६।।

क्षीर प्रसाद को देखकर श्रीमहाप्रभु बहुत आनन्दित हुए एवं भक्त-गणों को भी खिलाने के उद्देश्य से उन्होंने केवल पाञ्च पात्र क्षीर के ग्रहण कर लिये एवं सात पात्र पुजारी को फेर दिये । उन पाञ्च पात्रों की क्षीर को (श्रीमहाप्रभु, श्रीनित्यानन्द, पण्डित जगदानन्द, श्रीदामोदर पण्डित तथा श्रीमुकुन्ददत्त) इन पाञ्चों ने भक्षण किया ।।२०४।। श्रीमहाप्रभु ने (स्वयं भगवान् होने से) यद्यपि श्रीगोपीनाथ-रूप से पहले ही इस क्षीर को आरोग लिया था, भक्ति का आचरण (भक्तभाव) दिखाने के लिये उन्होंने फिर उस प्रसाद का भोजन किया । वह रात नामसङ्कीर्त्तन करते करते सब ने बिताई एवं प्रभात को श्रीगोपीनाथजी मङ्गला-आरती के दर्शन कर आगे चले ।।२०६।।

गोपाल गोपीनाथ पुरि गोसाञिर गुण । भक्तसङ्गे श्रीमुखे प्रभु करे आस्वादन ।।२०७।।
एइ त आख्याने कहि दोंहार महिमा । प्रभुरभक्तवात्सल्य आर भक्तेर प्रेमसीमा ।।२०८।।
श्रद्धायुक्त हैया इहा शुने येइजन । श्रीकृष्ण चरणे सेइ पाय प्रेम धन ।।२०९।।
श्रीरूप रघुनाथ—पदे यार आश । चैतन्य चरितामृत कहे कृष्णदास ।।२१०।।

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने श्रीगोपालजी, श्रीगोपीनाथजी एवं श्रीमाधवेन्द्रपुरी के गुणों का भक्तों सहित आस्वादन किया ।।२०७।। इस परिच्छेद में श्रीभगवान् की भक्तवात्सलता तथा भक्त के प्रेम की पराकाष्ठा—ये दोनों दिखाई गई हैं ।।२०८।। जो मनुष्य इस आख्यान को श्रद्धायुक्त होकर सुनता है, उसे श्रीकृष्णप्रेम-धन की प्राप्ति होती है ।।२०९।। श्रीरूपगोस्वामीजी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी के चरणों की अभिलाषा करते हुई श्रीकृष्णदास कविराज श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत कहते हैं ।।२१०।।

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य--लीलायां श्रीमाधवेन्द्रपुरी चरितामृता-
स्वादनं-नाम चतुर्थ परिच्छेदः ।।४।।

जयगौर

मध्य-लीला

पञ्चम परिच्छेद

★

पद्भ्यां चलन् यः प्रतिमास्वरूपो ब्रह्मण्यदेवो हि शताहगम्यम् ।
देशं ययौ विप्रकृतेऽद्भुतेहं तं साक्षिगोपालमहं नतोऽस्मि ॥१॥

प्रतिमास्वरूप होते हुए भी जो ब्रह्मण्यदेव, ब्राह्मण का उपकार करने के लिये बहुत दिनों में पहुञ्चने वाले देश तक अर्थात् बहुत दूर देश तक पैदल चले गये, मैं उन्हीं अद्भुत लीलाधारी श्रीसाक्षी गोपाल को नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

[इस परिच्छेद में साक्षीगोपाल का चरित एवं श्रीमन्महाप्रभु की दण्ड-भङ्ग लीला वर्णन की गई है ।]

जयजय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥१॥
चलिते चलिते आइला याजपुरग्रामे । वराहठाकुर देखि करिल प्रणामे ॥२॥
नृत्य-गीत कैल प्रेमे बहुत स्तवन । याजपुरे से रात्रि रहि करिला गमन ॥३॥
कटक आइला साक्षिगोपाल देखिते । गोपालसौन्दर्य देखि हैला आनन्दिते ॥४॥

श्रीचैतन्यमहाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो । श्रीअद्वैताचार्य तथा श्रीगौरभक्तों की जय हो, जय हो ॥ १ ॥ श्रीमहाप्रभु चलते चलते याजपुरग्राम में पहुँचे एवं वहाँ आकर श्रीवराह-भगवान् के दर्शन किये तथा उन्हें प्रणाम की ॥२॥ श्रीमहाप्रभु ने वहाँ प्रेमपूर्वक नृत्य-गान एवं उनकी स्तुति की । एक रात याजपुर में निवास कर वहाँ से आगे चल दिये ॥ ३ ॥ फिर कटक में श्रीसाक्षीगोपाल के दर्शन करने के लिये प्रभु आए । श्रीगोपाल का सौन्दर्य देखकर प्रभु को परम आनन्द हुआ ॥ ४ ॥

प्रेमावेशे नृत्य-गीत करि कथोक्षण । आविष्ट हइया कैल गोपाल-स्तवन ॥५॥
सेइ रात्रि ताहा रहि भक्तगण-सङ्गे । गोपालेर पूर्व्वकथा शुने बहु रङ्गे ॥६॥
नित्यानन्द गोसाञि यवे तीर्थ भ्रमिला । साक्षिगोपाल देखिवारे कटक आइला ॥७॥
साक्षिगोपालेर कथा शुनिल लोक मुखे । सेइ कथा प्रभु आगे कहे महासुखे ॥८॥

श्रीमहाप्रभु ने बहुत देर तक श्रीगोपालजी के सन्मुख प्रेमाविष्ट होकर नृत्य-गान किया एवं उन की स्तुति की ॥ ५ ॥ उस रात को प्रभु ने वहाँ निवास किया एवं भक्तों के साथ श्रीनित्यानन्दप्रभु से साक्षीगोपालजी की पहली कथा (वे वृन्दावन से विद्यानगर एवं वहाँ से कटक कैसे आए—यह सब कथा)

आनन्द से सुनने लगे ॥ ६ ॥ श्रीनित्यानन्द गोस्वामी जब (बाल्यकाल में गृह त्याग कर एक संन्यासी के सङ्ग) तीर्थ भ्रमण करने निकले थे, उस समय वे साक्षीगोपालजी के दर्शन करने कटक में आए थे ॥७॥ वहाँ उन्होंने लोगों के मुख से साक्षिगोपालजी का चरित सुना था। श्रीनित्यानन्द वही चरित महाप्रभु को सुखपूर्वक सुनाने लगे ॥ ८ ॥

पूर्व्वे विद्यानगरेर दुइ त ब्राह्मण। तीर्थ करिवारे दोंहे करिला गमन ॥९॥
गया वाराणसी आदि प्रयाग करिया। मथुरा आइला दोंहे आनन्दित हञा ॥१०॥
वनयात्राय वन देखि देखे गोवर्द्धन। द्वादशवन देखि शेषे आइला वृन्दावन ॥११॥
वृन्दावने गोविन्दस्थाने महादेवालय। से मन्दिरे गोपालेर महा सेवा हय ॥१२॥

श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"एक समय विद्यानगर के दो ब्राह्मण तीर्थ यात्रा करने के निमित्त घर से चले। वे गया आदि तीर्थ दर्शन करते हुए मथुरा में आनन्दपूर्वक आ पहुँचे ॥१०॥ ब्रजयात्रा करते हुए उन दोनों ने श्रीगोवर्द्धन के दर्शन किये एवं द्वादश वनों के दर्शन कर वे अन्त में श्रीवृन्दावन में आए ॥ ११ ॥ श्रीबृन्दावन में श्रीगोविन्दजी के पुराने मन्दिर के उत्तर में एक विशाल मन्दिर था, जिसमें श्री-गोपालमूर्त्ति की महान सेवा होती थी" ॥ १२ ॥ (द्वादश-वन, पृष्ठ ३३ पर द्रष्टव्य हैं)।

केशीतीर्थे कालियह्लदादिके कैल स्नान। श्रीगोपाल देखि तांहा करिल विश्राम॥१३॥
गोपाल-सौन्दर्य दोंहार निल मन हरि। सुख पाञा रहे ताहां दिन दुइ चारि ॥१४॥
दुइ विप्र मध्ये एक विप्र वृद्ध प्राय। आर विप्र युवा-तार करेन सहाय ॥१५॥
छोट विप्र करे सदा तांहार सेवन। तांहार सेवाय विप्रेर तुष्ट हैल मन ॥१६॥

केशीघाट पर एवं कालीदेह पर उन्होंने स्नान किया एवं उन श्रीगोपालजी के आकर दर्शन किये तथा वहाँ विश्राम किया ॥१३॥ श्रीगोपाल के सौन्दर्य ने उन दोनों का मन हर लिया। अतः वे दो चार दिन के लिये वहाँ सुखपूर्वक रहे ॥१४॥ उन दोनों ब्राह्मणों में एक तो वृद्ध था और दूसरा युवक था, जो वृद्ध ब्राह्मण को सहारा देता था ॥१५॥ वह युवक उसकी निरन्तर सेवा करता था। वृद्ध ब्राह्मण का मन उसकी सेवा से बहुत सन्तुष्ट हुआ ॥१६॥

विप्र कहे-तुमि आमार बहु सेवा कैला। सहाय हइया मोरे तीर्थ कराइला ॥१७॥
पुत्रेह तार ऐछे ना करे सेवन। तोमार प्रसादे आमि ना पाइलाम श्रम ॥१८॥
कृतघ्नता हय तोमार ना कैले सम्मान। अतएव तोमारे आमि दिव कन्यादान ॥१९॥
छोट विप्र कहे—शुन विप्र महाशय। असम्भव कह केने येइ नाहि हय? ॥२०॥

वृद्ध ब्राह्मण कहने लगा—"तुमने मेरी बहुत सेवा की है। तुम्हारे सहारे को पाकर मैंने तीर्थ यात्रा की है। पुत्र भी अपने पिता की ऐसी सेवा नहीं करता, जैसे तुमने मेरी की है। मैंने तुम्हारी दया से जरा भी दुख नहीं पाया है ॥१८॥"यदि मैं तुम्हारा कुछ भी सम्मान न करूं तो मेरी यह बड़ी कृतघ्नता होगी। अतः मैं अपनी कन्या तुम्हें दान दूंगा" ॥१९॥ युवक ब्राह्मण ने कहा—ब्राह्मण-महाशय! ऐसी असम्भव बात क्यों कह रहे हो, जो हो ही नहीं सकती?"॥२०॥

महाकुलीन तुमि विद्या-धनादि-प्रवीन। आमि अकुलीन विद्या-धनादि-विहीन ॥२१॥
कन्यादान-पात्र आमि ना हइ तोमार। कृष्ण-प्रीते करि तोमार सेवा-व्यवहार ॥२२॥

ब्राह्मण सेवाय कृष्णेर प्रीति बड़ हय। तांहार सन्तोषे भक्तिसम्पद् वाढ़य ॥२३॥
बड़ विप्र कहे—तुमि न का संशय। तोमाके कन्या दिव—आमि करिल निश्चय ॥२४॥

उसने फिर कहा—"आप तो परम कुलीन ब्राह्मण हो, विद्यावान एवं धनवान हो, परन्तु मैं छोटे कुल से सम्बन्ध रखता हूँ, एवं न मेरे पास विद्या है और न धन ॥ २१ ॥ इसलिये मैं आपकी कन्या-दान का पात्र नहीं हूँ। श्रीकृष्ण मुझ पर सन्तुष्ट हों—मैं तो इसी उद्देश्य से आपकी सेवा करता हूँ ॥२२॥ "क्योंकि ब्राह्मण की सेवा करने से श्रीकृष्ण में प्रीति बढ़ती है और ब्राह्मण के सन्तुष्ट होने से भक्ति-सम्पदा बढ़ती है" ॥२३॥ उस वृद्ध ब्राह्मण ने कहा—"तुम मेरे वचनों में जरा भी संशय न करो, मैं अपनी कन्या तुम्हें दान करूंगा—यह मैंने निश्चय कर लिया है ॥२४॥

छोट विप्र कहे—तोमार स्त्री-पुत्र सब। बहु ज्ञातिगोष्ठी तोमार-बहुत बान्धव ॥२५॥
ता सभार सम्मति विने नेह कन्यादान। रुक्मिणीर पिता भीष्मक ताहाते प्रमाण ॥२६॥
भीष्मकेर इच्छा—कृष्णे कन्या समर्पिते। पुत्रेर-विरोधे कन्या नारिलेन दिते ॥२७॥
बड़ बिप्र कहे—कन्या मोर निज धन। निज धन दिते निषेधिवे कोन जन ? ॥२८॥

युवक ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"सुनिये, आपके स्त्री-पुत्र तथा आपके जाति के और अनेक बन्धु-बान्धव हैं एवं उनकी सम्मति के बिना तो कन्यादान होगा नहीं। रुक्मिणी के पिता भीष्मक की बात तो आप जानते ही हैं—॥२६॥ भीष्मक की इच्छा थी कि वह अपनी कन्या रुक्मिणी को श्रीकृष्ण के लिये दान करे, किन्तु पुत्र के सहमत न होने से वह न दे सका था। "वृद्ध ब्राह्मण ने कहा"—कन्या मेरी निज-सम्पत्ति है, अतः अपनी सम्पत्ति को देने में मुझे कौन रोक सकता है ?" ॥२८॥

तोमारे कन्या दिव सभाके करि तिरस्कार। संशय ना कर तुमि करह स्वीकार ॥२९॥
छोट विप्र कहे—यदि कन्या दिते मन। गोपालेर आगे कहे ए सत्यवचन ॥३०॥
गोपालेर आगे विप्र कहिते लागिला—। 'तुमि जान निज कन्या इहारे आमि दिल' ॥३१॥
छोट विप्र कहे—ठाकुर तुमि मोर साक्षी। तोमा साक्षी बोलाइव—यद्यन्यथा देखि ॥३२॥

उसने फिर कहा—"(यदि कोई इसमें सहमत न भी होगा, तो भी) मैं सबका तिरस्कार कर तुम्हें अपनी कन्या दूंगा, तुम इस में संशय न करो और तुम उसे स्वीकार करो" ॥२९॥ युवक ने कहा—"यदि यही विचार ही आपका है, तो श्रीगोपाल के सामने चलकर यह सत्य वचन कहें"॥३०॥ वह वृद्ध ब्राह्मण श्रीगोपाल मूर्त्तिके सामने ही कहने लगा—"हे गोपाल ! मैंने अपनी कन्या इसे देनेकी प्रतिज्ञाकी है, आप जान लीजिये"। युवक ने भी कहा—"हे ठाकुर ! आप मेरे साक्षी हो, मैं आपको ही गवाही देने के लिये बुलाऊँगा,यदि यह अपने वचनों से फिरेगा" ॥३२॥

एत बलि दुइजन चलिला देशेरे। गुरु बुद्धये छोट विप्र बहु सेवा करे ॥३३॥
देशे आसि दोंहे गेला निज निज घर। कथोदिने वड़ विप्र चिन्तिल अन्तर—॥३४॥
तीर्थे विप्रे वाक्य दिल, केमते सत्य हय ?। स्त्री पुत्र ज्ञाति वन्धुर जानिव निश्चय ॥३५॥
एक दिन निज लोक एकत्र करिल। ता सभार आगे सब वृत्तान्त कहिल ॥३६॥

परस्पर इस प्रकार वचन देकर दोनों ब्राह्मण अपने देश की ओर चले। युवक ब्राह्मण वृद्ध ब्राह्मण को अपना पूज्य जान कर बहुत सेवा करता रहा ॥३३॥ देश में पहुँचा कर वे अपने अपने घरों

को चले गये। कई एक दिनों के पश्चात् वृद्ध ब्राह्मण सोचने लगा—॥३४॥ "मैं ने तीर्थ यात्रा में उस ब्राह्मण को जो कन्या देने का वचन दिया था, वह कैसे सत्य हो ? इस विषय में स्त्री, पुत्र एवं मेरे जाति के बान्धवों का क्या निश्चय है–इसे जानना चाहिये।" (ऐसा विचार कर) उस वृद्ध ब्राह्मण ने अपने सब परिवार के लोगों को एकत्रित किया और उन सब को सब बात सुनाई ॥३६॥

शुनि सब गोष्ठी तवे करे हा-हाकार। ऐछे बात मुखे तुमि ना आनिह आर ॥३७॥
नीचे कन्या दिले कुल याइवेक नाश। शुनिञा सकल लोक करिवे उपहास ॥३८॥
विप्र कहे-तीर्थ वाक्य केमने करि आन ?। ये हउ से हउ आमि दिव कन्यादान ॥३९॥
ज्ञाति लोक कहे–मोरा तोमारे छाड़िव। स्त्री–पुत्र कहे–विष खाइया मरिव ॥४०॥

वृद्ध ब्राह्मण की बात सुनकर सब लोग हा-हाकार करने लगे और कहने लगे—"ऐसी बात फिर मुँह से मत निकालना। नीच जाति को अपनी कन्या देने से कुल का नाश होता है और सब लोग तुम्हारी बात सुन कर तुम्हारी निन्दा करेंगे" ॥३७–३८॥ ब्राह्मण ने कहा—"तीर्थ में जाकर जो वचन दिया है, उसे मैं कैसे तोड़ सकता हूँ हो, सो हो, मैं तो कन्या दूंगा ही" ॥३९॥ परिवार के लोग कहने लगे—" (यदि तुम ऐसा करोगे, तो) हम आप को जाति से बाहर कर देंगे।" स्त्री-पुत्रों ने कहा—"हम विष खाकर प्राण त्याग कर देंगे, (किन्तु ऐसा नहीं करने देंगे) ॥४०॥

विप्र कहे-साक्षी बोलञा करिवे न्याय। जिति कन्या लवे, मोर व्यर्थ धर्म्म याय ॥४१॥
पुत्र कहे—प्रतिमा साक्षी, सेहो दूरदेशे। के तोमार साक्षी दिवे-चिन्ता कर किसे ? ॥४२॥
नाहि कहि-ना कहिओ ए मिथ्या वचन। सवे कहिवे–किछु मोर ना हय स्मरण ॥४३॥
तुमि यदि कह-आमि किछुई ना जानि। तवे आमि न्याय करि ब्राह्मणेरे जिनि ॥४४॥

उन सब के वचन सुन कर विप्र ने कहा—"इस बात का न्याय मैं श्रीगोपाल को गवाही में बुलाकर करूँगा; जो भी जीतेगा, वही कन्या लेगा, नहीं तो मेरा धर्म व्यर्थ में नाश हो जायगा।" उसके पुत्र ने कहा—"गोपाल की प्रतिमा क्या तुम्हारी गवाही देगी ? और वह भी इतनी दूर इस देश में आकर? क्या वह प्रतिमा बोल कर तुम्हारी गवाही देगी ? तुम क्या सोचे बैठे हो" ? ॥ पुत्र ने आगे कहा—"तुम ने कन्या देने को नहीं कहा था"—इस प्रकार तुम मिथ्या वचन मत कहो, तुम केवल इतना कह देना कि "मुझे कुछ याद नहीं है"। तुम यदि ऐसा कह दोगे कि मैं इस विषय में कुछ नहीं जानता हूँ, तब हम पञ्चायत में न्याय कराकर ब्राह्मण (युवक) को जीत लेंगे ॥४१–४४॥

एत शुनि विप्रेर चिन्तित हैल मन। एकान्त भावे चिन्ते विप्र गोपाल-चरण–॥४५॥
मोर धर्म्म रक्षा पाय, ना मरे निज जन। दुइ रक्षा कर गोपाल ! लइल शरण ॥४६॥
एइ मते विप्र चित्ते चिन्तिते लागिला। आर-दिन लघु विप्र तांर घरे आइला ॥४७॥
आसिया परम भक्त्ये नमस्कार करि। विनय करिया कहे दुइ कर युड़ि ॥४८॥

उनके वचन सुनकर वृद्ध ब्राह्मण मन में बहुत चिन्ता करने लगा एवं एकान्त भाव से श्रीगोपाल के चरणों को स्मरण करने लगा। प्रार्थना करने लगा—"हे गोपाल ! मेरे धर्म की रक्षा करो एवं मेरे परिवार के लोग भी प्राण त्याग न करें, इन दोनों की आप ही रक्षा करो, मैं आपकी शरण हूँ" ॥४६॥ इस प्रकार वह चित्त में चिन्ता करने लगा। दूसरे दिन युवक ब्राह्मण उसके घर आया ॥४७॥ उसने आकर वृद्ध ब्राह्मण को सादर नमस्कार किया एवं दोनों हाथ जोड़ कर विनय पूर्वक कहने लगा ॥४८॥

तुमि मोरे कन्या दिते करियाछ अङ्गीकार । एबे किछु नाहि कह कि तोमार विचार ?॥४६॥
एत शुनि सेइ विप्र रहे मोन धरि । तार पुत्र मारिते आइल हाते ठेङ्गा करि ॥५०॥
आरे अधम ! मोर भगनी चाह विवाहिते ? । वामन हञा चांद येन चाहत धरिते ॥५१॥
ठेङ्गा देखि सेइ विप्र पलाइया गेल । आर-दिन ग्रामेर लोक एकत्र करिल ॥५२॥

"आपने मुझे अपनी कन्या देने का वचन दिया था, किन्तु अब तक आपने उस विषय में कुछ किया नहीं है, कहिये, आपका क्या विचार है ?" ॥४६॥ उसके वचन सुनकर वृद्ध ब्राह्मण चुप साधे रहा। उसका एक पुत्र लाठी लेकर उस युवक को मारने के लिये तैयार हो गया ॥ ५० ॥ और कहने लगा—"क्योंरे अधम ! तू मेरी बहन से विवाह करना चाहता है ? बौना होकर मानो चन्द्र को पकड़ना चाहता है ।" युवक उसके वचन सुनकर एवं लाठी उसके हाथ में देखकर वहां से भाग गया। दूसरे दिन उसने ग्राम के लोगों को इकट्ठा किया ॥५१-५२॥

सब लोक बड़ विप्रे डाकिया आनिल । तबे सेइ लघु विप्र कहिते लागिल ॥५३॥
इहों मोरे कन्या दिते करियाछे अङ्गीकार । एबे कन्या नाहि दने कि हय विचार ? ॥५४॥
तवे सेइ विप्रेरे पूछिल सर्वजन— । कन्या केने ना देह, यदि दियाछ वचन? ॥५४॥
विप्र कहे—शुन लोक मोर निवेदन । कबे कि वलियाछि, किछु ना हय स्मरण॥५६॥

ग्राम के लोगों ने उस ब्राह्मण को पञ्चायत में बुलाया । फिर उस युवक ब्राह्मण ने कहा—"इस ने अपनी कन्या मुझे देने के लिये प्रण किया था, किन्तु अब यह अपनी कन्या मुझे नहीं देता—इस बात का आप सब लोग न्याय करिये ।" ॥५३-५४॥ यह सुनकर सबने उस वृद्ध ब्राह्मण से पूछा—"यदि तुमने इसे अपनी कन्या देने का वचन दिया था, तो अब तुम इसे क्यों नहीं देते ?" ॥५५॥ उस ब्राह्मण ने कहा—"मेरे निवेदन को आप सब सुनिये । वह यह बात है कि मैंने किसी समय इसे क्या कहा था मुझे कुछ याद नहीं है" ॥५६॥

एत शुनि तार पुत्र वाक्यछल पाइया । प्रगल्भ हइया कहे सन्मुखे दांड़ाइया—॥५७॥
तीर्थयात्राय पिता सङ्गे छिल बहुधन । धन देखि एइ दुष्टेर लैते हैल मन ॥५८॥
आर केहो सङ्गे नाहि, सबे एइ एकल। धुतुरा खाओयाइया बापे करिल पागल ॥५६॥
सब धन लैया कहे—चोरे लैल धन । 'कन्या दिते चाहियाछे' उठाइल वचन ॥६०॥

ब्राह्मण के वचन सुनकर उसका पुत्र चालाकी करते हुए उद्धत होकर सबके सामने कहने लगा—"तीर्थ-यात्रा के समय मेरे पिताजी के पास बहुत सा धन था। उस धन को देखकर इस दुष्ट का मन उसे चुराने पर हुआ, और तो कोई वहाँ था ही नहीं, अकेला यह ही मेरे पिता के साथ था। इसने धतूरा खिलाकर उन्हें पागल कर दिया । फिर उनके सब धन को इसने हर लिया और यह कह दिया कि चोर ले गया है। अब इसने यह बात उठाई है कि मेरे पिता ने इसे कन्या देना स्वीकार किया था।" ॥५७-६०॥

तुमि सब लोक ! कह करिया विचारे । मोर पितार कन्या दिते योग्य कि इहोर ॥६१॥
एत शुनि लोकेर मने हइल संशय । सम्भवे धन लोभे लोक छाड़े धर्म्मभय ॥६२॥
तबे छोट विप्र कहे शुन महाजन । न्याय जिमिवारे कहे असत्य-वचन ॥६३॥
एइ विप्र मोर सेवाय तुष्ट यवे हैला । 'तोरे आमि कन्या दिव' आपने कहिला ॥६४॥

उसने आगे फिर कहा—"आप सब लोग जरा विचार कर कहिए कि क्या मेरी बहन इसे देने योग्य है ?" यह सुनकर सबके मन में संशय उत्पन्न हो गया और मन मन में कहने लगे कि धन के लोभ में मनुष्य धर्म के भय को भी छोड़ सकता है। उस युवक ब्राह्मण ने कहा—"हे महाजनो ! सुनिये, केवल न्याय जीतने के लिये यह झूँठ कह रहा है। वास्तव में यह बात है कि इसका पिता मेरी सेवा से जब प्रसन्न हुआ तो उसने मुझे अपने आप ही कहा कि मैं तुम्हें अपनी कन्या दूंगा ॥६१-६४॥

तबे आमि निषेधिल–शुन द्विजवर ! तोमार कन्यार योग्य नहि मुञि वर ॥६५॥
काहां तुमि पण्डित धनी परम कुलीन। काहां मुञि दरिद्र मूर्ख नीच कुल हीन ॥६६॥
तबु एइ विप्र मोरे कहे बारबार। तोरे कन्या दिलुं, तुमि करह स्वीकार ॥६७॥
तबे मुञि कहिलुं शुन द्विज महामति। तोमार स्त्री-पुत्र-ज्ञातिर न हवे सम्मति ॥६८॥
कन्या दिते नारिवे, हवे असत्य वचन। पुनरपि कहे विप्र करिया यतन—॥६९॥
कन्या तोरे दिलुं, द्विधा ना करिह चित्ते। आत्म कन्या दिव, केबा पारे निषेधिते ? ॥७०॥

तब मैंने इसे निषेध करते हुए कहा था कि हे द्विजश्रेष्ठ ! सुनो, तुम्हारी कन्या के योग्य वर मैं नहीं। कहाँ तो तुम विद्वान् धनी एवं परमकुलीन और कहाँ मैं मूर्ख, नीच एवं छोटी जाति का एक दरिद्र ॥६६॥ इतने कहने पर भी इस ब्राह्मण ने मुझे बार बार यही कहा कि मैं तो तुम्हें ही कन्या दूंगा, तुम इसे स्वीकार करो ॥६७॥ मैंने फिर इसे कहा कि हे महामते विप्र ! सुनो, तुम्हारे स्त्री-पुत्र एवं परिवार के लोग ऐसा करने में तुम से सहमत नहीं होंगे ॥ ६८ ॥ जिससे तुम मुझे अपनी कन्या नहीं दे सकोगे और दोनों के वचन झूठे हो जाँएगे। परन्तु फिर भी इसने दृढ़ता से कहा कि मैं तुम्हें अवश्य कन्या दूंगा, तुम जरा भी संशय न करो। मेरी कन्या है, मैं जिसे भी दूँ। मुझे कौन रोक सकता है ? ॥७०॥

तबे आमि कहिलाम दृढ़ करि मन। गोपालेर आगे कह ए सत्य वचन ॥७१॥
तबे इंहो गोपालेर आगे त कहिल— । तुमि जान, एइ विप्रे कन्या आमि दिल ॥७२॥
तबे आमि गोपालेरे साक्षी करिया। कहिनु तांहार पदे मिनति करिया—॥७३॥
यदि मोरे एइ विप्र ना करे कन्यादान। साक्षी बोलाइव तोमा–हैओ सावधान ॥७४॥

युवक ने कहा—"इसके बाद मैंने भी निश्चय कर इससे कहा कि यदि तुम्हारे यह वचन सत्य हैं तो तुम श्रीगोपालजी के आगे कहो ॥७१॥ फिर इसने श्रीगोपाल जी के आगे भी कहा कि हे गोपाल ! आप यह जान लीजिये कि मैंने अपनी कन्या इस ब्राह्मण को देने का निश्चय कर लिया है ॥७२॥ फिर मैंने श्रीगोपाल को साक्षी बनाया एवं उनके चरणों में विनय पूर्वक मैंने कहा—"हे गोपाल ! यदि यह ब्राह्मण मुझे कन्या-दान नहीं करेगा, तो मैं आपको गवाही में बुलाऊंगा, आपको ध्यान रहे" ॥७४॥

एइ वाक्ये साक्षी मोर आछे महाजन। यांर वाक्य सत्य करि माने त्रिभुवन ॥७५॥
तबे बड़विप्र कहे—एइ सत्य कथा। गोपाल यदि साक्षी देन आपने आसि एथा ॥७६॥
तबे कन्या दिव–एइ जानिह निश्चय। तार पुत्र कहे–भाल एइ बात हय ॥७७॥
बड़ बिप्रेर मने–कृष्ण बड़ दयावान्। अवश्य मोर वाक्य तेंहो करिवे प्रमाण ॥७८॥

"हे महाजनो ! इस ब्राह्मण ने कन्यादान का जो मुझे वचन दिया था, उसके साक्षी श्रीगोपाल जी हैं, जिनके वचनों को त्रिभुवन सत्य कर मानता है" युवक के वचन सुनकर वृद्ध ब्राह्मण कहने लगा—

"तुम्हारे वचन तभी सत्य मानेंगे यदि श्रीगोपाल स्वयं यहाँ आकर तुम्हारी गवाही दें ।।७५-७६।। तब मैं तुम्हें अपनी कन्या दे दूंगा—यह निश्चय जानो" उसके पुत्र ने भी कहा—"बस यही बात ठीक है" ।।७७।। वृद्ध ब्राह्मण ने मन में विचार किया कि श्रीकृष्णगोपाल बड़े दयालु हैं, वे अवश्य मेरे वचनों को प्रमाणित करेंगे" ।।७८।।

पुत्रेर मने–प्रतिमा ना आसिवे साक्षी दिते। एइ बुद्ध्ये दुइजना हइला सम्मते ।।७९।।
छोट विप्र कहे—पत्र करह लिखन। पुन येन नाहि चले ए सब वचन ।।८०।।
तबे सब लोक एक पत्र त लिखिल। दोंहार सम्मति लैया मध्यस्थ राखिल ।।८१।।
तबे छोट विप्र कहे—शुन सर्वजन। एइ विप्र—सत्यवाक्य धर्म्म परायण ।।८२।।

ब्राह्मण के पुत्र के मन में यह था कि श्रीगोपाल की प्रतिमा गवाही देने नहीं आ सकती। इस प्रकार वे दोनों इस बात पर सहमत हो गये। किन्तु युवक ब्राह्मण ने कहा—"आप यही बात लिखकर दीजिये ताकि फिर इन वचनों से आप विचलित न हो सकें।।८०।। तब सब लोगों ने उनसे एक पत्र लिखवा लिया एवं उन दोनों की सम्मति से एक मध्यस्थ चुन लिया। फिर युवक ब्राह्मण ने कहा—'आप सब लोग सुनिये, यह ब्राह्मण सत्यवादी है एवं धर्म परायण है" ।।८१-८२।।

स्ववाक्य छाड़िते इहांर नाहि कभु मन। स्वजन-मृत्यु भये कहे लटपटी—वचन ।।८३।।
इंहार पुण्ये कृष्णे आनि साक्षी बोलाइमु। तबे एइ विप्रेर सत्य प्रतिज्ञा राखिमु ।।८४।।
एत शुनि सब लोक उपहास करे। केहो कहे—ईश्वर दयालु आसितेह पारे ।।८५।।
तबे सेइ छोट विप्र गेला वृन्दाबन। दण्डवत् करि कहे सब विवरण—।।८६।।

युवक ने फिर कहा—"अपने वचनों को छोड़ने के लिये कभी भी इसका मन नहीं करता, किन्तु अपने स्त्री-पुत्र की मृत्यु के भय से यह इस प्रकार गोलमोल बातें कर रहा है ।।८३।। मैं इस के पुण्य प्रभाव से श्रीकृष्ण को साक्षी देने के लिये यहाँ लाऊंगा और इसकी प्रतिज्ञा को सत्य कराऊंगा" ।।८४।। उसके वचन सुनकर सब लोग हंसी करने लगे। किसी ने यह भी कहा—"भाई! ईश्वर बड़े दयालु हैं, वे आ भी सकते हैं" ।।८५।। फिर वह छोटा ब्राह्मण वहाँ से श्रीवृन्दावन की ओर चल दिया एवं श्रीगोपाल को आकर दण्डवत् प्रणाम की और सब हाल कहने लगा ।।८६।।

ब्रह्मण्यदेव ! तुमि बड़ दयामय। दुइ विप्रेर धर्म्म राख हइया सदय ।।८७।।
कन्या पाव—मने मोर नाहि एइ सुख। ब्राह्मणेर प्रतिज्ञा याय–एइ बड़ दुख ।।८८।।
एत जानि तुमि साक्षी देह दयामय!। जानि साक्षी ना देय येइ तार पाप हय ।।८९।।
कृष्ण कहे—विप्र ! तुमि याह स्वभवने। सभा करि आमा तुमि करिह स्मरणे ।।९०।।
आविर्भाव हैया आमि ताहां साक्षी दिव। प्रतिमा स्वरूपे ताहां याइते नारिव ।।९१।।

युवक ने कहा—"हे ब्रह्मण्यदेव ! आप परम दयालु हो, हम दोनों ब्राह्मणों के धर्म की आप ही दयाकर रक्षा कीजिये ।।८७।। मुझे कन्या मिलेगी–इस बात की मुझे कोई प्रसन्नता नहीं, किन्तु उस ब्राह्मण की प्रतिज्ञा भङ्ग होगी—मुझे यही बड़ा दुख है ।।८८।। यह जानकर हे दयामय ! आप मेरी गवाही चलकर दीजिये। (और यदि आप इन्कार करोगे, तो आप जानते हैं कि) जो किसी बात एवं घटना को जानकर भी उसकी साक्षी नहीं देता, उसे पाप होता है" ।।८९।। श्रीकृष्णगोपाल ने कहा—"हे ब्राह्मण ! तुम अपने

घर जाओ और वहाँ सभा बुलाकर तुम मुझे वहाँ स्मरण करना, मैं वहाँ ही आविर्भूत होकर तुम्हारी गवाही दूंगा। मैं इस प्रतिमा रूप से वहां नहीं जाऊंगा" ॥६१॥

विप्र कहे—हओ यदि चतुर्भुज-मूर्त्ति। तबु तोमार वाक्ये कारो नहिवे प्रतीति ॥६२॥
एइ मूर्त्त्ये गिया यदि एइ श्रीवदने। साक्षी देह यदि—तबे सर्वलोके माने ॥६३॥
कृष्ण कहे-प्रतिमा चले काहांओ ना शुनि। विप्र कहे, प्रतिमा हैया कह केने वाणी?॥६४॥
प्रतिमा नह तुमि-साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन। विप्र लागि कर तुमि अकार्य्य-करण ? ॥६५॥

ब्राह्मण ने कहा—"यदि आप वहाँ चतुर्भुज रूप से प्रकट होकर गवाही दोगे, तो आप के वाक्यों का किसी को विश्वास न होगा ॥६२॥ इसी मूर्त्तिरूप से यदि आप चलकर वहाँ श्रीमुख से गवाही देंगे, तभी सब लोग सत्य मानेंगे ॥६३॥ श्रीगोपाल ने कहा—"मूर्त्ति चलती है"—यह तो कहीं नहीं सुना जाता। ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"मूर्त्ति यदि चलती नहीं तो मूर्त्ति कहीं बोलती भी नहीं" मूर्त्ति होकर आप बोल कैसे रहे हैं ? मैं जानता हूँ—आप मूर्त्ति नहीं हो, बल्कि साक्षात् श्रीनन्दनन्दन हो। ब्राह्मण के लिये असम्भव को भी सम्भव कर सकते हो अर्थात् आप मेरे साथ चल सकते हो ॥६५॥

हासिया गोपाल कहे शुनह ब्राह्मण ! तोमार पाछे-पाछे आमि करिव गमन ॥६६॥
उलटि आमाके तुमि ना करिह दर्शने। आमारे देखिले आमि रहिव सेइ-स्थाने ॥६७॥
नूपुरेर ध्वनिमात्र आमार शुनिवे। सेइ शब्दे गमन मोर प्रतीति करिवे ॥६८॥
एक सेर अन्न रान्धि करिवे समर्पण। ताहा खाञा तोमार सङ्गे करिव गमन ॥६९॥

श्रीभगवान् ने भक्त से हार मानी और श्रीगोपाल हंसकर कहने लगे—"हे ब्राह्मण! सुन, मैं तुम्हारे पीछे चलूंगा, तुम मुझे मुड़ कर पीछे की ओर मत देखना। यदि कहीं पीछे मुझे देखोगे तो मैं उसी स्थान पर स्थिर हो जाऊंगा ॥६७॥ मेरे नूपुरों की ध्वनि केवल तुम्हारे कानों में पड़ती रहेगी और तुम इसी में ही विश्वास करना कि मैं तुम्हारे पीछे आ रहा हूँ" ॥६८॥ एक बात और भी सुनो कि एक सेर चावल रान्ध कर रोजाना तुम मेरे भोग रखना, उसे खाकर मैं तुम्हारे साथ साथ चलता रहूँगा" ॥६९॥

आर दिन आज्ञा मांगी चलिला ब्राह्मण। तार पाछे पाछे गोपाल करिला गमन ॥१००॥
नूपरेर ध्वनि शुनि आनन्दित मन। उत्तम अन्न पाक करि कराय भोजन ॥१०१॥
एइमत चलि विप्र निजदेशे आइला। ग्रामेर निकट आसि मनेते चिन्तिला ॥१०२॥
एबे मुञि ग्रामे आइनु—याइमु भवन। लोकेरे कहिमु गिया साक्षीर आगमन ॥१०३॥
साक्षाते ना देखिले मने प्रतीति ना हय। इहां यदि रहे, तबे नाहि किछु भय ॥१०४॥

दूसरे दिन ब्राह्मण ने आज्ञा माँगी और अपने देश की ओर चल पड़ा एवं श्रीगोपालजी भी उसके पीछे पीछे चलने लगे ॥१००॥ उनके नूपुरों की ध्वनि सुनकर ब्राह्मण को बहुत आनन्द होने लगा। नित्य उत्तम-उत्तम चावल बनाकर श्रीगोपाल को वह भोजन कराता ॥ १०१ ॥ इस प्रकार चलते चलते अपने देश में आ पहुँचा और ग्राम के निकट आकर मन में विचार करने लगा कि अब मैं अपने ग्राम में आ पहुँचा हूँ और अपने घर जाऊंगा। और मैं अपने गवाह का आगमन भी सब लोगों से कहूँगा (श्रीगोपाल मेरे पीछे कहाँ कहाँ डोलेंगे। यहाँ ही रहें तो अच्छा है)। साक्षात् देखे बिना मेरे चित्त में भी प्रतीति नहीं हो रही है (अतः मैं इन्हें मुड़कर देख लूं) यदि ये यहां स्थिर हो भी जाँएगे तो भी कोई हानि नहीं है।

एत चिन्ति सेइ विप्र फिरिया चाहिल । हासिया गोपालदेव ताहांइ रहिल ॥१०५॥
ब्राह्मणे कहिल—तुमि—याह निज घर । इहाञि रहिब आमि, ना यांव अतः पर ॥१०६॥
तबे सेइ विप्र याइ नगरे कहिल । शुनिञा सकल लोक चमत्कार हैल ॥१०७॥
आइल सकल लोक साक्षी देखिवारे । गोपाल देखिया लोक दण्डवत् करे ॥१०८॥

ऐसा विचार कर विप्र ने घूमकर पीछे देखा, श्रीगोपाल हँस पड़े और वहीं खड़े हो गये ॥१०५॥ ब्राह्मण से उन्होंने कहा—"तुम अब अपने घर जाओ और मैं अब यहाँ ही रहूँगा, आगे नहीं जाऊंगा ।१०६। ब्राह्मण ने गाँव में आकर सब वृत्तान्त सुनाया । श्रीगोपाल का आगमन सुनकर सब लोग चमत्कृत हो उठे ॥१०७॥ साक्षी श्रीगोपाल को देखने के लिये सब लोग वहाँ आए एवं श्रीगोपाल के दर्शन कर सब लोगों ने उन्हें प्रणाम किया ॥१०८॥

गोपालेर सौन्दर्य देखि लोके आनन्दित । 'प्रतिमा चलि आइला' शुनि हइला विस्मित ॥१०९
तबे सेइ बड़विप्र आनन्दित हञा । गोपालेर आगे पड़े दण्डवत हञा ॥११०॥
सकल लोकेर आगे गोपाल साक्षी दिल । बड़ विप्र छोट विप्रे कन्यादान कैल ॥१११
तबे सेइ दुइ विप्रे कहिला ईश्वर । तुमि दुइ जन्मे जन्मे आमार किङ्कर ॥११२

श्रीगोपाल के सौन्दर्य को देखकर लोग बहुत सुखी हुए एवं "प्रतिमा चलकर आई है"—यह बात जानकर सबको आश्चर्य हुआ॥१०९॥यह सब जानकर उस वृद्ध ब्राह्मण को भी बहुत आनन्द हुआ एवं उसने श्रीगोपाल के आगे आकर दण्डवत् प्रणाम किया ॥११०॥ सब लोगों के सामने श्रीगोपालने गवाही दी एवं बड़े विप्र ने उस युवक ब्राह्मण को अपनी कन्या दान कर दी ॥ १११ ॥ फिर उन दोनों ब्राह्मणों को श्रीगोपाल ने कहा—"तुम दोनों जन्म-जन्म के मेरे सेवक हो" ॥११२॥

दोंहार सत्ये तुष्ट हैलाङ, दोंहे मागवर । दुइ विप्र वर मांगे आनन्द-अन्तर—॥११३॥
यदि वर दिवे, तबे रह एइ स्थाने । किङ्करेरे दया तवे सर्वलोके जाने ॥११४॥
गोपाल रहिला,–दोंहे करेन सेवन । देखिते आइसे तबे देशेर लोकजन ॥११५॥
से देशेर राजा आइल आश्चर्य शुनिया । परम सन्तोष पाइल गोपाल देखिया ॥११६॥

श्रीगोपाल ने आगे कहा––"मैं तुम्हारे दोनों के सत्य से प्रसन्न हुआ हूँ––अतः तुम दोनों वर माँगो ।" दोनों ब्राह्मण प्रसन्न होकर वर माँगने लगे–"हे प्रभु ! आप यदि वर देते हैं तो यह वर दीजिये कि आप अब यहाँ ही विद्यानगर में रहिये, तभी सब लोग यह जान सकेंगे कि आप की हम सेवकों पर इतनी दया है" ॥११४॥ श्रीनित्यानन्द प्रभु बोले––श्रीगोपाल ने वहीं रहना स्वीकार कर लिया । वे दोनों उनकी सेवा करने लगे । फिर तो देश देशान्तर के लोग आ-आकर श्रीगोपाल के दर्शन करने लगे ॥११५॥ उस देश का राजा भी यह आश्चर्यमय घटना सुनकर वहां आया एवं श्रीगोपाल के दर्शन पाकर परम सन्तुष्ट हुआ ॥११६॥

मन्दिर करिया राजा सेवा चालाइल । 'साक्षिगोपाल' बलि नाम ख्याति हैल ॥११७॥
एइमते विद्यानगरे साक्षि-गोपाल । सेवा अङ्गीकार करि आछे चिरकाल ॥११८॥
उत्कलेर राजा—पुरुषोत्तमदेव नाम । सेइ देश जिनिलेन करिया संग्राम ॥११९॥
सेइ राजा जिनि लैल तार सिंहासन । 'माणिक्य सिंहासन' नाम अनेक रतन ॥१२०॥

उस राजा ने वहाँ मन्दिर निर्माण कराकर श्रीगोपाल की सेवा स्थापन कर दी। तभी से इनका नाम "साक्षीगोपाल" प्रसिद्ध होगया। इस प्रकार से विद्यानगर में साक्षिगोपाल सेवा को अङ्गीकार करके चिर-काल तक रहे ॥११८॥ फिर उत्कल के राजा जिसका नाम पुरुषोत्तमदेव था, उसने विद्यानगर आदि देश पर चढ़ाई करके उसे जीत लिया एवं विद्यानगर के राजा के सिंहासन को भी ले लिया। वह सिंहासन अनेक रत्नों से जड़ित था, अतः उसे 'मणिक्यसिंहासन' भी कहते थे ॥१२०॥

पुरुषोत्तमदेव सेइ बड़ भक्त-आर्य्य। गोपाल-चरणे मागे चल मोर राज्य ॥१२१॥
तांर भक्तिवशे गोपाल तांरे आज्ञा दिल। गोपाल लइया सेइ कटक आइल ॥१२२॥
जगन्नाथे आनि दिल माणिक्य सिंहासन। कटके गोपाल—सेवा करिल स्थापन ॥१२३॥
तांहार महिषी आइला गोपाल दर्शने। भक्त्ये बहु अलङ्कार कैल समर्पणे ॥१२४॥

श्रीपुरुषोत्तमदेव बड़े भक्त श्रेष्ठ थे। श्रीगोपाल से उन्होंने अपने देश को चलने की प्रार्थना की ॥१२१॥ उनकी भक्ति के वश होकर श्रीगोपाल ने चलना स्वीकार कर लिया। वे श्रीगोपाल को कटक में ले आये ॥१२२॥ वह माणिक्य सिंहासन तो उन्होंने श्रीजगन्नाथजी को दे दिया और श्रीगोपालजी की सेवा कटक में स्थापन कर दी ॥१२३॥ एक दिन राजा की रानी श्रीगोपालजी के दर्शन करने आई एवं उसने प्रीतिपूर्वक अनेक भूषण श्रीगोपाल की भेंट किये ॥१२४॥

तांहार नासाते बहुमूल्य मुक्ता हय। ताहा दिते इच्छा हैल, मनेते चिन्तय—॥१२५॥
ठाकुरेर नासाते यदि छिद्र थाकित। तबे एइ दासी मुक्ता नासाते पराइत ॥१२६॥
एत चिन्ति नमस्करि गेला स्वभवने। रात्रि शेषे गोपाल तांरे कहेन स्वपने—॥१२७॥
बालक-काले माता मोर नासा छिद्र करि। मुक्ता पराइयाछिला बहुयत्न करि ॥१२८॥
सेइ छिद्र अद्यापि भोर आछये नासाते। सेइ मुक्ता पराह-याहा चाहियाछ दिते ॥१२९॥

रानी के नाक में बहुमूल्यवान एक मुक्ता था, उसकी इच्छा हुई कि उसे भी श्रीगोपाल को अर्पण कर दे, किन्तु मन में सोचने लगी कि "श्रीगोपाल की नासिका में यदि छिद्र होता तो यह दासी अपने हाथ से श्रीगोपाल की नासिका में यह मुक्ता पहिरा देती" ॥ १२६ ॥ ऐसा विचार कर रानी ने नमस्कार की एवं अपने घर को चली आई। रात के समय श्रीगोपाल स्वप्ने में आकर उसे कहने लगे— "बालक काल में माता ने मेरी नासिका को छिदवा कर अनेक यत्न से मुझे मुक्ता पहिराया था ॥१२८॥ वह छिद्र आज तक मेरी नासिका में है, जो मुक्ता तुम मुझे देना चाहती थी, वह मुक्ता मुझे पहिरा दो" ॥१२९॥

स्वप्न देखि सेइ राणी राजारे कहिलाते राजा सङ्गे मुक्ता लञा मन्दिरे आइल ॥१३०॥
पराइल मुक्ता—नासाय छिद्र देखिया। महामहोत्सव कैल आनन्दित हैया ॥१३१॥
सेइ हैइते गोपालेर कटकेते स्थिति। एइ-लागि 'साक्षिगोपाल' नाम हैल ख्याति ॥१३२॥

रानी ने वह स्वप्न राजा को सुनाया एवं राजा के साथ मुक्ता को लेकर मन्दिर में आई॥१३० श्रीगोपाल की नासिका में छिद्र देखकर रानी ने वह मुक्ता उन्हें पहिरा दिया एवं परम आनन्दित होकर महान उत्सव किया ॥१३१॥ श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"तभी से ही श्रीगोपाल यहाँ कटक में विराज-मान हैं एवं इस प्रकार इनका नाम "साक्षिगोपाल" प्रसिद्ध हुआ है" ॥१३२॥

नित्यानन्दगोसाञिर मुखे गोपाल चरित । शुनि तुष्ट हैला प्रभु स्वभक्त सहित ॥१३३॥
गोपालेर आगे यबे प्रभुर हय स्थिति । भक्तगण देखे येन दोंहे एक मूर्त्ति ॥१३४॥
दोंहे एक वर्ण—दोंहे प्रकाण्ड शरीर । दोंहें रक्ताम्बर, दोंहार स्वभाव गम्भीर ॥१३५॥
महातेजोमय दोंहे कमल—नयन । दोंहार भावावेश—मन चन्द्रबदन ॥१३६॥

श्रीनित्यानन्द गोस्वामी के मुख से साक्षिगोपाल का चरित्र सुनकर श्रीमन्महाप्रभु भक्तों सहित बहुत प्रसन्न हुए ॥१३३॥ श्रीमहाप्रभु जब श्रीगोपाल के सामने खड़े होते, तो भक्तगणों को ऐसा अनुभव होता था कि श्रीमहाप्रभु एवं श्रीगोपाल एक ही मूर्त्ति हैं ॥१३४॥ दोनों का एक वर्ण था एवं विशाल विग्रह था । दोनों ने परिधान में रक्त वस्त्र धारण कर रखा था एवं दोनों का स्वभाव बहुत गम्भीर था ॥१३५॥ दोनों की महान् कान्ति थी एवं दोनों के नेत्र कमल के समान विशाल थे । दोनों का मन भावविष्ट था एवं दोनों के बदन चन्द्र के समान सुशीतल एवं सुन्दर थे ॥१३६॥

(साधारणतः श्रीगौर पीतवर्ण हैं एवं श्रीगोपाल श्यामवर्ण, किन्तु उस समय उन दोनों का वर्ण गौर हो गया । ऐसा प्रतीति होता है श्रीराधा की जिस पीत वर्ण कान्ति ने श्याम-वर्ण श्रीकृष्ण को गौर कर दिया था अब श्रीगौर के शरीर में रह कर उसी पीतवर्ण राधा-कान्ति ने श्रीगोपाल विग्रह को भी गौर वर्ण कर दिया)

दोंहा देखि नित्यानन्द-प्रभु महारङ्गे । ठाराठारि करि हासे भक्तगण सङ्गे ॥१३७॥
एइमत नानारङ्गे से रात्रि वञ्चिया । प्रभाते चलिला मङ्गल-आरति देखिया ॥१३८॥
भुवनेश्वर-पथे यैछे करिल गमन । विस्तारि वार्णयाछेन दास वृन्दावन ॥१३९॥
कमलपुरे आसि भार्गीनदी-स्नान कैल । नित्यानन्द—हाथे प्रभु दण्ड धरिल ॥१४०॥
कपोतेश्वर देखितें गेला भक्तगण सङ्गे । एथा नित्यानन्द प्रभु कैल दण्ड भङ्गे ॥१४१॥

दोनों के दर्शन कर श्रीनित्यानन्द महा आनन्दित हुए एवं नेत्रों से कटाक्ष करते हुए भक्तों सहित हँसने लगे ॥१३७॥ इस प्रकार महा आनन्द में वह रात्रि बीत गई एवं प्रभात को श्रीगोपाल की मङ्गल आरती कर प्रभु वहाँ से चल दिये ॥१३८॥ भुवनेश्वर के मार्ग से श्रीमहाप्रभु जिस प्रकार गुजरे, सो लीला श्रीवृन्दावनदास ने (श्रीचैतन्य भागवत ३-२ में) विस्तारपूर्वक वर्णन की है । महाप्रभु ने कमलपुर में आकर भार्गी नदी जिसे 'दण्डभाङ्गा भी कहते हैं उसमें स्नान किया एवं प्रभु ने अपना दण्ड श्रीनित्यानन्द के हाथ में दे दिया और आप भक्तों के साथ कपोतेश्वर को (एक अनादि शिवलिङ्ग जो वहाँ विराजमान था) देखने चले गये । इधर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीमहाप्रभु के दण्ड को तोल डाला ॥ १४१ ॥

चै० च० चु० *टीका* – श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीमहाप्रभु का दण्ड क्यों तोड़ा ?—इसके उत्तर में श्रीचैतन्यभागवत (अन्त्य खण्ड द्वितीय अध्याय) में लिखा है—दण्ड हो हाथ में लेकर श्रीनित्यानन्द हँसने लगे एवं दण्ड को सम्बोधन कर कहने लगे—"अरे दण्ड ! मैं जिसे (श्रीचैतन्य को) हृदय में धारण किये रहता हूँ, वह (श्रीचैतन्य) तुम्हें धारण किये फिरें, यह युक्त नहीं है" । इतना कह कर उन्होंने दण्ड को तोड़ डाला और तीन टुकड़े कर उसे नदी में बहा दिया । वास्तव में श्रीनित्यानन्द के प्राणकोटि प्रिय श्रीचैतन्य एक बांस के दण्ड को उठाये फिरें, यह वे नहीं सह सके । इसलिये ही उन्होंने उसे तोड़ डाला । इससे श्रीमहाप्रभु के प्रति उनके गम्भीर प्रेम का परिचय मिलता है ।

दण्ड के तोड़ने का एक और भी कारण हो सकता है—संन्यासी दण्ड क्यों धारण करते हैं ? पूर्वकाल में संन्यासी मौन रूप-दण्ड से वाक्य को, काम्य-कर्म-त्याग-रूप-दण्ड से देह को एवं प्राणायाम रूप-दण्ड से चित्त को संयत करते थे, इन तीन दण्डों को धारण करने से उन्हें "त्रिदण्डी" कहा जाता था एवं वही सच्चे संन्यासी कहे जाते थे। इन तीनों दण्डों का प्रतिनिधि स्वरूप या स्मारक स्वरूप वे बांस के तीन दण्ड धारण करते थे। वे दण्ड उन्हें मौन आदि तीन दण्डों की याद दिलाते रहते थे। श्रीपाद शंकराचार्य्य के समय से तीन दण्डों के स्थान पर एक दण्ड ही उपयुक्त माना गया। श्रीमहाप्रभु ने भी एक दण्ड ही धारण कर लिया था।

संक्षेपत: वाक्य रजोगुण की क्रिया है, शरीर तमोगुण की एवं चित्त सत्यगुण की क्रिया है, अतः जो इस त्रिगुणात्मिका माया के अधीन हैं, उनके लिये ही आसक्ति निवारणार्थ मौन, काम्यकर्मत्याग एवं प्राणायाम इन तीनों का प्रयोजन है। श्रीचैतन्यदेव स्वयं भगवान् हैं, वे मायातीत हैं; उनके वाक्य देह एवं चित्त सच्चिदानन्दमय हैं, माया से परे हैं, अतः उनके लिये फिर दण्ड का प्रयोजन ही क्या ? अतः श्रीनित्यानन्द ने उस दण्ड को, जिसकी माया राज्य में आवश्यकता है, माया के स्रोत (नदी) में बहा दिया।

दण्ड भी एक प्रकार का अस्त्र है, किन्तु श्रीमहाप्रभु तो प्रेमसिन्धु-अवतार हैं, इन्हें इस परम दयाल अवतार में तो किसी अस्त्र द्वारा किसी का असुरत्व विनाश नहीं करना था। इन्हें तो नाम-प्रेम का दान देकर असुरों के चित्त के असुरत्व को नाश करना था, वहाँ फिर दण्ड की क्या आवश्यकता ? प्रभु के संन्यास ग्रहण करने का कारण भी तो केवल मात्र यही था—क्षमा द्वारा निन्दकों का चित्त शुद्ध करना इसीलिये किसी पक्ष में भी दण्ड की आवश्यकता न समझ कर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने उस दण्ड के तीन टुकड़े कर उसे नदी में बहा दिया।

तिन खण्ड करि दण्ड दिल भासाइया। भक्त-सङ्गे आइला प्रभु महेश देखिया ॥१४२॥
जगन्नाथेर देउल देखि आविष्ट हेइला। दण्डवत् करि प्रेमे नाचिते लागिला ॥१४३॥
भक्तगण आविष्ट हैया सभे नाचे गाय। प्रेमावेश प्रभुसङ्गे राजमार्गे याय ॥१४४॥
हासे कान्दे नाचे प्रभु हुङ्कार गर्ज्जन। तिन क्रोश पथ हैल सहस्र योजन ॥१४५॥

श्रीनित्यानन्द ने उस दण्ड के तीन टुकड़े कर नदी में बहा दिये। थोड़ी देर पीछे श्रीमहाप्रभु भक्तों के सहित श्रीमहेश के दर्शन करके लौट आये ॥ १४२ ॥ वहाँ से (कमलपुर से) श्रीजगन्नाथ के मन्दिर की ध्वजा को देखकर श्रीमहाप्रभु प्रेमाविष्ट हो उठे एवं वहाँ से दण्डवत प्रणाम कर प्रेमपूर्वक नृत्य करने लगे ॥ १४३ ॥ सब भक्तगण भी प्रेमावेश में नाचने गाने लगे एवं राज-मार्ग से (पक्की सड़क) चलने लगे ॥ १४४ ॥ कभी हँसते थे, कभी रोते थे, इस प्रकार प्रभु कभी नृत्य, कभी हुङ्कार-गर्ज्जना करते हुए प्रेमावेश में चल रहे थे; तीन कोस का मार्ग मानों हजार योजन के समान लम्बा पड़ गया ॥१४५॥

चलिते चलिते प्रभु आइला आठारनाला। तांहा आसि प्रभु किछु बाह्य प्रकाशिला ॥१४६॥
नित्यानन्दे प्रभु कहे—देह मोर दण्ड। नित्यानन्द कहे—दण्ड हैल तिन खण्ड ॥१४७॥
प्रेमावेशे पड़िले तुमि, तोमारे धरिलुं। तोमासह सेइ दण्ड—उपरे पड़िलुं ॥१४८॥
दुइ जनार भरे दण्ड खण्ड खण्ड हैल। सेइ खण्ड काहां पड़िल, किछुना जानिल ॥१४९॥
मोर अपराधे तोमार दण्ड हैल खण्ड। येइ युक्त हय मोर कर तार दण्ड ॥१५०॥

इस प्रकार चलते २ श्रीमहाप्रभु आठारनाला (अठारह वंगो वाली पुल, जो पुरी के निकट है) पुल पर पहुञ्चे एवं वहाँ आकर प्रभु को बाहर की सुद्धि आई ।। १४६ ।। प्रभु ने श्रीनित्यानन्दजी से अपना दण्ड मांगा । तव श्रीनित्यानन्दजी ने बताया कि "वह दण्ड तो तीन खण्ड हो गया था" ।। १४७ ।। श्रीमहाप्रभु ने पूछा कि वह दण्ड कैसे टूट गया, तो श्रीनित्यानन्दजी बोले—"प्रभो ! प्रेमावेश में आप गिरने लगे थे, तो आपको मैं सम्भालने लगा, किन्तु मैं सम्भाल न सका, आप और मैं दोनों उस दण्ड पर जा पड़े । वह दण्ड हम दोनों के बोझ से टुकड़े-टुकड़े हो गया । वे खण्ड फिर कहाँ जा पड़े—मुझे तो यह भी कुछ पता नहीं । मेरे अपराध से आप का दण्ड टूट गया है, इसके लिये आप जो उचित समझें मुझे दण्ड दीजिये ।" ।:१५०।।

चै० च० चु० *टीका*—पहले यह वर्णन किया जा चुका है कि श्रीमहाप्रभुजी का दण्ड श्रीनित्यानन्द प्रभु ने तोड़ा । किन्तु यहाँ उन्होंने दण्डके टूटने में श्रीमहाप्रभु के प्रेमावेश को ही कारण बता दिया;तो क्या श्रीबलरामस्वरूप श्रीनित्यानन्दजी ने सत्यका गोपन किया है? नहीं,नहीं—वास्तवमें श्रीमहाप्रभुका प्रेमावेश ही दण्ड टूटने में मुख्य कारण है अथवा प्रवर्त्तक कारण है । श्रीमहाप्रभु को प्रेमावेश में दण्ड की सुधि ही नहीं रहती थी, इसलिये प्रेमावेश ही उस दण्ड की विस्मृति का कारण था । जहाँ जिस वस्तु का प्रयोजन नहीं होता, वहाँ उस वस्तु की विस्मृति हो जाया करती है, अतः प्रभु को प्रेमावेश के कारण जो विस्मृति होती थी, वही दण्ड की अनावश्यकता को सूचित करती थी—उस अनावश्यकता नेश्रीनित्यानन्द प्रभु को दण्ड के तोड़ने में प्रवर्त्तित किया । अर्थात् जिस लीलाशक्ति की वैचित्री-विशेष प्रेमावेशरूप से दण्ड की अनावश्यकता जनाती थी, उसी लीलाशक्ति ने ही अनावश्यक दण्ड के तोड़ डालने में श्रीनित्यानन्द प्रभु को भी प्रवर्त्तित कर दिया । श्रीनित्यानन्दजी तो उपलक्ष्य मात्र थे, प्रभू का प्रेमावेश ही उसमें मुख्य कारण था ।

शुनि प्रभु मने किछु दुख प्रकाशिला । ईषत् क्रोध करि किछु सभारे कहिला—।।१५१।।
नीलाचले आनि आमा सभे हित कैला । सबे दण्ड धन छिल, ताहा ना राखिला ।।१५२।।
तुमि सब आगे याह ईश्वर देखिते । किवा आमि आगे याइ, ना याव सहिते ।।१५३।।

श्रीमहाप्रभु ने दण्ड-भङ्ग की बात सुनकर कुछ दुख का प्रकाश किया एवं कुछ क्रोध दिखा कर सब से कहने लगे ।।१५१।। प्रभु ने कहा—"नीलाचल में आकर आप सब मेरा बहुत हित कर रहे हो—(यह विप्रीत उक्ति है, रोषवश अर्थात् मेरा अहित कर रहे हो)" सब कुछ मैंने त्याग दिया था, केवल यही दण्ड एक मात्र मेरी सम्पत्ती अर्थात् आश्रम का चिन्ह था, वह भी आपने नहीं रहने दिया ।।१५३।। अब आप सब लोग श्रीजगन्नाथ का दर्शन आगे चल कर करिये, (मैं पीछे आऊँगा) अथवा मैं आगे चलता हूँ (आप पीछे आइए) अब मैं आप के साथ-साथ नहीं चलूँगा ।।१५३।।

मुकुन्ददत्त कहे—प्रभु ! तुमि चल आगे । आमि सब पाछे याव, नाहि याव सङ्गे ।।१५४।।
एत शुनि प्रभु आगे चलिला शीघ्र गति । बुझिते ना पारे केहो दुइ प्रभुर मति—।।१५५।।
इहों केने दण्ड भाङ्गे, तेंहों केने भाङ्गाय । भाङ्गाइया केने क्रुद्ध इहों त दोषाय ? ।।१५६।।

श्रीमुकन्ददत्त ने कहा—'प्रभो ! आप आगे चलिये, हम सब पीछे-पीछे आएँगे, आपके साथ-साथ नहीं चलेंगे" । यह सुनकर श्रीमहाप्रभु जलदी से आगे चल पड़े । श्रीमहाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द

प्रभु—इन दोनों की लीला को कोई भी नहीं जान सकता। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने क्यों तो दण्ड तोड़ा? एवं क्यों श्रीमहाप्रभु ने उन से तोड़वाया? तोड़वा कर फिर प्रभु क्यों क्रोधित हुए एवं क्यों इनको दोषी ठहराया?—यह समस्त रहस्य कोई भी नहीं जान सकता ॥१५६॥

दण्ड–भङ्ग–लीला एइ परम गम्भीर। से–इ बुझे—दोंहार पदे यार भक्ति धीर ॥१५७॥
ब्रह्मण्यदेव–गोपालेर महिमा एइ धन्य। नित्यानन्द वक्ता यार–श्रोता श्रीचैतन्य ॥१५८॥
श्रद्धायुक्त हैया इहा शुन भक्तगण। अचिरे पाइवे कृष्णचैतन्य—चरण ॥१५९॥
श्रीरूप—रघुनाथ–पदे यांर आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१६०॥

उपर्युक्त दण्ड-भङ्गलीला परम गम्भीर है, इसे वही जान सकता है जिस की दोनों प्रभुओं के चरणों में अचला भक्ति है ॥ १५७ ॥ ब्रह्मण्यदेव श्रीगोपाल की महिमा भी धन्य है, जिसको श्रीनित्यानन्दने वर्णन किया एवं जिसे श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवने सुना ॥१५८॥ श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—"सब भक्तगण इस लीला को श्रद्धायुक्त होकर सुनिये। इससे शीघ्र ही श्रीकृष्णचैतन्य के चरणों की प्राप्ति होती है ॥१५९॥ श्रीरूपगोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का वर्णन करते हैं ॥१६०॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य--लीलायां
साक्षिगोपालचरित वर्णनं-नाम
पञ्चम परिच्छेदः ॥५॥

जयगौर

मध्य-लीला

षष्ठम परिच्छेद

★

नौमि तं गौरचन्द्रं यः कुतर्क-कर्कशाशयम् ।
सार्व्वभौमं सर्व्वभूमा भक्तिभूमानमाचरत् ॥१॥

कुतर्क द्वारा जिनका हृदय कठोर हो चुका था, ऐसे श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को जिन्होंने परम-भक्ति-सम्पन्न कर दिया, उन सर्वेश्वर श्रीगौरचन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

चै० च० चु० *टीका*—यहाँ श्रीसार्वभौमजी के लिये कहा गया है कि उनका हृदय कुतर्क द्वारा कठोर हो चुका था। कारण यह है कि श्रीसार्वभौमजी अद्वैतवादी थे एवं श्रीपाद शङ्कराचार्य-मत के अनुयायी थे। वे वेदान्त-सूत्रों की व्याख्या में विविशेष-ब्रह्मबाद को स्थापन किया करते थे, अर्थात् वे ब्रह्म को निर्विशेष, निगु ण मानते थे, इत्यादि। भक्तिवाद अर्थात् ब्रह्म सविशेष, सगुण है, इत्यादि—इस सिद्धान्त का वे खण्डन किया करते थे। भक्तिवाद को निरसन करने वाली तर्क को ही यहाँ कुतर्क कहा गया है। इस प्रकार की कुतर्क द्वारा उनका हृदय कठोर, रूखा हो चुका था अर्थात् अति कोमल-स्वभावा श्रीभक्ति-महारानी के अभिव्यक्त या आविर्भाव होने लायक उनका हृदय न था, किन्तु स्वयं भगवान् श्रीगौरचन्द्र की कृपा से उनका हृदय द्रवीभूत हो गया एवं वह भक्तिसम्पत्ति से पूर्ण होकर सरस हो गया।

इस छठे परिच्छेद में श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने जिस प्रकार महाप्रेमाब्धि श्रीमहाप्रभुजी की सेवा लाभ की है, एवं श्रीमहाप्रभु से उन्होंने जिस प्रकार वेदान्त-पाठ पढ़ा है, तथा जिस प्रकार उन दोनों का वेदान्त-सूत्रों के अर्थ-सम्बन्ध में विचार विमर्श हुआ, और फिर विचार-विमर्श के बाद जिस प्रकार श्री-सार्वभौमजी के चित्त का परिवर्त्तन हुआ है और वे जिस प्रकार भक्तिमार्ग के अनुयायी हुए हैं—ये समस्त लीलाएँ वर्णन की गई हैं।

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
आवेशे चलिला प्रभु जगन्नाथ मन्दिरे। जगन्नाथ देखि प्रेमे हइला अस्थिरे ॥२॥
जगन्नाथ आलिङ्गिते चलिला धाइया। मन्दिरे पड़िला प्रेमे आविष्ट हइया ॥३॥
दैवे सार्व्वभौम ताहा करेन दर्शन। पड़िछा मारिते तेंहो कैल निवारण ॥४॥

श्रीगौरचन्द्रदेव तथा श्रीनित्यानन्दप्रभु की जय हो, जय हो, श्रीअद्वैतचन्द्र तथा गौरभक्तवृन्द की जय हो, जय हो। आठारनाला से श्रीमहाप्रभु अकेले ही श्रीजगन्नाथ-मन्दिर की ओर चल दिये। श्री-

जगन्नाथजी के दर्शन करते ही वे प्रेमाविष्ट हो उठे। प्रेमावेश में श्रीजगन्नाथजी को आलिङ्गन करने के लिये श्रीमहाप्रभु दौड़े, किन्तु वेसुध होकर वे मन्दिर में गिर पड़े। दैवयोग से श्रीसार्व्वभौम भी वहाँ श्री-जगन्नाथजी के दर्शन कर रहे थे। श्रीमहाप्रभु को कोई उन्मत्त व्यक्ति जानकर छरीदार उन्हें मारने को दौड़ा, किन्तु श्रीसार्व्वभौम ने उसे ऐसा करने से रोक लिया ॥१-४॥

प्रभुर सौन्दर्य आर प्रेमेर विकार। देखि सार्वभौमेर हैल विस्मय अपार ॥५॥
बहुक्षणे चैतन्य नहे भोगेर काल हैल। सार्व्वभौम मने तबे उपाय चिन्तिल ॥६॥
शिष्य पड़िछा द्वारे प्रभु निल वहाइया। घरे आनि पवित्रस्थाने राखिल शोयाइया ॥७॥
श्वास-प्रश्वास नाहि उदर स्पन्दन। देखिया चिन्तित हइल भट्टाचार्य्येर मन ॥८॥

श्रीमहाप्रभु के सौन्दर्य तथा प्रेम-विकार को देखकर श्रीसार्व्वभौम महान विस्मित हो उठे। श्रीमहाप्रभु को बहुत देर तक कुछ भी सुधि न रही। इतने में भोग का समय हो गया, तब श्रीसार्व्वभौम ने मन में एक उपाय विचार किया। उन्होंने अपने शिष्य-सेवकों द्वारा प्रभु को उठवाया एवं अपने घर लाकर उन्हें एक पवित्र स्थान पर सुला दिया। प्रभु का श्वास-प्रश्वास चलता नहीं दीखता था और न ही उनके उदर में स्पन्दता थी। प्राणहीनवत् प्रभु को देखकर श्रीभट्टाचार्य्य मन में बहुत चिन्तित हुए ॥५-८॥

सूक्ष्म तूला आनि नासा-अग्रेते धरिल। इषत् चलये तूला, देखि धैर्य्य हैल ॥९॥
वसि भट्टाचार्य्य मने करेन विचार—। एइ कृष्ण महाप्रेमेर सात्विक विकार ॥१०॥
सूद्दीप्त—सात्विक एइ नाम ये 'प्रलय'। नित्य सिद्ध-भक्ते से सूद्दीप्तभाव हय ॥११॥
अधिरूढ़भाव यार, तार ए विकार। मनुष्येर देहे देखि, बड़ चमत्कार ॥१२॥

उन्होंने थोड़ी सी रुई लाकर श्रीमहाप्रभु की नासिका के आगे रखी, उसको हिलता हुआ देखकर उनके मन में धैर्य्य हुआ कि श्वास सूक्ष्म-रूप से आ-जा रहे हैं। श्रीभट्टाचार्य बैठ गये एवं मन में विचार करने लगे कि ऐसी अवस्था तो श्रीकृष्ण के महाप्रेम-जनित सात्विक-विकार में हुआ करती है। प्रलय-नाम का यह जो सुद्दीप्त सात्विक-विकार है, यह तो केवल श्रीभगवान् के नित्य-परिकर में ही प्रकाशित होता है। जिसका अधिरूढ़-भाव होता है—उसमें ही यह प्रलय-नामक सुद्दीप्त विकार हुआ करता है। इस विकार को आज मैं इस मनुष्य (श्रीमहाप्रभु) में देख रहा हूँ, यह बड़ा आश्चर्य है ॥९-१२॥

चै० च० चु० *टीका*—एक ही समय अनेक सात्विक-भाव (पृष्ठ ५२ द्रष्टव्य) उदित होकर जब परम-उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं, तब उन्हें 'उद्दीप्त-विकार' कहा जाता है। समस्त उद्दीप्त-सात्विक-भाव जब महा-भाव में परमोत्कर्षता को प्राप्त करते हैं, तब उन्हें 'सुद्दीप्त-सात्विक-भाव' कहा जाता है।

श्रीकृष्ण-मिलन के सुख के कारण अथवा श्रीकृष्ण-विरह के दुख के कारण चेष्टा या ज्ञान-रहित हो जाने का नाम 'प्रलय-भाव' है। यह सुद्दीप्त प्रलय-भाव महाभाव-स्वरूपा श्रीराधाजी में ही प्रकट होता है, क्योंकि केवल उन्हीं का ही कृष्ण-प्रेम महाभाव (रूढ़ एवं अधिरूढ़) कक्षा तक उन्नत होता है। इस प्रकार श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीमहाप्रभु के शरीर में इस प्रलय-नामक सुद्दीप्त-विकार को जब देखा तो उन्हें अत्यन्त चमत्कार हुआ एवं वे चिन्तालीन हो गये। वे सोचने लगे कि यह कैसा संन्यासी है ?

एत चिन्ति भट्टाचार्य्य आछेन वसिया। नित्यानन्दादि सिंह द्वारे मिलिल आसिया ॥१३॥
ताहां शुने लोक कहे अन्योन्ये बात—। एक संन्यासी आसि देखि जगन्नाथ ॥१४॥
मूर्छित हइला—चेतन ना हय शरीरे। सार्व्वभौम तैछे तांरे लञा गेला घरे ॥१५॥

इसी विचार में श्रीसार्व्वभौम भट्टाचार्य लीन हो रहे थे कि इतने में श्रीनित्यानन्द आदि सब भक्त श्रीजगन्नाथ-मन्दिर के सिंहद्वार पर आ पहुँचे। वहाँ आकर उन्होंने लोगों को परस्पर यह बात करते हुए सुना कि एक संन्यासी श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करने आया था एवं वह वहां मूर्च्छित हो गया। उसे अपने शरीर का कुछ भी ज्ञान नहीं रहा। उसी अवस्था में ही उसे श्रीसार्व्वभौम अपने घर ले गये हैं ॥१३-१५॥

शुनि सभे जानिला-एइ महाप्रभुर कार्य्य। हेन काले आइल तथा गोपीनाथाचार्य्य ॥१६॥
नदीया निवासी—विशारदेर जामाता। महाप्रभुर भक्त तेंहों प्रभु—तत्त्व-ज्ञाता ॥१७॥
मुकुन्द सहित पूर्व्वे आछे परिचय। मुकुन्दे देखिया तांर हइल विस्मय ॥१८॥
मुकुन्द तांहारे देखि कैल नमस्कार। तेंहो आलिङ्गिया पुछे प्रभुर समाचार ॥१९॥

यह बात सुनकर सबने जान लिया कि यह श्रीमहाप्रभु का ही काम है (वही मूर्च्छित हो गये होंगे)। इतने में वहाँ श्रीगोपीनाथ आचार्य आ पहुँचे, जो नवद्वीप के रहने वाले थे एवं श्रीसार्व्वभौम के पिता जिनकी उपाधि 'विशारद' थी, उनके जामाता थे अर्थात् श्रीसार्व्वभौम के बहनोई थे। वे श्रीमहाप्रभु के भक्त थे एवं वे श्रीगौर-तत्त्व को अर्थात् वे स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण हैं—यह जानते थे। श्रीमुकुन्ददत्त के साथ उनका पहले परिचय था। श्रीगोपीनाथ श्रीमुकुन्द को देखकर विस्मित हो गये (कि तुम यहां कब आये ?) श्रीमुकुन्द ने उन्हें देखकर नमस्कार किया और उन्होंने आलिङ्गन करते हुए श्रीमुकुन्द से श्री-महाप्रभु का समाचार पूछा ॥१६-१९॥

मुकुन्द कहे—प्रभुर इहां हैल आगमने। आमि सब आसियाछि महाप्रभुर सने ॥२०॥
नित्यानन्दगोसाञिरे आचार्य्य कैल नमस्कार। सभे मिलि पुछे प्रभुर वार्त्ता आरवार ॥२१॥
मुकुन्द कहे महाप्रभु संन्यास करिया। नीलाचल आइला सङ्गे आमासभा लैया ॥२२॥
आमासभा छाड़ि आगे गेला दरशने। आमी सब पाछे आइलाङ तांर अन्वेषणे ॥२३॥

श्रीमुकुन्द ने कहा—"श्रीमहाप्रभु यहाँ नीलाचल में आये हैं, और हम सब भी उनके साथ यहाँ आये हैं।" श्रीगोपीनाथ आचार्य ने श्रीनित्यानन्दप्रभु को नमस्कार किया एवं सब को मिलकर फिर उन्होंने श्रीमहाप्रभु के लिये जिज्ञासा की। श्रीमुकुन्द ने कहा—"श्रीमहाप्रभु संन्यास धारण कर नीलाचल में आये हैं और हमें भी साथ लाये हैं। हम सब को छोड़ कर वे आगे श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करने गये थे। हम भी उन्हें ढूँढ़ते हुए उनके पीछे-पीछे आ रहे हैं" ॥२०-२३॥

अन्योन्य लोकेर मुखे ये कथा शुनिल। सार्व्वभौम घरे प्रभु—अनुमान कैल ॥२४॥
ईश्वर—दर्शने प्रभु प्रेमे अचेतन। सार्व्वभौम लञा गेला आपन भवन ॥२५॥
तोमार मिलने आमार यबे हैलमन। दैवे सेइक्षणे पाइल तोमार दर्शन ॥२६॥
चल सभे याइ सार्व्वभौमेर भवन। प्रभु देखि पाछे करिव ईश्वर दर्शन ॥२७॥

श्रीमुकुन्द ने फिर कहा—"अन्यान्य लोगों के मुख से जो समाचार सुना है, उससे हमने अनुमान किया है कि महाप्रभु श्रीसार्व्वभौम के घर पर वे चले गये हैं। श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करते ही वे प्रेम से अचेतन हो गये और श्रीसार्व्वभौम उन्हें उसी अवस्था में अपने घर ले गये हैं। आपके मिलने के लिये हमारा मन बहुत इच्छुक था, सो दैवयोग से आपके दर्शन प्राप्त हुए हैं अब हम सब श्रीसार्व्वभौम के घर चलते हैं। श्रीमहाप्रभु-दर्शन करके पीछे श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करने चलेंगे ॥२४-२७॥

एत शुनि गोपीनाथ सभारे लइया । सार्व्वभौम-गृहे गेला हरषित हैया ॥२८॥
सार्व्वभौम-स्थाने याइया प्रभुरे देखिला । प्रभु देखि आचार्य्येर दुःखहर्ष हैला ॥२९॥
सार्व्वभौमे जानाइया सभा निल अभ्यन्तरे । नित्यानन्दगोसाञिरे तेंहो कैल नमस्कारे ॥३०॥
सभासहित यथायोग्य करिल मिलन । प्रभु देखि सभार हइल दुख, हर्ष मन ॥३१॥

यह सुनकर श्रीगोपीनाथ सबको प्रसन्न-चित्त होकर श्रीसार्व्वभौम के घर ले गये श्रीसार्व्वभौम के घर जाकर श्रीगोपीनाथने जब प्रभुके दर्शन किये तो उन्हें बहुत हर्ष हुआ, किन्तु उनकी मूर्च्छित अवस्था देखकर उन्हें दुख भी हुआ । श्रीगोपीनाथने श्रीसार्व्वभौम को सबका परिचय कराया एवं सबको अन्दर ले गये,जहाँ श्रीमहाप्रभु विराजमान थे । श्रीसार्व्वभौम ने श्रीनित्यानन्द प्रभु को (संन्यासी जानकर) प्रणाम किया । वे सबके साथ यथायोग्य मिले । वहाँ प्रभु के दर्शन कर सब को मनमें दुख एवं हर्ष हुआ ॥२८-३१॥

सार्व्वभौम पाठाइल सभा दर्शन करिते । चन्दनेश्वर निज पुत्र दिल सभार साथे ॥३२॥
जगन्नाथ देखि सभार हइल आनन्द । भावेते आविष्ट हैला प्रभु नित्यानन्द ॥३३॥
सभे मिलि तबे तांरे सुस्थिर करिल । ईश्वर-सेवक माला-प्रसाद आनि दिल ॥३४॥
प्रसाद पाइया सभे आनन्दित मने । पुनरपि आइलो सभे महाप्रभु-स्थाने ॥३५॥

श्रीसार्व्वभौम ने उन सब को श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करने के लिये भेज दिया और अपने पुत्र चन्दनेश्वरको भी उनके साथ भेजा । श्रीजगन्नाथजी के दर्शन कर सब आनन्दित हुए एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु भावाविष्ट हो गये । सबने मिलकर प्रभु को सचेत किया । श्रीजगन्नाथजी के पुजारी ने महाप्रसाद एवं मालाप्रसाद लाकर उन्हें दिया । प्रसाद लेकर सब आनन्दित हुए और सब श्रीमहाप्रभु के पास लौट आये ।

उच्च करि करे सभे नामसङ्कीर्तन । तृतीय प्रहरे प्रभुर हइल चेतन ॥३६॥
हुङ्कार करिया उठे 'हरि हरि' वलि । आनन्दे सार्व्वभौम लैल तांर पद धूलि ॥३७॥
सार्व्वभौम कहे—शीघ्र करह मध्याह्न । मुइ भिक्षा दिमु आजि महाप्रसादान्न ॥३८॥
समुद्र स्नान करि महाप्रभु शीघ्र आइला । चरण पाखालि प्रभु आसने वसिला ॥३९॥

वहां आकर प्रभु को सचेत करने के लिये वे सब उच्चस्वर से नाम-सङ्कीर्त्तन करने लगे । श्री-महाप्रभुजी तीसरे प्रहर में जाकर सचेत हुए । "हरि हरि" बोलते हुए हुङ्कार करके श्रीमहाप्रभु उठ बैठे । श्रीसार्व्वभौम ने प्रभु के चरणों की धूलि लेकर अपने मस्तक पर धारण की । श्रीसार्व्वभौम ने प्रभु से कहा—"आप अपना मध्याह्नकृत जल्दी कर लीजिये । मैं आज आपको श्रीजगन्नाथजी का महाप्रसाद ले आकर भोजन कराऊंगा ।" श्रीमहाप्रभु समुद्र स्नान कर जल्दी लौट आए एवं हाथ पाँव धोकर आसन पर बिराज गये ॥३६-३९॥

बहुत प्रसाद सार्व्वभौम आनाइला । तबे महाप्रभु सुखे भोजन करिला ॥४०॥
सुवर्ण थालीर अन्न उत्तम व्यञ्जन । भक्तगण-सङ्गे प्रभु करेन भोजन ॥४१॥
सार्व्वभौम परिवेशन करेन आपने । प्रभु कहे-मोरे देह लाफरा-व्यञ्जने ॥४२॥
पिठापाना देह तुमि इंहा सभाकारे । तबे भट्टाचार्य्य कहे युड़ि दुइ करे—॥४३॥

बहुत सा प्रसाद श्रीसार्व्वभौमजी ने मंगाया, तब श्रीमहाप्रभु सुखपूर्वक भोजन करने लगे। सुवर्ण के थाल में जो उत्तम पदार्थ श्रीजगन्नाथजी के भोग में आये थे, उन सब प्रसादी पदार्थों को प्रभु ने एवं भक्तों ने भोजन किया। श्रीसार्व्वभौम अपने हाथों से ही परिवेशन कर रहे थे। श्रीप्रभु ने कहा—"मुझे तो लाफरा-व्यञ्जन ही दे दीजिये" (पाञ्च-सात तरकारियों को मिलाकर जो तैयार किया जाता है।) और इन सब को पिठापाना दीजिये। (घी में भुनी हुई पीठी की मिठाई के समान एक व्यञ्जन का नाम 'पिठापाना' है) ।यह सुनकर हाथ जोड़कर श्रीभट्टाचार्य ने कहा—।.४०-४३॥

जगन्नाथ कैछे करियाछेन भोजन। आजि सब महाप्रसाद कर आस्वादन ॥४४॥
एत बलि पिठा-पाना सब खाओयाइला। भिक्षा कराइया आचमन कराइला ॥४५॥
आज्ञा मागि गेला गोपीनाथाचार्य्य लञा। प्रभुर निकट आइला भोजन करिञा ॥४६॥
'नमो नारायण' वलि नमस्कार कैल। 'कृष्णे मतिरस्तु' बलि गोसाञि कहिल ॥४७॥

"श्रीजगन्नाथजी ने आज कैसा भोजन किया है—उस सब महाप्रसाद का ही आस्वादन कीजिये"। इतना कह कर उन्होंने सब को पिठा-पाना खिलाया एवं भोजन कराने के पश्चात् आचमन कराया। फिर श्रीभट्टाचार्य्य महाप्रभु से आज्ञा मांग कर भोजन करने के लिये गये एवं श्रीगोपीनाथाचार्य्य को भी साथ ले गये। भोजन करके वे श्रीमहाप्रभु के पास शीघ्र लौट आये। श्रीभट्टाचार्य्य ने 'नमो नारायण' कहकर श्रीमहाप्रभु को प्रणाम किया तथा 'श्रीकृष्ण में भक्ति हो'—ऐसा कह कर प्रभुने उन्हें आशीर्वाद दिया ॥४७

शुनि सार्व्वभौम मने विचार करिल। वैष्णव संन्यासी इंहो वचने जानिल ॥४८॥
गोपीनाथ आचार्य्येरे कहे सार्व्वभौम। गोसाञिर जानिते चाहि काहां पूर्व्वाश्रम? ॥४९॥
गोपीनाथ आचार्य्य कहे—नवद्वीपे घर। जगन्नाथ नाम—पदवी मिश्र पुरन्दर ॥५०॥
विश्वम्भर नाम इंहार—तार इंहो पुत्र। नीलाम्बर चक्रवर्त्तीर हयेन दौहित्र ॥५१॥

ऐसा आशीर्वाद सुनकर श्रीसार्व्वभौम ने मनमें विचार किया कि इनके बचनों से ज्ञात होता है कि ये वैष्णव-संन्यासी हैं। श्रीसार्व्वभौम ने श्रीगोपीनाथाचार्य्य से कहा— "मैं प्रभु के पूर्व्वाश्रम को जानना चाहता हूँ। श्रीगोपीनाथ ने कहा—"नवद्वीप में इनका घर था, श्रीजगन्नाथ जो,' मिश्र पुरन्दर" नाम से विख्यात थे—ये उनके सुपुत्र हैं एवं इनका नाम 'विश्वम्भर' था। श्रीनीलाम्बर चक्रवर्ती के ये दोहित्र हैं" ॥४८-५१॥

सार्व्वभौम कहे—नीलाम्बर चक्रवर्त्ती। विशारदेर समाध्यायी—एइ ताँर ख्याति ॥५२॥
मिश्र पुरन्दर तांर मान्य हेन जानि। पितार सम्बन्धे दोंहा पूज्य हेन मानि ॥५३॥
नदीया-सम्बन्धे सार्व्वभौम तुष्ट हैला। प्रीत हञा गोसाञिरे कहिते लागिला ॥५४॥
सहजेइ पूज्य तुमि—आरे त संन्यास। अतएव जानह तुमि—आमि निजदास ॥५५॥

श्रीसार्व्वभौम ने कहा—"श्रीनीलाम्बर चक्रवर्त्ती तो मेरे पिता श्रीमहेश्वर विशारद के सहपाठी थे, यह बात प्रसिद्ध है और वे मिश्र पुरन्दर का भी बड़ा सम्मान किया करते थे। पिताजी के सम्बन्ध से श्रीनीलाम्बर चक्रवर्ती एवं श्रीजगन्नाथ मिश्र पुरन्दर, इन दोनों को मैं अपना पूज्य मानता हूँ"। नदिया का सम्बन्ध सुनकर श्रीसार्व्वभौम प्रसन्न हुए एवं प्रीति पूर्वक श्रीमहाप्रभु के प्रति कहने लगे—

"आप तो हमारे सहज ही पूज्य हैं, इस पर भी फिर आप संन्यासी हैं—इसलिये आप तो मुझे अपना दास ही जानिये" ।।५२-५५।।

शुनि श्रीमहाप्रभु कैल श्रीविष्णुस्मरण । भट्टाचार्य्ये कहे किछु विनय-वचन ।।५६।।
तुमि जगद्गुरु सर्व्वलोक हितकर्त्ता । वेदान्त पढ़ाओ-संन्यासीर उपकर्त्ता ।।५७।।
आमि बालक संन्यासी भाल मन्द नाहि जानि । तोमार आश्रय निल 'गुरु'करि मानि।।५८।।
तोमार सङ्ग-लागि मोर एथा आगमन । सर्व प्रकारे आमार करिवे पालन ।।५९।।

श्रीभट्टाचार्य्य के वचन सुनकर श्रीमहाप्रभु ने "विष्णु विष्णु" स्मरण किया और उनके प्रति कुछ विनय-वचन कहने लगे—"आप तो जगत् के गुरु हैं एवं सबके हितकारी हैं, संन्यासियों के लिये उपकार करने वाले हैं, आप मुझे वेदान्त पढ़ाईये" । "मैं बालक संन्यासी हूँ, बुरा भला कुछ नहीं जानता । मैं आपको गुरु मानता हूँ एवं आपका आश्रय लिया है । आपका सङ्ग प्राप्त करने के लिये मैं यहां आया हूँ । अब सब प्रकार से आपको ही मेरा पालन करना होगा" ।। ५६-५९।।

आजि ये हइल आमार बड़इ विपत्ति । ताहा-हैइते कैले तुमि आमार अव्याहति।।६०।।
भट्टाचार्य्य कहे एकले ना याइह दर्शने । आमा सङ्गे याइह किवा आमार लोकसने।।६१।।
प्रभु कहे—मन्दिर भितरे ना याइव । गरुड़ेर पाछे रहि दर्शन करिव ।।६२।।
गोपीनाथ आचार्य्येरे कहे सार्व्वभौम । तुमि गोसाञिरे लञा कराइह दर्शने ।।६३।।

श्रीमहाप्रभु ने फिर कहा—"आज यह जो मुझे मूर्च्छादि बहुत विपत्ति ने घेर लिया था, उससे आपने मेरी रक्षा कर ली है" । श्रीभट्टाचार्य्य ने कहा—"आप दर्शन करने के लिये अकेले मत जाया करिये । मेरे साथ किंवा मेरे किसी सेवक के साथ जाया करें ।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"मैं अब मन्दिर के अन्दर ही नहीं जाऊंगा । गरुड़-स्तम्भ के पीछे रहकर ही दर्शन कर लिया करूंगा ।" श्रीसार्व्वभौम ने श्री-गोपीनाथाचार्य्य से कहा—"आप ही प्रभु को दर्शन कराने ले जाया करें ।।६०-६३।।

आमार मातृस्वसा—गृह निर्ज्जन स्थान । ताहां वासा देह—कर सर्व्व समाधान ।।६४।।
गोपीनाथ प्रभु लञा ताहां वासा दिल । जल—जलपात्रादिक समाधान कैल ।।६५।।
आर दिन गोपीनाथ प्रभुस्थाने गिया । शय्योत्थान दरशन कराइला लञा ।।६६।।
मुकुन्ददत्त लञा आइल सार्व्वभौमस्थाने । सार्व्वभौम किछु तांरे बलिल वचने—।।६७।।

श्रीभट्टाचार्यजी ने और कहा—"मेरी मासी का घर एक एकान्त स्थान है, इन्हें वहाँ ठहरा दीजिये एवं सब प्रकार का प्रबन्ध इन्हें कर दीजिये ।" श्रीगोपीनाथ ने प्रभु को वहाँ ले जाकर ठहरा दिया एवं जल तथा जल-पात्रादि का उचित प्रबन्ध कर दिया । दूसरे दिन श्रीगोपीनाथ प्रभु के स्थान पर गये एवं उन्हें श्रीजगन्नाथजी के मंगला-दर्शन करा लाये । तत्पश्चात् श्रीगोपीनाथ श्रीमुकुन्ददत्त को साथ लेकर श्रीसार्व्वं-भौम के घर पर पहुँचे । तब श्रीसार्व्वभौम ने उन्हें कहा—।।६४-६७।।

प्रकृति-विनीत संन्यासी देखिते सुन्दर । आमार बहु प्रीति बाढ़े इंहार उपर ।।६८।।
कोन् सम्प्रदाये संन्यास करियाछेन ग्रहण । किवा नाम इंहार ? शुनिते हय मन ।।६९।।

गोपीनाथ कहे—नाम श्रीकृष्णचैतन्य। गुरु इंहार केशवभारती महाधन्य ॥७०॥
सार्व्वभौम कहे एइ नाम सर्व्वोत्तम। भारती सम्प्रदाय इंहो हयेन मध्यम ॥७१॥

"यह संन्यासी नम्र-स्वभावयुक्त एवं देखने में बहुत सुन्दर है। मुझे यह बहुत प्रिय लगता है। किस सम्प्रदाय में इसने संन्यास ग्रहण किया है ? इसका क्या नाम है ? मैं सुनना चाहता हूँ" श्रीगोपीनाथ ने कहा--"इनका नाम-श्रीकृष्णचैतन्य है। महाभाग्यवान् श्रीकेशव भारती इनके गुरु हैं।" श्री-सार्व्वभौम ने कहा कि इनका नाम तो सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु भारती सम्प्रदाय जो है, वह तो मध्यम है" ॥७१

[संन्यासियों की दश सम्प्रदाएं हैं—तीर्थ, आश्रम, बन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, पुरी, भारती और सरस्वती, श्रीमहाप्रभु इन में कौन सम्प्रदायगत हैं—यह वे जानना चाहते थे।]

गोपीनाथ कहे—इंहार नाहि वाह्यापेक्षा। अतएव बड़ सम्प्रदाय करिल उपेक्षा ॥७२॥
भट्टाचार्य्य कहे—इंहार प्रौढ़ यौवन। केमते संन्यास—धर्म हइवे रक्षण ? ॥७३॥
निरन्तर इंहारे आमि वेदान्त शुनाइव। वैराग्य अद्वैतमार्गे प्रवेश कराइव ॥७४॥
कहने यदि पुनरपि योगपट्ट दिया। संस्कार करिये उत्तम सम्प्रदाय आनिया॥७५॥

श्रीगोपीनाथ ने कहा—"इन्हें मान-सन्मानादि बाह्य-विषयों का अनुसन्धान नहीं है। अतः इन्होंने उत्तम सम्प्रदाय की उपेक्षा की है, (क्योंकि उत्तम सम्प्रदाय का कुछ मान हो जाता है)। श्रीभट्टाचार्य ने कहा--'उनका नवीन यौवन है (जिसमें मन के सदा चञ्चल होने की सम्भावना रहती है।) इनके संन्यास-धर्म की रक्षा कैसे होगी" ? "अच्छा, मैं इन्हें निरन्तर वेदान्त पाठ सुनाऊंगा एवं वैराग्य तथा अद्वैत-मार्ग (जीव-ब्रह्म-ऐक्यज्ञान) में इनका प्रवेश करा दूंगा। यदि इनकी इच्छा होगी तो इन्हें पुनः योगपट्ट (साम्प्रदायिक चिन्ह-वस्त्रादि, उपाधि आदि) देकर उत्तम संन्यासी-सम्प्रदाय में प्रवर्त्तित करा दूंगा" ॥ ७२-७५॥

शुनि गोपीनाथ मुकुन्द दोंहे दुखी हैला। गोपीनाथ आचार्य्य किछु कहिते लागिला ॥७६॥
भट्टाचार्य्य तुमि इंहार ना जान महिमा। भगवत्ता लक्षणेर इंहातेइ सीमा ॥७७॥
ताहाते विख्यात इंहो परम ईश्वर। अज्ञ-स्थाने किछु नहे, विज्ञेर गोचर ॥७८॥

श्रीसार्व्वभौम के बचन सुनकर श्रीगोपीनाथ एवं श्रीमुकुन्ददत्त—दोनों को दुख हुआ (क्योंकि वे तो श्रीमहाप्रभु के भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार कर चुके थे, श्रीसार्वभौम की श्रीमहाप्रभु के विषय में साधारण बुद्धि जानकर उनको दुख होना ही था) श्रीगोपीनाथ चुप न रह सके और बोले-"भट्टाचार्य ! तुम इनकी महिमा नहीं जानते, इन में तो भगवत्ता के लक्षणों की परम-सीमा है अर्थात् इन में समस्त भगवत्-लक्षणों का पूर्णतम विकाश है। अतः वे परम-ईश्वर या स्वयं-भगवान् हैं। किन्तु जो भगवत्-तत्व को नहीं जानते, उन मूर्खों के लिये श्रीकृष्णचैतन्य कुछ नहीं हैं, (एक साधारण संन्यासी हैं।) परन्तु जो भगवत् का अनुभव कर चुके हैं, वे विज्ञ पुरुष ही इन की महिमा को जानते हैं ॥७६-७८॥

चै० च० चु० *टीका*—भगवत्-स्वरूप में अनन्त गुण या लक्षण होते हुए भी प्रधानतः उसमें **(१) पूर्ण-ज्ञान (२) पूर्ण-वैराग्य (३) पूर्ण-श्री (४) पूर्ण-यश (५) पूर्ण-शक्ति एवं (६) पूर्ण-माधुर्य**—ये छः भग् विद्यमान रहते हैं। किन्तु पूर्ण भगवान् या स्वयं भगवान् में तीन लक्षण विशेष हुआ करते हैं—वे इस प्रकार हैं—स्वयं-भगवान् के विग्रह में **(१) अन्य समस्त भगवत्-स्वरूपों की अवस्थिति होती है।** (चै० च०

१-४-९ से ११ पयार द्रष्टव्य) (२) **प्रेमदातृत्व** (चै० च० १-३-२० पयार द्रष्टव्य) एवं (३) **माधुर्य का पूर्णतम-विकाश**। श्रीमन्महाप्रभु में ये तीनों लक्षण ही विद्यमान् थे । नवद्वीपलीला में महाप्रभु ने अपने विग्रह में श्रीश्रीराधा-कृष्ण, श्रीश्रीसीताराम-लक्ष्मण, श्रीबलदेव, श्रीमहेश, श्रीवराह, श्रीलक्ष्मी, श्रीरुक्मिणी, श्रीभगवती, आदि भगवत्-स्वरूपों की अवस्थिति का दर्शन नवद्वीपवासियों को कराया था । संन्यास ग्रहण करने से पहले जगाई-माधाई आदि अनेक भगवद्बहिर्मुख व्यक्तियों को प्रेमदान किया एवं संन्यास के बाद भी असंख्य लोगों को, यहाँ तक कि झारिखण्ड के रास्ते में तो हिंसक—पशुओं, पक्षियों एवं वृक्ष-लताओं को भी प्रेमदान करके उन्होंने कृतार्थ कर दिया । और उनके माधुर्य-विकाश को देखकर गोदावरी के तीर पर जो श्रीराय रामानन्द की आनन्द आधिक्य में मूर्च्छित-दशा हुई, उसे पाठकगण आगामी अष्टम परिच्छेद में अनुभव करेंगे । श्रीमन्महाप्रभु में माधुर्य-विकाश इतना अधिक था कि रथयात्रा के समय भगवान् श्रीजगन्नाथजी उसे देखकर विस्मित हो उठे । (चै० च० २-१३-प्रथम श्लोक द्रष्टव्य) अतः श्रीगोपीनाथाचार्य ने कहा—"भट्टाचार्य ! तुम इन्हें साधारण सन्यासी मत जानो । ये भगवान् ही नहीं किन्तु ये परम-ईश्वर अर्थात् स्वयं भगवान् हैं । इनमें भगवत्ता के समस्त लक्षणों की चरम सीमा है ।

शिष्यगण कहे—ईश्वर कह कौन प्रमाणे ? आचार्य कहे—विज्ञमत ईश्वर-लक्षणे ॥७९॥
शिष्य कहे—ईश्वरतत्त्व साधि अनुमाने । आचार्य कहे–अनुमाने नहे ईश्वर–ज्ञाने ॥८०॥
अनुमान प्रमाणे नहे ईश्वर–तत्व ज्ञाने । कृपा बिना ईश्वर-तत्व केहो नाहि जाने ॥८१॥
ईश्वरेर कृपा लेश हय त याहारे । से-इ-त ईश्वर-तत्त्व जानिवारे पारे ॥८२॥

यह सुन कर श्रीभट्टाचार्य्यजी तो कुछ सोच में पड़ गये किन्तु उनके वहाँ जो शिष्य बैठे थे, वे बोल उठे—"ईश्वर होने का क्या प्रमाण होता है अर्थात् ईश्वर में क्या-क्या लक्षण होते हैं ? श्रीगोपीनाथ आचार्य बोले"—ईश्वर के लक्षणों के सम्बन्ध में तत्त्व को जानने वाले व्यक्तियों का अनुभव ही एक मात्र प्रमाण होता है ।" शिष्यों ने कहा—"अनुमान से ही ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है ।" आचार्य ने कहा—"अनुमान के द्वारा ईश्वर-तत्व का ज्ञान नहीं हो सकता । अनुनान प्रमाण ईश्वर–तत्व के ज्ञान में लागू नहीं है । ईश्वर-तत्त्व का ज्ञान तो केवल उनकी कृपा से ही होता है । उनकी कृपा के बिना किसी को भी ईश्वर-तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता । जिस पर श्रीभगवान् की लेशमात्र भी कृपा होती है, वही ईश्वर-तत्त्व को जान सकता है ॥७९–८२॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीभट्टाचार्य के शिष्यों ने जब यह प्रश्न किया कि ईश्वरतत्त्व किस प्रमाण से सिद्ध होता है तो श्रीगोपीनाथाचार्य ने कहा कि तत्त्वज्ञ-व्यक्ति भगवत्-कृपा से साधना करके स्वयं अनुभव करके जो कुछ बताते हैं, ईश्वर के लक्षणों के सम्बन्ध में वही ही प्रमाण होता है । क्योंकि उनका जो अनुभव होता है वह भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा एवं करणापाटव-आदि दोषों से रहित होता है । शिष्यों ने कहा—"अनुमान से ही ईश्वरत्त्व सिद्ध होता है, अर्थात् घड़े को देखकर जैसे यह अनुमान किया जाता है कि इसके बनाने वाला कोई एक जन (कुम्हार) अवश्य है । वैसे ही जगत् को देखकर पता लगता है कि इसका कोई कर्त्ता (ईश्वर) अवश्य है । इस प्रकार अनुमान से ईश्वरत्त्व की सिद्धि होती है" । यह बात सुनकर आचार्य ने कहा—"जगत् को देखकर जगत् का कर्त्ता (ईश्वर) कोई जन है, अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान तो अनुमान द्वारा हो सकता है, परन्तु अनुमान द्वारा ईश्वर-तत्व नहीं जाना जा सकता ।

वास्तव में देखा जाये तो अनुमान द्वारा ईश्वर का अस्तित्व भी अवधारित नहीं हो सकता । क्योंकि हम धुआँ को देख कर अग्नि का अनुमान करते हैं । कारण कि धुआँ को हमारी इन्द्रियाँ जानती

हैं, और अग्नि को भी हम इन्द्रियों द्वारा जानते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध भी हमारी इन्द्रियों का विषय है। अग्नि, धुआँ एवं इनका सम्बन्ध इन तीनों को हम पहले जानते हैं, इसलिये धुआँ देखते ही हम अग्नि का अनुमान लगा लेते हैं। धुआँ का अग्नि के साथ सम्बन्ध यदि हम न जानते, तो फिर धुआँ को देख कर हम अग्नि का अनुमान भी नहीं लगा सकते। जगत् को इन्द्रियों के द्वारा हम जानते हैं। हमारे प्रत्यक्ष गोचर है। किन्तु ईश्वर हमारे प्रत्यक्ष गोचर नहीं है, और न ही जगत् और ईश्वर का सम्बन्ध हमारे प्रत्यक्ष गोचर है। जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं दीखती—उसके साथ किसी और वस्तु का सम्बन्ध कैसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इसलिये ईश्वर के साथ जगत् का कुछ सम्बन्ध है कि नहीं—जब इसकी प्रत्यक्ष जानकारी नहीं हो सकती, तो फिर प्रत्यक्ष ज्ञान-मूलक अनुमान द्वारा ईश्वर का अस्तित्व या ईश्वर का तत्त्व कैसे जाना जा सकता है? इसलिये अनुमान द्वारा ईश्वर का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता। जगत् को देखने से जगत् के कर्त्ता का अनुमान होता है, परन्तु जगत् का कर्त्ता ईश्वर ही है—और कोई नहीं—यह अनुमान भी विचार पूर्वक नहीं है। ब्रह्मसूत्र के द्वितीय सूत्र-भाष्य में श्रीपाद शङ्कराचार्य जी ने भी यही कहा है। "इस जगत्-रूप कार्य का कारण ब्रह्म है"—यह केवल श्रुति प्रमाण द्वारा ही सिद्ध होता है—अनुमान से नहीं जाना जा सकता"।

श्रीगोपीनाथ आचार्य ने कहा कि श्रीभगवान् की कृपा द्वारा ही ईश्वर-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी बात के प्रमाण में उन्होंने श्रीमद्भागवत का एक श्लोक कहा—

(तथाहि श्रीमद्भागवते १०-१४-२९)

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-प्रसाद-लेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥२॥

ब्रह्माजी श्रीभगवान् के प्रति कह रहे हैं—"हे देव! हे भगवन्! तुम्हारे चरण-कमलों की यत्किञ्चित् कृपा को प्राप्त करके ही मनुष्य आपको महिमा के तत्त्व का किञ्चित् अनुभव कर सकता है, अन्यथा और कोई भी व्यक्ति निसंगभावयुक्त होकर (साधनादि करते हुए) चिरकाल पर्यन्त अनुसंधान तथा विचार करते हुए भी उसे नहीं जान सकता ॥२॥

यद्यपि जगद्गुरु तुमि शास्त्रज्ञानवान्। पृथिवीते नाहि पण्डित तोमार समान ॥८३॥
ईश्वरेर कृपालेश नाहिक तोमाते। अतएव ईश्वरतत्त्व ना पार जानिते ॥८४॥
तोमार नाहिक दोष, शास्त्रे एइ कहे-। पाण्डित्याद्ये ईश्वरतत्त्व कभु ज्ञात नहे ॥८५॥
सार्व्वभौम कहे-आचार्य्य! कह सावधाने। तोमाते तांहार कृपा-इथे कि प्रमाणे?॥८६॥
आचार्य्य कहे-वस्तुविषये हय "वस्तु"ज्ञान। वस्तुतत्त्व—ज्ञान हय कृपाते प्रमाण ॥८७॥

श्रीगोपीनाथ आचार्य्य ने श्रीसार्व्वभौम के प्रति कहा—"यद्यपि तुम जगद्गुरु हो एवं तुम्हें शास्त्र का सब ज्ञान है तथा इस संसार में तुम्हारे समान पण्डित और कोई नहीं है। किन्तु तुम पर भगवत्—कृपा नहीं है। इसलिये तुम ईश्वर-तत्त्व को नहीं जान सकते। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, शास्त्र यह कहता है कि केवल पाण्डित्य आदि से ईश्वर-तत्त्व नहीं जाना जा सकता"। श्रीसार्व्वभौम ने कहा—"आचार्य्य! (तुम क्या कहने लग गये हो?) सावधान होकर बोलो। (मुझ पर उनकी कृपा नहीं है-ठीक, परन्तु तुम पर। उनकी कृपा है-इसका क्या प्रमाण है?" आचार्य्य ने कहा—"किसी वस्तु में उस (वस्तु) के वास्तव स्वरूप को जान लेना ही वस्तु-तत्त्व का ज्ञान कहलाता है। और वस्तु के तत्त्व का ज्ञान होना ही कृपा का प्रमाण है ॥८३-८७॥

चै० च० चु० *टीका*—जब श्रीगोपीनाथाचार्य ने श्रीसार्वभौम को भगवत्-कृपा-हीन स्पष्ट रूप से कहा, तो इतने बड़े अद्वितीय विद्वान् श्रीसार्वभौम का उत्तेजित होना स्वाभाविक था। श्रीसार्वभौम ने कहा—"मुझ पर भगवत् कृपा नहीं है, किन्तु तुम पर उनकी कृपा है, इसका क्या प्रमाण है ?" आचार्य-पाद ने कहा—"वस्तु के वास्तव-स्वरूप को जान लेना ही वस्तु ज्ञान कहलाता है। अर्थात् श्रीभगवान् को भगवान् ही जान लेना वास्तव 'भगवत्-तत्व-ज्ञान' कहलाता है। और वह भगवत्-तत्व-ज्ञान केवल भगवत्-कृपा से ही प्राप्त होता है अन्यथा नहीं।

"वस्तु विषये वस्तु ज्ञान"—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान एक-मात्र वस्तुतन्त्र होता है। अर्थात् जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है—वही ही वस्तु-सम्बन्धीय ज्ञान का एकमात्र अवलम्बन होता है। इस प्रकार का ज्ञान वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ही आधीन रहता है। एक-मात्र वस्तु की ही अपेक्षा रखता है—किसी की बुद्धि आदि की अपेक्षा नहीं रखता। वस्तु ऐसी है, 'ऐसी नहीं है', 'है', नहीं है', इस प्रकार के विकल्प का विषय नहीं हो सकती। विकल्प करने में बुद्धि की अपेक्षा होती है। किन्तु किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान किसी की कल्पना की अपेक्षा नहीं रखता। वस्तु का जो यथार्थ-स्वरूप है, वह उसकी ही अपेक्षा रखता है। एक रस्सी के टुकड़े को देख कर—'यह रस्सी है कि सांप है या पृथ्वी की दरार है'—यदि किसी को इस प्रकार का सम्भ्रमात्मक ज्ञान होता है, तो इस प्रकार का ज्ञान रस्सी के वास्तव स्वरूप का ज्ञान नहीं कहलाता। बल्कि यह मिथ्या ज्ञान कहलाता है इसे बुद्धितन्त्र कहते हैं और यदि रस्सी के देखते ही कोई उसे रस्सी जान लेता है, तो वह ज्ञान रस्सी का वास्तव स्वरूप-ज्ञान या तत्वज्ञान होता है। इस प्रकार के ज्ञान को **वस्तु तन्त्र** कहा जाता है।

ईश्वर एक नित्य-सिद्ध वस्तु या तत्व है। उसका ज्ञान किसी की बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखता। ईश्वर को देखते ही उसे ईश्वर जान लेना यही ईश्वर का वास्तव स्वरूप-ज्ञान है। किन्तु यह बात शास्त्र प्रसिद्ध है कि श्रीभगवान् को साक्षात् देखते हुए भी उन्हें अनेक व्यक्ति (शिशुपाल आदि) नहीं पहचान सके। "सोई जानत जेहि देहु जनाई"—श्रीभगवान् को केवल वही जान सकता है, जिसे वे स्वयं कृपाकर अपना स्वरूप-ज्ञान करा देते हैं। श्रीगोपीनाथाचार्य ने कहा—"भट्टाचार्य ! मैंने श्रीकृष्णचैतन्य को देखते ही पहचान लिया है कि वे स्वयं भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन हैं—अतः मुझ पर उनकी कृपा है। और तुम उन्हें देख कर विकल्प में फ़ँस रहे हो—तुम्हें उनका स्वरूप-ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, अतः तुम पर उनकी कृपा नहीं है। तुम उनकी माया में आच्छन्न हो रहे हो।"

इंहार शरीरे सब ईश्वर-लक्षण। महाप्रेमावेश तुमि पाञाछ दर्शन ॥८८॥
तबु त ईश्वरज्ञान ना हय तोमार। ईश्वर मायाय करे एइ व्यवहार ॥८९॥
देखिले ना देखे तारे बहिर्मुखजन। शुनि हासि सार्व्वभौम कहिल वचन ॥९०॥
इष्टगोष्ठी विचार करि, ना करिह रोष। शास्त्रदृष्ट्ये कहि किछु ना लइह दोष ॥९१॥

श्रीआचार्य ने कहा—श्रीकृष्णचैतन्य के शरीर में ईश्वरतत्व प्रतिपादन करने वाले समस्त लक्षण हैं। और तुमने तो उनके दर्शन किये हैं, जब वे महाप्रेम (अधिरूढ़ महाभाव) के आवेश में थे। किन्तु फिर भी तुम्हें उनमें ईश्वर-ज्ञान नहीं हुआ। ईश्वर–माया से तुम्हारा ज्ञान आच्छादित हो गया है, तभी ऐसा हुआ है"। "जो मायामुग्ध बहिर्मुख व्यक्ति है वह साक्षात् ईश्वर को देखकर भी उसे नहीं पहचान सकता"। श्रीगोपीनाथ के ये वचन सुनकर श्रीसार्व्वभौम हँसकर कहने लगे—"तत्व-निर्णय करने के लिये कुछ विचार पूर्वक तर्क करता हूँ, आप क्रोध न करें। मैं शास्त्र दृष्टि के अनुसार ही कुछ कहूँगा—इसमें मेरा कुछ दोष न मानिये ॥८८-९१॥

महाभागवत हय चैतन्य गोसाञि । एइ कलिकाले विष्णु अवतार नाञि ॥६२॥
अतएव 'त्रियुग' करि कहि विष्णुनाम । कलियुगे अवतार नाहि शास्त्र-ज्ञान ॥६३॥
शुनिञा आचार्य्य कहे दुखी हैया मने । 'शास्त्रज्ञ' करिया तुमि कर अभिमाने ॥६४॥
भागवत भारत दुइ-शास्त्रेर प्रधान । सेइ दुइ ग्रन्थवाक्ये नाहि अवधान ? ॥६५॥

श्रीसार्व्वभौम ने कहा—"कलियुग में विष्णु का अवतार नहीं होता है-शास्त्र विचार करने से ऐसा जाना जाता है। (सत्य, त्रेता एवं द्वापर इन तीन युगों में विष्णु का अवतार होता है) इसलिये श्रीविष्णु का एक नाम "त्रियुग" कहा गया है। इसलिये श्रीकृष्णचैतन्य,अवतार नहीं हो सकते, हाँ, वे एक महाभागवत अवश्य हैं।" श्रीसार्व्वभौम के ये वचन सुनकर श्रीगोपीनाथ मन में दुखी होकर कहने लगे—"तुम तो अपने को शास्त्रज्ञ मानते हो। किन्तु श्रीमद्भागवत तथा श्रीमहाभारत आदि जो ग्रन्थ शास्त्र में प्रधान ग्रन्थ हैं, क्या उनके वाक्यों का आपको ज्ञान है ? ऐसा प्रतीत होता है—तुम्हें उनका ज्ञान नहीं है।

सेइ दुइ कहे—कलिते साक्षात् अवतार । तुमि कहे—कलिते नाहि विष्णुर प्रचार ?॥६६॥
कलियुगे लीलावतार ना करे भगवान् । अतएव 'त्रियुग' करि कहि तांर नाम ॥६७॥
प्रतियुगे करे कृष्ण युगावतार । तर्क निष्ठ हृदय तोमार-नाहिक विचार ॥६८॥

"हे सार्वभौम ! इन दोनों ग्रन्थों में उल्लेख है कि कलियुग में श्रीभगवान् स्वयं रूप से साक्षात् प्रकट होते हैं, तुम कहते हो कि कलियुग में श्रीविष्णु का अवतार नहीं होता और इसलिये उनका नाम 'त्रियुग' है। किन्तु तथ्य यह है क्योंकि श्रीभगवान् कलि में लीलावतार नहीं धारण करते-इसलिये ही उनका नाम 'त्रियुग' है, वरना श्रीकृष्ण प्रत्येक युग में युगावतार तो धारण करते ही हैं। सार्वभौम ! तुम्हारा हृदय इस समय तर्क परायण हो रहा है, इसलिये तुम अब विचार सहित नहीं बोल रहे हो" ॥६८

चै० च० चु० *टीका*—सत्य, त्रेता एवं द्वापर इन तीनों युगों में श्रीभगवान् जो प्रत्यक्ष रूप धारण करते हैं, उसे लीलावतार कहते हैं, कलियुग में उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है, इसलिये उनको 'त्रियुग' कहा जाता है।

पच्चीस लीलावतार माने गये हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१-चतुःसन (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार), २-नारद, ३-वराह, ४-मत्स्य, ५-यज्ञ, ६-नरनारायण, ७-कपिल, ८-दत्तात्रय, ९-हयग्रीव, १०-हँस, ११-पृश्निगर्भ, १२-ऋषभ, १३-पृथु, १४-नृसिंह, १५-कूर्म, १६-धन्वन्तरि, १७-मोहिनी, १८-वामन, १९-परशुराम, २०-राघवेन्द्र, २१-व्यास, २२-बलराम, २३-श्रीकृष्ण, २४-बुद्ध एवं २५-कल्की ! ये सब लीलावतार हैं। इस प्रकार का प्रत्यक्ष रूपधारी लीलावतार कलियुग में नहीं होता। कल्की अवतार भी कलियुग में नहीं होता। किन्तु कलियुग के अन्त में (कलि के बीत जाने पर) होता है। अर्थात् भगवान् कल्की सत्ययुग के आदि में ही वर्तमान रहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

कलेरन्ते च संप्राप्ते कल्किनं ब्रह्मवादिनम् ।
अनुप्रविष्य कुरुते वासुदेवो जगत् स्थितिम् ॥ श्रो ॥

(सर्वसम्वादिनी चतुर्युगावस्था अध्याय १०४)

"कलियुग का अन्त होने पर श्रीवासुदेव ब्रह्मवादि कल्की रूप में अवतीर्ण होकर जगत् की रक्षा करते हैं। किसी युग में उस युग के धर्म संस्थापन आदि के लिये जो भगवत्स्वरूप जगत् में अवतीर्ण होता

है, उसे **युगावतार** कहते हैं। प्रतियुग में श्रीभगवान् युगावतार रूपसे अवतीर्ण होते हैं, यह बात श्रीगीताजी में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीअर्जुन के प्रति भी कही है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ऐ॥

(श्रीगीता ४, ८)

"हे अर्जुन ! साधुपुरुषों की रक्षा के लिये तथा पापी-अत्याचारी दुष्टों को नाश करने के लिये और युगधर्म को संस्थापन करने के लिये मैं प्रतियुग में अवतीर्ण होता हूँ।" इस प्रकार के अनेक प्रमाण शास्त्रों में मिलते हैं, जिनसे प्रमाणित होता है कि कलियुगमें श्रीभगवान् का युगावतार या दूसरे प्रकार का अवतार होता है—प्रत्यक्षरूप से न होकर प्रच्छन्न रूप से ("छन्नः कलौ"—इत्यादि श्रीभागवत् ७-९-३८) होता है। श्रीकृष्णचैतन्य किन्तु युगावतार नहीं हैं—वे तो स्वयं-भगवान् ही हैं। श्रीगोपीनाथाचार्य ने कहा—"सार्वभौम ! तुम्हारा हृदय कुतर्क में फंसा हुआ है। अतः तुम विचार पूर्वक नहीं बोल रहे हो।" श्रीकृष्ण ब्रजेन्द्रनन्दन ही श्रीकृष्णचैतन्यरूप से कलियुग में अवतीर्ण हुए हैं। इसके प्रमाण में श्रीगोपीनाथजी ने निम्नलिखित श्लोक पढ़ा :—

तथाहि श्रीभागवते (१०-८-१३)

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥३॥

श्रीकृष्ण के नामकरण के समय श्रीगर्गाचार्य ने श्रीनन्दबाबा के प्रति कहा—"हे ब्रजराज ! प्रति युग में (सत्य, त्रेता, द्वापर, एवं कलियुग—इन चारों में) तुम्हारा पुत्र शरीर धारण करता है अर्थात् अवतार लेता है। इसके शुक्ल (सफेद), रक्त (लाल) तथा पीत (पीला या गौर)—ये तीनों वर्ण (रंग) हो चुके हैं अर्थात् इन तीनों रंगों का शरीर धारण कर चुका है। अब (इस द्वापर युग में) यह कृष्णता को प्राप्त हुआ है अर्थात् इसका कृष्ण रंग हुआ है—(अतः इस का नाम "कृष्ण" होगा) ॥३॥

[विशेष आलोचना आदिलीला के तृतीय परिच्छेद पृष्ठ नं० ६० पर तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के भूमिका स्वरूप "श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न-संग्रह" ग्रन्थ के पृष्ठ नं० २३२ पर द्रष्टव्य है।]

श्रीकृष्णचैतन्य ही कलियुग के उपास्य अवतार हैं, इसका प्रमाण देते हुए श्रीगोपीनाथाचार्य ने श्रीमद्भागवत का और एक श्लोक कहा—

तत्रैव (११-५-३२)—

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तन प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥४॥

(श्रीकरभजन योगेन्द्र ने राजा श्रीनिमि के प्रति कहा-"कलियुग में जिस रूप से भगवान् अवतीर्ण होते हैं एवं जिस विधान से श्रीभगवान् की पूजा होती है, उसे सुनिये-) बुद्धिमान् लोग (नाम)सङ्कीर्त्तन-प्रधान पूजा के द्वारा गौर कान्तियुक्त, सदा कृष्ण-नाम का वर्णन करने वाले तथा जिनके अङ्ग-उपाङ्ग ही अस्त्र एवं पार्षद हैं—ऐसे उन श्रीभगवान् (श्रीकृष्णचैतन्य) की अर्चना करते हैं ॥४॥

[विषद् व्याख्या आदि लीला तृतीय परिच्छेद पृष्ठ नं० ६३ पर द्रष्टव्य है। इसके उपरान्त श्री-आचार्य ने महाभारत पुराण का श्रीगौराँग-अवतार-सूचक श्लोक सुनाया]

तथाहि महाभारते च दानधर्मे विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रे (८०-६३)

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी ।
संन्यासकृत् समः शान्तो निष्ठाशान्तिपरायणः ॥५॥

''कृष्ण''—ये दो सुन्दर वर्ण युक्त नाम वर्णन करने वाले, सुवर्ण (सोने) की भाँति उज्ज्वल पीत कान्ति युक्त, श्रेष्ठ अङ्गों वाले, चन्दन के अङ्गद धारण करने वाले, संन्यास धारण करने वाले, भगवन्निष्ठ बुद्धियुक्त, शान्तचित्त, कृष्णभक्तिनिष्ठ एवं निवृत्ति परायण—ये सब नाम भगवान् विष्णु के हैं, जो केवल श्रीचैतन्यावतार के सम्बन्ध में ही वर्णित हैं।

[विशेष आलोचना आदि लीला तृतीय परिच्छेद पृष्ठ ६२ पर द्रष्टव्य है।] किन्तु कुतर्क-पूर्ण हृदय-व्यक्ति शास्त्र-प्रमाणों से भी अपना हठ नहीं छोड़ते और विशेषतः भगवत्कृपा के बिना भगवत्-स्वरूप का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, ऐसा जानकर श्रीगोपीनाथाचार्य ने कहा—

तोमार आगे एत कथार नाहि प्रयोजन। ऊषर भूमिते येन बीजेर रोपण ॥९९॥

तोमार उपरे तांर कृपा यबे हवे। ए-सब सिद्धान्त तबे तुमिह कहिवे ॥१००॥

तोमार ये शिष्य कहे कुतर्क नानावाद। इहार कि दोष—एइ मायार प्रसाद ॥१०१॥

श्रीगोपीनाथ ने कहा—''तुम्हारे आगे इन युक्ति-प्रमाणों को कहने से कुछ प्रयोजन नहीं निकलेगा, जैसे ऊपर भूमि में बीज बोना व्यर्थ होता है। उनकी कृपा जब तुम्हारे ऊपर होगी, फिर तुम ही इन सब सिद्धान्तों को कहा करोगे''। तुम्हारे शिष्यों ने जो अनेक कुतर्क उठाये हैं - यह सब माया की कृपा है, इस में इनका कोई दोष नहीं है ॥९९-१०१॥

तथाहि भागवते (६-४-३१)—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्व्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥६॥

जिनकी मायादि शक्तियाँ तर्क करने वाले वादियों के वाद-विवाद की उत्पत्ति का हेतु हैं, एवं पुनः पुनः उनको मोहित करती हैं, मैं उन अनन्तगुण सम्पन्न एवं अपरिच्छिन्न महिमायुक्त श्रीभगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥६॥

चै० च० चु० *टीका*—दक्ष प्रजापतिजी ने श्रीभगवान् की स्तुति करते हुए इस श्लोक का गान किया था। इसका तात्पर्य यह है कि जगत् में अनेक मत-मतान्तर हैं—कोई श्रीभगवान् को मानते हैं. कोई नहीं मानते,कोई ब्रह्म को सगुण सविशेष मानते हैं और कोई निर्गुण-निर्विशेष। कोई ब्रह्म जीव की एकता पर अड़े हुए हैं और कोई ब्रह्म एवं जीव का भेद ही प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार परम्पर अनेकानेक मतभेद हैं एवं वाद-विवाद होते हैं। और शास्त्र-प्रमाण देखते हुए भी वाद-विवाद करने वाले कुतर्की व्यक्ति अपने हठ पर अड़े रहते हैं—इस सब का हेतु दक्ष प्रजापतिजी ने श्रीभगवान् की माया को ही बतलाया। वादी-पुरुषों की बुद्धि पर श्रीभगवान् की माया ही परदा डाले रहती है, जिससे वे वास्तव पक्ष को अथवा तथ्यको नहीं जान पाते। इसी बात का प्रमाण-स्वरूप एक और श्लोक श्रीभागवतजी का श्रीआचार्यने पढ़ा—

तत्रैव (११-२२ ४ —

युक्तञ्च सन्ति सर्व्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥७॥

श्रीउद्धवजी के प्रति श्रीकृष्ण कहते हैं हे उद्धव ! ऋषिगणों एवं ब्राह्मणगणों का तत्वों के विषय में विभिन्न मत हैं, इसका कारण यह है कि—ब्राह्मणगण जो कुछ कहते हैं, वह युक्त ही है क्योंकि सर्वत्र समस्त तत्त्व अन्तर्भुक्त हैं (इसलिये जिसको जितना अनुभव हुआ, वह उतना ही कहता है) किन्तु

इस पर जो परस्पर वाद-विवाद करते हैं, उसका कारण यह है कि —वे मेरी माया से मुग्ध होकर वाद-विवाद करते हैं और उनके लिये कुछ भी दुर्घट नहीं है अर्थात् वे जो कुछ भी करना चाहें, कर सकते हैं ॥७

तात्पर्य यह है कि हर एक, जो अपनी प्रधानता स्थापन करना चाहता है और दूसरे के मत की जो उपेक्षा करता है, इसका कारण भगवत्-माया ही है ॥

तबे भट्टाचार्य्य कहे-याह गोसाञिर स्थाने । आमार नामे गण-सहित कर निमन्त्रणे ॥१०२॥
प्रसाद आनिञा तांरे कराह आगे भिक्षा । पश्चात् आमारे आसि कराइह शिक्षा ॥१०३॥
आचार्य्य भगिनीपति, श्यालक भट्टाचार्य्य । निन्दा-स्तुति-हास्ये शिक्षा करान आचार्य्य ॥१०४॥
आचार्य्येर सिद्धान्ते मुकुन्देर हैल सन्तोष । भट्टाचार्य्येर वाक्ये मने हैल दुःख-रोष ॥१०५॥

इस प्रकार श्रीगोपीनाथ आचार्य के वचन सुनकर श्रीभट्टाचार्य ने कहा—"आप अब श्रीकृष्ण-चैतन्य के पास जाइये एवं उन्हें उनके साथियों सहित मेरी तरफ से निमन्त्रण दीजिये । प्रसाद लाकर पहले उन्हें भोजन कराइये । मुझे फिर कभी शिक्षा देते रहना, (उपहास करते हुए श्रीभट्टाचार्य ने कहा—) ।" आचार्य गोपीनाथ तो बहनोई हैं एवं श्रीभट्टाचार्य उनके साले हैं । कभी निन्दा, कभी स्तुति एवं कभी उपहास करते हुए श्रीगोपीनाथ उन्हें शिक्षा देरहे हैं । गोपीनाथ आचार्यके सिद्धान्तको सुनकर श्रीमुकुन्ददत्त को सन्तोष हुआ परन्तु श्रीभट्टाचार्य के वचनों से उन्हें दुख एवं रोष हुआ ॥१०२–१०५॥

गोसाञिर स्थाने आचार्य्य कैल आगमन । भट्टाचार्य्येर नामे तांरे कैल निमन्त्रण ॥१०६॥
मुकुन्द सहित कहे भट्टाचार्य्येर कथा । भट्टाचार्य्येर निन्दा करे मने पाञा व्यथा ॥१०७॥
शुनि महाप्रभु कहे—ऐछे मत कह । आमा प्रति भट्टाचार्य्येर हय अनुग्रह ॥१०८॥
आमार संन्यासधर्म चाहेन राखिते । वात्सल्ये करुणा करेन, कि दोष इहाते ॥१०९॥

श्रीगोपीनाथ आचार्य श्रीमहाप्रभु के स्थान पर आए एवं श्रीभट्टाचार्य की ओर से उन्हें निमन्त्रण दिया । श्रीमुकुन्द ने एवं उन्होंने श्रीभट्टाचार्य की सब बात सुनाई और मन में दुख पाकर श्रीभट्टाचार्य की निन्दा की । यह सुनकर श्रीमहाप्रभु ने कहा—"ऐसा मत कहिये, मेरे प्रति तो श्रीभट्टाचार्य कृपा रखते हैं । वे मेरे संन्यास-धर्म की रक्षा के लिये स्नेहवश करुणा करते हैं, उनका इसमें क्या दोष है ॥१०६–१०९॥

आर दिने महाप्रभु भट्टाचार्य्य सने । आनन्दे करिला जगन्नाथ दरशने ॥११०॥
भट्टाचार्य्य सङ्गे तांर मन्दिरे आइला । प्रभुरे आसन दिया आपने वसिला ॥१११॥
वेदान्त पढ़ाइते तबे आरम्भ करिला । स्नेह भक्ति करि किछु प्रभुरे कहिला ॥११२॥
वेदान्त श्रवण एइ संन्यासीर धर्म । निरन्तर कर तुमि वेदान्तश्रवण ॥११३॥

दूसरे दिन श्रीमहाप्रभु ने श्रीभट्टाचार्य के साथ जाकर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन किये । फिर उन्हीं के साथ उनके घर में आये । श्रीभट्टाचार्य ने प्रभु को आसन दिया, फिर आप भी बैठ गये । श्रीभट्टाचार्य ने प्रभु को वेदान्त पढ़ाना आरम्भ किया । प्रेम एवं आदर सहित प्रभु से कहने लगे—"वेदान्त सुनना संन्यासी का धर्म है, इसलिये आप निरन्तर वेदान्त सुना कीजिये ॥११०–११३॥

प्रभु कहे—मोरे तुमि कर अनुग्रह । सेइ त कर्त्तव्य आमार-तुमि येइ कह ॥११४॥
सात दिन पर्य्यन्त ऐछे करेन श्रवणे । भाल-मन्द नाहि कहे, वसि मात्र शुने ॥११५॥

अष्टम-दिवसे तांरे कहे सार्व्वभौम। सात दिन कर तुमि वेदान्त-श्रवण ॥११६॥
भाल मन्द नाहि कह, रह मौन धरि। बुझ कि न बुझ, इहा बुझिते ना पारि ॥११७॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"आप मुझ पर कृपा करें। आप जो कहेंगे, मैं वही करूंगा। तत्पश्चात् श्रीमहाप्रभु ने सात दिन तक वेदान्त श्रवण किया। बुरा-भला कुछ भी नहीं बोले, केवल मात्र बैठकर सुनते ही रहे। आठवें दिन श्रीसार्व्वभौम ने कहा—"आपने सात दिन तक वेदान्त सुना है; किन्तु आपने भला-बुरा कुछ भी नहीं कहा, चुप साधे रहे हो, मैं यह नहीं जान सका कि आप ने कुछ समझा भी है कि नहीं ॥११४-११७॥

प्रभु कहे—मूर्ख आमि, नाहि अध्ययन। तोमार आज्ञाते मात्र करिये श्रवण ॥११८॥
संन्यासीर धर्म्म लागि श्रवण मात्र करि। तुमि ये करह अर्थ, बुझिते ना पारि ॥११९॥
भट्टाचार्य्य कहे, 'ना बुझि' हेन ज्ञान यार। बुझिवार तरे सेइ पुछे आर बार ॥१२०॥
तुमि शुनि शुनि रह मौन मात्र धरि। हृदये कि आछे तोमार,बुझिते ना पारि ॥१२१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"मैं मूर्ख हूँ, कुछ पढ़ा लिखा नहीं हूँ। आपकी आज्ञा मानकर केवल सुनता ही रहा हूँ। संन्यासियों का धर्म है अत. इसे सुनता अवश्य रहा हूँ किन्तु आपने जो इसकी व्याख्या की है, उसे मैं नहीं समझ सका हूँ।"श्रीभट्टाचार्य ने कहा—"मैं नहीं समझ सका हूँ" यह जिसे ज्ञान होता है, वह तो फिर समझने के लिये बार बार पूछता है परन्तु आप तो सुनते ही रहे हैं, कुछ बोले तक भी नहीं। न जाने आपके हृदय में क्या बात है ? यह मैं नहीं समझ सका" ॥११८-१२१॥

प्रभु कहे, सूत्रेर अर्थ बुझिये निर्म्मल। तोमार व्याख्या शुनि मन हय त विकल ॥१२२॥
सूत्रेर अर्थ—भाष्य कहे प्रकाशिया। तुमि भाष्य कह, सूत्रेर अर्थ आच्छादिया ॥१२३॥
सूत्रेर मुख्यार्थ तुमि ना कर व्याख्यान। कल्पना अर्थेते ताहा कर आच्छादन ॥१२४॥
उपनिषद् शब्देर येइ मुख्य अर्थ हय। सेइ मुख्य अर्थ व्यास सूत्रे सब कय ॥१२५॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—(जब आप श्रीव्यासदेव-कृत वेदान्त-सूत्र सुनाते थे, तब मैं) सूत्रों के अर्थों को तो स्पष्ट समझता रहा हूँ। परन्तु जब आप उनकी व्याख्या करते थे तो मेरा मन अस्थिर हो उठता था सूत्रों के अर्थों को भाष्य तो खोल कर कहता है, परन्तु आप जो भाष्य कहते थे, वह उलटा सूत्रों के अर्थों को ढक देता था। "आप ने सूत्रों के मुख्य अर्थों को नहीं कहा, किन्तु कल्पित अर्थों से मुख्य अर्थों को आच्छादन ही कर दिया। उपनिषद (वेद) के वाक्यों का जो मुख्य अर्थ है, वही मुख्य अर्थ ही श्रीव्यास ने वेदान्त सत्रों में कहा है" ॥१२२-१२५॥

मुख्यार्थ छाड़िया कर गौणार्थ कल्पना। अभिधावृत्ति छाड़ि शब्देर करह 'लक्षणा' ॥१२६॥
प्रमाणेर मध्ये श्रुति प्रमाण प्रधान। श्रुति ये मुख्यार्थ कहे, से-इ से प्रमाण ॥१२७॥
जीवेर अस्थि विष्ठा दुइ, शङ्ख गोमय। श्रुति वाक्ये सेइ दुइ महापवित्र हय ॥१२८॥
स्वतःप्रमाण वेद, सत्य येइ कहे। लक्षणा करिले स्वतःप्रामाण्य-हानि हये ॥१२९॥

"आप मुख्यार्थ को छोड़कर गौण अर्थों की कल्पना करते हैं। मुख्यावृत्ति को छोड़कर शब्दोंका अर्थ लक्षणावृत्ति में करते हैं। सब प्रमाणों में वेद का प्रमाण ही सर्व प्रधान है (क्योंकि उसमें भ्रम-प्रमादादि

दोष नहीं हैं) अतः वेदवाक्यों का जो मुख्य अर्थ है, वही प्रमाण है अर्थात् ग्रहण करने योग्य है।" (आदि लीला सप्तम परिच्छेद पृष्ठ १७३ पर विषद् आलोचना द्रष्टव्य है) शङ्ख एवं गोबर किसी जीव विशेष के हड्डी एवं विष्ठा ही तो हैं (जो साधारणतः अपवित्र होते हैं) परन्तु वेदवाक्यों से ये दोनों महापवित्र माने जाते हैं। वेदवाक्य अपना आपही प्रमाण हैं जो सदा सत्य ही हैं। उन वाक्यों का लक्षणावृत्ति से अर्थ करने से उनकी स्वयं प्रमाणिकता नष्ट हो जाती है ॥१२६-१२९॥

व्यासेर सूत्रेर अर्थ सूर्य्येर किरण। स्वकल्पित-भाष्यमेघे करे आच्छादन ॥१३०॥
वेद-पुराणे कहे ब्रह्मनिरूपण । सेइ ब्रह्म—बृहद्वस्तु ईश्वर-लक्षण ॥१३१॥
सर्वैश्वर्य्य—परिपूर्ण स्वयं भगवान् । तांरे 'निराकार' करि करह व्याख्यान ? ॥१३२॥
निर्विशेष, तांरे कहे येइ श्रुतिगण । 'प्राकृत' निषेधि 'अप्राकृत' करये स्थापन ॥१३३॥

श्रीव्यासजी ने जो वेदान्त-सूत्रों के अर्थ किये हैं—वे सूर्य की किरणों की भाँति स्पष्ट हैं, किन्तु आप अपने कल्पित अर्थों द्वारा मानो मेघों से सूर्य को आच्छादन करते हैं। वेद एवं पुराणों में जिस ब्रह्म का निरूपण किया गया है, वह ब्रह्म अर्थात् बृहद्वस्तु ईश्वर का ही लक्षण है। वह ब्रह्म सर्व ऐश्वर्य-पूर्ण स्वयं भगवान् ही हैं। उसे आप निराकार या निर्विशेष कहकर वर्णन करते हैं। जो श्रुतियाँ ब्रह्म को निर्विशेष या निराकार कहकर निरूपण करती हैं, वहाँ उनका तात्पर्य ब्रह्म या स्वय भगवान् में प्राकृत गुणों को निषेध करने का है अर्थात् ब्रह्म का शरीर मायिक नहीं है। उनके गुण प्राकृतिक गुण नहीं हैं—उनका शरीर एवं गुण सब अप्राकृत अर्थात् दिव्य हैं—इस बात की ही वे श्रुतियां स्थापना करती हैं।

चै० च० चु० *टीका* इन पयारों में श्रीव्यासदेव के वेदान्तसूत्र के अर्थों को सूर्य एवं श्रीशंकराचार्यपाद के वेदान्त-सूत्रों के अर्थों को मेघ के समान कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्त-सूत्रों का अर्थ जो श्रीव्यासजी ने किया है, वह वास्तविक-प्रकृत अर्थ है जिसको 'भाष्य' कहा जा सकता है परन्तु श्रीशंकराचार्यपाद द्वारा जो अर्थ किया गया है, वह प्रकृत अर्थों को आच्छादन ही करता है।

वेद एवं पुराण में जो ब्रह्म-निरूपण है—उसी ब्रह्म अर्थात् स्वरूप में बृहद्, शक्ति में बृहद्, शक्तियों की संख्या में बृहद्, शक्ति के कार्य में सर्वापेक्षा बृहद् वस्तु में ईश्वर के ही समस्त लक्षण परिपूर्ण भाव से विराजमान हैं। वेदों एवं पुराणों में ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा गया है—"**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**"—(तैत्तिरीय २-१), "**सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म**" (सर्वोपनिषत्सार-३), **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म**" (तैत्तिरीय --३--१)। "**जन्माद्यस्य यत**" (श्रीमद्भागवत १—१—१) इस प्रकार वह ब्रह्म सत्य एवं चिन्मय तथा आनन्दमय स्वरूप है, उसीसे ही सबकी उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय होती है अर्थात् वह चिन्मय, सत्य, सविशेष आनन्दमय बृहद् वस्तु—ब्रह्म है। आकाश भी बृहद् वस्तु है, उस आकाश बृहद्-वस्तु की भाँति ब्रह्म निर्विशेष या जड़ वस्तु नहीं है। वह सर्व ऐश्वर्य पूर्ण सविशेष सब का ईश्वर है।

कई एक श्रुतियां ब्रह्म को निर्विशेष कहकर निरूपण करती हैं—जैसे "**अशरीरं शरीरेष्वनस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति**" (कठोपनिषत्, २-२२)—इस श्रुति में ब्रह्म को अशरीर अर्थात् देहशून्य कहा गया है। '**अपाणिपादो जवनोग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णः** (श्वेताश्वेतर, ३-१९)—यह श्रुति कहती है—ब्रह्म के हाथ-पाँव नहीं हैं, नेत्र नहीं हैं किन्तु वह ग्रहण करता है, चलता है, देखता है, एवं सुनता है। यही श्रुतियाँ आगे चलकर ब्रह्म को सविशेष-सगुण कह कर निरूपण करती हैं, जैसे—"**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्**" (कठोपनिषत्, २-२३) अर्थात् यह ब्रह्म या आत्मा अनेक वेदों के

अध्ययन से नहीं प्राप्त होता, यज्ञों द्वारा लभ्य नहीं है, बहु वेद-श्रवण से भी लभ्य नहीं है, यह आत्मा (ब्रह्म) जिसको वरण करता है अर्थात् जिस पर कृपा करता है—वही इस को प्राप्त कर सकता है। उसी के आगे यह आत्मा अपना तनु अर्थात् शरीर या स्वरूप प्रकाश करता है— इस श्रुति में ब्रह्म के शरीर का अर्थात् सविशेषत्व का वर्णन है। इन विरोधी श्रुतियों का समाधान केवल यही है कि ब्रह्म का शरीर है—वह प्राकृत नही, किन्तु दिव्य-अप्राकृत शरीर है। ब्रह्म में कृपा करने की शक्ति है—वह भी इस श्रुति से सुस्पष्ट है अर्थात् वह ब्रह्म निःशक्तिक नहीं है किन्तु सर्शक्तिक है। इसी प्रकार ब्रह्म के हाथ-पाँव-नेत्र-श्रवण नहीं हैं किन्तु वह ग्रहण करता है, देखता है, चलता है, श्रवण करता है—इत्यादि श्रुतियों के वचनों का केवल मात्र यही समाधान है कि उस ब्रह्म की इन्द्रियाँ हैं परन्तु वह अप्राकृत हैं—उसका शरीर-इन्द्रियाँ समस्त शुद्ध सत्वमय हैं एवं चिन्मय हैं।

अतः वेद पुराणों में जो ब्रह्म निरूपण है, उस ब्रह्म से सर्वैश्वर्यपूर्ण स्वयं भगवान् का ही निरूपण किया गया है, और श्रीव्यासजी के वेदान्त सूत्रों के अर्थों में उसी सविशेष-सगुण या मूर्त्त ब्रह्म का ही निरूपण किया है, किन्तु श्रीपाद शँकराचार्यजी ने उन अर्थों का आच्छादन करके ब्रह्म के अमूर्त्तरूप का ही वर्णन किया है। जिस का कारण श्रीशंकराचार्य पाद के प्रति श्रीभगवान् की आज्ञा ही है; जिसका उल्लेख इसी परिच्छेद में श्लोक नं० १३ एवं १४ के अन्तर्गत आयेगा।

ब्रह्म को निराकार एवं निर्विशेष कहन वाली श्रुतियाँ हैं और उसे साकार एवं सविशेष निरूपण करने वाली भी अनेक श्रुतियाँ हैं। फिर भी साकार एवं सविशेष स्वरूप को निरूपण करने वाली श्रुतियों का पक्ष वलवान् है —इस बात को निम्नलिखित श्लोक द्वारा प्रमाणित करते हैं—

तथाहि श्रीचैतन्यचन्द्रोदय-नाटके (६–६७)—

या या श्रुतिर्जल्पति निर्व्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सति हन्त तासां प्रायो बलीयः सविशेषमेव ॥८॥

श्रीचैतन्य-चन्द्रोदय नाटक में कहा गया है कि जो जो श्रुति ब्रह्म को निर्विशेष (रूप-गुणादि रहित-निर्विकार) कहकर निर्देश करती हैं, वे ही फिर उसे सविशेष कहकर निश्चय करती हैं। किन्तु आश्चर्य यह है कि दोनों श्रुतियों का विचार करने पर सविशेष—पक्ष ही अधिक बलवान् है ॥८॥

ब्रह्म हैते जन्मे विश्व ब्रह्मे ते जीवय। सेइ ब्रह्मे पुनरपि हये याय लय ॥१३४॥
अपादान करणाधिकरण कारक तिन। भगवानेर 'सविशेष' एइ तिन चिन्ह ॥१३५॥
भगवान् बहु हैते यबे कैल मन। प्राकृत शक्तिते तबे कैल विलोकन ॥१३६॥
से काले नाहिक जन्मे प्राकृत मन नयन। अतएव 'अप्राकृत' ब्रह्मेर नेत्र मन ॥१३७॥

ब्रह्म से यह विश्व उत्पन्न होता है, और ब्रह्म के द्वारा यह विश्व जीवित रहता है, और प्रलय के समय यह विश्व ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। अपादान, करण एवं अधिकरण—ये तीन कारक हैं। भगवान् के सविशेष होने के ये तीनों कारक चिन्ह या प्रमाण हैं। सृष्टि के आदि में श्रीभगवान् ने जब एक से अनेक होने की इच्छा की, तब उन्होंने माया-शक्ति के प्रति दृष्टिपात् किया, किन्तु उस समय प्राकृत मन एवं नेत्रों की उत्पत्ति ही न हुई थी। अतः सिद्ध होता है कि उस समय ब्रह्म के मन एवं नेत्र अप्राकृत थे जिनसे अनेक होने की इच्छा तथा माया की ओर उन्होंने दृष्टिपात् किया ॥१३४–१३७॥

चै० च० चु० *टीका* तैत्तिरीय श्रुति ३–१ में ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा गया है कि 'यतो वा ईमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, तत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'' इत्यादि—इस श्रुति का अर्थ

उपर्युक्त पयारों में करते हुए यह प्रमाणित किया गया है कि ब्रह्म सविशेष है एवं चिन्मय शरीर एवं इन्द्रियों युक्त है, साकार है। ब्रह्म से समस्त विश्व या भूतों की उत्पत्ति होती है, उसी ब्रह्म के द्वारा समस्त भूत जीवित रहते हैं एवं उसी ब्रह्म में ही सृष्टि-ध्वंस के समय समस्त भूत सूक्ष्मरूप से लय हो जाते हैं, ऐसा श्रुति कहती है।

जिस वस्तु से किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति हो—उसे **अपादान** कहते हैं, जैसे पिता से पुत्र की उत्पत्ति होती है—यहाँ पिता अपादान-कारक है, तद्रूप ब्रह्म से विश्व या समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है अतः ब्रह्म अपादान-कारक है। किसी क्रिया के साधने के लिये अनेक कारण रहते हुए भी जो एक कारण अव्यवहित रूप से क्रिया के साधने का कारण होता है, उसे **करण** कहते हैं। जैसे कलम के द्वारा कागज पर लिखा जाता है—उस लिखने में हाथों द्वारा कलम पकड़ कर ही लिखने की क्रिया होती है परन्तु यहाँ हाथ नहीं, बल्कि कलम ही लिखने का अव्यवहित कारण है, अतः यहाँ कलम को ही **करण-कारक कहा** जाता है, इसी प्रकार विश्व या समस्त भूतों के जीवन का आधार अन्नादि पदार्थ हैं, किन्तु चैतन्य—**आत्मा** (ब्रह्म) ही अव्यवहित रूप से भूतों के जीवन का हेतु है, अतः ब्रह्म करण-कारक है। किसी वस्तु के आधार को **अधिकरण** कहते हैं। जैसे घड़े में जल रहता है, जल का अधिकरण या आधार घड़ा कहा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म में ही समस्त विश्व या भूत लय को प्राप्त होते हैं या ब्रह्म में अवस्थान करते हैं अतः ब्रह्म **अधिकरण-कारक** है।

इस प्रकार ब्रह्म विश्व का अपादान, करण एवं अधिकरण कारक है—इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म में विश्व की सृष्टि करने की शक्ति है, विश्व को पालन करने की भी शक्ति है एवं विश्व को आश्रय देने की भी शक्ति है—इन समस्त शक्तियों से शक्तिमान् होने से ब्रह्म सविशेष एवं सगुण सिद्ध होता है।

छान्दोग्य श्रुति (६-२-३) में कहा है "**तदैक्षत बहुस्याँ प्रजायेय**"—अर्थात् उस ब्रह्म ने अपने में लीन हुए जीवों का पूर्वसृष्टि-कृत प्रारब्ध को देखा और इच्छा की—"एक मैं प्रजा के (जीवों के) लिये उनके अन्तर्यामीरूप से अनेक होऊँ।"

इस प्रकार जिस समय ब्रह्म एक से अनेक होने की इच्छा करता है और प्रकृति की ओर दृष्टि करता है, उस समय प्राकृत-सृष्टि नहीं होती है, न ही उस समय प्राकृत मन या नेत्र होते हैं। किन्तु उस समय ब्रह्म के मन और नेत्र होते हैं क्योंकि मन एवं नेत्रों के बिना इच्छा और दृष्टिपात् होना असम्भव है। अतः सिद्ध होता है कि ब्रह्म के मन एवं नेत्रादि हैं किन्तु वे अप्राकृत-दिव्य चिन्मय हैं, प्राकृतिक नहीं हैं और वह ब्रह्म साकार है।

वह अनन्त-शक्ति-पूर्ण, अप्राकृत-दिव्य-चिन्मय-विग्रह ब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—इस को निम्नलिखित पयारों में प्रमाणित करते हैं।

ब्रह्म शब्दे कहे—पूर्ण स्वयं भगवान्। स्वयं भगवान् कृष्ण, शास्त्रेर प्रमाण ॥१३८॥
वेदेर निगूढ़ अर्थ बुझन न याय। पुराण वाक्ये सेइ अर्थ करये निश्चय ॥१३९॥

ब्रह्म-शब्द का अर्थ है—पूर्ण स्वयं भगवान्। स्वयं भगवान्—श्रीकृष्ण हैं, इसमें शास्त्र प्रमाण है ॥१३८॥ वेदवाक्य निगूढ़ होने से हर-एक उसे नहीं समझ पाता। अतएव उस अर्थ को पुराणों के वाक्यों से अच्छी प्रकार समझा जा सकता है ॥१३९॥ (समस्त पुराणों का शिरोमणि पुराण श्रीमद्भागवत है, उसका प्रमाण उल्लेख करते हैं)—

तथाहि (भागवत १०-१४-३२)

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥९॥

श्रीब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके श्रीनन्दादि व्रजवासियों के भाग्यों की सराहना करते हुए कहा है –अहो ! नन्द गोप-व्रजवासी-गणों के कैसे महान भाग्य हैं, कि परमानन्द-स्वरूप सनातन पूर्णब्रह्म (श्रीकृष्ण) जिनके मित्र हैं ॥९॥

"अपाणिपाद"-श्रुति वर्ज्जे,प्राकृत पाणि चरण। पुनः कहे,शीघ्र चले, करे सर्वग्रहण ॥१४०॥
अतएव श्रुति कहे—ब्रह्म 'सविशेष'। मुख्य छाड़ि लक्षणाते माने'निर्व्विशेष' ॥१४१॥
षड़ैश्वर्य्य—पूर्णानन्द विग्रह यांहार । हेन भगवाने तुमि कह 'निराकार' ॥१४२॥
स्वाभाविक तिन शक्ति येइ ब्रह्मे हय। 'निःशक्ति' करिया तांरे करह निश्चय? ॥१४३॥

जो श्रुतियाँ ब्रह्म को 'अपाणिपाद' कहती हैं अर्थात् ब्रह्म के हाथ-पाँव नहीं हैं, ऐसा कहती हैं, उनका तात्पर्य है कि ब्रह्म के (हाथ-पाँव तो हैं किन्तु वे) मायिक हाथ पाँव नहीं हैं। आगे चलकर वही श्रुतियाँ कहती हैं कि ब्रह्मशीघ्र चलता है एवं सबको ग्रहण करता है, अतएव श्रुतियाँ वास्तव में ब्रह्म का स्वरूप सविशेष ही वर्णन करती हैं। श्री महाप्रभु ने कहा—"आप मुख्य-अर्थ को छोड़कर लक्षणावृत्ति से ब्रह्म का अर्थ अथवा स्वरूप निर्विशेष मान बैठे हैं। जो भगवान् षड्-ऐश्वर्य्य पूर्ण हैं, आनन्दस्वरूप हैं, उन्हें आप निराकार कहते हैं। जिस ब्रह्म में तीन शक्तियाँ स्वभाव सिद्ध हैं—उसे आप निःशक्तिक कैसे कहते हैं" ॥१४०–१४३॥

इस प्रकार कहकर श्रीमन्महाप्रभु ने निम्नलिखित श्लोक पढ़े, जिन से श्रीभगवान् में शक्तियों की अभिव्यक्ति प्रमाणित होती है।

तथाहि विष्णु-पुराणे (६-७, ६१)—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा ।
अविद्या–कर्म्म–संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥१०॥

(श्रीभगवान् की शक्ति को साधारणतः तीन शक्तियों में विभक्त किया गया है)—(१) विष्णु-शक्ति जिसे परा कहा जाता है, अर्थात् स्वरूप-शक्ति या अन्तरङ्गा चिच्छक्ति, जो समस्त शक्ति वर्ग में श्रेष्ठ है। (२) क्षेत्रज्ञा-शक्ति या जीव-शक्ति जिसे तटस्थाशक्ति भी कहते हैं, (३) अविद्याकर्मसंज्ञा शक्ति अर्थात् माया शक्ति या जिसे बहिरङ्गाशक्ति भी कहते हैं।

[विशेष आलोचना श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न-संग्रह प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका के तीसरे रत्न—शक्तितत्व पृष्ठ ६१ पर द्रष्टव्य है।]

तथाहि-विष्णु पुराणे (१–१२–६९)

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंश्रये ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्ज्जिते ॥११॥

हे भगवन् ! आपकी स्वरूपभूता ह्लादिनी, सन्धिनी एवं संवित्—ये तीनों शक्तियाँ सबके अधिष्ठान रूप जो आप हैं –आप में ही रहती हैं और ह्लादकरी, तापकरी तथा मिश्रा––ये तीनों शक्तियाँ सत्-रज-तम––इन तीनों गुणों से परे मायातीत आप में नहीं रहती (किन्तु जीवों में रहती हैं) ॥११॥

चै० च० चु० टीका—ह्लादिनी, सन्धिनी एवं संवित् ये तीनों श्रीभगवान् की स्वरूपशक्ति की वृत्ति हैं, जो केवल श्रीभगवान् में ही अवस्थान करती हैं, जीवों में इन शक्तियों का विकाश नहीं है। (चै० च० १-४ पयार ५२ से ६० तक इनका विषद् वर्णन कर आये हैं) किन्तु जीवों में प्राकृत गुणमयी तीन शक्तियाँ रहती हैं—(१) **सात्विकी**—माया के सत्वगुण की शक्ति का नाम सात्विकी है, जो जीवों के चित्त में प्रसन्नता या मायिक-वस्तु जनित आनन्द उत्पन्न करती है, यह आनन्द ह्लादिनी शक्ति का कार्य नहीं है। (२) **तापकरी**—माया के तमोगुण की शक्ति का नाम तापकरी या तामसी है, जो विषयों में आसक्ति उत्पन्न करती है और धन-जन के वियोग का मानसिक ताप देने वाली है। ताप उत्पन्न करने से ही इसे तापकरी कहते हैं। (३) **मिश्रा**—माया के रजोगुण की शक्ति का नाम राजसी या मिश्रा है। विषय के भोग में जो सुख होता है, उस सुख में जो भोगों से उत्पन्न एक प्रकार का दुख या ताप अनुभव होता है—वह इस राजसी शक्ति का कार्य है। इस में सात्विकी-शक्ति का सुख भी एवं तामसी शक्ति की तरह दुख भी है, अतः इसे मिश्रा कहते हैं। श्रीभगवान् में ये माया की तीनों शक्तियाँ नहीं हैं, अतः उन्हें मायातीत कहा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—इस श्लोक में कहा गया है कि श्रीभगवान् सब के अधिष्ठान हैं। अथच फिर कहा गया है कि श्रीभगवान् में ह्लादिनी, सन्धिनी एवं संवित् ये तीनों शक्तियाँ अवस्थान करती हैं किन्तु ह्लादकरी, तापकरी तथा मिश्रा या राजसी—ये शक्तियाँ उनमें नहीं हैं—ये तीनों शक्तियाँ यदि उनमें नहीं हैं तो श्रीभगवान् फिर सबके अधिष्ठान कैसे कहे जा सकते हैं ?

इस का समाधान यह है कि श्रीभगवान् ह्लादिनी आदि शक्तियों की भांति ह्लादकरी आदि शक्तियों के भी अधिष्ठान हैं। ह्लादिनी आदि की भाँति ह्लादकरी आदि शक्तियाँ भी उनके आश्रित रहती हैं। पार्थक्य केवल इतना है कि ह्लादिनी आदि श्रीभगवान् की स्वरूप-शक्ति हैं। उनके स्वरूप से अभिन्न हैं, उनके साथ सर्वत्र युक्तभाव से अवस्थित हैं और ह्लादकरी-शक्ति आदि उनकी स्वरूप-शक्ति नहीं है, बल्कि उनकी बहिरङ्ग-शक्ति हैं, जो उनके साथ अयुक्तभाव से अवस्थान करती हैं। श्रीभगवान् अपनी अचिन्त्य-शक्ति से गुणमयी शक्तियों के अधिष्ठाता होते हुए भी उनसे दूर रहते हैं—वास्तविक यही उनका ईश्वरत्व है। जल में कमल के पत्ते के समान निर्लिप्त रहते हैं।

इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म में असंख्य अप्राकृत गुण रहते हैं किन्तु प्राकृतगुण उनमें नहीं रहते और उनमें असंख्य अप्राकृत शक्तियाँ हैं किन्तु उनके स्वरूप में प्राकृत शक्ति का अवस्थान नहीं है। अतः जिन समस्त श्रुतिवाक्यों में ब्रह्म या श्रीभगवान् को निर्गुण या निःशक्तिक कहा गया है—उन सब का तात्पर्य यही है कि उनमें प्राकृतगुण या प्राकृतशक्ति नहीं है। ब्रह्म सशक्तिक है—इसे और भी स्पष्ट करते हैं—

सत्-चित्-आनन्दमय ईश्वर—स्वरूप। तिन-अंशे चिच्छक्ति हय तिन रूप ॥१४४॥
आनन्दांशे ह्लादिनी, सदंशे सन्धिनी। चिदंशे संवित्—यारे 'ज्ञान' करि मानि ॥१४५॥
अन्तरङ्गा चिच्छक्ति, तटस्था जीवशक्ति। बहिरङ्गा माया,—तिने करे प्रेमभक्ति ॥१४६॥
षड़्विध ऐश्वर्य्य प्रभुर चिच्छक्तिविलास। हेन शक्ति नाहि मान—परम साहस ॥१४७॥

ब्रह्म या श्रीभगवान् का स्वरूप सत्, चित् एवं आनन्द—इन तीन अंशों में विभक्त है। इन तीन अंशों के अनुसार श्रीभगवान् की स्वरूप-शक्ति भी तीन नामों से कही गई है। स्वरूप-शक्ति जिस रूप में आनन्द-अंश को धारण करती है, उसे ह्लादिनी कहते हैं, जिस रूप में सत्-अंश को धारण करती है, उसे सन्धिनी एवं जिस रूप में चित् अंश को धारण करती है, उसे सम्वित् शक्ति कहते हैं, अथवा उसे 'ज्ञान'

भी कहा जाता है। अन्तरङ्गा चित्-शक्ति (स्वरूपशक्ति), तटस्था या जीवशक्ति एवं बहिरङ्गा या माया-शक्ति—ये तीनों शक्तियाँ श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा करती रहती हैं। षड्विध ऐश्वर्य्य श्रीभगवान् की स्वरूपशक्ति का विलास है। इन प्रत्यक्ष एवं स्वभाव-सिद्ध शक्तियों को आप नहीं मानते हो एवं ब्रह्म को निःशक्तिक कहते हो, यह आपका बड़ा साहस है अर्थात् दुःसाहस है ॥१४४–१४७॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीभगवान् की शक्तियाँ दो रूपों से अवस्थान करती हैं—एक तो केवल शक्तिरूप से **अमूर्त्त** रूप में, दूसरे शक्ति की अधिष्ठात्रीरूप से—**मूर्त्त** रूप में। ये तीनों शक्तियाँ अधिष्ठात्री रूप से मूर्त्तिमान् होकर श्रीकृष्ण की साक्षात् सेवा करती हैं और अमूर्त्तरूप से श्रीकृष्ण के वाञ्छित कार्य्य को सिद्ध कर उनकी सेवा करती हैं।

अन्तरङ्गा शक्ति—मूर्त्तरूप से भगवत्-परिकर, धाम एवं लीला-सामग्री के रूप से प्रकट होकर उनकी सेवा करती है और अमूर्त्तरूप से भगवत्-स्वरूप के साथ एवं परिकरादि के साथ तादात्म्य प्राप्त होकर उनके द्वारा उनकी अभीष्ट लीला सम्पादन करती है।

तटस्था-शक्ति—जीव-रूप से प्रकटित है। एक नित्य-सिद्ध जीव हैं जो अनादिकाल से भगवत्-परिकरके रूपसे श्रीभगवान् की सेवा करते हैं, दूसरे संसारासक्त जीव हैं, जो साधक-भक्त होकर श्रीभगवान् की सेवा करते हैं। तीसरे जो बहिर्मुख जीव हैं—वे भी स्वरूप से नित्य कृष्णदास ही हैं। श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न-संग्रह पृष्ठ १२० पर जीव का नित्य कृष्णदास-स्वरूपत्व सम्बन्धी प्रबन्ध द्रष्टव्य है।

बहिरङ्गा-शक्ति—श्रीभगवान् की आज्ञानुसार सृष्टि का कार्य कर रही है एवं जीवों को उनके कर्मों के अनुसार फल-भोग कराकर भगवान् की आज्ञापालन रूप सेवा करती है।

सारांश यह है कि श्रीभगवान् की ये तीनों शक्तियां सशक्तिक-भगवान् की सेवा कर रही हैं। अगले पयारों में जीव और ईश्वर का भेद निरूपण करते हैं।

मायाधीश मायावश—ईश्वरे जीवे भेद। हेन जीव ईश्वर—सने करह अभेद ? ॥१४८॥
गीताशास्त्रे जीवरूप 'शक्ति' करि माने। हेन जीवे अभेद कर ईश्वरेर सने ॥१४९॥

श्रीभगवान् माया के अधीश्वर हैं और जीव माया के अधीन है—अधीश और अधीन में जो भेद है, वही भेद ईश्वर और जीव में है। श्रीगीताजी में जीव को ईश्वर की शक्ति कहा गया है। ऐसे (माया-धीन) जीव को आप (मायाधीश) श्रीभगवान् से अभेद कह कर वर्णन करते हैं ? ॥१४८–१४९॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमहाप्रभु ने कहा—"ईश्वर माया के अधीश या नियन्ता हैं और जीव मायाके अधीन है, उसके द्वारा नियन्त्रित है, और अपनी शक्ति से कभी भी माया के पंजे से जीव छुटकारा नहीं पा सकता। ईश्वर विभु चैतन्य है और जीव अणुचैतन्य है। अधीश और अधीन का जो भेद है, वही भेद ईश्वर और जीव में भी विद्यमान् है।

भगवत्-कृपा से जीव माया कवल से यदि मुक्त हो जाये, तो भी जीव और ईश्वर का भेद रहता ही है। माया से मुक्त होने पर माया की आधीनता अवश्य समाप्त हो जाती है किन्तु वह ईश्वर की भांति माया का अधीश्वर नहीं बन जाता। किसी भी प्रकार जीव मायाधीश नहीं बन सकता। अतः शक्ति एवं शक्तिमान् में अथवा आश्रित एवं आश्रय में जो पार्थक्य है, वही पार्थक्य जीव और ईश्वर में भी सदा वर्त्तमान है।"

जीव ईश्वर की शक्ति है (तटस्थ शक्ति है—स्वरूप-शक्ति नहीं) इसके प्रमाण-स्वरूप श्रीगीता जी का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं।

तथाहि भगवद्गीतायाम् (७–५)—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥१२॥

श्रीभगवान् ने श्रीअर्जुन के प्रति कहा—"हे महाबाहो ! (पहले श्लोक में जिस प्रकृति का मैंने वर्णन किया है, यह मेरी निकृष्ट प्रकृति है)—इसके अतिरिक्त जीव-शक्ति रूपा मेरी और एक उत्कृष्टा प्रकृति है—ऐसा तू जान । यह उत्कृष्टा प्रकृति या शक्ति ही जगत् को धारण कर रही है ॥१२॥

अगले पयारों में भगवत्-विग्रह—सच्चिदानन्दमय है, इसका निरूपण करते हैं। वह प्राकृत सत्वगुण का विकार नहीं है । वह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ही है ।

ईश्वरेर श्रीविग्रह सच्चिदानन्दाकार । श्रीविग्रहे कह—सत्वगुणेर विकार ? ॥१५०॥
श्रीविग्रह ये ना माने—से-इ त पाषण्डी । अदृश्य अस्पृश्य सेइ—हय यमदण्डी ॥१५१॥
वेद ना मानिञा बौद्ध हय त नास्तिक । वेदाश्रय-नास्तिकवाद बौद्धेते अधिक ॥१५२॥
जीवेर निस्तार-लागि सूत्र कैल व्यास । मायावादिभाष्य शुनिले हय सर्वनाश ॥१५३॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—ईश्वर का श्रीविग्रह अर्थात् श्रीभगवान् का सगुण-साकार रूप, जो अप्राकृत है—वह सत्-चित् एवं आनन्दमय है। उसे आप माया के सत्वगुण का विकार बताते हैं ? जो श्रीभगवान् के श्रीविग्रह को नहीं मानता, वह पाषण्डी है—वह देखने और स्पर्श करने योग्य नहीं है एवं वह यम के द्वारा दण्ड का भागी होता है। (ऐसा वेद कहता है।) बौद्धगण उस वेद के प्रमाण को नहीं मानते हैं अतः उन्हें नास्तिक कहा जाता है। (किन्तु आप तो वेद को प्रामाणिक मानते हैं) फिर आप वेदों का आश्रय लेते हुए भी यदि नास्तिकवाद का अवलम्बन करते हैं, तो आप उन बौद्धों से भी कहीं अधिक नास्तिक हैं। जीवों के निस्तार के लिये श्रीवेदव्यासजी ने ही ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-सूत्र की रचना की किन्तु जो उसे न सुनकर मायावाद-भाष्य सुनते हैं, उन जीवों का सर्वनाश हो जाता है अर्थात् जीव का जो वास्तविक स्वरूप-धर्म है—दास-भाव या सेवा-भाव—वह ऐसा भाष्य सुनने से लोप हो जाता है और जीव का निस्तार नहीं हो पाता ॥१५०–१५३॥

इस प्रकार श्रीभगवत्-विग्रह का सत्वगुण-विकारत्व खण्डन करते हुए श्रीमहाप्रभु ने उसका सच्चिदानन्दमयत्व स्थापन करनेके पश्चात् परिणामवाद के सम्बन्ध में अपना मत प्रकाश किया, जिसे निम्न लिखित पयारों में उल्लेख करते हैं—

'परिणामवाद' व्याससूत्रेर सम्मत । अचिन्त्यशक्त्ये ईश्वर जगद्रूपे परिणत ॥१५४॥
मणि यैछे अविकृत प्रसवे हेमभार । जगद्रूप हय ईश्वर—तबु अविकार ॥१५५॥
'व्यास भ्रान्त' बलि सेइ सूत्रे दोष दिया । 'विवर्तवाद' स्थापियाछे कल्पना करिया ॥१५६॥
जीवेर देहे आत्मबुद्धि-सेइ मिथ्या हय । जगत् मिथ्या नहे—नश्वर मात्र हय ॥१५७॥

श्रीभगवान् या ब्रह्म अपनी अचिन्त्य-शक्ति से जगत् रूप में परिणत होता है—यह जो परिणामवाद है—वेदान्त-सूत्र या व्यास-सूत्र में इसी मत का अनुमोदन किया गया है। स्यमन्तकमणि प्रतिदिन आठ भार सोना प्रसव करती है किन्तु वह स्वयं विकारहीन रहती है, उसी प्रकार ईश्वर भी जगत् रूप में प्रकट होता है किन्तु वह सदा अविकारी रहता है। किन्तु श्रीशङ्कराचार्यपाद ने इस सूत्र में ही दोष बताकर वेदान्त-सूत्र के रचयिता श्रीवेदव्यासजी को ही भ्रान्त बना दिया है। वेदान्त-सूत्र के वास्तविक परिणाम-वाद को दूषित कह कर उन्होंने अपनी कल्पना से विवर्त्तवाद की स्थापना की है ॥१५४–१५७॥

चै० च० चु० *टीका*—"**आत्मकृतेः परिणामात्**"—इस वेदान्त-सूत्र में श्रीव्यासदेवजी ने जगत् को ब्रह्म की परिणति बतलाया है अर्थात् जैसे घड़ा मृत्तिका की परिणति है—इस मत को "**परिणाम वाद**"

कहते हैं। किन्तु श्रीशङ्कराचार्य पाद का मत है कि रस्सी में भ्रम के वश जैसे सांप की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में भ्रम वश जगत् की प्रतीति है—यह जगत् भ्रम मात्र है। इस मत को **'विवर्त्तवाद'** कहा गया है। श्रीशङ्कराचार्यपाद ने इस सूत्र के भाष्यन्तर्गत कहा है कि **"ब्रह्म एव विकारात्मनाँ यं परिणामः"** अर्थात् ब्रह्म की विकारात्मता वश यह परिणाम हुआ है—यह जगत् ब्रह्म का परिणाम है—इसे श्रीशङ्कराचार्य पाद ने भी यहाँ स्वीकार किया है किन्तु वह कहते हैं कि इस परिणाम से ब्रह्म विकारी हो जाता है। ब्रह्म के विकारी होने की आशंका से वे विवर्त्तवाद की स्थापना करते हैं और श्रीव्यासजी, जो वेदान्त-सूत्र के रचयिता हैं, उन्हें भ्रान्त मान लेते हैं। परन्तु श्रीमहाप्रभु ने कहा कि "ब्रह्म जगत् रूप में परिणत होते हुए भी अविकारी रहता है। जैसे चिन्तामणि अपने स्वरूप धर्मवशतः सर्व पदार्थों को उत्पन्न करती है, परन्तु स्वयं अविकृत रहती है.और जैसे चुम्बक अपने स्व रूप—धर्मवशतः लोहे को चालित कर देता है,किन्तु स्वयं निर्विकारी रहता है,उसी प्रकार ब्रह्म भी अपनी अचिन्त्य-शक्ति प्रभाव से जगत् रूप में परिणत होकर भी स्वयं अविकारी रहता है। श्रुति कहती है ब्रह्म परस्पर विरोधी धर्मों का आश्रय है अर्थात् एक होते हुए अनेक रूप है। सब से छोटा होते हुए भी सब से महान है। स्थिर होते हुए भी गमन करता है इत्यादि—इस प्रकार श्रुति ब्रह्म को अचिन्त्य-शक्ति एवं अलौकिक अद्वितीय शक्ति-सम्पन्न वणन करती है। अतः ब्रह्म अपनी उसी अचिन्त्य-शक्ति एवं विरोधी धर्म-आश्रय-स्वरूप से जगत् रूप में परिणत होकर भी अविकारी रहता है।" इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने बताया कि जगत् ब्रह्म की परिणति है। हेसार्वभौम ! आप वेदान्तसूत्रको दोष देकर श्रीव्यासजी को भ्रान्त कहते हुए अपराधके भागी होते हैं और अपनी कल्पना से विवर्त्तवाद की स्थापना करते हैं। हां ! यह जीव अपने शरीर में जो आत्मबुद्धि रखता है—अपने अनात्म देह को आत्मा मानता है—यह भ्रम है, मिथ्या है। परन्तु आप जो जगत् को मिथ्या या भ्रम कहकर जगत् के अस्तित्व को ही नहीं मानते, यह श्रुति-सम्मत नहीं है। जगत् मिथ्या नहीं है किन्तु नाशवान् है। पहले नहीं था—आगे भी नहीं रहेगा,यह सत्य है—जगत् विनाशशील है किन्तु मिथ्या नहीं है। कारण कि जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं होता, उसकी उत्पत्ति और विनाश भी नहीं कहा जा सकता। यदि जगत् का अस्तित्व ही न हो तो उसकी सृष्टि एवं प्रलय भी नहीं मानी जा सकती। किन्तु जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय की कथा तो शास्त्र-प्रसिद्ध है। **"यतो वा ईमानि भूतानि जायन्ते"**—इत्यादि श्रुति-वाक्य इसका प्रमाण हैं। वेदों में ब्रह्म को जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण कहा गया है। यदि जगत् का अस्तित्व ही न होता तो फिर उसका उपादान और निमित्त या कर्त्ता ही कैसा ? अतः जगत् का अस्तित्व है और तभी ब्रह्म को उसका कर्त्ता निरूपण किया गया है।

वेदान्त-सूत्र कहता है—**"भावे चोपलब्धेः** (२-१-१५)।" **"न भावोऽनुपलब्धेः** (२-२-३०)" अर्थात् जिस वस्तु का अस्तित्व होता है–उसी की ही उपलब्धि होती है और जो वस्तु है ही नहीं—उसकी उपलब्धि भी नहीं होती। हमारे चित्त में जगत् की उपलब्धि होती है—अतः इसकी उपलब्धि ही जगत् के अस्तित्व का प्रमाण है। श्रीशङ्कराचार्यपाद कहते हैं कि रस्सी में जैसे साँप का भ्रम होता है अथवा सीपी में जैसे चांदी का भ्रम होता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। इसी वाक्य में भी साँप और चान्दी की उपलब्धि या अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। सांप-नाम की कोई वस्तु यदि उपलब्ध न हो, साँप का ज्ञान ही न रहे, सांप का अस्तित्व ही यदि न माना जाये तो वस्तुतः रस्सी में सांप का भ्रम पैदा ही नहीं हो सकता। यदि चान्दी का अस्तित्व ही स्वीकार न किया जाये तो सीप में चान्दी का भ्रम ही कैसा ? इस प्रकार यदि जगत् की उपलब्धि या अस्तित्व ही न हो तो जगत् कहकर कोई भ्रम भी उत्पन्न नहीं हो सकता। साँप और चान्दी जिस प्रकार उपलब्ध वस्तुएं हैं उसी प्रकार जगत् भी उपलब्ध वस्तु है, जिसका भ्रम ब्रह्म में कहा जा सकता है। अतः जगत् नाशवान् है—यह सत्य है, किन्तु "जगत् मिथ्या या भ्रम है"—ऐसा कहना ही भ्रम है।

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने परिणामवाद की स्थापना करते हुए महावाक्य के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट किया, जिसे अगले पयारों में कहते हैं।

प्रणव ये 'महावाक्य' ईश्वरेर मूर्त्ति। प्रणव हैते सर्ववेद जगत्-उत्पत्ति ॥१५८॥
'तत्त्वमसि' जीवहेतु प्रादेशिक वाक्य। प्रणव न मानि तारे कहे 'महावाक्य' ॥१५९॥
एइमत कल्पना-भाष्ये शत दोष दिल। भट्टाचार्य पूर्वपक्ष अपार करिल ॥१६०॥
वितण्डा-छल-निग्रहादि अनेक उठाइल। सब खण्डि प्रभु निज मत से स्थापिल ॥१६१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—'प्रणव'—जो वेद का महावाक्य है, जो ईश्वर की मूर्त्ति है और जिससे सर्व वेदों और जगत् की उत्पत्ति होती है—उस 'प्रणव' को महावाक्य न मान कर आप 'तत्त्वमसि' को महावाक्य कहते हैं। 'तत्त्वमसि'—तो वेद में केवल जीव के सम्बन्ध में एक स्थल पर कहा गया है—(वह महावाक्य नहीं है।) इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने कल्पित अर्थयुक्त भाष्य में श्रीसार्वभौम को सैकड़ों दोष बताए। श्रीसार्वभौम ने भी अनेक प्रश्न किये एवं वितण्डावाद (अन्य के मत में दोष आरोपण करना), छल (वक्ता के वचनों के मर्म से असम्बन्धित कल्पित दोषारोपण) एवं निग्रह (निराकरण) के द्वारा अनेक आपत्तियां उठाई परन्तु श्रीमहाप्रभुजी ने सब का खण्डन करके अपने मत की ही स्थापना की ॥१६१॥

चै० च० चु० *टीका*—जिस वाक्य में वर्णनीय विषय रहता है—उसे **"महावाक्य"** कहते हैं—**"वाक्योऽन्वयो महावाक्यम्"**। जैसे "रामायण"—कहने से हम एक ऐसा ग्रन्थ या कथा समझ जाते हैं जिसमें श्रीरामजी का तत्व, लीलादि समस्त ज्ञातव्य विषय अन्तर्हित रहता है। इस प्रकार श्रीरामजी के सम्बन्ध में समस्त विषय 'रामायण' शब्द में आ जाता है। अतः 'रामायण' श्रीराम विषयक-महावाक्य है। इसी तरह 'महाभारत' कौरव-पाण्डवों के सम्बन्ध में महावाक्य है। किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' आपेक्षिक महावाक्य हैं, अर्थात् किसी एक विशेष विषय के सम्बन्ध में महावाक्य हैं। निरपेक्ष महावाक्य वही हो सकता है, जिसका कोई एक विशेष विषय लक्ष्य न हो, परन्तु प्राकृत और अप्राकृत जगत् में जहां भी जो कुछ है, वह समस्त जिसका लक्ष्य हो या वह समस्त विषय जिसके अन्तर्हित हो—वास्तव में वही **"महावाक्य"** है और उसी का ही इस पयार में तात्पर्य है।

वेद-वेदान्त, उपनिषत्-पुराण-इतिहासादि के मुख्य वक्तव्य विषय-समूह सूक्ष्मरूप से जिसमें, बीज में वृक्ष की तरह, अवस्थित हैं एवं जिसकी कथा इन समस्त शास्त्रों में प्रतिपादित है—वह महावाक्य है—**प्रणव अर्थात् ओंकार**। यह समस्त लक्षण केवल मात्र प्रणव में ही हैं और किसी वाक्य में नहीं हैं।

श्रुति कहती हैं—प्रणव ही ब्रह्म है। **"एतद् वै सत्य काम परञ्च अपरञ्च ब्रह्म यद् ओंकारः"** (प्रश्नोपनिषत् ५-२) अर्थात् हे सत्यकाम! यह ओंकार ही परब्रह्म एवं अपरब्रह्म है। तैत्तिरीय श्रुति कहती है (१-८)—**"ओम् इति ब्रह्म।"** **"ओम् इति इदं सर्वम्"**। अर्थात् ओंकार ही ब्रह्म हैं। यह परिदृश्यमान् जगत् भी ओम्कार ही है। इस प्रकार अनेक वेदवाक्य हैं, जिनसे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि यह परिदृश्यमान् जगत् ओम्कार है और ओम्कार से ही इसकी उत्पत्ति, ओम्कार में ही इसकी स्थिति एवं लय है। और इस परिदृश्यमान् जगत् से जो अतीत अप्राकृत जगत् है, वह समस्त ही ओम्कार है। ओम्कार ही सर्व कारण-कारण है अर्थात् ओम्कार के अतिरिक्त कहीं भी और कुछ नहीं है। समस्त वेदों का एवं समस्त साधनों का लक्ष्य एक मात्र ओम्-कार ही है। ओम्कार से ही चारों वेदों की, पुराणों एवं समस्त इतिहासों की उत्पत्ति होती है—ऐसे अनेक वाक्य श्रुतियों में वर्त्तमान हैं, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समग्र शास्त्र-वाक्यों का समष्टिरूप—ओम्कार ही है।

वेद-वेदान्त-पुराणादि समग्र शास्त्रों के सम्बन्ध तत्व, अभिधेय तत्त्व एवं प्रयोजन तत्व—ये तीनों प्रतिपाद्य विषय केवल ओम्कार में ही अन्तर्हित हैं। अतः श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि "**प्रणव ही ब्रह्म है।**" प्रणव ही सर्वापेक्षा बृहद्तम एवं विभु वाक्य है। अतः "**प्रणव ही महावाक्य है**" और व्यापक है—अन्यान्य समस्त वाक्य उसके व्याप्य हैं।

श्रीगौराङ्ग ने कहा—"सार्वभौम! तुम अथवा श्रीशङ्कराचार्यपाद 'तत्वमसि' को महावाक्य बतलाते हो, वह किन्तु महावाक्य नहीं है, क्योंकि "तत्वमसि" तो सामवेद के छान्दोग्य-उपनिषत् के षष्ठ-प्रपाठ के प्रसङ्ग में एक वाक्यरूप में आया है। यथा—"**स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो**"–इत्यादि (छान्दोग्य ६–१४–३)। चार वेदों में एक वेद है—सामवेद। उस सामवेदके अन्तर्गत कई उपनिषद् हैं। उनमें एक उपनिषत् है–छान्दोग्य-उपनिषत्। फिर उस उपनिषत्में एक ही बार आया है–"तत्वमसि"। परन्तु समस्त वेदोंका वाचक प्रणव है और समस्तवेद प्रणवके वाच्य हैं। इस प्रकार प्रणव तो तत्वमसि का भी वाचक है, प्रणव व्यापक है और तत्वमसि उसका व्याप्य है। प्रणव में जो कुछ जाना जा सकता है—उसका एक क्षुद्र अंश है—तत्त्वमसि। प्रणव तो ईश्वरादि का भी ज्ञान कराता है, परन्तु तत्त्वमसिसे ऐसा ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। प्रणव का वाच्य, तत्त्वमसि के वाच्य से बहुत बड़ा है। अतः प्रणव के सामने तत्त्वमसि कभी भी महावाक्य नहीं हो सकता।

तत् (वह ब्रह्म) **त्वम्** (तुम, जीव) **असि** (हो) अर्थात् तुम (जीव) वही ब्रह्म हो—इस प्रकार का अर्थ श्रीशङ्कराचार्यपाद ने जीव एवं ब्रह्म का अभेद निरूपण करते हुए किया है। किन्तु संन्यास लेते समय श्रीमहाप्रभु ने श्रीपाद केशवभारती जी को इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार बतलाया था—"तस्य-त्वम्-असि"—(षष्टी तत्-पुरुष-समास—**तत्वमसि**)। अर्थात् **तस्य** (उसके, उस ब्रह्मके) **त्वम्**(तुम, जीव) **असि** (हो)। अर्थात् तुम (जीव) ब्रह्म के हो या ब्रह्म के दास हो। वस्तुतः भक्तिमार्गानुगत यही अर्थ 'तत्वमसि' का है।

जिस प्रकार प्रणव में समग्र शास्त्रों के प्रतिपाद्य सम्बन्धतत्व, अभिधेयतत्व एवं प्रयोजन तत्व—अन्तर्हित हैं—'तत्वमसि'-वाक्य में इन तीनों तत्वों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। 'तत्वमसि' केवल जीव-तत्त्व का ज्ञान कराता है। जीव का ब्रह्म के साथ क्या सम्बन्ध है—उसका कुछ एक आभासमात्र इस वाक्य से सूचित होता है। उपासना के लिये जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। इस कारण 'तत्त्वमसि'-वाक्य को अभिधेय-तत्त्व का अङ्गमात्र कहा जा सकता है। परन्तु वह भी अभिधेय-तत्त्व का प्रकाशक-वाक्य नहीं कहा जा सकता। अतः **तत्त्वमसि जीव के सम्बन्ध में एकदेशिक वाक्य ही है, महा-वाक्य नहीं है।**

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु ने—'प्रणव' ही एक मात्र महावाक्य है, इस को प्रमाणित करने के पश्चात् अपने मत का भी थोड़ा परिचय दिया, जिसको निम्नलिखित पयारों में कहते हैं—

भगवान् 'सम्बन्ध' भक्ति 'अभिधेय' हय। प्रेमा 'प्रयोजन'— वेदे तिन वस्तु कय ॥१६२॥

आर ये ये कहे किछु-सकलि कल्पना। स्वतःप्रमाण वेदवाक्ये कल्पेन लक्षणा ॥१६३॥

आचार्येर दोष नाहि, ईश्वर आज्ञा हैल। अतएव कल्पना करि नास्तिक शास्त्रकैल ॥१६४॥

श्रीगौराङ्गदेव ने कहा—सार्वभौम! श्रीभगवान् ही 'सम्बन्ध' तत्त्व हैं अर्थात् वेद–श्रीभगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं, और भक्ति ही 'अभिधेय' तत्त्व है अर्थात् जीव के लिये एक मात्र साधन या जीव का परम कर्तव्य श्रीभगवान् की भक्ति ही है। और 'प्रेम' ही प्रयोजन-तत्त्व है अर्थात् प्रेम–प्राप्ति ही केवल-मात्र भगवत्-भक्ति करने का प्रयोजन है। वेदों में इन्हीं तीनों तत्त्वों का ही प्रतिपादन है (प्रस्तुत ग्रन्थ के भूमिका-स्वरूप श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त–रत्न-संग्रह ग्रन्थ में इन तीनों तत्त्वों की विषद् आलोचना हम कर आये हैं,

अतः वहाँ तेरहवाँ, चौदहवाँ एवं पन्द्रहवाँ रत्न पाठकों के लिये पठनीय है) प्रभु ने कहा—"इन तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त श्रीशङ्कराचार्यपाद ने और और जो कुछ कहा है, वह सब उनकी कल्पना है। स्वतः प्रमाण स्वरूप जो वेद-वाक्य हैं, उनके मुख्य अर्थों को छोड़कर उन्होंने अपने भाष्य में लक्षणावृत्ति से गौण अर्थों की कल्पना की है श्रीशङ्कराचार्यपाद का भी दोष नहीं है, उनके लिये ऐसा करने की श्रीभगवान् ने आज्ञा दी थी। इसलिये उन्होंने कल्पना करके नास्तिक-शास्त्र की कल्पना की। अगले श्लोकों में उस आज्ञा को प्रमाणित करते हैं ॥१६२-१६४॥

तथाहि पद्मपुराणे उत्तर खण्डे (६२-३१)

स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु ।
माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टि—रेषोत्तरोत्तरा ॥१३॥

श्रीभगवान् ने कहा—'हे शिव ! आप अपने कल्पित आगम-शास्त्र द्वारा समस्त लोगों को मेरे विमुख करो एवं मेरा भी गोपन करो, जिस से इस सृष्टि की उत्तरोत्तर वृद्धि हो सके ॥१३॥

इसी आज्ञा का परिचय श्रीशिवजी ने आगे चलकर श्रीदुर्गा के लिये दिया है—

तथाहि तत्रैव (२५-७)—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते ।
मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मणमूर्त्तिना ॥१४॥

श्रीशिवजी ने कहा—"हे दुर्गे ! लोग जिसे प्रच्छन्न बौद्ध-शास्त्र कहते हैं—वह मायावाद रूप असत् शास्त्र कलियुग में ब्राह्मण मूर्त्ति धारण कर मैंने ही फैलाया है ॥१४॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में श्रीशङ्कराचार्यपाद-कृत वेदान्त-भाष्य को ही लक्ष्य करके मायावाद-शास्त्र कहा गया है। इस भाष्य में ब्रह्म के सच्चिदानन्दमय विग्रह को अस्वीकार करके श्रीभगवान् के विग्रह को प्राकृत सत्वगुण का विकार कहा गया है। जीव और ईश्वर को अभिन्न कह कर श्रीभगवान् के साथ जीव के सेवक भाव को उड़ा दिया गया है। जिस से जीव के अशेष अमङ्गल की सम्भावना है। अतः इसे असत्-शास्त्र कहा गया है। स्वयं श्रीमहादेवजी ही ब्राह्मण-मूर्त्ति श्रीशङ्कराचार्य के रूप में प्रकट हुए और इस शास्त्र की रचना की और ब्रह्म के साकारत्व, सविशेषत्व, करुणामयत्व, भक्तानुग्रहकारकत्व आदि का खण्डन करके ब्रह्म का निर्विशेषत्व स्थापन किया।

बौद्ध-शास्त्र भी शून्यवादी है। बौद्ध-शास्त्र कहता है—विश्व का मूल शून्य है। ईश्वर कोई नहीं है। निरीश्वर शास्त्र होने से इस में भक्ति का अवकाश नहीं है। बौद्ध-शास्त्र एवं मायावाद शास्त्र दोनों भक्ति के बाधक होने से—मायावाद को भी बौद्ध-शास्त्रके समान कहा गया है। भेद केवल इतना है कि बौद्ध-शास्त्र वेद को नहीं मानता किन्तु मायावाद वेद के प्रमाण को स्वीकार करता है। परन्तु साधन विषय में मायावाद-मत भी बौद्ध-मत की भांति भक्ति का विरोध करता है। वेद का आश्रय लेकर वेद की ओट में भक्ति विरोधी तत्त्व का प्रचार करता है। अतः इसे **प्रच्छन्न-बौद्धशास्त्र** कहा गया है। भक्ति के प्रतिपादक वेदों को मानने से आपात दृष्टि से मायावाद भक्ति-प्रतिपादक दीख पड़ता हो—हो सकता है किन्तु भीतर प्रवेश करने से यह भक्ति-विरोधी ही सिद्ध होता है।

आलोचकों का कहना है कि श्रीशङ्कराचार्यपाद का मायावाद-भाष्य—"योगाचारभूमि"—नामक बौद्ध-ग्रन्थ के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। इस ग्रन्थ के रचयिता असङ्ग-नामक बौद्ध दार्शनिक हैं। बाहुल-संस्कृत्यायन नामक प्रसिद्ध बौद्ध पण्डित तिब्बत से योगाचारभूमि की प्रतिलिपि भारत में ले आए (१३४७ वङ्गला सन् ३० कार्तिक अंग्रेजी अमृत बाजार पत्रिका द्रष्टव्य), वस्तुतः श्रीशङ्कराचार्यपाद रचित—"भज-

गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते"—आदि अनेक स्तोत्र देखने से एवं "**मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते**"—नृसिंहतापनी के भाष्य में श्रीशङ्कराचार्यपाद की इस प्रकार की उक्ति तथा उनके षटपदी स्तोत्रादि को देखने से मन में आता है कि उनका अपना साधन-भजन उनके भाष्यके अनुरूप न था। षटपदी स्तोत्र में वे कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥ श्रो॥

अर्थात् "हे नाथ ! यद्यपि ईश्वर और जगत् या जीव में भेद नहीं है (सब जगत्, सब जीवों में आप ही परिपूर्ण हो) तो भी मैं आपसे उत्पन्न हुआ हूँ—आप मुझसे उत्पन्न नहीं हुए,जैसे समुद्र और तरङ्ग एक ही हैं, फिर भी तरङ्ग समुद्र से उत्पन्न होती है, समुद्र की उत्पत्ति तरङ्ग से नहीं (अतः आप मेरे जनक—पिता हो, नाथ हो, आपको मेरी रक्षा करनी ही होगी और मुझे अपनाना ही होगा।)"

इससे स्पष्ट दीखता है कि श्रीपादशङ्कराचार्य षटपदी-स्तोत्र का मर्म सेव्य-सेवक भाव के ही अनुकूल है। उनके मायावाद भाष्य के अनुकूल नहीं, हो भी कैसे ? आखिर तो श्रीशङ्कर ही हैं न ! "**वैष्णवानां यथा शम्भूः**" (श्रीमद्भागवत)। उनका अवतार भक्ति विरोधी नहीं हो सकता।

जिस समय वैष्णव—धर्म नष्ट हो चुका था और वेदमार्ग भी प्रायः लुप्त हो गया था और देश बौद्धों के शून्यवाद में प्लावित हुआ जा रहा था—उस समय वैष्णव-धर्म, जो सर्ववेदों का गुह्यतम प्रतिपाद्य मर्म है, एकदम उसका प्रचार एवं आचार अति कठिन जान कर श्रीशङ्कराचार्यपाद ने उपनिषत्-धर्म को पुनः प्रवर्तित करने के लिये—इस मायावाद-भाष्य की रचना की, जिससे जगत् शून्यवाद एवं नास्तिकवाद में फँसकर वेद–उपनिषत् मार्ग से विमुख न हो जाए। वास्तव में उन्होंने मायावाद के आवरण में भक्ति-वाद की ही प्रतिष्ठा की। हाँ ! यह सत्य है कि शून्यवादियों को उपनिषदिक धर्म की ओर आकर्षण करने के लिये श्रीशङ्कराचार्यपाद ने मायावाद–भाष्य की रचना या कल्पना की। परन्तु उनके षटपदी स्तोत्रादि उनके भक्ति-साधक–स्वरूप के प्रतीक या प्रमाण हैं।

शुनि भट्टाचार्य हैल परम विस्मित। मुखे ना निःसरे वाणी–हइला स्तम्भित ॥१६५॥
प्रभु कहे–भट्टाचार्य ! ना कर विस्मय। भगवाने भक्ति–परम पुरुषार्थ हय ॥१६६॥
आत्माराम–पर्य्यन्त करे ईश्वर–भजन। ऐछे अचिन्त्य भगवानेर गुणगण ॥१६७॥

इस प्रकार श्रीकृष्णचैतन्यदेव के बचन सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य परम विस्मित हो गये, मुख से कुछ न बोल सके मानो कठपुतलीवत स्तम्भित हो गये। श्रीमहाप्रभु ने फिर कहा—"भट्टाचार्य ! इसमें विस्मित होने की कोई बात नहीं है। जीव का परमतम पुरुषार्थ श्रीभगवान् की प्रेमाभक्ति ही प्राप्त करना है। श्रीभगवान् के गुण-समूह इतने अलौकिक एवं चित्ताकर्षक हैं कि संसार से मुक्त हुए आत्माराम मुनि भी उनकी भक्ति करते हैं ॥१६५–१६७॥ इसके प्रमाण में श्रीमहाप्रभु ने निम्नलिखित श्लोक सुनाया।

तथाहि (भागवते १–७–१०)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥१५॥

"श्रीहरि में ऐसे चित्ताकर्षक गुण हैं कि अविद्या-ग्रंथी रहित आत्माराम मुनिगण पर्य्यन्त भी उस उरुक्रम श्रीहरि की अहैतुकी भक्ति करते हैं ॥१५॥

[इस श्लोक की विषद् व्याख्या मध्य-लीला के २४ वें परिच्छेद में द्रष्टव्य है।]

शुनि भट्टाचार्य्य कहे शुन महाशय। एइ श्लोकेर अर्थ शुनिते वाञ्छा हय ॥१६८॥
प्रभु कहे-तुमि कि अर्थ कर, ताहा आगे शुनि । पाछे आमि करिव अर्थ येवा किछु जानि ॥१६९
शुनि भट्टाचार्य्य श्लोक करिल व्याख्यान। तर्क शास्त्र-मत उठाय विविध-विधान ॥१७०॥
नवविध अर्थ तर्कशास्त्र-मत लैया। शुनि महाप्रभु कहे ईषत् हासिया– ॥१७१॥

इस श्लोक को सुनकर भट्टाचार्य्य ने श्रीमहाप्रभु से कहा—"हे महाशय ! इस श्लोक के अर्थ सुनने की मेरी इच्छा है"। श्रीमहाप्रभु ने कहा—"आप इस श्लोक का क्या अर्थ करते हैं—पहले मैं वह सुनना चाहता हूँ। फिर जो कुछ मैं जानता हूँ—आपको सुनाऊँगा।" श्रीमहाप्रभु के वचन सुनकर श्रीभट्टाचार्य ने तर्कशास्त्र के मतानुसार इस श्लोक का अनेक प्रकार से अर्थ किया। तर्कशास्त्र मतानुसार श्रीसार्वभौम ने नौ प्रकार के अर्थ किये, जिन्हें सुनकर श्रीमहाप्रभु मुस्कराकर बोले— ॥१६८–१७१॥

भट्टाचार्य्य ! जानि तुमि साक्षात् वृहस्पति। शास्त्रव्याख्या करिते ऐछे कारो नाहि शक्ति॥१७२
किन्तु तुमि अर्थ कैले पाण्डित्य-प्रतिभाय। इहा वइ श्लोकेर आछे आरो अभिप्राय ॥१७३
भट्टाचार्य्येर प्रार्थनाय प्रभु व्याख्या कैल। तांर नव-अर्थ मध्ये एक ना छुंइल ॥१७४
आत्मारामादि श्लोके एकादश पद हय। पृथक् पृथक् कैल पदेर अर्थ—निश्चय ॥१७५

"भट्टाचार्य्य ! तुम तो मुझे साक्षात् वृहस्पति जान पड़ते हो। शास्त्र की इस प्रकार व्याख्या करने में और किसी की शक्ति नहीं है। आपने जो अर्थ किया है, वह विद्वत्ता एवं प्रतिभा से किया है, किन्तु इस अर्थ को छोड़कर इस श्लोक का और भी अभिप्राय है"। श्रीभट्टाचार्य्य के प्रार्थना करने पर श्रीमहाप्रभु ने इस श्लोक की व्याख्या की, परन्तु श्रीभट्टाचाय के किये नौ प्रकार के अर्थों में से एक को भी नहीं दोहराया। "आत्मारामाश्च" —आदि श्लोक में ग्यारह पद हैं। एक एक पद का पृथक् पृथक अर्थ श्रीमहाप्रभु ने बखान किया ॥१७२-१७५ ॥

तत् पद प्राधान्ये आत्माराम मिलाइया। अष्टादश अर्थ कैल अभिप्राय लञा ॥१७६॥
भगवान् तांर शक्ति, तांर गुणगण। अचिन्त्य प्रभाव तिनेर–ना हय कथन ॥१७७॥
अन्य यत साध्यसाधन करि आच्छादन। एइ तिने हरे सिद्ध–साधकेर मन ॥१७८॥
सनकादि शुकदेव ताहाते प्रमाण। एइमत नाना अर्थ करेन व्याख्यान ॥१७९॥

मुनियः, निर्ग्रन्थाः, आदि पदों के प्रधान-प्रधान विभिन्न अर्थों के साथ 'आत्माराम'–शब्द को मिलाकर श्लोक के मर्म अनुकूल अठारह प्रकार के अर्थ श्रीमहाप्रभु ने किये। श्रीभगवान्, श्रीभगवान् की शक्ति तथा श्रीभगवान् के गुण-इन तीनों का अचिन्त्य प्रभाव है, जो अकथनीय है।

श्रीभगवान्, उनकी शक्ति तथा उनके गुण—साधकों के मन को तो हरण करते ही हैं, परन्तु जो सिद्ध-साधक हैं—उनके मन को भी हर लेते हैं और ये तीनों अपने अचिन्त्य शक्ति–प्रभाव से अन्यान्य साध्य–साधनों को निष्प्रभ कर देते हैं अर्थात् फिर वे सिद्ध साधक गण अन्यान्य कर्मादि साधनों तथा स्वर्गादि, मोक्षादि साध्यों को तुच्छ मानते हैं। श्रीसनकादि तथा श्रीशुकदेव मुनि इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं। अर्थात् श्रीसनकादि–श्रीशुकदेव मुनि जन्म से ही ब्रह्ममय थे,किन्तु श्रीकृष्ण-गुण श्रवण करते ही उनका मन ऐसा मुग्ध हो उठा कि वे ज्ञानमार्ग के साधन एवं उसके साध्य ब्रह्मसायुज्य मुक्ति को त्याग कर श्रीकृष्ण-चरण का भजन करने लगे। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने अनेक अर्थ किये ॥१७६–१७९॥

शुनि भट्टाचार्य्य–मने हैल चमत्कार। प्रभुके 'कृष्ण' जानि करे आपना धिक्कार ॥१८०॥
इंहो त साक्षात् कृष्ण–इहा ना जानिया। महा अपराध कैल गर्वित हइया ॥१८१॥

आत्मनिन्दा करि लैल प्रभुर शरण। कृपा करिवारे तबे प्रभुर हैल मन ॥१८२॥
देखाइल आगे तारे चतुर्भुज रूप। पाछे श्याम वंशीमुख—स्वकीय स्वरूप ॥१८३॥

श्रीमहाप्रभु के वचन सुनकर श्रीभट्टाचार्य विस्मित हो उठे और जान गये कि यह संन्यासी स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं और कोई नहीं। यह जानकर अपने को धिक्कार करने लगे कि मैंने उन्हें साक्षात् श्रीकृष्ण न जानकर अनेक गर्व किया है, जिससे महान् अपराध का भागी हुआ हूँ। श्रीसार्व्वभौम भट्टाचार्य्यने अपनी निन्दा करते हुए मह प्रभु की शरण ग्रहण की। श्रीप्रभु का मन भी उन पर विशेष कृपा करने के लिये आतुर हो उठा। श्रीमहाप्रभु ने पहले उन्हें अपने चतुर्भुज-नारायण स्वरूप के दर्शन कराये एवं फिर श्याम-सुन्दर स्वयं श्रीकृष्ण मुरलीधारी रूप दिखाया ॥१८०-१८३॥

देखि सार्व्वभौम पड़े दण्डवत् करि। पुन उठि स्तुति करे दुइ कर युड़ि ॥१८४॥
प्रभुर कृपाय तारे स्फुरिल सब तत्व। नाम--प्रेमदान-आदि वर्णन महत्व ॥१८५॥
शत श्लोक कैल एक दण्ड ना याइते। बृहस्पति तैछे श्लोक ना पारे करिते ॥१८६॥
शुनि सुखे प्रभु तांरे कैल आलिङ्गन। भट्टाचार्य्य प्रेमावेशे हैला अचेतन ॥१८७॥

श्रीमहाप्रभु के अपूर्व दर्शन करते ही श्रीसार्व्वभौम ने प्रभुको दण्डवत् प्रणाम किया एवं पुनः हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे। प्रभु की कृपा से उनके चित्तमें प्रभुका समस्त तत्त्व स्फुरित हो उठा एवं वह प्रभु की नाम-प्रेमदानादि-रूप महिमा का वर्णन करने लगे। श्रीसार्व्वभौम ने सौ श्लोकों द्वारा एक घड़ी से भी कम समय में श्रीमहाप्रभु की स्तुति की, मानो बृहस्पति भी इतनी जल्दी श्लोक रचना नहीं कर सकता। श्रीमहाप्रभु ने उस स्तुति को सुखपूर्वक सुनकर श्रीसार्व्वभौम को आलिङ्गन किया। श्रीभट्टाचार्य्य प्रेमावेश में अचेतन हो गये ॥१८४-१८७॥

अश्रु स्तम्भ पुलक कम्प स्वेद थरहरि। नाचे गाय कान्दे पड़े प्रभु-पद धरि ॥१८८॥
देखि गोपीनाथाचार्य्य हरषित—मन। भट्टाचार्य्येर नृत्य देखि हासे प्रभुर गण ॥१८९॥
गोपीनाथाचार्य्य कहे महाप्रभु प्रति। सेइ भट्टाचार्य्य प्रभु कैले एइ गति? ॥१९०॥
प्रभु कहे—तुमि भक्त, तोमार सङ्ग हैते। जगन्नाथ इंहारे कृपा कैल भाल मते ॥१९१॥

श्रीसार्व्वभौम के देह में अश्रु, स्तम्भ पुलक, थर-थर कम्प, स्वेद, आदि अष्ट सात्विक-विकार हो उठे एवं वे नाचने, गाने एवं कभी रोने लगे और बार बार श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ने लगे। उनकी यह अवस्था देखकर श्रीगोपीनाथाचार्य्य मन में अतीव प्रसन्न हुए, एवं श्रीमहाप्रभु के साथीगण उनके नृत्य को देखकर हँसने लगे। श्रीगोपीनाथाचार्य्य श्रीमहाप्रभु से कहने लगे—"यह वही भट्टाचार्य्य हैं! (जो शुष्क-ज्ञानी एवं तार्किक थे) अहा! प्रभो! आपने इनकी यह गति कर दी?" प्रभु ने कहा—"आप भगवान् के भक्त हो, आपके सङ्ग प्रभाव से ही श्रीजगन्नाथजी ने इन पर पूर्ण कृपा की है ॥१८८ १९१॥

तबे भट्टाचार्य्ये प्रभु सुस्थिर करिल। स्थिर हैया भट्टाचार्य्य बहु स्तुति कैल—॥१९२॥
जगत् निस्तारिले तुमि—सेइ अल्प-कार्य्य। आमा उद्धारिले तुमि, ए शक्ति आश्चर्य्य ॥१९३॥
तर्क शास्त्रे जड़ आमि, यैछे लोहपिण्ड। आमा द्रवाइले तुमि प्रताप-प्रचण्ड ॥१९४॥
स्तुति शुनि महाप्रभु निजवासा आइला। भट्टाचार्य्य आचार्य्य द्वारे भिक्षा कराइला ॥१९५॥

फिर श्रीमहाप्रभु ने भट्टाचार्य्य को सावधान एवं स्थिर किया। स्थिर होने पर श्रीभट्टाचार्य्य श्रीमहाप्रभु की अनेक स्तुति करने लगे--"आप जगत् का निस्तार करोगे--यह अति अल्प कार्य्य है। परन्तु हे प्रभो ! आपने जो मेरा उद्धार किया है, इसमें आप की आश्चर्यमय शक्ति का परिचय है। क्योंकि मैं तो लोह-पिण्ड की भांति तर्क-शास्त्र में जड़मति हो रहा था। मेरे हृदय को आपने द्रवित व कोमल कर दिया है—यह आप की महान महिमा है"। स्तुति को सुनकर श्रीमहाप्रभु अपने वासस्थान पर चले आए। श्रीभट्टाचार्य्य ने श्रीगोपीनाथाचार्य्य के द्वारा महाप्रसाद मंगाकर श्रीमहाप्रभु को भोजन कराया।

आरदिन प्रभु गेला जगन्नाथ-दर्शने। दर्शन करिला जगन्नाथ-शय्योत्थाने ॥१९६॥
पूजारी आनिञा माला-प्रसादान्न दिला। प्रसादान्न-माला पाइया प्रभु हर्ष हैला ॥१९७॥
सेइ प्रसादान्न-माला अञ्चले बान्धिया। भट्टाचार्य्येर घरे आइला त्वरायुक्त हैया ॥१९८॥
अरुणोदय-काले हैल प्रभुर आगमन। सेइ काले भट्टाचार्य्येर हइल जागरण ॥१९९॥

और एक दिन श्रीमहाप्रभु श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करने गये। वहाँ उन्हें श्रीजगन्नाथजी के शय्योत्थान (मंगला) के दर्शन मिले। पुजारी ने प्रसादी माला एवं प्रसाद लाकर प्रभुको दिया। प्रसाद एवं माला को पाकर प्रभु अति प्रसन्न हुए। उस प्रसादान्न एवं माला को अञ्चल में बाँधकर श्रीमहाप्रभु अति शीघ्र श्रीभट्टाचार्य के घर चले आये। जब श्रीप्रभु वहाँ पहुँचे तब अरुणोदय (प्रभात) का समय था एवं उसी समय श्रीभट्टाचार्य्य जागे ही थे ॥१९६-१९९॥

'कृष्ण कृष्ण' स्फुटे कहि भट्टाचार्य्य जागिला। कृष्णनाम शुनि प्रभुर आनन्द बाढ़िला ॥२००॥
बाहिरे प्रभुर तेंहो पाइल दरशन। आस्ते व्यस्ते आसि कैल चरण-वन्दन ॥२०१॥
वसिते आसन दिया दोंहे त वसिला। प्रसादान्न खुलि प्रभु तांर हाथे दिला ॥२०२॥
प्रसाद पाञा भट्टाचार्य्येर आनन्द हइल। स्नान-सन्ध्या दन्तधावन यद्यपि ना कैल ॥२०३॥
चैतन्य-प्रसादे मनेर सब जाड्य गेल। एइ श्लोक पढ़ि अन्न भक्षण करिल ॥२०४॥

श्रीभट्टाचार्य उच्चस्वर से 'कृष्ण-कृष्ण' नाम उच्चारण करते हुए जागे। 'श्रीकृष्णनाम' श्रीभट्टाचार्य्य के मुख से सुनकर श्रीमहाप्रभु को आनन्द हुआ। श्रीभट्टाचार्य घर से बाहर आये और प्रभु के दर्शन किये एवं तत्काल उनकी चरण-वन्दना की। श्रीभट्टाचार्य्य ने प्रभु को आसन दिया एवं दोनों बैठ गये। श्रीमहाप्रभु ने प्रसादान्न अञ्चल से खोलकर उनके हाथ में दे दिया। प्रसाद को पाकर श्रीभट्टाचार्य्य को आनन्द हुआ। उन्होंने यद्यपि स्नान, सन्ध्या, दान्तन आदि कुछ भी नहीं किया था, किन्तु श्रीचैतन्य की कृपासे उनके मनकी जड़ता दूर हो चुकी थी, अतः निम्नलिखित श्लोक पढ़कर उन्होंने प्रसाद खा लिया। (दन्तधावन, स्नान, सन्ध्यादि किये बिना श्रीसार्व्वभौम जैसा आचारनिष्ठ कोई भी ब्राह्मण कभी अन्नग्रहण नहीं करता, परन्तु श्रीमहाप्रभ कृपा से श्रीसार्व्वभौम की भक्ति-विमुखता दूर हो चुकी थी,तथा वे जान चुके थे कि स्मृति-आचार की अपेक्षा भक्ति-अङ्गों का स्थान बहुत ऊँचा है।) ॥२००-२०४॥

तथाहि पद्मपुराणे—

शुष्कं पर्य्युषितं वापि नीतं वा दूरदेशतः।
प्राप्तमात्रेण भोक्तव्यं नात्र काल विचारणा ॥१६॥

न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा ।
प्राप्तमन्नं द्रुतं शिष्टैर्भोक्तव्यं हरिरब्रवीत् ॥१७॥

पद्मपुराण में कहा गया है कि—"महाप्रसाद सूखा हो चाहे पर्य्युषित् (वासी, खट्टा) हो, किंवा दूर देश से ही क्यों न आया हुआ हो, जब ही मिले, ठीक उसी समय ही उसे भोजन करना चाहिये, इस में समय का कोई विचार नहीं करे॥१६॥ महाप्रसाद के विषय में देश,स्थान एवं समय का कोई नियम नहीं है, (जिस समय, जिस स्थान पर महाप्रसाद मिले, उसी समय, उसी स्थान पर) शिष्ट व्यक्तिगण शीघ्र ही उसे भोजन करे—स्वयं श्रीहरि ने ऐसी आज्ञा की है ॥१७॥

देखि आनन्दित हैल महाप्रभुर मन । प्रेमाविष्ट हैया प्रभु कैला आलिङ्गन ॥२०५॥
दुइजन धरि दोंहे करेन नर्त्तन । प्रभु-भृत्य दोंहार स्पर्शे दोंहार फूलेमन ॥२०६॥
स्वेद कम्प अश्रु दोंहे आनन्दे भासिला । प्रेमाविष्ट हञा प्रभु कहिते लागिला—॥२०७॥
आजि मुञि अनायासे जिनिनु त्रिभुवन । आजि मुञि करिनु वैकुण्ठे आरोहण ॥२०८॥

श्रीभट्टाचार्य्य की महाप्रसाद में इस प्रकार श्रद्धा देखकर श्रीमहाप्रभु प्रसन्न हुए एवं प्रेमाविष्ट होकर श्रीसार्व्वभौम को आलिङ्गन कर लिया । दोनों एक दूसरे को पकड़कर नृत्य करने लगे । स्वामी एवं सेवक दोनों का मन एक दूसरे को स्पर्श कर आनन्द से फूल उठा । स्वेद, कम्प, अश्रु आदि सात्विक विकारों में दोनों विभोर हो गये । श्रीमहाप्रभु प्रेमपूर्वक कहने लगे—"आज मैंने त्रिभुवन पर विजय प्राप्त करली है तथा वैकुण्ठलाभ किया है" ॥२०५-२०८॥

आजि मोर पूर्ण हैल सर्व अभिलाष । सार्वभौमेर हैल महाप्रसादे विश्वास ॥२०९॥
आजि निष्कपटे तुमि हैला कृष्णाश्रय । कृष्ण निष्कपटे हैला तोमारे सदय ॥२१०॥
आजि से खण्डिल तोमार देहादि-बन्धन । आजि छिन्न कैले तुमि मायार-बन्धन ॥२११॥
आजि कृष्ण प्राप्तियोग्य हैल तोमार मन । वेदधर्म लङ्घि कैले प्रसादभक्षण ॥२१२॥

प्रभु ने कहा—"आज मेरी समस्त अभिलाषाएं पूर्ण हो गई हैं । क्योंकि सार्वभौम को महाप्रसाद में निष्ठा और विश्वास उत्पन्न हुआ है ।" सार्वभौम ! आज निष्कपटता से तुमने श्रीकृष्ण-आश्रय लिया है और श्रीकृष्ण ने भी निष्कपटता से तुम पर दया की है । आज तुम्हारा देहादि का बन्धन श्रीभगवान् ने तोड़ डाला है । आज तुम माया के बन्धन से मुक्त हुए हो । आज तुम्हारा मन श्रीकृष्ण-प्राप्ति के योग्य हुआ है क्योंकि तुम ने वेद-धर्म का उलङ्घन करके भगवत्-प्रसाद को खाया है ॥२०९-२१२॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमन्महाप्रभु जगत् के जीवों को शुद्ध-भक्ति प्रदान करने के लिये ही अवतर्ण हुए थे । श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य उस समय के परम विद्वान् एवं अद्वितीय पण्डित थे । साधारणतः यह कहा जा सकता है कि सब जगत् उनकी आज्ञा में चलता था । तर्कशास्त्र में वह सब को परास्त करने वाले थे । श्रीमहाप्रभु ने जब यह देखा कि श्रीसार्वभौम, जो आज से पहले भगवत्-प्रसाद के प्रति कुछ भी निष्ठा न रखतेथे-उन्होंने दन्तधावन-स्नानादि किये बिना परम श्रद्धायुक्त महाप्रसादको खा लिया है,तो श्रीमहाप्रभु ने अपनी अभिलाषा की पूर्त्ति मान ली । क्योंकि जब कुतार्किक, अद्वितीय विद्वान् सार्वभौम जैसा व्यक्ति आज वेदधर्म की कुछ भी परवाह न करके शुद्ध-भक्ति का पथिक बन गया है तो मानो अन्यान्य जगत्-जीवों का उद्धार हो ही गया । अतः श्रीमहाप्रभु ने उसे अपनी अभिलाष-पूर्त्ति मानी । और जैसे वैकुण्ठ-प्राप्ति

दुर्लभ होती है, उसी प्रकार श्रीसार्वभौम जैसे कुतार्किक विद्वान को शुद्धभक्ति पर लाना भी अत्यन्त दुर्लभ था—श्रीसार्वभौम के हृदय में शुद्धभक्ति का सञ्चार देखकर प्रभु ने उसे वैकुण्ठ-प्राप्ति कहा।

श्रीसार्वभौम का देह-क्रिया, सन्ध्यादि किये बिना भगवत्-प्रसाद को खा लेना उनकी शुद्धभक्ति में निष्कपटता का तो प्रमाण है ही, किन्तु श्रीभगवान् ने भी उन पर निष्कपट दया की। श्रीभगवान् की निष्कपट-दया कैसी ? और कपटपूर्ण दया कैसी ?—जीव के भजन-साधन सिद्ध होने पर श्रीभगवान् अनेक प्रकार के सुख-भोग, स्वर्गादिक-सुख अथवा चारों प्रकार की मुक्ति अर्थात् भुक्ति एवं मुक्ति को प्रदान कर देते हैं, किन्तु अपनी प्रेमभक्ति किसीको नहीं देते। जैसे–**कृष्ण यदि छूटे भक्त भुक्ति-मुक्ति दिया। कभु प्रेम-भक्ति ना देय राखे लुकाइया।**" (चै० च० १–८–१६)। प्रेम-भक्ति परमोत्कृष्ट वस्तु को न देकर जीव को तुच्छ भोग एवं मुक्ति प्रदान करना यही श्रीभगवान् की कपटपूर्ण दया है। चाहे इसकी जिम्मेवारी साधक पर ही है—वह चाहता ही भोग और मुक्ति है। फिर भी श्रीभगवान् चाहें तो उसे अपने आप भोग एवं मुक्ति में न भुलाकर अपनी शुद्ध–भक्ति या प्रेम-भक्ति प्रदान कर सकते हैं, किन्तु वे भी ऐसा नहीं करते। अतः भोग एवं मुक्ति प्रदान करने में जो भगवत्-दया है,वह श्रीभगवान् की निष्कपट दया नहीं है।

श्रीभगवान् की निष्कपट दया तब ही है, जब जीव सब भोगों एवं चारों प्रकार की मुक्ति को तुच्छ जानकर केवल मात्र श्रीभगवत्-चरणों की प्रेमपूर्वक सेवा ही चाहता है एवं देहधर्म-लोकधर्म–वेदधर्मों के बन्धन से मुक्त होकर केवल भगवत्‌निष्ठ हो जाता है। श्रीसार्वभौम आज देहधर्म-लोकधर्मादि भूल चुके थे एवं भगवत्-प्रसाद को पाकर कृत-कृतार्थ हो रहे थे—यही उन पर श्रीभगवान् की निष्कपट अर्थात् पूर्णतम कृपा दृष्टि थी। इस प्रकार की निष्ठा होने पर ही जीव का चित्त परम स्वच्छ एवं श्रीकृष्ण-कृपा प्राप्ति के योग्य होता है। उसके लिये फिर देह-गेहादि का और माया का बन्धन कैसा ? अर्थात् उस कृपाप्राप्त जीव के लिये कुछ भी देहादि माया का बन्धन नहीं रहता। इसी भाव का एक श्लोक श्रीमहाप्रभु ने सुनाया, जिसे नीचे उद्‌धृत करते हैं।

तथाहि (भा० २–७-४२)—

येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वश्‍गालभक्ष्ये ॥१८॥

श्रीभागवतजी में श्रीब्रह्माजी ने श्रीनारदजी को कहा है:—"वे श्रीअनन्तभगवान् जिन के प्रति कृपा करते हैं, वे पुरुष यदि कपट रहित हृदय से श्रीभगवान् के चरणों की शरण लें, तो वे उनकी दुस्तर दैवी माया को तर जाते हैं और इस शरीर में, जो कुत्ते शृगालादि का भक्ष्य है, उनकी मैं—मेरी बुद्धि नहीं रहती ॥१८॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमद्भागवत में इस श्लोक से पूर्व श्लोक में श्रीब्रह्माजी ने कहा है कि हे नारद ! तुम्हारे अग्रज मुनिगण एवं स्वयं मैं (ब्रह्मा) भी श्रीभगवान् की माया-शक्ति के अन्त को नहीं पा सकते। सहस्र बदन श्रीअनन्तदेव भी उनके गुणों का नित्य गान करके उसका पार नहीं पा सकते।" यह बात सुनकर मन में स्वाभाविक एक प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्मादिक भी भगवान् की माया का पार नहीं पा सकते तो जीव उनकी माया को कैसे तर सकता है ?—इसके उत्तर में श्रीब्रह्माजी ने यह श्लोक कहा है—"श्रीभगवान् जिन पर कृपा करते हैं, वही माया से उत्तीर्ण हो सकते हैं।

श्रीभगवान् की कृपा तो सूर्य-किरणों की भांति सब पर समान भाव से वितरण हो रही है। और वे हैं भी पक्षपात्-रहित दयालु। विशेषतः उनका स्वभाव है-जीव का निस्तार करना। तो इस

अवस्था में अर्थात् जब सब पर उनकी कृपा समान-भाव से वितरण हो रही है, हर एक जीव माया से उत्तीर्ण हो जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं, क्यों ?—माया से उत्तीर्ण होने के लिये एक और भी शर्त है—वह है कि जो सर्वविध कपटता त्याग कर सर्वतोभावेन् भगवान् की शरण ग्रहण करते है अर्थात् सर्वतोभावेन भगवच्चरणों में आत्म-समर्पण करते हैं—वही इस दुस्तर-माया से उत्तीर्ण होते हैं। इसी लिये यहाँ "**सर्वात्मनाश्रितपदः**" कहा गया है।

माया-समुद्र से उत्तीर्ण होने के लिये दो बातों की आवश्यकता है—प्रथमतः—श्रीभगवत्-कृपा और द्वितीयतः भगवच्चरणों में सर्वतोभावेन अकपट-आत्मसमर्पण। अकपट-आत्मसमर्पण की योग्यता भी तो भगवत्कृपा बिना इस जीव में उत्पन्न नहीं हो सकती। भगवान् की जो दया सूर्य-किरणों की भाँति समान भाव से वितरण हो रही है,वह दया ऐसी दया नहीं है जो आत्मसमर्पण की योग्यता विधान करती हो। यदि ऐसी वह दया होती तो सब जीव भगवच्चरणों में आत्मसमर्पण कर माया-समुद्र से उत्तीर्ण हो जाते।

भगवच्चरणों में आत्मसमर्पण करने की योग्यता विधान करने वाली दया केवल महत्-पुरुषों के सङ्ग से ही सर्वप्रथम प्रकाशित होती है। महत्-कृपा के रूप में भगवत्कृपा जिन पर होती है—वही आत्म-समर्पण की योग्यता लाभ करते हैं और वही उत्तीर्ण होते हैं। भगवत्कृपा जब किसी महत्-पुरुष या भक्त के द्वारा महत्-कृपा रूप से जीव पर प्रसन्न होती है तब वह भाग्यवान् जीव उस महत्-कृपा के प्रभाव से निष्कपटतापूर्वक आत्मसमर्पण की चेष्टा करने लगता है अर्थात् श्रवण-कीर्त्तन भजनाङ्गों का आचरण करने लगता है। इन साधनों के द्वारा चित्त की मलिनता दूर होकर जब अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है, तब वह साधक निष्कपट भाव से भगवच्चरणों में आत्मसमर्पण की योग्यता प्राप्त करता है और आत्म-समर्पण कर सकता है। वह फिर माया समुद्र से उत्तीर्ण हो जाता है। उसके लिये फिर इस नश्वर-अनात्म शरीर में अहंकार या ममता नहीं रह सकती।

एत कहि महाप्रभु आइला निज स्थाने। सेइ-हैते भट्टाचार्य्येर खण्डिल अभिमाने ॥२१३॥
चैतन्यचरण बिने नाहि जाने आन। भक्ति बिनु शास्त्रेर आर ना करे व्याख्यान ॥२१४॥
गोपीनाथाचार्य्य तांर वैष्णवता देखिया। 'हरि हरि' बलि नाचे करतालि दिया ॥२१५॥
आर दिन भट्टाचार्य्य चलिला दर्शने। जगन्नाथ ना देखि आइला प्रभु-स्थाने ॥२१६॥
दण्डवत् करि कैल बहुविध स्तुति। दैन्य करि कहे निज पूर्व्व-दुर्म्मति ॥२१७॥
भक्तिसाधन श्रेष्ठ शुनिते हैल मन। प्रभु उपदेश कैल—नाम सङ्कीर्त्तन ॥२१८॥

इतना कहकर श्रीमहाप्रभु अपने वासस्थान पर चले आये। उसी दिन से श्रीभट्टाचार्य्य का ज्ञानी-पने एवं विद्वत्ता का अभिमान टूट गया। श्रीचैतन्य-चरणों को छोड़कर अब वे कुछ नही जानते थे एवं भक्ति-शास्त्र के बिना वे किसी और शास्त्र की व्याख्या नहीं करते थे। श्रीगोपीनाथाचार्य्य उनकी वैष्णवता देखकर 'हरि-हरि' बोल कर ताली बजाते एवं नाचने लगते थे। एक दिन श्रीभट्टाचार्य्य श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने के लिये चले किन्तु मन्दिर न जाकर श्रीमहाप्रभु के वासस्थान पर चले आये। श्रीसार्व-भौम ने प्रभु को दण्डवत् प्रणाम की एवं उनकी अनेक स्तुति की। दीनता पूर्वक अपनी पहली दुर्मति को भी सुनाया। साधन भक्ति में श्रेष्ठ साधन (अङ्ग) सुनाने के लिये प्रभु से उन्होंने प्रार्थना की। प्रभु ने उन्हें नाम-सङ्कीर्त्तन करने का उपदेश किया ॥२१३-२१८॥

नाम-सङ्कीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है—इसके प्रमाण में श्रीमहाप्रभु ने निम्नलिखित श्लोक पढ़ा।

तथाहि बृहन्नारदीय पुराणे(३८-१२६)

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥१६॥

बृहन्नारदीय पुराण में कहा है—कलियुग में हरिनाम ही गति है, और कोई गति नहीं है, हरिनाम ही गति है—और कोई गति नहीं है, केवल हरिनाम ही गति है और कोई गति नहीं है ॥ १६ ॥
[इस श्लोक की विषद् व्याख्या श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न-संग्रह पृष्ठ नं० २८६ पर द्रष्टव्य है ।]

एइ श्लोकेर अर्थ शुनाइल करिया विस्तार । शुनि भट्टाचार्य्य मने हैल चमत्कार ॥२१६॥
गोपीनाथाचार्य्य बोले-आमि पूर्वे ये कहिल । शुन भट्टाचार्य ! तोमार सेइ त हइल ॥२२०॥
भट्टाचार्य्य कहे तांरे करि नमस्कारे । तोमार सम्बन्धे प्रभु कृपा कैल मोरे ॥२२१॥
तुमि महाभागवत, आमि तर्क-अन्धे । प्रभु कृपा कैल मोरे तोमार सम्बन्धे ॥२२२॥

श्रीमहाप्रभु ने इस श्लोक का अर्थ भी विस्तार पूर्वक सुनाया, जिसे सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य का मन चमत्कृत हो उठा । श्रीगोपीनाथाचार्य श्रीभट्टाचार्य से बोले—"सुनिये भट्टाचार्य ! मैंने जो कुछ आप को पहले बताया था, वही आपसे हुआ न । अर्थात् अब तो तुम जान गये कि यह संन्यासी स्वयं श्री-व्रजेन्द्रनन्दन ही हैं और तुम्हारा ज्ञान-ध्यान सब इनकी कृपा से जाता रहेगा और तुम शुद्ध भक्ति के पथिक बन जाओगे ।" भट्टाचार्य ने कहा—"गोपीनाथ ! मैं तुम को नमस्कार करता हूँ, तुम्हारे सम्बन्ध से (तुम्हारा साला होने के नाते) प्रभु ने मुझ पर कृपा की है । तुम भगवान् के परम भक्त हो, किन्तु मैं अभी तक तर्कशास्त्र में अन्धा होकर घूमता रहा । सचमुच प्रभु ने तुम्हारा सम्बन्ध जानकर मुझ पर कृपा की है ।

विनय शुनि तुष्ट प्रभु कैल आलिङ्गन । कहिल–याञा करह जगन्नाथ दरशन ॥२२३॥
जगदानन्द दामोदर दुइ सङ्गे लञा । घरे आइला भट्टाचार्य जगन्नाथ देखिया ॥२२४॥
उत्तम—उत्तम प्रसाद बहुत आनिला । निज विप्र—हाते दुइ जना सङ्गे दिला ॥२२५॥
निज दुइ श्लोक लिखि एक तालपाते । 'प्रभुके दिह' बलि दिल जगदानन्द-हाथे ॥२२६॥

उनकी विनय सुनकर श्रीमहाप्रभु ने उन्हें आलिङ्गन कर संतुष्ट किया एवं श्रीजगन्नाथजी के दर्शन जाकर करने का आदेश किया । श्रीभट्टाचार्य, श्रीजगदानन्द तथा श्रीदामोदर इन दोनों को साथ लेकर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करके अपने घर चले आये । उत्तम-उत्तम प्रसाद मँगाकर अपने ब्राह्मण के हाथ श्रीमहाप्रभु को भिजवाया और श्रीजगदानन्द तथा श्रीदामोदर को भी साथ भेजा । श्रीसार्व्वभौम ने अपने रचित दो श्लोक भी एक ताल-पत्र पर लिखकर श्रीजगदानन्द को दिये और कहा कि इन्हें श्रीमहाप्रभु को दे देना ॥२२३–२२६॥

प्रभु स्थाने आइला दोंहे प्रसाद-पत्री लञा । मुकुन्ददत्त पत्री निल तार हाते पाञा ॥२२७॥
दुइ श्लोक बाहिर-भिते लिखिया राखिल । तबे जगदानन्द पत्री प्रभुरे लञा दिल ॥२२८॥
प्रभु श्लोक पढ़ि पत्र चिरिया फेलिल । भित्त्ये देखि भक्त सब श्लोक कण्ठे कैल ॥२२६॥

श्रीजगदानन्द तथा श्रीदामोदर, प्रसाद तथा पत्री लेकर प्रभु के पास आए । श्रीमुकुन्ददत्त ने श्रीजगदानन्द के हाथ से पत्री ले ली और वे दोनों श्लोक उन्होंने बाहर दीवार पर लिख लिये, (क्योंकि वे जानते थे कि श्रीमहाप्रभु अपनी स्तुति के श्लोक फाड़ डालेंगे ।) फिर श्रीजगदानन्द ने वह पत्री प्रभु

के हाथ में दी। महाप्रभु ने श्लोकों को पढ़ा और तत्काल पत्री फाड़ कर डाल दी। परन्तु भक्तों ने उन दोनों श्लोकों को दीवार पर से पढ़ कर कण्ठ कर लिया ॥२२७-२२९॥ वे श्लोक इस प्रकार हैं।

तथाहि चैतन्यचन्द्रोदयनाटके (६-७४)—

वैराग्यविद्यानिज भक्तियोग-शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये ॥२०॥
कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः प्रादुष्कर्त्तुं कृष्णचैतन्यनामा।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे गाढ़ं गाढ़ं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥२१॥

वैराग का विधान (संन्यासी के आचरण) एवं अपने (श्रीकृष्ण-विषयक) भक्तियोग की शिक्षा देने के निमित्त जो करुणासिन्धु एक (अद्वितीय) पुराण पुरुष (आदि पुरुष-सर्वकारण-कारण) श्रीकृष्ण चैतन्यरूप से अवतीर्ण हुए हैं, मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ ॥ २० ॥ काल प्रभाव से प्रायः विनष्ट हुआ अपना भक्ति-योग पुनः प्रचार करने के लिये श्रीकृष्णचैतन्य नाम से जो अवतीर्ण हुए हैं, उनके चरण-कमलों में मेरा मन-मधुकर अति गाढ़ रूप से आसक्त हो ॥ २१ ॥

एइ दुइ श्लोक भक्तकण्ठे रत्नहार। सार्व्वभौमेर कीर्त्ति घोषे ढक्कावाद्याकार ॥२३०॥
सार्व्वभौम हैला प्रभुर भक्त एकतान। महाप्रभु बिने सेव्य नाहि जाने आन ॥२३१॥
श्रीकृष्णचैतन्य शचीसुत गुणधाम। एइ ध्यान, एइ जप, एइ लय नाम ॥२३२॥

ये दोनों श्लोक भक्तों ने रत्नहार की भाँति कण्ठ में धारण कर लिये एवं जो श्रीसार्व्वभौम की कीर्ति को ऊँचे स्वर से घोषित करते थे। अब तो श्रीसार्व्वभौम श्रीमहाप्रभु के एकान्त भक्त हो गये तथा उनके सिवा अन्य कोई सेव्य नहीं मानते थे। उनका ध्यान, जप एवं नामसंकीर्त्तन—सब कुछ श्रीशचीकुमार श्रीकृष्णचैतन्य गुणधाम ही बन गये ॥ २३०—२३२ ॥

एक दिन सार्व्वभौम प्रभुस्थाने आइला। नमस्कार करि श्लोक पढ़िते लागिला ॥२३३॥
भागवतेर ब्रह्मस्तवेर श्लोक पढ़िला। श्लोक शेषे दुइ अक्षर पाठ फिराइला ॥२३४॥

एक दिन श्रीसार्व्वभौम श्रीमहाप्रभु के स्थान पर आए तथा नमस्कार कर श्लोक पढ़ने लगे। वह श्लोक श्रीमद्भागवत की ब्रह्मस्तुति का है। उन्होंने श्लोक के अन्तिम दो अक्षरों का पाठ बदल कर (उसे निम्न रूप से) पढ़ा ॥ २३३—२३४॥

तथाहि (भाः १०—१४—८)

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो भक्तिपदे स दायभाक् ॥२२॥

श्रीब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण से कहा है—(क्योंकि भक्ति के बिना आपकी महिमा को कोई भी नहीं जान सकता) अतएव जो पुरुष 'भगवान् कब मुझ पर कृपा करेंगे'—इस प्रकार बाट देखता हुआ अपने किये कर्म-फल को भोग करते करते काया, मन एवं वाणी से आपको नमस्कार करता हुआ अर्थात् आप का भजन करते हुए जीवन को व्यतीत करता है, वही भक्तिपद का दायभागी या उत्तराधिकारी होता है।

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक के मूल पाठ में '**मुक्तिपदे स दायभाक्**' —ऐसा पाठ है किन्तु श्रीसार्वभौम ने 'मुक्तिपदे' की जगह पर 'भक्तिपदे' ऐसा पाठ पढ़ा। उसका कारण अगले पयारों में कहा

गया है। ब्रह्मा जी ने इस श्लोक में श्रीभगवान् की भक्ति रूप सम्पत्ति को प्राप्त करने का उपाय या नियम वर्णन किया है। 'दायभाग'—का अर्थ है पैत्रिक सम्पत्ति अर्थात् पिता की सम्पत्ति। पिता की सम्पत्ति का जो अधिकारी हो—उसे दाय-भागी कहते हैं। श्रीभगवान् की भक्ति ही उनकी सम्पत्ति है। उस सम्पत्ति का अधिकारी कौन होता है—उसे कहते हैं।

पैत्रिक-सम्पत्ति का दायभागी होने के लिये तीन बातें हुआ करती हैं। **पहली**—यह कि अधिकारी जीवित रहे। यदि वह जीवित ही न रहेगा तो सम्पत्ति का अधिकार या भोग कैसे करेगा? **दूसरी**—जीवन-काल में अपने पिताजी का शासन-पालन। अर्थात् समझाने या हित के लिये जो बुरा-भला पिताजी कहें, उसे पिताजी की कृपा समझ कर पुत्र का चुपचाप सहन करना। **तीसरी**—पिताजी की ही प्रसन्नता के लिये उनकी हर प्रकार से सेवा करना। इन तीनों बातों के होते हुए एक पुत्र अपने पिताजी की सम्पत्ति का अधिकारी हुआ करता है।

इसी प्रकार श्रीभगवान् की भक्तिरूप-सम्पत्ति का अधिकारी होने के लिये इन्हीं तीनों बातों की परमावश्यकता है। **प्रथमतः**—अपने जीवन की रक्षा करना। कई एक साधक श्रीभगवान् की प्राप्ति के लिये उनके नाम पर आत्म-हत्या करने पर उद्यत हो जाते हैं। ऐसा करना बुद्धि पूर्वक नहीं है—उनके लिये भक्ति-प्राप्ति न होकर आत्म-हत्या का घोर पाप और लगता है। अतः जीवन को रखना—यह पहली बात है। **द्वितीयः**—जीवन काल में अपने किये हुए कर्मों के फल-स्वरूप जो दुख-सुख प्राप्त हों उन्हें अपना हितकर जानकर भगवत्-कृपा की बाट देखते हुए हँसी-खुशी से सहन करना। चाहे दीखने में धन, स्त्री-पुत्र, शत्रु आदि दुख-सुख देने वाले प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में वे अपने पूर्वले जन्म के किये हुए पाप-पुण्यों का फल ही होता है। कोई भी इस जीव के लिये सुख-दुख देने वाला नहीं है—ऐसा विचार कर अपने कर्मफल को भगवत्-प्रदत्त जानकर उसका सहन करना। **तृतीयः**—श्रीभगवान् की प्रीति के लिये अर्थात् अपने सुख के लिये नहीं, केवल उनकी प्रसन्नता एवं सुख विधान के लिये—मन से, वाणी से और शरीर से उनकी सेवा करना अर्थात्—भक्ति-अङ्गों का अनुष्ठान करते रहना। इन तीनों बातों का आचरण करने से ही भक्त श्रीभगवान् की कृपा अथवा भक्तिरूप-सम्पत्ति का अधिकारी होता है। —यही इस श्लोक का तात्पर्य है। 'मुक्तिपदे'—के स्थान पर 'भक्तिपदे' पाठ फेरने का कारण श्रीमहाप्रभु ने श्रीसार्वभौम से पूछा—उसे अगले पयारों में कहते हैं।

प्रभु कहे—'मुक्तिपदे' इहा पाठ हय। 'भक्तिपदे' केने पढ़, कि तोमार आशय? ॥२३५॥
भट्टाचार्य कहे—मुक्ति नहे भक्ति-फल। भगवद्विमुखेर हय दण्ड केवल ॥२३६॥
कृष्णेर विग्रह येइ सत्य नाहि माने। येइ निन्दा युद्धादिक करे तांर सने ॥२३७॥
सेइ-दुइयेर दण्ड हय, ब्रह्मसायुज्य मुक्ति। तार मुक्ति फल नहे—येइ करे भक्ति ॥२३८॥

श्रीमहाप्रभु ने पूछा—"सार्वभौम! इस श्लोक में तो 'मुक्तिपदे'-ऐसा पाठ है। तुमने 'भक्तिपदे'-ऐसा क्यों पढ़ा—इससे तुम्हारा क्या आशय है?" श्रीभट्टाचार्य ने कहा—भक्ति का फल मुक्ति नहीं है। मुक्ति तो भगवद्विमुख लोगों के लिये केवल एक विशेष दण्ड है। जो लोग श्रीकृष्ण के विग्रह को सत्य नहीं मानते हैं और जो श्रीभगवान् की निन्दा करते हैं या उनके साथ युद्धादि करते हैं—उन दोनों के लिये दण्ड रूप में ब्रह्मसायुज्य मुक्ति मिलती है। किन्तु जो भक्ति करने वाले हैं उसका फल मुक्ति नहीं है ॥२३८॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमहाप्रभु के पाठ फेरने का कारण पूछने पर श्रीसार्वभौम ने कहा—"प्रभो! कृपा की बाट तकते हुए, अनासक्त चित्त से दुख-सुख को भोगना एवं मनसा-वाचा-कर्मणा

श्रीभगवान् के चरणों में नमस्कार करते हुए जीवन धारण करना—यह तो साधन-भक्ति के अङ्गों का अनुष्ठान है। इसके बदले में श्रीभगवान् से दायाधिकार-रूप में जो फल मिलता है, वह भक्ति ही है। भक्ति का फल मुक्ति की प्राप्ति नहीं है। श्रीभागवत के श्लोक का मर्म भी यही है। अत: मैंने ऐसा पाठ किया है। जो लोग भगवान् की भक्ति नहीं करते—उन्हें दण्ड रूप में भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं—मुक्ति प्रदान करना श्रीभगवान् का अनुग्रह नहीं बल्कि एक दण्ड देना है। जो लोग श्रीभगवान् के विग्रह को सच्चिदानन्दघन न मान कर उसे माया के सत्वगुण का विकार कहते हैं, और जो शिशुपालादि की भाँति श्रीभगवान् की निन्दा करने वाले हैं, उन दोनों को श्रीभगवान् ब्रह्मसायुज्य मुक्ति दे देते हैं, जिस मुक्ति में जीव ब्रह्म में एकता को प्राप्त कर लेता है। अतः भक्ति-अङ्गों के आचरण का फल मुक्ति नहीं है। इसी आशय को लेकर मैंने श्रीभगवान् से दायाधिकार में प्राप्त होने वाली भक्ति का पाठ किया है।"
श्रीभट्टाचार्य्य ने आगे कहा—

यद्यपि से मुक्ति हय पञ्च परकार—। सालोक्य, सामीप्य,सारूप्य,सार्ष्टि, सायुज्य आर॥२३९
सालोक्यादि चारि यदि हय सेवाद्वार। तबे कदाचित् भक्त करे अङ्गीकार ॥२४०॥
'सायुज्य' शुनिते भक्तेर हय घृणा भय। नरक वाञ्छये तबु सायुज्य ना लय ॥२४१॥
ब्रह्मे ईश्वरे सायुज्य दुइत प्रकार। ब्रह्मसायुज्य हैते ईश्वरसायुज्य धिक्कार ॥२४२॥

सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि तथा सायुज्य—यह पाञ्च प्रकार की मुक्तियाँ हैं। प्रथम की चार मुक्तियाँ यदि भगवत् सेवा में सहायक हों तो कदाचित् भक्त उसे स्वीकार कर भी लेते हैं। परन्तु सायुज्य मुक्ति का नाम सुनते ही भक्तों को घृणा और भय होता है। वे नरक में बास को अच्छा मानते हैं किन्तु सायुज्य-मुक्ति नहीं चाहते। (क्योंकि नरक में रहते हुए भी भगवत्स्मृति की सम्भावना है और नरक के पश्चात् पुनः भक्ति साधन किया जा सकता है, परन्तु सायुज्य-मुक्ति में तो इन दोनों बातों में से किसी की भी सम्भावना नहीं है)। सायुज्य-मुक्ति, दो प्रकार की है—ब्रह्म-सायुज्य तथा ईश्वर-सायुज्य। अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म में लयता तथा सविशेष-ईश्वर में लयता। ब्रह्म-सायुज्य से ईश्वर-सायुज्य और भी धिक्कार योग्य है (क्योंकि ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त जीवगण साधन काल में उत्पन्न हुई भक्ति वासना के अनुसार ब्रह्म-सायुज्य को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी भक्ति की कृपा से स्वतन्त्र देह धारण कर भगवान् का भजन कर सकते हैं, यथा—"**मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते**।" परन्तु सविशेष ईश्वर में सायुज्य-मुक्ति प्राप्त जीवों के लिये यह सम्भावना नहीं है) ॥२३९-२४२॥

विशेष आलोचना आदिलीला पृष्ठ ५५ पर द्रष्टव्य है। श्रीसार्वभौम ने प्रमाण में श्रीमद्भागवत का निम्नलिखित श्लोक पढ़ा।

तथाहि (भा० ३-२९-१३)—

सालोक्य-सार्ष्टि—सामीप्य—सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥२३॥

श्रीभगवान् ने उद्धवजी से कहा—"सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य मुक्ति देने पर भी मेरे भक्त मेरी सेवा के बिना इन्हें ग्रहण नहीं करते हैं" ॥ २३ ॥ (अत: भक्ति का फल मुक्ति नहीं है, और इसलिये मैंने भक्तिपाठ पढ़ा—श्रीभट्टाचार्य ने कहा।)

प्रभु कहे—मुक्तिपदेर आर अर्थ हय। 'मुक्तिपद'-शब्दे—साक्षात् ईश्वर कहय ॥२४३॥
मुक्ति पदे थार—सेइ 'मुक्तिपद' हय। नवमपदार्थ-मुक्तिर किम्वा समाश्रय ॥२४४॥

दुइ अर्थे 'कृष्ण' कहि, काहे पाठ फिरि ?। सार्वभौम कहे,ओ-शब्द कहिते ना पारि ॥२४५॥
यद्यपि तोमार अर्थ एइ शब्दे कय। तथापि आश्लिष्यदोषे कहेन ना याय ॥२४६॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"मुक्तिपद" के और भी कई अर्थ हैं। मुक्तिपद-शब्द से साक्षात् ईश्वर का अभिप्राय है। जिनके चरणोंका आश्रय लेने से मुक्ति मिलती है वे हैं—मुक्तिपद श्रीभगवान्। अथवा जिनके चरणों के आश्रय मुक्ति रहती है—वे हैं 'मुक्तिपद'-अर्थात् श्रीभगवान्। अथवा नवमपदार्थ जो मुक्ति है उसका जो आश्रय है—वे मुक्तिपद अर्थात् श्रीभगवान् हैं। हे सार्वभौम ! मुक्तिपदके इन दोनों अर्थों से श्री-कृष्ण ही अभिप्रेत हैं,पाठ को बदलनेकी क्या आवश्यकता है ? श्रीसार्वभौमने कहा—"प्रभो ! मैं वह(मुक्ति) शब्द कह ही नहीं सकता हूँ। यद्यपि आपके अर्थों में मुक्तिपद श्रीभगवान् हैं तथापि इसके अनेक अर्थ निकलते हैं।अतः इस में आश्लिष्य दोष आता है। इसलिये मुझ से यह नहीं कहा जाता ॥२४३-२४६॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के दशम अध्याय के प्रथम श्लोक में दस पदार्थों का उल्लेख है, जिनका वर्णन आदिलीला पृष्ठ ४५ पर किया जा चुका है। उनमें नवम पदार्थ मुक्ति है। और दशम पदार्थ आश्रय कहा गया है। दशम पदार्थ श्रीकृष्ण ही हैं। दशम पदार्थ-श्रीकृष्ण को शेष नौ पदार्थों का आश्रय कहा गया है अर्थात् मुक्ति-आदि नौ पदार्थ श्रीकृष्ण के आश्रय रहते हैं। अतः मुक्ति जिन के आश्रय रहती है—वे श्रीकृष्ण ही 'मुक्तिपद' हैं—यह श्रीमहाप्रभुजी का अभिप्राय था। परन्तु श्रीसार्वभौम ने कहा कि कुछ भी अर्थ हो, मुझ से तो वह (मुक्ति)शब्द कहा ही नहीं जाता है। श्री-महाप्रभु ने कहा—'मुक्ति-शब्द' से और भी तो मुक्तियाँ जानी जा सकती हैं, यथा—सालोक्यादि ? उस पर श्रीसार्वभौम ने कहा—

यद्यपिह मुक्ति-शब्देर पञ्च मुक्त्ये वृत्ति। रूढ़ि-वृत्त्ये करे तबु सायुज्य प्रतीति ॥२४७॥
मुक्ति-शब्द कहिते मने हय घृणा-त्रास। भक्ति-शब्द कहिते मने हय त उल्लास ॥२४८॥
शुनिया हासेन प्रभु आनन्दित मने। भट्टाचार्ये कैल प्रभु दृढ़ आलिङ्गने ॥२४९॥
येइ भट्टाचार्य पढ़े पढ़ाय मायावाद। तांर ऐछे वाक्य स्फुरे चैतन्यप्रसाद ॥२५०॥

श्रीसार्वभौम ने कहा—"यद्यपि मुक्ति-शब्द से पाञ्चों प्रकार की मुक्तियों का अर्थ निकलता है, फिर भी मुक्ति शब्द का रूढ़ी अर्थ सायुज्य-मुक्ति ही स्फुरण होता है। अर्थात् मुक्ति शब्द सुनते ही सर्व प्रथम सायुज्य-मुक्ति ही ध्यान में आती है। अतः मुक्ति-शब्द कहने से ही मुझे घृणा होती है और प्रभो ! मुझे तो भय भी लगता है। किन्तु भक्ति-शब्द कहने से मुझे अलौकिक आनन्द मिलता है। अतः मैं भक्ति-पद ही का पाठ करता हूँ"। श्रीमहाप्रभु भट्टाचार्य के वचन सुनकर हँसने लगे और परम आनन्दित हुए और भट्टाचार्य को महाप्रभु ने दृढ़ता पूर्वक गले लगा लिया। कविराज गोस्वामी कहते हैं—"जो सार्वभौम भट्टाचार्य मायावाद को पढ़ने और पढ़ाने वाले थे—आज उनके मुख से इस प्रकार के भक्तिपरा वचन निकल रहे हैं—यह केवल श्रीचैतन्यदेव की ही कृपा का फल है" ॥ २४७-२५० ॥

लोहाके यावत् स्पर्शि हेम नाहि करे। तावत् स्पर्शमणि केहो चिनिते ना पारे ॥२५१॥
भट्टाचार्येर वैष्णवता देखि सर्वजन। प्रभुके जानिल साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन ॥२५२॥
काशीमिश्र-आदि यत नीलाचलवासी। शरण लइल सभे प्रभुपदे आसि ॥२५३॥

पारस मणि जब तक लोहे को स्पर्श कर सोना नहीं बनाती, तब तक उस पारस मणि को कोई नहीं पहचान सकता। अर्थात् जब तक श्रीमहाप्रभु ने सार्वभौम पर कृपा न की थी तब तक वह श्रीमहाप्रभु के स्वरूप को न पहचान सके और न ही उनके अन्यान्य अनुयायी श्रीमहाप्रभु को जान सके। किन्तु अब भट्टाचार्य की वैष्णवता को देख कर सब ने जान लिया कि श्रीचैतन्य तो साक्षात् श्री ब्रजेन्द्रनन्दन-श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकाशी मिश्र आदि और भी जितने नीलाचल वासी लोग थे—सब ने आकर श्रीमहाप्रभु के चरणों की शरण ग्रहण की ॥२५१-२५३॥

सेइ सब कथा आगे करिव वर्णन। सार्वभौम करे यैछे प्रभुर सेवन ॥२५४॥
यैछे परिपाटी करे भिक्षा—निर्वाहण। विस्तारिया आगे ताहा करिव वर्णन ॥२५५॥
एइ महाप्रभुर लीला सार्वभौम-मिलन। इहा येइ श्रद्धा करि करये श्रवण ॥२५६॥
ज्ञान कर्म—पाश हैते हय विमोचन। अचिराते पाय सेइ चैतन्यचरण ॥२५७॥
श्रीरूप—रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२५८॥

इन सब की कथा आगे चलकर वर्णन करेंगे। श्रीसार्वभौम जिस प्रकार प्रभु की सेवा करते थे एवं जिस परिपाटी से भिक्षा-निर्वाह करते थे, ये सब चरित विस्तार पूर्वक आगे वर्णन करेंगे। श्रीमन्महाप्रभु की इस सार्वभौम-मिलन-लीला को जो श्रद्धापूर्वक सुनते हैं, उनके ज्ञान एवं कर्म के बन्धन टूट जाते हैं और वे श्रीचैतन्य-चरण कमलों को अति शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं। श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरणों की आशा करते हुए कविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥ २५४—२५८ ॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य--लीलायां
सार्व्वभौमोद्धारो-नाम
षष्ठ परिच्छेदः ॥६॥

जयगौर

मध्य-लीला

सप्तम परिच्छेद

★

धन्यं तं नौमि चैतन्यं वासुदेवं दयार्द्रधीः ।
नष्टकुष्ठं रूपपुष्टं भक्तितुष्टं चकार यः ॥१॥

जिन्होंने करुणावश वासुदेव को कुष्ठरोग से मुक्त कर सुन्दर रूपवान् कर दिया एवं उसे प्रेम-भक्ति प्रदान कर तुष्ट किया, जगत्-जीवों के दुःख-नाशक उन श्रीचैतन्यमहाप्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

[इस सप्तम परिच्छेद में श्रीमन्महाप्रभु के दक्षिण-भ्रमण एवं वासुदेव विप्र के उद्धार की कथा वर्णित है ।]

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥१॥
एइमत सार्व्वभौमेर निस्तार करिल । दक्षिणगमने प्रभुर इच्छा उपजिल ॥२॥
माघशुक्लपक्षे प्रभु करिल संन्यास । फाल्गुने आसिया कैल नीलाचले वास ॥३॥
फाल्गुनेर शेषे दोलयात्रा से देखिल । प्रेमावेशे ताहां बहु नृत्य गीत कैल ॥४॥

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेव एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो । श्रीअद्वैतचन्द्र तथा श्रीगौर-भक्तवृन्दों की जय हो, जय हो । इस प्रकार श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य्य का निस्तार करने के पश्चात् श्रीमहाप्रभु के मनमें दक्षिण देश में जाने की इच्छा हुई । माघ शुक्ल पक्ष में श्रीमहाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया एवं फाल्गुन में नीलाचल आकर वास करने लगे । फाल्गुन के शेष में झूलन-यात्रा के दर्शन किये और प्रेमावेश में वहाँ अनेक नृत्य गान किया ॥ १-४ ॥

चैत्रे रहि कैल सार्व्वभौम-विमोचन । वैशाख—प्रथमे दक्षिण याइते हैल मन ॥५॥
निजगण आनि कहे विनय करिया । आलिङ्गन करि सभारे श्रीहस्ते धरिया ॥६॥
तोमासभा जानि आमि प्राणाधिक करि । प्राण छाड़ायाय, तोमासभा छाड़िते ना पारि॥७॥
तुमिसब बन्धु मोर-बन्धुकृत्य कैले । इहां आनि मोरे जगन्नाथ देखाइले ॥८॥

श्रीमहाप्रभु ने चैत मास वहाँ रह कर श्रीसार्व्वभौम का उद्धार किया । वैशाख के आदि में प्रभु की इच्छा दक्षिण यात्रा के लिये उदित हुई । अपने साथियों को बुलाकर प्रभु ने उन्हें आलिङ्गन किया

एवं उनका हाथ पकड़ कर विनय करने लगे—"मैं आप सब को प्राणों से भी अधिक जानता हूँ। प्राण छोड़ना सहज है किन्तु मैं आप सब को नहीं छोड़ सकता। आप सब मेरे बन्धु हैं एवं आपने मेरे साथ बन्धु-उपयुक्त कार्य भी किया है, जो मुझे यहां लाकर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन कराये हैं" ॥५–८॥

एवे सभास्थाने मुञि मागों एक दाने। सभे मिलि आज्ञा देह–याइव दक्षिणे ॥९॥
विश्वरूप-उद्देशे आमि अवश्य याइव। एकाकी याइव, काहो सङ्गे ना लइव ॥१०॥
सेतुबन्ध हैते आमि ना आसि यावत। नीलाचले तुमि सब रहिवे तावत ॥११॥
'विश्वरूपेर-सिद्धि प्राप्ति'-जानेन सकल। दक्षिणदेश उद्धारिते करेन एइ छल ॥१२॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"अब मैं आप सब से एक दान माँगता हूँ। वह यह है कि आप सब मुझे दक्षिण की ओर जाने की आज्ञा दीजिये। श्रीविश्वरूप (अपने बड़े भाई) के लिये मुझे अवश्य जाना है। किन्तु मैं अब अकेला ही जाना चाहता हूँ, किसी को सङ्ग नहीं ले जाऊँगा। सेतुबन्ध से जब तक मैं लौटकर नहीं आऊँ, तब तक आप सब यहाँ नीलाचल में ही रहिये"। श्रीविश्वरूप का देहावसान हो चुका है—यह सब कोई जानता था एवं श्रीमहाप्रभु भी जान चुके थे, परन्तु फिर भी "विश्वरूप के लिये मुझे दक्षिण में अवश्य जाना है"—यह बात प्रभु ने जो कही—यह एक बहाना था। वास्तव में प्रभु दक्षिण देश के उद्धार करने के लिये ही जाना चाहते थे ॥ ९–१२ ॥

शुनिया सभार मने हैल महादुःख। वज्र येन माथे पड़े—शुकाइल मुख ॥१३॥
नित्यानन्दप्रभु कहे–ऐछे कैछे हय ?। एकाकी याइवे तुमि—के इहा सहय ? ॥१४॥
एक–दुइ सङ्गे चलुक–ना कर हठरङ्गे। यारे कह सेइ–दुइ चलुक तोमार सङ्गे ॥१५॥
दक्षिणेर तीर्थपथ आमि सब जानि। आमि सङ्गे चलि प्रभु! आज्ञादेह तुमि ॥१६॥

श्रीमहाप्रभु के यह बचन सुनकर सब को महान दुख हुआ मानो बज्राघात हुआ। सब का मुख सूख गया। श्रीनित्यानन्दप्रभु ने कहा—"प्रभो! यह कैसे हो सकता है? कि आप अकेले जाओगे—यह कौन सहन कर सकता है? एक दो व्यक्ति आपके सङ्ग चलेंगे, इसमें आप हठ न करिये। सो भी आप जिन्हें आज्ञा करो, वही दो व्यक्ति आपके साथ चलेंगे। प्रभो! दक्षिण में जितने तीर्थ हैं उन सब का रास्ता मैं जानता हूँ, अतः आप मुझे आज्ञा दीजिये—एक तो मैं आपके साथ चलूंगा" ॥१३–१६॥

प्रभु कहे—आमि नर्त्तक, तुमि सूत्रधार। यैछे तुमि नाचाह तैछे नर्त्तन आमार ॥१७॥
संन्यास करिया आमि चलिलाङ वृन्दावन। तुमि आमा लैया आइला अद्वैत-भवन ॥१८॥
नीलाचल आसिते भाङ्गिले मोर दण्ड। तोमासभार गाढ़ स्नेहे आमार कार्यभङ्ग ॥१९॥
जगदानन्द चाहे आमा विषय भुञ्जाइते। येइ कहे—से-इ-भये चाहिये करिते ॥२०॥
कभु यदि इहाँर वाक्य करिये अन्यथा। क्रोधे तिनदिन आमाय नाहि कहे कथा ॥२१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"नित्यानन्द! मैं तो नर्त्तक हूँ और तुम हो सूत्रधार; जैसे तुम मुझे नचाते हो वैसे ही मैं नृत्य करता हूँ। संन्यास ग्रहण किये पश्चात् मैं वृन्दाबन जाना चाहता था, परन्तु तुम मुझे श्रीअद्वैत के घर पर शान्तिपुर ले आये। नीलाचल आते समय आपने ही तो मेरा दण्ड तोड़ दिया था—अतः आप लोगों के गाढ़-स्नेह से मेरा सब काम बिगड़ जाता है। (यदि तुम जगदानन्द को साथ ले जाने के लिये कहो तो वह भी सुनिये—) जगदानन्द तो मुझे विषय-भोग ही भुगवाना चाहता है और फिर जो

वह कहे, मुझे भयभीत होकर वही करना पड़ता है। यदि कभी उसके बचन नहीं मानूं तो वह इतना क्रोधित हो जाता है कि तीन-तीन दिन तक मुझ से बोलता ही नहीं" ॥१७-२१॥

मुकुन्द हयेन दुखी देखि संन्यासधर्म। तिनबार शीते स्नान—भूमिते शयन ॥२२॥
अन्तरे दुखी मुकुन्द—नाहि कहे मुखे। इंहार दुख देखि आमार द्विगुण हये दुखे ॥२३॥
आमि त संन्यासी, दामोदर ब्रह्मचारी। सदा रहे आमार उपर शिक्षादण्ड धरि ॥२४॥
इंहार अग्रेते आमि ना जानि व्यवहार। इंहारे ना भाय स्वतन्त्र चरित्र आमार ॥२५॥
लोकापेक्षा नाहि इंहार कृष्णकृपा हैते। आमि लोकापेक्षा कभु ना पारि छाड़िते ॥२६॥

"श्रीमुकुन्द तो मुझे सर्दी में तीन बार स्नान करते एवं भूमि पर शयन आदि संन्यासियों के धर्म-आचरण करते देखकर दुखी होते हैं। चाहे वे मुँह से कुछ नहीं कहते, परन्तु वे मन में दुखी होते हैं। उनका दुख देखकर मैं दुगना दुखी होता हूँ। और श्रीदामोदर ब्रह्मचारी है और मैं हूँ—संन्यासी, वह मेरे ऊपर सदा शिक्षा-दण्ड पकड़े रहता है। उसके सामने-किस के साथ कैसा व्यवहार करना है—यह मैं नहीं जान सकता और उसे मेरा स्वाधीन चरित्र भी अच्छा नहीं लगता, और श्रीदामोदर पर श्रीकृष्ण-कृपा है, जिससे वे लोकापेक्षा नहीं रखते अर्थात् जगत् की निन्दा-स्तुति की परवाह वे नहीं करते, परन्तु मैं तो लोकापेक्षा को नहीं त्याग सकता" ॥२२-२६॥

अतएव तुमि सब रह नीलाचले। दिनकथो आमि तीर्थ भ्रमिव एकले ॥२७॥
इंहासभार वश प्रभु हये ये—ये गुणे। दोषारोपच्छले करे गुण आस्वादने ॥२८॥
चैतन्येर भक्तवात्सल्य अकथ्य—कथन। आपने वैराग्य—दुख करेन सहन ॥२९॥
सेइ दुख देखि येइ भक्त दुख पाय। सेइ दुख तांर शक्त्ये सहन ना याय ॥३०॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"क्योंकि मैं तुम्हारे सङ्ग में स्वच्छन्द आचरण नहीं कर सकूंगा, इसलिये आप सब नीलाचल ही रहिये, मैं कुछ दिन अकेला ही तीर्थ भ्रमण करने जाऊंगा"। जिस जिस गुण के कारण श्रीमहाप्रभु इन सब के वशीभूत थे, यहाँ उन गुणों का प्रभु ने दोषारोप के छलसे वर्णन या आस्वादन किया। श्रीचैतन्यदेव का भक्तवात्सल्य अकथनीय है। वह इसप्रकार कि आप स्वयं तो अपने वैराग्य-दुख को सहन कर लेते हैं। परन्तु उनके वैराग्य-दुख को देखकर उनके भक्त दुखी होते हैं-इस दुख को प्रभु अपनी उस शक्ति से सहन नहीं कर सकते, जिस शक्ति से वे अपने वैराग्य-दुख को सहन करते हैं। (अतः इनका भक्तवात्सल्य अनिर्वचनीय है) ॥२७-३०॥

गुणे दोषोद्गार—छले सभा निषेधिया। एकाकी भ्रमिवेन तीर्थ वैराग्य करिया ॥३१॥
तबे चारिजन बहु मिनति करिल। स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु—कभु ना मानिल ॥३२॥
तबे नित्यानन्द कहे—ये आज्ञा तोमार। दुःख-सुख हऊक—सेइ कर्त्तव्य आमार ॥३३॥
किन्तु एक निवेदन करों आरवार। विचार करिया ताहा कर अङ्गीकार ॥३४॥

सब साथियों के गुणों को दोष रूप में वर्णन कर प्रभु ने अपने साथ चलने से सबको मना कर दिया और कहा कि अकेले ही वैराग्यपूर्वक तीर्थों में भ्रमण करूंगा। फिर श्रीनित्यानन्द, श्रीजगदानन्द श्री-दामोदर एवं श्रीमुकुन्द ने प्रभु को बहुत प्रार्थना की परन्तु प्रभु तो स्वतंत्र ईश्वर है न, किसी की कुछ भी

नहीं माने। फिर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"प्रभो ! आपकी जो आज्ञा है, चाहे उसमें दुख हो या सुख, उसका पालन करना हमारा कर्त्तव्य है। किन्तु फिर एक बार मैं कुछ निवेदन करता हूँ, आप उसे विचार कर मानियेगा ।।३१-३४।।

कौपीन वहिर्वास, आर जलपात्र। आर किछु सङ्गे नाहि यावे एइ मात्र ।।३५।।
तोमार दुइ हस्त बद्ध नामगणने। जलपात्र वहिर्वास वहिवे केमने ? ।।३६।।
प्रेमावेशे पथे तुमि हवे अचेतन। जलपात्र-वस्त्रेर केवा करिवे रक्षण ? ।।३७।।
कृष्णदास-नाम एइ सरल-ब्राह्मण। इंहा सङ्गे करि लह, धर निवेदन ।।३८।।
जलपात्र-वस्त्र वहि तोमार सङ्गे यावे। ये तोमार इच्छा कर, किछु ना वलिवे ।।३९।।

वह यह है कि "कोपीन, बहिर्वास तथा जलपात्र—ये आपके सङ्ग तो रहेंगे ही यदि और आप कुछ भी साथ न ले जायें। आपके दोनों हाथ तो नाम-जप तथा संख्या करने में रुके रहेंगे, फिर जलपात्र एवं बहिर्वास आप कैसे उठाओगे ? और फिर प्रेमावेश में आप जब मार्ग में अचेतन हो जाओगे, तब आपके जलपात्र एवं वस्त्रों की कौन रक्षा करेगा ? इसलिये यह कृष्णदास जो एक सरल ब्राह्मण है, इसे आप अपने सङ्ग ले जाईये—यह मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिये। केवल आप का जलपात्र एवं वस्त्र लेकर आप के साथ रहेगा—आप अपनी इच्छानुसार चलियेगा, यह आप से कुछ भी नहीं कहेगा" ।।३५-३९।।

तबे तार वाक्ये प्रभु करि अङ्गीकारे। तांहासभा लैया गेला सार्व्वभौम घरे ।।४०।।
नमस्करि सार्व्वभौम आसन निवेदिल। सभाकारे मिलिया आसने वसाइल ।।४१।।
नाना कृष्णवार्त्ता कहि कहिल तांहारे। तोमार ठाञि आइलाङ आज्ञा मागिवारे ।।४२।।
संन्यास करि विश्वरूप गियाछे दक्षिणे। अवश्य करिव आमि तांर अन्वेषणे ।।४३।।
आज्ञा देह अवश्य आमि दक्षिणे चलिव। तोमार आज्ञाते सुखे लेउटि आसिव ।।४४।।

श्रीमहाप्रभु ने श्रीनित्यानन्दजी के वचन स्वीकार कर लिये। श्रीमहाप्रभु उन सबको साथ लेकर श्रीसार्व्वभौम के घर आये। श्रीसार्व्वभौम ने नमस्कार कर आसन निवेदित किया एवं सब को यथायोग्य मिलकर बैठाया। श्रीमहाप्रभु ने अनेक श्रीकृष्ण-प्रसङ्ग कहे, फिर उनसे कहा—कि मैं आपके पास एक आज्ञा माँगने आया हूँ। श्रीविश्वरूप (मेरे बड़े भ्राता) सन्यास ग्रहण कर दक्षिण की ओर चले गये थे, मैं अवश्य उनकी खोज करूंगा। अतः आप मुझे अवश्य आज्ञा दीजिये कि मैं दक्षिण देश में जाऊं। आपकी आज्ञा से मैं सुखपूर्वक लौट आऊँगा ।।४०-४४।।

शुनि सार्व्वभौम हैला अत्यन्त कातर। चरणे धरिया कहे-विषाद-उत्तर ।।४५।।
बहुजन्म-पुण्यफले पाइनु तोमार सङ्ग। हेन सङ्ग विधि मोरे करिलेक भङ्ग ।।४६।।
शिरे वज्र पड़े यदि पुत्र मरि याय। ताहा सहि, तोमार विच्छेद सहन न याय ।।४७।।
स्वतन्त्र ईश्वर तुमि करिवे गमन। दिन कथो रह, देखि तोमार चरण ।।४८।।

श्रीमहाप्रभु के वचन सुनकर श्रीसार्व्वभौम अत्यन्त दुखी हुए एवं चरण पकड़ कर दुख भरे वचन कहने लगे—"प्रभो ! अनेक जन्मों के पुण्यफल से मैंने आपके सङ्ग को प्राप्त किया था, इस सङ्ग को विधाता अब भङ्ग करना चाहता है ? सिर पर बज्र टूट पड़ता, पुत्र का मरण हो जाता, तो सहन हो सकता था,

परन्तु आपका वियोग सहन नहीं हो सकता। आप स्वतन्त्र ईश्वर हो, आप चले तो जाओगे ही, परन्तु, प्रभो! कुछ दिन और यहाँ रहिये जिससे मैं आपके चरण-दर्शन कर सकूँ" ॥४५-४८॥

तांहार विनये प्रभुर शिथिल हैल मन। रहिला दिवसकथो—ना कैल गमन ॥४९॥
भट्टाचार्य्य आग्रह करि करे निमन्त्रण। गृहे पाक करि प्रभुके कराय भोजन ॥५०॥
तांहार ब्राह्मणी, तांर नाम षाठीरमाता। रान्धि भिक्षा देन तेंहो, आश्चर्य्य तांर कथा॥५१॥
आगे त कहिव ताहा करिया विस्तार। एवे कहि प्रभुर दक्षिणयात्रा-समाचार ॥५२॥

श्रीसार्व्वभौम की विनय सुनकर प्रभु का मन शिथिल हो गया तथा उन्होंने जाना स्थगित कर दिया, कुछ दिनों के लिये और वहाँ रह गये। भट्टाचार्य आग्रह पूर्वक प्रभु का निमन्त्रण करते तथा अपने घर में ही पाक कर प्रभु को भोजन कराते। श्रीसार्व्वभौम की स्त्री का नाम "षाठी की माता" प्रसिद्ध था, जो श्रीमहाप्रभु को भोजन बनाकर देती थी। उनकी भी एक आश्चर्यमय कथा है जिसे हम आगे विस्तार-पूर्वक कहेंगे, अब तो प्रभु की दक्षिणयात्रा का वर्णन करते हैं ॥४९-५२॥

दिन-चारि रहि प्रभु भट्टाचार्य्य-स्थाने। चलिवार लागि आज्ञा मागिल आपने ॥५३॥
प्रभुर आग्रहे भट्टाचार्य्य सम्मत हइला। प्रभु तांरे लञा जगन्नाथ-मन्दिरे गेला ॥५४॥
दर्शन करि ठाकुर-पाशे आज्ञा मागिल। पूजारी प्रभुरे मालाप्रसाद आनि दिल ॥५५॥
आज्ञामाला पाञा हर्षे नमस्कार करि। आनन्दे दक्षिणदेशे चलिला गौरहरि ॥५६॥

श्रीभट्टाचार्य्य के घर दो-चार दिन रहकर श्रीमहाप्रभु ने उन से जाने के लिये आज्ञा माँगी। प्रभु के आग्रह करने पर श्रीभट्टाचार्य्य भी सहमत हो गये। प्रभु उनको साथ लेकर श्रीजगन्नाथ-मन्दिर में आये। श्रीजगन्नाथजी के दर्शन कर प्रभु ने उन से आज्ञा माँगी। पुजारी ने श्रीमहाप्रभु को माला-प्रसाद लाकर दिया। माला-रूप आज्ञा पाकर प्रभु ने हर्षित होकर नमस्कार किया, और आनन्दपूर्वक श्रीमहाप्रभु दक्षिण देशों की ओर चल पड़े ॥५३-५६॥

भट्टाचार्य्य सङ्गे आर यत निज-गण। जगन्नाथ प्रदक्षिण करि करिला गमन ॥५७॥
समुद्रतीरे तीरे आलालनाथ—पथे। सार्वभौम कहिला आचार्य्य गोपीनाथे ॥५८॥
चारि कौपीन वहिर्वास राखियाछि घरे। ताहा प्रसादान्न लैया आइस विप्रद्वारे ॥५९॥

प्रभु ने भट्टाचार्य्य एवं और सब साथियों के साथ श्रीजगन्नाथ की प्रदक्षिणा की और समुद्र के किनारे २ आलालनाथ के रास्ते पर अग्रसर हुए। श्रीसार्व्वभौम ने आचार्य गोपीनाथ से कहा—कि घर में चार कौपीन, और बहिर्वास रखे हैं, वे एवं प्रसादी-अन्न ले आइए एवं विप्रद्वार पर आकर मिलिये।

तबे सार्व्वभौम कहे प्रभुर चरणे—। अवश्य करिवे मोर एइ निवेदने ॥६०॥
राय रामानन्द आछे गोदावरी तीरे। अधिकारी हयेन तेंहो—विद्यानगरे ॥६१॥
शूद्र-विषयि-ज्ञाने तांरे उपेक्षा ना करिवे। आमार वचने तांरे अवश्य मिलिवे ॥६२॥
तोमार सङ्गेर योग्य तेंहो एकजन। पृथिवीते रसिकभक्त नाहि ताँर सम ॥६३॥
पाण्डित्य आर भक्तिरस,दुहार तेंहो सीमा। सम्भाषिले जानिवे तुमि तांहार महिमा ॥६४॥

अलौकिक वाक्यचेष्टा तांर ना बुझिया। परिहास करियाछि 'वैष्णव' बलिया ॥६५॥
तोमार प्रसादे एबे जानिल तांर तत्व। सम्भाषिले जानिवे तांर येमन महत्त्व ॥६६॥

फिर श्रीसार्व्वभौम ने प्रभु के चरणों में एक निवेदन किया और कहा कि इसे अवश्य मानियेगा। वह यह है कि "गोदावरी के किनारे श्रीरायरामानन्द रहते हैं और उस विद्यानगर में वे राजप्रतिनिधि हैं। उन्हें शूद्र एवं राजभोगादि विषयों में लिप्त जानकर उनकी उपेक्षा नहीं करिये। मेरे बचन मानकर उनसे अवश्य मिलियेगा। आपके सङ्ग करने योग्य वह एक जन है। उसके समान पृथ्वी पर रसिक भक्त और नहीं है। पाण्डित्य तथा भक्तिरस—दोनों में वह पूर्ण है। मिलने पर एवं वार्त्तालाप करने पर उसकी महिमाको आप स्वयं ही जान लोगे। मैं रायरामानन्द के आलौकिक वचनों को न समझकर उसको वैष्णव कहकर हंसी उड़ाया करता था। अब मैं आपकी कृपा से उसके तत्त्व को जान सका हूँ। आप उसके साथ वर्तालाप करने से उसके महत्त्व को जान जावोगे" ॥६०-६६॥

अङ्गीकार करि प्रभु तांहार वचन। तांरे विदाय दिते तांरे कैल आलिङ्गन ॥६७॥
घरे कृष्ण भजि मोरे करिह आशीर्वादे। नीलाचले आसि येन तोमार प्रसादे ॥६८॥
एत बलि महाप्रभु करिला गमन। मूर्च्छित हइया ताहां पड़िला सार्व्वभौम ॥६९॥
तांरे उपेक्षिया कैल शीघ्र गमन। के बुझिते पारे महाप्रभुर चित्त—मन ॥७०॥
महानुभवेर चित्तेर स्वभाव एइ हय। पुष्पसम कोमल—कठिन वज्रमय ॥७१॥

श्रीमहाप्रभु ने श्रीसार्व्वभौम के बचन अङ्गीकार कर लिये एवं विदा करने के लिये उन्हें आलिङ्गन किया; और कहा कि घर में श्रीकृष्ण का भजन करते हुए मुझे आशीर्वाद देना, जिस से आप की कृपा से मैं फिर नीलाचल लौट आँऊ। इतना कहकर श्रीमहाप्रभु वहाँ से चल दिये। श्रीसार्व्वभौम वहाँ मूर्च्छित होकर गिर पड़े किन्तु श्रीमहाप्रभु उन्हें छोड़कर जल्दी चले गये। श्रीमहाप्रभु के चित्त एवं मन के रहस्य को कौन समझ सकता है? महानुभावी पुरुषों के चित्त का यही स्वभाव होता है कि कभी तो वह पुष्प के समान कोमल हो जाता है और कभी वज्र के समान कठोर हो जाता है ॥६७-७१॥ जैसा कि कहा गया है-

तथाहि उत्तरचरिते (२-७)

वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुस्मादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि कोहि विज्ञातुमीश्वरः ॥२॥

आलौकिक व्यक्तियों का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर एवं कुसुम से भी कोमल होता है। उसे समझने की किसे समर्थ है? ॥२॥

नित्यानन्द प्रभु भट्टाचार्य्ये उठाइल। तांर लोकसङ्गे तांरे घरे पाठाइल ॥७२॥
भक्तगण शीघ्र आसि लैल प्रभुर साथ। वस्त्र प्रसाद लैया तबे आइला गोपीनाथ ॥७३॥
सभा सङ्गे तबे प्रभु आलालनाथ आइला। नमस्कार करि तांरे बहु स्तुति कैला ॥७४॥
प्रेमावेशे नृत्य—गीत कैल कथोक्षण। देखिते आइला ताहां वैसे यत जन ॥७५॥

श्रीनित्यानन्दप्रभु ने श्रीसार्व्वभौम को उठाया एवं उनके सेवकों के साथ उनके घर भिजवा दिया। श्रीनित्यानन्द तथा अन्यान्य भक्त जल्दी श्रीमहाप्रभु को आ मिले और कौपीनादि वस्त्र तथा प्रसाद लेकर श्रीगोपीनाथाचार्य्य भी आ पहुँचे। सबके साथ श्रीमहाप्रभु आलालनाथ आए और आलालनाथको नमस्कार

कर उनकी अनेक स्तुति की। कुछ समय तक श्रीमहाप्रभु ने प्रेमावेश में नृत्य एवं सङ्कीर्त्तन किया, और वहाँ के रहने वाले सब लोग उनके दर्शन करने आए ॥७२–७५॥

चतुर्दिके लोकसब बोले "हरि-हरि"। प्रेमावेशे मध्ये नृत्य करे गौरहरि ॥७६॥
काञ्चनसदृश देह—अरुणवसन। पुलकाश्रु कम्प स्वेद ताहाते भूषण ॥७७॥
देखिया लोकेर मने हैल चमत्कार। यत लोक आइसे—केहो नाहि याय घर ॥७८॥
केहो नाचे केहो गाय श्रीकृष्ण गोपाल। प्रेमेते भासिल लोक, स्त्री वृद्ध युवा बाल ॥७९॥
देखि नित्यानन्द प्रभु कहे भक्तगणे। एइरूपे नृत्य आगे हवे ग्रामे ग्रामे ॥८०॥

चारों ओर सब लोग "हरि-हरि" बोलने लगे एवं उनके मध्य श्रीगौरहरि प्रेमावेश में नृत्य करने लगे। उनका स्वर्ण–कान्तिमय देह-लाल वस्त्र, पुलक, अश्रु, कम्प, तथा स्वेदादि प्रेमविकारों से विभूषित हो रहा था—इस छटा को देखकर सब लोग चमत्कृत हो उठे एवं वहाँ से अपने घर जाना नहीं चाहते थे। कोई नृत्यकर रहा था,कोई "श्रीकृष्ण"" श्रीगोपाल" नाम का सङ्कीर्त्तनकर रहा था। स्त्री,वृद्ध, युवक, बालक—सब लोग प्रेम में विभोर हो रहे थे। यह देखकर श्रीनित्यानन्दप्रभु ने भक्तों से कहा कि अब तो ग्राम-ग्राम में जहाँ जहाँ श्रीमहाप्रभु जाएंगे, इसी प्रकार नृत्य होगा ॥७६–८०॥

अतिकाल हैल–लोक छाड़िया ना याय। तबे नित्यानन्द गोसाञि सृजिल उपाय ॥८१॥
मध्याह्न करिते गेला प्रभुके लइया। ताहा देखि लोक आइसे चौदिगे धाइया ॥८२॥
मध्याह्न करिया आइला देवता मन्दिरे। निजगण प्रवेशि कवाट दिल द्वारे ॥८३॥
तबे गोपीनाथ दुइ प्रभुरे भिक्षा कराइल। प्रभुर शेष-प्रसादान्न सभे बाँटि खाइल ॥८४॥

बहुत समय हो गया, परन्तु श्रीमहाप्रभु को छोड़कर जाने के लिये कोई तैयार न था। तब श्रीनित्यानन्द प्रभु ने लोगों को दूर करने का उपाय किया एवं श्रीमहाप्रभु को मध्याह्न का भोजन कराने ले गये। उन्हें देखकर चारों ओर से लोग जमा हो गये। मध्याह्न का स्नानादि कृत्य करके श्रीमहाप्रभु आलालनाथ मन्दिर में आए एवं अपने साथियों के प्रवेश कर लेने पर किवाड़ लगा दिया। फिर श्रीगोपीनाथ ने श्रीकृष्णचैतन्य एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु को भोजन कराया। प्रभुपाद का बचा प्रसादी अन्न सब भक्तों ने बाँट कर खाया ॥८१–८४॥

शुनि शुनि लोक सब आसि वहिर्द्वारे। 'हरि हरि' बलि लोक कोलाहल करे ॥८५॥
तबे महाप्रभु द्वार कराइल मोचन। आनन्दे आसिया लोक कैल दरशन ॥८६॥
एइमत सन्ध्यापर्य्यन्त लोक आइसे-याय। वैष्णव हैल लोक सभे नाचे गाय ॥८७॥
एइरूपे सेइ ठांइ भक्तगण सङ्गे। सेइ रात्रि गोङाइला कृष्ण कथारङ्गे ॥८८॥

श्री आलालनाथ मन्दिर में श्रीमहाप्रभु का आगमन सुन सुनकर मन्दिर के बाहर बहुत लोग आ कर जमा हो गये एवं "हरि-हरि" नाम ध्वनि का कोलाहल करने लगे। फिर श्रीमहाप्रभु ने द्वार खुलवा दिया। सबने आनन्दपूर्वक प्रभु के दर्शन किये। इस प्रकार सन्ध्या पर्य्यन्त लोग आते जाते रहे एवं वैष्णव होकर नृत्य-गान करते रहे। इस तरह भक्त-गणों के साथ श्रीमहाप्रभु ने वह रात्रि श्रीकृष्ण-कथा प्रसङ्ग में वहाँ व्यतीत की ॥८५–८८॥

प्रातःकाले स्नान करि करिला गमन। भक्तगणे विदाय दिला करि आलिङ्गन ॥८९॥
मूर्च्छित हइया सभे भूमिते पड़िला। ताहा सभापाने प्रभु फिरि ना चाहिला ॥९०॥
विच्छेदे व्याकुल प्रभु चलिला दुखी हैया। पाछे कृष्णदास याम पात्र-वस्त्र लैया ॥९१॥
भक्तगण उपवासी ताहांइ रहिला। आरदिन दुःखी हैया नीलाचले आइला ॥९२॥
मत्तसिंह प्राय प्रभु करिला गमन। प्रेमावेशे याय करि नाम सङ्कीर्त्तन ॥९३॥

प्रातः समय स्नानकर श्रीमहाप्रभु आगे चले और भक्तगणों को आलिङ्गन कर विदा किया। सब भक्तगण व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गिर पड़े किन्तु श्रीमहाप्रभु ने फिर कर उन्हें नहीं देखा। श्रीमहाप्रभु कृष्णविरह में व्याकुल होकर आगे जा रहे थे एवं पीछे पीछे श्रीकृष्णदास जलपात्र एवं वस्त्र लेकर जा रहे थे। भक्तगण विरह में दुखी होकर उस दिन उपवासी रहे और दूसरे दिन नीलाचल लौट आए। श्रीमहाप्रभु मत्त-सिंह की भांति प्रेमावेश में नामसङ्कीर्त्तन करते हुए निम्न श्लोक का उच्चारण कर रहे थे ॥८९-९३॥

तथाहि श्रीकृष्णचैतन्य वाक्यम्—

कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे॥
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण रक्षमाम्।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण पाहिमाम्॥
राम राघव राम राघव राम राघव रक्षमाम्।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहिमाम् ॥३॥

हे कृष्ण! हे कृष्ण!! हे कृष्ण!!! . . . मेरी रक्षा कीजिये। हे कृष्ण! हे कृष्ण!! हे कृष्ण!!! मेरा पालन कीजिये। हे राम! (श्रीराधा के सङ्ग रमण करने वाले श्रीकृष्ण!)…… मुझ पर कृपा कीजिये। हे राघव! (माधुर्य द्युतिमय श्रीकृष्ण!)…… मेरी रक्षा कीजिये। हे केशव! (श्रीराधाजी के केशों को संवारने वाले श्रीकृष्ण!)…… मेरा पालन कीजिये ॥३॥

एइ श्लोक पढ़ि पथे चले गौर हरि। लोक देखि पथे कहे—बोल "हरि हरि" ॥९४॥
सेइ लोक प्रेमे मत्त बोले "हरि कृष्ण"। प्रभुर पाछे सङ्गे जाय दर्शने सतृष्ण ॥९५॥
कथोदूरे वहि प्रभु तारे आलिङ्गिया। विदाय करेन तारे शक्ति सञ्चारिया ॥९६॥
सेइ जन निज ग्रामे करिया गमन। 'कृष्ण' बोले हासे कान्दे नाचे अनुक्षण ॥९७॥
यारे देखे तारे कहे—कह कृष्णनाम। एइमत वैष्णव कैल सब निज ग्राम ॥९८॥

इस श्लोक का गान करते हुए श्रीमन्महाप्रभु रास्ते में जा रहे थे। मार्ग में जिस व्यक्ति को देखते उसे 'हरि-हरि' बोलने को कहते। वह प्रेमोन्मत्त होकर 'हरि-कृष्ण' बोलता और प्रभु के दर्शनों की प्यास में प्रभु के पीछे पीछे साथ चला जाता। कुछ दूर जाकर प्रभु उसे आलिङ्गन कर उसमें अपनी शक्ति का सञ्चार कर देते एवं उसे विदा कर देते। वह व्यक्ति अपने ग्राम में जाकर श्रीकृष्ण-नाम का सङ्कीर्तन करने लगता एवं प्रेमावेश में कभी हँसने कभी रोने लगता और नाचने लगता। वह जिसे भी देखता—उसे श्रीकृष्णनाम कहने को कहता। उसी प्रकार वह व्यक्ति अपने सब ग्राम को वैष्णव ही कर देता ॥९८

ग्रामान्तर हैते दैवे आइसे यतजन। तांहार दर्शन कृपाय हय तार सम ॥९९॥
सेइ याइ निजग्राम वैष्णव करय। अन्य ग्रामी आसि तांरे देखि वैष्णव हय ॥१००॥
सेइ-याइ आर ग्रामे करे उपदेश। एइमत वैष्णव हैल सब दक्षिणदेश ॥१०१॥
एइमत पथे याइते शत शत जन। वैष्णव करेन—तारे करि आलिङ्गन ॥१०२॥

किसी अन्य ग्राम से दैवयोग से जो कोई व्यक्ति उसके ग्राम में आता, वह भी उसका दर्शन कर उसकी कृपा से उसी के समान वैष्णव ही हो जाता। वह फिर अपने ग्राममें जाकर सबको वैष्णव कर देता और फिर उसके ग्राम में जो कोई अन्य ग्रामवासी आता, वह उसे देखकर वैष्णव हो जाता। फिर वह अन्य ग्राम में जाकर दूसरों को उपदेश करता। इसी प्रकार सब दक्षिण देश वैष्णव हो गया। इसी प्रकार मार्ग चलते चलते ही शत शत व्यक्तियों को श्रीमहाप्रभु ने आलिङ्गन कर वैष्णव कर दिया ॥९९-१०२॥

येइ ग्रामे रहि भिक्षा करेन यार घरे। सेइ ग्रामेर यत लोक आइसे देखिवारे ॥१०३॥
प्रभुर कृपाय हय महाभागवत। से-सब आचार्य्य हइया तारिला जगत ॥१०४॥
एइमत कैला यावत् गेला सेतुबन्धे। सर्व्वदेश वैष्णव हैला प्रभुर सम्बन्धे ॥१०५॥
नवद्वीपे येइ शक्ति ना कैल प्रकाशे। से शक्ति प्रकाशि निस्तारिल दक्षिणदेशे ॥१०६॥

श्रीमहाप्रभु ग्राम में जिसके घर वास करते और भोजन करते और उस ग्राम के जो-जो लोग आकर उनके दर्शन करते, प्रभु की कृपा से वे समस्त महान भक्त हो जाते। वे सब आगे चलकर आचार्य्य हुए जिन्होंने जगत् का निस्तार किया। इस प्रकार सेतुबन्ध पर्य्यन्त समस्त देश प्रभु के सम्बन्ध से अर्थात् दर्शन एवं उपदेश से वैष्णव हो गया। जिस शक्ति का प्रकाश नवद्वीप में भी श्रीमहाप्रभु ने नहीं किया था, उस अद्भुत शक्ति को प्रकाश कर प्रभु ने दक्षिण देश का निस्तार कर दिया ॥१०३-१०६॥

प्रभुरे ये भजे तारे तांर कृपा हय। सेइ-से ए सब लीला सत्य करि लय ॥१०७॥
अलौकिक लीलाते यार ना जन्मे विश्वास। इहलोक परलोक तार हय नाश ॥१०८॥
प्रथमे कहिल प्रभुर ये रूपे गमन। एइमत जानिह यावत् दक्षिण भ्रमण ॥१०९॥

जो व्यक्ति श्रीमन्महाप्रभु का भजन करता है, उसी पर प्रभु की कृपा होती है एवं वही उनकी लीलाओं पर विश्वास करता है। जिसको उनकी अलौकिक लीलाओं पर विश्वास नहीं होता उसका इहलोक एवं परलोक नाश हो जाता है। श्रीमहाप्रभु का गमन जैसे पहले कह आये हैं, समस्त दक्षिण यात्रा उसी प्रकार जाननी चाहिये ॥१०७-१०९॥

एइमत याइते याइते गेला कूर्म्म स्थाने। कूर्म्म देखि तांरे कैला स्तवन-प्रणामे ॥११०॥
प्रेमावेशे हासि कान्दि नृत्यगीत कैला। देखि सर्व्वलोकेर चित्ते चमत्कार हैला ॥१११॥
आश्चर्य्य शुनि सर्वलोक आइला देखिवारे। प्रभुर रूप-प्रेम देखि हैल चमत्कारे ॥११२॥
दर्शने वैष्णव हैला—बोले 'कृष्ण हरि'। प्रेमावेशे नाचे लोक ऊर्द्ध्व बाहु करि ॥११३॥

इसी प्रकार भ्रमण करते हुए श्रीमहाप्रभु कूर्म्मक्षेत्र (गञ्जाम जिला) में पहुँचे। वहां श्रीकूर्म्म-अवतार विग्रह के दर्शन कर उनकी स्तुति एवं नमस्कार की। प्रेमावेश में, हास्य-रुदन पूर्वक नृत्य-गान किया, जिसे देखकर सब लोगों को चमत्कार हुआ। इस आश्चर्य्य को सुनकर सब लोग दर्शनों को आए एवं

श्रीमहाप्रभु के रूप एवं प्रेम को देखकर चमत्कृत हो उठे। प्रभु के दर्शनमात्र से सब वैष्णव हो गये और प्रेमावेश में ऊंची भुजा उठा उठाकर 'कृष्ण-हरि' नामों का सङ्कीर्त्तन करने लगे ॥११०-११३॥

कृष्ण नाम लोकमुखे शुनि अविराम। सेइ लोक वैष्णव कैल अन्य सब ग्राम ॥११४॥
एइमत परम्पराय देश वैष्णव हैल। कृष्णनामामृत वन्याय देश भासाइल ॥११५॥
कथोक्षणे प्रभु यदि बाह्य प्रकाशिला। कूर्म्मेर सेवक बहु सम्मान करिला ॥११६॥
येइ ग्रामे याय, ताहां एइ व्यवहार। एक ठांइ कहिल, ना कहिव आरबार ॥११७॥

वहाँ समस्त लोगों के मुख से निरन्तर श्रीकृष्णनाम ध्वनि सुनी जाने लगी। उन सबने अन्यान्य सब ग्रामों के लोगों को वैष्णव कर दिया। इस प्रकार एक दूसरे के सङ्ग से समस्त देश वैष्णव हो गया एवं श्रीकृष्णनाम रूपी नदी में प्लावित हो गया। बहुत देर नृत्य-गान करने के बाद जब श्रीमहाप्रभु सचेत हुए तब श्रीकूर्म्म मन्दिर के पुजारी ने उनका बहुत सन्मान किया। जहां-जहां भी श्रीमहाप्रभु जाते, वहां इसी प्रकार उत्सव होता। कविराज कहते हैं "जिस प्रकार उत्सवका वर्णन मैंने यहाँ किया है। उसी प्रकार सब स्थानों पर ग्रन्थ विस्तार भय से बार वार वर्णन नहीं करूँगा" ॥११४-११७॥

कूर्म्म नामे सेइग्रामे वैदिक ब्राह्मण। बहु श्रद्धाभक्त्ये प्रभुर कैल निमन्त्रण ॥११८॥
घरे आनि प्रभुर कैल पाद प्रक्षालन। सेइ जल वंश सहित करिल भक्षण ॥११९॥
अनेक प्रकार स्नेहे भिक्षा कराइल। गोसाञिर शेषान्न सवंशे खाइल ॥१२०॥
'येइ पादपद्म तोमार ब्रह्मा ध्यान करे। सेइ पादपद्म साक्षात्-आइल मोर घरे ॥१२१॥

कूर्म्मक्षेत्र में कूर्म्मनाम का एक वैदिक ब्राह्मण रहता था, उसने श्रद्धाभक्ति सहित प्रभु को निमन्त्रित किया। प्रभु को घर लाकर उनके चरण धोये एवं वंश सहित चरणामृत लिया। अत्यन्त प्रेम से उसने प्रभु को भोजन कराया एवं उनका प्रसाद अपने कुटुम्बके साथ ग्रहण किया और कहने लगा—"जिन चरण-कमलों का ध्यान मात्र ब्रह्मादि देवता करते रहते हैं, वे चरण-कमल साक्षात् आज मेरे घर पधारे हैं" ॥११८-१२१॥

आमार भाग्येर सीमा ना याय कथन। आजि मोर श्लाघ्य हैल जन्म कुल धन ॥१२२॥
कृपा कर मोरे प्रभु! याइ तोमार सङ्गे। सहिते ना पारि दुःख विषय तरङ्गे ॥१२३॥
प्रभु कहे—ऐछे बात कभु ना कहिवा। गृहे वसि कृष्णनाम निरन्तर लैवा ॥१२४॥
यारे देख—तारे कर कृष्ण उपदेश। आमार आज्ञाय गुरु हैया तार एइ देश ॥१२५॥
कभु ना बाधिवे तोमाय विषय-तरङ्ग। पुनरपि एइ ठाञि पावे मोर सङ्ग ॥१२६॥
एइमत यार घरे प्रभु करे भिक्षा। सेइ ऐछे कहे, तारे कराय एइ शिक्षा ॥१२७॥

उसने कहा—"आज मेरे भाग्यों की महिमा कौन वर्णन कर सकता है, आज मेरा जन्म एवं कुल तथा धन सफल हुआ है। हे प्रभो! आप मुझ पर कृपा कीजिये, मैं आपके साथ ही चलूंगा। अब मैं विषय-ज्वाला के दुख को सहन नहीं कर सकता। श्रीमहाप्रभु ने कहा—"ऐसी बात कभी नहीं कहना। घर में रहकर निरन्तर श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन करो एवं जिसे देखो उसे ही श्रीकृष्णनाम का उपदेश करो। मेरी आज्ञा से गुरु बन कर इस देश का उद्धार करो। इस प्रकार तुम कभी भी विषय-तरङ्गों के बन्धन में न आओगे मैं फिर तुम्हें इसी स्थान पर आकर मिलूंगा"। श्रीमहाप्रभु जिसके घर भोजन करते, वही इसी प्रकार कहता तथा प्रभु भी उसे यही शिक्षा देते ॥१२२-१२७॥

पथे याइते देवालये रहे येइ ग्रामे। यार घरे भिक्षा करे दुइ चारि–स्थाने ॥१२८॥
कूर्म्मे यैछे रीति, तैछे कैल सर्व्वठाञि। नीलाचल पुन यावत् ना आइला गोसाञि ॥१२९॥
अतएव इहां कहिल करिया विस्तार। एइमत जानिबे प्रभु सर्वत्र व्यवहार ॥१३०॥
एइमत सेइ रात्रि तांहाइ रहिला। स्नान करि प्रभु प्रातःकाले त चलिला ॥१३१॥
प्रभु अनुव्रजि कूर्म्म बहु दूर गेला। प्रभु तारे यत्न करि घरे पाठाइला ॥१३२॥

श्रीमन्महाप्रभु मार्ग में जिस देवालय में या जिस गाँव में वास करते तथा जहाँ दो चार स्थानों पर भिक्षा करते, वहाँ कूर्मक्षेत्र की भाँति उत्सव मनाते। नीलाचल वापस लौटने तक उन का सर्वत्र यही आचरण रहा। यहां कुछ विस्तार से वर्णन किया है—इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिये। श्रीमहाप्रभु उस रात को वहाँ रहे एवं प्रातःकाल स्नानादि कर वहाँ से चल दिये। श्रीकूर्म्म ब्राह्मण प्रभु के पीछे बहुत दूर तक गया, परन्तु श्रीमहाप्रभु ने यत्नपूर्वक उसे घर लौटा दिया ॥१२८–१३२॥

वासुदेव नाम एक द्विज महाशय। सर्व्वाङ्गे गलितकुष्ठ, सेहो कीड़ामय ॥१३३॥
अङ्ग हैते सेइ कीड़ा खसिया पड़य। उठाइया सेइ कीड़ा राखे सेइ ठांय ॥१३४॥
रात्रिते शुनिला तेंहो गोसाञिर आगमन। देखिते आइला प्राते कूर्म्मेर भवन ॥१३५॥
प्रभुर गमन कूर्म्म—मुखेते शुनिया। भूमिते पड़िला दुखे मूर्च्छित हइया ॥१३६॥

वासुदेवनाम का एक ब्राह्मण वहाँ रहता था, जिसके शरीर में कुष्ट रोग था एवं कीड़े पड़ गये थे। उसके अङ्ग से जब कोई कीड़ा नीचे गिर जाता, तो वह उसे उठाकर फिर उसी अङ्ग में रख देता। उसे श्रीमहाप्रभु के आगमन का समाचार रात को मिला। वह कूर्म्म ब्राह्मण के घर प्रभु के दर्शन करने आया। परन्तु कूर्म्म ब्राह्मण ने उसे श्रीमहाप्रभु के चले जाने की सूचना दी, वह दुखी होकर मूर्च्छित दशा में पृथ्वी पर गिर गया ॥१३३–१३६॥

अनेक प्रकारे विलाप करिते लागिला। सेइ क्षणे आसि प्रभु तांरे आलिङ्गिला ॥१३७॥
प्रभुर स्पर्शे दुख सङ्गे कुष्ठ दूर गेल। आनन्दसहिते अङ्ग सुन्दर हइल ॥१३८॥
प्रभुर कृपा देखि तार विस्मय हैल मन। श्लोक पढ़ि पाय धरि करये स्तवन ॥१३९॥
बहु स्तुति करि कहे–शुन दयामय!। जीवे एइ गुण नाहि, तोमातेइ हय ॥१४०॥

श्रीवासुदेव अनेक प्रकार विलाप करने लगा, इतने में श्रीमहाप्रभु वहाँ आविर्भूत हो गये और उसे आलिङ्गन कर लिया प्रभु के स्पर्शमात्र से उसका विरह दुख तथा कुष्ठ रोग दोनों नाश हो गये एवं आनन्द-पूर्वक उसका शरीर अति सुन्दर हो गया। श्रीमहाप्रभु की कृपा देखकर उसे मन में अति विस्मय हुआ। श्लोक पढ़कर उसने प्रभु की स्तुति की और कहने लगा—"हे दयामय! इतनी दया किसी जीव में नहीं हो सकती, यह गुण केवल आप भगवान् में ही है ॥ १३७-१४० ॥

मोरे देखि मोर गन्धे पलाय पामर। हेन मोरे स्पर्श, तुमि स्वतन्त्र ईश्वर ॥१४१॥
किन्तु आछिलाङ भाल अधम हइया। एवे अहंकार मोर जन्मिबे आसिया ॥१४२॥
प्रभु कहे–कभु तोमार ना हबे अभिमान। निरन्तर कह तुमि कृष्ण कृष्ण नाम ॥१४३॥
कृष्ण उपदेशि कर जीवेर निस्तार। अचिराते कृष्ण तोमा करिबेन अङ्गीकार ॥१४४॥

हे प्रभो ! मुझे देखकर, मेरी दुर्गन्ध से पामर पुरुष तक भी मुझ से दूर भागता था, ऐसे मुझ को आलिङ्गन करना, आप स्वतन्त्र ईश्वर का ही काम है। परन्तु मैं तो उसी अधम अवस्था में ही अच्छा था क्योंकि अब मुझे अहंकार उत्पन्न हो आएगा। श्रीमहाप्रभु ने कहा—''वासुदेव। तुम्हारे कभी अभिमान नहीं होगा। तुम निरन्तर श्रीकृष्णनाम का सङ्कीर्त्तन करो। अन्य जीवों को भी श्रीकृष्णनाम का उपदेश कर उनका उद्धार करो। जिससे शीघ्र ही श्रीकृष्ण तुम्हें अङ्गीकार करेंगे ॥१४१–१४४।

एतेक कहिया प्रभु कैला अन्तर्द्धाने। दुइ विप्रे गलागलि कान्दे प्रभुर गुणे ॥१४५॥
वासुदेव उद्धार एइ कहिल आख्यान। 'वासुदेवामृतपद' हैल प्रभुर नाम ॥१४६॥
एइ त कहिल प्रभुर प्रथम गमन। कूर्म्म दरशन वासुदेव—विमोचन ॥१४७॥
श्रद्धा करि करे येइ ए लीला श्रवण। अचिराते मिले तारे चैतन्यचरण ॥१४८॥

इतना कहकर वहाँ से प्रभु अन्तर्धान हो गये। कूर्म्म एवं वासुदेव दोनों ब्राह्मण गलबाहीं देकर प्रभु के गुणों को याद करके रोने लगे। इस कथा में वासुदेव का उद्धार कहा गया है। इससे प्रभु का नाम वासुदेवामृत-पद हो गया। यहाँ तक श्रीमहाप्रभु की पहली यात्रा कही है। जिस तरह उन्होंने कूर्म्म-श्री-विग्रह का दर्शन किया तथा वासुदेव का उद्धार किया है—इस लीला को श्रद्धा पूर्वक जो सुनेंगे, उन्हें शीघ्र ही श्रीकृष्णचैतन्य-चरण-कमलों की प्राप्ति होगी ॥१४५–१४८॥

चैतन्यलीलार आदि-अन्त नाहिं जानि। सेइ लिखि—येइ महान्तेर मुखे शुनि ॥१४९॥
इथे अपराध मोर ना लइह भक्तगण। तोमासभार चरण मोर एकान्त शरण ॥१५०॥
श्रीरूप—रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१५१॥

श्रीकविराज कहते हैं—''श्रीचैतन्य-लीला का आदि-अन्त कोई नहीं जान सकता। जो कुछ मैंने महापुरुषों के मुख से सुना, वही वर्णन किया है। इसमें भक्तगण मुझे कोई अपराध नहीं दें। सब भक्तों के चरणों की ही मैं शरण हूँ''। श्रीरूपगोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरणों की आशा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥१४९–१५१॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य-लीलायां
दक्षिणगमने वासुदेवोद्धारो-नाम
सप्तम परिच्छेदः ॥७॥

जयगौर

मध्य-लीला

अष्टम परिच्छेद

★

सञ्चार्य रामाभिध–भक्तमेघे स्वभक्तिसिद्धान्तचयामृतानि ।
गौराब्धिरेतैरमुना वितीर्णैस्तज्ज्ञत्वरत्नालयतां प्रयाति ॥१॥

श्रीगौराङ्गरूप-समुद्र भक्त रामानन्द-स्वरूप मेघ में स्वविषयक भक्ति-सिद्धान्त-रूप अमृत सञ्चार करके, उसी (रामानन्द भक्त-रूप मेघ) द्वारा वर्षित, उसी सिद्धान्त-रूप अमृतद्वारा सिद्धान्तों के अनुभव-रूप रत्नसमूह के आलयत्व या आश्रय-स्वरूप को जो प्राप्त हुए हैं (उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ) ॥१॥

चै० च० चु० *टीका*—इस अष्टम परिच्छेद में, दक्षिण देश में भ्रमण करते हुए श्रीमन्महाप्रभु का गोदावरी तीर स्थित विद्यानगर में रायरामानन्दजी के साथ जिस प्रकार मिलन हुआ एवं उनके साथ साध्य-साधन-तत्त्वादि की जो आलोचना हुई—वह समस्त प्रसङ्ग वर्णन किया गया है । सब जानते हैं कि सूर्य की किरणों द्वारा समुद्र का जल वाष्प-रूप में उड़कर मेघों का रूप धारण करता है । वही जल फिर वर्षा के रूप में समुद्र में पड़ता है, जिसे शङ्ख, सीप आदि पान करते हैं और वही जल उनके पेट में मोती; रत्नादि के रूपमें परिणत हो जाता है । वही मोती, रत्न फिर समुद्र में रहते हैं, जिससे समुद्र को रत्नाकर कहा जाता है ।

कविराज श्रीकृष्णदास ग्रन्थकार ने इसी (आदान-प्रदान) व्यापार के साथ भक्त रायरामानन्द और श्रीमन्महाप्रभु के कथोपकथन की तुलना की है । श्रीमहाप्रभु को समुद्र के सदृश कहा है । राय-रामानन्दजी को उन्होंने मेघ कहा है । दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर रसाश्रित भक्ति-सम्बन्धीय सिद्धान्तों को जल व अमृत की उपमा दी है एवं रायरामानन्दजी के मुख से पुनः उन सिद्धान्तों के श्रीमहाप्रभु के श्रवण को रत्नों की उपलब्धि बताया है । समुद्र जैसे अपने जल को मेघों में सञ्चारित करके पुनः उसे सीपादि के मुख से रत्न रूप में ग्रहण करता है, उसी प्रकार श्रीमहाप्रभु ने स्वभक्ति-सिद्धान्त अर्थात् स्व-विषयक या श्रीकृष्ण विषयक भक्तिरस-सिद्धान्तों को वाष्प की भाँति अलक्षितरूप में परम-भक्त रायरामा-नन्दजी में सञ्चारित किया । 'भक्तमेघ'—शब्द से तात्पर्य यह है कि भक्तिरस-सिद्धान्त केवल भक्त–हृदय में ही ग्रहण होते हैं । अतः यहाँ रायरामानन्दजी को भक्त कहा गया है । भक्ति सिद्धान्त परम-मनोहर, परम-लोभनीय एवं परम-आस्वाद्य होने से अमृत-तुल्य कहे गये हैं । इन अमृत-तुल्य भक्ति-सिद्धान्तों को पुनः रामानन्दजी ने श्रीमहाप्रभु को सुनाया मानो रामानन्द-मेघ ने श्रीमहाप्रभु-रूप समुद्र में पुनः भक्ति-सिद्धान्त–रूप अमृत की वर्षा की । जैसे समुद्र उस वर्षा को सीपादि के मुख द्वारा रत्न-मोती रूप में ग्रहण करता है और रत्नाकर कहलाता है, उसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभु ने मानो उन सिद्धान्त-रत्नों की उपलब्धि की एवं वे सिद्धान्तज्ञ हो गये ।

रायरामानन्दजी के साथ श्रीमन्महाप्रभु का कथोपकथन पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमहाप्रभु ने उन से प्रश्न किये एवं रायरामानन्दजी ने उनका समाधान किया। किन्तु श्लोक में कहा गया है कि श्रीमहाप्रभु ने स्वभक्तिविषयक सिद्धान्त-समूह रायरामानन्दजी में सञ्चारित किये। इससे स्पष्ट है कि श्रीमहाप्रभु उन समस्त सिद्धान्तों को जानते थे। यदि ऐसा न होता तो वे उनके चित्त में इन सिद्धान्तों को कैसे सञ्चारित करते। भगवान् श्रीनारायण यदि वेदों को नहीं जानते होते तो वे ब्रह्माजी के चित्तमें वेदों को कैसे स्फुरित करते? अर्थात् श्रीनारायण वेदों का ज्ञान रखते हैं, तभी ब्रह्माजी के चित्त में उस ज्ञान की स्फूर्त्ति कराते हैं—इसी प्रकार श्रीमहाप्रभु उन सिद्धान्तों को जानते थे, तभी उन सिद्धान्तों की स्फूर्त्ति रायरामानन्दजी के चित्त में कराई।

किन्तु समस्या यह है—श्लोक में कहा गया है कि श्रीमहाप्रभु रायरामानन्दजी के मुख से सुन कर सिद्धान्तज्ञ हुए—इस का क्या तात्पर्य है? यदि वे पहले से ही सिद्धान्तों को जानते थे तो फिर रायरामानन्दजी से सुनने के पश्चात् सिद्धान्तज्ञ होना कैसा? उत्तर यह है कि सिद्धान्तों को जानना प्रभु का—'ज्ञान' है। किन्तु रायरामानन्दजी से सुनने के पश्चात् प्रभु का जो ज्ञान या अनुभव है—उसका नाम 'विज्ञान' है। ज्ञान एवं विज्ञान प्रथक् वस्तुएं हैं। यहाँ विज्ञान की ही बात कही गई है। किसी से सुनकर, अथवा ग्रन्थादि के अध्ययन से जो जानकारी होती है—उसे **'ज्ञान'** कहते हैं, या उसे **'परोक्षज्ञान'** भी कहा जाता है। किन्तु उस ज्ञान के अनुभव की, हृदय में उपलब्धि को **'विज्ञान'** या **'अपरोक्ष-ज्ञान'** कहते हैं। रायरामानन्दजी के चित्त में प्रभुने सब सिद्धान्तों का ज्ञान सञ्चारित किया। सिद्धान्त का महाप्रभु को ज्ञान तो था किन्तु रायरामानन्दजी के मुख से उन सिद्धान्तों को सुनने के बाद श्रीमहाप्रभु को उनके विज्ञान की भी उपलब्धि हुई।

प्रश्न उठता है—श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् ही श्रीचैतन्य-रूप से अवतीर्ण हुए हैं। स्वयं भगवान्, जो सर्वज्ञ हैं, जिनकी कृपा से और तो क्या, ब्रह्माजी के हृदय में भी विज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उन स्वयं भगवान् श्रीचैतन्यदेव में विज्ञान का अभाव कैसे मान लिया जाए? इसका उत्तर यह है कि श्रीभगवान् सर्वज्ञ पूर्णतम हैं, फिर भी रसास्वादन के लिये, लीला-रस की पुष्टि के लिये उनकी लीला-शक्ति ही किसी किसी स्थान पर अपूर्णता का रूप धारण करके उनमें प्रकट होती है। जैसे राघवेन्द्र श्रीराम का सुवर्ण-मृग के पीछे भागना, श्रीजनकनन्दनी की खोज में उनका व्याकुल होना, श्रीब्रजेन्द्रनन्दन का माँ यशोदा के हाथ में छड़ी देखकर आँसू ढलकाना—इत्यादि ऐसे अनेक चरित्र लीलारस-आस्वादन के परिपोषण करने वाले ही हैं, इनसे श्रीभगवान् में अपूर्णता का कोई प्रश्न नहीं उठता। यहाँ तो फिर प्रसङ्ग है—स्वभक्ति-सिद्धान्त का। श्रीकृष्ण जिस भक्ति के विषय हैं—(आश्रय नहीं) उस भक्ति के सिद्धान्तों का प्रसङ्ग है। भक्ति क्या वस्तु है, भक्ति के साधनों का क्या रूप है, अपने ऊपर भक्ति का क्या प्रभाव है—यह सब श्रीकृष्ण अच्छी प्रकार जानते हैं। अतः उन्होंने श्रीअर्जुन के प्रति कहा है—**"भक्त्या मामभिजानाति"** और **"मन्मना भव मद्भक्तः"**—इत्यादि। अतः भक्ति के विषय-रूप से भक्ति का या भक्ति-सिद्धान्तों का अनुभव तो भगवान् श्रीकृष्ण को है, क्योंकि सर्वत्र वे भक्ति के विषय ही हैं। किन्तु भक्ति के आश्रय पर अर्थात् भक्त पर उस भक्ति का क्या प्रभाव होता है—उसका साधारण ज्ञान तो उनको है, परन्तु उसका अनुभव या विज्ञान उनमें नहीं भी हो सकता। क्योंकि वे भक्ति के विषय हैं, यानि प्रेमास्पद—या भगवान् हैं। वे भक्ति के आश्रय या प्रेमी भक्त नहीं हैं। आश्रयजातीय प्रेम या भक्ति द्वारा श्रीराधाजी श्रीकृष्ण के माधुर्य का आस्वादन करके जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करती थीं—उसे श्रीकृष्ण अवश्य जानते थे—अर्थात् उसका ज्ञान मात्र उनको था, किन्तु उसका विज्ञान या आश्रय-जातीय भक्ति करने से जो सुख श्रीराधाजी को प्राप्त होता था, उसका अनुभव करना श्रीकृष्ण के लिये ब्रजलीला में सम्भव

न था। क्योंकि उनमें आश्रय-जातीय प्रेम न था। अतः वे श्रीराधाजी के आनन्द का अनुभव भी न कर सकते थे। उसी वाञ्छा को लेकर श्रीकृष्ण ने श्रीराधाभाव को अङ्गीकार किया और श्रीराधा-प्रेम के आश्रय होकर अथवा भक्त-भाव को ग्रहण कर वे श्रीचैतन्यरूप से प्रकट हुए, इसलिये कि वे उस आश्रय-जातीय भक्ति का अनुभव या विज्ञान भी प्राप्त कर सकें।

आश्रय-जातीय भक्ति का अनुभव एक मात्र भक्त को ही हो सकताहै, और वह भी केवल भक्त-कृपा से ही होता है। भक्तों के प्रेम भरे चित्त के भक्ति-रस से मण्डित होकर भक्ति-सिद्धान्तों की कथा जब भक्तिकृपा-प्राप्त किसी भाग्यवान् पुरुष के कर्णकुहरों में प्रवेश करती है, तभी उस भाग्यवान् पुरुषके हृदय में रहने वाली भक्ति ही उस कथा को परमतम मर्मावस्था तक पहुँचा देती है—अर्थात् श्रीभगवान् का अनुभव करा देती है।

श्रीमहाप्रभु की कृपा से स्फुरित सिद्धान्त-समूह राय-रामानन्दजी के चित्त में रहने वाले भक्ति-रस से परिनिषिक्त होकर जब श्रीमहाप्रभु के कर्णकुहरों में गये, तब श्रीमहाप्रभु के हृदय में श्रीराधाजी से ग्रहण की हुई आश्रय-जातीय भक्ति ही ने उन समस्त सिद्धान्तों को मानो श्रीमहाप्रभु के मर्मस्थल तक पहुञ्चा दिया अर्थात् उनका अनुभव या विज्ञान भी उन्हें प्राप्त हो गया—जो उन्हें श्रीकृष्ण-रूप में प्राप्त न हो सका था—अतः श्रीमहाप्रभु का सिद्धान्तज्ञ होना यहाँ कहा गया है।

यहाँ एक और भी रहस्य है, वह यह है कि श्रीमहाप्रभुजी राय रामानन्दजी के साथ जीवकोटि-साधकों के लिए साध्य एवं साधन का निर्णय करने को बैठे हैं; अर्थात् जीव की परमतम साध्यवस्तु क्या है—उसे प्रकाशित करना उनका मुख्य लक्ष्य है। हम आगे चल कर देखेंगे कि स्वधर्माचरण से आरम्भ करके अनेक साध्यों की बात राय रामानन्दजी कहेंगे, किन्तु श्रीमहाप्रभुजी सबको बाह्य वस्तु कहते चले जाएँगे। अन्त में जब रामानन्दजी प्रेमाभक्ति का वर्णन करते हुए श्रीराधा-प्रेम की बात कहेंगे तो श्रीमहाप्रभुजी उसे ही सर्वसाध्य-शिरोमणि रूप में स्वीकार करेंगे। श्रीराधाप्रेम सर्वसाध्य-शिरोमणि होते हुए भी जीव-कोटि साधकों का, वह साध्य नहीं हो सकता। क्योंकि श्रीराधा जी का मादनाख्य-महाभाव-रूप प्रेम तो अन्यान्य ब्रज परिकरों में भी विकसित नहीं होता, फिर साधारण जीवों की तो बात ही क्या है? वह राधाप्रेम तो श्रीराधाजी की ही स्वभाव-सिद्ध वस्तु है। अतः जीव को उस प्रकार का प्रेम न तो प्राप्त ही हो सकता है और न ही उस प्रकार की भावमयी सेवा में जीव का अधिकार ही है। साधक-जीव का अधिकार केवल ब्रजपरिकरों की आनुगत्यमयी-सेवा ही है, अर्थात् दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भाव के जो नित्य-परिकर हैं, उनके अनुगत होकर ही जीव श्रीकृष्ण सेवाका सौभाग्य प्राप्त कर सकता है।

श्रीकृष्ण की मधुर भावात्मिका सेवा की परम चरमतम अभिव्यक्ति श्रीराधाजी एवं उनकी सखी-मञ्जरीवृन्द में है। मञ्जरीवृन्द की आनुगत्यमयी सेवा ही जीव के पक्ष में परमतम साध्य वस्तु है, जिसे प्राप्त कर जीव कृतार्थ हो सकता है। मञ्जरीवृन्द की आनुगत्यमयी सेवा ही एक "अनर्पितचरींचिरात्"—सम्पत्ति है अर्थात् ऐसी साध्यतम वस्तु है, जिसे श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के पूर्ववर्त्ती किसी अवतार ने, किसी आचार्य ने, किसी ऋषि-मुनि आदि धर्म-प्रवक्ता ने प्रकाशित नहीं किया। करता भी कैसे? इसके स्वरूप का ज्ञान भी तो मञ्जरीवृन्द के सिवा और किसी को नहीं है। यहाँ तक कि उनके परम-सेव्य श्रीश्रीप्रियाप्रीतम श्रीश्रीराधा-कृष्ण को भी नहीं है। इसी परम साध्यवस्तु को प्रकाशित एवं प्रचारित करने के उद्देश्य से एवं स्वयं भी उसका अनुभव-आस्वादन करने के लिये वे श्रीश्रीराधा-कृष्ण मिलित विग्रह से श्रीचैतन्यरूप में अवतीर्ण हुए। आज वही श्रीचैतन्यदेव साध्य-साधन-तत्व को प्रकाशित करने के लिये राय-रामानन्दजी से विचार-विमर्श करने बैठे हैं।

श्रीराधाजी की सखी–मञ्जरियों की जो सेवा है, वह सेवा ही जीव का चरमतम-साध्य हो सकती है। श्रीराधाजी के यूथ में रहने वालीं सखियों का प्रायः श्रीराधाजी में ही स्थायी–भाव है, और श्रीकृष्ण में उनका सञ्चारीं-भाव है। अर्थात् श्रीराधाजी का सुख विधान करना उनका प्रधान भाव है। वह श्रीकृष्ण में यदि प्रीति करती हैं, तो केवल इसलिए कि वे उनकी स्वामिनी श्रीराधाजी को सुख देने वाले हैं। इस प्रकार की जो श्रीराधा–सखियों या मञ्जरियों की सेवा है या प्रेम की अपूर्व शैली है, उसका अनुभव केवल श्रीराधाजी की सखी या मञ्जरी–वृन्द को ही है। इस प्रीति या सेवा–शैली का अनुभव श्रीराधाजी को भी नहीं है; हो भी नहीं सकता, क्योंकि श्रीराधाजी इस प्रेम की विषय हैं, आश्रय नहीं। जब श्रीराधाजी को अपनी सखियों या मञ्जरियों की आश्रय–जातीय प्रीति का अनुभव नहीं है, तो श्रीश्यामसुन्दर को इस प्रीति का अनुभव या विज्ञान कैसे हो सकता है? अतः श्रीश्यामा-श्याम दोनों ही अपनी लीला–शक्ति–प्रभाव से इस प्रकार की रागमार्ग की आनुगत्यमयी सेवा के विज्ञान से अपरिचित हैं—ऐसा कह देना अनुचित न होगा। श्रीगौरसुन्दर कौन हैं? श्रीश्रीराधाकृष्ण–मिलित विग्रह ही तो हैं; रसराज–महाभाव-स्वरूप ही तो हैं। अतः श्रीमहाप्रभु–स्वरूप में इस मधुरात्मिका-रागानुगा–प्रीति के सिद्धान्तों का या उनके अनुभव का अभाव होना उनकी लीलाशक्ति-प्रभाव के आग्रह से मान्य ही है।

राय रामानन्दजी ब्रजलीला की श्रीविशाखाजी हैं (पयार २३, टीका द्रष्टव्य)। श्रीविशाखाजी श्रीराधाजी की प्रधान सखी हैं, जिनका श्रीराधाजी में ही स्थायीभाव है। श्रीविशाखाजी को इस परम-साध्य शिरोमणि—श्रीराधाप्रेम की आनुगत्यमयी सेवा का पूर्णतम अनुभव है। आज वही श्रीविशाखाजी श्रीरायरामानन्द के वेश में श्रीराधाकृष्ण-मिलित रसराज–महाभाव-स्वरूप श्रीचैतन्यदेव के आगे गोदावरी तट पर उस प्रीति के सिद्धान्तों को प्रकट कर रही हैं। इसलिए यदि कविराज गोस्वामी श्रीचैतन्यदेव को रायरामानन्दजी द्वारा सिद्धान्त सुनने के बाद सिद्धान्तज्ञ कह रहे हैं, तो यह बात कोई असङ्गत नहीं है।

इस परिच्छेद में साध्य–साधन–तत्त्व-सम्बन्धीय आलोचना की गई है। अपरञ्च "गौराब्धि"—शब्द से श्रीगौर–तत्त्व का रहस्य या गौरवर्ण-प्राप्ति का रहस्य भी इस परिच्छेद में उद्घाटित होगा? ऐसा सूचित होता है।

श्रीमहाप्रभु का राय रामानन्दजी के मुख से कृष्ण-तत्त्व, राधा-तत्त्व, प्रेम-तत्त्व, राधाकृष्ण-विलास-तत्त्व का प्रकाश कराना यह भी घोषित करता है कि जगत् के जीव यदि भगवत्–तत्त्वों का अनुभव या विज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो वे भगवत्-सम्बन्धीय तत्त्वों की कथा भक्तिरस–पूर्ण हृदय किसी भक्त के मुख से ही सुनें; तभी उनको उनका अनुभव प्राप्त हो सकता है—अन्यथा नहीं। क्योंकि भगवत्-तत्त्वों की कथा, भगवत्-लीलाओं की कथा स्वभावतः चिदानन्दमयी होते हुए भी भक्तहृदय के प्रेमरस से परि-निषिक्त होकर अत्याधिक एवं अनिर्वचनीय आस्वादन–चमत्कारिता उत्पन्न करती है, अतः श्रीमन्महाप्रभु ने परम-भागवत राय रामानन्दजी के मुख से ही इस भक्ति-सिद्धान्त-कथा को सुनने का परम आग्रह किया।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥१॥
पूर्व्व-रीते प्रभु आगे करिल गमने। जियड़-नृसिंह-क्षेत्रे गेला कथोदिने ॥२॥
नृसिंह देखिया कैल दण्डवत् नति। प्रेमावेशे कैल बहु नृत्य गीत स्तुति ॥३॥
श्रीनृसिंह जयनृसिंह जय जय नृसिंह। प्रह्लादेश जय पद्मा-मुख-पद्म-भृङ्ग ॥४॥

श्रीकृष्णचैतन्यदेव की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्दप्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो एवं श्रीगौरभक्त-वृन्दों की जय हो। पहले की भाँति लोगोंको वैष्णव करते हुए प्रेमभक्ति का सब लोगोंमें

सञ्चार करते हुए श्रीमहाप्रभु आगे चले और कुछ दिन पश्चात् जियड़-नृसिंह क्षेत्र में आ पहुँचे। (वहाँ एक श्रीनृसिंहजी का विग्रह था, जिसने जीयड़ नाम के एक भक्त पर अपनी विशेष कृपा प्रकट की थी, इसलिये उस श्रीविग्रह का नाम जियड़-नृसिंह था और उस क्षेत्र को जियड़नृसिंह-क्षेत्र कहते थे) श्रीमहाप्रभु ने श्रीजियड़नृसिंहजी के दर्शन किये एवं उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। प्रभु ने प्रेमावेश में वहाँ नृत्य-गान किया एवं श्रीनृसिंहजी की स्तुति करते हुए बोले—"श्रीनृसिंह भगवान् की जय हो, जय हो, श्रीप्रह्लाद के ईश! आपकी जय हो। श्रीलक्ष्मीजी के मुख-कमल के मधुकर सदृश! आपकी जय हो"॥१-४॥ (श्रीनृसिंहजी की दयालुता का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार स्वामी श्रीधरजी का रचित एक श्लोक उद्धृत करते हैं):—

तथाहि श्रीमद्भागवते (७-९-१ श्लोकस्य स्वामिटीकायाम्)—

उग्रोऽप्यनुग्र एवायं स्वभक्तानां नृकेशरी।
केशरीव स्वपोतानामन्येषामुग्र विक्रमः॥२॥

सिंह जिस प्रकार दूसरों के प्रति उग्र या भयानक होते हुए भी अपनी सन्तान के प्रति अनुग्र अर्थात् शान्त होता है, उसी प्रकार श्रीनृसिंहदेव हिरण्यकशिपु आदिकों के प्रति उग्र होते हुए भी श्रीप्रह्लादादि अपने भक्तों के प्रति कृपालु ही हैं॥२॥

एइमत नानाश्लोक पढ़ि स्तुति कैल। नृसिंह-सेवक माला-प्रसाद आनि दिल॥५॥
पूर्व्ववत् कोन विप्र कैल निमन्त्रण। सेइ रात्रे ताहां रहि करिला गमन॥६॥
प्रभाते उठिया प्रभु चलिला प्रेमावेशे। दिग्विदिग् ज्ञान नाहि रात्रि दिवसे॥७॥
पूर्व्ववत् वैष्णव करि सर्वलोक-गणे। गोदावरी तीरे चलि आइल कथोदिने॥८॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने श्रीनृसिंहजी की अनेक श्लोक पढ़ कर स्तुति की और श्रीनृसिंहजी के पुजारी ने माला एवं प्रसाद लाकर दिया। किसी ब्राह्मण ने उस दिन प्रभु को भिक्षा कराई और प्रभु उस रात को वहाँ रहे। प्रभात होते ही श्रीमहाप्रभुजी वहाँ से प्रेमावेश में आगे चल दिये। उन्हें प्रेमावेश में दिशा विदिशा का एवं रात और दिन का भी ज्ञान न रहता था। यथावत् सब लोगों को वैष्णव करते हुए कुछ दिनों में श्रीमहाप्रभु गोदावरी नदी के तीर पर आ पहुँचे॥५-८॥

गोदावरी देखि हइल यमुना स्मरण। तीरे बन देखि स्मृति हैल वृन्दाबन॥९॥
सेइ बने कथोक्षण करि नृत्य-गान। गोदावरी पार हैया कैल ताहां स्नान॥१०॥
घाट छाड़ि कथो दूरे जल-सन्निधाने। वसि प्रभु करे कृष्णनाम—सङ्कीर्त्तने॥११॥
हेनकाले दोलाय चढ़ि रामानन्दराय। स्नान करिवारे आइला बाजना बाजाय॥१२॥

गोदावरी को देखते ही श्रीमहाप्रभु को श्रीयमुनाजी की स्फूर्ति हो आई और किनारे के बन को देखते ही उन्हें श्रीवृन्दावन की स्मृति जाग उठी। प्रभु ने वहां कुछ देर तक प्रेमावेश में नृत्य-गान किया। फिर उन्होंने गोदावरी के पार होकर स्नान किया। घाट से कुछ दूर जल के किनारे श्रीमहाप्रभु बैठकर श्रीकृष्णनाम का सङ्कीर्त्तन करने लगे। इतने में रायरामानन्दजी पालकी में चढ़कर, बाजे बजवाते हुए वहाँ स्नान करने के लिये आये॥९-१२॥

तांर सङ्गे आइला बहु वैदिक ब्राह्मण। विधिवत कैल तेंहो स्नान—तर्पण॥१३॥
प्रभु तांरे देखि जानिल—एइ रामराय। तांहारे मिलिते प्रभुर मन उठि धाय॥१४॥

तथापि धैर्य्य करि प्रभु रहिला वसिया। रामानन्द आइला अपूर्व्व संन्यासी देखिया ॥१५॥
सूर्य्यशतसम कान्ति—अरुण वसन। सुवलित प्रकाण्ड देह—कमललोचन ॥१६॥

रायरामानन्दजी के साथ अनेक वैदिक ब्राह्मण भी थे, उन्होंने वहाँ विधिपूर्वक स्नान-तर्पण आदि किया। श्रीमहाप्रभु उन्हें देखते ही जान गये कि यही रायरामानन्द है। प्रभु का मन उन्हें उठकर मिलने के लिये भागना चाहता था, किन्तु प्रभु धैर्य्य करके वहाँ बैठे ही रहे। रायरामानन्दजी ने देखा कि एक अपूर्व्व संन्यासी बैठा है—जिसकी शतसूर्यों के समान उज्ज्वल कान्ति है, भगवा वस्त्र सुशोभित है। सुगठित विशाल उसका विग्रह है और उसके नेत्र कमलों के समान हैं ॥१३–१६॥

देखिया तांहार मने हैल चमत्कार। आसिया करिल दण्डवत् नमस्कार ॥१७॥
उठि प्रभु कहे-उठ, कह "कृष्ण कृष्ण"। तांरे आलिङ्गिते प्रभुर हृदय सतृष्ण ॥१८॥
तथापि पुछिल–तुमि राय रामानन्द ?। तेंहो कहे—सेइ हङ दास शूद्र मन्द ॥१९॥
तबे प्रभु कैल तांरे दृढ़ आलिङ्गन। प्रेमावेशे प्रभु—भृत्य दोंहे अचेतन ॥२०॥

रायरामानन्दजी श्रीमहाप्रभु के उस अपूर्व स्वरूप को देखकर चमत्कृत हो उठे और प्रभु के पास आकर दण्डवत् प्रणाम करने लगे। प्रभु उठ खड़े हुए एवं कहने लगे—"उठिये-'कृष्ण' 'कृष्ण' कहिये।" प्रभु का हृदय रामानन्दराय को मिलने के लिये आतुर हो रहा था। फिर भी प्रभु ने पूछा—"क्या रायरामानन्द आप ही हैं ?" रायरामानन्द ने उत्तर दिया—"यह शूद्र मन्दबुद्धि दास वही ही है।" सुनते ही श्रीमहाप्रभुने उन्हें दृढ़तापूर्वक गले लगा लिया। स्वामी और सेवक दोनों प्रेमावेशमें बेसुधि होगये।१७-२०

स्वाभाविक प्रेम दोंहार उदय करिला। दोंहा आलिङ्गिया दोंहे भूमिते पड़िला॥२१॥
स्तम्भ स्वेद अश्रु कम्प पुलक वैवर्ण्य। दोंहार मुखेते–शुनि गद्गद् कृष्ण-वर्ण ॥२२॥
देखिया ब्राह्मणगणेर हैल चमत्कार। वैदिक ब्राह्मण सब करेन विचार—॥२३॥

दोनों का स्वाभाविक प्रेम दोनों के हृदय में उमड़ उठा। परस्पर आलिङ्गन करते हुए दोनों पृथ्वी पर गिर पड़े और स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, कम्प, पुलकावली, वैवर्ण्य आदि सात्विक प्रेम-विकार दोनों में होने लगे। दोनों के मुख से गद्गद् वाणी में 'कृष्ण' 'कृष्ण' शब्द सुनाई दे रहा था। इन दोनों की यह अवस्था देखकर वैदिक-ब्राह्मणों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे मन में विचार करने लगे ॥२१–२३॥

चै० च० चु० *टीका* – एक प्रेम वह है जो जीव को साधन-भजन करने के फल-स्वरूप प्राप्त होता है और एक प्रेम वह है जो **स्वभाव-सिद्ध** होता है। वह स्वभाव-सिद्ध प्रेम नित्य-सिद्ध भक्तों के हृदय में अनादि काल से नित्य विराजमान रहता है और यही स्वभाव-सिद्ध प्रेम श्रीभगवान् में भी भक्तों के प्रति अनादि काल से नित्य विराजमान रहता है, जिसे '**भक्तवात्सल्य**' कहा जाता है। श्रीभगवान् भक्त को देखते ही इस स्वभाव-सिद्ध प्रेमको हृदयमें छिपाकर नहीं रख सकते और न ही भक्त श्रीभगवान् को देखकर अपने स्वभाव-सिद्ध प्रेम को रोक सकता है। दोनों विवश हो जाते हैं। रायरामानन्दजी ब्रजलीला में श्रीविशाखा जी थे, गौर-गुणोद्देश-दीपिका २२०–१२४ से ऐसा पता लगता है। कहीं कहीं श्रीअर्जुन, श्रीललिताजी एवं अर्जुनीया गोपी—इन तीनों का मिलित स्वरूप भी रायरामानन्द को माना गया है। और श्रीमहाप्रभुजी राधाभावाविष्ट मूर्त्ति हैं—श्रीराधाजी एवं श्रीविशाखा-ललितादि का परस्पर स्वभाव-सिद्ध प्रेमहै। अतःइस नवद्वीपलीला में श्रीमहाप्रभु एवं रायरामानन्दजी का वह स्वभाव-सिद्ध प्रेम उछल पड़ा, जिससे दोनों प्रेम

में बेसुधि होकर 'कृष्ण' 'कृष्ण' कहते हुए भूमि पर गिर पड़े। रायरामानन्दजी के साथ खड़े हुए वैदिक-ब्राह्मण इस अपूर्व मिलन को देखकर चकित हो उठे और इस प्रकार विचार करने लगे।

एइ त संन्यासीर तेज देखि ब्रह्म सम। शूद्र आलिङ्गिया केने करेन क्रन्दन? ॥२४॥
एइ महाराज महा पण्डित गम्भीर। संन्यासीर स्पर्शे मत्त हइल अस्थिर ॥२५॥
एइ मत विप्रगण भावे मने-मन। विजातीय लोक देखि प्रभु कैल संवरण ॥२६॥
सुस्थ हैया दोंहे सेइ स्थाने ते वसिला। तबे हासि महाप्रभु कहिते लागिला—॥२७॥

वैदिक ब्राह्मण विचार करने लगे—यह तो संन्यासी है और इसका तेज ब्रह्म के समान दीखता है। संन्यासी तो स्वाभाविक निर्मोही होता है और फिर यह तो तेजस्वी संन्यासी है। इसे शूद्र का स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। फिर यह इस शूद्र-रामानन्द को आलिङ्गन करके रो क्यों रहा है? और रामानन्द राय भी विद्यानगर का राजा है; महा पण्डित है और गम्भीर स्वभाव का है, यह फिर संन्यासी को मिल कर उन्मत्त की तरह क्यों इतना अस्थिर हो रहा है? इस प्रकार ब्राह्मण मन मन में अत्यन्त विस्मित हो गये। इन दोनों का आश्चर्यमय मिलन देख कर इधर उधर के अनेक लोग जमा हो गये। उन विजातीय मत के लोगों को देखकर श्रीमहाप्रभु ने अपने भावों का संवरण किया। दोनों सुस्थिर एवं शांत हुए और उसी स्थान पर ही दोनों बैठ गये। श्रीमहाप्रभु मुस्करा कर कहने लगे ॥२४-२७॥

चै० च० चु० *टीका*—ऊपर के पयारों में श्रीरामानन्दराय के लिये वैदिक ब्राह्मणगण ने 'शूद्र'-शब्द का प्रयोग किया है। और परवर्त्ती पयार (३३) में स्वयं श्रीरामानन्दजी ने अपने को 'शूद्राधम' कहा है—क्या वास्तव में श्रीरायरामानन्द शूद्र थे?—वास्तव में ऐसा नहीं था। श्रीरामानन्दराय, जहाँ तक ज्ञात हुआ है, क्षत्रिय वंश से सम्बन्धित थे। ब्रजलीला में वे श्रीविशाखाजी थे, इसका उल्लेख तो हम (पृष्ठ १६६ पर) कर ही आए हैं।

वैदिक ब्राह्मणों ने श्रीरामानन्द राय को केवल इसलिये शूद्र कहा कि वे विद्यानगर के राज-काज को उपराजा के रूप में सम्भालते थे एवं राजोपयोगी समस्त भोगों को भोगते थे। वे एक राजा के सेवक थे। सेवा-धर्म शास्त्रों में केवल शूद्र का ही धर्म कहा गया है एवं विशेषतः राजसेवी अर्थात् राजधन के भोग करने वालों की अधर्मपरायण-वृत्ति एवं प्रवृत्ति होने से उन्हें एक संन्यासाश्रमावलम्बी व्यक्ति के लिये अस्पृश्य कहा गया है जैसा कि राजा प्रतापरुद्र के लिये श्रीमन्महाप्रभु जी ने भी दर्शन देना अस्वीकार कर दिया था (चै० च० २—१०—६) वैदिक ब्राह्मणों को उस समय श्रीमन्महाप्रभु के वास्तविक स्वरूप का कुछ ज्ञान न था। किन्तु केवल उनका संन्यासी वेश देखकर उन्होंने प्रभु के (संन्यासी के) तेज को जैसे ब्रह्म के समान कह दिया। उसी प्रकार श्रीरामानन्दराय के वास्तव स्वरूप का परिचय न होते हुए उन्होंने उनके राजसेवक-वेश-भूषा को देख कर उन्हें (संन्यास की तुलनात्मक दृष्टि से) अस्पृश्य या शूद्र कह दिया।

श्रीरायरामानन्द जी ने भी अपने को राजसेवी-विषयी होने के कारण ही (पयार ३३ में) शूद्राधम कहा है। वस्तुतः यह उनकी एक दैन्योक्ति है, जो 'तृणादपि सुनीच' भावना की निष्ठा से महत्-पुरुष अपने सम्बन्ध में उच्चारण किया करते हैं।

अतः शूद्र-शब्द का अभिप्राय यहाँ राय रामानन्दजी की जाति विशेष का परिचायक नहीं है। वे परम भागवत् महाविद्वान्-पण्डित एवं श्रीकृष्णतत्त्व-वेत्ता वैष्णव थे। सिद्धान्ततः देखा जाये तो श्रीभगवत्-

भक्ति पथ में जाति-कुलादि के विचार का अवकाश है ही नहीं। श्रीमहाप्रभु की श्रीमुखोक्ति है —

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केने नय।
येइ कृष्ण-तत्ववेत्ता, से-इ-गुरु हय ॥

(चैं० च० २-८-१००)

चाहे ब्राह्मण हो, चाहे संन्यासी हो, चाहे शूद्र ही क्यों न हो जो श्रीकृष्ण-तत्त्ववेत्ता है अर्थात् जिसने श्रीकृष्ण को अपना परम इष्ट मानकर उनकी शरणागति ग्रहण करली है, वही सर्वभावेन पूज्यनीय है। श्रीमहाप्रभुजी ने और भो कहा है—"श्रोकृष्ण-भजन में जाति-कुलादि का कोई विचार नहीं है।

विशेषतः शास्त्र कहता है कि:—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः।
तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥ श्रौ ॥

अर्थात् जैसे रसविधान से कांसा स्वर्ण हो जाता है, उसी प्रकार दीक्षा अर्थात् श्रीभगवान् के मन्त्रादि से श्रीगुरुद्वारा दीक्षित होने पर मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि किसी जाति का भी क्यों न हो, द्विजत्व अर्थात् ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसकी फिर ब्राह्मण जाति में ही गणना है। अतः भगवत्-पथ में जाति-कुल की आलोचना का कोई स्थान नहीं है।

सार्व्वभौम भट्टाचार्य्य कहिल तोमार गुण। तोमारे मिलिते मोरे करिल यतन ॥२८॥
तोमा मिलिवारे मोर एथा आगमन। भाल हैल अनायासे पाइल दरशन ॥२९॥
राय कहे—सार्व्वभौम करे भृत्यज्ञान। परोक्षेह मोर हिते हय सावधान ॥३०॥
तांर कृपाय पाइनु तोमार चरण-दर्शन। आजि सफल हैल मोर मनुष्य-जनम ॥३१॥

प्रभु ने कहा—"राय! सार्व्वभौम भट्टाचार्य ने मुझे आपके गुण सुनाये थे और आप से मिलने के लिये मुझे आग्रह पूर्वक कहा था। मैं यहां आपके मिलने के लिये ही आया हूँ। अच्छा हुआ—अनायास आपके दर्शन हो गये।" राय ने कहा—"श्रीसार्व्वभौम मुझे अपना एक दास जानते हैं और दूर रहकर भी मेरा हित करने के लिये चिन्तित रहते हैं। उनकी कृपा से आज मैंने आपके चरणों का दर्शन प्राप्त किया है। आज मैं अपना मनुष्य जन्म सफल कर पाया हूँ" ॥२८-३१॥

सार्व्वभौमे तोमार कृपा—तार एइ चिन्ह। अस्पृश्य स्पर्शिले हञा तांर प्रेमाधीन ॥३२॥
काहां तुमि साक्षात् ईश्वर नारायण। काहां मुञि राजसेवी विषयी शूद्राधम ॥३३॥
मोर स्पर्शे ना करिले घृणा वेदभय। मोर दरशन तोमा—वेदे निषेधय ॥३४॥
तोमार कृपाय तोमाय कराय निन्द्यकर्म। साक्षात् ईश्वर तुमि,के जाने तोमार मर्म॥३५॥
आमा निस्तारिते तोमार इहां आगमन। परम दयालु तुमि पतित—पावन ॥३६॥
महान्तस्वभाव एइ—तारिते पामर। निजकार्य्य नाइ—तवु यान तार घर ॥३७॥

राय ने कहा—"आपकी श्रीसार्व्वभौम पर भी कृपा है—इसका प्रमाण यही है कि आपने उनके प्रेम के वशीभूत होकर मुझ न छूने योग्य को भी आलिङ्गन कर लिया है। कहाँ आप साक्षात् ईश्वर नारायण? और कहाँ मैं राजसी विषयों का सेवन करने वाला एक शूद्र-अधम? मेरा (शूद्र का) तो दर्शन

करना भी आपके (संन्यासी के) लिये वेद में निषेध किया गया है, आपने तो मुझे आलिङ्गन कर लिया है। आपने न तो कुछ मुझ से घृणा ही की और न वेद-आज्ञा को भङ्ग करने का कुछ भय ही किया। यह केवल आपकी कृपा ही है, जो आपसे न करने योग्य काम भी करा देती है। आप साक्षात् ईश्वर हो—आपके भेद को कोई भी नहीं जान सकता। निश्चय ही आप मेरा निस्तार करने के लिये यहाँ पधारे हो। कारण कि आप परम दयालु हो, पतितों को पवित्र करने वाले हो। पतित जनों को तारना—यह महान पुरुषों का स्वभाव है, चाहे उनका कुछ अपना कार्य न भी हो तो भी वे पतित जनों के घर पर जाकर उनका निस्तार करते ही हैं" ॥ ३२—३७ ॥

इतना कहकर राय रामानन्द जी ने श्रीमद्भागवत का निम्नलिखित श्लोक पढ़ा, जो श्रीगर्गाचार्य के श्रीकृष्ण—नाम-करण संस्कार के लिये आगमन पर श्रीनन्दमहाराज जी ने कहा था—

तथाहि (भाः १०—७—४)—

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् ।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ॥३॥

राय रामानन्द ने कहा—"हे भगवन् ! दीन-चित्त गृहासक्त लोगों का कल्याण करने के लिये ही उनके घरों में महत्पुरुषों का जाना हुआ करता है। किसी और कारण या अपने स्वार्थ के लिये वे कभी भी कहीं नहीं जाते।" [महत्पुरुष ही जब गृहासक्त लोगों के घरों में उनका कल्याण करने के लिये जाया करते हैं, फिर आप तो स्वयं-भगवान् परमदयालु हो। आपका मेरे निस्तार करने के लिये यहाँ आना हुआ है—इस में क्या सन्देह है ?] ॥ ३ ॥

आमार सङ्गे ब्राह्मणादि सहस्रेक जन। तोमार दर्शने सभार द्रवीभूत मन ॥३८॥
'कृष्ण' कृष्ण' नाम शुनि सभार वदने। सभार अङ्ग पुलकित—अश्रु नयने ॥३९॥
आकृत्ये-प्रकृत्ये तोमार ईश्वर—लक्षण। जीवे न सम्भवे एइ अप्राकृत गुण ॥४०॥

राय ने फिर कहा—"मेरे साथ लगभग एक हजार ब्राह्मण आदि लोग हैं। मैं देख रहा हूँ इन सब का मन आपके दर्शन करते ही द्रवीभूत हो गया है। सबके मुख से "श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण"—यह नाम निकल रहा है और प्रेम के सात्विक-विकार पुलक-अश्रु-आदि सब के अङ्गों पर प्रगटित होरहे हैं। आप की आकृति एवं आप की प्रकृति अर्थात् स्वभाव से आप में ईश्वर के सब लक्षण विद्यमान हैं। इस प्रकार के अप्राकृत-गुण किसी जीव में कभी नहीं होते" ॥ ३८—४० ॥

चै० च० चु० *टीका*—ऊपर के दो पयारों में राय रामानन्दजी ने श्रीमहाप्रभु के स्वयं भगवत्ता के लक्षणों का प्रकाश किया है। श्रीमहाप्रभु का सुलक्षण युक्त विशाल देह (अपने हाथों से चार हाथ लम्बा) एवं उनका दर्शन करते ही हजारों व्यक्तियों में कृष्ण-नाम की स्फूर्त्ति होना, सब में प्रेम का आविर्भाव तथा सबके शरीर में सात्विक-विकारों का उदय होना—ये सब ऐसे लक्षण हैं जो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में ही विराजमान रहते हैं। विशेषतः दर्शनमात्र से प्रेमदान—यह लक्षण तो श्रीकृष्ण को छोड़ कर और किसी भगवत्स्वरूप में भी नहीं होता। यथा—लघुभागवतामृते पूर्वखण्डे (५—३७)—

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्व्वतोभद्राः ।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति ॥अं॥

भगवान् पुष्करनाभ के अनन्त अवतार हैं और वे समस्त सर्वभाव से मङ्गल करने वाले हैं। किन्तु चैतन्य जीवों की तो बात ही क्या, जड़-लतादिकों को भी प्रेमदान श्रीकृष्ण के बिना और कौन कर सकता है। [तात्पर्य यह है कि 'दर्शन-मात्र से प्रेमदान' को देख कर राय रामानन्द जी जान गये कि श्रीमहाप्रभु साक्षात् स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।]

प्रभु कहे—तुमि महाभागवतोत्तम । तोमार दर्शने सभार द्रव हैल मन ॥४१॥
आनेर का कथा-आमि मायावादी संन्यासी । आमिह तोमार स्पर्शे कृष्णप्रेमे भासि॥४२॥
एइ जानि—कठिन मोर हृदय शोधिते। सार्वभौम कहिलेन तोमारे मिलिते ॥४३॥
एइमत दोंहे स्तुति करे दोंहार गुण। दोंहे दोंहार दरशने आनन्दित मन ॥४४॥

राय रामानन्द जी के बचन सुनकर श्रीमहाप्रभु ने कहा—"(रामानन्द ! मेरे दर्शनों से इन सब का मन द्रवीभूत नहीं हुआ है) तुम महा भागवतों (भक्तों) में भी श्रेष्ठ भक्त हो, तुम्हारे दर्शनों से ही सब का मन द्रवीभूत हो गया है। औरों की तो क्या बात ? मैं मायावादी संन्यासी हूँ। मैं भी आपका स्पर्श करके श्रीकृष्ण-प्रेम में डूबा जा रहा हूँ। ऐसा जान कर श्रीसार्वभौम ने मुझे मेरा कठिन हृदय शुद्ध करने के लिये आप के दर्शनों को भेजा है"। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के गुणों का वर्णन कर रहे थे एवं एक दूसरे को मिल कर आनन्द से फूले न समाते थे ॥ ४१—४४ ॥

चै० च० चु० *टीका*—उस काल में संन्यासियों में प्रायः सब ही शङ्कर-सम्प्रदायी अर्थात् मायावादी संन्यासी हुआ करते थे, जो भक्ति-विरोधी अद्वैतवाद के अनुयायी थे। श्रीमन्महाप्रभु ने तो परम भागवत श्रीपाद ईश्वरपुरी जी से दशाक्षर गोपाल-मन्त्र की दीक्षा ली थी और श्रीपाद केशव भारती जी से संन्यास लेने से पहले उन के कान में श्रीमहाप्रभु ने उन्हें 'तत्त्वमसि' वाक्य का भक्तिमूलक अर्थ तस्य त्वम् असि—(पृष्ट नं० १३४ द्रष्टव्य) सुनाया और उन्हें परम भागवत बना कर फिर उन से संन्यास ग्रहण किया था। अतः वस्तुतः श्रीमन्महाप्रभु मायावादी संन्यासी न थे। उन्होंने केवल अपने को गोपन करने के लिये रामानन्द रायजी के आगे अपने को मायावादी संन्यासी कहा। अथवा हेयत्व या निकृष्टता ज्ञापन कराने के लिये अपने को मायावादी संन्यासी कह दिया।

हेनकाले वैदिक एक वैष्णव ब्राह्मण। दण्डवत् करि कैल प्रभुर निमन्त्रण ॥४५॥
निमन्त्रण मानिल तारे 'वैष्णव' जानिया। रामानन्दे कहे प्रभु ईषत् हासिया—॥४६॥
तोमार मुखे कृष्णकथा शुनिते हय मन। पुनरपि पाइ येन तोमार दर्शन ॥४७॥

इसी समय एक वैदिक ब्राह्मण, जो वैष्णव था, वहाँ आया और श्रीमन्महाप्रभु को दण्डवत् प्रणाम कर उसने उन्हें भिक्षा के लिये निमन्त्रण दिया। श्रीमहाप्रभु ने उसे वैष्णव जान कर उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। प्रभु राय रामानन्द जी से मन्द मुस्कराते हुए बोले—"मेरा मन आपके मुख से श्रीकृष्ण-कथा सुनने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है। क्या फिर भी आपके दर्शन मुझे होंगे ?॥४५-४७

राय कहे-आइला यदि पामरे शोधिते। दर्शनमात्रे शुद्ध नहे मोर दुष्टचित्ते ॥४८॥
दिन पाञ्च सात रहि करह मार्ज्जन। तबे शुद्ध हय मोर एइ दुष्टमन ॥४९॥
यद्यपि विच्छेद दोंहार सहने न याय। तबु दण्डवत् करि चलिला रामराय ॥५०॥

प्रभु के वचन सुन कर राय रामानन्दजी ने कहा—"प्रभो ! आप तो मुझ पामर का उद्धार ही करने आये हैं, केवल दर्शन मात्र से मेरा यह दुष्ट चित्त शुद्ध नहीं हो सकेगा। आप कृपा कर पांच सात दिन यहाँ रहिये और इस मेरे चित्त का मार्ज्जन करिये, जिससे यह दुष्ट चित्त सुधर सकेगा"। प्रभु की स्वीकृति जान कर—यद्यपि एक दूसरे से बिछुड़ना असह्य था, फिर भी राय रामानन्दजी ने प्रभु को दण्डवत् प्रणाम किया और अपने निवासस्थान की ओर चल दिये ॥ ४८—५० ॥

प्रभु याञा सेइ विप्रघरे भिक्षा कैल। दुइजनार उत्कण्ठाय आसि सन्ध्या हैल ॥५१॥

प्रभु स्नान-कृत्य करि आछेन वसिया। एक भृत्य सङ्गे राय मिलिल आसिया ॥५२॥

नमस्कार कैल राय,प्रभु कैल आलिङ्गने। दुइजने कथा कहे वसि रहःस्थाने ॥५३॥

प्रभु कहे–पढ़ श्लोक साध्येर निर्णय। राय कहे, स्वधर्माचरणे विष्णुभक्ति हय॥५४॥

राय रामानन्दजी से सन्ध्या के समय मिलने का निश्चय करके, श्रीमहाप्रभु ने उस वैष्णव-ब्राह्मण के साथ उसके घर पर जाकर भिक्षा की एवं कुछ देर विश्राम किया। दोनों ही एक दूसरे से मिलने के लिये सन्ध्या की प्रतीक्षा कर रहे थे—कि सन्ध्या का समय आ उपस्थित हुआ। श्रीमहाप्रभु ने स्नान किया एवं सन्ध्याकृत करके जब सुखपूर्वक बैठे थे, तब एक भृत्य के साथ राय रामानन्दजी भी वहाँ आ पहुँचे। राय रामानन्दजी ने प्रभु को नमस्कार किया एवं प्रभु ने उन्हें उठाकर आलिङ्गन किया। दोनों एकान्त स्थान पर बैठ कर कथा कहने लगे। सर्व प्रथम श्रीमहाप्रभु ने कहा—"श्लोक पढ़ते हुए आप साध्य का निर्णय कहिये"। राय रामानन्द ने कहा—"स्वधर्माचरण से अर्थात् वर्णाश्रम के धर्मों का आचरण करने से बिष्णु-भक्ति की प्राप्ति होती है" ॥५१-५४॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमन्महाप्रभुजी ने साध्य का निर्णय पूछते हुए राय रामानन्दजी से सर्व प्रथम श्लोक अर्थात् शास्त्रीय-प्रमाण बोलने का आदेश किया। इस से उनका अभिप्राय यह था कि राय-रामानन्दजी जो कुछ बोलें, वह अशास्त्रीय बात न हो, जो भी वह बोलें—उसकी प्रामाणिकता के लिये शास्त्र का वचन या प्रमाण दिखावें। वास्तव में साध्य-साधन के निर्णय के सम्बन्ध में एक मात्र शास्त्र ही प्रमाण है। साध्यतत्व अप्राकृत-राज्य की वस्तु है और जीव की बुद्धि प्राकृत है। प्राकृत बुद्धि की तर्क युक्तियों द्वारा, अप्राकृत राज्य की किसी वस्तु के सम्बन्ध में निर्भर योग्य सिद्धान्त स्थापन नहीं किया जा सकता है। क्या कर्त्तव्य है; क्या अकर्त्तव्य है—एक मात्र शास्त्रों द्वारा ही इसका निर्णय किया जा सकता है। अतः श्रीमहाप्रभु ने शास्त्रीय-प्रमाण द्वारा पुष्ट साध्य-वस्तु के निर्णय को पूछा।

साध्य का अर्थ है—काम्य वस्तु या अभीष्ट वस्तु। हम सब सुख चाहते हैं—सुख हमारी काम्य-वस्तु या साध्यवस्तु है। सुख चाहने के कारण दुख को हम नहीं चाहते। अतः सुख-प्राप्ति एवं दुख-निवृत्ति ही हमारी काम्य-वस्तु या साध्य-वस्तु है। सुख के विषय में भी अनेक प्रकार की धारणाएँ हैं। धारणाओं के अनुसार काम्य-वस्तु को साधारणतः चार श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—जिन्हें **पुरुषार्थ** कहते हैं। वे चार पुरुषार्थ हैं—**धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष**।

कुछ एक ऐसे लोग हैं, जो जगत् के सुख-भोगों को चाहते हैं परन्तु उनकी इनमें पूर्ण-तृप्ति नहीं होती; वे मृत्यु के पश्चात् स्वर्गादि के सुख-भोगों की कामना करते हैं। अतः परलोक के सुख-भोग के लिये वे धर्म का अनुष्ठान किया करते हैं—उन लोगों के पुरुषार्थ का नाम 'धर्म' है।

दूसरी श्रेणी में कुछ ऐसे लोग हैं जो इन्द्रियों का भोग चाहते हैं और उसी में सुख मानते हैं। किन्तु वे केवल स्थूल-भोग नहीं चाहते, बल्कि शरीर, मन एवं समाज के स्वास्थ्य को भी वे बिगाड़ना नहीं

चाहते। वे आत्मा का शोधन भी चाहते हैं, लोगों में आदर-सम्मान भी चाहते हैं, परोपकार में भी यथा-साध्य अनुकूलता रखते हैं, इन सब बातों को बनाये रखने के लिये वे धन का सञ्चय करते हैं। उनके पुरुषार्थ का नाम **'अर्थ'** है।

तीसरी श्रेणी में वे लोग हैं जिनका आवेश देह एवं इन्द्रियों में है। वे देह-इन्द्रियोंके सुख को ही सुख समझते हैं। पशुओं की भांति आहार-निद्रा-मैथुन आदि स्थूल-इन्द्रियों का भोग वे चाहते हैं। उन्हें अपनी कामनाओं को पूर्ण करने में शरीर–मन एवं समाज के पतन की कोई परवाह नहीं रहती—उन लोगों के पुरुषार्थ का नाम **'काम'** है।

इन तीनों श्रेणियों के लोगों के पुरुषार्थ का पर्यावसान शरीर एवं इन्द्रियों का सुख है। स्वर्ग का सुख भी तो शरीर का सुख है। स्वर्ग सुख भोगने के पश्चात् उन्हें फिर इस जगत् में आना पड़ता है। इन तीनों को नित्य सुख की प्राप्ति नहीं होती और न ही उनके दुख की आत्यन्तिकी-निवृत्ति ही होती है। अतः इनमें वास्तव पुरुषार्थता नहीं है, जिससे इन्हें साध्य भी नहीं कहा जा सकता—साध्य वही हो सकता है; जिस में नित्य सुख एवं दुख की आत्यन्तिकी-निवृत्ति हो।

चौथी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो देह एवं इन्द्रियों के सुख को अनित्य जानकर उक्त तीन प्रकार के पुरुषार्थों के प्रति लुब्ध नहीं होते। वे जानते हैं कि देह अनित्य है। अतः देह का सुख भी अनित्य है। जीव का अनित्य देह से जो सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध केवल माया के कारण है। मायाबन्धन के निवृत्त होने पर जीव का अनित्य देह से सम्बन्ध टूट जाता है और तभी ही नित्य-सुख की प्राप्ति या नित्य सुख का सन्धान मिल सकता है। इस प्रकार सोचकर वे माया बन्धन से मुक्त होने की चेष्टा करते हैं—उन लोगों के पुरुषार्थ का नाम **'मोक्ष'** है। (विषद् आलोचना श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न-संग्रह में पुरुषार्थ-तत्त्व पृष्ट १३४ पर द्रष्टव्य है)।

मोक्ष में दुख की आत्यन्तिकी दुख-निवृत्ति हो जाती है और नित्य ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है—इसलिये मोक्ष में पुरुषार्थता कही गई है, किन्तु मोक्ष में भी परम-पुरुषार्थता नहीं है, क्योंकि मोक्ष-प्राप्त जीवों में भी भगवद्-भजन का लोभ उत्पन्न होता है—ऐसी अनेक कथाएँ श्रुति-स्मृतियों में देखी जाती है। भगवद्-भजन की प्राप्ति का एक मात्र उपाय है—**प्रेम**। इस प्रेम के लिये अर्थात् भगवत्-सुखैकतात्पर्यमयी-सेवा के लिये श्रीशुक-सनक-नारद आदि मुक्त पुरुष भी लालायित हो उठते हैं। अतः भगवत्-प्रेम ही परम-तम-चरमतम पुरुषार्थ है, जिसे परम-साध्य कहा जा सकता है। इस प्रेम द्वारा अर्थात् स्वसुखगंध-लेश-शून्य भगवद्-सुखैक-तात्पर्यमयी-सेवा द्वारा रस-स्वरूप असमोर्द्ध माधुर्य-मूर्ति श्रीभगवान् के सर्व–चित्ताकर्षी माधुर्य का अनुभव करके अनिर्वचनीय शाश्वत् आनन्द की प्राप्ति होती है, जिससे जीव की चिरन्तिनी सुख-वासना की चरम तृप्ति हो जाती है और दुख की आत्यन्तिकी-निवृत्ति तो अपने आप हो जाती है।

वस्तुतः जीव के स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य-साधन के पक्ष में जो अपरिहार्य हो—वही जीव का वास्तव स्वरूप-गत साध्य हो सकता है। जीव का स्वरूप है—श्रीकृष्ण का नित्यदास। अतः जीव का स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य है—श्रीकृष्ण-सेवा। सेवा का तात्पर्य है केवल मात्र सेव्य का प्रीति-विधान। उस सेवा में यदि अपने सुख की किञ्चित् भी वासना रहती है—वह कपट है—वह वास्तविक सेवा नहीं कही जा सकती। अतः स्वसुख-वासना-रहित श्रीकृष्ण के सुख के लिये कृष्ण-सेवा ही जीव का स्वरूपानुबन्धि-कर्त्तव्य हैं। सेवा-वासना को कृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी करने की शक्ति एक मात्र प्रेम में है। अतः जीव के स्वरूपानुबन्धि-कर्त्तव्य-सम्पादन के पक्ष में प्रेम ही अपरिहार्य्य है। इसलिये "**कृष्णप्रेम**" ही वास्तव में साध्यवस्तु है।

श्रीमन्महाप्रभु ने इसी परम साध्य-वस्तु श्रीकृष्ण-प्रेम को ही लक्ष्य करके रायरामानन्दजी से साध्य के निर्णय का प्रश्न किया। हम आगे देखेंगे कि रायरामानन्दजी अनेक प्रकार के साध्य कहेंगे, परन्तु महाप्रभुजी उन सबको साध्य न मानकर,अपितु बाह्य वस्तु मानकर कुछ आगे कहने की उन्हें प्रेरणा करेंगे। साध्य-रूप में जब रायरामानन्दजी पञ्चम-पुरुषार्थ प्रेम का निर्णय करेंगे तभी श्रीमहाप्रभु सन्तुष्ट होंगे। रायरामानन्दजी ने भी सहसा प्रेम को साध्य वस्तु न बताकर प्रथम पुरुषार्थ—'धर्म' से ही आलोचना आरम्भ की। क्रमशः मोक्ष की बात भी कही और अन्त में जाकर परम साध्य-वस्तु प्रेम का कथन किया। इसका कारण यह है कि साधकों की जो साध्य वस्तु के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाएं हैं, उनका क्रमशः समाधान हो सके एवं अनेक साध्यों का वास्तविक स्वरूप हम जान सकें और फिर परम साध्य वस्तु की विशेषता एवं परम पुरुषार्थता का ज्ञान होकर उसकी प्राप्ति के साधनों में हमारी प्रवृति हो सके।

इस प्रकार जब श्रीमहाप्रभुजी ने जीव की साध्य वस्तु को शास्त्रीय प्रमाण सहित पूछा तो राय-रामानन्दजी ने कहा—"स्वधर्माचरण से विष्णुभक्ति होती है। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र-ये चार वर्ण हैं एवं ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, बानप्रस्थ तथा संन्यास या भिक्षु—ये चार आश्रम हैं। जो व्यक्ति जिस वर्ण-आश्रममें है—उसके लिये उसी वर्ण एवं उसी आश्रमके लिये जिन जिन कर्त्तव्य कर्मों का शास्त्रों में उल्लेख है—वे कर्त्तव्य-कर्म ही उसके लिये धर्म हैं एवं उनका आचरण करना उसके लिये स्वधर्माचरण हैं। रायरामानन्दजी ने कहा इस प्रकार अपने अपने वर्णाश्रम के कर्त्तव्य-कर्मों के आचरण से विष्णु-भक्ति की प्राप्ति होती है। उन्होंने विष्णु-भक्ति को ही साध्य-वस्तु कहा।

विष्णु-भक्ति किसे कहते हैं ?—विष्णु शब्द से सर्वव्यापक तत्व—श्रीभगवान् का अभिप्राय है। अर्थात् जिस भक्ति का विषय श्रीविष्णु या श्रीभगवान् हैं—वह **'विष्णु-भक्ति'** कहलाती है। भज्-धातु से भक्ति शब्द निष्पन्न होता है। भज् धातु का अर्थ है—सेवा। श्रीभगवान् की सेवा ही भगवत्-भक्ति कहलाती है। भक्ति के दो प्रकार हैं—**'साधन-भक्ति'** एवं **'साध्य-भक्ति'**। भगवत् सेवा ही जीव का मूल साध्य है—इसे **साध्य-भक्ति** कहते हैं—इस साध्यभक्ति की प्राप्ति के लिये इन्द्रियों द्वारा जो समस्त अनुष्ठान किये जाते हैं—उन्हें **'साधन-भक्ति'** कहते हैं। यहाँ विष्णु भक्ति को साध्य कहा गया है और इस पयार के अनुसार स्वधर्माचरण को उसकी प्राप्ति का साधन कहा है। साध्य रूप जो विष्णुभक्ति हैं वह दो प्रकार की है। शुद्धाभक्ति एवं मिश्राभक्ति। कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी सेवा ही **'शुद्धा-भक्ति'** है। जिसमें अपने सुख एवं अपने दुख-निवृत्ति की लेशमात्र भी गन्ध नहीं हो—अन्यान्य वासना का मलिन भाव जिस भक्ति में न हो—वह है शुद्धा-भक्ति। वस्तुतः यही शुद्धाभक्ति ही पञ्चम पुरुषार्थ-प्रेम-भक्ति है। मिश्राभक्ति में अनेक प्रकार की वासनाएँ मिली रहती हैं अतः उसे **'मिश्रा-भक्ति'** कहते हैं। मिश्रा-भक्ति अनेक प्रकार की है—कर्ममिश्रा, योगमिश्रा, ज्ञानमिश्रा एवं ऐश्वर्यमिश्रा-इत्यादि। जो लोग कर्ममार्ग अर्थात् वर्णाश्रमधर्मों का अनुष्ठान करते हैं, कर्मों का फल प्राप्त करने के लिये उन्हें भक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। कर्मानुष्ठान की सहकारिणी जो भक्ति है उसे **'कर्म-मिश्रा-भक्ति'** कहते हैं। कर्मों का अनुष्ठान कर्मों का फल नहीं दे सकता-फल प्रदाता हैं—श्रीभगवान्। कर्मों के फल को प्राप्त करने के लिये, उनकी कृपा जागृत कराने के लिये भक्ति की सहायता की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार योग मार्ग, ज्ञानमार्ग के अनुष्ठान भी भक्ति की सहायता के बिना अपना-अपना फल देने में असमर्थ हैं (भूमिका अभिधेय तत्त्व पृष्ठ १४४ पर द्रष्टव्य है) कर्म, योग, ज्ञान के साधनों के साथ भक्ति मिश्रित अवश्य रहती है, किन्तु परिणाम में भक्ति नहीं रहती-भगवत् सेवा नहीं रहती—केवल उन्हीं साधनों का ही फल प्राप्त हो जाता है। किन्तु ऐश्वर्यमिश्रा भक्ति अन्त में भी रहती है। सालोक्यादि चारों प्रकार की मुक्तियों में कोई एक प्रकार की मुक्ति जो प्राप्त करते

हैं—वे वैकुण्ठ में जाकर अपने उपास्य भगवत्-स्वरूप की सेवा प्राप्त करते हैं (मुक्तावस्था में भी उनका श्रीभगवान् में ऐश्वर्यज्ञान ही प्रधान भाव से रहता है।

शुद्ध-भक्ति के साधनों को **'उत्तमा-भक्ति'** या **'उत्तमा-साधन-भक्ति'** कहते हैं। भक्तिरसामृत सिन्धु (१-१-६) में उत्तमाभक्ति के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं:)—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।।अ:।।

भुक्ति-मुक्ति आदि अन्यान्य वासनाओं से रहित, अर्थात् साधन काल में एक मात्र कृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा को छोड़कर जिसमें भुक्ति—अपने भोग सुखों की वासना न हो, और जिसमें मुक्ति की भी वासना किञ्चित् मात्र न हो, तथा जो ज्ञान-कर्मादि द्वारा अनावृत हो अर्थात् निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान रूप ज्ञान से एवं स्मृति-आदिक में कहे गये नित्य-नैमित्तिक कर्मों से और (आदि शब्दसे) योग,वैराग्य, सांख्याभ्यास से मलिन न हो—ऐसा जो श्रीकृष्ण-सेवाके अनुकूल अनुशीलन (चर्चा या आचरण) है—उसे **'उत्तमा-भक्ति'** कहते हैं। इस प्रकार केवलमात्र श्रीकृष्णप्रीति के उद्देश्य से की हुई श्रवण-कीर्त्तनादि नवविधा भक्ति ही शुद्धभक्ति प्राप्त करने का अनुकूल साधन है। वर्णाश्रमधर्मों की कर्मों में ही गिनती है, जैसा ऊपर कहा गया है। उत्तमाभक्ति में कर्मों की मलीनता नहीं रहती। अत: स्वधर्माचरण या वर्णाश्रम-धर्माचरण भक्ति का अङ्ग नहीं हैं। उस को साध्य-भक्ति का साधन नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न उठता है कि यदि स्वधर्माचरण भक्ति का अङ्ग ही नहीं है, तो रायरामानन्दजी ने कैसे कह दिया कि स्वधर्माचरण से विष्णु-भक्ति की प्राप्ति होती है? इसका समाधान यह है कि भक्ति भी तीन प्रकार को होती है। **'आरोपसिद्धा', 'सङ्ग-सिद्धा', 'स्वरूप-सिद्धा'**,। जो वास्तव में स्वरूपत: भक्ति न हो, अथच जिसमें भक्ति का भाव आरोपित हो उसे **'आरोपसिद्धा भक्ति'** कहते हैं। स्वरूपत: भक्ति न होते हुए भी भक्ति के परिकररूप में निर्दिष्ट ज्ञान एवं कर्म के अङ्गभूत जो वैराग्य व दानादि हैं—भक्ति के सङ्ग रहने से उन्हें **'सङ्गसिद्धा-भक्ति'** कहते हैं। और श्रीभगवान् के नाम-गुण-लीलादि का श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण, मननादि करना **'स्वरूपसिद्धा'** भक्ति है। यह स्वरूप-सिद्धा-भक्ति सिद्धावस्था में भी बनी रहती है। जो स्वयं साधनरूप है और स्वयं साध्यरूप भी है। वर्णाश्रमधर्म आरोपसिद्धा भक्ति मात्र हैं—इनका आचरण स्वरूपत: भक्ति नहीं है, इनमें केवल भक्ति का भाव ही आरोपित है। भक्ति का भाव इनमें क्यों आरोपित है? केवल इसलिये कि जिन में दृढ़ श्रद्धा नहीं है अर्थात्—एक मात्र श्रीकृष्ण भक्ति से अन्य समस्त अनुष्ठानों का फल प्राप्त होता है—उस बात में जिनका दृढ़ विश्वास नहीं है—इसलिये जिनका शुद्धा-भक्ति में अधिकार नहीं है—उनके लिये वर्णाश्रम धर्मों के पालन की आज्ञा है। इन धर्मों का पालन करते करते चित्त को मलिन करने वाले रजोगुण एवं तमोगुण के नाश होने पर जब सत्व गुण की वृद्धि होती है, फिर कहीं सौभाग्यवश किसी महत्-पुरुष की कृपा से भक्ति की प्राप्ति की सम्भावना हो सकती है—इसी सम्भावना को लक्ष्य करते हुए वर्णाश्रम धर्मों में भक्ति का भाव आरोपित है। परन्तु याद रहे कि भक्त-सङ्ग या महत्-कृपा के बिना और किसी प्रकार भी भक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती—**"कृष्ण भक्ति जन्म मूल हय साधु संग"**।

वर्णाश्रम धर्मों का आचरण करने वाला क्रमश: शुद्धभक्ति का अधिकारी बन जायेगा—यह बात भी नहीं है। जिसमें श्रद्धा है, केवल मात्र वही भक्ति का अधिकारी है। एक मात्र श्रीकृष्ण-भक्ति के द्वारा ही अन्य समस्त कार्योंका फल पाया जा सकता है—इस वाक्यमें सुदृढ़ सुनिश्चित विश्वास का नाम

'श्रद्धा' है। वर्णाश्रम-धर्मों का अनुष्ठान करते करते सत्वगुण की वृद्धि होने पर श्रद्धा तथा विषयों से वैराग्य उत्पन्न होने की सम्भावना मात्र ही है—यह आवश्यक नहीं कि वर्णाश्रम-धर्माचरणसे श्रद्धा उत्पन्न होगी ही होगी। अतः वर्णाश्रम-धर्म-आचरण से शुद्धभक्ति का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।

शुद्धा-भक्ति के प्राप्त करने के लिये वर्णाश्रम धर्मों का परित्याग ही सर्वत्र कथन किया गया है, श्रीगीताजी में श्रीकृष्ण कह रहे हैं— **"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"**। यहाँ सर्व धर्मों से वर्णाश्रम धर्म ही अभिप्रेत हैं। मैत्रेय उपनिषत् में कहा है—**"वर्णादि धर्मः हि परित्यजन्तः स्वानन्द तृप्ताः पुरुषा भवन्ति"**। अर्थात् वर्णादि धर्म-परित्यागी पुरुष ही स्वानन्द तृप्त होसकते हैं। मण्डूक श्रुति भी कहती है—**"प्लवाह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा"** अर्थात् कर्माङ्गभूत यज्ञयागादिक संसाररूप समुद्र को पार करने में कच्ची या अदृढ़ नौका के समान हैं।

यहाँ एक बात और भी ध्यान रखने योग्य है। राय रामानन्दजी ने वर्णाश्रम धर्म से आरम्भ करके राधाप्रेम पर्य्यन्त साध्य-साधन-तत्त्व की आलोचना की है। इस से कोई यह न समझ ले कि वर्णाश्रम धर्माचरण से आरम्भ करके क्रम-क्रम से विभिन्न साधनरूप सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते शेष में राधाप्रेम की प्राप्ति हो जावेगी। वर्णाश्रम-धर्माचरण राधाप्रेम प्राप्ति की पहली-पहली सीढ़ी है—सो यह बात भी नहीं है। उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म से लेकर जिन साध्य-साधन-तत्त्वों की कथा कही है—वे सब एक एक पृथक् पुरुषार्थ रूप में वर्णन किये गये हैं। परम साध्य शिरोमणि राधाप्रेम की प्राप्ति के साधनों का क्रम यहाँ वर्णन नहीं किया गया है, अर्थात् वर्णाश्रम-धर्माचरण राधाप्रेम का साधन नहीं हैं। इस के आगे और समस्त जिन-जिन साध्य-साधन-तत्त्वों की आलोचना होगी, वे समस्त भी प्रेमके साधन नहीं हैं परन्तु वे सब पृथक्-पृथक् एक पुरुषार्थ मात्र हैं"।

राय रामानन्दजी ने जब "वर्णाश्रम-धर्म–आचरण से विष्णु-प्रीति होती है"—ऐसा कहा तो उसके प्रमाण में उन्होंने विष्णु पुराण का निम्नलिखित श्लोक भी उच्चारण किया:—

तथाहि विष्णु पुराणे (३—८—९)—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारणम् ॥४॥

परम-पुरुष श्रीविष्णु वर्णाश्रमाचार पालन करने वाले पुरुषों द्वारा आराधित होते हैं, इसको छोड़कर विष्णु प्रीति-प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं हैं ॥४॥

चै० च० चु० *टीका*—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—ये चार वर्ण हैं। शास्त्र में इनके धर्मों का इस प्रकार वर्णन है:—**ब्राह्मण का धर्मः**—यज्ञ करना, यज्ञ कराना, अध्ययन करना, अध्ययन कराना, दान लेना इत्यादि हैं। **क्षत्रिय का धर्मः**—दान करना, अध्ययन करना, यज्ञ कराना, दण्ड एवं युद्ध इत्यादि हैं। **वैश्य का धर्मः**—दान देना, अध्ययन करना, यज्ञ करना, खेती बाड़ी एवं व्यापार करना इत्यादि हैं। **शूद्र का धर्मः**—कूर्मपुराणानुसार उक्त तीनों वर्णों की सेवा करना ही है-।

ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, बानप्रस्थ एवं भिक्षु—ये चार आश्रम हैं। शास्त्र में इनके धर्मों का इस प्रकार उल्लेख है। **ब्रह्मचर्य्य आश्रम** के धर्म हैं:—उपनयन (यज्ञोपवीत) के बाद गुरुघर में वास, गुरुसेवा, व्रतों का पालन, वेद पाठ, दोनों सन्ध्याकालों में सूर्य एवं अग्नि के पास बैठना, एवं गुरु का अभिवादनादि। **गार्हस्थ्य आश्रम के धर्म हैं**'—यथा-विधि विवाह करके अपने वर्णधर्म के कार्य द्वारा धन उपार्जन, देव,

ऋषि-पित्रादि का अर्चनादि। **वानप्रस्थ आश्रम के धर्म हैं**:—मूल-फलों का आहार, केश जटाधारण, भूमिशयन, मौन, चर्म-काश-कुश द्वारा शरीर ढकना, तीनों काल स्नान एवं सन्ध्या करना, देवता पूजा, होम, अतिथि-पूजा, भिक्षा-प्रदान, तपस्या, सर्दी-गर्मी का सहन करना इत्यादि। **भिक्षु या संन्यास आश्रम के धर्म हैं**:—त्रिवर्ग त्याग, सर्वारम्भ-त्याग, समान दृष्टि, सबसे मित्रता, पशु-कीट पर्य्यन्त द्रोहत्याग, सब का सङ्ग त्याग, अग्नि होत्रादि का आचरण।

इस प्रकार अपने अपने वर्ण एवं आश्रम के धर्मों का पालन करने से श्रीविष्णु भगवान् प्रसन्न होते हैं—इसके बिना विष्णु-प्रीति प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं है–इस श्लोकका यही तात्पर्य है। पयार ५४ की टीका में हम भक्तिरसामृतादि भक्तिशास्त्र के मतानुसार यह उल्लेख कर आए हैं कि विष्णु-भक्ति जो श्रेष्ठ साध्य वस्तु है, उसकी प्राप्ति केवल भगवत् सेवा द्वारा ही की जा सकती है। वर्णाश्रमधर्मों का आचरण भक्ति का अङ्ग भी नहीं है एवं भक्त के लिये तो वर्णाश्रम धर्मों का परित्याग ही कर्त्तव्य है। किन्तु विष्णुपुराण के इस श्लोक से स्पष्ट जाना जाता है कि वर्णाश्रम–धर्मों के आचरण करने से विष्णु-भक्ति की प्राप्ति होती है और उसकी प्राप्ति का और कुछ भी उपाय नहीं है—इस प्रकार परस्पर विरोधी मत क्यों ?

विष्णु-प्रीति के साधन के सम्बन्ध में इस प्रकार विरोधी मत या विरुद्धोक्ति का कारण यह है कि भक्ति-शास्त्र में जिस प्रकार की विष्णुप्रीति के साधनों का वर्णन किया है—विष्णुपुराण का "**वर्णाश्रमाचारवता**"—श्लोक उस प्रकार की विष्णुप्रीति को लक्ष्य नहीं करता है।'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यहम्**"— इत्यादि श्रीगीताजी के श्लोक से यह ज्ञात होता है कि साधन के अनुरूप ही फल श्रीभगवान् साधक को देते हैं। विभिन्न साधन मार्ग है एवं उनके फल भी विभिन्न हैं। किन्तु श्रीभगवान् की कृपा या तुष्टि के बिना किसी भी साधन के फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधन, फल-प्रदाता भगवत्-कृपा की प्राप्ति के लिये किया जाता है, अर्थात् साधन से श्रीभगवान् तुष्ट होकर कृपा करके साधनानुरूप फल दान करते हैं, इसलिये साधन किया जाता है। किन्तु साधन जैसे विभिन्न हैं, साधनों का फलस्वरूप श्रीभगवान् की तुष्टि भी उसी प्रकार विभिन्न है। समस्त साधनों से यदि श्रीभगवान् समभाव से तुष्ट होते, तो सब साधनों का फल भी वे एक समान देते। किन्तु ऐसा वे करते नहीं। अतः जिस फल के प्राप्त करने के लिये श्रीभगवान् की जितनी या जिस प्रकार की तुष्टि का प्रयोजन है—उस साधन से वे उतने या उसी प्रकार ही तुष्ट होते हैं। इसलिये यह ज्ञात होता है कि साधन भक्ति—श्रवण-कीर्त्तनादि नवविधा भक्ति के अनुष्ठान से उनकी जितनी या जिस प्रकार की तुष्टि उन्मेषित होती है, वर्णाश्रमधर्मों के अनुष्ठान से उतनी एवं उस प्रकार की तुष्टि उनमें उन्मेषित नहीं हो पाती। साधनभक्ति से वे इतने तुष्ट होते हैं कि "**विक्रीणीते स्वात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः**" भक्तवत्सल भगवान् अपने को भक्त के हाथ बेच देते हैं। हर प्रकार से वे भक्त के वशीभूत हो जाते हैं और श्रीभागवतजी में कहते है कि "**अहं भक्तपराधीनः**"। किन्तु वर्णाश्रमधर्मों के अनुष्ठान से वे कभी भी इस प्रकार की आधीनता स्वीकार नहीं करते। श्रीगीता के "**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं**" (२–३७) श्लोक से यह ज्ञात होता है कि वर्णाश्रमधर्मों के आचरण से केवल स्वर्ग की प्राप्ति होती है। विष्णुपुराण के (३–९) अध्याय से भी यह ज्ञात होता है कि वर्णाश्रमधर्मों का फल लोक-प्राप्ति है, अर्थात् स्वर्गलोक, सत्यलोक आदि मायिक ब्रह्माण्ड-स्थित लोकों के सुख-भोग प्राप्त हो सकते हैं। विष्णुपुराण से 'वर्णाश्रमाचारवता' यह श्लोक जहाँ से उद्धृत किया गया है, वहाँ का प्रकरण देखने से भी स्वर्गादिक फल की प्राप्ति का परिचय मिलता है। मैत्रेयजी ने पराशरजी से प्रश्न किया है कि—भगवान् विष्णु की आराधना करके मनुष्य किस फल को प्राप्त करते है ? इस प्रश्न के उत्तर में पराशरजी ने कहा है कि (विष्णुपुराण ३–८–६)—

भौमान् मनोरथान् स्वर्गान् स्वर्गिबन्धं तथास्पदम् ।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम् ।।क।।

अर्थात्—श्रीविष्णु की आराधना से भूमि सम्बन्धी सकल मनोरथ सफल होते हैं। स्वर्ग एवं ब्रह्मलोकादि को प्राप्ति होती है एवं उत्तमा निर्वाणमुक्तिकी भी प्राप्ति होती है—इस फल को प्राप्त करने के लिये श्रीविष्णु की किस प्रकार आराधना करनी चाहिये—इस प्रश्नके उत्तर में ही—'वर्णाश्रमचारवता'—श्लोक कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इस लोक के मनोरथादि अथवा स्वर्गलोक या निर्वाण-मुक्ति प्राप्त करने के लिये भगवान् विष्णु की जितनी तुष्टि विधान करने की आवश्यकता है, वर्णाश्रमधर्मों के आचरण से उतनी ही तुष्टि साधित हो सकती है। परन्तु जिस साध्यसार-विष्णुप्रीति का लक्ष्य रखकर श्रीमहाप्रभु ने रायरामानन्दजी से जिज्ञासा की थी, उस प्रीति को प्राप्त कराने में वर्णाश्रमधर्माचार सर्वथा असमर्थ हैं।

इसलिये रायरामानन्दजी से 'वर्णाश्रमधर्माचरण से विष्णुप्रीति होती है'—इस उत्तर को सुनकर श्रीमहाप्रभु ने जो कुछ कहा एवं फिर उसके उत्तर में जो कुछ रायरामानन्दजी ने कहा—उसका आगे वर्णन करते हैं:—

प्रभु कहे—एहो बाह्य, आगे कह आर।
राय कहे—कृष्णे कर्मार्पण साध्यसार ।।५५।।

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"आपने जो कुछ कहा है, यह (अत्यन्त) बाहर की बात है। इसके आगे कुछ कहो।" रायरामानन्दजी ने उत्तर दिया—"श्रीकृष्ण में कर्मों का (कर्मों के फल का) अर्पण करना साध्यसार या श्रेष्ठ-साध्य है ।।५५।।

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमहाप्रभु ने कहा—"रायरामानन्द! तुम ने जो कहा कि स्वधर्माचरण से विष्णु-भक्ति होती है-यह अत्यन्त बाहर की बात है अर्थात् विष्णु-भक्ति साध्य वस्तु है—यह तो ठीक है किन्तु वर्णाश्रम-धर्माचरण से जो विष्णुभक्ति उत्पन्न होती है—वह जीव की साध्य वस्तु नहीं है। क्योंकि उसके फल से इस लोक के सुख-सम्पदा अथवा परलोक के स्वर्गादि के सुख-भोग प्राप्त हो सकते हैं—अधिक से अधिक किसी भाग्यवान् को निर्वाण मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है। किन्तु यह समस्त जीव के स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य से बहुत परे हैं। स्वर्गादिक एवं इस जगत् के जितने सुख भोग हैं—उनमें केवल अपना ही सुख है—जिसका दूसरा नाम है—काम,इसमें जीव का स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य श्रीकृष्ण-सेवा नहीं है। निर्वाणमुक्ति में—निर्विशेष ब्रह्म के साथ तादातमता प्राप्त हो जाने से ईश्वर जीव का सेव्य—सेवकत्व भाव लुप्त हो जाता है—जिसका मूल निदान है—अपने दुख को निवृत्ति-वासना। इस को भी काम ही कहा जाता है। इस में जीव का स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य तो है ही नहीं वरं उसके सर्वथा विरुद्ध धारणा है। अतः वर्णाश्रमधर्माचरण से होने वाली जो विष्णुभक्ति, जिसे आपने साध्य कहा है,वह स्वर्गादि सुख भोग तो दे सकती है, परन्तु जीव के स्वरूपानुबन्धि साध्य श्रीकृष्ण-सेवा को नहीं दे सकती-इस लिये रामानन्द। यह बाहर की वस्तु है।

यह ध्यान रहे कि यहाँ विष्णुभक्ति को बाह्य नहीं कहा गया है—वर्णाश्रमधर्माचरण-साधन को ही बाह्य कहा गया है। विष्णु-भक्ति तो सर्वशास्त्र-सम्मत साध्यवस्तु है। और विष्णुभक्ति न करते हुए जो केवल वर्णाश्रमधर्मों का पालन करते हैं-उनका तो रौरव नरक में पतन होता है—"**चारिवर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे। स्वधर्म करियाओ से रौरवे पड़ि मजे** ।। (चै० च० २-२२-१९)

श्रीमन्महाप्रभु का वर्णाश्रमधर्माचरण के सम्बन्ध में इस प्रकार मत जानकर रायरामानन्दजी ने श्रीकृष्ण में कर्मार्पण को साध्य-श्रेष्ठ बतलाया। यहाँ कर्म से वे कर्म अभिप्रेत हैं, जो स्मृति आदि शास्त्र में

कथित हैं और शरीर के स्वाभाविक धर्मवशत:जो किये जाते हैं। वर्णाश्रमधर्माचरण को बाह्य सुनकर राय ने श्रीकृष्ण में कर्मों का अर्पण बताया। इससे यह तो पता लगता है कि वर्णाश्रमधर्माचरण से श्रीकृष्ण में कर्मों का अर्पण करना श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ क्यों है ? वर्णाश्रम धर्म जो वेदों में वर्णित हैं, वे सकाम कर्म हैं। उन कर्मों के करने वाला बन्धन में आता है। श्रीगीता (३-९) में कहा है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ख॥

अर्थात्-भगवदर्पित निष्काम कर्म-रूप जो यज्ञ है, उसको छोड़कर और समस्त जितने कर्म हैं— उनको करने से बन्धन प्राप्त होता है। अतएव हे कौन्तेय ! तुम फल की आकाँक्षा छोड़कर (निष्काम) कर्मों का अनुष्ठान करो।" और भी कहा है— श्रीगीता (२-५१)

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्ध-विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ग॥

अर्थात्—"बुद्धिमान् पण्डितगण कर्मफल को परित्याग करके जन्मबन्धन से विनिर्मुक्त होकर अनामय-पद को प्राप्त होते हैं।" इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कर्मों से जिस बन्धन की आशंका रहती है, फल की आकांक्षा छोड़ कर उन्हें निष्काम भाव से करने से उस बन्धन का भय मिट जाता है। इस लिये कर्मों के फल-परित्याग की व्यवस्था है। किन्तु कर्मों का फल त्याग करो—उनका फल श्रीकृष्ण में अर्पण करो। श्रीकृष्ण स्वयं ही कह रहे हैं परवर्त्ती श्लोक—'यत् करोषि'—इत्यादि में। श्रीकृष्ण में कर्म-फल अर्पण करने से क्या होगा ? इसके उत्तर में स्वयं भगवान् ठीक अगले श्लोक में कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। (श्रीगीता ९-२८) अर्थात्—"इस प्रकार समस्त कर्मों का फल मुझ में अर्पण करने से तुम शुभ एवं अशुभ कर्म-बन्धन से मुक्त हो जावोगे। इसका अभिप्राय यह है कि वर्णाश्रम धर्मों के करने से जो बन्धन होता है—वह बन्धन श्रीकृष्ण-कर्मार्पण में नहीं रहता—यही केवल श्रेष्ठता है। इसलिये राय ने वर्णाश्रमधर्माचरण के आगे कृष्णकर्मार्पण को श्रेष्ठ साध्य कहा और उसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक भी कहा—

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (९-२७)

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥५॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीअर्जुन के प्रति कहा है—"हे कौन्तेय ! तू जो कुछ कर्म करे, जो कुछ भोजन करे, जो कुछ होम करे, जो कुछ दान करे एवं जो कुछ तपस्या करे, वह समस्त मेरे अर्पण कर ॥५॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक की टीका में श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ने लिखा है कि जो ज्ञान-कर्मादि का त्याग नहीं कर सकते हैं—इसलिये जो सर्वोत्कृष्टा केवला अनन्य भक्ति के अधिकारी नहीं हैं और निकृष्ट सकाम-भक्ति में भी जिनकी रुचि नहीं है—उन लोगों के लिये ही उक्त श्लोक में साधन-व्यवस्था बताई गई है। इसका नाम **निष्कामा-कर्मज्ञानमिश्रा भक्ति** है। इसे निष्काम-कर्मयोग भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि केवल शास्त्र विहित कर्मों को भगवत्-अर्पण करने का नाम—**निष्काम-कर्मयोग** है। व्यवहारिक कर्मों का (खाना-पीना आदि कर्मों का) अर्पण करना निष्काम कर्मयोग नहीं है। परन्तु यहाँ खाने-पीने का भी अर्पण वर्णित है।

इसे भक्तियोग या अनन्य भक्ति भी नहीं कहा जा सकता। कारण कि श्रवण-कीर्त्तन आदि नवविधा भक्ति को पहले भगवत्-अर्पित करके फिर उसका अनुष्ठान करना ही—'**भक्तियोग**' कहलाता है। अर्थात् भक्तियोग में भगवान् में अर्पित कर्मों के करने की व्यवस्था है। पहले अनुष्ठान करके फिर अर्पण करना—यह भक्तियोग नहीं है। 'यत् करोषि'—इत्यादि इस श्लोक में पहले कर्म करके फिर उसके फल को भगवान् के अर्पण करने का अभिप्राय है—अतः यह भक्तियोग का अङ्ग भी नहीं है।

जब राय रामानन्दजी ने कर्मों को भगवदर्पण करने की बात कही एवं उसके प्रमाण में श्लोक भी पढ़ा तो श्रीमन्महाप्रभु कहने लगे—

प्रभु कहे—एहो बाह्य, आगे कह आर।
राय कहे—स्वधर्मत्याग एइ साध्य-सार ॥५६॥

प्रभु ने कहा—"राय ! यह भी बाह्य अर्थात् बाहर की वस्तु है। इससे आगे यदि कुछ हो तो उसे कहिये।" राय ने कहा—"स्वधर्म का परित्याग ही साध्यसार है। अर्थात् वर्णाश्रम-धर्मों के त्याग से जिस वस्तु को प्राप्ति होती है—वही साध्य है" ॥ ५६ ॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमहाप्रभु ने श्रीकृष्ण में कर्मों के अर्पण को भी बाहरी वस्तु कहा है। क्योंकि जो अनन्या-भक्ति के अनधिकारी हैं, उनके लिये ही कृष्णकर्मार्पण कहा गया है। किन्तु कृष्ण-कर्मार्पण भक्तियोग नहीं है। भक्तियोग न होने से इसके द्वारा जीव के स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य अर्थात् श्रीकृष्ण-सेवा की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। अतः इसे श्रीमन्महाप्रभुजी ने बाहरी वस्तु अर्थात् परम साध्य वस्तु से परे की वस्तु बतलाया। जैसा कि पहले कह आए हैं, श्रीकृष्ण में कर्मार्पण करने का उद्देश्य केवल यही है कि अपने को कर्मों के बन्धनसे मुक्त करना। अर्थात् अपना छुटकारा पाने की भावना। इस भावना में देहावेश है, तभी तो अपने को मुक्त करने की इच्छा है। जहाँ अपने लिये कुछ इच्छा है—उसका नाम काम है। जहाँ काम है, वहाँ प्रेम कहाँ ? अतः प्रभु ने इसे बाह्य-वस्तु कहा।

प्रभु की बात सुन कर राय ने कहा—"वर्णाश्रम-धर्मों का त्याग करने से जिस वस्तु की प्राप्ति होती है वही श्रेष्ठ साध्य है"। वर्णाश्रम धर्म आचरण, फल की इच्छायुक्त 'स्वधर्म' है और कृष्णकर्मार्पण फल की इच्छा-रहित 'स्वधर्म स्वधर्महै'—इन दोनोंको जब महाप्रभुने बाह्य कहा तो राय ने दोनों प्रकार के स्वधर्मों के त्याग को ही श्रेष्ठ बताया एवं उसके प्रमाण में श्रीभागवत् जी का निम्नलिखित श्लोक भो पढ़ा—

तथाहि (भाः ११—११—३२)—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् माँ भजेत् स च सत्तमः ॥६॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा है—"हे उद्धव ! (वेदादि धर्मशास्त्र में जिस स्वधर्माचरण का) मैंने आदेश किया है, उसके गुण एवं दोषों को अच्छी प्रकार जान कर, उस समस्त (नित्य-नैमित्तिक रूप) स्वकीय (वर्णाश्रम) धर्म का परित्याग करके जो व्यक्ति मेरा भजन करता है, वह भी (पूर्ववर्त्ती श्लोकोंमें वर्णित "कृपालुरकृतद्रोहादि"—व्यक्ति की भांति) सत्तम है, अर्थात् सत् पुरुषों में श्रेष्ठ है ॥६॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में श्रीभगवान् ने श्रीउद्धव जी के प्रति कहा है कि "वेदादि धर्म-शास्त्रों में जिन वर्णाश्रम धर्मों के आचरण करने का मैंने आदेश किया है, उन के गुण एवं दोषों को **आज्ञाय** (**आ**—सम्यक् रूप से, **ज्ञाय**—जान कर) अर्थात् विचार पूर्वक सम्यक् रूप से उनके गुण दोषों को जान कर जो उन्हें परित्याग करता है एवं मेरा भजन करता है वही सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है।

बात यह है कि वे तीन प्रकार के लोग हैं जो वेदादि में विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मों का परित्याग करते हैं। एक तो वे हैं जो अज्ञ अर्थात् मूर्ख हैं। वे धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में कुछ जानते ही नहीं हैं, अतः वे उनको छोड़े हुए रहते हैं। दूसरे वे हैं जो नास्तिक हैं। वे वेदादि विहित कर्मों के सम्बन्ध में सब जानते हैं, किन्तु नास्तिक होने से उनमें उनका विश्वास ही नहीं है, इसलिये वे उनको परित्याग कर देते हैं। तीसरे वे लोग हैं, जो अज्ञ भी नहीं हैं और नास्तिक भी नहीं है। वे शास्त्रों में विहित कर्मों के विषय को सम्यक् रूप से जानते हैं एवं उन कर्मों के फल में भी उनका पूरा विश्वास है। किन्तु वे उन कर्मों के दोषों एवं गुणों को विचार करके फिर उनका परित्याग करते हैं। वे जानते हैं कि वे समस्त कर्म शुद्धा-भक्ति का अङ्ग नहीं हैं। उनकी शुद्धा-भक्ति या अनन्य-भक्ति में दृढ़ श्रद्धा है, अर्थात् उनका सुदृढ़ सुनिश्चित विश्वास है कि एकमात्र श्रीकृष्ण-भक्ति करने से समस्त धर्म-कर्म हो जाते हैं। अतः वे उन सब कर्मों का परित्याग कर देते हैं।

इस श्लोक में तीसरे लोगों की ही बात कही गई है। श्रीभगवान् ने कहा है—जो वेदविहित कर्मों के दोष-गुण सम्यक् रूप से जान कर—विचार कर, भगवान् द्वारा आदेश होते हुए भी उन समस्त वर्णाश्रम धर्मों का परित्याग कर देता है, वही सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है। "स च (एव) सत्तमः"—शब्दों से यह अभिप्राय है कि वह व्यक्ति भी उन व्यक्तियों की भांति श्रेष्ठ है। किन व्यक्तियों की भांति ?—इस श्लोक से पहले तीन श्लोकों में जिनका श्रीभगवान् ने वर्णन किया है उन व्यक्तियों की भांति। श्रीभगवान् ने उन श्लोकों में कहा है कि जो कृपालु हैं, जो किसी से द्रोह नहीं करते, जो व्यक्ति तितिक्षु, सत्यवक्ता, असूया-शून्य, सम, सर्वोपकारक, काम द्वारा अलुब्ध-चित्त, बाह्येन्द्रिय-निग्रह-शील, कोमल चित्त,......मैत्र, कारुणिक कवि इत्यादि हैं, वे सत्तम हैं। श्रीभगवान् ने कहा—जिस प्रकार ये व्यक्ति सत्तम हैं, उसी प्रकार वर्णाश्रम धर्मों के गुण-दोष भली प्रकार जान कर उनका परित्याग करके जो मेरा भजन करता है—वह भी सत्तम है। अर्थात् जो अनन्य भक्ति में दृढ़ विश्वास पूर्वक सर्व धर्मों का परित्याग करके भगवद् भजन करता है, वह कृपालुतादि उपर्युक्त समस्त गुणों का अधिकारी अपने आप ही हो जाता है। जैसा कि श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत में भी कहा है—"**कृष्ण भक्ते कृष्णेरगुण सकल सञ्चारे**" (२-२२-४३)। इस श्लोक का यही अभिप्राय है।

स्वधर्म-त्याग के प्रमाण-रूप में राय रामानन्दजी ने श्रीगीताजी का भी एक श्लोक पढ़ा—

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (१८-६६)—

सर्व-धर्मान्-परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥७॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीअर्जुन से कहा है—"हे अर्जुन! तू सर्वधर्मों का परित्याग करके एक-मात्र मेरी शरण ग्रहण कर। मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा, तुम किसी बात का शोक मत करो"॥७॥ जब राय ने इस प्रकार स्वधर्म-त्याग की बात प्रमाण सहित कही, तो श्रीमहाप्रभु बोले—

प्रभु कहे—एहो बाह्य, आगे कह आर।
राय कहे—ज्ञानमिश्रा-भक्ति साध्यसार ॥५७॥

राय की सर्वधर्म-त्याग की बात सुनकर प्रभु ने कहा—"यह भी बाह्य वस्तु है, इससे आगे कहो"। राय ने फिर कहा—"ज्ञानमिश्राभक्ति साध्यसार है" ॥५७॥

चै० च० चु० *टीका*—रायरामानन्दजी ने जब सर्वधर्मो के परित्याग की बात कही, तो श्रीमहाप्रभु ने उसे भी बाह्य वस्तु कह दिया।

प्रश्न उठता है कि राय ने सर्वधर्म-त्याग की बात कही और उसे दो प्रामाणिक श्लोकों द्वारा पुष्ट भी किया। और उन दोनों श्लोकों में जिस साधन प्रणाली का उल्लेख है, उस साधन प्रणाली में ज्ञान और कर्म का भी कोई संश्रव नहीं है। श्रीकृष्ण को आत्मसमर्पण-पूर्वक उनके भजन का भी उसमें उपदेश है। विशेषत: श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती पाद एवं श्रीजीव गोस्वामी पाद ने "आज्ञायैवमित्यादि'—श्लोक की टीका में इस प्रणाली को अमिश्रा—भक्ति-मार्ग के मध्यम साधक का साधन कहकर उल्लेख किया है, जिससे उसे शुद्धाभक्ति मार्ग का भी साधन कहा जा सकता है—इस साधन की परिपक्वावस्था में जीव के स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य—श्रीकृष्ण की सेवा की भी प्राप्ति हो सकती है, फिर श्रीमहाप्रभु ने इस सर्वधर्म-त्याग को बाह्य क्यों कहा ?

उत्तर—उक्त साधन का साध्य भी जब बाह्य नहीं एवं साधन भी जब बाह्य नहीं, तो इससे मालूम होता है कि जिस जातीय साधक को लक्ष्य करके ऊपर वाले दोनों श्लोक कहे गये हैं, उस जाति के साधक की मनोवृत्ति में ऐसी कुछ वस्तु है, जिससे इस साधन-प्रणाली को बाह्य कहा जा रहा है। वह मनोवृत्ति क्या है ?—

शुद्धभक्ति-मार्ग में सर्वधर्म-त्याग की विधि रहते हुए भी उसमें एक अधिकार व्यवस्था है। वह यह कि जब तक निर्वेद-अवस्था नहीं प्राप्त होती एवं निर्वेद-अवस्था प्राप्त होने पर अकस्मात् किसी महा-पुरुष की कृपा से जब तक भगवत्-कथा श्रवण-कीर्त्तनादि में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होतीं, जब तक स्वधर्मा-चरण करना ही पड़ता है, जैसा कि श्रीभागवत्जी में कहा गया है (११-२०-६)—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ।।घ।।

तात्पर्य यह है कि महत्कृपा के फल से श्रवण-कीर्त्तनादि में श्रद्धा उत्पन्न होने पर ही स्वधर्म-त्याग पूर्वक शुद्धा-भक्ति में अधिकार मिलता है—इससे पहले नहीं। श्रद्धा भी कैसी ?—आत्यन्तिकी श्रद्धा। "भगवत् कथा-श्रवण-कीर्त्तनादि से ही मैं कृतार्थ हूँगा, ज्ञानकर्मादि द्वारा नहीं"—इस प्रकार के भी दृढ़ निश्चय का नाम "आत्यन्तिकी-श्रद्धा" है। इस प्रकार के दृढ़ निश्चयवाले महत् पुरुष की कृपा से उत्पन्न होने वाली उक्त प्रकार की आत्यन्तिकी-श्रद्धा जब उत्पन्न हो, तब ही स्वधर्म त्याग करने का अधिकार है। किन्तु 'आज्ञायैवमित्यादि'—श्लोक में जिस स्वधर्म त्याग की बात हम देखते हैं, उसके मूल में इस प्रकार की महत्कृपाजनित आत्यन्तिकी श्रद्धा का परिचय नहीं मिलता। पति में आत्यन्तिक-प्रेम रखने वाली नारी जैसे अन्य पुरुष के साथ अपने स्वामी या पति के गुण दोषों का विचार नहीं किया करती। इस प्रकार का विचार करने की बात भी जैसे उसके मन में कभी नहीं उठती, और वह अपने दृढ़ प्रेम से केवल मात्र अपने पति के गुणों में मुग्ध होकर जैसे पति-सेवा द्वारा अपने को कृतार्थ करने की चेष्टा करती है, उसी प्रकार भगवत्-कथा श्रवण-कीर्त्तनादि रूप अनन्य भक्ति या शुद्धाभक्ति में जिसकी आत्यन्तिकी श्रद्धा है, वह भी वर्णाश्रमधर्म विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मों के साथ श्रवण-कीर्त्तन आदि के गुण-दोष विचार नहीं करने बैठता। इस प्रकार के विचार की बात भी कभी उसके चित्त में उदित नहीं हो सकती। वरं श्रवण-कीर्त्तनादि द्वारा वह अपने को कृतार्थ करने की चेष्टा में ही संलग्न रहता है। पर-पुरुष के साथ अपने पति के दोष-गुणों का विचार करके जो नारी पति-सेवाको अपना कर्त्तव्य निर्धारण करती है। पतिके प्रति उसकी जो प्रीति है, उसे आत्यन्तिकी-प्रीति नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र-विहित कर्मों के

साथ श्रवण-कीर्त्तनादि के गुण-दोषों का विचार करके, श्रवण-कीर्त्तनादि-भजनाङ्ग में जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उस श्रद्धा को आत्यान्तिकी-श्रद्धा नहीं कहा जा सकता। इसलिये 'आज्ञायैवमित्यादि'—श्लोक में जिनके लिये सर्वधर्मत्याग की बात कही गई है, सर्वधर्म त्याग में उनका प्रकृत अधिकार नहीं है। गुण-दोष विचार करने के पश्चात् स्वधर्म त्याग की बात है, जो केवल कर्त्तव्य-मूलक है। सर्वधर्म त्याग का अधिकार निरूपण करते हुए भगवत्कथा-श्रवण कीर्त्तनादि की जिस प्रवृत्ति की आवश्यकता है, 'आज्ञा-यैवमित्यादि'—श्लोक के प्रमाण मूलक सर्वधर्म त्याग में भगवत्कथा-श्रवणादि में वैसी प्रवृत्ति नहीं दीखती। अनधिकारी के लिये सर्वधर्म त्याग से अमङ्गल की आशङ्का होती है। इसलिये राय के कहे हुए स्वधर्मत्याग को बाह्य कहा गया है। 'तावत्-कर्माणि कुर्वीत'—श्लोक के कर्म त्याग का मूल है—भगवत्कथा-श्रवणादि में आत्यन्तिकी-श्रद्धा या प्रवृत्ति। और 'आज्ञायैवमित्यादि'—श्लोक के कर्मत्याग का मूल है—शास्त्र-विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मों के साथ श्रवण-कीर्त्तनादि के दोष-गुणों का विचार। इन दोनों में बहुत पार्थक्य है। श्रवण-कीर्त्तनादि को श्रद्धा में भगवत् सेवा के लिये प्राणेच्छा का परिचय है, परन्तु दूसरी ओर दोष-गुणों के विचार के पश्चात् श्रवण-कीर्त्तनादि की जो श्रद्धा या निष्ठा है, उसमें केवल कर्त्तव्य-बुद्धि का परिचय है। प्राणेच्छा-युक्त सेवा एवं कर्त्तव्य-बुद्धि में अनेक पार्थक्य है। प्राणेच्छायुक्त सेवा की अपेक्षा कर्त्तव्य-बुद्धि की सेवा बहुत बाहर की वस्तु है। इन दोनों प्रकार की सेवाओं में साधक की मनोवृत्ति का जो पार्थक्य है—वही राय-कथित स्वधर्म-त्याग को बाह्य कहने का कारण है। कर्त्तव्य-बुद्धि-जनित सेवा की मनोवृत्ति के संस्पर्श से श्रवणकीर्त्तनादि शुद्धाभक्ति के भजनाङ्ग होते हुए भी बाह्य हो जाते हैं।

"**सर्वधर्मान् परित्यज्य**"—इत्यादि श्लोक में भी एक ऐसी मनोवृत्ति का परिचय मिलता है, जो जीव के स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य—श्रीकृष्ण सेवा के प्रतिकूल है। श्रीभगवान् ने कहा है—"हे अर्जुन! तू सर्व धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा। तू किसी प्रकार का भय मत कर"। इस अभयवाणी को सुन कर साधक के मन में आता है—भगवान् यदि मुझे सब पापों से मुक्त करते हैं तो मैं सब धर्मों को छोड़ कर उनकी शरण ही ग्रहण कर लू। यहाँ भगवान् की सेवा का लक्ष्य लेकर शरणागति नहीं है। परन्तु अपने पापों से मुक्त होने का लक्ष्य लेकर शरणागति है। अर्थात् अपने पापों से या दुःखों से मुक्त होने की मनोवृत्ति ही इस सर्वधर्म-त्याग का मूल है। शुद्धाभक्ति या श्रीकृष्ण-सेवा इस सर्वधर्म-त्याग का कारण नहीं है। अतः इसे श्रीमन्महाप्रभु ने बाह्य कहा।

सर्व-धर्मत्याग को बाह्य सुन कर राय रामानन्दजी ने फिर ज्ञान मिश्रा-भक्ति की श्रेष्ठ साध्य बतलाया। ज्ञान के साथ मिश्रिता भक्ति को '**ज्ञान मिश्रा भक्ति**' कहते हैं। ज्ञान के तीन अङ्ग हैं—(१) **तत्पदार्थ का ज्ञान**—अर्थात् परतत्त्व या भगवत्तत्त्व का ज्ञान। (२) **त्वं-पदार्थ का ज्ञान**—अर्थात् जीव के स्वरूप का ज्ञान। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध का ज्ञान भी इसी के अन्तर्भुक्त है। (३) **जीव और ब्रह्म का ऐक्य ज्ञान**—यह तीसरा अङ्ग भक्ति का विरोधी है क्योंकि ऐक्य ज्ञान से जीव का ब्रह्म के साथ जो सेव्य-सेवकत्व भाव का स्वरूपगत-सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध की स्फूर्त्ति नहीं हो सकती। किन्तु पहले दोनों अङ्ग अर्थात्-तत्त्व का ज्ञान एवं जीव के स्वरूप का ज्ञान तथा इन दोनों के स्वरूपगत-सम्बन्ध सेव्य-सेवकत्वभाव का ज्ञान भक्ति विरोधी नहीं है। उक्त पयार में ज्ञान-मिश्रा-भक्ति में ज्ञान-शब्द का अभिप्राय तीसरे अङ्ग अर्थात् जीव-ब्रह्म ऐक्य ज्ञान से है।

भूमिका के अभिधेय-रत्न (पृष्ठ १४८) में कहा जा चुका है कि भक्ति की सहायता के बिना केवल ज्ञान-मार्ग का साधन अर्थात् जीव-ब्रह्मैक्य ज्ञान-मूलक साधन अपना फल सायुज्यमुक्ति प्रदान नहीं

कर सकता। इसलिये मुक्ति चाहने वाले व्यक्तियों को ज्ञानमार्ग के साधनों के साथ भक्ति को भी अपनाना पड़ता है—इस प्रकार ज्ञानमार्ग के साधनों के सहित जो भक्ति है—उसे '**ज्ञानमिश्राभक्ति**' कहते हैं। **और** भक्ति-मार्ग का साधन करने वाले कुछ एक ऐसे भी साधक हैं, जो भगवत्-तत्त्वज्ञान, जीवतत्त्वज्ञान एवं आनुषङ्गिक भाव से दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान, मायातत्त्व का ज्ञान—इत्यादि इस प्रकार के भक्ति के अविरोधी ज्ञान की प्राप्ति को प्रधानता देते हैं। उनके भक्ति-साधनों के साथ ज्ञान भी मिश्रित रहता है। उनकी भक्ति को भी '**ज्ञानमिश्राभक्ति**' कहा जाता है। उक्त पयार में ज्ञानमिश्राभक्ति से इन दोनों प्रकार की ज्ञानमिश्राभक्ति अभिप्रेत हो सकती हैं। किन्तु अपनी उक्ति के प्रमाण में जो अगला श्लोक राय रामानन्दजी कहेंगे—"**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा**" उससे दीखता है कि ज्ञानमिश्राभक्ति कहने से रायरामानन्द का अभिप्राय उसी जीव-ब्रह्मैक्य ज्ञान-मिश्रित भक्ति से है। अथवा दोनों प्रकार की ज्ञानमिश्राभक्ति से भी हो सकती है। किन्तु दूसरे प्रकार की ज्ञानमिश्राभक्ति के प्रमाण-श्लोक का उल्लेख करना उन्होंने प्रयोजनीय नहीं समझा। रायरामानन्दजी ने श्रीगीताजी के निम्नलिखित श्लोक से ज्ञानमिश्राभक्ति-रूप साध्य को प्रमाणित किया—

तथाहि तत्रैव (१८-५४)—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥८॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—"हे अर्जुन! ब्रह्मस्वरूप को संप्राप्त प्रसन्नात्मा व्यक्ति (खोई हुई वस्तु के लिये) शोक नहीं करता और (किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये) आकाङ्क्षा नहीं करता। सब भूतों में समदृष्टि वाला होकर मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है ॥८॥

चै० च० चु० *टीका*—ब्रह्मभूत अर्थात् ब्रह्मस्वरूप-संप्राप्त व्यक्ति तभी होता है, जब भक्ति की सहायता लेकर ज्ञानमार्ग का साधक ज्ञानयोग का साधन करते-करते जड़ोपाधी से रहित हो जाता है और जब उसकी गुण-मलीनता नष्ट हो जाती है, तब उसका देह-दैहिक वस्तुओं का अभिमान छूट जाता है और वह तब अनावृत-चैतन्य होकर ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त करता है। ब्रह्म जैसे उपाधि लेश-शून्य अनावृत-चैतन्य है, उसी प्रकार कोई जीव जब उपाधि-लेश-शून्य हो जाता है, तब उसे '**ब्रह्मभूत**' कहते हैं। वह ब्रह्मभूत जड़ोपाधि-रहित एवं हर प्रकार की विषमता-रहित हो जाने से प्रसन्नता को प्राप्त करता है। फिर उसे न तो किसी वस्तु के नष्ट होने का शोक होता है और न ही वह किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा ही करता है। उसकी दृष्टि में अच्छा, बुरा, उत्तम, अधम सब प्राणी एक समान हो जाते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करके तब यदि किसी सौभाग्य से उसके शुद्धज्ञान मार्ग के साधनाङ्ग का लोप हो जाए अर्थात् उसका निर्भेद ब्रह्मानुसंधान यदि तिरोहित हो जाये, तब ज्ञानमार्गीय साधन करते समय आनुषङ्गिक भाव से वह जिन भक्ति-अङ्गों का अनुष्ठान करता रहा था, वे भक्ति-अङ्ग अधिकतर सजीव होकर समुज्ज्वल हो उठते हैं। पहले ज्ञान-मार्ग के साधन करते समय आनुषङ्गिकमात्र होने से वे भक्ति-अङ्ग कुछ कमजोर रहते हैं, किन्तु ब्रह्मभूत-प्रसन्नात्मा व्यक्ति में वे ज्ञानवैराग्य आदि के साथ मिश्रत रहने से कमजोर पड़जाने वाले भक्ति-अङ्ग निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धान तिरोहित होने के पश्चात् एक मात्र अवशिष्ट रह जाने से समुज्ज्वल हो उठते हैं।

भक्ति तो स्वरूप-शक्ति की वृत्ति विशेष है न, इसलिये वह नित्य है, अनश्वरा है। अतः ब्रह्मभूत-व्यक्ति की विद्या-अविद्या तो नष्ट हो जाती है, किन्तु आनुषाङ्गिक भाव से भी की हुई भक्ति तिरोहित

नहीं होती। बल्कि वह भक्ति तब ज्ञान-कर्म स्पर्शशून्य होजाने से द्रुतवेग से उत्तरोत्तर सम्वर्द्धित होकर अत्यन्त उज्ज्वल स्वरूपा पराभक्ति अर्थात् प्रेमलक्षणा-भक्ति में परिणत हो जाती है एवं साधक को कृतार्थ कर देती है।

इस प्रकार सर्वधर्म-त्याग से ज्ञान-मिश्रा-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हुए जब राय ने ज्ञान मिश्रा-भक्ति को श्रेष्ठ साध्य कहा, तब श्रीमहाप्रभु बोले:—

प्रभु कहे—एहो बाह्य आगे कह आर।
राय कहे—ज्ञान-शून्या भक्ति साध्यसार ॥५८॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"राय! ज्ञानमिश्रा-भक्ति भी बाह्य है, इस से कुछ और आगे कहो।" राय ने प्रभु की बात सुन कर उत्तर दिया कि "ज्ञानशून्या-भक्ति श्रेष्ठ-साध्य है" ॥५८॥

चै० च० चु० *टीका*—जिन दो प्रकार की ज्ञान मिश्रा-भक्ति का वर्णन हम पहले कर चुके हैं, श्रीमन्महाप्रभु ने उन दोनों को ही बाह्य कहा। इसका क्या कारण? पृथक्-पृथक् भाव से उसकी यहाँ आलोचना करते हैं।

प्रथमतः—जीव-ब्रह्म के ऐक्य ज्ञान से मिश्रित-भक्ति के सम्बन्ध में बाह्य होने का कारण कहते हैं। ज्ञान मार्ग के साधनों के साथ जो भक्ति मिश्रित रहती है, वह केवल उन साधनों की सहायकारिणी रूप में ही रहती है। वह जीव-ब्रह्म-ऐक्य ज्ञान के चिन्तन की सफलता ही प्रदान करती है और उसका कोई काम नहीं होता। इस प्रकार की ज्ञानमिश्राभक्ति से सायुज्यमुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु सायुज्य मुक्ति का साधन जो ज्ञानमिश्रा-भक्ति है, वह जीव-ब्रह्म के सेव्य-सेवकत्व-भाव रूप सम्बन्ध-ज्ञान के प्रतिकूल है। अतः श्रीमहाप्रभु ने उसे बाह्य बतलाया।

पहले हम यह भी कह आये हैं कि ज्ञानमिश्रा-भक्ति ब्रह्मभूत-प्रसन्नात्मा व्यक्ति में ज्ञान-वैराग्यादि सहित निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान के तिरोहित हो जाने पर पराभक्ति में परिणत हो जाती है। अर्थात् जबतक जीव-ब्रह्मैक के ज्ञान का अनुसन्धान रहता है, यानी जब तक ज्ञानमिश्रा-भक्ति रहती है। तब तक पराभक्ति की प्राप्ति नही हो सकती। क्योंकि ज्ञान-मिश्रा-भक्ति के रहते हुए पराभक्ति की प्राप्ति नहीं होती—इसलिये स्पष्ट है कि ज्ञानमिश्रा भक्ति बाह्य-वस्तु है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि वह भी निश्चित नहीं कि ब्रह्मभूत-प्रसन्नात्मा-व्यक्ति का जीव ब्रह्मैक-चिन्तन तिरोहित या लुप्त हो जाएगा और पूर्व की हुई तटस्थारूप भक्ति अवश्य सम्वर्द्धित होकर उज्ज्वलता को प्राप्त करेगी ही करेगी। केवल सौभाग्यवश किसी महत्पुरुष की कृपा हो जाये तभी ऐसी सम्भावना हो सकती है, अन्यथा नहीं। यदि निश्चित रूप से ज्ञानमिश्रा-भक्ति प्रेमाभक्ति या पराभक्ति में परिणत हो जाती होती, तो ज्ञानमिश्रा-भक्ति को सायुज्यमुक्ति का साधन न कहकर शास्त्र उसे पराभक्ति का ही साधन बतलाते, किन्तु ऐसा वे नहीं बतलाते। अतः सर्वसाध्य पराभक्ति का अनिश्चित साधन होने से ज्ञान मिश्रा-भक्ति को श्रीमहाप्रभु ने बाह्य ही बतलाया।

द्वितीयतः—तत्पदार्थ एवं त्वं पदार्थ के ज्ञान सहित मिश्रित भक्ति का विषय आलोचनीय है। पहले पहले साधक के चित्त का आवेश मायिक अनेक पदार्थों में रहता है। वह उन्हें सुख-स्वरूप जानता हैं, परन्तु वे समस्त पदार्थ दुख रूप एवं नश्वर होने से शोक-मोहादि को उत्पन्न करते हैं, जिससे साधक का मन अपने लक्ष्य अर्थात् भगवद्भक्ति से दूर हटा रहता है। अतः इस पहली अवस्था में अन्यान्य वस्तुओं

से चित्त के आवेश को हटाने के लिये एवं उससे पैदा होने वाले शोक-मोहादि विघ्नों को दूर करने के लिये जीव-तत्त्व, माया-तत्त्व एवं भगवत्तत्त्वादि के ज्ञान एवं वैराग्य की किञ्चित् आवश्यकता रहती है। परन्तु जब अन्यान्य वस्तुओं से आवेश हटकर भक्ति में मन का प्रवेश हो जाता है, तब इस प्रकार के तत्त्वज्ञान का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, यद्यपि यह ज्ञान भक्ति का अविरोधी ही है। भक्ति में प्रवेश हो जाने पर ज्ञान-वैराग्य एवं जीव-तत्त्व एवं भगवत्तत्त्व आदिकों की आलोचना में पड़ने से भक्ति में विघ्न ही उत्पन्न हो आता है, क्योंकि तत्त्वालोचना में केवल भजनोपयोगी समय ही नष्ट नहीं होता बल्कि तत्त्वालोचना में इस प्रकारका आवेश भी उत्पन्न होसकता है, जिससे साधक तत्त्वालोचना को भी भक्ति का एक अपरिहार्य्य-अङ्ग मान बैठता है। वही तत्त्वालोचना उसके भजन में विघ्न पैदा कर देती है। इसलिये तत्त्व-ज्ञान-लिप्सा के साथ मिश्रित जो भक्तिमार्ग का साधन है, वह भक्ति का ही बाधक बन जाता है। अतः श्रीमहाप्रभुजी ने इस ज्ञान-मिश्राभक्ति को भी बाह्य कहा।

इस प्रकार प्रभु के मुख से ज्ञानमिश्रा-भक्ति को बाह्य सुन कर राय ने ज्ञानशून्या-भक्ति को श्रेष्ठ साध्य कहा। जीव-ब्रह्मैकज्ञान एवं भगवत्तत्व व जीवतत्व के ज्ञान से रहित्त जो भक्ति है, उसका नाम 'ज्ञानशून्या-भक्ति' है। ज्ञानमिश्रा-भक्ति से ज्ञानशून्या-भक्ति की श्रेष्ठता यह है कि ज्ञानमिश्रा में रहने वाला जीव-ब्रह्मैक ज्ञान जो सेव्य-सेवकत्व भाव का विरोधी है, वह ज्ञानशून्या-भक्ति में नहीं रहता। और भक्ति में विघ्न पैदा करने वाले जीवत्तत्व-भगवत्तत्वादि के ज्ञान का मिश्रण भी ज्ञानशून्या-भक्ति में नहीं रहता। अधिकन्तु ज्ञान-शून्या-भक्ति में सम्बन्ध-ज्ञान का सुन्दर विकाश निश्चित रूप से रहता है। इस श्रेष्ठता को प्रमाणित करते हुए राय ने श्रीमद्भागवतजी का निम्नलिखित श्लोक भी कहा :—

तथाहि (भाः १०—१४—३)—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥६॥

श्रीब्रह्माजी ने श्रीभगवान् की स्तुति करते हुए कहा है-"हे अजित ! आपके स्वरूप एवं ऐश्वर्यादि के ज्ञान की प्राप्ति के लिये किञ्चिन्मात्र भी चेष्टा न करते हुए जो व्यक्ति तीर्थ-भ्रमणादि भी छोड़कर केवल सत्पुरुषों के अथवा साधुजनों के निवास-स्थान पर रहकर उन साधुजनों द्वारा उच्चारित तथा अपने आप कानों में प्रवेश करने वाली आपके रूप-गुण-लीलादि की कथा और आपके भक्तों की कथा को शरीर-मन एवं वाणी से सत्कार पूर्वक सुनते हुए जीवन धारण करते हैं, (और कुछ भी नहीं करते) तीनों लोकों में उन्हीं के प्रायशः आप वशीभूत हो जाते हैं ॥६॥"

चै० च० चु० *टीका*—ब्रह्ममोहन लीला में श्रीब्रह्माजी ने श्रीभगवान् से कहा—"प्रभो ! आपके स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्य, रूप-गुण-लीलादि का तत्व या महिमा जानने में जब मैं ही असमर्थ हूँ तो अपर जीवों की बात ही क्या है ? आप अपनी कृपा से जिसको जितना जना देते हो, वही उतना ही आप का तत्व जान सकता है। उससे अधिक कोई भी जानने में समर्थ नहीं है।"

प्रश्न हो सकता है—कि फिर जीव संसार समुद्र से कैसे पार हो सकता है ? क्योंकि श्रुति कहती है:—"**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**"—अर्थात् उस सच्चिदानन्द को जानने से ही जीव संसार से उत्तीर्ण हो सकता है। इसको छोड़कर संसार सेपार जाने का और कोई उपाय नहीं है। इसप्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णके तत्वको यदि कोई नहीं जान सकता तो कोई संसारसे कैसे पार जा

सकता है ?— इसका समाधान करते हुए ही—"ज्ञाने प्रयासम्"—आदि उक्त श्लोक ब्रह्माजी ने कहा है। उन्होंने बताया कि श्रीकृष्ण के स्वरूप, ऐश्वर्य्य-आदि के ज्ञान के बिना भी जीव संसार समुद्र से पार जा सकता है; केवल वह संसार से ही मुक्त नहीं हो सकता, बल्कि वह परमस्वतन्त्र अविज्ञेय श्रीभगवान् को अपने वशीभूत भी कर सकता है। वह कैसे ? साधु-पुरुषों के पास रहकर उनके मुख से श्रीभगवान् के रूप-गुण-लीलादिकों की कथा अथवा भगवद्भक्तों की कथा को सुनने मात्र से ही जीव में क्रमशः श्रद्धा, रति एवं भक्ति की प्राप्ति हो जाती है। भगवत्-कथा के श्रवणमात्र से ही सेव्य-सेवक-भावका एवं सेवावासना का विकाश होता है। सेवावासना के विकाश में ही प्रेम उद्‌गम होता है एवं रसिक-शेखर भगवान् प्रेम की रस्सी में बन्ध जाते हैं—भक्त के वशीभूत हो जाते हैं।

इस प्रकार भगवत्-कथा श्रवण करने से अपने आप ही तत्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है; क्योंकि वे कथाएं भगवत्तत्वों से ही तो पूर्ण होती हैं। इसलिए पृथक्‌रूप से तत्व-ज्ञान प्राप्ति को चेष्टा करने को आवश्यकता नहीं है। तत्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिये पृथक्-भाव से चेष्टा करने में तत्त्वालोचना में आवेश उत्पन्न हो आता है, जो भजन में विघ्न उत्पन्न कर सकता है।

वास्तव में देखा जाये तो भगवत्तत्व को जानने की सामर्थ्य या सम्भावना भी तो स्वतन्त्ररूप से किसी में नहीं है। भगवान् की कृपा के बिना उनके तत्व को जानने की सामर्थ्य भी तो किसी की नहीं है। यदि कोई भगवत्-कृपा या उनकी भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये यत्न भी करता है, तो धान के छिलके कूटने वाले व्यक्ति की भाँति उसके हाथों में कुछ भी नहीं पड़ता—केवल मात्र श्रम ही उसे उठाना पड़ता है। यथा : (श्रीभा: १०–१४–४)

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल बोध-लब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ।।ङ।।

अतः श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति अनुष्ठान के अतिरिक्त पृथक्-ज्ञान की प्राप्ति से कुछ लाभ नहीं है, जब भगवत्-स्वरूप के सम्यक्‌तत्व को जाना भी नहीं जा सकता। भगवत्-कथा के श्रवण करने में जितने भगवत्तत्व का ज्ञान प्राप्त होता है, वही भगवत्तत्व का ज्ञान हो संसार से मुक्त करा देने में पर्य्याप्त है—यही श्रुतिवाक्यों का तात्पर्य है। भगवत्-कथा के श्रवण प्रसङ्ग से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसका एक विशेषत्व यह भी है कि भगवत्तत्व की नीरस कथा भगवत्-रूप-गुण-लीलादि के कथा-रस से परिसिञ्चित होकर परम लोभनीय एवं सरस हो जाती है।

इसी प्रकार अनेक शास्त्रों में जहाँ जहाँ सिद्धान्त एवं तत्वज्ञान की प्रयोजनीयता पर जोर दिया गया है, वहाँ भी उतने ही तत्वज्ञान की प्राप्ति से तात्पर्य है, जितना कि भगवत्-कथा एवं भक्त कथा के श्रवणादि से अपने आप प्राप्त होता है। अथवा आनुषङ्गिक-भाव से ही तत्वज्ञान की आवश्यकता है। कारण कि तत्वज्ञान के बिना श्रद्धा की उत्पति में सन्देह होता है। श्रद्धा उत्पन्न होने पर भी उसकी दृढ़ता में सन्देह रहता है। अतः तत्त्वज्ञान की आवश्यकता शास्त्र-सम्मत है, किन्तु उसकी प्राप्ति के प्रयास को प्रधानता देना ही दूषणीय है, केवल उसी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति या आलोचना में ही उलझे रहना भजन का बाधक है, आनुषङ्गिकभाव से उसकी प्राप्ति, श्रद्धा की उत्पत्ति एवं दृढ़ता में सहायक ही है।

इस प्रकार जब रायरामानन्दजी ने ज्ञानशून्या-भक्ति को साध्यसार बतलाया, तो श्रीमहाप्रभु ने कहा—

प्रभु कहे—एहो हय, आगे कह आर।
राय कहे—प्रेमभक्ति सर्वसाध्यसार ।।५६।।

प्रभु ने कहा—"रामानन्द ! यह सर्व-साध्य हो सकती है, किन्तु इस से भी आगे कहो।" राय ने कहा—"प्रेम-भक्ति सर्व-साध्यों का सार है" ॥५९॥

चै० च० चु० *टीका*—रायरामानन्दजी ने पहले जितने साध्यों को कहा था, श्रीमहाप्रभु ने उन सबको बाह्य अर्थात् बाहरी वस्तु कहा। किन्तु जब राय ने ज्ञानशून्या-भक्ति की बात कही तो प्रभु बोले—"यह साध्य हो सकती है"। उसका कारण यही है कि पहले कहे हुए समस्त साध्यों में सेव्य-सेवकत्व-भाव के विकाश एवं सेवावासना के विकाश की अनुकूलता न थी। इसलिये श्रीमहाप्रभु उन्हें बाह्य कहते रहे। किन्तु ज्ञानशून्या-भक्ति में सेव्य-सेवकत्व भावके विकाश एवं सेवा-वासनाके जागृत होने की अनुकूलता है। अतः प्रभु ने उसे साध्यरूप में स्वीकार किया। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रीमहाप्रभु रायरामानन्द जी के मुख से जिस साध्य को प्रकाशित कराना चाहते थे--अब उस तत्त्व की प्राप्ति के रास्ते पर वे रामानन्दजी को ले आए हैं।

प्रभु ने फिर भी कहा—"रामानन्द ! इस से आगे कहो।" इस से श्रीमहाप्रभुजी का अभिप्राय यह था कि अभी रास्ते पर आए हो, किन्तु उस वस्तु तक अभी नहीं पहुंचे हो, आगे चलने की आवश्यकता है"। ज्ञान-शून्या-भक्ति के समर्थन में श्रीभागवतजी का जो श्लोक राय ने पढ़ा, उसमें यह कहा गया है कि ज्ञान-शून्या-भक्ति के प्रभाव से भगवान् साधक के वशीभूत हो जाते हैं। श्रुति भी कहती है—"भक्ति-वशः पुरुषः"—श्रीभगवान् भक्ति के वशीभूत हैं। किन्तु यह वशीभूतता भी अनेक प्रकार की है। समस्त भक्तों के निकट श्रीभगवान् समान भाव की वश्यता स्वीकार नहीं करते। क्योंकि साधक की रुचि, प्रकृति एवं वासना के भेद से एक ही भक्ति-अङ्ग का अनुष्ठान विभिन्न साधकों के चित्त को विभिन्न भावों में रूपायित कर देता है। ज्ञान, योग, भक्ति आदि सब मार्गों के साधकों को भक्ति का अनुष्ठान करना पड़ता है; वरना अभीष्ट-फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। विभिन्न मार्गों के साधकों में भक्ति अनुष्ठान करते हुए भी वासना के पार्थक्यानुसार उनके अभीष्ट साध्य में पार्थक्य है। सब के अभीष्ट प्रदान करने वाले एक श्रीभगवान् ही हैं, किन्तु जिस अभीष्ट को प्रदान करने में श्रीभगवान् की जितनी करुणा या भक्तवश्यता का प्रयोजन है, उस अभीष्ट-कामी के साधन में भगवान् उतनी ही वश्यता स्वीकार करते हैं। जो साधक केवल श्रीभगवान् की सेवा-प्राप्ति के लिये भक्ति का अनुष्ठान करते हैं। उन सब की सेवा-वासना भी एकसी नहीं है। विभिन्न भक्तों की विभिन्न भावों से भगवत्-सेवा करने की वासना है। अतः उस सेवा-वासना की अभिव्यक्ति के तारतम्यानुसार भगवान् की भक्त-वश्यता में भी तारतम्य होता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं कान्ता-भावके भक्तों के निकट श्रीभगवान् की भक्त-वश्यता एक जैसी नहीं है। उक्त श्लोक में भक्तवश्यता की बात साधारण रूप से कही गई थी, विशेष भाव से कुछ नहीं कहा गया था। अतः श्रीमहाप्रभु ने भगवान् की भक्तवश्यता का विशेषत्व प्रकट करने के उद्देश्य से राय से कहा—"इससे आगे कहो"।

उक्त श्लोक में यह भी कहा गया है, कि साधु-मुख से भगवत्-कथा सुनने से ही भगवान् श्रोता के वशीभूत हो जाते हैं। तो क्या साधु-मुख से भगवत्-कथा सुनने मात्र से ही श्रीभगवान् श्रोता के वशीभूत हो जाते हैं ? या भगवत्-कथा सुनते सुनते श्रोता के चित्त में कोई ऐसी विशेष अवस्था पैदा हो जाती है कि जिससे श्रीभगवान् उसके वशीभूत हो जाते हैं ? इस बात को भी प्रभु स्पष्ट करना चाहते थे। अतः उन्होंने राय से कहा—"इस से आगे कहो"।

प्रभु की बात सुन कर राय रामानन्दजी ने प्रेम-भक्ति को सर्वसाध्य सार बतलाया। प्रेम का अर्थ है—"कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-वासना।" श्रवण-कीर्त्तनादि साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते करते भगवत्-कृपा

से जब चित्त शुद्ध हो जाता है और सेव्य-सेवकत्त्व का ज्ञान एवं सेवा-वासना का जब विकाश होता है, तब ह्लादिनी-प्रधान स्वरूप-शक्ति की कृपा पाकर साधक की सेवा-वासना प्रेमरूप में बदल जाती है। इस प्रेमरूप सेवा-वासना के साथ जो श्रीकृष्ण सेवा है, उसका नाम है—"'प्रेमभक्ति'।

राय रामानन्दजी ने अपनी उक्ति के समर्थन में निम्नलिखित दो श्लोक भी पढ़ेः—

तथाहि पद्यावल्याम् (१३)

नानोपचार-कृत-पूजनमार्त्तबन्धोः प्रेम्नैव भक्त हृदयं सुखविद्रुतं स्यात्।
यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा तावत् सुखाय भवतो ननु भक्ष्यपेये ॥१०॥

हे भक्त! अनेक प्रकार के उपचारों सहित प्रेम से ही, अथवा केवल प्रेम से ही, पूजित होने पर आर्त्तबन्धु श्रीकृष्ण का हृदय सुख से विगलित हो जाता है, जैसे जब तक पेट में बलवती क्षुधा और पिपासा रहती है, तभी तक अन्न-जल सुखप्रद एवं तृप्ति-जनक हुआ करता है ॥१०॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि बलवती क्षुधा एवं पिपास न रहने पर सुन्दर सरस खाद्य एवं पेय-पदार्थ ग्रहण करने की जैसे इच्छा नहीं होती। वैसे ही प्रेम के न रहने पर अनेक प्रकार के उपचारों सहित पूजन करने से भी श्रीकृष्ण सन्तुष्ट नहीं होते। परन्तु बलवती क्षुधा-पिपासा होने पर सामान्य अन्नजल भी जैसे तृप्ति दायक होता है, वैसे भक्त के हृदय में यदि प्रेम रहे तो और कुछ उपचार न करने पर केवल प्रेम से ही श्रीभगवान् अत्यन्त प्रीति लाभ करते हैं। अर्थात् भक्त का प्रेम ही एक मात्र श्रीकृष्ण-प्रीति या सुख का कारण है। प्रीतियुक्त प्रदत्त वस्तु को ही वे ग्रहण करते हैं नतुवा किसी वस्तु को वे ग्रहण करते नहीं और न ही किसी वस्तु का उनमें अभाव ही है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के जो अधिपति हैं, स्वयं लक्ष्मीजी जिनके चरण पलोटती रहती है, उनके लिये अभाव किस बात का? केवल अपने स्वरूप-गत स्वभाववशतः वे प्रेम के भूखे हैं, अतः जहाँ उनका प्रेम है वहाँ वे उपस्थित हैं।

इस श्लोक में दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक की सङ्गति आपात-दृष्टि से नहीं दीखती। श्लोक में कहा गया है, तीव्र क्षुधा पिपासा रहने पर ही जैसे अन्नजल सुखदायक होता है, उसी प्रकार प्रेम सहित प्रदान की हुई वस्तु से ही श्रीभगवान् सुखी होते हैं। दृष्टान्त से तो जाना जाता है कि जिस को क्षुधा पिपासा है, अन्नजल उसे ही सुखी करता है, न कि अन्नजल परिवेशन करने वाले को। किन्तु दार्ष्टान्तिक में कहा है कि जो प्रेम सहित पूजा करता है, उसकी प्रेमपूजा से श्रीभगवान् का चित्त सुख से सन्तुष्ट हो जाता है। यह तो परिवेशक की भूख में भोक्ता की भोजन-तृप्ति वाली बात है, जो असङ्गत प्रतीत होती है। किन्तु ऐसा नहीं है, सङ्गत ही है। क्योंकि भक्त के चित्त में जब प्रेम अर्थात् कृष्ण-प्रीति-मूला तीव्र सेवा-वासना होती है, तभी वह सेवा-वासना भक्तवत्सल श्रीभगवान् के चित्त में सेवा ग्रहण करने की बलवती लालसा जन्मा सकती है। भक्त के चित्त में भगवत्-प्रीति जितनी ही बलवती होगी, श्रीभगवान् को सेवा-ग्रहण की वासना भी उतनी ही बलवती हो उठेगी। यही बलवती सेवा-ग्रहण की वासना ही प्रेम से दिये हुए उपचार ग्रहण करने में श्रीभगवान् के लिये सुख का हेतु होती है। क्षुधा-पिपासा जैसे भोक्ता में रहती है, यह सेवा ग्रहण करने की वासना भी उसी प्रकार उपचार ग्रहण करने वाले श्रीभगवान् में रहती है। इस प्रकार दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक की सङ्गति है। श्लोक में श्रीभगवान् की सेवा-ग्रहण-वासना का उल्लेख न करके भक्त के प्रेम का उल्लेख किया है। उसका तात्पर्य यही है कि भक्त के चित्त में प्रेम न होने से श्रीभगवान् के चित्त में सेवा ग्रहण करने की वासना उद्बुध होती ही नहीं। भक्तचित्त का प्रेम जब प्रबल्ल हो उठता है एवं भगवत्-सेवा के लिये भक्त को जब वह आर्त्त कर देता है तभी आर्त्त-

बन्धु भक्तवत्सल भगवान् के चित्त में भी उसी के अनुरूप सेवा ग्रहण करने की वासना जागृत हो उठती है—"आर्त्त-बन्धु" शब्द का भी यहाँ यही अभिप्राय है।

श्रीरामानन्दराय ने अपनी उक्ति के समर्थन में दूसरा श्लोक निम्नलिखित पढ़ा—

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपिलभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं जन्मकोटि सुकृतैर्न लभ्यते ॥११॥

यदि किसी प्रकार से भी प्राप्त हो सके तो कृष्णभक्तिरस से भावित अर्थात् तादात्म्य-प्राप्त बुद्धि को खरीद लो। उसको खरीदने में लालसा ही एक मात्र मूल्य है। किन्तु कोटि जन्म के पुण्यफल से भी वह लालसा प्राप्त नहीं होती ॥११॥

चै० च० चु० *टीका*—जिस प्रकार किसी औषधि विशेष को पान के रस में अथवा किसी अन्य रस में भावना दी जाती है—अर्थात् उस रस में उस औषधि की खूब घुटाई की जाती है और वह रस उस औषधि के अणु-अणु में प्रवेश कर जाता है, कृष्ण-भक्ति रस भावित्ता बुद्धि का भी यही अभिप्राय है। वह बुद्धि अथवा वह चित्तवृत्ति जिसके अणु-अणु में कृष्णभक्तिरस प्रविष्ट हो एवं जो बुद्धि उस रस के साथ तादात्मता प्राप्त कर चुकी हो, जहाँ सर्वभाव से श्रीकृष्ण को सुखी या उनकी सेवा करने की इच्छा है—उसका नाम है—"**प्रेमभक्ति**"। अतः कृष्णभक्ति-रस-भाविता बुद्धि का तात्पर्य प्रेमभक्ति से ही है। उस का मूल्य है—बलवती लालसा-अर्थात् उस प्रेमभक्ति की प्राप्ति केवल मात्र श्रीकृष्णसेवा करने की बलवती लालसा या इच्छा से ही हो सकती है। साधन-भजन कितना ही क्यों न किया जाये, यदि श्रीकृष्ण-सेवा करने की चित्त में उत्कट उत्कण्ठा नहीं है, तो भक्तिरस-भाविता-बुद्धि या प्रेमभक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये कृष्णसेवा की लालसा ही एक मात्र भक्त के लिये प्रार्थनीय वस्तु है। उस लालसा की जागृति कैसे हो? किसी पुण्य कर्म से?—नहीं, नहीं, कोटि कोटि जन्मों के सञ्चित पुण्यों के फल से भी उसकी स्फूर्त्ति नहीं होती। इस प्रकार की लालसा केवल मात्र साधु-सङ्ग अथवा महत्-कृपा से ही प्राप्त की जा सकती है, अन्यथा इसकी प्राप्ति का कोई भी उपाय नहीं है। कारण कि श्रीमद्भागवतजी (३-२५-२५) में कहा गया है:—

सतां प्रसंगान्ममवीर्य्य संविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥८॥

अर्थात् साधु पुरुषों का प्रकृष्ट रूपसे सङ्ग करने से उनके मुखसे भगवत्-कथाओं को सुनने का अवसर मिलता है एवं उनकी सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता है, जिससे उन साधुपुरुषों की कृपा होती है। उससे श्रीभगवान्के ऐश्वर्य-माधुर्यमय चरित्र हृत्कर्णरसायन-रूप से अभिव्यक्त होते हैं, अर्थात् उनका अनुभव होने लगता है, जिसके आस्वादन से श्रीभगवान् में श्रद्धा या आसक्ति उत्पन्न होती है। फिर क्रमशः श्रीभगवान् के प्रति रति या प्रेमाङ्कुर उत्पन्न होकर फिर भक्ति अर्थात् प्रेमभक्ति की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार प्रेमभक्ति की प्राप्ति होने पर ही श्रीभगवान् भक्त के वशीभूत हो जाते हैं। केवल साधु-पुरुषों के निकट रहकर भगवत्-कथा सुनने मात्र से ही श्रीभगवान् श्रोता के वशीभूत नहीं होते, किन्तु यथाक्रम यथासमय प्रेमभक्ति की प्राप्ति होने पर ही श्रीभगवान् भक्त की वश्यता स्वीकार करते हैं। यही ज्ञानशून्या-भक्ति की अपेक्षा प्रेमभक्ति का उत्कर्ष है। अतः रायरामानन्दजी ने ज्ञानशून्या-भक्ति के बाद प्रेमभक्ति को साध्यसार कहा—राय की बात सुनकर श्रीमहाप्रभु ने कुछ और आगे कहने का संकेत किया।

प्रभु कहे—एहो हय, आगे कह आर ।

राय कहे—दास्य-प्रेम सर्वसाध्यसार ॥६०॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"हाँ ! प्रेमभक्ति साध्यसार है। किन्तु इससे भी आगे कहो।" राय ने कहा—"दास्यप्रेम सर्वसाध्यसार है" ॥६०॥

गौ० च० कृ० *टीका*—पिछले पयार से श्रीरामानन्दजी ने साधारण भाव से प्रेम-भक्ति की बात कही थी, किन्तु विशेषभाव से सुनने के लिये प्रभु ने इससे भी और आगे कुछ बताने को कहा। ज्ञानशून्या-भक्ति की आलोचना में कह आए हैं कि प्रधानतः दो बातों का स्पष्टीकरण करने के लिये श्रीमहाप्रभु ने ज्ञानशून्या-भक्ति से कुछ आगे जिज्ञासा को थी। प्रथमतः, भक्तवश्यता की विशेषता एवं दूसरे, साधु-मुख से भगवत्-कथा सुनने मात्र से ही क्या श्रीभगवान् भक्त या श्रोता के वशीभूत हो जाते है ? या विशेष अवस्था होने पर ही भगवान् श्रोता के वशीभूत होते हैं ? इस पर श्रीरायरामानन्द ने प्रेमभक्ति की बात कही थी और बताया कि साधु-मुख से भगवत्-कथा सुनने मात्र से भगवान् भक्त के वशीभूत नहीं होते। किन्तु उनके मुख से कथा सुनते सुनते एवं उनके सङ्ग से कथा में निष्ठा, आसक्ति तथा क्रमशः रति तथा प्रेमभक्ति के पैदा होने पर ही भगवान् की भक्तवश्यता की सम्भावना हो सकती है। इतनी आलोचना से श्रीमहाप्रभु द्वारा पूछी गई दो बातों में से केवल दूसरी बात का ही विवरण मिलता है। किन्तु भक्तवश्यता की विशेषता की विवरण अभी भी स्पष्ट नहीं हो पाया। उसी भक्तवश्यता की विशेषता की बात परिस्फुट कराने के उद्देश्य से प्रेमभक्ति के उल्लेख के बाद भी श्रीमहाप्रभु ने और आगे बतलाने को कहा—

भक्तवश्यता की विशेषता प्रेमभक्ति की विशेषता पर ही निर्भर करती है। जैसे जैसे प्रेमभक्ति का विकाश होता है, उसी प्रकार भक्तवश्यता का भी विकाश बढ़ता जाता है। अतः प्रेमभक्ति के विशेषत्व की आलोचना से भक्तवश्यता के विशेषत्व की भी जानकारी हो सकती है।

साधकों के मन के भावों की प्रधानता के अनुसार प्रेमभक्ति की भी अनेक वैचित्री है। भाव में प्रेम दो प्रकार का माना गया है। **माहात्म्य-ज्ञानयुक्तप्रेम एवं केवल प्रेम**। जो लोग विधिमार्ग का अनुसरण करते हैं, यदि आखीर तक उनके चित्त में शास्त्र का भय एवं भगवत्-माहात्म्य का भाव प्रधान भाव से रहे, तो उन लोगों का प्रेम **माहात्म्य-ज्ञानयुक्त-प्रेम** कहलाता है। और जो लोग रागानुगा-भक्ति का अनुसरण करते हैं, उनके प्रेम को **केवल-प्रेम या ऐश्वर्य्यज्ञानशून्य-प्रेम** कहा जाता है। जिनके चित्त में श्रीभगवान् के माहात्म्य और ऐश्वर्य का ज्ञान प्रधान रूप से रहता है—वे सिद्धावस्था में सालोक्यादि चतुर्विधा-मुक्ति प्राप्त करके वैकुण्ठ में जाते हैं। वैकुण्ठ-स्थित भक्तों में **शान्त-रति** रहती है।

जो केवल-प्रेमी-भक्त हैं—वे गोलोकधाम में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की सेवा ही प्राप्त करते हैं। इस रागानुगा-भक्ति के मधुरभाव के साधक के चित्त में यदि सम्भोगेच्छा की प्रबलता रहे, तो वह व्रज में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की सेवा प्राप्त नहीं करता। मधुर-भाव का उपासक होने से वह द्वारका की महिषीगणों के किङ्करीरूप को प्राप्त होता है।

वैकुण्ठ के शान्त-भक्तों की सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति भी फिर दो प्रकार की है। (१) **सुखैश्वर्य्योत्तरा**—इसमें चित्त में सुख की एवं ऐश्वर्य की कामना प्रधानरूप से रहती है। और दूसरे (२)**प्रेमसेवोत्तरा** इसमें चित्त में उपास्य देव की सेवा-कामना ही प्रधानरूप से रहती है। जो भक्त केवल प्रेमभक्ति के माधुर्य-आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त करते हैं—वे एकान्ती भक्तगण चतुर्विधा मुक्ति एवं पाञ्चवी सायुज्य-मुक्ति

तक की भी कभी कामना नहीं करते। श्रीभगवान् के देने पर भी वे उसे ठुकरा देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं प्रेमभक्ति की अनेक स्तर या विचित्रता है। श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की लीलास्थली गोलोक में या व्रज में ऐश्वर्य्यज्ञानशून्या केवल-प्रेमभक्ति है, द्वारका-मथुरा में ऐश्वर्य मिश्रिता-प्रेमभक्ति है तथा वैकुण्ठ में ऐश्वयज्ञान प्रधाना प्रेमभक्ति है। सब प्रकार के भक्तों में सेव्य-सेवकत्व का भाव पूर्णरूप से रहता है, किन्तु सेवा-वासना के विकाश के तारतम्यानुसार प्रेम भक्ति के विकाश में भी तारतम्य रहता है।

वकुण्ठ के भक्तों के चित्त में परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान प्रधानता से रहता है, जो उनकी सेवा-वासना के विकाश में बाधक होता है। अतः श्रीकृष्ण में उनकी ममता बुद्धि नही उत्पन्न होती और न ही वे प्राणस्तल से सेवा-सौभाग्य प्राप्तकर सकते हैं। द्वारका में भी माधुर्य ऐश्वर्य-ज्ञान मिश्रित रहता है। जब ऐश्वर्यज्ञान की प्रधानता होती है तब उनकी भी सेवा-वासना संकुचित हो जाती है। किन्तु व्रज की केवलाभक्ति में ऐश्वर्य एवं ज्ञान बिल्कुल नहीं है। अतः उनकी सेवा-वासना कभी भी संकुचित नहीं होती। इसलिये श्रीभगवान् केवलाप्रीति के सम्यक्रूप से वशीभूत रहते हैं।

सारांश यह है कि सेवा-वासना के विकाश के तारतम्यानुसार प्रेमभक्ति की भी अनेक वैचित्री है एवं श्रीकृष्ण की भक्तवश्यता के विकाश में भी अनेक तारतम्य है। रायरामानन्दजी ने प्रेमभक्ति की बात साधारण भाव से कही। किन्तु श्रीमहाप्रभु ने प्रेमभक्ति के उत्कर्षमय विशेषत्व का प्रकाश कराने के लिये उन्हें कुछ और आगे बतलाने को कहा। श्रीमहाप्रभु को बात सुनकर उन्होंने दास्य-प्रेम को साध्य बतलाया।

दास्यप्रेम में साधारणतः कथित प्रेमभक्ति ही की एक विशेषता है। राय ने प्रेमभक्ति की विशेषता का विवरण सर्वप्रथम दास्यप्रेम से आरम्भ किया। "श्रीभगवान् सेव्य हैं—मैं उनका सेवक हूँ"। श्रीभगवान् प्रभु हैं, मैं उनका दास हूँ"—इस प्रकार के भाव को '**दास्य-भाव**' कहते हैं। इस दास्य-भाव को लेकर जो सेवा-वासना है—उसे '**दास्य-प्रेम**' कहते हैं।

जीव का स्वरूपगत-भाव दास्यभाव ही है। समस्त भगवत्-स्वरूपों में प्रत्येक स्वरूप का लीला-परिकर होता है। लीला-परिकरगणों के चित्त में यह दास्यभाव रहता है। प्रत्येक भगवत्-स्वरूप की लीला में उस स्वरूप के परिकरगण उसकी सेवा किया करते हैं। केवल श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वर हैं। अन्यान्य समस्त उनके दास ही हैं (आदिलीला पृष्ठ १५४ से १५९ द्रष्टव्य) समस्त कृष्णदास होते हुए भी सेवा-वासना-विकाश के तारतम्यानुसार दास्यप्रेम के विकाश में तारतम्य है। यहाँ राय ने जो दास्य-प्रेम कहा है, यह उनकी दास्य-प्रेम के सम्बन्ध में साधारण उक्ति है।

वैकुण्ठ में तो ऐश्वर्यज्ञानहीन दास्यप्रेम का विकाश है ही नहीं एवं द्वारका-मथुरा में दास्यप्रेम ऐश्वर्यज्ञान से मिश्रित है। किन्तु व्रज का दास्यप्रेम ऐश्वर्यज्ञान से एवं स्वसुखवासना से रहित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रायरामानन्दजी ने चाहे दास्यभाव के सम्बन्ध में साधारण भाव से बात कही है, किन्तु प्रेम की सर्वविधि वैचित्री में दास्यभाव मौजूद है, क्योंकि प्रेम की सर्वविध वैचित्री में सेवा द्वारा श्रीकृष्ण के प्रीति-उत्पादन की वासना एवं प्रयास विद्यमान हैं। दास्यप्रेम के समर्थन में राय ने नीचे के दो श्लोकों का वर्णन किया।

तथाहि (भागवते ९—५—१६)—

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥१२॥

श्रीदुर्वासा ऋषि ने श्रीअम्बरीष महाराज से कहा है—"जिन का नाम सुनने मात्र से ही जीव सर्वोपाधियों से रहित होकर शुद्ध हो जाता है, उन तीर्थपद श्रीभगवान् के दासों के लिये क्या फिर कोई वस्तु पाने योग्य रह सकतो है ? अर्थात् उन्हें समस्त प्राप्य वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं, किसी वस्तु का अभाव उन्हें नहीं रहता ॥१२॥"

तथाहि यामुनमुनिविरचिते स्तोत्ररत्ने (४९)—

भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरः प्रशान्तनिःशेष मनोरथान्तरः ।
कदाऽहमैकान्तिक-नित्य-किङ्करः प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितः ॥१३॥

हे नाथ ! आपकी सेवा-वासना के अतिरिक्त अन्यान्य समस्त वासनाओं को छोड़ कर आपका एकान्तिक नित्य दास होकर आपकी सेवा करते करते कब मैं अपने सनाथ जीवन को आनन्दित करूँगा ?

चै० च० चु० *टीका*—श्लोक नं० १२ का तात्पर्य यह है कि भगवान् के नाम श्रवण मात्र से जीव का माया बन्धन छूट जाता है एवं चित्त शुद्ध हो जाता है। उसमें फिर विशुद्ध-सत्त्व आविर्भूत होकर प्रेमरूप में परिणत हो जाता है। इस प्रेम के फल-स्वरूप श्रीकृष्ण अथवा श्रीकृष्ण की सेवा की प्राप्ति होती है—इस प्रकार के जो कृष्णदास हैं—उनके लिये कोई अभाव नहीं रहता।

श्लोक नं० १३ में समस्त-वासना परित्याग-पूर्वक श्रीकृष्ण के एकान्तिक नित्य-दासत्व की प्रार्थना की गई है, जिस से श्रीकृष्ण-सेवा को प्राप्त करके जीव के जीवन की सार्थकता है।

सारांश यह है कि इन दोनों श्लोकों में दास्यप्रेम का वर्णन किया गया है, जो प्रेमभक्ति की विशेषता को सूचित करता है। अतः राय रामानन्दजी ने प्रेम-भक्ति के आगे दास्यप्रेम को साध्य बतलाया किन्तु इस पर भी श्रीमहाप्रभु ने उन्हें और आगे कहने का संकेत किया।

प्रभु कहे—एहो हय, आगे कह आर।
राय कहे—सख्य-प्रेम सर्वसाध्यसार ॥६१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"राय ! तुमने दास्य-प्रेम को साध्य कहा, सो ठीक है, किन्तु इस से भी आगे कहो"। राय ने उत्तर में कहा—"सख्य-प्रेम सर्वसाध्यसार है ॥६१॥"

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमहाप्रभु ने दास्यप्रेम के भी आगे कुछ बतलाने को कहा। इसका कारण यह है कि दास्यप्रेम कहने से मथुरा-द्वारका का तथा व्रज का—दोनों दास्यप्रेम समझे जाते हैं। जैसा कि पहले हम कह चुके हैं—मथुरा-द्वारका के दास्यप्रेम में ऐश्वर्य-ज्ञान होने के कारण सेवा-वासना का सम्यक् विकाश नहीं है और व्रज के दास्य-प्रेम में चाहे ऐश्वर्य-ज्ञान नहीं है, और व्रज के दासगण श्रीकृष्ण को ईश्वर भी नहीं मानते और श्रीकृष्ण में चाहे उनकी ममत्व-बुद्धि भी है, तथापि उनके चित्त में श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में एक सम्भ्रम या गौरव-बुद्धि अवश्य है। ईश्वर जान कर श्रीकृष्ण में उन्हें गौरव-बुद्धि नहीं है, बल्कि उन्हें अपना स्वामी या प्रभु जान कर उनमें गौरव-बुद्धि है। वे श्रीकृष्ण को अपना प्रभु और अपने को उनका दास मानते हैं। श्रीकृष्ण जिस सेवा का आदेश करते हैं, उसे तो वे पालन करते ही हैं। किन्तु कोई एक ऐसी सेवा जिसे वे अपना अभीष्ट तो मानते हैं और वह है भी श्रीकृष्ण-सुख के निमित्त, श्रीकृष्ण के आदेश लिये बिना वे उसे सम्पादन नहीं कर सकते। वे सोचते हैं कि वह सेवा प्रभु को स्वीकार होगी कि न होगी—इस हिच-किचाहट में वे प्रभु की सम्मति अथवा असम्मति जाने बिना उसे नहीं कर पाते।

इस प्रकार की गौरव-बुद्धि एवं सम्भ्रम ब्रज के दास-वर्ग में भी बना रहता है। जिससे वे हर समय इच्छानुरूप श्रीकृष्ण सेवा नहीं कर सकते। सेवा-वासना के विकसित होने पर भी वे उसे कार्यान्वित नहीं कर सकते।

सारांश यह है कि दास्य-प्रेम में सेवा-वासना का सम्यक् विकाश न होने से श्रीमहाप्रभु ने कहा—"रामानन्द ! इस दास्य-प्रेम से कुछ आगे कहो।"

रामानन्दजी ने दास्य-प्रेम के आगे सख्य-प्रेम को साध्य बतलाया। जो भक्त प्रेम की अधिकता से श्रीकृष्ण को अपने समान ही समझते हैं, किसी भी प्रकार से श्रीकृष्ण को अपने से श्रेष्ठ नहीं मानते, वे श्रीकृष्ण के **'सखा'** कहे जाते हैं; एवं उनके भावानुकूल सेवा–वासना का नाम **'सख्य-प्रेम'** है। इस सख्य-प्रेम में शान्त-भक्तों की एक-निष्ठता और दास्य की सेवा तो है हीं, अधिकन्तु "मैं श्रीकृष्ण के सुख के लिये जो भी करूँगा, उसे श्रीकृष्ण निश्चय ही प्रीति-पूर्वक स्वीकार करेंगे"—इस प्रकार का एक विश्वास-मय भाव भी उनमें रहता है, जो दास्य में नहीं रहता। इसलिये इसे दास्य से श्रेष्ठ कहा है। सख्यप्रेम में दास्य की भांति गौरव-बुद्धि, सम्भ्रम एवं सङ्कोच नहीं है।

दृष्टान्त के रूप में जैसा कि श्रीकृष्ण के किसी एक सखा ने एक आम का फल खाया, जो बहुत ही मधुर था, उसने उसी समय उसी फल को श्रीकृष्ण के मुख में दे दिया और बोला—"कृष्ण ! देख, देख, खा के तो देख, कितना मधुर आम है।" श्रीकृष्ण के मुख में अपना झूंठा फल देने में उसके मन में किसी भी प्रकार का सङ्कोच नहीं होता। किन्तु श्रीकृष्ण का कोई भी दास श्रीकृष्ण के मुख में अपने झूंठे फल देने की कल्पना भी नहीं कर सकता। क्योंकि दास्य में गौरव बुद्धि है; किन्तु सख्य में ममत्व-बुद्धि है, जहां ज़रा भी सङ्कोच नहीं है।

पहले भी हम वर्णन कर आए हैं कि दास्य, सख्य, वात्सल्यादि भाव दो प्रकार के हैं। एक **'ऐश्वर्यात्मक'**, दूसरे **'शुद्धमाधुर्यात्मक'**। ऐश्वर्यात्मक-भाव में "श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं"—यह ज्ञान श्रीकृष्ण को भी रहता है एवं उनके लीलापरिकरों को भी रहता है। किन्तु माधुर्यात्मक-भाव में "श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् या ईश्वर हैं"—यह ज्ञान उनके परिकरों को कभी नहीं होता, एवं श्रीकृष्ण में भी हर समय यह ज्ञान नहीं रहता। द्वारका-मथुरा में ऐश्वर्यात्मक-भाव है, परन्तु ब्रज में शुद्धमाधुर्यात्मक-भाव है। द्वारका-मथुरा में श्रीकृष्ण के दासों की ऐश्वर्यात्मिका-प्रीति है, किन्तु ब्रज में रक्तक–पत्रकादि जो श्रीकृष्ण के दास हैं उनकी शुद्धदास्य-प्रीति है। अर्जुनादि की ऐश्वर्यात्मिका-सख्य-रति है, किन्तु ब्रज में सुबल–मधुमंगलादि की माधुर्यात्मिका-सख्य-रति है। देवकी-वसुदेवादि की ऐश्वर्यात्मिका-वात्सल्य-रति है, किन्तु यशोदा-नन्दराज की माधुर्यात्मिका-वात्सल्यरति है।

राय रामानन्दजी ने अपनी उक्ति के समर्थन में श्रीभागवतजी का निम्नलिखित श्लोक पढ़ा, जिस का तात्पर्य ब्रज की शुद्धमाधुर्यात्मिका-सख्यरति से ही है।

तथाहि (भाः १०—१२—११)—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥१४॥

श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षितजी से कहा है—"ज्ञानियों के लिये जो ब्रह्मसुखानुभव-स्वरूप हैं। दास्य-भाव से भजन करने वाले भक्तों के लिये जो परमाराध्य देवता-स्वरूप हैं, मायाबद्ध लोगों के लिये

जो साधारण नर-बालक-रूप में प्रतीत होते हैं, उन श्रीकृष्ण भगवान् के साथ अतिशय सौभाग्यशाली समस्त गोप-बालकों ने इस प्रकार विहार किया ॥१४॥

चै० च० चु० *टीका*—साधारणतः तीन प्रकार के साधक देखने में आते हैं—ज्ञानी, कर्मी एवं भक्त। ये तीनों एक ही परमतत्त्व स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी-अपनी साधना के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में अनुभव करते हैं। इनमें कौन किस भाव से श्रीकृष्ण का अनुभव करता है—यह दिखाते हुए सख्यभाव रखने वाले व्रज गोप-बालकों के सौभाग्यों की प्रशंसा इस श्लोक में की गई है।

सारांश यह है कि भक्ति की सहायता पूर्वक ज्ञानमार्ग से जो श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं, उन्हें श्रीकृष्ण के अङ्गों की कान्ति-स्वरूप निर्विशेष-ब्रह्म का अनुभव ही प्राप्त होता है, जो आनन्द-स्वरूप है। वे ज्ञानी क्योंकि उसी निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति की कामना करते हैं। इसी लिये श्रीभगवान् उन्हें उनकी भावना के अनुसार अपने उसी निर्विशेष-स्वरूप का ही अनुभव कराते हैं। उनका श्रीभगवान् के साथ क्रीड़ादि-सुख प्राप्त करना असम्भव है। और जो श्रीकृष्ण का दास्य-भाव से भजन करते हैं, उनमें गौरव-बुद्धि रहती है। अतः उन्हें श्रीकृष्ण देवता अर्थात् परम उपास्यदेव के रूप में अनुभव होते हैं। वे भी श्रीभगवान् के साथ विहार या क्रीड़ा का सुख नहीं प्राप्त कर सकते। तीसरे जो माया का आश्रय लेने वाले लोग हैं—वे हैं कर्मी। माया बन्धन में जकड़े हुए होने के कारण वे श्रीकृष्ण को एक मनुष्य-बालक ही समझते हैं। उन्हें उनके भगवान् एवं परतत्व स्वरूप का अनुभव हो ही नहीं सकता, अतः उनके लिये तो श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा-प्राप्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु व्रज के जो गोप-बालक श्रीकृष्ण को अपना सखा समझते हैं—वे कितने भाग्यशाली हैं, उन्होंने कितने पुण्यों के समूह किये हैं कि वे श्रीकृष्ण के साथ अनेक प्रकार के खेल-कूद आदि समान विहार करते हैं। वे अपने को भी श्रीकृष्ण की भाँति पत्र-पुष्पों से सजाते हैं, श्रीकृष्ण का वंशी चुरा लेते हैं, श्रीकृष्ण उनके पीछे भागते हैं। कभी खेल से मोर बन कर नाचने लगते हैं। खेल में हरा कर श्रीकृष्ण के कन्धे पर चढ़ बैठते हैं। कभी उन्हें अपने कन्धे पर चढ़ा लेते हैं, इत्यादि इस प्रकार के अनेक खेल-कूद वे व्रज गोप-बालक श्रीकृष्ण के साथ निःसङ्कोच भाव से करते हैं।

इस प्रकार राय रामानन्द जी ने सख्य-प्रेम को उत्कृष्ट साध्य बताया और उसके समर्थन में उक्त श्लोक भी कहा।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि राय रामानन्द जी ने सख्य-प्रेम में जिन गोप-बालकों का दृष्टान्त दिया है तथा अब इस से आगे वात्सल्य-प्रेम एवं कान्ता-प्रेम के समर्थन में जिनका दृष्टान्त उल्लेख करेंगे, वे समस्त श्रीकृष्ण के नित्य व्रज-परिकरों के सम्बन्ध में है। वे व्रज-परिकर श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति का ही विलास हैं। किन्तु सख्य-प्रेम से पहले जिन शास्त्र प्रमाणों का उल्लेख किया गया है, वे सब साधक-जीवों से सम्बन्धित हैं। सख्य, वात्सल्य एवं कान्ता प्रेम के सम्बन्ध में नित्य परिकरों के दृष्टान्त के उल्लेख का कारण यह भी है कि सेवा-वासना के चरमतम विकाश में ही साध्य या सेव्य वस्तु का चरम-तम विकाश होता है।

सेवा-वासना भी दो प्रकार की है—**'स्वातन्त्र्यमयी'** तथा **'आनुगत्यमयी'**। जीव का स्वरूप नित्य-कृष्ण-दास है। इसलिये जीव का आनुगत्यमयी-सेवा में ही अधिकार है और उसमें आनुगत्यमयी सेवा-वासना का ही विकाश है। किन्तु जो स्वरूप-शक्ति के विलास-भूत नित्य-व्रज परिकर हैं, वे स्वरूप-शक्ति के मूर्त्तरूप हैं। अतः उनमें स्वातन्त्र्यमयी सेवा-वासना है एवं स्वातन्त्र्यमयी सेवा भी है। कहीं-कहीं किसी-किसी परिकर में स्वातन्त्र्यमयी सेवा के आनुकूल्य विधान के रूप में आनुगत्यमयी सेवा भी है।

इसलिये इस प्रकार के नित्य-सिद्ध परिकरों के आचरण में दोनों प्रकार की सेवा-वासनाओं का दृष्टान्त मिलता है।

सेवा-वासना के चरमतम विकाश में ही साध्यवस्तु का सम्यक् विकाश है एवं इस प्रकार के विकाश को ही श्रीमहाप्रभु प्रकट कराना चाहते थे। इसे जानकर रायरामानन्दजी ने नित्यसिद्ध परिकरों का दृष्टान्त कहा। विशेषतः स्वातन्त्र्यमयी सेवा में ही सेवा-वासना का सर्वातिशायी विकाश रहता है। अतः इनके दृष्टान्त द्वारा ही साध्यवस्तु का सम्यक् विकाश दिखलाया जा सकता है। श्रीमहाप्रभु ने सख्य-प्रेम की बात सुनकर आगे कहा।

प्रभु कहे—एहोत्तम, आगे कह आर।
राय कहे—वात्सल्य-प्रेम सर्वसाध्यसार ॥६२॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"यह उत्तम है। किन्तु इससे भी आगे कहो"। राय ने कहा—"वात्सल्य-प्रेम सर्व-साध्य-सार है।"

चै० च० चु० *टीका*—रायरामानन्दजी के मुख से सख्य-प्रेम की बात सुनकर प्रभु ने कहा—"राय! सख्यप्रेम उत्तम है।" अभी तक श्रीमहाप्रभु ने और किसी साध्य को उत्तम नहीं कहा था। सख्यभाव को उत्तम कहने का तात्पर्य यह है कि स्वयं भगवान् कहते हैं कि "जो मुझे सर्वेश्वर, ईश्वर, प्रभु मानता है, तो मैं भी उसके लिये सर्वेश्वर, प्रभु आदि होकर रहता हूँ। फिर मैं उसके अधीन नहीं होता। किन्तु जो मुझे अपने से छोटा मानता है अथवा मुझे अपने समान ही जानता है, तो मैं भी उससे छोटा या उसके समान होकर रहता हूँ। छोटा बनने से स्वभावतः मुझे उसके अधीन होना पड़ता है, एवं समान भाव वाले भक्तों के साथ मुझे भी समान भाव से उनके साथ व्यवहार करना पड़ता है। उनके भी मैं वशीभूत रहता हूँ।" क्योंकि शान्तभाव एवं दास्य-भाव के भक्त भगवान् श्रीकृष्ण को अपना ईश्वर, प्रभु मानते हैं, अतः श्रीभगवान् उनके वशीभूत नहीं रहते। परन्तु सख्य-भाव के भक्त भगवान् को अपने समान मानते हैं। अतः भगवान् उनके वशीभूत रहते हैं। इसलिये श्रीमहाप्रभुजी ने सख्य-प्रेम को उत्तम कहा है।

यहाँ यह स्मरण रहे कि यह बात श्रीभगवान् के नित्यसिद्ध परिकरों के सम्बन्ध में कही जा रही है। साधक-जीवों के लिये नहीं है। साधक के लिये तो यथावस्थित शरीर में दास्यभाव ही रहता है। जब श्रीमहाप्रभुजी ने सख्य-प्रेम से भी और आगे पूछा तो रायरामानन्दजी ने वात्सल्य-प्रेम को साध्यसार बतलाया।

माता, पिता आदि के रूप में जो परिकर अपने को श्रीकृष्ण से बड़ा मानते हैं और श्रीकृष्ण को अपने अनुग्रह का पात्र समझते हैं—उनकी अनुग्रहमयी-रति का नाम वात्सल्य-प्रेम है। इसमें सख्य-प्रेम से भी अधिक ममता रहती है। श्रीकृष्ण भगवान् को अपना बालक जानकर और अपने को श्रीकृष्ण का पालक समझकर श्रीनन्दराज श्रीमाता-यशोदा श्रीकृष्ण की ताड़ना भी करते हैं। यहाँ तक कि उन्हें बान्ध भी देते हैं। वात्सल्य-प्रेम में शान्त, दास्य, एवं सख्य भावों की निष्ठा तो रहती ही है, अधिकन्तु इसमें श्रीकृष्ण की पालनरूप-सेवा, सर्वथा असङ्कोचभाव तथा अपने में श्रीकृष्ण के पालक होने का भी भाव रहता है। अतः सख्य से वात्सल्य की श्रेष्ठता है। वात्सल्य-प्रेमके समर्थन में रायरामानन्दजी ने श्रीभागवत का निम्नलिखित श्लोक पढ़ा।

तथाहि तत्रैव (१०-८-४६)—

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् ।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥१५॥

श्रीपरीक्षित महाराज ने शुकदेवजी से पूछा—"हे मुने ! श्रीनन्दमहाराज ने महापुण्यजनक ऐसा कौन सा मङ्गलकार्य किया था (जिसके फल से उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने पुत्ररूप में प्राप्त किया) ? और महाभागा माता यशोदा ने ही ऐसा कौन सा पुण्य किया था कि जिसके फलस्वरूप श्रीहरि ने उसका स्तन पान किया ? ॥१५॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में वात्सल्य-भाव के आश्रय श्रीनन्दराज एवं माता यशोदा की श्रीकृष्ण में प्रीति एवं ममताकी अधिकता दिखलाई गई है । श्रीकृष्णमें इनकी ममता बुद्धि एवं प्रीति इतनी प्रबल है कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक, स्वयं भगवान्, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर परमतत्त्व को यह अपना पुत्र समझते हैं । उनकी पूतना-बध, मिट्टी-भक्षण के समय मुख में ब्रह्माण्डदर्शनादि ऐसी महान ऐश्वर्यमयी लीलाओं को देखते हुए भी ये उनको अपना बालक समझते हैं और उन्हें अपना अनुग्रह-पात्र मानते हैं । इस ओर भक्तवत्सल रसिकशेखर की करुणा यह है कि वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक, स्वयं भगवान्, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सर्वपूज्य, परम-ब्रह्म होकर भी उनकी वात्सल्य-प्रीति के सर्वथा वशीभूत हो रहा है एवं उनकी ताड़ना, भर्त्सना को अङ्गीकार कर रहा है । नन्दबाबा की चरणपादुकाओं को अपने सिर पर धरे डोलता है । माता यशोदा का स्तन पान करने के लिये हर घड़ी मचल रहा है, एवं उसके शासन को मान कर रस्सी में बन्ध जाना भी स्वीकार कर रहा है ।

श्रीभगवान् की इस प्रकार की भक्त-वशीभूतता क्या किसी पुण्य कर्म का फल है ?—नहीं, नहीं । श्रीनन्दराज एवं माता यशोदा तो भगवान् के नित्य-सिद्ध परिकर हैं । वात्सल्य—रस के आस्वादन करने के लिये रसिकशेखर श्रीकृष्ण भगवान् की सन्धिनी-शक्ति ही श्रीनन्द-यशोदा के रूप में प्रगट होकर अनादि काल से विराजमान है । श्लोक में जो उनके "महापुण्यजनक मङ्गल-कार्य" का उल्लेख किया गया है, वह तो लौकिक रीति अनुरूप एक उक्ति है—केवल उनके सर्वातिशायी सौभाग्य का ही परिचय देने के उद्देश्य से ।

राय रामानन्दजी ने वात्सल्य-प्रेम के समर्थन में श्रीभागवत जी का एक और श्लोक भी पढ़ा—

तथाहि तत्रैव (१०—६—२०)—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥१६॥

महाराज परीक्षितजी के प्रति श्रीशुकदेवजी ने कहा है—"विमुक्तिदाता श्रीकृष्ण से जिस कृपा को गोपी (यशोदाजी) ने प्राप्त किया है, उस कृपा को न तो ब्रह्माजी ने प्राप्त किया और न ही शिवजी ने और तो क्या, उनके अङ्गों में रहने वाली लक्ष्मीजी भी उस कृपा को प्राप्त न कर सकीं ॥१६॥"

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में दाम-बन्धन लीला को लक्ष्य किया गया है । मां यशोदा ने श्रीकृष्ण को ऊखल से बान्ध दिया एवं सब के मुक्तिदाता होते हुए भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने उस बन्धन को अङ्गीकार किया । केवल माता के प्रेम की प्रबलता इसका कारण है । वरना, स्वयं भगवान् विभु-तत्त्व को बान्ध देना किस की सामर्थ्य है । एक मात्र वे प्रेम-बन्धन में बन्ध जाते हैं । माँ यशोदा श्रीकृष्ण

को अपना बालक ही समझती है और उनकी चञ्चलता को देखकर सोचती है कि "यदि मैं इसे अभी से शासित नहीं करूंगीं तो यह बड़ा होकर और अधिक बिगड़ जायेगा।" अतः वह अपनी इस ममताकी अधिकता से ऐसा करती है और भगवान् भी उसके प्रेम के वशीभूत होकर बन्ध जाते हैं। यही श्रीकृष्ण का यशोदाजी के प्रति अनुग्रह है। इस प्रकार के अनुग्रह को और किसी ने भी प्राप्त नहीं किया। ब्रह्माजी, शिवजी, एवं श्रीलक्ष्मीजी भी इस प्रकार का अनुग्रह नहीं कर सकते। श्रीभगवान् क्योंकि भक्तवत्सल हैं, इसलिये वे भक्त के प्रेम के वशीभूत हो जाते हैं। उनकी भक्त-वश्यता इतनी अधिक है कि वे भक्त के हाथों बन्ध भी जाते हैं—यह बात दाम-बन्धनलीला में प्रदर्शित हुई है। इस लीला में भक्तवश्यता की चरम-पराकाष्ठा है। ऊपर कहे हुए दोनों श्लोकों की थोड़ी और आलोचना यहाँ की जाती है, जिससे श्रीनन्दराज-यशोदाजी के वात्सल्यप्रेम का और भी उत्कर्ष प्रकाशित होगा:—

भगवान् श्रीकृष्ण ने जब ब्रजरज का भक्षण किया और सखाओं ने माँ-यशोदा को जब आकर इस बात की सूचना दी, तो मां यशोदा ने छड़ी लेकर श्रीकृष्ण को धमकाया कि "तूने मिट्टी क्यों खाई?" श्रीकृष्ण के बहुत टाल-मटोल करने पर जब यशोदाजी ने उन्हें मुख खोल कर दिखाने को मजबूर किया, तो श्रीकृष्णचन्द्र ने माँ यशोदा को अपने मुख में चराचर विश्व के दर्शन करा दिये। यशोदाजी ने देखा कि वहां ब्रजधाम भी है, वहाँ नन्दराज का भवन है वहाँ श्रीकृष्ण मुख दिखला रहे हैं और वह छड़ी हाथ में लेकर श्रीकृष्ण के मुख में देख रही है। श्रीयशोदाजी चकित हो गईं एवं बहुत तर्क-वितर्क के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि यह श्रीकृष्ण की ही कोई लीला है। माता-यशोदा में ऐश्वर्य-भाव को आता देख भगवान् ने अपने ऐश्वर्य को प्रच्छन्न कर दिया और माता-यशोदा उस बात को स्वप्न की भाँति बिल्कुल भूल गई तथा पहले की भाँति उनमें पुत्र-भाव करते हुए विचरने लगीं।

इस कथा को श्रीशुकदेवजी से सुनकर राजा परीक्षितजी अत्यन्त विस्मित हो उठे कि ऐसे विभुतत्त्व श्रीकृष्ण में यशोदा का पुत्र भाव कैसे हुआ? और न जाने श्रीनन्द-यशोदा ने ऐसा कौन सा महान पुण्य कर्म किया कि भगवान् श्रीकृष्ण विभुतत्त्व होकर भी अपने को श्रीनन्द-यशोदा का पुत्र मानते हैं? इसी जिज्ञासा को लेकर महाराज परीक्षितजी ने प्रथम श्लोक—"नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन्"—इत्यादि कहा। इस प्रश्न को सुनकर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"आठ वसुओं में द्रोण नाम के श्रेष्ठ वसु थे एवं उनकी पत्नी धरा थी। उन दोनों को ब्रह्माजी ने कहा कि तुम दोनों पृथ्वी पर जाकर जन्म ग्रहण करो और मथुरा मण्डल में जाकर गोपालन-वृत्ति धारण करो एवं वसुदेवजी से मित्रता स्थापन करो। उन दोनों ने ब्रह्माजी की आज्ञा को स्वीकार किया और ब्रह्माजी से कहने लगे—"हम पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करके विचित्र मधुर लीलामय सर्व मनोहारी विश्वेश्वर भगवान् की परमा-भक्ति को प्राप्त करें—आप कृपा कर हमें यही वर दीजिये।" द्रोण एवं धरा की प्रार्थना सुनकर श्रीब्रह्माजी ने–'तथास्तु'–कह दिया यानी ऐसा ही हो। इसके पश्चात् महासौभाग्यशाली द्रोण श्रीनन्दराज के रूप में एवं धरा श्रीयशोदाजी के रूप में ब्रज में प्रगट हुए। श्रीशुकदेवजी की इस बात को सुनकर स्वभावतः ऐसा ज्ञात होता है कि ब्रह्माजी के वर से ही द्रोण एवं धरा ब्रज में नन्द–यशोदा रूप से प्रकट हुए और श्रीकृष्ण भगवान् को पुत्ररूप से उन्होंने प्राप्त किया।

ऐसा उल्लेख देखकर यह प्रश्न उठता है कि श्रीनन्द-यशोदाजी को श्रीकृष्ण की पुत्र-रूप में प्राप्ति किसी साधनके फलस्वरूप नहीं हुई, ऐसा क्यों कहा गया है?—उत्तर:—वास्तवमें यहाँ श्रीपरीक्षित जी ने जैसा प्रश्न किया। श्रीशुकदेवजी ने भी उसी के अनुरूप उत्तर दिया है। राजा परीक्षितजी के चित्त में द्रोण-धरा का उपाख्यान था, जिसको उन्होंने लक्ष्य करके ऐसा प्रश्न किया एवं पूर्व साधन का भी दृष्टिकोण रखते हुए उन्होंने ऐसा प्रश्न किया। अतः श्रीशुकदेवजी ने द्रोण-धरा का उपाख्यान सुना दिया एवं

साधन की कथा भी खोलकर सुनादी। किन्तु यह यथार्थ उत्तर नहीं था। इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर तो इसके पश्चात् दामबन्धन लीला वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी ने दिया जो दूसरे श्लोक—"नेमं विरिञ्चो न भवः" इत्यादि में वर्णित है। द्रोण-धरा के उपाख्यान वर्णन में भी इस प्रश्न का समाधान है। स्वरूपतः द्रोण श्रीनन्दजी का अंश थे एवं धरा श्रीयशोदाजी का अंश थी। ब्रह्माण्ड में इनका प्रकट होना श्रीकृष्ण की नर-लीला के प्रागट्य का उपक्रम मात्र है। उनके चित्त में नित्यसिद्ध वात्सल्य-प्रेम नित्य विराजमान है। जब वे ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण हुए, उनके चित्त में वह प्रेम अक्षुण था एवं श्रीकृष्ण को पुत्ररूप में प्राप्त करने की उनमें स्वाभाविकी बलवती वासना थी। किन्तु जिस समय उन्होंने ब्रह्माजी से वर माँगा—उस समय वहां श्रीभगवान् के ऐश्वर्य-ज्ञान में प्रधानभाव रखने वाले अनेक मुनि मौजूद थे। उनके सामनेद्रोण-धरा ने अपने हृदय की बात प्रकट करने में सङ्कोच अनुभव किया और परमाभक्ति की प्राप्ति का वर माँगा। इसी परमाभक्ति के वर के भीतर आवृत करके उन्होंने शुद्धवात्सल्य-मयी प्रीति ही मांगी। जब श्रीनन्द-यशोदा ब्रज में स्वयंरूप से अर्थात् अंशीरूप से अवतीर्ण हुए। तब उन के अंशस्वरूप द्रोण-धरा भी उनमें लीन हो गये। श्रीनन्दराज में द्रोण और श्रीयशोदाजी में धरा मिल गई। यह सिद्धान्त है कि जब अंशी जगत् में अवतीर्ण होता है, तब उसके समस्त अंश उसमें आकर लीन हो जाते हैं। द्रोण-धरा के प्रति ब्रह्माजी के वर-प्रदान के बहाने इस तत्त्व को लीला में प्रकाशित किया गया है। वस्तुतः ब्रह्माजी के वर से कोई भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का पिता-माता नहीं बन सकता। इसलिये श्रीशुकदेवजी ने "नेमं विरिञ्चो न भवः" —इत्यादि श्लोक कहा जिसका अभिप्राय है कि स्वयं ब्रह्माजी उस कृपा को नहीं प्राप्त कर सकते, तो फिर उनके वर-प्रदान से वह कृपा और कैसे कोई प्राप्त कर लेगा ? अर्थात् उनके वर से श्रीनन्दयशोदा जी ने उस कृपा को प्राप्त नहीं किया। श्रीकृष्ण को पुत्ररूप में प्राप्त करने का वर प्रदान करने की योग्यता स्वयं ब्रह्माजी भी अपने में नहीं समझते। क्योंकि उन्होंने श्रीभागवतजी (१०–१४–३४) में कहा है :—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ।।छ।।

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—"समस्त वेद जिनकी चरण-धूलि का अनुसन्धान कर रहे हैं, भगवान् श्रीमुकुन्द जिनके जीवन-प्राण हैं, उन ब्रजवासियों में से किसी एक ब्रजवासी के चरणों की धूलि प्राप्त करने की सम्भावना में मुझे गोकुल में (खग-मृग-पशु-पक्षी, लता-पता) कोई भी जन्म प्राप्त हो जाए तो मेरे लिये परम सौभाग्य की बात है।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीनन्द-यशोदाजी की बात तो दूर, ब्रज के किसी एक व्यक्ति की चरण-धूलि प्राप्त करने में ब्रह्माजी अपने को कृतार्थ जानते हैं। इसलिये श्रीकृष्ण को पुत्र-रूप में वर प्रदान की योग्यता ब्रह्माजी में कैसे मानी जा सकती है ?

किन्तु ब्रह्माजी ने द्रोण-धरा की प्रार्थना के उत्तर में जो "तथास्तु"— कहा, उसके भी दो कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि द्रोण-धरा ने श्रीकृष्ण के प्रति पराभक्ति का वर माँगा। जगद्गुरु ब्रह्मा जी ने "तथास्तु" कहकर उन्हें पराभक्ति का वर प्रदान किया। इसका अर्थ यह नहीं कि "तुम श्रीकृष्ण को पुत्ररूप में प्राप्त करो"। दूसरे यह कि ब्रह्माजी तो जानते थे कि द्रोण-धरा श्रीनन्द-यशोदाजी के अंश हैं। इनके नित्यसिद्ध सम्बन्धवशतः श्रीकृष्ण इनके पुत्र तो हैं ही। श्रीकृष्ण के जगत् में अवतीर्ण होने से पहले श्रीनन्द-यशोदा जब जगत् में अवतीर्ण होंगे, तो द्रोण-धरा अपने अंशी में अपने आप लीन हो जाएँगे

और श्रीकृष्ण को पुत्र रूपमें प्राप्त करेंगे ही। तथापि वात्सल्य की परम उत्कण्ठावशत: श्रीकृष्ण को पुत्ररूप में प्राप्त करने की बात मेरे मुख से सुनना ही चाहते हैं—ऐसा विचार कर श्रीब्रह्माजी ने "तथास्तु" कह दिया।

वस्तुत: श्रीनन्द-यशोदा श्रीकृष्ण भगवान् के अनादिसिद्ध परिकर हैं। "वे श्रीकृष्ण के जनक-जननी हैं"—ऐसा अभिमान या भाव उनमें अनादि-सिद्ध है और उसी के अनुरूप वात्सल्य-प्रेम भी उनका अनादिसिद्ध है। किसी साधन के प्रभाव से वे श्रीकृष्ण के जनक-जननी नहीं है। और भी कोई हो सकता नहीं। इस प्रकार का वात्सल्य प्रेम किसी साधन से प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न हो सकता है यदि वात्सल्य-प्रेम किसी साधन से प्राप्त नहीं होता तो वात्सल्य-भाव के उपासकों का साधन-भजन क्या निरर्थक है ?—न ! उनका साधन-भजन निरर्थक नहीं है। यह ठीक है कि वे माता-यशोदा जैसा वात्सल्य प्राप्त नहीं करते, किन्तु उस वात्सल्य का आनुगत्यमय-प्रेम उनको प्राप्त होता है। यशोदा-माता के आनुगत्य में वात्सल्य-भाव की श्रीकृष्ण-सेवा उनको प्राप्त होती है।

सारांश यह है कि ऊपर के दोनों श्लोकों में वात्सल्य-प्रेम की श्रेष्ठता दिखाई गई है, क्योंकि वात्सल्य में सख्य की अपेक्षा सेवा का एवं सेवा में उसकी वासना का अधिकतर विकाश है। इस प्रकार राय रामानन्द जी से श्रीमहाप्रभुजी ने वात्सल्य प्रेम की बात सुनकर कहा—

प्रभु कहे—एहो उत्तम, आगे कह आर।
राय कहे—कान्ताप्रेम सर्वसाध्यसार ॥६३॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"हाँ, वात्सल्य-प्रेम भी उत्तम है, किन्तु इस से कुछ और आगे कहो"। राय रामानन्द जी ने कहा—"कान्ता-प्रेम ही सर्वसाध्य सार है" ॥ ६३ ॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकृष्ण को अपना प्राणवल्लभ और अपने को उनकी उपभोग्या कान्ता जान कर, अपने समस्त सुख-भोगों का त्याग कर एक मात्र श्रीकृष्ण के सुख के लिये ही श्रीकृष्ण के साथ जो सम्भोग-लालसा है—उसे **कान्ता-प्रेम** कहते हैं। यहां कान्ता-शब्द से परकीया-भावयुक्ता व्रजगोपीवृन्द से अभिप्राय है। कारण कि इस के समर्थन में जो परवर्त्ती श्लोक—"**नायं श्रियोऽङ्ग**" कहा गया है वह व्रजगोपियों के ही कान्ता-प्रेम की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करता है। 'वात्सल्य-प्रेम' वृद्धि प्राप्त होकर 'अनुराग' तक पहुञ्चता है। किन्तु कान्ता-प्रेम 'भाव' एवं 'महाभाव' पर्य्यन्त वर्द्धित होता है। इसलिये कान्ता-प्रेम की वात्सल्यप्रेम से श्रेष्ठता है।

कान्ता-प्रेम में शान्त की—निष्ठा, दास्य की—सेवा, सख्य का—असङ्कोच-भाव तथा वात्सल्य का—लालन और ममता का आधिक्य तो है ही, अधिकन्तु इसमें श्रीकृष्ण के सुख के लिये अपने अङ्गों द्वारा सेवा-प्राप्ति का सौभाग्य भी है। इसलिये यह सर्वश्रेष्ठ है। श्रीमद्भागवत (१०-३२-२२)"**न पारयेऽहं**"—इत्यादि श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि वे गोपियों के आगे ऋणी हैं। इस से भी कान्ता-प्रेम की श्रेष्ठता सूचित होती है।

दास्य, सख्य तथा वात्सल्य—इन तीनों भावों के परिकरों के साथ श्रीकृष्ण का कोई एक सम्बन्ध है। दासों के लिये श्रीकृष्ण उनके प्रभु हैं, सखाओं के लिये श्रीकृष्ण उनके सखा हैं और वात्सल्य-भावयुक्त श्रीनन्द-यशोदा के लिये श्रीकृष्ण उनके पुत्र हैं, और वे उनके पिता-माता हैं। इन तीनों भावों में हर एक में एक सम्बन्ध की अपेक्षा है। इन तीनों की श्रीकृष्ण-सेवा इनके सम्बन्ध के पीछे पीछे चलती है। जिस से सम्बन्ध की मर्यादा का उलङ्घन हो—ऐसी कोई भी सेवा तीनों नहीं कर सकते और न ही

उनमें इस प्रकार की इच्छा उत्पन्न ही होती है। अतः उनकी सेवा में सम्बन्ध की मर्यादा ही की प्रधानता रहती है। उनकी प्रीति का नाम इसलिये **'सम्बन्धानुगा रति'** है। किन्तु कान्ता-भाववती ब्रजगोपियों के भाव का रूप कुछ और है। इनका भी श्रीकृष्ण के साथ एक सम्बन्ध है। इनका कान्ता-कान्त सम्बन्ध है, किन्तु इस सम्बन्ध की प्रधानता नहीं है। केवल सेवा-वासना की ही यहाँ प्रधानता है। इनकी सेवा-वासना सम्बन्ध के पीछे नहीं चलती, बल्कि इनका सम्बन्ध सेवा-वासना के पीछे चलता है। श्रीकृष्ण की सेवा-वासना के अतिरिक्त और कुछ भी इनके चित्त में प्रधानता प्राप्त नहीं करता। जिस प्रकार भी हो, श्रीकृष्ण को सुखी करना ही इनकी एकमात्र काम्यवस्तु है। उसके लिये वेदधर्म, लोकधर्म, स्वजन-आर्यपथ त्याग करने में इन्हें कुछ भी हिचकिचाहट नहीं होती। श्रीकृष्ण को सुखी करने के लिये जो कुछ भी प्रयोजन हो; उसे यह करने के लिये सदा उत्सुक रहती हैं। प्रयोजन होने पर अपने अङ्गों द्वारा भी सेवा करके श्रीकृष्ण को सुखी करती हैं। इस प्रकार अपने अङ्गों द्वारा सेवा का सुयोग पाने के लिये ही मानो इन्होंने श्रीकृष्ण के साथ कान्ता-कान्त सम्बन्ध जोड़ा है। यह सम्बन्ध सर्वविध सेवा द्वारा श्रीकृष्ण को सर्वतो-भावेन सुखी करने के लिये ही है। अर्थात् इनकी अबाध सेवा-वासना के फल स्वरूप ही इनका यह कान्ता-कान्त सम्बन्ध है। अतः ब्रजसुन्दरियों का सम्बन्ध इनकी सेवा-वासना के अनुगत है। जिससे इनकी श्रीकृष्ण-प्रीति को **'कामानुगा-रति'** कहा जाता है। इनकी सेवा-वासना के विकाश-पथ में कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है। इनकी सेवा-वासना का सर्वातिशायी विकाश है। अतः कान्ताप्रेम का सर्वातिशायी उत्कर्षभी है।

राय रामानन्दजी ने कान्ता-प्रेम के समर्थन में श्रीभागवतजी का निम्नलिखित श्लोक कहा—

तथाहि तत्रैव (१०—४७—६०)—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीत—कण्ठ-लब्धाशिषां य उदगाद् ब्रजसुन्दरीणाम् ॥१७॥

श्रीशुकदेवजी ने कहा है—"रासोत्सव में भगवान् श्रीकृष्ण की भुजलताओं द्वारा आलिङ्गित-कण्ठ होकर अपने मनोरथों को पूर्ण करते हुए ब्रजसुन्दरियों ने जिस प्रसाद या कृपा को प्राप्त किया। वह कृपा श्रीकृष्ण के वाम वक्षस्थल में निरन्तर निवास करने वाली परम प्रेमवती लक्ष्मीदेवी को भी प्राप्त न होसकी और कमलोंकी भाँति सुगन्ध और कान्तिवाली स्वर्गकी अप्सराएँ भी जब उस कृपा को प्राप्त न कर सकीं, तो फिर अन्यान्य कान्तागणों की तो बात ही क्या है ? ॥ १७ ॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में साधारण रमणीगण, स्वर्ग की देवीगण तथा अप्सरागण, भगवत्-स्वरूपों की कान्तागण, यहाँ तक कि स्वयं श्रीलक्ष्मीदेवी की अपेक्षा भी श्रीकृष्ण-कान्ता-भाववती ब्रजसुन्दरियों के सौभाग्यों की अतिशय श्रेष्ठता वर्णन की गई है। इससे कान्ताप्रेम का उत्कर्ष प्रतिपादित होता है। राय रामानन्दजी ने अपनी उक्ति के समर्थन में एक और श्लोक भी पढ़ा।

तथाहि तत्रैव (१०—३२—२)—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥१८॥

उनके मुख-कमल पर मुस्कान थी, वे पीताम्बर धारण कर रहे थे, एवं प्रफुल्लित बनमाला से वे सुसज्जित मूर्तिमान् मदनमोहन अर्थात् साक्षात् कामदेव के मन को भी मोहित करने वाले भगवान्श्रीकृष्ण ब्रजसुन्दरियों में आविर्भूत हुए ॥ १८ ॥

चै० च० चु० *टीका*—रासस्थली से श्रीकृष्ण भगवान् जब अन्तर्धान होगये, उनके विरह में क्रन्दन करती हुई गोप-सुन्दरियाँ तब प्रायः प्राणहीन हो गई। उनकी विरह-पुकार को सुनकर श्रीकृष्ण उनमें किस रूप से आविर्भूत हुए—उसका वर्णन इस श्लोक में किया गया है। इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण में कान्ता-भाववती ब्रज-सुन्दरियों के सौभाग्य की अधिकता का वर्णन है। उनकी विरह-आर्त्ति को देखकर श्रीकृष्ण फिर छिपे न रह सके। श्रीकृष्ण के माधुर्य का चरमविकाश उनके साक्षात् मन्मथ-मन्मथरूप में ही होता है। कान्ता-भाव के व्यतीत अन्य किसी भी भाव में इस माधुर्य का अनुभव नहीं हो सकता। अपनी उक्ति के समर्थन में इस प्रकार राय रामानन्दजी ने श्लोक पढ़ते हुए कान्ता-प्रेम की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में और भी कहा—

कृष्णप्राप्त्येर उपाय बहुविध हय । कृष्णप्राप्त्येर तारतम्य बहुत आछय ॥६४॥
किन्तु यार येइ भाव—से-इ-सर्वोत्तम । तटस्थ हञा विचारिले आछे तरतम ॥६५॥

श्रीकृष्ण की प्राप्ति के अनेक उपाय हैं, तदनुसार श्रीकृष्ण की प्राप्ति में बहुत तारतम्य है ॥६४॥ किन्तु जिसका जो भी भाव है, वही सर्वोपरि है। हाँ, तटस्थ रहकर विचार करने से पता लगता है कि विभिन्न भावों से श्रीकृष्ण-प्राप्ति का भी विभिन्न-रूप है एवं उसमें तारतम्य है ॥६५॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकृष्ण-प्राप्ति के विभिन्न साधन हैं। उन विभिन्न साधनों के अनुसार श्रीकृष्ण के विभिन्न रूपों की प्राप्ति होती है। ज्ञानमिश्रा-भक्ति से श्रीकृष्ण की अङ्गकान्तिरूप जो ब्रह्म है—उसकी प्राप्ति होती है, ऐश्वर्यमिश्रा-भक्ति द्वारा श्रीकृष्ण की विलासमूर्त्ति जो श्रीनारायण हैं—उनकी प्राप्ति होती है। शुद्धा-भक्ति के द्वारा स्वयंरूप श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर इत्यादि विभिन्न भावों से एक श्रीकृष्ण की ही प्राप्ति होती है, किन्तु उस प्राप्ति के स्वरूपों में तारतम्य है। जिसे विस्तार पूर्वक हम पहले वर्णन कर चुके हैं। कोई उन्हें प्रभु-भाव में, कोई उन्हें सखा-भाव में, कोई उन्हें पुत्र-भाव में, तथा कोई उन्हें कान्त-भाव में प्राप्त करता है—सब उन्हें एक भाव में प्राप्त नहीं करते।

विभिन्न साधनों से कृष्णप्राप्ति की विभिन्नता रहते हुए भी जो जिस भाव का साधन करता है, वह उसी भाव को ही श्रेष्ठ मानता है। किन्तु निरपेक्ष होकर विचार करने पर विभिन्न भावों में जो तारतम्य है—वह समझा जा सकता है। इसी बात की पुष्टि निम्नलिखित श्लोक से करते हैं।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे स्थायिभावलहर्याम् (५-२१)—

यथोत्तरमसौ स्वादविशेषोल्लासमय्यपि ।
रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते कापि कस्यचित् ॥१९॥

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं कान्ता—यह पाञ्चों प्रकार की मुख्या-रति एक दूसरे से उत्तरोत्तर अधिक स्वादपूर्ण है, किन्तु वासना के भेद से कोई भी रति किसी भक्त के लिये विशेष रुचिकर होती है ॥१९॥

चै० च० चु० *टीका*—क्योंकि विभिन्न लोगों की विभिन्न रुचि होती है, अतः कान्ताप्रेम सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी सभी कान्ता-प्रेम की उपासना नहीं करते। अपनी रुचि के अनुसार दास्य, सख्यादि भावों की उपासना करते हैं—यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

पूर्व पूर्व रसेर गुण परे परे हय। दुइ-तिन गणने पञ्चपर्य्यन्त बाढ़य ॥६६॥
गुणाधिक्ये स्वादाधिक्य बाढ़े प्रति रसे। शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्येर गुण मधुरेते वैसे॥६७॥
आकाशादिर गुण येन पर पर भूते। दुइ-तिन क्रमे बाढ़े पञ्च पृथिवीते ॥६८॥
परिपूर्ण—कृष्णप्राप्ति एइ प्रेमा हैते। एइ प्रेमेर वश कृष्ण—कहे भागवते ॥६९॥

पूर्वले रस का गुण अगले अगले रस में वर्तमान रहता है, इस प्रकार दूसरे में दो गुण, तीसरे में तीन–इत्यादि पाञ्चवें रसमें पाञ्चोंगुण तक वृद्धि हो जाती है। गुण की अधिकता से प्रति रस का आस्वादन भी बढ़ता जाता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—इन सबके गुण मधुर-रस में रहते हैं। आकाशादि के गुण जैसे दूसरे दूसरे भूतों में बढ़ते जाते हैं और दो, तीन के क्रम से पृथ्वी में पाञ्चों गुण पाये जाते हैं। तद्‌रूप परिपूर्णरूप से श्रीकृष्ण-प्राप्ति कान्ता-प्रेम से ही होती है और श्रीकृष्ण इसी कान्ताप्रेम के ही वशीभूत होते हैं—यह बात श्रीभागवतजी में भी कही गई है ॥६६–६९॥

चै० च० चु० *टीका*—शान्त, दास्य आदि कृष्णरति अनुभाव-विभावादि के साथ मिलकर चमत्कारी परमास्वाद्यता को प्राप्त होकर रस रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार विभाव-अनुभावादि के साथ मिल कर शान्त-रति—शान्त-रस में, दास्य-रति—दास्य-रस में, सख्य-रति सख्य-रस में, वात्सल्य-रति वात्सल्य-रस में एवं मधुर-रति मधुर-रस में परिणत हो जाती है। (विभाव-अनुभाव के सम्बन्ध में आदिलीला पृष्ठ ७३–७४ द्रष्टव्य हैं)

पूर्वले रस का गुण अगले अगले रस में बढ़ता जाता है—इसका तात्पर्य यह है कि शान्त-रस का गुण अगले रस अर्थात् दास्य में आ जाता है, इन दोनों के गुण अगले रस अर्थात् सख्य में आ जाते हैं। इसी प्रकार इन तीनों के गुण वात्सल्य में और शान्त, दास्य, सख्य, एवं वात्सल्य—इन चारों रसों के गुण कान्ता-रस में आ जाते हैं। जिस रस में जितने गुण अधिक हैं, उस रस में उतना स्वाद या आस्वाद्यता भी अधिक है। कान्ता-रस में समस्त रसों के गुण हैं। अतः उसमें समस्त रसों का स्वाद भी वर्तमान है। इससे स्पष्ट है कि कान्ता-प्रेम गुणों की अधिकता तथा आस्वादन की अधिकता के कारण समस्त रसों से श्रेष्ठ है।

इस बातको दृष्टान्त देकर कविराज गोस्वामी और भी स्पष्ट करते हैं:—आकाश, वायु, तेज,जल एवं पृथ्वी—यह पाँच भूत हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध क्रमशः यह पाञ्चों गुण पाञ्च भूतों के हैं। आकाश का गुण शब्द है। वायु के गुण शब्द तथा स्पर्श हैं। तेज (अग्नि) के गुण शब्द, स्पर्श एवं रूप हैं। जल के गुण शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस हैं और पृथ्वी के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध—ये पाञ्चों गुण हैं। पृथ्वी में जिस प्रकार आकाशादि पहले चारों भूतों के गुण वर्त्तमान हैं ही, अधिकन्तु उसमें गन्ध का गुण विशेषरूप से है। इसी प्रकार कान्ता-रस में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—इन चारों रसों के गुण तो हैं ही, अधिकन्तु इस में श्रीकृष्ण-सुख के लिये निज अङ्गों द्वारा सेवा के सौभाग्य की विशेषता है।

कान्ता-प्रेम में श्रीकृष्ण की परिपूर्ण सेवा-प्राप्ति होती है, क्योंकि दास-सखा-मातापितादि—समस्त परिकरों की सेवा कान्ता-भाव की सेवा में आ जाती हैं। इस प्रकार सबसे अधिक सेवा प्राप्ति का सौभाग्य होने से भी कान्ता-प्रेम की सर्वाधिक विशेषता है। कान्ता-प्रेम से ही श्रीकृष्ण की परिपूर्ण सेवा-प्राप्त होती है और श्रीकृष्ण इस कान्ता-प्रेम के सम्यक् प्रकार से वशीभूत हैं—इसे निम्नलिखित श्लोक से प्रमाणित करते हैं।

तथाहि (भा: १०-८२-४५)

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥२०॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने व्रजगोपियों से कहा है—"मेरी भक्ति ही (नवविधा भक्ति में से कोई एक भक्ति) प्राणियों के संसार बन्धन को तोड़ने में अथवा पार्षद-देह प्राप्त कराने में समर्थ है । बड़े सौभाग्य से आप में तो मुझे वशीभूत करने वाला मेरा प्रेम उत्पन्न हुआ है" ॥२०॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकृष्ण व्रजगोपियों के एकान्त वशीभूत हैं और वे जब किसी स्थान पर ही क्यों न हो, व्रज-गोपियों का प्रेम उन्हें अपने निकट आकर्षण कर लेता है । इस श्लोक का यही अभिप्राय है । दास्यादि अन्य किसी भी प्रेम में इस प्रकार की शक्ति नहीं है । और भी कान्ता-प्रेम की विशेषता वर्णन करते हैं ।

कृष्णेर प्रतिज्ञा दृढ़ सर्वकाल आछे ।
ये यैछे भजे कृष्ण तारे भजे तैछे ॥७०॥

श्रीकृष्ण की सदा सदा के लिये दृढ़ प्रतिज्ञा है कि जो भक्त उनका जैसे भजन करता है, श्रीकृष्ण भी उस पर उसी प्रकार का अनुग्रह करते हैं ॥७०॥ जैसा कि श्रीभगवान् ने श्रीगीताजी में कहा है ॥

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (४-११)—

ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२१॥

"हे अर्जुन ! जो जिस भाव से मेरा भजन करते हैं, मैं भी उन पर उसी भाव से अनुग्रह करता हूँ । मनुष्य सब प्रकार से मेरे पथ का ही अनुसरण करते हैं" ॥२१॥

एइ प्रेमार अनुरूप ना पारे भजिते ।
अतएव ऋणी हय—कहे भागवते ॥७१॥

(किन्तु श्रीकृष्ण अपनी उक्त दृढ़ प्रतिज्ञा के अनुसार) इस कान्ता-प्रेम के अनुरूप अर्थात् जिस प्रकार व्रजगोपियों ने श्रीकृष्ण का भजन किया, उसी के अनुरूप श्रीकृष्ण व्रजगोपियों का भजन न कर सके । अतएव श्रीकृष्ण ने उनका ऋणी होना स्वीकार किया—ऐसा श्रीभागवतजी में कहा गया है ॥७१॥

चै० च० चु० *टीका*—अनुरूप भजन का अभिप्राय यह है कि यदि कोई भक्त अपने सुख की वासना-पूर्त्ति के लिये श्रीकृष्ण का भजन करता है, तो श्रीकृष्ण उसकी उस वासना को पूर्ण करते हैं —यह श्रीकृष्ण का भक्त के भजन के अनुरूप भजन कहलाता है । अथवा जो जिस भाव से श्रीकृष्ण को तृप्ति करने की चेष्टा करता है । श्रीकृष्ण भी यदि ठीक उसी भाव में उसकी तृप्ति के लिये चेष्टा करें, तो वह उनका अनुरूप भजन कहा जायगा । श्रीकृष्ण किन्तु इन दोनों उपायों में से किसी भी उपाय द्वारा व्रजगोपियों के भजन के अनुरूप भजन नहीं कर सके । उसका कारण यह है कि—

प्रथमतः—व्रजगोपियों में अपने सुख की लेशमात्र भी वासना नहीं है । इसलिये उनकी वासना पूर्ण करने के लिये उन्हें श्रीकृष्ण कुछ भी दे नहीं सकते । उनकी वासना एकमात्र श्रीकृष्ण को सुख देना

है। इस वासना को यदि श्रीकृष्ण पूर्ण करते हैं तो उन्हें अपने लिये ही सुख प्राप्त होता है—गोपियों के लिये कुछ देना नहीं बनता।

द्वितीयतः—ब्रजगोपियों में प्रत्येक गोपी ने अपना समस्त त्याग करके अनन्य-भाव से एकमात्र श्रीकृष्ण-सेवा में आत्म-नियोग कर दिया। किन्तु श्रीकृष्ण एक गोपी के लिये अपने समस्त का त्याग न कर सके और एक गोपी के पीछे अन्यान्य गोपियों को भी न छोड़ सके। अतः वे अनन्य-भाव से किसी एक गोपी की सेवा में आत्म-नियोग न कर सके। इसलिये वे ब्रजगोपियों के भजन के अनुरूप उनका भजन न कर सके। इस बात का समर्थन श्रीभागवतजी के निम्नलिखित श्लोक से करते हैं—

तथाहि (भा: १०—३२—२२)—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन दुर्ज्जर-गेह-शृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने ब्रजसुन्दरियों से कहा है—"हे ब्रजसुन्दरि-गण! कठिनता से तोड़ी जानी वाली घर-गृहस्थ की बेड़ियों को सम्यक् प्रकार से तोड़ कर तुमने मेरा भजन किया है। मेरे साथ तुम्हारा यह मिलन अनिन्दनीय है। क्योंकि उसमें किसी प्रकार काम अर्थात् स्वसुख-वासना नहीं है। तुमने मेरे प्रति जो सुशील भाव एवं साधुत्व दिखाया है, देवताओं के समान दीर्घ आयु प्राप्त करके भी अर्थात् अनन्तकाल तक मैं उसका प्रत्युपकार करने में-उसका बदला चुकाने में असमर्थ हूँ। अतएव तुम्हारा साधुत्व ही तुम्हारे साधुत्व का प्रत्युपकार हो। अर्थात् मेरे द्वारा तदनुरूप तुम्हारा भजन करना असम्भव है, तुम यदि अपने शील स्वभाव से तथा साधुत्व से मुझे क्षमा करो तो कर सकती हो—मैं आपका सदा ऋणी हूँ ॥ २२ ॥

[इस श्लोक द्वारा कान्ता-प्रेम का सर्वश्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया गया है। कारण कि दास्य, सख्यादि प्रेम में श्रीकृष्णचन्द्र ने किसी का इस प्रकार ऋण स्वीकार नहीं किया है।]

यद्यपि कृष्णसौन्दर्य्य—माधुर्य्येर धूर्य्य।
ब्रजदेवीर सङ्गे तांर बाढ़ये माधुर्य्य ॥७२॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का सौन्दर्य माधुर्य की पराकाष्ठा है, अर्थात् उनकी सुन्दरता अनिर्वचनीय-अपूर्व तथा सर्वविध पूर्ण है, उसमें वृद्धि का अवकाश नहीं है। तो भी ब्रजदेवियों के मिलन या उनके देखने से वह बढ़ने लगता है। अर्थात् कान्ता-प्रेम में कोई ऐसी एक अचिन्त्य-अद्भुत शक्ति है कि उनके देखने से श्रीकृष्णचन्द्र का वह पूर्णतम सौन्दर्य एवं माधुर्य उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होने लगता है।॥७२

[इस से कान्ता-प्रेम का सर्वश्रेष्ठत्व प्रमाणित होता है। (आदि लीला-४-१६१ पयार द्रष्टव्य है) इस बात का प्रमाण श्रीभागवतजी के निम्नलिखित श्लोक में दिया गया है।]

तथाहि (भाः १०—३३—७)—

तत्राति—शुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥२३॥

श्रीशुकदेवजी ने कहा है—"स्वर्ण की भाँति कान्तियुक्त मणियों के बीच में महामरकत नीलमणि जैसे शोभित होती है, उसी प्रकार उस रास मण्डल में उन (स्वर्ण-वर्ण) ब्रजसुन्दरियों के बीच में (नील मरकत मणि की कान्तियुक्त) श्रीकृष्णचन्द्र अत्यन्त शोभित होने लगे ॥२३॥

इस श्लोक में भी यही प्रमाणित होता है, कि ब्रजसुन्दरियों के सङ्ग प्रभाव से श्रीकृष्णचन्द्र का सौन्दर्य—माधुर्य अतिशयरूप से वर्द्धित होते हैं।

हम देखते हैं कि ६४ से ७२ पयारों में यह प्रमाणित किया गया है कि श्रीकृष्णचन्द्र कीं परिपूर्ण सेवा-प्राप्ति के दृष्टिकोण से, गुणों की अधिकता और स्वाद की अधिकता के दृष्टिकोण से तथा श्रीकृष्ण को वशी-भूत करने की शक्ति एवं उनके असमोर्द्ध-सौन्दर्य-माधुर्य की वृद्धि होने के दृष्टिकोण से कान्ता-प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार राय रामानन्दजी से कान्ता-प्रेम के सर्वसाध्यसार होने की बात सुनकर श्रीमहाप्रभु जी बोले।

प्रभु कहे—एइ साध्यावधि सुनिश्चय। कृपा करि कह यदि आगे किछु हय ॥७३॥
राय कहे—इहार आगे पूछे हेनजने। एत दिन नाहि जानि आछये भुवने ॥७४॥
इहार मध्ये राधार प्रेम साध्य-शिरोमणि। याहार महिमा सर्वशास्त्रेते बाखानि ॥७५॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"निश्चतरूप से यही कान्ता-प्रेम ही साध्य की अवधि है। राय! यदि इससे भी कुछ आगे हो तो उसे भी आप कृपाकर कहिये"। राय रामानन्दजीने कहा—"इस कान्ता-प्रेम से भी आगे पूछेगा"—ऐसा कोई व्यक्ति त्रिभुवन में है, आज तक मैं नहीं जानता था। कान्ता-प्रेमके बीच तो फिर राधा-प्रेम है जो साध्य-शिरोमणि है, जिसकी महिमा समस्त शास्त्रों में वर्णन की गई है ॥७३-७५॥

चै० च० चु० *टीका*—पिछले पयारों में केवल साधारण-भाव से ही कान्ताप्रेम की बात कही गई है। कान्ताप्रेम कहने से श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति कृष्णकान्ता-ब्रजगोपियों का प्रेम समझा जाता है। रस की वैचित्री सम्पादन करने के लिये ब्रज-गोपियों के भी फिर भावों में कुछ वैचित्री है। किन्तु उनमें प्रत्येक का प्रेम दास्य-सख्यादि से श्रेष्ठ है। भाव की वैचित्री के अनुसार उनके तारतम्य को जानने के लिये श्रीमहाप्रभु जी ने रायरामानन्दजी से कान्ताप्रेम के भी आगे कुछ बतलाने को कहा। राय रामानन्दजी अवश्य विस्मित हो उठे, परन्तु फिर वे बोले—कान्ताप्रेम में भी श्रीराधाजी का जो प्रेम है, वह सब साध्यों का मुकुटमणि है। अपनी इस उक्ति के समर्थन में राय रामानन्दजी ने निम्नलिखित श्लोक पढ़ा।

तथाहि लघुभागवतामृते उत्तरखण्डे (४५) पद्मपुराणवचनम्।

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्त वल्लभा ॥ २४ ॥

पद्मपुराण में कहा गया है कि "श्रीकृष्णचन्द्र को श्रीराधाजी जैसे प्रिय हैं, राधाकुण्ड भी उन्हें वैसे ही प्रिय है। समस्त गोपसुन्दरियों में केवल श्रीराधाजी ही श्रीकृष्णचन्द्र की अत्यन्त प्रियतमा प्रेयसी हैं" ॥२४॥

एक और श्लोक भी श्रीरामानन्द राय ने श्रीराधा-प्रेम की सर्व-श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कहा—

तथाहि (भाः १०—३०—२८)—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥२५॥

श्रीमद्भागवतजी में ब्रजसुन्दरियों ने कहा है—"इसी रमणी (श्रीराधाजी) के द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र ईश्वर भगवान् निश्चित् रूप से आराधित हुए हैं, क्योंकि श्रीगोविन्द हम सब को त्याग कर इसको प्रीति पूर्वक अपने साथ गुप्त स्थान पर ले गये हैं" ॥२५॥

चै० च० चु० *टीका*—यह श्लोक शारदीय महारास-प्रसङ्ग म कहा गया है। श्रीकृष्णभगवान् जब ब्रजगोपियों के साथ रासलीला में स्वच्छन्दभाव से विहार करने लगे, तो उनके द्वारा सन्मान एवं प्रणय को प्राप्त करके उन ब्रजसुन्दरियों में से किसी किसी गोपी को अपने सौभाग्य पर गर्व उत्पन्न हो आया एवं किसी किसी गोपी को अभिमान भी पैदा होने लगा। तब भगवान् उनके गर्व को चूर्ण करने के लिये उन समस्त ब्रजसुन्दरियों के बीच में से अन्तर्धान हो गये। श्रीकृष्ण भगवान् को रासस्थली में न देख कर उन्हें ढूँढ़ने के लिये समस्त ब्रजगोपियां रासस्थली को छोड़कर इधर उधर भ्रमण करने लगीं। एक स्थान पर आकर उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र के चरण-चिन्हों को एवं उनके साथ एक रमणी (श्रीराधाजी) के चरण-चिन्हों को भी देखा। उन चिन्हों को देखकर ब्रजगोपियों ने पहिचान लिया कि ये चिन्ह श्रीराधाजी के चरणों के हैं। तब उन्होंने श्रीराधाजी के सौभाग्य की प्रशंसा करते हुए यह श्लोक कहा जिससे श्रीराधा-प्रेम का उत्कर्ष प्रमाणित होता है।

इस प्रकार राय रामानन्दजी के मुख से श्रीराधाजो की सर्वातिशायी महिमा सुनकर श्रीमहाप्रभु जी बोले—

प्रभु कहे—आगे कह, शुनि पाइये सुखे। अपूर्व अमृतनदी बहे तोमार मुखे ॥७६॥
चूरि करि राधाके निल गोपीगणेर डरे। अन्यापेक्षा हैले प्रेमेर गाढ़ता ना स्फुरे ॥७७॥
राधा-लागि गोपीरे यदि साक्षात करे त्याग। तबे जानि राधाय कृष्णेर गाढ़ अनुराग॥७८॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"राय! कुछ आगे कहो, मुझे सुनकर अत्यन्त सुख हो रहा है, तुम्हारे मुख से तो अपूर्व अमृत की नदी बह रही है। (तुमने जो "अनयाराधितो"-श्लोक से जिस प्रसङ्ग का संकेत किया है—उससे यह ज्ञात होता है कि) श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाजी को गोपियों के डर से छिपाकर अपने साथ ले गये। और जहाँ पर अन्यापेक्षा है या डर-सङ्कोच है, वहाँ प्रेम की गाढ़ता की स्फूर्त्ति नहीं मानी जा सकती। हाँ, राय! यदि श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाजी के लिये अन्यान्य समस्त गोपियों को त्याग कर देते, अर्थात् समस्त गोपियों के देखते देखते श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाजी को अपने साथ ले जाते और उन अन्यान्य समस्त गोपियों का त्याग कर देते तो श्रीकृष्णचन्द्र का श्रीराधाजी के प्रति गाढ़ अनुराग समझा जा सकता था" ॥७६–७८॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमद्भागवतजी में श्रीशुकदेवजी ने कहा है (१०-२९-४८) कि गोप-सुन्दरियों के गर्व नाश करने के लिये एवं मान-प्रसाशन करने के लिये श्रीकृष्ण रासस्थली से अन्तर्धान हो गये। किन्तु अन्तर्धान होते समय वे किसी गोपी को भी अपने साथ ले गये—उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं कही। किन्तु गोपियों ने जब श्रीकृष्णचन्द्र को ढूँढ़ते हुए एक स्थान पर उनके पदचिन्ह देखे और साथ में एक और रमणी के पदचिम्ह देखे तो उन्होंने जान लिया कि श्रीकृष्णचन्द्र के साथ एक और रमणी भी है और वह श्रीराधाजी ही हैं।

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि श्रीराधाजी के पदचिन्हों को श्रीराधा-यूथ में रहने वाली गोपियों ने ही पहचाना। वास्तव में श्रीकृष्णचन्द्र जब श्रीराधाजी को अपने साथ लेकर अन्तर्धान हुए,

श्रीराधा-यूथ की गोपियाँ भी यह न जान सकीं कि उनकी स्वामिनी भी अन्तर्धान हो गई हैं। श्रीकृष्ण को रास-स्थली में न देख कर उन्होंने देखा कि उनकी स्वामिनी श्रीराधाजी भी रास-स्थली में मौजूद नहीं हैं। तब अन्यान्य गोपियाँ जैसे श्रीकृष्ण को ढूण्ढ़ने लगीं। श्रीराधा-यूथ की गोपियाँ वैसे अपनी स्वामिनी स्वामिनी श्रीराधाजी को ही ढूण्ढ़ने लगीं। उन्हें यह संशय था कि उनकी स्वामिनी श्रीराधाजी श्रीकृष्ण के ही साथ-साथ गई हैं, अथवा कहीं पृथक् रूप से रासस्थली में हम से बिच्छुर गई हैं। उन्होंने जब श्रीकृष्ण के साथ एक रमणी के पद-चिन्ह देखे तो वे पहचान गईं कि वे दूसरे पद-चिन्ह उनकी स्वामिनी जी के हैं। क्योंकि वे नित्य श्रीराधाजी की चरण-सेवा का सौभाग्य प्राप्त करती थीं और उनके पद-चिन्हों को अच्छी प्रकार जानती थीं, अन्यान्य व्रजगोपीवृन्द श्रीकृष्णचन्द्र की पद सेवा करने से श्रीकृष्ण पद-चिन्हों को तो पहचानती थीं—किन्तु उन्हें कभी श्रीराधाजी के चरणों की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ ही नहीं था, जिससे वे उनके पद-चिन्हों को पहचान भी न सकती थीं। अतः श्रीराधा-यूथ की गोपियों ने श्रीराधाजी के पद-चिन्हों को पहचान कर निश्चय किया कि उनकी स्वामिनीजी भी श्रीकृष्ण के साथ साथ विहार कर रही हैं। अतः इसमें तो कोई सन्देह बाकी नहीं रह जाता कि श्रीराधाजी श्रीकृष्ण-प्रिय गोपियों में सर्वापेक्षा प्रियतमा हैं। परन्तु इस बात को कोई जान न सका। अतः श्रीमहाप्रभुजी ने भी कहा कि श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाजी को चोरी करके अपने साथ ले गये, अर्थात् उन्होंने अन्यान्य गोपियों से डर कर ऐसा किया। और जहाँ डर या सङ्कोच है, वहाँ प्रेम की गाढ़ता की स्फूर्त्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार की शंका उठाकर श्रीमहाप्रभुजी ने राधाप्रेम की महिमा की सर्वातिशयता को और अधिक स्पष्ट करने का संकेत किया और कहा—'कि राय ! ज्ञात होता है कि राधाप्रेम में अन्यापेक्षा है। यदि ऐसी बात नहीं थी तो श्रीकृष्णचन्द्र अन्यान्य गोपियों से छिपा कर श्रीराधाजी को क्यों साथ ले गये ? यदि उन्हें और किसी का डर न था तो वे सब के सामने ही श्रीराधाजी को अपने साथ साक्षात् भाव में ले जाते ?

आपात-दृष्टि से ऐसा ज्ञात होता है कि श्रीमहाप्रभुजी की यह शंका अद्भुत है मानो प्रकरण प्रसङ्ग तो है—राधाप्रेम के सम्बन्ध में। राधाप्रेम अन्यापेक्षा-हीन है कि नहीं—यह प्रतिपाद्य विषय है। किन्तु श्रीमहाप्रभु ने राधाप्रेम की (श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधाजी का जो प्रेम है उसकी) बात न कहकर शंका उठाई है—श्रीराधाजी के प्रति जो श्रीकृष्ण का प्रेम है—उसके सम्बन्ध में। अतः ऐसा लगता है कि प्रभु की शंका प्रकरण-सङ्गत नहीं है। किन्तु वास्तविक ऐसा नही है। इस शंका के उठाये बिना राधाप्रेम की (श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधाजो का जो प्रेम है उसकी) महिमा सम्यक् रूप से व्यक्त हो भी नहीं सकती कारण कि जो वस्तु प्रत्यक्ष भाव से देखो नहीं जा सकती, उसका ज्ञान उसके प्रभाव को देखने से हुआ करता है। जैसे ज्वर को देखा नहीं जा सकता, किन्तु उसके अस्तित्व का पता शरीर पर उसके प्रभाव को देखने से लग जाता है। ज्वर शरीर पर जो ताप उत्पन्न करता है, उसका ताप नाप लेने से ज्वर का परिमाण निश्चित हो जाता है। इसी प्रकार राधाप्रेम भी देखने की वस्तु नहीं है। इस प्रेम की महिमा को जानने के लिये प्रेम के विषय श्रीकृष्ण पर इसका जो प्रभाव होता है—उसे जानने से राधाप्रेम की महिमा का पता लगता है। आँधी के वेग का अन्दाजा लगता है—वृक्षों की झर-झर डोलायमान अवस्था के परिमाण से, उसी प्रकार राधाप्रेम की महिमा उसके प्रभाव से श्रीकृष्णचन्द्र के चित्त की डोलायमान अवस्था के परिमाण से जानी जा सकती है। श्रीकृष्ण-विषयक राधाप्रेम रूप तूफान यदि श्रीकृष्ण के राधा-विषयक प्रेम-सागर को ऐसे भाव में उद्वेलित कर दे, यदि उसमें इतनी उत्तुङ्ग-तरङ्गों को उत्पन्न कर दे, कि श्रीकृष्ण के श्रीराधा के प्रति प्रेम-विकाश के पथ में समस्त बाधा-विघ्न और सर्वविध अन्या-पेक्षाएँ चूर्ण-विचूर्ण होकर उसके तीव्र वेग में बह जाएँ, तभी जाना जा सकता है कि राधाप्रेम की महिमा सर्वातिशायी है।

सारांश यह है कि श्रीमहाप्रभु ने राधाप्रेम की सर्वातिशायी महिमा को प्रगट करने के लिये इस शंका को उठाया कि यदि श्रीराधाजी का प्रेम श्रीकृष्ण के प्रति सर्वातिशायी था, तो उस प्रेम के प्रभाव से श्रीकृष्ण का आचरण भी तद्रूप सर्वातिशायी प्रेम के अनुरूप होना चाहिये था अर्थात् वे अन्यान्य गोपियों की अपेक्षा या उनका डर-सङ्कोच छोड़कर श्रीराधाजी को उनके सामने ही अपने साथ ले जाते—सो भगवान् ने ऐसा नहीं किया। जब श्रीकृष्ण अन्यापेक्षा को छोड़ नहीं सके तो शङ्का उठती है कि राधा-प्रेम भी इतना प्रबल नहीं था कि जिसके प्रभाव से श्रीकृष्ण ऐसा कर सकते। इस शङ्का का समाधान अगले पयारों में सुचारू रूप से राय रामानन्दजी करते हैं।

राय कहे—ताहा शुन प्रेमेर महिमा। त्रिजगते नाहि राधाप्रेमेर उपमा ॥७६॥
गोपीगणेर रासनृत्य–मण्डली छाड़िया। राधा चाहि बने फिरे विलाप करिया ॥८०॥

राय रामानन्दजी ने कहा—"आपने ठीक कहा है किन्तु राधाप्रेम की महिमा सुनिये। त्रिभुवन में श्रीराधाप्रेम की उपमा नहीं है। अनन्त गोपियों को नृत्य पूर्वक रास-मण्डली में छोड़कर भी श्रीराधाजी को विलाप करते करते ढूण्ढ़ते फिरे है—इस बात का भी उल्लेख है ॥८०॥

चै० च० चु० *टीका*—राय रामानन्दजी ने अति निपुणता से श्रीमहाप्रभुजी की शङ्का का समाधान किया और उन्होंने कहा—"शारदीय-महारास में अन्य गोपियों से छिपा कर जो श्रीकृष्ण श्रीराधाजी को लेकर अन्तर्धान हुए, यह सत्य है, और श्रीकृष्ण ने अन्य गोपियों की अपेक्षा रखी, यह भी प्रमाणित होता है। किन्तु ऐसी अपेक्षा श्रीकृष्ण हर समय नहीं रखते। कभी कभी वे अन्याय गोपियों की जो अपेक्षा रखते हैं, वह या तो किसी विशेष रस-वैचित्री के आस्वादन करने के लिये रखते हैं,या किसी विशेष कारण वश। शारदीय रास में से श्रीकृष्ण के एकदम अन्तर्धान हो जाने का एक विशेष उद्देश्य है—वह यह कि जिन गोपियों के चित्तमें मान एवं सौभाग्य का गर्व उदय हुआ,उनके मान एवं गर्व को उन्होंने दूर करना था तथा वियोग देकर उनमें तीव्र ताप एवं उत्कण्ठा को बढ़ाकर उन सबके चित्त को रास रस के रसोद्गार के लिये सम्यक् रूप से तैयार भी करना था। यदि उन सब के सामने श्रीकृष्ण श्रीराधाजी को अपने साथ ले जाते तो गोपियों का मान तो नष्ट होता नहीं बल्कि उनमें असूया (ईर्षा) और बढ़ जाती, जिससे रासोत्सव ही न हो सकता। इसलिये इस विशेष कारणवश भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधाजी को गुप्तरूप से अपने साथ ले गये।"

राय ने कहा—"श्रीकृष्ण श्रीराधाजी के प्रेम में अन्यान्य गोपियों की कुछ भी अपेक्षा या डर-सङ्कोच नहीं रखते हैं। इसका ज्वलन्त प्रमाण भी गीतगोविन्द में श्रीजयदेव-कवि द्वारा वर्णित वसन्त कालीन रासोत्सव में मिलता है। वहाँ प्रसङ्ग इस प्रकार है कि शतकोटि गोपसुन्दरियों के साथ वसन्त-रासलीला जब आरम्भ हुई, तो हठात् किसी कारण से (जिसका अगले पयारों में वर्णन किया गया है) श्रीकृष्ण के प्रति अभिमानिनी होकर श्रीराधाजी रासस्थली को छोड़कर चली गईं। अन्यान्य शत-कोटि गोप-सुन्दरियाँ रासस्थली में उपस्थित्त थी, तथापि मानो जैसे मध्यान्ह का सूर्य अस्त हो गया हो, उसी प्रकार रासलीला-रस का स्रोत बन्द हो गया। आनन्द-तरङ्ग-प्रवाह स्थगित हो गया। ऐसा क्यों हुआ ? श्रीकृष्ण ने देखा कि रासस्थली में रासेश्वरी श्रीराधाजी ही नहीं है। तत्क्षणात् श्रीकृष्ण रासेश्वरी श्रीराधाजी को खोजने के लिये चल दिये एवं रासस्थली को त्याग कर दिया। शतकोटि ब्रजसुन्दरियां रासस्थली में ठगी सी रह गईं, श्रीकृष्ण ने उन्हें पीछे फिर कर भी न देखा। और उनसे कुछ कह तक भी न गये कि 'तुम सब मेरी प्रतीक्षा करो—मैं श्रीराधा को ढूण्ढ़ कर लाता हूँ, इससे स्पष्ट है कि श्रीराधाजी के लिये

श्रीकृष्ण साक्षात्‌भाव से भी अन्यान्य गोपियों का त्याग करके चले जाते हैं और श्रीराधाजी के सामने किसी गोपी की वे अपेक्षा नहीं रखते। श्रीराधाजी के प्रति उनके गाढ़ अनुराग का या अपेक्षा-रहित प्रेम का यही प्रमाण है। इस बात के प्रमाण स्वरूप श्रीजयदेव-रचित श्रीगीतगोविन्द के निम्नलिखित दो श्लोक राय रामानन्दजी ने पढ़े।

तथाहि श्रीगीतगोविन्दे (३-१, २)

कंसारिरपि संसारवासनाबद्धश्रृङ्खलाम्।
राधामाधाय हृदये तत्याज ब्रजसुन्दरीः ॥२६॥

कंसरिपु श्रीकृष्णचन्द्र ने (रासलीला की अभिलाषारूप) अपनी सम्यक् सारभूत वासना को दृढ़रूप से बाँधने वाली श्रृङ्खलारूपा श्रीराधाजी को हृदय में धारण करके अन्यान्य समस्त ब्रजसुन्दरियों का त्याग कर दिया। (विशेष टीका आदिलीला पृष्ठ १०८ पर द्रष्टव्य है) ॥२६॥

इतस्ततस्तामनुसृत्य राधिकामनङ्गबाण-व्रणखिन्नमानसः।
कृतानुतापः स कलिन्दनन्दिनी-तटान्तकुञ्जे विषसाद माधवः ॥२७॥

(श्रीराधाजी के रासस्थली त्याग कर जाने पर) कन्दर्प के बाणों से पीड़ित-चित्त होकर श्रीकृष्ण श्रीराधाजी को इधर-उधर ढूण्ढ़ते-ढूण्ढ़ते परेशान होकर यमुना के किनारे की एक कुञ्ज में बैठकर विषाद प्रकाश करने लगे ॥२७॥

चै० च० चु० *टीका*—इन दोनों श्लोकों से यह प्रमाणित होता है कि रास-स्थली से श्रीराधाजी के अन्तर्धान हो जाने पर श्रीकृष्ण अन्यान्य शतकोटि गोपियों की कुछ भी अपेक्षा न रखते हुए उन्हें तत्क्षणात् त्याग कर चले गये एवं श्रीराधाजी की खोज करते करते परेशान हो कर व्याकुल हो उठे। कविराज गोस्वामी इस लीला को अगले पयारों में वर्णन करते हैं।

एइ-दुइ श्लोकेर अर्थ विचारिले जानि। विचारिते उठे येन अमृतेर खनि ॥८१॥
शतकोटि गोपीसङ्गे रासविलास। तार मध्ये एक मूर्त्ति रहे राधापाश ॥८२॥
साधारण प्रेम देखि सर्वत्र समता। राधार कुटिल प्रेम हइल वामता ॥८३॥

इन दोनों श्लोकों का अर्थ विचार करने से पता लगता है कि राधाप्रेम तो अमृत की खान है। शतकोटि गोपियों के साथ रासविलास करते हुए श्रीकृष्ण (जैसे एक एक गोपी के मध्य एक मूर्त्ति से बिलास कर रहे थे) उनमें एक मूर्त्ति से श्रीराधा के निकट भी वर्तमान थे। इस प्रकार जब श्रीराधाजी ने अपने प्रति भी श्रीकृष्ण का साधारण प्रेम तथा सब गोपियों के समान अपने साथ भी व्यवहार देखा तो प्रेम का कुटिल स्वभाव होने से श्रीराधाजी में वाम्य-भाव उत्पन्न हो आया ॥८१-८३॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकृष्णचन्द्र शतकोटि गोपियों के साथ रासविलास कर रहे थे। यहाँ एक बात समझ लेने योग्य है कि ब्रज में ऐश्वर्य तथा माधुर्य परिपूर्णरूप से रहते हुए भी ऐश्वर्य माधुर्य के अनुगत होकर प्रच्छन्न भाव से अवस्थान करता है। श्रीकृष्ण अपनी ऐश्वर्यशक्ति को वर्ज्जन करके पूर्ण-माधुर्य शक्ति को लेकर ही ब्रज में प्रगटित हुए। किन्तु जैसे पति के द्वारा सेवा करने को रोक देने पर भी पतिव्रता स्त्री अपने पति से छिपकर या अवकाश पाकर अपने पति की सेवा-करती ही रहती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यशक्ति वर्ज्जित होने पर भी ब्रज में अवकाश पाकर श्रीकृष्ण की सेवा सम्पादन

करती ही रहती है, उन्हें त्याग नहीं करती है, रासोत्सवमें यही हुआ है। रासक्रीड़ाके लिये शतकोटि ब्रज-गोपियाँ एकत्रित हुईं। उनमें हर एक गोपी के साथ रसिकशेखर श्रीकृष्णचन्द्र ने नृत्य-गानादि करने की इच्छा की। बस इसी इच्छारूप इशारे या अवकाश को पाकर उनकी ऐश्वर्यशक्ति ने शतकोटि गोपियों के बीच शतकोटि श्रीकृष्णमूर्त्तियों को प्रकाशित कर दिया। श्रीराधाजी के निकट भी एक श्रीकृष्णमूर्त्ति उपस्थित थी। किन्तु एक एक गोपी के मध्य एक एक श्रीकृष्णमूर्त्ति प्रकाशित है—इस बात को अपनी ऐश्वर्य-शक्ति के प्रभाव से श्रीकृष्ण भी न जान सके और न ही इस बात को कोई गोपी जान सकी। प्रत्येक गोपी यही जानती रही कि श्रीकृष्ण केवल मेरे ही पास हैं। और फिर पूर्णानन्द-घनमूर्त्ति रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर को अपने पास पाकर दूसरी गोपी की ओर देखने का अवकाश ही किस गोपी को मिल सकता था? हुआ क्या? कि दैवात् श्रीराधाजी की दृष्टि एक गोपी पर गई। उन्होंने देखा कि प्रीतम श्रीकृष्ण तो उस गोपी के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। उस समय ऐश्वर्यशक्ति के प्रभाव से श्रीराधाजी को भी यह सुधि न रही कि प्राणप्रीतम तो उनके पास भी खड़े हैं। फिर एक दूसरी गोपी की ओर उनकी दृष्टि गई, तो वहाँ भी उन्होंने श्रीश्यामसुन्दर को उस गोपी के साथ क्रीड़ा करते देखा। श्रीराधाजी ने अनुमान किया कि श्रीकृष्ण तो एक गोपी को छोड़कर दूसरी गोपी के साथ और दूसरी को छोड़कर तीसरी गोपी के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। इस प्रकार श्रीराधाजी ने दुख–पूर्वक सोचा "श्रीकृष्ण तो एक लम्पट अथवा मायावी हैं, इतनी गोपियोंके साथ बिहार कर रहे हैं"। देखते देखते उन्होंने यह जाना कि अब तो श्रीकृष्ण उनके पास भी आ पहुँचे हैं—इसे देखकर उन्हें और भी असूया का भाव जाग उठा, और सोचने लगीं कि श्रीकृष्ण जैसे अन्यान्य शतकोटि गोपियों के साथ विहार कर रहे थे—मेरे साथ भी उसी समान भाव से विहार करना चाहते हैं। जैसे वे और सब गोपियों को जानते हैं, क्या वे वैसे ही मुझे जानते हैं? मेरे साथ उनका कुछ विशेष प्रेम नहीं है। बस इसी बात के मन में आते ही प्रेममयी श्रीराधाजी के कुटिल प्रेम ने वाम्य-भाव को धारण कर लिया और वह रासस्थली को त्याग कर चली गईं। प्रेम के कुटिल स्वभाव का प्रमाण निम्नलिखित श्लोक में उल्लेख करते हैं। रस-पुष्टि के लिये ही प्रेम की यह कुटिलता हुआ करती है।

तथाहि उज्ज्वलनीलमणौ, शृङ्गारभेदकथने—४२

अहेरिव गतिः प्रेम्नः स्वभाव–कुटिला भवेत्।
अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति ॥२८॥

उज्ज्वलनीलमणि में कहा गया है कि सर्प की गति की भाँति प्रेम की गति भी स्वभावतः कुटिल है; अतः कोई कारण हो या न हो, युवक-युवती में मान उत्पन्न होता ही रहता है ॥२८॥ उसी वामता के कारण श्रीराधाजी ने फिर क्या किया—उसे अगले पयारों में कहते हैं:—

क्रोध करि रास छाड़ि गेला मान करि। तांरे ना देखिया व्याकुल हइला श्रीहरि ॥८४॥
सम्यक् सारवासना कृष्णेर रासलीला। रासलीलावासनाते राधिका शृङ्खला ॥८५॥
ताँहा बिनु रासलीला नाहि भाय चित्ते। मण्डली छाड़िया गेला राधा अन्वेषिते ॥८६॥
इतस्ततः भ्रमि काहां राधा ना पाइया। विषाद करेन काम-वाणे खिन्न हैया ॥८७॥

श्रीराधाजी क्रोध-पूर्वक रास को छोड़कर मान करके वहाँ से चली गईं। उन्हें वहाँ न देखकर श्रीश्यामसुन्दर व्याकुल हो उठे। भगवान् श्रीकृष्ण की सम्यक्रूप से सारभूत अर्थात् प्रधान-वासना रास-लीला ही है। उस रासलीला की वासना को आबद्ध करने के लिये श्रीराधाजी शृङ्खलारूप हैं। श्रीराधाजी

के बिना उनके चित्त को रासलीला नहीं सुहाती है। इसलिये वे रासमण्डली को छोड़कर श्रीराधाजी को खोजने चले गये। इधर-उधर भ्रमण करने पर भी उन्हें श्रीराधाजी का कहीं पता न मिला तो वे कामबाण से पीड़ित-चित्त होकर विषाद करने लगे ॥८४-८७॥

चै० च० चु० *टीका*—'श्रीराधाजी क्रोधकर वहाँ से चली गईं'—इसमें एक बात ध्यान देने योग्य है। अपनी कामना की पूर्त्ति न होने पर क्रोध का उत्पत्ति हुआ करती है। किन्तु श्रीराधाजी में अपने सुख की वासना की गन्धमात्र भी नहीं है। श्रीकृष्ण शतकोटि गोपियों के साथ रास-विलास करके यदि सुख प्राप्त करें तो उसमें श्रीराधाजो को क्रोध कैसा ?—अतः यह क्रोध उनकी स्वेच्छा से नहीं है। कुटिल प्रेम के स्वभाव-वश ही वामता के कारण उन में क्रोध उत्पन्न होता है, समुद्र की तरङ्गें जैसे समुद्र का ही अङ्ग है; उसी प्रकार कुटिलता, वामता आदि भी प्रेम का ही अङ्ग विशेष है। प्रेम के अतिरिक्त ये और कोई बाहर की वस्तुएँ नहीं हैं। इनके द्वारा प्रेम में मलीनता नहीं आतीं बल्कि इनसे प्रेम का आस्वादन और भी बढ़ जाता है।

"कंसारिरपि संसारवासनाबद्ध श्रृङ्खला"—इत्यादि श्लोक के "संसार-वासना"—पाद का अर्थ पयार में सम्यक्-सार-वासना किया गया है। श्रीकृष्ण में जितनी वासनाएँ हैं, उनमें 'रासलीला की वासना' ही सम्यक् रूप से सारभूत वासना है। अर्थात् सर्व-प्रधान वासना है। इस वासना को आबद्ध रखने के लिये श्रीराधाजी को श्रृङ्खला की उपमा दी गई है। रासलीला की वासना श्रीराधाजी के कारण ही श्रीश्रीश्यामसुन्दर में बनी रहती है; अर्थात् श्रीराधाजी ही रासलीला की एकमात्र उपाय अथवा परमाश्रय हैं। इनके बिना रासलीला का होना ही असम्भव है। अतः जब श्रीराधाजी रासस्थली को छोड़कर चली गईं तो श्रीश्यामसुन्दर वहाँ फिर शतकोटि गोपियों में रह न सके और श्रीराधाजी की खोज में चले गये। श्रीकृष्ण उन समस्त गोपियों के सामने ही चले गये और गोपीवृन्द यह भी जान गईं कि वे श्रीराधाजी के पीछे जा रहे हैं।

इस प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि यहाँ श्रीकृष्ण श्रीराधाजी को चोरी करके नहीं ले गये, बल्कि स्वयं श्रीराधाजी ही मान करके रासस्थली को छोड़ कर चली गईं और श्रीकृष्ण शतकोटि गोपियों को त्याग करके साक्षात्-भाव से श्रीराधाजी की खोज में चले गये, उन अन्यान्य गोपियों की कुछ भी उन्होंने अपेक्षा न की। अतः पयार नं० ७७—७८ में श्रीराधाप्रेम के साध्य-शिरोमणि होने में श्रीमन्महाप्रभुजी ने जो शंका उठाई थी, उसका समाधान हो जाता है।

पयार नं० ८७ में कहा गया है कि श्रीराधाजी का पता न मिलने पर श्रीकृष्णचन्द्र काम-बाण से पीड़ित चित्त होकर विषाद करने लगे। यहां काम का अभिप्राय प्राकृत काम से नहीं है। श्रीराधाजी जैसे श्रीकृष्ण को सुखी करने के लिये उत्कण्ठित रहती हैं, श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार श्रीराधाजी को सुखी करने में सदा उत्कण्ठित रहते हैं। उस प्रेम-जनित उत्कण्ठा को ही यहां 'काम' नाम से कहा गया है। श्रीभगवान् की सेवा को प्राप्त न करके जैसे भक्त का चित्त दुखित होता है। श्रीभगवान् भी भक्त की जब तक वाञ्छा पूर्ण नहीं कर पाते तब तक पीड़ित-चित्त ही रहते हैं, रासस्थली में ब्रजगोपियों को समीप देख कर उनकी कान्ता-भाव-मयी-सेवा ग्रहण करने के लिये एवं मधुर-रस आस्वादन करने के लिये श्रीकृष्ण में उत्कण्ठा का जाग्रत होना स्वाभाविक ही है। प्रेम-पराकाष्ठा की मूर्त्ति महाभाव-स्वरूपिणी श्रीराधाजो को देख कर उनकी स्पृहा तथा तज्जनित-उत्कण्ठा चरम सीमा को प्राप्त हो गई, क्योंकि श्रीराधाजी में उस प्रकार की सेवा-वासना चरम सीमा को प्राप्त है। रासस्थली को त्याग कर जब श्रीराधाजी चली गईं, तो उनकी पराकाष्ठा-प्राप्त-सेवा को श्रीकृष्ण ग्रहण न कर सके और इसलिये उनका चित्त अत्यन्त पीड़ित हो उठा—काम-बाण से पीड़ित होने का केवल यही अभिप्राय है। राय रामानन्दजी ने आगे कहा—

शतकोटि गोपीते नहे काम-निर्वापण । इहातेइ अनुमानि श्रीराधिकार गुण ॥८८॥
प्रभु कहे-ये लागि आइलाङ तोमास्थाने । सेइ सब रस-वस्तु-तत्त्व हैल ज्ञाने ॥८६॥
एवे से जानिल सेव्य-साध्येर निर्णय । आगे आर किछु शुनिवार मन हय ॥६०॥

राय ने कहा—"श्रीराधाजी के बिना शतकोटि गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण की कान्ताप्रेम-आस्वादन की वासना पूर्ण न हो सकी, इसीसे श्रीराधाजी के प्रेमकी महिमा का अनुमान लग सकता है" । इस प्रकार राय रामानन्दजी से साध्य-शिरोमणि श्रीराधा-प्रेम की बात सुनकर श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"राय ! जिस कार्य के लिये मैं तुम्हारे पास आया था, उस समस्त रस-वस्तु का ज्ञान मुझे प्राप्त हो गया । अब मैंने यह निर्णय भी जान लिया है कि सेव्य श्रीकृष्ण हैं और साध्यवस्तु श्रीराधा-प्रेम है । किन्तु मेरा मन कुछ और भी सुनने को कर रहा है" ॥८८—६०॥

कृष्णेर स्वरूप कह—राधिका-स्वरूप । रस कौन तत्त्व, प्रेम कौन तत्त्वरूप ? ॥६१॥
कृपा करि एइ तत्त्व कह त आमारे । तोमा वहि केहो इहा निरूपिते नारे ॥६२॥

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—"श्रीकृष्ण का स्वरूप कहिये एवं फिर श्रीराधिका-स्वरूप का वर्णन करिये । रस-तत्त्व क्या है ? प्रेम-तत्त्व का क्या स्वरूप है ?—कृपा कर यह समस्त तत्त्व मुझे सुनाईये । आपके बिना और कोई भी इन तत्त्वों का निरूपण नहीं कर सकता" ॥६१—६२॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमन्महाप्रभु जी ने राय रामानन्दजी से कृष्णस्वरूप, राधिकास्वरूप, रस-तत्त्व एवं प्रेम-तत्त्व के सम्बन्धमें जिज्ञासा की । इस प्रश्न से साधारणत: ऐसा जान पड़ता है कि साध्य-तत्त्व तथा श्रीराधाप्रेम की महिमा के सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभु जो कुछ जानना चाहते थे, वह समस्त उन्होंने जान लिया और अब कोई नया प्रसङ्ग चलाना चाहते हैं । यह भी अनुमान होता है कि सेव्य और साध्य के तत्त्वज्ञान के बिना सेवा और साधन में प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती—इसलिये मानो प्रभु ने सेव्य और साध्य के स्वरूप के सम्बन्ध से और रसादि के तत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्न किया है; किन्तु श्रीमहाप्रभु का उद्देश्य यह नहीं जान पड़ता । अगले पयारों से ज्ञात होता है कि अभी तक साध्य-तत्त्व के सम्बन्ध में ही प्रभु का कौतूहल बन्द नहीं हुआ । राय रामानन्दजी ने जब राधाप्रेम को साध्य-शिरोमणि कहा था, उस प्रसङ्ग में श्रीमहाप्रभु ने राधाप्रेम की महिमा जानने की इच्छा की थी । इसलिये कि राधाप्रेम की महिमा के चरम विकाश में ही राधाप्रेम का साध्य-शिरोमणित्व सिद्ध होता है । राधाप्रेम की महिमा के सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभु ने जो शंका उठाई थी, बसन्तकालीन रास के दृष्टान्त से राय रामानन्दजी ने उसका समाधान कर दिया । उस से यह जान लिया गया कि अन्यनिरपेक्षता प्रेम की सर्वोत्कृष्टता का परिचय देती है और श्रीराधा-प्रेम अन्यनिरपेक्ष है । किन्तु केवल अन्यनिरपेक्षता ही राधाप्रेम के चरमतमविकाश की परिचायक नहीं है । राधाप्रेम जिस विकाश की चरमतम सीमा तक पहुञ्चता है—उसे जब तक नहीं जान लिया जाता, राधाप्रेम को तब तक साध्य-शिरोमणि नहीं कहा जा सकता । वास्तव में राधाप्रेम के विकाश की उस चरमतम सीमा को श्रीराय रामानन्द द्वारा प्रकाशित कराने के उद्देश्य से प्रभु ने आगे और कुछ सुनने की बात कही ।

जिस श्रीकृष्ण को श्रीराधा का प्रेम सम्यक् रूप से वशीभूत किये हुए है, जिन श्रीकृष्ण की उस प्रेम ने अन्यापेक्षा दूर करा दी है—उस श्रीकृष्ण के तत्त्व को जाने बिना राधाप्रेम की महिमा का गुरुत्व अच्छी प्रकार नहीं जाना जा सकता; इसलिये प्रभु ने कृष्ण-तत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्न किया । वायु के वेग से तृण भी उड़ने लगते हैं, वृक्ष-गुल्मादि भी हिलने लगते हैं और बड़े-बड़े वृक्ष भी वायु के वेग से उखड़

जाते हैं। जिस वेग से बड़े-बड़े वृक्ष उखड़ जाते हैं—उसी वेग की ही भारी महिमा मानी जाती है। इसलिये वायु के वेग की शक्ति का परिमाण जानने के लिये जिस वस्तु पर उसका प्रभाव पड़ता है, उसके स्वरूप को जानने की आवश्यकता होती है। वह क्षुद्र तृण है कि बड़ा वृक्ष है, इस बात को जानने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार श्रीराधाप्रेम की महिमा के गुरुत्व को जानने के लिये, उस से प्रभावित होने वाले श्रीकृष्ण के स्वरूप को जानने की आवश्यकता थी। अतः श्रीमहाप्रभु ने कृष्ण-स्वरूप की जिज्ञासा की।

जिन श्रीराधाजी का प्रेम श्रीकृष्ण पर इस प्रकार प्रभाव डालने वाला है, उन श्रीराधाजी के तत्त्व को जाने बिना उनके प्रेम का भी सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। अतः श्रीमहाप्रभु ने राधा-तत्त्व का प्रश्न किया।

और जिस प्रेम का इतना बड़ा प्रभाव है, वह प्रेम क्या तत्त्व है। उसका क्या स्वरूप है—जब तक उसका ज्ञान न हो, उस प्रेम की महिमा भी तब तक नहीं समझी जा सकती, इसलिये प्रेम-तत्त्व के सम्बन्ध में भी प्रभु की जिज्ञासा है।

रस-स्वरूप श्रीकृष्ण में जिस रस का विकाश है, उस रस के तत्त्व को जाने बिना भी प्रेम की महिमा सम्यक् प्रकार से उपलब्ध नहीं की जा सकती; क्योंकि परिकर या भक्तों के प्रेम के प्रभाव से ही श्रीकृष्ण में जिस रसत्व का विकाश होता है। श्रीराधाजी के प्रभाव से श्रीकृष्ण में जिस रसत्व का विकाश होता है, उसको न जानने से भी श्रीराधाप्रेम की महिमा अवगत नहीं हो सकती। इसलिये प्रभु ने रसतत्त्व के सम्बन्ध में भी पूछा। अतः इन चारों तत्त्वों का प्रश्न भी श्रीराधाप्रेम की महिमा अथवा साध्य वस्तु से सम्बन्ध रखता है। वह पृथक् प्रश्न नहीं है।

राय कहे—इहा आमि किछुइ ना जानि। ये तुमि कहाओ सेइ कहि आमि वाणी ॥६३॥
तोमार शिक्षाय पढ़ि, येन शुकेर पाठ। साक्षात् ईश्वर तुमि, के बूझे तोमार नाट ॥६४॥
हृदये प्रेरण कर, जिह्वाय कहाओ वाणी। कि कहिये भाल मन्द किछुइ ना जानी ॥६५॥

राय रामानन्दजी बोले—"इन तत्त्वों के सम्बन्ध में तो मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ। जो कुछ आप मुझ से कहलवाते हो, वही मैं कह देता हूँ। आप से शिक्षा पाकर मैं तोते की भाँति पाठ सुना रहा हूँ। आप तो साक्षात् ईश्वर हैं, आप के नाट्य को कौन जान सकता है? अन्तर्यामी रूप से आप हृदय में प्रेरणा करते हो और उसे फिर जिह्वा से कहलवा भी देते हो। मैं अच्छा (ठीक) कह रहा हूँ या बुरा (ग़लत) कह रहा हूँ—यह भी मैं कुछ नहीं जानता" ॥६३—६५॥

प्रभु कहे— मायावादी आमि त संन्यासी। भक्ति तत्त्व नाहि जानि, मायावादे भासि ॥६६॥
सार्वभौम—सङ्गे मोर मन निर्मल हैल। कृष्णभक्ति तत्त्वकथा तांहारे पूछिल ॥६७॥
तेंहो कहे—आमि नाहि जानि कृष्ण कथा। सबे रामानन्द जाने, तेंहो नाहि एथा ॥६८॥
तोमार ठांइ आइलाङ तोमार महिमा शुनिञा। तुमि मोरे स्तुति कर संन्यासी जानिञा॥६९॥

श्रीमहाप्रभु ने अपने को गोपन करते हुए कहा—"मैं तो मायावादी संन्यासी हूँ (पयार नं० ४२ द्रष्टव्य) मायावाद में फंसा हुआ हूँ, भक्तितत्त्व को कुछ नहीं जानता। श्रीसार्वभौमजी से मिलकर मेरा मन शुद्ध हुआ और मैंने उनसे श्रीकृष्ण-भक्ति की तत्त्वकथा को पूछा था, किन्तु उन्होंने कहा कि मैं

श्रीकृष्णभक्ति-तत्त्व की कथा नहीं जानता हूँ। उसे सम्यक् प्रकार से श्रीराय रामानन्दजी जानते हैं, किन्तु वे यहाँ पर नहीं हैं। इसलिये मैं तुम्हारी महिमा सुनकर यहाँ तुम्हारे पास आया हूँ। तुम मुझे संन्यासी जानकर मेरी ही स्तुति करने लगे हो" ॥९६-९९॥

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केने नय। येइ कृष्ण-तत्त्व-वेत्ता, से-इ गुरु हय ॥१००॥
संन्यासी बलिया मोरे न कर वञ्चन। राधाकृष्ण-तत्त्व कहि पूर्ण कर मन ॥१०१॥
यद्यपि राय प्रेमी महाभागवते। तांर मन कृष्णमाया नारे आच्छादिते ॥१०२॥
तथापि प्रभुर इच्छा परम प्रबल। जानितेहो रायेर मन हैल टलमल ॥१०३॥

श्रीमहाप्रभुजी ने आगे कहा—"(रामानन्द! तुम गृहस्थी हो और मेरा संन्यासी वेश है—तुम इसलिये मुझे श्रीकृष्णतत्त्व को सुनाने में सम्भवतः हिचकिचा रहे हो। गृहस्थी होकर संन्यासी को कैसे उपदेश करूं?—तो सुनो) ब्राह्मण हो, या संन्यासी हो अथवा शूद्र ही क्यों न हो, जो भी कोई श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानता है, वह गुरु होने योग्य है। अतः मुझे संन्यासी जानकर मेरी वञ्चना मत करिये। श्रीराधाकृष्ण-आदि तत्त्वों का वर्णन करके मेरी मनोवाञ्छा को पूर्ण कीजिये"। यद्यपि राय रामानन्दजी प्रेम-प्राप्त महान भागवत हैं और उनके मन को कृष्ण-माया आच्छादित नहीं कर सकती। तथापि श्रीमहाप्रभु की प्रबल इच्छा होने से राय रामानन्दजी का मन प्रभु के स्वरूप को जानते हुए भी विचलित हो गया ॥१००-१०३॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमन्महाप्रभुजी ने कहाः—ब्राह्मण हो चाहे संन्यासी या शूद्र, वह यदि कृष्णतत्त्ववेत्ता है, तो वह गुरु हो सकता है। यहां गुरु-शब्द से—शिक्षागुरु तथा दीक्षागुरु इन दोनों से ही अभिप्राय है। गुरु एवं शिष्य के बीच किसी जाति वर्ण तथा आश्रम की शर्त नहीं है—इस बात के प्रमाण भी श्रीहरिभक्तिविलास में एवं मनुसंहिता (२-२३८) में मिलते हैं। और शास्त्र में जहाँ कहीं उत्तम ब्राह्मण को ही गुरु मानने का आदेश है, वहाँ साधारणविधि का उल्लेख है। जिनमें जाति का अभिमान है, उनके लिये ही वह साधारणविधि है। किन्तु जो जाति—अभिमान-शून्य है एवं शुद्धभक्ति-परायण हो चुका है, उसके लिये वह विधि नहीं है। जो कोई भी कृष्णतत्त्ववेत्ता, भजन परायण एवं परमरसिक भक्त हो, चाहे वह किसी जाति एवं किसी आश्रम का क्यों न हो, उसे गुरु-रूप में वरण किया जा सकता है।

गुरु के सम्बन्ध में मुण्डकश्रुति (१-२-१२) में कहा गया है कि ब्रह्म को जानने के लिये समित्-पाणि होकर अर्थात् नियम-बद्ध होकर वेदवित् एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण लेनी चाहिये। श्रीमद्भागवत (११-३-२१) में भी गुरु के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं कि जो उत्तम श्रेय (भगवत् भक्ति) को जानने का इच्छुक हो और इसलिये वेद एवं वेद के अनुगत पुराणादि शास्त्रों को जो अच्छी प्रकार जानता हो, (ताकि शिष्य के सब संशय निवारण कर सके) और जिसको परमब्रह्म भगवान् का अपरोक्ष-ज्ञान(साक्षात् अनुभव) हो तथा काम क्रोधादि अवगुणों के जो वशीभूत नहीं हो—ऐसे गुरुदेव की शरण ग्रहण करनी चाहिये। यदि वेद-शास्त्रों का ज्ञान नहीं होगा तो गुरुदेव शिष्य का न तो संशय निवृत्त कर सकेंगे और न ही उसे भजन में तत्पर अथवा श्रद्धायुक्त बना सकेंगे। और यदि उन्हें परमब्रह्म भगवान् का साक्षात् अनुभव प्राप्त नहीं होगा तो उनकी कृपा भी शिष्य के सम्बन्ध में फलवती न होगी। इस प्रकार श्रुति तथा श्रीमद्भागवत से भी ज्ञात होता है कि शास्त्रज्ञ और भगवान् के अपरोक्षज्ञान-युक्त कोई भी वर्णाश्रम में रहने वाला परम भक्त गुरुरूप में वरण किया जा सकता है।

कृष्णतत्त्व-वेत्ता से भी यही अभिप्राय है कि जिसको श्रीकृष्ण का परोक्षज्ञान (शास्त्रों का आक्षरिकज्ञान) और अपरोक्षज्ञान (साक्षात् अनुभव या विज्ञान) है, वही कृष्णतत्त्व-वेत्ता है और वही गुरु करने योग्य है।

राय रामानन्दजी महाप्रेमी भगवत् भक्त थे। अतः उनके मन को अथवा ज्ञान को भगवान् की माया आच्छादित नहीं कर सकती। इसलिये वे यह जान रहे थे कि श्रीचैतन्यदेव रूप में साक्षात् स्वयं भगवान् उनके सामने हैं किन्तु श्रीमहाप्रभु की यह प्रबल इच्छा थी कि रायरामानन्द उन्हें पहचान न लें। प्रभु की उस प्रबल इच्छा के प्रभाव से वे श्रीमहाप्रभु के स्वरूप को बीच बीच में भूल जाते और तभी ही वे श्रीमहाप्रभु के प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हो रहे थे, यदि उन्हें प्रभु का स्वरूप ज्ञान निरन्तर बना रहता, तो वे उनके सामने तत्त्व-कथा कहने एवं विशेषतः प्रश्नों के उत्तर देने में कभी भी समर्थ न होते। श्रीरामानन्दजी तत्त्वों को भली प्रकार प्रकाशित कर सकें—इसी उद्देश्य से प्रभु की इच्छाशक्ति प्रभु के स्वरूपतत्त्व को समय समय राय के मन से प्रच्छन्न कर रही थी और वे प्रभु के स्वरूप ज्ञान से विचलित होकर उत्तर दे रहे थे।

राय कहे—आमि नट तुमि सूत्रधार। येमत नाचाह, तैछे चाहि नाचिवार ॥१०४॥
मोर जिह्वा वीणायन्त्र, तुमि वीणाधारी। तोमार मने येइ उठे-ताहाइ उच्चारी ॥१०५॥

श्रीमहाप्रभुजी ने आग्रह पूर्वक जब राय रामानन्दजी से कृष्णतत्त्वादि के सम्बन्ध में बतलाने को कहा तो वे बोले—"मैं तो नट के समान हूँ और आप सूत्रधार हैं। जैसे भी आप मुझे नचायें, वैसे ही मैं नाचूंगा। मेरी जिह्वा तो वीणा के समान है और आप वीणा बजाने वाले हो अर्थात् जैसे कहलवाते हो, वैसे ही मैं कहता चला जा रहा हूँ। आपके मन में जो बात कहलवाने की इच्छा है—उसी को ही कहता हूँ" ॥१०४-१०५॥ अब राय रामानन्दजी श्रीकृष्ण-तत्त्व को कहते हैं।

ईश्वर परम कृष्ण स्वयं भगवान् । सर्व—अवतारी सर्व-कारण-प्रधान ॥१०६॥
अनन्त वैकुण्ठ आर अनन्त अवतार। अनन्त ब्रह्माण्ड इहासभार आधार ॥१०७॥
सच्चिदानन्दतनु ब्रजेन्द्रनन्दन । सर्वैश्वर्य्य—सर्वशक्ति—सर्वरसपूर्ण ॥१०८॥

श्रीराय ने कहा—"श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर अर्थात् सबके सर्वश्रेष्ठ ईश्वर हैं तथा वे स्वयं भगवान् हैं। वे सब अवतारों के अवतारी-अंशी हैं तथा सब कारणों के आश्रय हैं, आधार हैं। जितने अनन्त कोटि वैकुण्ठ हैं और जितने भी अनन्त भगवत्-अवतार हैं और जितने अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं—उन समस्त का आधार एक मात्र श्रीकृष्ण ही हैं। वे श्रीकृष्ण सत्-चित्-आनन्दमय विग्रह हैं एवं ब्रजराज श्रीनन्दराज के पुत्र हैं। उनमें समस्त-ऐश्वर्य्य है, समस्त शक्ति है तथा वे समस्त रसों से पूर्ण रसस्वरूप हैं ॥१०६–१०८॥ राय ने इस बात के समर्थन में निम्नलिखित श्लोक भी कहा।

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५–१)—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण—कारणम् ॥२६॥

श्रीकृष्ण ही परमईश्वर हैं एवं वे सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। वे स्वयं अनादि हैं किन्तु सबके आदि हैं। वे गोविन्द (समस्त इन्द्रियों के स्वामी) हैं तथा सर्व कारणों के कारण अर्थात् आश्रय व आधार हैं।

वृन्दावने अप्राकृत नवीन-मदन । काम गायत्री कामबीजे यांर उपासन ॥१०९॥
पुरुष योषित् किवा स्थावर जङ्गम । सर्वचित्ताकर्षक साक्षात् मन्मथ-मदन ॥११०॥

श्रीकृष्ण श्रीवृन्दावन में दिव्य, नित्य-नवीन मदनस्वरूप हैं। कामगायत्री तथा कामबीज से उनकी उपासना होती है ॥ १०९ ॥ पुरुष हो चाहे स्त्री, जड़ हो अथवा चैतन्य—श्रीकृष्ण सब के मन को आकर्षण करने वाले हैं। कामदेव के मन को भी मथन अर्थात् मर्दन करने वाले हैं ॥११०॥

चै०च० चु० *टीका*—श्रीकृष्ण अप्राकृत नवीन-मदन हैं। 'काम'—वह है जो कामना को उत्पन्न करे। और जो अति तीव्र कामना उत्पन्न करके मत्तता उत्पन्न करे—उसे 'मदन' कहते हैं। जो प्राकृत वस्तुओं—शरीर एवं जगत् की कामनाओं को उत्पन्न करता है, उसे **प्राकृत-काम** कहते हैं। किन्तु जो अप्राकृत वस्तुओं—श्रीभगवान् एवं भक्ति की कामना को उत्पन्न करे—उसे **अप्राकृत-काम** कहा जाता है। इसी प्रकार प्राकृत वस्तुओं में बलवती कामना उत्पन्न कर जो मत्तता को उत्पन्न करता है, वह **प्राकृत-मदन** है। और जो अप्राकृत वस्तुओं में बलवती कामना उत्पन्न कर मत्तता उत्पन्न करता है, उसे **'अप्राकृत-मदन'** कहते हैं।

हम देखते हैं कि प्राकृत-जगत् की काम्यवस्तुओं को एक बार प्राप्त कर लेने पर उनकी प्राप्ति की लालसा या कामना शिथिल हो जाती है उन वस्तुओं के भोगने या आस्वादन कर लेने पर फिर उनके भोगने की इच्छा भी प्रशमित हो जाती है और उनमें कोई नवीनता नहीं रह जाती। किन्तु दिव्य राज में यह बात नहीं है। श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लेने पर भी उनकी प्राप्ति की लालसा और अधिक बढ़ती जाती है। श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य्यादि के आस्वादन होने पर आस्वादन की लालसा और भी बढ़ती चली जाती है, तथा उनका सौन्दर्य-माधुर्य भी क्षण-क्षण में नित्यनवीन अनुभव प्रदान करता है। अतः श्रीकृष्ण-चन्द्र को **अप्राकृत-नवीन-मदन** कहा गया है।

किन्तु श्रीकृष्ण के अप्राकृत-नवीन-मदन होते हुए भी, उनका सौन्दर्य-माधुर्य सर्व-चित्ताकर्षक होते हुए भी, मायामुग्ध जीवों का चित्त उनकी ओर क्यों नहीं आकर्षित होता ? इसके उत्तर में कहा है कि उपासना एवं साधन का प्रयोजन है। किस प्रकार वह उपासना की जाती है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि काम-गायत्री तथा कामबीज से श्रीवृन्दावनधाम में उनकी उपासना की जाती है।

कामगायत्री का अर्थ है अप्राकृत-कामदेव श्रीकृष्ण की गायत्री। **"गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्री त्वं ततः स्मृतः।"** जो मन्त्र पाठ या जप करने वाले की रक्षा करता है—उसे गायत्री कहते हैं। जिस भाव की प्रधानता रखकर जिस देवता की उपासना की जाती है, उसी भाव का द्योतक अर्थात् उसी स्वरूप को प्रकाश करने वाले ध्यानात्मक मन्त्र की गायत्री हुआ करती है। कामगायत्री अप्राकृतनवीनमदन श्रीकृष्ण के स्वरूप को द्योतक है। इसके जप से श्रीकृष्ण का अप्राकृतनवीन-मदनरूप चित्त में स्फुरित होता है और उस रूप की स्फूर्ति होने पर उनकी प्राप्ति के लिये बलवती कामना चित्त में जागृत हो उठती है। कामगायत्री तथा कामबीज सदा गुरुद्वारा ही प्राप्त करके उनका जाप करना चाहिये। **"क्लीं कामदेवाय विद्महे पुष्पबाणाय धीमहि तन्नोऽनङ्ग प्रचोदयात्।"**—यह कामगायत्री है इसका अर्थ इसी मध्यलीला के २१वें परिच्छेद में १०४ से ११४ नं० की त्रिपदी में विस्तार से वर्णन किया जायेगा।

"क्लीं"—यह कामबीज है। क, ल, ई, ँ —इन अक्षरों से "क्लीं" निष्पन्न होता है। बृहद् गौतमीय तन्त्र में कहा गया है—

ककारः पुरुषः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
ई-कारः प्रकृती राधा नित्य-वृन्दाबनेश्वरी ॥ज॥

लश्चानन्दात्मकं प्रेमसुखं तयोश्च कीर्त्तितम्।
चुम्बनानन्दमाधुर्यं नादविन्दुः समीरितः ।।झ।।

'**क**'—कार का अर्थ है—सच्चिदानन्द-विग्रह परमपुरुष श्रीकृष्ण। '**ई**'—कार का अर्थ है—परमा-प्रकृति (सर्व प्रेयसी शिरोमणि, सर्व शक्ति वरीयसी) नित्य वृन्दाबनेश्वरी श्रीराधाजी। तथा '**ल**'—कार का अर्थ—श्रीराधाकृष्ण का आनन्दात्मक प्रेम सुख है, एवं **नाद विन्दु** " ँ " का अर्थ है—श्रीश्रीराधाकृष्ण का परस्पर चुम्बनानन्द-माधुर्य। इस से स्पष्ट है कि "क्लीं"—कामबीज लोलाविलसित श्रीश्रीराधामाधव के परम मधुर युगल स्वरूप को ही सूचित करता है।

श्रुति कहती है—**क्लीमोङ्कारस्यैकत्वं पठ्यते ब्रह्मवादिभिः** अर्थात् "क्लीँ" एवं **ओंकार** एक एवं अभिन्न है। ॐ-कार से जैसे विश्व की सृष्टि होती है, क्लीँ से भी उसी प्रकार विश्व की सृष्टि होती है। इस प्रकार ओंकार तथा क्लीं एक तथा अभिन्न होते हुए भी काम-बीज (क्लीं) श्रीश्रीराधाकृष्ण के परम मधुर युगलित स्वरूप को, अप्राकृत नवीन मदन-स्वरूप को अनावृतभाव से सूचित करता है। इसलिये काम-बीज को प्रणव का रसात्मक रूप माना गया है और उसी प्रकार काम-गायत्री भी साधारण वैदिक-गायत्री (ॐ भूर्भुवः स्वः इत्यादि) का रसात्मक-स्वरूप है। इसके जाप से श्रीकृष्ण-उपासना की ओर मन आकर्षित हो सकता है।

इस प्रकार अप्राकृत-नवीन मदनरूप श्रीकृष्ण है। स्त्री, पुरुष, स्थावर एवं जङ्गम सब के चित्त को आकर्षण करने वाले हैं और इस चरमतम माधुर्य का सर्वातिशायी विकाश श्रीराधाजी के साथ ही अभिव्यक्त होता है। अतः इस स्वरूप से श्रीराधा-प्रेम की ही सर्वातिशायी महिमा का ज्ञान होता है।

श्रीकृष्ण के मन्मथ-मन्मथ रूप के प्रमाण में श्रीमद्भागवतजी के एक श्लोक को उद्धृत करते हैं:—

तथाहि (भाः १०—३२—२)—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमान—मुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥३०॥

"श्रीकृष्णचन्द्र रासस्थली से अन्तर्धान होने के बाद जब पुनः व्रजसुन्दरियों में आविर्भूत हुए तो उनके मुख कमल पर मुस्कान थी, वे पीताम्बर धारण कर रहे थे एवं प्रफुल्लित बनमाला से सुसज्जित थे—उनका वह रूप साक्षात् कामदेव के मन को भी मथन करने वाला था" ॥३०॥ (अगले पयार में श्रीकृष्ण के रस स्वरूपत्व का उल्लेख करते हैं)।

नाना भक्तेर रसामृत नानाविध हय।
सेइ सब रसामृतेर विषय आश्रय ॥१११॥

शान्त-दास्यादि अनेक भावों के अनेक भक्त हैं। उनके भावों के अनुरूप अनेक रस हैं। उन समस्त रसों के विषय भी श्रीकृष्ण हैं, एवं आश्रय भी श्रीकृष्ण हैं ॥ १११॥

चै० च० चु० *टीका*—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर, तथा हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत—ये कुल बारह रस हैं। इन में पहले पाँच रस मुख्य हैं तथा पिछले सात रस गौण हैं। इन सब के विषय (आस्वाद्य) तथा आश्रय (आस्वादक) श्रीकृष्ण ही हैं। जब श्रीकृष्ण को सखा अपने कन्धे पर चढ़ाते हैं, तब श्रीकृष्ण सख्य-रस के '**विषय**' कहलाते हैं और जब सखाओं को

श्रीकृष्ण अपने कन्धे पर चढ़ाते हैं, तब श्रीकृष्ण सख्य-रस के 'आश्रय' कहे जाते हैं। इसी प्रकार सब रसों में श्रीकृष्ण 'विषय' एवं 'आश्रय' हैं। इसका प्रमाण-स्वरूप निम्नलिखित श्लोक कहते हैं —

तथाहि भक्तिरसामृत सिन्धौ पूर्व्व विभागे सामान्य भक्तिलहर्य्याम् (१)—

अखिलरसामृतमूर्त्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः।
कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥३१॥

शान्तादि समस्त रसों के आश्रय जो परमानन्दमय मूर्त्ति हैं, जिन्होंने अपनी प्रसरणशील कान्ति द्वारा तारका तथा पालिका नाम्नी दोनों गोपियों को वशीभूत कर लिया है, जिन्होंने श्यामा तथा ललिता जी को आत्मसात् किया है, जो श्रीराधाजी के अत्यन्त प्रिय हैं—उन श्रीकृष्णचन्द्र की जय हो ॥३१॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में श्रीकृष्णचन्द्र को अखिल अर्थात् समस्त बारह रसों की मूर्ति कह कर वर्णन किया गया है और यहाँ श्रीकृष्णचन्द्र की कान्ताओं में भावों के विकाश के दृष्टिकोण से जो प्रधान तीन श्रेणियाँ हैं उनका भी उल्लेख किया है। **प्रथम श्रेणी** में तारका तथा पालिका नाम की गोपियाँ हैं, **दूसरी श्रेणी** में श्यामा तथा ललिताजी हैं एवं **तीसरी श्रेणी** में श्रीराधाजी हैं। श्रीराधाजी रूप में, गुणों में, माधुर्य में, वैदग्धी-आदि में सब से सब प्रकार में बड़ी हैं, अतः वे कृष्ण-कान्ता शिरोमणि कही जाती हैं। श्लोक में जो तीन विशेषण श्रीकृष्णचन्द्र के लिये वर्णन किये गये हैं—उन तीनों से यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण मधुर-रस के एवं अन्य समस्त रसों के विषय हैं।

श्रृङ्गार — रसराजमय — मूर्त्तिधर।
अतएव आत्मपर्यन्त सर्वचित्त-हर ॥११२॥

श्रीकृष्ण समस्त रसों के राजा-स्वरूप श्रृङ्गार-रस की मूर्त्ति हैं। इसलिये वे औरों (समस्त रसों के भक्तों) की तो क्या बात, अपने चित्त को भी हरण करने वाले हैं ॥ ११२ ॥ (इसके प्रमाण में निम्न-लिखित श्लोक कहते हैं)—

तथाहि गीतगोविन्दे (१—११)—

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर
श्रेणी—श्यामल-कोमलैरुपनयन्नङ्गै—रनङ्गोत्सवम्।
स्वच्छन्दं ब्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गतः
श्रृङ्गारः सखि मूर्त्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीड़ति ॥३२॥

हे सखि! आशातीत रस का आस्वादन कराते हुए समस्त गोपियों के आनन्द प्रदाता श्रीकृष्ण नील-कमलों के समूह से भी कहीं अधिक सुन्दर तथा कोमल अङ्गों से उनके हृदय में कामोद्दीपन कर रहे हैं, तथा निःसङ्कोच होकर उन गोपियों के समस्त अङ्गों को अपने प्रति अङ्ग से आलिङ्गित करते हुए मूर्त्तिमान श्रृङ्गार-रस स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द समुद्र में निमग्न होकर बसन्त काल में क्रीड़ा कर रहे हैं ॥३२॥ (इस से प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण श्रृङ्गार-रस राज मूर्त्ति हैं।)

लक्ष्मीकान्त आदि अवतारेर हरे मन।
लक्ष्मी-आदि नारीगणेर करे आकर्षण ॥११३॥

श्रीकृष्ण भगवान्, श्रीनारायण आदि जितने भी समस्त भगवत्-अवतार हैं, सब के मन को हरने वाले हैं और लक्ष्मीजी आदि जितनी भगवत्-स्वरूपों की कान्ताएँ हैं, उन सब के मन को आकर्षण करने वाले हैं ॥ ११३ ॥

(श्रीकृष्ण—भूमापुरुष अथवा पुरुषावतारों व श्रीनारायण के भी मन को हरने वाले हैं, इसके प्रमाण में श्रीभागवतजी के एक श्लोक का उल्लेख करते हैं।)

तथाहि (भा: १०—८९—५९)—

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥३३॥

धर्म की रक्षा के निमित्त सर्वशक्तियुक्त-पूर्णरूप से अवतार ग्रहण करने वाले हे श्रीकृष्ण-अर्जुन! आप दोनों के दर्शनों के लिए मैं उस ब्राह्मण के बालकों को अपनी पुरी में ले आया हूँ। पृथिवी के भार-रूप असुरों का संहार करके आप उन्हें मेरे पास शीघ्र भेजिये (वे यहाँ आकर मुक्त हो जाएँगे) ॥३३॥

चै० च० चु० *टीका*—द्वारका के निकट एक ब्राह्मण रहता था। क्रमशः उसे नौ पुत्र हुए और पुत्र होते ही मर जाते थे। वह ब्राह्मण अत्यन्त दुखी होकर प्रत्येक मृतक पुत्र को राजद्वार पर ले जाकर पुकार करता। पिता के रहते हुए पुत्र का मर जाना किसी विशेष कारण से या विशेष दोष से होता है। ब्राह्मण की पुकार सुन कर राजा उग्रसैन उसका कुछ भी प्रतिकार न कर सकते। ब्राह्मण ने जान लिया कि राजा के दोष से ही मैं इस पुत्र–शोक को भोग रहा हूँ। एक बार श्रीकृष्ण के साथ श्रीअर्जुन भी बैठे थे, जब दुखित-ब्राह्मण ने दरबार में पुकार की। श्रीअर्जुन ने उस ब्राह्मण को दुखी देख कर कहा कि "मैं आपके पुत्र की रक्षा करूँगा, यदि इस बार भी तुम्हारा पुत्र मर गया और मैं उस की रक्षा न कर सका तो "मैं अग्नि में पड़ कर अपने प्राणों का त्याग कर दूंगा।" समय आने पर ब्राह्मणी के गर्भ में जब पुत्र आया तो ब्राह्मण ने श्रीअर्जुन को सूचना दी और श्रीअर्जुन ने गर्भस्थ सन्तान की रक्षा के लिये अपने बाणों के जाल से सूतिकागृह को चारों ओर से आच्छादित कर दिया। यथा समय ब्राह्मणी के पेट से पुत्र उत्पन्न हुआ और कई बार उसने रोदन भी किया। फिर उसी समय ही शरीर सहित वह बालक आकाश मार्ग से अन्तर्धान हो गया। ब्राह्मण बहुत दुखी होकर श्रीकृष्ण के पास बैठे हुए श्रीअर्जुन के पास आया और उनका बहुत तिरस्कार करते हुए कहने लगा—"ओ मिथ्यावादी! तुम्हें धिक्कार है, बलराम, प्रद्युम्न आदि तो मेरे पुत्रों की रक्षा न कर सके, तुम मेरे पुत्र की रक्षा करते? पहले मृतक शरीर तो यहाँ पड़ा रह जाता था, अबकी बार तो सशरीर वह न जाने कहाँ गायब हो गया। तुम्हारे बल एवं प्रतिज्ञा को धिक्कार है।" श्रीअर्जुन ने अपने अस्त्र शस्त्र सम्भाले और उस मृतक बालक की खोज में यमपुरी गये, वहाँ बालक को न पाकर ऐन्द्री, आग्नेयी, नैर्ऋती, सौम्या, वायव्या एवं वारुणी-पुरियों में गये—वहाँ भी कहीं बालक का अनुसन्धान न मिला। फिर श्रीअर्जुन स्वर्ग, रसातलादि एवं ब्रह्मलोक तक पहुञ्चे किन्तु उस बालक का कहीं भी कुछ पता न लगा। श्रीअर्जुन प्रतिज्ञा पालन न कर सकने से अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राणों का अन्त करना ही चाहते थे कि भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे उसे ब्राह्मण बालक दिखाते हैं। श्रीकृष्ण एवं श्रीअर्जुन दिव्य घोड़ों के रथ पर सवार होकर नाना गिरि, नदी, समुद्रों को पार करके महाकालपुरी में पहुञ्चे जहाँ श्रीभूमापुरुष रहते हैं। उस भूमापुरुष ने श्रीकृष्ण-अर्जुन को सम्बोधित करते हुए उक्त श्लोक कहा एवं उन्होंने बताया कि "ब्राह्मणके सब पुत्रों को मैं ही लाया हूँ, केवल इसलिये कि उनका अनुसन्धान करते हुए श्रीअर्जुन के साथ आप यहाँ पधारोगे और मैं आपका दर्शन कर कृतार्थ

हो जाऊँगा"—यह भूमापुरुष कारण समुद्रशायी हैं जो परव्योमाधिपति श्रीनारायण का ही स्वरूप हैं। इस से यह प्रमाणित होता है कि श्रीनारायण भी श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित रहते हैं।

श्रीलक्ष्मीजी ने भी श्रीकृष्ण-माधुर्य में आकृष्ट होकर अपने पति श्रीनारायण के सङ्गम-भोग सब त्याग करके श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये कठिन तपस्या की थी—इस बात को निम्नलिखित श्लोक से प्रमाणित करते हैं।

तत्रैव (१०—१६—३६)—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥३४॥

कालीयनाग की पत्नियों ने श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति कहा है—"हे देव! जिसकी प्राप्ति के लिये श्रीलक्ष्मी ने अनेककाल तक समस्त कामनाओं को त्याग करके व्रत धारण पूर्वक तपस्या की थी, आपके चरणों की उस रज को इस कालीय ने किन पुण्यों के फल से प्राप्त किया है—यह हम नहीं जानतीं ॥३४॥"

चै० च० चु० *टीका*—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के सौन्दर्य-माधुर्य के लिये लालायित होकर श्रीलक्ष्मी जी ने एक बार बहुत समय तक तपस्या की। जब श्रीकृष्ण उनके पास जाकर उनकी तपस्या का कारण पूछने लगे। तब श्रीलक्ष्मीजी ने कहा—"मैं गोपीरूप से आपके श्रीवृन्दावन में आपके साथ विहार करना चाहती हूँ"। भगवान् ने कहा—"लक्ष्मी! यह तुम्हारे लिये दुर्लभ है।" तब श्रीलक्ष्मीजी ने कहा—"नाथ! तो आपके वक्षस्थल में क्या मुझे स्थान मिल सकेगा?"—श्रीभगवान् ने "तथास्तु" कह दिया। तब से श्रीलक्ष्मीजी भगवान् के वक्षस्थल में स्वर्णरेखा-रूप से अवस्थान करती हैं। स्वयं श्रीलक्ष्मीजी भी श्रीकृष्ण के माधुर्य में आकृष्ट होती हैं—इसके प्रमाण में यह श्लोक कहा गया है।

आपन माधुर्य्ये हरे आपनार मन।
आपने आपना चाहे करिते आलिङ्गन ॥११४॥

श्रीकृष्णचन्द्र का ऐसा अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य है कि उनके अपने माधुर्य में उनका अपना मन मोहित हो जाता है और वे अपने आपको आलिङ्गन करना चाहते हैं॥ ११४॥ (इसका प्रमाण नीचे उद्धृत करते हैं):—

तथाहि ललितमाधवे (८-३२)—

अपरि-कलित-पूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव ॥३५॥

मणिखम्भ में प्रतिबिम्बित अपने माधुर्य को देखकर श्रीकृष्ण विस्मय पूर्वक कहते हैं—"अहो! कैसा अपूर्व चमत्कार-जनक और अनिर्वचनीय मेरा यह श्रेष्ठ माधुर्य-सौन्दर्य है कि जिसे देखकर मेरा अपना चित्त भी लुब्ध हो रहा है, एवं श्रीराधाजी की भाँति उत्कण्ठा-पूर्वक उसे उपभोग करने की मेरी अभिलाषा हो रही है ॥३५॥

संक्षेपे कहिल एइ कृष्णेर स्वरूप। एवे संक्षेपे कहि, शुन राधातत्त्वरूप ॥११५॥
कृष्णेर अनन्त शक्ति, ताते तिन प्रधान। चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीवशक्ति नाम ॥११६॥
अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा, तटस्था कहि यारे। अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति—सभार उपरे ॥११७॥

राय रामानन्दजी ने कहा—मैंने आपके आगे संक्षेप से श्रीकृष्ण-स्वरूप का वर्णन किया। अब संक्षेप से श्रीराधातत्त्व का वर्णन करता हूँ, उसे सुनिये। श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें तीन शक्तियाँ प्रधान हैं—चित्-शक्ति, मायाशक्ति तथा जीवशक्ति। इन्हें क्रमशः अन्तरङ्गा-शक्ति, बहिरङ्गा शक्ति तथा तटस्था-शक्ति भी कहते हैं। इनमें अन्तरङ्गा जो स्वरूप-शक्ति है, वह सबमें प्रधान है ॥११५-११७॥

चौ० च० चु० टीका—पयार १०६ से लेकर ११४ पर्य्यन्त श्रीकृष्ण के असमोर्द्ध ऐश्वर्य एवं माधुर्य तथा कुछ रसत्व का वर्णन किया गया है। सारांश यह है कि वे अनन्त कोटि भगवत्-अवतारों के, उनके धामों के, तथा अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डों के मूल-आश्रय होते हुए भी श्रीराधाजी के प्रेम के वशीभूत हैं। अशेष रसामृत-सिन्धु होते हुए भी,आत्मपर्य्यन्त सर्वचित्ताकर्षक होते हुए भी, साक्षात् मन्मथ-मदन होते हुए भी वे श्रीराधाजी के प्रेमके वशीभूत हैं—इससे श्रीराधाप्रेम की ही महिमा सूचित होती है। पयार नं० ११६ से श्रीराधातत्त्व का वर्णन आरम्भ किया है और तदन्तर्गत शक्तितत्त्व का वर्णन कर रहे हैं। पयार ११६ व ११७ के प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक का उल्लेख करते हैं।

तथाहि विष्णुपुराणे (६—७—६१)—

विष्णु—शक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्याकर्म—संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥३६॥

श्रीविष्णु (भगवान् श्रीकृष्ण) की तीन प्रधान शक्तियाँ हैं। एक का नाम परा (स्वरूप)-शक्ति है, दूसरी शक्ति का नाम क्षेत्रज्ञा (जीव या तटस्था) हैं एवं तीसरी शक्ति अविद्या-कर्म संज्ञा (माया-शक्ति) है ॥३६॥ आगे शक्तियों के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक उल्लेख करते हैं।

सच्चित्-आनन्दमय—कृष्णेर स्वरूप। अतएव स्वरूपशक्ति हय तिन रूप—॥११८॥
आनन्दांशे ह्लादिनी, सदंशे सन्धिनी। चिदंशे संवित्-यारे 'ज्ञान' करि मानि ॥११९॥

श्रीकृष्ण का स्वरूप सत्, चित्, एवं आनन्द-मय है। अतः उनकी स्वरूपशक्ति के भी तीन रूप हैं। आनन्द-अंश से ह्लादिनी, सत्-अंश से सन्धिनी तथा चित्-अंश से संवित् शक्ति की अभिव्यक्ति है, जिसे ज्ञान भी कहा जाता है ॥११८-११९॥

तथाहि विष्णुपुराणे (१—१२—६९)—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंश्रये।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥३७॥

हे भगवन्! आपकी स्वरूप भूता ह्लादिनी, सन्धिनी तथा संवित्—ये तीनों शक्तियाँ, सबके अधिष्ठानरूप आप ही में रहती हैं (ये जीवों में नहीं हैं) और ह्लादकरी (मनको प्रसन्नता देने वाली—सात्विकी), तापकरी (तामसी), तथा मिश्रा (प्रसन्नता और ताप से मिश्रित—राजसी)—ये तीनों शक्तियाँ सत्-रज-तम गुणों से परे जो आप हैं—मायातीत आप (श्रीकृष्ण) में नहीं रहतीं,(किन्तु जीवों में रहती हैं) ॥३७॥ (विशेष टीका आदिलीला पृष्ठ ८६ पर द्रष्टव्य है।)

'कृष्णके आह्लादे'—ताते नाम ह्लादिनी। सेइ—शक्ति द्वारे सुख आस्वादे आपनि ॥१२०॥
सुखरूप कृष्ण करे सुख—आस्वादन। भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारण ॥१२१॥

ह्लादिनीर सार अंश—तार 'प्रेम' नाम। आनन्द-चिन्मय-रस-प्रेमेर आख्यान ॥१२२॥
प्रेमेर परम सार—'महाभाव' जानि। सेइ महाभावरूपा राधाठाकुराणी ॥१२३॥

श्रीकृष्ण को सुख प्रदान करती है—इसलिये उनकी आनन्दंश-शक्ति को ह्लादिनी कहा गया है। इसके द्वारा श्रीकृष्ण स्वयं सुख का आस्वादन करते हैं। श्रीकृष्ण सुख-स्वरूप होकर भी सुख का आस्वादन करते हैं। इसी ह्लादिनी शक्ति के द्वारा ही वे भक्तों को भी सुख प्रदान करते हैं। ह्लादिनी का जो सार अंश है उसका नाम 'प्रेम' है। इसका दूसरा नाम— आनन्द-चिन्मय रस भी है। अथवा आनन्दानुभव-स्वरूप चिन्मय रस का आस्वादन इसी प्रेम से ही होता है। प्रेम का परम सार 'महाभाव' है। उस महाभाव की घन-मूर्त्ति हैं—श्रीराधा स्वामिनी ॥१२३॥ इसके प्रमाण-स्वरूप श्लोक का उल्लेख करते हैं—

तथाहि उज्ज्वलनीलमणौ—राधाचन्द्रावल्योः श्रेष्ठताकथने (२)—

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी ॥३७॥

(श्रीराधाजी एवं श्रीचन्द्रावलाजी) इन दोनों में श्रीराधिकाजी सब प्रकार से सर्व श्रेष्ठा हैं क्योंकि वह महाभाव-स्वरूपिणी हैं एवं गुणों में समस्त कान्ताओं से उत्कृष्टा हैं ॥३८॥

प्रेमेर स्वरूप देह प्रेम—विभावित।
कृष्णेर प्रेयसी-श्रेष्ठा जगते विदित ॥१२४॥

श्रीराधिकाजी का देह प्रेम-स्वरूप या प्रेम की प्रतिमूर्त्ति है, एवं वह प्रेम के द्वारा ही गठित है। श्रीकृष्ण की कान्ताओं में श्रीराधिकाजी सर्व-श्रेष्ठा हैं—यह बात जगत् जानता है ॥१२४॥

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५-३७)—

आनन्दचिन्मयरस-प्रतिभाविताभि-स्ताभिर्य एव निज-स्वरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निव सत्यखिलात्मभूतो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥३९॥

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—"समस्त प्राणियों के परमप्रिय भगवान् श्रीगोविन्द हैं। आनन्द-चिन्मय-रस (मादनाख्य-महाभाव) से परिभाविता, गठित तथा उत्पन्न ब्रजदेवी—श्रीराधाजी जो उनकी स्वकान्तारूप में प्रसिद्धा हैं, एवं उनकी स्वीय स्वरूप शक्तिरूपा हैं—उनके साथ वे गोलोक में ही निवास करते हैं—ऐसे आदि पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ" ॥३९॥ इससे श्रीराधाजी का महाभाव-स्वरूप स्पष्ट है।

सेइ महाभाव हय चिन्तामणि सार। कृष्णवाञ्छा पूर्ण करे-एइ कार्य्य यार ॥१२५॥
महाभाव चिन्तामणि—राधार स्वरूप। ललितादि सखी तांर कायव्यूहरूप ॥१२६॥
राधाप्रति कृष्णस्नेह सुगन्धि उद्वर्त्तन। ताते अति सुगन्धि देह उज्ज्वलवरण ॥१२७॥
कारुण्यामृत-धाराय स्नान प्रथम। तारुण्यामृत—धाराय स्नान मध्यम ॥१२८॥
लावण्यामृत-धाराय तदुपरि स्नान। निजलज्जा—श्याम-पटशाटी परिधान ॥१२९॥

वह महाभाव चिन्तामणि का सार है, (चिन्तामणि जैसे सब की वाञ्छाओं को पूर्ण करती है, तद्रूप) वह महाभाव श्रीकृष्ण की वाञ्छाओं को पूर्ण करता है—यही उसका काम है। श्रीराधाजी का

स्वरूप महाभाव-चिन्तामणि है। (यदि श्रीराधाजी ही श्रीकृष्ण की समस्त वाञ्छाएँ पूर्ण करने वाली हैं तो शत कोटि-कोटि अन्यान्य ब्रजसुन्दरियों का क्या प्रयोजन है ?—इसके उत्तर में कहते हैं-) श्रीललितादि सखीवृन्द श्रीराधाजी का ही कायव्यूह-रूप हैं अर्थात् एक ही समय अनेक रस-वैचित्री को श्रीश्यामसुन्दर को आस्वादन कराने के लिये श्रीराधाजो ही अनेक रूपों में—श्रीललितादि सखियों के रूप में प्रकाशित हो रही हैं। (श्रीराधाजी महाभाव-स्वरूपिणी हैं। अब उनके उपयुक्त शृङ्गार-सामग्री का वर्णन करते हैं-) श्रीराधाजो के प्रति जो श्रीकृष्ण का स्नेह (गाढ़-प्रेम) है मानो वह श्रीराधाजी का सुगन्धित उबटन है। उसी से उनका शरीर अति सुगन्धित एवं उज्ज्वल हो रहा है। श्रीराधाजी प्रथम (प्रातः) स्नान मानो करुणा की अमृत-नदी में करती हैं एवं दोपहर का स्नान नव-यौवन रूप अमृत-धारा में करती हैं और सायंकाल का स्नान वह मानो लावण्य की अमृतधारा में करती हैं (तात्पर्य यह है कि श्रीराधाजी करुणा, नवयौवन तथा लावण्य की मूलाश्रय हैं) वे अपनी लज्जारूप श्यामवर्ण अर्थात् शृङ्गार-रसरूप रेशमी साड़ी को परिधान में धारण करती हैं। यानी परिधान वस्त्र की भाँति मानो लज्जा से वे अपने समस्त अङ्गों को ढाँपती हैं ॥ १२५—१२९ ॥

कृष्ण-अनुराग द्वितीय अरुण वसन। प्रणय-मान-कञ्चुलिकाय वक्ष आच्छादन ॥१३०॥
सौन्दर्य-कुङ्कुम सखीप्रणय चन्दन। स्मित-कान्तिकर्पूर-तिने अङ्ग विलेपन ॥१३१॥
कृष्णेर उज्ज्वलरस मृगमदभर। सेइ मृगमदे विचित्रित कलेवर ॥१३२॥
प्रच्छन्न-मान-वाम्य धम्मिल-विन्यास। धीराधीरात्मक गुण अङ्गे पटवास ॥१३३॥

श्रीकृष्ण के प्रति जो श्रीराधाजी का अनुराग है—वह मानो श्रीराधाजी का लाल रंग का उत्तरीय वस्त्र है (जो साड़ी के ऊपर धारण किया जाता है)। प्रणय एवं मान रूप कञ्चुलिका द्वारा श्रीराधाजी का वक्षस्थल आच्छादित है। सौन्दर्य ही उनके शरीर पर केशर है। सखियों का प्रणय मानो चन्दन है और मृदु-मुस्कान कान्तिपूर्ण कर्पूर है—इन का मानो श्रीराधाजी के अङ्गों पर लेप हो रहा है। श्रीकृष्ण के शृङ्गार-रस रूप कस्तूरी द्वारा उनका कलेवर विशेष रूप से चित्रित हो रहा है। गुप्त रूप से मान की जो वक्रता है, वह मानो उनकी केशपाश (वेणी) सुन्दर रूप से ग्रथित है। धीराधीर अर्थात् अश्रु विमोचन पूर्वक प्रियतम के प्रति जो वक्रोक्तियों का प्रयोग है वही मानो श्रीराधाजी के अङ्गों पर गन्ध-चूर्ण लगा हुआ है ॥ १३०—१३३ ॥

राग-ताम्बूलरागे अधर उज्ज्वल। प्रेम-कौटिल्य नेत्रयुगले कज्जल ॥१३४॥
सुद्दीप्त सात्विकभाव हर्षादि सञ्चारी। एइ सब भाव-भूषण सब अङ्गे भरि ॥१३५॥
किलकिञ्चितादि भाव विंशति-भूषित। गुण श्रेणी पुष्पमाला सर्वाङ्गे पूरित ॥१३६॥
सौभाग्यतिलक चारु ललाटे उज्ज्वल। प्रेमवैचित्त्य रत्न हृदये तरल ॥१३७॥

रागरूप ताम्बूल के लालवर्ण से श्रीराधिकाजी के अधर लाल हो रहे हैं। प्रेम की कुटिलता का वह नेत्रों में काजल धारण करती हैं। सुद्दीप्त सात्विक-भाव, हर्षादि सञ्चारी-भाव-ये मानो उनके श्रीअङ्गों पर भूषण सुसज्जित हैं। किलकिञ्चितादि बीस भाव उनके अलङ्कार हैं और माधुर्यादि गुण ही उनके गले में पुष्पमाला सदृश हैं। उनके माथे पर सौभाग्य-रूप मनोहर तिलक शोभा दे रहा है और प्रेम वैचित्र्य ही उनके हार की मध्यमणि है ॥१३४-१३७॥

चै० च० चु० *टीका*—प्रणय के उत्कर्ष से जिसमें अधिक दुख भी सुखरूप से हृदय में व्यक्त होता है—उसे **राग** कहते हैं। **सात्त्विक-भाव** मध्यलीला दूसरे परिच्छेद ६२ नं० त्रिपदी पृष्ठ ५२ में वर्णन कर आए हैं। जब समस्त सात्विक-भाव महाभाव में चरमसीमा को प्राप्त होते हैं—उन्हें **सुद्दीप्त सात्विक-भाव** कहते हैं। वाक्य-भ्रू-नेत्रादि अङ्ग एवं सत्त्वोत्पन्न भाव द्वारा जो समस्त भाव प्रकाशित होते हैं उन्हें **व्यभिचारी-भाव** कहा जाता है। ये व्यभिचारी भाव फिर अनेक भावों की गति को सञ्चारण करते हैं—इसलिये इन्हें **सञ्चारीभाव** भी कहते हैं। **हर्षादि सञ्चारीभाव** तेतीस हैं, जो इस प्रकार हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मृति, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य व्रीड़ा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, औग्र, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति, एवं बोध। इन भावों का विशेष विवरण भक्तिरसामृत सिन्धु (२-४) लहरी में द्रष्टव्य है।

निर्वेद, विषाद, हर्ष एवं धृति का लक्षण चै० च० २-२-६५ त्रिपदी पृष्ठ ५४ में और औत्सुक्य, चापल्य, दैन्य, अमर्ष एवं उन्माद के लक्षणों का वर्णन चै० च० २-२-५४ त्रिपदी पृष्ठ ५० में वर्णन किया जा चुका है। शेष भावों का संक्षेप्तः यहाँ वर्णन करते हैं।

श्रम, मन-पीड़ा व रत्यादि द्वारा देह के ओज-धातु क्षय होने पर जो दुर्बलता होती है—उसे **ग्लानि** कहते हैं। कम्प, अङ्गों की जड़ता, वैवर्ण्य, कृशता, एवं नैनों की चपलता—ग्लानि के लक्षण हैं। पथ भ्रमण, नृत्य तथा रमणादि जनित खेद को **श्रम** कहते हैं और निद्रा, पसीना, अङ्गग्रह, जृम्भा, दीर्घ-श्वासादि इसके लक्षण हैं। ज्ञाननाशक आह्लाद (मधुपानजनित आह्लाद तथा कन्दर्प-विकार-अतिशय-जनित आह्लाद) का नाम **मद** है। गति, अङ्ग, तथा वाक्यों का स्खलन, नेत्रघूर्णा, नेत्रों की लाली आदि इसके लक्षण हैं। सौभाग्य, रूप, तारुण्य, गुण, सर्वोत्तम आश्रय प्राप्ति, इष्ट वस्तु की प्राप्ति के कारण औरों की जो अवज्ञा है—उसका नाम **गर्व** है। सोलुण्ठ (अटपटे) बचन, जानबूझकर उत्तर न देना, अपने अङ्गों को देखना, स्वाभिप्राय गोपन, औरों के बचन न सुनना—ये गर्व के लक्षण हैं। स्वीय चौर्य्यापवाद, (चोरी का कलङ्क) अपराध एवं दूसरे की क्रूरतादि से जो अपना अनिष्टदर्शन है—उसे **शंका** कहते हैं। मुखशोष, वैवर्ण्य, दिक् निरीक्षण, लुब्धायित होना आदि इसके लक्षण हैं। विद्युत, भयानक प्राणी एवं प्रखर शब्द से उत्पन्न क्षोभ का नाम **त्रास** है। पास की वस्तु का आलम्बन, रोमाञ्च, कम्प, स्तम्भ, भ्रमादि इसके लक्षण हैं। जिससे चित्त में सम्भ्रम उत्पन्न होता है—उसे **आवेग** कहते हैं। यह आवेग प्रिय, अप्रिय, अग्नि, वायु, वर्षा, उत्पात, गज, एवं शत्रु—इन आठ कारणों से उत्पन्न होता है। अतः यह आठ प्रकार का है। हर प्रकार के आवेग के भिन्न भिन्न लक्षण हैं। दुख से धातु-वैषम्यादि जनित—चित्त के विप्लव को **अपस्मृति** कहते हैं। भूमिपतन, धावन (भागना) अङ्ग व्यथा, भ्रम, फेनस्राव, बाहुक्षेपन एवं उच्चशब्दादि इसके लक्षण हैं। अतिशय दोष एवं विच्छेदादि द्वारा जो ज्वरादि की उत्पत्ति है—उसे **व्याधि** कहते हैं। स्तम्भ, अङ्ग शिथिलता, श्वास, उत्ताप, ग्लानि आदि इसके लक्षण हैं। हर्ष, विच्छेद, भय व विषादादि से जो मन की बोधशून्यता है—उसका नाम **मोह** है। भूमिपतन, अवशेन्द्रियत्व (इन्द्रियों का वश में न होना) भ्रमण, निश्चेष्टता, आदि इसके लक्षण हैं। विषाद, व्याधि, त्रास, प्रहार एवं ग्लानि द्वारा जो प्राणत्याग है—उसका नाम **मृति** है। अस्पष्टवाक्य, देह-वैवर्ण्य, अल्पश्वास, एवं हिचकी आदि इसके लक्षण हैं। तृप्ति व श्रमादि के कारण सामर्थ्य रहने पर भी जो कार्य का न करना है, उसे **आलस्य** कहते हैं। अङ्गमोटन, जृम्भा, कार्य के प्रति द्वेष, चक्षुमर्द्दन, शयन, उपवेशन (बैठना) तन्द्रा व निद्रा—इसके लक्षण हैं। इष्ट तथा अनिष्ट बात के श्रवण से तथा दर्शन से एवं विरहादि जनित विचार-शून्यता का नाम **जाड्य** है। अनिमिष-नयन, तूष्णीभाव (चुप चाप बैठना) एवं विस्मरणादि इस के लक्षण हैं। नवसङ्गम, अकार्य्य,

स्तव व अवज्ञादि द्वारा जो अधृष्ठता उत्पन्न होती है—उसका नाम **व्रीड़ा** है। मौन, चिन्ता, मुखाच्छादन, भूमिलिखन, अधोमुखता आदि इसके लक्षण हैं। किसी कृत्रिम भाव द्वारा गोपनीय भाव के अनुभाव को सम्वरण करने का नाम **अवहित्था** है। भाव प्रकाशन, अङ्गादि गोपन, अन्यदिश-दृष्टिपात, वृथाचेष्टा, वाग्भङ्गी आदि इसके लक्षण हैं। सदृशवस्तु दर्शन, अथवा दृढ़ अभ्यास जनित, पूर्वानुभूत अर्थ की जो प्रीति है, उसका नाम **स्मृति** है। शिरः कम्पन व भ्रू विक्षेपादि इसके लक्षण हैं। हेतुपरामर्श व संशयादि के निमित्त जो तर्क उठाना है—उसका नाम **वितर्क** है। भ्रूक्षेप, शिर व अंगुलि–चालनादि इसके लक्षण हैं। अभिलषित विषय की अप्राप्ति एवं अनभिलषित विषय की प्राप्ति के कारण जो भावना है—उस का नाम **चिन्ता** है। निश्वास, अधोवेदन, भूमिविदारण, निद्राशून्यता, विलाप, उत्ताप, कृशता, वाष्प, दैन्य आदि इसके लक्षण हैं। शास्त्रादि के विचारोत्पन्न अर्थनिर्द्धारण को **मति** कहते हैं। संशय, भ्रम के छेदन के लिये कर्त्तव्य, करण, शिष्यादि को उपदेश देना, तर्क–वितर्कादि इसके लक्षण हैं। अपराध व दुरुक्ति आदि जनित क्रोध का नाम **औग्र** है। वध, बन्ध, शिरकम्प, भर्त्सना-ताड़नादि इसके लक्षण हैं। सौभाग्य व गुणादिवशतः दूसरे के प्रति द्वेष का नाम **असूया** है। ईर्ष्या, अनादर, आक्षेप, गुणों में दोषारोप, अपवाद, वक्रदृष्टि भ्रू-कुटिलतादि—इसके लक्षण हैं। चिन्ता, आलस्य, स्वभाव व श्रमादि द्वारा चित्त की बाहरी वृत्ति के अभाव को **निद्रा** कहते हैं। अङ्गभङ्ग, जृम्भा, जड़ता, निश्वास, नेत्रनिमीलन—इसके लक्षण हैं। नाना प्रकार की चिन्ता व नाना विषयों के अनुभव स्वरूप निद्रा का नाम **सुप्ति** (स्वप्न) है। इन्द्रियों की अवसन्नता, निश्वास, व चक्षुनिमीलनादि इसके लक्षण हैं। अविद्या, मोह व निद्रादि के नाश से उत्पन्न जो प्रबुद्धता है अर्थात् ज्ञानाविर्भाव है उसे **बोध** कहते हैं।—इस प्रकार ये हर्षादि सञ्चारीभाव श्रीराधाजी के अङ्गों पर अलङ्कार-रूप में विराजमान रहते हैं।

नायिकाओं में यौवनावस्था में कान्त के प्रति सर्वप्रकार अभिनिवेश होने से सत्त्वजनित जिन बीस भावों का उदय होता है, उन्हें **किलकिञ्चित भाव** कहते हैं। भाव, हाव, हेला—ये तीनों अङ्गज हैं, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य्य एवं धैर्य्य ये सातों **अयत्नसिद्ध** अर्थात् वेशादि के यत्न किये बिना अपने आप ही प्रकाशित होते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित व विकृत—ये दशों भाव **स्वभावजात** कहे जाते हैं। इन का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

शृङ्गार रस में निर्विकार चित्त में रति-नामक स्थायीभाव के प्रादुर्भूत होने पर चित्त का जो प्रथम विकार है—उसे **भाव** कहते हैं। जो ग्रीवा-वक्रकारी है, भ्रूनेत्रादि का विकाशकारी है तथा जो भाव से कुछ अधिक प्रकाशक है—उसे **हाव** कहते हैं। हाव यदि स्पष्टरूप से शृङ्गार-सूचक हो, तो उसका नाम **हेला** है।

रूप व भोगादि द्वारा अङ्गों का जो विभूषण है, उसे **शोभा** कहते हैं। कन्दर्प की तृप्ति जनित उज्ज्वल शोभा को **कान्ति** कहते हैं। वयस, भोग, देश, काल व गुणादि द्वारा जब कान्ति अतिशयरूप से प्रकाशित होती है—उसे **दीप्ति** कहते हैं। सर्वावस्था में चेष्टाओं की मनोहारिता का नाम **माधुर्य** है। सम्भोग विषय में निशङ्कता का नाम **प्रगल्भता** है। सर्वावस्था में विनय–प्रदर्शन का नाम **औदार्य्य** है। उन्नत अवस्था में चित्त की स्थिरता का नाम **धैर्य्य** है। रमणीयवेश व क्रिया द्वारा प्रिय के अनुकरण का नाम **लीला** है। गति, स्थान, आसन, मुख व नेत्रादि के समस्त कर्मों की प्रिय सङ्गम-जन्य तत्कालीन जो विशिष्टता है—उसका नाम **विलास** है। जो वेश-रचना अल्प होते हुए भी देहकान्ति का पुष्टि साधन हो—उसे **विच्छित्ति** कहते हैं। प्राणवल्लभ के समीप अभिसार के समय प्रबल मनोवेगवश हार-मालादि को जो यथा स्थान पर पकड़े रखना है—उसे **विभ्रम** कहते हैं।

हर्ष के हेतु गर्व, अभिलाष, रोदन, हास्य, असूया, भय व क्रोध इन सातों का एक काल में जहाँ उदय होता है, उसका नाम **किलकिञ्चित** है। कान्त के स्मरण करने से अथवा उसकी वार्त्ता सुनने से उस कान्त के स्थायीभाव की भावना द्वारा हृदय में जो अभिलाष की उत्पत्ति है, उसे **मोट्टायित** कहते हैं। स्तन या अधरादि ग्रहण करने पर हृदय में आनन्द होने पर भी सम्भ्रमवशतः व्यथा की भांति बाहर जो क्रोध प्रकाश करना है, उसे **कुट्टमित** कहते हैं। गर्व या मानवशतः कान्त के प्रति या कान्तप्रदत्त वस्तु के प्रति जो अनादर है, उसे **बिब्बोक** कहते हैं। जिस से समस्त अङ्गों की विन्यास-भङ्गी, सौकुमार्य व भ्रू विक्षेप की मनोहारिता प्रकाशित होती है—उसे **ललित** कहते हैं। लज्जा, मान, ईर्ष्या, आदि के कारण जहाँ विवक्षित (वाञ्छित) विषय प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जिस चेष्टा द्वारा प्रकाशित होता है—उसे **विकृत** कहते हैं। ये बीस किलकिञ्चित भाव हैं जो श्रीराधिकाजी के अङ्गों के अलङ्कार स्वरूप हैं।

श्रीराधिकाजी में श्रीकृष्णचन्द्र की भांति असंख्य गुण हैं, फिर भी कुछ एक गुणों का यहाँ उल्लेख करते हैं। माधुर्य, नववयस, अपाङ्ग-चञ्चलता, उज्ज्वल मुस्कान, मनोहर-सौभाग्य-रेखा युक्तत्व, गन्धोन्मादित-माधवत्व, सङ्गीत-प्रवराभिज्ञत्व, रम्यवचन, नर्म्म-पाण्डित्य, विनीतत्व, करुणापूर्णत्व, विदग्धता, पटुता, लज्जाशीलता, सुमर्य्यादा, धैर्य्य, गाम्भीर्य्य, सुविलासता, महाभाव का परमोत्कर्ष-तृष्णा-शालित्व, गोकुल-प्रेम-वसतित्व, सर्व जगत् में विख्यात कीर्त्तित्व, गुरुजनों में अर्पित गुरुस्नेहत्व, सखी-प्रणय-वशत्व, कृष्णप्रेयसी-समूह मुख्यत्व, सर्वदा वचनाधीन-केशवत्व आदि—ये गुण हैं जो श्रीराधाजी के भूषण समूह हैं। इन का विस्तृत वर्णन मध्यलीला के तेईसवें परिच्छेद ३९—४३ श्लोकों के अर्थों में किया जायेगा।

मध्यवयस्थिति—सखीस्कन्धे कर-न्यास। कृष्णलीला—मनोवृत्ति सखी आश-पाश॥१३८॥
निजाङ्ग—सौरभालये गर्व्व—पर्य्यङ्क। ताते वसि आछे सदा चिन्ते कृष्णसङ्ग॥१३९॥
कृष्णनाम—गुण-यश-अवतंस काणे। कृष्ण—नाम-गुण—यश प्रवाह वचने॥१४०॥
कृष्णके कराय श्यामरस—मधुपान। निरन्तर पूर्ण करे कृष्णेर सर्वकाम॥१४१॥
कृष्णेर विशुद्ध प्रेम रत्नेर आकर। अनुपम—गुणगण—पूर्ण कलेवर॥१४२॥

नित्य कैशोर-अवस्थारूप सखी के कन्धे पर श्रीराधाजी अपना करकमल धारण कर रही हैं अर्थात् वे नित्य कैशोरावस्था युक्त हैं। श्रीकृष्ण-लीला विषयक जो समस्त मनोवृत्तियाँ हैं, वही हो सखियों के रूपमें श्रीराधाजी के चारों ओर अवस्थान करती हैं। अपने अङ्गों के सौरभरूप महलमें गर्व्वरूप पालङ्क पर विराजमान होकर वे सदा श्रीकृष्ण-सङ्ग का चिन्तवन करती रहती हैं। श्रीकृष्ण-नाम, श्रीकृष्ण-गुण, श्रीकृष्ण-यश—यही उनके कर्ण-भूषण हैं और श्रीकृष्ण नाम-गुण-यश का ही वह निरन्तर कीर्त्तन करती रहती हैं। वह श्रीश्यामसुन्दर को शृङ्गार रस के द्वारा कन्दर्प-मत्ततारूपमधु का सदा पान कराती हैं। वे श्रीकृष्ण की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं। श्रीकृष्ण के विशुद्ध प्रेमरूपी रत्नों की खान हैं एवं श्रीराधाजी अनुपम गुण-समूह से सुशोभित हैं॥ १३८—१४२॥ जैसे कि श्रीगोविन्दलीलामृत ग्रन्थ में भी कहा गया है—

तथाहि श्रीगोविन्दलीलामृते (११—१२२)—

का कृष्णस्य प्रणयजनिभुः श्रीमती राधिकैका
कास्य प्रेयस्यनुपमगुणा राधिकैका न चान्याः।

जैह्म्यं केशे दृशि तरलता निष्ठुरत्वं कुचेऽस्याः
वाञ्छापूर्त्यै प्रभवति हरे राधिकैका न चान्या ॥४०॥

श्रीकृष्ण के प्रणय (प्रेम) का उत्पत्ति-स्थान कौन है ?—केवल श्रीमती राधिकाजी। श्रीकृष्ण की प्रेयसी कौन है ? —अनुपमगुणा केवल श्रीराधिकाजी और कोई भी नहीं। श्रीराधिकाजी के केशों में कुटिलता, नयनों में तरलता (चञ्चलता), उरोजों में कठिनता है, अतः केवल श्रीराधिकाजी ही श्रीकृष्ण की समस्त वासनाओं को पूर्ण करने में समर्था हैं और कोई भी नहीं ॥४०॥

यांहार सौभाग्यगुण वाञ्छे सत्यभामा। यांर ठाञि कला-विलास शिखे ब्रजवामा ॥१४३॥
यांर सौन्दर्य्यादिगुण वाञ्छे लक्ष्मी पार्व्वती। यांर पतिव्रता-धर्म वाञ्छे अरुन्धती ॥१४४॥
यांर सद्गुणगणेर कृष्ण ना पान पार। तांर गुण गणिबे केमने जीव छार ? ॥१४५॥

जिन श्रीराधिकाजी के सौभाग्यगुण के लिये सत्यभामाजी नित्य वाञ्छा करती रहती हैं, जिन से ब्रजसुन्दरीगण कला-विलास की शिक्षा लिया करती हैं, जिनके सौन्दर्य्यगुणों की लक्ष्मीजी तथा पार्वती जी चाहना किया करती हैं, जिनके पतिव्रता-धर्म की अरुन्धती जी भी इच्छा किया करती हैं, जिनके सद्गुणों का श्रीकृष्ण गान कर के पार नहीं पा सकते, उन श्रीराधिकाजी के गुणों को क्षुद्र-जीव भला कैसे वर्णन कर सकता है ? ॥ १४३—१४५ ॥

प्रभु कहे—जानिल कृष्ण राधा-प्रेमतत्त्व। शुनिते चाहिये दोंहार विलास-महत्त्व॥१४६॥
राय कहे—कृष्ण हये धीर—ललित। निरन्तर कामक्रीड़ा यांहार चरित ॥१४७॥

इस प्रकार जब राय रामानन्दजी ने श्रीकृष्णतत्त्व—श्रीराधा तत्त्व एवं प्रेमतत्त्व का वर्णन किया तो श्रीमन्महाप्रभु बोले—"राय ! मैंने श्रीकृष्ण-तत्त्व, श्रीराधा-तत्त्व तथा प्रेम-तत्त्व को जान लिया है। अब मैं आप से श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाजी—इन दोनों की विलास-महिमा को सुनना चाहता हूँ।" राय ने कहा—"श्रीकृष्ण धीर-ललित हैं और उनका लीला-चरित निरन्तर काम-क्रीड़ा ही है" ॥१४६—१४७॥

चै० च० चु० टीका—श्रीमन्महाप्रभुजी ने पयार नं० ६१ में राय रामानन्दजी से श्रीकृष्ण-तत्त्व, श्रीराधा-तत्त्व, रस-तत्त्व एवं प्रेम-तत्त्व—इन चारों तत्त्वों के सम्बन्ध में जिज्ञासा की थी। परन्तु हम देखते हैं कि श्री राय रामानन्द ने श्रीकृष्ण-तत्त्व, श्रीराधा-तत्त्व एवं प्रेम-तत्त्व—इन तीन ही तत्त्वों का वर्णन किया है और श्रीमहाप्रभुजी ने भी इस पयार में यह बताया है कि "मैंने श्रीकृष्ण-तत्त्व, श्रीराधा-तत्त्व तथा प्रेमतत्त्व के सम्बन्ध में जान लिया है," आगे प्रभु ने रसतत्त्व के सम्बन्ध में कुछ न पूछ कर श्रीराधा-कृष्ण की विलास-महिमा जानने की इच्छा प्रगट की है। रसतत्त्व को क्यों छोड़ दिया गया है ?—

किन्तु, केवल आपात दृष्टि से ऐसा दीखता है, वस्तुतः रायरामानन्दजी ने रसतत्त्व का भी वर्णन कर ही दिया है, रायके मुखसे श्रीकृष्णके परमोत्कर्ष को दिखाकर श्रीराधाजी के प्रेम की महिमा के चरमोत्कर्ष की स्थापना करना ही प्रभु का उद्देश्य है। श्रुति परब्रह्म को रस-स्वरूप कहती है—"रसो वै सः "रसोब्रह्म" और श्रीगीताजी कहती हैं कि—"श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है" "परं ब्रह्म परं धाम" (१०-२२ अतः श्रुति परब्रह्म श्रीकृष्ण को ही रसस्वरूप कहकर वर्णन करती है। रसत्व के पूर्णतम विकाश में ही ब्रह्मतत्त्व का भी पूर्णतम विकाश है। रसत्त्व का पूर्णतम विकाश श्रीकृष्णतत्त्व में है। इसलिये रस-तत्त्व भी श्रीकृष्ण-तत्त्व में अन्तर्भुक्त है। अथवा श्रीकृष्णतत्त्व रस-तत्त्व में ही अन्तर्भुक्त है।

जो रस है वह श्रीकृष्ण हैं, जो श्रीकृष्ण हैं वही रस है। इसी लिये श्रीकृष्णतत्त्व के वर्णन प्रसङ्ग में १०८ से ११४ पयारों में श्रीकृष्ण के रस-स्वरूपत्व या रसतत्त्व की ही बात वर्णन की गई है। रस-शब्द के दो अर्थ हैं—आस्वाद्य एवं आस्वादक। आस्वाद्य-रूप से श्रीकृष्ण परममधुर, परम चित्ताकर्षक हैं एवं आस्वादकरूप में वे परम रसिक, रसिकेन्द्र-शिरोमणि हैं। इसी बात का वर्णन ही १०८ से ११४ नं० के पयारों में किया गया है और पयार नं० १११ में तो "श्रीकृष्ण रसामृत के विषय एवं आश्रय हैं"।—यह कह कर रसतत्त्व का ही वर्णन किया गया है। अतः श्रीरामानन्द राय ने चारों ही तत्त्वों का वर्णन कर दिया है। और इन तत्त्वों की आलोचना द्वारा श्रीराधाजी के प्रेम की महिमा ही व्यक्त होती है।

किन्तु श्रीमन्महाप्रभुकी फिर भी तृप्ति नहीं हुई। अभी वे कुछ आगे जानना चाहते हैं। अखण्ड-रसवल्लभा-महाभाव-विसहा स्वयं-कान्त-प्रेमरूपा श्रीराधिकाजी के साथ अखिल-रसामृतवारिधि शृङ्गार-रसराज-विग्रह साक्षात्-मन्मथ-मदन श्रीश्यामसुन्दर के केलिविलास में राधाप्रेम की महिमा की जो अपूर्व विशेषता अभिव्यक्त होती है—उसको श्रीमन्महाप्रभु सुनना चाहते हैं। इसलिये उन्होंने श्रीराधाकृष्ण-विलास महिमा की जिज्ञासा की।

कामक्रीड़ा का तात्पर्य प्रेम-लीला से है। भगवान् निरन्तर हर समय अपने दासों, सखाओं, माता-पिता, ब्रजगोपियों के साथ कोई न कोई प्रेम भरी लीला करते ही रहते हैं। यदि कामक्रीड़ा से ब्रजगोपियों के साथ बिहारादि का अर्थ लिया जाये तो निरन्तर-शब्द का अर्थ प्रतिदिन यथासमय जानना चाहिये, क्योंकि यदि निरन्तर का अर्थ हर-क्षण, हर-पल दिन-रात लिया जाये, तो भगवान् की गोचारणादि अन्य लीलाएँ कब होती हैं? इस आपत्ति को खण्डन करने के लिये निरन्तर-शब्द का अर्थ यथा समय ही सङ्गत होता है। अथवा, क्योंकि श्रीभगवान् की गोचारण आदि समस्त अन्यान्य लीलाएँ ब्रजगोपियों के साथ क्रीड़ा-रूप मुख्य लीला का ही अङ्ग विशेष हैं। इसी लिये पयार (१४७) में निरन्तर कामक्रीड़ा शब्द का उल्लेख किया गया है।

धीरललित नायक के लक्षण निम्नलिखित श्लोक में वर्णन करते हैं।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ, दक्षिणविभागे, विभाव-लहर्य्याम् (२—१२३)—

विदग्धो नवतारुण्यः परिहास-विशारदः।
निश्चिन्तो धीरललितः स्यात् प्रायः प्रेयसीवशः॥४१॥

जो विदग्ध अर्थात् कला विलासादि में निपुण हो, नव युवा हो, परिहास करने में चतुर हो, जो निश्चिन्त हो एवं जिस प्रेयसी का जैसा प्रेम हो, उस प्रेयसी के उसी प्रकार जो वशीभूत रहता हो, उसे धीरललित-नायक कहते हैं॥ ४१॥ श्रीकृष्णचन्द्र धीरललित नायक हैं।

रात्रिदिन कुञ्जक्रीड़ा करे राधासङ्गे।
कैशोर-वयस सफल कैल क्रीड़ारङ्गे॥१४८॥

श्रीश्यामसुन्दर रात में एवं दिन में यथा समय श्रीराधाजी के साथ कुञ्जक्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार उन्होंने क्रीड़ारङ्ग में अपनी किशोर वयस को सफल किया है॥ १४८॥ (आदि लीला ४—१०२ पयार द्रष्टव्य है) इस उक्ति के प्रमाण में एक श्लोक का उल्लेख करते हैं।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिण-विभागे १म-विभावलहर्य्याम् (१—१२४)—

वाचा सूचित-शर्वरीरति-कला प्रागल्भ्यया राधिकां
व्रीड़ाकुञ्चितलोचनां विरचयन्नग्रे सखीनामसौ।

तद्वक्षोरुह चित्र—केलिमकरी - पाण्डित्यपारं गतः
कैशोरं सफली करोति कलयन् कुञ्जे बिहारं हरिः ॥४२॥

रात्रिकाल के रति-कौशल-औद्धत्य के प्रकाश वचनों से सखीगणों के सामने श्रीराधाजी को लज्जावश संकुचित-नेत्रा करके, उनके उरोजयुगल में विचित्र-केलिमकरी का निर्माण करने के कौशल की पराकाष्ठा दिखाते हुए कुञ्जों में विहार करते-करते श्रीकृष्ण अपनी कैशोर-अवस्था को सफल करते हैं ॥४२॥

प्रभु कहे—एइ हय, आगे कह आर। राय कहे—इहा वइ बुद्धिगति नाहि आर ॥१४९॥
येवा प्रेम-विलास—विवर्त्त एक हय। ताहा शुनि तोमार सुख हय कि ना हय ॥१५०॥
एत कहि आपनकृत गीत एक गाइल। प्रेमे प्रभु स्वहस्ते तार मुख आच्छादिल ॥१५१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"हाँ, श्रीराधाकृष्ण के विलास के सम्बन्ध में आपने जो कुछ कहा है, वह ठीक है, किन्तु इस से भी कुछ आगे कहिये"। राय ने कहा—"इस से आगे अब मेरी बुद्धि की गति नहीं है। हां, प्रेम जनित विलास का जो एक विवर्त्त है (उसे मैंने एक पद में रचना करके प्रगट किया है। उस पद में विलास-निवर्त्त का जो गूढ़ रहस्य है—वह अच्छी तरह प्रकाशित हो पाया है या नहीं, उस पद को मैं आपके लिये सुनाता हूँ) उसे सुनकर आप को सुख होगा कि नहीं—इसे मैं नहीं जानता"। इतना कह कर अपना रचित एक गीत राय रामानन्दजी ने गाया। उसे सुन कर प्रभु ने प्रेम से राय रामानन्द के मुख को अपने हाथ से ढक दिया ॥ १५१ ॥

चै० च० चु० *टीका*—प्रेम की गाढ़तावश अर्थात् श्रीकृष्ण को सर्वभाव से सुखी करने की वासना को गाढ़ता होने से विलास की वासना उत्पन्न होती है और उस विलास के व्यपदेश से प्रेम की महिमा प्रगटित होती है। इसलिये श्रीप्रभु ने श्रीश्रीराधाकृष्ण के विलास-महत्व को सुनने की इच्छा प्रगट की थी। राय रामानन्दजी ने विलास की महिमा कहते हुए श्रीकृष्ण के धीरललित-स्वरूप की बात कही। उस से श्रीराधा-प्रेम जनित विलास की महिमा सूचित होती है। जो सर्वशक्तिमान्, सर्वग, विभुतत्त्व है, जो समस्त वेदों का प्रतिपाद्य हैं, उस परम स्वतन्त्र परम ब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में दुर्दमनीय रस-लोलुपता को जागृत करके जो विलास उन्हें प्रेयसी की वशीभूतता स्वीकार करने को बाध्य कर देता है, जो विलास सर्वज्ञ शिरोमणि को भी निबिड़तम मुग्धता प्रदान करता है, सर्वव्यापक तत्त्व होने पर भी प्रेयसी के सङ्ग लाभ के लिये जो विलास उन्हें निभृत निकुञ्जों में रात्रि दिन अवस्थान करने को बाध्य कर देता है, वह विलास कितनी महान वस्तु है, उसमें कितनी बड़ी शक्ति है, उसका कौन वर्णन कर सकता है? श्रीरामानन्द ने श्रीश्रीराधा-कृष्ण के विलास की उस महान महिमा कथा को व्यक्त किया, किन्तु प्रभु की उस से भी तृप्ति न हुई और उन्होंने और आगे कुछ सुनने की इच्छा की।

प्रेम विलास-विवर्त्त का अर्थ है—प्रेम जनित विलास का विवर्त्त। विवर्त्त के तीन अर्थ हैं—विपरीत, परिपाक एवं भ्रम। प्रेम विलास विवर्त्त-की व्याख्या में इन तीनों अर्थों की उपयोगिता व सार्थकता है। "परिपाक" अर्थ ही मुख्य है और विपरीत एवं भ्रम—इन अर्थों की आनुषङ्गिक उपयोगिता है। इस प्रकार प्रेम-विलास-विवर्त्त का तात्पर्य है—प्रेम जनित विलास की परिपक्व अवस्था या चरमोत्कर्षावस्था। जिस में विपरीतता और भ्रान्ति-ये दोनों लक्षण प्रकाशित होते हैं। विलास की चरमोत्कर्षावस्था में विलास मात्र की ऐसी तन्मयता उत्पन्न होती है कि जहां नायक-नायिका को अपने अस्तित्व का भी अनुसन्धान नहीं रहता। विलास-आनन्द की वृद्धि की उत्कण्ठा में उनमें वैपरीत्य या विपरीतता

आजाती है। उनकी चेष्टाएँ विपरीत रूप में होने लगती हैं। यह अवस्था इन्द्रिय ग्राह्य न होने से इस में भ्रान्ति उत्पन्न होती है अर्थात् नायक-नायिका को आत्म विस्मृति हो जाती है। सारांश यह है कि प्रेम-विलास-विवर्त्त, विलास की वह चरमावस्था है कि जिस में प्रियाप्रीतम श्रीश्रीराधिका श्यामसुन्दर विलास-आनन्द में अपने आपको विस्मृत हो जाते हैं। उनमें कौन नायक है, कौन नायिका है—यह ज्ञान भी उन्हें नहीं रहता एवं उनकी समस्त चेष्टाएँ विपरीत होने लगती हैं। एकमात्र विलासानन्द में विभोर एवं आत्म-विस्मृत हो जाते हैं।

प्रेम का चरमतम विकाश मादनाख्य-महाभाव में होता है। वह मादनाख्य महाभाव केवल श्रीराधिकाजी में विराजमान है। प्रेम के चरमतम विकाश में ही प्रेम-विलास का चरमतम विकाश हो सकता है। श्रीमहाप्रभु ने विलास के महत्त्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा की थी, सो राय रामानन्द जी ने जब प्रेम-विलास विवर्त्त की बात कही तो श्रीमहाप्रभु सन्तुष्ट हो गये। उस प्रेम-विलास विवर्त्त के सम्बन्ध में जो गीत राय रामानन्द जी ने कहा—उसे नीचे उद्धृत करते हैं।

तथाहि गीतम्—

पहिलहि राग नयनभङ्ग भेल। अनुदिन बाढ़ल-अवधि ना गेल ॥१५२॥
ना सो रमण ना हाम रमणी। दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि ॥१५३॥
ए सखि! से-सब प्रेम काहिनी। कानुठामे कहिव, विछुरह जानि ॥१५४॥
ना खोजलुं दूती, ना खोजलुं आन। दुहुकेरि मिलने मध्यत पांचबाण ॥१५५॥
अब सोइ विराग, तुंहु भेलि दूती। सुपुरुख—प्रेम कि ऐछन रीति ॥१५६॥

श्रीराधिकाजी कहती हैं—"पहले-पहले यह राग अर्थात् प्रेम—नैनभङ्ग अर्थात् नेत्र की पलक झपकाने मात्र समय में अर्थात् अति अल्प समय में उत्पन्न हुआ। और फिर दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया और किसी अवधि या सीमा को प्राप्त न कर सका। वह यहाँ तक बढ़ा कि, न तो श्रीश्यामसुन्दर रमण रहे और न मैं रमणी रही, मानो दोनों की मनो वासना ने (एक दूसरे को सुख देने को प्रबल वासना ने) दोनों के मन को विगलित करके एक कर दिया। हे सखि! यह सब प्रेम कहानी कान्ह-श्रीकृष्णचन्द्र से कहना, भूल मत जाना। इस प्रेम को जगाने अथवा श्रीकृष्ण के मिलने के लिये किसी दूती की खोज मैंने नहीं की है और न ही किसी और की खोज की है, क्योंकि हमारे दोनों के मिलाप कराने में और किसी की सामर्थ्य नहीं है। हम दोनों को मिलाने में तो केवल कामदेव के पाञ्चबाण ही मध्यस्थ हैं। किन्तु अब वे श्रीकृष्ण-विराग अर्थात् राग-शून्य हो गये हैं—वे प्रेम-मिलन को भूल गये हैं, इसलिये तुम्हें अब मैं दूती बना कर भेज रही हूँ। तुम जाकर उनसे पूछना कि सत्पुरुष की (विदग्धनागर के) प्रेम की यही रीति है? अर्थात् पहले प्रेम लगाकर फिर उसे भुला देना—क्या यही सत्पुरुष की प्रेम-रीति है?॥१५६॥

चै० च० चु० *टीका*—यह गीत मादनाख्य-महाभाव का द्योतक है। क्योंकि मादनाख्य-महाभाव के चरमतम विकाश में ही प्रेमविलास विवर्त्त संघटित होता है। मादनाख्यमहाभाव में एक ही समय समस्त भाव उल्लास को प्राप्त होते हैं। इसमें संयोग में भी विरह का अनुभव होता रहता है जिससे संयोग या सम्भोग सुख में एक अनिर्वचनीय विचित्रता उत्पन्न होकर अनिर्वचनीय आस्वादन होता है। इस पद में भी प्रेमविलास संयोगकी परिपक्वावस्था का—"ना सो रमण ना हाम रमणी।" पाद से परिचय मिलता है और अगले पयार में—"अब सोइ विराग"—पद में परस्पर विरह की झाँकी है। यही श्रीराधा-प्रेमः

की अपूर्वता एवं अनिर्वचनीयता है कि उन्हें एक ही प्रकाश में असंख्य-विध सम्भोगानन्द की और विरह की साक्षात् अनुभूति होती है। इस प्रकार जब रायरामानन्दजी ने श्रीमहाप्रभु के आगे श्रीराधाजी के प्रेम की सर्वोत्कृष्ट महिमा वर्णन की, तो श्रीमहाप्रभुजी ने अपने हाथ से राय रामानन्दजी का मुख ढक दिया। ऐसा क्यों ? श्रीमहाप्रभुजी ने राय को कुछ और कहने से क्यों रोक दिया ?

इसका कारण यह ज्ञात होता है कि मादनमहाभाव में नित्यमिलन है, नित्य निरवच्छिन्न भाव से सम्भोग है। रसराज श्रीकृष्ण व महाभाव-स्वरूपिणी श्रीराधा—इन दोनों का सम्मिलित स्वरूप हैं—श्रीश्रीगौरसुन्दर। रसराज—श्रीकृष्ण के हृदय में श्रीराधा का मादनाख्यभाव है और बाहर श्रीराधाजी की अङ्गकान्ति है। इन दोनों के घनिष्टतम मिलन की प्रतिमूर्त्ति होकर—(तद्द्वयञ्चैक्यमाप्तम्—चै० च० १-१-४)श्रीकृष्ण ने ही श्रीगौररूप में आत्मप्रकट किया है। श्रीराधाजी के मादनाख्य महाभाव ने श्रीकृष्ण के अन्तःकरण को अपने साथ तादात्मता प्राप्त कराली और बाहर से श्रीराधाजी ने अपने प्रति अङ्ग द्वारा श्रीकृष्ण के प्रतिअङ्ग को आलिङ्गन करके श्रीश्यामसुन्दर को श्रीगौरसुन्दर कर दिया। इसलिये श्रीमन्महाप्रभु भीतर और बाहर सर्वभाव से श्रीश्रीराधाकृष्ण के नित्यमिलन का—नित्य सम्भोग का प्रकट-विग्रह हैं या मादनाख्य-महाभाव का ही प्रगट-विग्रह हैं।

श्रीमन्महाप्रभु अपने आप का सदा गोपन किया करते थे। यदि कोई किसी प्रकार उनके स्वरूप को जान लेता और उसे प्रकाश करता, तो वे उस को अनेक प्रकार भ्रम में डाल देते। जो लोग अपने को सदा गोपन करते हैं, उनके सामने कोई पुरुष उनके स्वरूप के विषय में कुछ न जानते हुए भी उनके स्वरूप के अनुरूप कोई बात कह दे तो वे अपने रहस्य के खुलने की आशंका से विचलित एवं सङ्कुचित हो जाते हैं—यह स्वाभाविक है। श्रीमन्महाप्रभुजी की भी ठीक वही अवस्था है। मादनाख्य-महाभावके प्रकट-विग्रह होकर भी वे आत्मगोपन करना चाहते हैं और श्रीरामानन्द राय के मुख से मादनाख्यमहाभाव के स्वरूप के प्रकाश करने वाले गीत को सुनकर अपने गूढ़ रहस्य का उद्घाटन होता देखकर प्रभु ने तत्काल अपने हाथ से राय रामानन्दजी के मुख को बन्द कर दिया।

प्रेम की परिपक्व अवस्था में श्रीराधा व श्रीकृष्ण दोनों का परस्पर भेद ज्ञान दूर हो जाता है एवं शृङ्गार-रस इन दोनों के चित्त को द्रवीभूत करके एक कर देता है—इस बात का प्रमाण निचले श्लोक में वर्णन करते हैं।

तथाहि उज्ज्वलनीलमणौ, स्थायिभावकथने (११०)—

राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्
युञ्जन्नद्रिनिकुञ्जकुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे
भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती ॥४३॥

हे गोवर्द्धनगिरि निकुञ्जों में बिहार करने वाले कुञ्जरपते ! श्रीराधिकाजी के और तुम्हारे चित्त-रूप लाक्षा को स्वेद (नामक-सात्विक भावरूप-ताप) के द्वारा क्रमशः द्रवीभूत करके एक दूसरे के भ्रमभेद को दूर करके (दोनों के चित्त को मिलाकर) सुनिपुण शृङ्गार-रस रूप कारीगर ने इस ब्रह्माण्डरूप अट्टालिका को भीतर से चित्रित करने के लिये बहुत से नवराग रूप हिंगुल द्वारा स्वयं उसे अनुरञ्जित किया है।

चै० च० चु० टीका—श्रीगोवर्द्धन पर्वत की किसी एक कुञ्ज में श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण परस्पर माधुर्यास्वादन में निमग्न थे, उनके देह को उद्दीप्त सात्विक भाव अलंकृत कर रहे थे। उनकी इस महाभाव

माधुरी का अनुमोदन करते हुए श्रीवृन्दादेवीजी ने उक्त श्लोक कहा है। तात्पर्य यह है कि जैसे एक कारीगर किसी अट्टालिका को चित्रित करने के लिये लालरंग की लाक्षा को अग्नि में गलाकर अच्छी तरह मिलाता है और फिर उसमें और लालरंग मिलाकर सुन्दर रंग तैयार कर लेता है, उसी प्रकार स्वयं शृंगार-रस ने श्रीराधा व श्रीकृष्ण के महाभाव स्वरूपता-प्राप्त चित्त को प्रेम प्रभाव से द्रवीभूत करके सम्यक्रूप से मिला कर उसमें बहुत परिमाण में नित्य नव-नवायमान राग का सञ्चार किया है, जिससे श्रीराधाकृष्ण की प्रकटलीला-काल के ब्रह्माण्डवासी भक्तगण श्रीश्रीराधाकृष्ण के इस प्रकार चित्त के महाभाव-क्रिया जनित क्षोभ को अनुभव करके आश्चर्यान्वित हो सकें।

प्रभु कहे—साध्यवस्तु अवधि एइ हय। तोमार प्रसादे इहा जानिल निश्चय ॥१५७॥
साध्यवस्तु साधन-बिनु केहो नाहि पाय। कृपा करि कह इहा पावार उपाय ॥१५८॥
राय कहे—ये कहाओ सेइ कहि वाणी। कि कहिये-भाल-मन्द किछुइ ना जानि ॥१५९॥
त्रिभुवन मध्ये ऐछे आछे कोन धीर। ये तोमार मायानाटे हइवेक स्थिर ? ॥१६०॥

राय रामानन्दजी के मुख से प्रेम विलास-विवर्त्त की बात एवं उनके गीत को सुनकर श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"राय ! बस, साध्य वस्तु की अवधि यही है इसे मैंने निश्चय ही तुम्हारी कृपा से जान लिया है। किन्तु साध्य वस्तु को बिना साधन किये कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता, इसलिये कृपा करके इस साध्यवस्तु के प्राप्त करने के साधन को भी कहिये।" राय ने कहा—"जो आप मुझ से कहलवाते हो वही बात मैं कहता जा रहा हूँ। मैं अच्छा कह रहा हूँ अथवा बुरा--इसे भी मैं कुछ नहीं जानता। इस त्रिभुवन में कौन ऐसा धीर पुरुष है जो तुम्हारे इस माया-नाटक को देखकर स्थिर रह सके ? अर्थात् कोई भी स्थिर नहीं रह सकता ॥१५७-१६०॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमन्महाप्रभुजी ने प्रेमविलास-विवर्त्त को साध्यवस्तु की अवधि कहा एवं फिर उसकी प्राप्ति के साधन को राय रामानन्दजी से पूछा। किन्तु यह साध्यवस्तु साधनलभ्य नहीं है। श्रीकृष्ण की ह्लादिनीशक्ति की अधिष्ठात्री देवी महाभाव-स्वरूपिणी श्रीराधाजी की यह अनादिसिद्ध निजी सम्पत्ति है। श्रीराधाजी की सेवा स्वातन्त्र्यमयी है। स्वातन्त्र्यमयी सेवा में नित्यदास-जीव का स्वरूपगत अधिकार भी नहीं है। केवल आनुगत्यमयी सेवा में ही जीव का अधिकार है। व्रजसुन्दरियों के आनुगत्य में उक्त प्रेमविलास-विवर्त्त-रूप लीला में श्रीश्रीप्रियाप्रीतम की सेवा ही जीव की साध्यवस्तु है एवं इस साध्यवस्तु की प्राप्ति के अनुकूल जो साधन हैं—उसकी ही श्रीमहाप्रभुजी ने जिज्ञासा की। उसे ही राय रामानन्दजी अगले पयारों में कहते हैं।

मोर मुखे वक्ता तुमि तुमि हओ श्रोता। अत्यन्त रहस्य शुन साधनेर कथा—॥१६१॥
राधाकृष्णेर लीला एइ अति गूढ़तर। दास्य, वात्सल्यादि भावेर न हय गोचर ॥१६२॥
सबे एक सखीगणेर इंहा अधिकार। सखी हैते हय एइ लीलार विस्तार ॥१६३॥
सखी बिनु एइ लीला पुष्टि नाहि हय। सखी लीला विस्तारिया सखी आस्वादय ॥१६४
सखी बिनु एइ लीलाय नाहि अन्येर गति। सखी-भावे तारे यइ करे अनुगति ॥१६५॥
राधाकृष्ण-कुञ्जसेवा-साध्य सेइ पाय। सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय ॥१६६॥

राय ने कहा—"मेरे मुख द्वारा आप ही वक्ता हो और फिर आप ही श्रोता हो। साधन की अति गोपनीय कथा सुनिये।" श्रीराधाकृष्ण की यह प्रेमविलासविवर्त्तलीला अति गूढ़तर है। दास्य, सख्य एवं वात्सल्य तथा अन्यान्य भगवत् स्वरूपों के परिकरों के भाव द्वारा भी इस लीला को कोई नहीं प्राप्त कर सकता। केवल मात्र इस लीला में श्रीराधिकाजी की सखियों का अधिकार है (क्योंकि उनमें महाभाव की अभिव्यक्ति है) सखीवृन्द से ही इस लीला का विस्तार होता है। सखीवृन्द के बिना इस लीला की पुष्टि नहीं हो सकती। सखीवृन्द ही इस लीला का विस्तार करती हैं एवं फिर उसका आस्वादन करती हैं। सखीवृन्द के अतिरिक्त इस लीला में किसी का प्रवेश नहीं है। अतः सखीभाव से जो इन सखीवृन्द का आनुगत्य करता है, वही इस श्रीश्रीराधाकृष्ण-कुञ्जसेवा-रूप साध्य-वस्तु को प्राप्त कर सकता है। इस साध्य को प्राप्त करने का और कोई भी उपाय नहीं है ॥१६१-१६६॥ इस बात के प्रमाण में एक श्लोक का उल्लेख करते हैं।

तथाहि श्रीगोविन्दलीलामृते (१०-१७)—

विभुरतिसुखरूपः स्वप्रकाशोऽपि भावः
क्षणमपि न हि राधाकृष्णयोर्या ऋते स्वाः।
प्रवहति रसपुष्टिं चिद्विभूतीरिवेशः
श्रयति न पदमासां कः सखीनां रसज्ञः ॥४४॥

परमेश्वर विभुत्वादि-गुण विशिष्ट होते हुए भी जैसे चित्-शक्ति के बिना पुष्टि लाभ नहीं करता, उसी प्रकार श्रीराधा-कृष्ण का भाव अति बृहत्, अति सुखरूप एवं स्वप्रकाश होते हुए भी अपनी सखियों के बिना क्षणकाल के लिये भी रस-पुष्टि को धारण नहीं करता। इसलिये ऐसा कौन रसज्ञ भक्त है जो इन सखियों के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण नहीं करेगा ? अर्थात् रसिक भक्त ही सखियों के चरणाश्रय को ग्रहण करते हैं ॥४४॥

सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन। कृष्णसह निजलीलाय नाहि सखीर मन ॥१६७॥
कृष्णसह राधिकार लीला ये कराय। निजकेलि हैते ताहे कोटि सुख पाय ॥१६८॥
राधार स्वरूप—कृष्णप्रेम—कल्पलता। सखीगण हय तार पल्लव पुष्प पाता ॥१६९॥
कृष्णलीलामृते यदि लताके सिञ्चय। निजसेक हैते पल्लवाद्येर कोटि सुख हय ॥१७०॥

सखीगण का स्वभाव अपूर्व एवं अनिर्वचनीय है। श्रीकृष्ण के साथ स्वयं क्रीड़ा करके सुख पाने की इच्छा सखियों के मन में नहीं है। किन्तु श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधिकाजी की क्रीड़ा कराने में जो उन्हें सुख होता है, उसे स्वयं श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा करने के सुख से कोटि गुणाधिक मानती हैं। श्रीराधिकाजी श्रीकृष्ण-प्रेम अर्थात् मादनाख्य-महाभाव की कल्प-लता-स्वरूपा हैं और सखीवृन्द उस लता के पल्लव, पुष्प, पत्ता हैं। श्रीकृष्णलीलामृत से यदि लता के मूल को सींचा जाये तो पल्लव पुष्पों को अपने सींचने की अपेक्षा कोटिगुणा अधिक सुख मिलता है। अर्थात् जैसे लता के मूल को सींचने से पल्लव पुष्पादि प्रफुल्लित हो उठते हैं, किन्तु यदि पल्लव-पुष्पादि को सींचा जाये तो वे इतने प्रफुल्लित नहीं होते, उसी प्रकार सखीवृन्द श्रीकृष्ण के साथ स्वयं क्रीड़ा करके इतना सुख नहीं प्राप्त करतीं, जितना सुख वे श्रीराधिकाजी के साथ श्रीकृष्ण की क्रीड़ा कराने में अनुभव करती हैं ॥१६७-१७०॥ इस बात का प्रमाण निम्नलिखित श्लोक में मिलता है।

तथाहि गोविन्दलीलामृते (१०-१६)—

सख्यः श्रीराधिकाया व्रजकुमुदविधोर्ह्लादिनीनाम-शक्तेः
सारांशप्रेमवल्ल्याः किसलयदलपुष्पादितुल्याः स्वतुल्याः ।
सिक्तायां कृष्णलीलामृत रसनिचयैरुल्ल-सन्त्याममुष्यां
जातोल्लासाः स्वसेकात् शतगुणमधिकं सन्ति यत्तन्न चित्रम् ॥४५॥

व्रजवासी अथवा व्रजसुन्दरी-रूप कुमुद बन के लिये चन्द्ररूप जो श्रीकृष्ण हैं, उनकी ह्लादिनी-शक्ति का सारांश जो प्रेम अर्थात् मादनाख्य महाभाव है, श्रीराधिकाजी उस प्रेम की लता के सदृश हैं और उनकी सखीवृन्द उस लता के किशलय, पत्र एवं पुष्पादि के समान हैं तथा वे भी श्रीराधाजी के समान ही हैं। इसलिये कृष्णलीलामृत-रूप जल सींचने से श्रीराधाजी के सिक्त एवं प्रफुल्लित होने से उन्हें (सखियों को) जो अपने सींचने के सुख की अपेक्षा शतगुण अधिक सुख होता है—इस में क्या आश्चर्य है ? ॥ ४५ ॥

यद्यपि सखीर कृष्णसङ्गमे नाहि मन । तथापि राधिका यत्ने कराय सङ्गम ॥१७१॥
नाना-छले, कृष्णे प्रेरि सङ्गम कराय । आत्मकृष्णसङ्ग हैते कोटि सुख पाय ॥१७२॥
अन्योन्ये विशुद्ध प्रेम करे रस पुष्ट । ता-सभार प्रेम देखि कृष्ण हय तुष्ट ॥१७३॥
सहजे गोपीर प्रेम—नहे प्राकृत-काम । कामक्रीड़ा-साम्ये तार कहि काम-नाम ॥१७४॥

यद्यपि सखीवृन्द श्रीकृष्ण के साथ सङ्गम सुख की इच्छा नहीं करतीं, तो भी श्रीराधिकाजी यत्न-पूर्वक उनका श्रीकृष्ण के साथ सङ्गम करा के श्रीकृष्ण का सुख सम्पादन करती हैं। अनेक प्रकार की युक्तियों एवं छल से श्रीकृष्ण को भी प्रेरणा करके उनके साथ सङ्गम कराती हैं। श्रीराधाजी अपने सङ्गम-सुख को अपेक्षा श्रीकृष्ण के साथ सखियों के सङ्गम-सुख में कोटिगुण अधिक सुख लाभ करती हैं। इस प्रकार श्रीराधाजी व उनकी सखियों का परस्पर विशुद्ध प्रेम अर्थात् स्वसुखाभिलाषा—शून्य-प्रेम रसकी पुष्टि करता है (श्रीराधाजी सखियों का सङ्गम केवल श्रीकृष्ण के सुख के लिये कराती हैं और सखियाँ श्रीराधाजी का सङ्गम भी केवल श्रीकृष्ण के सुख के लिये कराती हैं। किसी में भी अपने सुख की कामना नहीं है—इसलिये उनका विशुद्ध प्रेम है।) उनके इस विशुद्ध प्रेम को देख कर श्रीकृष्ण सन्तुष्ट होते हैं। गोपीगणों का यह प्रेम स्वाभाविक है, प्राकृत-काम नहीं है। काम क्रीड़ा के सदृश होने से इसे काम-नाम से वर्णन किया जाता है, किन्तु गोपी-प्रेम वास्तव में प्राकृत काम नहीं है ॥ १७१—१७४ ॥ इसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक कहते हैं—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्व्वविभागे साधनभक्तिलहर्य्याम् (२—१४३)—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्—प्रियाः ॥४६॥

व्रजगोप-सुन्दरियों का प्रेम भी काम-शब्द से विख्यात हुआ है, किन्तु इनका प्रेम स्वरूप से काम नहीं है। तभी तो श्रीउद्धव आदि भगवत् भक्तगण इस प्रेम की सदा प्रार्थना करते रहते हैं ॥४६॥

निजेन्द्रिय-सुखहेतु कामेर तात्पर्य्य । कृष्णसुखेर तात्पर्य्य गोपी-भाववर्य्य ॥१७५॥
निजेन्द्रिय-सुखवाञ्छा नाहि गोपिकार । कृष्णसुख दिते करे सङ्गम-विहार ॥१७६॥

काम का तात्पर्य अपनी इन्द्रियों के सुख में है अर्थात् जहाँ अपने सुख की वाञ्छा है—उसका नाम "काम" है। किन्तु गोपसुन्दरियों का जो श्रेष्ठ-भाव अथवा प्रेम है उसका तात्पर्य केवल मात्र श्रीकृष्ण को सुखी करने में ही है। गोपियों में अपनी इन्द्रियों को सुखी करने की वाञ्छा बिल्कुल नहीं है, वे जो श्रीकृष्ण के साथ सङ्गम बिहार आदि करती हैं, वह भी केवल श्रीकृष्ण को सुख देने के लिये करती हैं ॥१७५—१७६॥ श्रीमद्भागवत जी में भी यही बात कही गई है—

तथाहि श्रीभागवते (१०—३१—१६)—

यत्ते सुजात-चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥४७॥

(महारास की रात्रि में अन्तर्धान हो जाने पर श्रीकृष्णचन्द्र को ढूँढ़ते समय बन में तीक्ष्ण-तीक्ष्ण कांटों को देख कर विलाप करती हुई गोपसुन्दरीगण कहती हैं)—"हे प्यारे! तुम्हारे जिन परम कोमल चरणकमलों को हम अपने कठिन स्तनों पर डरते हुए धीरे-धीरे धारण करती थीं (कि वे हमारे स्तन आपके कोमल चरणों में कहीं लग न जायें) तुम उन्हीं कोमल चरण कमलों के द्वारा रात के समय बन-बन में भ्रमण कर रहे हो। वे आपके चरणकमल तीक्ष्ण कंकरों एवं काँटों से क्या व्यथित नहीं हो रहे होंगे ? (अवश्य ही दूख रहे होंगे।) हमारा चित्त इसलिये अत्यन्त व्याकुल हो रहा है, क्योंकि आप ही हमारे जीवन हो" ॥ ४७ ॥

सेइ गोपीभावामृते यार लोभ हय। वेद धर्म लोक त्यजि सेइ कृष्णे भजय ॥१७७॥
रागानुगामार्गे तारे भजे येइ जन। सेइ जन पाय ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन ॥१७८॥
ब्रज-लोकेर कोन भाव लञा येइ भजे। भावयोग्य-देह पाञा कृष्णे पाय ब्रजे ॥१७९॥
ताहाते दृष्टान्त—उपनिषद् श्रुतिगण। रागमार्गे भजि पाइल ब्रजेन्द्रनन्दन ॥१८०॥

जिसको गोपीजनों के विशुद्ध प्रेमामृत की प्राप्ति का लोभ उत्पन्न होता है, वह फिर वेद-धर्मों को त्याग कर श्रीकृष्ण का भजन करता है। जो भक्त राग-भक्ति के अनुगत होकर श्रीकृष्ण का भजन करते हैं—वे श्रीवृन्दाबन धाम में श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की सेवा प्राप्त करते हैं। ब्रज-परिकरों के जिस भाव को (दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—किसी एक भाव को) लेकर अर्थात् दास्य, सख्यादि परिकरों के अनुगत होकर जो श्रीकृष्ण का भजन करता हैं, उसी भाव योग्य सिद्ध-देह को प्राप्त करके वह भक्त श्रीब्रजधाम में श्रीकृष्ण-सेवा प्राप्त करता है। इस में उपनिषदोक्त श्रुतिगण अर्थात् श्रुत्यभिमानिनी देवी गण उदाहरण हैं, जिन्होंने रागानुगा-मार्ग से भजन करके श्रीवृन्दाबन में श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की प्राप्ति की थी ॥ १७७—१८० ॥ इसके प्रमाण-रूप में निम्नलिखित श्लोक कहते हैं—

तथाहि (भाः १०—८७—२३)—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्ड-विषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रि-सरोजसुधाः॥४८॥

श्रुति-अभिमानिनी देवियों ने श्रीकृष्ण के प्रति कहा—"प्राण, मन एवं इन्द्रियों का संयमन करके दृढ़ योग-युक्त मुनिगण हृदय में जिस निर्विशेष ब्रह्माख्य-तत्त्व की उपासना करते हैं (और उसे प्राप्त करते हैं।) आप के शत्रुगण भी (आपकी अनिष्ट-चिन्ता में या आप से भयभीत होकर) सर्वदा आपका

स्मरण करके उसी (ब्रह्माख्य-तत्त्व) को प्राप्त कर लेते हैं। सर्पराज के आकार-तुल्य आपकी भुजाओं में आसक्ति रखने वाली श्रीराधाजी आदि आप की नित्य-कान्तागण आपके जिन चरण-कमलों की सुधा को साक्षाद्भाव से अपने वक्षस्थलों पर धारण करती हैं, उनका आनुगत्य अवलम्बन करके हम भी उनकी भाँति आपकी चरण-कमल-सुधा को प्राप्त हुई हैं ॥ ४८ ॥

चै० च० चु० *टीका*—वृहद् वामन पुराण में कथा है कि श्रुति-अभिमानिनी देवीगणों ने अनन्त-काल तक श्रीभगवान् की स्तुति की। उनकी स्तुति से संतुष्ट होकर श्रीभगवान् आकाशवाणी के रूप में परोक्षभाव से बोले कि "तुम अपना अभीष्ट वर मांगो"। श्रुति-देवी बोलीं—"ब्रज में गोप-सुन्दरियों ने जिस भाव से आपका भजन किया है, उसी भाव से हम भी आपका भजन करना चाहती हैं।" तब श्रीभगवान् ने कहा—"श्रुतिगण ! यह आपकी अभिलाषा दुर्घट है, फिर भी मैं इसका अनुमोदन करता हूँ, तुम्हारी वासना पूर्ण होगी। जब मैं भारत क्षेत्र में मथुरा-मण्डल में अवतीर्ण होऊँगा, तब तुम भी मेरे प्रति उपपति-भाव से कृत्य-कृत्य होजाओगी।" बहुत समय तक श्रुतिगण श्रीभगवान् के रूप की चिन्ता करती रहीं एवं फिर गोपी-शरीर को पाकर यथा समय श्रीकृष्ण सेवा को उन्होंने प्राप्त किया। उन्होंने किस भाव से श्रीकृष्ण-भजन किया ? ब्रजसुन्दरियों के आनुगत्य में ही उन्होंने भजन किया। इस बात को उन्होंने उक्त श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा है।

इस प्रसङ्ग में दो विलक्षणताएँ हैं। एक तो यह है, कि गोपीगण श्रीकृष्ण की नित्य-प्रेयसी हैं, इसलिये उनके लिये तो श्रीकृष्ण के चरण-कमलों को अपने वक्षस्थल पर धारण करना स्वाभाविक है। किन्तु श्रुतिगणों ने श्रीकृष्ण की नित्य-प्रेयसी न होकर भी श्रीकृष्ण के चरण-कमलों को अपने वक्षस्थलों पर धारण किया, जो उनके पक्ष में सुदुर्लभ हैं।

दूसरे यह कि ब्रजगोपीगण श्रीकृष्ण को अपना नागर-प्राणपति जानती हैं और श्रीकृष्ण का रूप परिच्छिन्न ही मानती हैं। किन्तु श्रुतिगण भगवत्-तत्त्वों की ज्ञाता होने से श्रीकृष्ण का रूप अपरिच्छिन्न जानती हैं। तथापि ब्रजसुन्दरीगणों की भाँति श्रुतिगणों ने भी श्रीकृष्ण-चरण-सेवा को प्राप्त कर लिया। ब्रज में गोपी-देह को भी प्राप्त कर लिया जो उनके लिये दुर्लभ है।

ये दोनों सौभाग्य केवल ब्रजगोपीगणों के आनुगत्य के ही प्रभाव से उन्हें प्राप्त हुए हैं। अगले पयारों में श्रीकृष्णदास कविराज इस श्लोक का तात्पर्य प्रकाशित करते हैं।

'समदृश'—शब्दे कहे सेइ भावे अनुगति। 'समा'—शब्द कहे श्रुतिर गोपीदेह प्राप्ति ॥१८१॥
'अङ्घ्रिपद्मसुधा' कहे कृष्ण—सङ्गानन्द। विधिमार्गे ना पाइये ब्रजे कृष्णचन्द्र ॥१८२॥

श्लोक के 'समदृश'—शब्द का तात्पर्य है कि श्रुतियों ने गोपीगण के भाव की अनुगति लेकर भजन किया तथा 'समा'—शब्दसे तात्पर्य है कि उन्होंने गोपी-देह की भी प्राप्ति की। 'अङ्घ्रिपद्मसुधा'—शब्द का तात्पर्य है कि उन्होंने श्रीकृष्ण के साथ सम्भोगानन्द प्राप्त किया। (इस प्रकार का गोपीभाव एवं श्रीकृष्ण सम्भोगानन्द केवल रागानुगा-भक्तिमार्ग के भजन से प्राप्त होता है।) विधि-मार्ग के भजन से अर्थात् जिस में अनुराग नहीं है, केवल शास्त्र के शासन के भय से जो भक्ति या भजन किया जाता है—ऐसे भजन से श्रीवृन्दाबन धाम में श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की सेवा-प्राप्ति नहीं हो सकती। (विधिमार्ग के भजन से वैकुण्ठ में श्रीकृष्ण के अन्यान्य स्वरूप-श्रीनारायणादि की प्राप्ति होती है; श्रीवृन्दाबन-बिहारी—ब्रजेन्द्र-नन्दन की नहीं) ॥ १८१—१८२ ॥ ब्रज-परिकरों के आनुगत्य में ब्रजभाव के अङ्गीकार किये बिना श्रीब्रजधाम में श्रीकृष्ण की सेवा-प्राप्त नहीं की जा सकती—इस के प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक कहा गया है।

तथाहि तत्रैव (भा: १०-६७-२१)—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ।।४६।।

श्रीशुकदेवजीने महाराज परीक्षितजी से कहा—"यह गोपिका-सुत (श्रीयशोदानन्दन) भगवान् श्रीकृष्ण भक्तिमान् पुरुषोंके लिये जैसे सुलभ व बिना किसी प्रयासके प्राप्त होते हैं, देहाभिमानी पुरुषोंके लिये, देहाभिमान-शून्य ज्ञानी पुरुषों के लिये, और तो क्या जो भगवान् के स्वरूप भूत ब्रह्मा-शिव-लक्ष्मी आदि हैं—उनके लिये भी वे उसी प्रकार सुलभ एवं अनायास प्राप्त होने वाले नहीं हैं ।।४६।।

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक से स्पष्ट है कि जो साधक व्रजपरिकरों का आनुगत्य लेकर श्रीकृष्ण-भजन करते हैं उनके पक्ष में ही श्रीकृष्णप्राप्ति अति सहज एवं सुलभ है और जो आनुगत्य स्वीकार नहीं करते, वे ब्रह्मा-शिव एवं स्वयं लक्ष्मी होते हुए भी व्रज में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की सेवा प्राप्त नहीं कर सकते ।

अतएव गोपीभाव करि अङ्गीकार । रात्रि-दिने चिन्ते राधाकृष्णेर विहार ।।१८३।।
सिद्ध-देह चिन्ति करे ताहांइ सेवन । सखी भावे पाइ राधाकृष्णेर चरण ।।१८४।।
गोपी-अनुगति विना ऐश्वर्य ज्ञाने । भजिलेह नाहि पाय व्रजेन्द्र-नन्दने ।।१८५।।
ताहाते दृष्टान्त—लक्ष्मी करिला भजन । तथापि ना पाइल व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन ।।१८६।।

इसलिये गोपी-भाव का आनुगत्य अङ्गीकार करके निरन्तर रात-दिन श्रीराधा-कृष्ण की निकुञ्ज लीला का जो चिन्तवन करता है और गुरु-प्रदत्त सिद्ध-देह (सेवापरायण दासी-रूप) की भावना युक्त होकर श्रीप्रियाप्रीतम की जो सेवा करता है, वह सखी-भाव से (श्रीराधादासी-मञ्जरीरूप से) श्रीश्यामा-श्याम की चरण-सेवा को प्राप्त करता है। व्रजगोपसुन्दरियों के आनुगत्य के बिना जो ऐश्वर्य ज्ञान से अर्थात् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् सर्वेश्वर, अखिल ब्रह्माण्ड नायक हैं और मैं अति क्षुद्र जीव हूँ —इस भाव से भजन करता है, वह श्रीवृन्दावन बिहारी श्रीनन्दनन्दन की चरणसेवा प्राप्त नहीं कर सकता। उसका उदाहरण यह है कि श्रीलक्ष्मीजी ने गोपियों के आनुगत्य बिना श्रीकृष्ण का भजन किया, परन्तु वह व्रज-धाम में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन को प्राप्त न कर सकीं ।।१८३-१८६।।

तथाहि तत्रैव (श्रीभा: १०-४७-६०)—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उदगाद् व्रजसुन्दरीणाम् ।।५०।।

रासोत्सव में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की भुजाओं द्वारा आलिंगित-कण्ठ होकर अपने मनोरथों को पूर्ण करते हुए व्रजसुन्दरियों ने जिस प्रसाद या कृपा को प्राप्त किया है, उस कृपा को श्रीकृष्ण के वक्षस्थल में अवस्थान करने वाली परमप्रेममयी श्रीलक्ष्मीदेवी भी प्राप्त न कर सकीं एवं कमलों की सुगन्धि एवं कान्ति धारण करने वाली स्वर्ग की अप्सराएँ भी उसे प्राप्त न कर सकीं, अन्याय कामिनी-गण की तो बात ही क्या है ? ।।५०।।

चै० च० चु० *टीका*—श्रीलक्ष्मीजी वैकुण्ठ की अधीश्वरी हैं न ! ब्रह्मादि देवतागण एवं दिग्पालादिगण भी इनकी चरण-सेवा किया करते हैं, वह श्रीलक्ष्मीजी कभी किसी के अनुगत होकर नहीं रहीं, आनुगत्य

वह जानती ही नहीं हैं। इतना बड़ा प्रभुत्व रखते हुए फिर वह किसी का आनुगत्य सहन ही कैसे कर सकती हैं ? ज्ञात होता है श्रीलक्ष्मीजी ने व्रजसुन्दरियों का आनुगत्य स्वीकार नहीं किया—उसका फल यह हुआ कि कठोर तपस्या एवं विराग करते हुए भी वह व्रज में श्रीकृष्ण-सेवा को प्राप्त न कर सकीं और आज तक यमुना पार बेलवन में अवस्थान करती हैं इसका प्रमाण श्रीभागवतजी (१०—१६—३६) में मिलता है। श्लोक नं० ३४ पृष्ठ नं० २२० द्रष्टव्य है।

एत शुनि प्रभु तांरे कैल आलिङ्गन । दुइ जने गलागलि करेन क्रन्दन ॥१८७॥
एइमत प्रेमावेशे रात्रि गोङाइला । प्रातः काले निज निज कार्ये दोंहे गेला ॥१८८॥
विदाय समये प्रभुर चरणे धरियां । रामानन्द राय कहे मिनति करिया ॥१८९॥
मोरे कृपा करिते प्रभुर इहां आगमन । दिन दश रहि शोध मोर दुष्ट मन ॥१९०॥
तोमा बिना अन्य नाहि जीव उद्धारिते । तोमा बिना अन्य नाहि कृष्णप्रेम दिते ॥१९१॥

इस प्रकार श्रीरामानन्द राय से कथा-प्रसंग सुनकर श्रीमहाप्रभुजी ने उन्हें आलिंगन किया, दोनों परस्पर गले लगकर रोने लगे। इस भाँति प्रेमावेश में दोनों ने रात्रि बिताई और प्रातः काल होने पर दोनों अपने अपने कार्य की ओर रवाना हुए। विदा होते समय श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ कर राय रामानन्दजी प्रार्थना करने लगे—"प्रभो ! मुझ पर कृपा करने के लिये आप यहाँ पधारे थे। आठ-दस दिन यहाँ रहिये और मेरे दुष्ट मन को शुद्ध कीजिये। आप के बिना जीव का उद्धार नहीं हो सकता और न ही आप के बिना और कोई कृष्ण-प्रेम प्रदान ही कर सकता है ॥१८७–१९१॥

प्रभु कहे—आइलाङ् शुनि तोमार गुण । कृष्ण कथा शुनि शुद्ध कराइते मन ॥१९२॥
यैछे शुनिल, तैछे देखिल तोमार महिमा । राधाकृष्ण-प्रेमरस-ज्ञानेर तुमि सीमा ॥१९३॥
दशदिनेर का कथा, यावत् आमि जीव । तावत् तोमार सङ्ग छाड़िते नारिब ॥१९४॥
नीलाचले तुमि आमि रहिव एकसङ्गे । सुखे गोङाइव काल कृष्णकथा-रङ्गे ॥१९५॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"मैं आपके गुण सुनकर यहाँ आया था, और आप से श्रीकृष्ण-कथा सुनकर अपने मन को शुद्ध करने ही आया था। जैसे मैंने सुना था वैसे ही आप की महिमा मैंने आकर देखी। श्रीराधा-तत्त्व, श्रीकृष्ण-तत्त्व एवं प्रेम-रस-तत्त्व के ज्ञान की आप सीमा हैं। दस दिन की क्या बात, जब तक मैं जीवित रहूँगा, आपका संग न छोड़ूगा। आप और मैं नीलाचल में एक साथ रहेंगे एवं सुखपूर्वक श्रीकृष्ण-कथा-प्रसंग में समय बिताएँगे" ॥१९२–१९५॥

एत बलि दोंहे निज निज कार्ये गेला । सन्ध्याकाले राय पुन आसिया मिलिला ॥१९६॥
अन्योन्ये मिलिया दोंहे निभृते वसिया । प्रश्नोत्तरगोष्ठी करे आनन्दित हञा ॥१९७॥
प्रभु पुछे—रामानन्द करेन उत्तर । एइ मत सेइ रात्रि कथा परस्पर ॥१९८॥

इतना कहकर दोनों अपना अपना कार्य करने चले गये। सन्ध्या के समय फिर राय रामानन्दजी श्रीमहाप्रभुजी से आकर मिले। परस्पर मिलकर दोनों एकान्त स्थान पर जा बैठे, एवं परस्पर आनन्दित होकर प्रश्न-उत्तर करने लगे। श्रीमहाप्रभुजी प्रश्न करते एवं राय रामानन्दजी उसका उत्तर देते। इस प्रकार उन्होंने वह सारी रात भी कथा-प्रसंग में बिता दी ॥१९६–१९८॥

प्रभु कहे—कोन् विद्या विद्या मध्ये सार ? । राय कहे-कृष्ण भक्ति बिना विद्यानाहि आर॥१९९॥
कीर्तिगण मध्ये जीवेर कोन बड़ कीर्त्ति ? । कृष्ण प्रेम भक्त बलि यार हय ख्याति ॥२००॥
सम्पत्तिमध्ये जीवेर कोन सम्पत्ति गणि ? । राधाकृष्ण प्रेम यार से-इ-बड़ धनी ॥२०१॥
दुखमध्ये कोन् दुख हय गुरुतर ? । कृष्णभक्त-विरह-बिनु दुख नाहि आर ॥२०२॥
मुक्तमध्ये कोन् जीव मुक्त करि मानि ? । कृष्णप्रेम यार—से-इ-मुक्तशिरोमणि ॥२०३॥

श्रीप्रभु ने पूछा—"समस्त विद्याओं में सार-विद्या कौन सी है ?" राय ने कहा—"श्रीकृष्ण-भक्ति ही सार-विद्या है, और उसके अतिरिक्त कोई विद्या नहीं है।" प्रभु ने पूछा—"कीर्त्तियों में जीव की सबसे बड़ी कीर्त्ति कौन सी है ?" राय ने कहा—"श्रीकृष्ण का प्रेमी भक्त कहलाना"—जीवकी सबसे बड़ी कीर्त्ति है। प्रभु ने फिर पूछा—"सम्पत्तियों में जीव की बड़ी सम्पत्ति क्या है ?" राय ने कहा—"जिसके पास श्रीराधाकृष्ण-प्रेमरूप सम्पत्ति है—वही सबसे बड़ा धनी है।" प्रभु ने पूछा—"दुखों में कौन सा महान दुख है ?" राय ने उत्तर दिया—"श्रीकृष्ण के भक्त के विरह या वियोग के समान और कोई महान दुख नहीं है"। प्रभु ने पूछा—"मुक्तों में किस जीव को मुक्त हुआ जानना चाहिये ?" राय ने कहा—"जिस को श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त है—वही मुक्तशिरोमणि है" ॥१९९–२०३॥

गान मध्ये कोन् गान जीवेर निजधर्म ? । राधाकृष्णेर प्रेमकेलि ये गीतेर मर्म ॥२०४॥
श्रेयोमध्ये कोन् श्रेयः जीवेर हय सार ? । कृष्णभक्त-सङ्ग बिना श्रेयः नाहि आर ॥२०५॥
काहार स्मरण जीव करे अनुक्षण ? । कृष्ण नाम-गुण-लीला प्रधान स्मरण ॥२०६॥
ध्येयमध्ये जीवेर कर्त्तव्य कोन् ध्यान ? । राधाकृष्ण–पदाम्बुज–ध्यान प्रधान ॥२०७॥

"गान में कौन सा गान जीव का स्वरूप-धर्म है"?—"श्रीराधा-कृष्ण की प्रेम-केलि का गान ही सब गीतोंका रहस्य या सार है।"—"जीवोंके लिये श्रेयसमूहमें कौनसा श्रेय सार है ?"—"श्रीकृष्णभक्त के संग के समान और श्रेय कोई नहीं है।"—"किस का स्मरण जीव को हर समय करना चाहिये ?"—"श्रीकृष्ण के नाम-गुण-लीलाओं का स्मरण करना ही प्रधान स्मरण है।"—"ध्यान करने योग्य कौन सा ध्यान जीव के लिये कर्त्तव्य है ?"—"श्रीश्यामाश्याम के चरण-कमलों का ध्यान मुख्य कर्त्तव्य है" ॥

सर्व त्यजि जीवेर कर्त्तव्य काहाँ वास ? । ब्रजभूमि वृन्दावन—याहाँ लीलारास ॥२०८॥
श्रवणमध्ये जीवेर कोन् श्रेष्ठ श्रवण ? । राधाकृष्ण प्रेमकेलि कर्णरसायन ॥२०९॥
उपास्येर मध्ये कोन उपास्य प्रधान ? । श्रेष्ठ उपास्य—युगल राधाकृष्ण नाम ॥२१०॥
मुक्ति-भक्ति वाञ्छा येइ काहां दोंहार गति ? । स्थावर–देहें देवदेहे यैछे अवस्थिति ॥२११॥

"सब कुछ त्याग कर जीव को कहाँ वास करना उचित है ?"—"ब्रजभूमि श्रीवृन्दाबन में, जहाँ नित्य रासलीला होती है।"—"श्रवण में जीवके लिये सर्वश्रेष्ठ सुनने योग्य क्या है ?"—"श्रीश्रीराधाकृष्ण की प्रेमकेलि, जो कर्ण-रसायन तुल्य है, वही सुनने में श्रेष्ठ है।"—"उपास्यदेवों में कौन उपास्य या इष्टदेव प्रधान है ?"—"जिनका नाम श्रीराधा-श्रीकृष्ण है—वे दोनों ही श्रेष्ठ उपास्य-इष्टदेव हैं।"—"जो मुक्तिकी वाञ्छा करते हैं, उनकी क्या गति होती है ? और जो भक्ति की वाञ्छा करते हैं, उनकी क्या गति होती

है ?"—राय ने कहा—"मुक्ति चाहने वालों की गति वृक्षादिदेह-प्राप्ति के समान है और भक्ति चाहने वालों की गति देवता-शरीर-प्राप्ति के समान है" ॥२०८—२११॥

चै० च० चु० *टीका*—पयार २११ में मुक्ति वाञ्छा करने वालों की गति वृक्षादि देह-प्राप्ति के समान कही गई है। उसका कारण यह है कि जो लोग मुक्ति चाहते हैं—जब वे अपनी अभीष्ट वस्तु की सिद्धि को प्राप्त होते हैं तो वे ब्रह्म के साथ सायुज्य को प्राप्त करते हैं अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। वृक्ष–पर्वतादि स्थावर शरीरधारी जीव प्रकृति के नियमानुसार प्रकृति का साधारण कुछ आनन्द अनुभव करते हैं किन्तु आनन्द की विचित्रता का वे कुछ भी अनुभव नहीं कर पाते। उसी प्रकार ब्रह्म के साथ सायुज्य प्राप्त करने वाले जीव भी आनन्दमय-ब्रह्म को प्राप्त करके आनन्द-सत्ता में अवश्य लीन हो जाते हैं और अव्यक्तशक्तिक-ब्रह्म को आनन्द-सत्ता के स्वरूपानुबन्धि धर्मवशतः सामान्य आनन्द का अनुभव भले ही कुछ कर पाते हैं। किन्तु निर्विशेष ब्रह्म के आनन्द-वैचित्री रहित होने से वे किसी आनन्द-वैचित्री का अनुभव नहीं कर सकते। इसलिये मोक्ष वाञ्छा करने वालों की स्थावर–देह–प्राप्ति के समान गति कही गई है।

जो भक्ति की वाञ्छा करते हैं—वे सिद्धावस्था में अपने अपने भावों के अनुकूल पार्षद देह-प्राप्ति करके श्रीकृष्ण के समीप जाकर अवस्थान करते हैं। अपने अपने भावानुकूल श्रीकृष्ण की लीला में वे सेवा करते रहते हैं। देवता–शरीरधारी जीव जैसे स्वच्छन्दभाव से अनेक आनन्द उपभोग करते हैं, श्रीकृष्ण के पार्षद भक्त भी उसी प्रकार विविध—वैचित्रीमय लीलारसका आस्वादन करके आनन्द वैचित्री का अनुभव कर सकते हैं—इसलिये भक्तिवाञ्छा करने वालों की देव-देह-प्राप्ति के समान गति बतलाई गई है।

अरसज्ञ काक चूषे ज्ञान निम्बफले। रसज्ञ कोकिल खाय प्रेमाम्र–मुकुले ॥२१२॥
अभागिया ज्ञानी आस्वादये शुष्कज्ञान। कृष्णप्रेमामृतपान करे भाग्यवान ॥२१३॥
एइमत दुइजन कृष्णकथारसे। नृत्य-गीत रोदने हइल रात्रिशेषे ॥२१४॥
दोंहे निज निज कार्ये चलिला विहाने। सन्ध्याकाले राय आसि मिलला आपने ॥२१५॥

राय रामानन्दजी ने आगे कहा कि—"मुक्तिवाञ्छा करने वाला ज्ञानी रस को न जानने वाले के समान है, जो नीम के फल (कड़वाहट) को अथवा स्वादहीन वस्तुओं को खाया करता है। (ज्ञानी उसी प्रकार भक्ति-रसास्वादन को न जानकर ब्रह्म-सायुज्य-मुक्ति जो नीरस है, जिसमें लीला नहीं एवं आनन्द की वैचित्री नहीं उसे चाहता है) और भक्ति को चाहने वाला भक्त कोकिला के समान है। जैसे कोकिला रस को जानती है और नीरस—स्वादहीन वस्तुओं को छोड़कर आम के मुकुलों का रसास्वादन करती है—उसी प्रकार भक्त भी जीव-ब्रह्म के सायुज्य की निरसता को त्याग कर श्रीकृष्ण के प्रेमामृत रूप आम का, जो आनन्द-वैचित्री के रस से पूर्ण है, आस्वादन किया करता है। अभागे ज्ञानी पुरुष नीरस शुष्कज्ञान (वैचित्री हीन जीव-ब्रह्मैकज्ञान) का आस्वादन करते हैं और भाग्यवान् भक्त श्रीकृष्ण प्रेमामृत का पान किया करते हैं। इस प्रकार श्रीरायरामानन्द एवं श्रीमन्महाप्रभुजी ने श्रीकृष्ण-कथा कहते सुनते तथा प्रेम-पूर्वक नृत्य-गान-क्रन्दन करते हुए सारी रात बिताई। प्रभात होते ही दोनों अपने अपने कामो में चले गये। फिर सन्ध्या के समय श्रीरामानन्द राय श्रीमहाप्रभुजी से आकर मिले ॥२१२–२१५॥

इष्टगोष्ठी कृष्ण-कथा कहि कथोक्षण। प्रभुपदे धरि राय करे निवेदन ॥२१६॥
कृष्णतत्त्व राधातत्त्व प्रेमतत्त्व सार। रसतत्त्व लीलातत्त्व विविधि प्रकार ॥२१७॥

एत तत्त्व मोर चित्ते कैले प्रकाशन । ब्रह्मारे वेद येन पड़ाइल नारायण ॥२१८॥
अन्तर्यामि-ईश्वरेर एइ रीति हये । बाहिरे ना कहे वस्तु प्रकाशे हृदये ॥२१९॥

दोनों ने परस्पर कुशल प्रश्न एवं श्रीकृष्ण-कथा को कुछ देर कहा-सुना, फिर श्रीमन्महाप्रभु के चरण-कमल पकड़कर राय रामानन्दजी ने निवेदन किया—"आपने श्रीकृष्ण-तत्त्व, श्रीराधातत्त्व, प्रेमतत्त्व का सार (विलास-विवर्त्त), रसतत्त्व एवं विविध प्रकार का लीला-तत्त्व—ये सब तत्त्व मेरे चित्त में स्फुरित कराये हैं, जैसे श्रीनारायण ने ब्रह्माजी को वेद पढ़ाये थे । अन्तर्यामी ईश्वर की भी यही रीति है कि वे भी बाहर साक्षात् भाव से जीव को शिक्षा नहीं देते किन्तु हर वस्तु का ज्ञान जीव के हृदय में प्रकाशित करते रहते हैं ॥२१६-२१९॥ इस उक्ति के प्रमाण में श्रीमद्भागवतजी का एक श्लोक कहते हैं :—

तथाहि (भा: १—१—१)

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥५१॥

समस्त सृष्टवस्तुओं में जिस भगवान् के सत्-स्वरूप से वर्त्तमान होने के कारण उन वस्तुओं का अस्तित्व प्रतीत होता है, एवं अवस्तु अर्थात् आकाश के फूलादि अलीक पदार्थों में जिस श्रीभगवान् का सम्बन्ध न होने से उन वस्तुओं की कुछ भी सत्ता नहीं है; अतः इस परिदृष्यमान जगत् की सृष्टि, स्थिति व प्रलय का जो (श्रीभगवान्) कारण है; जो सर्वज्ञ है और स्वतः सिद्ध ज्ञान स्वरूप है; एवं जिन वेदों के समझने में ज्ञानीगण भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं, उन वेदों को जिसने आदि कवि ब्रह्माजी के हृदय में सङ्कल्पमात्र से प्रकाशित किया है और तेज में, जल में, व मृतिकादि के विकारस्वरूप दर्पण में इन वस्तुओं का एक वस्तु में दूसरी वस्तु का भ्रम जैसे अधिष्ठान की सत्यता के कारण सत्यवत् प्रतीत होता है, उसी प्रकार जिसकी सत्यता के कारण सत्त्व, रजः व तमः—इन तीनों गुणों की सृष्टि (भूत, इन्द्रिय एवं देवता) वस्तुतः मिथ्या होते हुए भी सत्य-स्वरूप प्रतीत होते हैं [अथवा, तेज में, जलादि का भ्रम जैसे वास्तव में अलीक (असत्य) है, उसी प्रकार जिस के व्यतिरेक में त्रिगुणमयी समस्त सृष्टि मिथ्या है यानी जिस की परमार्थ-सत्यता को प्रतिपादन करने के लिये आदि-अन्त युक्त असार विश्व का वस्तुतः मिथ्यात्व न होते हुए भी मिथ्यात्व कहा गया है] एवं स्वीय तेजः प्रभाव से जिसमें मायिक उपाधियों का सम्बन्ध निरस्त होगया है—उस सत्यस्वरूप परमेश्वर का मैं ध्यान करता हूँ ॥ ५१ ॥ (यह अर्थ श्रीपाद श्रीधर स्वामी की टीका के अनुसार हैं । नीचे श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकानुसार अर्थ उल्लेख करते हैं—)

[अथवा] अन्वय-व्यतिरेक भाव से इस विश्व का उपादान-कारण एवं निमित्त-कारण होने से—इस विश्व की सृष्टि-स्थिति-प्रलय का जो कारण है, सृज्य-असृज्य समस्त विषय में जो सर्वज्ञ है, जो अन्य निरपेक्ष है, जो स्वतः सिद्ध एवं स्वतन्त्र है; जिन वेदों को समझने में ज्ञानीगण भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं, उन वेदों को जिसने सङ्कल्पमात्र से ब्रह्माजी के हृदय में प्रकाशित किया, तेज, जल एवं मृत्तिका—इन वस्तुओं में से एक को दूसरी वस्तु मान लेना जैसे मिथ्या है या मिथ्या ज्ञान मात्र है—अथवा, जहाँ तेज, जल व मृत्तिका का यथायथ सम्मिलन होता है अर्थात् इनके यथायथ सम्मिलन से जो वस्तु (शरीर) उत्पन्न होता है; वह त्रिगुण सृष्टि (देह) ही मिथ्या या अनित्य है—इस त्रिगुणमयी सृष्टि का जो कर्त्ता

है, जिसका देह मिथ्या नहीं है, जो स्वीय स्वरूपशक्ति द्वारा माया को सर्वदा दूर हटाये रखता है—उस परमेश्वर का मैं ध्यान करता हूँ ॥ ५१ ॥

चै० च० चु० *टीका*—श्लोकस्थ **'त्रिसर्गो मृषा'**—अंश का अर्थ श्रीपाद श्रीधर स्वामी ने **त्रिसर्गः+अमृषा** ग्रहण किया है अर्थात् सत्व, रजः, तमः—इन तीनों गुणों की सृष्टि—भूत, इन्द्रिय तथा देवता उस सत्य स्वरूप के आश्रित होने से सत्य ही प्रतीति होते हैं। अधिष्ठान की सत्यता में मिथ्या वस्तु भी सत्य होकर प्रतीत होती है—इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं—**यथा तेजोवारिमृदां विनिमयः** अर्थात् अधिष्ठान की सत्यता के कारण ही तेज, जल व कांच—इन सब वस्तुओं का एक वस्तु में दूसरी वस्तु का भ्रम सत्य होकर प्रतीत होता है। कांच या दर्पण में सूर्य्य का तेज पड़ने से उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह प्रतिबिम्ब वस्तुतः मिथ्या होता है, किन्तु मिथ्या होते हुए भी वह सत्य प्रतीत होता है। मरुभूमि में (रेती में) तेज के कारण जल की भ्रांति होती है। जल की सत्यता ही मरीचिका के मिथ्या-जल को भी सत्यवत् प्रतीत करा देती है, इसी प्रकार ब्रह्म की सत्यता से ही मिथ्या मायिक सृष्टि सत्यवत् प्रतीत होती है। श्रीपाद श्रीधर स्वामी ने ऐसा अर्थ ग्रहण किया है।

आपात दृष्टि से उक्त व्याख्या मायावाद—यानि श्रीपाद शङ्कराचार्य-मत के अनुसार प्रतीत होती है क्योंकि मायावादी भी यही कहते हैं कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, ब्रह्म में जगत् भ्रम-मात्र है। किन्तु स्वामीपाद का उपसंहार मायावाद के अनुकूल नहीं है। मायावादी तो ब्रह्म को चित्-सत्ता मात्र निर्विशेष मानते हैं। किन्तु स्वामीपाद ने श्लोकस्थ "परम" शब्द का अर्थ—परमेश्वर अर्थात् सविशेष परमब्रह्म ही स्वीकार किया है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तीपाद ने श्लोकस्थ **त्रिसर्गोमृषा**—अंश का अर्थ **त्रिसर्गः+मृषा**—ऐसा ग्रहण किया है अर्थात् त्रिसर्गः—त्रिगुण सृष्ट जो देह है, वह ही **मृषा**—अर्थात् मिथ्या व अनित्य है। सत्व, रजः, तमः इन तीनों गुणों का विकार-स्वरूप तेजः, वारि व मृत्तिका है। इन तीनों का उपलक्षण क्षिति (मृत्तिका) अप् (वारि) एवं तेजः—वायु व आकाश इन पाञ्च भूतों में है। इन पाञ्चभूतों के सम्मिलन से देह गठित होता है। अतः वह त्रिसर्गरूप देह अनित्य या मिथ्या है।

तेजोवारिमृदा—तेजः वारि व मृत्तिका—यह तीनों वस्तुएँ, **यथा**—यथावत् अर्थात् यथायथभाव में, **विनिमयः**—परस्पर मिलित होती हैं, **यत्र**—जहाँ अर्थात् जिस स्थल पर—वह त्रिसर्ग मिथ्या है। तेज (वायु-आकाश) वारि (जल) एवं मृत्तिका (पृथिवी) इन पञ्चभूतों के यथायथ मिलन से देह ही गठित होता हैं—अतः वह त्रिसर्गरूप देह ही मिथ्या है—इस प्रकार चक्रवर्त्तीपाद ने अर्थ किया है।

इनके अर्थ में मायावादियों के मन्तव्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

उक्त श्लोक श्रीमद्भागवत महापुराण का सर्व प्रथम श्लोक है, और इसमें सत्यस्वरूप परतत्व-वस्तु के ध्यान की बात कही गई है। वह परत्ववस्तु क्या है ?—इसका स्पष्ट उल्लेख यहाँ नहीं मिलता तो भी श्रीजीवगोस्वामीपाद ने लिखा है कि इस श्लोक में कहे गये "सत्यम्"—शब्द के उपलक्षण में श्रुति-प्रोक्त "**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**" को ही परतत्त्ववस्तु रूप कहा गया है जो सर्वविध बृहत् वस्तु है। स्वरूप में, शक्ति में, ज्ञान-बल-क्रिया में जो सर्वविध सर्वापेक्षा बृहत् है—वह सर्वशक्तिमान् सर्वावतारी, सर्वेश्वर, परमेश्वर परम सत्य, परम तत्त्व स्वरूप परमब्रह्म श्रीकृष्ण ब्रजेन्द्रनन्दन ही हैं।

इस श्लोक के और भी कई एक अर्थ श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्त्ती तथा श्रीजीवगोस्वामीपाद ने किये हैं, जिन्हें ग्रन्थ के विस्तार भय से हम यहाँ उद्धृत नहीं कर रहे हैं। पच्चीसवें परिच्छेद ३९ वें श्लोक की टीका में इस के लीला-पर अर्थ द्रष्टव्य हैं।

इस श्लोक से राय रामानन्दजी ने यह प्रमाणित किया है कि जैसे आदि-कवि श्रीब्रह्माजी के मन में श्रीभगवान् ने वेदों का ज्ञान अपने सङ्कल्प-मात्र से प्रकाशित कर दिया था, उसी प्रकार आपने ही मेरे मुख से इन सब तत्त्वों का प्रचार एवं प्रकाश कराया है। इतना कह कर राय रामानन्दजी ने आगे कहा—

एक संशय मोर आाच्छये हृदये। कृपा करि कह मोरे ताहार निश्चये ॥२२०॥
पहिले देखिलु तोमा संन्यासि-स्वरूप। एवे तोमा देखि मुञि श्याम-गोप रूप ॥२२१॥
तोमार सन्मुखे देखों काञ्चन-पञ्चालिका। तार गौरकान्त्ये तोमार सर्व-अङ्ग ढाका॥२२२॥
ताहाते प्रकट देखि सवंशी—वदन। नाना भावे चञ्चल ताहे कमल-नयन ॥२२३॥
एइ मत तोमा देखि हय चमत्कार। अकपटे कह प्रभु! कारण इहार ॥२२४॥

राय रामनन्दजी ने कहा—"प्रभो! एक संशय मेरे हृदय में रह गया है, कृपा करके आप उसका निश्चित रूप से समाधान कीजिये। वह यह है कि पहले तो अभी तक मैंने आपको संन्यासी रूप में देख रहा था। किन्तु अभी आपका श्यामवर्ण युक्त गोप-रूप देखा और अब आपके सामने एक स्वर्णमयी प्रतिमा को देख रहा हूँ एवं उसकी गौर कान्ति से आपके समस्त अङ्ग ढके हुए दीखते हैं। आपके मुख पर तो स्पष्ट रूप से वंशी भी देख रहा हूँ। अनेक भावों की तरङ्गों द्वारा आपके नेत्रकमल भी आज बहुत चञ्चल हो रहे हैं। इस प्रकार आज आपके स्वरूप को देख कर मुझे चमत्कार हो रहा है। हे प्रभो! आप कपट छोड़ कर इसका कारण कहिये—अर्थात् आपका क्या स्वरूप है? आप उसे कपट छोड़ कर कहिये" ॥ २२०—२२४ ॥

चै० च० चु० *टीका*—राय रामानन्दजी के मुख से समस्त तत्त्वों को प्रकाशित कराके श्रीमहाप्रभु अब उनके द्वारा अपने स्वरूप-तत्त्व को प्रकाशित कराने की इच्छा करते हैं, सो इसी आशय से कुछ ऐश्वर्य प्रकट किया। एकदम राय रामानन्दजी ने देखा कि श्रीमहाप्रभु का अब संन्यासी रूप नहीं है, जो गोदावरी तट पर मिलने के बाद कलतक था। उन्होंने देखा कि श्यामसुन्दर वंशीधारी गोपाल मेरे सामने खड़े हैं और उनके सामने एक स्वर्णमयी प्रतिमा सदृश एक रमणी (श्रीराधाजी) भी खड़ी हैं। उस रमणी की गौर-उज्ज्वल कान्ति से श्यामसुन्दर के समस्त अङ्ग आच्छादित से हो रहे हैं। यह स्वरूप देख कर श्रीराय रामानन्द को सन्देह उत्पन्न हो आया और वे पूछने लगे कि वे कौन हैं?

प्रभु कहे—कृष्णे तोमार गाढ़प्रेम हय। प्रेमार स्वभाव एइ जानिह निश्चय ॥२२५॥
महाभागवत देखे स्थावर—जङ्गम। ताहां ताहां हय तांर श्रीकृष्ण-स्फुरण ॥२२६॥
स्थावर-जङ्गम देखे, ना देखे तार मूर्त्ति। सर्वत्र हय निज इष्टदेव स्फूर्त्ति॥२२७॥

श्रीमहाप्रभुजी ने आत्म-गोपन करते हुए कहा—"राय! आपका श्रीकृष्ण में गाढ़ अनुराग है और प्रेम का ही यह स्वभाव है कि आप श्रीराधाजी सहित वंशीवदन श्यामसुन्दर के स्वरूप दर्शन कर रहे हैं, यह निश्चित बात है। कारण कि जो महाभागवत—भक्त पुरुष हैं, वे स्थावर-जङ्गम—जिस वस्तु को भी देखते हैं उसमें उन्हें श्रीकृष्ण की ही स्फूर्त्ति होती हैं। स्थावर-जङ्गम को देखते हुए भी वे उन्हें स्थावर जङ्गम शरीर में नहीं देखते किन्तु उन्हें सर्वत्र अपने इष्टदेव की स्फूर्त्ति होती है। (अर्थात् श्रीमहाप्रभु ने इशारे में बताया कि राय! तुम्हारे गाढ़ प्रेम से तुम्हें अपने इष्टदेव की ही स्फूर्त्ति हो रही है किन्तु मेरे वास्तव स्वरूप को नहीं देख पा रहे हो।) ॥ २२५—२२७ ॥ जिनको सर्वत्र अपने इष्टदेव की स्फूर्त्ति

होती है, वे महाभागवत हैं अथवा महाभागवत-पुरुष को ही सर्वत्र अपने इष्टदेव की स्फूर्त्ति होती है, इसके प्रमाण में नीचे के दो श्लोक उद्‌धृत करते हैं।

तथाहि (भा: ११-२-४५)—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥५२॥

महाराज निमि के प्रश्न के उत्तर में योगेन्द्र श्रीहरि महाभागवतों के मानसिक भावों का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—"हे राजन्! जो सर्वभूतों में अपने उपास्यदेव श्रीभगवान् के ही दर्शन करते हैं एवं जो अपने उपास्यदेव में समस्त प्राणियों को देखते हैं—वे ही भागवतों में उत्तम हैं ॥५२॥

तथाहि तत्रैव (भा: १०-३५-९)—

बनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणत भारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म ॥५३॥

फल-पुष्पों से परिपूर्ण होने के कारण झुकी हुई शाखों युक्त एवं पुलकित शरीर होकर वन की सब लताएँ, मानो उनमें श्रीविष्णु विराजमान हैं—इसे प्रकाशित करती हुईं आनन्दपूर्वक मधुधारा वर्षण कर रही हैं, और उन लताओं के प्रति तरुगण भी लताओं की भाँति आनन्द प्रकाश कर रहे हैं।

चै० च० चु० *टीका*—यह श्लोक श्रीकृष्ण की अत्यन्त प्रेयसी ब्रजसुन्दरियों ने कहा है। वे ऐसा मानती हैं कि वन के तरु-लतादि भी श्रीकृष्ण के प्रति उनकी तरह प्रेम रखते हैं। श्रीकृष्ण की हृदय में स्फूर्त्ति अनुभव करके वे जैसे आनन्द में अश्रुमोचन करती हैं, ब्रजसुन्दरियाँ मन में अनुमान करती हैं कि बन के तरु-लतादि भी उनकी तरह श्रीकृष्ण का हृदय में अनुभव करके (मधुधारा) अश्रु ही बहा रहे हैं, इत्यादि। इससे स्पष्ट होता है कि महाभागवत पुरुषों की जहाँ जहाँ दृष्टि पड़ती है—वहाँ वहाँ सर्वत्र उन्हें श्रीकृष्ण की ही स्फूर्त्ति होती है।

राधाकृष्णे तोमार महाप्रेम हय। याहाँ ताहाँ राधाकृष्ण तोमारे स्फुरय ॥२२८॥
राय कहे—तुमि प्रभु! छाड़ भारिभूरि। मोर आगे निज रूप ना करिह चूरि ॥२२९॥
राधिकार भावकान्ति करि अङ्गीकार। निज रस-आस्वादिते करियाछ अवतार ॥२३०॥
निज गूढ़ कार्य्य तोमार प्रेम-आस्वादन। आनुषङ्गे प्रेममय कैले त्रिभुवन ॥२३१॥
आपने आइले मोरे करिते उद्धार। एवे कपट कर, तोमार कोन् व्यवहार? ॥२३२॥

श्रीमहाप्रभुजी ने फिर कहा—"राय! आपका श्रीराधाकृष्ण में महाप्रेम है। इसलिये आपको सर्वत्र श्रीश्रीराधाकृष्ण की स्फूर्त्ति होती है।" राय ने कहा:—'प्रभो! अब आप चातुरी को छोड़िये और मेरे आगे आत्मगोपन न करिये' (इतना कहते ही रायरामानन्दजी पर प्रभु ने कृपा की और अपना स्वरूप उनके हृदय में स्फुरित कराया। उसे देखते ही राय बोले) श्रीराधिकाजी की भाव एवं कान्ति अङ्गीकार करके अपने रस को अर्थात् प्रेम के आश्रय-जातीय श्रीकृष्ण के माधुर्यरस को आस्वादन करने के लिये आप अवतीर्ण हुए हो। आश्रय-जातीय प्रेम-रस का आस्वादन करना ही आपका रहस्यमय कार्य है अर्थात् आप के अवतार का अन्तरङ्ग-कारण आश्रय-जातीय प्रेम-रस का आस्वादन करना ही है। आनुषङ्गिक भाव से

आपने त्रिभुवन को भी प्रेमदान करके प्रेममय कर दिया है। अतः आप मेरा उद्धार करने के लिये ही यहाँ पधारे हो, अब क्यों कपट करते हो ? यह कैसी आपकी करुणा है ? ॥२२८-२३२॥

तबे हासि तारे प्रभु देखाइला स्वरूप। रसराज महाभाव दुइ एकरूप ॥२३३॥
देखि रामानन्द हैला आनन्दे मूर्च्छिते। धरिते न पारे देह–पड़िला भूमिते ॥२३४॥
प्रभु तारे हस्त-स्पर्शे कराइल चेतन। सन्न्यासीर वेश देखि विस्मित हइल मन ॥२३५॥
आलिङ्गन करि प्रभु कैल आश्वासन। तोमा बिना एइ रूप ना देखे कानेजन ॥२३६॥

तब श्रीमहाप्रभुजी हंस पड़े और अपना स्वरूप रायरामानन्दजी को दिखलाया—रसराज व महाभाव दोनों एक रूप में प्रगटित हो रहे थे। इस अनूपरूप को देखकर रायरामानन्दजी आनन्द में मूर्च्छित हो गये एवं अपने शरीर को सम्भाल न सके और भूमि पर गिर पड़े। श्रीमहाप्रभुजी ने अपना हस्त-कमल उन्हें स्पर्श किया एवं उन्हें चेतन कराया। चेतनता आते ही राय रामानन्द ने देखा कि मेरे सामने वही संन्यासीवेश में प्रभु खड़े हैं—यह देखकर वे बहुत विस्मित हुए। श्रीमहाप्रभुजी ने उन्हें आलिङ्गन करके सान्त्वना दी और कहने लगे—"राय ! तुम्हारे बिना और कोई भी इस अनूप रूप को नहीं देख सकता।

चै० च० चु० *टीका*—रसराज-महाभाव-मिलित एक स्वरूप, जो श्रीमहाप्रभुजी ने रायरामानन्दजी को दिखाया—उससे तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण के श्याम अङ्ग श्रीराधाजी की गौर कान्ति द्वारा अच्छादित मात्र नहीं है। बल्कि अप्राकृत-शृङ्गार-रसराज मूर्त्ति श्रीकृष्ण तथा मादनाख्य-महाभाव स्वरूपिणी श्रीराधिकाजी—ये दोनों परस्पर घुल-मिलकर अन्तर-बाहर एक ही स्वरूप होकर जिस रूप में प्रकट हुए हैं—वह रूप है श्रीमन्महाप्रभु गौराङ्ग का। इस अपूर्व स्वरूप के दर्शन श्रीराय रामानन्दजी को श्रीचैतन्य देव ने अपनी अपार-कृपा द्वारा प्राप्त कराये। कारण कि उनका यह स्वरूप केवल उनकी कृपा द्वारा ही अनुभव-वेद्य है (भूमिका स्वरूप—"श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न-संग्रह" पृष्ठ २५५ द्रष्टव्य) अप्राकृत शृङ्गार-रसराज-मादनाख्यमहाभाव मिलित श्रीगौराङ्ग स्वरूप की सुन्दर छवि देखकर श्रीरामानन्दजी आनन्द में अपने आप को सम्भाल न सके एवं मूर्च्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पड़े। श्रीमहाप्रभु ने अपने ऐश्वर्य का संवरण किया एवं उन्हें चेतन कर पुनः अपना संन्यासी रूप दिखाया और कहने लगे।

मोर तत्त्व लीला-रस तोमार गोचरे। अतएव एइ रूप देखाइल तोमारे ॥२३७॥
गौर-अङ्ग नहे मोर–राधाङ्ग–स्पर्शन। गोपेन्द्र–सुतबिना तेंहो ना स्पर्शे अन्य जन ॥२३८
तांर भावे भावित आमि करि आत्ममन। तबे निज माधुर्य-रस करि आस्वादन ॥२३९॥
तोमार ठाञि आमार किछु गुप्त नाहि कर्म। लुकाइले प्रेमबले जान सर्व मर्म ॥२४०॥
गुप्ते राखिह, काहां ना करिह प्रकाश। आमार वातुलचेष्टा–लोके उपहास ॥२४१॥
आमि एक वातुल, तुमि द्वितीय वातुल। अतएव तोमाय आमाय हइ समतुल ॥२४२॥

श्रीगौराङ्ग सुन्दर ने कहा—"राय ! मेरा सब तत्त्व एवं मेरा लीला-रस तुम्हें गोचर है। (राय रामानन्दजी वृन्दाबन-लीला की श्रीविशाखा सखी ही तो हैं। पृष्ठ १६६ द्रष्टव्य) इसलिये मैंने तुम्हें यह अपना स्वरूप दिखाया है। मेरा गौर वर्ण जो तुम्हें दीखा है, वह गौर वर्ण मेरा नहीं है, (मेरा तो वही श्याम वर्ण है) किन्तु श्रीराधाजी के अङ्ग स्पर्श से मेरा अङ्ग प्रतिअङ्ग गौरवर्ण हो गया है। (और यह तुम जानते ही हो कि) श्रीराधिकाजी श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और किसी को स्पर्श नहीं करती हैं (यहाँ श्रीमहाप्रभु ने अपने ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण स्वरूप का परिचय दिया है। (और रामानन्द ! मैं केवल गौर कान्ति द्वारा गौराङ्ग नहीं हूँ, अपितु) श्रीराधिकाजी के मादनाख्य-महाभाव में मेरे मन-आत्मा भावित

हो रहे हैं अर्थात् मैंने उनके मादनाख्य-महाभाव को भी ग्रहण किया है—(कारण ?)-अपने माधुर्यरस का आस्वादन करने के लिये। क्योंकि मादनाख्य-महाभावके बिना तो श्रीकृष्ण का असमोर्द्ध माधुर्य आस्वादन हो नहीं सकता।) अब तुम्हारे सामने मेरी कोई लीला छिपी नहीं रही है। मैंने आत्म-गोपन का अवश्य पहले यत्न किया किन्तु, रामानन्द ! तुमने अपने प्रेम के प्रभाव से मेरा सब रहस्य जान ही लिया। (श्रीकृष्ण अपने भक्तों के आगे उनके प्रेम की प्रबलता से आत्म गोपन नहीं कर सकते) राय ! मेरे इस स्वरूप को-तुम गुप्त ही रखना। किसी के आगे प्रकाशित न करना, क्योंकि मेरी तो सब चेष्टाएं पागलों की भाँति हैं, जिन्हें देख-सुनकर लोग उपहास करेंगे अर्थात् श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"रामानन्द ! मेरी यह लीला अथवा चेष्टा परमतम प्रेम उन्मत्तता के कारण है। इसका अनुभव जगत् के लोगों को नहीं हो सकता जिससे वे उपहास करेंगे एवं उससे वे अपराध के भागी बनेंगे। अतः तुम मेरे इस स्वरूप को गुप्त ही रखना। तुम से तो मैं इस स्वरूप को यूँ न छिपा सका कि जैसे एक तो मैं पागल (प्रेमोन्मत्त) और दूसरे तुम भी पागल (प्रेमोन्मत्त), तुम और मैं तो एक जैसे हैं। तुमसे फिर छिपाव कैसा ? ॥२३७-२४२॥

एइरूप दशरात्रि रामानन्द सङ्गे। सुखे गोङाइला प्रभु कृष्ण कथा रङ्गे ॥२४३॥
निगूढ़ ब्रजेर रस-लीलार विचार। अनेक कहिल—तार ना पाइल पार ॥२४४॥
तामा कांसा रूपा सोणा रत्न-चिन्तामणि। केहो येन पोंता काहाँ पाय एक खनि ॥२४५॥
क्रमे उठाइते येन उत्तम-वस्तु पाय। ऐछे प्रश्नोत्तर कैल प्रभु राम राय ॥२४६॥

इस प्रकार दस दिन श्रीरामानन्द राय के साथ रात को श्रीकृष्ण-कथा-प्रसंग में श्रीमहाप्रभुजी ने सुखपूर्वक बिताये। ब्रज-लीला रस का विचार अत्यन्त निगूढ़ है, अनेक वर्णन करने पर भी उसका कोई पार नहीं पा सकता। जैसे कोई व्यक्ति एक ही खान में ताम्बा, काँसा, चान्दी, सोना एवं चिन्तामणि को दबा हुआ पाये और उन्हें निकालने में एक दूसरे से उत्तमोत्तम वस्तु की उसे प्राप्ति होती है, उसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभुजी ने भी राय रामानन्दजी के साथ वर्णाश्रम-धर्म से लेकर मादनाख्य-महाभाव पर्यन्त उत्तमोत्तम साध्य-वस्तु को प्रश्न-उत्तर के व्यपदेश से प्रकाशित किया ॥२४३-२४६॥

आर दिन राय-पाशे विदाय मागिला। विदायेर काले तारे एइ आज्ञा दिला—॥२४७॥
विषय छाड़िया तुमि याह नीलाचले। आमि तीर्थ करि ताहां आसिब अल्पकाले ॥२४८॥
दुइजने नीलाचले रहिव एक सङ्गे। सुखे गोङाइव काल कृष्ण कथा रङ्गे ॥२४९॥
एत बलि रामानन्दे करि आलिङ्गन। तारे घरे पाठाइया करिल शयन ॥२५०॥

दूसरे दिन श्रीमहाप्रभुजी ने राय रामानन्दजी से विदा मांगी और विदा होते समय प्रभु ने उन्हें यह आज्ञा दी कि—"तुम अब समस्त विषयों को त्यागकर नीलाचल चलो और मैं भी शीघ्र तीर्थ-भ्रमण करके वहाँ आऊँगा। वहां नीलाचल में दोनों एक साथ रहेंगे एवं सुख-पूर्वक श्रीकृष्ण-कथा-प्रसंग में समय बिताएँगे।" इतना कहकर श्रीमहाप्रभुजी नें राय रामानन्दजी को आलिंगन किया और उन्हें घर भेज दिया और प्रभु ने उस रात वहाँ विश्राम किया ॥२४७-२५०॥

प्रातः काले उठि प्रभु देखि हनुमान्। तांरे नमस्करि प्रभु करिला प्रयाण ॥२५१॥
विद्यापुरे नानामत लोक वैसे यत। प्रभु दर्शन वैष्णव हैल छाड़ि-निजमत ॥२५२॥
रामानन्द हैला प्रभुर विरहे विह्वल। प्रभुर ध्याने रहे विषय छाड़िया सकल ॥२५३॥
संक्षेपे कहिल रामानन्देर मिलन। विस्तारि वर्णिते नारे सहस्रबदन ॥२५४॥

दूसरे दिन प्रातः काल श्रीमन्महाप्रभु उठे एवं विद्यानगर में श्रीहनुमानजी मन्दिर में दर्शन एवं नमस्कार करके वहाँ से आगे चले। विद्यापुरमें अनेक मतावलम्बी लोग रहते थे, वे समस्त अपने-अपने मतों को छोड़कर श्रीमहाप्रभु दर्शन करके उनके अनुयायी वैष्णव बन गये। श्रीमहाप्रभुजी के चले जाने के बाद, उनके विरह में राय रामानन्दजी विह्वल हो उठे और विषयों को छोड़कर श्रीमहाप्रभु के ध्यान-स्मरण में ही रत रहने लगे। कविराज गोस्वामीजी कहते हैं कि मैंने श्रीमहाप्रभु एवं राय रामानन्द का मिलन-प्रसंग यहाँ संक्षेप से वर्णन किया है। श्रीशेष भगवान् भी अपने सहस्त वदनों से इस चरित्र को विस्तार-पूर्वक वर्णन नहीं कर सकते ॥२५१-२५४॥

सहजे चैतन्यचरित घन दुग्धपूर। रामानन्द-चरित ताते खण्ड प्रचूर ॥२५५॥
राधाकृष्ण लीला ताहे कर्पूर मिलन। भाग्यवान येइ, सेइ करे आस्वादन ॥२५६॥
येइ इहा एक बार पिये कर्णद्वारे। तार कर्ण लोभे—इहा छाड़िते ना पारे ॥२५७॥
सर्वतत्त्वज्ञान हय इहार श्रवणे। प्रेमभक्ति हय राधाकृष्णेर—चरणे ॥२५८॥
चैतन्येर गूढ़ तत्त्व जानि इहा हैते। विश्वास करि शुन, तर्क ना करिह चित्ते ॥२५९॥

श्रीचैतन्य-चरित स्वभावतः घनावर्त्त दूध की (रबड़ी की) भाँति मधुर है और श्रीराय रामानन्द का चरित मानो उसमें चीनी मिलने से वह और भी मधुर हो गया है। उसमें श्रीश्रीराधाकृष्ण की लीला मानो कर्पूर मिला हुआ है—ऐसे मधुर पदार्थ का आस्वादन भाग्यवान् पुरुष ही कर सकता है। जो पुरुष भी इसे एक बार कर्णों के द्वारा पान करता है अर्थात् सुनता है, फिर इसके माधुर्यवश उसके कान उसे छोड़ नहीं सकते। इस चरित्र के सुनने से समस्त तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है, श्रीश्रीराधाकृष्ण के चरण कमलों में प्रेमभक्ति की प्राप्ति होती है। श्रीगौराँगमहाप्रभु के निगूढ़-तत्त्व का इसके सुनने से ही पता लगता है, अतः समस्त तर्क-वितर्क को छोड़कर इसे दृढ़ विश्वास पूर्वक सुनिये ॥२५५-२५९॥

अलौकिक लीला एइ परम निगूढ़। विश्वासे पाइये, तर्के हय बहुदूर ॥२६०॥
श्रीचैतन्य-नित्यानन्द-अद्वैत—चरण। याहार सर्वस्व—तारे मिले एइ धन ॥२६१॥
रामानन्दराये मोर कोटि नमस्कार। यांर मुखे कैल प्रभु रसेर विस्तार ॥२६२॥
दामोदर स्वरूपेर कड़चा अनुसारे। रामानन्द-मिलन लीला करिल प्रचारे ॥२६३॥
श्रीरूप—रघुनाथ—पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२६४॥

श्रीमन्महाप्रभुजी की लीला परम अलौकिक एवं निगूढ़ है। विश्वास करने से उसका रहस्य ज्ञात होता है, किन्तु जो इस में तर्क करता है—उससे इसका रहस्य बहुत दूर है। जो श्रीकृष्णचैतन्यदेव, श्रीनित्यानन्दप्रभु, श्रीअद्वैतचार्यप्रभु के चरण कमलों को अपना सर्वस्व मानता है—वह ही इस अपूर्व सम्पत्ति को (श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत-रस को) प्राप्त करता है। मैं श्रीरामानन्द रायजी के चरण कमलों में कोटि नमस्कार करता हूँ, जिनके मुख से श्रीमहाप्रभु ने प्रेम-भक्ति-रस का विस्तार कराया है। श्रीरामानन्द राय की यह मिलन-लीला मैंने श्रीदामोदरस्वरूप गोस्वामी पाद-रचित कड़चा के अनुसार ही वर्णन की है। श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामीपाद की कृपा-अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्य चरितामृत का वर्णन करते हैं ॥२६०-२६४॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य-लीलायां रामानन्दरायसङ्गोत्सवो-नाम

अष्टम परिच्छेदः ॥८॥

जयगौर

मध्य-लीला

नवम परिच्छेद

★

नानामतग्रहग्रस्तान् दाक्षिणात्यजनद्विपान् ।
कृपारिणा विमुच्यैतान् गौरश्चक्रे स वैष्णवान् ॥१॥

(जिन) श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी ने अनेक प्रकार के मत-रूप मगरमच्छों में ग्रसे हुए दक्षिण देश के जनसमूह-रूप हाथियों को अपने कृपा-रूप चक्र द्वारा विमुक्त कर दिया एवं उन्हें वैष्णव कर दिया (उन श्रीचैतन्यदेव को मैं नमस्कार करता हूँ) ॥ १ ॥

[मध्य-लीला के इस नवम परिच्छेद में श्रीमन्महाप्रभु का दक्षिणदेशों में भ्रमण, वहाँ के लोगों को, जो अनेक प्रकार के मत-मतान्तरों में फँसे हुए थे,वैष्णव करना तथा उनका नीलाचलमें लौट आना—आदि चरित्र वर्णित हैं ।]

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौर-भक्तवृन्द ॥१॥
दक्षिण-गमन प्रभुर अति विलक्षण । सहस्र-सहस्र तीर्थ कैल दरशन ॥२॥
सेइ सब तीर्थ स्पर्शि महातीर्थ कैल । से-इ-छले सेइ देशेर लोक निस्तारिल ॥३॥
तीर्थ-यात्राय तीर्थ-क्रम करिते न पारि । दक्षिण-वामे तीर्थ गमन हय फेराफेरि ॥४॥
अतएव नाममात्र करिये गणन । कहिते ना पारि तार यथा अनुक्रम ॥५॥

श्रीकृष्णचैतन्यदेव की जय हो, जय हो । श्रीनित्यानन्दप्रभुजी की जय हो । श्रीअद्वैताचार्य महाराज की जय हो एवं श्रीगौर-भक्त समूह की जय हो । श्रीमहाप्रभु की दक्षिण यात्रा विचित्र है, आपने हजारों तीर्थों के दर्शन किये । उन तीर्थों में पधार कर प्रभु ने उनको महातीर्थ कर दिया और इस तीर्थ यात्रा के बहाने से उन देशवासियों का भी उद्धार कर दिया । उनकी तीर्थयात्रा में तीर्थों का क्रम वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रभु कभी दाहिने से वाम दिशा को चले गये और फिर वाम दिशा से दाहिनी दिशा में आने से एक तीर्थ में दो-दो बार भी उन्हें आना जाना पड़ा । अतएव उन सब तीर्थों का नाम मात्र ही यहाँ उल्लिखित करते हैं । पहले किस तीर्थ में गये और फिर उसके बाद किस तीर्थ में प्रभु पधारे यह क्रम भी वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ १—५ ॥

पूर्ववत् पथे याइते ये पाय दर्शन । ये-ग्रामे याय सेइ ग्रामेर यतजन ॥६॥
सभेइ वैष्णव हय,-कहे "कृष्ण हरि" । अन्य ग्राम निस्तारये सेइ वैष्णव करि ॥७॥
दक्षिणदेशेर लोक अनेक प्रकार । केहो ज्ञानी, केहो कर्मी,पाषण्डी अपार ॥८॥
सेइ सब लोक प्रभुर दर्शन-प्रभावे । निजनिज मत छाड़ि हइल वैष्णवे ॥९॥
वैष्णवेर मध्ये राम-उपासक सब । केहो तत्त्ववादी,केहो हय श्रीवैष्णव ॥१०॥
सेइ सब वैष्णव महाप्रभुर दर्शने । कृष्ण-उपासक हैल— लय कृष्णनामे ॥११॥

पहले जैसा कि वर्णन किया जा चुका है—श्रीमहाप्रभु के मार्ग चलते में जो व्यक्ति उनका दर्शन करता—वह वैष्णव हो जाता। वह व्यक्ति फिर जिस गाँव में पहुञ्चता—उस गाँव के सब लोगों को वह वैष्णव कर देता और सब "कृष्ण हरि" "हरि कृष्ण" नाम करने लगते। फिर उस गाँव का कोई व्यक्ति अन्य गाँव में जब जाता तो वह दूसरे गाँव को भी वैष्णव बना कर उस गाँव का निस्तार कर देता। दक्षिणदेश में अनेक प्रकार के लोग थे, कोई मायावादी ज्ञानी थे, कोई कर्मकाण्डी थे और कोई पाखण्डी भी थे, वे सब प्रकार के लोग श्रीमहाप्रभु के दर्शन प्रभाव से अपने-अपने मतों को छोड़ कर वैष्णव हो गये। जो वहाँ वैष्णव भी थे—वे सब श्रीरामजी के उपासक थे, या तत्त्ववादी थे (सब वस्तुएँ सत्य हैं—कुछ मिथ्या नहीं—इस तत्त्व को सत्य जानने वालों को जो श्रीमाध्वाचार्य सम्प्रदाय में थे और श्रीनारायण व श्रीकृष्ण के उपासक थे—उन्हें तत्त्ववादी कहा जाता था) और कोई कोई श्रीरामानुजस्वामी-सम्प्रदायानुगत श्रीवैष्णव थे, वे सब वैष्णव श्रीचैतन्यदेव के दर्शन प्रभाव से श्रीकृष्ण-उपासक बन गये एवं श्रीकृष्णनाम का जप करने लगे ॥ ६—११ ॥

तथाहि—

राम राघव राम राघव राम राघव पाहि माम् ।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव रक्षमाम् ॥२॥

एइ श्लोक पथे पढ़ि करिला प्रयाण । गौतमी-गङ्गाय याइ कैल ताहाँ स्नान ॥१२॥
मल्लिकार्जुन तीर्थे याइ महेश देखिल । ताहां सब लोके कृष्णनाम लओयाइल ॥१३॥
दासराम—महादेवे करिल दर्शन । अहोवल नृसिंहेरे करिला गमन ॥१४॥

"राम राघव राम राघव—कृष्ण केशव कृष्ण केशव"—इत्यादि श्लोक (अर्थ पृष्ठ १५६ पर द्रष्टव्य है) का उच्चारण पथ में करते हुए श्रीमहाप्रभु गौतमी-गङ्गा पर आए और वहाँ उन्होंने स्नान किया। फिर मल्लिकार्जुन तीर्थ पर जाकर प्रभु ने श्रीमहेश भगवान् के दर्शन किये एवं वहाँ के सब लोगों को श्रीकृष्ण-नाम ग्रहण कराया। दासराम-महादेवजी का दर्शन करके श्रीमहाप्रभु अहोबल-नृसिंह तीर्थ में आए ॥ १२—१४ ॥

नृसिंह देखिया तांरे कैल नति-स्तुति । सिद्धिबट गेला-याहां मूर्त्ति सीतापति ॥१५॥
रघुनाथ देखि कैल प्रणति-स्तवन । ताहां एक विप्र तांरे कैल निमन्त्रण ॥१६॥
सेइ विप्र रामनाम निरन्तर लय । रामनाम बिना अन्य वाणी ना कहय ॥१७॥
सेइ दिन तार घरे रहिल भिक्षा करि । तारे कृपा करि आगे चलिला गौरहरि ॥१८॥

वहाँ श्रीनृसिंहजी के दर्शन कर प्रभु ने उनकी स्तुति एवं वन्दना की। फिर वहाँ से वे सिद्धबट पर आये, जहाँ श्रीसीता-पति का विग्रह विराजमान है। श्रीरामजी के दर्शन किये एवं उनकी स्तुति-वन्दना की। वहाँ एक ब्राह्मण रहता था, जिसने श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रित किया। वह ब्राह्मण निरन्तर श्रीराम-नाम का जप किया करता और श्रीरामनाम के बिना दूसरा कोई शब्द उच्चारण न करता था। उस दिन श्रीमहाप्रभु ने उसके घर पर भिक्षा की एवं वहाँ पर ही रहे। उस पर कृपा करके प्रभु आगे चले ॥१५-१८॥

स्कन्द–क्षेत्रतीर्थे कैल स्कन्द दरशन। त्रिमठ आइला ताहां देखि त्रिविक्रम ॥१९॥
पुन सिद्धिबट आइला सेइ विप्र घरे। सेइ विप्र कृष्णनाम लय निरन्तरे ॥२०॥
भिक्षा करि महाप्रभु तारे प्रश्न कैल—। कह विप्र! एइ तोमार कोन् दशा हैल ?॥२१॥
पूर्व्वे तुमि निरन्तर कहिते रामनाम। एवे केंने निरन्तर कह कृष्णनाम ? ॥२२॥

स्कन्द-क्षेत्र तीर्थ में आकर प्रभु ने स्कन्दजी के दर्शन किये और फिर त्रिमठ में आकर श्रीत्रिविक्रमजी के दर्शन किये। वहाँ से घूमकर श्रीमहाप्रभु फिर सिद्धिबट में उसी ब्राह्मण के घर पर आए। श्रीमहाप्रभु ने देखा कि वह ब्राह्मण अब निरन्तर श्रीकृष्णनाम का जाप कर रहा है। श्रीमहाप्रभु ने वहाँ भिक्षा की और फिर उस ब्राह्मण से पूछने लगे—"हे विप्र! कहिये आप बदल कैसे गये ? पहले तो आप निरन्तर श्रीरामनाम का जाप किया करते थे, परन्तु अब आप निरन्तर श्रीकृष्णनाम का उच्चारण कर रहे हैं—ऐसा क्यों" ? ॥१९-२२॥

विप्र कहे—एइ तोमार दर्शन प्रभाव। तोमा देखि गेल मोर आजन्म स्वभाव ॥२३॥
बाल्यावधि रामनाम ग्रहण आमार। तोमा देखि कृष्णनाम आइल एकबार ॥२४॥
सेइ हैते कृष्णनाम जिह्वाते वसिल। कृष्णनाम स्फुरे—रामनाम दूरे गेल ॥२५॥
बाल्यकाल हैते मोर स्वभाव एक हय। नामेर महिमा–शास्त्र करिये सञ्चय ॥२६॥

उस ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"प्रभो! यह सब आपके दर्शन का ही प्रभाव है। आपके दर्शन करते ही, मेरा जो जन्मभर का स्वभाव था, श्रीरामनाम लेने का अभ्यास था, वह जाता रहा। मैं बालक-पन से श्रीरामनाम ग्रहण करता आ रहा था, किन्तु आप के दर्शन करने से एक दम ही श्रीकृष्ण-नाम स्फुरण होने लगा है। उसी समय से श्रीकृष्णनाम मेरी जिह्वा पर बैठ गया है और अपने आप श्रीकृष्णनाम स्फुरण हो रहा है,(श्रीकृष्ण भगवान् का नाम उनसे अभिन्न होने से स्वयं प्रकाश है) श्रीरामनाम अपने आप दूर हो गया है। बालकपन से मेरा एक स्वभाव यह भी रहा है कि शास्त्रों में जो नाम-महिमा के प्रमाण हैं—उन्हें संग्रह करता रहता हूँ। उन्हें आपको सुनाता हूँ" ॥२३-२६॥

तथाहि पद्मपुराणे, श्रीरामचन्द्रस्य शतनामस्तोत्रे (८)—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥३॥

जिसकी अनन्त महिमा है, जो सत्यानन्द स्वरूप है, जो आत्मा का अन्तर्यामी है एवं योगीगण जिसमें रमण करते हैं, उस परमब्रह्म को ही राम-नाम से कहा जाता है अर्थात् श्रीराम ही परमब्रह्म हैं॥३॥

तथाहि महाभारते उद्योग पर्व्वणि (७१-४)—

कृषिर्भू वाचकः शब्दोणश्च निर्वृ तिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥४॥

'कृषि'—सत्तावाचक धातु है और 'ण' आनन्द वाचक है। इन दोनों की एकता का अधिष्ठान जो परमब्रह्म है, वही श्रीकृष्ण-नाम से कहा जाता है, अर्थात् श्रीकृष्ण ही परमब्रह्म हैं ॥४॥

परं ब्रह्म दुइ नाम समान हइल ।
पुन आर-शास्त्रे किछु विशेष पाइल ॥२७॥

परम-ब्रह्म के ये दोनों नाम, श्रीरामनाम और श्रीकृष्णनाम शास्त्र-प्रमाण से दोनों समान हो गये। फिर और शास्त्र में कुछ विशेष परिचय मिलता है ॥ २७ ॥

तथाहि पद्मपुराणे, उत्तरखण्डे वृहद्विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रे (७२-३३५)—

राम-रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने ॥५॥

श्रीमहादेवजी पार्वतीजी से कहते हैं—"हे वरानने! एक श्रीरामनाम श्रीविष्णु के सहस्र नाम के तुल्य है अर्थात् महाभारतोक्त विष्णुसहस्रनाम का एक बार पाठ करने से जो फल प्राप्त होता है, वही फल एक बार श्रीरामनाम कहने से प्राप्त होता है। इसलिये मैं सर्वदा "राम राम राम" इस प्रकार मनोरम श्रीरामचन्द्र में रमण करता हूँ अर्थात् श्रीरामनाम का कीर्त्तन करके परमानन्द का अनुभव करता हूँ ॥५॥"

तथाहि हरिभक्तिविलासे (११-२५८)— लघुभागवतामृते पूर्वखण्डे (५-३५४)
ब्रह्माण्ड पुराणवचनम्

सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत्फलम् ।
एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति ॥६॥

पवित्र श्रीविष्णु सहस्रनाम का तीन बार पाठ करने से जो फल प्राप्त होता है, (अर्थात् तीन बार श्रीरामनाम कहने से जो फल होता है) वह फल केवल एकबार श्रीकृष्णनाम कहने से मिलता है ॥६॥

एइ वाक्ये कृष्णनामेर महिमा अपार। तथापि लइते नारि शुन हेतु तार ॥२८॥
इष्टदेव राम, तांर नामे सुख पाइ। सुख पाञा सेइ नाम रात्रि-दिन गाइ ॥२९॥
तोमार दर्शने यवे कृष्णनाम आइल। तांहार महिमा एइ मनेते लागिल ॥३०॥
'सेइ कृष्ण तुमि साक्षात्' इहा निर्द्धारिल। एत कहि विप्र प्रभुर चरणे पड़िल ॥३१॥

उस विप्र ने ऊपर के दोनों श्लोक पढ़ने के बाद कहा—"इन शास्त्र-प्रमाणों से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णनाम की अपार महिमा है। तथापि प्रभो! मैं श्रीकृष्णनाम नहीं लेता था, उसका कारण यह था कि मेरे इष्टदेव श्रीरामजी हैं, अतः उनका नाम लेने में अतीव आनन्द होता था और सुखपूर्वक उनके नाम को रात दिन गान करता था। किन्तु आपके दर्शन करने से जब श्रीकृष्ण-नाम मेरी जिह्वा पर आया है, तभी मेरे मन में श्रीकृष्णनाम की महिमा का ज्ञान हुआ है सो "वह श्रीकृष्ण साक्षात् आप ही हैं—ऐसा मैंने निश्चय कर लिया है"—इतना कहकर वह ब्राह्मण प्रभु के चरणों पर गिर पड़ा ॥२८-३१॥

तारे कृपा करि प्रभु चलिला आरदिने । वृद्ध काशी आसि कैला शिव दरशने ॥३२॥
ताहां हैते चलि आगे गेला एक ग्राम । ब्राह्मण-समाजे तांहा करिला विश्राम ॥३३॥
प्रभुर प्रभावे लोक आइल दर्शने । लक्षार्बुद लोक आइसे नाहिक गणने ॥३४॥
गोसाञिर सौन्दर्य देखि ताते प्रेमावेश । सभे कृष्ण कहे—वैष्णव हैल सब देश ॥३५॥

श्रीमन्महाप्रभु उस ब्राह्मण पर कृपा करके अगले दिन वहां से आगे चले और वृद्धकाशी में आकर उन्होंने शिवजी के दर्शन किये । वहाँ से फिर एक ग्राममें गये वहाँ ब्राह्मण समाजमें जाकर विश्राम किया । श्रीमहाप्रभु का प्रभाव सुन-देखकर असंख्य लोग उनके दर्शन करने आते, जिनको गणना नहीं हो सकती । प्रभु का सौन्दर्य देखकर, फिर उनमें प्रेम का अद्भुत आवेश देखकर सभी "कृष्ण-कृष्ण" कहने लगते, इस प्रकार सब देशवासी वैष्णव हो गये ॥३२–३५॥

तार्किक—मीमांसक—मायावादीगण । सांख्य पातञ्जल स्मृति पुराण आगम ॥३६॥
निज निज शास्त्र सभे उद्ग्राहे प्रचण्ड । सर्वमत दूषि प्रभु करे खण्ड खण्ड ॥३७॥
सर्वत्र स्थापये प्रभु वैष्णव–सिद्धान्ते । प्रभुर सिद्धान्त केहो ना पारे खण्डिते ॥३८॥
हारि हारि प्रभु मते करेन प्रवेश । एइमत वैष्णव प्रभु कैल दक्षिणदेश ॥३९॥

तार्किक (न्यायशास्त्रानुगत), मीमांसक (मीमांसाशास्त्रानुगत), मायावादी (श्रीशङ्कराचार्य मतावलम्बी अद्वैतवादी) सांख्यमत अनुयायी, पतञ्जलिकृत दर्शनानुयायी, शिवपुराणादि तथा तंत्रशास्त्र को मानने वाले—ये सब लोग अपना अपना शास्त्र प्रमाण देकर प्रभु के साथ तर्क करते थे, किन्तु श्रीमहाप्रभु सब मतों के दोष दिखाकर उनका खण्डन कर देते । सब जगह श्रीगौराङ्ग वैष्णव सिद्धान्तों की स्थापना करते और फिर इनके सिद्धान्त को कोई भी मतावलम्बी नहीं काट सकता था । सब लोग हार मानकर श्रीगौराङ्ग के मत में प्रवेश करते । इस प्रकार श्रीचैतन्यदेव ने समस्त दक्षिण देश को वैष्णव कर दिया ॥ ३६—३९ ॥

पाषण्डीरगण आइल पाण्डित्य शुनिञा । गर्व करि आइल सङ्गे शिष्यगण लञा ॥४०॥
बौद्धाचार्य महापण्डित निज नवमते । प्रभु आगे उद्ग्राह करि लागिला कहिते ॥४१॥
यद्यपि असम्भाष्य बौद्ध अयुक्त देखिते । तथापि बलिला प्रभु गर्व खण्डाइते ॥४२॥
तर्क प्रधान बौद्ध शास्त्र नवमते । तर्केइ खण्डिल प्रभु, ना पारे स्थापिते ॥४३॥

श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु के पाण्डित्य को सुनकर बहुत पाखण्डी भी गर्व करके अपने शिष्यों को साथ ले ले कर प्रभु के पास आते । बौद्धाचार्य महापण्डित अपने नवीनमतानुसार प्रभु के आगे विचारार्थ तर्क करते । यद्यपि बौद्धगण आलाप एवं दर्शनके अयोग्य हैं, तथापि श्रीमहाप्रभु उनका गर्व खण्डन करनेके लिये उनके साथ संभाषण करते थे । बौद्धशास्त्र का नवीनमत तर्कप्रधान शास्त्र है, प्रभु ने उसका तर्क से ही खण्डन किया । फिर वे अपना बौद्धमत स्थापन न कर सके ॥४०–४३॥

बौद्धाचार्य नव प्रस्ताव सब उठाइल । दृढ़युक्ति-तर्के प्रभु खण्ड खण्ड कैल ॥४४॥
दार्शनिक पण्डित सभाइ पाइल पराजय । लोके हास्य करे, बौद्धेर हैल लज्जा-भय ॥४५॥

प्रभु के वैष्णव जानि बौद्ध घर गेला । सर्व बौद्ध मिलि तबे कुमन्त्रणा कैला ॥४६॥
अपवित्र अन्न एक थालिते करिया । प्रभु आगे आनिल 'विष्णु प्रसाद' बलिया ॥४७॥

बौद्धाचार्य ने नवीन नवीन तर्क एवं प्रश्न उठाये किन्तु श्रीगौराङ्ग ने दृढ़युक्ति पूर्वक उन सब का खण्डन किया । दार्शनिक पण्डित ने सभा में ही पराजय पाई, जिससे लोग उसकी हंसी उड़ाने लगे । बौद्ध बहुत लज्जित एवं भयभीत हुए । महाप्रभुजी को वैष्णव जानकर बौद्धाचार्य अपने घर गया और वहाँ बौद्धों ने मिलकर कुमन्त्रणा की और किया यह कि एक थाली में अपवित्र अन्न भरकर ले आये और प्रभु के आगे आकर रखा और कहा कि "यह श्रीविष्णु का प्रसाद है—इसे ग्रहण कीजिये ।" ॥४४-४७॥

हेनकाले महाकाय एक पक्षी आइल । ठोंटे करि अन्न सह थाली लञा गेल ॥४८॥
बौद्धगणेर ऊपर अन्न पड़े अमेध्य हैया । बौद्धाचार्येर माथाय थाली पड़िल बाजिया ॥४९॥
तेरछे पड़िल थालि—माथा काटा गेल । मूर्च्छित हइया आचार्य भूमिते पड़िल ॥५०॥
हाहाकार करि कान्दे सब शिष्यगण । सभे आसि प्रभु—पदे लइल शरण ॥५१॥
तुमिह ईश्वर साक्षात्—क्षम अपराध । जीयाह आमार गुरु—करह प्रसाद ॥५२॥

इतने में एक बहुत बड़ा (चील) पक्षी झपटा और चोंच में उस अन्न को थाली समेत उठाकर ले उड़ा । वह समस्त अपवित्र अन्न तो समस्त बौद्धोंपर आकर गिरा और वह थाली झनझनाती हुई बौद्धाचार्य के माथे पर आ गिरी । थाली तिरछी आकर ऐसी गिरी कि बौद्धाचार्यका माथा कट गया और वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा । उसके सब शिष्यगण हा-हाकार करते हुए रोने लगे । सब के सब श्रीमहाप्रभु जी की शरण में आये और कहने लगे—"आप साक्षात् ईश्वर हैं, आप हमारे अपराधों को क्षमा कीजिये । हमारे गुरुदेव को जीवन दीजिये—आप हम पर कृपा कीजिये" ॥४८-५२॥

प्रभु कहे—सभे कह 'कृष्ण कृष्ण हरि' । गुरुकर्णे कह कृष्णनाम उच्च करि ॥५३॥
तोमा सभार गुरु तबे पाइवे चेतन । सर्व बौद्ध मिलि करे—कृष्ण सङ्कीर्त्तन ॥५४॥
गुरु कर्णे कहे—'कह कृष्ण राम हरि' । चेतन पाइल आचार्य उठे 'हरि' बलि ॥५५॥
'कृष्ण' बलि आचार्य प्रभुके करये विनय । देखिया सकल लोक पाइल विस्मय ॥५६॥
एइमते कौतुक करि शचीरनन्दन । अन्तर्द्धान कैल, केहो ना पाय दर्शन ॥५७॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"सब मिलकर "कृष्ण-कृष्ण हरि" बोलिये और अपने गुरु के कान में उच्च स्वर से 'कृष्ण' नाम सुनाईये । इससे तुम्हारे गुरु को चेतनता आजाएगी ।" सब बौद्ध मिल कर श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन करने लगे और गुरु के कानों में ज़ोर ज़ोर से 'कृष्ण-राम-हरि' कहने लगे । ऐसा करते ही आचार्य भी "हरि-हरि" कहता हुआ उठ बैठा । 'कृष्ण' 'कृष्ण' कहते हुए आचार्य प्रभु की स्तुति करने लगा । इस लीला को देखकर सब लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ । इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने वहां एक और कौतुक किया किया कि सब के देखते देखते श्रीशचीनन्दन वहाँ से अन्तर्धान हो गये और कोई यह न जान सका कि प्रभु किधर गये ॥५३-५७॥

महाप्रभु चलि आइला त्रिपदी त्रिमल्ले । चतुर्भुज विष्णु देखि बेङ्कट-अचले ॥५८॥
त्रिपदी आसिया कैल श्रीरामदर्शन । रघुनाथ आगे कैल प्रणाम स्तवन ॥५९॥

स्वप्रभावे लोक सब करिञा विस्मय । पाना नरसिंहे आइला प्रभु दयामय ॥६०॥
नृसिंहे प्रणति—स्तुति प्रेमावेशे कैल । प्रभुर प्रभावे लोक चमत्कार हैल ॥६१॥

वहाँ से श्रीमहाप्रभु चलकर त्रिपदी त्रिमल्ल में आए और वैङ्कटपर्वत पर चतुर्भुज श्रीविष्णु का दर्शन किया। त्रिपदी में आकर श्रीरामजी के दर्शन किये एवं उनके आगे वन्दना एवं स्तुति की। अपने प्रभाव से वहाँ के सब लोगों को प्रभु ने विस्मित कर दिया। फिर दयामय श्रीमहाप्रभु पाना-नृसिंह में पधारे। (उन श्रीनृसिंहजी को केवल शरबत ही भोग लगता है, जिससे वे पाना-नृसिंह नाम से विख्यात हैं) श्रीनृसिंहजी की स्तुति वन्दना करते हुए प्रभु को ऐसा प्रेमावेश हुआ कि उसे देखकर सब लोग चमत्कृत हो उठे ॥५८-६१॥

शिवकाञ्ची आसि कैल शिवदरशन । प्रभाते वैष्णव कैल सब शैवगण ॥६२॥
विष्णुकाञ्ची आसि देखिल लक्ष्मीनारायण । प्रणाम करिया कैल बहुत स्तवन ॥६३॥
प्रेमावेशे नृत्य—गीत बहुत करिल । दिन—दुइ रहि, लोके कृष्णभक्त कैल ॥६४॥
त्रिमल्ल देखि गेला त्रिकाल हस्ति-स्थान । महादेव देखि तांरे करिला प्रणाम ॥६५॥

शिवकाञ्ची में आकर प्रभु ने श्रीशिवजी के दर्शन किये और दूसरे दिन प्रभात काल में समस्त शैवीगण वैष्णव हो गये। विष्णुकाञ्ची में आकर महाप्रभुजी ने श्रीलक्ष्मीनारायणजी के दर्शन किये एवं उन्हें प्रणाम करके उनकी बहुत स्तुति की। प्रेमावेश में अनेक समय तक वहाँ नृत्य-गान किया एवं वहाँ दो दिन रहकर श्रीचैतन्य ने लोगों को श्रीकृष्ण-भक्त बना दिया। त्रिमल को देखकर प्रभु त्रिकाल हस्ति-स्थान पर गये एवं वहाँ श्रीमहादेवजी के दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया ॥६२–६५॥

पक्षतीर्थ याइ कैल शिव-दरशन । वृद्धकोल तीर्थ तबे करिल गमन ॥६६॥
श्वेतवराह देखि तांरे नमस्कार करि । पीताम्बर-शिव-स्थाने गेला गौर हरि ॥६७॥
शियाली भैरवी देवी करि दरशन । कावेरीर तीरे आइला शचीरनन्दन ॥६८॥
गोसमाज–शिव देखि आइला वेदावन । महादेव देखि तांरे करिला वन्दन ॥६९॥

श्रीमहाप्रभुजी ने पक्षतीर्थ में जाकर श्रीशिवजी के दर्शन किये फिर वृद्धकोल तीर्थ की ओर चले। श्रीश्वेतवराह के दर्शन कर उन्हें नमस्कार किया। फिर श्रीगौरहरि ने पीताम्बर–शिवजी के आकर दर्शन किये। शियाली एवं भैरवीदेवी के दर्शन करके कावेरी के तीर पर श्रीशचीनन्दन पहुँचे। वहाँ से गोसमाज-शिव के दर्शन करके वेदाबन में आए, वहाँ महादेवजी के दर्शन कर उन्हें वन्दना की ॥६६–६९॥

अमृत लिङ्ग–शिव आसि दर्शन करिल । सब शिवालये शैव 'वैष्णव' करिल ॥७०॥
देवस्थाने आसि कैल विष्णु दर्शन। श्रीवैष्णवगण सने गोष्ठी अनुक्षण ॥७१॥
कुम्भकर्ण कपालेर देखि सरोवर । शिव क्षेत्रे शिव देखे गौराङ्ग सुन्दर ॥७२॥
पापनाशने विष्णु करि दरशन । श्रीरङ्गक्षेत्रे तबे कैल आगमन ॥७३॥

फिर अमृतलिङ्ग-शिवजी के दर्शन किये एवं शिवालय में रहने वाले सब शैवों को प्रभु ने वैष्णव कर दिया। देवस्थान पर आकर विष्णुदर्शन किये और वहां श्रीसम्प्रदाय के वैष्णवों के साथ हर

समय भगवत्-कथा की आलोचना करते रहते। फिर श्रीगौराङ्गसुन्दर ने कुम्भकर्ण-कपाल के आकर दर्शन किये एवं शिव-क्षेत्र में शिवजी के दर्शन किये। तदोपरान्त पापनाशन में श्रीविष्णु के दर्शन करके श्रीमहाप्रभु श्रीरङ्गक्षेत्र में पहुँचे ॥७०-७३॥

कावेरीते स्नान करि देखि रङ्गनाथ। स्तुति-प्रणति करि मानिल कृतार्थ ॥७४॥
प्रेमावेशे कैल बहु गान नर्त्तन। देखि चमत्कार हैल सर्व लोकमन ॥७५॥
श्रीवैष्णव एक—वेङ्कटभट्ट नाम। प्रभु के निमन्त्रण कैल करिया सम्मान ॥७६॥
निजघरे लञा कैल पाद प्रक्षालन। सेइ जल सवंशेते करिल भक्षण ॥७७॥

वहाँ श्रीमहाप्रभु ने कावेरी में स्नान किया और श्रीरङ्गनाथजी के दर्शन किये, उनकी स्तुति एवं वन्दना करके प्रभु ने अपने को कृतार्थ माना। प्रेमावेश में वहाँ बहुत गान एवं नृत्य किया, जिसे देखकर सब लोगों को बहुत चमत्कार हुआ। वहाँ एक श्रीवैष्णव थे, जिनका नाम श्रीवेङ्कटभट्ट था, वे प्रभु को अपने घर ले आए और उनके चरण धोकर, उस चरणामृत का वंश सहित पान किया ॥७४-७७॥

भिक्षा कराइया किछु कैल निवेदन—। चातुर्मास्य आसि प्रभु! हैल उपसन्न ॥७८॥
चातुर्मास्य कृपा करि रह मोर घरे। कृष्ण कथा कहि कृपाय निस्तार आमारे ॥७९॥
तार घरे रहिला प्रभु कृष्ण कथा-रसे। भट्ट सङ्गे गोङाइला सुखे चारि-मासे ॥८०॥
कावेरी ते स्नान करि श्रीरङ्ग दर्शन। प्रतिदिन प्रेमावेशे करेन नर्त्तन ॥८१॥

उस श्रीवैष्णव ने प्रभु को भिक्षा कराने के पश्चात् निवेदन किया, कि—"प्रभो! चातुर्मास्य (वर्षाऋतु) अब आ गई है। कृपा कर चातुर्मास्य पर्य्यन्त आप मेरे घर पर रहिये और श्रीकृष्ण-कथा कहकर मेरा कृपापूर्वक निस्तार कीजिये"। श्रीमहाप्रभु उसके घर पर रह गये और श्रीकृष्णकथा रस में सुखपूर्वक प्रभु ने श्रीवेङ्कटभट्ट के साथ चारमास बिताये। श्रीमहाप्रभ कावेरी में नित्य स्नान करके श्रीरङ्गजी का दर्शन करते और प्रेमावेश में नित्य नृत्य करते थे ॥७८-८१॥

सौन्दर्य-प्रेमावेश देखि सर्व लोक। देखिवारे आइसे सभार खण्डे दुख-शोक ॥८२॥
लक्ष लक्ष लोक आइसे नाना देश हैते। सभे कृष्णनाम कहे प्रभुरे देखिते ॥८३॥
कृष्णनाम विना केहो नाहि बोले आर। सभे कृष्णभक्त हैल, लोके चमत्कार ॥८४॥
श्रीरङ्ग क्षेत्रे वैसे यतेक ब्राह्मण। एक एक दिने सभे कैल निमन्त्रण ॥८५॥
एक एक दिने चातुर्मास्य पूर्ण हैल। कतक ब्राह्मण भिक्षार दिन ना पाइल ॥८६॥

श्रीमन्महाप्रभु का सौन्दर्य और प्रेमावेश देखकर सब लोग अपने दुख-शोक को मिटाते। अनेक देशों से लाखों लोग वहाँ प्रभु का दर्शन करने आते और सब श्रीकृष्ण-नाम का उच्चारण करते। श्रीकृष्ण-नाम के अतिरिक्त कुछ और नाम वे लोग उच्चारण न करते। इस प्रकार सब के सब श्रीकृष्ण भक्त हो गये। सब लोग प्रभावित हुए। श्रीरङ्गक्षेत्र में जितने ब्राह्मण रहते थे, एक एक दिन के लिये श्रीमहाप्रभु को सब ने निमन्त्रण दिया। इस प्रकार एक एक दिन करते करते चार मास निकल गये। कितने ही ब्राह्मण ऐसे बच गये कि जिन्हें प्रभ को भिक्षा कराने की बारी ही न मिली ॥८२-८६॥

सेइ क्षेत्रे रहे एक वैष्णव ब्राह्मण। देवालये वसि करे गीता-आवर्त्तन ॥८७॥
अष्टादशाध्याय पढ़े आनन्द-आवेशे। अशुद्ध पढ़ेन, लोके करे उपहासे ॥८८॥
केहो हासे केहो निन्दे, ताहा नाहि माने। आविष्ट हैया गीता पढ़े आनन्दित मने ॥८९॥
पुलकाश्रु कम्प स्वेद यावत्-पठन। देखि आनन्दित हैल महाप्रभुर मन ॥९०॥

उस क्षेत्र में एक वैष्णव ब्राह्मण रहता था, वह मन्दिर में बैठकर श्रीगीताजी का पाठ किया करता था। अठारहों अध्याय आनन्द आवेश में पढ़ा करता था, किन्तु वह अशुद्ध पढ़ता था, जिसे सुनकर लोग उसका उपहास किया करते थे। कोई तो उसकी हंसी करता, कोई उसकी निन्दा भी करता, किन्तु वह ब्राह्मण किसी की कुछ भी परवाह नहीं करता था और आविष्ट होकर आनन्दपूर्वक श्रीगीताजी का पाठ किया करता। उसे पाठ करते समय पुलक, अश्रु-कम्प, स्वेदादि सात्विक-विकार हुआ करते। श्रीमहाप्रभु ने उसे जब देखा तो वे बहुत आनन्दित हुए ॥८७–९०॥

महाप्रभु पुछिला तांरे शुन महाशय !। कोन् अर्थ जानि तोमार एत सुख हय॥९१॥
विप्र कहे-मूर्ख आमि शब्दार्थ ना जानि। शुद्धाशुद्ध गीता पढ़ि गुरु-आज्ञा मानि ॥९२॥
अर्जुनेर रथे कृष्ण हञा रज्जुधर। वसियाछे हाथे तोत्र श्यामल सुन्दर ॥९३॥
अर्ज्जुनेरे कहितेछेन हित—उपदेश। ताहा देखि हय मोर आनन्द आवेश ॥९४॥
यावत् पढ़ों तावत् पाङ तांर दरशन। एइ लागि गीतापाठ ना छाड़े मोर मन ॥९५॥

श्रीमहाप्रभुजी ने पूछा—"महाशय ! कहिये तो, श्रीगीता के किस अर्थ को जानकर आपको इतना सुख होता है ?" ब्राह्मण ने कहा—"मैं तो मूर्ख हूँ और श्लोकों के शब्दार्थ नहीं जानता हूँ। शुद्ध अथवा अशुद्ध मैं गीता-पाठ करता हूँ—ऐसी मुझे श्रीगुरुदेव की आज्ञा है। श्रीअर्जुन के रथ पर श्रीकृष्ण घोड़ों की लगाम पकड़े हुए बैठे हैं, उनके हाथ में चाबुक सुशोभित है और वे श्रीअर्जुन को हित-उपदेश कर रहे हैं—यह देखकर मुझे आनन्द का आवेश होता है। जब तक मैं पाठ करता रहता हूँ, तब तक मुझे ऐसे दर्शन होते रहते हैं। इसलिये मेरा मन श्रीगीताजी के पाठ को छोड़ नही सकता" ॥९१–९५॥

प्रभु कहे—गीतापाठे तोमारि अधिकार। तुमि से जानह एइ गीतार अर्थ सार ॥९६॥
एत बलि सेइ विप्रे कैल आलिङ्गन। प्रभुर पाद धरि विप्र करेन स्तवन—॥९७॥
तोमा देखि ताहा हैते द्विगुण सुख हय। 'सेइ कृष्ण तुमि' हेन मोर मने लय ॥९८॥
कृष्णस्फुर्त्त्ये तार मन हैयाछे निर्मल। अतएव प्रभुर तत्त्व जानिल सकल ॥९९॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"श्रीगीतापाठ में वस्तुतः तुम्हारा ही अधिकार है। तुम जो कुछ जानते हो—वही श्रीगीताजी का सार अर्थ है।" इतना कहकर प्रभु ने उस ब्राह्मण को आलिङ्गन किया। वह विप्र श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़कर प्रभु की स्तुति करने लगा एवं कहने लगा "जो कुछ मैं श्रीगीता पाठके समय देखकर सुख अनुभव करता हूँ, उससे दुगना सुख मुझे आपके दर्शनों से मिलता है—मेरा मन तो यह कहता है कि वह श्रीकृष्ण आप ही हो।" वस्तुतः श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति से उस ब्राह्मण का मन निर्मल हो चुका था, इसलिये उसने श्रीगौराङ्ग के समस्त तत्त्व को शीघ्र जान लिया ॥९६–९९॥

तबे महाप्रभु तारे कराइल शिक्षण—। एइ बात काहां ना करिबे प्रकाशन ॥१००॥
सेइ विप्र महाप्रभुर महाभक्त हैल। चारिमास प्रभुर सङ्ग कभु ना छाड़िल ॥१०१॥

एइमते भट्टगृहे रहे गौरचन्द्र । निरन्तर भक्तसङ्गे कृष्ण-कथारङ्ग ॥१०२॥
श्रीवैष्णव भट्ट सेवे लक्ष्मीनारायण । तांर भक्तिनिष्ठा देखि प्रभुर तुष्ट मन ॥१०३॥

श्रीमहाप्रभु ने उसे आज्ञा की कि यह बात (मेरा तत्त्व) किसी के आगे प्रकाश नहीं करना । वह विप्र श्रीमहाप्रभुजी का भक्त हो गया और चार मास पर्य्यन्त उसने प्रभु का साथ न छोड़ा । इस प्रकार श्रीगौरचन्द्र श्रीवेङ्कटभट्ट के घर पर रहे और निरन्तर भक्त के साथ श्रीकृष्ण-कथा प्रसङ्ग चलता रहा । श्रीवेङ्कटभट्ट श्रीलक्ष्मीनारायणजी की सेवा किया करते थे । श्रीमहाप्रभु उनकी निष्ठा को देखकर बहुत प्रसन्न थे ॥१००–१०३॥

निरन्तर तांर सङ्गे हैल सख्यभाव । हास्य-परिहास दोंहे सख्येर स्वभाव ॥१०४॥
प्रभु कहे–भट्ट ! तोमार लक्ष्मी ठाकुराणी । कान्तवक्षःस्थिता पतिव्रता शिरोमणि ॥१०५॥
आमार ठाकुर कृष्ण गोप गोचारण । साध्वी हञा केने चाहे तांहार सङ्गम ? ॥१०६॥
एइ लागि सुखभोग छाड़ि चिरकाल । व्रतनियम करि तप करिला अपार ॥१०७॥

श्रीमहाप्रभु का उसके साथ सख्यभाव हो गया, सखा होने के नाते दोनों परस्पर हास्य-परिहास भी करते रहते । एक दिन श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"भट्ट ! आप की ठाकुरानी श्रीलक्ष्मीजी सदा अपने कान्त श्रीनारायण के वक्षस्थल पर विहार करती हैं एवं पतिव्रता-शिरोमणि हैं । किन्तु हमारे ठाकुर श्रीकृष्ण गोप हैं, गोचरण उनका काम है फिर लक्ष्मीजी साध्वी होकर उनका सङ्गम क्यों चाहती है ?— इसके लिये उन्होंने बहुत समय तक सुख भोगों को छोड़कर व्रतनियमपूर्वक बहुत भारी तपस्या भी की है" ॥१०४–१०७॥ (श्रीभागवतजी में जैसा कि कहा गया है)—

तथाहि (भा: १०—१६—३६)—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥७॥

कालियनाग की पत्नियों ने श्रीकृष्ण से कहा—"हे देव ! जिसको प्राप्त करने की इच्छा से श्रीलक्ष्मीजी ने अनन्त काल तक समस्त कामनाओं को त्याग कर व्रत धारण करके तपस्या की थी, वह आपके चरणों की रज इस कालियनाग को किस पुण्यफल के प्रभाव से प्राप्त हुई है, यह हम नहीं जान सकी हैं" ॥ ७ ॥

भट्ट कहे—कृष्ण नारायण एकइ स्वरूप । कृष्णेते अधिक लीला-वैदग्ध्यादि रूप ॥१०८॥
तांर स्पर्शे नाहि याय पतिव्रता-धर्म । कौतुके लक्ष्मी चाहेन कृष्णेर सङ्गम ॥१०९॥

भट्ट ने कहा—श्रीकृष्ण और श्रीनारायण एक ही स्वरूप हैं । किन्तु श्रीकृष्ण में लीला, कलाविलास नैपुण्य एवं रूप-माधुर्यादि कुछ अधिक हैं. इसलिये श्रीलक्ष्मीजी ने कौतुकवशतः श्रीकृष्ण के सङ्गम की इच्छा की थी और श्रीकृष्ण के स्पर्श से उनका पतिव्रता धर्म भी नाश नहीं होता, (क्योंकि श्रीकृष्ण एवं श्रीनारायण एक ही स्वरूप हैं) ॥ १०८—१०९ ॥ (इसके प्रमाण स्वरूप श्लोक का उल्लेख करते हैं) :—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ, पूर्वविभागे, साधनभक्तिलर्य्याम् (३२)—

सिद्धान्त—तस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्ण—स्वरूपयोः ।
रसेनोत्कृष्यते कृष्ण—रूपमेषा रसस्थितिः ॥८॥

यद्यपि श्रीनारायण तथा श्रीकृष्ण में सिद्धान्तानुसार स्वरूपतः कुछ भी भेद नहीं है, तथापि केवल प्रेममयरस–निबन्धन में श्रीकृष्ण का उत्कर्ष है। प्रेम का इस प्रकार स्वभाव है कि वह आलम्बन को (आश्रय को) उत्कृष्ट रूप में प्रदर्शन कराता है, अर्थात् प्रेममयरस का यह धर्म है कि सौन्दर्य-माधुर्यादि वर्द्धित करके उस रस के आश्रय—श्रीकृष्ण के रूपादि को अत्यन्त मनोरम कर देता है, जिससे उसका चित्ताकर्षकत्व बढ़ जाता है ॥ ८ ॥

कृष्णसङ्गे पतिव्रता-धर्म नहे नाश। अधिक लाभ पाइये आर रासविलास ॥११०॥
विनोदिनी लक्ष्मीर हय कृष्णे अभिलाष। इहाते कि दोष, केने कर परिहास ? ॥१११॥
प्रभु कहे–दोष नाहि, इहा आमि जानि। रास ना पाइल लक्ष्मी,इहा शास्त्रे शुनि ॥११२॥

श्रीवेङ्कट ने कहा—"श्रीकृष्ण-सङ्ग से उनका पतिव्रत धर्म नाश नहीं होता, अधिकन्तु उन्हें रासविलास की भी प्राप्ति हुई है। श्रीलक्ष्मीजी विनोदिनी हैं; यदि वह श्रीकृष्ण–सङ्गम की अभिलाष करती हैं तो इस में कोई दोष नहीं आता। आप क्यों हँसी उड़ा रहे हो ?" श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"इस में कुछ दोष नहीं आता —यह तो मैं जानता हूँ, किन्तु मैंने तो शास्त्र में यह सुना है कि श्रीलक्ष्मीदेवी को रास की प्राप्ति नहीं हुई" ॥ ११०—११२ ॥ यथा:—

तथाहि (भा: १०—४७—६०)—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीत-कण्ठ–लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजसुन्दरीणाम् ॥९॥

रासोत्सव में भगवान् श्रीकृष्ण की भुजलताओं द्वारा गलकण्ठ होकर अपने मनोरथों को पूर्ण करते हुए; ब्रजसुन्दरीगणों ने जिस कृपा या सौभाग्य को प्राप्त किया है,वह कृपा श्रीकृष्ण के वामवक्षस्थल में सदा निवास करने वाली परम प्रेममयी लक्ष्मीदेवी भी प्राप्त न कर सकीं। कमलों की सुगन्ध एवं कान्ति वाली स्वर्ग की अप्सराएँ भी प्राप्त न कर सकीं। अन्यान्य कामिनियों की तो बात ही क्या है ? ॥९॥

लक्ष्मी केने ना पाइला, कि इहार कारण ?।
तप करि कैछे कृष्ण पाइल श्रुतिगण ? ॥११३॥

श्रीमहाप्रभु ने फिर पूछा—"वेङ्कट ! श्रुति–अभिमानी देवियों ने तो गोपीरूप में श्रीकृष्ण के सङ्ग को रासविलास में प्राप्त कर लिया, किन्तु तपस्या करने पर भी श्रीलक्ष्मीजी उसे क्यों न प्राप्त कर सकीं ? इसका क्या कारण ?" ॥ ११३ ॥ (श्रीभागवतजी में अभिमानी देवियों का श्रीकृष्ण के सङ्ग रासविलास-प्राप्ति का प्रमाण निम्नलिखित श्लोक में उद्धृत करते हैं) :—

तथाहि (भागवते १०—८७—२३)—

निभृतमरुन्मनोऽक्ष दृढ़योगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्र भोग भुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रि-सरोजसुधाः ॥१०॥

श्रुति-अभिमानी देवियों ने श्रीकृष्ण से कहा—"प्राण, मन तथा इन्द्रियों के संयमनपूर्वक योग में निपुण मुनिगण हृदय में जिस निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व की उपासना करते हैं या प्राप्त करते हैं, आप के

शत्रुगण भी द्वेष एवं भय से आपका स्मरण करते हुए उसी ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं और सर्पाकार आप की भुजाओं में आसक्ति रखने वाली श्रीराधा-प्रभृति आपकी नित्यकान्तागण आपकी जिस चरण-कमल-सुधा को साक्षाद्भाव से वक्षस्थल पर धारण करती हैं, उन गोपियों का आनुगत्य अवलम्बन करके हम भी उनके समान आप की उस चरण-सरोज-सुधा को प्राप्त हुई हैं" ॥ १० ॥ [श्रीमहाप्रभुजी ने इस श्लोक का उच्चारण किया और श्रीवेंकट से पूछा:—]

श्रुति पाय, लक्ष्मी ना पाय, इथे कि कारण ?। भट्ट कहे—इहां प्रवेशिते नारे मोर मन ॥११४
आमि जीव क्षुद्रबुद्धि—सहजे अस्थिर। ईश्वरेर लीला कोटि-समुद्र गम्भीर ॥११५
तुमि सेइ साक्षात् कृष्ण—जान निजकर्म। यारे जानाह, सेइ जाने—तोमारलीलामर्म॥११६
प्रभु कहे—कृष्णेर एक स्वभाव विलक्षण। स्वमाधुर्ये करे सदा सर्व-आकर्षण ॥११७

"श्रुतियों ने तो रास में श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लिया, किन्तु श्रीलक्ष्मीजी उसे प्राप्त न कर सकीं"—इसका कुछ तो कारण कहो। श्रीवेङ्कट ने कहा—"इस रहस्य को मैं नहीं जान पाया हूँ। मैं जीव हूँ, मेरी बुद्धि क्षुद्र है और स्वाभाविक चञ्चल है। किन्तु भगवान् की लीला कोटि-समुद्रों के समान गम्भीर है। आप वही साक्षात् श्रीकृष्ण हैं, अपनी लीला आप ही जानते हो। जिसको अपना मर्म आप जनाते हो, वही ही उसे जान सकता है"। प्रभु ने कहा—"श्रीकृष्ण का एक विलक्षण स्वभाव है कि अपने माधुर्य में सदा सब का मन हरण कर लेते हैं"॥ ११४—११७॥

व्रज लोकेर भावे पाइ तांहार चरण। तांरे 'ईश्वर' करि नाहि जाने व्रजजन ॥११८॥
केहो तांरे पुत्र-ज्ञाने उदूखले बान्धे। केहो तांरे सखा-ज्ञाने जिनि चढ़े कान्धे ॥११९॥
'व्रजेन्द्रनन्दन' तांरे जाने व्रज-जन। ऐश्वर्य्य-ज्ञान नाहि, निज सम्बन्ध मनन ॥१२०॥
व्रज लोकेर भावे येइ करये भजन। सेइ जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन ॥१२१॥

केवल नित्य-सिद्ध-परिकर—व्रजवासियों के भाव से ही श्रीकृष्ण की चरणसेवा प्राप्त की जा सकती है। व्रजवासी, श्रीकृष्ण को ईश्वर करके नहीं मानते। कोई उनको अपना पुत्र मान कर उन्हें ऊखल से बान्ध देता है, कोई उनको अपना सखा मान कर खेल में जीत कर उनके कन्धे पर चढ़ बैठता है। व्रजवासी उन्हें केवल श्रीनन्दराज का पुत्र ही जानते हैं, उनमें श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का ज्ञान नहीं है, वे उनसे अपने सम्बन्धानुसार ही प्रेम करते हैं। इसलिये नित्य-सिद्ध-परिकर-रूप जो व्रजवासीगण हैं—उनके आनुगत्य-भाव को लेकर जो उनका भजन करता है, वही व्रज में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की सेवा को प्राप्त कर सकता है ॥ ११८—१२१ ॥

तथाहि (भा: १०—९—२१)—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥११॥

श्रीशुकदेवजी ने महाराज परीक्षितजी से कहा—"यह यशोदापुत्र भगवान् श्रीकृष्ण भक्तिमान् पुरुषों के लिये जैसे सुलभ व अनायासलभ्य हैं, देहाभिमानी पुरुषों के लिये, देहाभिमान शून्य ज्ञानी पुरुषों के लिये और तो क्या; ब्रह्मा, शिव तथा लक्ष्मी आदि, जो भगवान् के आत्मभूत स्वरूप हैं, उनके लिये भी उतने सुलभ एवं अनायासलभ्य नहीं हैं ॥ ११ ॥

श्रुति सब गोपीगणेर अनुगत हञा। व्रजेश्वरी-सुत भजे गोपीभाव लञा ॥१२२॥
व्यूहान्तरे गोपीदेह व्रजे यबे पाइल। सेइ देहे कृष्णसङ्गे रासक्रीड़ा कैल ॥१२३॥
गोपजाति कृष्ण-गोपी प्रेयसी तांहार। देवी वा अन्य स्त्री कृष्ण ना करे अङ्गीकार॥१२४॥
लक्ष्मी चाहे सेइ देहे कृष्णेर सङ्गम। गोपिका—अनुगा हञा ना कैल भजन ॥१२५॥

प्रभु ने बताया कि श्रुति-अभिमानी देवियों ने व्रजगोपीगणों के अनुगत होकर, गोपीभाव को लेकर श्रीयशुदानन्दन का भजन किया। व्यूह के अन्तर्गत जब उन्होंने व्रज में गोपीदेह को प्राप्त किया, तब उस देह से श्रीकृष्ण के साथ रासलीला की। अर्थात् श्रुति-अभिमानी देवियों ने अपने दो-दो शरीर बना लिये, एक शरीर से तो वे श्रुति अभिमानी देवियाँ बनी रहीं और दूसरा व्यूह उन्होंने गोपी-देह का धारण किया, जिससे रास में श्रीकृष्ण के साथ सङ्गम प्राप्त किया। श्रीकृष्ण गोप जाति हैं—वे नरलीला में अपने में गोप-अभिमान करते हैं, इसलिये उनकी प्रेयसी भी स्वाभाविक गोप-कन्या—गोपियाँ ही हो सकती हैं। अतः देवी या और किसी स्त्री को वे अङ्गीकार ही नहीं करते तथा न ही और कोई रमणी उनके मन को आकर्षण ही कर सकती है। श्रीलक्ष्मीजी किन्तु, यह चाहती थीं कि उसी लक्ष्मीदेह से श्रीकृष्ण का सङ्गम प्राप्त हो, वह गोपी देह धारण करना न चाहती थीं और न ही उन्होंने गोपिकाओं के आनुगत्य में भजन ही किया, इसलिये उनको रासलीला में श्रीकृष्ण-सङ्गम प्राप्त न हो सका (और श्रुति-देवियों ने गोपी देह एवं गोपीभाव का आनुगत्य स्वीकार किया इसलिये उन्हें श्रीकृष्ण की रासलीला में सङ्गम-सुख प्राप्त हुआ) ॥ १२२—१२५ ॥

अन्यदेहे ना पाइये रास—विलास। अतएव "नायं" श्लोक कहे वेदव्यास ॥१२६॥
पूर्वे भट्टेर मने एक छिल अभिमान। श्रीनारायण हयेन—स्वयं भगवान् ॥१२७॥
तांहार भजन सर्वोपरि कक्षा पल। श्रीवैष्णव-भजन एइ सर्वोपरि हय ॥१२८॥
एइ तांर गर्व प्रभु करिते खण्डन। परिहास—द्वारे उठाय एतेक वचन ॥१२६॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"गोपीदेह के अतिरिक्त और किसी देह से रासविलास का अधिकार नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये श्रीवेदव्यासजी ने श्रीभागवत १०-४७—६० में 'नायं'—श्लोक कहा है"। (पृष्ठ २५८ द्रष्टव्य)। अब तक श्रीवेङ्कट भट्ट के मन में एक अभिमान था कि श्रीनारायण ही स्वयं भगवान् हैं, उनका भजन ही सर्वोपरि कक्षा में है और श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय का भजन ही सर्वोपरि है, किन्तु अब वह अभिमान उनका नष्ट हो गया और उसी अभिमान को खण्डन करने के लिये ही श्रीमहाप्रभुजी ने इस प्रसङ्ग को परिहास के रूप में उठाया था ॥ १२६—१२६ ॥

प्रभु कहे—भट्ट! तुमि न कर संशय। स्वयं भगवान्-कृष्णेर एइ स्वभाव हय ॥१३०॥
कृष्णेर विलासमूर्त्ति—श्रीनारायण। अतएव लक्ष्मी—आद्येर हरे तेंहो मन ॥१३१॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"भट्ट! आप यह संशय मत करिये कि श्रीलक्ष्मीजी का मन श्रीकृष्ण की ओर क्यों आकृष्ट हुआ या इसमें श्रीलक्ष्मीजी का कुछ दोष है—इस में श्रीलक्ष्मीजी का कुछ दोष नहीं है, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य का ही यह स्वरूप-धर्म है कि वे सब के मन को आकर्षण कर लेते हैं। श्रीनारायण श्रीकृष्ण की विलासमूर्त्ति हैं। अतएव वे लक्ष्मीजी आदि का भी मन हरने वाले हैं ॥१३०-१३१॥ श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—इसका प्रमाण निम्नलिखित श्लोक में उल्लेख करते हैं—

तथाहि (भा: १—३—२८)—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे ॥१२॥

श्रीसूतजी ने कहा—"(पीछे जो भगवतावतारों के नाम गिनाये हैं) ये सब अवतार पुरुष के अंशरूप और विभूतिरूप हैं और ये राक्षसों से पीड़ित जगत् को प्रति युग में (राक्षसों का संहार करके) सुख प्रदान करते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं ॥ १२ ॥ [विशेष टीका चै० च० १—२—१३ श्लोक पृष्ठ ४२ पर द्रष्टव्य है ।]

नारायण हैते कृष्णेर असाधारण गुण । अतएव लक्ष्मीर कृष्णे तृष्णा अनुक्षण ॥१३२॥
तुमि ये पढ़िले श्लोक—सेइ परमाण । सेइ श्लोके आइसे–कृष्ण स्वयं भगवान् ॥१३३॥

श्रीनारायण से श्रीकृष्ण में (लीला, प्रेममण्डित प्रियमण्डल का आधिक्य, वेणुमाधुर्य एवं रूपमाधुर्य—ये चार) असाधारण गुण हैं, इसलिये श्रीलक्ष्मीजी का मन श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट होता है और हे भट्ट ! तुमने जो पीछे श्लोक (नं० ८) अपनी उक्ति के प्रमाण में पढ़ा था, उस श्लोक से भी श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् प्रमाणित होते हैं ॥ १३२–१३३ ॥ यथाः—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ, पूर्वविभागे, द्वितीयलहर्य्याम् (३२)—

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्ण—स्वरूपयोः ।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितः ॥१३॥

यद्यपि श्रीनारायण तथा श्रीकृष्ण में सिद्धान्तानुसार स्वरूपतः कुछ भी भेद नहीं है, तथापि केवल प्रेममयरस-निबन्धन में श्रीकृष्ण का उत्कर्ष है । प्रेम का इस प्रकार स्वभाव है कि वह आलम्बन को (आश्रय को) उत्कृष्ट रूप में प्रदर्शन कराता है ॥ १३ ॥

स्वयं भगवत्त्वे कृष्ण हरे लक्ष्मीर मन । गोपिकार मन हरिते नारे नारायण ॥१३४॥
नारायणेर का कथा—श्रीकृष्ण आपने । गोपिकारे हास्य करिते हय नारायणे ॥१३५॥
चतुर्भुजमूर्त्ति देखाय गोपीगण आगे । सेइ कृष्णे गोपिकार नहे अनुरागे ॥१३६॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् ही हैं इसलिये वे तो श्रीलक्ष्मीजी का मन हरण करते हैं, किन्तु गोपिकाओं का मन श्रीनारायण हरण नहीं कर सकते "। श्रीनारायण तो क्या ?—श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं से हँसी करके एक बार श्रीनारायण का रूप धारण किया और उसी चतुर्भुजरूप—श्रीनारायण रूप में गोपिकाओं को दर्शन दिया, तो उस श्रीकृष्ण में भी गोपिकाओं की प्रीति न हुई ॥१३४—१३६ ॥ इसका प्रमाण निम्नलिखित श्लोक से देते हैं—

तथाहि ललितमाधवे (६—१४)—

गोपीनां पशुपेन्द्रनन्दनजुषो भावस्य कस्तां कृती
विज्ञातुं क्षमते दुरुहपदवीसञ्चारिणः प्रक्रियाम् ।
आविष्कुर्व्वति वैष्णवीमपि तनुं तस्मिन् भुजैर्जिष्णुभि-
र्यासां हन्त चतुर्भिरद्भुतरुचिं रागोदयः कुञ्चति ॥१४॥

व्रजगोपियों का श्रीव्रजेन्द्रनन्दन—श्रीकृष्ण में जो सेवामय भाव है; तथा गोपियों के बिना जिसे और कोई भी नहीं समझ सकता, उस कान्ता-भाव की पद्धति को या स्वरूप को कौन ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति है—जो जान सके ? (अर्थात् उसे जानने में किसी की भी सामर्थ्य नहीं है) क्योंकि आश्चर्य तो यह है कि (अपने स्वरूप को गोपन करने के उद्देश्य से—लीलावश) वही व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण भी यदि जयशील—शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज विशिष्ट श्रीविष्णुमूर्त्ति अर्थात् श्रीनारायण की मूर्त्ति धारण करें, तो उनमें भी उन व्रजगोपियों की कान्ताभावमयी प्रीति का उल्लास संकुचित हो जाता है ॥ १४ ॥
[चैं० च० १-१७-८ म श्लोक पृष्ठ ३०४—३०५ द्रष्टव्य है ।]

एत कहि प्रभु तार गर्व चूर्ण करिया । तारे सुख दिते कहे सिद्धान्त फिराइया ॥१३७॥
दुख ना मानिह भट्ट ! कैल परिहास । शास्त्रसिद्धान्त शुन,याते वैष्णव विश्वास ॥१३८॥
कृष्ण-नारायण यैछे एकइ स्वरूप । गोपी-लक्ष्मी भेद नाहि, हय एक रूप ॥१३९॥
गोपीद्वारा लक्ष्मी करे कृष्ण-सङ्गास्वाद । ईश्वरत्वे भेद मानिले हय अपराध ॥१४०॥
एकइ ईश्वर भक्तेर ध्यान—अनुरूप । एकइ विग्रहे करे नानाकार-रूप ॥१४१॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी ने उसके गर्व को चूर्ण करके उसके चित्त को आनन्द देने के लिये सिद्धान्त को फिरा (घुमा) कर कहा—"भट्ट ! आप दुख नहीं मानना, मैंने परिहास किया है । शास्त्रों का सिद्धान्त सुनिये, जिसमें वैष्णवों का विश्वास होता है । श्रीकृष्ण तथा श्रीनारायण जैसे एक ही स्वरूप हैं, व्रजगोपी (श्रीराधाजी) तथा श्रीलक्ष्मीजी भी उसी प्रकार एक ही रूप हैं । गोपी द्वारा (श्रीराधाजी द्वारा) श्रीलक्ष्मीजी श्रीकृष्ण के सङ्गम का आस्वादन करती हैं । ईश्वर के विभिन्न प्रकाशों (स्वरूपों) में स्वरूपतः भेद मानने से अपराध होता है । [अर्थात् श्रीकृष्ण-श्रीराम, श्रीनारायण,श्रीशिव आदि विभिन्न भगवत्-स्वरूपों में स्वरूपतः भेद मानना अपराध होता है । एक ही ईश्वर भक्तों के ध्यान अनुरूप एक ही विग्रह से नाना आकार एवं रूपों में प्रगट होता है ।] अर्थात् भक्तों की भिन्न-भिन्न रुचि एवं प्रकृति के अनुरूप एक ही ईश्वर विभु तत्त्व, अद्वय तत्त्व विभिन्न स्वरूपों में आत्म-प्रकट करता है । स्वरूपतः उन विभिन्न स्वरूपों में कोई भेद नहीं है ॥ १३७—१४१ ॥ (इस बात के समर्थन में इन्होंने निम्नलिखित श्लोक कहा) :—

तथाहि लघुभागवतामृते पूर्व्व खण्डे, नारद पञ्चरात्र वचनम् (३-८६)—

मणिर्यथा विभागेन नील पीतादिभिर्युतः ।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः ॥१५॥

वैदूर्य्यमणि (जिसमें अनेक रङ्ग प्रतीत होते हैं) जैसे विभाग—भेद से नील—पीतादि अनेक वर्णयुक्त होती है । उसी प्रकार अच्युत श्रीकृष्ण भी ध्यान भेद से विभिन्न स्वरूपों में प्रतिभात् होते हैं ॥१५॥

भट्ट कहे—काहां मुञि जीव पामर । काहां तुमि सेइ कृष्ण—साक्षात् ईश्वर ॥१४२॥
अगाध ईश्वरलीला किछु नाहि जानि । तुमि ये कह, सेइ सत्य करि मानि ॥१४३॥
मोरे पूर्ण कृपा कैल लक्ष्मीनारायण । तांर कृपाय पाइल तोमार चरणदर्शन ॥१४४॥
कृपा करि कहिले मोरे कृष्णेर महिमा । यांर रूप-गुणैश्वर्य्येर केहो ना पाय सीमा ॥१४५॥

एवे से जानिल, कृष्ण-भक्ति-सर्वोपरि । कृतार्थ करिले मोरे कहि कृपा करि ॥१४६॥
एत बलि भट्ट पड़े प्रभुर चरणे । कृपा करि प्रभु तांरे कैल आलिङ्गने ॥१४७॥

श्रीमहाप्रभु के बचन सुन कर श्रीवेङ्कट भट्टजी ने कहा—"कहाँ तो मैं अधम जीव ? और कहां आप वही साक्षात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ! आपकी लीला अगाध है, मैं कुछ भी नहीं जानता । आपने जो कुछ कहा—उसे मैं सत्य करके मानता हूँ । मुझ पर श्रीलक्ष्मीनारायण ने पूर्ण कृपा की है जिसके फल-स्वरूप आप के चरणों का दर्शन मैंने पाया है । आप ने मुझ पर कृपा करके मुझे श्रीकृष्ण महिमा सुनाई है; जिनके रूप, गुण एवं ऐश्वर्य्य की कोई भी सीमा नहीं पा सकता । अब मैं जान गया हूँ कि श्रीकृष्ण-भक्ति ही सर्वोपरि है, कृपापूर्वक आपने यह रहस्य मुझे बता कर कृतार्थ कर दिया है ।" इतना कहकर भट्टजीने श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ लिये और श्रीप्रभु ने भी कृपा करके उन्हें गले लगा लिया ॥१४२-१४७॥

चातुर्मास्य पूर्ण हैल, भट्टेर आज्ञा लञा । दक्षिण चलिला प्रभु श्रीरङ्ग देखिया ॥१४८॥
सङ्गेते चलिला भट्ट—ना याय भवने । तांरे विदाय दिल प्रभु अनेक यतने ॥१४९॥
प्रभुर विच्छेदे भट्ट हैल अचेतन । एइ रङ्गे लीला करे श्रीशचीनन्दन ॥१५०॥

चातुर्मास्य समाप्त होने पर श्रीवेङ्कट भट्टजी से आज्ञा लेकर श्रीमहाप्रभुजी श्रीरङ्गजी के दर्शन करके दक्षिण की ओर चले । भट्टजी भी श्रीमहाप्रभुजी के साथ चलने लगे, वे अपने घर को न लौटना चाहते थे । प्रभु ने अनेक प्रकार समझा-बुझा कर उन्हें विदा किया । प्रभु का विरह भट्ट सहन न कर सके और मूर्च्छित हो गये । इस प्रकार श्रीशचीनन्दन प्रभु अद्भुत लीला करते हैं ॥ १४८—१५० ॥

ऋषभ-पर्वत चलि आइला गौरहरि । नारायण देखि ताहां स्तुति-नति करि ॥१५१॥
'परमानन्द पुरी ताहां रहे चतुर्मास' । शुनि महाप्रभु गेला पुरी गोसाञिपाश ॥१५२॥
पुरी गोसाञिर प्रभु कैल चरणवन्दन । प्रेमे पुरीगोसाञि तांरे कैल आलिङ्गन ॥१५३
तिन—दिन प्रेमे दोंहे कृष्ण कथा रङ्गे । सेइ विप्रघरे दोंहे रहे एकसङ्गे ॥१५४॥

उसके पश्चात् श्रीमहाप्रभु ऋषभ-पर्वत पर चले आए और वहाँ श्रीनारायण भगवान् के दर्शन किये, उनकी स्तुति और वन्दनाकी । वहाँ प्रभुने सुना कि श्रीपरमानन्दपुरी गोस्वामी चारमास—वर्षा के कारण वहाँ वास कर रहे हैं, श्रीमहाप्रभु उनके पास गये । श्रीमहाप्रभुजी ने जाकर पुरी गोस्वामीजी के चरणों में वन्दना की और श्रीपुरी गोस्वामीपादने प्रभु का आलिङ्गन किया । (श्रीपरमानन्द पुरीगोस्वामी, श्रीपाद माधवेन्द्र पुरी के शिष्य थे एवं श्रीमहाप्रभुजी के गुरु श्रीपाद ईश्वरपुरी के गुरुभाई थे) । दोनों तीन दिन तक प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण-कथा प्रसङ्ग में उसी ब्राह्मण के घर एक साथ रहे ॥१५१—१५४॥

पुरीगोसाञि कहे—आमि याव पुरुषोत्तमे । पुरुषोत्तम देखि गौड़े यांव गङ्गास्नाने ॥१५५॥
प्रभु कहे—तुमि पुन आइस नीलाचले । आमि सेतुबन्ध हैते आसिव अल्पकाले ॥१५६॥
'तोमार निकटे रहि' हेन वाञ्छा हय । नीलाचले आसिवे मोरे हइवा सदय ॥१५७॥
एत बलि तार ठाञि एइ आज्ञा लञा । दक्षिण चलिला प्रभु हरषित हञा ॥१५८॥

श्रीपुरी गोस्वामीजी ने बताया कि मैं पुरुषोत्तम (श्रीक्षेत्र) जाऊंगा और श्रीपुरुषोत्तमजी के दर्शन करके गौड़ देश (बाङ्गाल) में जाकर गंगा-स्नान करूंगा । श्रीमहाप्रभु ने कहा—"उसके बाद आप

नीलाचल में पधारियेगा, मैं भी सेतुबन्ध होकर शीघ्र वहां आरहा हूँ। क्योंकि मेरी ऐसी इच्छा है कि आप के पास ही मैं रहूँ। अतः आप मुझ पर दया करते हुए अवश्य नीलाचल पधारें।" इतना कह कर श्रीमहाप्रभु ने उनसे आज्ञा माँगी और प्रसन्न चित्त होकर वहां से दक्षिण की ओर चले ॥१५५-१५८॥

परमानन्दपुरी तबे चलिला नीलाचले। महाप्रभु चलि चलि आइला श्रीशैले ॥१५९॥
शिवदुर्गा रहे ताहां ब्राह्मणेर वेशे। महाप्रभु देखि दोंहार हइल उल्लासे ॥१६०॥
तिन-दिन भिक्षा दिल करि निमन्त्रण। निभृते वसि गुप्तकथा कहे दुइजन ॥१६१॥
तांर सने महाप्रभु करि इष्टगोष्ठी। ताँर आज्ञा लञा आइला पुरी कामकोष्ठी ॥१६२॥

श्रीपरमानन्द पुरी तो वहाँ से नीलाचल की ओर चले और श्रीमहाप्रभु चलते चलते श्रीशैल पर पहुँचे। वहां श्रीशिवजी तथा दुर्गादेवी दोनों ब्राह्मण का रूप धारण करके रहते थे। श्रीमहाप्रभु को देखकर दोनों प्रसन्न हुए। उन्होंने तीन दिन तक निमन्त्रण देकर प्रभु को भिक्षा कराई। श्रीशिव-दुर्गा दोनों एकान्त में बैठकर गुप्त कथा कहते थे। उनके साथ श्रीमहाप्रभुजी श्रीकृष्णकथा प्रसङ्ग करके उनकी आज्ञा लेकर कामकोष्ठी पुरी में आए ॥१५९-१६२॥

दक्षिण-मथुरा आइला कामकोष्ठी हैते। ताहां देखा हैला एक ब्राह्मण सहिते ॥१६३॥
सेइ विप्र महाप्रभुर कैल निमन्त्रण। रामभक्त सेइ विप्र विरक्त महाजन ॥१६४॥
कृतमालाय स्नान करि आइला तांर घरे। भिक्षा कि दिवेक?-विप्र पाक नाहि करे ॥१६५॥
महाप्रभु कहे तांरे—शुन महाशय। मध्याह्न हइल, केने पाक नाहि हय? ॥१६६॥

श्रीमहाप्रभु कामकोष्ठी से दक्षिण-मथुरा में आए और वहाँ एक ब्राह्मण से आपका मिलाप हुआ। उस ब्राह्मण ने श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रण दिया। वह ब्राह्मण श्रीरामजी का विरक्त परमभक्त था। श्रीमहाप्रभु कृतमाला नदी में स्नान कर उसके घर पर आए। वहाँ भिक्षा कौन देता?-ब्राह्मण ने तो अभी रसोई की ही नहीं थी। श्रीमहाप्रभुजी ने पूछा—"हे महाशय! दोपहर हो चुका है, आपने अभी तक रसोई नहीं की, इसका क्या कारण?" ॥१६३-१६६॥

विप्र कहे—प्रभु! मोर अरण्ये वसति। पाकेर सामग्री बने ना मिले सम्प्रति ॥१६७॥
बन्य अन्न फल शाक आनिवे लक्ष्मण। तबे सीता करिवेन पाक-प्रयोजन ॥१६८॥
तांर उपासना जानि प्रभु तुष्ट हैला। आस्ते-व्यस्ते सेइ विप्र रन्धन करिला ॥१६९॥
प्रभु भिक्षा कैल—दिन तृतीय प्रहरे। निर्विण्ण सेइ विप्र उपवास करे ॥१७०॥

विप्र ने कहा—"प्रभो! मेरा बन में बास है, पाक की सामिग्री बन में शीघ्र नहीं मिलती। श्रीलक्ष्मणजी बन के अन्न-फल शाक आदि जब लावेंगे, तभी सीताजी रसोई का प्रबन्ध करेंगी"। उसकी उपासना-पद्धति को प्रभु जान गये एवं बहुत संतुष्ट हुए। फिर धीरे धीरे उस ब्राह्मण ने रसोई करली और प्रभु ने फिर दिन के तीसरे प्रहर खाना खाया किन्तु वह ब्राह्मण उदास चित्त होकर भूखा प्यासा बैठा रहा।

चै० च० चु० *टीका*—ऊपर के पयारों में श्रीरामभक्त ब्राह्मण के भजनावेश की बात कही गई है। जब महाप्रभुजी ने उससे रसोई में देर के सम्बन्ध में पूछा तो, तब वह श्रीरामचन्द्र की बनवासलीला का स्मरण कर रहा था। श्रीरामजी, श्रीसीताजी एवं श्रीलक्ष्मणजी के साथ वह अन्तश्चिन्तित सिद्धदेह से पञ्चवटी पर वास कर रहा था और दासीरूप से चिन्तवन कर रहा था। वह चिन्ता कर रहा था कि

श्रीलक्ष्मणजी मानो बन में कन्दमूल-फल शाकादि लेने गये हैं, जब वे कुछ साग-फल बन से लावेंगे, तभी श्रीसीताजी कुछ रसोई करेंगी—श्रीलक्ष्मणजी की प्रतीक्षा में ही सब बैठे हैं—ब्राह्मण जब इस प्रकार मानसी भावना में निमग्न था, तभी इधर श्रीप्रभु ने आकर रसोई के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। प्रभु की बात सुनकर उसे कुछ बाह्य हुआ किन्तु उसका अन्तर आवेश छूटा नहीं। उसी आवेश में ही उसने प्रभु को उत्तर दिया कि मैं बन में वास करता हूँ। यहाँ रसोई की सामग्री दुर्लभ है। श्रीलक्ष्मणजी के आने पर कुछ रसोई का प्रबन्ध होगा—इत्यादि। श्रीमहाप्रभु उसकी इस उपासना-प्रणाली (मानसी-उपासना) को जानकर संतुष्ट हुए। लीलास्मरण का आवेश छूटने पर उसने धीरे धीरे रसोई बनाई और प्रभु को भिक्षा कराई, किन्तु स्वयं वह उदास बैठा रहा।

प्रभु कहे—विप्र ! काँहे कर उपवास ? । केने एत दुखे तुमि करह हुताश ॥१७१॥
विप्र कहे—जीवने मोर नाहि प्रयोजन । अग्नि-जले प्रवेशिया छाड़िव जीवन ॥१७२॥
जगन्माता महालक्ष्मी सीता ठाकुराणी । राक्षसे स्पर्शिल तांरे इहा कर्णे शुनि ॥१७३॥
ए शरीर धरिवारे कभु ना जुयाय । एइ दुखे ज्वले देह, प्राण नाहि पाय ॥१७४॥

श्रीमहाप्रभुजी ने पूछा—"हे विप्र ! तुम उपवास क्यों करते हो, तुम भी भोजन करो, क्यों हताश होकर इतना दुख कर रहे हो ? (श्रीसीताजी के हरण की लीला के स्मरण के आवेश में निमग्न होकर) वह विप्र बोला—मुझे अब जीते रहने से कोई प्रयोजन नहीं है। अग्नि में जलकर या जल में डूबकर मैं अपने जीवन का अन्त कर दूंगा, क्योंकि जगन्माता महालक्ष्मीस्वरूपा श्रीजानकी स्वामिनी को राक्षस रावण हर ले गया है—यह बात मैं कान से सुन रहा हूँ। अब ऐसे शरीर के रखने से क्या लाभ ? अहो ! मेरा शरीर तो इस ताप में जला जा रहा है, किन्तु मेरे प्राण नहीं निकलते ॥१७१-१७४॥

प्रभु कहे—ए भावना ना करिह आर । पण्डित हइया केने ना कर विचार ? ॥१७५॥
ईश्वरप्रेयसी सीता चिदानन्द—मूर्त्ति । प्राकृत-इन्द्रिये तांरे देखिते नाहि शक्ति ॥१७६॥
स्पर्शिवार कार्य आछुक, ना पाय दर्शन । सीतार आकृति माया हरिल रावण ॥१७७॥
रावण आसिते सीता अन्तर्द्धान कैल । रावणेर आगे माया-सीता पाठाइल ॥१७८॥
'आप्राकृत-वस्तु नहे प्राकृतगोचर' । वेद पुराणेते एइ कहे निरन्तर ॥१७९॥
विश्वास करह तुमि आमार वचने । पुनरपि कु-भावना ना करिह मने ॥१८०॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"ऐसी भावना कभी नहीं करना, पण्डित होकर तुम विचार क्यों नहीं करते ? । श्रीसीताजी श्रीभगवान् की प्रेयसी हैं एवं चिदानन्द मूर्त्ति अर्थात् चिच्छक्तिस्वरूपिणी हैं। उनको प्राकृत इन्द्रियां देखने की शक्ति नहीं रखतीं। प्राकृत हाथों से स्पर्श करना तो दूर, प्राकृत नेत्रों से उन्हें कोई देख भी नहीं सकता। (प्राकृत राक्षस रावण श्रीसीताजी का स्पर्श एवं दर्शन तक भी नहीं कर सकता। रावण के आने के पूर्व ही श्रीसीताजी तो वहाँ से अन्तर्हित हो चुकी थी) माया की एक सीता जैसी मूर्त्ति वहां उपस्थित थी, जिसे रावण हरण कर ले गया था। रावण के साथ वही माया की सीता ही चली गई। वेद एवं पुराण निरन्तर यह कह रहे हैं कि अप्राकृत (दिव्य) वस्तु प्राकृत इन्द्रियों से नहीं प्राप्त की जा सकती। हे विप्र ! तुम मेरे वचनों पर विश्वास करो और फिर कभी इस प्रकार की कुभावना नहीं करना" ॥१७५-१८०॥

प्रभुर वचने विप्रेर हइल विश्वास। भोजन करिल, हैल जीवनेर आश ॥१८१॥
तारे आश्वासिया प्रभु करिला गमन। कृतमालाय स्नान करि आइला दुर्वेशन ॥१८२॥
दुर्वेशन—रघुनाथे करि दरशन। महेन्द्रशैले परशुरामें—करिला वन्दन ॥१८३॥
सेतुबन्धे आसि कैल धनुतीर्थे स्नान। रामेश्वर देखि तांहा करिला विश्राम ॥१८४॥

श्रीमहाप्रभु के वचनों में ब्राह्मण को विश्वास हो गया एवं फिर उसने भोजन करके जीवन को धारण करने का निश्चय कर लिया। उसे इस प्रकार आश्वासन देकर प्रभु ने आगे गमन किया। कृतमाला में स्नान करके प्रभु दुर्वेशन में आए। दुर्वेशन में श्रीरघुनाथजी के दर्शन किये। फिर महेन्द्र पर्वत पर आकर प्रभु ने श्रीपरशुरामजी की वन्दना को। फिर सेतुबन्ध में आकर प्रभु ने धनुतीर्थ में स्नान किया और रामेश्वरजी के दर्शन कर वहाँ विश्राम किया ॥१८१-१८४॥

विप्र-सभाय शुने तांहा कूर्म्मपुराण। तार मध्ये आइल पतिव्रता-उपाख्यान ॥१८५॥
'माया-सीता निल रावण'-शुनिल व्याख्याने। शुनि महाप्रभु हैला आनन्दित मने ॥१८६॥
पतिव्रता--शिरोमणि जनकनन्दनी। जगतेर माता सीता श्रीरामगृहिणी ॥१८७॥
रावण देखि सीता लैल अग्निर शरण। रावण हैते अग्नि कैला सीता आवरण ॥१८८॥

रामेश्वर में विप्र-सभा में नित्य कूर्म्मपुराण की कथा होती थी एवं महाप्रभु भी जाकर सुनते थे। उस कथा प्रसङ्ग में एक दिन पतिव्रताओं की कथा आई। उस प्रसंग में जब यह बात आई कि रावण ने तो माया की सीताजी का हरण किया था-तो इसे सुनकर महाप्रभुजी को बहुत प्रसन्नता हुई। श्रीजनकनन्दनी तो पतिव्रताओं में शिरोमणि हैं, श्रीरामजी की नित्य प्रेयसी श्रीसीता महारानी जगत् की माता हैं। रावण को देखकर श्रीजानकीजी ने अग्नि की शरण ली और अग्नि देवता ने श्रीसीताजी को रावण से छिपा लिया ॥१८५-१८८॥

सीता लञा राखिलेन पार्वतीर स्थाने। मायासीता दिया अग्नि वञ्चिला रावणे ॥१८९॥
रघुनाथ आसि यवे रावणे मारिल। अग्नि-परीक्षा दिते यवे सीतारे आनिल ॥१९०॥
तबे माया-सीता अग्नि करि अन्तर्धान। सत्य-सीता आनि दिल राम-विद्यमान ॥१९१॥
शुनिञा प्रभुर आनन्दित हैल मन। रामदास विप्रेर कथा हइल स्मरण ॥१९२॥

श्रीसीताजी को लेकर अग्नि देवता ने श्रीपार्वती जी के पास पहुँचा दिया और माया की सीताजी देकर अग्नि देव ने रावण को वञ्चित कर दिया। फिर श्रीरघुनाथ जी ने जब रावण को मार दिया और श्रीसीताजी को अग्नि परीक्षा देने के लिये लाया गया, तब उस माया की सीताजो को अग्नि ने अन्तर्धान कर दिया और नित्य स्वरूपिणी श्रीसीताजी श्रीरामजी को लाकर सौंप दी। इस प्रसङ्ग को कूर्म पुराण में सुनकर श्रीमहाप्रभु को बहुत आनन्द हुआ और उस रामदास ब्राह्मण की बात याद हो आई। (जिसका पहले वर्णन कर चुके हैं) ॥ १८९-१९२ ॥

ए सब सिद्धान्त शुनि प्रभुर आनन्द हैल। ब्राह्मणेर स्थाने मागि सेइ पत्र लैल ॥१९३॥
नूतन पत्र लिखिया पुस्तके राखाइल। प्रतीति लागि पुरातन पत्र मागि लैल ॥१९४॥
पत्र लञा पुन दक्षिण-मथुरा आइला। रामदास विप्रे सेइ पत्र आनि दिला ॥१९५॥

ये सब सिद्धान्त की बात सुन कर महाप्रभु हर्षित हुए एवं उस कथा कहने वाले ब्राह्मण से पुराण का वह पन्ना ले लिया। एक नवीन पन्ना उसकी नकल कराके उस पुस्तक में रखवा दिया और विश्वास दिलाने के लिये वह पुरातन पन्ना श्रीमहाप्रभु ने मांग कर स्वयं ले लिया। उस पन्ने को लेकर जब प्रभु वापिस दक्षिण-मथुरा में लौटे, तो उस रामदास ब्राह्मण को वह पन्ना दे दिया ॥ १९३—१९५ ॥ उसमें लिखा था—

तथाहि कूर्म्मपुराणे—

सीतयाराधितो——वह्निश्छायासीतामजीजनत् ।
तां जहार दशग्रीवः सीता वह्निपुरं गता ॥१६॥
परीक्षा—समये वह्निं छायासीता विवेश सा ।
वह्निः सीतां समानीय स्वपुरादुदनीनयत् ॥१७॥

जब श्रीसीताजी ने प्रार्थना की तो अग्निदेव ने एक माया की सीताजी रची। इस माया-रचित सीताजी को ही दशमुख रावण हरण करके ले गया और सत्य-सीताजी अग्निदेव की पुरी में चली गईं। परीक्षा के समय वह माया-सीताजी अग्नि में प्रवेश कर गईं और अग्निदेव ने अपनी पुरी से स्वयंरूपा सीतादेवी जी को लाकर श्रीरामचन्द्रजी को सौंप दिया ॥ १६-१७ ॥

पत्र पाञा विप्रेर हैल आनन्दित मन। प्रभुर चरण धरि करये क्रन्दन ॥१९६॥
विप्र कहे—तुमि साक्षात् श्रीरघुनन्दन। संन्यासीर वेशे मोरे दिले दरशन ॥१९७॥
महा दुख हैते मोरे करिला निस्तार। आजि मोर घरे भिक्षा कर अङ्गीकार ॥१९८॥
मनोदुखे भाल भिक्षा ना दिल सेइ दिने। मोर भाग्ये पुनरपि पाइल दर्शने ॥१९९॥

उस पन्ने को पाकर ब्राह्मण का मन बहुत प्रसन्न हुआ एवं प्रेम में आकर श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ कर रोने लगा। ब्राह्मण ने कहा—"आप तो साक्षात् श्रीरघुनन्दन हो। संन्यासी के वेश में आपने मुझे दर्शन दिया है। आपने मुझे महान दुख से निस्तारा है। आप आज मेरे घर भिक्षा अङ्गीकार कीजिये। क्योंकि उस दिन मैं अपने दुखित मन के कारण आपको अच्छी भिक्षा न करा सका। मेरे अहो भाग्य हैं कि आपने मुझे दुबारा दर्शन दिये हैं ॥ १९६—१९९ ॥

एत बलि सुखु विप्र शीघ्र पाक कैल। उत्तम प्रकारे प्रभुके भिक्षा कराइल ॥२००॥
सेइ रात्रि ताहां रहि तांरे कृपा करि। पाण्डयदेशे ताम्रपर्णी आइला गौरहरि ॥२०१॥
ताम्रपर्णी स्नान करि ताम्रपर्णी—तीरे। नयत्रिपदी देखि बुले कुतूहले ॥२०२॥
चिड़यताला–तीर्थे देखि श्रीराम–लक्ष्मण। तिलकाञ्ची आसि कैल शिव दरशन ॥२०३॥

इतना कह कर उस ब्राह्मण ने सुख पूर्वक अति शीघ्र रसोई बनाई और उत्तम-उत्तम पदार्थों से प्रभु को भिक्षा कराई। प्रभु कृपापूर्वक उस रात को उसके घर रहे। दूसरे दिन श्रीगौरहरि पाण्ड्य देश में ताम्रपर्णी के किनारे आए। ताम्रपर्णी में स्नान कर उसके तीर पर नयत्रिपदी को देखा और वहाँ ही भ्रमण करते रहे। चिड़यताला तीर्थ में आकर प्रभु ने श्रीराम-लक्ष्मणजी के दर्शन किये। फिर तिलकाञ्ची में आकर प्रभु ने श्रीशिवजी के दर्शन किये ॥ २००-२०३ ॥

गजेन्द्र–मोक्षणतीर्थे देखि विष्णुमूर्त्ति। पानागड़ि–तीर्थे आसि देखि सीतापति ॥२०४॥
चामतापुरे आसि देखे श्रीराम-लक्ष्मण। श्रीवैकुण्ठे विष्णु आसि कैल दरशन ॥२०५॥
मलयपर्वते कैल अगस्त्य ।वन्दन। कन्याकुमारी ताहां कैल दरशन ॥२०६॥
आमलीतलाते राम देखि गौरहरि। मल्लार देशेते आइला–याहां भट्टमारि ॥२०७॥

तत्पश्चात् श्रीमहाप्रभु ने गजेन्द्र-मोक्ष तीर्थ में श्रीविष्णु भगवान् के दर्शन किये और पानागड़ि-तीर्थ में आकर श्रीसीतापति श्रीराम के दर्शन किये। फिर चामतापुर में आकर श्रीराम–लक्ष्मणजी के दर्शन किये ,और श्रीवैकुण्ठ तीर्थ में आकर श्रीविष्णु के दर्शन किये। मलय पर्वत पर आकर प्रभु ने श्रीअगस्तजी की वन्दना की एवं वहाँ कन्याकुमारी के दर्शन किये। श्रीगौरहरि फिर आमलीतला में आए एवं श्रीरामजी के दर्शन किये फिर मल्लारदेश में आए, जहाँ भट्टमारी (वामाचारी संन्यासी विशेष) रहते थे ॥२०४–२०७॥

तमाल कार्त्तिक देखि आइला वातापानी। रघुनाथ देखि ताहां वञ्चिला रजनी ॥२०८॥
गोसाञिर सङ्गे रहे कृष्णदास ब्राह्मण। भट्टमारिसह तांर हैल दरशन ॥२०९॥
स्त्री-धन देखाइया तांर लोभ जन्माइल। आर्य्य-सरल-विप्रेर बुद्धिनाश कैल ॥२१०॥
प्राते उठि आइला विप्र भट्टमारि घरे। ताहार उद्देशे प्रभु आइला सत्वरे ॥२११॥

श्रीमहाप्रभु तमाल-कार्त्तिक देखते हुए वातापानी में आए। वहाँ श्रीरघुनाथजी के दर्शन किए एवं वहाँ ही रात बिताई। श्रीमहाप्रभु के साथ जो कृष्णदास ब्राह्मण रहता था, उसका भट्टमारियों के साथ मिलन हुआ। उन भट्टमारियों ने स्त्री और सम्पत्ति दिखाकर उस कृष्णदास में लोभ उत्पन्न कराया। वह सीधा—सरल ब्राह्मण—उस की बुद्धिभ्रष्ट हो गई। सवेरे उठते ही कृष्णदास भट्टमारियों के स्थान पर चला आया—ऐसा जानकर श्रीमहाप्रभुजी भी उसके पीछे अति शीघ्र चले आये ॥२०८–२११॥

आसिया कहेन सब भट्टमारिगणे—। आमार ब्राह्मण तुमि राख कि कारणे? ॥२१२॥
तुमिह सन्न्यासी देख आमिह सन्न्यासी। आमाय दुख देह तुमि न्याय नाहि वासि ॥२१३॥
शुनि सब भट्टमारि उठे अस्त्र लञा। मारिवारे आइसे सब चारिदिके धाञा ॥२१४॥
तार अस्त्र तार अङ्गे पड़े हाथे हैते। खण्ड खण्ड हैल भट्टमारि पलाय चारिभिते ॥२१५॥
भट्टमारि–घरे महा उठिल क्रन्दन। केशे धरि विप्र लञा करिला गमन ॥२१६॥

श्रीमहाप्रभुजी ने सब भट्टमारि-संन्यासियों से आकर कहा कि हमारे ब्राह्मण को क्यों अपने पास रोक रहे हो? आप भी संन्यासी हैं और मैं भी संन्यासी हूँ—मुझे दुख देना—आपके लिये न्याय नहीं होगा"। इतना सुनते ही सबके सब वाममार्गी संन्यासी अस्त्र उठाकर चारों ओर से महाप्रभुजी पर लपके। हुआ यह कि, उनके हाथों से उनके अस्त्र उनके अपने ऊपर ही पड़ने लगे, वे संन्यासी कटने—फटने लगे और चारों ओर भागने लगे। उनके घर में महान चीत्कार होने लगा। श्रीमहाप्रभुजी ने केशों से पकड़ कर कृष्णदास को बाहर खींच लिया और वहाँ से चल दिये ॥२१२–२१६॥

सेइ दिने चलि आइला पयस्विनी-तीरे। स्नान करि गेला आदिकेशव मन्दिरे ॥२१७॥
केशव देखिया प्रेमे आविष्ट हइला। नति-स्तुति-नृत्य-गीत बहुत करिला ॥२१८॥

प्रेम देखि लोकेर हैल महाचमत्कार। सर्वलोक कैल प्रभुर परम सत्कार ॥२१९॥
महाभक्तगण-सह ताहाँ गोष्ठी हैल। ब्रह्मसंहिताध्याय ताहांइ पाइल ॥२२०॥

उसी दिन प्रभु वहाँ से चल कर पयस्विनी के किनारे पहुँचे और वहाँ स्नान कर श्रीआदिकेशव के मन्दिर गये। उनके दर्शन करते ही प्रभु को प्रेमावेश आ गया। अनेक समय तक वहाँ वन्दना, स्तुतिपाठ तथा नृत्य गान करते रहे। उन का प्रेम देखकर लोगों को बहुत चमत्कार हुआ और सबने श्रीमहाप्रभु का परम सत्कार किया। वहां महान् भक्तों के साथ प्रभु की कृष्ण-कथा-वार्त्ता हुई एवं ब्रह्मसंहिता का पाञ्चवाँ अध्याय भी प्रभु को वहाँ ही मिला ॥२१७–२२०॥

पुथि पाइया प्रभुर आनन्द अपार। कम्प-अश्रु स्वेद स्तम्भ पुलक-विकार ॥२२१॥
सिद्धान्त शास्त्र नाहि ब्रह्मसंहितार सम। गोविन्द-महिमा-ज्ञानेर परम कारण ॥२२२॥
अल्पअक्षरे कहे सिद्धान्त अपार। सकल वैष्णवशास्त्र-मध्ये अतिसार ॥२२३॥
बहुयत्ने सेइ पुथि निल लेखाइया। अनन्तपद्मनाम आइला हरषित हञा ॥२२४॥

ब्रह्मसंहिता पुस्तक को पाकर प्रभु को बहुत आनन्द हुआ और कम्प, अश्रु-स्वेद-स्तम्भ पुलकादि सात्विक विकार प्रभु के शरीर में होने लगे। कारण कि ब्रह्म संहिता के समान सिद्धान्त विषयक शास्त्र और नहीं है एवं श्रीगोविन्द की महिमा के ज्ञान का परम कारण है। उसमें थोड़े ही अक्षरों में बहुत बड़ा सिद्धान्त कहा गया है एवं इसमें समस्त वैष्णव शास्त्रों के निगूढ़ सार का संग्रह है। बहुत यत्नपूर्वक श्रीमहाप्रभुजीने उसकी वहाँ नकल कराई और फिर वहां से हर्षित होकर अनन्त पद्मनाभ चले आये ॥२२१–२२४॥

दिन-दुइ पद्मनाभेर करि दरशन। आनन्दे देखिते आइल श्रीजनार्दन ॥२२५॥
दिन दुइ ताहां करि कीर्त्तन-नर्त्तन। पयोष्णी आसिया देखे शङ्कर-नारायण ॥२२६॥
सिंहारिमठ आइला शंकराचार्य स्थाने। मत्स्यतीर्थ देखि कैल तुङ्गभद्राय स्नाने ॥२२७॥
मध्वाचार्य-स्थाने आइला याहां तत्ववादी। उड़ूप-कृष्ण देखि ताहां हैला प्रेमोन्मादी ॥२२८॥

दो दिन तक श्रीपद्मनाभजी के दर्शन किये; फिर श्रीजनार्दन के दर्शनों के लिये आनन्द पूर्वक आये। दो दिन वहाँ रहकर नृत्य-गान करके पयोष्णी में आकर श्रीशङ्कर-नारायण के दर्शन किये। सिंहारी मठ में आकर श्रीशङ्कराचार्यजी के स्थान पर आए। फिर मत्स्य तीर्थ देखकर तुङ्ग-भद्रा में स्नान किया। फिर प्रभु श्रीमाध्वाचार्यजी के स्थान पर आए, जहाँ तत्त्ववादी रहते थे, वहाँ श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन कर प्रभु को प्रेमोन्माद हुआ ॥२२५-२२८॥

नर्त्तकगोपाल कृष्ण परममोहने। मध्वाचार्ये स्वप्न दिया आइला तांर स्थाने ॥२२९॥
गोपीचन्दन-भितर आछिला डिङ्गाते। मध्वाचार्य सेइ कृष्ण पाइला कोनमते ॥२३०॥
मध्वाचार्य आनि तांरे करिल स्थापन। अद्यापि तांर सेवा करे तत्ववादीगण ॥२३१॥
कृष्णमूर्त्ति देखि प्रभु महासुख पाइल। प्रेमावेशे बहुक्षण नृत्यगीत कैल ॥२३२॥

वहाँ श्रीकृष्ण विग्रह नर्त्तक गोपाल रूप में था, जो परम मनोहर था। श्रीमाध्वाचार्यजी को स्वप्न हुआ था, जिससे वे उन्हें यहाँ लाये थे। वह गोपाल मूर्त्ति गोपीचन्दन में ढकी हुई एक नौका में आई थी, उसे श्रीमाध्वाचार्यजी ने किसी प्रकार प्राप्त किया था। उन्होंने उसे लाकर वहां स्थापन किया था

आज तक भी तत्ववादीगण उसकी सेवा करते हैं। श्रीकृष्णगोपाल-नर्त्तक विग्रह को देखकर श्रीमहाप्रभुजी को महासुख हुआ एवं उन्होंने वहाँ प्रेमावेश में बहुत काल तक नृत्यगीत किया ।।२२९-२३२।।

चै० च० चु० *टीका*—कहते हैं, कोई एक व्यौपारी नौका में द्वारका से आरहा था। नौका जब इस स्थान के निकट आई तो डूब गई। उस नौका में बहुत सा गोपीचन्दन था। उस गोपीचन्दन में वह गोपाल मूर्त्ति भी थी। जो नौका के सहित डूब गई। उस गोपाल मूर्त्ति ने श्रीमाध्वाचार्यजी को स्वप्न दिया कि वे उसे जल से बाहर करें। श्रीमध्वाचार्यजी ने उसे तदनुसार जल से बाहर निकलवाया और उसे वहाँ अपने स्थान पर स्थापन कर दिया था।

तत्त्ववादीगण प्रभुके मायावादी-ज्ञाने। प्रथमदर्शने प्रभुर ना कैल सम्भाषणे ।।२३३।।
पाछे प्रेमावेश देखि हैल चमत्कार। वैष्णव-ज्ञानेते बहु करिल सत्कार ।।२३४।।
तां-सभार अन्तरे गर्व जानि गौरचन्द्र। तां-सभा-सहित गोष्ठी करिल आरम्भ ।।२३५।।
तत्ववादी-आचार्य शास्त्रे परम प्रवीण। तांरे प्रश्न कैल प्रभु हञा येन दीन ।।२३६।।

तत्त्ववादीगणों ने श्रीमहाप्रभु को मायावादी संन्यासी जानकर पहले पहले मिलने पर उनसे कोई बात-चीत न की। फिर प्रभु का प्रेमावेश देखकर वे चमत्कृत हो उठे एवं प्रभुको वैष्णव जानकर इनका बहुत सत्कार किया। उन सबके अन्दर गर्व जानकर श्रीमहाप्रभु गौरहरि ने उनके साथ श्रीकृष्णकथा-प्रसङ्ग छेड़ा। तत्त्ववादी-आचार्य शास्त्र-ज्ञान में परम प्रवीन थे। श्रीमहाप्रभुजी ने दीन जैसे होकर उनसे प्रश्न किया—।।२३३-२३६।।

साध्य-साधन आमि ना जानि भाल मते। साध्य-साधन श्रेष्ठ जानाह आमाते ।।२३७।।
आचार्य कहे—वर्णाश्रमधर्म कृष्णे समर्पण। एइ हय कृष्णभक्तेर श्रेष्ठ साधन ।।२३८।।
पञ्चविध मुक्ति पाञा वैकुण्ठे गमन। साध्यश्रेष्ठ हय एइ शास्त्र-निरूपण ।।२३९।।
प्रभु कहे—शास्त्रे कहे—'श्रवण-कीर्त्तन'। कृष्णप्रेम सेवाफलेर परमसाधन ।।२४०।।

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"मैं साध्य एवं साधन को अच्छी भाँति नहीं जानता, अतः आप श्रेष्ठ साध्य एवं उसके साधन को मुझे बताईयेगा।" आचार्य ने कहा—"वर्णाश्रम के धर्मों के फल को श्रीकृष्ण-अर्पण करना—यही श्रीकृष्ण-भक्ति का श्रेष्ठ साधन है। सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य एवं सायुज्य—ये पाञ्च प्रकार की मुक्ति प्राप्त करके वैकुण्ठ की प्राप्ति को ही शास्त्रों में श्रेष्ठ साध्य कहा गया है"। यह सुन कर प्रभु ने कहा—"शास्त्र तो श्रवण-कीर्त्तन को प्रेम-सहित श्रीकृष्ण सेवा (रूप परम साध्य) का परम साधन कहता है" ।। २३७—२४० ।।

चै० च० चु० *टीका*—पयार नं० २३८ में जो 'पञ्चविध-मुक्ति'—यह पाठ आया है इसके सम्बन्ध में एक बात विवेचनीय है। तत्त्ववादी जिनका प्रसङ्ग है—वे द्वैतवादी हैं, वे अद्वैतवाद के कट्टर विरोधी हैं, विरोधी भी इतने कि प्रभु को अद्वैतवादी जानकर इन्होंने प्रभु से बोलना तक भी पसन्द नहीं किया। इस प्रकार वे पञ्चविध मुक्ति में अद्वैतवादियों के साध्य सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करना चाहेंगे—यह बात विश्वास करने योग्य नहीं है। सायुज्य-मुक्ति की अभिलाषा द्वैतावादियों की विरोधी है। दूसरे यह है कि सायुज्य-मुक्ति का स्थान भी वैकुण्ठ नहीं है। वैकुण्ठ के बाहर ज्योतिर्मय जो निर्विशेष सिद्ध लोक है—उसे ही सायुज्य-मुक्ति वाले प्राप्त होते हैं। यदि वैकुण्ठ से यहाँ परव्योम का अर्थ लिया जावे तो अवश्य सिद्ध लोक परव्योम के अन्तर्भुक्त हैं, परन्तु द्वैतवादी तो सायुज्य-मुक्ति कभी चाहते ही नहीं। अतः "पञ्चविध

मुक्ति" के स्थान पर यदि 'चतुर्विध-मुक्ति'—पाठ रहता तो सङ्गत रहता। सम्भवतः लिपिकर-प्रमाद से ऐसा पाठ हो गया है। ऐसा कई एक टीकाकारों का मत है।

श्रीमहाप्रभु जी ने प्रेम सहित श्रीकृष्ण-सेवा-रूप-परम-साध्य की प्राप्ति के लिये 'श्रवण-कीर्त्तन' को परम साधन बतलाते हुए प्रमाण स्वरूप में श्रीभागवतजी का निम्नलिखित श्लोक पढ़ा—

तथाहि (भाः ७—५—२३,२४)—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥१८॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥१९॥

हिरण्यकशिपु के प्रति श्रीप्रह्लादजी ने कहा—"श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) की कथा-श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्म निवेदन—ये नवविधाभक्ति प्रथमतः भगवान् विष्णु में साक्षात् अर्पित होकर फिर किसी व्यक्ति द्वारा यदि अनुष्ठित हो—उसे ही मैं उत्तम अध्ययन जानता हूँ॥ १८—१९॥

चै० च० चु० *टीका*—परम भक्त श्रीप्रह्लाद जी का चरित्र तो जगत्-विख्यात है ही—यहाँ इतना ही कहना है कि जिस समय पिता हिरण्यकशिपु ने श्रीप्रह्लाद जी से पूछा—"वत्स ! अब तक जो तुमने गुरु द्वारा पढ़ा है—उस में जो उत्तम पाठ है—उसे तो ज़रा मुझे सुना"—इसके उत्तर में श्रीप्रह्लाद जी ने यह श्लोक कहा है।

वस्तुतः श्रीप्रह्लाद जी को दैत्य गुरु शुक्राचार्य के पुत्र शण्ड एवं अमर्क जो कुछ पढ़ाते थे, वह तो समस्त भगवत्-विद्वेषी शिक्षा ही थी। श्रीप्रह्लाद जी ने पिता के वचन सुन कर विचार किया कि "गुरु द्वारा पढ़ा हुआ उत्तम पाठ" ही तो सुनाना है। शण्डामर्क तो मेरे गुरु नहीं हैं, जो भगवत्-विद्वेषी शिक्षा दे—वह कैसा गुरु ? मेरे गुरु तो वास्तव में श्रीनारदजी हैं, जिन्होंने मुझे मां के गर्भ में रहते हुए ही शिक्षा दी थी और फिर उत्तम शिक्षा भी तो वही है जो भगवत् भक्ति सम्बन्धी हो"—अतः श्रीप्रह्लाद जी ने भगवत् विद्वेषी शिक्षा को सुना कर अपने प्रकृत गुरुदेवा श्रीनारद जी द्वारा पढ़ी हुई शिक्षा को सुनाना आरम्भ किया।

नव लक्षणा—अर्थात् जिस शुद्धा-भक्ति के श्रवण-कीर्त्तनादि नव लक्षण हैं अथवा श्रवण-कीर्त्तनादि नव लक्षणों से जिस भक्ति को पहचाना जाता है—वह है **नवलक्षणा** या **नवविधा भक्ति**। ऐसी नवविधा-भक्ति को (**विष्णो-अर्पितां**-अर्थात्) श्रीविष्णु के अर्पित करके जो उसका अनुष्ठान करता है, श्रीप्रह्लाद जी ने कहा—यही मेरा सब से अच्छा पढ़ा हुआ पाठ या अध्ययन है। श्रीविष्णु में अर्पित भक्ति का अभिप्राय यह है कि (**अद्धा**-अर्थात्) साक्षात् रूप से उस भक्ति को श्रीभगवान् के अर्पण करना। उस भक्ति का फल अर्पण नहीं करना, किन्तु उस भक्ति को ही अर्पण करके फिर उसका अनुष्ठान करने से अभिप्राय है। "श्रवण-कीर्त्तनादि"—ये सब श्रीभगवान् के निमित्त ही हैं—मेरे धर्म-अर्थादि की प्राप्ति के लिये नहीं हैं—इस लोक अथवा परलोक में मुझे सुख देने के लिये ये नहीं हैं—इस प्रकार के भावों को हृदय में पोषण करके जो नवविधा भक्ति का अनुष्ठान है—यानी पहले तत्समस्त श्रीभगवान् के अर्पण करके फिर उसका जो आचरण है—वास्तव में वही नवविधा या शुद्धभक्ति है। दृष्टान्तः—जैसे एक स्वामी ने अपने सेवक द्वारा एक नया पंखा बाज़ार से मंगाया। सेवक ने नया पंखा लाकर स्वामी को

सम्भाल दिया। फिर समय पर उस पंखा को उठाकर उसने स्वामी की हवा की। यह है, पहले अर्पण और फिर अनुष्ठान। किन्तु सेवक ही अपने घर से अपना पंखा लाकर यदि स्वामी की हवा करे, तो वह है— पहले अनुष्ठान और फिर उसका फल समर्पण। सारांश यह है कि वर्णाश्रम धर्मों का आचरण करके उसको श्रीकृष्ण के अर्पण करना–यह शुद्धाभक्ति या नवविधा-भक्ति का रूप नहीं है। "पहले अनुष्ठान और फिर अर्पण" का दृष्टान्त यह है कि अपने लिये सब रसोई के पदार्थ बना लिये और जिस समय थाली में परोस कर खाने को बैठे तो श्रीभगवान् का नाम लेकर या भगवान् को अर्पण कर खाने लगे। यह है पहले अनुष्ठान और पीछे उसका फल अर्पण करना। किन्तु सब सामिग्री को श्रीभगवान् के लिये ही बनाना एवं उसको भोग धर देना अर्थात् श्रीभगवान् के अर्पण कर देना फिर उसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करना ही, पहले अर्पण और पीछे अनुष्ठान कहा जाता है। श्रीप्रह्लाद जी का इस प्रकार अर्पित की हुई भक्ति के अनुष्ठान से अभिप्राय है।

श्रवण-कीर्त्तनादि नवविधा-भक्ति के समस्त अङ्गों का ही अनुष्ठान किया जाये—ऐसी बात भी नहीं है। जिस साधक की जिस किसी एक अङ्ग में श्रद्धा एवं रुचि उत्पन्न हो—वह उसी एक अङ्ग का ही अनुष्ठान कर सकता है। एक से अधिक अङ्गों का अनुष्ठान भी शास्त्र सम्मत है। इन समस्त अङ्गों के अनुष्ठान में एक बात साधक को अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि उसका अनुष्ठान सासङ्ग हो, अर्थात् श्रवण-कीर्त्तनादि करते समय श्रीकृष्ण के साक्षात् भजन में प्रवृत्ति होनी चाहिये —"मैं साक्षात् श्रीहरि के सन्मुख बैठा हूँ, उनकी प्रीति के लिये उनके साक्षात् में ही मैं श्रवण-कीर्त्तनादि भजनाङ्गों का अनुष्ठान कर रहा हूं।"—इस प्रकार की अनुभूति की नितान्त आवश्यकता है, नहीं तो अनेक जन्मों तक अनासङ्ग-भजन-अनुष्ठान से प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अब श्रवण-कीर्त्तनादि—शब्दों का क्या तात्पर्य है—उसे स्पष्ट करते हैं—

श्रवणं;—श्रीजीव गोस्वामीपाद ने क्रम सन्दर्भ में कहा है—**"नाम-रूप-गुण-परिकर-लीलामय-शब्दानां श्रोत्रस्पर्शः"**। अर्थात् श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण, परिकर सम्बन्धी–कथा और उनकी लीला-सम्बन्धी कथा का श्रवणों में स्पर्श होने का नाम 'श्रवण' है। महद्-पुरुषों—भगवत्-भक्तों के मुख से ही नाम रूपादि के श्रवण करने का विशेष माहात्म्य है। श्रवण में भी श्रीभागवत जी का श्रवण ही परम श्रेष्ठ है। क्योंकि श्रीमद्भागवत परम रसमय ग्रन्थ है एवं इसके शब्दों में एक विशेष शक्ति है।

कीर्त्तनः—"नामकीर्त्तनञ्चेदमुच्चैरेव प्रशस्तम्" (क्रमसन्दर्भ) अर्थात् नाम-रूपादिकथा का उच्च स्वर से गान करना ही—**कीर्त्तन** कहलाता है। नाम-संकीर्त्तन किस रूप में करने से प्रेम की प्राप्ति हो सकती है—"तृणादपि सुनीच" श्लोक में श्रीमहाप्रभु जी ने उसे स्पष्ट रूप से कहा है, सदा सर्वदा हर युग में ही नामसंकीर्त्तन का नित्य उत्कर्ष है, तथापि कलियुग में नाम सङ्कीर्त्तन विशेष रूप से प्रशस्त है। समस्त भजनाङ्गों में नवविधा-भक्ति श्रेष्ठ है और नवविधा-भक्ति के अङ्गों में श्रीनामसङ्कीर्त्तन ही सर्व श्रेष्ठ है।—**"नवविधा-भक्ति पूर्ण हय नाम हैते।"** श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन में देश-कालादि का कोई भी नियम नहीं है। समस्त युगों में नामसङ्कीर्त्तन की समान शक्ति है। कलियुग में क्योंकि श्रीभगवान् ने कृपा कर इसे स्वयं ग्रहण किया, अतः कलियुग में तो इसमें असमोर्द्ध शक्ति की अभिव्यक्ति है। प्रति कलियुग में कलियुग का धर्म होने से युगावतार नामकीर्त्तन को वितरण करते हैं इसलिये कलि में नामकीर्त्तन की विशेषता का यह पहला कारण है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जिस द्वापर में अवतीर्ण होते हैं—उसके ठीक बाद में आने वाले कलियुग में स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाजी के मादनाख्य–महाभाव को लेकर श्रीराधाकृष्ण मिलित विग्रह श्रीकृष्णचैतन्यदेव के रूप में आत्म-प्रगट कर स्वयं नामकीर्त्तन का रसास्वादन करते हुए

साधारण आपामर जीवों को नाम प्रदान करते हैं—कलियुग में नामकीर्त्तन की विशेषता का यह दूसरा कारण है। इस प्रकार दूसरे किसी भजनाङ्ग को भी स्वयं भगवान् ने ग्रहण नहीं किया है, श्रीभगवान् के श्रीमुखोच्चारित होकर नाम कलि में एक अपूर्व विशेषता रखता है। किन्तु साधक को सदा नामापराधों (श्रीमद्वैष्णव० सि० र० सं० पृष्ठ १८० द्रष्टव्य) से बचकर ही नामसङ्कीर्त्तन करना चाहिये, जिस से अति शीघ्र श्रीनाम के मुख्य फल प्रेम की प्राप्ति होती है।

स्मरणं—लीला स्मरण को ही **स्मरण** कहा गया है। **"नाम सङ्कीर्तनापरित्यागेन स्मरणं कुर्यात्"**—नामसङ्कीर्त्तन का परित्याग न करके अर्थात् नामसङ्कीर्त्तन के साथ साथ भगवान् की लीलाओं का स्मरण करना ही स्मरण का मुख्य अभिप्राय है। स्मरण की पाँच स्तर हैं—स्मरण, धारणा, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति एवं समाधि। श्रीभगवान् की लीलादि के सम्बन्ध में यत् किञ्चित् अनुसंधान होने का नाम **स्मरण** है। अन्य समस्त विषयों से चित्त को खींच कर भगवत् लीलादि में सामान्यरूप से मनोधारण का नाम **धारणा** है। विशेष रूप से भगवान् के रूपादि के चिन्तन का नाम **ध्यान** है। अमृतधारा की भाँति अविच्छिन्नभाव से जो चिन्तन है—उसका नाम **ध्रुवानुस्मृति** है। ध्येय मात्र की जहाँ स्फूर्त्ति होती है—उसका नाम **समाधि** है। लीलास्मरण में यदि केवल लीला की ही स्फूर्त्ति हो-तब उसको भी **समाधि** कहते हैं। इस प्रकार की पहली समाधि-अवस्था दास्य—सख्यादि भाव के भक्तों में होती है और दूसरी अवस्था प्रायशः शान्तरस के भक्तों की होती है। रागानुमार्ग में लीला-स्मरण की ही मुख्यता है। स्मरणाङ्ग का विशेषत्व यह है कि मन के योग के बिना स्मरणाङ्ग का अनुष्ठान नहीं हो सकता और मन का योग ही भजन को सासङ्ग—भजन का रूप देता है। अतः स्मरण में मनोयोग का नितान्त प्रयोजन है। मन शुद्ध न होने से मनोयोग सम्भव नहीं होता। पुनः पुनः चेष्टा करने से स्मरणाङ्ग भी चित्त की शुद्धता में सहायक होकर स्मरणाङ्ग—अनुष्ठान को पुष्ट करता है।

पादसेवनं—अर्थात् चरण सेवा। किन्तु साधक के लिये श्रीभगवान् के चरणों की सेवा तो सम्भव नहीं हो सकती। इसलिये पाद-शब्द का अर्थ यहाँ चरण ग्रहणीय नहीं है। पाद का अर्थ भक्ति-श्रद्धादि ही अभिप्रेत है—ऐसा श्रीजीवगोस्वामी पाद ने कहा है। श्रीमूर्तिदर्शन, स्पर्शन, परिक्रमा, अनुव्रजन, मन्दिर, पुरुषोत्तमक्षेत्र (श्रीजगन्नाथपुरी) द्वारका, मथुरादि तीर्थस्थानों पर जाना, महोत्सव-वैष्णव-सेवा, तुलसी-सेवा, आदि पादसेवा के अन्तर्भुक्त हैं।

अर्चनं—अर्थात् पूजा। क्रम सन्दर्भ में श्रीजीवगोस्वामीपाद ने कहा है कि—"श्रवण-कीर्त्तनादि नवविधा-भक्ति के किसी एक अङ्ग का अनुष्ठान करने से ही जब भगवत्-सेवा-रूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है और श्रीविष्णु की कथा-श्रवणमात्र से महाराज परीक्षितादि की भगवत्-प्राप्ति का प्रमाण भी जब मिलता है, तब श्रीभागवतजी के मतानुसार—पञ्चरात्रादि ग्रन्थों में जो अर्चन का विधान वर्णन है—उसकी अत्यावश्यकता नहीं दीखती, तथापि जो श्रीनारदादि कथित मार्ग का अनुसरण करना चाहते हैं—उनके लिये अर्चनाङ्ग की आवश्यकता है। अर्चन दो प्रकार का है; **बाह्य** व **मानस**। यथाशक्ति उपचारादि के द्वारा श्रीमूर्त्ति की यथाविहित पूजा करना **बाह्य-अर्चन** है और केवल मन मन में श्रीभगवान् की पूजा का नाम—**मानस-अर्चन** है। बाह्य-अर्चन से पहले मानस-अर्चन की विधि है। अतः मानस-अर्चन ही अर्चन का मुख्याङ्ग है। मानस पूजा में ही अर्चनाङ्ग के सासङ्ग—भजन का रूप है। बाह्य पूजा न करके केवल (शास्त्रानुसार श्रीकृष्णमूर्त्ति की मन से चिन्ता करके—ऐसी) मनोमयी मूर्त्ति की मानसी पूजा का विधान भी शास्त्र में है।

मानसी पूजा के माहात्म्य में ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में एक उपाख्यान है जिसे क्रमसन्दर्भ में श्रीजीव-गोस्वामीपाद ने उधृतद् किया है—वह यह है कि प्रतिष्ठानपुर में एक ब्राह्मण रहता था, जो अत्यन्त दरिद्र

था, किन्तु अपना कर्मफल जानकर वह उस दरिद्रता को सहन करता था। उस सरल बुद्धि ब्राह्मण ने एक दिन कथा में सुना कि वैष्णव-धर्म केवल मन के द्वारा भी सिद्ध हो सकता है। यह सुन कर उसकी मानसी पूजा में इच्छा जागृत हो आई। वह प्रतिदिन गोदावरी तीर पर जाकर स्नानादि नित्य-कर्म पूरे करके मन को स्थिर करके भगवान् की मनोमय मूर्त्ति का मानस-पूजन करने लगा। भगवान् को सुगन्धित तीर्थ-जल से स्नान कराकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र-आभूषणों से सुसज्जित करता और सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थों की रचना कर मन ही मन श्रीभगवान् को प्रीति-पूर्वक भोग धरता। फिर आरती आदि द्वारा अपनी सेवा को समापन करके घर चला आता। इस प्रकार करते-करते एक दिन जब वह मन ही मन में श्रीभगवान् को सुन्दर खीर बनाकर भोग धरने लगा तो उसे वह खीर अधिक गरम लगी, मन ही मन उसने उसे देखने के लिये अपनी अंगुली उस खीर में डाली—वह उसे अत्यधिक गरम लगी और उसकी अंगुली जल गई। भोग में अंगुली देने से भोग नष्ट हो गया—ऐसा बिचार आते ही उसका आवेश छूट गया। बाह्य ज्ञान होते ही उसने देखा वस्तुतः उसकी अंगुली में फफोला पड़ गया था एवं उसमें वेदना हो रही थी। इस ओर वैकुण्ठ में बैठे हुए भगवान् श्रीनारायण ब्राह्मण की इस दशा को देख कर मुस्कराए। श्रीलक्ष्मीजी ने श्री भगवान् से हंसी का कारण पूछा। श्री भगवान् ने शीघ्र विमान भेज कर उस ब्राह्मण को वैकुण्ठ बुला लिया और लक्ष्मीजी को सब कुछ दिखाया। इस प्रकार भक्तवत्सल भगवान् उस ब्राह्मण पर प्रसन्न हो गये एवं उसे अपने पास वैकुण्ठ ही में स्थान दे दिया।

इससे स्पष्ट है कि मानस-अर्चन से भी भगवत्-प्राप्ति होती है। किन्तु अर्चनाङ्ग में सेवापराधों (श्रीमद्व० सि० र० सं० पृष्ठ १७९ द्रष्टव्य) से पूर्णतया बचना साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

वन्दनं—वन्दना या नमस्कार ! वस्तुतः बन्दना अर्चन-अङ्ग के अन्तर्भुक्त ही है तथापि बन्दना की अत्याधिक महिमा होने से वन्दना को भी एक स्वतन्त्ररूप से भक्ति का अङ्ग माना गया है। एक हाथ से, वा कपड़े पहरे हुए साष्टाँग वन्दना, श्रीमूर्त्ति के आगे (ठीक सामने), पीछे और बाईं ओर से नमस्कार करना अपराध है। श्रीमूर्त्ति के दाईं ओर से ही वन्दना करने का विधान है।

दास्यं—"मैं श्रीकृष्णदास हूँ"—इस भाव के साथ श्रीभगवान् की जो सेवा है—उसे **दास्य** कहते हैं। विशेष आलोचना पृष्ठ नं०१९१ पर द्रष्टव्य है।

सख्यं—"मैं श्रीकृष्ण का सखा हूँ"—इस भाव के साथ श्रीकृष्ण की सेवा करना **'सख्य'** कहलाता है। विशेष आलोचना पृष्ठ नं० १९३ पर द्रष्टव्य है।

आत्मनिवेदनं—श्रीभगवान् को आत्मसमर्पण करना। आत्मसमर्पण करने पर अपने लिये फिर कोई भी चेष्टा बाकी नहीं रह जाती। इसमें देह, मन, प्राण समस्त श्रीभगवान् की सेवा में ही नियोजित हो जाते हैं। कोई व्यक्ति अपनी गौ को दूसरे पुरुष के हाथ बेच दे, तो फिर उसे उस गौ के पालन-पोषण देखभालादि का जैसे कुछ भी भार नहीं सम्भालना होता, उसी प्रकार श्रीभगवान् को आत्मसमर्पण करने के पश्चात् फिर अपने भरण-पोषण के निमित्त स्वतन्त्र भावसे किसी भी चेष्टा की आवश्यकता नहीं रहती।

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु ने श्रेष्ठ साधन की आलोचना की। अब अगले पयार में श्रेष्ठ साध्य वस्तु—श्रीकृष्णप्रेम के सम्बन्ध में वर्णन करते हैं।

श्रवण-कीर्त्तन हैते कृष्णे हय प्रेमा।
सेइ परम पुरुषार्थ—पुरुषार्थसीमा ॥२४१॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"श्रवण-कीर्त्तनादि नवविधा भक्ति के अङ्गों का अनुष्ठान करते करते जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब साधक के हृदय में श्रीकृष्णप्रेम आविर्भूत होता है। वही श्रीकृष्णप्रेम ही

परम पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ की सीमा है अर्थात् इसके परे और कोई पुरुषार्थ नहीं है ।।२४१।। इसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक कहते हैं ।

तथाहि (भा: ११-२-४०)—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोक-बाह्यः ॥२०॥

श्रीमद्भागवतजी में कहा है—"इस प्रकार नियम से जो नवविधा-भक्ति अङ्गों का अनुष्ठान करता है, अपने प्रिय श्रीहरिनाम का सङ्कीर्त्तन करते करते उसके हृदय में प्रेम उदय हो आता है, जिससे वह द्रवीभूत-चित्त होकर तथा मान-अपमान रहित होकर उन्मत्त पुरुष की भाँति उच्चस्वर से कभी हंसता है, कभी रोने तथा पुकारने लगता है, कभी गाने और कभी नृत्य करने लगता है"॥२०॥(श्रीहरिनाम संकीर्त्तन से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है—इस श्लोक का यही अभिप्राय है ।)

कर्मत्याग कर्मनिन्दा—सर्वशास्त्रे कहे ।
कर्म हैते कृष्णप्रेमभक्ति कभु नहे ॥२४२॥

प्रभु ने कहा—"(कर्मों में बन्धन है एवं कर्मों में केवल अपने सुख का अनुसन्धान है, जिससे कर्म भक्ति का अङ्ग ही नहीं हैं । इसलिये) कर्मों को त्यागने का आदेश और कर्मों की निन्दा सब (भक्ति) शास्त्रों में की गई है । कर्मों के करने से श्रीकृष्णप्रेमभक्ति की कभी भी प्राप्ति नहीं हो सकती" ॥२४२॥ इसके प्रमाण में प्रभु ने निम्नलिखित श्लोक कहे—

तथाहि (भा: ११-११-३२)—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स च सत्तमः ॥२१॥

श्रीकृष्ण भगवान् ने श्रीउद्धवजी से कहा—"हे उद्धव ! वेदादि धर्मशास्त्रों में मैंने जो उपदेश किया है, उसके दोष-गुण सम्यक् रूप से जानकर, उन सब नित्य-नैमित्तिक रूप अपने वर्णाश्रम-धर्मादिकों को परित्याग करके जो व्यक्ति मेरा भजन करता है, वही कृपालु आदि गुणवान पुरुष की भांति सत्तम है ।" [टीकार्थ पृष्ठ १७९ है] ।

तथाहि भगवद्गीतायाम् (१८-६६)—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥२२॥

श्रीभगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है—"हे अर्जुन ! समस्त धर्मों को त्याग करके एकमात्र मेरी शरणापन्न हो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा, तुम किसी प्रकार का शोक मत करो ॥२२॥" [टीकादि पृष्ठ १८० पर द्रष्टव्य है ।]

तथाहि (भा: ११-२०-९)—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥२३॥

श्रीभगवान् ने श्रीउद्धवजी के प्रति कहा है—"जब तक निर्वेद अवस्था की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् इह लोक और परलोक के विषयों को दुखरूप जानकर विरक्ति नहीं उत्पन्न होती, और जब तक मेरी कथा के श्रवण-कीर्त्तनादि में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती—यानी 'श्रीकृष्ण-भक्ति करने से समस्त कर्म अपने आप हो जाते हैं'—इस वाक्य में जब तक सुदृढ़ विश्वास नहीं होता, तब तक (निष्काम भाव से) नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करना चाहिये" ॥२३॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में दो प्रकार के अधिकारियों का संकेत किया गया है। **प्रथमः**—जिनको नित्य-नैमित्तिक कर्मों से विरक्ति उत्पन्न होती है, वे कर्मों का त्याग कर देते हैं, उनके लिये ज्ञान-योग ही सिद्धिप्रद है अर्थात् वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। **द्वितीयः**—जिनके हृदय में किसी महत्पुरुष की कृपा से भगवत्-कथा के श्रवण-कीर्त्तनादि में श्रद्धा उत्पन्न होती है, वे कर्मों के विषय में अति विरक्त भी नहीं होते और अति आसक्त भी नहीं होते, उनके लिये भक्ति योग ही सिद्धिप्रद होता है अर्थात् वे भक्तियोग के अधिकारी हैं।

वैसे तो जीव स्वभावतः कर्मों में आसक्त है, इसलिये कर्म में अधिकार जीव का स्वाभाविक है, किन्तु कितने समय तक कर्मों का अधिकार रहता है ?—अर्थात् जीव ज्ञानयोग का अधिकारी हो सकता है—कर्मों से विरक्ति होने पर एवं भक्तियोग का अधिकारी होता है—श्रवण-कीर्त्तनादि में श्रद्धा होने पर। यह बात इस श्लोक में कही गई है। अगले पयार में श्रीमहाप्रभुजी साध्य के सम्बन्ध में कहते हैं।

पञ्चविध मुक्ति त्याग करे भक्तगण।
फल्गु करि मुक्ति देखे नरकेर सम ॥२४३॥

प्रभु ने कहा—"पाँच प्रकार की मुक्ति में से किसी भी मुक्ति की भक्तगण कामना नहीं करते हैं (क्योंकि सालोक्यादि चार प्रकार की मुक्ति में भगवान् के ऐश्वर्य का ज्ञान प्रधान भाव से रहता है, इस लिये सेवा वासना का वहाँ सम्यक् विकाश नहीं हो पाता और सायुज्य मुक्ति तो भक्तिविरोधी है, इसलिये भक्त उसे ग्रहण नहीं करते)। पाञ्चों प्रकार की मुक्ति को भक्तगण तुच्छ जानकर एवं नरक के समान जानकर त्याग करते हैं" ॥२४३॥ जैसा कि श्रीभागवतजी में कहा गया है:—

तथाहि (भाः ३-२९-१३)—

सालोक्य—सार्ष्टि—सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः ॥२४॥

श्रीकपिलदेवजी ने माता-देवहूति से कहा है—"इस प्रकार शुद्धभक्तियुक्त मेरे भक्त मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य तथा सायुज्य— ये पाञ्चों प्रकार की मुक्ति देने पर भी ग्रहण नहीं करते हैं" ॥२४॥ और भी कहा है—

तत्रैव (भाः ५-१४-४४)—

यो दुस्त्यजान् क्षितिसुत—स्वजनार्थदारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ॥
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्—
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥२५॥

भरत महाराज का प्रसंग वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी ने महाराज परीक्षितजी से कहा है—"लोगों के लिये साधारणतः जो दुस्त्यज्य (न छोड़े जा सकने योग्य) हैं—ऐसे जो पृथ्वी का राज्य, पुत्र, स्वजन, अर्थ एवं पत्नी आदिक हैं और उत्तम देवता जिस सदय दृष्टि युक्ता श्रीलक्ष्मीजी की प्रार्थना करते हैं —इन समस्त की भरत-महाराज ने जो इच्छा नहीं की यह उनके स्वरूप के अनुकूल ही कार्य है, क्योंकि जिन समस्त महापुरुषों का चित्त मधु-रिपु श्रीकृष्ण की सेवा में अनुरक्त है—उनके लिये तो मुक्ति भी तुच्छ है" ।।२५।। और भी कहा है—

तत्रैव (भाः ६-१७-२८)—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ।।२६।।

श्रीनारायण भगवान् के सब भक्त किसी से भी भयभीत नहीं होते हैं, क्योंकि वे स्वर्ग, मुक्ति एवं नरक में समान प्रयोजन देखते हैं, अर्थात् उनके लिये स्वर्ग, नरक एवं मुक्ति बराबर है ।।२६।।

चै० च० चु० *टीका*—श्रीअनन्त देव की कृपा प्राप्त करके महाराज चित्रकेतु महान् ऐश्वर्य को पाकर एक दिन आकाश मार्ग में विचरण कर रहे थे। उन्होंने मुनिगणों की सभा में श्रीमहादेवजी को देखा कि वे श्रीपार्वतीजी को अपने अङ्क में लिये हुए विराजमान् हैं। यह देखकर वे चित्रवत् रह गये और श्रीमहादेवजी के प्रति उपहास-बचन कहने लगे कि "साधारण मनुष्य भी ऐसा आचरण करने में लज्जा करते हैं किन्तु लोकगुरु एवं धर्मवक्ता होकर स्वयं महादेव मुनिगणों की सभा में कैसे निर्लज्ज होकर ऐसा आचरण कर रहे हैं"। चित्रकेतुजी के वचन सुनकर गम्भीर-स्वभाव श्रीमहादेवजी तथा मुनिगण तो चुप बैठे रहे, किन्तु जगज्जननी श्रीपार्वतीजी यह उपहास सहन न कर सकीं एवं क्रोधित होकर उसे राक्षस-योनि प्राप्त होने का शाप दे दिया। चित्रकेतुजी यह जानते थे कि श्रीपार्वतीजी का वह शाप कभी वृथा न होगा, तथापि उसे सुनकर वे किञ्चित् मात्र भी विचलित न हुए। उसी क्षण विमान से उतरे और मस्तक झुकाकर श्रीपार्वती से बोले—"जननी ! आपके इस शाप को मैं अञ्जलि द्वारा ग्रहण करता हूँ। मुझे अपने कर्मों का फल भोगना ही होगा। यह संसार मायामय गुणसमूह का प्रवाह स्वरूप है। इसमें शाप क्या और अनुग्रह क्या ? सुख, दुख, स्वर्ग और नरक क्या ? सभी समान हैं। माता ! आपने जो मुझे शाप दिया है—उसके मोचन के लिये मैं आपसे कुछ अनुरोध नहीं करता हूँ, किन्तु जो कुछ मैंने कहा है—वस्तुतः ठीक होते हुए भी आपने उसे बुरा माना है—मैं उसके लिये आपसे क्षमा चाहता हूँ।" इतना कह कर चित्रकेतुजी वहाँ से चले गये। इसके पश्चात् समस्त मुनियों की सभा में पार्वतीजी को सम्बोधन करते हुए श्रीमहादेवजी ने यह श्लोक कहा—"देवि ! अद्भुतकर्मा श्रीभगवान् हरि के दासानुदासगण कैसे निस्पृह होते हैं—तुमने देखी उनकी महिमा ? प्रियतमे ! जो श्रीनारायण के भक्त हैं, वे किसी से भयभीत नहीं होते, उनके लिये स्वर्ग, नरक, एवं मुक्ति—ये तीनों समान ही हैं—इसलिये तुम्हारे अभिसम्पात से भी परमभक्त चित्रकेतु किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए।

भक्तगण जो मुक्ति व नरक को समान जानते हैं—इसका प्रमाण स्वरूप उक्त श्लोक है। इसी पर श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा—

कर्म-मुक्ति दुइ वस्तु त्यजे भक्तगण। संन्यासी देखिया आमा करह वञ्चन ? ।।२४४।।
एइ त वैष्णवेर नहे साध्य-साधन। सेइ दुइ स्थाप तुमि साध्य-साधन ।।२४५।।
शुनि तत्त्वाचार्य हैला अन्तरे लज्जित। प्रभुर वैष्णवता देखि हइला विस्मित ।।२४६।।

आचार्य्य कहे,तुमि येइ कह सेइ सत्य हय। सर्वशास्त्रे वैष्णवेर एइ सुनिश्चय ॥२४७॥
तथापि मध्वाचार्य ये करियाछे निर्बन्ध। सेइ आचरिये सभे सम्प्रदाय—सम्बन्ध ॥२४८॥

श्रीप्रभु ने कहा–"भक्तगणों ने तो कर्म एवं मुक्ति–इन दोनों को त्याग दिया है। मुझे आप संन्यासी जानकर क्यों बहका रहे हो ? कर्म और मुक्ति को आप साधन और साध्य कह कर स्थापना कर रहे हो ! वैष्णवों के लिये तो ये साध्य-साधन नहीं हैं"। प्रभु के वचन सुनकर तत्वाचार्य हृदय में बहुत लज्जित हुए और प्रभु की वैष्णवता को जानकर वे विस्मित हो उठे। आचार्य ने कहा—"आपने जो कुछ बतलाया है–वही सत्य है। सर्वशास्त्रों का मत वैष्णवों के लिये ऐसा ही है अर्थात् कर्म और मुक्ति वैष्णवों के साधन एवं साध्य नहीं हैं। तथापि श्रीमाध्वाचार्यजी ने जो आदेश किया है, सम्प्रदाय सम्बन्ध से वैसा ही हम अभी तक आचरण करते आए हैं" ॥२४४–२४८॥

प्रभु कहे—कर्मी, ज्ञानी दुइ भक्तिहीन। तोमार सम्प्रदाय देखि सेइ दुइ चिन्ह ॥२४६॥
सबे एक गुण देखि तोमार सम्प्रदाय। सत्य विग्रह करि ईश्वरे करह निश्चय ॥२५०॥
एइमत तांर घरे गर्व चूर्ण करि। फल्गुतीर्थे तबे बलि आइला गौरहरि ॥२५१॥

प्रभु ने कहा—"कर्मी और ज्ञानी— ये दोनों भक्ति हीन है, आप की सम्प्रदाय में ये दोनों चिन्ह दीखते हैं। एक गुण तो अवश्य आप की सम्प्रदाय में है कि आप ईश्वर के विग्रह को सच्चिदानन्द मानते हो (मायावादी ईश्वर-विग्रह को मायिक कहते हैं।) इस प्रकार उनके गर्व को चूर्ण करके श्रीगौरहरि फल्गुतीर्थ में चले आए" ॥२४६–२५१॥

चै० च० चु० *टीका*—उपर्युक्त प्रसङ्ग में (पयार २३७ से लेकर २५१ तक) श्रीमाध्वाचार्यपाद मतानुयायी आचार्य के साथ श्रीमन्महाप्रभु का साधन एवं साध्य के सम्बन्ध में वार्त्तालाप वर्णन किया गया है। "वर्णाश्रम-धर्मों के श्रीकृष्ण-अर्पण-रूप साधन के द्वारा वैकुण्ठ में पञ्चविधा मुक्ति रूप साध्य को प्राप्त करना"—तत्त्ववादी-आचार्य के इस मतांश की आलोचना करके श्रीमन्महाप्रभु ने—"श्रवण-कीर्त्तनादि नवविधा भक्तिरूप साधन के द्वारा श्रीकृष्ण-प्रेम-रूप परम-साध्य प्राप्त करना"—अपने इस निगूढ़ सिद्धान्त की स्थापना की। तत्त्वाचार्य ने श्रीमहाप्रभु के वचनों को सत्यरूप एवं सर्वशास्त्र-सम्मत वैष्णवमत कह कर स्वीकार किया।

पाठकवृन्द के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि कलियुग में चार सम्प्रदाओं का प्रचलन ही शास्त्र-सम्मत है – श्रीपद्मपुराण में कहा है:—

अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः।
श्री - ब्रह्म - रुद्र - सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः ॥ ञ ॥

"कलियुग में श्री (श्रीरामानुज), ब्रह्म (श्रीमाध्व), रुद्र (श्रीविष्णुस्वामी), एवं सनक (श्रीनिम्बार्क)—यह चार वैष्णव–सम्प्रदाएँ होंगी। यह समस्त पृथिवी को पवित्र करने वाली होंगी"।

अतः स्पष्ट है कि इन चारों सम्प्रदाओं से भिन्न जो भी कोई सम्प्रदायें कलि में प्रगट हुई या होंगी, वे किसी आंशिक मत-भेद को लेकर चाहे अपना पृथकत्व स्थापन करें। किन्तु वे गुरु-परम्परा प्रवाह रूप से उक्त चारों सम्प्रदाओं में किसी न किसी एक सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त ही हैं और होंगी और तभी वे शास्त्रीय-सम्प्रदाय कही जा सकती हैं। वरना उनका पृथकत्व उन्हें 'अशास्त्रीय-सम्प्रदाय' का नाम देने वाला होगा।

सम्प्रदाय—का अर्थ आजकल जैसे समझा जाता है, किसी दल या गुट-विशेष से नहीं है। अनादिकाल से वेद-परम्परा से जो श्रीगुरु-परम्परा प्रवाह रूप से चली आती है, उसे '**सम्प्रदाय**' कहते हैं। **शिष्टानुशिष्टगुरुपदिष्टो मार्गः सम्प्रदायः। शिष्टत्वं वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वं।** —इत्यादि। और भी कहा है— '**सम्यक् प्रदीयते अस्मै**'—इस निरुक्ति द्वारा नित्यसिद्ध श्रीभगवन्मन्त्र श्रीकृष्ण के द्वारा सिद्धभागवत—परम्परा से श्रीगुरु द्वारा शिष्यवर्ग में प्रवाह रूप से चलता रहता है।

ब्रह्म-सम्प्रदाय का प्रचलन आदि कवि श्रीब्रह्माजी से हुआ। गोपवेशधारी स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कृपा करके उपनिषद् श्रीगोपालतापनी का अष्टादशाक्षरी श्रीगोपालमन्त्र श्रीब्रह्माजी को प्रदान किया। श्रीब्रह्माजी ने उसी मन्त्र को श्रीनारदजी को, श्रीनारदजी ने उसे श्रीव्यासदेव जी को प्रदान किया। श्रीव्यासदेवजी ने उस मन्त्र को श्रीपाद माध्वाचार्य जी को प्रदान कर उन्हें शिष्यरूप में अङ्गीकार किया। यहां तक यह सम्प्रदाय **श्रीब्रह्म-सम्प्रदाय** के नाम से विख्यात रही। श्रीपादमाध्वाचार्यजी के शिष्य श्रीपद्मनाभजी, उनके शिष्य श्रीअक्षोभमुनिजी, उनके शिष्य श्रीजयतीर्थजी, उनके श्रीज्ञानसिन्धुजी, उनके श्रीदयानिधिजी, उनके श्रीविद्यानिधिजी, उनके श्रीराजेन्द्रजी, उनके श्रीजयधर्मजी, उनके श्रीपुरुषोत्तमजी, उनके श्रीब्रह्मण्यदेवजी, उनके श्रीव्यासतीर्थजी, उनके श्रीलक्ष्मीपतिजी तथा उनके शिष्य श्रीपादमाधवेन्द्र-पुरीजी हुए। श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी के—श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु, श्रीअद्वैताचार्यप्रभु तथा श्रीईश्वरपुरीपाद—ये तीन मुख्य शिष्य हुए। श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने नरलीलानुरोध से भागवत्-परम्परा की प्रयोजनीयता की रक्षा करते हुए श्रीईश्वरपुरीपाद से दीक्षा ग्रहण की (चैं० च० १-१७-७ म पयार द्रष्टव्य)। यहाँ तक इस सम्प्रदाय का नाम **श्रीब्रह्म** या **श्रीब्रह्म-माध्व-सम्प्रदाय** प्रसिद्ध एवं प्रचलित रहा। श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव की अप्रकट-लीला-प्रवेश के पश्चात् इस सम्प्रदाय का नाम **श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ेश्वर** या **श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-सम्प्रदाय** हुआ, जो आज तक प्रचलित है।

श्रीमन्महाप्रभु तथा तत्त्ववादी-आचार्य के उपर्युक्त प्रसङ्ग को देख कर कुछ एक आधुनिक आलोचक वेद-परम्परा या गुरु-परम्परा, जो सम्प्रदाय का मूल है, उसकी ओर विशेष ध्यान न देकर श्रीमन्महाप्रभु के अनुयायियों को श्रीमाध्वसम्प्रदाय से एक पृथक् सम्प्रदाय का रूप देते हैं और उसे '**गौड़ीय सम्प्रदाय**' -नाम देकर एक पाञ्चवीं सम्प्रदाय का निर्माण करते हैं।

इस विषय की गवेषणापूर्ण आलोचना बाबा श्रीगोवर्द्धनदासजी ब्रह्मचारी सम्पादित "श्रीश्री ब्रजधाम व श्रीगोस्वामीगण" (बङ्गभाषा) ग्रन्थ में विस्तृत रूप से प्रकाशित की जा चुकी है। जिसको हम ग्रन्थ विस्तारभय से यहाँ उल्लेख नहीं करते; किन्तु यहाँ इतना ही उल्लिखित कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव की गणना किसी एक सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक रूप में करना बड़ी भारी भूल एवं अपराध है। वे तो स्वयं-भगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन का ही स्वरूप है। उनके इस कलिपावनावतार का कारण केवल-मात्र परमोज्ज्वल-रसमयी-प्रेमभक्ति अर्थात् मादनाख्य-महाभाव के आश्रय-रूप से श्रीकृष्ण-स्वरूप के निखिल सौन्दर्य-माधुर्य का अशेष-विशेष रूप से आस्वादन करना तथा जीवमात्र को श्रीकृष्णनाम-प्रेम प्रदान करना था। अनर्पित चरींचिरात् उन्नतोज्ज्वल-रसमयी स्वभक्ति-सम्पत्ति को प्रदान करना उनके इस अवतार का प्रयोजन था। स्थावर-जङ्गम, पशु-पक्षी, भद्र-अभद्र, दुराचारी-सदाचारी, हर एक मतावलम्बी, हर एक सम्प्रदायानुयायी के लिये उन्होंने अपनी भक्तिरूप सम्पत्ति को लुटाया। उनका यह दान सीमित या किसी एक सम्प्रदाय के लिये संकुचित न था।

हम देखते हैं कि,मायावादी श्रीशंकराचार्य-मतानुयायी श्रीप्रकाशानन्दसरस्वतीपाद के साथ मिलने पर (आदि लीला पृष्ठ १६९ द्रष्टव्य), मायावादी श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के साथ मिलने पर (मध्य-लीला पृष्ठ

१११ द्रष्टव्य) श्रीसम्प्रदायी श्रीवेंङ्कटभट्ट के साथ वार्त्तालाप में, (मध्य-लीला पृष्ठ २५५ द्रष्टव्य) श्रीरामानन्दी विप्र श्रीरामदास के साथ रह कर, (मध्य-लीला पृष्ठ २६४ द्रष्टव्य) श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीकेशव काशमीरीजी के साथ शास्त्रार्थ करते समय (आदि लीला पृष्ठ २६२ द्रष्टव्य) तथा श्रीविष्णुस्वामी-सम्प्रदायानुगत श्रीवल्लभाचार्यजी के साथ मिलने पर (अन्त्यलीला सप्तम परिच्छेद द्रष्टव्य) इन सब के सामने जैसे श्रीमहाप्रभुजी ने अपने परमोज्ज्वल रसमयी प्रेमभक्ति के उस निगूढ़ सिद्धान्त को स्थापित किया, उसी प्रकार श्रीमाध्व-सम्प्रदायी-तत्त्ववादी आचार्य के सामने भी उसे श्रीमहाप्रभु ने स्थापित किया, एवं उसे तत्त्ववादी-आचार्य ने सम्यक् प्रकार से स्वीकार किया।

श्रीमन्महाप्रभु में साम्प्रदायिक-सङ्कीर्णता; अथवा किसी पृथक् सम्प्रदाय गठन की भावना, अथवा किसी का अपकर्ष करके अपने उत्कर्ष स्थापित करने की किञ्चिन्मात्र भी भावना न थी। वे स्वयं भगवान् हैं, श्रीभगवान् अपनी असीम करुणावश समस्त जगत् के जीवों का पक्षपात रहित समान भाव से निस्तार किया करते हैं—ऐसा उनका स्वरूप-धर्म है। अतः श्रीमन्महाप्रभुजी ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदाओं के परस्पर पृथक्त्व के मूल कारण—जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्धवादों का अर्थात् विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद तथा द्वैताद्वैतवाद-इन सब वादों का समन्वय तथा विभिन्न श्रुतियों का समन्वय अपने 'अचिन्त्य-द्वैताद्वैतवाद, से किया और अन्य किसी भाष्य को मानता न देकर सर्व-वैष्णवसम्प्रदाय-सम्मत वेदसार-स्वरूप श्रीमद्भागवत महापुराण को ही सर्वशिरोमणि-भाष्य-स्वरूप में स्थापित किया। परमोज्ज्वल-रसमयी-प्रेमभक्ति के उस निगूढ़ सिद्धान्त को उस परमोत्कृष्ट साधन-साध्यतत्त्व की उन्होंने स्थापना की, जिसको उनसे पहले किसी सम्प्रदायाचार्य, किसी देवी-देवता, किसी भगवत्-स्वरूप ने भी प्रकाशित न किया था, उसकी कल्पना भी किसी ने न की थी। परमोज्ज्वल-रसमयी प्रेम-भक्ति के निगूढ़तम रहस्य को महा-भाव-स्वरूपिणी श्रीराधाजी तथा रसराज-स्वरूप श्रीब्रजेन्द्रनन्दन—इन दोनों के बिना या इन दोनों के मिलित सुललित विग्रहस्वरूप करुणागार कलिपावनावतार श्रीकृष्णचैतन्यदेव के बिना और कौन व्यक्त कर सकता था?

तात्पर्य यह है कि श्रीमन्महाप्रभु जी ने किसी सम्प्रदाय का गठन नहीं किया और न ही उन्होंने कोई नई सम्प्रदाय प्रचलित की। बल्कि नरलीलानुरोध से वैष्णव गुरु परम्परा की रक्षा करते हुए श्रीब्रह्म-माध्व-सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण लीला का आचरण किया। अवश्य! उन्होंने साधन-साध्य के सम्बन्ध में उत्कर्षमूलक परिवर्त्तन करके परममाधुर्यमय उपास्य-तत्त्व की परम माधुर्यमयी असमोर्द्ध—उपासना प्रदान कर उक्त सम्प्रदाय को सर्वोत्कृष्टता से परम-विभूषित कर दिया।

श्रीमन्महाप्रभु की अप्रकट-लीला-प्रवेश के पश्चात् वही सम्प्रदाय 'श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ेश्वर' सम्प्रदाय के नाम से आज तक जगत्-विख्यात है। अथवा 'ब्रह्मसम्प्रदाय', 'माध्वसम्प्रदाय' या 'गौड़ीय सम्प्रदाय'—इन संक्षिप्त नामों से भी प्रसिद्ध है। किसी अंश में विभिन्न मत होते हुए भी इन तीनों में से किसी नाम से प्रसिद्ध या प्रचलित होने वाली सम्प्रदाय 'श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय' के अन्तर्भुक्त ही है, उसकी शाखा ही है और तभी ही वह शास्त्र-सम्मत सम्प्रदाय हो सकती है, वरना वह अपनी पृथक् सत्ता स्थापन करते हुए अशास्त्रीय सम्प्रदाय कही जावेगी।

श्रीमन्महाप्रभुजी के समस्त पार्षदों ने, समस्त अनुयायियों ने, समस्त गौड़ीय-वैष्णवाचार्यों ने, समस्त गौड़ीय-गोस्वामीवृन्द ने अपनी रचनाओं में, अपनी गाथाओं में, अपने आचरणों में 'श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय' को ही स्पष्टरूप से प्रमाणित एवं स्वीकार किया है।

साराँश यह है कि श्रीमन्महाप्रभु के तत्ववादी आचार्य के साथ साधन-साध्य विषयक प्रसङ्ग से श्रीमहाप्रभु को या उनके अनुयायी वैष्णववृन्द को श्रीब्रह्म-माध्व सम्प्रदाय से पृथक करना अथवा गौड़ीय

सम्प्रदाय की स्वतन्त्ररूप में स्थापना करना केवल भारी भ्रान्ति ही नहीं बल्कि अपराध है। गौड़ीय वैष्णवों के उपासना-पथ में किञ्चित् आंशिक मत-भेद होते हुए भी सब का शास्त्र-सम्मत श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय सम्प्रदाय से अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

त्रितकूप विशालार करि दर्शन। पञ्चाप्सरा-तीर्थ आइला शचीरनन्दन ॥२५२॥
गोकर्ण शिव देखि आइला द्वैपायनी। सूर्पारक तीर्थे आइला न्यासि शिरोमणि ॥२५३॥
कोलापुरे लक्ष्मी देखि क्षीर-भगवती। लाङ्गागणेश देखि चोरा-भगवती ॥२५४॥
तथा हैते पाण्डुपुर आइला गौरचन्द्र। विठ्ठल ठाकुर देखि पाइल आनन्द ॥२५५॥
प्रेमावेशे कैल बहु नर्त्तन—कीर्त्तन। प्रभुर प्रेम देखि सभार चमत्कार मन ॥२५६॥

फिर त्रितकूप-विशाल के दर्शन कर श्रीशचीनन्दन, पञ्चाप्सरा-तीर्थ में आये। उसके पश्चात् गौकर्ण-शिवजी के दर्शन करके प्रभु द्वैपायनी में आए। फिर संन्यासी-शिरोमणि श्रीगौराङ्ग सूर्पारक-तीर्थ में आये। कोलापुर में श्रीलक्ष्मीजी के दर्शन करके क्षीर-भगवती के दर्शन किये एवं लाङ्गागणेश देखकर प्रभु ने चोराभगवती के दर्शन किये। वहाँ से श्रीगौरचन्द्र पाण्डुपुर में आए और श्रीविठ्ठलठाकुरजी के दर्शन कर बहुत आनन्दित हुए। श्रीप्रभु ने वहां प्रेमावेश में बहुत नृत्य-कीर्त्तन किया—वहां उनके दर्शन कर सब लोगों को चमत्कार हुआ ॥२५२-२५६॥

ताहां एक विप्र तांरे निमन्त्रण कैल। भिक्षा करि ताहां एक शुभवार्त्ता पाइल ॥२५७॥
माधवपुरी शिष्य श्रीरङ्गपुरीनाम। सेइ ग्रामे विप्रगृहे करेन विश्राम ॥२५८॥
शुनिञा चलिला प्रभु तांरे देखिवारे। विप्रगृहे वसि आछेन देखिल तांहारे ॥२५९॥
प्रेमावेशे करे तांरे दण्ड-परणाम। पुलकाश्रु कम्प सब अङ्गे पड़े घाम ॥२६०॥

वहां एक ब्राह्मण ने प्रभु को निमन्त्रण दिया और वहां भिक्षा करके प्रभु ने एक शुभ समाचार सुना। "श्रीमाधवपुरीजी के शिष्य श्रीरङ्गपुरीजी उस ग्राम में एक विप्र के घर रह रहे हैं"—ऐसा प्रभु सुनकर उनके दर्शनों के लिये गये। प्रभु ने जाकर देखा कि वे वहां विप्र के घर बैठे हुए हैं। प्रभु ने प्रेमावेश में उन्हें दण्डवत् प्रणाम की और उनके शरीर पर पुलक, अश्रु, कम्प एवं स्वेदादि सात्विक-विकार होने लगे ॥२५७-२६०॥

देखिया विस्मित हैल श्रीरङ्गपुरीर मन। 'उठ उठ श्रीपाद'! बलि बलिल वचन ॥२६१॥
श्रीपाद! धरह आमार गोसाञिर सम्बन्ध। तांहा बिनु अन्यत्र नाहि एइ प्रेमार गन्ध ॥२६२॥
एत बलि प्रभुके उठाइया कैल आलिङ्गन। गलागलि करि दोंहे करेन क्रन्दन ॥२६३॥
क्षणेके आवेश छाँड़ि दोंहार धैर्य्य हैल। ईश्वरपुरीर सम्बन्ध प्रभु जानाइल ॥२६४॥

प्रभु की इस दशा को देखकर श्रीरङ्गपुरी जी विस्मित हुए एवं "श्रीपाद! उठिये, उठिये—" ऐसा कहकर वे बोले—"श्रीपाद! मैं जानता हूँ कि आपका श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी से कुछ सम्बन्ध है, क्योंकि उनके सम्बन्ध के बिना और किसी में इस प्रकार के प्रेम-लक्षण उदय नहीं होते।" इतना कह कर श्रीरङ्गपुरीजी ने श्रीमहाप्रभुजी को उठाकर आलिंगन किया। दोनों परस्पर गलकण्ठ होकर प्रेमावेश में रोने लगे। कुछ देर बाद दोनों प्रेमावेश को छोड़कर चेतनावस्था में आए, फिर प्रभु ने उन्हें अपना सम्बन्ध (शिष्यभाव) श्रीपाद ईश्वरपुरी जी से जताया ॥२६१—२६४॥

दुइ जने कृष्ण कथा कहे रात्रि-दिने। एइमत गोङाइल पांच-सात दिने ॥२६५॥
कौतुके पुरी तांरे पुछिल जन्म-स्थान। गोसाञि कौतुके निल नवद्वीप-नाम ॥२६६॥
श्रीमाधव-पुरीर सङ्गे श्रीरङ्गपुरी। पूर्वे आसियाछिला नदीया-नगरी ॥२६७॥
जगन्नाथमिश्रघरे भिक्षा ये करिल। अपूर्व मोचार-घन्ट ताहां ये खाइल ॥२६८॥
जगन्नाथेर ब्राह्मणी महापतिव्रता। वात्सल्ये हय तेंहो येन जगन्माता ॥२६९॥
रन्धने निपुणा नाहि ता-सम त्रिभुवने। पुत्रसम स्नेहे कराय संन्यासी भोजने ॥२७०॥
तांर एक पुत्र योग्य करिया सन्न्यास। शङ्करारण्य नाम तांर अलप-वयस ॥२७१॥
एइ तीर्थे शङ्करारण्येर सिद्धि-प्राप्ति हैल। प्रस्तावे श्रीरङ्गपुरी एतेक कहिल ॥२७२॥

दोनों जने रात-दिन श्रीकृष्ण कथा कहने-सुनने लगे, इस प्रकार पांच-सात दिन तक एक साथ रहे। कौतुकवश श्रीरङ्गपुरीजी ने प्रभु से उनका जन्मस्थान पूछा। श्रीमहाप्रभुजी ने भी कौतुकवश अपनी जन्मभूमि का नाम नवद्वीप बतलाया। श्रीमाधवेन्द्रपुरीजी के साथ श्रीरङ्गपुरीजी पहले नदिया में गये थे। श्रीजगन्नाथ मिश्र (श्रीमहाप्रभु के पिताजी) के घर इन्होंने भिक्षा की थी और अपूर्व मोचारघंट (बंगाली मिठाई विशेष) जो वहाँ खाया था—वह उन्हें याद था। श्रीजगन्नाथजी की गृहणी महापतिव्रता श्रीशचीदेवी ने जगन्माता की तरह उनसे जो वात्सल्य भाव में स्नेह किया था—उसे श्रीरङ्गपुरी ने वर्णन किया। वह कहने लगे—"रसोई बनाने में त्रिभुवन में उनके समान कोई नहीं है—उसने हम संन्यासियों को पुत्र के समान स्नेह करके भोजन कराया था। उसका एक योग्य पुत्र (श्रीविश्वरूप) संन्यास करके छोटी वयस में ही घर से चला गया था। जिसका नाम श्रीशङ्करारण्य था। इसी तीर्थ में आकर उस श्रीशङ्करारण्य ने सिद्धि प्राप्ति (देहावसान) की थी।"—यह सब बात श्रीरङ्गपुरीजी ने श्रीमहाप्रभु के सामने कही ॥२६५—२७२॥

प्रभु कहे—पूर्वाश्रमे तेंहो मोर भ्राता। जगन्नाथमिश्र मोर पूर्वाश्रमे पिता ॥२७३॥
एइमत दुइजने इष्टगोष्ठी करि। द्वारका देखिते चलिला श्रीरङ्गपुरी ॥२७४॥
दिनचारि-प्रभुके तांहा राखिल ब्राह्मण। भीमरथी-स्नान करे विट्ठल दर्शन ॥२७५॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"श्रीशंकरारण्य पूर्वाश्रम में मेरे भाई थे (संन्यास ग्रहण के पश्चात् श्रीविश्वरूपजी का नाम श्रीशंकरारण्य था) और श्रीजगन्नाथ मिश्र मेरे पूर्वाश्रम के पिता हैं। इस प्रकार दोनों जने इष्टगोष्ठी कर प्रसन्न हुए। श्रीरङ्गपुरीजी वहाँ से श्रीद्वारकाजी के दर्शन करने चले गये। उस ब्राह्मण ने श्रीमहाप्रभुजी को दो-चार दिन और अपने घर में ठहराया। वहाँ श्रीमहाप्रभु भीमरथी में नित्य स्नान कर श्रीविट्ठल ठाकुर के दर्शन किया करते ॥२७३—२७५॥

तबे महाप्रभु आइला कृष्णवेण्वा-तीरे। नाना तीर्थ देखि ताहां देवतामन्दिरे ॥२७६॥
ब्राह्मण-समाज सब वैष्णवचरित। वैष्णव सकल पढ़े कृष्णकर्णामृत ॥२७७॥
कर्णामृत शुनि प्रभुर आनन्द हइल। आग्रह करिया पुथि लेखाइया निल ॥२७८॥
कर्णामृतसम वस्तु नाहि त्रिभुवने। याहा हैते हय शुद्ध कृष्ण प्रेम ज्ञाने ॥२७९॥

वहाँ से श्रीमहाप्रभु कृष्णवेण्वा के तीर पर आए एवं वहाँ अनेक तीर्थ एवं देवमन्दिरों के दर्शन किये। वहाँ सब ब्राह्मण समाज था और सब वैष्णव आचार वाले थे। वे सब श्रीकृष्णकर्णामृत का

पाठ करते थे। (श्रीकृष्णकर्णामृत ग्रन्थ श्रीविल्वमङ्गल द्वारा रचित संस्कृत ग्रन्थ है, जो हिन्दी भाषा टीका सहित प्रकाशित हो चुका है)। श्रीकृष्ण-कर्णामृत को सुनकर प्रभु को आनन्द हुआ और आपने यत्नपूर्वक उसकी नकल करा ली। इस ग्रन्थ के समान त्रिभुवन में कोई और ग्रन्थ नहीं है—इसके द्वारा श्रीकृष्ण के शुद्ध-प्रेम का ज्ञान प्राप्त होता है ॥२७६—२७९॥

सौन्दर्य—माधुर्य कृष्णलीलार अवधि। से जाने ये कर्णामृत पढ़े निरवधि ॥२८०॥
ब्रह्मसंहिता कर्णामृत दुइ पुथि पाञा। महारत्नप्राय पाइ आइला सङ्गे लञा ॥२८१॥
तापी—स्नान करि आइला माहिष्मती—पुरे। नाना तीर्थ देखे ताहां नर्मदार तीरे ॥२८२॥
धनुतीर्थ देखि कैला निर्विन्ध्याते स्नाने। ऋष्यमुख—पर्वते आइला दण्डक अरण्ये ॥२८३॥

श्रीकृष्णकर्णामृत में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, माधुर्य एवं लीला की पराकाष्ठा का वर्णन है। इसकी सरलता एवं महिमा वही जान सकता है जो इसका नित्य पाठ करता है। ब्रह्मसंहिता तथा श्रीकृष्ण-कर्णामृत—इन दोनों पुस्तकों को पाकर श्रीमहाप्रभु ने मानो महारत्न प्राप्त किये—वे उन्हें यत्नपूर्वक अपने साथ नीलाचल ले आए। वहीं तापी नदी में स्नान कर प्रभु माहिष्मतीपुर में आए। वहां नर्मदा नदी के किनारे अनेक तीर्थों के दर्शन किये। धनुतीर्थ के दर्शन कर उन्होंने निर्विन्ध्या नदी में स्नान किया। फिर ऋष्यमुख पर्वत पर आकर प्रभु दण्डक बन में पधारे ॥२८०—२८३॥

सप्त तालवृक्ष ताहां कानन भितर। अतिवृद्ध अति स्थूल अति उच्चतर ॥२८४॥
सप्तताल देखि प्रभु आलिङ्गन कैल। सशरीरे सप्तताल वैकुण्ठे चलिल ॥२८५॥
शून्यस्थान देखि लोकेर हैल चमत्कार। लोक कहे—ए सन्यासी राम अवतार ॥२८६॥
सशरीरे गेल ताल श्रीवैकुण्ठ—धाम। ऐछे शक्ति कार हय बिना एक राम ॥२८७॥

उस दण्डक वन में सात ताल के वृक्ष थे, जो बहुत पुराने, बहुत मोटे एवं बहुत ऊँचे-ऊँचे थे। प्रभु ने उन्हें देखकर आलिङ्गन किया। ऐसा करते ही वे सातों वृक्ष वहाँ से अन्तर्धान होकर उसी वृक्ष-शरीर से वैकुण्ठ में चले गये। वहाँ शून्य स्थान देखकर लोगों को बहुत चमत्कार हुआ। सब लोग कहने लगे—यह संन्यासी तो श्रीराम का अवतार है। कारण कि शरीर सहित ये सातों ताल के वृक्ष श्रीवैकुण्ठ चले गये हैं—श्रीराम के बिना और किसमें ऐसी शक्ति हो सकती है? ॥२८४—२८७॥

प्रभु आसि कैला पम्पा-सरोवरे स्नान। पञ्चवटी आसि ताहां करिला विश्राम ॥२८८
नासिक-त्र्यम्बक देखि गेला ब्रह्मगिरि। कुशावर्ते आइला जन्मिला गोदावरी ॥२८९॥
सप्तगोदावरी देखि तीर्थ बहुतर। पुनरपि आइला प्रभु विद्यानगर ॥२९०॥

फिर प्रभु ने आकर पम्पा-सरोवर में स्नान किया, फिर वहाँ से आकर प्रभु ने पञ्चवटी में विश्राम किया। नासिक-त्र्यम्बक के दर्शन करके प्रभु ब्रह्मगिरि चले गये एवं फिर कुशावर्त्त, जहाँ से गोदावरी नदी निकली है, प्रभु वहाँ आये। सप्त गोदावरी एवं अनेक तीर्थों को देखते हुए श्री महाप्रभु फिर विद्यानगर में लौट आए ॥२८८-२९०॥

रामानन्दराय शुनि प्रभुर आगमन। आनन्दे आसिया कैल प्रभुर मिलन ॥२९१॥
दण्डवत् हइया पड़े चरणे धरिया। आलिङ्गन कैल प्रभु तांरे उठाइया ॥२९२॥

दुइ जन प्रेमावेशे करये क्रन्दन। प्रेमावेशे शिथिल हैल दु'जनार मन ॥२९३॥
कथोक्षरणे दुइ जन सुस्थिर हइया। नाना इष्ट गोष्ठी करे एकत्र वसिया ॥२९४॥

राय रामानन्द जी ने जब श्रीमहाप्रभु का विद्यानगर में आगमन सुना तो आनन्दित होकर प्रभु से मिलने आए। उन्होंने दण्डवत् कर प्रभु के चरण पकड़ लिये। प्रभु ने उन्हें उठाकर गले लगाया। दोनों प्रेमावेश में क्रन्दन करने लगे एवं दोनों का मन प्रेमावेश में शिथिल हो गया। बहुत देर के बाद दोनों स्थिर हुए और एकत्र बैठ कर श्रीकृष्ण-कथा आलाप करने लगे ॥२९१–२९४॥

तीर्थ-यात्रा-कथा प्रभु सकल कहिला। कर्णामृत ब्रह्मसंहिता दुइ पुथि दिला ॥२९५॥
प्रभु कहे, तुमि येइ सिद्धान्त कहिले। एइ दुइ पुथि सेइ सब साक्षी दिले ॥२९६॥
रायेर आनन्द हैल पुस्तक पाइया। प्रभु-सह आस्वादिल–राखिल लिखिया ॥२९७॥
'गोसाञि आइला' ग्रामे हैल कोलाहल। गोसाञि देखिते लोक आइल सकल ॥२९८॥

प्रभु ने अपनी तीर्थयात्रा का सब हाल सुनाया और श्रीकृष्ण-कर्णामृत तथा ब्रह्मसंहिता दोनों पुस्तकें उन्हें दिखाईं। प्रभु ने कहा—"आपने जो सिद्धान्त सुनाये थे, ये दोनों पुस्तकें उन सब सिद्धान्तों का समर्थन करती हैं।" राय रामानन्द जी पुस्तकों को देख कर बहुत प्रसन्न हुए और प्रभु के साथ बैठ कर उनका आस्वादन करते रहे और उन दोनों की नकल करा ली। विद्यानगर में भी कोलाहल मच गया कि, श्रीमहाप्रभु नगर में आए हैं। प्रभु के दर्शन करने के लिए सब लोग आए ॥२९५–२९८॥

लोक देखि रामानन्द गेला निज घरे। मध्याह्ने उठिला प्रभु भिक्षा करिवारे ॥२९९॥
रात्रि काले राय पुन कैल आगमन। दुइजने कृष्णकथाय करे जागरण ॥३००॥
दुइ जने कृष्णकथा हय रात्रि दिने। परम आनन्दे गेल पांच सात दिने ॥३०१॥
रामानन्द कहे गोसाञि! तोमार आज्ञा पाञा। राजाके लिखिल आमि विनति करिया ॥३०२॥
राजा मोरे आज्ञा दिला नीलाचल याइते। चलिवार सज्जा आमि लागियाछि करिते ॥३०३॥

बहुत लोगों को आया देख कर रामानन्द जी अपने घर चले आए। श्रीमहाप्रभु मध्याह्न को भिक्षा के लिये उठे। रामानन्द जी फिर रात के समय प्रभु के पास आए और दोनों जने श्री कृष्ण-कथा करते हुए सारी रात जागते रहे। दोनों परस्पर रात दिन में जब भी अवकाश मिलता, श्री कृष्ण-कथा कहते रहते। इस प्रकार पाँच सात दिन परम आनन्द में बीत गये। राय ने कहा—"प्रभो! आपकी आज्ञानुसार मैं ने राजा को विनय की है और राजा ने मुझे नीलाचल जाने की आज्ञा भी देदी है। आज मैं नीलाचल चलने की तैयारी कर रहा हूँ ॥२९९–३०३॥

प्रभु कहे–एथा मोर ए निमित्त आगमन। तोमा लैया नीलाचले करिव गमन ॥३०४॥
राय कहे–प्रभु! आगे चल नीलाचल। मोर सङ्गे हाथि-घोड़ा-सैन्य कोलाहल ॥३०५॥
दिन दशे इहां सब करि समाधान। तोमार पाछे पाछे आमि करिव प्रयाण ॥३०६॥
तबे महाप्रभु तांरे आसिते आज्ञा दिया। नीलाचल चलिला प्रभु आनन्दित हैया ॥३०७॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"मैं भी यहाँ इसी लिये आया हूँ, तुम्हें अपने साथ ही नीलाचल ले चलूंगा।" राय ने कहा—"प्रभो! आप तो नीलाचल चलिये, मेरे साथ तो हाथी, घोड़े, सैना आदि सब

कोलाहल होगा। पांच-दस दिन यहाँ का सब समाधान करके आपके पीछे पीछे मैं नीलाचल आजाऊंगा।" फिर श्रीमहाप्रभु उन्हें आने की आज्ञा देकर परम आनन्दपूर्वक नीलाचल की ओर चल दिये ॥३०४-३०७॥

येइ पथे पूर्वे प्रभु करिला गमन। सेइ पथे चलिला प्रभु देखि वैष्णवगण ॥३०८॥
याहां याय उठे लोक हरिध्वनि करि। देखिया आनन्द बड़ पाइला गौरहरि ॥३०९॥
आलालनाथ आसि कृष्णदास पाठाइला। नित्यानन्द-आदि निज-गणे बोलाइला ॥३१०॥
प्रभुर आगमन शुनि नित्यानन्दराय। उठिया चलिला, प्रेमे थेह नाहि पाय ॥३११॥

जिस मार्ग से प्रभु पहले आये थे, उसी मार्ग से सब वैष्णवों को मिलते हुए प्रभु वापिस चले आए। जहाँ भी प्रभु जाते, वहां के सब लोग हरि-हरि ध्वनि करने लगते। श्री महाप्रभु उन्हें देख कर अत्यन्त आनन्दित होते। जब प्रभु आलालनाथ पहुँचे तो आपने श्रीकृष्णदास को आगे भेज कर श्रीनित्यानन्द प्रभु आदि अपने भक्तों को बुलवा भेजा। श्रीमहाप्रभु का आगमन सुनकर श्रीनित्यानन्द प्रभु तो अस्थिर हो उठे और प्रभु के दर्शनों को चल दिये ॥३०८-३११॥

जगदानन्द दामोदर पण्डित मुकुन्द। नाचिया चलिला देहे न धरे आनन्द ॥३१२॥
गोपीनाथाचार्य चले आनन्दित हञा। प्रभुरे मिलिला सभे पथे लाग पाञा ॥३१३॥
प्रभु प्रेमावेशे सभा कैल आलिङ्गन। प्रेमावेशे सभे करे आनन्दे क्रन्दन ॥३१४॥
सार्वभौम भट्टाचार्य आनन्दे चलिला। समुद्रेर तीरे आसि प्रभुरे मिलिला ॥३१५॥

श्रीजगदानन्द, श्रीदामोदर, श्रीमुकुन्द पण्डित फूले न समाते थे, सब नृत्य करते हुए प्रभु के पास चले। श्री गोपीनाथाचार्य आनन्दित होकर चले और प्रभु को रास्ते में ही जाकर मिले। श्रीमहाप्रभु जी ने भी प्रेमावेश में सब को आलिङ्गन किया। वे सब भी प्रेमावेश में क्रन्दन करने लगे। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य भी आनन्दपूर्वक प्रभु को मिलने चले और समुद्र के किनारे पर ही आकर प्रभु से मिले॥३१२-३१५

सार्वभौम महाप्रभुर पड़िला चरणे। प्रभु तांरे उठाइया कैल आलिङ्गने ॥३१६॥
प्रेमावेशे सार्वभौम करेन क्रन्दने। सभा-सङ्गे आइला प्रभु ईश्वर-दर्शने ॥३१७॥
जगन्नाथ देखि प्रभुर प्रेमावेश हैल। कम्प स्वेद पुलकाश्रु शरीर भासिल ॥३१८॥
बहु नृत्य कैल प्रभु प्रेमाविष्ट हैया। पाण्डापाल सब आइला प्रसाद माला लैया ॥३१९॥
माला-प्रसाद पाइया तबे प्रभु स्थिर हैला। जगन्नाथेर सेवक सब आनन्दे मिलिला ॥३२०॥

श्रीसार्वभौम प्रभु को देखते ही उनके चरणों में गिर पड़े, प्रभु ने उन्हें उठाकर आलिंगन किया। प्रेमावेश में श्रीसार्वभौम रोने लगे। इन सब भक्तों के साथ श्रीमहाप्रभु श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने मन्दिर में आए। श्री जगन्नाथ जी के दर्शन करते ही प्रभु को प्रेमावेश हुआ और कम्प, स्वेद, पुलक, अश्रुओं से उनका शरीर सुशोभित हो उठा। प्रभु ने प्रेमाविष्ट होकर वहाँ बहुत नृत्य किया। समस्त पण्डा लोगों ने आकर प्रभु को श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद एवं माला दीं। माला-प्रसाद पाकर प्रभु स्थिर हुए फिर श्रीजगन्नाथ मन्दिर में रहने वाले सब सेवकगण आनन्द पूर्वक प्रभु से मिले ॥३१६-३२०॥

काशीमिश्र आसि पड़िला प्रभुर चरणे। मान्य करि प्रभु तारे कैल आलिङ्गने ॥३२१॥
जगन्नाथेर पड़िछा आसि प्रभुरे मिलिला। प्रभु लञा सार्वभौम निजघरे गेला ॥३२२॥

'मोर घरे भिक्षा' बलि निमन्त्रण कैला। दिव्य-दिव्य महाप्रसाद अनेक आनाइला ॥३२३॥
मध्याह्न करिया प्रभु निज गण लैया। सार्वभौम घरे भिक्षा करिला आसिया ॥३२४॥

फिर श्रीकाशीमिश्र ने प्रभु के चरणों में आकर वन्दना की। प्रभु ने उनका आदर करते हुए उन्हें गले लगाया। श्रीजगन्नाथ जी का पड़िछा (पुजारी) प्रभु से आकर मिला। तदनन्तर प्रभु को साथ लेकर श्रीसार्वभौम अपने घर आए। श्रीसार्वभौम जी ने अपने घर भिक्षा के लिये प्रभु से प्रार्थना की और उन्होंने दिव्य-दिव्य महाप्रसाद श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर से मँगवाया। मध्याह्न का स्नानादि करके प्रभु अपने भक्तों के साथ श्रीसार्वभौम जी के घर पर आए। और प्रेम पूर्वक सबने भिक्षा ग्रहण की ॥३२१-३२४॥

भिक्षा कराइया तांरे कराइल शयन। आपने सार्वभौम करे पाद संवाहन ॥३२५॥
प्रभु ताँरे पाठाइला भोजन करिते। सेइ रात्रि तांर घरे रहिला तांर प्रीते ॥३२६॥
सार्वभौम सङ्गे आर लञा निज-गण। तीर्थ यात्रा-कथा कहि कैला जागरण ॥३२७॥
प्रभु कहे-एत तीर्थ कैल पर्य्यटन। तोमा सम वैष्णव ना देखिल एकजन ॥३२८॥
एक रामानन्दराय बहु सुख दिल। भट्ट कहे-एइ लागि मिलिते कहिल ॥३२९॥

प्रभु को भिक्षा कराने के पश्चात् सार्वभौम जी ने प्रभु को वहाँ ही शयन कराया और स्वयं उनके चरण चांपने लगे। प्रभु ने उन्हें भोजन करने के लिये भेजा। उस रात को उनके प्रेम में प्रभु वहां ही रह गये। श्रीसार्वभौम तथा सब परिकर के आगे प्रभु ने अपनी तीर्थयात्रा का हाल कहते-कहते सारी रात जागरण किया। प्रभु ने कहा—"मैंने इतने तीर्थों में भ्रमण किया है, परन्तु आप (श्री सार्वभौम) जैसा एक भी वैष्णव नहीं मिला। हाँ; एक रायरामानन्द ने बहुत सुख दिया है।" सार्वभौम जी ने कहा— "प्रभो ! मैंने इसीलिये तो उससे मिलने की आपसे प्रार्थना की थी"॥ ३२५-३२९॥

तीर्थयात्रा-कथा एइ हैल समापन। संक्षेपे कहिल, विस्तार ना याय वर्णन ॥३३०॥
अनन्त चैतन्यकथा, कहिते ना जानि। लोभे लज्जा खाञा तार करि टानाटानि ॥३३१॥
प्रभुर तीर्थयात्रा कथा शुने येइ जन। चैतन्य-चरणे पाय गाढ़ प्रेमधन ॥३३२॥
चैतन्यचरित्र शुन श्रद्धा-भक्ति करि। मात्सर्य्य छाड़िया मुखे बोल "हरि-हरि" ॥३३३॥

श्रीकृष्णदास कविराज कहते हैं—इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी की तीर्थ यात्रा की कथा मैं समापन करता हूँ। मैं संक्षेप से ही कह सकता हूँ, विस्तार पूर्वक कहने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है। श्री चैतन्यचरित अनन्त हैं, मैं कहना भी नहीं जानता, श्री चैतन्य-कथा के लोभवश लज्जा को खाकर (छोड़कर) चाहे असमर्थ हूँ, तो भी वर्णन करने की चेष्टा करता हूँ। श्रीमहाप्रभु जी की तीर्थ यात्रा की इस कथा को जो व्यक्ति सुनेंगे, उन्हें श्री चैतन्यदेव के चरणों का गाढ़प्रेम प्राप्त होगा। श्रीचैतन्य चरित को श्रद्धापूर्वक, भावपूर्वक सुनिये और परश्री-कातरता (अन्य के मङ्गल के प्रति द्वेष) छोड़ कर श्रीहरि-हरि बोलिये। (कारण कि तभी श्रीहरिनाम का फल प्राप्त होगा) ॥३३०-३३३॥

एइ कलिकाले आर नाहि अन्य धर्म। वैष्णव वैष्णव-शास्त्र एइ कहे मर्म ॥३३४॥
चैतन्यचन्द्रेर लीला-अगाध गम्भीर। प्रवेश करिते नारि स्पर्शि रहि तीर ॥३३५॥

चैतन्यचरित्र श्रद्धाय शुने येइ जन। यतेक विचारे, तत पाय प्रेमधन ॥३३६॥
श्रीरूप-रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृता कहे कृष्णदास ॥३३७॥

कविराज कहते हैं— इस कलिकाल में श्रीहरिनाम के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है। समस्त वैष्णव एवं भक्तिशास्त्रों का यही सार है। श्रीचैतन्यचन्द्र की लीला अगाध गम्भीर समुद्र की भाँति है, उसमें कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता। अतः मैं भी किनारे पर बैठकर इसका स्पर्श मात्र ही करता हूँ। श्रीचैतन्यचरितामृत को श्रद्धापूर्वक जो सुनते हैं, और वे जितना भी इसका मनन करेंगे, वे उतना ही श्रीचैतन्य-चरणों में प्रेम-धन प्राप्त करेंगे। श्रीरूप गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥३३४–३३७॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य-लीलायां
दक्षिणदेशतीर्थभ्रमणं-नाम
नवम परिच्छेदः ॥९॥

जयगौर

मध्य-लीला

दशम परिच्छेद

★

तं वन्दे गौरजलदं स्वस्य यो दर्शनामृतैः।
विच्छेदावग्रहम्लान—भक्तशस्यान्यजीवयत् ॥१॥

जिन्होंने अपनी वियोग-रूप अनावृष्टि से सूखे हुए धान-रूप अपने समस्त भक्तों को अपने दर्शन-रूप अमृततुल्य जल से परिपुष्ट किया, उन श्रीगौराङ्गरूप मेघ की मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

चै० च० चु० *टीका*—जैसे अनावृष्टि से धानादि सूख जाते हैं और पुनःवृष्टि होने से वे सब प्रफुल्लित हो उठते हैं, उसी प्रकार श्रीगौराङ्गदेव के तीर्थ-यात्रा जाने से उनके वियोग से समस्त भक्त प्रायः निर्जीव हो रहे थे। श्रीमहाप्रभु के तीर्थयात्रा से लौटने पर उनके दर्शनों को पाकर वे सब भक्त पुनः प्रफुल्लित हो उठे। इस श्लोक का यही तात्पर्य है ॥१॥

[इस दशम परिच्छेद में—जिस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी के दर्शनों के लिये राजा प्रतापरुद्रजी ने श्रीसार्वभौम से प्रार्थना की है, और राजा प्रतापरुद्र के अतिरिक्त पुरुषोत्तमवासी अन्यान्य भक्तों के साथ जिस प्रकार प्रभु का मिलन हुआ है, और श्रीकृष्णदास ब्राह्मण का नवद्वीप जाना, श्रीअद्वैताचार्यादि गौड़ीय भक्तों का नीलाचल आने के लिये उद्योग, श्रीमहाप्रभु के साथ श्रीस्वरूप दामोदरजी का मिलन तथा श्रीब्रह्मानन्द-भारती का चर्माम्बर त्यागकरना ये समस्त चरित्र वर्णन किये गये हैं।]

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
पूर्वे यबे महाप्रभु चलिला दक्षिणे। प्रतापरुद्र–राजा तबे बोलाइला सार्वभौमे ॥२॥
वसिते आसन दिला करि नमस्कारे। महाप्रभुर वार्त्ता तबे पूछिल ताँहारे ॥३॥
शुनिल तोमार घरे एक महाशय। गौड़ हैते आइला तेंहों महाकृपामय ॥४॥
तोमारे बहुकृपा कैला–कहे सर्वजन। कृपा करि कराह मोरे ताँहार दर्शन ॥५॥

श्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभुपाद की जय हो। श्रीअद्वैताचार्य प्रभु एवं गौरभक्तवृन्द की जय हो, जय हो। पहले जिस समय श्रीमहाप्रभुजी दक्षिण-यात्रा को चले गये थे तो उड़ीसा के राजा श्रीप्रतापरुद्रजी ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यजी को अपने पास बुलवा भेजा। (श्रीजगन्नाथ पुरी इन्हीं के राज्य में थी एवं कटक इनकी राजधानी थी।) राजा ने श्रीसार्वभौमजी के आने पर उन्हें बैठने के लिये आसन दिया और उन्हें सादर प्रणाम किया। फिर उनसे श्रीमहाप्रभु के सम्बन्ध में

पूछने लगे—"सार्वभौम ! मैंने सुना है कि आपके घर में एक महान व्यक्ति गौड़देश से आये हैं और वे महाकृपालु हैं। उन्होंने आप पर बहुत कृपा की है"—ऐसा सब लोग कहते हैं, तो कृपाकर मुझे भी उनके दर्शन कराइये न ! ॥१–५॥

भट्ट कहे—ये शुनिले से-इ सत्य हय। तांहार दर्शन तोमार घटन ना हय ॥६॥
विरक्त सन्न्यासी तेंहो रहये निर्ज्जने। स्वप्नेह ना करे तेंहो राज-दरशने ॥७॥
तथापि प्रकारे तोमाय कराइताम दरशन। सम्प्रति करिल तेंहो दक्षिण-गमन ॥८॥

श्रीसार्वभौमजी ने कहा—"राजन् ! आपने जो कुछ सुना है, वह सब सत्य कथा है, किन्तु उनके दर्शन आपके लिये असम्भव ही हैं। वे विरक्त संन्यासी हैं, उस पर भी वे निर्जन स्थान पर वास करते हैं और स्वप्न में भी वे राजा को नहीं देखते (क्योंकि राजा लोग विषयी होते हैं—इसलिये संन्यासी के लिये राजदर्शन निषेध है) तो भी मैं किसी युक्ति से आपको उनके दर्शन कराता अर्थात् वे तो तुम्हें न देख पाते और तुम ही उनके दर्शन कर लेते—ऐसे स्थान पर आपको बैठाकर मैं आपको उनके दर्शन करा देता, किन्तु अब तो वे दक्षिण तीर्थयात्रा में चले गये हैं" ॥६–८॥

राजा कहे—जगन्नाथ छाड़ि केने गेला ? । भट्ट कहे—महान्तेर एइ एक लीला ॥९॥
तीर्थ पवित्र करिते करेन तीर्थ-भ्रमण। सेइ-छले निस्तारये सांसारिक-जन ॥१०॥

राजा ने पूछा—"वे श्रीजगन्नाथजी को छोड़कर क्यों चले गये ?" भट्टजी ने कहा—"निष्किञ्चन् महापुरुषों की यह भी एक लीला है। तीर्थों को पवित्र करने के लिये वे तीर्थभ्रमण करते हैं और इसी बहाने से संसारासक्त लोगों का भी उद्धार करते हैं" ॥९–१०॥ जैसा कि श्रीभागवतजी में कहा गया है:—

तथाहि (भा: १—१३—१०)—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥२॥

श्रीयुधिष्ठिरजी ने श्रीविदुरजी के प्रति कहा है—"हे प्रभो ! आप जैसे भगवद्-भक्त स्वयं ही तीर्थस्वरूप हैं। उनके हृदय में श्रीभगवान् गदाधारी का वास होता है, जिससे वे तीर्थों को भी तीर्थस्वरूप अर्थात् पवित्र किया करते हैं" ॥२॥

वैष्णवेर एइ हय स्वभाव निश्चल। तेंहो जीव नहे—स्वतन्त्र ईश्वर ॥११॥
राजा कहे—तांरे तुमि याइते केने दिले। पाय पड़ि यत्न करि केने ना राखिले? ॥१२॥
भट्टाचार्य कहे—तेंहो ईश्वर स्वतन्त्र। साक्षात् कृष्ण तेंहो—नहे परतन्त्र ॥१३॥
तथापि राखिते तांरे बहु यत्न कैल। ईश्वरेर स्वतन्त्र इच्छा, राखिते नारिल ॥१४॥

श्रीसार्वभौम ने कहा—"जब भगवान् के भक्तों का यह स्वभाव है कि वे तीर्थों में भ्रमण के बहाने संसारासक्त लोगों का उद्धार करते फिरते हैं, तब वे तो (श्रीचैतन्य देव तो) जीव-कोटि में नहीं हैं, वे तो स्वतन्त्र ईश्वर हैं।" राजा ने कहा—"आपने उन्हें क्यों जाने दिया ? उनके चरण पकड़कर आग्रह पूर्वक उन्हें जाने से क्यों न रोक लिया ?" भट्टाचार्यजी ने कहा—"वे स्वतन्त्र ईश्वर हैं, साक्षात् श्रीकृष्ण हैं—वे भला किसी के आधीन थोड़े हैं ! फिर भी मैंने तो बहुत यत्न से उन्हें रोकने की चेष्टा की; उनकी इच्छा स्वतन्त्र है, मैं उन्हें रोक न सका" ॥११–१४॥

राजा कहे–भट्ट ! तुमि विज्ञशिरोमणि। तुमि तांरे 'कृष्ण' कह–ताते सत्य मानि ॥१५॥
पुनरपि इहां तांर हवे आगमन। एकबार देखि करि सफल नयन ॥१६॥
भट्टाचार्य कहे–तेंहो आसिव अल्पकाले। रहिते तांरे एक स्थान चाहिये विरले ॥१७॥
ठाकुरेर निकट आर हइवे निर्जने। ऐछे निर्णय करि देह एक स्थाने ॥१८॥

राजा ने कहा—"भट्ट ! आप तो विद्वानों में शिरोमणि हैं और आप जब उन्हें 'श्रीकृष्ण' कह रहे हो, तब मैं भी आपकी बात सत्य मानता हूँ। फिर भी तो वे यहाँ आवेंगे, एक बार उनके अवश्य दर्शन करके मैं अपने नेत्र सफल करना चाहता हूँ"। भट्टाचार्यजी ने कहा–"श्रीमहाप्रभु बहुत शीघ्र यहाँ लौट आवेंगे, किन्तु उन्हें एक स्थान एकान्त रहने के लिये चाहिये। वह स्थान हो भी श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर के पास और हो भी एकान्त में, ऐसा कोई स्थान आप निर्णय कर उनके लिये दीजिये।

राजा कहे—ऐछे काशीमिश्रेर सदन। ठाकुरेर निकट हय परम निर्जन ॥१९॥
एत कहि राजा रहे उत्कण्ठित हैया। भट्टाचार्य काशीमिश्रे कहिल सब गिया ॥२०॥
काशीमिश्र कहे–आमि बड़ भाग्यवान्। मोर घरे प्रभुपादेर हवे अवस्थान ॥२१॥
एइमत पुरुषोत्तमवासी यत जन। प्रभुरे मिलिते सभार उत्कण्ठित मन ॥२२॥

राजा ने कहा—"ऐसा अनुकूल स्थान तो एक काशीमिश्र का घर है, श्रीजगन्नाथ मन्दिर के पास भी है और परम निर्जन भी" इतना कहकर राजा प्रतापरुद्र प्रभु के दर्शनों की उत्कण्ठित-चित्त होकर प्रतीक्षा करने लगे। यह सब बात भट्टाचार्यजी ने श्रीकाशीमिश्र को सुनाई। काशीमिश्र ने कहा—"मैं बहुत भाग्यवान् हूँ, यदि मेरे घर में प्रभुपाद निवास करें।" इस प्रकार पुरुषोत्तमवासी जितने भी भक्त थे, उनका मन श्रीमहाप्रभुजी के दर्शनों के लिये बहुत उत्कण्ठित था ॥१९-२२॥

सब लोकेर उत्कण्ठा यबे अत्यन्त बाड़िला। महाप्रभु दक्षिण हैते तबहि आइला ॥२३॥
शुनि आनन्दित हैल सभाकार मन। सभे मेलि सार्वभौमे कैल निवेदन—॥२४॥
प्रभु–सह आमा सभार कराह मिलन। तोमार प्रसादे पाइ चैतन्य–चरण ॥२५॥
भट्टाचार्य कहे–"कालि काशीमिश्रेर घरे। प्रभु याइवेन तांहा मिलाइव सभारे" ॥२६॥

जब सब लोगों की उत्कण्ठा अत्यन्त बढ़ गई, तभी श्रीमहाप्रभुजी दक्षिण यात्रा से लौट आए। प्रभु का आगमन सुनकर सबका मन आनन्दित हो उठा ! सबने मिलकर श्रीसार्वभौमजी से निवेदन किया कि "हमें आप श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन कराइये। आपकी कृपा से हमें भी श्रीचैतन्यचरण प्राप्त हो सकते हैं"॥ श्रीभट्टाचार्यजी ने कहा—"कल श्रीमहाप्रभु श्रीकाशीमिश्र के घर पधारेंगे, वहाँ ही आप सबको प्रभु के दर्शन प्राप्त हो सकेंगे" ॥२३-२६॥

आर दिन महाप्रभु भट्टाचार्य्य सङ्गे। जगन्नाथ दरशन कैल महारङ्गे ॥२७॥
महाप्रसाद दिया ताहां मिलिला सेवकगण। महाप्रभु सभाकारे कैल आलिङ्गन ॥२८॥
दर्शन करि महाप्रभु चलिला बाहिरे। भट्टाचार्य निल तांरे काशीमिश्र-घरे ॥२९॥
काशीमिश्र पड़िला आसि प्रभुर चरणे। गृह सहित आत्मा तांरे कैल निवेदने ॥३०॥

दूसरे दिन श्रीमहाप्रभु ने भट्टाचार्य जी के साथ श्रीजगन्नाथ जी के आनन्दपूर्वक दर्शन किये। पुजारीगणों ने मिलकर प्रभु को महाप्रसाद दिया। श्रीमहाप्रभु जी ने सबको आलिङ्गन किया। दर्शन करके प्रभु मन्दिर से बाहर गये और श्रीभट्टाचार्य उन्हें काशीमिश्र जी के घर पर ले आये। श्रीमहाप्रभु को देख कर काशीमिश्र उनके चरणों पर गिर पड़े और गृह के साथ साथ आत्मा भी श्रीप्रभु को निवेदित करदी ॥

प्रभु चतुर्भुज मूर्त्ति तांरे देखाइल। आत्मसात् करि तांरे आलिङ्गन कैल ॥३१॥

तबे महाप्रभु ताहां वसिला आसने। चौदिके बसिला नित्यानन्दादि भक्तगणे ॥३२॥

सुखी हैला प्रभु देखि वासार संस्थान। येइ वासाय हय प्रभुर सर्व समाधान ॥३३॥

सार्वभौम कहे-प्रभु! तोमार योग्य बासा। 'तुमि अङ्गीकार कर' एइ मिश्रेर आशा॥३४॥

श्रीमहाप्रभु जी ने काशीमिश्र को अपना चतुर्भुज रूप दिखाया और उन्हें अपना ही जान कर उनका आलिङ्गन किया। फिर श्रीमहाप्रभु वहाँ आसन पर बिराज गये और श्रीनित्यानन्द आदि सब भक्तगण भी प्रभु के चारों ओर बैठ गये। सुखी होकर प्रभु ने घर को देखा जहाँ प्रभु के निवास के लिये सब प्रबन्ध किया गया था। श्रीसार्वभौम जी ने कहा—"प्रभो! यह आपके योग्य निवास स्थान है, आप इसे अङ्गीकार कीजिये"—काशीमिश्र जी की आपसे यही प्रार्थना है ॥३१—३४॥

प्रभु कहे—एइ देह तोमा सभाकार। येइ तुमि कह सेइ सम्मत आमार ॥३५॥

तबे सार्वभौम प्रभुर दक्षिणपार्श्वे बसि। मिलाइते लागिल सब पुरुषोत्तमवासी ॥३६॥

एइ-सब लोक प्रभु! वैसे नीलाचले। उत्कण्ठित हैया आछे तोमा मिलिवारे ॥३७॥

तृषित चातक यैछे मेघेरे हांकारे। तैछे एइ सब, सभा कर अङ्गीकारे ॥३८॥

प्रभु ने कहा—'यह शरीर आपका ही है, जो आप कहो वही मुझे स्वीकार है।" तब श्री सार्वभौम प्रभु के दक्षिण ओर बैठ गये और सब पुरुषोत्तम-वासियों को प्रभु से मिलाने लगे। सार्वभौम जी ने कहा—"प्रभु! ये सब लोग नीलाचल में रहते हैं। ये सब आपके मिलने के लिये उत्कण्ठित थे। जैसे तृषित पपीहा मेघ को पुकारा करता है (मर जाता है किन्तु दूसरा जल पान नहीं करता) उसी प्रकार ये सब लोग भी एकनिष्ठ हैं—इन सब को आप अङ्गीकार कीजिये ॥३५—३८॥

जगन्नाथ-सेवक एइ नाम जनार्दन। अनवसरे करे प्रभुर श्रीअङ्ग-सेवन ॥३९॥

कृष्णदास-नाम एइ स्वर्णवेत्रधारी। शिखिमाहिती एइ लिखन-अधिकारी ॥४०॥

प्रद्युम्नमिश्र इंहो वैष्णव-प्रधान। जगन्नाथ-महासोयार इंहो दास नाम ॥४१॥

मुरारी माहिती-शिखिमाहितीर भाई। तोमार चरण बिनु अन्यगति नाइ ॥४२॥

चन्दनेश्वर सिंहेश्वर मुरारी ब्राह्मण। विष्णुदास इंहो ध्याय तोमार चरण ॥४३॥

(सब का परिचय देते हैं)—"यह श्रीजगन्नाथ जी के पुजारी हैं, इनका नाम श्रीजनार्दन है। जब श्रीजगन्नाथ जी का और कोई भी दर्शन नहीं कर सकता (चोला बदलते समय) तभी यह श्रीअङ्ग की सेवा करते हैं। और यह श्रीकृष्ण दास हैं, जो सोने का बेंत हाथ में धारण किये रहते हैं (छरीदार हैं।) और इनका नाम श्रीशिखिमाहिती है, जो श्रीजगन्नाथ जी का लेखा जोखा लिखते हैं। और ये वैष्णव प्रधान श्रीप्रद्युम्न मिश्र हैं, जो श्रीजगन्नाथ जी के प्रधान रसोईया हैं। और यह श्रीमुरारी

माहिती हैं, जो श्रीशिखिमाहिती के भाई हैं और इन्हें तो केवल आपके चरणों के बिना और कोई आश्रय नहीं है। और यह श्रीचन्दनेश्वर हैं, इनका नाम श्रीसिंहेश्वर है और इन्हें श्रीमुरारी ब्राह्मण कहते हैं—ये तीनों श्रीकृष्ण-भक्त हैं और सदा आपके चरणोंका ध्यान किया करते हैं ॥३९-४३॥

प्रहराज महापात्र इंहो महामति। परमानन्द महापात्र इंहार संहति ॥४४॥
एइ-सब वैष्णव एइ क्षेत्रेर भूषण। एकान्तभावे भजे सभे तोमार चरण ॥४५॥
तबे सभे पाये पड़े दण्डवत हैया। सभे आलिङ्गिला प्रभु प्रसाद करिया ॥४६॥
हेन काले आइला ताहां भवानन्दराय। चारिपुत्र सङ्गे पड़े महाप्रभुर पाय ॥४७॥

यह श्रीप्रहराज महापात्र बड़े बुद्धिमान हैं। और यह श्रीपरमानन्द महापात्र इनके साथी हैं। ये सब वैष्णव इस नीलाचल क्षेत्र के भूषण स्वरूप हैं। ये सब एकान्त भाव से आपके चरणों का भजन करते हैं। फिर सबने श्रीप्रभु के चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया और श्रीप्रभु ने भी सब पर कृपा करते हुए उन्हें आलिङ्गन किया। इतने में श्रीभवानन्दराय अपने चारों पुत्रों के सहित वहाँ आये और प्रभु के चरणों में प्रणाम किया ॥४४-४७॥

सार्वभौम कहे—एइ राय भवानन्द। इंहार प्रथम पुत्र—राय रामानन्द ॥४८॥
तबे महाप्रभु तांरे कैल आलिङ्गन। स्तुति करि कहे रामानन्द विवरण ॥४९॥
रामानन्द—हेन रत्न यांहार तनय। तांहार महिमा लोके कहने ना हय ॥५०॥
साक्षात् पाण्डु तुमि,तोमार पत्नी कुन्ती। पञ्च पाण्डव तोमार पञ्चपुत्र महामति॥५१॥

श्रीसार्वभौम ने कहा—"प्रभो! ये श्रीभवानन्द राय हैं। इनके ही पहले पहले पुत्र श्रीरामानन्द राय हैं।" श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें आलिङ्गन किया और श्रीरामानन्द राय की प्रशंसा करते हुए वहाँ विद्यानगर का सब हाल सुनाया। प्रभु ने कहा—"श्रीरामानन्द राय जैसे रत्न जिनके पुत्र हैं, उनकी महिमा कोई नहीं वर्णन कर सकता। भवानन्द! आप तो साक्षात् पाण्डु हो और तुम्हारी पत्नी कुन्तीदेवी के समान हैं और तुम्हारे महामति पाचों पुत्र पाण्डुओं के समान हैं" ॥ ४८-५१॥

राय कहे—आमि शूद्र विषयी अधम। मोरे स्पर्श तुमि एइ ईश्वर लक्षण ॥५२॥
निज गृह वित्त भृत्य पञ्चपुत्र–सने। आत्मा समर्पिल आमि तोमार चरणे ॥५३॥
एइ वाणीनाथ रहिवे तोमार चरणे। यवे येइ आज्ञा सेइ करिवे सेवने ॥५४॥
आत्मीय ज्ञान करि सङ्कोच ना करिवे। येइ यबे इच्छा तोमार सेइ आज्ञा दिवे ॥५५॥

राय भवानन्द जी ने कहा—"प्रभो! मैं तो एक विषयी अधम शूद्र हूँ, आपने मुझे आलिङ्गन किया है—यही ईश्वर-लक्षण हैं अर्थात् श्री भगवान् के बिना और कौन अधमों को अपनाता है? अपना घर-बार, धन-दौलत, सेवक और पांचों पुत्रों सहित मैं अपने को आपके चरणों में समर्पण करता हूँ। यह वाणीनाथ मेरा पुत्र आपके चरणों में ही अब रहेगा। आप जो भी आज्ञा करेंगे, यह वही सेवा करेगा। इसे आप अपना जानकर सङ्कोच न करियेगा और जो भी आपकी इच्छा हो इसे आप आज्ञा कीजियेगा॥

प्रभु कहे—कि सङ्कोच, नह तुमि पर। जन्मे जन्मे तुमि आमार सवंशे किङ्कर ॥५६॥
दिन-पांच-सात भितरे आसिवे रामानन्द। तांर सङ्गे पूर्ण हवे आमार आनन्द ॥५७॥

एत बलि प्रभु तांरे कैल आलिङ्गन। तांर पुत्र सब-शिरे धरिल चरण ॥५८॥
तबे महाप्रभु तांरे घरे पाठाइल। वाणीनाथ- पट्टनायक निकटे राखिल ॥५९॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"राय! आपसे सङ्कोच कैसा? आप ग़ैर नहीं हो। तुम तो जन्म-जन्म के अपने वंश सहित मेरे दास हो। पांच सात दिन में राय रामानन्द भी यहां आये जाते हैं, तब उनके साथ मेरा आनन्द पूरा होगा।" इतना कहकर प्रभु ने उनका आलिङ्गन किया और उनके पुत्रों के माथे पर अपने चरण स्पर्श किये। फिर प्रभु ने भवानन्द जी को घर जाने की आज्ञा दे दी और श्रीवाणीनाथ को, 'पट्टनायक' जिसकी उपाधि थी, अपने पास रख लिया ॥५६—५९॥

भट्टाचार्य सब लोके विदाय करिल। तबे प्रभु काला कृष्णदासे बोलाइल ॥६०॥
प्रभु कहे–'भट्टाचार्य! शुन इंहार चरित। दक्षिण गेलेन इंहो आमार सहित ॥६१॥
भट्टमारि हैते गेला आमारे छाड़िया। भट्टमारि हैते इंहाय आनिल उद्धारिया ॥६२॥
एबे आमि इंहा आनि करिल विदाय। याहां ताहां याह, आमा-सने नाहि आर दाय॥६३॥

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने सब लोगों को जब बिदा किया, तब प्रभु ने काला कृष्णदास को, जो उनके साथ दक्षिण यात्रा में साथ गया था, बुलाया। प्रभु ने सार्वभौम जी को सम्बोधन करते हुए कहा—"भट्टाचार्य! सुनिये—इसकी कथा। दक्षिण यात्रा में यह मेरे साथ गया था। वहाँ मुझे छोड़ कर (वाम मार्गीय) संन्यासियों में यह जा मिला। मैं इसे उनके पंजे से छुड़ाकर लाया हूँ। अब यहाँ लाकर मैं इसे बिदा देता हूँ, अब यह जहाँ जाना चाहे चला जाये, अब मुझ पर इसका कोई दायित्व (जिम्मेवारी) नहीं रहेगी ॥६०—६३॥

एत शुनि कृष्णदास कान्दिते लागिला। मध्याह्न करिते महाप्रभु उठि गेला॥६४॥
नित्यानन्द जगदानन्द मुकुन्द दामोदर। चारिजने युक्ति तबे करिल अन्तर ॥६५॥
गौड़देशे पाठाइते चाहि एकजन। आइके कहिवे याइ प्रभुर आगमन ॥६६॥
अद्वैत-श्रीवास आदि यत भक्तगण। सभे आसिवे शुनि प्रभुर आगमन ॥६७॥

यह सुनकर काला कृष्णदास रोने लगा और श्रीमहाप्रभु जी मध्याह्न के स्नानादि के लिये वहाँ से उठकर चले गये। श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीजगदानन्द, श्रीमुकुन्द एवं श्रीदामोदर इन चारों ने परस्पर एक युक्ति सोची कि एक व्यक्ति को बंगाल देश में भेजना चाहिये, जो माता शचीदेवी को जाकर प्रभु के तीर्थ यात्रा से लौट आने का समाचार कहे। श्रीअद्वैताचार्य, श्रीवासादि जितने भक्त हैं, वे सब भी तो प्रभु के दर्शन करने आवेंगे ॥६४—६७॥

एइ कृष्णदासे दिव गौड़े पाठाइया। एत कहि तांरे राखिल आश्वास करिया ॥६८॥
आरदिन प्रभु-ठांइ कैल निवेदन। आज्ञा देह, गौड़देशे पाठाइ एक जन ॥६९॥
तोंमार दक्षिण गमन शुनि शची आइ। अद्वैतादि वैष्णव आछेन दुख पाइ ॥७०॥
एकजन याइ कहे शुभ समाचार। प्रभु कहे–कर सेइ ये इच्छा तोमार ॥७१॥

उन्होंने विचार किया कि इस काला-कृष्णदास को ही गौड़देश में भेज दिया जावे"—यही बात कृष्णदास को कहकर उसे आश्वासन देते हुए स्थिर किया। दूसरे दिन महाप्रभु को सब ने निवेदन किया

कि "प्रभो ! आपकी यदि आज्ञा हो तो एक व्यक्ति को गौड़देश भेज दिया जावे। कारण कि आप के दक्षिण चले जाने के समाचार को सुन कर शची माता एवं श्रीअद्वैतादि वैष्णवगण दुखी हो रहे हैं। एक व्यक्ति जाकर आपके शुभागमन का समाचार कहेगा।" प्रभु ने उत्तर दिया—"जैसे आपकी इच्छा हो, मुझे कोई आपत्ति नहीं है ॥६८—७१॥

तबे सेइ कृष्णदासे गौड़े पाठाइल। वैष्णव-सभारे दिते महाप्रसाद दिल ॥७२॥
तबे गौड़देशे आइला कालाकृष्णदास। नवद्वीप गेला तेंहो शची आइ-पाश ॥७३॥
महाप्रसाद दिया तांरे कैल नमस्कार। 'दक्षिण हैते आइला प्रभु' कहे समाचार ॥७४॥
शुनि आनन्दित हैल शची-मातार मन। श्रीनिवास-आदि आर यत भक्तगण ॥७५॥
शुनिञा सभार हैल परम उल्लास। अद्वैत-आचार्यगृहे गेला कृष्णदास ॥७६॥

तब उन्होंने इस कृष्णदास को गौड़ देश के लिये तैयार किया और उसे सब वैष्णवों को देने के लिये महाप्रसाद भी दिया। फिर वहाँ से काला-कृष्णदास गौड़ देश चले आये और सर्वप्रथम वह नवद्वीप में माता शची के पास आए। उन्हें महाप्रसाद देकर कृष्णदास ने नमस्कार किया और 'प्रभु दक्षिण यात्रा से लौट आये हैं'—यह समाचार माता शची को सुनाया। इस समाचार को सुनकर शची माता का मन बहुत आनन्दित हुआ। श्रीनिवासादि और और भी जितने भक्त थे, वे भी इस समाचार को सुनकर परम हर्षित हुए। फिर वहाँ से श्रीकृष्णदास श्रीअद्वैताचार्य के घर गये ॥७२—७६॥

आचार्य प्रसाद दिया कैल नमस्कार। सम्यक् कहिल महाप्रभुर समाचार ॥७७॥
शुनिञा आचार्यगोसाञि परमानन्द हैला। प्रेमावेशे हुङ्कार बहुनृत्य गीत कैला ॥७८॥
हरिदास ठाकुरेर हैल परम आनन्द। वासुदेवदत्त गुप्त मुरारी शिवानन्द ॥७९॥
आचार्यरत्न आर पण्डित वक्रेश्वर। आचार्यनिधि आर पण्डित गदाधर ॥८०॥
श्रीराम पण्डित आर पण्डित दामोदर। श्रीमान् पण्डित आर विजय श्रीधर ॥८१॥
राघव पण्डित आर आचार्य नन्दन। कतेक कहिब आर यत प्रभुर गण ॥८२॥
शुनिञा सभार हैल परम उल्लास। सभे मिलि आइला श्री अद्वैतेर पाश ॥८३॥

श्रीकृष्णदास ने श्रीअद्वैताचार्यजी को महाप्रसाद देते हुए नमस्कार किया और श्रीमहाप्रभुजी का सब समाचार सुनाया। श्रीअद्वैताचार्यजी समाचार सुनकर परमानन्दित हुए और प्रेमावेश में हुङ्कार करते हुए बहुत नृत्य-गान किया। श्रीहरिदास ठाकुर को तो परम हर्ष हुआ। श्रीवासुदेवदत्त, श्रीमुरारीगुप्त, श्रीशिवानन्द, आचार्यरत्न, श्रीवक्रेश्वर पण्डित, श्रीआचार्यनिधि और श्रीगदाधर पण्डित, श्रीराम पण्डित, श्रीदामोदर पण्डित, श्रीश्रीमान् पण्डित, श्रीश्रीधरविजय, श्रीराघव पण्डित, श्रीआचार्यनन्दन—आदि और कहाँ तक प्रभु के भक्तों के नाम गिनाये जाएँ—सबके सब शुभ समाचार को सुनकर परम उल्लसित हुए और सब मिलकर श्रीअद्वैताचार्यजी के घर पर आए ॥७७-८३॥

आचार्येर कैल सभे चरणवन्दन। आचार्य गोसाञि कैल सभा आलिङ्गन ॥८४॥
दुइ तिन दिन आचार्य महोत्सव कैल। नीलाचल याइते तबे युक्ति दृढ़ हैल ॥८५॥

सभे मिलि नवद्वीपे एकत्र हइया। नीलाद्रि चलिल शचीमातार आज्ञा लैया ॥८६॥
प्रभुर समाचार शुनि-कुलीन ग्रामवासी। सत्यराज परमानन्द मिलिला ताहाँ आसि ॥८७॥

सब भक्तों ने आकर श्रीअद्वैताचार्य के चरणों में वन्दना की, श्रीआचार्यगोस्वामी ने सबको आलिङ्गन किया। दो-तीन दिन तक श्रीअद्वैत ने महोत्सव मनाया और सबने नीलाचल चलने के लिये दृढ़ निश्चय किया। सब मिलकर नवद्वीप में एकत्रित हुए और शचीमाता की आज्ञा लेकर नीलाचल की ओर चल दिये। कुलीनग्रामवासी सत्यराज परमानन्द ने जब प्रभु के आने का समाचार सुना तो वह भी वहाँ सबसे आकर मिले ॥८४—८७॥

मुकुन्द नरहरि रघुनन्दन खण्ड हैते। आचार्येर ठाञि आइला नीलाचल याइते ॥८८॥
सेइ काले दक्षिण हैते परमानन्दपुरी। गङ्गातीरे तीरे आइला नदीया नगरी ॥८९॥
आइर मन्दिरे सुखे करिल विश्राम। आइ तांरे भिक्षा दिल करिया सम्मान ॥९०॥
प्रभु-आगमन तेंहो ताहांइ शुनिल। शीघ्र नीलाचल याइते तांर इच्छा हैल ॥९१॥

श्रीखण्ड से श्रीमुकुन्द, श्रीनरहरि एवं श्रीरघुनन्दन भी श्रीआचार्य के घर नीलाचल जाने के लिये पहुँचे। उसी समय श्रीपरमानंदपुरी भी दक्षिण देश से गङ्गा के किनारे-किनारे चलते-चलते नदिया नगरी में आ पहुँचे। माताशची के घर आकर उन्होंने सुखपूर्वक विश्राम किया और माताशची ने आदर-पूर्वक भिक्षा कराई। श्रीमहाप्रभु के लौटने का समाचार उन्होंने वहाँ ही सुना और उनकी इच्छा भी शीघ्र नीलाचल जाने की होगई ॥८८-९१॥

प्रभुर एक भक्त, द्विज कमलाकान्त नाम। तारे लञा नीलाचले करिल प्रयाण ॥९२॥
सत्वरे आसिया तेंहो मिलिला प्रभुरे। प्रभुर आनन्द हैल पाइया तांहारे ॥९३॥
प्रेमावेशे कैल तांर चरण-वन्दन। तेंहो प्रेमावेशे कैल प्रभुरे आलिङ्गन ॥९४॥
प्रभु कहे—तोमा सङ्गे रहिते वाञ्छा हय। मोरे कृपा करि कर नीलाद्रि-आश्रय ॥९५॥

श्रीमहाप्रभुजी का एक भक्त श्रीकमलाकान्त-नामक ब्राह्मण था—उसे साथ लेकर श्रीपरमानन्दपुरी जी नीलाचल चल दिये। (श्रीपरमानन्दपुरी द्वापर लीला में श्रीउद्धवजी थे) शीघ्र ही वे प्रभु से आकर नीलाचल मिले और प्रभु उन्हें देखकर बहुत आनन्दित हुए। प्रभु ने प्रेमावेश में उनकी चरण-वन्दना की और श्रीपुरी ने प्रेमावेश में प्रभु का आलिङ्गन किया। प्रभु ने कहा—"आपके साथ वास करने की मेरी इच्छा है, आप कृपा करके यहाँ नीलाचल में ही निवास करिये" ॥९२-९५॥

पुरी कहे—तोमा सङ्गे रहिते वाञ्छा करि। गौड़ हैते चलि आइलाङ नीलाचलपुरी ॥९६॥
दक्षिण हइते तोमार शुनि आगमन। शचीर आनन्द हैल यत भक्तगण ॥९७॥
सभेइ आसितेछेन तोमारे देखिते। ता-सभार विलम्ब देखि आइलाङ त्वरिते ॥९८॥
काशीमिश्रेर आवासे निभृते एक घर। प्रभु तांरे दिल आर सेवार किङ्कर ॥९९॥

श्रीपुरी ने कहा-"आपके साथ रहने के लिये मेरी भी इच्छा है, इसलिये मैं गौड़देश से नीलाचल आया हूँ। दक्षिण देश से आपके लौटने का समाचार सुनकर माताशची एवं समस्त भक्तों को अतीव आनन्द हुआ है। सबके सब आपके दर्शनों को आ रहे हैं; उनको कुछ देर थी, जिससे मैं शीघ्र

पहले ही चला आया हूँ।" प्रभु ने काशीमिश्र के घर में ही एक एकान्त कमरा उनको ठहरने के लिये दिया और एक सेवक भी उनकी सेवा में नियुक्त कर दिया ॥९६–९९॥

आर दिने आइला स्वरूपदामोदर। प्रभुर अत्यन्त मर्म रसेर सागर ॥१००॥
'पुरुषोत्तम आचार्य' तांर नाम पूर्वाश्रमे। नवद्वीपे छिला तेंहो प्रभुर चरणे ॥१०१॥
प्रभुर संन्यास देखि उन्मत्त हइया। संन्यासग्रहण कैल वाराणसी गिया ॥१०२॥
चैतन्यानन्द गुरु तांर, आज्ञा दिल तांरे–। वेदान्त पढ़िया पढ़ाओ समस्त लोकेरे ॥१०३॥

दूसरे दिन श्रीस्वरूपदामोदरजी प्रभु से आकर मिले, यह प्रभु के अन्तरङ्ग रस के सागर थे। इनका पूर्व-आश्रम का नाम 'पुरुषोत्तम आचार्य' था और ये नवद्वीप में ही प्रभु के साथ वहाँ रहा करते थे। महाप्रभु को संन्यास ग्रहण किया देखकर यह उन्मत्त हो उठे और वाराणसी में जाकर इन्होंने भी संन्यास ग्रहण कर लिया। इनके गुरु श्रीचैतन्यानन्द थे, उन्होंने इन्हें आज्ञा दी कि तुम वेदान्त पढ़ो और सब लोगों को वेदान्त पढ़ाओ ॥१००–१०३॥

परम विरक्त तेंहो परम पण्डित। कायमने आश्रियाछे श्रीकृष्ण–चरित ॥१०४॥
निश्चिन्ते कृष्ण भजिव, एइ त कारण। उन्मादे करिल तेंहो संन्यास–ग्रहण ॥१०५॥
संन्यास करिल शिखा–सूत्र त्यागरूप। योगपट्ट ना लइल, नाम हैल 'स्वरूप' ॥१०६॥
गुरु–ठाञि आज्ञा मागि आइल नीलाचले। रात्रिदिन कृष्णप्रेम–आनन्द–विह्वले ॥१०७॥

पुरुषोत्तम आचार्य जी परम विरक्त एवं परम पण्डित थे। तन-मन से केवल श्रीकृष्ण-लीला का आस्वादन एवं आश्रय करते थे। "निश्चिन्त होकर श्रीकृष्ण-भजन करूंगा"—केवल इसी उद्देश्य को लेकर उन्माद में आकर इन्होंने संन्यास ग्रहण किया था। इन्होंने शिर-मुण्डन कर यज्ञोपवीत आदि का त्याग कर संन्यास ले लिया किन्तु योगपट्ट (जो एक प्रकार का वस्त्र विशेष होता है जिससे घुटने एवं पीठ को योगीजन बांधे रखते हैं और संन्यासाश्रममें उपयोग होता है–उस वस्त्र) को इन्होंने ग्रहण न किया। इन का संन्यास-आश्रम का नाम—'श्रीस्वरूपदामोदर' हुआ। यह अपने गुरु जी से आज्ञा लेकर नीलाचल चले आए और रात-दिन श्रीकृष्णप्रेमानन्द में विह्वल रहते थे ॥१०४–१०७॥

पाण्डित्येर अवधि, कथा नाहि कारो सने। निर्जने रहेन, सबलोक नाहि जाने ॥१०८॥
कृष्णरस–तत्ववेत्ता, देह से प्रेमरूप। साक्षात् महाप्रभुर द्वितीय स्वरूप ॥१०९॥
ग्रन्थ श्लोक गीत केहो प्रभु–आगे आने। स्वरूप परीक्षा कैले–पाछे प्रभु शुने ॥११०॥
भक्ति–सिद्धान्त–विरुद्ध येइ आर रसाभास। शुनिते ना हय प्रभुर चित्तेर उल्लास ॥१११॥
अतएव स्वरूप आगे करे परीक्षण। शुद्ध हय यदि, कराय प्रभुके श्रवण ॥११२॥

श्रीस्वरूप दामोदरजी पाण्डित्य की तो अवधि थे, किसी से वृथा वार्त्तालाप न करते थे। एकान्त स्थान पर रहते थे, साक्षात् श्रीमहाप्रभु का दूसरा स्वरूप थे। कोई व्यक्ति यदि श्रीमहाप्रभु को कोई ग्रन्थ, कोई श्लोक-गीतादि सुनाने आता तो पहले श्रीस्वरूप उसकी परीक्षा करते, फिर प्रभु उस ग्रन्थ-श्लोकादि को सुनते। जो ग्रन्थ-श्लोकादि भक्ति-सिद्धान्त के विरुद्ध होता अथवा जिसमें रसाभास होता (रस के जो समस्त लक्षण हैं–उन समस्त के न रहते हुए जहां आपात-दृष्टि से रस की प्रतीति होती है–उसे

'रसाभास' कहते हैं) उस ग्रन्थ, श्लोकादि को सुनने के लिये प्रभु का चित्त कभी भी उल्लसित नहीं होता था। इसलिये श्रीस्वरूपदामोदरजी पहले उस ग्रन्थ-श्लोकादि को पढ़ लेते, यदि वह भक्तिसिद्धान्त के अनुकूल होता और शुद्धरस-पूर्ण होता—तभी उसे श्रीमहाप्रभुजी को सुनाते ॥१०८-११२॥

विद्यापति चण्डीदास श्रीगीतगोविन्द। एइ तिन-गीते करे प्रभुर आनन्द ॥११३॥
सङ्गीते गन्धर्व सम, शास्त्रे वृहस्पति। दामोदर-सम आर नाहि महामति ॥११४॥
अद्वैत—नित्यानन्देर परम प्रियतम। श्रीवासादि-भक्तगणेर हय प्राणसम ॥११५॥
सेइ दामोदर आसि दण्डवत् हैला। चरणे पड़िया श्लोक पढ़िते लागिला ॥११६॥

श्रीविद्यापति एवं श्रीचण्डीदास की पदावली तथा श्रीजयदेव रचित श्रीगीतगोविन्द का गान श्रीस्वरूपदामोदर सुनाकर प्रभु को आनन्दित करते थे। यह सङ्गीत में तो गांधर्व के समान थे और शास्त्रज्ञान में वृहस्पति के सदृश थे। इनके समान विद्वान और कोई न था। श्रीअद्वैत एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु के यह परम प्रियतम थे, और श्रीवासादि भक्त तो इन्हें प्राणों के समान प्रिय मानते थे। ऐसे जो परम भागवत् श्रीस्वरूपदामोदरजी हैं— आकर प्रभु के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करने लगे, और चरणों में पढ़े हुए निम्नलिखित श्लोक पढ़ने लगे ॥११३-११६॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रोदयनाटके (८—१४)—

हेलोद्धूनितखेदया विशदया प्रोन्मीलदामोदया
शाम्यच्छास्त्रविवादया रसदया चित्तार्पितोन्मादया।
शश्वद्भक्तिविनोदया समदया माधुर्य्यमर्य्यादया
श्रीचैतन्यदयानिधे तव दया भूयादमन्दोदया ॥३॥

हे चैतन्य ! हे दयानिधे !! जिसके द्वारा अनायास समस्त दुःख दूर होते हैं, जो अत्यन्त निर्मल है, जिसके द्वारा आनन्द प्रकाशित होता है, एवं शास्त्रविवाद प्रशमित होता है, जो भक्तिरस की प्रदाता है, जिसके द्वारा चित्त में उन्माद-नामक सञ्चारीभाव आविर्भूत होता है एवं निरन्तर भक्तिसुख प्राप्त होता है, और जो मद-नामक भाव के सहित वर्त्तमान है, वही माधुर्य-मर्यादावशतः असमोर्द्ध प्रकाशित होने वाली आपका दया मेरे प्रति प्रकाशित हो ॥३॥

उठाइया महाप्रभु कैल आलिङ्गन। दुइजन प्रेमावेशे हैला अचेतन ॥११७॥
कथोक्षणे दुइ जने स्थिर यबे हैला। तबे महाप्रभु तांरे कहिते लागिला ॥११८॥
तुमि ये आसिवे, आजि स्वप्नेते देखिल। भाल हैल, अन्ध येन दुइ नेत्र पाइल ॥११९॥

श्रीस्वरूपदामोदरजी को चरणों में पड़ा हुआ देखकर श्रीमहाप्रभुजी ने उन्हें उठाकर आलिङ्गन किया और दोनों उस समय बेसुध होगये। कुछ देर के बाद जब दोनों स्थिर हुए, तब महाप्रभुजी ने कहा—"तुम आज यहाँ आओगे—ऐसा आज मैंने स्वप्न भी देखा था। अच्छा हुआ तुम आगये, मानो अन्धे को दो नेत्र मिल गये हैं ॥११७-११९॥

स्वरूप कहे-प्रभु ! मोर क्षम अपराध। तोमा छाड़ि अन्यत्र गेनु, करिनु प्रमाद ॥१२०॥
तोमार चरणे मोर नाहि प्रेमालेश। तोमा छाड़ि पापी मुञो गेनु अन्यदेश ॥१२१॥

मुञि तोमा छाड़िनु, तुमि मोरे ना छाड़िला। कृपारज्जु–गले बान्धि चरणे आनिला ।१२२।
तबे स्वरूप कैल नित्यानन्देर वन्दन। नित्यानन्द प्रभु कैल प्रेम आलिङ्गन ।।१२३।।

श्रीस्वरूप ने कहा—"प्रभो! आप मेरे अपराध को क्षमा कीजिये, क्योंकि मैं मूर्खतावश आप को छोड़कर अन्यत्र चला गया था। आपके चरणों में मेरा लेशमात्र भी प्रेम नहीं है—तभी तो मैं पापी आपको छोड़कर अन्य देशों में चला गया था। मैंने आपको छोड़ दिया किन्तु आपने मुझे नहीं त्यागा, कृपा-रज्जू मेरे गले में बान्धकर आपने अपने चरणों में खींच लिया है।" इतना कहने के बाद श्रीस्वरूप ने श्रीनित्यानन्द प्रभु को नमस्कार किया और श्रीनित्यानन्द प्रभु ने उन्हें प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया।

जगदानन्द मुकुन्द शंकर सार्वभौम। सभा सने यथायोग्य करिला मिलन ।।१२४।।
परमानन्दपुरीर कैल चरण–वन्दन। पुरीगोसाञि तांरे कैल प्रेम-आलिङ्गन ।।१२५।।
महाप्रभु दिल तांरे निभृते वासाघर। जलादि-परिचर्य्या लागि एक किंकर ।।१२६।।

इसके बाद श्रीजगदानन्द, श्रीमुकुन्द, श्रीशङ्कर, श्रीसार्वभौम आदि सब भक्तों को श्रीस्वरूप यथायोग्य मिले। फिर श्रीपरमानन्दपुरीजी के चरणों में वन्दना की और उन्होंने भी उन्हें प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया। महाप्रभुजीने उन्हें एकान्त निवास स्थान दिया और जलादि की सेवा के लिये एक सेवक भी नियुक्त कर दिया ।।१२४—१२६।।

आर दिन सार्वभौमादि भक्तगण सङ्गे। वसि आछेन महाप्रभु कृष्णकथा रङ्गे ।।१२७।।
हेन काले गोविन्देर हैल आगमन। दण्डवत् करि कहे विनय–वचन ।।१२८।।
ईश्वरपुरीरभृत्य—गोविन्द मोर नाम। पुरीगोसाञिर आज्ञाय आइनु तव स्थान ।।१२६।।
सिद्धिप्राप्ति–काले गोसाञि आज्ञा कैल मोरे। कृष्णचैतन्य-निकट रहि सेवह तांहारे ।१३०।
काशीश्वर आसिवेन तीर्थ देखिया। प्रभु-आज्ञाय तोमार पदे आइनु धाइया ।।१३१।।

दूसरे दिन श्रीसार्वभौमादि भक्तों के साथ श्रीमहाप्रभुजी बैठे हुए श्रीकृष्ण-कथा प्रसंग कह रहे थे। कि इतने में (श्रीईश्वरपुरीजी का सेवक) श्रीगोविन्द वहाँ आ पहुँचा और दण्डवत् प्रणाम करते हुए प्रार्थना करने लगा—"मैं श्रीईश्वरपुरीपाद का सेवक हूँ और गोविन्द मेरा नाम है। उनकी आज्ञा से आपके पास आया हूँ। देह त्याग करते समय मुझे श्रीपादईश्वरपुरीजी ने आज्ञा की थी कि तुम श्रीकृष्ण-चैतन्य के पास जाकर रहना और उनकी सेवा करना, और काशीश्वर (श्रीईश्वरपुरी का एक दूसरा सेवक) भी तीर्थयात्रा के बाद यहाँ आजायेगा, मैं तो प्रभुपाद की आज्ञा से आपके चरणों में चला आया हूँ ।।१२७–१३१।।

गोसाञि कहे–पुरीश्वर वात्सल्य करि मोरे। कृपा करि मोर ठाञि पाठाइला तोमारे ।१३२।
एत शुनि सार्वभौम प्रभुरे पूछिला—। पुरीगोसाञि शूद्र सेवक कांहेतो राखिला ।।१३३।।
प्रभु कहे—ईश्वर हय परम स्वतन्त्र। ईश्वरेर कृपा नहे वेद–परतन्त्र ।।१३४।।
ईश्वरेर कृपा जाति–कुलादि ना माने। विदुरेर घरे कृष्ण करिला भोजने ।।१३५।।
स्नेहलेशापेक्षा मात्र ईश्वर—कृपार। स्नेहवशहञा करे स्वतन्त्र आचार ।।१३६।।

मर्यादा हैते कोटिसुख स्नेह-आचरणे। परम आनन्द हय याहार श्रवणे ॥१३७॥
एत बलि गोविन्देरे कैल आलिङ्गन। गोविन्द करिल प्रभुर चरण—वन्दन ॥१३८॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"श्रीईश्वरपुरी मुझे अपना स्नेहपात्र समझते थे, इसीलिये मुझ पर कृपा करके उन्होंने तुम्हें मेरे पास रहने की आज्ञा की है (कारण कि तुम विश्वस्त तथा सेवा परिपाटा को अच्छी प्रकार जानने वाले सेवक हो।) सब बात सुनकर श्रीसार्वभौम ने प्रभु से पूछा—"श्रीईश्वरपुरी जी ने इस शूद्रजाति सेवक को क्यों रखा था?" प्रभु ने कहा—"सार्वभौम! ईश्वर परम स्वतन्त्र हैं। उनकी कृपा वेदों के पराधीन नहीं है। ईश्वर की कृपा जाति-कुलादि को नहीं मानती है। श्रीकृष्ण भगवान् ने श्रीविदुर (दासीपुत्र) के घर भोजन किया था कि नहीं? श्रीभगवान् की कृपा थोड़े से प्रेम की ही केवल अपेक्षा रखती है और वे प्रीति के वशीभूत होकर स्वतन्त्र आचरण करते हैं। वेद मर्यादानुकूल आचरण की अपेक्षा श्रीभगवान् प्रीतिपूर्वक आचरण में कोटिगुण अधिक सुख अनुभव करते हैं एवं उसके श्रवण से भी परम-आनन्द का अनुभव करते हैं।" इतना कहकर प्रभु ने गोविन्द का आलिंगन किया और गोविन्द ने भी प्रभु के चरणों में वन्दना की ॥१३१-१३८॥

चै० च० चु० *टीका*—'श्रीईश्वरपुरीजी के शूद्रजाति सेवक के अपनाने की कथा को सुनकर अथवा श्रीप्रभु ने भी उस शूद्रजाति गोविन्द को अपनाया—यह बात सुनकर वैष्णव समाज में स्वाभाविक शङ्का उठती है—उसका समाधान श्री महाप्रभु ने स्वयं यहाँ किया है। प्रभु ने कहा—"सार्वभौम! शूद्र की सेवा ग्रहण न करना संन्यासियों की एक सामाजिक प्रथा है। भगवत-धर्म के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी प्रथा एक लोक—धर्म है।

श्री भगवान् परम स्वतन्त्र हैं—उनकी कृपा भी परम स्वतन्त्र है। श्रीभगवान् और उनकी कृपा लोक धर्म तो क्या, वेदों के धर्म के आधीन भी नहीं हैं। ये दोनों जाति, कुल, विद्या-धन एवं मान की अपेक्षा नहीं रखते, केवलमात्र प्रेम की अपेक्षा रखते हैं। अर्थात् श्रीभगवान् परम स्वतन्त्र होते हुए भी जैसे भक्त के आधीन हैं, उसी प्रकार उनकी कृपा भी परम स्वतन्त्र होते हुए प्रेम के आधीन रहती है।

वह भगवत्-कृपा ही अनुग्रहशक्ति के रूप में भक्तों के शुद्धसत्त्व द्वारा उज्ज्वल चित्त में आविर्भूत होती है और वह जब दूसरे के प्रति भक्तों को प्रेरित करती है, तब भी वह कृपा अपने स्वरूपगत धर्म को अर्थात् लोकधर्म-वेदधर्म की अपेक्षा-हीनता और प्रेम की अपेक्षादि को त्याग नहीं करती और कर सकती भी नहीं। इसलिये भक्तों की कृपा भी वेदधर्म-लोकधर्म की अपेक्षा नहीं रखती, जाति, कुल, धन, मानादि की अपेक्षा भी नहीं रखती। कारण कि महत्-कृपा अर्थात् भक्तों की कृपा भी भक्तों के हृदय से निकली हुई वही ईश्वर कृपा ही तो है। वह अप्राकृत-शक्ति ही है, किन्तु ब्राह्मण-शूद्रादि तो प्राकृत शरीरों की संज्ञा है। जीव के स्वरूप की वह संज्ञा नहीं हैं। कृपा हुआ करती है देही के प्रति, न कि देह के प्रति। इसलिये भगवत्-कृपा या भक्त-कृपा जाति-कुलादि की अपेक्षा नहीं रखती है।

वस्तुतः जीव के स्वरूप के साथ ही भगवान् का सम्बन्ध है। श्रीभगवान् प्रभु हैं और जीव उनका दास है। जीव——मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष, लता, मनुष्यों में फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि किसी भी देह का आश्रय क्यों न करे, सदा श्रीभगवान् का दास ही है। इसलिये एकमात्र जीव-स्वरूप के इस सम्बन्ध-तत्त्व को एवं इस सम्बन्ध के प्रकट करने का मूल हेतु जो प्रेम है—उसकी महिमा दिखाने के लिये स्वयं भगवान् श्रीश्रीगौरसुन्दर ने भी उस गोविन्द को आलिङ्गन कर लिया।

सारांश यह है कि जाति का यदि कोई शूद्र है और उसमें श्रीभगवान् के प्रति दृढ़ प्रेम उदय हुआ

है अथवा उसके हृदय में भगवत्-भक्ति के प्रति शुद्ध प्रेम एवं शुद्ध सेवाभाव का उदय हुआ है एवं उसका आचरण भी भगवत्-भक्त एवं भगवत्-भक्त दास के स्वरूप के अनुकूल है तो वह श्रीभगवान् द्वारा अथवा भक्त पुरुषों द्वारा आलिङ्गन करने योग्य है। इसमें भगवत्-प्रेम अथवा भक्त-प्रेम तथा तदनुकूल आचरण की अटल शर्त्त आवश्यक है।

गोविन्द परम भागवत् श्रीईश्वरपुरी जी की सेवा तथा उनके सङ्ग से परम पवित्र हो चुका था, उसके चित्त की सर्वविधि मलीनता दूर ही हो चुकी थी और फिर परम भागवत् श्रीईश्वरपुरी जी उसपर अनुग्रह करते हुए उसे श्रीभगवान की सेवा में भेज रहे हैं, तो भक्तवत्सल स्वयं भगवान् परम करुणामय श्रीगौरसुन्दर उसे अङ्गीकार किये बिना क्या रह सकते थे ?—नहीं। इसलिये उन्होंने उसे आलिङ्गन किय और वह उनके चरणों पर प्रेमपूर्वक गिर पड़ा।

प्रभु कहे—भट्टाचार्य ! करह विचार। गुरुर किंकर हय मान्य से आमार ॥१३९॥
इहाके आपन सेवा कराइते ना जुयाय। गुरु आज्ञा दियाछेन, कि करि उपाय?॥१४०॥
भट्टाचार्य कहे—गुरु आज्ञा बलवान्। गुरु आज्ञा ना लङ्घिवे-शास्त्र परमाण ॥१४१॥

श्रीमहाप्रभु ने पूछा—"भट्टाचार्य ! थोड़ा और विचार कीजिये, जो व्यक्ति (गोविन्द) अपने गुरुदेव का सेवक रहा हो, वह तो हमारा भी मान्य एवं पूज्य हैं। इसलिये इससे (गोविन्द से) अपनी सेवा कराना सङ्गत नहीं है और इधर फिर श्रीगुरुमहाराज (श्रीईश्वरपुरीजी) ने इस गोविन्द की सेवा ग्रहण करने की आज्ञा दी है—यदि गुरु आज्ञा का पालन नहीं करते तो भी अपराध होता है; इस अवस्था में क्या उपाय है ?" सार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"प्रभो ! गुरु आज्ञा बलवान् है, गुरु आज्ञा का उलङ्घन नहीं करना चाहिये, शास्त्र इसमें प्रमाण हैं ॥१३९–१४१॥

चै० च० चु० *टीका*—इस स्थान पर लीलाधारी श्रीगौराङ्ग ज्ञानस्वरूप होकर भी भक्त सार्वभौमजी की महिमा बढ़ाते हुए गुरु-आज्ञा के सम्बन्ध में एक रहस्य का उद्घाटन करते हैं। श्रीगुरुदेव की आज्ञा किस रूप में कहाँ तक पालन करने योग्य है, इस बात का समन्वय करते हैं।

श्रीजीव गोस्वामीपाद ने (भक्ति सन्दर्भ २३८ में) लिखा है—"जो (गुरु) गर्हित (निन्दित) आचरण में लगे हुए हों, जो (गुरु) करने योग्य कार्य एवं न करने योग्य कार्य का ध्यान नहीं रखते एवं जो (गुरु) उत्पथगामी हैं—ऐसे गुरुवों का परित्याग करना ही सङ्गत है।" यहाँ श्रीगुरु के आचरण के सम्बन्ध में विचार किया गया है और इसी में फिर कहा है" जो गुरु अन्याय की बात कहते हैं अर्थात् असङ्गत आज्ञा करते हैं और जो शिष्य उसका पालन करता है—वे दोनों गुरु-शिष्य अनन्तकाल तक घोर नरक को भोगते हैं। यहाँ गुरु-आज्ञा का विचार किया गया है।

श्रीबलिमहाराज के दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने भगवान् वामन को अपने वचनानुसार दान देकर अपने गुरु शुक्राचार्य की आज्ञा का पालन नहीं किया और भगवत् कृपा को प्राप्त किया है, यदि वे गुरु आज्ञा का पालन करते तो भगवत्-कृपा से वञ्चित रह जाते। इससे ज्ञात होता है कि गुरु आज्ञा भी बिना विचार किये पालनीय नहीं है।

गुरु-आज्ञा निर्विचार पालनीय है—इसके प्रमाण एवं दृष्टान्त भी शास्त्र में मिलते हैं जैसा कि अगले श्लोक में कहेंगे। भगवान् श्रीपरशुराम जी ने अपने पिता जी की आज्ञा का निर्विचार पालन करते हुए अपनी माताजी का सिर काट डाला एवं श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी की आज्ञा पालन कर निर्दोष जगतमात श्रीजानकी जी को वन में पहुँचा दिया।

इन दोनों आदेशों का समन्वय यही है कि गुरुदेव की आज्ञा, जो शास्त्र-सम्मत है एवं भक्ति के अनुकूल है—उसमें अपने लाभ-अलाभ, सुख-दुख का विचार न करके सदा पालनीय है; किन्तु जो आज्ञा भक्ति की विरोधी है, शास्त्र-सम्मत नहीं है और न ही महत् पुरुषों द्वारा अनुमोदित है—वह अवश्य विचारणीय है अथवा अपालनीय है।

यहाँ तो श्रीसार्वभौम जानते थे कि श्रीमहाप्रभु परम स्वतन्त्र ईश्वर हैं, वे समस्त विधि-निषेध से परे हैं और फिर यह भी वे जानते थे कि ईश्वरपुरीजी की वह आज्ञा लोकाचार विरुद्ध दीखते हुए भी भक्ति विरोधी नहीं है—इसलिये उन्होंने प्रभु के आगे निवेदन किया कि "गुरु की आज्ञा उलङ्घन नहीं करनी चाहिये—" इसके समर्थन में उन्होंने निम्न श्लोक भी पढ़ा।

तथाहि रघुवंशे (१४-४६)—

स शुश्रुवान् मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात् प्रहृतं द्विषद्वत्।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तत् आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया ॥४॥

पिता के आदेश से श्रीपरशुराम ने अपनी माता के शिर को शत्रु की भाँति काट दिया था। इसे सुनकर श्रीलक्ष्मणजी ने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा (श्रीजानकीजी को बनमें जाकर त्याग करने की आज्ञा) को पालन किया, क्योंकि गुरुजनों की आज्ञा बिना विचार किये पालनीय है ॥४॥

चै० च० चु० *टीका*—इस श्लोक में श्रीपरशुरामजी तथा श्रीलक्ष्मणजी के आचरण के सम्बन्ध में कहा गया है। श्रीपरशुरामजी ने अपने पिता की आज्ञा पालन की—अपनी माता रेणुका में व्यभिचार को जानकर, जिससे समाज का स्वास्थ्य बिगड़ता है, इस दृष्टि को लेकर उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन किया। इससे समाज को यह शिक्षा मिलती है कि कोई भी व्यभिचारिणी नारी, चाहे वह माता ही क्यों न हो, अपनी सन्तान द्वारा भी दण्डनीय है, क्षमा करने योग्य नहीं है।

दूसरे—श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी की आज्ञा से श्रीजानकीजी को बन में जाकर त्यागने की आज्ञापालन की, इसमें केवल प्रजा के रञ्जन एवं प्रजा में सामाजिक एवं चरित्रगत विशुद्धता का ही दृष्टिकोण है। इसमें पति का एवं देवर का कर्त्तव्य उनके स्वरूप अनुकूल नहीं है, किन्तु एक राजा के स्वरूप से कर्त्तव्य की अक्षुणता की रक्षा की गई है। इससे श्रीरामजी की राजोचित गुणावली उज्ज्वलतर हो उठती है।

किन्तु उपरोक्त इन दोनों चरित्रों में जो गुरुजनों की आज्ञा पालन की गई है, इनमें कोई भी भगवत्–सम्बन्धी विषय नहीं है, और न ही यह श्लोक भक्तिशास्त्र में से उद्धृत किया गया है। किन्तु श्रीजीवगोस्वामीजी ने जो व्यवस्था उल्लिखित की है जिसे पयार नं० १४१ की टीकान्तर्गत वर्णन किया जा चुका है, वह भगवत् सम्बन्धीय व्यवस्था है। भगवत्-प्राप्ति के पथ पर चलने वाले एक साधक के लिये उसका विशेष मूल्यांकन किया जा सकता है।

तबे महाप्रभु तांरे कैल अङ्गीकार। आपन श्रीअङ्ग-सेवाय दिल अधिकार ॥१४२॥
'प्रभुर प्रियभृत्य' करि सभे करे मान। सकल वैष्णवेर गोविन्द करे समाधान ॥१४३॥
छोट बड़ कीर्त्तनीया दुइ हरिदास। रामाइ नन्दाइ रहे गोविन्देर पाश ॥१४४॥
गोविन्देर सङ्गे करे प्रभुर सेवन। गोविन्देर भाग्यसीमा न याय वर्णन ॥१४५॥

इस प्रकार श्रीसार्वभौमजी के बचन सुनकर श्रीमहाप्रभु ने श्रीगोविन्द को अङ्गीकार कर लिया और अपने श्रीअङ्ग की सेवा का अधिकार उसे सौंप दिया। श्रीगोविन्द को प्रभु का प्यारा सेवक जानकर सब उसका आदर करते थे और श्रीगोविन्द भी सब वैष्णवों का प्रयोजनीय कार्य निर्वाह करते थे। श्रीमहाप्रभु के साथ दो कीर्त्तनीया थे—एक छोटे हरिदासजी, तथा दूसरे बड़े हरिदास ठाकुर थे, और श्रीगोविन्द के अनुगत में प्रभु की सेवा के लिये रामाई एवं नन्दाई और रहते थे, जो श्रीगोविन्द के साथ साथ श्रीमहाप्रभु की सेवा किया करते थे। श्रीगोविन्द प्रभु के प्रधान सेवक थे, अतः उन के भाग्यों की महिमा कौन वर्णन कर सकता है ? ॥१४२-१४५॥

आरदिन मुकुन्ददत्त कहे प्रभुर स्थाने-। ब्रह्मानन्द भारती आइला तोमार दर्शने ॥१४६॥
आज्ञा देह यदि, तांरे आनिये एथाइ। प्रभु कहे—गुरु तेंहो, याव तांर ठाञि ॥१४७॥
एत बलि महाप्रभु सब भक्त—सङ्गे। चलि आइला ब्रह्मानन्द-भारतीर आगे ॥१४८॥
ब्रह्मानन्द परियाछे मृग—चर्माम्बर। ताहा देखि प्रभुर दुख हइल अन्तर ॥१४९॥

दूसरे दिन श्रीमुकुन्ददत्त ने प्रभु से आकर कहा कि "श्रीब्रह्मानन्द भारती नीलाचल में आपके दर्शन करने आए हैं, यदि आपकी आज्ञा हो तो उन्हें यहाँ ले आऊँ"। श्रीमहाप्रभु ने कहा—"वे तो मेरे गुरु स्थानीय हैं, मैं उनके दर्शन उनके स्थान पर ही जाकर करूँगा। (श्रीब्रह्मानन्द भारती श्रीमाधवेन्द्र पुरी के शिष्य थे और श्रीईश्वरपुरी के गुरु भाई थे, अतः श्रीमहाप्रभुजी ने उन्हें भी अपना गुरु स्थानीय बतलाया।) इतना कहकर श्रीमहाप्रभु सब भक्तों को साथ लेकर श्रीब्रह्मानन्द भारती के पास आए। श्रीब्रह्मानन्दजी मृगछाला ओढ़ रहे थे, जिसे देखकर प्रभु को मनमें बहुत दुःख हुआ ॥१४६-१४९॥

देखियाओ छद्म कैल, येन देखि नाइ। मुकुन्देरे पूछे—कोथाय भारतीगोसाञि ? ॥१५०॥
मुकुन्द कहे—एइ आगे देख विद्यमान। प्रभु कहे—तेंहो नहे, तुमि अगेयान ॥१५१॥
अन्येरे अन्य कहे, नाहि तोमार ज्ञान। भारती गोसाञि केने परिवेन चाम ? ॥१५२॥
शुनि ब्रह्मानन्द करे हृदये विचारे—। मोर चर्माम्बर एइ न भाय इंहारे ॥१५३॥

प्रभु ने उन्हें देखकर ऐसा बहाना किया कि मानों उन्होंने भारतीजी को देखा ही नहीं, और श्रीमुकुन्द से पूछने लगे—"भारतीगोस्वामी कहाँ हैं ?" श्रीमुकुन्द ने कहा—"यह सामने बैठे तो हैं !" प्रभु ने कहा—"ये वे नहीं हैं, तुम्हें अज्ञान हुआ है, दूसरे व्यक्ति को दूसरा बता रहे हो, तुम भारतीजी को जानते ही नहीं, भारतीगोस्वामी भला चाम क्यों धारण करने लगे ?" यह बात सुनकर ब्रह्मानन्द भारती मनमें विचार करने लगे कि प्रभु को उनका चर्माम्बर धारण करना अच्छा नहीं लगा ॥१५०-१५३॥

भाल कहे, चर्माम्बर दम्भ लागि परि। चर्माम्बर-परिधाने संसार ना तरि ॥१५४॥
आजि हैते ना परिव एइ चर्माम्बर। प्रभु बहिर्वासा आनाइला जानिञा अन्तर॥१५५॥
चर्म छाड़ि ब्रह्मानन्द परिल वसन। प्रभु आसि कैल तांर चरण-वन्दन ॥१५६॥
भारती कहे—तोमार आचार लोक शिखाइते। पुन ना करिवे नति,भय पाङ् चित्ते ॥१५७॥

श्रीब्रह्मानन्दजी ने विचार किया कि श्रीमहाप्रभु ठीक ही तो कह रहे हैं। चर्माम्बर (अपना त्याग दिखाने के लिये) दम्भ करके ही तो धारण कर रहा हूँ, किन्तु केवल चर्माम्बर पहन लेने से तो कोई संसार से उद्धार नहीं पा सकता। उन्होंने निश्चय किया कि वे आज से चर्माम्बर नहीं पहिना

करेंगे।'' श्रीमहाप्रभुजी ने अन्तर्यामी रूप से उनके मन की बात जान ली और एक बहिर्वास (कमर में पहरने का वस्त्र) माँग लिया। श्रीब्रह्मानन्दजी ने चर्म को छोड़ दिया और उस बहिर्वास को धारणकर लिया। ज्योंही उन्होंने चर्म को त्याग कर बहिर्वास पहरा, प्रभु ने आगे बढ़कर उनके चरणों में वन्दना की। श्रीभारती ने कहा—''आपका सब आचरण लोगों को शिक्षा देने के लिये ही है। आपने मुझे अब तो नमस्कार किया है किन्तु दोबारा वन्दना नहीं करियेगा, मैं अपराध से डरता हूँ ॥१५४-१५७॥

सम्प्रतिक दुइ ब्रह्म इहाँ चलाचल। जगन्नाथ अचल ब्रह्म-तुमि त सचल ॥१५८॥
तुमि गौरवर्ण-तेंहो श्यामल-वरण। दुइ ब्रह्मे कैल सब जगत्-तारण ॥१५९॥
प्रभु कहे—सत्य कह, तोमार आगमने। दुइ ब्रह्म प्रकटिला श्रीपुरुषोतमे ॥१६०॥
ब्रह्मानन्द-नाम तुमि गौर ब्रह्म चल। श्यामब्रह्म जगन्नाथ बसि आछे अचल ॥१६१॥

श्रीभारती ने आगे कहा—''इस समय सचल ब्रह्म (चलने-फिरने वाला ब्रह्म) और अचल ब्रह्म (स्थिर, न चलने-फिरने वाला ब्रह्म)—ये दोनों यहाँ विद्यमान हैं। श्रीजगन्नाथजी तो अचल ब्रह्म हैं और फिर आप सचल ब्रह्म हो। आपका तो गौरवर्ण है और वे श्यामवर्ण हैं। दोनों ब्रह्म जगत्-जीवों का उद्धार करने के लिये यहाँ विद्यमान हैं। (श्रीजगन्नाथजी अपने दर्शनों से जगत् जीवों का उद्धार करते हैं, और आप जीवों को श्रीकृष्णनाम एवं प्रेम प्रदान करके उनका उद्धार कर रहे हैं)''। श्रीमहाप्रभु ने भी चतुराई से उत्तर दिया कि—''हाँ, आपने सत्य कहा है, आपके यहाँ आगमन से श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में अब दोनों ही ब्रह्म प्रकट हैं। आपका नाम ब्रह्मानन्द है और आपका वर्ण भी गौर है, इसलिये आप तो गौर-ब्रह्म सचल हैं और श्याम ब्रह्म श्रीजगन्नाथजी तो पहले यहाँ विराजमान ही हैं ॥१५८-१६१॥

भारती कहे—सार्वभौम ! मध्यस्थ हइया। इँहार सह आमार न्याय बूझ मन दिया ॥१६२॥
व्याप्य-व्यापक-भावे जीव ब्रह्म जानि। जीव व्याप्य, ब्रह्मव्यापक शास्त्रेते बाखानि ॥१६३॥
चर्म घुचाइया कैले आमार शोधन। दोंहार व्याप्य-व्यापकत्वे एइ त कारण ॥१६४॥

श्रीभारती ने कहा—''सार्वभौम ! आपही हमारे मध्यस्थ होकर मनमें सोच-समझकर हमारा न्याय कीजिये। जीव व्याप्य अर्थात् नियन्त्रित है और ब्रह्म व्यापक अर्थात् नियन्ता है—यही जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध है, और शास्त्रों में भी यही बात कही गई है। देखिये, इन्होंने मेरे चर्माम्बर को छुड़ाकर मेरा शोधन किया है और मैंने उसे स्वीकार भी किया है अर्थात् इन्होंने नियन्ता होकर मुझे नियन्त्रित किया है—इसलिये मैं व्याप्य (नियन्त्रित) हूँ अर्थात् जीव हूँ और ये व्यापक (नियन्ता) अर्थात् ब्रह्म हैं ॥१६२-१६४॥ और सार्वभौम ! ये ब्रह्म हैं—इसका प्रमाण भी मैं देता हूँ।

महाभारते दानधर्मे, विष्णुसहस्रनामस्तोत्र (१२७-७५)—

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्ग श्चन्दनाङ्गदी।
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठाशान्ति परायणः ॥५॥

श्रीविष्णुसहस्रनाम स्तोत्र में श्रीभगवान् के नामों का उल्लेख करते हुए कहा है—'कृ'-'ष्ण'—ये दोनों सुन्दर वर्ण वर्णन करने से श्रीभगवान् का नाम 'सुवर्ण-वर्ण' है, उनके अङ्गों की कान्ति सोने के समान उज्ज्वल है—अतः उन्हें 'हेमाङ्ग' कहते हैं। उनके अङ्ग श्रेष्ठ होने से उन्हें 'वराङ्गद' कहा गया है, वे चन्दन के अङ्गद धारण करते हैं—अतः वे 'चन्दनाङ्गदी' हैं, संन्यास ग्रहण करने से वे 'संन्यासी' हैं और भगवन्निष्ठ-बुद्धि होने से उनका नाम 'शम' है। अचञ्चल चित्त होने से उन्हें 'शान्त' कहा गया है

और श्रीकृष्ण-भक्ति में निष्ठा एवं निवृत्ति-परायण होने से उनका नाम 'निष्ठाशान्ति परायण' है। (विशेष आदि-लीला पृष्ठ ६२ पर द्रष्टव्य है) ॥५॥

एइ सब नामेर इंहो हय निजास्पद। चन्दनाक्त प्रसाद-डोर श्रीभुजे अङ्गद ॥१६५॥
भट्टाचार्य कहे भारती देखि तोमार जय। प्रभु कहे येइ कह सेइ सत्य हय ॥१६६॥
गुरु-शिष्य न्याये सत्य शिष्य--पराजय। भारती कहे एहो नहे अन्य हेतु हय ॥१६७॥
भक्त ठांइ तुमि हार ए तोमार स्वभाव। आर एक शुन तुमि आपन प्रभाव ॥१६८॥

श्रीभारती ने कहा—"इन आठों नामों के आप ही तो स्थान हैं। आप श्रीजगन्नाथजी की चन्दन से लेपित डोर को अङ्गदों की भाँति भुजाओं में धारण करते हैं—इसलिये भी आपका नाम चन्दनाङ्गदी है"। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"भारती ! मुझे तुम्हारी ही जीत दीखती है अर्थात् श्रीप्रभु ही सचल ब्रह्म हैं। श्रीमहाप्रभु ने झट अर्थ फिराते हुए कहा—"सार्वभौम ! आप जो कहते हैं—वह सत्य है। गुरु और शिष्य के विवाद में सच्चा न्याय यही है कि शिष्य की ही पराजय होती है। अर्थात् भारती गुरु स्थानीय हैं और मैं शिष्य हूँ, जय तो इन की ही सङ्गत है।" श्रीभारती ने कहा—"आपकी हार का एक और कारण है। भक्त के आगे आपकी सदैव हार होती है—यह आपका स्वभाव है। अपनी महिमा की एक और बात सुनिये ॥१६५-१६८॥

आजन्म करिल आमि निराकार ध्यान। तोमा देखि कृष्ण हैइला मोर विद्यमान ॥१६९॥
कृष्ण-नाम मुखे स्फुरे मने नेत्रे कृष्ण। तोमाके तद्रूप देखि हृदय सतृष्ण ॥१७०॥
विल्वमङ्गल कहिल यैछे दशा आपनार। इंहा देखि सेइ दशा हइल आमार ॥१७१॥

श्रीभारती ने कहा—"मैंने अपने जीवन में अब तक निराकार का ध्यान किया है, आपके दर्शन करते ही मुझे ऐसा अनुभव होता है, मानों साक्षात् श्रीकृष्ण मेरे सामने खड़े हैं। मेरे मुख में स्वतः श्रीकृष्ण-नाम की स्फूर्ति हो रही है, हृदय में एवं नेत्रों में श्रीकृष्ण ही स्फुरित हो रहे हैं, और आप ठीक वही श्रीकृष्ण ही मुझे दीख रहे हो और आपके स्वरूप-माधुर्य को आस्वादन करने के लिये मेरा मन सतृष्ण हो रहा है। श्रीविल्वमङ्गल ने अपनी जो दशा वर्णन की है, मैं देखता हूँ, मेरी भी वहीं दशा हो रही है।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (३-१-२०)

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वानन्द—सिंहासन लब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधु विटेन ॥६॥

हम अद्वैतपथ के पथिकगणों के आराध्य थे एवं निजानन्द-सिंहासन पर पूजा प्राप्त किया करते थे, अहो ! किसी गोपवधु-लम्पट शठ ने बलपूर्वक हमें अपना दास कर लिया है ॥६॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीबिल्वमङ्गलजी कहते हैं, अद्वैत-मार्ग अर्थात् निर्भेद-ब्रह्मानुसंधान मार्ग के जो साधक हैं, उनमें मैं सर्वप्रधान था—इसलिये और सब मेरी आराधना-पूजा करते थे, और निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धान करने वालों की चरमतम काम्य-वस्तु है—ब्रह्मानुभव। उस ब्रह्मानुभव जनित आनन्द को उपभोग करने से मुझे अन्यान्य समस्त ज्ञानमार्ग के साधक श्रद्धासहित पूजते थे, किन्तु अब कैसा आश्चर्य ? कि गोपवधुलम्पट— कोटि-कोटि मन्मथ-मन्मथ-मदन गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण ने अपने सौन्दर्य-माधुर्य को दिखाकर मुझे बरबश अपना दास ही बना लिया है। वास्तव में निर्विशेष, निराकार ब्रह्मके अनुभवानन्द

में तभी तक शुष्क ज्ञानियों के मन लवलीन रहते हैं अथवा तब तक वे अपने को कृतार्थ मानते हैं जब तक उन्हें कोटि मन्मथ-मन्मथ-मदन रसराज-मूर्त्ति सच्चिदानन्द घन-विग्रह पीताम्बरधारी मुरलीमनोहर रसिक-चूड़ामणि गोपीजनवल्लभ श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की मधुर-मुस्कान भरी असमोर्द्ध सौन्दर्य-माधुर्यमयी झलक नहीं दीख पड़ती। स्वीय करुणामय स्वभाव से वे अगाध करुणासागर भक्तवत्सल अपनी श्रीनख-चन्द्र ज्योति को जब किसी के हृदय में विकीर्ण करते हैं, फिर वह सब योग ज्ञान भूलकर उनके कोमल सरस चरणारविन्द के मकरन्द को ही पान करने के लिये उन्मत्त हो उठता है। इसी अवस्था को श्रीभारतीजी ने उक्त श्लोक में वर्णन किया है।

प्रभु कहे—कृष्णे तोमार गाढ़ प्रेमा हय। याहां नेत्र पड़े ताहां श्रीकृष्ण स्फुरय ॥१७२॥
भट्टाचार्य कहे--दोंहार सुसत्य वचन। आगे यदि कृष्ण देन साक्षात् दर्शन ॥१७३॥
प्रेम बिना कभु नहे तांर साक्षात्कार। इंहार कृपाते हय दर्शन इंहार ॥१७४॥
प्रभु कहे--'विष्णु विष्णु' कि कह सार्वभौम। अतिस्तुति हय एइ निन्दार लक्षण ॥१७५॥

श्रीमहाप्रभु ने श्रीभारतीजी के वचन सुनकर कहा—"आपकी श्रीकृष्ण में गाढ़ प्रेमाभक्ति है जिसके कारण जहाँ-जहाँ आपकी दृष्टि पड़ती है, वहाँ-वहाँ आपको श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति होती है"। श्रीसार्वभौमजी ने कहा—"आप दोनों के वचन ही सत्य हैं। कारण कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् सामने उपस्थित हैं, तो यह साक्षात्कार बिना गाढ़ प्रेमा-भक्ति के नहीं हुआ करता। और इन्हीं की (श्रीकृष्णचैतन्यदेव की) कृपा से ही इनके साक्षात् श्रीकृष्णस्वरूप के दर्शन हो सकते हैं।" यह वचन सुनते ही श्रीमहाप्रभु आत्मगोपन करते हुए बोल उठे—"विष्णु-विष्णु"—सार्वभौम ! यह आप क्या कह रहे हो ? अति स्तुति करना भी निन्दा का लक्षण होता है ॥१७२–१७५॥

एत बलि भारती लञा निज वासा आइला। भारती गोसाञि प्रभुर निकट रहिला ॥१७६॥
रामभद्राचार्य्य आर भगवान् आचार्य। प्रभु-पाशे रहिला दोंहे छाड़ि अन्य कार्य ॥१७७॥
काशीश्वर गोसाञि आइला आर दिने। सम्मान करिञा प्रभु राखिल निजस्थाने ॥१७८॥
प्रभुरे करान लञा ईश्वर-दर्शन। आगे लोक भीड़ सब करे निवारण ॥१७९॥

इतना कहकर प्रभु श्रीभारतीजी को अपने साथ अपने निवास-स्थान पर ले आये और श्रीभारतीजी प्रभु के निकट ही वहाँ रहने लगे। श्रीरामभद्राचार्य तथा श्रीभगवान् आचार्य, ये दोनों अन्य समस्त कार्य छोड़कर श्रीप्रभु के पास ही रहने लगे। दूसरे दिन श्रीकाशीश्वर गोस्वामी, जो श्रीईश्वरपुरीजी के शिष्य थे, वे भी प्रभु के पास आ पहुँचे। श्रीमहाप्रभु ने उन्हें भी सम्मानपूर्वक अपने पास स्थान दे दिया। जिस समय श्रीमहाप्रभु श्रीजगन्नाथजी के दर्शनों को जाते तो श्रीकाशीश्वर उनके आगे-आगे चलकर लोगों की भीड़भाड़ को हटाकर प्रभु के लिये रास्ता बनाते चलते थे ॥१७६—१७९॥

यत नद नदी यैछे समुद्रे मिलय। ऐछे महाप्रभुर भक्त याहां ताहां हय ॥१८०॥
सबे आसि मिलिला प्रभुर श्रीचरणे। प्रभु कृपा करि सभारे राखिला निजथाने ॥१८१॥
एइत कहिल प्रभुर वैष्णव-मिलन। इंहा येइ शुने पाय चैतन्य-चरण ॥१८२॥
श्रीरूप—रघुनाथ—पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१८३॥

कविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामीपाद कहते हैं—जितने नद और नदियाँ हैं—वे सब जैसे समुद्र में आकर मिलते हैं, उसी प्रकार श्रीमहाप्रभु के जितने भी भक्त जहाँ-तहाँ थे, सब आकर प्रभु के चरणों में आ मिले, और प्रभु ने भी कृपा करके सबको अपने वासस्थान पर रख लिया। यहाँ तक श्रीमहाप्रभुजी के साथ समस्त वैष्णवों के मिलने की कथा का वर्णन किया गया है, जो इसको श्रद्धापूर्वक सुनेंगे, उन्हें श्रीचैतन्यदेव के चरणों की प्राप्ति होगी। श्रीरूपगोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥१८० – १८३॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य-लीलायां

वैष्णव मिलनं—नाम

दशम परिच्छेदः ॥१०॥

जयगौर

मध्य-लीला

एकादश परिच्छेद

★

अत्युद्दण्डं ताण्डवं गौरचन्द्रः कुर्वन् भक्तैः श्रीजगन्नाथगेहे ।
नानाभावालङ्कृताङ्गः स्वधाम्ना चक्रे विश्वं प्रेमवन्यानिमग्नम् ॥१॥

श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर की परिक्रमा करते समय भक्तगणों के सहित अति-उद्दण्ड (दोनों भुजाओं को ऊपर उठाकर शरीर को दण्ड-वत् करके) ताण्डव-नृत्य करते-करते नाना भावों से विभूषित होकर (जिन) श्रीगौराङ्गचन्द्र ने स्वमाधुर्य-प्रभाव से समस्त विश्व को प्रेमवन्या में निमग्न कर दिया (उनको मैं नमस्कार करता हूँ ।) ॥१॥

चै० च० चु० *टीका*—इस एकादश परिच्छेद में राजा प्रतापरुद्र को दर्शन देने के लिये जिस प्रकार श्रीसार्वभौमजी ने श्रीमहाप्रभु से अनुरोध किया तथा श्रीमहाप्रभु ने उसका जो उत्तर दिया एवं श्रीरामानन्दराय का नीलाचल आगमन, श्रीअद्वैतादि गौड़ीय-भक्तगणों का रथयात्रा के उपलक्ष्य में नीलाचल-आगमन तथा भक्तगणों के साथ मिलकर श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर की परिक्रमा करते हुए श्रीमहाप्रभुजी ने नाना भावों से विभूषित होकर जो अति उदण्ड ताण्डव नृत्य किया — उन समस्त चरित्रों का वर्णन किया गया है ।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
आर दिन सार्वभौम कहे प्रभुस्थाने । अभयदान देह, तबे करि निवेदने ॥२॥
प्रभु कहे—कह तुमि किछु नाहि भय । योग्य हैले करिव, अयोग्य हैले नय ॥३॥

श्रीचैतन्यचन्द्र की जय हो, जय हो । श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, श्रीअद्वैताचार्य प्रभु की जय हो । श्रीगौर-भक्तवृन्द की जय हो । एक दिन श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यजी ने श्रीमहाप्रभुजी से कहा—"यदि आप रुष्ट न हों तो प्रभो ! मैं एक प्रार्थना करूँ ?" प्रभु ने कहा—"सार्वभौम ! कहिये, कुछ भय मत करिये । आपकी जो सङ्गत बात होगी, उसे अवश्य करूंगा, किन्तु असङ्गत बात के लिये न कर दूंगा ।।"

सार्वभौम कहे—एइ प्रतापरुद्रराय । उत्कण्ठित हाञा तोमा मिलिवारे चाय ॥४॥
कर्णे हस्त दिया प्रभु स्मरे 'नारायण' । सार्वभौमे कहे–कह अयोग्य वचन ॥५॥
संन्यासी विरक्त आमार राज-दरशन । स्त्री--दरशन--सम विषेर–भक्षण ॥६॥

श्रीसार्वभौमजी ने कहा—"प्रभो ! राजा प्रतापरुद्रराय आपके दर्शनों के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है ।" इतना सुनते ही श्रीमहाप्रभुजी ने कानों को हाथों से बन्द करते हुए 'नारायण' 'नारायण'

ऐसा स्मरण किया और श्रीसार्वभौम से कहा—"तुमने असङ्गत बात कही है। मुझ विरक्त संन्यासी के लिये राजा का दर्शन करना तो स्त्री-दर्शन के समान विष-भक्षण करना है ॥४–६॥ (इसके प्रमाण में निम्न लिखित श्लोक उद्धृत करते हैं)—

तथाहि श्रीचैतन्यचन्द्रोदयनाटके (८-२७)—

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य ।
सन्दर्शनं विषयिणामथ योषिताञ्च हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु ॥२॥

संसार-समुद्र से पार जाने की इच्छा से, जिन्होंने विषय-भोग परित्याग कर दिया है और निष्किञ्चन होकर जो भगवद्-भजन में लगे हुए हैं, उनके लिये—हाय ! हाय !! विषयी पुरुषों का एवं स्त्रियों का देखना विष खा लेने से भी अधिक हानिकारक है ॥२॥

सार्वभौम कहे—सत्य तोमार वचन । जगन्नाथ-सेवक राजा किन्तु भक्तोत्तम ॥७॥
प्रभु कहे-तथापि राजा कालसर्पाकार । काष्ठनारीस्पर्शे यैछे उपजे विकार ॥८॥

श्रीसार्वभौम ने कहा—"आपके वचन सत्य हैं; किन्तु राजा प्रतापरुद्र तो श्रीजगन्नाथजी का सेवक एवं प्रधान भक्त है।" प्रभु ने कहा—"कुछ भी हो, राजा काले सर्प का आकार होता है, अर्थात् कपड़े या लकड़ी का काला सर्प पड़ा हो, तो भी उससे भय लगता ही है। चाहे लकड़ी की स्त्रीमूर्त्ति क्यों न हो, उसे देखकर भी चित्त चञ्चल हो जाता है। (अतः चाहे राजा भक्त है किन्तु उसका राजवेश, राजोचित आचार-व्यवहार देखने से भय एवं विषयासक्ति के उदय होने की सम्भावना होती है) ॥७–८॥ (उसका प्रमाण कहते हैं):—

तथाहि श्रीचैतन्यचन्द्रोदयनाटके (८-२८)—

आकारादपि भेतव्यं स्त्रीणां विषयिणामपि ।
यथाहेर्मनसः क्षोभस्तथा तस्याकृतेरपि ॥३॥

स्त्रियों की और विषयासक्त पुरुषों की मूर्त्ति से भी (चाहे वह कागज पर छपी हों या मिट्टी आदि की बनी हों, भजनशील पुरुषों को) भय उत्पन्न होता है, जैसे सर्प से मनमें क्षोभ होता है वैसे ही उसकी आकृति से भी भय उत्पन्न होता है ॥३॥

ऐछे बात पुनरपि मुखे ना आनिवे । पुन यदि कह, आमा एथा ना देखिवे ॥९॥
भय पाञा सार्वभौम निजघरे गेला । हेनकाले प्रतापरुद्र पुरुषोत्तमे आइला ॥१०॥
रामानन्दराय आइला गजगति–सङ्गे । प्रथमेइ प्रभुरे आसि मिलिलेन रङ्गे ॥११॥
राय प्रणति कैल, प्रभु कैल आलिङ्गन । दुइजने प्रेमावेशे करेन क्रन्दन ॥१२॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सार्वभौम ! ऐसी बात फिर कभी आप मुझसे नहीं कहना, यदि फिर आप (राजा के मिलने की) ऐसी बात कहोगे तो मुझे फिर यहाँ नहीं पाओगे—मैं यहाँ से अन्यत्र चला जाऊँगा ॥" श्रीसार्वभौमजी भयभीत होकर चुपके से अपने घर चले आए और इधर राजा प्रतापरुद्र भी अपनी राजधानी कटक से जगन्नाथपुरी में आ पहुँचे। उनके साथ रायरामानन्द भी आए। ('गजपति'—राजा प्रतापरुद्र की उपाधि थी) रायरामानन्द पुरी में आते ही सर्वप्रथम श्रीमहाप्रभु से मिलने आए। राय ने प्रभुके चरणों में प्रणाम किया और प्रभुने उन्हें आलिङ्गन किया। दोनों जने प्रेमावेश में रोने लगे।

राय सने प्रभुर देखि स्नेह-व्यवहार। सब भक्तगण मने हैल चमत्कार ॥१३॥
राय कहे--तोमार आज्ञाय राजाके कहिल। तोमार इच्छाय राजा मोरे विषय छाड़ाइल ॥
आमि कहिल—आमा'हैते ना हय विषय। चैतन्यचरणे रहों, यदि आज्ञा हय ॥१५॥
तोमार नाम शुनि राजा आनन्दित हैला। आसन हैते उठि मोरे आलिङ्गन कैला ॥१६॥
तोमार नाम शुनि हैल महाप्रेमावेशे। मोर हाथे धरि कहे पीरिति--विशेषे—॥१७॥

रायरामानन्दजी के साथ प्रभु की इस प्रकार प्रीति देखकर सब भक्तों के मन को महा चमत्कार हुआ। राय ने कहा—"प्रभो ! मैंने आपकी आज्ञा को (नीलाचल आने की आज्ञा को) राजा से कहा था और आपकी इच्छा के प्रभाव से राजा ने मुझे अवकाश दे दिया है। मैंने राजा प्रतापरुद्र से कहा—"अब मुझसे विषय-कर्म न हो सकेगा, यदि आपकी आज्ञा हो तो जाकर श्रीचैतन्यदेव के चरणों में रहूँ।" बस आपका नाम सुनते ही राजा बहुत आनन्दित हुआ और आसन से उठकर उसने मुझे आलिङ्गन किया। आपका नाम सुनते ही उसे तो महाप्रेमावेश होगया और मेरा हाथ पकड़कर विशेष प्रीति-पूर्वक वह ऐसे कहने लगा—॥१३-१७॥

तोमार ये वर्त्तन, तुमि खाइ से वर्त्तन। निश्चिन्त हइया सेव प्रभुर चरण ॥१८॥
आमि छार योग्य नहि तांर दरशने। तांरे येइ सेवे, तार सफल जीवने ॥१९॥
परम कृपालु तेंहो व्रजेन्द्रनन्दन। कोन जन्मे मोरे अवश्य दिवेन दर्शन ॥२०॥
ये तांहार प्रेम-आर्त्ति देखिल तोमाते। तार एक लेश प्रीति नाहिक आमाते ॥२१॥

राजा प्रतापरुद्र ने मुझसे कहा कि—"जो तुम वेतन लिया करते हो, वह वेतन बराबर तुम्हें मिलता रहेगा, तुम निश्चिन्त होकर प्रभु की चरण-सेवा जाकर करो"। "प्रभो ! राजा ने यह भी कहा कि मैं ऐसा हतभाग्य हूँ कि उनके दर्शनों के योग्य नहीं हूँ। जो उनकी सेवा करता है, सफल-जीवन उसी का है। वे परम कृपालु साक्षात् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन हैं, किसी न किसी जन्म में तो मुझे अवश्य दर्शन देंगे ही।" रामानन्द ने कहा—"प्रभो ! जितनी प्रीति एवं विनय आपके प्रति राजा प्रतापरुद्र की मैंने देखी, उस प्रीति का तो लेशमात्र भी मुझमें नहीं है" ॥१८-२१॥

प्रभु कहेन—तुमि कृष्णभक्त प्रधान। तोमारे ये प्रीति करे से-इ-भाग्यवान् ॥२२॥
तोमाके एतेक प्रीति हइल राजार। एइ गुणे कृष्ण तारे करिबे अङ्गीकार ॥२३॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"राय ! तुम श्रीकृष्ण के प्रधानभक्त हो, जो तुम्हारे में प्रीति करता है (भक्त में प्रीति करता है) वही भाग्यवान् है। तुम्हारे में राजा की इतनी प्रीति है, तो इसी गुण से श्रीकृष्ण उसे अवश्य अङ्गीकार करेंगे ॥२२-२३॥ (क्योंकि शास्त्र कहता है कि)—

तथाहि लघुभागवतामृतेः उत्तरखण्डे (६) आदि पुराणवचनम्—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः
मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः ॥४॥

श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है—"हे अर्जुन ! जो केवल मेरे ही भक्त हैं (किन्तु मेरे भक्तों के प्रति जिनकी प्रीति नहीं है) वे मेरे (श्रेष्ठ) भक्त नहीं है; परन्तु जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, वे ही मेरे श्रेष्ठ भक्त हैं ॥४॥ (श्रीमद्भागवतजी में भी कहा है)—

तथाहि (भाः ११—१९—२१,२२)—

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥५॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ॥६॥

श्रीभगवान् ने उद्धवजी से कहा है—"मेरी पूजामें प्रीति, सर्वाङ्ग से मेरा अभिवन्दन (नमस्कार), मेरी पूजा करना—इन सबसे श्रेष्ठ मेरे भक्तों की पूजा करना है, समस्त प्राणियों में मेरा अस्तित्व मानना, मेरे लिये ही सब शरीर की चेष्टाएँ करना एवं वाक्य द्वारा मेरे गुण-गान करना—(ये समस्त मेरी पूजा की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, कारण कि इनसे ही मेरी भक्ति उदय होती है) ॥५-६॥

तथाहि लघुभागवतामृते उत्तरखण्डे (४) पद्मपुराणवचनम्—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम् ।
तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम् ॥७॥

श्रीमहादेवजी ने पार्वतीजी के प्रति कहा है कि "हे देवि ! समस्त देवी-देवताओं की आराधना की अपेक्षा श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) की आराधना सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु उससे भी (श्रीविष्णु की आराधना से भी) उनके भक्तों की आराधना अधिकतर श्रेष्ठ है ॥७॥

चैं० च० चु० टीका—समस्त देवी-देवताओं की आराधना से श्रीकृष्ण की आराधना-सर्वश्रेष्ठ है—इसका कारण यह है कि समस्त देवी-देवताओं का मूल-कारण श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् ही हैं। जैसे वृक्ष के मूल में पानी सींचने से लता-पता अपने आप परिपुष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-आराधना से ही सब देवी-देवताओं की पूजा अपने आप हो जाती है।

दूसरा कारण यह भी है, श्रीकृष्ण ही प्रेमभक्ति प्रदान कर सकते हैं किन्तु अन्यान्य देवी-देवता प्रेम-भक्ति नहीं दे सकते; अधिक से अधिक मुक्ति एवं वैकुण्ठ प्रदान कर सकते हैं। इसलिये भी श्रीकृष्ण-आराधना सर्वश्रेष्ठ कही गई है। फिर श्रीकृष्ण अपने भक्त की भक्ति करता हुआ किसी को देखकर इतने अत्यधिक संतुष्ट होते हैं, कि उतनी प्रसन्नता उन्हें अपनी पूजा से भी नहीं होती। इसलिये भक्त की आराधना अधिक श्रेष्ठ कही गई है। भक्त तो श्रीकृष्ण को ही देने वाले हैं, विशेषतः जब तक भक्त की कृपा प्राप्त न हो, भगवत्-कृपा भी प्राप्त नहीं होती, अतः भक्ताराधनाको श्रेष्ठतम कहा गया है। और भी कहा है-

तथाहि (भाः ३—७—२०)—

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्द्दनः ॥८॥

श्रीविदुरजी ने मैत्रेयजी के प्रति कहा है—"जो सर्वदा देवादिदेव श्रीजनार्दन का गुणगान किया करते हैं, ऐसे भक्त ही भगवत्-प्राप्ति का पथस्वरूप हैं और उनकी सेवा अल्पपुण्य वाले व्यक्तियों के लिये दुर्लभ है, अर्थात् भगवद्गुण गान करने वाले भगवद्-भक्तों की सेवा महापुण्यों के फल से ही प्राप्त होती है, (अतः भक्त-आराधना श्रेष्ठतम है।) ॥८॥

पुरी भारतीगोसाञि स्वरूप नित्यानन्द । चारिगोसाञिर कैल राय चरणाभिवन्द ॥२४॥
जगदानन्द-मुकुन्दादि यत भक्तगण । यथायोग्य सबभक्ते करिला मिलन ॥२५॥

प्रभु कहे-राय ! देखिले कमललोचन ?। राय कहे—एबे याइ पाव दरशन ॥२६॥
प्रभु कहे-राय ! तुमि कि कर्म करिला ? ईश्वर न देखि आगे एथा केने आइला ? ॥२७॥

रायरामानन्दजी ने श्रीपरमानन्दपुरी, श्रीब्रह्मानन्द भारती गोस्वामी, श्रीस्वरूपदामोदर, श्रीनित्यानन्द प्रभु इन चारों गोस्वामीवृन्द के चरणों में नमस्कार किया। श्रीजगदानन्द, श्रीमुकुन्द आदि जितने भक्त थे, सबसे रायरामानन्दजी यथायोग्य मिले। प्रभु ने राय से पूछा—"राय ! तुमने श्रीजगन्नाथ कमललोचन भगवान् के दर्शन तो कर लिये ?" राय ने कहा—"अब जाकर दर्शन करूँगा"। श्रीमहाप्रभु ने कहा—"राय ! यह क्या किया तुमने ? श्रीजगन्नाथ भगवान् के दर्शन न करके पहले तुम यहाँ चले आए ?" ॥२४-२७॥

राय कहे—चरणरथ, हृदय सारथि। याहां लञा याय, तांहा याय जीव-रथी ॥२८॥
आमि कि करिव, मन इहां लञा आइल। जगन्नाथ-दरशने विचार ना कैल ॥२९॥
प्रभु कहे—याह शीघ्र कर दर्शन। ऐछे घर याइ कर कुटुम्ब-मिलन ॥३०॥
प्रभु-आज्ञा पाञा राय चलिला दर्शने। रायेर प्रेमभक्ति-रीति बुझे कोन् जने ? ॥३१॥

श्रीराय ने उत्तर दिया—"प्रभो ! चरण तो रथ हैं और हृदय इस रथ को चलाने वाला सारथी है। ये दोनों जहाँ चाहते हैं, जीव-रूप रथी को वहाँ ले जाते हैं। मैं क्या करता ? मेरा मन सारथी मुझे यहाँ ही ले आया। उसने श्रीजगन्नाथजी के दर्शनों का विचार ही न किया।" प्रभु ने कहा—"अच्छा, राय ! अब शीघ्र जाकर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन कीजिये, और फिर वहाँ से जाकर अपने माता-पितादि कुटुम्बियों से मिलिये। श्रीमहाप्रभु की आज्ञा पाकर रायरामानन्दजी श्रीजगन्नाथजी के दर्शनों को चले गये। श्रीरामानन्दराय की प्रेमभक्ति की महिमा को भला कौन जान सकता है ? ॥२८-३१॥

नै० च० चु० टीका—प्रभु ने सोचा कि राय मेरे प्रेम में ऐसे मुग्ध हैं कि उन्होंने श्रीजगन्नाथजी के दर्शनों की भी कुछ परवाह नहीं की है, अब मेरे कहने पर वे श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करने के बाद फिर कहीं यहाँ न चले आवें, इसी आशंका से प्रभु ने उन्हें श्रीजगन्नाथजी के दर्शन के बाद कुटुम्बियों से शीघ्र जाकर मिलने की आज्ञा भी दी ताकि उनके कुटुम्बी भी अधिक चिन्तित न हों।

क्षेत्रे आसि राजा सार्वभौमे बोलाइला। सार्वभौमे नमस्करि तांहारे पूछिला—॥३२॥
मोर लागि प्रभु-पादे कैले निवेदन ?। सार्वभौम कहे—कैल अनेक यतन ॥३३॥
तथापि ना करे तेंहो राज—दरशन। क्षेत्र छाड़े, पुन यदि करि निवेदन ॥३४॥

राजा प्रतापरुद्र ने श्रीजगन्नाथपुरी में आकर श्रीसार्वभौमजी को अपने पास बुलवाया। उनके आने पर राजा ने उनको नमस्कार किया और पूछा—"आपने मेरे लिये क्या प्रभुपाद को कुछ निवेदन किया था ?" श्रीसार्वभौम ने कहा—"मैंने बहुत यत्न किया है, तथापि श्रीमहाप्रभु राजदर्शन करने को सहमत नहीं हैं; बल्कि उन्होंने तो यह कह दिया हैं कि यदि तुम फिर मुझसे ऐसी बात कहोगे तो मैं श्रीजगन्नाथपुरी को ही छोड़ जाऊँगा ॥३२-३४॥

शुनिञा राजार मने दुख उपजिल। विषाद करिञा किछु कहिते लागिल ॥३५॥
"पापी नीच उद्धारिते तांर अवतार। शुनि जगाइ-माधाइ तेंहो करिला उद्धार ॥३६॥
प्रतापरुद्र छाड़ि करिव जगत्-उद्धार। एइ प्रतिज्ञा करि जानि करियाछेन अवतार" ॥३७॥

श्रीसार्वभौम के वचन सुनकर राजा प्रतापरुद्रजी का मन दुखी हुआ और विषाद करते हुए वे कहने लगे—"पापी एवं अधम पुरुषों का उद्धार करने के लिये उन्होंने अवतार लिया है। मैंने सुना है, जगाई-माधाई जैसे पापी भी उन्होंने उद्धारित किये हैं। 'प्रतापरुद्र को छोड़कर सब जगत् का उद्धार करूँगा'—क्या यही प्रतिज्ञा करके उन्होंने अवतार लिया है ?" ॥३५—३७॥ (श्रीचैतन्यचन्द्रोदयनाटक में भी कहा गया है):—

तथाहि श्रीचैतन्यचन्द्रोदयनाटके (८।३४)

अदर्शनीयानपि नीचजातीन् स वीक्षते हन्त तथापि नो माम् ।
मदेकवर्ज्जं कृपयिष्यतीति निर्णीय किं सोऽवततार देवः ॥६॥

वे श्रीचैतन्यदेव दर्शन के अयोग्य कितने नीच-जातीय लोगों को भी दर्शन देते रहते हैं, हाय ! तथापि मुझे वे दर्शन नहीं देते। "एकमात्र मुझे छोड़कर और सब पर वे कृपा करेंगे"—यही निश्चय करके ही क्या उन्होंने अवतार लिया है ? ॥६॥"

तांर प्रतिज्ञा ना करिव राज-दरशन। मोर प्रतिज्ञा—तांर बिना छाड़िव जीवन ॥३८॥
यदि सेइ महाप्रभुर ना पाइ कृपाधन। किवा राज्य किवा देह, सब अकारण ॥३९॥
एत शुनि भट्टाचार्य हइल चिन्तित। राजार अनुराग देखि हइला विस्मित ॥४०॥
भट्टाचार्य्य कहे—देव ! न कर विषाद। तोमार उपर प्रभुर हवे अवश्य प्रसाद ॥४१॥

राजा प्रतापरुद्र ने श्रीसार्वभौम से कहा—"अच्छा, उनकी यह प्रतिज्ञा है कि वे राज-दर्शन नहीं करेंगे ! तो मेरी भी यह प्रतिज्ञा है कि मैं भी उनके बिना इस जीवन को छोड़ दूंगा। यदि श्रीमहाप्रभुजी की मैंने कृपा-सम्पत्ति को प्राप्त न किया तो फिर इस राज्य से क्या प्रयोजन ? और इस शरीर को धारण करने से ही क्या ?—मेरा सब कुछ वृथा है"। राजा के यह वचन सुनकर श्रीभट्टाचार्य चिन्तित हो उठे और राजा का इतना उत्कट अनुराग श्रीमहाप्रभु में देखकर विस्मत हो गये। भट्टाचार्यजी ने कहा—"राजन् ! आप दुख मत मानिये, आपके ऊपर अवश्य श्रीमहाप्रभु कृपा करेंगे" ॥३८-४१॥

तेंहो प्रेमाधीन, तोमार प्रेम गाढ़तर। अवश्य करिवेन कृपा तोमार उपर ॥४२॥
तथापि कहिये आमि एक उपाय। एइ उपाय कर, प्रभु देखिवे याहाय ॥४३॥
रथ यात्रा दिने प्रभु सब भक्त लञा। रथ आगे नृत्य करे प्रेमाविष्ट हञा ॥४४॥
प्रेमावेशे पुष्पोद्याने करेन प्रवेश। सेइ काले तुमि एका छाड़ि राजवेश ॥४५॥
कृष्ण-रासपञ्चाध्यायी करिते पठन। एकले गिया महाप्रभुर धरिवे चरण ॥४६॥

श्रीसार्वभौमजी ने आगे कहा—"राजन् ! श्रीमहाप्रभु तो प्रेमाधीन हैं और आपका प्रेम गाढ़तर है, इसलिये वे अवश्य आप पर कृपा करेंगे। फिर भी मैं एक उपाय आपसे कहता हूँ, उसे करिये, जिससे प्रभु के दर्शन मिल जायेंगे। वह उपाय यह है कि रथयात्रा के दिन सब भक्तों को साथ लेकर प्रभु प्रेमाविष्ट होकर रथ के आगे-आगे नृत्य करेंगे एवं प्रेमावेश में ही पुष्प-उद्यान में वे विश्राम करेंगे, आप ठीक उसी समय राजवेश को छोड़कर अकेले ही जाइये और श्रीकृष्ण-रास-पञ्चाध्यायी का पाठ करते-करते श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ लीजिये ॥४२-४६॥

बाह्यज्ञान नाहि से काले कृष्णनाम शुनि। आलिङ्गन करिवेन तोमाय वैष्णव जानि ॥४७॥
रामानन्दराय आजि तोमार प्रेम-गुण। प्रभु आगे कहि प्रभुर फिराइयाछे मन ॥४८॥

शुनि गजपति मने सुख उपजिल। प्रभुरे मिलिते एइ युक्ति दृढ़ कैल ॥४६॥
स्नान–यात्रा कबे हवे ?—पुछिल भट्टेरे। भट्ट कहे—तिन दिन आछये यात्रारे ॥५०॥

"राजन् ! उस समय प्रभु को बाह्यज्ञान नहीं रहता है, सो आप के मुख से श्रीकृष्णनाम सुन कर, आपको वैष्णव जानते हुए वे आपको आलिङ्गन ही कर लेंगे और फिर रायरामानन्दजी ने भी आज आपके प्रेम की महिमा प्रभु के आगे वर्णन की है, और उनका मन आपकी ओर घुमाया है।" सार्वभौमजी के वचन सुनकर राजा प्रतापरुद्र को कुछ सुख मिला और प्रभु के दर्शन पाने के इस उपाय को दृढ़तापूर्वक निश्चय कर लिया। राजा ने सार्वभौमजी से पूछा—"श्रीजगन्नाथजी की स्नान-यात्रा (ज्येष्ठ पूर्णिमा) कब है ?" भट्ट ने कहा—"यात्रा में केवल तीन दिन बाकी हैं" ॥४६—५०॥

स्नान–यात्रा देखि प्रभु पाइल बड़ सुख। ईश्वरे अनवसरे पाइल महा दुख ॥५१॥
गोपीभावे प्रभु विरहे विह्वल हइया। आलालनाथे गेला प्रभु सभारे छाड़िया ॥५२॥
पाछे भक्तगण गेला प्रभुर चरणे। 'गौड़ हैते भक्त आइसे' कैला निवेदने ॥५३॥
सार्वभौम नीलाचले आइला प्रभु लञा। 'प्रभु आइला' राजार ठाञि कहिलेन गिया ॥५४॥

पूर्णिमा के दिन श्रीजगन्नाथजी की स्नान-यात्रा के दर्शन कर श्रीमहाप्रभु को बहुत सुख हुआ, किन्तु अनवसर में श्रीजगन्नाथजी के दर्शन न मिलने के कारण श्रीमहाप्रभु को महान दुख हुआ। (पूर्णिमा से चतुर्दशी तक जब श्रीजगन्नाथजी का अङ्गराग किया जाता है, उन दिनों उनके दर्शन बन्द रहते हैं—उसे 'अनवसर' कहते हैं।) मानो श्रीकृष्ण-दर्शन से वञ्चित होकर श्रीराधाभाव में प्रभु श्रीकृष्ण-विरह में व्याकुल हो गये और सब भक्तों को छोड़कर आलालनाथ चले गये। इसी अवसर में गौड़देश से श्रीअद्वैतादि भक्तगण भी श्रीजगन्नाथ पुरी आ पहुँचे। उन सबका आगमन देखकर नीलाचलवासी भक्तगण प्रभु के पीछे आलालनाथ गये और प्रभु से निवेदन किया कि "गौड़देश से भक्तगण आगये हैं।" श्रीसार्वभौमजी श्रीमहाप्रभु को अपने साथ वापिस नीलाचल ले आए और राजा प्रतापरुद्र को भी जाकर श्रीसार्वभौमजी ने सूचना दी कि प्रभु नीलाचल लौट आए हैं ॥५१–५४॥

हेन काले आइला ताहां गोपीनाथाचार्य्य। राजारे आशीर्वाद करि कहे–शुन भट्टाचर्य्य ॥५५॥
गौड़ हैते वैष्णव आसियाछे दुइशत। महाप्रभुर भक्त सब महाभागवत ॥५६॥
नरेन्द्रे आसिया सभे हैला विद्यमान। तां–सभार चाहि वासा प्रसाद–समाधान ॥५७॥
राजा कहे—पड़िछाके आज्ञा करिव। वासा–आदि ये चाहिये–पड़िछा सब दिव ॥५८॥

श्रीसार्वभौम अभी राजा के पास ही खड़े थे कि वहाँ श्रीगोपीनाथाचार्य आ पहुँचे। उन्होंने राजा को आशीर्वाद दिया और श्रीसार्वभौमजी से कहने लगे—"सुनिये तो भट्टाचार्य ! गौड़देश से दो सौ वैष्णव आए हैं, वे सब श्रीमहाप्रभु के भक्त हैं और महान भागवत हैं। वे सब नरेन्द्र-सरोवर पर आ पहुँचे हैं। उन सबके लिये निवास स्थान एवं प्रसाद का प्रबन्ध करना है।" यह सुनकर राजा ने कहा—"मैं परिछा (सेवक) को आज्ञा करूँगा, निवासस्थान आदि जो भी जिसको चाहिये वह सबको दे देगा ॥५५-५८॥

महाप्रभुर गण यत आइल गौड़ हैते। भट्टाचार्य्य ! एके एके देखाह आमाते ॥५६॥
भट्ट कहे–अट्टालिका कर आरोहण। गोपीनाथ चिने सभाके करावे दर्शन ॥६०॥

आमि काहो नाहि चिनि, चिनिते मन हय। गोपीनाथाचार्य्य सभाके करावे परिचय ॥६१॥
एत कहि तिन-जन अट्टालि चढ़िला। हेन काले वैष्णवगण निकट आइला ॥६२॥

राजा प्रतापरुद्र ने फिर कहा—"भट्टाचार्य्य! श्रीमहाप्रभु के जितने भक्तगण गौड़देश से यहाँ आए हैं, उनके एक-एक करके मुझे भी दर्शन कराइये।" भट्टजी ने कहा—"अट्टालिका पर ऊपर चलिये और गोपीनाथाचार्य सबको पहिचानते हैं, यह आपको सबके दर्शन करावेंगे। मैं तो किसी को नहीं जानता हूँ, मैं भी सबको जानना चाहता हूँ। हम दोनों को श्रीगोपीनाथाचार्य्य उन सबका परिचय करावेंगे।" इतना कहकर तीनों जने अट्टालिका पर चढ़ गये और इतने में गौड़ीय वैष्णवगण भी पास आ पहुँचे॥

दामोदरस्वरूप गोविन्द दुइजन। माला-प्रसाद लञा याय याहाँ वैष्णवगण ॥६३॥
प्रथमेइ महाप्रभु पाठाइला दोंहारे। राजा कहे—एइ कोन, चिनाह आमारे ॥६४॥
भट्टाचार्य कहे—एइ स्वरूप दामोदर। महाप्रभुर इंह हय द्वितीय-कलेवर ॥६५॥
द्वितीय गोविन्द भृत्य, इंहा दोंहा दिया। माला पाठाञाछेन प्रभु गौरव करिया ॥६६॥

इधर से श्रीस्वरूपदामोदर तथा श्रीगोविन्द दोनों जनों को श्रीमहाप्रभु ने पहले ही उनकी अगवानी के लिये माला-प्रसाद देकर भेज दिया था। उन्हें राजा प्रतापरुद्रजी ने देखकर पूछा—"ये दोनों कौन हैं? इनका परिचय तो मुझे दीजिये।" भट्टाचार्य ने कहा—"यह तो श्रीस्वरूपदामोदर हैं, श्रीमहाप्रभु का ही यह दूसरा विग्रह हैं और यह दूसरा तो श्रीमहाप्रभुजी का सेवक श्रीगोविन्द है—इन दोनों के हाथ श्रीमहाप्रभुजी ने गौड़ीय वैष्णवों का आदर करने के लिये माला भिजवाई हैं ॥६३-६६॥

आदौ माला अद्वैतेरे स्वरूप पराइल। पाछे गोविन्द द्वितीय माला तांरे दिल ॥६७॥
तबे गोविन्द दण्डवत् कैल आचार्येरे। तारे ना चिनेन आचार्य पुछिला दामोदरे ॥६८॥
दामोदर कहेन—इंहार गोविन्द नाम। ईश्वरपुरीर सेवक अति गुणवान् ॥६९॥
प्रभुर सेवा करिते इंहारे पुरी आज्ञा दिल। अतएव प्रभु इंहाके निकटे राखिल ॥७०॥

सर्वप्रथम श्रीस्वरूपदामोदरजी ने श्रीअद्वैताचार्य प्रभु के गले में माला डाली, फिर श्रीगोविन्द ने दूसरी माला उनको पहराई। श्रीगोविन्द ने श्रीअद्वैताचार्य प्रभु को दण्डवत् प्रणाम की। श्रीआचार्य ने उन्हें नहीं पहचाना और श्रीस्वरूपदामोदर से पूछा—"यह कौन है? श्रीदामोदर ने कहा—"इसका नाम गोविन्द है, यह श्रीईश्वरपुरीजी का अति गुणवान सेवक था। श्रीईश्वरपुरीजी इसे श्रीमहाप्रभुजी की सेवा करने की आज्ञा कर गये हैं, इसलिये श्रीमहाप्रभुजी ने इसे अपने पास रख लिया है ॥६७-७०॥

राजा कहे—यांरे माला दिला दुइजन। आश्चर्य-तेज एइ वड़ महान्त कौन्? ॥७१॥
आचार्य कहे—इंहार नाम अद्वैत-आचार्य। महाप्रभुर मान्यपात्र सर्वशिरोधार्य्य ॥७२॥
श्रीवासपण्डित इंहो पण्डित वक्रेश्वर। विद्यानिधि आचार्य इंहो पण्डित गदाधर ॥७३॥
आचार्यरत्न इंहो आचार्य पुरन्दर। गङ्गादास पण्डित इंहो पण्डित शङ्कर ॥७४॥

राजा प्रतापरुद्र ने पूछा—"श्रीस्वरूप एवं श्रीगोविन्द, इन दोनों ने जिन्हें मालाएँ पहराई हैं, इनका बड़ा आश्चर्यमय तेज है—यह बड़े महान्त कौन हैं?" श्रीगोपीनाथाचार्य ने कहा—"इनका नाम श्रीअद्वैताचार्य प्रभु है। श्रीमहाप्रभु के मान्यपात्र हैं और सबके पूजनीय हैं। इनके पीछे जो आ रहे हैं,

वह श्रीवासपण्डित हैं। देखिये, यह श्रीवक्रेश्वर पण्डित हैं। यह श्रीविद्यानिधि आचार्य हैं। यह श्रीगदाधर पण्डित हैं। यह श्रीआचार्यरत्न एवं श्रीपुरन्दराचार्य जा रहे हैं। यह श्रीगङ्गादास पण्डित हैं। दूसरे जो जा रहे हैं, उनका नाम श्रीशङ्कर पण्डित है ॥७१-७४॥

एइ मुरारि गुप्त एइ पण्डित नारायण। हरिदास ठाकुर एइ भुवन-पावन ॥७५॥
एइ हरिभट्ट एइ श्रीनृसिंहानन्द। एइ वासुदेवदत्त एइ शिवानन्द ॥७६॥
गोविन्द माधव आर वासुदेव घोष। तिन-भाइ कीर्त्तने करे प्रभुर सन्तोष ॥७७॥
राघव पण्डित एइ आचार्य नन्दन। श्रीमान पण्डित एइ श्रीकान्त नारायण ॥७८॥

श्रीगोपीनाथ ने कहा—"देखिये, यह श्रीमुरारीगुप्त हैं, और यह श्रीनारायण पण्डित हैं। आहा ! यह भुवन-पावन श्रीहरिदास ठाकुर जा रहे हैं। यह श्रीहरिभट्ट हैं और दूसरे श्रीनृसिंहानन्द हैं। यह श्रीवासुदेवदत्त तथा यह शिवानन्द हैं, यह तीनों जो इकट्ठे जा रहे हैं—इनके नाम श्रीगोविन्द, श्रीमाधव, तथा श्रीवासुदेव घोष हैं। यह तीनों भाई श्रीमहाप्रभुजी को कीर्त्तन सुनाकर संतुष्ट करते हैं। देखिये, यह श्रीराघव पण्डित तथा आचार्यनन्दन जा रहे हैं, और यह श्रीमान् पण्डित तथा श्रीकान्त-नारायण हैं ॥७५॥७८॥

शुक्लाम्बर एइ, एइ श्रीधर विजय। वल्लभसेन एइ पुरुषोत्तम सञ्जय ॥७९॥
कुलीन ग्रामवासी एइ सत्यराजखान। रामानन्द-आदि एइ देख विद्यमान ॥८०॥
मुकुन्ददास नरहरि श्रीरघुनन्दन। खण्डवासी चिरञ्जीव आर सुलोचन ॥८१॥
कतेक कहिव एइ देख यतजन। श्रीचैतन्य-गण सब चैतन्य-जीवन ॥८२॥

"राजन् ! यह श्रीशुक्लाम्बर हैं, इनका नाम श्रीश्रीधर विजय है। यह श्रीवल्लभसेन तथा श्रीपुरुषोत्तम सञ्जय जा रहे हैं। यह कुलीन ग्राम के रहने वाले श्रीसत्यराजखान् हैं और यह रामानन्दादि सब भक्त खड़े हैं। यह श्रीमुकुन्ददास हैं, इन्हें श्रीनरहरि कहते हैं, यह तो रघुनन्दन हैं। खण्डवासी चिर-जीव तथा सुलोचन ये खड़े हैं। गजपति ! कहाँ तक बताऊँ, यह जितने भक्त आप देख रहे हैं—यह सब श्रीचतन्यप्रभु के भक्त हैं और श्रीचैतन्य को ही अपना जीवन समझते हैं ॥७९-८२॥

राजा कहे—देखि आमार हैल चमत्कार। वैष्णवेर ऐछे तेज नाहि देखि आर ॥८३॥
कोटि सूर्य्य सम सभार उज्वल वरण। कभु नाहि शुनि एइ मधुर कीर्त्तन ॥८४॥
ऐछे प्रेम ऐछे नृत्य ऐछे हरि—ध्वनि। काहां नाहि देखि ऐछे काहां नाहि शुनि ॥८५॥
भट्टाचार्य कहे—तोमार सुसत्य वचन। चैतन्येर सृष्टि एइ प्रेम-सङ्कीर्त्तन ॥८६॥
अवतरि चैतन्य कैल धर्म—प्रचारण। कलिकालेर धर्म—कृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन ॥८७॥
सङ्कीर्त्तन यज्ञे तांरे करे आराधन। सेइ त सुमेधा, आर कलि-हत जन ॥८८॥

राजा प्रतापरुद्रजी ने कहा—"भट्टाचार्य ! मुझे तो इन सब वैष्णवों को देखकर अत्यन्त चमत्कार हुआ है। मैंने पहले भी बहुत वैष्णव देखे हैं किन्तु ऐसे तेजोमय वैष्णव कहीं नहीं देखे। सबका कोटि सूर्य्यों के समान तेज और उज्वल वरण है और ये जैसा सङ्कीर्त्तन कर रहे हैं, मैंने ऐसा मधुर-सङ्कीर्त्तन भी आज तक नहीं सुना। ओहो ! ऐसा प्रेम ! ऐसा अद्भुत नृत्य !! ऐसी मधुर हरिनाम ध्वनि ! न तो मैं आज तक देखी है और न कानों से ही सुनी है। श्रीभट्टाचार्य ने कहा—"राजन् ! आप सत्य कह रहे हो।

इस प्रकार का प्रेम पूर्वक श्रीहरिनाम-सङ्कीर्त्तन तो केवल श्रीचैतन्यमहाप्रभु ने सिखाया है, पहले आप कहाँ देखते और कहाँ सुनते ? श्रीचैतन्य ने अवतीर्ण होकर कलिधर्म का प्रचार किया है और कलियुग का धर्म यही श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन ही है । सङ्कीर्त्तन-यज्ञ द्वारा जो श्रीभगवान् का कलिमें आराधन करते हैं, वही व्यक्ति बुद्धिमान् हैं, बाकी तो कलि के मारे हतभागे ही हैं ॥८३-८८॥ (श्रीमद्भागवतजी में भी कहा है):—

तथाहि (भा: १०-१४-२९)—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥१०॥

श्रीकरभाजनजी ने श्रीनिमिराजा से कहा है—"बुद्धिमान् लोग सङ्कीर्त्तन-प्रधान पूजा के द्वारा गौरकान्तियुक्त, सदा श्रीकृष्ण का वर्णन करने वाले तथा जिनके अङ्ग-उपाङ्ग ही अस्त्र एवं पार्षद हैं—ऐसे श्रीभगवान् (श्रीकृष्णचैतन्य) की अर्चना करते हैं" ॥१०॥

राजा कहे—शास्त्र प्रमाणे चैतन्य हय 'कृष्ण' । तबे केने पण्डित सब ताहाते वितृष्ण? ॥८९॥
भट्ट कहे—तांर कृपा-लेश हय यारे । सेइ से तांहारे 'कृष्ण' करि लैते पारे ॥९०॥
तांर कृपा नाहि यांरे पण्डित नहे केने । देखिले शुनिले तांरे ईश्वर ना माने ॥९१॥

राजा प्रतापरुद्र ने कहा—"इस शास्त्र-प्रमाण से भी श्रीचैतन्य साक्षात् श्रीकृष्ण सिद्ध होते हैं, फिर न जाने पण्डित् लोग क्यों उनके भजन से विमुख हो रहे हैं ?" भट्ट ने उत्तर दिया—कि जिस पर उनकी कृपा लेशमात्र भी होगी, वही उनको साक्षात् श्रीकृष्ण मान लेगा और जिस पर उनकी कृपा नहीं है, चाहे वह कितना ही पण्डित-विद्वान् क्यों न हो, वह इनके ऐश्वर्य-माधुर्य को साक्षात् देखकर, सुनकर भी इन्हें ईश्वर नहीं मान सकता ॥८९-९१॥ (श्रीभागवत्‌जी में भी कहा है)—

तथाहि (भा: १०-१४-२९)—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।
जानाति तत्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥११॥

ब्रह्माजी श्रीभगवान् से कहते हैं—"हे देव ! हे भगवन् ! तुम्हारे चरणकमलों की यत्किञ्चित् कृपा को प्राप्त करके ही मनुष्य आपकी महिमा के तत्व का किञ्चित् अनुभव कर सकता है, अन्यथा और कोई भी व्यक्ति निसङ्गभावयुक्त होकर साधन करते हुए भी, चिरकाल पर्यन्त अनुसंधान तथा विचार करते हुए भी उसे नहीं जान सकता" ॥११॥

राजा कहे—सभे जगन्नाथ ना देखिया । चैतन्येर वासार आगे चलिला धाइया ॥९२॥
भट्ट कहे—एइ स्वाभाविक प्रेमरीति । महाप्रभु मिलिते सभार उत्कण्ठित चित ॥९३॥
आगे तांरे मिलि सभे तांरे आगे लञा । तांर सङ्गे जगन्नाथ देखिवे आसिया ॥९४॥
राजा कहे—भवानन्देर पुत्र वाणीनाथ । महाप्रसाद लञा सङ्गे जन पांच-सात ॥९५॥
महाप्रभुर आलये करिल गमन । एत महाप्रसाद वा चाहि कि कारण ? ॥९६॥

(राजा प्रतापरुद्रजी ने देखा कि सब गौड़ीय-वैष्णव श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर को छोड़कर आगे ही चले जारहे हैं । उनको विस्मय हुआ कि श्रीजगन्नाथजीके दर्शन तो इन्हें सर्वप्रथम करने चाहिये थे)

राजा ने पूछा—"बहुत आश्चर्य है कि ये सब वैष्णव श्रीजगन्नाथजी के दर्शन न करके श्रीचैतन्यदेव के निवासस्थान की ओर दौड़े जा रहे है ?" भट्ट ने कहा—"यह प्रेम की स्वाभाविक रीति है। इन सबका मन श्रीमहाप्रभुजी के मिलने के लिये ही उत्कण्ठित हो रहा है। उन्हें पहले मिलकर फिर उन्हें अपने साथ आगे करके श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करेंगे।" राजा ने कहा—"भट्टाचार्य ! यह देखना, श्रीभवानन्द का पुत्र वाणीनाथ पाँच-सात पुरुषों के साथ महाप्रसाद श्रीमहाप्रभु के निवासस्थान पर ले जा रहा है। श्रीमहाप्रभु इतना प्रसाद क्या करेंगे ? ॥९२-९६॥

भट्ट कहे—भक्तगण आइला जानिञा। प्रभुर इङ्गिते प्रसाद याय ताहां लञा ॥९७॥
राजा कहे—उपवास क्षौर तीर्थेर विधान। ताहा ना करिया केने खान अन्न-पान ॥९८॥
भट्ट कहे—तुमि कह सेइ विधि-धर्म। एइ रागमार्गे आछे सूक्ष्म धर्ममर्म ॥९९॥
ईश्वरेर परोक्ष-आज्ञा—क्षौर-उपोषण। प्रभुर साक्षात् आज्ञा—प्रसाद भक्षण ॥१००॥

श्रीसार्वभौम ने बताया—"भक्तगण आ चुके हैं, यह बात जानकर श्रीमहाप्रभुजी के आदेश से वाणीनाथ प्रसाद ले जा रहा है।" राजा ने कहा—"तीर्थ में पहुँचकर तो पहले दिन उपवास रहने का और क्षौर कर्म (सिरमुण्डन) कराने का विधान है। क्या ये लोग उसका पालन नहीं करेंगे ? और अन्न-पान क्या अभी ग्रहण कर लेंगे ?" श्रीसार्वभौमजी ने कहा—"राजन् ! आप जो यह सब बातें बता रहे हैं, यह सब विधि-धर्म है। किन्तु ये सब वैष्णवगण राग-मार्ग के अनुयायी हैं और राग-मार्ग के धर्म का अति सूक्ष्म मर्म है। तीर्थ में जाकर उपवास करना, क्षौर कराना आदि—ये सब श्रीभगवान् की परोक्ष-आज्ञाएँ हैं। किन्तु प्रसाद-ग्रहण करने का जो आदेश श्रीमहाप्रभुजी इन सबको करेंगे—वह भगवान् की साक्षात्-आज्ञा होगी। अतः ये सब उस विधि-धर्म की ओर आकृष्ट नहीं होते" ॥९७-१००॥

चै० च० चु० *टीका*—तीर्थों में जाकर क्या करना चाहिये, क्या न करना चाहिये, अथवा क्या करने से पुण्य होता है, क्या करने से पाप—इसके सम्बन्ध में वेद—मनुस्मृति आदिशास्त्रों में विधि-विधान वर्णित है, वह सब विधि-मूलक धर्म है। उसका तात्पर्य जीव के अपने सुख-भोग से ही है। किन्तु राग-मार्ग या रागभक्ति का तात्पर्य केवल मात्र अपने इष्टदेव की प्रीति-विधान करने में हैं। वहाँ अपने सुख-भोग की, अपने पुण्य-पाप की ओर तनक भी लक्ष्य नहीं है। रागमार्ग का यही गूढ़ रहस्य है।

और फिर तीर्थ में जाकर उपवासादि करना—यह आज्ञा सबके लिये भगवान् की परोक्ष आज्ञा है, अर्थात् श्रीभगवान् ने साक्षात् भाव से यह आज्ञा नहीं दी है। परन्तु प्रसाद-ग्रहण करने के लिये तो साक्षात् श्रीभगवान् (श्रीचैतन्य) इन्हें आज्ञा देंगे। परोक्ष-आज्ञा से अपरोक्ष-आज्ञा बलवती होती है। अतः वैष्णवगण विधि-मूलक धर्माचरण न करके, राग-मार्गीय धर्माचरण का अनुसरण करते हैं। विशेषतः उक्त वैष्णवों के लिये श्रीभगवान् की अपरोक्ष-आज्ञा का पालन करना ही परम धर्म है।

ताहां उपवास, याहां नाहि महाप्रसाद। प्रभु-आज्ञा, प्रसादत्याग हय अपराध ॥१०१॥
विशेषे श्रीहस्ते प्रभु करे परिवेशन। एत लाभ छाड़ि कौन् करे उपोषण ? ॥१०२॥
पूर्वे प्रभु प्रसादान्न मोरे आनि दिल। प्राते शय्याय वसि आमि सेइ अन्न खाइल ॥१०३॥
यारे कृपा करि करे हृदये प्रेरण। कृष्णाश्रये छाड़े सेइ वेद-लोकधर्म ॥१०४॥

श्रीसार्वभौम ने और कहा—"राजन् ! उपवास भी तो वहाँ सङ्गत है जहां महाप्रसाद न मिलता हो। यदि यहाँ ये लाग उपवास करें; तो प्रभु-आज्ञा का उलङ्घन होगा और दूसरे महाप्रसाद का त्याग, इससे इन्हें दोनों अपराध होंगे। और फिर विशेष बात यह भी है कि महाप्रभु अपने हस्तकमलों से इन्हें

प्रसाद परोसेंगे—इतना बड़ा लाभ कौन छोड़कर उपवास करे ? गजपति ! एक दिन मुझे भी श्रीमहाप्रभु ने प्रसाद लाकर दिया था, जबकि प्रातःकाल अभी मैं जागा ही था, सो उसी समय शय्या पर बैठकर मैंने उस प्रसादान्न को पा लिया था। बात यह है, राजन् ! जिस पर कृपा करके श्रीभगवान् हृदय में प्रेरणा करते हैं वही श्रीकृष्ण-प्रीति में वेद-धर्म एवं लोक-धर्मों का त्याग कर सकता है ॥१०१-१०४॥ (श्रीमद्-भागवतजी में भी कहा गया है)—

तथाहि (भाः ४-२९-४६)—

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठताम् ॥१२॥

श्रीनारदजी ने प्राचीनर्वाहि राजा से कहा है—"महाराज ! (महत्-पुरुषों के मुख से भगवत्-कथा के श्रवणादि द्वारा) जिसका चित्त शुद्ध होगया है उसके द्वारा स्मरण किये जाने पर श्रीभगवान् जब पर अनुग्रह करते हैं, तभी वह लोक एवं वेद-धर्मो में आसक्ति या निष्ठा-प्राप्त बुद्धि को त्याग कर सकता है।

[सारांश यह है, श्रीसार्वभौमजी ने बताया कि ये सब वैष्णव शुद्ध-चित्त द्वारा श्रीभगवान् की कृपा प्राप्त कर चुके हैं और ये लोक-धर्म एवं वेद-धर्मों का त्याग करके केवल रागमार्ग के ही पथिक हैं; इनके लिये कोई भी विधि-विधान नहीं है।]

तबे राजा अट्टालिका हैते तले आइला । काशीमिश्र पड़िछा-पात्र दोंहा बोलाइला ॥१०५॥
प्रतापरुद्र आज्ञा दिल सेइ दुइजने—प्रभु स्थाने आसियाछे यत भक्तगणे ॥१०६॥
सभारे स्वच्छन्द वासा स्वच्छन्द प्रसाद । स्वच्छन्दे दर्शन कराइह, येन नहे वाद ॥१०७॥
प्रभुर आज्ञा धरिह दोंहे सावधान हैया । आज्ञा नहे, तबु करिल इङ्गित बुझिया ॥१०८॥
एत बलि विदाय दिल सेइ दुइजने । सार्वभौम देखि आइला वैष्णव मिलने ॥१०९॥

तदनन्तर श्रीराजा प्रतापरुद्र अट्टालिका से उतर कर नीचे आये। राजा ने श्रीकाशीमिश्र तथा पड़िछा (मन्दिर का सेवक विशेष) इन दोनों को बुलाया और उन्हें आज्ञा दी कि "श्रीमहाप्रभु के स्थान पर जितने भक्त आये हैं, उन सबको पृथक् पृथक् रहने का स्थान दीजिये, प्रसाद दीजिये तथा उन्हें स्वच्छन्दता से श्रीजगन्नाथजी के दर्शन कराइये, जिससे किसी को कुछ कष्ट न होने पाये। तुम दोनों साव-धान होकर श्रीमहाप्रभु की आज्ञा पालन करो। किसी बात के लिये यदि वे आज्ञा न भी करें तो आवश्यकता एवं इनका इशारा पाकर अपने आप उसका समाधान कर दीजिये। इतना कहकर राजा ने उन दोनों को विदा किया और श्रीसार्वभौमजी वहाँ से आकर प्रभु के साथ वैष्णवों का मिलन देखने यगे।

गोपीनाथाचार्य्य भट्टाचार्य्य सार्वभौम । दूरे रहि देखे प्रभुर वैष्णव-मिलन ॥११०॥
सिंह-द्वार डाहिने छाड़ि सब बैष्णवगण । काशीमिश्रगृह-पथे करिल गमन ॥१११॥
हेन काले महाप्रभु निजगण सङ्गे । बैष्णव मिलिला, आसि पथे महारङ्गे ॥११२॥
अद्वैत करिल प्रभुर चरणवन्दन । आचार्य्येरे करिला प्रभु प्रेम-आलिङ्गन ॥११३॥
प्रेमानन्दे हैल दोंहे परम अस्थिर । समय देखिया प्रभु हैला किछु धीर ॥११४॥

श्रीगोपीनाथाचार्य तथा श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य—ये दोनों आकर दूर से ही प्रभु का उन सब वैष्णवों से मिलन दर्शन करने लगे। श्रीजगन्नाथजी मन्दिर के सिंह-द्वार को दाईं ओर देकर सब वैष्णव

जब श्रीकाशीमिश्र के घर के मार्ग पर जा रहे थे, उसी समय मार्ग में ही आगे आकर श्रीप्रभु अपने भक्तों सहित उन सब से महा प्रेम-पूर्वक मिले। श्रीअद्वैताचार्य जी ने श्रीमहाप्रभु के चरणों में वन्दना की और श्रीप्रभु ने आचार्यपाद को प्रीति पूर्वक आलिङ्गन किया। प्रेमानन्द में दोनों परम अस्थिर हो गये, किन्तु समय के अनुसार श्रीमहाप्रभु ने कुछ धीरज धारण किया ॥११०—११४॥

श्रीवासादि कैल प्रभुर चरणवन्दन। प्रत्येके करिला प्रभु प्रेम-आलिङ्गन ॥११५॥
एके एके सबभक्ते कैल सम्भाषण। सभा लञा अभ्यन्तरे करिल गमन ॥११६॥
मिश्रेर आवास सेइ हय अल्पस्थान। असंख्य वैष्णव ताहां हैल परिमाण ॥११७॥
आपन निकटे प्रभु सभारे वसाइल। आपने श्रीहस्ते सभाय मालाचन्दन दिल ॥११८॥

श्रीवासादि सबने प्रभु के चरणों में वन्दना की और प्रभु ने हर एक भक्त को प्रेमपूर्व आलिङ्गन किया। एक-एक भक्त से प्रभु ने प्रेमपूर्वक सम्भाषण किया और सब को अपने साथ लेकर अपने स्थान पर आए। श्रीकाशीमिश्र का घर तो छोटा था, किन्तु वहाँ असंख्य वैष्णव (प्रभु लीला से) समा गये। प्रभु ने सब को अपने पास बैठाया और अपने हस्तकमलों से सब को माला-चन्दन देकर विभूषित किया ॥११८॥

भट्टाचार्य आचार्य आइला प्रभुर स्थाने। यथायोग्य मिलन करिल सभासने ॥११९॥
अद्वैतेरे प्रभु कहे विनय-वचने। आजि आमि पूर्ण हैलाङ तोमार आगमने ॥१२०॥
अद्वैत कहे—ईश्वरेर एइ स्वभाव हय। यद्यपि आपने पूर्ण षड़ैश्वर्य्यमय ॥१२१॥
तथापि भक्त-सङ्गे तांर हय सुखोल्लास। भक्त सङ्गे करे नित्य विविध विलास ॥१२२॥

श्रीसार्वभौम तथा श्रीगोपीनाथाचार्य दोनों प्रभु के स्थान पर आए और सब भक्तों से यथायोग्य मिले। श्रीमहाप्रभु श्रीअद्वैताचार्य जी से विनय वचन कहने लगे—"आचार्य! आज आपके यहाँ पधारने से मेरी सब अभिलाषायें पूर्ण हो गई हैं"। श्रीअद्वैताचार्य ने कहा—"ईश्वर का यह स्वभाव ही है कि यद्यपि वे आप-षड़्ड़े ऐश्वर्यपूर्ण हैं तो भी वे अपने भक्तों के साथ सुखोल्लास का अनुभव करते हैं एवं अपने भक्तों के साथ नित्य विविध प्रकार की लीलाएँ करते हैं" ॥११९-१२२॥

वासुदेव देखि प्रभु आनन्दित हैया। तांरे किछु कहे तार अङ्गे हस्त दिया ॥१२३॥
यद्यपि मुकुन्द आमार सङ्गे शिशु हैते। ताहा हैते अधिक सुख तोमाके देखिते ॥१२४॥
वासु कहे—मुकुन्द आदौ पाइल तोमार सङ्ग। तोमार चरण प्राप्ति सेइ पुनर्जन्म॥१२५॥
छोट हैया मुकुन्द एबे हैला मोर ज्येष्ठ। तोमार कृपापात्र ताते सर्वगुण श्रेष्ठ ॥१२६॥

श्रीवासुदेव को देखकर श्रीमहाप्रभु बहुत प्रसन्न हुए और उसके शरीर पर अपना हाथ फेरते हुए उससे कहने लगे—"यद्यपि मुकुन्द मेरे साथ बालकपन से रह रहा है, किन्तु तुम्हें देखकर मुझे उससे भी अधिक सुख होता है।" श्रीवासुदेव ने कहा—"चाहे मुकुन्द मुझ से छोटा है, किन्तु मुझ से पहले उसने आपका सङ्ग प्राप्त किया है और आपके (भगवान् के) चरण प्राप्त करना मानों पुनः जन्म है। (मैंने अब आपके चरण प्राप्त किये हैं, इसलिये मेरा अब पुनः जन्म हुआ है) इसलिये मुकुन्द मुझसे छोटा होते हुए भी अब मेरा बड़ा भाई है। विशेषतः वह आपका कृपापात्र है, अतः वह मुझ से हर प्रकार श्रेष्ठ है ॥१२३-१२६

चै० च० चु० *टीका* :—शास्त्र कहता है कि जीव जब विषयासक्ति को त्याग कर भगवत्-चरणों के प्रेम की प्राप्ति करता है, तब उसके जीवन का परिवर्त्तन हो जाता है। मानों उसका पुनर्जन्म होता है। क्योंकि श्रीमुकुन्द का भगवत्-प्रेम प्राप्ति-रूप पुनर्जन्म श्रीवासुदेव से पहले हुआ, इसलिये श्रीवासुदेव ने श्रीमुकुन्द को अपना ज्येष्ठ भाई कहा है।

पुन प्रभु कहे—आमि तोमार निमित्ते। दुइ पुस्तक आनियाछि दक्षिण हइते ॥१२७॥
स्वरूपेर ठाञि आछे, लह लेखाइया। वासुदेव आनन्दित पुस्तक पाइया ॥१२८॥
प्रत्येके सकल वैष्णव लिखिया लइल। क्रमे क्रमे दुइ पुस्तक जगत् व्यापिल ॥१२९॥
श्रीवासाद्ये कहे प्रभु करि महा प्रीति। तोमा-चारि भाइर आमि हइ मूल्यक्रीत ॥१३०॥

फिर श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"वासुदेव ! मैं तुम्हारे लिए दो पुस्तकें (श्रीकृष्ण कर्णामृत तथा ब्रह्मसंहिता) दक्षिण से लाया हूँ और वह स्वरूपदामोदर के पास हैं, उन्हें लिखवा लो।" श्रीवासुदेव पुस्तकें पाकर बहुत आनन्दित हुए। प्रत्येक वैष्णव ने उन दोनों पुस्तकों की नकल करली। इस प्रकार क्रमशः वही दोनों पुस्तकें अनेक प्रतियों के रूप में संसार भर में प्रगट हो गईं। श्रीवासादि भक्तों से प्रभु भक्तिपूर्वक कहने लगे कि—"मैं आप चारों भाइयों के हाथों में तो बिका हुआ हूँ" ॥१२७-१३०॥

श्रीवास कहेन–केने कहे विपरीत। कृपा मूल्ये चारि भाइ हइ तोमार क्रीत ॥१३१॥
शङ्करे देखिया प्रभु कहे दामोदरे—। सगौरव प्रीति आमार तोमार उपरे ॥१३२॥
शुद्ध केवल प्रेम आमार इहार उपर। अतएव मोर सङ्गे राखह शंकर ॥१३३॥
दामोदर कहे—शंकर छोट आमा हैते। एबे आमार बड़ भाइ तोमार कृपाते ॥१३४॥

श्रीवास ने कहा—"प्रभो ! आप विपरीत क्यों कह रहे हो ? हम चारों भाई तो आपकी कृपा के मूल्य में आपके हाथों बिके हुए हैं।" श्रीदामोदर के छोटे भाई शङ्कर को देख कर प्रभु ने कहा–"दामोदर! मुझे तुम पर तो गौरव सहित प्रीति है, किन्तु मेरी शुद्ध प्रीति तो इस शङ्कर पर है, इसलिये इसे तो मेरे पास रहने दो।" श्रीदामोदर ने कहा—"शङ्कर तो मेरा छोटा भाई है और आपकी कृपा से अब यह मेरा बड़ा भाई हो गया है" ॥१३१—१३४॥

शिवानन्दे कहे प्रभु–तोमार आमाते। गाढ़ अनुराग हय–जानि आगे हैते ॥१३५॥
शुनि शिवानन्द सेन प्रेमाविष्ट हैया। दण्डवत् हैया पड़े श्लोक पढ़िया ॥१३६॥

श्रीमहाप्रभु ने शिवानन्द से कहा—"शिवानन्द ! तुम्हारा तो मुझ में गाढ़ अनुराग है, यह मैं पहले से ही जानता हूँ।" प्रभु के वचन सुनकर श्रीशिवानन्द सेन प्रेमाविष्ट हो श्लोक पढ़ते हुए प्रभु के चरणों में दण्डवत् गिर पड़े ॥१३५—१३६॥

तथाहि चैतन्यचन्द्रोदयनाटके (८।५७)—

निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्तश्चिराय मे कुलमिवासि लब्धः।
त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीमनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः ॥१३॥

"हे अनन्त ! बहुत काल से मैं इस संसाररूप समुद्र में पड़ा हुआ हूँ, अब इस संसार-समुद्र के किनारे के समान आपको मैंने पाया है, हे भगवन् ! आपने भी अब मुझे अपनी दया का सर्वोत्तम पात्र पाया है" १३

प्रथमेइ मुरारिगुप्त प्रभुरे ना मिलिया। बाहिरे पड़िया आछे दण्डवत् हैया ॥१३७॥
मुरारि ना देखि प्रभु करे अन्वेषण। मुरारि लइते धाञा आइला बहुजन ॥१३८॥
तृण दुइ-गुच्छ मुरारि दशने धरिया। महाप्रभुर आगे गेल दैन्यहीन हञा ॥१३९॥
मुरारि देखिया प्रभु उठिला मिलिते। पाछे पाछे भागे मुरारि लागिला बलिते ॥१४०॥

जिस समय सब गौड़ीय वैष्णव प्रभु के साथ मिलने के बाद श्रीकाशीमिश्र के स्थान पर अन्दर आए तो श्रीमुरारि गुप्त अन्दर न आए और न ही प्रभु को मिले, बल्कि दरवाजे के बाहर ही दण्डवत् पड़े रहे। श्रीमुरारि गुप्त जी को न देख कर प्रभु ने उन्हें इधर उधर देखा और उनके सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो कुछ व्यक्ति श्रीमुरारि गुप्त को लेने एवं ढूंढ़ने के लिये बाहर आए। श्रीमुरारि गुप्त दो तीन घास के गुच्छे दान्तों में दबाये हुए अत्यन्त दीन-हीन होकर श्रीमहाप्रभु के सामने आए। श्रीमुरारि गुप्त को आता देखकर प्रभु उन्हें मिलने के लिये उठ खड़े हुए, किन्तु श्रीमुरारिगुप्त पीछे-पीछे भागने लगे और कहने लगे—

मोरे ना छुइंह, मुइ अधम पामर। तोमार स्पर्श योग्य नहे पाप कलेवर ॥१४१॥
प्रभु कहे मुरारि! कर दैन्य संवरण। तोमार दैन्य देखि मोर विदीर्ण हव मन ॥१४२॥
एत बलि प्रभु तारे करि आलिङ्गन। निकटे बसाइया करे अङ्ग-सम्मार्जन ॥१४३॥
आचार्य्यरत्न विद्यानिधि पण्डित गदाधर। हरिभट्ट गङ्गादास आचार्य पुरन्दर ॥१४४॥
प्रत्येके सभार प्रभु करि गुणगान। पुनः पुनः आलिङ्गिया करिल सम्मान ॥१४५॥

"प्रभो। मुझे मत छुओ, मैं अधम पामर हूँ। आपके स्पर्श करने योग्य यह पापी शरीर नहीं है।" प्रभु ने कहा—"मुरारि इतनी दीनता मत करो। तुम्हारी दीनता को देखकर मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है।" इतना कहकर प्रभु ने उन्हें वरवश आलिङ्गन कर लिया और अपने साथ बैठाकर उनकी अङ्ग-धूली (जो बाहर दण्डवत् पड़े रहने से लगी हुई थी) को झाड़ने लगे। श्रीआचार्यरत्न, श्रीविद्यानिधि, पण्डित श्रीगदाधर, श्रीहरिभट्ट, श्रीगङ्गादास, आचार्य श्रीपुरन्दर इत्यादि प्रत्येक भक्त का प्रभु ने गुण गान किया और हर एक को बार बार आलिङ्गन कर सबका सन्मान किया ॥१४१—१४५॥

सभारे सम्मानि प्रभुर हइल उल्लास। हरिदास ना देखिया कहे—काहां हरिदास? ॥१४६॥
दूरे हैते हरिदास गोसाञि देखिया। राजपथ-प्रान्ते पड़ि आछे दण्डवत् हञा ॥१४७॥
मिलन-स्थाने आसि प्रभुरे ना मिलिला। राजपथ-प्रान्ते दूरे पड़िया रहिला ॥१४८॥
भक्त सब धाञा आइला हरिदासे निते। प्रभु तोमाय मिलिते चाहे, चलह त्वरिते॥१४९॥

सब भक्तों से मिलकर श्रीमहाप्रभु को बहुत उल्लास हुआ, किन्तु प्रभु ने वहाँ श्रीहरिदास ठाकुर को न देखकर पूछा कि—हरिदास कहाँ है? (श्रीहरिदास ठाकुर जहाँ प्रभु रास्ते में वैष्णवों से मिले थे वहाँ तक भी न आए थे किन्तु) दूर से ही प्रभु का दर्शन कर वे उसी राजपथ के एक किनारे दण्डवत् होकर पड़े रह गये थे। मिलन-स्थान पर भी प्रभु से आकर वे न मिले थे। राजपथ पर बहुत दूर ही पड़े रह गये थे। प्रभु के जिज्ञासा करने पर सब भक्त दौड़े हुए वहां श्रीहरिदास जी को लेने आये और कहने लगे—"शीघ्र चलिये; आपको तो प्रभु मिलना चाह रहे हैं" ॥१४६—१४९॥

हरिदास कहे मुञि नीचजाति छार । मन्दिर-निकट याइते नाहि अधिकार ॥१५०॥
निभृते टोटा मध्ये यदि स्थान खानिक पाङ । ताहां पड़ि रहों काल गोयाङ ॥१५१॥
जगन्नाथ सेवक मोर स्पर्श नाहि हय । ताहां पडि रहों, मोर एइ वाञ्छा हय ॥१५२॥
एइ कथा लोक गिया प्रभुरे कहिल । शुनि महाप्रभु मने सुख बड़ पाइल ॥१५३॥

श्रीहरिदास जी ने कहा—"मैं तो नीच जाति अधम हूँ (श्रीहरिदास का जन्म यवन कुल में होने से, वे अपने को अस्पृश्य मानते थे ।) मन्दिर के निकट जाने का मुझे अधिकार नहीं है । एकान्त में किसी बागीचा में यदि मुझे कुछ थोड़ासा स्थान मिल जाय तो मैं वहाँ पड़ा रहकर समय काट लूंगा । श्रीजगन्नाथ जी के पुजारी-सेवक कहीं मुझ से छू न जाएँ, ऐसे एक स्थान पर पड़ा रहूँ, ऐसी मेरी इच्छा है ।" श्रीहरिदास जी की यह बात भक्तों ने प्रभु से जाकर कही । श्रीमहाप्रभु यह बात सुनकर बड़े सुखी हुए ॥

हेन काले काशीमिश्र पड़िछा दुइजन । आसिया करिल प्रभुर चरण-वन्दन ॥१५४॥
सर्व्ववैष्णवेरे देखि सुखी बड़ हैला । यथायोग्य सभार सने आनन्दे मिलिला ॥१५५॥
प्रभुपदे दुइजन कैल निवेदन—। आज्ञा देह वैष्णवेर करि समाधान ॥१५६॥
सभार करियाछि वासागृह संस्थान । महा प्रसादान्न सभार करि समाधान ॥१५७॥

इतने में श्रीकाशीमिश्र तथा पड़िछा दोनों वहां आए और उन्होंने प्रभु के चरणों में वन्दना की । सब वैष्णवों के दर्शन कर वे बहुत सुखी हुए और सब के साथ यथायोग्य आनन्द पूर्वक मिले । श्रीमहाप्रभु के चरणों में निवेदन किया कि "यदि आपकी आज्ञा मिले तो इन वैष्णवों के लिये सब प्रबन्ध किया जावे ? सबके निवास करने के लिए घर तैयार हैं और सबके लिए प्रसादान्न का भी प्रबन्ध कर दिया गया है ॥

प्रभु कहे—गोपीनाथ ! याह सभा लैया । याहां-याहां कहे ताहां वासा देह याञा ॥१५८॥
महा प्रसादान्न देह वाणीनाथ-स्थाने । सर्व वैष्णवेर एहों करिवे समाधाने ॥१५९॥
आमार निकटे एइ पुष्पेर उद्याने । एक खानि घर आछे परम निर्जने ॥१६०॥
सेइ घर आमाके देह, आछे प्रयोजन । निभृते वसिया ताहां करिव स्मरण ॥१६१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"गोपीनाथ ! आप इन सब वैष्णवों को अपने साथ ले जाकर सबको यथायोग्य रहने का स्थान दीजिये । वाणीनाथ सबको महाप्रसाद-अन्न देंगे और सब प्रबन्ध भी इनका करेंगे । मेरे निकट यह जो बागीचा है; इसमें जो एक परम एकान्त कमरा है, वह कमरा मुझे चाहिये, जिससे मैं वहाँ एकान्त में श्रीकृष्ण-स्मरण कर सकूंगा ॥१५८–१६१॥

मिश्र कहे—सब तोमार माग कि-कारण । आपन इच्छाय लह, चाह ये स्थान ॥१६२॥
आमि दुइ हइ तोमार दास आज्ञाकारी । येइ चाहि, सेइ आज्ञा कर कृपा करि॥१६३॥
एत कहि दुइजन बिदाय करिला । गोपीनाथ वाणीनाथ दुइ सङ्गे दिला ॥१६४॥
गोपीनाथे देखाइल सब वासाघर । वाणीनाथ ठाञि दिल प्रसाद विस्तर ॥१६५॥

श्रीकाशीमिश्र ने कहा—"प्रभो ! सब कुछ आपका है, फिर आप मांगते क्या हैं ? आपकी जो इच्छा हो, वही स्थान आप लीजिये । मैं और गोपीनाथ एवं वाणीनाथ आपके आज्ञाकारी दास मौजूद हैं,

जो भी आपकी इच्छा हो आप कृपाकर निःसङ्कोच आज्ञा करिये।" इतना कहकर दो व्यक्तियों के साथ श्रीगोपीनाथ एवं श्रीवाणीनाथ को वहाँ से भेजा और उन्होंने फिर श्रीगोपीनाथ को रहने के कमरे दिखाये। फिर वाणीनाथ को बहुत प्रसादान्न दे कर भेजा ॥१६२-१६५॥

वाणीनाथ आइला अन्न-पिठा-पाना लैया। गोपीनाथ आइला वासार संस्कार करिया।१६६।
महाप्रभु कहे—शुन सब वैष्णवगण। निज निज वासा सभे करह गमन ॥१६७॥
समुद्र-स्नान करि कर चूड़ा दरशन। तबे एथा आसि आजि करिबे भोजन ॥१६८॥
प्रभु नमस्करि सभे वासाते चलिला। गोपीनाथाचार्य सभाय वासास्थान दिला॥१६९॥

श्रीवाणीनाथ अन्न (चावल), पिठा (पिष्टक, बड़ा, पकौरादि) एवं पाना (शरबत आदि) लेकर प्रभु के पास आए और श्रीगोपीनाथ सब कमरों-स्थानों को झाड़ पोंछ कर वहाँ आगये, श्रीमहाप्रभु ने तब सब वैष्णवगण से कहा—"सुनिये, आप सब अब अपने-अपने निवास-स्थान पर जाइये और समुद्र का स्नान कर श्रीजगन्नाथ मन्दिर के शिखर पर के चक्र दर्शन करिये (क्योंकि इस समय दर्शन तो मिलेंगे नहीं) फिर वहाँ से आकर सब यहां ही भोजन करिये।" यह सुनकर सब वैष्णवगण श्रीमहाप्रभुजी को नमस्कार करके अपने स्थानों पर चले गये और श्रीगोपीनाथाचार्य ने सबको यथायोग्य स्थान दे दिया ॥

तबे प्रभु आइला हरिदास-मिलने। हरिदास करे प्रेमे नाम-संकीर्त्तन ॥१७०॥
प्रभु देखि पड़े आगे दण्डवत् हैया। प्रभु आलिङ्गन कैल तारे उठाइया ॥१७१॥
दुइजने प्रेमावेशे करेन क्रन्दने। प्रभुगुणे भृत्य विकल प्रभु भृत्यगुणे ॥१७२॥
हरिदास कहे—प्रभु! ना छुंइह मोरे। मुञि नीच अस्पृश्य परम पामरे ॥१७३॥

तदनन्तर श्रीमहाप्रभुजी श्रीहरिदास को मिलने आए। श्रीहरिदास उस समय प्रेमपूर्वक नाम सङ्कीर्त्तन कर रहे थे। श्रीमहाप्रभुजी को आता हुआ देखकर श्रीहरिदास ने आगे बढ़कर दण्डवत् प्रणाम की और प्रभु ने उन्हें उठाकर आलिङ्गन किया। दोनों प्रेमावेश में रोने लगे। भक्त तो प्रभु के गुणों में और प्रभु अपने भक्त के गुणों में विकल हो रहे थे। श्रीहरिदास ने कहा—"प्रभो! आप मुझे स्पर्श न करिये, मैं नीच-जाति, अस्पृश्य एवं परम-अधम हूँ" ॥१७०-१७३॥

प्रभु कहे—तोमा स्पर्शि पवित्र हइते। तोमार पवित्र-धर्म नाहिक आमाते ॥१७४॥
क्षणेक्षणे कर तुमि सर्वतीर्थे स्नान। क्षणेक्षणे कर तुमि यज्ञ-तप दान ॥१७५॥
निरन्तर कर चारि वेद-अध्ययन। द्विजन्यासी हैते तुमि परम-पावन ॥१७६॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"हरिदास! पवित्र होने के लिये मैं तुम्हें स्पश कर रहा हूँ कारण कि तुम में जो पवित्र धर्म (श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन अधिष्ठान-रूप धर्म) है, वह मुझमें नहीं है। श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन का निरन्तर जप-गान करने से हरिदास! तुम क्षण क्षण में समस्त तीर्थों के स्नान का फल प्राप्त कर रहे हो और क्षण क्षण में तुम समस्त यज्ञ-तप दानादि का फल प्राप्त कर रहे हो। तुम तो निरन्तर चारों वेदों का अध्ययन कर रहे हो और तुम ब्राह्मणों एवं संन्यासियों की अपेक्षा भी अधिक पवित्र हो ॥१७४-१७६॥ (श्रीमद्भागवत्जी का निम्नलिखित श्लोक इसके प्रमाण में उद्धृत करते हैं)—

तथाहि (भाः ३-३३-७)—

अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिन्हाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥१४॥

देवहूति ने श्रीकपिलदेव को कहा है—"जिसकी जिह्वा के अग्रभाग पर आपका नाम वर्त्तमान रहता है, वह व्यक्ति श्वपच होते हुए भी पूज्यनीय है। जो आपके नाम का सङ्कीर्त्तन करते रहते हैं, वही ही सदाचारी हैं, उन्होंने सब तपस्याएँ करलीं हैं, उन्होंने यज्ञ एवं सर्व तीर्थ-स्नान कर लिये हैं और उन्होंने ही चारों वेद अध्ययन कर लिये हैं—अर्थात् जो श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन सदा करते हैं उन्हें फिर और तपस्या, यज्ञ-होम, तीर्थयात्रा एवं वेद-अध्ययनादि आचरणों की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती" ॥१४॥

एत बलि तारे लञा गेला पुष्पोद्याने। अति निभृत सेइ गृह दिल वासस्थाने ॥१७७॥
एइ स्थाने रह, कर नाम-संकीर्त्तन। प्रतिदिन आसि आमि करिब मिलन ॥१७८॥
मन्दिरेर चक्र देखि करह प्रणाम। एइ ठाञि तोमार आसिबे प्रसादान्न ॥१७९॥
नित्यानन्द जगदानन्द दामोदर मुकुन्द। हरिदासे मिलि सभे पाइल आनन्द ॥१८०॥

इतना कहकर श्रीमहाप्रभुजी श्रीहरिदास को अपने साथ बागीचा में ले आए और वह एकान्त कमरा उन्हें रहने के लिये दे दिया और कहा कि "हरिदास! तुम यहाँ रहो और अपना भजन श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन करो। मैं तुम्हें यहाँ ही प्रतिदिन आकर मिल जाऊँगा। श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर के सर्वोपरि स्थित चक्र को नित्य प्रणाम कर देना और यहाँ ही तुम्हें प्रसादान्न पहुँच जाया करेगा।" श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीजगदानन्द, श्रीस्वरूपदामोदर तथा श्रीमुकुन्द—सब ने श्रीहरिदास को मिलकर आनन्द अनुभव किया ॥१७७-१८०॥

समुद्र स्नान करि प्रभु आइल निजस्थाने। अद्वैतादि गेला सिन्धु करिबारे स्नाने ॥१८१॥
आसि जगन्नाथेर कैला चूड़ा-दरशन। प्रभुर आवासे आइला करिते भोजन ॥१८२॥
सभारे वसाइल प्रभु योग्य क्रम करि। श्रीहस्ते परिवेशन कैल गौरहरि ॥१८३॥
अल्प-अन्न ना आइसे दिते प्रभुर हाथे। दुइ तिन जनार भक्ष्य देन एकेक-पाते ॥१८४॥

श्रीमहाप्रभु फिर समुद्र-स्नान करके अपने निवासस्थान पर लौट आए। इधर श्रीअद्वैतादि वैष्णवगण समुद्र स्नान करने के बाद श्रीजगन्नाथ के चूड़ा दर्शन करने गये और वहाँ से फिर श्रीमहाप्रभु के निवासस्थान पर प्रसाद पाने के लिये एकत्रित हुए। प्रभु ने हर एक को यथोचित स्थान पर बैठा दिया और अपने श्रीहस्त से सबको प्रसाद परोसने लगे। श्रीमहाप्रभु हाथ में थोड़ा अन्न नहीं लेते थे, दो-तीन व्यक्तियों के खाने योग्य अन्न एक बार ही हाथ में लेकर प्रभु हर एक पत्ता पर परोस देते ॥१८१-१८४॥

प्रभु ना खाइले केहो ना करे भोजन। ऊर्द्धहस्ते वसिया रहिला भक्तगण ॥१८५॥
स्वरूप गोसाञि प्रभुरे कैल निवेदन—। तुमि ना वसिले केहो ना करे भोजन ॥१८६॥
तोमार सङ्गे संन्यासी रहे यतजन। गोपीनाथाचार्य तारे करियाछे निमन्त्रण ॥१८७॥
आचार्य आसियाछे भिक्षार प्रसादान्न लञा। पुरी भारती आछे अपेक्षा करिया ॥१८८॥
नित्यानन्द लञा भिक्षा करिते वैस तुमि। वैष्णवेर परिवेशन करितेछि आमि ॥१८९॥

श्रीमहाप्रभु के भोजन किये बिना कोई व्यक्ति भी भोजन करने को तैयार न हुआ, सब भक्तगण ऊँचे हाथ उठाये बैठे रहे। श्रीस्वरूपदामोदर ने प्रभु से निवेदन किया—"प्रभो! आप जब तक नहीं बैठोगे, कोई भी भोजन नहीं करेगा। आपके साथ और जितने संन्यासी हैं उन सबको भी श्रीगोपीनाथाचाय

ने निमन्त्रित किया है और वे भिक्षा के लिये प्रसाद-अन्न भी ले आए हैं। श्रीपरमानन्द पुरी तथा श्रीब्रह्मानन्द भारती भी आपका इन्तज़ार कर रहे हैं। अतः आप और श्रीनित्यानन्द दोनों भिक्षा (भोजन) के लिये बैठिये और मैं इन सब वैष्णवों का परिवेशन कर दूंगा ॥१८५-१८९॥

तबे प्रभु प्रसादान्न गोविन्द-हाथे दिल। यत्न करि हरिदास ठाकुरे पाठाइल ॥१९०॥
आपने वसिल सब संन्यासी लइया। परिवेशन करे आचार्य हरषित हञा ॥१९१॥
स्वरूपगोसाञि दामोदर जगदानन्द। वैष्णवेरे परिवेशन करे तिनजन ॥१९२॥
नाना पिठा-पाना खाय आकण्ठ पूरिया। मध्ये मध्ये 'हरि' कहे उच्च करिया ॥१९३॥

तब श्रीमहाप्रभुजी ने कुछ प्रसादान्न श्रीगोविन्द के हाथ में दे दिया और यत्न पूर्वक उसे श्रीहरिदास ठाकुर के पास भिजवाया। फिर प्रभु और सब संन्यासियों को बैठाकर आप भी बैठ गये। श्रीगोपीनाथाचार्य हर्षित मन होकर परिवेशन करने लगे। श्रीस्वरूपगोस्वामी, श्रीदामोदर, श्रीजगदानन्द—ये तीनों वैष्णवों को परिवेशन करने लगे। सब वैष्णव पिठा-पाना आदि प्रसाद पेट भर कर खाने लगे, बीच-बीच में 'हरि-हरि' उच्च ध्वनि करने लगते थे ॥१९०-१९३॥

भोजन-समाप्ति हैल, कैल आचमन। सभारे पराइल प्रभु माल्य-चन्दन ॥१९४॥
विश्राम करिते सभे निजवासा गेला। सन्ध्या काले आसि पुन प्रभुरे मिलिला ॥१९५॥
हेन काले रामानन्द आइला प्रभु-स्थाने। प्रभु मिलाइला तारे सब वैष्णव सने ॥१९६॥
सभा लञा गेला प्रभु जगन्नाथालय। कीर्तन आरम्भ ताहां कैला महाशय ॥१९७॥

सब ने भोजन कर चुकने के बाद आचमन किया फिर श्रीमहाप्रभु ने सब को माला एवं चन्दन से विभूषित किया। फिर विश्राम करने के लिये सब अपने अपने निवास स्थान पर चले गये। सन्ध्या के समय सब श्रीमहाप्रभु जी से आकर मिले। उसी समय रायरामानन्द भी प्रभु के स्थान पर आए और प्रभु ने उन्हें सब वैष्णवों से मिलाया। वहाँ से सब के साथ प्रभु श्रीजगन्नाथ मन्दिर में आये और वहाँ उन्होंने सङ्कीर्त्तन आरम्भ किया ॥१९४—१९७॥

सन्ध्या धूप देखि आरम्भिला संकीर्त्तन। पड़िछा आनि दिल सभारे माल्य-चन्दन॥१९८॥
चारिदिके चारि सम्प्रदाय करे संकीर्त्तन। मध्ये नृत्य करे प्रभु शचीरनन्दन ॥१९९॥
अष्ट मृगङ्ग बाजे बत्रिश करताल। हरिध्वनि करे वैष्णव कहे भाल-भाल ॥२००॥
कीर्त्तनरे महामङ्गल ध्वनि ये उठलि। चतुर्द्दशलोक भरि ब्रह्माण्ड भेदिल ॥२०१॥

श्रीजगन्नाथजी की सन्ध्याकाल की धूप-आरति दर्शन करके सङ्कीर्त्तन आरम्भ किया गया। पुजारी ने आकर सब को माला पहराई और माथे पर चन्दन लगाया। चार मण्डलियाँ चारों ओर से संकीर्त्तन करने लगीं और बीच में श्रीशचीनन्दन प्रभु नृत्य करने लगे। आठ मृदङ्ग एवं बत्तीस करताल बजने लगे एवं उच्च 'हरि-हरि' ध्वनि होने लगी। बीच बीच में वष्णव लोग 'बहुत सुन्दर, बहुत सुन्दर' कह रहे थे। जिस समय श्रीनाम संकीर्त्तन की महा मङ्गलमय ध्वनि उठी, तो चौदह लोकों को गुंजाती हुई ब्रह्माण्ड को भेदन करने लगी ॥१९८—२०१॥

पुरुषोत्तमवासी लोक आइल देखिवारे । कीर्त्तन देखि उड़ियालोक हैल चमत्कारे ॥२०२॥
तबे प्रभु जगन्नाथेर मन्दिर बेढ़िया । प्रदक्षिणा करि बुले नर्त्तन करिया ॥२०३॥
आगे पाछे गान करे चारि सम्प्रदाय । आछाड़ेर काले धरे नित्यानन्दराय ॥२०४॥
अश्रु पुलक कम्प प्रस्वेद हुँकार । प्रेमेर विकार देखि लोक चमत्कार ॥२०५॥

श्रीजगन्नाथपुरी-वासी सङ्कीर्त्तन देखने के लिये वहाँ आए एवं कीर्त्तन देखकर उन को बहुत चमत्कार हुआ । फिर श्रीमहाप्रभु श्रीजगन्नाथ मन्दिर के चारों ओर घूम कर प्रदक्षिणा करते हुए नृत्य करते-करते भ्रमण करने लगे । उनके आगे पीछे चार मण्डलियां सङ्कीर्त्तन कर रही थीं, श्रीमहाप्रभु प्रेमावेश में जब गिरने लगते तो श्रीनित्यानन्द प्रभु उन्हें सम्भाल लेते । श्रीमहाप्रभु के शरीर पर अश्रु, पुलक, कम्प, स्वेद, हुङ्कार आदि प्रेम के सात्विक-विकार देखकर सब लोग चमत्कृत होगये ॥२०२-२०५॥

पिचकारीर धारा येन अश्रु नयने । चारिदिगेर लोक सब करये सिनाने ॥२०६॥
बेढ़ानृत्य महाप्रभु करि कथोक्षण । मन्दिरेर पाछे रहि करेन कीर्त्तन । २०७॥
चारिदिगे चारिसम्प्रदाय उच्चस्वरे गाय । मध्ये ताण्डव नृत्य करे गौरराय ॥२०८॥
बहुक्षण नृत्य करि प्रभु स्थिर हैला । चारि महान्तेरे तबे नाचिते आज्ञा दिला ॥२०९॥

श्रीमहाप्रभुजी के नेत्रों से जो अश्रुधारा निकल रही थी, वह पिचकारी की धारावत् बहुत दूर तक जा रही थी, चारों ओर खड़े हुए लोगों को वह स्नान ही करा दे रही थी । कुछ काल पर्यन्त श्रीमहाप्रभु ने इस प्रकार मन्दिर में घूमकर सङ्कीर्त्तन किया, फिर वे मन्दिर के पिछले भाग में एक स्थान पर स्थिर होकर कीर्त्तन करने लगे । चारों ओर से चारों मण्डलियां उच्चस्वर से गान कर रही थीं और बीच में श्रीमहाप्रभु ताण्डव-नृत्य कर रहे थे । बहुत काल तक नृत्य करने के बाद श्रीमहाप्रभुजी स्थिर हुए एवं श्रीअद्वैताचार्य, श्रीनित्यानन्द, श्रीवक्रेश्वर तथा श्रीवास—इन चारों महान्तों को उन्होंने नृत्य करने की आज्ञा दी ॥२०६-२०९॥

अद्वैत-आचार्य नाचे एक सम्प्रदाय । आर सम्प्रदाये नाचे नित्यानन्दराय ॥२१०॥
आर सम्प्रदाये नाचे पण्डित वक्रेश्वर । श्रीवास नाचेन आर सम्प्रदाय-भितर ॥२११॥
मध्ये रहि महाप्रभु करेन दर्शन । ताहां एक ऐश्वर्य तांर हैल प्रकटन ॥२१२॥
चारिदिके नृत्य-गीत करे यतजन । सभे देखे करे प्रभु आमारे दर्शन ॥२१३॥

श्रीअद्वैताचार्य एक मण्डली में नृत्य करने लगे और श्रीनित्यानन्द प्रभु दूसरी मण्डली में नृत्य कर रहे थे । तीसरी मण्डली में श्रीवक्रेश्वर पण्डित थे और चौथी मण्डली में श्रीवास नृत्य कर रहे थे । श्रीमहाप्रभु इनके बीच में खड़े रहकर दर्शन कर रहे थे, वहाँ श्रीमहाप्रभु की एक ऐश्वर्यमयी लीला की अभिव्यक्ति हुई । चारों ओर जितनी मण्डलियां नृत्य-गान कर रही थीं सबने यह देखा कि महाप्रभु हमारी ओर देख रहे हैं अर्थात् उनका मुख हमारी ओर है ॥२१०-२१३॥

चारिजनेर नृत्य प्रभुर देखिते अभिलाष । सेइ अभिलाषे करे ऐश्वर्य प्रकाश ॥२१४॥
दर्शने आवेश तांर देखिमात्र जाने । केमते चौदिगे देखे, इहा नाहि जाने ॥२१५॥
पुलिनभोजने येन कृष्ण मध्यस्थाने । चौदिगेर सखा कहे—चाहे आमापाने ॥२१६॥

नृत्य करिते येइ आइसे सन्निधाने। महाप्रभु करे तारे दृढ़ आलिङ्गने ॥२१७॥
महानृत्य महाप्रेम महासङ्कीर्त्तन। देखि प्रेमानन्दे भासे नीलाचलेर जन ॥२१८॥

श्रीमहाप्रभुजी चाहते थे कि चारों महान्तों का नृत्य दर्शन करें, इसी अभिलाष-पूर्त्ति के लिये उनके ऐश्वर्य का प्रकाश हुआ। दर्शनों के आवेश में प्रभु चारों ओर एक ही काल में देख रहे थे, किन्तु वे स्वयं यह न जानते थे कि वे कैसे चारों ओर एक ही समय देख रहे हैं। (माधुर्य-विकाश का यही लक्षण है। ऐश्वर्य-शक्ति—योगमाया लीला को सम्पादन करती है किन्तु भगवान् स्वयं भी नहीं जानते कि वे भगवान् हैं और उनकी लीला कैसे प्रकाशित हो रही है) पुलिन भोजन में जैसे चारों ओर सखाओं के बीच में श्रीकृष्ण विराजमान थे और प्रत्येक गोपबालक यही अनुभव करता था कि श्रीकृष्ण मेरी ओर देख रहे हैं। वही दृश्य आज श्रीमहाप्रभु के नृत्य में था। नृत्य करते-करते जो प्रभु के निकट आता, श्रीमहाप्रभु उसे दृढ़ता से आलिङ्गन कर लेते। इस प्रकार का महानृत्य, अद्भुत-प्रेम तथा महानसङ्कीर्त्तन देखकर नीलाचलवासी लोग प्रेमानन्द सागर में मानो डूब गये ॥२१४-२१८॥

गजपति राजा शुनि कीर्त्तन महत्वे। अट्टाली चढ़िया देखे स्वगण सहिते—॥२१९॥
संकीर्त्तन देखि राजार हैल चमत्कार। प्रभुरे मिलिते उत्कण्ठा बाढ़िल अपार ॥२२०॥
कीर्त्तन समापि प्रभु देखि पुष्पाञ्जलि। सर्ववैष्णव लञा प्रभु आइला वासा चलि ॥२२१॥
पड़िछा आनिया दिल प्रसाद विस्तर। सभारे बांटिया ताहा दिलेन ईश्वर ॥२२२॥

राजा प्रतापरुद्रजी ने भी सङ्कीर्त्तन महत्व को सुना और अट्टालिका पर अपने परिवार सहित चढ़कर देखते रहे। उस अद्भुत सङ्कीर्त्तन-उत्सव को देख राजा को बहुत चमत्कार हुआ और अब तो श्रीमहाप्रभु से मिलने की उत्कण्ठा उनमें और भी बढ़ गई। कीर्त्तन समाप्त होने पर श्रीजगन्नाथजी की पुष्पाञ्जलि के दर्शन करके श्रीमहाप्रभु सब भक्तों के साथ अपने निवास-स्थान पर चले आये, (श्रीजगन्नाथ जी को फूल-शृङ्गार कराने के पश्चात् फूलों की अञ्जलि उनके चरणों में अर्पण की जाती है, उसे यहाँ पुष्पाञ्जलि कहा गया है।) पुजारी ने अनेक प्रसादान्न लाकर दिया और श्रीमहाप्रभु ने उसे सब वैष्णवों में बाँट दिया ॥२१९-२२२॥

सभारे विदाय दिल करिते शयन। एइमत लीला करे शचीरनन्दन ॥२२३॥
यावत् आछिला सभे महाप्रभुर सङ्गे। प्रतिदिन एइतम करे कीर्त्तन-रङ्गे ॥२२४॥
एइ त कहिल प्रभुर कीर्त्तन-विलास। येइ इहा शुने, हय चैतन्येर दास ॥२२५॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२२६॥

श्रीमहाप्रभु ने शयन का समय जानकर सबको विदा किया। इस प्रकार श्रीशचीनन्दन नित्य लीला करते हैं। जब तक सब भक्त वहाँ श्रीमहाप्रभुजी साथ रहे, प्रतिदिन इस भाँति सङ्कीर्त्तन-उत्सव होता रहा। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी कहते हैं—इस प्रकार प्रभु का कीर्त्तन विलास वर्णन हुआ। जो व्यक्ति इसे श्रद्धापूर्वक सुनेंगे, उनका श्रीचैतन्यदेव के चरणों में दास-भाव होगा। श्रीरूपगोस्वामीजी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥२२३-२२६॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य-लीलायां बेढ़ा-कीर्त्तन-विलास वर्णनं-नाम
एकादश परिच्छेदः ॥११॥

जयगौर

मध्य-लीला

द्वादश परिच्छेद

★

श्रीगुण्डिचामन्दिरमात्मवृन्दैः सम्मार्ज्जयन् क्षालनतः स गौरः ।
स्वचित्तवच्छीतलमुज्ज्वलञ्च कृष्णोपवेशोपयिकं चकार ॥१॥

(जिन) श्रीगौराङ्गसुन्दर ने अपने भक्तगणों के साथ श्रीगुण्डिचा मन्दिर को सम्मार्जित और धो कर अपने चित्त की भांति शीतल एवं उज्ज्वल करके श्रीजगन्नाथ जी के विराजमान होने के उपयुक्त कर दिया, (मैं उनको नमस्कार करता हूँ ।) ॥१॥

चै० च० चु० *टीका*—इस द्वादश-परिच्छेद में राजा प्रतापरुद्र जी के पुत्र के साथ श्रीमहाप्रभु का मिलन, गुण्डिचा मन्दिर का मार्जन तथा भक्तवृन्दों के साथ प्रभु का उद्यान में भोजन करना आदि लीलाओं का वर्णन किया गया है ।

रथयात्रा के समय रथ से उतर कर पुनः रथमें यात्रा करने के समय तक के कुछ दिन श्रीजगन्नाथ जी जिस मन्दिर में अवस्थान करते हैं, उसका नाम गुण्डिचा-मन्दिर है । उन दिनों को छोड़ कर बाकी वर्ष भर के लिए वह मन्दिर खाली पड़ा रहता है । इसलिये धूलि आदि से गन्दा और मैला पड़ा रहता है । रथयात्रा से पहले उसे साफ किया और धोया जाता है । श्रीमन्महाप्रभु ने इस वर्ष अपने भक्तों को साथ लेकर स्वयं उस गुण्डिचा-मन्दिर को धोया एवं साफ किया । श्रीमहाप्रभु जितने काल तक श्रीजगन्नाथपुरी रहे, प्रत्येक वर्ष इसी भाव से श्रीगुण्डिचा-मन्दिर को परिष्कार करते रहे ।

जय जय महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य । जय जय नित्यानन्द जयाद्वैत धन्य ॥१॥
जय जय श्रीवासादि गौरभक्तगण । शक्ति देह—करि येन चैतन्य वर्णन ॥२॥

श्रीमन्महाप्रभु श्रीश्रीकृष्णचैतन्य देव की जय हो, जय हो । श्रीनित्यानन्द महाप्रभु तथा महाभाग्य श्रीअद्वैताचार्य प्रभु की जय हो, जय हो । श्रीवासादि गौरभक्तवृन्दों की जय हो, जय हो । आप सब मुझे शक्ति प्रदान कीजिये, जिस से मैं श्रीचैतन्य-लीलाओं का वर्णन कर सकूं ॥१—२॥

पूर्वे दक्षिण हइते यबे प्रभु आइला । तांरे मिलिते गजपति उत्कण्ठित हैला ॥३॥
कटक हैते पत्री दिल सार्वभौम-ठाञि । प्रभु-आज्ञा हय यदि—देखिबारे याइ ॥४॥
भट्टाचार्य्य लिखिला प्रभुर आज्ञा ना हइल । पुनरपि राजा तारे पत्री पाठाइल॥५॥
प्रभुर निकटे यत आछेन भक्तगण । मोर लागि तांसभारे करिह निवेदन ॥६॥

सेइ सब दयालु मोरे हइया सदय। मोर लागि प्रभुपदे करेन विनय ॥७॥
तां-सभार प्रसादे मिलों श्रीप्रभुर पाय। प्रभु कृपा-बिनु मोरे राज्य नाहि भाय॥८॥
यदि मोरे कृपा ना करेन गौरहरि। राज्य छाड़ि प्राण दिव हइव भिखारी ॥९॥
भट्टाचार्य पत्री देखि चिन्तित हइया। भक्तगणपाश-गेला से पत्री लइया ॥१०॥

जब श्रीमहाप्रभुजी दक्षिण यात्रा करके नीलाचल लौट आये तब प्रभु के आने का समाचार राजा प्रतापरुद्र ने कटक में सुना और वे प्रभु के दर्शनों के लिये अति उत्कण्ठित हो उठे। उन्होंने कटक से ही श्रीसार्वभौम जी को एक पत्र लिखा कि यदि प्रभु की आज्ञा हो तो मैं उनके दर्शनों को नीलाचल चला आऊं। भट्टाचार्य जी ने उत्तर में लिख भेजा कि प्रभु की आज्ञा आपको मिलने की नहीं है। फिर राजा ने दुबारा एक पत्र भट्टाचार्य जी को लिखा कि "प्रभु के निकट जितने भक्तगण आप रह रहे हो, मेरे लिये वे सब प्रभु को निवेदन करें।" वे सब दयालु भक्त मुझ पर दया करें और मेरे लिये श्रीमहाप्रभु को विनय करें। मैं उन सब की कृपा से श्रीमहाप्रभु के चरणों को प्राप्त कर लूंगा, मुझे अब प्रभु कृपा प्राप्त किये बिना राज्यपाट नहीं सुहाता है। यदि श्रीगौरहरि मुझ पर कृपा नहीं करेंगे, तो मैं राज्य को छोड़कर भिखारी हो जाऊंगा और अपने प्राणों को त्याग दूंगा।" ऐसा एक पत्र श्रीप्रतापरुद्र राजा ने जब लिख भेजा, तो श्रीभट्टाचार्य उसे पढ़कर बहुत चिन्तित हुए और उस पत्र को लेकर सब भक्तगणों के पास गये ॥

सभारे मिलिया कहिला राज-विवरण। पाछे सेइ पत्री सभारे कराइल दर्शन ॥११॥
पत्री देखि सभार मने हइल विस्मय। प्रभुपदे गजपतिर एत भक्ति हय ॥१२॥
सभे कहे—प्रभु तारे कभु ना मिलिवे। आमि सब कहि यबे—दुख से मानिवे ॥१३॥
सार्वभौम कहे—सबे चल एकबार। मिलिते ना कहिव, कहिव राज-व्यवहार ॥१४॥
एत कहि सबे गेला महाप्रभु स्थाने। कहिते उन्मुख सभे, ना कहे वचने ॥१५॥

श्रीसार्वभौम जी ने सब को राजा का हाल सुनाया और फिर वह पत्र भी सबको दिया। पत्र को देख कर सब को बहुत आश्चर्य हुआ कि श्रीचैतन्य के चरणों में राजा प्रतापरुद्र की इतनी श्रद्धा एवं भक्ति है। सबने कहा कि, "प्रभु तो उनको कभी भी नहीं मिलेंगे, किन्तु यही बात हम राजा से कहेंगे, तो उन्हें दुख होगा।" सार्वभौम जी ने कहा—"एक बार प्रभु के पास हमें चलना चाहिये। प्रभु से राजा को मिलने की कुछ बात नहीं कहेंगे। केवल राजा के आचरण एवं उसके भक्तिभाव का कथन श्रीमहाप्रभु जी को सुनाएँगे।" इस प्रकार सब निश्चय करके श्रीमहाप्रभु के स्थान पर आए। सब उस बात को कहने के लिये उन्मुख तो होते, किन्तु किसी का भी साहस बोलने का नहीं हुआ ॥११—१५॥

प्रभु कहे—कि कहिते सभार आगमन ? देखि ये कहिते चाह, ना कह कि कारण॥१६॥
नित्यानन्द कहे—तोमाय चाहि निवेदिते। ना कहिले रहिते नारि,कहिते भय चिते॥१७॥
योग्यायोग्य सब तोमाय चाहि निवेदिते। तोमा ना मिलिले राजा चाहे योगी हैते॥१८॥
यद्यपि शुनिञा प्रभुर कोमल हैल मन। तथापि बाहिरे कहे निष्ठुर वचन ॥१९॥

श्रीमहाप्रभु ने पूछा—"आप सब का आगमन यहाँ क्या कहने को हुआ है ? मैं देखता हूँ आप कुछ कहना चाहते हैं, किन्तु कह नहीं पा रहे हो, इसका क्या कारण है ?" श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—

"आप से कुछ निवेदन करना चाहते हैं, बिना कहे रह भी नहीं सकते, किन्तु कहते हुए भी भय लगता है। योग्य और अयोग्य सब आपको निवेदन करना चाहते हैं, किन्तु उसे करना या न करना आपकी इच्छा पर निर्भर है। वह यह है कि राजा प्रतापरुद्र आपके दर्शन बिना राज्य-पाट छोड़कर संन्यासी होना चाहता है।" इस बात को सुनकर यद्यपि श्रीमहाप्रभु का मन कुछ कोमल हुआ, तथापि बाहर से वे निठुर वचन कहने लगे ॥१६—१६॥

तोमासभार इच्छा एइ, आमासभा लञा। राजा के मिलह इंहो कटक याइया ॥२०॥
परमार्थ याउ, लोके करिवे निन्दन। लोक रहु, दामोदर करिवे भर्त्सन ॥२१॥
तोमासभार आज्ञाय आमि ना मिलि राजारे। दामोदर कहे यदि तबे मिलि तारे ॥२२॥

श्रीमहाप्रभु बोले—"आप सब की इच्छा यही है कि हम सब यहाँ से कटक चल कर राजा को मिलें। (संन्यासी यदि राजा का दर्शन करे तो उसका संन्यास धर्म नष्ट होता है।) मेरा परमार्थ (संन्यास-धर्म) जाता है तो जाने दो, लोग भी तो मेरी निन्दा करेंगे (कि अपने स्वार्थ के लिये राजा को जाकर मिले हैं) और फिर लोगों की निन्दा की बात रहने दीजिये। दामोदर भी तो मेरा तिरस्कार करेंगे। (श्रीदामोदर स्पष्ट-वक्ता थे और प्रभु को भी वे कहने सुनने में कोई सङ्कोच न करते थे।) इसलिये मैं तुम सब की बात तो मान कर राजा से मिलूंगा नहीं, हां, यदि दामोदर कह दें, तो उसे मिल सकता हूँ।"

दामोदर कहे—तुमि स्वतन्त्र ईश्वर। कर्त्तव्याकर्त्तव्य सब तोमार गोचर ॥२३॥
आमि कौन क्षुद्रजीव तोमारे विधि दिव ? आपने मिलिवे तारे, ताहा ये देखिव ॥२४॥
राजा तोमाय स्नेह करे, तुमि स्नेहवश। तांर स्नेहे करावे तारे तोमार परश ॥२५॥
यद्यपि ईश्वर तुमि परम स्वतन्त्र। तथापि स्वभावे हओ प्रेम-परतन्त्र ॥२६॥

प्रभु के वचन सुनकर श्रीदामोदर ने कहा—"प्रभो ! आप स्वतन्त्र भगवान् हैं और कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य सब आप जानते हैं। मैं एक क्षुद्र जीव, मुझे क्या सामर्थ्य कि मैं आपको उपदेश दे सकूं ? किन्तु यह मैं जानता हूँ और हम सब यह देखेंगे—आप स्वयं उसे दर्शन दो गे और उससे मिलोगे। उसका कारण यह है कि राजा आप से स्नेह करता है और आप केवल मात्र स्नेह के आधीन हो। उसका स्नेह ही उसे आपके चरणों का स्पर्श करा देगा। यद्यपि आप परम स्वतन्त्र ईश्वर हो,तो भी अपने स्वभाव(प्रेमाधीनत्व) के कारण आप प्रेमी के वशीभूत हो जाते हो" ॥२३—२६॥

नित्यानन्द कहे—ऐछे हय कोन् जन। ये तोमारे कहे—'कर राजारे मिलन' ? ॥२७॥
किन्तु अनुरागि-लोकेर स्वभाव एक हय। इष्ट ना पाइले निज प्राण से छाड़य ॥२८॥
याज्ञिक-ब्राह्मणी हय ताहाते प्रमाण। कृष्ण लागि पति-आगे छाड़िल पराण ॥२९॥
तैछे युक्ति करि, यदि कर अवधान। तुमिह ना मिल तारे, रहे तार प्राण ॥३०॥

श्रीनित्यानन्द प्रभु बोले—"प्रभो ! ऐसा भला कौन व्यक्ति है जो आपको यह कह सके कि आप राजा को दर्शन दो ? किन्तु अनुरागी-भक्त का यह स्वभाव है. कि वह अपने इष्ट देव की प्राप्ति बिना अपने प्राणों का त्याग कर देता है। याज्ञिक ब्राह्मणी इस बात का प्रमाण है। श्रीकृष्ण भगवान् के दर्शनों के लिये जब उसके पति ने उसे रोक दिया और घर में बन्द कर दिया था, तो उसने अपने पति के आगे प्राण छोड़ दिये थे। अतः प्रभो ! एक ऐसी युक्ति है, सो यदि आप सहमत हों तो उसे करिये, आप भी उसे न मिलें और उसके प्राण भी बचें ॥२७—३०

चै० च० चु० *टीका*— याज्ञिक ब्राह्मणी की कथा श्रीमद्भागवत जी दशम स्कन्ध १३ अध्याय में वर्णित है । वह इस प्रकार है कि चीरहरणलीला के पश्चात् श्रीकृष्ण गोपबालकों के साथ गौओं को चराते चराते श्रीवृन्दावन से बहुत दूर निकल गये । बनशोभा देख करके सबने गौओं को यमुनाजल पान कराया और सब गोप बालक स्वयं भी भूख से व्याकुल हो उठे । उन सबने आकर श्रीश्यामसुन्दर से कहा "कृष्ण! तुमने बड़े बड़े असुर मार डाले, किन्तु इस भूख राक्षसी को न मारा । हम तो भूखे मरे जाते हैं, ला कुछ खाने को हो तो ।" श्रीश्यामसुन्दर ने कहा—"देखो ! यहाँ से थोड़ी दूर मथुरा के ब्राह्मण-गण यज्ञ कर रहे हैं, तुम वहाँ चले जाओ और दादा बलराम का और मेरा नाम लेकर उनसे कहो कि श्याम-बलराम सखाओं सहित बन में आए हैं और वे भूखे हैं, उन सब के लिये कुछ खाने को दीजिये । वे जो कुछ दें या कहें, उसे ले लेना या सुन लेना, तुम कुछ उसका प्रति-उत्तर मत देना ।" गोप बालक ब्राह्मणों के पास गये किन्तु उन्होंने कुछ भी नहीं दिया और वे निराश होकर लौट आए और श्रीकृष्ण-बलराम से आकर सब हाल कह दिया । फिर श्रीकृष्ण ने गोप बालकों से कहा कि "तुम उन ब्राह्मणों की पत्नियों के पास चले जाओ और मेरा नाम उनसे कहकर अन्न ले आओ, वह मुझसे बहुत स्नेह करती हैं ।" श्रीकृष्ण को बात सुन कर ब्रज-बालक उन ब्राह्मण-पत्नियों के पास आए और श्रीकृष्ण का नाम लेकर अन्न याचना की । श्रीकृष्ण का नाम सुनते ही उन ब्राह्मण-पत्नियों का मन श्रीकृष्ण दर्शन के लिए चञ्चल हो उठा । कारण कि वे पहले से ही श्रीश्यामसुन्दर के सौन्दर्य-माधुर्य के विषय में सुन चुकी थीं । श्रीकृष्ण अब उनके निकट आए हैं, यह जानकर वे अनेक अनेक सुन्दर खाद्य पदार्थ लेकर उन बालकों के साथ हो लीं । पति, पिता, गृहजनों के रोकने पर भी वे न रुकीं और श्रीकृष्ण के पास पहुँच कर प्रेम-पूर्वक उनके दर्शन किये और सब पदार्थ उनके अर्पण कर दिये, किन्तु एक ब्राह्मण-पत्नी रह गई थी, जिसे उसके पति ने कमरे में बन्द कर दिया था और श्रीकृष्ण-दर्शन में उसे नहीं जाने दिया । वह श्रीश्यामसुन्दर के अनुराग में व्याकुल हो उठी और ध्यान-योग से श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर पञ्चभौतिक शरीर को उसने त्याग दिया ।

इस आख्यान से एक तो कर्मकाण्ड में लिप्त पुरुषों की निष्ठा का पता लगता है, वे भगवान् की भक्ति से कितने दूर होते हैं ? सर्वयज्ञों के भोक्ता एवं सर्व कर्मों के फल प्रदाता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् उनसे खाने को मांग रहे थे, किन्तु उनकी बुद्धि उसी कर्मकाण्ड में ही फँस रही थी और उन्हें लक्ष्य की पहिचान नहीं रही ।

दूसरे अनुरागी भक्तों की श्रीकृष्ण दर्शन-लालसा का पता लगता है । वे भगवान् के दर्शन बिना इतने अधीर हो जाते हैं कि उनके बिना प्राणों तक को भी न्यौछावर कर देते हैं ।—इसी बात को लेकर श्रीनित्यानन्द प्रभु जी ने प्रभु से निवेदन किया कि राजा आपके दर्शन-बिना प्राण छोड़ देगा । अतः ऐसी एक युक्ति है जिससे उसके प्राण बच सकें । उसे अगले पयारों में वर्णन करते हैं :—

एक बहिर्वास यदि देह कृपा करि । ताहा पाञा प्राण राखे तोमार आशा धरि ॥३१॥
प्रभु कहे—तुमि सब परम विद्वान । येइ भाल हय, सेइ कर समाधान ॥३२॥
तबे नित्यानन्दगोसाञि गोविन्देर पाश । मागिया लइल प्रभुर एक बहिर्वास ॥३३॥
सेइ बहिर्वास सार्वभौम पाश दिल । सार्वभौम सेइ वस्त्र राजारे पाठाइल ॥३४॥
वस्त्र पाञा आनन्दित हैल राजार मन । प्रभुरूप करि करे वस्त्रेर पूजन ॥३५॥

श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"आप यदि अपना एक बहिर्वास (कटि में धारण करने का वस्त्र) कृपा कर उसे प्रदान करें तो राजा उसे पाकर आपके चरण-दर्शन की आशा रखते हुए प्राण धारण करे ।" प्रभु ने कहा—"तुम सब परम विद्वान हो, जो ठीक रहे, वही समाधान करिये ।" तब श्रीनित्यानन्द

प्रभु ने श्रीगोविन्द से प्रभु का एक बहिर्वास ले लिया और उसे श्रीसार्वभौम को दे दिया। और श्रीसार्वभौम ने वह वस्त्र राजा के पास कटक भेज दिया। राजा का मन उस वस्त्र को पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और वह उस वस्त्र की प्रभु के समान पूजा करता रहा ।।३१—३५।।

रामानन्द राय यबे दक्षिण हैते आइला। प्रभु सङ्गे रहिते राजारे निवेदिला ।।३६।।
तबे राजा सन्तोषे ताहारे आज्ञा दिला। आपन मिलन लागि साधिते लागिला ।।३७।।
महाप्रभु महा कृपा करेन तोमारे। मोरे मिलाइते अवश्य साधिबे तांहारे ।।३८।।

फिर श्रीरामानन्दराय जब विद्यानगर से राजा के पास कटक आये और प्रभु के पास रहने का निवेदन किया तो राजा ने सन्तुष्ट होकर उन्हें अवकाश दे दिया और प्रभु के पास रहने की आज्ञा दे दी। उस समय राजा ने अपने सम्बन्ध में भी रायरामानन्द जी से कहा कि उसे भी प्रभु को मिलाने का यत्न करें। राजा ने कहा—"रामानन्द ! तुम पर श्रीमहाप्रभु की अपार कृपा है, इसलिये मुझे जिस प्रकार प्रभु चरण के दर्शन मिलें—ऐसा अवश्य यत्न करना" ।।३६-३८।।

एक सङ्गे दुइजन क्षेत्रे यबे आइला। रामानन्दराय तबे प्रभुरे मिलिला ।।३९।।
प्रभु-पदे प्रेमभक्ति जानाइल राजार। प्रसङ्ग पाइया ऐछे कहे बार बार ।।४०।।
राजमन्त्री रामानन्द व्यवहारे-निपुण। राजार प्रीति कहि द्रवाय महाप्रभुर मन।।४१।।
उत्कण्ठाते प्रतापरुद्र नारे रहिबारे। रामानन्दे साधिलेन प्रभु मिलिबारे ।।४२।।
रामानन्द प्रभु-पदे कैल निवेदन—। एक बार प्रतापरुद्रे देखाह चरण ।।४३।।

जब राजा प्रतापरुद्र तथा श्रीरामानन्द दोनों इकट्ठे श्रीजगन्नाथपुरी आए तो श्रीरामानन्द जी श्रीमहाप्रभु से मिले। राय ने राजा की प्रभु के चरणों में प्रेमभक्ति को जनाया और जब भी कोई प्रसङ्ग चलता तो रामानन्द जी राजा की प्रभु के प्रति प्रीति का बार-बार बखान करते। (किन्तु प्रभु राजा को दर्शन दें यह बात वे स्पष्ट रूप से प्रभु को नहीं कहते) रायरामानन्द राज-मन्त्री थे। व्यवहार में अत्यन्त निपुण थे। राजा की प्रीति कथा को सुना कर प्रभु का मन उन्होंने द्रवीभूत कर दिया। यह जानकर कि प्रभु दर्शन बिना राजा अब नहीं रह सकते, उनकी वह प्रबल उत्कण्ठा है, अतः उन्हें प्रभु से मिलाने के लिये श्रीरायरामानन्द ने कुछ बात साध ली। उन्होंने प्रभु के चरणों में निवेदन किया—"प्रभो ! एक बार आप प्रतापरुद्र को चरण-दर्शन दीजिये ।।३९—४३।।

प्रभु कहे—रामानन्द ! कह विचारिया। राजारे मिलते जुयाय संन्यासी हइया ।।४४।।
राजार मिलने भिक्षुर दुइलोक नाश। परलोक रहु लोके करे उपहास ।।४५।।
रामानन्द कहे—तुमि ईश्वर स्वतन्त्र। कारे तोमार भय, तुमि नहे परतन्त्र ।।४६।।
प्रभु कहे—आमि मनुष्य, आश्रमे संन्यासी। कायमनोवाक्ये व्यवहारे भय वासि ।।४७।।
संन्यासीर अल्प छिद्र सर्वलोक गाय। शुक्लवस्त्रे मसीबिन्दु यैछे ना लुकाय ।।४८।।

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"रामानन्द ! तुमही थोड़ा विचार करके कहो—क्या संन्यासी के लिये राजा से मिलना सङ्गत है ? राजा के मिलने से संन्यासी के तो दोनों लोक नाश होते हैं। परलोक की बात भी रहने दो, इस लोक में भी उपहास होगा।" श्रीरामानन्द जी ने कहा—"आप ईश्वर हो, परम स्वतन्त्र

हो। आपको किसका भय है ? आप किसी के परतन्त्र हैं क्या ?" प्रभु ने कहा–'मैं मनुष्य हूँ और संन्यास आश्रम मैंने ग्रहण किया है। इसलिए शरीर से, मन से एवं वचन से ऐसा कोई आश्रम-विरुद्ध काम करने से मैं भयभीत होता हूँ। संन्यासी में कोई छोटा सा भी दोष हो तो लोगों में उसकी बहुत अधिक आलोचना होती है जैसे धुले हुए सफेद वस्त्र पर स्याही का धब्बा छिपता नहीं है वरन् सबको दीखता है" ॥४८॥

राय कहे—कत पापीर करियाछ अव्याहति। ईश्वर-सेवक तोमार भक्त गजपति ॥४९॥
प्रभु कहे—पूर्ण यैछे दुग्धेर कलस। सुराविन्दु पाते केहो ना करे परश ॥५०॥
यद्यपि प्रतापरुद्र सर्वगुणवान्। ताहारे मलिन कैल एक 'राजा' नाम ॥५१॥
तथापि तोमार यदि महाग्रह हय। तबे आनि मिलाह मोरे ताहार तनय ॥५२॥
आत्मा वै जायते पुत्रः, एइ शास्त्रवाणी। पुत्रेर मिलने येन मिलिला आपनि ॥५३॥

श्रीरामानन्द जी ने कहा—"प्रभो ! आपने कितने पापियों का उद्धार कर दिया है ? राजा तो श्रीजगन्नाथ जी का सेवक है और आपका भक्त भी है।" प्रभु ने कहा—"दूध का भरा कलश हो और उसमें सुरा पड़ जाये तो जैसे उसको कोई भी वैष्णव स्पर्श नहीं करता, इसी भाँति यदि प्रतापरुद्र सर्वगुण सम्पन्न हैं तथापि उसे 'राजा' नाम ने मलिन कर रखा है। फिर भी रामानन्द ! यदि तुम्हारा बहुत आग्रह है तो मुझे प्रतापरुद्र के लड़के को लाकर मिला दीजिए। क्योंकि 'जीव स्वयं ही पुत्ररूप से जन्म ग्रहण करता है, ऐसी शास्त्रोक्ति है, पुत्र के मिलने से मानों उसका अपना मिलन हो जाएगा" ॥४९—५३॥

तबे राय याइ सब राजाके कहिला। प्रभुर आज्ञाय तार पुत्र लइया आइला ॥५४॥
सुन्दर राजार पुत्र—श्यामल--वरण। कैशोर--वयस, दीर्घ चपल नयन ॥५५॥
पीताम्बर धरे, अङ्गे रत्न—आभरण। कृष्ण—स्मरणेर तेंहो हैला उद्दीपन ॥५६॥
तारे देखि महाप्रभुर कृष्णस्मृति हैला। प्रेमावेशे तारे मिलि कहिते लागिला ॥५७॥
एइ महाभागवत—याहार दर्शने। ब्रजेन्द्रनन्दन--स्मृति हय सर्वजने ॥५८॥
कृतार्थ हइलाम आमि इहार दर्शने। एत बलि पुन तारे कैल आलिङ्गने ॥५९॥

श्रीरामानन्द ने जाकर सब बात राजा को सुनाई और प्रभु की आज्ञा से उसके पुत्र को प्रभु-दर्शन के लिए ले आए। राजा प्रतापरुद्र का पुत्र बहुत सुन्दर था, उसका श्यामल वर्ण था, किशोर अवस्था, विशाल चञ्चल नेत्र थे उसके। वह पीताम्बर धारण कर रहा था, उसके अङ्ग रत्नों से विभूषित थे, उसे देखते ही प्रभु को श्रीकृष्ण-स्मृति जाग आई, एवं श्रीकृष्ण-स्मरण का उद्दीपन-भाव प्रकाशित हो आया। प्रभु प्रेमावेश में उसे आलिङ्गन करते हुए कहने लगे—"यह तो महाभागवत है, इसके देखने से तो सबको श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की स्मृति होती है। मैं तो इसके दर्शन करने से कृतार्थ हो गया"—इतना कहकर प्रभु ने फिर उसे आलिङ्गन किया ॥५४-५९॥

प्रभुस्पर्शे राजपुत्रेर हैल प्रेमावेश। स्वेद, कम्प, अश्रु, स्तम्भ यतेक विशेष ॥६०॥
'कृष्ण कृष्ण' कहे नाचे करये रोदन। तार भाग्य देखि श्लाघा करे भक्तगण ॥६१॥
तबे महाप्रभु तारे धैर्य्य कराइल। 'नित्य आसि आमाय मिलिह', एइ आज्ञा दिल ॥६२॥
विदाय लञा राय आइला राजपुत्र लञा। राजा सुख पाइल पुत्रेर चेष्टा देखिया ॥६३॥

पुत्रे आलिङ्गन करि प्रेमाविष्ट हैला। साक्षात् परश येन महाप्रभुर पाइला ॥६४॥
सेइ हैते भाग्यवान् राजार नन्दन। प्रभुर भक्तगण मध्ये हैला एकजन ॥६५॥

श्रीमहाप्रभु के आलिङ्गन करते ही राज-पुत्र को प्रेमावेश होगया। स्वेद, कम्प, अश्रु, स्तम्भ आदि प्रेम के विशेष सात्विक विकार उसे होने लगे। 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर वह तो नाचने और रोने लगा। उसके भाग्यों को देख कर सब भक्तगण उसकी प्रशंसा करने लगे। तब श्रीमहाप्रभु ने उसे धीरज दिया और आज्ञा दी कि "तुम मुझसे आकर नित्य मिला करो।" आज्ञा लेकर रायरामानन्दजी राजपुत्र को लेकर राजा के पास आए और राजाने अपने पुत्र की चेष्टा देखकर बहुत सुख पाया। राजा ने अपने बेटे को आलिङ्गन किया, ऐसा करते ही राजा प्रेमाविष्ट होगया मानो उसने साक्षात् श्रीमहाप्रभुजी को ही आलिङ्गन किया हो। उसी दिन से उस भाग्यवान् राजपुत्र की श्रीमहाप्रभु के भक्तगणों में गिनती होगई ॥

एइमत महाप्रभु भक्तगण सङ्गे। निरन्तर क्रीड़ा करे संकीर्त्तन रङ्गे ॥६६॥
आचार्य्यादि भक्तगण करे निमन्त्रण। ताहां-ताहां भिक्षा करे लञा भक्तगण ॥६७॥
एइमत नाना रङ्गे दिनकथो गेल। श्रीजगन्नाथेर रथयात्रार दिवस आइल ॥६८॥
प्रथमेइ प्रभु काशीमिश्रेरे आनिया। पड़िछापात्र सार्वभौम आनिल डाकिया ॥६९॥
तिन जनार पाशे प्रभु हासिया कहिल। गुण्डिचामन्दिर-मार्ज्जन-सेवा मागि निल ॥७०॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी भक्तगणों के साथ सङ्कीर्त्तन करते हुए निरन्तर क्रीड़ा करते थे। आचार्यादि भक्तगण प्रभु का निमन्त्रण करते और प्रभु सबके पास जा जाकर भक्तों के सहित भिक्षा करते। इस प्रकार अनेक लीलाओं में कुछ एक दिन गुजर गये और श्रीजगन्नाथजी की रथयात्रा का दिन आ पहुँचा। पहले ही प्रभु ने श्रीकाशीमिश्र, परिछापात्र तथा सार्वभौम—इन तीनों को एक दिन अपने पास बुलाया था और इनसे हँसकर प्रभु ने गुण्डिचा मन्दिर के धोने आदि की सेवा मांग ली थी ॥६६-७०॥

पड़िछा कहे आमि सब सेवक तोमार। येइ तोमार इच्छा सेइ कर्त्तव्य आमार ॥७१॥
विशेष राजार आज्ञा हयेछे आमारे। येइ प्रभुर इच्छा सेइ शीघ्र करिवारे ॥७२॥
तोमार योग्य सेवा नहे मन्दिर-मार्ज्जन। एहो एक लीला करये तोमार मन ॥७३॥
किन्तु घट-सम्मार्ज्जन बहुत चाहिये। आज्ञा देह आजि सब इहां आनि दिये ॥७४॥

पड़िछा ने कहा, "प्रभो! हम सब आपके सेवक मौजूद हैं, जो भी आपकी इच्छा है उसे पूर्ण करना हमारा कर्त्तव्य है। विशेष कर राजा ने हमें यह आज्ञा दे रखी है कि जो भी प्रभु की इच्छा हो—उसे हम तत्काल ही करदें। प्रभो! मन्दिर का झाड़ना-बुहारना एवं धोना इत्यादि यह सेवा आपके योग्य नहीं है। यह तो आपके मनमें कोई लीला करने की समाई है कि आप मन्दिर मार्ज्जन करना चाहते हैं।" परिछा ने फिर कहा—"पानी भरने के लिये बहुत घड़े और मार्जन करने के लिये झाड़ू चाहियें। यदि आपकी यही आज्ञा है तो वे सब लाकर यहाँ पहुँचा दिये जायँ ॥७१-७४॥

तबे एकशत घट शत सम्मार्ज्जनी। नूतन प्रभुर आगे दिल पड़िछा आनि ॥७५॥
आर दिन प्रभाते प्रभु लञा निजगण। श्रीहस्ते सभार अङ्गे लेपिल चन्दन ॥७६॥
श्रीहस्ते सभारे दिल एकेक मार्ज्जनी। सब गण लैया प्रभु चलिला आपनि ॥७७॥
गुण्डिचामन्दिरे गेला करिते मार्ज्जन। प्रथमे मार्ज्जनी लञा करिल शोधन ॥७८॥

तदनन्तर परिछा ने एक सौ नवीन घड़े और एक सौ नई झाड़ू प्रभु के सामने लाकर रखदीं। दूसरे दिन प्रभात काल में प्रभु अपने भक्तों को साथ लेकर चले। आपने अपने श्रीहस्त से सब भक्तों को चन्दन लगाया और सबके हाथ में एक-एक झाड़ू दी। सबको साथ लेकर प्रभु गुण्डिचामन्दिर मार्ज्जन करने के लिये पहुँचे। सर्वप्रथम श्रीमहाप्रभु ने मार्ज्जनी लेकर सफाई की ॥७५-७८॥

भितर मन्दिर उपर सब सम्मार्ज्जिल। सिंहासन मार्ज्जि चारि भित से शोधिल ॥७९॥
भितर मन्दिर कैल मार्ज्जन शोधन। पाछे तैछे शोधिलेन श्रीजगमोहन ॥८०॥
चारिपाशे शत भक्त सम्मार्ज्जनी करे। आपनि शोधय प्रभु शिखाये सभारे ॥८१॥
प्रेमोल्लासे गृह शोधे, लय कृष्णनाम। भक्तगण 'कृष्ण' कहे, करे निजकाम ॥८२॥

श्रीमहाप्रभु ने मन्दिर के भीतर पहले छत्त को मार्ज्जन किया, फिर सिंहासन तथा चारों तरफ की दीवारों का शोधन किया। मन्दिर के अन्दर मार्ज्जन-शोधन के पश्चात् उन्होंने बरामदे को साफ किया। प्रभुके चारों ओर शत-शत भक्त हाथ में सम्मार्ज्जनी लिये हुए शोधन कर रहे थे और भगवान् स्वयं भक्त-रूप में अपनी सेवा की शिक्षा सबको दे रहे थे। प्रेमोल्लास में प्रभु मन्दिर को भी साफ कर रहे थे और मुखसे श्रीकृष्ण-नाम ले रहे थे, और भक्तगण भी मुख से श्रीकृष्ण-नाम का उच्चारण कर रहे थे एवं हाथों से अपना काम कर रहे थे ॥७९-८२॥

धूलिधूसर-तनु देखिते शोभन। कांहो कांहो अश्रुजले करे सम्मार्ज्जन ॥८३॥
भोगमण्डप शोधि शोधिल प्राङ्गण। सकल आवास क्रमे करिल शोधन ॥८४॥
तृण धूलि झिंकर सब एकत्र करिया। बहिर्वासे करि फेलाय बाहिरे लइया ॥८५॥
एइमत भक्तगण करि निज वासे। तृण धूलि बाहिरे फेले परम हरिषे ॥८६॥

श्रीमहाप्रभु का शरीर धूलधूसरित होने से विशेष शोभायुक्त हो रहा था। कहीं-कहीं अश्रुजल से उनके शरीर पर सुन्दर लकीरें सी दिखाई देती थीं। भोगमण्डप को साफ करने के बाद प्रभु ने प्राङ्गन को साफ किया। इस प्रकार क्रम से सबने सब मन्दिर की सफाई कर दी। तृण-धूलि-कूड़ा आदि सब एकत्र कर करके प्रभु ने अपने बहिर्वास में उठाकर बाहर फैंका और प्रभु का अनुकरण करते हुए अन्यान्य सब भक्त भी अपने कपड़ों में धूलि-तृण-कूड़ादि उठा उठाकर परम हर्षित होकर बाहर फैंकने लगे ॥८३-८६॥

प्रभु कहे—के कत करियाछे मार्ज्जन। तृणधूलि परिमाणे जानिब परिश्रम ॥८७॥
सभार झाटिना बोझा एकत्र करिल। सभा हैते प्रभुर बोझा अधिक हइल ॥८८॥
एइ मत अभ्यन्तर करिल मार्ज्जन। पुन सभाकारे दिल करिया बन्टन ॥८९॥
सूक्ष्म धूलि तृण कांकर सब कर दूर। भाल मते शोध सब प्रभुर अन्तःपुर ॥९०॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"किसने कितना अधिक परिश्रम करके झाड़ा है, यह तृण-धूलि के परिमाण से (ढेर से) पता लगेगा।" सबने अपनी अलग-अलग ढेरी लगाई किन्तु श्रीमहाप्रभुजी की ढेरी सबसे अधिक हुई। इस प्रकार मन्दिर का भीतरी भाग मार्ज्जित होगया, परन्तु फिर प्रभु ने सबको स्थान बाँट दिये कि एक बार पुनः अच्छी तरह से सूक्ष्म-तृणादि को झाड़ दीजिये जिससे श्रीजगन्नाथजी का मन्दिर अत्यन्त शुद्ध हो जाए ॥८७-९०॥

सब वैष्णव लञा यबे दुइवार शोधिल । देखि महाप्रभुर मने सन्तोष हइल ॥९१॥
आर शतजन शत घटे जल भरि । प्रथमेइ लञा आछे कालापेक्षा करि ॥९२॥
जल आन बलि यबे महाप्रभु कैल । तबे शतघट आनि प्रभु आगे दिल ॥९३॥
प्रथमे करिल प्रभु मन्दिर प्रक्षालन । ऊर्द्ध-अध-भित्ति-गृहमध्य सिहांसन ॥९४॥
खापरा भरिया जल ऊर्द्धे चालाइल । सेइ जले ऊर्द्ध शोधि भित प्रक्षालिल ॥९५॥

सब वैष्णवों ने जब दुबारा सफाई की तो अब के श्रीमहाप्रभु जी का मन सन्तुष्ट हो गया और एकसौ व्यक्ति सौ घड़े पानी के भरे हुए लिये तैयार खड़े थे और सफाई हो जाये इस बात की इन्तजार कर रहे थे। जब श्रीमहाप्रभु ने जल लाने की आज्ञा दी तो सौ घड़ा पानी का प्रभु के आगे उन लोगों ने प्रस्तुत कर दिया। प्रथम प्रभु ने मन्दिर को धोया, सिंहासन तथा कमरे की ऊंची-नीची दीवारों को धो दिया। टूटे हुए घड़े के खप्पड़ से पानी भर भर कर ऊंचा उछाल उछाल कर ऊंची-नीची दीवारें प्रभुने धो डालीं॥

प्रथमे करिल प्रभु मन्दिर प्रक्षालन । श्रीहस्ते करेन सिंहासनेर मार्ज्जन ॥९६॥
भक्तगण करे गृहमध्य प्रक्षालन । निज निज हस्ते करे मन्दिर मार्ज्जन ॥९७॥
केहो जलघट देय महाप्रभुर करे । केहो छले जल देय चरण उपरे ॥९८॥
केहो लुकाइया करे सेइ जल पान । केहो मागि लय केहो अन्ये करे दान ॥९९॥

पहले श्रीप्रभु ने मन्दिर को धोया और अपने श्रीहस्त से सिंहासन को मार्ज्जन किया। भक्तगण सब कमरों को धोने लगे और अपने अपने हाथों से मन्दिर को साफ करने लगे। कोई जलका घड़ा श्रीमहाप्रभु के हाथ में दे रहा था, कोई बहाने से प्रभु के चरणों पर जल ढार देता। कोई छिप कर प्रभु के उस चरणामृत को पान करने लगता। कोई उसे मांग कर पान करता और कोई दूसरे को स्वयं ही दे देता॥

घर धुई प्रणालिकाय जल छाड़ि दिल । सेइ जले प्राङ्गण सब भरिया रहिल ॥१००॥
निज वस्त्रे कैल प्रभु गृह सम्मार्ज्जन । महाप्रभु निजवस्त्रे मार्जिलेन सिहांसन ॥१०१॥
शतघट जले हैल मन्दिर–मार्ज्जन । मन्दिर शोधिया कैल येन निज मन ॥१०२॥
निर्मल शीतल स्निग्ध करिला मन्दिरे । आपन हृदय येन धरिल बाहिरे ॥१०३॥

भीतर कमरों को धोकर नालियों में जल छोड़ दिया गया जिससे प्राङ्गण सब जल से भर गया। प्रभु ने अपने वस्त्र से फर्श को और सिंहासन को पोंछा। सौ घड़ा जल से मन्दिर को धोकर श्रीमहाप्रभु ने मानो अपने मन के समान उसको उज्ज्वल कर दिया; मन्दिर को निर्मल, शीतल एवं चमकीला कर दिया मानों प्रभु ने अपना हृदय ही बाहर निकाल कर रख दिया हो ॥१००—१०३॥

शत शत लोक जल भरे सरोवरे । घाटे स्थल नहि, केहो कूपे जल भरे ॥१०४॥
पूर्ण कुम्भ लञा आइसे शत भक्तगण । शून्य घट लञा याये आर शतजन ॥१०५॥
नित्यानन्दाद्वैत स्वरूप भारती आर पुरी । इहां बिनु आर सब आने जल भरि ॥१०६॥
घटे घटे ठेकि कत घट भाङ्गि गेल । शत-शत घट ताहां लोके लञा आइल ॥१०७॥

सैकड़ों लोग सरोवर से जल भरकर ला रहे थे, जिनको सरोवर के घाटों पर स्थान न मिला, वे कुएँ से ही घड़े भर-भर कर ला रहे थे। भरे हुए सैकड़ों घड़े सैकड़ों भक्त ला रहे थे और इधर से सैकड़ों भक्त सैकड़ों खाली घड़े ले जा रहे थे। श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीस्वरूपदामोदर, श्रीब्रह्मानन्द भारती तथा श्रीपरमानन्द पुरी—इनको छोड़कर और सब के सब पानी भर भरकर ला रहे थे। घड़े से घड़ा टकराकर न जाने कितने घड़े वहाँ टूट गये। किन्तु और नवीन सैकड़ों घड़े वहाँ लोग ले आ रहे थे॥

जल भरे, घर धोय, करे हरिध्वनि। कृष्ण–हरि–ध्वनि बिना आर नाहि शुनि ॥१०८॥
'कृष्ण कृष्ण' कहि करे घट समर्पण। 'कृष्ण कृष्ण' कहि करे घटेर प्रार्थन ॥१०९॥
येइ येइ कहे सेइ कहे कृष्णनामे। कृष्णनाम हइल सङ्केत सर्व—कामे ॥११०॥
प्रेमावेशे प्रभु कहे 'कृष्ण कृष्ण'–नाम। एकले करेन प्रेमे शतजनेर काम ॥१११॥

सब लोग जल भर रहे थे, मन्दिर को धो रहे थे और हरिध्वनि भी कर रहे थे। 'कृष्ण-हरि'–ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुनाई देता था। 'कृष्ण–कृष्ण' कहकर तो परस्पर घड़े दे रहे थे और 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर एक दूसरे से घड़े मांग रहे थे। जिसको भी कुछ कहना होता था वह 'कृष्ण' नाम ही कहता। उस समय सब कामों का सङ्केत श्रीकृष्णनाम ही हो रहा था। प्रेमावेश में प्रभु भी 'कृष्ण-कृष्ण' नाम कह रहे थे और उस प्रेमावेश में वह अकेले हीं सौ व्यक्तियों का काम कर रहे थे ॥१०८–१११॥

शत हाते करे येन क्षालन--मार्ज्जन। प्रतिजन पाशे याइ कराय शिक्षण ॥११२॥
भाल कर्म देखि तारे करेन प्रशंसन। मन ना मानिले करे पवित्र भर्त्सन—॥११३॥
तुमि भाल करियाछ, शिखाह अन्येरे। एइमत भालकर्म सेहो येन करे ॥११४॥
ए कथा शुनिञा सभे सङ्कोचित हञा। भालमते करे कर्म सभे मन दिया ॥११५॥

श्रीमहाप्रभु मानो सौ हाथों से मार्ज्जन कर रहे थे। वे दूसरों के पास जाकर उन्हें भी काम सिखा रहे थे। जिसका अच्छा काम होता, आप उसकी प्रशंसा करने लगते, और जिसके काम को देखकर प्रभु का मन नहीं भरता था, उसे मीठी-मीठी भर्त्सना देते हुए कहते—"वाह ! तुम तो खूब अच्छा काम कर रहे हो, ऐसा करना तो तुम दूसरों को भी सिखाओ, तुम्हारे जैसा काम वह भी कर सके, प्रभु के व्यंग वचन सुनकर सब संकुचित हो जाते और मन लगाकर अच्छी भाँति काम करने लगते ॥११२–११५॥

तबे प्रभु प्रक्षालिल श्रीजगमोहन। भोगमण्डप तबे कैल प्रक्षालन ॥११६॥
नाटशाला धुइ धुइल चत्वर-प्राङ्गण। पाकशाला–आदि सब कैल प्रक्षालन ॥११७॥
मन्दिरेर चतुर्द्दिग् प्रक्षालन कैल। सब अन्तःपुर भालमते धोयाइल ॥११८॥
हेनकाले एक गौड़िया सुबुद्धि सरल। प्रभुर चरणयुगे दिल घटजल ॥११९॥
सेइ जल लइया आपने पान कैल। ताहा देखि प्रभुर मने दुःख रोष हैल ॥१२०॥

तदनन्तर श्रीमहाप्रभु ने जगमोहन (वरामदा) को धोया, और उसके बाद भोगमण्डप, नाटशाला तथा प्राङ्गण के चबूतरा को धोया, फिर पाकशाला आदि सब स्थानों को धो दिया। मन्दिर के चारों ओर अन्दर बाहर सब स्थानों को धोकर साफ कर दिया। उसी समय एक बङ्गाली, जो था तो बुद्धिमान किन्तु सरल था, उसने आकर प्रभु के चरणों पर घड़े से पानी डाल दिया और उस जल को लेकर वह पान कर गया। उसकी यह क्रिया देख प्रभु दुखित एवं क्रोधित हो उठे ॥११६–१२०॥

यद्यपि गोसाञि तारे हञाछे सन्तोष । शिक्षा–लागि बाहिरे तथापि करे रोष ।।१२१।।
स्वरूपगोसाञिर आनि कहिल ताहारे—। एइ देख तोमार गौड़ियार व्यवहारे ।।१२२।।
ईश्वरमन्दिरे मोर पद धोयाइल । सेइ जल लइया आपने पान कैल ।।१२३।।
एइ अपराधे मोर कांहा हवे गति । तोमार गौड़िया करे एतेक फैजति ।।१२४।।

यद्यपि श्रीमहाप्रभु उससे सन्तुष्ट थे, किन्तु दूसरों को शिक्षा देने के लिये आपने बाहर से रोष प्रगट किया । श्रीस्वरूपगोस्वामी को बुलाकर प्रभु ने कहा—"आज जरा अपने गौड़ीया की करतूत तो देखिये । भगवत्–मन्दिर में मेरे पांव धो लिये और उस जल को लेकर पी भी गया । बताओ इस अपराध से मैं कैसे बचूँगा ? तुम्हारे गौड़ीया मेरी इतनी फजीती करते हैं" ।।१२१—१२४।।

तबे स्वरूपगोसाञि तार घाड़े हाथ दिया । ढेका मारि–पुरीर बाहिर कैल लैया ।।१२५।।
पुन आसि प्रभुर पाय करिल विनय । अज्ञ–अपराध क्षमा करिते जुयाय ।।१२६।।
तबे महाप्रभु मने सन्तोष हइला । सारि करि दुइ पाशे सभारे वसाइला ।।१२७।।
आपने वसिया माझे आपनार हाथे । तृण कांटा कूटा सवे लागिला कुड़ाइते ।।१२८।।

तब श्रीस्वरूप गोस्वामी ने उस गौड़ीया की गर्दन पर हाथ मारा और धक्का मारकर पुरी से अथवा उस स्थान से उसे बाहर निकाल दिया । फिर प्रभु से आकर श्रीस्वरूप ने प्रार्थना की कि "वह गौड़ीया अज्ञ था, अतः अज्ञ के अपराध को तो क्षमा ही कर देना सङ्गत है ।" श्रीमहाप्रभु सन्तुष्ट होगये, और प्रसन्न होकर सबको लाइन में दोनों तरफ बैठा दिया । आप बीच में बैठकर अपने हाथों से तृण, कांटे, कङ्कर आदि चुनने लगे ।।१२५—१२८।।

के कत कुड़ाय सब एकत्र करिव । यार अल्प, तार ठाञि पिठा–पाना लव ।।१२९।।
एइमत सब पुरी करिल शोधन । शीतल निर्मल कैल येन निज मन ।।१३०।।
प्रणालिका छाड़ि यदि जल बहाइल । नूतन नदी येन समुद्रे मिलिल ।।१३१।।
एइमत पुर–द्वार अग्रे पथ यत । सकल शोधिल ताहा के वर्णिवे कत ? ।।१३२।।
नृसिंहमन्दिर भितर–बाहिर शोधिल । क्षणेक विश्राम करि नृत्य आरम्भिल ।।१३३।।

प्रभु ने कहा—"मन लगाकर कूड़ा चुनिये, देखें कौन कितना कूड़ा चुनता है ? जिसका थोड़ा रह जायगा, उससे मैं पिठा-पाना (एक प्रकार की मिठाई) लूंगा ।" इस प्रकार प्रभु ने समस्त पुरी की ही सफाई कर डाली और अपने मन की भाँति उसे शीतल और निर्मल कर दिया । नालियों में जल बहा दिया, मानो नवीन नदिया सी समुद्र में जाकर मिलने लगी । इस प्रकार मन्दिर के दरवाजे के आगे जितना रास्ता था, सबको मज्जित कर दिया । विस्तारपूर्वक इसके सम्बन्ध में कौन वर्णन कर सकता है ? श्रीनृसिंह-मन्दिर जो गुण्डिचा-मन्दिर के पास है, उसे भी अन्दर बाहर साफ कर दिया । कुछ देर के लिये प्रभु ने सभी भक्तों सहित विश्राम किया फिर उन्होंने नृत्य का आरम्भ किया ।।१२९–१३३।।

चारिदिके भक्तगण करेन कीर्त्तन । मध्ये नृत्य करे प्रभु मत्तसिंह–सम ।।१३४।।
स्वेद कम्प वैवर्ण्याश्रु पुलक हुङ्कार । निज–अङ्ग धुइ आगे चले अश्रु धार ।।१३५।।

चारिदिके भक्त-अङ्ग कैल प्रक्षालन । श्रावणमासे मेघ येन करे वरिषण ॥१३६॥
महा उच्च सङ्कीर्त्तने आकाश भरिल । प्रभुर उद्दण्ड-नृत्ये भूमिकम्प हैल ॥१३७॥

चारों ओर तो भक्तगण कीर्त्तन करने लगे और उनके बीच श्रीमहाप्रभु मतवाले सिंह की भाँति नृत्य करने लगे। स्वेद, कम्प, अश्रु, पुलक, हुंकार आदि सात्विक विकार प्रभु के शरीर में होने लगे। प्रभु की अश्रुधारा तो प्रभु के अङ्गों को भिजाती हुई आगे को जा रही थी। चारों ओर के भक्त उससे भीज रहे थे, मानो जैसे श्रावण मास का बादल बरस रहा हो। महा उच्च संकीर्त्तन ध्वनि से आकाश गूंज उठा और प्रभु के उद्दण्ड नृत्य से मानो भूकम्प सा होने लगा ॥१३४–१३७॥

स्वरूपेर उच्चगान प्रभुरे सदा भाय । आनन्दे उद्दण्ड-नृत्य करे गौरराय ॥१३८॥
एइमते कथोक्षण नृत्य करिया । विश्राम करिल प्रभु समय बुझिया ॥१३९॥
आचार्यगोसाञिर पुत्र श्रीगोपाल नाम । नृत्यकरिते तारे आज्ञा दिला भगवान्॥१४०॥
प्रेमावेशे नृत्ये तिंहो हइला मूर्च्छिते । अचेतन हञा तेंह पड़िला भूमिते ॥१४१॥

श्रीस्वरूप का उच्च स्वर में गान प्रभु को सदा प्यारा लगता था और प्रभु आनन्द में उस समय उद्दण्ड नृत्य करने लगे। इस भाँति कुछ समय नृत्य करके प्रभु ने समय के अनुसार विश्राम किया। श्रीअद्वैताचार्य-प्रभु के सुपुत्र श्रीगोपाल को प्रभु ने नृत्य करने की आज्ञा दी। प्रेमावेश में वह नृत्य करते-करते मूर्च्छित हो गये और बेसुद्ध होकर पृथिवी पर गिर गये ॥१३८— १४१॥

आस्तेव्यस्ते आचार्यगोसाञि तारे लैल कोले। श्वासरहित देखि आचार्य हैला विकले॥१४२
नृसिंहेर मन्त्र पढ़ि मारे जलझांटि । हुहुँकार शब्दे ब्रह्माण्ड याय फाटि ॥१४३॥
अनेक करिल, तबु ना हय चेतन । आचार्य कान्देन कान्दे सब भक्तगण ॥१४४॥
तबे महाप्रभु तार बुके हाथ दिल । उठह गोपाल बलि उच्च स्वर कैल ॥१४५॥
शुनितेइ गोपालेर हइल चेतन । 'हरि' बलि नृत्य करे सब भक्तगण ॥१४६॥

झटपट श्रीअद्वैताचार्य ने गोपाल को अपनी गोद में उठा लिया और उसे श्वासरहित देखकर आचार्य व्याकुल हो उठे। श्रीअद्वैताचार्य ने नृसिंह मन्त्र पढ़कर उसके मुँह पर जल के छींटे मारे। उस समय आचार्यपाद के हु-हुंकार शब्द से ब्रह्माण्ड मानो फटा जाता था। अनेक बार ऐसा किया, किन्तु वह फिर भी चेतन न हुआ। आचार्य अधीर होकर रोने लगे और समस्त भक्त भी रोने लगे। फिर श्रीमहाप्रभु जी ने उसके सीने पर हाथ रखा और 'गोपाल उठो'—ऐसा जोर से कहा। प्रभु के वचन सुनते ही गोपाल में चेतना आगई। सब भक्त 'हरि-हरि' बोल कर नृत्य करने लगे ॥१४२—१४६॥

एइ लीला वर्णियाछेन दास वृन्दावन । अतएव संक्षेप करि करिल वर्णन ॥१४७॥
तबे महाप्रभु क्षणेक विश्राम करिया । सरोवरे जलक्रीड़ा कैल भक्त लञा ॥१४८॥
तीरे उठि परि सभे शुष्क वसन । नृसिंहदेव नमस्करि गेला उपवन ॥१४९॥
उद्याने वसिल प्रभु भक्तगणे लञा । तबे वाणीनाथ आइला प्रसाद लइया ॥१५०॥

इस लीला को श्रीवृन्दावनदास जी ने श्रीचैतन्यभागवत में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है, अतः कविराज कहते हैं कि मैंने इसे यहाँ संक्षेप से वर्णन किया है। तब श्रीमहाप्रभु ने कुछ देर विश्राम किया

और फिर भक्तों को साथ लेकर सरोवर पर जलक्रीड़ा करने पधारे। स्नानादि करके सबने सूखे वस्त्र पहिरे (मन्दिर मार्ज्जनादि के द्वारा उनके पहले वस्त्र भीज चुके थे) सब श्रीनृसिंहदेव को नमस्कार करके बागीचे में आए। श्रीमहाप्रभु जी भक्तों के साथ बागीचा में बैठे ही थे कि श्रीवाणीनाथ वहाँ प्रसाद लेकर आ पहुँचे ॥

काशीमिश्र तुलसी—पड़िछा दुइजन। पञ्चशत लोक यत करये भक्षण ॥१५१॥
तत अन्न पिठा-पाना सब पाठाइल। देखिया प्रभुर चित्ते सन्तोष हइल ॥१५२॥
पुरीगोसाञि महाप्रभु भारती ब्रह्मानन्द। अद्वैत-आचार्य्य आर प्रभु-नित्यानन्द॥१५३॥
आचार्यरत्न आचार्यनिधि श्रीवास गदाधर। शङ्करारण्य न्यायाचार्य्य राघव वक्रेश्वर १५४
प्रभु—आज्ञा पाञा बैसे आपने सार्वभौम। पिण्डोपरि बैसे प्रभु लञा एत जन ॥१५५॥
तार तले तार तले करि अनुक्रम। उद्यान भरि बैसे भक्त करिते भोजन ॥१५६॥

श्रीकाशीमिश्र एवं तुलसी-नामक पड़िछा, इन दोनों ने सौ-पचास लोग जितना अन्न-प्रसाद खालें उतना अन्न-प्रसाद श्रीवाणीनाथ के हाथ भिजवा दिया। प्रभु देखकर बहुत सन्तुष्ट हुए। श्रीपरमानन्दपुरी, श्रीमहाप्रभु, श्रीब्रह्मानन्द भारती, श्रीअद्वैताचार्य्य, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीआचार्यरत्न, श्रीआचार्यनिधि, श्रीवास, श्रीगदाधर, श्रीशंकरारण्य, श्रीन्यायाचार्य, श्रीराघव, श्रीवक्रेश्वर, तथा प्रभु की आज्ञा पाकर श्रीसार्वभौम—वे सब वैष्णव प्रभु के साथ चबूतरा पर बैठे और उससे नीचे फिर उससे नीचे क्रम-क्रम से सब भक्तगण बागीचा में भोजन करने बैठे ॥१५१—१५६॥

'हरिदास !' बलि प्रभु डाके घनेघन। दूरे रहि हरिदास करे निवेदन—॥१५७॥
भक्त सङ्गे प्रभु करुन प्रसाद अङ्गीकार। ए सङ्गे वसिते योग्य नहि मुञि छार॥१५८॥
पाछे मोरे प्रसाद गोविन्द दिवे बहिर्द्वारे। मन जानि प्रभु पुन ना बलिला तारे॥१५९॥
स्वरूपगोसाञि जगदानन्द दामोदर। काशीश्वर गोपीनाथ वाणीनाथ शङ्कर॥१६०॥
परिवेशन करे ताहाँ एइ सातजन। मध्ये मध्ये हरिध्वनि करे भक्तगण ॥१६१॥

श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीहरिदास को बहुत जोर से आवाज दी। दूर से ही श्रीहरिदास जी ने निवेदन किया—"प्रभो ! आप भक्तों के सहित प्रसाद पाइये, मैं नीच अधम आपके और इनके साथ बैठने योग्य नहीं हूँ। आपके प्रसाद पा लेने के पश्चात् गोविन्द मुझे दरवाजे के बाहर प्रसाद दे देंगे।" श्रीमहाप्रभु का सीथ-प्रसाद (महाप्रसाद) ही श्रीहरिदास जी लेना चाहते थे—श्रीहरिदास जी के मन की यह बात प्रभु जान गये, अतः उसे फिर आपने नहीं बुलाया। श्रीस्वरूपगोस्वामी, श्रीजगदानन्द, श्रीदामोदर, श्रीकाशीश्वर, श्रीगोपीनाथ, श्रीवाणीनाथ एवं श्रीशंकर—ये सातों जने प्रसाद परोसने लगे और भक्तगण भोजन करते-करते बीच-बीच में 'हरि-हरि' ध्वनि करने लगे ॥१५७-१६१॥

पुलिनभोजन यैछे कृष्ण पूर्वे कैल। सेइ लीला महाप्रभुर मने स्मृति हैल ॥१६२॥
यद्यपि प्रेमावेशे प्रभु हइला अधीर। समय बुझिया तबु मन कैल स्थिर ॥१६३॥
प्रभु कहे—मोरे देह लाफरा-व्यञ्जने। पिठा-पाना अमृतगुटिका देह भक्तगणे ॥१६४॥
सर्वज्ञ प्रभु जानेन—यारे येइ भाय। तारे तारे सेइ देओयाय स्वरूप द्वाराय ॥१६५॥

श्रीकृष्ण भगवान् ने जैसे पुलिन-भोजन किया था—उस लीला की स्मृति श्रीमहाप्रभु जी को हो आई और प्रेमावेश में यद्यपि वे अधीर हो गये तथापि उन्होंने समयानुकूल मन को स्थिर कर लिया। प्रभु ने कहा—"मुझे तो लाफरा-व्यञ्जन (बंगाली-व्यञ्जन विशेष) दीजिये और भक्तगणों को पिठा, पाना, अमृत गुटिका आदि दीजिये।" प्रभु सर्वज्ञ हैं, वे जानते हैं किसको क्या भाता है,हरएक को उसके मन के अनुसार पदार्थ श्रीस्वरूप द्वारा दिलवाते हैं ॥१६२—१६५॥

जगदानन्द बेड़ाय परिवेशन करिते। प्रभुर पाते भाल द्रव्य देन आचम्बिते ॥१६६॥
यद्यपिह दिले प्रभु तारे करेन रोष। बले छले तबु देन, दिले से सन्तोष ॥१६७॥
पुन आसि सेइ द्रव्य करे निरीक्षण। तार भये प्रभु किछु करेन भक्षण ॥१६८॥
ना खाइले जगदानन्द करिवे उपवास। तार आगे किछु खाय, मने एइ त्रास ॥१६९॥
स्वरूपगोसाञि भाल मिष्टप्रसाद लञा। प्रभुके निवेदन करे आगे दाण्डाइया ॥१७०॥
एइ महाप्रसाद अल्प कर आस्वादन। देख जगन्नाथ कैछे करियाछेन भोजन ॥१७१॥
एत बलि किछु आगे करे समर्पण। तार स्नेहे प्रभु किछु करेन भक्षण ॥१७२॥

श्रीजगदानन्द जी सबको परिवेशन करते करते श्रीमहाप्रभु के पास जब आते तो अच्छे-अच्छे पदार्थ उनके पत्ता पर अकस्मात् डाल देते। यद्यपि प्रभु ऐसा करने पर उसको रोष भी दिखाते, फिर भी किसी छल से श्रीजगदानन्द प्रसाद डाल ही देते और तभी उन्हें सन्तोष होता। थोड़ी देर में लौट कर श्रीजगदानन्द प्रभु के पत्ता पर उसी पदार्थ को देखते कि प्रभु ने पाया है कि नहीं। प्रभु भी उसके प्रेममय से कुछ पा लेते। यदि प्रभु न खाते तो श्रीजगदानन्द उपवास कर देते इसीलिये प्रभु उसके सामने कुछ खाने ही लगते कि कहीं श्रीजगदानन्द उपवास न कर दें। श्रीस्वरूपगोस्वामी सुन्दर मिष्टान्न प्रसाद ले आकर प्रभु के आगे खड़े रहकर निवेदन करते—'प्रभो! वह महाप्रसाद थोड़ा सा तो आस्वादन करिये, देखिये! श्रीजगन्नाथ जी ने कैसे कैसे पदार्थ भोजन किये हैं।" इतना कहकर वे कुछ प्रसाद उन्हें दे देते और प्रभु भी उनके स्नेह वश कुछ और पाने लगते ॥१६६—१७२॥

एइमत दुइजन करे बार-बार। चित्र एइ दुइ भक्तेर स्नेह-व्यवहार ॥१७३॥
सार्वभौमे प्रभु बसाइयाछेन निज पाशे। दुइ भक्तेर स्नेह देखि सार्वभौम हासे॥१७४॥
सार्वभौमेरे प्रभु प्रसाद उत्तम। स्नेह करि बार बार करान भोजन ॥१७५॥
गोपीनाथाचार्य उत्तम महाप्रसाद आनि। सार्वभौमे दिया कहे सुमधुर वाणी ॥१७६॥

इसी प्रकार दोनों जनें बार बार प्रभु का परिवेशन करते। इन दोनों का प्रेम व्यवहार प्रभु के प्रति विचित्र ही था। श्रीमहाप्रभु ने श्रीसार्वभौम को अपने पास ही बैठाया था। इन दोनों का स्नेह देख देख कर श्रीसार्वभौम हँसने लगते। श्रीमहाप्रभु श्रीसार्वभौम जी को भी बार बार प्रसाद भोजन कराते। श्रीगोपीनाथाचार्य उत्तम प्रसाद ले आकर श्रीसार्वभौम को देते हुए इस प्रकार मधुर वाणी कहने लगे—॥

काहाँ भट्टाचार्येर पूर्वजड़-व्यवहार। काहाँ एइ परमानन्द, करह विचार ॥१७७॥
सार्वभौम कहे—आमि तार्किक कुबुद्धि। तोमार प्रसाद आमार ए सम्पद् सिद्धि॥१७८॥

महाप्रभु बिना केहो नाहि दयामय । काकेरे गरुड़ करे ऐछे कोन् हय ? ॥१७६॥
तार्किक-शृगाल-सङ्गे भेऊ-भेऊ करि । सेइ मुखे एबे सदा कहि 'कृष्ण-हरि' ॥१८०॥
काहां बहिर्मुख-तार्किक-शिष्यगण सङ्गे । काहां एइ सङ्ग-सुधासमुद्र-तरङ्गे ॥१८१॥

"भट्टाचार्य ! कहाँ तो तुम्हारा वह जड़तापूर्ण (मायावादी) व्यवहार और अब कहाँ यह परमानन्द ? (साक्षात् भगवान् के सहित बैठकर प्रसाद पाना ?)" श्रीसार्वभौम ने कहा—"मैं तो एक कुबुद्धियुक्त तार्किक था । गोपीनाथ ! तुम्हारी कृपा से मुझे आज यह सम्पत्ति प्राप्त हुई है । श्रीमहाप्रभु के बिना और कोई दयामय नहीं है । काग को गरुड़ करदे; ऐसी किसकी सामर्थ्य है ?(अर्थात् कहाँ तो पहले मैं मायावादी कुतर्क करने वाला था और अब प्रभु ने मुझे परम भक्ति-सम्पत्ति देकर इस योग्य कर दिया है कि प्रभु के पास बैठकर इस दिव्य आनन्द का उपभोग कर रहा हूँ—यह केवल श्रीमहाप्रभु की ही कृपा है) । कुतर्क करने वाले भेड़ियों के साथ भेंऊँ-भेंऊँ किया करता था अर्थात् निरर्थक बकवाद किया करता था और अब प्रभु कृपा से उसी मुख से सदा 'कृष्ण-कृष्ण' 'हरि-हरि' उच्चारण किया करता हूँ । कहाँ तो भगवान् से बहिर्मुख अपने कुतर्क करने वाले शिष्यों में पड़ा रहता था और अब इस समय प्रभु के सङ्गरूप अमृतसमुद्र की तरङ्गों में सरावोर हो रहा हूँ" ॥१७७—१८१॥

प्रभु कहे-पूर्वसिद्ध कृष्णे तोमार प्रीति । तोमा सङ्गे आमासभार हैल कृष्ण मति ॥१८२॥
भक्तमहिमा बाढ़ाइते, भक्ते सुख दिते । महाप्रभु-सम आर नहीं त्रिजगते ॥१८३॥
तबे प्रभु प्रत्येके सबभक्त—नाम लञा । पिठापाना देओयाइला प्रसाद करिया ॥१८४॥
अद्वैत नित्यानन्द वसियाछेन एक ठाञि । दुइजने क्रीड़ा-कलह लागिल तथाइ ॥१८५॥
अद्वैत कहे—अवधूत-सङ्गे एक पङ्क्ति । भोजन करि, ना जानिये हवे कोन् गति ? ॥१८६॥

श्रीसार्वभौम की बात सुनकर प्रभु बोले—"सार्वभौम ! तुम्हारी तो श्रीकृष्ण में पूर्वसिद्ध प्रीति है, हम सब तुम्हारे सङ्ग से श्रीकृष्ण में प्रीति को प्राप्त कर सके हैं ।" कविराज कहते हैं—"भक्त की महिमा बढ़ाने में और भक्तों को सुख देने में श्रीमहाप्रभु के समान त्रिभुवन में और कोई नहीं है ।" फिर प्रभु ने एक-एक भक्त का नाम ले लेकर सबको कृपापूर्वक पिठा-पाना प्रसाद दिलवाया । श्रीअद्वैताचार्य और श्रीनित्यानन्दजी एक स्थान पर बैठे हुए थे । दोनों का वहाँ लीला-कलह (प्रेम की लड़ाई) होने लगा । श्रीअद्वैत ने कहा—"मैं तो अवधूत (जिसकी कोई जाति-पांति नहीं है उस) के साथ एक पँक्ति में भोजन कर रहा हूँ, जाने मेरी क्या गति होगी ? ॥१८२—१८६॥

प्रभु त सन्न्यासी, उंहार नाहि अपचय । अन्नदोषे सन्न्यासीर दोष नाहि हय ॥१८७॥
"नान्नदोषेण मस्करी" एइ शास्त्रेर प्रमाण । गृहस्थ ब्राह्मण आमार एई दोषस्थान॥१८८॥
जन्मकुल शीलाचार ना जानि याहार । तार सङ्गे एक पङ्क्ति—बड़ अनाचार ॥१८९॥

श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने आगे कहा—"श्रीमहाप्रभु यदि श्रीनित्यानन्द प्रभु के साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन करते हैं, तो करने दो, उनको दोष भी नहीं है, क्योंकि वे तो संन्यासी हैं; और अन्नदूषित होने में संन्यासी दूषित भी नहीं होता ।"नान्नदोषेणमस्करी" (संन्यासोपनिषत्—६२) (अन्नदोष से संन्यासी को दोष नहीं होता) यह शास्त्र का प्रमाण है । किन्तु हम तो गृहस्थ ब्राह्मण हैं, हमें तो तुम्हारे (श्रीनित्यानन्द प्रभ के) साथ बैठकर भोजन करना दोष है । कारण कि जिसके जन्म का, जिसके कुल का,

स्वभाव का, आचार का पता नहीं है, उसके साथ एक पंक्ति में बैठ कर भोजन करना सदाचार के विरुद्ध है" ॥१८७—१८६॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने प्रभु नित्यानन्द को प्रेम-कलह करने के लिये इस प्रकार छेड़ा और कहा कि "तुम्हारे जन्म,कुल, स्वभाव एवं आचार का कुछ पता नहीं है,तुम अवधूत हो। अतः तुम्हारे साथ हम गृहस्थ ब्राह्मणों को एक पंक्ति में बैठकर भोजन करना दोष है।"

वस्तुतः श्रीनित्यानन्द-प्रभु ईश्वर हैं और श्रीमहाप्रभु संन्यासी—सर्वसङ्गरहित आत्माराम भगवान् हैं। इन दोनों के लिये तो कोई अपूर्णता अथवा दोष, अनाचार है ही नहीं। भक्तवत्सल भगवान् हर जाति, हर कुल के भक्तों के अन्न को ग्रहण करते हैं, किन्तु सांसारिक लोगों के लिये समाज मर्यादा एवं धर्म की रक्षा के लिये हर जाति, हर कुल के अन्न को ग्रहण करना निषेध है। और फिर ईश्वर के जन्म, कुल, स्वभाव, आचार आदि कौन जान सकता है। वे अनादि एवं अज हैं, प्राकृत जीवों की भांति कर्म-बन्धन में आकर उनका जन्म नहीं होता, उनका फिर वंश या कुल कैसा? उनके स्वभाव, प्रकृति, स्वरूप-गत आचार या गुण तो अनन्त ही हैं,अनिर्वचनीय हैं। अतः उनके जानने में किसी की सामर्थ्य ही नहीं है। इस प्रकार अज, अनादि, अनन्त कल्याण-गुणसागर श्रीभगवान् के साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन करना ब्राह्मण गृहस्थी के लिये वस्तुतः दोष ही है, उनके लिये सदा श्रीभगवान् के भोजन कर लेने के बाद उनका प्रसाद ही लेना विधान है। अथवा यदि इस प्रकार श्रीभगवान् के साथ गृहस्थ ब्राह्मण को एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने का सौभाग्य मिलता है तो वह अनाचार अर्थात् अलौलिक आचार या समस्त सदा-चारों की पराकाष्ठा ही है। इस प्रकार निन्दा के मिस से वस्तुतः श्रीअद्वैत प्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु की स्तुति ही की है।

नित्यानन्द कहे—तुमि अद्वैत—आचार्य। अद्वैत—सिद्धान्ते बाधे शुद्ध-भक्ति--कार्य्य॥१९०॥
तोमार सिद्धान्त—सङ्ग करे येइ जने। एकवस्तु बिना सेइ द्वितीय ना माने॥१९१॥
हेन तोमार सङ्गे मोर एकत्र भोजन। ना जानि तोमार सङ्गे कैछे हय मन? ॥१९२॥
एइमत दुइजने करे बोलाबुलि। व्याजस्तुति करे दोंहे यैछे गालागाली॥१९३॥

श्रीअद्वैत के वचन सुनकर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"तुम अद्वैत-आचार्य्य हो अर्थात् अद्वैत मार्ग के गुरु हो और अद्वैतवाद का जो सिद्धान्त है (सेव्य-सेवकत्व का अभाव) वह शुद्ध भक्ति आचरण में बाधक ही है। तुम्हारे अद्वैत सिद्धान्त का जो भी सङ्ग करता है,उसे फिर केवल एक वस्तु–ब्रह्म ही दीखता है, वह फिर दूसरी कोई वस्तु नहीं मानता। ऐसे वाद के तुम आचार्य हो, तुम्हारे साथ बैठ कर भोजन कर रहा हूँ, न जाने तुम्हारे सङ्ग से आज मेरे मन की क्या अवस्था होगी? इस प्रकार दोनों जने परस्पर कहने सुनने लगे। वे कर तो रहे थे एक दूसरे की स्तुति, किन्तु ऐसे मालूम होता था कि परस्पर गालियाँ दे रहे हों" ॥१९०—१९३॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"तुम अद्वैत हो—श्रीहरि के साथ भेद-शून्य हो अर्थात् आप में और श्रीहरि में कोई भेद नहीं है और फिर आप श्रीहरि के साथ अभेद हो, यह सिद्धान्त शुद्ध भक्ति-कार्य में सङ्गत नहीं बैठता है। अर्थात् आप स्वयं ईश्वर होकर फिर अपनी भक्ति आप करते हो-यह बात सङ्गत नहीं है। आपने शुद्ध भक्ति-तत्व के सिद्धान्त का जो प्रचार किया है, उसका अनुसरण करने से केवल श्रीकृष्ण ही की एकमात्र उपासना दृढ़ हो जाती है, वह फिर और किसी देवी-देवता को स्वतन्त्र उपास्य के रूप में स्वीकार नहीं करता। ऐसे जो आप हैं उनके साथ एक स्थान पर भोजन करने

से मेरे सौभाग्य उदय हुए हैं। आपके सङ्ग प्रभाव से आपके भक्ति-सिद्धान्त मेरे मन में दृढ़ रूप से अभिव्यक्त हो जाएँगे क्या ? मेरे मन की क्या अवस्था होगी ? यह मैं जानना चाहता हूँ। इस प्रकार परस्पर प्रेम-कलह करते हुए श्रीअद्वैत प्रभु श्रीनित्यानन्द भोजन कर रहे थे।

तबे प्रभु सब वैष्णवेर नाम लञा। प्रसाद देओयान कृपा-अमृत सिञ्चिया ॥१९४॥
भोजन करि उठे सभे हरिध्वनि करि। हरिध्वनि उठिल सेइ स्वर्गमर्त्य भरि ॥१९५॥
तबे महाप्रभु सब निज-भक्तगणे। सभाके श्रीहस्ते दिला माल्यचन्दने ॥१९६॥
तबे परिवेशक स्वरूपादि सातजन। गृह-भितर वसि कैल प्रसाद भोजन ॥१९७॥

फिर श्रीमहाप्रभु जी ने सब वैष्णवों को एक एक का नाम ले लेकर कृपा-अमृत संचार करते हुए प्रसाद दिलवाया। सब भोजन कर चुकने के बाद 'हरि'-ध्वनि करते हुए उठ खड़े हुए। उस 'हरि-हरि' ध्वनि से आकाश-पाताल गूंज उठे। श्रीमहाप्रभु जी ने समस्त वैष्णवों को अपने हाथों से माला पहराई एवं चन्दन लगाया। उसके बाद परिवेशन करने वाले स्वरूपादि सातों जनों ने प्रसाद पाया ॥१९४-१९७॥

प्रभुर अवशेष गोविन्द राखिल धरिरा। सेइ अन्न किछु हरिदासे दिल लञा ॥१९८॥
भक्तगण गोविन्द-पाश किछु मागि निल। सेइ प्रसादान्न गोविन्द आपनि पाछे पाइल१९९
स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु करे नाना खेला। 'धोयापाखाला'नाम कैला एइ एक लीला॥२००॥

श्रीमहाप्रभु का उच्छिष्ट प्रसाद श्रीगोविन्द ने धर रखा था, उस अन्न में से कुछ तो श्रीहरिदास जी ने ले लिया और कुछ श्रीगोविन्द से भक्तगणों ने माँग लिया, बाकी जो बच गया उसे श्रीगोविन्द ने पा लिया। श्रीमहाप्रभु स्वतन्त्र ईश्वर हैं—इस प्रकार की अनेक लीलाएँ करते हैं, उनमें से यह एक 'धोया पाखाला'—नाम की लीला यहाँ वर्णन की गई है ॥१९८—२००॥

आरदिन जगन्नाथेर नेत्रोत्सव नाम। महोत्सव हैल भक्तेर प्राण-समान ॥२०१॥
पक्षदिन दुःखी लोक प्रभु-अदर्शने। आनन्दित हैला जगन्नाथ दरशने ॥२०२॥
महाप्रभु सुखे लैया सब भक्तगण। जगन्नाथ-दर्शने करिला गमन ॥२०३॥
आगे काशीश्वर याय लोक निवारिया। पाछे गोविन्द याय जलकरङ्ग लञा ॥२०४॥
प्रभु-आगे पुरी भारती दोहांर गमन। स्वरूप अद्वैत दुइपार्श्वे दुइजन ॥२०५॥

दूसरे दिन श्रीजगन्नाथजी का नेत्रोत्सव महोत्सव हुआ, जो भक्तों को प्राण समान प्रिय है। पन्द्रह दिन तक श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन न मिलने से जो लोग दुखी थे, श्रीजगन्नाथ जी के पुनः दर्शन पाकर वे बहुत आनन्दित हुए। श्रीमहाप्रभुजी भी सब भक्तों को लेकर आनन्दपूर्वक श्रीजगन्नाथजी के दर्शनों को चले। आगे श्रीकाशीश्वर भीड़ को हटाते हुए जा रहे थे और प्रभु के पीछे श्रीगोविन्द जल का करुवा लिए हुए चल रहे थे। श्रीपरमानन्दपुरी एवं श्रीब्रह्मानन्द भारती प्रभु के आगे थे और श्रीस्वरूप एवं श्रीअद्वैत प्रभु श्रीप्रभु के अगल-बगल दोनों ओर चल रहे थे ॥२०१—२०५॥

चै० च० चु० *टीका*—श्री जगन्नाथ जो की स्नान यात्रा के बाद कुछ दिन तक, जब तक श्रीविग्रह का अङ्गरागादि होता है, उनके दर्शन बन्द रहते हैं। रथयात्रा से एकदिन पहले श्रीविग्रह को नेत्र धारण कराये जाते हैं, उस उत्सव का नाम **नेत्रोत्सव** है। इस उत्सव के बाद श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन खुलते हैं।

श्रीमन्महाप्रभु जब श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर में प्रवेश करते तो उससे पहले वे अपने पाँव धो लिया करते, कि जिससे मन्दिर में चरणों को धूलि न जावे। इसलिये गोविन्द जल का करुवा लेकर प्रभु के पीछे पीछे जाया करता था।

पाछे पार्श्वे चलि याय आर भक्तगण। उत्कण्ठाय गेला जगन्नाथेर भवन ॥२०६॥
दरशन-लोभेते करि मर्य्यादा लङ्घन। भोगमण्डपे याञा करे श्रीमुखदर्शन ॥२०७॥
तृष्णार्त्त प्रभुर नेत्र भ्रमर-युगल। गाढ़ासक्त्ये पिये कृष्णेर वदनकमल ॥२०८॥
प्रफुल्ल कमल जिनि नयन-युगल। नीलमणिदर्पण-कान्ति गण्ड झलमल ॥२०९॥

श्रीमहाप्रभु के पीछे और दोनों ओर अनेक भक्तगण उत्कण्ठित चित्त से श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर में जा रहे थे। श्रीमहाप्रभु ने दर्शनों की लालसा से मर्यादा को भी लङ्घन कर दिया और भोगमण्डप जाकर श्रीमुख का दर्शन करने लगे (भोगमण्डप में प्रवेश वर्जित रहता है, किन्तु श्रीमहाप्रभु को इस बात का विचार न रहा और भोगमण्डप में ही जाकर श्रीजगन्नाथ जी का दर्शन करने लगे-आप ने इस मर्यादा को तोड़ दिया।) श्रीमहाप्रभु के नेत्र दर्शनों के लिये तृष्णात्तुर भ्रमरों की भाँति गाढ़-आसक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण के (श्रीजगन्नाथ जी के) मुखकमल का मकरन्द पान करने लगे। श्रीभगवान् के नेत्र-युगल प्रफुल्लित कमलों को भी पराजित कर रहे थे और नीलमणि दर्पण कान्ति की भाँति उनके गण्डद्वय झलमल कर रहे थे।

बान्धुलीर फूल जिनि अधर सुरङ्ग। ईषत्-हसित-कान्ति अमृत-तरङ्ग ॥२१०॥
श्रीमुख-सौन्दर्य-मधु बाढ़े क्षणे क्षणे। कोटि कोटि-भक्त नेत्रभृङ्ग करे पाने ॥२११॥
यत पिये तत तृष्णा बाढ़े निरन्तर। मुखाम्बुज छाड़ि नेत्र ना हय अन्तर ॥२१२॥
एइमत महाप्रभु लञा भक्तगण। मध्याह्न पर्य्यन्त कैल श्रीमुखदर्शन ॥२१३॥
स्वेद कम्प अश्रुजल बहे अनुक्षण। दर्शनेर लोभे प्रभु करे संवरण ॥२१४॥
मध्ये मध्ये भोग लागे मध्ये दरशन। भोगेर समये प्रभु करे सङ्कीर्त्तन ॥२१५॥

श्रीजगन्नाथ जी के अधरों की लाली बिम्बाफल को लज्जित कर रही थी, उनकी मन्द-मुस्कान में अमृत की कोटि-कोटि तरङ्गें उच्छलित हो रही थीं। श्रीमुख का सौन्दर्य मकरन्द क्षण-क्षण में बढ़ता जा रहा था और कोटि-कोटि भक्तों के नेत्र रूपी भँवरे उसे पान कर रहे थे। जितना-जितना माधुर्य आस्वादन करते जाते थे, उतनी-उतनी अधिक तृष्णा बढ़ती जाती थी। श्रीजगन्नाथ जी के मुखकमल को छोड़कर उनके नेत्र और कहीं भी न जा रहे थे। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी ने भक्तों सहित मध्याह्न तक श्रीमुख का दर्शन किया। श्रीमहाप्रभु में दर्शन करते करते स्वेद, कम्प एवं अश्रुजल प्रवाहित होते थे, किन्तु दर्शन के लोभ से प्रभु उनको रोक रहे थे। बीच-बीच में भोग आ जाने से दर्शन बन्द हो जाते, भोग लग जाने पर फिर दर्शन खुल जाते। भोग के समय श्रीमहाप्रभु जी संकीर्त्तन करते रहते ॥२१०-२१५॥

दर्शन-आनन्दे प्रभु सब पासरिला। भक्तगण मध्याह्न करिते प्रभु लञा गेला ॥२१६॥
'प्रातःकाले रथयात्रा हवेक' जानिया। सेवके लागाय भोग द्विगुण करिया ॥२१७॥

गुण्डिचामार्ज्जन--लीला संक्षेपे कहिल । याहा देखि--शुनि पापीर कृष्णभक्ति हैल ॥२१८॥
श्रीरूप--रघुनाथ पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२१९॥

दर्शन के आनन्द में प्रभु सब कुछ भूल गये, यहाँ तक कि उन्हें मध्याह्न का स्नानादि भी भूल गया । भक्तगण समय जानकर उन्हें मध्याह्न कराने के लिये ले गये । 'कल प्रातःकाल श्रीजगन्नाथ जी की रथयात्रा होगी'—यह जान कर सब सेवकों ने दुगुना भोग लगाया । इस प्रकार यहाँ 'गुण्डिचा-मार्ज्जन-लीला' का संक्षेप में वर्णन किया गया है, जिसे देखकर और सुनकर पापी-व्यक्ति को भी श्रीकृष्णभक्ति प्राप्त होती है । श्रीरूपगोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरण-कमलों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥२१६—२१९॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य-लीलायां
गुण्डिचा–मन्दिर–मार्ज्जनं नाम
द्वादश परिच्छेदः ॥१२॥

जयगौर

मध्य-लीला

त्रयोदश परिच्छेद

★

स जीयात् कृष्णचैतन्यः श्रीरथाग्रे ननर्त्त यः ।
येनासीज्जगतां चित्रं जगन्नाथोऽपि विस्मितः ।।१।।

जिन्होंने श्रीजगन्नाथजी के परम सुन्दर रथ के आगे नृत्य किया था एवं जिनके नृत्य को देखकर जगत्-वासी सब लोग तो विस्मित हुए ही, स्वयं श्रीजगन्नाथ जी भी विस्मित हो उठे थे उन श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की जय हो ।।१।।

चै० च० चु० *टीका*,:—श्रीजगन्नाथ जी की रथयात्रा में रथ के आगे श्रीमहाप्रभु नृत्य करते हुए चलते थे । उनका वह नृत्य दर्शन करने वाले लोगों के लिये अत्याश्चर्यजनक होता था, कारण कि प्रभु का वह नृत्य इतना विलक्षण होता था कि किसी ने कभी न ऐसा नृत्य देखा और न ही कभी सुना था । उसकी कल्पना भी कोई नहीं कर सकता । उनका नृत्य इतनी तीव्र गति से होता था कि केवल मात्र एक सोने का चक्र ही द्रुति गति से भ्रमता हुआ दीख पड़ता था । ऐसा उद्दण्ड नृत्य था वह कि ससागरा पृथिवी डगमगाने लगती । फिर उस परमोज्ज्वल गौरवर्ण श्रीविग्रह पर जो अद्भुत सात्विक विकार स्वेद, कम्प, अश्रु, पुलकादि का कल्पनातीत विकाश होता, वह दर्शकों को चित्रवत् स्तम्भित कर देता । वे आश्चर्य सागर में डूब जाते ।

उस नृत्य में एक ऐसी अद्भुत वैचित्री थी, जिसे देखकर श्रीजगन्नाथ जी भी विस्मित हो उठते, वह वस्तु क्या थी ?—वह था—रसराज एवं महाभाव, इन दोनों के एकरूप-स्वरूप श्रीश्रीगौरसुन्दर के परम-माधुर्य का समधिक विकाश । वह विकाश व्रजके श्रीमदनमोहन स्वरूप से भी कहीं अधिक था, कारण कि, व्रज के श्रीमदनमोहन तो कृष्ण-प्रेम के विषय थे । यहां वे अब श्रीगौरसुन्दर रूप में परमकाष्ठा प्राप्त श्रीकृष्णप्रेम के आश्रय हैं । श्रीजगन्नाथ जी के श्रीमुखचन्द्र का दर्शन करने से वह प्रेम उद्वेलित हो उठता था, जिस का अद्भुत प्रभाव सात्विक-विकारों के रूप में प्रेमके आश्रय—श्रीश्रीगौरसुन्दर पर विकसित होता था । उस प्रेम का प्रभाव प्रेम के विषय—श्रीजगन्नाथ जी पर भी होना अनिवार्य था जैसा कि मादनाख्य-महाभाव-स्वरूपा श्रीराधा जी (प्रेम की आश्रय) की समीपता में (प्रेम के विषय) श्रीकृष्ण का सौन्दर्य-माधुर्य अत्यधिक वर्द्धित हो उठता था । उसी प्रकार यहाँ भी उस प्रेम के आश्रय श्रीगौरसुन्दर में जब वह प्रेम पराकाष्ठा तक वर्द्धित हो उठता तो उस प्रेम के विषय श्रीजगन्नाथ जी का सौन्दर्य-माधुर्य भी इतना अधिक वर्द्धित हो उठता कि श्रीजगन्नाथ जी उसे देखकर स्वयं विस्मित रह जाते ।

श्रीराधा-भावावेश में श्रीगौरसुन्दर के नृत्य करने में जो उनका अद्भुत अनिर्वचनीय माधुर्य विकशित होता था, वह भी श्रीजगन्नाथ जी को विस्मित एवं समधिक रूप से आनन्दित करता था। उसी अपूर्व माधुर्य के दर्शन के लोभ से श्रीजगन्नाथ जी कभी अपनी रथ को रोक लेते (पयार १७१) और कभी धीरे-धीरे चलाते (पयार १७०) और जब कभी श्रीमहाप्रभु सामने न दीखते तो असंख्य व्यक्तियों के खींचने पर यहाँ तक कि मतवाले हाथियों के खींचने पर भी रथ टस से मस नहीं होता था (परिच्छेद १४ पयार ४९)। इससे स्पष्ट है कि श्रीश्रीगौरसुन्दर का वह अद्भुत नृत्य देखकर जहाँ जगत् वासी विस्मित एवं चित्रवत् स्तम्भित हो जाते थे, वहां स्वयं श्रीभगवान् श्रीजगन्नाथ जी भी परम आनन्दित एवं आश्चर्यान्वित हो उठते थे।

इस त्रयोदश परिच्छेद में श्रीजगन्नाथ जी के रथ के आगे श्रीमन्महाप्रभु का नृत्य-कीर्त्तन, कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा-मिलन के भाव सम्बन्धी श्लोक का पठन तथा प्रेमावेश में उद्यान में प्रभु ने जिस प्रकार विश्राम किया, ये सब चरित्र वर्णित हैं।

जय-जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
जय श्रोतागण शुन करि एकमन। रथयात्राय नृत्य प्रभुर परम मोहन ॥२॥
आर दिन महाप्रभु हञा सावधान। रात्रे उठि गण-सङ्गे कैला कृत्य-स्नान ॥३॥
पाण्डुविजय देखिवारे करिल गमन। जगन्नाथ यात्रा कैल छाड़ि सिंहासन ॥४॥

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु जी की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु जी की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु की जय हो तथा श्रीगौरभक्त वृन्द की जय हो। सब श्रोतागणों की जय हो। हे श्रोतागण! एक मन होकर श्रीमहाप्रभु के परम मनोहर नृत्य की कथा को सुनिये, जो कि श्रीमहाप्रभु ने रथ के आगे किया। दूसरे दिन श्रीमहाप्रभु जी सावधान होकर पिछली रात में उठे और अपने भक्तगणों के साथ प्रातः कृत्यादि एवं स्नान किया और पाण्डुविजय देखने के लिये और श्रीजगन्नाथ जी अपना सिंहासन छोड़कर जिस प्रकार यात्रा करते हैं, उसके दर्शन करने के लिये श्रीमहाप्रभु अपने भक्तों के साथ चल दिये ॥१-४॥

चै० च० चु० *टीका*—छोटे बच्चे को हाथ या कमर से पकड़ कर जैसे चलना सिखाया जाता है, उस चलने को उड़ीसा देश में पहाण्डि कहते हैं; पहाण्डि का अपभ्रंश ही है पाण्डु। श्रीजगन्नाथ जी को पकड़ कर श्रीमन्दिर से चला कर रथ के ऊपर चढ़ाने का नाम ही **पाण्डु-विजय** है। श्रीजगन्नाथ जी का बहुत विशाल विग्रह होने से उन्हें उठाकर रथ पर नहीं चढ़ाया जा सकता। मन्दिर से लेकर जहाँ पर रथ खड़ा रहता है उस रास्ते में रुई के गद्दे बिछा दिये जाते हैं। श्रीविग्रह को सिंहासन से उतार कर फिर पण्डा लोग कोई कन्धा लगा कर, कोई रेशमी डोरी द्वारा खींच खींच कर उठाते हुए इस प्रकार आगे ले जाते हैं। इस प्रकार रथ तक चला कर फिर श्रीजगन्नाथ जी रथ पर विराजमान कर दिये जाते हैं। इसका नाम पाण्डु-विजय है।

आपने प्रतापरुद्र लञा पात्रगण। महाप्रभुर गणे कराय विजय-दर्शन ॥५॥
अद्वैत-नित्यानन्दादि सङ्गे भक्तगण। सुखे महाप्रभु देखे ईश्वर-गमन ॥६॥
बलिष्ठ दयितागण येन मत्त हाथी। जगन्नाथ-विजय कराय करि हाथाहाथि ॥७॥
कतक दयिता करे स्कन्ध-आलम्बन। कतक दयिता धरे श्रीपद्मचरण ॥८॥

राजा प्रतापरुद्र जी अपने राजपात्रों को साथ लेकर श्रीमहाप्रभु के भक्तों को विजय-दर्शन कराने लगे। श्रीअद्वैत, श्रीनित्यानन्दादि भक्तों के साथ श्रीमहाप्रभु सुखपूर्वक विजय-दर्शन करने लगे। श्रीजगन्नाथ जी के सेवक पण्डालोग जो मानो मतवाले हाथियों के समान बलवान् थे, श्रीजगन्नाथ जी को हाथों से पकड़ पकड़ कर विजय करा रहे थे। कोई पण्डा तो अपने कन्धे के सहारे ज़ोर लगा रहा था और कोई श्रीभगवान् के श्रीचरणकमल पकड़ कर विग्रह को उठा रहा था ॥५—८॥

कटितटे बद्ध दृढ़ स्थूल पट्टडोरी। दुइदिगे दयितागण उठाय ताहा धरि ॥९॥
उच्च दृढ़ तुली-सब पाति स्थाने स्थाने। एक तुली हैते आर तुली कराय गमने ॥१०॥
प्रभु-पदाघाते तुली हय खण्ड खण्ड। तुला सब उड़ि याय, शब्द हय प्रचण्ड ॥११॥
विश्वम्भर जगन्नाथ चालाइते शक्ति कार?। आपन इच्छाय चले करिते विहार ॥१२॥

श्रीविग्रह के कमर देश में बहुत मोटी एवं दृढ़ रेशमी डोरी बाँध कर दोनों ओर से पण्डा लोग उठाते और धरते थे। ऊंचे ऊंचे वालिश या रुई के गद्दे थोड़ी थोड़ी दूर पर बिछा दिये गये थे। श्रीविग्रह को एक गद्दे से उठा कर दूसरे गद्दों पर उठा उठा कर धरते जाते थे। श्रीजगन्नाथ जी की चरण की चोट से रुई के गद्दे खण्ड खण्ड हो जाते थे और रुई उड़ उड़ जाती थी और बड़ा प्रचण्ड शब्द होता था। श्रीजगन्नाथ जी विश्वम्भर हैं, भला उनको चलाने या उठाने की शक्ति किस में हो सकती है? वे अपनी इच्छा से विहार करते हुए चल रहे थे ॥९—१२॥

महाप्रभु 'मणिमा' बलि करे उच्चध्वनि। नानावाद्यकोलाहल—किछुइ ना शुनि ॥१३॥
तबे प्रतापरुद्र करे आपने सेवन। सुवर्ण-मार्ज्जनी लैया करे पथ-सम्मार्ज्जन ॥१४॥
चन्दन-जलेते करे पथ निषिञ्चने। तुच्छ सेवा करे बैसे राजसिंहासने ॥१५॥
उत्तम हइया राजा करे तुच्छ-सेवन। अतएव जगन्नाथेर कृपार भाजन ॥१६॥

श्रीमहाप्रभु बार बार "मणिमा" अर्थात् "हे सर्वेश्वर"! कह कर उच्च ध्वनि करने लगे और अनेक बाजे—दुन्दुभि आदि का कोलाहल होने लगा। वहाँ और कुछ शब्द सुनाई नहीं देता था। उस समय राजा प्रतापरुद्र अपने हाथों से सेवा कर रहे थे। वे सोने में मढ़ी हुई झाड़ू लेकर रास्ते को झाड़ रहे थे एवं चन्दन-मिश्रित जल का छिड़काव कर रहे थे। राजा राजसिंहासन पर विराजमान होते हुए भी छोटी सेवा कर रहे थे। वे सर्वोत्तम होकर भी तुच्छ-सेवा कर रहे थे, इसलिये वे श्रीजगन्नाथ जी की कृपा के पात्र भी थे ॥१३—१६॥

महाप्रभु पाइल सुख से सेवा देखिते। महाप्रभुर कृपा पाइला से सेवा हइते ॥१७॥
रथेर साजनि देखि लोके चमत्कार। नव हेममय रथ सुमेरु आकार ॥१८॥
शत शत शुल्क चामर दर्पण उज्ज्वल। उपरे पताका शत चान्दोया निर्मल ॥१९॥
घागर किङ्किणी बाजे घन्टार क्वणित। नाना चित्र पट्टवस्त्रे रथ विभूषित ॥२०॥

श्रीमहाप्रभु जी राजा प्रतापरुद्र की यह सेवा देखकर बहुत सुखी हुए और इसी सेवा के कारण ही राजा को श्रीमहाप्रभु की कृपा प्राप्त हो गई। रथ की सजावट एवं साज सज्जा को देख कर लोगों को चमत्कार हुआ। रथ नवीन सुवर्णमय था और अति ऊंचा मानो सुमेरु पर्वत के समान था। उसमें सैकड़ों

सफेद चंवर, निर्मल शीशे लगे हुए थे। ऊपर सुन्दर पताकाएँ सुशोभित थीं और सकड़ों चन्दोये तन रहे थे। घागर, किङ्किणी, घंटियों एवं घण्टों का महान शब्द हो रहा था और अनेक चित्रों से तथा रेशमी कपड़ों से रथ को सजाया गया था ॥१७—२०॥

लीलाय चड़िला ईश्वर रथेर उपर। आर दुइ रथे चढ़े सुभद्रा हलधर ॥२१॥
पंचदश दिन ईश्वर महालक्ष्मी लैया। तांर सङ्गे क्रीड़ा कैल निभृते वसिया ॥२२॥
तांहार सम्मति लैया भक्तसुख दिते। रथे चढ़ि बाहिर हैला विहार करिते ॥२३॥
सूक्ष्म-श्वेत-बालुपथ पुलिनेर सम। दुइदिगे टोटा सब येन वृन्दावन ॥२४॥

श्रीजगन्नाथ जी अपनी लीला-शक्ति से रथ पर विराजमान् हो गये, फिर पृथक्-पृथक् रथों पर श्रीसुभद्रा जी एवं श्रीबलराम जी चढ़े। ऐसी भावना है कि श्रीजगन्नाथजी अनवसर के दिन से लेकर पन्द्रह दिन पर्यन्त श्रीलक्ष्मी जी को निभृत स्थान पर ले जाकर उनसे क्रीड़ा करते हैं और फिर उनकी सम्मति लेकर भक्तों को सुख देने के लिये रथ पर चढ़कर श्रीवृन्दावन विहार करने के लिये आते हैं। रथ के पथ पर बिछी हुई सफेद अति सूक्ष्म बालू पुलिनों के समान शोभित हो रही थी और दोनों ओर जो सुन्दर बागीचे थे, वे मानों श्रीवृन्दावन की शोभा विस्तार कर रहे थे ॥२१—२४॥

रथे चढ़ि जगन्नाथ करिल गमन। दुइ पार्श्वे देखि चले आनन्दित मन ॥२५॥
गौड़ सब रथ टाने करिया आनन्द। क्षणे शीघ्र चले रथ क्षणे चले मन्द ॥२६॥
क्षणे स्थिर हैया रहे,टानिले ना चले। ईश्वरेच्छाय चले रथ ना चले कारो बले ॥२७
तबे महाप्रभु सब लैया निजगण। स्वहस्ते पराइला सभारे माल्य-चन्दन ॥२८॥

रथ पर चढ़ कर श्रीजगन्नाथ जी चलने लगे। दोनों ओर मानो श्रीवृन्दावन की शोभा देख कर आनन्दित मन से श्रीजगन्नाथ जी चल रहे थे। गौड़ लोग (उड़ीसा की जाति विशेष) आनन्द पूर्वक रथ को खींच रहे थे, कभी तो रथ शीघ्र चलता और कभी बहुत धीरे-धीरे चलने लगता और कभी स्थिर हो जाता, बहुत खींचने पर भी नहीं चलता था। वस्तुतः रथ श्रीजगन्नाथ जी की ही इच्छा से चल रहा था, किसी के बल से वह नहीं चलता था। उस समय श्रीमहाप्रभु जी ने अपने भक्तों को एकत्रित किया और अपने श्रीहस्त से सबको चन्दन लगाया और माला पहराईं ॥२५—२८॥

परमानन्दपुरी आर भारती ब्रह्मानन्द। श्रीहस्ते चन्दन पाञा बाढ़िल आनन्द ॥२९॥
अद्वैत-आचार्य आर प्रभु नित्यानन्द। श्रीहस्त-स्पर्शे दोंहे हइला आनन्द ॥३०॥
कीर्त्तनीयागणे दिला माल्य-चन्दन। स्वरूप-श्रीवास तार मुख्य दुइजन ॥३१॥
चारि सम्प्रदाय हैल चब्बिश गायन। दुइ-दुइ मार्द्दङ्गिक—हैल अष्टजन ॥३२॥

श्रीमहाप्रभु के श्रीहस्त से माला-चन्दन पाकर श्रीपरमानन्दपुरी तथा श्रीब्रह्मानन्द भारती बहुत आनन्दित हुए। श्रीअद्वैताचार्य तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीमन्महाप्रभु के श्रीहस्त का स्पर्श पाकर आनन्दित हो उठे। श्रीप्रभु ने फिर कीर्त्तनीया भक्तों को चन्दन-माला पहराईं, उनमें श्रीस्वरूप एवं श्रीवास जी मुख्य थे। प्रभु ने चार टोलियाँ या मण्डलियाँ कीं। एक-एक मण्डली में छः-छः गायक होने से कुल चौबीस गायक थे और एक-एक मण्डली में दो-दो मृदङ्ग बजाने वाले होने से कुल आठ व्यक्ति थे ॥२९—३२॥

तबे महाप्रभु मने विचार करिया । चारि सम्प्रदाय कैल गायन वांटिया ॥३३॥
नित्यानन्द अद्वैत हरिदास वक्रेश्वरे । चारिजने आज्ञा दिल नृत्य करिवारे ॥३४॥
प्रथम सम्प्रदाय कैल स्वरूप प्रधान । आर पंच जन दिल तार पालिगान ॥३५॥
दामोदर, नारायण, दत्त गोविन्द । राघव पण्डित आर श्रीगोविन्दानन्द ॥३६॥
अद्वैताचार्य ताहां नृत्य करते दिल । श्रीवास प्रधान आर सम्प्रदाय कैल ॥३७॥

तब श्रीमहाप्रभु जी ने विचार करके चारों सम्प्रदाओं में गायन करने वालों को भी बाँट दिया। श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैत, श्रीहरिदास तथा श्रीवक्रेश्वर—इन चारों में एक-एक को एक-एक मण्डली में नृत्य करने के लिये प्रभु ने आज्ञा की। प्रथम मंडली में प्रधान कीर्त्तनीया श्रीस्वरूपदामोदर थे, और श्रीनारायण, श्रीगोविन्ददत्त, श्रीराघव पंडित तथा श्रीगोविन्दानन्द—ये पाँच व्यक्ति उनके पीछे गायन करने वाले थे और श्रीअद्वैताचार्य इस प्रथम मंडली में नृत्य करने वाले थे। दूसरी मंडली में प्रभु ने श्रीवास को प्रधान कीर्त्तनीया किया ॥३३—३७॥

गङ्गादास, हरिदास, श्रीमान्, शुभानन्द । श्रीरामपण्डित ताहां नाचे नित्यानन्द॥३८॥
वासुदेव गोपीनाथ मुरारी याहां गाय । मुकुन्द प्रधान कैल आर सम्प्रदाय ॥३९॥
श्रीकान्त वल्लभसेन आर दुइ जन । हरिदासठाकुर ताहां करेन नर्त्तन ॥४०॥

इस दूसरी मंडली में श्रीगङ्गादास, श्रीहरिदास, श्रीमान्, श्रीशुभानन्द, श्रीराम पंडित—ये पाँच जने सहायक गायक थे और यहाँ श्रीनित्यानन्द प्रभु नृत्य कर रहे थे। तीसरी मंडली में प्रभु ने श्रीमुकुन्द को प्रधान कीर्त्तनीया बनाया और श्रीवासुदेव घोष, श्रीगोपीनाथ, श्रीमुरारी, श्रीकान्त तथा श्रीवल्लभसेन—ये पांच व्यक्ति सहायक गायक कर दिये। यहां श्रीहरिदास ठाकुर नृत्य करने वाले थे ॥३८—४०॥

गोविन्दघोष प्रधान कैल आर सम्प्रदाय । हरिदास विष्णुदास राघव याहां गाय॥४१॥
माधव वासुदेव आर दुइ सहोदर । नृत्य करेन ताहां पण्डित वक्रेश्वर ॥४२॥
कुलीनग्रामेर एक कीर्त्तनीया-समाज । ताहां नृत्य करे रामानन्द सत्यराज ॥४३॥
शान्तिपुर-आचार्येर एक सम्प्रदाय । अच्युतानन्द नाचे ताहां आर सब गाय ॥४४॥

चतुर्थ मंडली में श्रीगोविन्दघोष प्रधान कीर्त्तनीया थे और श्रीहरिदास, श्रीविष्णुदास, श्रीराघव, श्रीमाधव तथा श्रीवासुदेवदत्त—ये पाँचों सहायक गायक थे। इनमें नृत्य करने वाले थे श्रीवक्रेश्वर पंडित। कुलीन ग्राम की भी एक मण्डली आई थी जिसमें सत्यराज, रामानन्द नृत्य करने वाले थे। शान्तिपुर-आचार्य की एक टोली थी, जिसमें श्रीअच्युतानन्द नृत्य करने वाले थे और सब गान करने वाले थे ॥४१—४४॥

खण्डेर सम्प्रदाय करे अन्यत्र कीर्त्तन । नरहरि नाचे ताहां श्रीरघुनन्दन ॥४५॥
जगन्नाथ आगे चारि सम्प्रदाय गाय । दुइपाशे दुइ — पाछे एक सम्प्रदाय ॥४६॥
सात सम्प्रदाये बाजे चौद्दमादल । यार ध्वनि शुनि वैष्णव हइल पागल ॥४७॥
श्रीवैष्णव—घटामेघे हइल बादल । सङ्कीर्त्तनामृत—सह वर्षे नेत्र जल ॥४८॥

श्रीखण्ड की एक मण्डली थी, जिसमें श्रीनरहरि सरकार ठाकुर नृत्य कर रहे थे एवं श्रीरघुनन्दन आदि—भक्त गान कर रहे थे, (किन्तु यह मण्डली उन छः मण्डलियों से कुछ दूर पृथक् स्थान पर सङ्कीर्त्तन

कर रही थी।) श्रीजगन्नाथ जी के आगे चार मण्डलियां नृत्य गान कर रही थीं और दोनों तरफ में दो मण्डलियां थीं। एक मण्डली उनके पीछे-पीछे नृत्य कर रही थी। सात मण्डलियों में चौदह मृदङ्ग बज रहे थे, जिनकी ध्वनि सुनकर वैष्णवगण पागल (प्रेमाविष्ट) हो रहे थे। श्रीवैष्णवगण वहाँ बादल की घटा की भांति छा रहे थे और संकीर्त्तन के साथ साथ उनके नेत्रों से अश्रुओं की धारा मानो अमृत की वर्षा कर रही थी ॥४५—४८॥

चै० च० चु० *टीका* :—ऊपर कहा गया है कि श्रीनरहरि सरकार की मण्डली पृथक् स्थान पर सङ्कीर्त्तन कर रही थी—सम्भवतः भावों का पार्थक्य होने के कारण उनकी मण्डली पृथक् स्थान पर अवस्थित थी। पहले की छहों मण्डलियाँ श्रीमहाप्रभु को राधाभावावेशित मानती थीं एवं स्वयं श्रीमहाप्रभु भी अपने को श्रीराधा ही जानते थे और इसलिये उनका नृत्य-गान भी राधाभाव-पूर्ण था, किन्तु श्रीनरहरि सरकार श्रीमहाप्रभु जी को केवल श्रीगौरकृष्ण—रसराज गौराङ्ग ही मानते थे। अन्यान्य मण्डलियों के भावानुसार श्रीगौर को कृष्ण-प्रेम का आश्रय न मानकर वे उन कृष्ण-प्रेम का विषय ही मानते थे और इसलिये उनका नृत्य-गान भी उनके भावानुकूल ही था। अतः उन मण्डलियों से वे अलग स्थान पर सङ्कीर्त्तन कर रहे थे।

त्रिभुवन भरि उठे सङ्कीर्त्तन-ध्वनि। अन्यवाद्यादिर ध्वनि किछुइ न शुनि ॥४९॥
सात ठाञि बुले प्रभु 'हरि-हरि' बलि। 'जय-जय जगन्नाथ' कहे हस्त तुलि ॥५०॥
आर एक शक्ति प्रभु करिल प्रकाश। एककाले सात ठाञि करेन विलास ॥५१॥
सभे कहे—प्रभु आछेन एइ सम्प्रदाय। अन्य ठाञि नाहि याय आमार दयाय॥५२॥
केहो लखिते नारे, अचिन्त्य प्रभुर शक्ति। अन्तरङ्गभक्त जाने—यार शुद्ध भक्ति ॥५३॥

सङ्कीर्त्तन ध्वनि से त्रिभुवन गूंज उठा एवं वहाँ और कोई भी शब्द नहीं सुनाई देता था। सातों मण्डलियों में श्रीमहाप्रभु जी 'हरि-हरि', 'जय जय जगन्नाथ' बोलते हुए ऊंचे हाथ उठाकर भ्रमण कर रहे थे। वहाँ प्रभु की एक और शक्ति प्रकाशित हुई कि प्रभु एक ही समय सातों मण्डलियों में उपस्थित होकर विहार कर रहे थे। सब मण्डली वाले यही जानते थे कि "महाप्रभु उनकी मण्डली में ही मौजूद हैं। प्रभु की उन पर विशेष दया है, इसलिये वे और मण्डली में नहीं जा रहे हैं।" प्रभु की इस लीला को, उनकी अचिन्त्य शक्ति को कौन जान सकता है? केवल जो उनके अन्तरङ्ग भक्त हैं एवं जिनके हृदय में शुद्धभक्ति है, वही प्रभु की लीलाओं को जान सकते हैं ॥४९—५३॥

कीर्त्तन देखिया जगन्नाथ हरषित। कीर्त्तन देखेन रथ करिया स्थगित ॥५४॥
प्रतापरुद्रेर हैल परम विस्मय। देखिते विवश राजा हैला प्रेममय ॥५५॥
काशीमिश्रे कहे राजा प्रभुर महिमा। काशीमिश्र कहे—तोमार भाग्येर नाहि सीमा ५६
सार्वभौमसह राजा करे ठाराठारि। आर केह नाहि जाने चैतन्येर चुरि ॥५७॥
यारे तांर कृपा, तांरे से जानिते पारे। कृपा-बिना ब्रह्मादिक जानिते ना पारे॥५८॥
राजार तुच्छ सेवा देखि प्रभुर प्रसन्न मन। से प्रसादे पाइल एइ रहस्य दर्शन ॥५९॥

सङ्कीर्त्तन को देख कर श्रीजगन्नाथ जी आनन्दित हो रहे थे और उसे देखने के लिये बीच-बीच में रथ को रोक लेते। राजा प्रतापरुद्र जी ने महाप्रभु की उस लीला को देख लिया कि वे सातों मण्डलियों

में ही एक साथ विहार कर रहे हैं। ऐसा देखकर राजा परम विस्मित हुए और प्रेमावेश में बेसुद्ध होगये। राजा श्रीकाशीमिश्र को प्रभु की महिमा सुनाने एवं बताने लगे। श्रीकाशीमिश्र ने कहा —"राजन्! आपके भाग्यों की सीमा नहीं है—आप बहुत भाग्यवान् हो।" श्रीसार्वभौम जी को भी राजा ने इशारे में बताया कि श्रीचैतन्य की यह लीला देखो। इस रहस्य को और कोई नहीं जान सका। कविराज कहते हैं—"जिस पर उनकी कृपा है, वही इन रहस्यमयी लीलाओं को देख सकता है। उनकी कृपा बिना ब्रह्मादिक देवता-गण भी उन्हें नहीं देख सकते।" राजा की झाड़ू करने की सेवा को देखकर श्रीमहाप्रभु का मन राजा पर प्रसन्न हो गया और उसी कृपा से ही राजा श्रीमहाप्रभु की इस रहस्यमयी लीला को देखने में समर्थ हुए।

साक्षाते ना देखा देन, परोक्षे एत दया। के बुझिते पारे चैतन्येर एइ माया ॥६०॥
सार्वभौम काशीमिश्र दुइ महाशय। राजारे प्रसाद देखि हइल विस्मय ॥६१॥
एइमत लीला प्रभु करि कथोक्षण। आपने गायेन नाचे निजभक्तगण ॥६२॥
कभु एक मूर्ति हय, कभु बहु मूर्त्ति। कार्य-अनुरूप प्रभु प्रकाशये शक्ति ॥६३॥

श्रीमहाप्रभु चाहे साक्षात् दर्शन राजा प्रतापरुद्र जी को नहीं देते थे, किन्तु परोक्ष में (अप्रत्यक्ष रूप में) उनपर उनकी महाद् दया थी। श्रीचैतन्य की इस लीला का रहस्य कौन जान सकता है? श्रीसार्वभौम एवं श्रीकाशीमिश्र—ये दोनों राजा पर श्रीमहाप्रभु जी की इतनी कृपा देखकर विस्मित हो गये। इस प्रकार बहुत समय तक प्रभु अपने भक्तों के साथ स्वयं नृत्य-गान करते रहे। कभी तो वे अनेक मूर्त्ति हो जाते और कभी एक मूर्ति। प्रयोजनानुसार प्रभु की शक्ति प्रकाशित होती थी ॥६०—६३॥

लीलावेशे नाहि प्रभुर निजानुसन्धान। इच्छा जानि लीलाशक्ति करे समाधान ॥६४॥
पूर्वे यैछे रासादिलीला कैल वृन्दाबने। अलौकिक लीला गौर करे क्षणे क्षणे ॥६५॥
भक्तगण अनुभवे, नाहि जाने आन। श्रीभागवत शास्त्र ताहाते प्रमाण ॥६६॥
एइमत महाप्रभु करि नृत्यरङ्गे। भासाइल सबलोक प्रेमेर तरङ्गे ॥६७॥

लीलावेश में प्रभु स्वयं भी अपना अनुसन्धान भूल जाते हैं। उनकी इच्छा जान कर उनकी लीलाशक्ति अपने आप ही सब लीला का समाधान करती रहती है। पहले जैसे श्रीवृन्दावन की रासलीला में भगवान् ने (अनेक मूर्त्ति होकर) अलौकिक लीला की, यहाँ अब श्रीगौराङ्ग उसी प्रकार की अनेक लीलाएँ क्षण-क्षण में कर रहे हैं। इन अलौकिक लीलाओं का अनुभव केवल भक्तों को ही हुआ करता है, और उन्हें कोई भी नहीं जान सकता। श्रीमद्भागवत (१०-३३-३) में भी इस बात का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने नृत्योत्सव करके सब लोगों को प्रेम तरङ्गों में सराबोर कर दिया ॥६४-६७॥

एइमत हैल कृष्णेर रथ आरोहण। तार आगे नाचाइल प्रभु निजगण ॥६८॥
आगे शुन जगन्नाथेर गुण्डिचा गमन। तार आगे प्रभु यैछे करिल नर्त्तन ॥६९॥
एइमत कीर्त्तन प्रभु करि कथोक्षण। आपन उद्योगे नाचाइल भक्तगण ॥७०॥
आपने नाचिते यबे प्रभुर मन हैल। सात सम्प्रदाय तबे एकत्र करिल ॥७१॥

इस प्रकार श्रीजगन्नाथ जी का रथ पर आरोहण हुआ और श्रीमहाप्रभु ने अपने भक्तों को रथ के आगे नृत्य कराया। अब जिस प्रकार श्रीजगन्नाथ जी गुण्डिचा-मन्दिर की ओर चले और उनके आगे

प्रभु ने स्वयं जैसे नृत्य किया उसे सुनिये। बहुत समय तक भक्तों के द्वारा नृत्य-गान कराने के बाद श्रीमहाप्रभु की स्वयं नृत्य करने की इच्छा हुई तो आपने सातों मण्डलियों को एकत्रित कर लिया ॥६८—७१॥

श्रीवास रामाइ रघु गोविन्द मुकुन्द। हरिदास गोविन्दानन्द माधव गोविन्द ॥७२॥
उद्दण्ड नृत्ये यबे प्रभुर हैल मन। स्वरूपेर सङ्गे दिल एइ नवजन ॥७३॥
एइ दशजन प्रभुर सङ्गे गाय धाय। आर सम्प्रदाय चारिदिगे रहि गाय ॥७४॥
दण्डवत् करि प्रभु युड़ि दुइ हाथ। ऊर्द्ध्व मुखे स्तुति करे देखि जगन्नाथ ॥७५॥

श्रीवास, श्रीरामाई, श्रीरघुनाथ, श्रीगोविन्द, श्रीमुकुन्द, श्रीहरिदास, श्रीगोविन्दानन्द, श्रीमाधव, श्रीगोविन्द—इन नौ जनों को श्रीमहाप्रभु ने श्रीस्वरूपदामोदर के साथ कर दिया, क्योंकि उनका मन उद्दण्ड-नृत्य करने के लिए उत्कण्ठित हो रहा था। ये दशों व्यक्ति तो प्रभु के साथ नृत्य-गान करने लगे और सब मण्डलियां चारों ओर रहकर गान करने लगीं। श्रीमहाप्रभु ने तो श्रीजगन्नाथ जी को दण्डवत् प्रणाम की और दोनों हाथ जोड़कर उनके दर्शन करते हुए उनके सामने स्तुति करने लगे ॥७२—७५॥

तथाहि विष्णु पुराणे (१-१९-६५), महाभारते शान्तिपर्वणि (४७-९४)—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥२॥

जो ब्रह्मण्य अर्थात् वेदों के जानने वाले पुरुषों के देव अर्थात् पूजनीय हैं, जो गौओं एवं ब्राह्मणों के हित करने वाले हैं, जो जगत् के कल्याण कर्त्ता हैं एवं जो गौपालक हैं, उन श्रीकृष्ण को मेरा नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है ॥२॥

तथाहि मुकुन्दमालायाम् (३), पद्यावल्यां (१०८)—

जयति जयति देवो देवकीनन्दनोऽसौ, जयति जयति कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः।
जयति जयति मेघश्यामलः कोमलाङ्गो, जयति जयति पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः ॥३॥

इन श्रीदेवकीनन्दन देव की जय हो, जय हो; यदुकुल अथवा गोपकुल उज्ज्वलकारी श्रीकृष्णचन्द्र की जय हो, जय हो; मेघवत् शीतल एवं श्यामवर्ण कोमलाङ्ग (श्रीश्यामसुन्दर) की जय हो, जय हो; पृथ्वी के भारहरनकारा भगवान् मुकुन्द की जय हो, जय हो ॥३॥

तथाहि (भाः १०-९०-४८)—

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोभिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन ब्रजपुरबनितानां वर्द्धयन् कामदेवम् ॥४॥

जो जीवगणों के आश्रय हैं अथवा जो अन्तर्यामी रूप से सब जोवों के हृदय में अवस्थान करते हैं, 'श्रीदेवकी-माता से जन्म ग्रहण किया है'—जिनके सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है, यादव श्रेष्ठगण जिनके सेवकरूप से सभासद् हैं, जो अपनी भुजाओं द्वारा अधर्म को दूर करके स्थावर-जङ्गमादि के दुख को हरण किया करते हैं, वे श्रीकृष्ण मधुर-मन्द मुस्कान युक्त सुन्दर मुख कमल द्वारा श्रीब्रजगोपवनिताओं तथा श्रीद्वारका मथुरा की वनिताओं में परम प्रेम उद्दीपित करके सर्वोत्कर्ष युक्त होकर विराजमान हैं ॥४

तथाहि पद्यावल्याम् (७२) –

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो बनस्थो यतिर्वा ।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्द-पूर्णामृताब्धे गोपीभर्त्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥५॥

"मैं ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय नहीं, वैश्य नहीं हूँ और न ही शूद्र हूँ; मैं ब्रह्मचारी नहीं हूँ, गृहस्थी भी नहीं, बानप्रस्थी नहीं और संन्यासी भी नहीं हूँ, किन्तु मैं प्रकृष्टरूप से प्रकटित-निखिल परमानन्द से पूर्ण अमृत समुद्र के तुल्य गोपीरमण जो श्रीकृष्ण हैं, उनके चरणकमलों के दासों के दासों का दास मात्र ही हूँ॥

चै० च० चु० *टीका* :—इस श्लोक में प्रभु ने भक्तभाव से श्रीजगन्नाथ देव की स्तुति की है। विशेषतः मञ्जरी भाव में आविष्ट होकर प्रभु ने इस श्लोक को पढ़ा—ऐसा प्रतीत होता है।

लौकिक जगत् में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र—ये चार वर्ण हैं और ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास या भिक्षु—ये चार आश्रम हैं। ये वर्ण एवं आश्रम लौकिक विभाग मात्र हीं हैं, अथवा सामाजिक प्रथा मात्र हैं। शरीरके साथ ही वर्ण एवं आश्रमों का सम्बन्ध है। विज्ञान भी प्रमाणित करता है कि हर एक वर्ण के व्यक्ति के रक्तकणों में भेद है और चारों आश्रमों में शारीरिक-आचार एवं विचारों में भेद भी होता है। परस्पर आचरण तथा खान-पानादि के भेद से स्वभावों में भी पार्थक्य होता है। अतः इन वर्णाश्रमों का शरीर से अवश्य सम्बन्ध है, किन्तु इनका जीव के स्वरूप के साथ कोई भी विशेष सम्बन्ध नहीं है। जीव के स्वरूप का एक मात्र सम्बन्ध श्रीकृष्ण के साथ ही है। जीव स्वरूपतः श्रीकृष्ण का अंश या नित्य-दास है। इस श्लोक में जीव के स्वरूप-तत्त्व को ही प्रभु ने प्रकाशित किया है।

अतः उन्होंने कहा कि मैं इन चार वर्णों में और चार आश्रमों में से कोई भी नहीं हूँ, किन्तु प्रकृष्ट रूप से आविर्भूत जो निखिल परमानन्द है, उससे परिपूर्ण अमृत के समुद्र तुल्य जो श्रीकृष्ण गोपीजनवल्लभ अर्थात् कान्ताभाव– मधुर भाव के विषय हैं, उनके दासों के दासों का भी दास हूँ।" जीव को उसका स्वरूप बताने के लिये प्रभु ने अपने को श्रीकृष्ण के दासों का भी दास कहा।

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने उक्त चारों श्लोकों में श्रीजगन्नाथ जी की स्तुति की।

एत पढ़ि पुनरपि करिला प्रणाम। योड़हाथे भक्तगण वन्दे भगवान् ॥७६॥
उद्दण्ड नृत्ये प्रभु करिया हुङ्कार। चक्रभ्रमि भ्रमे यैछे अलात-आकार ॥७७॥
नृत्ये प्रभुर याहां याहाँ पड़े पदतल। ससागर शैल मही करे टलमल ॥७८॥
स्तम्भ स्वेद पुलकाश्रु कम्प वैवर्ण्य। नानाभावे विवशता गर्व हर्ष दैन्य ॥७९॥
आछाड़ खाइया पड़ि भूमि गड़ि याय। सुवर्ण पर्वत येन भूमिते लोटाय ॥८०॥

उक्त श्लोकों को पढ़ कर प्रभु ने एक बार फिर श्रीजगन्नाथ जी को एवं भक्तगणों को हाथ जोड़ कर प्रणाम की। उद्दण्ड नृत्य में प्रभु हुङ्कार करके चक्र के समान घूमने लगे, मानो अलात चक्र घूम रहा है। (एक सिरा लकड़ी का जलाकर दूसरे सिरे से पकड़ कर ज़ोर से घुमाने से जो अग्नि का चक्र बन जाता हैं, उसे अलात चक्र कहते हैं।) नृत्य करते समय प्रभु जहां जहाँ चरण प्रहार करते वहाँ की पृथ्वी पर्वत एवं सागर सहित डगमगाने लगती। प्रभु के शरीर पर स्तम्भ, स्वेद, पुलक, अश्रु, कम्प, वैवर्ण्य, विवशता, गर्व, हर्ष एवं दैन्यादि अनेक प्रेम विकार एवं भाव उदय हो रहे थे। प्रभु पछाड़ें खाकर बार बार पृथ्वी पर गिर जाते मानो सुवर्ण का पर्वत पृथ्वी पर लोट रहा हो ॥७६—८०॥

नित्यानन्द प्रभु दुइ हस्त प्रसारिया। प्रभुके धरिते बुले आशे पाशे धाञा ॥८१॥
प्रभु पाछे बुले आचार्य करिया हुङ्कार। हरिदास 'हरिबोल बोले' बारबार ॥८२॥
लोक निवारिते हइल तिन मण्डल। प्रथम मण्डल नित्यानन्द महाबल ॥८३॥
काशीश्वर-गोविन्दादि यत भक्तगण। हाथाहाथी करि हैल द्वितीयावरण ॥८४॥

श्रीनित्यानन्द प्रभु अपने दोनों हाथ पसार कर श्रीमहाप्रभु को गिरने से बचाने के लिये उनके दोनों ओर घूम रहे थे। श्रीमहाप्रभु जी के पीछे श्रीअद्वैताचार्य प्रभु हुङ्कार कर रहे थे और श्रीहरिदास जी बारबार 'हरि बोल' 'हरि बोल' बोल रहे थे। श्रीमहाप्रभु के दर्शनों के लिये बहुत बड़ी भीड़ एक दूसरे के ऊपर चढ़ी जा रही थी—उसे रोकने के लिये तीन घेरे बन रहे थे। पहले घेरे में श्रीनित्यानन्द महाबल पूर्वक श्रीप्रभु की रक्षा कर रहे थे। दूसरे घेरे में श्रीकाशीश्वर श्रीगोविन्दादि भक्तगण हाथों में हाथ पकड़ कर भीड़ को रोक रहे थे ॥८१-८४॥

बाहिरे प्रतापरुद्र लैया पात्रगण। मण्डली हइया करे लोकनिवारण ॥८५॥
हरिचन्दनेर स्कन्ध हस्तावलम्बिया। प्रभुर नृत्य देखे राजा आविष्ट हइया ॥८६॥
हेन काले श्रीनिवास प्रेमाविष्ट मन। राजार आगे रहि देखे प्रभुर नर्त्तन ॥८७॥
राजार आगे हरिचन्दन देखि श्रीनिवास। हस्ते तारे स्पर्शि कहे, हओ एक पाश ॥८८॥

उसके बाहर राजा प्रतापरुद्रजी अपने राजपात्र-मित्रों को लेकर मण्डलाकार खड़े हुए थे ताकि भीड़ आगे न आ सके। राजाप्रतापरुद्र जी प्रेमाविष्ट होकर अपने एक सेवक हरिचन्दन के कन्धे का आश्रय लेकर प्रभु का नृत्य देख रहे थे। उसी समय श्रीनिवास भी प्रेमाविष्ट मन से राजा के आगे खड़े होकर प्रभु का नृत्य देख रहे थे। राजा के आगे खड़ा हुआ देख कर श्रीनिवास को हरिचन्दन ने हाथ से हटा कर कहा—"एक तरफ हो जाओ" ॥ ८५-८८ ॥

नृत्यालोकावेशे श्रीवास किछुइ ना जाने। बारबार ठेले, आर, क्रोध हैल मने ॥८९॥
चापड़ मारिया तारे कैल निवारण। चापड़ खाइया क्रुद्ध हैला से हरिचन्दन ॥९०॥
क्रुद्ध हैया तारे किछु चाहे बलिवारे। आपने प्रतापरुद्र निवारिल तारे ॥९१॥
भाग्यवान् तुमि इंहार हस्तस्पर्श पाइला। आमार भाग्ये नाहि, तुमि कृतार्थ हइला ॥९२॥

नृत्य देखने के आवेश में श्रीनिवास ने कुछ भी ध्यान न दिया। बारबार जब हरिचन्दन ने उन्हें धक्का दिया तो श्रीनिवास ने क्रोध में आकर हरिचन्दन को एक चपेट मार कर धक्का दे मारा। चपेट खाकर हरिचन्दन को बड़ा क्रोध आया और वह श्रीनिवास को उसका उत्तर कुछ देना ही चाहता था कि स्वयं राजा प्रतापरुद्र जी ने हरिचन्दन को रोक लिया और कहा—"तुम बहुत भाग्यवान् हो कि ऐसे भक्त के हस्त स्पर्श को प्राप्त किया है। मेरे भी ऐसे भाग्य नहीं हैं। तुम तो कृतार्थ हो गये हो ॥८९—९२ ॥

प्रभुर नृत्य देखि लोकेर हैल चमत्कार। अन्य आछु जगन्नाथेर आनन्द अपार ॥९३॥
रथ स्थिर करि आगे ना करे गमन। अनिमिष-नेत्रे करे नृत्य दरशन ॥९४॥

सुभद्रा—बलरामेर हृदय उल्लास। नृत्य देखि दुइजनार श्रीमुखे हैल हास ॥९५॥
उद्दण्ड नृत्ये प्रभुर अद्भुत विकार। अष्ट-सात्त्विक-भावोदय हय समकाल ॥९६॥

श्रीमहाप्रभु का नृत्य देख कर सब लोगों को चमत्कार हुआ, औरों की तो क्या बात, श्रीजगन्नाथजी को भी अपार आनन्द हुआ। उन्होंने अपना रथ स्थिर कर दिया, वह किसी प्रकार भी चलाने से न चला। अनिमिष नेत्रों से वे प्रभु के नृत्य के दर्शन कर रहे थे। सुभद्रा जी तथा श्रीबलराम जी के हृदय में भी बड़ा भारी हुलास था और वे नृत्य देख कर मुस्कराने लगे। उद्दण्ड नृत्य में प्रभु के शरीर पर अद्भुत विकार हो रहे थे और आठों ही सात्त्विक-विकार एक ही समय में उदय हो रहे थे॥ ९३-९६ ॥

मांसव्रण-सह रोमवृन्द पुलकित। शिमुलीर वृक्ष येन कण्टके वेष्टित ॥९७॥
एकेक-दन्तेर कम्प देख लागे भय। लोके जाने—दन्त सब खसिया पड़य ॥९८॥
सर्वाङ्गे प्रस्वेद छुटे—ताते रक्तोद्गम। जज गग जज गग—गद्गद वचन ॥९९॥
जलयन्त्र—धारा येन बहे अश्रु जल। आश-पाश लोक यत भिजिल सकल ॥१००॥

श्रीमहाप्रभु में पुलकावली कैसी—कि रोंगटों के साथ उनकी जड फफोलों की भाँति फूल उठती थीं, प्रभु का शरीर शिमुली के वृक्ष की भाँति काँटे काँटे दीखता था। उनका एक एक दाँत कटकटा रहा था, जिसे देख कर भय लगता था, और सब को ऐसे लगता था कि उनके दाँत सब बाहर आ पड़ेगें। सर्वाङ्ग में स्वेद ऐसा निकल रहा था कि उसके साथ साथ रक्त भी निकल रहा था। प्रभु जगन्नाथ कहते हुए 'जज—गग—जज—गग करके ही प्रभु रह जाते—इस प्रकार उनका गद्गद् वचन या स्वरभंग विकार था। उनके अश्रु तो पिचकारी की तरह छूट ही रहे थे, उनसे आस पास के सब लोग भीज रहे थे।

देहकान्ति गौर कभु देखिये अरुण। कभु कान्ति देखि येन मल्लिका पुष्प-सम॥१०१॥
कभु स्तब्ध, कभु प्रभु भूमिते पड़य। शुष्क काष्ठसम हस्त पद न चलय ॥१०२॥
कभु भूमि पड़े, कभु हय श्वासहीन। याहा देखि भक्तगणेर हय प्राण क्षीण ॥१०३॥
कभु नेत्र-नासा जल मुखे पड़े फेन। अमृतेर धारा चन्द्र बिम्बे पड़े येन॥१०४॥

प्रभ के शरीर की गौरकान्ति कभी तो अरुण (लाल) दीखने लगती और कभी मल्लिका के फूल की भांति बिल्कुल सफेद ही हो जाती। कभी प्रभु स्तब्ध (जड़वत्) होकर पृथ्वी पर गिर जाते, सूखी लकड़ी वत् हो जाते और उनके हाथ-पांव चलने से रहित हो जाते। कभी तो पृथ्वी पर श्वासहीन होकर पड़ जाते, और उन्हें इस अवस्था में देख कर भक्तों के मानो प्राण निकल जाते, कभी उनके नेत्र, नासा से जल और मुख से झाग निकलने लगते, ऐसा प्रतीत होता मानो चन्द्र से अमृत क्षुरित हो रहा है।

सेइ फेन लैया शुभानन्द कैल पान। कृष्णप्रेमे मत्त तेंहो बड़ भाग्यवान् ॥१०५॥
एइमत ताण्डव-नृत्य करि कथोक्षण। भावविशेषे प्रभुर प्रवेशिल मन ॥१०६॥
ताण्डव नृत्य छाड़ि स्वरूपेरे आज्ञा दिल। हृदय जानिला स्वरूप गाहिते लागिल ॥१०७॥

श्रीमहाप्रभु के मुख-निसृत उस फेन को श्रीशुभानन्द ने लेकर पान कर लिया, वह बड़भागी तत्काल श्रीकृष्ण-प्रेम में उन्मत्त हो उठा। इस प्रकार बहुत समय तक ताण्डव नृत्य करने के बाद प्रभु के मन में एक विशेष भाव का उदय हुआ (कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण-दर्शन पाकर श्रीराधा जी में जिस भाव का

उदय हुआ था, वही भाव प्रभु में उदय (हो आया) प्रभु ने ताण्डव-नृत्य तो छोड़ दिया और श्रीस्वरूप-दामोदर जी को गान करने की आज्ञा की जिससे श्रीस्वरूप प्रभु के मन के भाव को जानकर गाने लगे ।।

तथाहि पदम्—

"सेइ त पराणनाथ पाइलुं । याहा लागि मदन-दहने झुरि-गेलुं" ।।ध्रु ।।१०८।।
एइ धुया उच्चस्वरे गाय दामोदर । आनन्दे मधुर नृत्य करेन ईश्वर ।।१०९।।
धीरे-धीरे जगन्नाथ करिल गमन । आगे नृत्य करि चले शचीरनन्दन ।।११०।।

"उसी प्राणनाथ श्रीकृष्ण को मैंने पा लिया । जिनकी कामाग्नि में मैं जली जा रही थी"—श्रीराधा-भाव पूर्ण इस गान को श्रीस्वरूपदामोदर अति उच्च स्वर से गान करने लगे और आनन्द पूर्वक श्रीमहाप्रभु जी मधुर मधुर नृत्य करने लगे । धीरे धीरे श्रीजगन्नाथ जी का रथ आगे को चलने लगा और उनके आगे श्रीशचीनन्दन नृत्य करते हुए चलने लगे ।।१०८—११०।।

जगन्नाथे नेत्र दिया सभे गाय नाचे । कीर्त्तनीया सह प्रभु चले पाछे पाछे ।।१११।।
जगन्नाथे मग्न प्रभुर नयन-हृदय । श्रीहस्तयुगे करे गीतेर अभिनय ।।११२।।
गौर यदि आगे ना याय,श्याम हय स्थिरे । गौर आगे चले,श्याम चले धीरे-धीरे।।११३।।
एइमत गौरश्याम करे ठेलाठेलि । सरथ-श्यामेरे राखे गौर महाबलि ।।११४।।
नाचिते नाचिते प्रभुर हैल भावान्तर । हस्त तुलि श्लोक पढ़े करि उच्चस्वर।।११५।।

श्रीजगन्नाथ जी की ओर ही नेत्र लगा कर सब नृत्य-गान कर रहे थे और प्रभु भी कीर्त्तनिया के साथ (उलटे पाँव) पीछे की ओर चल रहे थे । श्रीमहाप्रभु के नेत्र एवं हृदय श्रीजगन्नाथ जी के प्रेम में मग्न हो रहे थे और वे अपने दोनों हाथों से गीत का अभिनय कर रहे थे । श्रीगौराङ्ग यदि आगे न चलते तो श्रीजगन्नाथ जी भी स्थिर हो जाते, उनका रथ वहीं रुक जाता और जब श्रीगौरसुन्दर आगे चलते तो श्रीश्यामसुन्दर (श्रीजगन्नाथ जी) भी आगे चलने लगते । इस प्रकार श्रीगौरसुन्दर तथा श्रीश्यामसुन्दर में खींचातानी हो रही थी । श्रीगौराङ्ग महाशक्तिशाली ने रथ पर चढ़े हुए श्रीश्यामसुन्दर को अपने वश में कर रखा था क्योंकि वे जब आगे चलते तो श्रीजगन्नाथ जी भी चल पाते और जब वे नृत्य करते हुए रथ के पीछे चले जाते तो श्रीजगन्नाथजी भी रुक जाते, आगे न चल पाते) श्रीमहाप्रभु में नाचते नाचते एक दूसरे भाव का उदय हो आया (कुरुक्षेत्र में मिलते समय श्रीराधाजी में जो भाव श्रीकृष्ण के प्रति उदय हुआ था, अब तक प्रभु उसी भावावेश में नृत्य कर रहे थे। अब उनमें—"कुरुक्षेत्र मिलन में उतनी तृप्ति नहीं हो पा रही है जो आनन्द तृप्ति श्रीवृन्दावन के कुञ्ज मिलन में होती थी"—इस भाव का अर्थात् श्रीवृन्दावन में मिलने की वासना के भाव का उदय प्रभु में हो आया । प्रभु उसी भाव में ऊंचे हाथ उठाकर उच्च स्वर में निम्नलिखित श्लोक पढ़ने लगे ।।१११–११५।।

तथाहि काव्यप्रकाशे (१–४)— साहित्यदर्पणे (१–१०)— पद्यावल्यां (३८६)—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चेत्रक्षपा
स्तेचोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानीलाः ।

सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीला विधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥६॥

इस श्लोक का अर्थ एवं टीका पृष्ठ १३ पर द्रष्टव्य है ॥६॥

एइ श्लोक महाप्रभु पढ़े बार बार । स्वरूप बिना केहो अर्थ ना जाने इहार ॥११६॥
एइ श्लोकेर अर्थ पूर्वे करियाछि व्याख्यान । श्लोकेर भावार्थ करि संक्षेपे आख्यान॥११७
पूर्वे येन कुरुक्षेत्रे सब गोपीगण । कृष्णेर दर्शन पाइला आनन्दित मन ॥११८॥
जगन्नाथ देखि प्रभुर से भाव उठिल । सेइ भावाविष्ट हैया धुया गाओयाइल ॥११९॥

उक्त श्लोक को श्रीमहाप्रभु बार बार पढ़ने लगे। श्रीस्वरूपदामोदर के बिना इस श्लोक का अर्थ या भाव कोई भी न जानता था। इस श्लोक का अर्थ पहले (प्रथम परिच्छेद पृष्ठ १३ पर) वर्णन कर आये हैं। यहाँ संक्षेप में इसके भाव को वर्णन करते हैं। पहले ब्रजलीला में जब कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के साथ ब्रजगोपियों का मिलन हुआ था, तब वे श्रीकृष्ण-दर्शन पाकर अतीव हर्षित हुई थीं। श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करके श्रीमहाप्रभु जी में भी वही भाव उदय हो आया, उसी भाव से आविष्ट होकर प्रभु ने उस गीत का गान कराया ॥११६-११९॥

अवशेषे राधा कृष्णे कैल निवेदन । सेइ तुमि सेइ आमि से नवसङ्गम ॥१२०॥
तथापि आमार मन हरे वृन्दावन । वृन्दाबने उदय कराह आपन चरण ॥१२१॥
इहां लोकारण्य हाथि घोड़ा रथध्वनि । ताहां पुष्पारण्य भृङ्ग-पिक-नाद शुनि ॥१२२॥
इहां राजवेश सब सङ्गे क्षत्रियगण । ताहां गोपगण सङ्गे मुरलीवदन ॥१२३॥
ब्रजे तोमार सङ्गे येइ-सुख-आस्वादन । से-सुख-समुद्रेर इहा नाहि एककण ॥१२४॥
आमा लैया पुन लीला कर वृन्दाबने । तबे आमार मनोवाञ्छा हय त पूरणे ॥१२५॥

उस मिलन के अन्त में श्रीराधाजी ने श्रीकृष्णचन्द्र जी से प्रार्थना की कि "आप भी वही हो और मैं भी वही हूँ तथा बहुत काल के पश्चात् यह हम दोनों का मिलन भी एक प्रकार का नव-मिलन ही है, किन्तु मेरे मन को तो श्रीवृन्दावन की ही स्मृति हरण कर रही है। अतः आप श्रीवृन्दावन में ही पधारो (क्योंकि जो आनन्द मैंने श्रीवृन्दावन में अनुभव किया था, यहाँ वह आनन्द अनुभव नहीं हो रहा है।) उसका कारण यह है कि यहाँ तो लोगों का बग़ीचा (जमघट) बन रहा है और हाथी, घोड़े, रथों का कोलाहल मच रहा है, किन्तु श्रीवृन्दावन में पुष्पों के बागीचे हैं और मधुकरों एवं कोकिलाओं की मधुर ध्वनि ही सुनाई देती थी। यहाँ आपका राजवेश है और साथ में आप के क्षत्रिय-योद्धा लोग हैं जो नाना प्रकार के अस्त्रों-शस्त्रों से सजधज रहे हैं। वहाँ आपका गोप वेश था और सुन्दर मुरली आपके मुख-कमल पर शोभित थी। वहाँ आपके साथ भोले-भाले समान वेश के सखागण थे। श्रीवृन्दावन में तुम्हारे साथ मिलकर जिस सुख का आस्वादन मिला था, उस सुख समुद्र का एक कण भी मुझे यहाँ प्राप्त नहीं हो रहा है। श्रीवृन्दावन में ही मुझे ले चलकर आप लीला करिये, तभी मेरी मनोवाञ्छा पूर्ण हो सकती है॥

भागवते आछे एइ राधिका-वचन । पूर्वे ताहा सूत्र मध्ये करियाछि वर्णन ॥१२६॥
सेइ भावावेशे प्रभु पढ़े एइ श्लोक । श्लोकेर ये अर्थ-केहो नाहि जाने लोक ॥१२७॥

स्वरूपगोसाञि जाने, ना कहे अर्थ तार । श्रीरूपगोसाञि कैल से अर्थ प्रचार ॥१२८॥
स्वरूप-सङ्गे यार अर्थ करे आस्वादन । नृत्यमध्ये सेइ श्लोक करेन पठन ॥१२९॥

श्रीराधिका जी की इस उक्ति का प्रमाण श्रीमद्भागवत (१०—८२—४८) जी में भी पाया जाता है। जिसका वर्णन पृष्ठ १६ पर श्लोक नं० ८ के अन्तर्गत किया जा चुका है। श्रीराधा जी के उसी भावावेश में प्रभु इस श्लोक का पाठ कर रहे थे। इस श्लोक का अर्थ और कोई नहीं जानता था। श्रीस्वरूप गोस्वामी जानते थे, किन्तु वे उसे प्रकाशित नहीं करते थे। श्रीरूप गोस्वामी जी ने उस अर्थ का प्रचार किया। श्रीस्वरूप गोस्वामी के साथ जिस अर्थ भाव का आस्वादन प्रभु किया करते थे, नृत्य में भी उसी श्लोक का पाठ करने लगे ॥ १२६—१२९ ॥ (श्री मद्भागवत जी का वह श्लोक निम्नोद्धृत करते हैं)—

तथाहि (भाः १०-८२-४८)—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाध-बोधैः ॥
संसार-कूप-पतितोत्तरणावलम्बं गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥७॥

कुरुक्षेत्र मिलन में श्रीराधिका-प्रमुख गोपियों ने श्रीकृष्ण से कहा—"हे कमल-नाभ ! परम ज्ञान सम्पन्न योगेश्वरों के हृदय में चिन्तनीय एवं संसार कूप में गिरे हुए व्यक्तियों के उद्धार के लिये एक मात्र अवलम्बनरूप आपके चरणकमल—हम गृहदासियों के मन में भी सदा आविर्भूत हों"। (विशेष टीका पृष्ठ १७ पर द्रष्टव्य है। ग्रन्थकार निम्नलिखित त्रिपदी में इस श्लोक का अर्थ कहते हैं।

अस्यार्थः । यथारागः ।—

अन्येर 'हृदय' मन, आमार मन 'वृन्दाबन', मने बने एक करि जानि ।
ताहां तोमार पदद्वय, कराह यदि उदय, तबे तोमार पूर्ण कृपा मानि ॥ १३० ॥

श्रीराधा जी ने कहा—"हे कमलनयन ! अन्य लोगों का हृदय ही मन होता है, अर्थात् उनका मन एवं हृदय एक होते हैं किन्तु (मेरा मन और हृदय एक नहीं हैं) मेरा मन श्रीवृन्दाबन है। मेरा मन और श्रीवृन्दाबन एक हैं, इनमें कुछ भेद नहीं है। आप यदि श्रीवृन्दाबन में अपने चरणकमल उदय करावें अर्थात् वहाँ पधारें' तभी मैं अपने ऊपर आपकी पूर्ण कृपा मानूंगी ॥ १३० ॥

चै० च० चु० *टीका:*—ऊपर की त्रिपदी में कहा गया है कि अन्य लोगों का हृदय ही मन होता है—इसका अभिप्राय है कि जहां वासना उठती है और लीन होती है, उसका नाम हृदय है। उसी हृदय में मन अवस्थान करता है। हृदय ही मन का प्रधान अवलम्बन है। हृदय से मन को पृथक् नहीं किया जा सकता। इसलिये सब का हृदय ही मन होता है, ऐसा कहा गया है। श्रीराधाजी का मन हृदय पर अवलम्बित नहीं है, उनके मन का अवलम्बन केवल श्रीवृन्दावन ही है वे अपने मन को एक क्षण भी श्रीवृन्दावन से पृथक् नहीं कर सकतीं। अत: वे श्रीश्यामसुन्दर को श्रीवृन्दावन में प्राप्त करके अपने मन वाञ्छित की प्राप्ति को पूर्ण कृपा कह रही हैं।

प्राणनाथ ! शुन मोर सत्य निवेदन ।
ब्रज आमार सदन, ताहाँ तोमार सङ्गम, ना पाइले ना रहे जीवन ॥ ध्रु० ॥१३१॥

पूर्वे उद्धव द्वारे, एबे साक्षात् आमारे, योग-ज्ञानेर कहिले उपाय।
तुमि विदग्ध कृपामय, जान आमार हृदय, मोरे ऐछे कहिते ना जुयाय ॥१३२॥

"हे प्राणनाथ! आप मेरी सत्य विनय को सुनिये। श्री वृन्दावन ही मेरा घर है, वहां आपका सम्मिलन—सङ्गम न मिलने से मेरा जीवन नहीं रह सकता। पहले जब आप मथुरा में थे तो वहां से श्रीउद्धव को भेज कर हमें योग-ज्ञान का उपदेश ("भवतीनां वियोगो मे" श्रीभा: १०-४७-२९) कहला भेजा था और अब यहां कुरुक्षेत्र में साक्षात् आप भी मुझे ("अहं हि सर्वभूतानां," श्री भा: १०-८२-४६) ज्ञान एवं योग की बातें सुना रहे हो। (ठीक है तुम विभुतत्त्व, परम-कारण, और परम आश्रय रूप होवोगे किन्तु उससे क्या प्रयोजन) आप तो विदग्ध अर्थात् रसिक शेखर हो, नृत्य गानादि कलाओं में निपुण हो और फिर परम कृपालु हो, मेरे हृदय को तो आप जानते हैं? मेरे लिये ऐसा उपदेश करना आपको उचित नहीं है ॥ १३१—१३२ ॥

चित्त काढ़ि तोमा हैते, विषये चाहि लागाइते, यत्न करि नाहि काढ़िवारे।
तारे ध्यान शिक्षा कर, लोक हासाइया मार, स्थानास्थान ना कर विचारे ॥ १३३ ॥
नहे गोपी योगेश्वर, तोमार पदकमल, ध्यान करि पाइवे संतोष।
तोमार वाक्य-परिपाटी, तार मध्ये कुटिनाटी, शुनि गोपीर बाढ़े आर रोष ॥ १३४ ॥

हे श्यामसुन्दर! मैं अपने चित्त को आप से हटा कर नित्तनैमित्तिक विषयों में लगाना चाहती हूं। किन्तु अनेक यत्न करने पर भी उसे वहाँ से नहीं हटा सकती। मेरे लिये आप योग-ध्यान की शिक्षा देते हैं, सो केवल लोक-उपहास्यास्पद ही है, पात्र—अपात्र का भी तो आप विचार करिये। प्राणवल्लभ! गोपियां योगेश्वर नहीं हैं जो आपके चरण—कमलों का ध्यान करके सन्तुष्ट हो जाएं। आपके बोलने की जो चातुरी है, वह कुटिलता से भरी है, उसे सुन कर गोपियों को और भी अधिक क्रोध एवं दुख हो रहा है"

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीराधा जी ने ऊपर की त्रिपदी में कहा कि हम गोपियों को ज्ञान—याग का उपदेश उचित नहीं है, उसका एक और कारण कहते हैं। योग का प्रधान अङ्ग है ध्यान, अर्थात् ध्येय-वस्तु में मन का अटल संयोग। किन्तु जिनका मन अपने वश में नहीं है उनके पक्ष में ध्यान आदि कैसे सम्भव हो सकता है? श्री प्रिया जी ने कहा—"हमारा चित्त हमारे वश में नहीं है। उसे हम अपनी इच्छा से कहीं नियोजित नहीं कर सकती हैं। हमारा चित्त आप में हे श्यामसुन्दर! इतने निबिड़भाव में निविष्ट है कि उसे हम अपने नित्य-नैमित्तिक विषयों में अर्थात् अपने शरीर के वेश-भूषा, पालन-पोषण एवं गृह के कार्यों में कोटि कोटि यत्न करने पर भी नहीं लगा सकतीं। फिर आपके वैचित्रीहीन, परम कारण रूप-विभुरूप के ध्यान में उसे लगाने की क्या बात? इस अवस्था में जो आप हमें योगज्ञान का उपदेश देते हैं, अपने कारण-रूप के ध्यान का अभ्यास करने को कहते हैं-वह केवल हंसी का ही विषय है।'

"श्रीराधा जी एवं गोपियों का अपने चित्त पर नियन्त्रण न हो और वे इसलिये योगज्ञान की पात्र नहीं है—वस्तुतः यह बात नहीं है। उनका मन तो श्रीकृष्ण-प्रेम से इतना परिपूर्ण है कि वे प्रेम की बात के अतिरिक्त और किसी बात को सुन ही नहीं सकतीं, सुनने की इच्छा भी नहीं करतीं, वरं सुनने से उन्हें अत्यन्त कष्ट होता है, उनके प्राणों में आघात लगता है। इसलिये श्री राधा जी ने आगे कहा-'नाथ'! जो योगेश्वर अर्थात् योग में सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, वही आपके चरणों का ध्यान कर सकते हैं, किन्तु हम तो योगेश्वर नहीं हैं, हम तो साधारण गोप बालिकाएँ हैं। हम में आपके चरणों के ध्यान

की शक्ति भी नहीं है, बलिक आपके चरणों के ध्यान का आभास होने से भी हम तो विरह-समुद्र में जा पड़ती हैं एवं असह्य दुख का भोग करने लगती हैं। आप हमारे हृदय के भावों को जान कर भी ऐसी बात कहते हैं जिससे हमें महा दुख हो यही आपकी कुटिलता है। हम तो आपके निकट अपनी हृदय-ज्वाला को शान्त करने के लिये आई थीं और आप यह भी जानते हैं कि कैसे वह ज्वाला बुझ सकती है, फिर भी आप ऐसी बातें कहते हैं ? कि ज्वाला का शान्त करना तो दूर, उसे और भी आप प्रज्वलित कर रहे हैं—इससे हमें आप पर क्रोध उत्पन्न हो रहा है।"

देहस्मृति नाहि यार, संसारकूप काहां तार, ताहा हैते ना चाहे उद्धार।
विरह–समुद्र जले, काम–तिमिङ्गिले गिले, गोपीगणे लह तार पार ॥१३५॥

हे करुण ! जिसको अपने शरीर की स्मृति ही नहीं है, उसके लिए संसार कूप में गिरना कैसा ? जो संसार कूप में गिरा ही नहीं, उसकी उससे उद्धार पाने की इच्छा भी नहीं होती। हम तो विरह-समुद्र में पड़ी हुई हैं और कामरूप तिमिङ्गिल (मगर मच्छ) हमें निगलना चाहता है। हे मदनमोहन ! आप हम गोपियों को इस विरह-समुद्र से पार कीजिये" ॥१३५॥

चै० च० चु० *टीका* :—वस्तुतः जो अपने देह में आसक्त है, देह की ही सुख वासनाओं में सर्वदा व्यस्त हैं, वही संसार-कूप में पड़े हुए हैं। उन्हें ही उद्धार पाने की इच्छा रहती है और उस उद्धार पाने का उपाय श्रीकृष्ण-चरणों का चिन्तन है। ब्रजगोपीशिरोमणि श्रीराधा जी ने कहा—"हमें अपने देह की सुद्धि-बुद्धि ही नहीं है। अपने सुख के लेश मात्र का भी अनुसन्धान नहीं है। स्वसुख की किञ्चितमात्र भी वासना हमें नहीं है। अतः हम संसार-कूप में पतित हैं ही नहीं, तब हमें उससे उद्धार पाने की इच्छा का क्या प्रश्न है। प्यारे ! ठीक है आपके चरण-चिन्तन से संसारकूप से उद्धार पाया जा सकता है, किन्तु समुद्र से पार नहीं पाया जा सकता। हम कूप में पड़ी हुई नहीं हैं हम तो समुद्र में पड़ी हुई हैं। उस अगाध विरह-समुद्र में तुम्हारे सङ्गम की वासना रूप तिमिङ्गल हमें निगलना चाहता है। अतः हे विदग्ध शिरोमणि ! आप हमें योगज्ञान का और उपदेश न दीजिये, हमें विरह-समुद्र से निकालने के लिए अपना सुख-सङ्गम प्रदान कीजिये।"

वृन्दाबन गोवर्द्धन, यमुना–पुलिन बन, सेइ कुञ्जे रासादिक लीला।
सेइ ब्रजे ब्रजजन, माता पिता बन्धुगण, बड़ चित्र केमने पाशरिला ? ॥१३६॥
विदग्ध मृदु सद्गुण, सुशील स्निग्ध करुण,तुमि, तोमार नाहि दोषाभास।
तबे ये तोमार मन, नाहि स्मरे ब्रजजन, से आमार दुर्दैव–विलास ॥१३७॥

"हे प्रीतम ! वह श्रीवृन्दावन-गोवर्द्धन तुम भूल गये ? क्या तुम्हें यमुना-पुलिन बनों का भी अब ध्यान नहीं रहा ? उन कुञ्जों में जो रासलीला आपने हमारे साथ की—उसकी भी तुम्हें याद नहीं आती क्या ? मत करो हमारी याद ! हाय, हाय ! तुम अपने ब्रज के सखाओं को, माता यशोदा, पिता श्रीनन्दजी को तथा सब बन्धु-बान्धुवों की तो सुधि करो—हमें बड़ा आश्चर्य है—उनको तुम कैसे भूल गये ? (तो क्या मुझ में तुम निठुरता-कठोरता का दोष लगा रही हो—श्रीकृष्ण की इस आशंका का उत्तर देते हुए कहती हैं) आप तो विदग्ध हो (श्रीवृन्दाबन की रासलीला को कैसे भूल सकते हो), कोमल चित्त हो (मां यशोदा एवं पिता-बन्धु आदिकों को भी नहीं भूल सकते) आप में समस्त सद्गुण वास करते हैं,आप सुशील, स्नेह-

पूर्ण एवं परम करुण हो, आप में दोष क्या, दोष का आभास भी नहीं है, किन्तु यह भी सत्य कथा है कि आप अब हम ब्रजवासियों को याद नहीं करते, (वरना इतने दीर्घकाल तक आप हमें देखे बिना न रह सकते) सो इसमें आपका कोई दोष नहीं—यह हमारे खोटे भाग्यों की ही लीला है" ॥१३६—१३७॥

ना गणि आपन दुख, देखि ब्रजेश्वरी मुख, ब्रजजनेर हृदय विदरे।
किवा मार ब्रजवासी, किवा जीयाओ ब्रजे आसि, केने जीयाओ दुख सहिवारे॥१३८॥
तोमार ये अन्य-वेश, अन्य-सङ्ग अन्य देश, ब्रजजने कभु नाहि भाय।
ब्रजभूमि छाड़िते नारे, तोमा ना देखिले मरे, ब्रजजनेर कि हवे उपाय? ॥१३९॥
तुमि ब्रजेर जीवन, तुमि ब्रजेर प्राणधन, तुमि ब्रजेर सकल सम्पद्।
कृपार्द्र तोमार मन, आसि जीयाओ ब्रजजन, ब्रजे उदय कराह निज-पद ॥१४०॥

श्रीराधा जी ने कहा—"हम अपने दुख को कुछ भी नहीं गिनती हैं, किन्तु ब्रजेश्वरी मां-यशोदा के कुम्हलाये हुए मुख को देख कर केवल हमारा ही नहीं, सब ब्रजवासियों का हृदय विदीर्ण होता है। हे कृष्ण! या तो आप ब्रजवासियों को मार डालिये, या फिर श्रीवृन्दाबन में चलकर ब्रजवासियों को प्राणदान दीजिये, हमें दुख भोग कराने के लिये क्यों जिला रहे हो? (यदि आप कहो कि वहां मथुरा ही मेरे पास आकर रहो, प्राणान्त कष्ट क्यों भोग रहे हो?) तो हे ब्रजराज! आपका यह जो क्षत्रिय वेश है, मथुरा-महिषी एवं अन्यान्य जनों का आपको जो संग प्राप्त है और फिर ब्रज को छोड़कर जो मथुरा देश है —ये समस्त हम ब्रजवासियों को कुछ भी अच्छा नहीं लगता। विशेषतः हम ब्रजभूमि को नहीं छोड़ सकते और फिर आपके देखे बिना हम जीवन भी नहीं धारण कर सकते। आप ही कहिये हम ब्रजवासियों के लिये क्या उपाय है? हे ब्रजजीवन! हे ब्रज-प्राणधन! हे ब्रज की समस्त सम्पद्! आपका मन तो कृपापूर्ण है, (और कोई भी उपाय ब्रजवासियों के प्राण धारण करने का नहीं है) आप श्रीवृन्दाबन में ही अपने चरण-कमलों को उदय कराओ, श्रीवृन्दाबन ही पधारो और ब्रजवासियों को जीवनदान दो ॥१३८—१४०॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीश्यामसुन्दर के ब्रज को छोड़कर मथुरा चले जाने पर मां-यशोदा एवं श्रीनन्दराज की तथा समस्त ब्रज के स्थावर-जङ्गम की, विशेषतः श्रीराधादि ब्रजगोपियों की उत्कट-विरह में प्राणान्त-वेदनावस्था को सुन कर, अनुभव कर, स्वाभाविक यह प्रश्न उठता है कि ब्रजवासी लोग श्रीश्यामसुन्दर के दर्शनों के लिये निकटवर्ती मथुरा में क्यों न चले गये?—इस प्रश्न का उत्तर इस त्रिपदी में दिया गया है।

प्रथमतः—श्रीश्यामसुन्दर की क्रीड़ास्थली श्रीवृन्दाबन भूमि के प्रति ब्रजवासियों में एक स्वाभाविक आकर्षण था और उसमें भी वे श्रीवृन्दाबन-धाम के नित्य-लीला परिकर थे, अतः उन्हें श्रीवृन्दाबन-भूमि को छोड़ने में अत्यन्त कष्ट होता था। श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में उनकी क्रीड़ास्थली का दर्शन करके वे कुछ आश्वस्त रहते थे। श्रीकृष्ण भी स्वयं उनसे कह गये थे कि वे शीघ्र ही ब्रज में लौट आएँगे। सत्य-व्रत श्रीकृष्ण के वचनों में दृढ़ विश्वास रखते हुए उनके ब्रज में लौट आने की आशा में वे ब्रजमें ही रहे आए।

द्वितीयतः—श्रीकृष्ण ब्रज से बाहर दूसरे देश में वास कर रहे थे और उनको ब्रजपरिकर से भिन्न अन्यान्य लोगों का सङ्ग प्राप्त था और फिर उनका खान-पान, वेश-भूषा भी बदल चुके थे। ये सब कुछ ब्रजवासियों को प्रिय न था। श्रीकृष्ण को भी ये सब अच्छा नहीं लगता था, वे केवल अपने कर्त्तव्यानुरोध

से, अपनी इच्छा न रहते हुए भी इन सबको धारण करते थे—यह बात भी सब ब्रजवासीगण जानते थे। इस अवस्था में यदि ब्रजवासी मथुरा चले भी जाते तो वे उनका अन्यान्य लोगों से सङ्ग छुड़ा न सकते, उनकी वेश-भूषा भी बदलवा न सकते। विशेषतः श्रीकृष्ण को सुखी करने के लिए अपनी इच्छानुसार उनकी कुछ सेवा भी न कर सकते। इससे उन्हें अपने दुख में कमी न होकर वरन वृद्धि ही होती और फिर उन्हें देखकर श्रीकृष्ण भी पूर्व स्मृति करके दुखी ही होते, यह सब बात जानकर ब्रजवासी श्रीकृष्ण के पास जाने का सङ्कल्प भी नहीं कर सके।

तृतीयतः—श्रीकृष्ण के साथ साथ श्रीनन्दराज भी मथुरा गये थे। कंस के वध के बाद श्रीकृष्ण-बलराम जी श्रीनन्द जी को मिलने आए। उन्होंने श्रीनन्दराज जी को जतलाया कि मथुरावासी उन्हें श्रीवसुदेव जी का पुत्र मानते हैं और श्रीनन्दराज को तो उनका केवल पालक-पिता मात्र बतलाते हैं। मथुरा वासियों की तो क्या बात, स्वयं श्रीवसुदेव जी भी अपने परम सुहृद श्रीनन्दराज को मथुरा में उनके स्थान पर मिलने तक न आए, उनको भोजनार्थ एक दिन भी निमन्त्रण न दिया। इस बात को जानकर श्रीकृष्ण-बलराम जी ने श्रीनन्दराज को शीघ्र ही ब्रज चले जाने का परामर्श दिया और अनुरोध भी किया(श्रीभा:१०-४५-२४ श्लोक की श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद कृत टीका द्रष्टव्य)श्रीनन्दमहाराज ने भी मन में विचार किया कि "श्रीवसुदेव जीं कृष्ण को अपना पुत्र जानकर सुख मानते हैं और इसलिये कृष्ण को वह अपने पास ही रखना चाहते हैं। अब यदि मैं यहाँ रहूँ तो कृष्ण के साथ उनके सुख में मैं बाधक ही बना रहूँगा और हो सकता है कि श्रीवसुदेव जी कुछ मेरे साथ ऐसा व्यवहार कर बैठें जिसे देखकर कृष्ण को दुख हो। इसलिये कृष्ण के विरह में प्राणान्तक कष्ट सहना ही अच्छा है, बजाय इसके कि कृष्ण को कुछ दुख हो और उसमें भी कृष्ण का अनुरोध है कि "बाबा! तुम शीघ्र ब्रज चले जाओ"—यह सब विचार कर श्रीनन्दराज मथुरा से ब्रज लौट आए। इस बात को ध्यान में रखकर श्रीनन्दराज तथा अन्य किसी भी ब्रजवासी ने ब्रज को छोड़कर मथुरा जाने की चेष्टा नहीं की। अतः श्रीराधिका जी ने भी उन्हें ब्रज में चलने का ही अनुरोध किया।

पुनर्यथा राग:—

शुनिञा राधिकावाणी, ब्रजप्रेम मने आनि, भावे व्याकुलित हैल मन।
ब्रजलोकेर प्रेम शुनि, आपना के ऋणी मानि, करेन कृष्ण तारे आश्वासन ॥१४१॥
प्राणप्रिये! शुन मोर ए सत्यवचन।
तोमासभार स्मरणे,झुरों मुञि रात्रि दिने, मोर दुख ना जाने कोनजन ॥ध्रु॥१४२॥

श्रीराधिका जी की दुखित वाणी को सुनकर श्रीश्यामसुन्दर को ब्रजप्रेम स्मरण हो आया और ब्रजभाव में उनका मन भी व्याकुल हो उठा। ब्रजवासियों के प्रेम की बात सुनकर अपने को उनका ऋणी मानते हुए श्रीकृष्ण उनको आश्वासन देने लगे। श्रीकृष्ण बोले—"प्राणप्रिये राधिके! मेरे ये सत्य वचन सुनो, मैं आप सबको भूल नहीं सकता और न भूला ही हूँ। आप सबकी प्रेमभरी बातें जब रात दिन मैं चिन्ता करता हूँ म्रियमाण हो जाता हूँ और आप से बिछुड़ कर मैं कैसा दुख भोग रहा हूँ, उसे अन्य कोई व्यक्ति नहीं जान सकता" ॥१४१-१४२॥

ब्रजवासी यत जन, माता पिता सखागण, सभे हय मोर प्राणसम।
तार मध्ये गोपीगण, साक्षात् मोर जीवन, तुमि मोर जीवनेर जीवन ॥१४३॥

तोमासभार प्रेमरसे, श्रामाके करिला वशे, श्रामि तोमार श्रधीन केवल ।
तोमासभा छाड़ाइया, श्रामा दूरदेशे लञा, राखियाछे दुर्दैव प्रबल ।।१४४।।

"राधे ! ब्रजवासी जितने भी हैं, माता-यशोदा, पिता-श्रीनन्द, मेरे मधुमङ्गल सखादि—सब मुझे प्राण के समान प्यारे हैं। ब्रजवासियों में फिर श्राप गोपीगण तो मानो मेरी साक्षात् प्राण ही हो, (ब्रजगोपियों की स्मृति बिना तो मैं बच ही नहीं सकता) फिर इन गोपियों में, किशोरी जी ! तुम तो मेरे प्राणों की प्राण हो,(सर्वापेक्षा तुम मुझे अधिक प्यारी हो, मैं जो जीवित हूँ,इसी से ही तुम जान लो कि मैं तुम्हें भूला नहीं हूँ) श्राप सब ब्रजवासियों के प्रेम ने तो मुझे श्रपने वश ही कर लिया है। मैं केवल श्राप ब्रजवासियों के ही श्रधीन हूँ। किन्तु ऐसा होते हुए भी, मेरी कदाचित इच्छा न होते हुए भी मैं जो श्राप से बिछुड़ गया हूँ श्रौर मैं तुम से दूर देश में पटक दिया गया हूँ—यह सब प्रबल दुर्दैव की ही करनी है ।।"

प्रिया प्रियसङ्ग-हीना, प्रिय प्रियासङ्ग-बिना, नाहि जीये ए सत्य प्रमाण ।
मोर दशा शुने यबे, तार एइ दशा हवे, एइ भये दोंहे राखे प्राण ।।१४५।।
से-इ-सती प्रेमवती, प्रेमवान् से-इ पति, वियोगे ये वाञ्छे प्रियहिते ।
ना गणे श्रापन दुख, वाञ्छे प्रियजन सुख, सेइ दुइ मिले श्रचिराते ।।१४६।।

"श्यामा ! प्रेमिका प्रेमिक के बिना श्रौर प्रेमिक प्रेमिका के बिना जीवित नहीं रह सकते—यह प्रामाणिक सत्य है, तथापि वे एक दूसरे के विरह में भी जीवित रहते हैं। इसका कारण यह है कि नायक सोचता है "मैं यदि प्राण त्याग करदूं तो यह बात जान कर मेरी प्रेयसी भी निश्चित ही प्राण त्याग कर देगी। मैं मर जाऊं कोई दुख नहीं, किन्तु मेरे लिये मेरी प्रेयसी के मर जाने से, मर जाने पर भी मेरी जलन दूर नहीं होगी।"—ऐसा सोचकर नायक प्राण त्याग नहीं करता, श्रौर नायक के सम्बन्ध में यही सोचकर नायिका भी प्राण त्याग नहीं करती। दोनों प्राणों को धारण ही करते हैं। सती प्रेमवती प्रेयसी वही है जो विरह में भी श्रपने प्रेमिक की मङ्गल कामना करे श्रौर पति भी वही सच्चा प्रेमवान है जो वियोग में श्रपनी प्रेयसी के हित की वाञ्छा करता है। श्रपने दुख की कुछ भी परवाह न करके श्रपने प्यारे श्रथवा प्रेयसी के सुख को ही चाहने वाले प्रेमिक श्रौर प्रेमिका का फिर शीघ्र ही मिलन होता है ।।"

राखिते तोमार जीवन, सेवि श्रामि नारायण, तांर शक्त्ये श्रासि निति निति ।
तोमासने क्रीड़ा करि, निति याइ यदुपुरी, ताहा तुमि मान श्रामा-स्फूर्त्ति ।।१४७।।
मोर भाग्ये मो-विषये, तोमार ये प्रेम हये, सेइ प्रेम परम प्रबल ।
लुकाइया श्रामा श्राने, सङ्ग कराय तोमा सने, प्रकटेइ श्रानिवे सत्वर ।।१४८।।

हे प्रिये ! तुम्हारे जीवन के लिये मैं श्रीनारायण को पूजता हूँ (नरलीलावश श्रीकृष्ण ऐसा कह रहे हैं) श्रौर उन्हीं की शक्ति से मैं नित्य श्रीवृन्दाबन जाकर तुम्हारे साथ क्रीड़ा भी करता हूँ श्रौर फिर मथुरा लौट श्राता हूँ। मैं जो तुम्हें नित्य मिलता हूँ—यह बात तुम भी श्रनुभव करती हो, किन्तु मैं ही स्वयं श्राकर तुम्हें मिला हूँ—ऐसा तुम नहीं मानती हो, तुम मेरे उस मिलन को मेरी स्फूर्त्ति मान लेती हो जैसे स्वप्न में या जाग्रत स्वप्न में ही तुम मुझे मिल रही हो, ऐसा मान लेती हो। हे राधे ! मेरे सौभाग्य से मेरे प्रति जो तुम्हारा प्रेम है, वह प्रेम परम प्रबल है। वही श्रलक्षित-भाव से मुझे तुम्हारे पास खींच लाता है श्रौर तुम्हारा सङ्ग भी कराता है। मैं श्राशा करता हूँ वही प्रेम हमें प्रत्यक्ष भाव से भी शीघ्र

मिलायेगा (इस त्रिपदी में श्रीकृष्ण कहते हैं कि श्रीराधा-प्रेम ही उन्हें श्रीवृन्दावन में ले जाता है। वस्तुतः श्रीराधाजी के प्रेम के प्रभाव से ही श्रीकृष्ण ब्रज में आते हैं। श्रीनारायण की पूजा या शक्ति कहना तो नर-लीला सिद्धि का उपकरण मात्र है) ॥ १४७—१४८ ॥

यादवेर प्रतिपक्ष, दुष्ट यत कंसपक्ष, ताहा आमि कैल सब क्षय।
आछे दुइचारिजन, ताहा मारि वृन्दाबन, आइलाङ जानि निश्चय ॥१४६॥
सेइ शत्रुगण हैते, ब्रजजने राखिते, रहि राज्ये उदासीन हञा।
ये वा स्त्री पुत्र धन, करि वाह्य-आवरण, यदुगणेर सन्तोष लागिया ॥१५०॥

(यदि आपका मेरे प्रति इतना प्रेम है, तो प्रत्यक्ष भाव से श्रीवृन्दाबन क्यों नहीं चले चलते अथवा कब कितने दिनों पीछे वृन्दाबन आओगे ? इसका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-—) "हे राधे ! यादवों के जो प्रतिपक्षी थे एवं कंस के पक्ष के जितने दुष्ट थे, उन सब का मैंने नाश कर दिया है, दो चार ऐसे और अभी बच रहे हैं, उनका संहार करके मैं अति शीघ्र श्रीवृन्दावन आजाऊंगा—तुम विश्वास रखो। उन शत्रुओं से व्रजबासियों की रक्षा के निमित्त ही मै राज्य दरबार में रह रहा हूँ किन्तु मेरी उस राज्य पाट में कुछ भी आसक्ति नहीं है। ("राज्य-पाट में तो आप उदासीन होकर रह रहे हो, किन्तु आपकी रानियां पटरानियाँ एवं महल-महलात, पुत्र-पौत्रादि परिवार आपको श्रीवृन्दावन कैसे आने देंगे" ? उत्तर में कहते हैं-) यहां जितने स्त्री-पुत्र-धनादि हैं, उनके प्रति भी मेरी कुछ आसक्ति नहीं है, केवल बाहिरले चित्त से और केवल यदुगणों के सन्तोष के लिये इनको मैंने अङ्गीकार किया है-उन सब को सहज में छोड़ कर श्रीवृन्दाबन चला आऊंगा" ॥ १४६—१५० ॥

तोमार ये प्रेमगुणे, करे आमा आकर्षणे, आनिवे आमा दिन दश-विशे।
पुन आसि वृन्दावने, ब्रजवधु-तोमा-सने, विलसिव रात्रि दिवसे ॥ १५१ ॥
एत तारे कहि कृष्ण, ब्रजे याइते सतृष्ण एक श्लोक पढ़ि नाइल।
सेइ श्लोक शुनि राधा, खण्डिल सकल बाधा, कृष्ण-प्राप्ति प्रतीत हइल ॥१५२॥

"प्राण प्रिये तुम्हारा जो प्रबल गुणवान् प्रेम है, वही मुझे यहाँ से आकर्षण करके दश-बीस दिन में तुम्हारे पास ले आएगा। फिर उसी श्रीवृन्दावन में आकर ब्रज गोपियों के साथ—तुम्हारे साथ रात दिन बिलास करूंगा"। इतना कह कर श्रीश्यामसुन्दर ने ब्रज में शीघ्र आने की वाञ्छा को प्रकट करते हुए निम्नलिखित श्लोक पढ़ा। उस श्लोक को सुन कर श्रीराधा जी की समस्त बाधा मानों दूर होगई और ऐसा उन्हें प्रतीत होने लगा कि श्रीकृष्ण निश्चय ही श्रीवृन्दाबन में आजाएंगे ॥ १५१-१५२॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकृष्ण के प्रति ब्रजवासियों की, विशेषतः श्रीराधिकादि ब्रजसुन्दरियों की अत्यन्त गाढ़ प्रीति है—इसमें कुछ सन्देह नहीं ! और ब्रजवासियों के प्रति विशेषतः श्रीराधिकादि ब्रज-सुन्दरियों के प्रति भी श्रीकृष्ण की प्रीति अत्यन्त गाढ़ है,—यह भी निःसंदेह बात है। इस प्रकार परस्पर गाढ़ अनुराग होते हुए भी श्रीकृष्ण एक बार भी ब्रजवासियों की सुधि लेने न गये—इसका क्या कारण?' "मैं मथुरा से अति शीघ्र वृन्दाबन लौट आऊंगा"—ये अपने वचन भी श्रीकृष्ण ने पालन न किये ? श्रीबलराम जी तो एक बार बृन्दावन पधारे और दो मास तक वहाँ रह गये परन्तु ऐसी क्या बात थी कि श्रीकृष्ण एक बार भी अपने ब्रजवासियों को देखने न गये ? त्रिपदी नं० १४९ से यह भी ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण यादवों के शत्रुओं के संहार के कारण मथुरा रुके रहे और श्रीवृन्दावन न जा सके। इससे यह

भी प्रतीत होता है कि उन्हें ब्रजवासियों से यादव अधिक प्यारे थे। श्रीकृष्ण तो ब्रजवासियों को अधिक प्रिय बताते हैं तो क्या उनके ये वचन कपटपूर्ण हैं ?

इन सब शंकाओं का समाधान यह है कि सत्यस्वरूप, सत्यवाक्य एवं सत्यसङ्कल्प श्रीकृष्ण भगवान् के वाक्य कभी भी मिथ्या नहीं हो सकते और यादवगणों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रीति उनकी ब्रजवासियों में है, जैसा कि उन्होंने १५० नं० त्रिपदी में कहा भी है। दन्तवक्र का वध करने के पश्चात् वे वृन्दावन में पधारे—इससे पहले न आ सके। इसमें उनकी लीला शक्ति—योगमाया ही कारण है। योग-माया का कार्य रसपुष्टि करना ही है। यहाँ योगमाया ने समृद्धिमान सम्भोग-रस की पुष्टि का विधान किया है। विरह के बिना मिलन-रस की पुष्टि नहीं हो सकती, वह विरह जितने दीर्घ काल तक रहेगा, जितना ही अधिक तीव्र होगा और फिर उसके बाद मिलन—सुख भी उतना ही अधिक सुखदायक होगा। विरह की दीर्घता तथा विरह वेदना की तीव्रता सम्पादन करने के लिये योगमाया ने श्रीकृष्ण को दीर्घ काल तक ब्रजवासियों से दूर रखा। दन्तवक्र के वध के पश्चात् उस महान् विरह को शान्त करके ब्रज में श्रीकृष्ण के साथ ब्रजवासियों एवं ब्रजसुन्दरियों का मिलन कराके अपूर्व समृद्धिमान् सम्भोग-रस की योग-माया ने पुष्टि की। विप्रलम्भ के मुख्य उद्देश्य को लेकर श्रीकृष्ण की लीला-शक्ति योगमाया ने उन्हें शीघ्र श्रीवृन्दावन में न जाने दिया। आनुषङ्गिक रूप से और भी कई कारण थे, जैसा कि द्वारका—मथुरा के प्रेम-परिकरों में मुख्यतम परम ज्ञानी श्रीउद्धवजी को ब्रजसुन्दरियों के असमोर्द्ध प्रेम की महिमा का प्रदर्शन द्वारका—मथुरा—लीला का प्रकटन, पृथिवी के भारभूत कंस—जरासन्ध असुरों का विनाश, इत्यादि। इन्हीं करणों से भगवान् ब्रजवासियों में अत्यन्त गाढ़ प्रीति रखते हुए भी अपनी लीला-शक्ति के कारण शीघ्र ब्रज में न आ सके। श्रीकृष्ण ने निम्नलिखित श्लोक पढ़ कर ब्रजसुन्दरियों को आश्वासन दिया।

तथाहि (भा: १०—८२—४४)

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्टया यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥८॥

श्रीभगवान् ने कहा—"मेरी भक्ति ही (नवविधा भक्ति में से कोई एक भक्ति हो) प्राणियों के संसार-बन्धन को तोड़ने अथवा पार्षद-देह प्राप्त कराने में समर्थ है। बड़े सौभाग्य से ही मेरे प्रति आप में मुझे वशीभूत करने वाला प्रेम उत्पन्न हुआ है अर्थात् मैं तो आपके वशीभूत हूं और शीघ्र वृन्दावन आऊंगा ॥८॥ (विशेष भावार्थ आदि-लीला पृष्ठ नं० ७५ पर द्रष्टव्य है।)

एइ सब अर्थ प्रभु स्वरूपेर सने। रात्रि दिने घरे वसि करे आस्वादने ॥१५३॥
नृत्यकाले एइभावे आविष्ट हइया। श्लोक पढ़ि नाचे जगन्नाथ वदन चाञा ॥१५४॥
स्वरूप गोसाञिर भाग्य ना याय वर्णन। प्रभुते आविष्ट यांर काय-वाक्य-मन ॥१५५॥
स्वरूपेर इन्द्रिये प्रभुर निजेन्द्रियगण। आविष्ट करिया करे गान-आस्वादन ॥१५६॥

इन समस्त भावों का आस्वादन श्रीमहाप्रभु जी श्रीस्वरूप दामोदर के साथ घर पर भी बैठ कर रात दिन किया करते थे। नृत्य काल में भी इन्हीं भावों में आविष्ट होकर श्रीजगन्नाथ जी का मुख दर्शन करते हुए श्रीमहाप्रभु श्लोक पढ़ कर नृत्य कर रहे थे। श्रीस्वरूप दामोदर जी के भाग्यों को कौन वर्णन कर सकता है ? उनके काया, वचन एवं मन श्रीमहाप्रभु में ही सदा आविष्ट रहते थे। श्रीस्वरूप

दामोदर की (चक्षु—कर्णादि) इन्द्रियों में अपनी इन्द्रियों को आविष्ट करके श्रीप्रभु उनके गान का आस्वादन किया करते थे ॥ १५३—१५६ ॥

भावावेशे प्रभु कभु भूमिते वसिया। तर्ज्जनीते भूमि लेखे अधोमुख हैया ॥१५७॥
अङ्गलीते क्षत हवे–जानि दामोदर। भये निजकरे निवारये प्रभु कर ॥१५८॥
प्रभुर भावानुरूप स्वरूपेर गान। यबे येइ रस ताहा करे मूर्त्तिमान ॥१५९॥

भावाविष्ट होकर श्रीमहाप्रभु कभी पृथ्वी पर बैठ जाते और मुख नीचा करके अपनी तर्ज्जनी–अङ्गुली से पृथ्वी पर कुछ लिखने लगते। प्रभु की अंगुली में कहीं घाव न हो जाए—इस आशंका से श्रीस्वरूप अपने हाथ से उनके हाथ को निवारण करते। श्रीमहाप्रभु के भावों के अनुरूप ही श्रीस्वरूप गान किया करते, जो भी रस होता उसे श्रीस्वरूप मूर्त्तिमान कर देते ॥ १५७-१५९ ॥

श्रीजगन्नाथेर देखि श्रीमुखकमल। ताहार उपर सुन्दर नयन–युगल ॥१६०॥
सूर्येर किरणे मुख करे झलमल। माल्य वस्त्र अलङ्कार दिव्य परिमल ॥१६१॥
प्रभुर हृदये आनन्द–सिन्धु उथलिल। उन्माद–झञ्जावायु तत्क्षणे उठिल ॥१६२॥
आनन्द–उन्मादे उठे भावेर तरङ्ग। नानाभाव–सैन्य उपजिल युद्धरङ्ग ॥१६३॥

उस समय श्रीजगन्नाथजी के श्रीमुखकमल पर नयनयुगल की अद्भुत शोभा थी। सूर्य की किरणों से उनका मुखकमल झलमल झलमल कर रहा था। अनेक मालाओं, सुन्दर वस्त्रों एवं रत्न जटित विभूषणों की अद्भुत छबि थी। दिव्य सुगन्धि प्रवाहित हो रही थी। प्रभु के हृदय में आनन्द का समुद्र उच्छल रहा था, उसमें उन्माद रूप तूफान उठ रहा था। आनन्द–उन्माद में भावों की तरङ्गे उठती थीं और अनेक प्रकार के भावों की सैनाओं में परस्पर युद्ध सा छिड़ रहा था ॥ १६०—१६३ ॥

भावोदय भावशान्ति सन्धि शावल्य। सञ्चारी सात्विक स्थायी–सभार प्राबल्य॥१६४॥
प्रभुर शरीर येन शुद्ध हेमाचल। भाव पुष्पद्रुम ताते पुष्पित सकल ॥१६५॥
देखिया लोकेर आकर्षये चित्त मन। प्रेमामृत–वृष्टये प्रभु सिञ्चे सर्वजन ॥१६६॥
जगन्नाथ सेवक, यत राजपात्रगण। यात्रिक लोक, नीलाचलवासी यतजन ॥१६७॥
प्रभुर नृत्य प्रेम देखि हय चमत्कार। कृष्णप्रेम उछलिल हृदये सभार ॥१६८॥

श्रीमहाप्रभु में कभी तो अनेक सात्त्विक-भाव उदय होते थे और अत्यधिक रूप में प्रगट होकर वे भाव कभी विलीन या शान्त हो जाते थे कभी सन्धि-शावल्य होता था। सञ्चारी–भाव, सात्विक-भाव तथा स्थायी-भाव—इन सब की प्रभु के शरीर पर प्रबलता थी। श्रीमहाप्रभु का शरीर मानो शुद्ध सुवर्ण के पर्वत तुल्य था और उस पर समस्त भावरूप पुष्प प्रफुल्लित हो रहे थे। देखने वालों का चित्त, मन आकर्षित हो रहा था, श्रीमहाप्रभु सब को प्रेमामृत की वर्षा से सींच रहे थे। श्रीजगन्नाथजी के सेवक, राज पात्र, यात्री लोग एवं जितने भी नीलाचल-वासी थे, श्रीमहाप्रभु के नृत्य को देखकर, उनके श्रीकृष्ण-प्रेम को देख कर सब चमत्कृत हो उठे और सब का मन श्रीकृष्ण–प्रेम से पूर्ण हो गया ॥१६४–१६८ ॥

प्रेमे नाचे गाय लोक करे कोलाहल। प्रभुर नृत्य देखि सबे आनन्दे विह्वल ॥१६९॥
अन्येर का कथा, जगन्नाथ हलधर। प्रभुर नृत्य देखि सुखे चलेन मन्थर ॥१७०॥

कभु सुखे नृत्यरङ्ग देखे रथ राखि। से कौतुक ये देखिल, से-इ-तार साक्षी ॥१७१॥
एइमत प्रभु नृत्य करिते करिते। प्रतापरुद्रेर आगे लागिला पड़िते ॥१७२॥

श्रीकृष्ण-प्रेम में सब लोग नृत्य-गान कर रहे थे एवं कोलाहल कर रहे थे। प्रभु का नृत्य देखकर सब का मन आनन्द से विह्वल हो रहा था। औरों की तो बात ही क्या, स्वयं श्रीजगन्नाथजी, श्रीबलराम-सुभद्राजी प्रभु का नृत्य देखकर सुखपूर्वक धीमी गति से चलते थे, कभी तो नृत्य के सुख में अपनी रथ को रोक लेते थे। जिन्होंने यह कौतुक देखा है, वही भक्तगण ही इस बात के साक्षी हैं। इस प्रकार प्रभु नृत्य करते करते एक बार प्रेमावेश में पछाड़ खाकर राजाप्रतापरुद्र के आगे पृथ्वी पर आकर गिरने लगे ॥१६९—१७२॥

सम्भ्रमे प्रतापरुद्र प्रभुके धरिल। तांहारे देखिते प्रभुर बाह्यज्ञान हैल ॥१७३॥
राजा देखि महाप्रभु करेन धिक्कार। छि छि विषयि स्पर्श हइल आमार ॥१७४॥
आवेशे नित्यानन्द ना हैला सावधाने। काशीश्वर गोविन्द आछिला अन्यस्थाने॥१७५॥
यद्यपि राजार देखि हाड़िर सेवन। प्रसन्न हैयाछे तारे मिलिवारे मन ॥१७६॥
तथापि आपनगण करिते सावधान। बाह्ये किछु रोषाभास कैला भगवान् ॥१७७॥

गिरता हुआ देखकर अति शीघ्र श्रीमहाप्रभु को राजाप्रतापरुद्रजी ने पकड़ लिया। राजा को देखते ही श्रीमहाप्रभु का आवेश उतर गया और कहने लगे "मुझे धिक्कार है, छि-छि, मुझे तो विषयी का स्पर्श हो गया"। उस समय श्रीनित्यानन्दजी भी प्रेमाविष्ट थे, श्रीकाशीश्वर एवं श्रीगोविन्द भी प्रभु से दूर खड़े थे। इन में से कोई भी प्रभु के पास न था। केवल श्रीप्रतापरुद्रराजा ही थे जिन्होंने प्रभु को सम्भाल लिया। यद्यपि राजाप्रतापरुद्र को श्रीजगन्नाथजी की झाड़ू-सेवा देखकर प्रभु राजा पर प्रसन्न थे और उसे मिलना भी चाहते थे तथापि अपने सेवकों को सावधान करने के लिये श्रीमहाप्रभु ने बाहर कुछ क्रोध दिखलाया॥ १७३—१७० ॥

प्रभुर वचने राजार मने हैल भय। सार्वभौम कहे—तुमि ना कर संशय ॥१७८॥
तोमार उपरे प्रभुर प्रसन्न आछे मन। तोमा लक्ष्य करि शिखायेन निजगण ॥१७९॥
अवसर जानि आमि करिव निवेदन। सेइकाले याइ करिह प्रभुर मिलन ॥१८०॥

श्रीमहाप्रभु के वचन सुनकर श्रीप्रतापरुद्र राजा मन में भयभीत हो गये। श्रीसार्वभौम ने कहा — "राजन्! तुम कुछ भी संशय न करो। तुम्हारे ऊपर श्रीमहाप्रभु प्रसन्न हैं। तुम्हें लक्ष्य बनाकर अपने भक्तों को शिक्षा कररहे हैं। अवसर पाकर मैं उन्हें निवेदन करूंगा और आप उसीसमय प्रभुसे जाकर मिल लेना।'

चै० च० चु० *टीका*—वास्तव में श्रीमहाप्रभु जी राजा प्रतापरुद्र को श्रीजगन्नाथजी की झाड़ू-सेवा करते हुए देख कर उस पर प्रसन्न हो चुके थे और उसी प्रसन्नता के फलस्वरूप ही उसे अपनी ऐश्वर्य-लीला —(सातों मण्डलियों में एक ही समय श्रीमहाप्रभु जी की नृत्य-लीला) दिखाई थी। अब यहाँ श्रीनित्यानन्द प्रभु को प्रेमाविष्ट कर देना एवं श्रीकाशीश्वर एवं गोविन्द को अपने से दूर रखना, फिर श्रीप्रतापरुद्र के ही आगे जाकर प्रभु का गिरने लगना-यह क्या लीला है? यह भी श्रीप्रतापरुद्र पर प्रभु की कृपा एवं प्रसन्नता का परिचय है। वरना श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीकाशीश्वर एवं श्रीगोविन्द कभी श्रीमहाप्रभु के सेवन में

असावधानता कर सकते थे ? इस लीला में प्रभु ने स्वयं ही श्रीप्रतापरुद्रजी को अपने स्पर्श का सुयोग्य एवं सौभाग्य प्रदान किया है, किन्तु बाहर में जो प्रभु ने क्रोधाभास प्रकाश किया और विषयी से स्पर्श होने में अपने को धिक्कारित किया, वह प्रभु का आन्तरिक भाव नहीं है। विषयी से दूर रहना, विषयी के सङ्ग से दूर रहना, विपद् काल में भी विषयी के पास न जाना—इत्यादि यह शिक्षा अपने भक्तों को देने के लिये ही प्रभु ने अपने को धिक्कारित किया। इसमें भी एक और रहस्य था—राजा श्रीप्रतापरुद्र जी की परीक्षा करना। राजा का मन सर्वथा अभिमान शून्य है कि नहीं ? राजा श्रीप्रतापरुद्र श्रीजगन्नाथ जी के रथमार्ग पर स्वयं झाड़ू लगा रहे थे, उनकी अभिमान-शून्यता का यह प्रमाण सन्तोषजनक न था। श्रीक्षेत्र के राजाओं की परम्परावश भी वे झाड़ू सेवा करते हों—ऐसा भी हो सकता था। किन्तु रथ के सन्मुख जब सहस्र सहस्र लोग उपस्थित थे, राज्य-दरबार के सब मन्त्री आदि व राजा की प्रजा के लोग उपस्थित थे, उस समय सब के सामने यदि कोई राजा का अपमान करेगा तो राजा अपने अभिमान को छिपा नहीं रख सकता। इसलिये प्रभु ने सब के सामने राजा को विषयी बताया, किन्तु भक्तशिरोमणि राजा प्रतापरुद्र का चित्त ज़रा भी विचलित नहीं हुआ। मानो वे अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। यही बात श्रीसार्वभौम जी ने राजा को कही कि "तुम कोई भी भय मत करो, प्रभु तुम पर प्रसन्न हैं।

तबे महाप्रभु रथ प्रदक्षिण हैया। रथ—पाछे याइ ठेले रथे माथा दिया ॥१८१॥
ठेलिले चलिल रथ हड़हड़ करि। चौदिकेर लोक उठे बलि "हरि हरि" ॥१८२॥
तबे प्रभु निजभक्तगण लञा सङ्गे। बलदेव–सुभद्राग्रे नृत्य करे रङ्गे ॥१८३॥
ताहां नृत्य करि जगन्नाथ-आगे आइला। जगन्नाथ देखि नृत्य करिते लागिला ॥१८४॥

उसके पश्चात् श्रीमहाप्रभु ने रथ को प्रदक्षिण करते हुए रथ के पीछे जाकर अपने माथे से रथ को ढकेला। ऐसा करने से रथ अति द्रुत गति से घड़-घड़ करता हुआ चलने लगा। चारों ओर लोग यह आश्चर्य देखकर "हरि-हरि" उच्च-ध्वनि करने लगे। उसके बाद प्रभु अपने भक्तों को साथ लेकर श्रीबलराम जी तथा श्रीसुभद्रा जी के रथ के सन्मुख नृत्य करने लगे। वहाँ कुछ देर नृत्य करने के बाद फिर श्रीजगन्नाथ जी के रथ के आगे आकर नृत्य करने लगे ॥१८१—१८४॥

चलिया आइला रथ बलगण्डिस्थाने। जगन्नाथ रथ राखि देखे डाइन-वामे ॥१८५॥
वामे विप्रशासन नारिकेलबन। डाहिने पुष्पोद्यान येन वृन्दावन ॥१८६॥
आगे नृत्य करे गौर लञा भक्तगण। रथ राखि जगन्नाथ करेन दर्शन ॥१८७॥
सेइ स्थाने भोग लागे—आछये नियम। कोटि भोग जगन्नाथ करे आस्वादन ॥१८८॥

वहाँ से रथ चल कर बलगण्डि (स्थान का नाम) पर पहुंचा, वहाँ श्रीजगन्नाथ जी ने रथ को रोककर दाहिने-बाँए देखा। बाईं दिशा में तो विप्रशासन-नामक नारियल का बन था और दाईं तरफ में फूलों का बागीचा, मानो श्रीवृन्दाबन सुशोभित हो रहा था। आगे की तरफ श्रीमहाप्रभु अपने भक्तों सहित नृत्य कर रहे थे। रथ को रोक कर मानो श्रीजगन्नाथ जी सब का दर्शन कर रहे थे। उस स्थान पर श्रीजगन्नाथ जी को भोग लगता है—ऐसा नियम है। कोटि-कोटि व्यञ्जन वहां श्रीजगन्नाथ जी आस्वादन करते हैं ॥१८५—१८८॥

जगन्नाथेर छोट बड़ यत दासगण। निजनिजोत्तम भोग करे समर्पण ॥१८९॥
राजा राजमहिषीवृन्द पात्र मित्रगण। नीलाचलवासी यत छोट बड़ जन ॥१९०॥

नानादेशेर यात्रिक देशी यत जन। निज निज भोग ताहां कैल समर्पण ॥१६१॥
आगे-पाछे दुइ पार्श्वे पुष्पोद्यान--बने। ये याहा पाय लागाय नाहिक नियमे ॥१६२॥
भोगेर समये लोकेर महाभिड़ हैला। नृत्य छाड़ि महाप्रभु उपवने गेला ॥१६३॥

श्रीजगन्नाथ जी के छोटे बड़े जितने भी सेवक हैं, वे अपनी इच्छानुसार उत्तम-उत्तम भोग लगाते हैं। राजा, राजा की रानीगण, राजा के मन्त्री आदि, राजा के मित्र,नीलाचल के छोटे बड़े जितने लोग हैं, और नाना देशों से आए हुए विदेशी, देशी सब लोगों ने वहाँ श्रीभगवान् को भोग लगाया। रथ के आगे पीछे दोनों तरफ पुष्पों के बागीचे एवं बन थे, जो व्यक्ति जो भी भोग लगाना चाहे वहाँ लगा सकता था, उस समय कोई भी नियम नहीं रहता। भोग के समय वहाँ बहुत भीड़ हो गई। इसलिये श्रीमहाप्रभु जी भी नृत्य को स्थगित करके पास के बागीचे में चले गये ॥१८६—१९३॥

प्रेमावेशे महाप्रभु उपवन याञा। पुष्पोद्याने गृहपिण्डाय रहिला पड़िया ॥१९४॥
नृत्य परिश्रमे प्रभुर देहे घन घर्म। सुगन्धि शीतल वायु करये सेवन ॥१९५॥
यत भक्त कीर्त्तनीया आसिया आरामे। प्रतिवृक्ष तले सभे करिला विश्रामे ॥१९६॥

प्रेमावेश में श्रीमहाप्रभु उपवन में जाकर एक वरामदे में विश्राम करने लगे। नृत्य के परिश्रम से प्रभु के शरीर पर बहुत पसीना आ रहा था, वहाँ वे सुगन्धित एवं शीतल वायु का सेवन करने लगे, और भी जितने कीर्त्तनीया भक्त थे, वे भी सब उपवन में आकर वृक्षों के नीचे विश्राम करने लगे॥१९४-१९६॥

एइत कहिल प्रभुर महासङ्कीर्त्तन। जगन्नाथेर आगे यैछे करिला नर्त्तन ॥१९७॥
रथाग्रे महाप्रभुर नृत्य विवरण। चैतन्याष्टके रूपगोसाञि करियाछे वर्णन ॥१९८॥

यहां तक श्रीमहाप्रभु का महासङ्कीर्त्तन तथा श्रीजगन्नाथ जी के रथ के आगे उनके अद्भुत नृत्य का वर्णन किया गया है। रथ के आगे श्रीमहाप्रभु के नृत्य का विवरण श्रीरूपगोस्वामी पाद ने भी श्रीचैतन्याष्टक में इस प्रकार वर्णन किया है—॥१९७—१९८॥

तदुक्तं श्रीरूपगोस्वामिना स्तवमालायाम् (१—७)—

रथारूढ़स्यारादधिपदवि नीलाचलपते–रदभ्रप्रेमोर्म्मिस्फुरित नटनोल्लासविवशः।
सहर्षं गायद्भिःपरिवृततनुर्वैष्णवजनैः स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ॥६॥

रथ पर विराजमान श्रीजगन्नाथ देव के सामने पथ पर अत्यधिक प्रेम-तरङ्गोद्रेक-वश नृत्य के आनन्द में जो विवश हो गये थे, एवं वैष्णवगण आनन्द पूर्वक कीर्त्तन करते करते जिन्हें घेरे हुए थे, वे श्रीचैतन्यदेव क्या फिर भी कभी मेरे नेत्रों के सामने पधारेंगे ? ॥६॥

इहा येइ शुने, सेइ गौरचन्द्र पाय। सुदृढ़ विश्वास सह प्रेमभक्ति हय ॥१९९॥
श्रीरूप रघुनाथ-पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२००॥

श्रीमहाप्रभु के इस महासङ्कीर्त्तन तथा नृत्य की कथा को जो भी सुनेगा, उसे श्रीगौरचन्द्र की प्राप्ति होगी एवं सुदृढ़ विश्वास के साथ उसे प्रेमभक्ति प्राप्त होगी। श्रीरूपगोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरण कमलों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी,श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥१९९-२००॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्य--लीलायां रथाग्रे नर्त्तनं नाम त्रयोदश परिच्छेदः ॥१३॥

जयगौर

मध्य-लीला

चतुर्दश परिच्छेद

★

गौरः पश्यन्नात्मवृन्दैः श्रीलक्ष्मीविजयोत्सवम् ।
श्रुत्वा गोपीरसोल्लासं हृष्टः प्रेम्ना ननर्त्त सः ॥१॥

(जो) श्रीश्रीगौरसुन्दर स्वीय भक्तगणों के साथ श्रीलक्ष्मीदेवी के विजय-उत्सव के दर्शन करके एवं ब्रजगोपियों के रसोल्लास की कथा सुनकर आनन्दित हुए एवं जिन्होंने प्रेमावेश में नृत्य किया था, (मैं उनकी वन्दना करता हूँ ।) ॥१॥

चै० च० चु० *टीका* :—नीलाचल में श्रीजगन्नाथ जी श्रीलक्ष्मीदेवी के साथ विहार करते हैं। रथयात्रा के समय श्रीजगन्नाथजी जब बाहर जाते हैं, तब वे श्रीलक्ष्मीदेवी को साथ नहीं ले जाते । इसलिये लक्ष्मीदेवी अत्यन्त क्रोधित होकर रूठ जाती हैं, रथयात्रा के बाद आने वाली पञ्चमी तिथि पर श्रीलक्ष्मी देवी क्रोध में श्रीमन्दिर से बाहर आती हैं और अपनी अपनी दासियों द्वारा श्रीजगन्नाथ जी के सेवकों को बाँधकर ताड़ना करती हैं । श्रीलक्ष्मी देवी की इस लीला को **विजय-उत्सव** कहते हैं । श्रीमन्महाप्रभु जी ने अपने भक्तों के साथ इस लीला का दर्शन किया । श्रीजगन्नाथ जी श्रीलक्ष्मी देवी को साथ न ले गये जिससे उन्होंने मान कर लिया था, किन्तु जिस जिस आचरण से वह मान अभिव्यक्त हुआ, श्रीमहाप्रभु को वह बहुत अद्भुत लगा । अतः उन्होंने उसके सम्बन्ध में श्रीस्वरूप दामोदर से कुछ प्रश्न किये । इसी प्रसङ्ग में गोपियों के मान की कथा और गोपियों के प्रेम की विशेषता को भी श्रीस्वरूप दामोदर ने वर्णन किया, जिसको सुनकर श्रीमहाप्रभु अत्यन्त आनन्दित हुए और वे गोपीभाव में आविष्ट हो गये और उसी आवेश में उन्होंने बहुत काल तक नृत्य किया ।

इस चतुर्दश परिच्छेद में राजा श्रीप्रतापरुद्र के प्रति श्रीमहाप्रभु ने जैसे कृपा की, श्रीलक्ष्मी देवी के विजय-उत्सव की कथा, श्रीलक्ष्मी देवी के मान की अपेक्षा ब्रजगोपियों के मान की विशेषता, श्रीलक्ष्मी देवी के आचरण-प्रसङ्ग में श्रीवास एवं श्रीस्वरूप दामोदर का प्रेम-कलह वर्णन किया गया है ।

जय-जय गौरचन्द्र श्रीकृष्णचैतन्य । जय-जय नित्यानन्द जयाद्वैतधन्य ॥१॥
जय-जय श्रीवासादि गौरभक्तगण । जय श्रोतागण यार गौर प्राणधन ॥२॥

श्रीकृष्ण चैतन्य गौरचन्द्र की जय हो, जय हो । श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो । महाभाग्यवान् श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु की जय हो । श्रीवासादि गौर-भक्तों की जय हो, जय हो । श्रीश्रीचैतन्य चरितामृत के श्रोतागण जिनके श्रीगौराङ्ग प्रभु प्राणधन हैं, उनकी भी जय हो ॥१-२॥

एइमत प्रभु आछे प्रेमेर आवेशे । हेनकाले प्रतापरुद्र करिला प्रवेशे ॥३॥
सार्वभौम-उपदेशे छाड़ि राजवेश । एकला वैष्णववेशे आइला सेइ देश ॥४॥
सबभक्तेर आज्ञा लैल योड़ हाथ हैया । प्रभुपद धरि पड़े साहस करिया ॥५॥
आंखि बुजि प्रभु प्रेमे भूमिते शयन । नृपति नैपुण्ये करे पाद-संवाहन ॥६॥

इस प्रकार श्रीमन्‌महाप्रभु प्रेमावेश में पुष्पोद्यान में जब विश्राम कर रहे थे, उसी समय राजा प्रतापरुद्र जी वहाँ आए। श्रीसार्वभौमजी ने जैसे पहले (परिच्छेद १३, पयार १८०) समझा दिया था, राजा प्रतापरुद्र जी अपने राजवेश को छोड़कर अकेले ही वैष्णव वेशमें अर्थात् गले में तुलसी-माला, मस्तक पर तिलक, बाहुओं में शङ्ख-चक्रादि के चिन्ह, कमर में साधारण वस्त्र आदि धारण किये हुए वहाँ आए। वहाँ जितने भक्त उपस्थित थे उनके आगे हाथ जोड़कर राजा ने आज्ञा ली और साहस करके श्रीमन्महाप्रभु के चरणों को पकड़ लिया। श्रीमहाप्रभु प्रेमावेश में नेत्र बन्द करके पृथ्वी पर शयन कर रहे थे। राजा अति निपुणता से प्रभु के चरण दाबने लगे ॥३—६ ॥

रासलीलार श्लोक पढ़ि करये स्तवन । 'जयति तेऽधिकं' अध्याय करये पठन ॥७॥
शुनिते शुनिते प्रभुर सन्तोष अपार । 'बोल बोल' बुलि उच्च बोले बार बार॥८॥
'तव कथामृतं' श्लोक राजा ये पढ़िल । उठि प्रेमावेशे प्रभु आलिङ्गन दिल ॥९॥
'तुमि मोरे बहु दिले अमूल्य रतन । मोर किछु दिते नाहि, दिनु आलिङ्गन' ॥१०॥
एत बलि सेइ श्लोक पढ़े बार बार । दुइ जनार अङ्गे कम्प, नेत्रे जलधार ॥११॥

राजा प्रतापरुद्र रासलीला का (श्री भा: १०—३१-१)" जयति तेऽधिकं"–श्लोक युक्त अध्याय पाठ करने लगे। उसे सुनकर प्रभु को बहुत सन्तोष हुआ और "बोल–बोल" ऐसा उच्च स्वर से महाप्रभु वैष्णववेशधारी राजा के प्रति कहने लगे। राजा ने जब "तव कथामृतं" (श्री भा: १०—३१-९) श्लोक पढ़ा तो प्रभु ने प्रेमावेश में उठकर राजा को आलिङ्गन कर लिया और कहने लगे—"तुमने मुझे बहुत अमूल्य रत्न दिये हैं, मेरे पास और कुछ देने को नहीं है, इसलिये मैं तुम्हें आलिङ्गन ही देता हूँ। इतना कह कर बारबार उसी श्लोक को ही बोलने का आदेश करने लगे और राजा भी उस श्लोक को कहने लगे। दोनों के अङ्गों में कम्प होने लगा और नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे ॥११॥ (वह श्लोक इस प्रकार है)

तथाहि (भा- १०—३१—९)

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीड़ितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ये भूरिदाजनाः ॥ २ ॥

श्रीव्रजसुन्दरियों ने कहा है—"हे श्रीकृष्ण ! आपका जो कथा-रूप अमृत है वह संसार के तापों से और आवागमन एवं अनेक प्रकार के दुखों से तपे हुए जीवों के लिये जीवनदान करने वाला है, ब्रह्मा–शिव–सनकादि आत्माराम–कविगण भी उसकी महिमा का गान करते हैं। वह समस्त पापों को नाश करने वाला है, आपकी कथा श्रवण करने मात्र से मङ्गल करने वाली है, वह सब से अधिक उत्कर्ष युक्त एवं सर्व-व्यापक (अर्थात् श्रीकृष्ण-कथा पुराण-शास्त्र कहने वालों के मुख से देश-देश में, ग्राम-ग्राम में सर्वत्र विराजमान है) उस कथामृत का जो कीर्त्तन करते हैं, एवं उसका निरूपण करते हैं, वे सब से बड़े दानी अर्थात् सर्व पदार्थों के प्रदान करने वाले हैं" ॥ २ ॥

'भूरिदा–भूरिदा' बलि करे आलिङ्गन। इहा नाहि जाने-'एहो हय कोन जन ?' ॥१२॥
पूर्व सेवा देखि तारे कृपा उपजिल। अनुसन्धान बिना कृपा प्रसाद करिल ॥१३॥
एइ देख चैतन्येर कृपा महाबल। तार अनुसन्धान बिना करये सफल ॥१४॥
प्रभु कहे–के तुमि करिले मोर हित। आचम्बिते आसि पियाओ कृष्णलीलामृत॥१५॥

श्रीमहाप्रभु श्लोक-वर्णित "भूरिदा—भूरिदा"—शब्द को बारबार उच्चारण करते हुए राजा को आलिङ्गन कर रहे थे। वे यह नहीं जानते कि वे किस को आलिङ्गन कर रहे हैं। पहले श्रीजगन्नाथजी की झाड़ू सेवा देखकर राजा पर जो कृपा उदय हुई थी, वही कृपा ही प्रभु के अनुसन्धान बिना राजा पर कृपा कर रही थी। यह देखिये श्रीचैतन्यदेव की महाबलवान कृपा की महिमा ! कृपा कर्त्ता श्रीचैतन्य के भी बिना जाने उसने राजा का जीवन सफल कर दिया। प्रभु ने पूछा—"आहा ! तुम मेरा हित करने वाले कौन हो ? मुझे एक दम आकर श्रीकृष्ण लीलामृत का पान करा रहे हो ?" ॥१२—१५॥

राजा कहे–आमि तोमार दासेर अनुदास। भृत्येर भृत्य कर मोरे, एइ मोर आश ॥१६॥
तबे महाप्रभु तांरे ऐश्वर्य्य देखाइल। 'काहां ना कहिओ इहां–निषेध करिल ॥१७॥
'राजा' हेन ज्ञान प्रभु ना कैल प्रकाश। अन्तरे सब जाने प्रभु बाहिरे उदास ॥१८॥
प्रतापरुद्रेर भाग्य देखि भक्तगण। राजाके प्रशंसे सभे आनन्दित मन ॥१९॥
दण्डवत् करि राजा बाहिरे चलिला। योड़ हाथ करि सब भक्तेरे बन्दिला ॥२०॥

राजा ने कहा—"प्रभो ! मैं आपके दासों का एक क्षुद्रदास हूँ, और मुझे अपने दासों का दास कर लीजिये—यही मेरी एक मात्र अभिलाषा है।" तब श्रीमहाप्रभु ने राजा को अपना ऐश्वर्य दिखलाया और कहा कि इसे कहीं भी प्रगट नहीं करना। प्रभु ने यह नहीं जताया कि वे यह जान रहे हैं कि तुम राजा प्रतापरुद्र हो। किन्तु प्रभु अन्तर में सब जानते थे, केवल बाहर से उदासीनता दिखा रहे थे। राजा प्रताप रुद्र के भाग्यों को देख कर समस्त भक्त आनन्दित मन होकर राजा की प्रशंसा करने लगे। राजा प्रभु को दण्डवत् करके बाहर चले आए और हाथ जोड़ कर समस्त भक्तों को भी प्रणाम किया ॥ १६-२० ॥

चै० च० चु० टीका—श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने यहां श्रीमहाप्रभु के उस ऐश्वर्य का (जिसे उन्होंने राजा को दिखलाया) कुछ वर्णन नहीं किया है, किन्तु श्रीमुरारी गुप्त की कड़चा (श्रीश्री-कृष्णचैतन्य-चरितामृत ग्रन्थ) में इसका वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है—राजा को क्रमशः तीन बार श्रीमहाप्रभुजीने स्वप्न में दर्शन दिये थे। तीसरी बार स्वप्न-दर्शन के पश्चात् राजा उठकर अति व्याकुल-चित्त होकर प्रभु के पास गये एवं अश्रु प्रवाहित करते हुए साष्टांग प्रणाम की और प्रभु के चरण-कमल हृदय पर धारण करते हुए उनकी स्तुति की। उस साक्षात् प्रथम मिलन में श्रीमहाप्रभुजी ने राजा प्रतापरुद्रजी को अपना षड़्भुजरूप दिखलाया था। उनकी ऊपर उठी हुई दो भुजाओं में तो धनुषबाण था, बीच की दो भुजाओं से वे सुन्दर वंशी बजा रहे थे और शेष दो भुजाओं से वे नृत्य भङ्गी प्रकाश कर रहे थे। श्रीकविराज ने इस ऐश्वर्य की कथा उल्लेख इस उद्यान-लीला में किया है, कारण कि इनके उल्लेख-अनुसार राजाका यही सर्वप्रथम साक्षात् मिलनहै। वह यही ऐश्वर्यहै, जिसे श्रीमहाप्रभुने राजाको दिखलाया।

कहीं कहीं बाजार में श्रीमन्महाप्रभु के षट्भुज रूप के चित्र देखने को मिलते हैं। जिनमें प्रभु के शेष दो भुजाओं में नृत्य-भङ्गी न दिखा कर उनमें दण्ड-कमण्डल दिखा दिया गया है—दण्ड-कमण्डल धारण किये हुए षट्भुज स्वरूप का वर्णन किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं देखा गया। अतः उस चित्र के प्रामाणिक होने में संशय है।

मध्याह्न करिला प्रभु लञा भक्तगण। वाणीनाथ प्रसाद लैया कैल आगमन ॥२१॥
सार्वभौम रामानन्द वाणीनाथ दिया। प्रसाद पाठाइल राजा बहुत करिया ॥२२॥
बलगण्डि भोगेर प्रसाद उत्तम अनन्त। निसकड़ि प्रसाद आइल—यार नाहि अन्त ॥२३॥
छेना पाना पैड़ आम्र नारिकेल कांठाल। नानाविध कदलक आर बीजताल ॥२४॥

श्रीमहाप्रभु जी ने भक्तों सहित वहाँ पुष्पोद्यान में अपना मध्याह्न काल का स्नान-भजनादि किया और श्रीवाणीनाथ वहाँ प्रसाद लेकर आए। श्रीसार्वभौम, श्रीरामानन्द तथा श्रीवाणीनाथ आदि सब भक्तों के लिए राजा ने वहाँ बहुत प्रसाद भेज दिया। बलगण्डि पर जो भोग लगता है वह बहुत उत्तम होता है, राजा ने वहां निसकड़ि (निखरा अर्थात् पक्का पुरी, मिठाई आदि घृत में तला हुआ) प्रसाद भेजा जो अनन्त था। उनमें छेना (रसगुल्लादि पनीर की मिठाई) पाना (शरबत) पेड़े, आम नारियल, कांठाल आदि अनेक प्रकार के केले से बने हुए पदार्थ और बीजताल (बङ्गाली फल) आदि थे ॥२१-२४॥

नारङ्ग छोलङ्ग टावा कमला बीजपूर। बादाम छोहरा द्राक्षा पिण्डखर्जूर ॥२५॥
मनोहरा—लाड्डू आदि शतेक प्रकार। अमृतगुटिका-आदि क्षीरसा अपार ॥२६॥
अमृतमण्डा छाना—बड़ा आर कर्पूरकुलि। सरामृत सरभाजा आर सरपुलि ॥२७॥
हरिबल्लभ सेवती कर्पूर मालती। डालिमा मरिचालाड्डू नवात अमृति ॥२८॥
पद्मचिनि चन्द्रकान्ति खाजा खण्डसार। वियड़ी कदमा तिला खाजार प्रकार ॥२९॥
नारङ्ग छोलङ्ग आम्रवृक्षेर आकार। फल—फूल—पत्रयुक्त—खण्डेर विकार ॥३०॥
दधि दुग्ध दधितक्र रसाला शिखरिणी। सलवण—मुद्गांकुर आदा खानिखानी ॥३१॥
नेबु—कोलि आदि नाना प्रकार आचार। लिखिते ना पारि प्रसाद कतेक प्रकार ॥३२॥
प्रसादे पूरित हैल अर्द्ध उपवन। देखिया सन्तोष हैल महाप्रभुर मन ॥३३॥

नारङ्ग, छोलङ्ग, टावा, कमला एवं बीजपुर—ये पाञ्चों प्रकार के नीबू, बादाम, छोहारा, किशमिश, पिण्डखजूर, मनोहारी लड्डू और शत प्रकार के लड्डू, अमृतगुटिका, क्षीरसा, अमृतमण्डा छेने के बड़े, कर्पूरकुलि, सरामृत, सरभाजा (खुर्चन), सरपुलि (मलाई की पूरी), हरिबल्लभ, सेवती, कर्पूर मालती, डालिमा, मिरचालाड्डू, नवात (कूज़ा मिश्री), अमृति, पद्मचिनि (गोला-खोयादि निर्मित पदार्थ), चन्द्रकान्ति(मूंग की दाल की मीठीपूरी विशेष) खाजा (मैदा,चीनी का पदार्थ विशेष),खण्डसार(शुद्धचीनी) वियड़ी, कदमा (चीनी की गेंद समान एक पदार्थ विशेष), तिला खाजा (तिल की गज्जक), नीबू, गलगल तथा आम और अनेक प्रकार के फल-फूल एवं पत्तों के अचार व मुरब्बे, दधि, दूध, मट्ठा, रसाला (कर्पूर युक्त रबड़ी, खोये की मिठाई), शिखरिणी (दही, चीनी, एवं कर्पूर युक्त पदार्थ विशेष) नमकीन, अङ्कुर युक्त तले हुए मूंग, तली हुई अदरक, नीबू, बेर आदि नाना प्रकार के अचार, इस प्रकार अनन्त

प्रसाद राजा ने भिजवाया, जिसका वर्णन नहीं हो सकता। वहाँ आधा बागीचा तो प्रसाद ही प्रसाद से भर गया। प्रसाद को देख कर श्रीमहाप्रभु जो का मन अति हर्षित हुआ ॥२५—३३॥

'एइमत जगन्नाथ करेन भोजन'। एइ सुखे महाप्रभुर जुड़ाय नयन ॥३४॥
केयोपत्रद्रोणी आइल बोझा पांचसात। एकेक-जने दशदोना दिल एकेक-पात ॥३५॥
कीर्त्तनीयार परिश्रम जानि गौरराय। ता-सभाके खाओयाइते प्रभुर मन धाय ॥३६॥
पांति पांति करि भक्तगणे बसाइला। परिवेशन करिवारे आपने लागिला ॥३७॥

'इस प्रकार श्रीजगन्नाथ जी भोजन करते हैं! इसी सुख में ही श्री महाप्रभु जी के नैन शीतल हो रहे थे। केया-पत्तों के दोनों के पांच सात बोझा वहाँ राजा ने भिजवाये। एक एक वैष्णव के आगे दस दस दोना और एक एक पत्ता डाला गया। कीर्त्तनीयाओं को अधिक परिश्रम करना पड़ा था—यह बात जान कर श्रीमहाप्रभु का मन उन्हें खिलाने को हो रहा था। पंक्तिवार सब भक्तों को प्रभु ने बैठाया और स्वयं प्रसाद को परोसने लगे ॥३४—३७॥

प्रभु ना खाइले केहो ना करे भोजन। स्वरूपगोसाञि तबे कैला निवेदन ॥३८॥
आपने बैसह प्रभु! भोजन करिते। तुमि ना खाइले केहो ना पारे खाइते ॥३९॥
तबे महाप्रभु बैसे निजगण लैया। भोजन कराइल सभारे आकण्ठ-पूरिया ॥४०॥
भोजन करि बसिला प्रभु करि आचमन। प्रसाद उवरिल, खाय सहस्रेक जन ॥४१॥

जब तक श्रीमहाप्रभु नहीं बैठें, तब तक कोई भी भोजन नहीं करता था। इस बात को देख कर स्वरूपगोस्वामी ने निवेदन किया—"प्रभो! आप भोजन के लिये बैठिये। आपके खाये वगैर कोई भी भोजन न करेगा।" फिर श्रीमहाप्रभु जी भी अपने भक्तों सहित भोजन करने बैठ गये। सब को पेट भर कर भोजन कराया। भोजन करने के बाद आचमन करके जब प्रभु बैठे तो देखा कि इतना प्रसाद बच गया है कि एक हज़ार व्यक्ति अभी और भोजन कर सकते हैं ॥३८—४१॥

प्रभुर आज्ञाय गोविन्द दीन-हीन जने। दुखित काङ्गाल आनि कराइल भोजने ॥४२॥
काङ्गालेर भोजन-रङ्ग देखे गौरहरि। 'हरिबोल' बलि तारे उपदेश करि ॥४३॥
'हरि-हरि' बोले काङ्गाल प्रेमे भासि याय। एछन अद्भुत लीला करे गौरराय ॥४४॥

श्रीमहाप्रभु की आज्ञा लेकर श्रीगोविन्द ने जितने वहाँ दीन-हीन कङ्गाल दुखी लोग थे, उन्हें बुला कर भोजन के लिए बैठा दिया। उन कङ्गाल लोगों को भोजन करते हुए श्रीगौरहरि देखने लगे और उन्हें आप उपदेश भी करते जा रहे थे कि 'हरि-हरि' बोलो! महाप्रभु 'हरि-हरि' ध्वनि करते हुए प्रेम में डूब जाते। ऐसी ऐसी विचित्र लीलाएँ श्रीगौरहरि कर रहे थे ॥४२—४४॥

इहां जगन्नाथेर रथ चलन-समय। गौड़ सब रथ टाने, आगे ना चलय ॥४५॥
टानिते ना पारि गौड़सब छाड़ि दिला। पात्रमित्र लैया राजा व्यग्र हैया आयला॥४६॥
महामल्लगण लैया रथ चालाइते। आपने लागिला, रथ ना पारे टानिते ॥४७॥

व्यग्र हैया राजा आनि मत्त हस्तिगण। रथ चालाइते रथे करिला योटन ॥४८॥
मत्त हस्तिगण टाने यार यत बल। एक पद ना चले रथ हइल अचल ॥४६॥

इस ओर तो श्रीमहाप्रभु भोजन-लीला देख रहे हैं और उधर श्रीजगन्नाथ जी के रथ चलने का समय हो आया। सब गौड़वासियों ने रथ को खींचना आरम्भ किया, किन्तु रथ आगे न चला। खींच खींच कर सब गौड़िया हार गये और उन्होंने रस्सियों को छोड़ दिया। फिर राजा अपने राज-सेवकों एवं मित्रों को लेकर तथा बहुत ज़ोरदार पहलवानों को लेकर रथ को चलाने लगे। स्वयं भी राजा ने ज़ोर लगाया, किन्तु किसी भी प्रकार वे सब रथ को न चला सके। राजा बहुत चिन्तित हुआ, उसने मतवाले हाथी मँगाये और उन्हें रथ में जोड़ दिया। मतवाले हाथियों ने भी पूरा ज़ोर लगाया, किन्तु रथ एक पग भी वहाँ से न हिला, मानो वह वहाँ अचल हो गया ॥४५–४६॥

शुनि महाप्रभु आइला निज-गण लैया। मत्त हस्ती रथ टाने—देखे दाण्डाइया ॥५०॥
अंकुशेर घाय हस्ती करये चित्कार। रथ नाहि चले, लोके करे हाहाकार ॥५१॥
तबे महाप्रभु सब हस्ती घुचाइल। निजगणे रथ-काछी टानिवारे दिल ॥५२॥
आपने रथेर पाछे ठेले माथा दिया। हड़हड़ करि रथ चलिल धाइया ॥५३॥
भक्तगण काछीते हात दिया मात्र धाय। आपने चलये रथ, टानिते ना पाय ॥५४॥

यह बात सुन कर श्रीमहाप्रभु जी अपने भक्तों के साथ वहाँ पधारे और देखा कि मतवाले हाथी रथ में जुड़े हुए हैं। महावत लोग अंकुशों से हाथियों को घायल किये दे रहे हैं और हाथी चिंघाड़ रहे हैं, किन्तु रथ टस से मस नहीं होता, सब लोग हा हा-कार कर रहे हैं। तब श्रीमहाप्रभु ने हाथियों को तो हटा दिया और रथ की रस्सी अपने भक्तों के हाथ में दे दी। श्रीमहाप्रभु ने रथ के पीछे जाकर अपने मस्तक को रथ से लगा कर एक धक्का दिया कि घड़घड़ करते हुए रथ दौड़ने लगा। भक्तगणों ने तो केवल अभी रस्सी को हाथ में ही लिया था, श्रीजगन्नाथ जी ने रथ को अपने आप ही चला दिया, किसी को खींचने की ज़रूरत ही न पड़ी ॥५०—५४॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीमन्दिर से चलकर रथ जब तक बलगण्डि स्थान तक आया, श्रीमहाप्रभुजी आगे आगे नृत्य करते चले आए और श्रीजगन्नाथ जी को प्रभु का नृत्य देख कर एवं उनके परमाश्चर्य माधुर्य को देख कर पहले तो अति विस्मय हुआ, फिर तो देखते देखते वे मुग्ध एवं आनन्दित हुए। बलगण्डि पर आकर श्रीजगन्नाथजी तो भोग में व्यस्त हो गये और श्रीमहाप्रभु पुष्पोद्यानमें चले आए, किन्तु श्रीजगन्नाथ जी यह जानते थे कि पुनः रथ चलने पर वे फिर श्रीमहाप्रभु के अद्भुत माधुर्य का आनन्द लेंगे, जब उनकी अनुपस्थिति में सब रथ चलाने लगे तो श्रीजगन्नाथजी ने वहाँ रथ को अचल ही करदिया। फिर श्रीजगन्नाथ जी की इच्छा बिना भला कौन उनके रथ को चला लेता? श्रीमहाप्रभु वहाँ आए और श्रीभगवान् श्रीजगन्नाथ जी ने उन्हें देखते ही अपने आप रथ को चला दिया।

वस्तुतः रथ-यात्रा तो श्रीजगन्नाथ जी की श्रीवृन्दावन-यात्रा के लक्ष्य में मनाई जाती है मानो वे श्रीवृन्दावन जा रहे हैं। श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीराधा-भाव-विग्रह श्रीश्रीगौरसुन्दर को छोड़ कर क्या श्रीजगन्नाथजी वृन्दाबन चले जाते? श्रीराधाजी की प्रेरणा बिना, उनकी कृपा बिना; उनके ढकेले बिना कोई क्या श्रीवृन्दावन जा सकता है? श्रीजगन्नाथ भी मानो कौतुकवशतः इसी बात की प्रतीक्षा ही

कर रहे थे कि श्रीराधा-भाव-विग्रह श्रीश्रीगौरसुन्दर जब तक अपनी चेष्टा से उन्हें श्रीवृन्दावन न लेजाएंगे, तब तक वे कैसे श्रीवृन्दावन जाएं ? उन्हीं की प्रेरणा से श्रीराधा-भाव-विग्रह श्रीमहाप्रभु ने भी रथ के पीछे आकर उन्हें चालित किया, मानों उन्होंने भी कहा—"देखें, आप कैसे श्रीवृन्दावन नहीं चलते हो ?" श्रीजगन्नाथ जी को राधा-प्रेम के आगे सदा हार ही खानी पड़ती है। आप तत्काल वहां से चल पड़े ॥५४

महानन्दे लोक करे 'जय जय'-ध्वनि। 'जय जगन्नाथ' बहि आर नाहि शुनि ॥५५॥
निमिषेके रथ गेला गुण्डिचार द्वार। चैतन्य-प्रताप देखि लोके चमत्कार ॥५६॥
'जय गौरचन्द्र जय श्रीकृष्णचैतन्य। एइमत कोलाहल लोके "धन्य धन्य" ॥५७॥
देखिया प्रतापरुद्र पात्र मित्र सङ्गे। प्रभुर महिमा देखि प्रेमे फूले अङ्गे ॥५८॥

रथको चलता हुआ देखकर सब लोग महानन्द में 'जय-जय' ध्वनि करने लगे। उस समय 'जय जय' 'जय जगन्नाथ', जय जगन्नाथके अतिरिक्त और कोई शब्द न सुनाई देता था। अति अल्प काल में रथ गुण्डिचा मन्दिर के द्वार पर पहुँच गया। श्रीमहाप्रभु के प्रताप को देखकर सब लोग चमत्कृत हो उठे। और 'जय गौरचन्द्र,' 'जय श्रीकृष्णचैतन्य'—इसी ध्वनि का कोलाहल करके वे सब लोग धन्य धन्य होने लगे। राजा श्रीप्रतापरुद्र अपने मित्रों एवं कर्मचारियों के साथ श्रीमहाप्रभु की महिमा को देख कर आनन्द से फूले न समाते थे ॥ ५५—५८ ॥

पाण्डुविजय तबे कैल सेवकगणे। जगन्नाथ वसिल आसि निज-सिंहासने ॥५९॥
सुभद्रा बलदेव सिंहासनेते आइला। जगन्नाथेर स्नान भोग हइते लागिला ॥६०॥
अङ्गनेते महाप्रभु लञा भक्तगण। आनन्दे आरम्भिल प्रभु नर्त्तन कीर्त्तन ॥६१॥
आनन्देते महाप्रभुर प्रेम उछलिल। देखि सब लोक प्रेम-समुद्रे भासिल ॥६२॥

फिर श्रीजगन्नाथजी के पुजारियों ने श्रीभगवान् को रथ से नीचे उतारा और गुण्डिचा-मन्दिर में सिंहासन पर उन्हें विराजमान कर दिया। श्रीसुभद्राजी तथा श्रीबलदेवजी भी सिंहासन पर आकर विराजमान हुए। श्रीजगन्नाथ जी के स्नान-भोगादि होने लगे। मन्दिर के आङ्गन में आकर श्रीमहाप्रभु ने अपने भक्तों सहित नृत्य-कीर्त्तन आरम्भ कर दिया। आनन्द में श्रीमहाप्रभु जी प्रेमाविष्ट हो गये और सब लोग उनके दर्शन कर प्रेम-समुद्र में निमग्न हो गये ॥ ५९-६२ ॥

नृत्य करि सन्ध्या काले आरति देखिल। आइटोटा आसि प्रभु विश्राम करिल ॥६३॥
अद्वैतादि भक्तगण निमन्त्रण कैल। मुख्य मुख्य नव-जन नव दिन पाइल ॥६४॥
आर भक्तगण चातुर्मास्य यतदिन। एक एक दिन करि पड़िल बन्टन ॥६५॥
चारिमासेर दिन मुख्य भक्त बांटि निल। आर भक्तगण अवसर ना पाइल ॥६६॥

श्रीमहाप्रभु ने नृत्य के पश्चात् सन्ध्या काल की आरती के दर्शने किये और 'आई'-नामक बागीचा में आकर प्रभुने विश्राम किया। श्रीअद्वैताचार्य आदि भक्तों ने श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रण दिया। उन्होंने नौ दिन के लिये नौ प्रधान भक्तों का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। और जितने भक्त थे उन्होंने चातुर्मास्य का एक एक दिन एक एक भक्त ने प्रभु को भिक्षा कराने के लिये बाँट लिया। चातुर्मास्य के दिन भी प्रधान भक्तों में बट गये और अनेकों भक्तों को प्रभु को निमन्त्रित करने का अवकाश ही न मिला ॥६३-६६ ॥

एक दिन निमन्त्रण करे दुइ-तिन मेलि । एइमत महाप्रभुर निमन्त्रण-केलि ॥६७॥
प्रातः काले स्नान करि देखि जगन्नाथ । सङ्कीर्त्तन-नृत्य करे भक्तगण साथ ॥६८॥
कभु अद्वैत नाचे, कभु नित्यानन्द । कभु हरिदास नाचे, कभु अच्युतानन्द ॥६९॥
कभु वक्रेश्वर-कभु आर भक्तगणे । सन्ध्या कीर्त्तन करे गुण्डिचा प्राङ्गणे ॥७०॥

दो-दो, तीन-तीन भक्त मिलकर एक दिन के लिये प्रभु को निमन्त्रण देते, इस प्रकार महाप्रभु की निमन्त्रण-लीला होती थी । दूसरे दिन प्रभु ने सवेरे स्नान किया और श्रीजगन्नाथजी के दर्शन किए और भक्तों के साथ उन के आगे नृत्य-सङ्कीर्त्तन किया । कभी श्रीअद्वैताचार्य, कभी श्रीनित्यानन्द प्रभु नृत्य करने लगते । कभी श्रीहरिदास जी और कभी श्रीअच्युतानन्दजी और कभी श्रीवक्रेश्वर तथा कभी और और भक्त नृत्य करते, इस प्रकार सन्ध्या के समय प्रभु सब भक्तों सहित गुण्डिचा मन्दिर के प्राङ्गण में नृत्य करते थे ॥ ६७—७० ॥

'वृन्दावने आइला कृष्ण' एइ प्रभुर ज्ञान । कृष्णेर विरह-स्फूर्त्ति हैल अवसान ॥७१॥
'राधासङ्गे कृष्ण लीला' एइ हैल ज्ञाने । एइ रसे मग्न प्रभु हइला आपने ॥७२॥
नानोद्याने भक्तसङ्गे वृन्दावन-लीला । इन्द्रद्युम्न सरोवरे करे जलखेला ॥७३॥
आपने सकल भक्त सिञ्चे जल दिया । सब भक्तगण सिञ्चे चौदिगे बेड़िया ॥७४॥

अब श्रीमहाप्रभु की भावना यह हो गई कि श्रीकृष्ण वृन्दावन में आ गये हैं । अतः अब जो उन्हें श्रीकृष्ण के विरह की स्फूर्त्ति थी, वह मिट गई "श्रीकृष्ण श्रीराधा जी के साथ विहार कर रहे हैं"—ऐसी स्फूर्त्ति उन्हें होने लगी, इसी रस में ही प्रभु निमग्न हो उठे । नाना उद्यानों में भक्तों के सङ्ग श्रीवृन्दावन की लीलाओं का अभिनय करते हुए प्रभु इन्द्रद्युम्न सरोवरमें जल-क्रीड़ा करने लगे । आप अपने भक्तों पर जल उलीचने लगे और सब भक्त भी प्रभु को चारों तरफ से घेर कर जल फैंकने लगे ॥७१—७४ ॥

कभु एक मण्डल कभु अनेक मण्डले । जल मण्डुक-वाद्य बाजाय सभे करतले॥७५॥
दुइ दुइ जन मेलि करे जल—रण । केहो हारे जिने, प्रभु करे दरशन ॥७६॥
अद्वैत-नित्यानन्द करे जल फेला—फेलि । आचार्य्य हारिया पाछे करे गालागाली ॥७७॥
विद्यानिधिर जल-युद्ध स्वरूपेर सने । गुप्त दत्त जल युद्ध करे दुइजने ॥७८॥

कभी एक मण्डल, कभी अनेक मण्डल बान्ध कर सब जल पर हथेली से एक प्रकार जल-मण्डुक बाजा सा बजाने लगे। दो दो जने मिल कर जल-युद्ध करने लगे । कोई हार खाता था कोई जीत जाता। यह सब खेल श्रीमहाप्रभु देखने लगे । श्रीअद्वैताचार्य तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु परस्पर जल फैंकने लगे, श्रीआचार्य्य हार गये और खीज कर प्रभु नित्यानन्दजी को गालियां देने लगे । श्रीविद्यानिधि श्रीस्वरूप से जल-युद्ध करने लगे । श्रीमुरारीगुप्त और श्रीवासुदेवदत्त दोनों परस्पर जल-युद्ध करने लगे ॥७५—७८ ॥

श्रीवास-सहिते जल खेले गदाधर । राघवपण्डित-सने खेले वक्रेश्वर ॥७९॥
सार्वभौम-सह खेले रामानन्दराय । गाम्भीर्य्य गेल दोंहार हैला शिशुप्राय॥८०॥
महाप्रभु तांहा दोंहार चाञ्चल्य देखिया । गोपीनाथाचार्य्ये किछु कहेन हासिया ॥८१॥
पण्डित गम्भीर दोंहे प्रामाणिक-जन । बाल्यचाञ्चल्य करे, करह वर्जन ॥८२॥

श्रीवास पण्डित के साथ श्रीगदाधर तथा श्रीराघव पण्डित के साथ श्रीवक्रेश्वर तथा श्रीसार्वभौम जी के साथ श्रीरामानन्दजी जल क्रीड़ा करने लगे। शिशुओं की भांति वे गहरे पानी में चले गये। श्रीमहाप्रभुजी इन दोनों की चञ्चलता देख कर श्रीगोपीनाथ-आचार्य्य को मुस्करा कर कहने लगे—"ये दोनों पण्डित हैं और गम्भीर-स्वभाव के हैं और दोनों प्रमाण-स्थानीय हैं, फिर भी बच्चों की भाँति चञ्चलता कर रहे हैं, इन्हें आप वर्जन करो न!" ॥७९—८२॥

गोपीनाथ कहे-तोमार कृपा महा—सिन्धु। उछलित कर यबे, तार एक बिन्दु ॥८३॥
मेरु—मन्दरपर्वत डुबाय यथा—तथा। एइ दुइ गण्डशैल-इहार का कथा? ॥८४॥
शुष्क तर्क-खलि खाइते जन्म गेल यार। तारे लीलामृत पियाओ, ए कृपा तोमार॥८५॥
हासि महाप्रभु तबे अद्वैते आनिल। जलेर उपरे तांरे शेष—शय्या कैल ॥८६॥

श्रीगोपीनाथाचार्य्यजी ने कहा—"आप की कृपा एक महासिन्धु है। जब आप उसे उछालते हैं, तो उसके एक बिन्दुमें सुमेरु और मन्दराचल जैसे बड़े बड़े पर्वत भी डूब जाते हैं फिर ये दोनों तो क्षुद्र पर्वत हैं— इनकी क्या बात है? (श्रीसार्वभौम को लक्ष्य करते हुए श्रीगोपीनाथाचार्य ने कहा) जिसका सारा जन्म सूखी तर्क-रूप खलि खाते हुए गया, उसे आज श्रीकृष्ण-लीलामृत का आस्वादन मिल रहा है—ये सब आपकी कृपा की महिमा है अर्थात् जिस सार्वभौम का जन्म भक्ति-विरुद्ध नीरस तर्क-कुतर्क में बीतता था, आज वह आपकी कृपा से श्रीकृष्ण-लीलामृत का पान कर रहा है, वह उन्मत्त हो उठे अथवा बच्चों की तरह मर्यादा-गाम्भीर्य छोड़ दे तो इसमें क्या आश्चर्य है?" मुस्करा कर श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीअद्वैताचार्य जी को पकड़ लिया और जल के ऊपर उन्हें शेष शय्या की भांति सुला दिया॥ ८३—८६॥

आपने ताहार उपर करिल शयन। शेषशायि-लीला प्रभु कैल प्रकटन ॥८७॥
श्रीअद्वैत निज शक्ति प्रकट करिया। महाप्रभु लञा बुले जलेते भासिया ॥८८॥
एइमत जलक्रीड़ा करि कथोक्षण। आइटोटा आइला, प्रभु लञा भक्तगण ॥८९॥
पुरी—भारती आदि मुख्य भक्तगण। आचार्येर निमन्त्रणे करिल भोजन ॥९०॥
वाणीनाथ आर यत प्रसाद आनिल। महाप्रभुर गणे सेइ प्रसाद खाइल ॥९१॥
अपराह्ने आसि कैल दर्शन-नर्त्तन। निशाते उद्याने आसि करिल शयन ॥९२॥

श्रीमहाप्रभुजी उस शेष-शय्या पर चढ़ कर सो गये—शेष शायी-लीला को मानो प्रभु ने प्रकाशित किया। श्रीअद्वैतप्रभु ने भी अपनी शक्ति को प्रकट किया और श्रीमहाप्रभु को अपने ऊपर लेकर जल में भ्रमण करने लगे। इस प्रकार बहुत काल तक जल क्रीड़ा करने के बाद प्रभु अपने भक्तों के साथ 'आई'-नामक बागीचा में लौट आए। श्रीपरमानन्दपुरी एवं श्रीब्रह्मानन्द भारती तथा मुख्य भक्तों के साथ प्रभु ने श्रीअद्वैतप्रभु के पास भोजन किया। श्रीवाणीनाथ और जो प्रसाद लाये, उसे प्रभु के अन्यान्य भक्तों ने पाया। अपराह्न काल में प्रभु ने आकर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन किये एवं वहाँ नृत्य किया और रात को बागीचा में प्रभु ने शयन की ॥८७—९२॥

चैं० च० चु० *टीका*—पयार नं० ८८ में कहा गया है कि श्रीअद्वैताचार्यजी ने अपनी शक्ति को प्रकट किया, वह कौनसी शक्ति है?-जैसा कि आदि-लीला पञ्चम परिच्छेदके पयार नं० १०३में पृष्ठ नं०१३३ पर वर्णन किया जा चुका है कि क्षीरोदशायी तृतीय-पुरुष का अवतार श्रीशेष या श्रीअनन्तजी हैं जो

श्रीविष्णु भगवान् की शय्यारूप में सेवा करते हैं। श्रीअद्वैताचार्य की इस शेषरूप शक्ति को यहाँ निज-शक्ति कहा गया है। श्रीअद्वैताचार्य जी हैं महाविष्णु—श्रीकारणसमुद्रशायी प्रथम पुरुष। उनके अवतार श्रीगर्भोदशायी द्वितीय पुरुष, फिर उनके अवतार श्रीक्षीरोदशायी-तृतीय पुरुष हैं। श्रीक्षीरोदशायी के अवतार हैं—श्रीशेष जी। इस प्रकार श्रीशेष जी श्रीमहाविष्णु या श्रीअद्वैताचार्य की अंश या कला हैं। श्रीमहाविष्णु की शक्ति से ही श्रीशेष जी की शक्ति है। अतः श्रीशेषरूप से शय्यारूप में जो शक्ति प्रकाशित होती है—वह स्वरूपतः श्रीमहाविष्णु या श्रीअद्वैताचार्य की ही निज-शक्ति है। उसी शक्ति को श्रीअद्वैत आचार्य जी ने यहाँ प्रकट किया है।

आर दिन आसि कैल ईश्वर दर्शन। प्राङ्गणे नृत्य गीत करिला कथोक्षण ॥९३॥
भक्तगण-सङ्गे प्रभु उद्याने आसिया। वृन्दावन बिहार करे भक्तगण लैया ॥९४॥
वृक्षवल्ली प्रफुल्लित प्रभुर दर्शने। भृङ्ग पिक गाय, बहे शीतल पवने ॥९५॥
प्रति वृक्षतले प्रभु करेन नर्त्तन। वासुदेवदत्त मात्र करेन गायन ॥९६॥

दूसरे दिन श्रीमहाप्रभु ने आकर श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किये और प्राङ्गण में उनके सन्मुख कुछ काल नृत्य-गान किया। फिर प्रभु भक्तगणों के साथ उद्यान में चले आए और वहाँ भक्तगणों के साथ श्रीवृन्दावन-विहार--लीला करने लगे। उद्यान के वृक्ष-वल्ली प्रभु का दर्शन कर प्रफुल्लित हो रहे थे और मधुकर, कोयल मीठी-मीठी स्वर में गुञ्जार कर रहे थे। शीतल मन्द मन्द पवन बह रही थी। श्रीमहाप्रभु प्रति वृक्ष के नीचे जा जाकर नृत्य करने लगे और केवल श्रीवासुदेवदत्त ही गायन कर रहे थे ॥९३—९६॥

एक एक वृक्ष तले एक एक गाय। परम आवेशे एका नाचे गौरराय ॥९७॥
तबे वक्रेश्वरे प्रभु कहिल नाचिते। वक्रेश्वर नाचे, प्रभु लागिला गाइते ॥९८॥
प्रभु-सङ्गे स्वरूपादि कीर्त्तनीया गाय। दिग्‌विदिग् नाहि ज्ञान प्रेमेर वन्याय ॥९९॥
एइमत कथोक्षण करि बनलीला। नरेन्द्र-सरोवरे गेला करिते जलखेला ॥१००॥

एक एक वृक्ष के नीचे एक एक गीत को श्रीवासुदेव गान कर रहे थे और अकेले श्रीमहाप्रभु ही परम आवेश में नृत्य कर रहे थे। तब श्रीमहाप्रभु ने श्रीवक्रेश्वर को नृत्य करने की आज्ञा दी। श्रीवक्रेश्वर तो नृत्य करने लगे और प्रभु स्वयं गान करने लगे। श्रीप्रभु के साथ श्रीस्वरूपादि कीर्त्तनीया भी गान करने लगे। प्रभु प्रेम की वन्या में सराबोर हो रहे थे। उन्हें दिशा-विदिशा का कुछ भी ज्ञान न था। इस प्रकार कुछ काल बन-लीला करके प्रभु नरेन्द्र सरोवर पर जल-क्रीड़ा करने चले आये ॥९७—१००॥

जल-क्रीड़ा करि पुन आइला उद्याने। भोजन-लीला कैल तबे लञा भक्तगणे ॥१०१॥
नवदिन गुण्डिचाते रहे जगन्नाथ। महाप्रभु ऐछे लीला करे भक्तसाथ ॥१०२॥
'जगन्नाथवल्लभ'-नाम बड़ पुष्पाराम। नवदिन करे प्रभु तथाइ विश्राम ॥१०३॥
होरापञ्चमीर दिन आइल जानिया। काशीमिश्रे कहे राजा सयत्न करिया ॥१०४॥

जल-क्रीड़ा करके फिर प्रभु उद्यान में चले आए और वहाँ भक्तों के साथ भोजन-लीला की। श्रीजगन्नाथ जी नौ दिन तक गुण्डिचा-मन्दिर में रहे, तो प्रभु भी उसी प्रकार भक्तों के साथ नौ दिन पर्यन्त लीला करते रहे। जगन्नाथवल्लभ-नाम का जो बड़ा बागीचा था, (सम्भवतः उसी का नाम आई भी था)

उसमें प्रभु ने नौ दिन तक विश्राम किया। होरापञ्चमी का दिन आया हुआ जानकर राजा श्रीप्रतापरुद्र ने श्रीकाशीमिश्र को सावधान करते हुए कहा। (रथयात्रा के बाद आने वाली पञ्चमी के दिन श्रीलक्ष्मीजी मन्दिर से बाहर गमन (होरा) करती हैं, इसलिये इसे होरापञ्चमी कहा जाता है।) ॥१०१—१०४॥

कालि होरापञ्चमी--श्रीलक्ष्मीर विजय। ऐछे उत्सव कर, येछे कभु नाहि हय ॥१०५॥
महोत्सव कर तैछे विशेष सम्भार। देखि महाप्रभुर यैछे हय चमत्कार ॥१०६॥
ठाकुरेर भाण्डारे आर आमार भाण्डारे। चित्र वस्त्र आर छत्र किङ्किणी चामरे ॥१०७॥
ध्वज पताका घण्टा दर्पण करह मण्डनी। नानावाद्य नृत्य दोला करह साजनी ॥१०८॥
द्विगुण करिया कर सब उपहार। रथयात्रा हैते येन हय चमत्कार ॥१०९॥
सेइ त करिह—प्रभु लञा निज—गण। स्वच्छन्दे आसिया यैछे करेन दर्शन ॥११०॥

राजा ने कहा—"मिश्र! कल होरा-पञ्चमी है, श्रीलक्ष्मी-विजय का दिन है, ऐसा उत्सव करो कि जैसा कभी नहीं हुआ हो। विशेष आयोजन करके ऐसा महान् उत्सव होना चाहिये कि जिसे देखकर श्रीमहाप्रभु भी चमत्कृत हो उठें। श्रीठाकुरजी के भण्डार में और मेरे राज-भण्डार में जितने विचित्र-विचित्र वस्त्र हैं, छत्र, किङ्किणी, चँवर, ध्वजा, पताका, घण्टा दर्पण आदि जितना सामान है, वह सब निकाल कर उससे मन्दिर को सजाओ। अनेक प्रकार के बाजे, नर्त्तकगण मँगाओ और पालकी को सुन्दर रूप से सजाओ। पहले वर्षों से इस बार द्विगुण आयोजन करो कि रथयात्रा से भी कहीं अधिक चमत्कारी उत्सव हो और ऐसा प्रबन्ध भी करो कि प्रभु अपने भक्तोंके साथ स्वच्छन्दता से उत्सव का दर्शन कर सकें।

प्रातःकाले महाप्रभु निजगण लञा। जगन्नाथ दर्शन कैल सुन्दराचल याञा ॥१११॥
नीलाचल आइला पुन भक्तगण—सङ्गे। देखिते उत्कण्ठा होरापञ्चमीर रङ्गे ॥११२॥
काशीमिश्र प्रभुके बहु आदर करिया। गणसह भालस्थाने वसाइल लैया ॥११३॥
रसविशेष प्रभुर शुनिते मन हैल। ईषत् हासिया तबे स्वरूप पूछिल ॥११४॥

प्रातःकाल श्रीमहाप्रभु अपने भक्तों के साथ सुन्दराचल गये (जहाँ गुण्डिचा-मन्दिर है, उस स्थान को सुन्दराचल कहते हैं।) और श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किये। पुनः नीलाचल (जहाँ श्रीजगन्नाथ जी का मन्दिर है) भक्तों के साथ आए। होरा-पञ्चमी लीला देखने के लिये प्रभु का मन बहुत उत्कण्ठित हो रहा था। श्रीकाशीमिश्र ने बड़े आदर के साथ भक्तों सहित श्रीमहाप्रभु को सुन्दर स्थान पर बैठा दिया। उस लीला का रस-विशेष (व्रजरस) सुनने के लिये प्रभु उत्कण्ठित थे। प्रभु ने मुस्करा कर श्रीस्वरूपदामोदर जी से पूछा—॥१११—११४॥

यद्यपि जगन्नाथ करे द्वारका विहार। सहज—प्रकट करे परम उदार ॥११५॥
तथापि वत्सर मध्ये हय एकबार। वृन्दाबन देखिवारे उत्कण्ठा अपार ॥११६॥
वृन्दाबन सम एई उपवनगण। ताहा देखिवारे उत्कण्ठित हय मन ॥११७॥
बाहिर हइते करे रथयात्रा—छल। सुन्दराचल याय प्रभु छाड़ि नीलाचल ॥११८॥
नानापुष्पोद्याने ताहां खेले रात्रि-दिने। लक्ष्मीदेवी सङ्गे नाहि लय कि—कारणे? ॥११९॥

"स्वरूप ! यद्यपि श्रीजगन्नाथजी यहां द्वारका-लीला करते हैं और उनकी परम उदारता भी सहज-प्रकट है अर्थात् वे श्रीलक्ष्मीजी के वश में रहते हैं, तो भी वर्ष में एक बार उनके मन में श्रीवृन्दावन दर्शन करने की अपार उत्कण्ठा जाग उठती है। यहां के जितने पुष्पोद्यान-बन हैं, वे श्रीवृन्दाबन के समान हैं—उन्हें देखने के लिये उनकी उत्कण्ठा होती है। बाहर से तो वे रथयात्रा का बहाना करते हैं, और वे नीलाचल को छोड़ कर सुन्दराचल जाते हैं। वहां पुष्पोद्यानों में रात दिन लीला करते हैं, परन्तु वे अपने साथ श्रीलक्ष्मीदेवी को नहीं ले जाते, इसका क्या कारण ?" ॥११५—११९॥

स्वरूप कहे–शुन प्रभु ! कारण इहार। वृन्दावन क्रीड़ाय लक्ष्मीर नाहि अधिकार ॥१२०॥
वृन्दाबन क्रीड़ाय सहाय गोपीगण। गोपीगण बिना कृष्णेर हरिते नारे मन ॥१२१॥
प्रभु कहे—यात्रा छले कृष्णेर गमन। सुभद्रा आर बलदेव सङ्गे दुइजन ॥१२२॥
गोपी सङ्गे लीला यत करे उपवने। निगूढ़ कृष्णेर भाव केहो नाहि जाने ॥१२३॥
अतएव कृष्णेर प्रकट नाहि किछु दोष। तबे केने लक्ष्मीदेवी करे एत रोष ? ॥१२४॥

श्रीस्वरूप ने कहा–"प्रभो ! सुनिये, इसका कारण यह है कि श्रीवृन्दाबन की क्रीड़ा में श्रीलक्ष्मी-देवी का अधिकार नहीं है। श्रीवृन्दावन की क्रीड़ा में व्रजगोपीगण ही सहायक हैं, गोपीगणों के बिना श्रीकृष्ण का मन और कोई भी हरण नहीं कर सकता"। प्रभु ने कहा—"स्वरूप ! श्रीजगन्नाथजी यात्राके उपलक्ष्य में मन्दिरसे बाहर जाते हैं। (गोपियोंसे बिहार करने का भाव प्रकट करके वे मन्दिरसे बाहर नहीं जाते) विशेषतः अपनी बहन श्रीसुभद्रा तथा बड़े भाई श्रीबलदेवजी को भी साथ ले जाते है। इससे भी श्रीलक्ष्मीजी को यह शक नहीं हो सकता कि श्रीभगवान् (बहन-भाई के साथ रहते हुए) गोपियों के साथ विहार करने जा रहे हैं, यह ठीक है कि इस रथयात्रा के बहाने वे निगूढ़ कुञ्जों में जाकर गोपियों के साथ लीला करते हैं (पुष्पोद्यान में भी नहीं करते,) उस निगूढ़ लीला को श्रीकृष्ण (श्रीजगन्नाथ) के अतिरिक्त और कोई भी नहीं जानता है। इसलिये प्रकट-रूप से तो श्रीजगन्नाथजी का कोई दोष श्रीलक्ष्मीजी के प्रति नहीं दीखता, फिर भी जैसे मैंने यहां आकर सुना है, श्रीलक्ष्मीदेवी श्रीजगन्नाथ जी पर इतना क्रोध क्यों करती हैं ?" ॥१२०—१२४॥

स्वरूप कहे-प्रेमवतीर एइ त स्वभाव। कान्तेर औदास्यलेशे हय क्रोधभाव ॥१२५॥
हेन काले, खचित याहे विविध रतन। स्वर्णेर चौदोला करि आरोहण ॥१२६॥
छत्र-चामर ध्वज पताकार गण। नानावाद्य आगे नाचे देवदासी गण ॥१२७॥
ताम्बूल सम्पुट झारि व्यजन चामर। हाथे यार दासीशत दिव्य भूषाम्बर ॥१२८॥
अलौकिक ऐश्वर्य सङ्गे बहु परिवार,। क्रुद्ध हैञा लक्ष्मीदेवी आइला सिंहद्वार ॥१२९॥

श्रीस्वरूप ने कहा—'प्रेमवती–प्रेयसी का ऐसा स्वभाव होता है। श्रीजगन्नाथजी क्योंकि श्रीलक्ष्मीजी को अपने साथ नहीं ले जाते, उनके प्रति उपेक्षा या उदासीनता कर जाते हैं, इसी लिये श्रीलक्ष्मीजी उन पर क्रोधित होती हैं।" इस प्रकार श्रीमहाप्रभु एवं श्रीस्वरूप बात कर ही रहे थे, इतने में अनेक रत्नों से जड़ित सोने की पालकी पर चढ़ी हुई (श्रीलक्ष्मीजी) जिनके साथ शत-शत दासीगण हाथों में छत्र, चामर, ध्वजा, पताका लिये हुए थीं और अनेक देवदासी-गण नृत्य-गान करती हुई जिनके आगे चल रही थीं, पानदान, झाड़ी, व्यजन, चँवर हाथ में लिए हुए एवं दिव्य भूषण वस्त्र धारण किये हुए, असंख्य परिवार के साथ अलौकिक ऐश्वर्ययुक्त श्रीलक्ष्मीजी क्रोधित होकर मन्दिर के बाहरी दरवाजे सिंह-द्वार पर आ पहुँचीं।

श्रीजगन्नाथेर यत मुख्य भृत्यगण। लक्ष्मीदासीगण तारे करेन बन्धन॥१३०॥
बान्धिया आनिया पाड़े लक्ष्मीर चरणे। चोरे येन दण्ड करि लय नाना धने॥१३१॥
अचेतन रथ—तार करेन ताड़ने। नानामत गालि देन भण्डेर वचने॥१३२॥
लक्ष्मी-सङ्गे दासीगणेर प्रागल्भ्य देखिया। हासिते लागिला प्रभु निजगण लञा॥१३३॥

श्रीलक्ष्मी जी की दासियों ने श्रीजगन्नाथ जी के जितने मुख्य-मुख्य दासगण वहां उपस्थित थे, उन्हें बाँध लिया और बाँध कर श्रीलक्ष्मी जी के चरणों में लाकर पटका, जैसे बहुत सा धन ले जाने वाले चोरों को पकड़ ले जा कर राजा के आगे पटका जाता है। रथ जो अचेतन वस्तु है, उसे भी वे दासीगण मारने लगी और अश्लील वचनों में उसे गालियाँ देने लगीं। (श्रीजगन्नाथ जी का रथ भी स्वरूपतः चिद्वस्तु है। लीलारस पुष्टि के लिये वह जड़वत् आचरण करता है, इसलिये यहाँ 'अचेतन' कहकर वर्णन किया गया है।) श्रीलक्ष्मी जी की सङ्गिनी दासियों की औद्धत्यता (चञ्चलता) को देख कर प्रभु अपने भक्तों के सहित हँसने लगे॥१३०—१३३॥

चै० च० चु० *टीका* :—वास्तव में रथयात्रा के दिन श्रीजगन्नाथ जी रथ पर चढ़कर सुन्दराचल चले जाते हैं और जब तक पूर्णयात्रा अर्थात् मन्दिर में नीलाचल वापिस नहीं लौट आते, रथ भी वहीं सुन्दराचल खड़ा रहता है। श्रीलक्ष्मी-दासियों द्वारा जो रथ को पीटनादि लीला वर्णन की गई है, वह लीला सुन्दराचल गुण्डिचा-मन्दिर पर ही हो रही थी और अब तक भी वहाँ ही होती है। होरा-पञ्चमी के दिन श्रीलक्ष्मी जी भी अपनी दासियों के साथ मन्दिर से सुन्दराचल पर जाती हैं और वहां सब लीला होती हैं। श्रीमहाप्रभु जी सुन्दराचल दर्शन करके मन्दिर पर (नीलाचल) आए थे कि वे भी भक्तों के सहित श्रीलक्ष्मी जी के साथ साथ यात्रा करते हुए सुन्दराचल लौटेंगे। यहाँ कुछ यात्रा में देर होने के कारण श्रीकाशीमिश्र ने श्रीमहाप्रभु को नीलाचल पर सुन्दर स्थान पर बैठा दिया था, वहां वे श्रीस्वरूप से रसविशेष के सम्बन्ध में प्रश्न करने लगे थे। इतने काल में श्रीलक्ष्मीजी महान् ऐश्वर्य के साथ आईं। जब वह सुन्दराचल तक यात्रा करती हुई चलीं, तो श्रीमहाप्रभु भी वहाँ से उठ कर अपने भक्तों सहित श्रीलक्ष्मीजी के साथ सुन्दराचल पर चले आये थे, जहाँ रथ खड़ा था। श्रीजगन्नाथ के मुख्यदासों के पकड़ने तथा बाँधने और रथ को पीटने आदि की ये सब लीलाएँ सुन्दराचल पर ही हुई हैं—यह बात कविराज ने यहाँ स्पष्ट करके चाहे वर्णन नहीं की परन्तु आगे चलकर इस लीला का इसी रूप में ही समाधान होगा।

दामोदर कहे—ऐछे मानेर प्रकार। त्रिजगते काहां नाहि देखि शुनि आर॥१३४॥
मानिनी निरुत्साहे छाड़े विभूषण। भूमे वसि नखे लिखे मलिन वसन॥१३५॥
पूर्वे सत्यभामार शुनि एइविध मान। ब्रजे गोपीगणेर मान-रसेर निधान॥१३६॥
इहों सर्वसम्पत्ति निज प्रकट करिया। प्रियेर उपरे याय सैन्य साजाइया॥१३७॥

श्रीमहाप्रभु को मुस्कराता हुआ देखकर श्रीस्वरूप दामोदर कहने लगे—"इस प्रकार का मान तो त्रिभुवन में कहीं न दीखता है और न कहीं सुना है। सब जगह तो ऐसा देखा जाता है कि मानिनी-प्रेयसी निरुत्साहित होकर वस्त्र-भूषण उतार डालती है। भूमि पर बैठकर अपने नखोंसे भूमिपर कुछ लिखने लगती है और मलीन वस्त्र धारण कर लेती है। पहले श्रीसत्यभामा जी ने मान किया था तो उनकी भी ऐसी ही दशा थी और ब्रजगोपियों के मान की तो बात ही क्या है? वे तो रस की निधान हैं। यहाँ

श्रीलक्ष्मी जी में तो इसके विपरीत दीखता है, कि उन्होंने अपना सब ऐश्वर्य प्रकटित कर लिया है और सैना ही सजा कर मानो अपने प्रीतम श्रीजगन्नाथ जी पर टूट पड़ी हैं, (यह कैसा मान है ?) ॥१३४-१३७॥

चै० च० चु० *टीका*—परस्पर अनुरागी और एक ही स्थान पर रहने वाले नायक-नायिका के बीच यदि ऐसा कोई भाव आकर उपस्थित हो, कि जिससे वे अपने अभीष्ट आलिङ्गन-दर्शनादि को प्राप्त न कर सकें, उस भाव का नाम **मान** है, (उ० नी० म०—३१)। इस मान में निर्वेद, शङ्का, क्रोध, चपलता, गर्व, असूया, चिन्तादि सञ्चारी-भाव प्रकट होते हैं।

हरिवंश पुराण में श्रीसत्यभामा जी के मान की कथा इस प्रकार वर्णन की गई है कि एक बार श्रीनारद जी ने एक कल्पवृक्ष स्वर्ग से लाकर श्रीकृष्ण भगवान् को द्वारका में दिया। श्रीकृष्ण ने उसे श्रीरुक्मिणी जी को दे दिया। श्रीसत्यभामा जी से श्रीकृष्ण विशेष प्रीति करते थे, किन्तु यह बात जानकर श्रीसत्यभामा जी ने ईर्षा करके भगवान् से मान कर लिया। मानिनी-प्रेयसी श्रीसत्यभामा को रोषवती की भाँति देखकर भगवान् अतिशय भयभीत हुए और धीरे-धीरे उसके मन्दिर में गये, उन्होंने देखा कि वह भूषणादि त्याग कर मैले-कुचैले वस्त्र पहरे हुए, गर्दन झुकाए हुए भूमि पर कुछ लिख रही थीं—इत्यादि। इस प्रकार ईर्षा जनित मान को **ईर्ष्यमान** कहा जाता है। इस मान का कारण नायक का कोई अपराध या अपराधाभास हुआ करता है। सत्यभामा-महिषीवृन्द में तथा चन्द्रावली आदि गोपीवृन्द में इस प्रकार का मान उदय होता है।

इसके अतिरिक्त एक और मान है—उसका नाम है **'प्रणय-मान'**। यह कारण-रहित होता है। इसमें किसी अपराध या अपराधाभास की अपेक्षा नहीं है। प्रीति की अधिकता से यह अपने आप उदय होता है। इस प्रकार का प्रणय-मान केवल श्रीराधाजी या ब्रजदेवियों में ही उदय होता है, इनके सिवा और कहीं भी नहीं होता। कहीं ब्रजदेवियों का मान भी कारण सहित दीखता है, किन्तु वह सहेतुक-मान भी विलक्षण होता है। महिषीवृन्दों के मान का कारण—'दूसरे के सौभाग्य को सहन न कर सकना' है। और ब्रज-गोपियों के मान का कारण—अपने प्रीतम श्रीश्यामसुन्दर के दुख की आशङ्का है। श्रीकृष्ण ने श्रीरुक्मिणी जी का आदर कर उन्हें कल्पवृक्ष दे दिया। श्रीरुक्मिणी जी के इस सौभाग्य को सहन न कर सकने से ईर्षावश श्रीसत्यभामा जी रुष्ट हो गईं और मान कर लिया। इसमें दूसरे के सौभाग्य को न सहकर मान का उदय है।

दूसरी ओर—श्रीवृन्दाबन के कुञ्जों में श्रीराधिका जी श्रीश्यामसुन्दर के आने की प्रतीक्षा कर रही हैं। सखी ने आकर बताया कि श्रीश्यामसुन्दर तो चन्द्रावली जी की वाटिका में चले गये हैं। यह बात सुन कर श्रीराधिका जी मानिनी हो गईं। यहाँ श्रीराधा जी के मान का कारण चन्द्रावली जी के सौभाग्य की ईर्षा नहीं है। उनके मान का कारण यह है कि—"चन्द्रावली श्रीश्यामसुन्दर के मर्म को अच्छी प्रकार नहीं जानती है, इसलिये वह श्रीश्यामसुन्दर को सुखी नहीं कर पाएगी, वरन् अपने सुख के लिये ऐसा व्यवहार उनसे करेगी कि श्रीश्यामसुन्दर दुख पाएँगे "इसी आशङ्का से श्रीप्रियाजी मान करती हैं। श्रीकृष्ण का सुख ही ब्रजगोपियों का एकमात्र लक्ष्य है, जो और कहीं भी नहीं है। इसलिये गोपियों के मान को मधुर-रस का आधार कहा गया है।

इस प्रकार श्रीस्वरूप दामोदर जी ने कहा कि श्रीसत्यभामा के मान में जो भूषणादि के त्यागादि की बातें सुनी जाती हैं अथवा एक साधारण नायिका में भी मान की अवस्था में देखी जाती हैं —वे श्रीलक्ष्मी जी के मान में नहीं दीखतीं वरन् उसके विपरीत ही दीखती हैं, और ब्रजगोपियों के मान

के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है ? वह तो परम विलक्षण है। यहाँ श्रीलक्ष्मीजी तो अपनी सर्व सम्पत्ति एवं दासियों के साथ मानो सैना लेकर चली आई हैं, श्रीजगन्नाथजी के सेवकों को दण्ड दे रही हैं, रथ पर प्रहार कर रही हैं, इनमें क्रोधोचित-विभाव दीखते हैं जो रौद्ररस के परिचायक हैं।

प्रसङ्गवश श्रीस्वरूप दामोदरजी ने जब व्रजगोपियों के मान की विलक्षणता का इशारा दिया तो श्रीमहाप्रभु का मन उसे ही सुनने को उत्सुक हो गया।

प्रभु कहे—कह व्रजमानेर प्रकार। स्वरूप कहे—गोपीमान नदी शतधार ॥१३८॥
नायिकार स्वभाव प्रेमवृत्ति बहुभेद। सेइ भेदे नानाप्रकार मानेर उद्‌भेद ॥१३९॥
सम्यक् गोपीर मान ना याय कथन। एक-दुइ-भेदे करि दिग्‌दरशन ॥१४०॥
माने केहो हय 'धीरा' केहो त 'अधीरा'। एइ तिन भेद-केहो हय 'धीराधीरा' ॥१४१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"स्वरूप! व्रजगोपियों के मान के प्रकार तो कहो।" श्रीस्वरूप ने कहा—"प्रभो! व्रजगोपियों का मान तो शत-शत धाराओं वाली नदी के समान है। नायिकाओं की अर्थात् व्रजगोपियों की भिन्न-भिन्न प्रकृति है, उसी के अनुसार उनके प्रेम की रीति भी भिन्न-भिन्न है। प्रेम की विभिन्न गति के कारण उनके मान के भी कई भेद हैं। इसलिये गोपी-मान का सम्पूर्ण वर्णन तो नहीं हो सकता है, एक-दो भेदों का यहाँ संक्षिप्त वर्णन करता हूँ। व्रज में मानवती गोपियों की तीन अवस्थाएँ हैं, कोई 'धीरा' हैं, कोई 'अधीरा' है और कोई 'धीराधीरा' हैं" ॥१३८—१४१॥

'धीरा' कान्त दूरे देखि करे प्रत्युत्थान। निकटे आसिले करे आसन प्रदान ॥१४२॥
हृदि कोप, मुखे कहे मधुर वचन। प्रिय आलिङ्गिते तारे करे आलिङ्गन ॥१४३॥
सरल व्यवहारे करे मानेर पोषण। किंवा सोलुण्ठ-वाक्ये करे प्रिय निरसन॥१४४॥

जो धीरा-मानवती है, वह कान्त को दूर से आता हुआ देख कर खड़ी हो जाती है। निकट आने पर आदर करते हुए कान्त को बैठने के लिये आसनादि भी प्रदान करती है। हृदय में कुपित रहती है किन्तु बाहर से मीठे वचन कहती है, कान्त उसे जब आलिङ्गन करने लगे तो वह भी उसे आलिङ्गन करती है। इस प्रकार सब व्यवहार करते हुए भी वह हृदय में मान को पोषण करती रहती है, अथवा कभी हँसी-मखौल करते हुए कान्त के वचनों के प्रति उत्तर भी देती है ॥१४२—१४४॥

'अधीरा' निष्ठुर-वाक्ये करये भर्त्सन। कर्णोत्पले ताड़े, करे मालाय बन्धन ॥१४५॥
'धीराधीरा' वक्रवाक्ये करे उपहास। कभु स्तुति कभु निन्दा कभु वा उदास ॥१४६॥
मुग्धा,मध्या, प्रगल्भा,तिन नायिकार भेद। 'मुग्धा'नाहि जाने मानेर वैदग्ध विभेद॥१४७॥
मुख आच्छादिया करे केवल रोदन। कान्तेर विनय-वाक्ये हय परसन्न ॥१४८॥

जो अधीरा-मानवती है, वह निष्ठुर वचनों से कान्त का तिरस्कार करती है। कर्ण भूषण द्वारा उसे ताड़ना करती है और माला द्वारा उसको बांध भी देती है। जो 'धीराधीरा'-मानवती है, वह वक्रोक्ति द्वारा (उलटे-सुलटे वचनों द्वारा) कान्त का उपहास करती है। कभी तो वह कान्त की स्तुति करने लगती है, कभी निन्दा और कभी चुप रहकर अपनी उदासीनता भी दिखाती है। अन्य भाव से विवेचना करने पर देखा जाता है कि नायिका के तीन भेद हैं—'मुग्धा', 'मध्या' एवं प्रगल्भा। मुग्धा-नायिका मान के विषय में विशेष चतुरा नहीं होती। वह मुख को ढक कर केवल रोती रहती है और जब कान्त थोड़े विनय पूर्ण वचन कह दे तो प्रसन्न हो जाती है और मान का त्याग कर देती है ॥१४५—१४८॥

'मध्या' 'प्रगल्भा' धरे धीरादि विभेद । तार मध्ये सभार स्वभाव तिन भेद ॥१४९॥
केहो मुखरा, केहो मृदु, केहो हय समा । स्व-स्व भावे कृष्णेर बाढ़ाय रससीमा॥१५०॥
प्राखर्य्य मार्द्दव साम्य स्वभाव निर्दोष । सेइ सेइ स्वभावे कृष्णे कराय सन्तोष॥१५१॥
ए कथा शुनिया प्रभुर आनन्द अपार । 'कह कह दामोदर'-कहे बार बार ॥१५२॥

मध्या और प्रगल्भा फिर धीरादि के भेद से कई प्रकार की हैं जैसे धीरमध्या, अधीरमध्या, धीराधीरमध्या, धीरप्रगल्भा, अधीर-प्रगल्भा, एवं धीराधीर-प्रगल्भा,—इन समस्त नायिकाओं के (नायक से प्रेम-आदर की प्राप्ति,आधिक्य,समता एवं लघुता के अनुसार फिर तीन भेद हैं । (१)अधिका,(२) **समा** व (३) **लघ्वी** । इस प्रकार पूर्वोक्त धीरमध्या आदि छः प्रकारकी नायिकागण फिर प्रत्येक अधिका, समा व लघ्वी भेद से तीन तीन प्रकार की हैं, यथा धीरमध्या-अधिका, धीरमध्या-समा,धीरमध्या-लघ्वी इत्यादि । उक्त नायिकागणों में प्रत्येक नायिका फिर **प्रखरा, समा** (मध्या) व **मृद्वी** (मृदु) इन तीन प्रकार में विभक्त है । ये सब अपने अपने भाव द्वारा रस की पुष्टि करते हुए श्रीकृष्ण की प्रसन्नता का विधान करती हैं एवं रस की शेष सीमा पर्य्यन्त उसे वर्धित करती हैं । प्रखरता, मृदुता तथा समता इन तीनों गुणों की निर्दोषता के कारण अपने अपने स्वभाव से श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करती हैं अर्थात् व्रजनायिकाओं में अपने सुख का लेश मात्र अनुसन्धान रूप दोष नहीं है, इसलिये उनके प्रखरता मृदुता व समता आदिगुण श्रीकृष्ण की विरक्ति का कारण न होकर वरं वैचित्री द्वारा रस-पुष्टि करके उनके सन्तोष का कारण होते हैं । इस प्रकार नायिकाओं के प्रसङ्ग को सुन कर श्रीमहाप्रभु को अतिशय आनन्द हुआ और बार बार श्रीस्वरूप दामोदर से कहने लगे—"दामोदर ! आगे कहो, कुछ और कहो ।" ॥१४९—१५२ ॥

दामोदर कहे—कृष्ण रसिकशेखर । रस आस्वादक रसमय कलेवर ॥१५३॥
प्रेममय-वपु कृष्ण भक्त प्रेमा धीन । शुद्ध-प्रेमरस-गुणे गोपिका प्रवीण ॥१५४॥
गोपिकार प्रेमे नाहि रसाभासदोष । अतएव कृष्णेर करे परम सन्तोष ॥१५५॥

श्रीस्वरूप दामोदर ने कहा—"श्रीकृष्ण रसिक-शेखर हैं वे रसमय-विग्रह हैं और वे स्वयं ही रस के आस्वादक भी हैं (रसो वै सः) श्रीकृष्ण का विग्रह प्रेममय है अर्थात् प्रेम द्वारा प्रेम ही गठित है । वे भक्त के प्रेम के सदा अधीन रहते हैं । कामगन्ध हीन या स्वसुखवासना-शून्य प्रेमरस के गुण में श्रीव्रज-गोपियां प्रधान हैं । गोपिकाओं के प्रेम में रसाभास दोष नहीं है, अतः वे श्रीकृष्ण को परम सन्तुष्ट करती हैं । १५३—१५५ ॥ (श्रीमद्भागवत जी में भी यही बात कही गई है)—

तथाहि (भाः १०—३३—२६)

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥३॥

जो सत्यकाम हैं, व्रजसुन्दरीगण निरन्तर जिनमें अनुराग करती हैं, जिन्होंने अपने मन में सौरत सम्बन्धीय हाव भावों को अवरुद्ध करके रखा था, उन श्रीकृष्ण ने शरत्काल में जो समस्त काव्य-कथा-रस सम्भव हो सकता है, उस समस्त काव्य-कथा-रस की आश्रय भूता चन्द्रकिरणों से शोभिता उस रात्रियों को सेवन किया अर्थात् काव्यादि में जिस समस्त शृङ्गार-रस केलि की कथा वर्णित है—वह समस्त रस उन सारी रात्रियों में श्रीकृष्ण ने आस्वादन किया ॥ ३ ॥

चै० च० चु० टीका—शरत्कालीन रास–केलि की वैचित्री की कथा वर्णन के पश्चात् रासलीला का उपसंहार करते हुए श्रीशुकदेवजी ने यह श्लोक कहा है। श्रीकृष्ण ने (एवं) इस भाव से अर्थात् ब्रज-गोपियों को आलिङ्गन, चुम्बन करते हुए, उनके साथ नृत्य, जलकेलि, वनविहारादि करते हुए चन्द्र की किरणों से शोभित उन समस्त रात्रियों में समस्त शृङ्गार केलि–रस का आस्वादन किया। शारदीय महा-रास शरत् की पूर्णिमा की एक रात्रि में हुई थी, किन्तु यहां (**निशा:**) बहुवचन कहकर अर्थात् बहुत रात्रियों में उस रस का आस्वादन किया—ऐसा कहा गया है। इसका कारण यह है कि यहां एक शारदीय पूर्णिमा रात्रि को उपलक्ष्य करके प्रति वर्ष की प्रति शारदीय पूर्णिमा रात्रियों की बात कही गई है। श्रीमद्भागवत में शारदीय-पूर्णिमा रात की जो महारास लीला वर्णित है, प्रति वर्ष प्रति शारदीय पूर्णिमा की रात को इसी प्रकार महारास लीला होती थी। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने समस्त शारदीय पूर्णिमा-रात्रियों में रासलीला का आस्वादन किया। अत: यहां रात्रि का बहुवचन प्रयोग किया गया है श्रीकृष्ण **सत्यकाम** हैं। चीरहरण लीला के दिन श्रीकृष्ण ने ब्रजसुन्दरियों को वचन दिया था कि वे उनके साथ रमन करेंगे, उस सङ्कल्प को आपने शारदीय पूर्णिमा में रासलीला के द्वारा पूर्ण किया। श्रीब्रजसुन्दरीगण श्रीकृष्ण में अनुरक्त थीं। उनमें स्वसुख की गंध मात्र भी न थी, उनमें प्राकृत काम-विलास की अभिलाषा न थी, इसी प्रकार श्रीकृष्ण में भी प्राकृत काम रहित शुद्ध प्रीति गोपियों के प्रति थी। अत: श्रीकृष्ण की विलास-वासना के उद्रेक के निमित ब्रजसुन्दरीगण ने जो समस्त हाव-भावादि प्रकाश किये उनको श्रीकृष्णने अङ्गी-कार किया। (**आत्मनि अवरुद्ध सौरत:**) उन समस्त हाव भावों को अपने में स्थापित करके, उनके द्वारा ब्रजसुन्दरियों के प्रति विशेष आकृष्ट होकर परम आसक्ति सहित उनके साथ केलि विलासादि रस का आस्वादन किया। ब्रजसुन्दरियों के वशीभूत होकर श्रीकृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करके परम सन्तोष प्राप्त किया एवं ब्रजगोपियों के प्रेम में रसाभास नहीं है, श्लोक में **'रसाश्रया'** अर्थात् समस्त शृङ्गार रस की आश्रय-भूत शब्द द्वारा प्रमाणित होता है।

'वामा' एक गोपीगण, 'दक्षिणा' एक गण। नाना भावे कराय कृष्णे रस आस्वादन॥१५६॥
गोपीगणमध्ये श्रेष्ठा राधाठाकुराणी। निर्म्मल–उज्ज्वलरस – प्रेमरत्न खनि ॥१५७॥
वयसे 'मध्यमा' तेंहो–स्वभावेते 'समा'। गाढ़ प्रेमभावे तेंहो निरन्तर 'वामा' ॥१५८॥
वाम्य स्वभावे 'मान' उठे निरन्तर। उंहार वाम्ये उठे कृष्णेर आनन्द सागर॥१५९॥

शुद्ध प्रेमरस प्रवीणा जो गोपीगण हैं, उनकी फिर दो श्रेणियां हैं, एक **'वामा'** और दूसरी **'दक्षिणा'**। ये अनेक भावों से श्रीकृष्ण को रसास्वादन कराती हैं। राधिकाजी समस्त गोपसुन्दरियोंमें श्रेष्ठा हैं। विशुद्ध शृङ्गाररस-रूप जो प्रेम-रत्न है, उसकी वह जन्म–स्थान या खान हैं। श्रीराधाजी वयस में किशोर मध्यमा हैं और स्वभाव में समा अर्थात् प्रखरा और मृद्वी की साम्य-अवस्था को प्राप्त हैं। स्वभाव में समा होते हुए भी प्रेम की गाढ़तावश वह सदा वाम-भावापन्न रहती हैं। उसी वाम्य स्वभाव—वश वह निरन्तर मानवती रहती हैं। श्रीकृष्ण में उनकी वाम्यभावापन्न-अवस्था में आनन्द–सागर तरङ्गायित हो उठता है॥ १५६—१५९॥

चै० च० चु० टीका:—जो नायिका मान ग्रहण करने के लिये सर्वदा उद्योगिनी रहती है और उस मान की शिथिलता में जो कुपित होती है, जिसके मान को प्रसादन करने में नायक असमर्थ होता है, जो नायक के प्रति प्राय:कठोर प्रतीयमान होती है-उसे **वामा**-नायिका कहते हैं। वामा-नायिकाओं में श्रीकृष्ण के प्रति मदीयतामय मधुस्नेह रहता है।। मधु जैसे अपने गुण से ही मधुर एवं आस्वाद्य है, तद्रूप जो

स्नेह अपने आप ही मधुर है, जिसके माधुर्य सम्पादन करने के लिये अन्य किसी भाव की अपेक्षा नहीं रहती, उसे 'मधुस्नेह' कहते हैं, मधुस्नेह मदीयता मय होता है, अर्थात् नायक केवल मेरा है, और किसी का नहीं है—इस भाव की प्रबलता रहती है।

जो नायिका मान ग्रहण करने में असमर्थ रहती है और नायक के प्रति युक्तवाक्यों का प्रयोग करती है और नायक के स्तुति करने पर शीघ्र प्रसन्न होजाती है,उसे **'दक्षिणा'-नायिका** कहते हैं। दक्षिणा-नायिका का नायक में तदीयता मय घृतस्नेह होता है। घृत जैसे लवणादि अन्य वस्तु के बिना स्वादिष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जो स्नेह अन्य भाव के बिना मधुर नहीं होता, उसे **घृतस्नेह** कहते हैं। वह तदीयता मय होता है अर्थात् मैं नायक की हूं," इस भाव की प्रबलता उसमें रहती है।

स्वसुख की लेशमात्र भी गन्ध श्रीराधिकाजी के परम विशुद्ध प्रेम में नहीं है, वह मूर्तिमती ह्लादिनी एवं महाभाव—स्वरूपिणी हैं। श्रीकृष्ण में उनका मदीयतामय मधुस्नेह है, जिससे वह निरन्तर मानवती रहती हैं और श्रीकृष्ण में आनन्द सागर को उद्वेलित करती रहती हैं। प्रेम के कुटिल या वाम्य-स्वभाव का प्रमाण देते हैं :—

तथाहि उज्ज्वलनीलमणौ शृङ्गार भेद प्रकरणे (४३)

अहेरिव गतिः प्रेम्नाः स्वभाव कुटिला भवेत् ।
अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति ॥४॥

सर्प की गति की भांति प्रेम की गति भी स्वभावतः कुटिल है, अतः कारण रहने पर एवं कारण न रहने पर भी युवक-युवती में मान उदित होता ही रहता है ॥ ४ ॥

एत शुनि बाढ़े प्रभुर आनन्द—सागर। 'कह कह' बोले प्रभु, कहे दामोदर ॥१६०॥
'अधिरूढ़—'महाभाव' सदा राधार प्रेम। विशुद्ध निर्मल येन दशवाण हेम ॥१६१॥
कृष्णेर दर्शन यदि पाय आचम्बिते। नाना—भाव—विभूषणे हय विभूषिते ॥१६२॥
अष्ट सात्त्विक, हर्षादि व्यभिचारी आर। सहज प्रेम विंशति भाव अलङ्कार ॥१६३॥

श्रीराधाजी के अद्भुत प्रेम की वैशिष्टता सुन कर श्रीमहाप्रभु को अत्यन्त आनन्द हुआ और वे श्रीस्वरूप दामोदर की और आगे कहने का आदेश देने लगे। और श्रीदामोदरजी ने कहा-"राधाजी का प्रेम सदा 'अधिरूढ़—महाभाव' स्वरूप है। वह परम विशुद्ध (काम गन्ध-हीन) एवं निर्मल है, जैसे दश बार अग्नि में तपाया हुआ सोना। श्रीराधाजी में हठात् श्रीकृष्ण दर्शन पाने पर भी स्तम्भादि अष्ट सात्त्विक, हर्षादि सञ्चारी, किलकिञ्चितादि बीस भाव उदय हो आते हैं एवं वे समस्त भावरूप अलङ्कारों से विभूषित होकर अपूर्व शोभा धारण करती हैं ॥१६०—१६३ ॥

किलकिञ्चित, कुट्टमित बिलास, ललित। विवोक,मोटायित,आर मौग्ध्य,चकित॥१६४॥
एत भाव—भूषाय भूषित राधा—अङ्ग। देखिले उछले कृष्णेर सुखाब्धि—तरङ्ग॥१६५॥
'किलकिञ्चित' भाव-भूषार शुन विवरण। ये भूषाय भूषित हरे कृष्ण—मन ॥१६६॥

किलकिञ्चित, कुट्टमित, विलास, ललित, विवोक. मोटायित, ये कई एक भाव हैं जो दश-स्वभाव जात भावों के अन्तर्मुक्त हैं। (जिनका वर्णन पृष्ठ नं० २२६ पर किया जा चुका है।) मौग्ध्य, (अर्थात् प्रियतम के आगे ज्ञान वस्तु के सम्बन्ध में भी अनजानवत् होकर जिज्ञासा करने का नाम **'मौग्ध्य'** है) एवं

चकित, (अर्थात् प्रियतम के आगे निर्भय स्थान पर भी जो भारी भय मानना है—उसे '**चकित**' कहते हैं) इस प्रकार ऊपर कहे गये समस्त भाव रूप अलङ्कारों से श्रीराधाजी के अङ्ग विभूषित रहते हैं। उनकी शोभा देख कर श्रीकृष्ण के सुख-समुद्र में तरङ्गे उठने लगती हैं। (उनमें किलकिञ्चित भाव श्रीकृष्ण को सर्वापेक्षा आनन्दप्रद है। अतः उसकी कुछ विस्तृत विवेचना करते हैं) किलकिञ्चित-भाव रूप भूषण का विवरण सुनिये, कि जिस भाव-भूषण से सुसज्जित होकर श्रीराधाजी श्रीकृष्ण का मन हरण करती हैं।

राधा देखि कृष्ण यदि छुंइते करे मन। दानघाटिपथे यबे वर्ज्जेन गमन ॥१६७॥
यबे आसि माना करे पुष्प उठाइते। सखी–आगे चाहे यदि अङ्गे हस्त दिते॥१६८॥
एइ सब स्थाने 'किलकिञ्चित' उद्‌गम। प्रथमेइ हर्ष सञ्चारी मूल कारण ॥१६९॥

(किस किस स्थल पर साधारणतः श्रीराधाजी में किलकिञ्चित-भाव उदय होता है, उसका वर्णन करते हैं) श्रीराधाजी को देखकर श्रीकृष्ण जब उन्हें छूने की इच्छा या चेष्टा करते है, अथवा दान या कर लेने के मिस पनघट या किसी अन्य मार्ग में श्रीकृष्ण जब श्रीराधाजी को रोकते हैं, अथवा पुष्पोद्यान में श्रीराधाजी को श्रीकृष्ण जब पुष्प तोड़ने या चुनने से रोकते हैं, अथवा सखियों के सामने श्रीराधाजी के किसी अङ्ग में श्रीकृष्ण यदि हाथ लगाना चाहें तो उस समय श्रीराधाजी में किलकिञ्चित—भाव उदय हो आता है। हर्ष नामक-सञ्चारी भाव ही किलकिञ्चित—भाव का मूल कारण है अर्थात् पहले हर्षजनित गर्व, अभिलाष, भय आदि भाव उदय होते हैं फिर किलकिञ्चित-भाव उदय होता है। १६७—१६९ ॥ (उज्ज्वलनीलमणि का प्रमाण उद्‌धृत करते हैं)—

तथाहि उज्ज्वलनीलमणावनुभाव-प्रकरणे (७१)

गर्वाभिलाषरुदितस्मितासूयाभयक्रुधाम् ।
सङ्करीकरणं हर्षादुच्यते किलकिञ्चितम् ॥५॥

हर्षवशतः एवं, अभिलाष, रोदन, ईषद्-हास्य, असूया (द्वेष) भय एवं क्रोध—ये सातों एक ही समय जब उदय होते हैं, उसको 'किलकिञ्चित-भाव' कहा जाता है ॥५॥

आर सात भाव आसि सहजे मिलय। अष्टभाव-सम्मिलने 'महाभाव' हय ॥१७०॥
गर्व, अभिलाष, भय, शुष्क-रुदित। क्रोध–असूया–सह आर मन्दस्मित ॥१७१॥
नाना स्वादु अष्टभावे एकत्र मिलन। याहार आस्वादे तृप्त हय कृष्ण–मन ॥१७२॥
दधि–खण्ड—घृत–मधु–मरिच—कर्पूर। एलाचि-मिलने यैछे 'रसाला' मधुर ॥१७३॥
एइभाव युक्त देखि राधास्य—नयन। सङ्गम हइते सुख पाय कोटि गुण ॥१७४॥

उस हर्ष के साथ में, गर्व, अभिलाषा, भय, शुष्क–रुदित, क्रोध, असूया एवं मन्द मुस्कान—ये सातों भाव सहज में आकर मिल जाते हैं। इन आठों के मिलन को ही किलकिञ्चित-'महाभाव' कहा जाता है। इन आठों का मिश्रण अत्यन्त स्वादिष्ट होता है,जिसका आस्वादन करके श्रीकृष्ण का मन सन्तुष्ट होता है। दधि, चीनी, घी, मधु,मरिच,कर्पूर एवं छोटी इलायची के मिलन से जिस प्रकार 'रसाला' नाम का पदार्थ अत्यन्त मधुर होता है, उसी प्रकार हर्ष गर्वादि आठों भावों के मिश्रण रूप किलकिञ्चित भाव-युक्त श्रीराधाजी के मुखकमल एवं नेत्रों को देख कर श्रीकृष्ण सङ्गम–सुखसे भी कोटिगुण अधिक सुख प्राप्त करते है ॥ १७०—१७४ ॥ (इसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक उद्‌धृत करते हैं)—

तथाहि उज्ज्वलनीलमणावनुभाव प्रकरणे (७३)

अन्तः स्मेरतयोज्ज्वला जलकणव्याकीर्णपक्ष्माङ्कुरा
किञ्चित् पाटलिताञ्चला रसिकतोत्सिक्ता पुरः कुञ्चती ।
रुद्धायाः पथि माधवेन मधुरव्याभुग्नतारोत्तरा
राधायाः किलकिञ्चितस्तवकिनी दृष्टिः श्रियं वः क्रियात् ॥६॥

दानघाटी के पथ में श्रीकृष्ण द्वारा मार्ग रोकने पर श्रीराधाजी की जो दृष्टि उनके आन्तरिक आनन्द जनित मन्दमुस्कान के रूप में उज्ज्वलता को प्राप्त हुई थी, जिस दृष्टि (नेत्रों) के पलकस्मूह अश्रु-कणों द्वारा परिव्याप्त हुए थे, जिस दृष्टि के (नेत्रों के) प्रान्त भागों ने लालिमा धारण की थी, रसिकता के कारण जो दृष्टि (रसास्वादन के लिये) उत्सुकता को प्राप्त हुई थी, श्रीकृष्ण के सामने जो दृष्टि सङ्कुचित हो गई थी, जिस दृष्टि की (नेत्रों की) दोनों पुतलियाँ मधुर भाव से टेढ़ी हो अति अपूर्व सौन्दर्य को धारण कर रही थीं, किलकिञ्चित-भाव रूप पुष्पगुच्छ से परिशोभिता श्रीराधाजी की वही दृष्टि तुम्हारा मङ्गल करे ॥ ६ ॥

चै० च० चु० *टीका*:—एक बार दानघाटी के मार्ग में जब दान लेने के बहाने श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीराधाजी को रोका तो श्रीराधाजी की क्या अवस्था हुई,उसे इस श्लोकमें वर्णन किया गया है। उस समय हर्ष-गर्वादि आठ भावों के उदय होने पर श्रीराधाजी में 'किलकिञ्चित-भाव' का उदय हो आया । उनके केवल नेत्रों की अवस्था देखने मात्र से ही आठों भावों का अस्तित्व जाना जा सकता था, इस श्लोक में यही दिखाया है । श्रीकृष्ण-दर्शन से सर्वप्रथम उनको **हर्ष** हुआ, चित्त के हर्ष से उनके नेत्रों में **मन्दमुस्कान** की उज्ज्वलता आई । फिर उनकी पलकों का अश्रु द्वारा प्ररिव्याप्त होना-**रोदन** मानाहै,नेत्रों के प्रान्त भाग की लालिमा **क्रोध** की सूचना करती है, श्रीराधाजी के नेत्रों में रसास्वादन की जो उत्सुकता हुई वह **अभिलाषा** है । श्रीकृष्ण के आगे जो दृष्टि का सङ्कुचित होना था वह **भय** को प्रकाशित करता है । श्रीराधाजी की नेत्र पुतलियों की वक्रता में **गर्व** एवं **असूया** का परिचय मिलता है । इस प्रकार श्रीराधाजी की दृष्टि किल-किञ्चित-भाव रूप पुष्पगुच्छ द्वारा परिशोभिता होकर श्रीकृष्ण के मन को हरण करती है ।

तथाहि गोविन्दलीलामृते (६—१८)

वाष्पव्याकुलितारुणाञ्चलन्नेत्रं रसोल्लासितं
हेलोल्लासचलाधरं कुटिलितभ्रू युग्ममुद्यत्स्मितम् ।
कान्तायाः किलकिञ्चितमसौवीक्ष्याननं सङ्गमा—
दानन्दं तमवापकोटि गुणितं योऽभून्नगीर्गोचरः ॥७॥

जिस मुख पर, अश्रुओं से परिव्याप्त, अरुण प्रान्त एवं चञ्चल नेत्र युगल विराज रहे हैं, जो (मुख) रस से उल्लसित हो रहा है, जो (मुख) हेला—नामक भाव विशेष के उल्लास में चपल--अधरों की शोभा धारण कर रहा है, जिस पर कुटिल भ्रुकुटि-द्वै सुशोभित हैं एवं जिस पर मन्दहास्य उदित हो रही है, श्रीराधाजी के इस प्रकार किलकिञ्चित-भाव से भूषित मुखकमल को देख कर श्रीश्यामसुन्दर जो आनन्द प्राप्त करते हैं, वह सुख श्रीराधा-सङ्गम-सुख से कोटिगुण अधिक है, और अकथनीय है ॥७॥

(इस श्लोक में भी श्रीराधाजी में किलकिञ्चित-भाव की अवस्था वर्णन की गई है और इस भाव से भूषित श्रीप्रियाजी के दर्शन् करने से श्रीश्यामसुन्दर सङ्गम-सुख से भी कोटिगुणाधिक सुख अनुभव करते हैं ।)

एत शुनि प्रभुर हैला आनन्दित मन । सुखाविष्ट हैया स्वरूपे कैल आलिङ्गन ॥१७५॥
विलासादि-भाव भूषार कह त लक्षण । येइ भावे राधा हरे गोविन्देर मन ॥१७६॥
तबे त स्वरूप गोसाञि कहिते लागिला । शुनि प्रभु भक्तगण महासुख पाइला ॥१७७॥
राधा वसि आछे किवा वृन्दाबने याय । ताहां यदि आचम्बिते कृष्णदर्शन पाय ॥१७८॥
देखितेइ नाना भाव हय विलक्षण । सेइ वैलक्षण्येर नाम 'विलास' भूषण ॥१७६॥

इस प्रकार श्रीस्वरूप दामोदर से किलकिञ्चित-भाव के सम्बन्ध में सुन कर श्रीमहाप्रभु महा आनन्दित हुए और सुखावेश में उन्होंने श्रीस्वरूप को आलिङ्गन किया और कहा—'स्वरूप ! 'विलासादि भाव-रूप भूषणों का लक्षण भी वर्णन करो, जिस भाव के द्वारा श्रीराधाजी श्रीगोविन्द का मन हरण करती हैं।" प्रभु के वचन सुन कर श्रीस्वरूप कहने लगे जिन्हें सुन कर श्रीमहाप्रभु एवं समस्त भक्तों को महा सुख हुआ। ('विलास'-नामक भाव के उदय का स्थल या समय वर्णन करते हैं —) श्रीराधा जी विराजमान हैं अथवा वे श्रीवृन्दाबन में प्रवेश कर रही हैं-ऐसे समय में यदि हठात् उन्हें श्रीकृष्ण दर्शन प्राप्त हों, तो उनमें 'विलास'-नामक भाव उदय हो आता है। दर्शन करते ही उनकी स्वाभाविक अवस्था चेष्टा-गति आदि में जो विलक्षणता आ जाती है—उस विलक्षणता रूप भूषण का नाम 'विलास' है।

तथाहि उज्ज्वलनीलमणावनुभाव प्रकरणे (६७)

गतिस्थानासनादीनां मुख-नेत्रादि-कर्मणाम् ।
तात्कालिकन्तु वैशिष्ट्यं विलासः प्रियसङ्गजम् ॥ ८ ॥

गमन, अवस्थान एवं उपवेशनादि की तथा मुख नयनादि की समस्त चेष्टाओं में प्रिय सङ्ग जनित जो तात्कालिक विलक्षणता उदय होती है, उसे 'विलास' कहते हैं ॥ ८ ॥

लज्जा हर्ष अभिलाष सम्भ्रम वाम्य भय ।
एत भाव मिलि राधाय चञ्चल करय ॥१८० ॥

श्रीकृष्ण के हठात् दर्शन करते ही—लज्जा, हर्ष, अभिलाषा (सङ्ग-इच्छा) सम्भ्रम (अब वे मेरे साथ क्या करेंगे, क्या न करेंगे-इस प्रकार भय-जनित त्वरा) वाम्य एवं भय—ये भाग श्रीराधाजी में उदय होकर उन्हें चञ्चल कर देते हैं ॥ १८० ॥

तथाहि गोविन्दलीलामृते (६—१८)

पुरः कृष्णालोकात् स्थगित—कुटिलास्या गतिरभूत् ।
तिरश्चीनं कृष्णाम्बर—दरवृतं श्रीमुखमपि ।
चलत्तारं स्फारं नयनयुगमाभुग्नमिति सा ।
विलासाख्यस्वालङ्करणवलितासीत् प्रियमुदे ॥६॥

(श्रीराधाजी सखियों के सहित सहज भाव से श्रीवृन्दावन में जा रही हैं कि हठात् उनके सामने श्रीकृष्ण आ गये) श्रीकृष्ण के दर्शन करते ही पहले तो श्रीराधाजी की गति स्थगित हो गई, फिर वह टेढ़ी हो गई, उनका मुखचन्द्र भी टेढ़ा हो गया और उन्होंने उसे अपने नीलाम्बर से थोड़ा ढक लिया,

उनके दोनों नेत्र चञ्चल हो उठे एवं कुछ विस्फाटित व कुछ टेढ़े भी हो गये, श्रीराधाजी इस प्रकार अपने विलास-नामक भाव-भूषण से सज्जित होकर श्रीकृष्ण को आनन्द देने वाली हुई ॥९॥

कृष्ण आगे राधा यदि रहे दाण्डाइया। तिन-अङ्ग-भङ्गे रहे भ्रु नाचाइया ॥१८१॥

मुखे-नेत्रे करे नाना भावेर उद्गार। एइ कान्ताभावेर नाम'ललित'अलङ्कार॥१८२॥

(ललित-नाम का भाव कब उदय होता है—अब उसका वर्णन करते हैं) श्रीराधाजी श्रीश्याम-सुन्दर के सामने यदि खड़ी रहें तो उनमें ललित-नामक भाव उदय हो आता है और उसके लक्षण ये दीखते हैं—श्रीराधाजी के ग्रीवा, चरण एवं कटि ये तीनों अङ्ग टेढ़े हो जाते हैं और उनकी भ्रुकुटि नृत्य करने लगती है, मुख से तथा नेत्रों से नाना भावों को प्रकाशित करने लगती हैं, इन लक्षणों से जाना जाता है कि श्रीराधाजी 'ललित' भाव रूप अलङ्कार से भूषित हो रही हैं ॥ १८१—१८२ ॥

तथाहि उज्ज्वलनीलमणावनुभाव प्रकरणे (७५)

विन्यासभङ्गिरङ्गानां भ्रूविलास-मनोहरा।
सुकुमारा भवेद्यत्र ललितं तदुदाहृतम् ॥१०॥

जिस भाव में अङ्गसमूहों की विन्यास भङ्गी, भ्रूविलास द्वारा मनोहरता एवं सुकुमारता प्रगट होती है, उसे 'ललित' नामक भाव कहते हैं ॥ १० ॥

ललित-भूषित यदि राधा देखे कृष्ण।
दोंहे दोंहा मिलिवारे हय त सतृष्ण ॥१८३॥

इस ललित-नामक भाव से भूषित श्रीराधाजी को यदि श्रीकृष्ण देख लें तो दोनों एक दूसरे को मिलने के लिये उत्कण्ठित हो जाते हैं ॥ १८३ ॥ (ललित-भाव का उदाहरण देते हैं) :—

तथाहि गोविन्दलीलामृते (९—१४)—

ह्रिया-तिर्य्यग्-ग्रीवा-चरण-कटिभङ्गीसुमधुरा
चलल्लिलोवल्लीदलितरतिनाथोर्ज्जितधनुः ।
प्रियप्रेमोल्लासोल्लसितललितालालित तनुः
प्रियप्रीत्यै सासीतुदितललितालङ्कृतियुता ॥११॥

लज्जा के कारण जिनकी ग्रीवा झुक रही है, जिनको चरण-भङ्गी तथा कटिभङ्गी अति मधुर है, अपनी चञ्चल भ्रुकुटि के द्वारा जो कामदेव के प्रभावशाली धनुष को भी पराजित कर रही हैं, एवं श्रीकृष्ण के प्रेमोल्लास में उल्लासिता श्रीललिताजी द्वारा जिनका शरीर लालित है, वह श्रीराधिकाजी श्रीकृष्ण प्रीति के लिये प्रकटित—ललित अलङ्कार युक्त हो रही हैं ॥ ११ ॥ (अगले पयारों में कुट्टमित-नामक भाव के सम्बन्ध में कहते हैं।)

लोभे आसि कृष्ण करे कञ्चुकाकर्षण। अन्तरे उल्लास राधा करे निवारण॥१८४॥

बाहिरे वामता क्रोध, भितरे सुखमन। 'कुट्टमित' नाम एइ भाव विभूषण॥१८५॥

श्रीराधाजी के सङ्ग-लोभ में श्रीकृष्ण आकर जब श्रीराधाजी की कञ्चुकी को खींचते हैं (उस समय श्रीराधाजी में 'कुट्टमित' भाव उदय हो आता है) उस समय श्रीराधाजी को हृदय में अत्यन्त आनन्द

होता है किन्तु (उस आनन्द को बाहर प्रकाशित न करके) वह श्रीकृष्ण को रोकती हैं। बाहर से वह वाम्यभाव एवं क्रोध भी प्रगट करती हैं किन्तु भीतर मन में अतिशय सुख अनुभव करती हैं—ये समस्त लक्षण कुट्टमित-नाम भाव अलङ्कार के हैं ।। १८४—१८५ ।।

तथाहि उज्ज्वलनीलवणावनुभाव प्रकरणे (७३)

स्तनाधरादिग्रहणे हृत्प्रीतावपि सम्भ्रमात् ।
बहिः क्रोधो व्यथितवत् प्रोक्तं कुट्टमितं बुधैः ।।१२।।

(नायक यदि नायिका के) स्तन वा अधरादि ग्रहण करे, तो चित्त में आनन्द अनुभव करते हुए भी नायिका यदि सम्भ्रम—वशतः (सखियों के सामने लज्जावशतः) व्यथित होने का बहाना करती हुई बाहर में (नायक के प्रति) क्रोध प्रकाश करे, तो उस क्रोध को पण्डितगण कुट्टमित—भाव करते हैं।

कृष्णवाञ्छा पूर्ण हय करे पाणिरोध । अन्तरे आनन्द राधा बाहिरे वाम्य क्रोध ।।१८६।।
व्यथा पाञा करे येन शुष्क-रोदन । ईषत् हासिया करे कृष्णके भर्त्सन ।।१८७।।

श्रीराधाजी श्रीकृष्ण के हाथ को रोकती हैं किन्तु इस प्रकार रोकती हैं कि उनकी वाञ्छा भी पूर्ण हो सके (अर्थात् स्तन—अधरादिग्रहण करते समय वह हाथ तो अवश्य रोकती है किन्तु वह ऐसी रीति से रोकती हैं कि वस्तुतः श्रीकृष्ण को कुछ बाधा नहीं होती और वह अपनी अभीष्ट चेष्टा को पूरण कर लेते हैं) भीतर मन में तो श्रीराधाजी आनन्द मानती हैं किन्तु बाहर में विपरीत वाम्य भाव एवं क्रोध को भी प्रगट करती हैं, मानों उनको व्यथा होती है-इसे प्रगट करते हुए वह सूखा—रुदन भी करने लगती हैं और मुस्कराते हुए श्रीकृष्ण का तिरस्कार भी करने लगती हैं। (ये सब कुट्टमित-भाव के लक्षण हैं।)

तथाहि गोस्वामिपादोक्तः श्लोकः—

पाणिरोधमविरोधितवाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः ।
माधवस्य कुरुते करभोरुः हारि शुष्करुदितञ्च मुखेऽपि ।।१३।।

हस्ति-शुण्ड-तुल्य उरुशालिनी श्रीराधा (स्तनाधरादि ग्रहण में) श्रीकृष्ण की वासना के अविरोधी भाव में श्रीकृष्ण के हाथ को रोकती हैं, मधुर मन्द हास्य को छिपा कर श्रीकृष्ण का तिरस्कार भी करती हैं और मुख से श्रीकृष्ण के मन को हरण करने वाला शुष्क रोदन भी करती हैं ।।१३।।

एइमत आर सब भावविभूषण । याहाते भूषित राधा हरे कृष्ण मन ।।१८८ ।।
अनन्त कृष्णेर लीला—ना याय वर्णन । आपने वर्णेन यदि सहस्र बदन ।।१८९।।

श्रीस्वरूपदामोदरजी ने कहा—"इस प्रकार और अनेक भाव रूप अलङ्कार हैं जिनसे विभूषित होकर श्रीराधाजी श्रीश्यामसुन्दर का मन हरण करती हैं। श्रीश्यामसुन्दर अनन्त हैं और उनकी लीलाए भी अनन्त हैं, यदि श्रीअनन्तदेव अपने सहस्र मुखों से भी उनका वर्णन करें तो वे भी उनका पार नहीं पा सकते ।। १८८—१८९ ।।

श्रीनिवास हासि कहे—शुन दामोदर ! । आमार लक्ष्मीर देख सम्पद् विस्तर ।।१९०।।
वृन्दावन-सम्पद् केवल फुल किसलय । गिरिधातु शिखिपिच्छ गुञ्जाफलमय ।।१९१।।

वृन्दाबन देखिवारे गेला जगन्नाथ। शुनि लक्ष्मीदेवी–मने हैल आसोयाथ ॥१६२॥
एत सम्पत्ति छाड़ि केने गेला बृन्दाबन ?। तारे हास्य करिते लक्ष्मी करिला साजन ॥१६३॥

श्रीनिवास (श्रीवास) ने हंस कर कहा—"दामोदर ! सुनिये, हमारी श्रीलक्ष्मीजी की अतुल सम्पत्ति (ऐश्वर्य) को देखिये। (श्रीनिवास पूर्व लीला में श्रीनारद थे, इस लिये ये श्रीलक्ष्मीनारायण के प्रति विशेष प्रीति रखते थे)। श्रीवृन्दावन की सम्पत्ति तो केवल फूल-पत्ता ही हैं, या गिरिमिट्टी, मोर पंख और गुञ्जा फल हैं।—"ऐसे वृन्दावन को श्रीजगन्नाथजी देखने गये हैं"—यह बात सुनकर श्रीलक्ष्मी जी का मन अस्वस्थ अर्थात् दुखित हो जाता है (अपने मुख से कुछ न कह कर, अपनी समस्त सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य को वह आज प्रत्यक्ष दिखा रही हैं)-इतनी भारी सम्पत्ति को छोड़कर श्रीजगन्नाथजी (उस फल पत्र, गिरिमिट्टी, मोर पंख, गुञ्जाफल–मय) वृन्दावन को देखने गये हैं ! इस बात पर उनकी हंसी उड़ाने के लिये श्रीलक्ष्मीजी आज अपनी इस अद्भुत समस्त सम्पत्ति के साथ सज्ज-धज्ज कर बाहर पधारी हैं।।"

"तोमार ठाकुर देख एत सम्पत्ति छाड़ि। पत्र-फुल--फल–लोभे गेला पुष्पबाड़ी ॥१६४॥
एइ कर्म करि कहाय 'विदग्ध शिरोमणि'। लक्ष्मीर अग्रेते निज प्रभु देहि आनि"॥१६५॥
एत बलि महालक्ष्मीर सब दासीगण ! कटिवस्त्रे बान्धि आने प्रभुर परिजन ॥१६६॥
लक्ष्मीर चरणे आनि कराय प्रणति। धनदण्ड लय, आर कराय विनति ॥१६७॥
रथेर उपरे करे दण्डेर ताड़न। चोर प्राय करे जगन्नाथेर भृत्यगण ॥१६८॥

श्रीलक्ष्मीजी की दासीगण श्रीजगन्नाथजी के सेवकों के प्रति कहती हैं—"तुम्हारे ठाकुर (श्री-जगन्नाथजी) देखो इतनी सम्पत्ति को छोड़कर पत्र–फूल–फल के लोभ में पुष्पवाटिका में गये हैं—ऐसे तो उनके कर्म हैं (अर्थात् उन्हें अच्छी व बुरी वस्तु की भी पहचान नहीं है, ऐसी सम्पत्ति ऐश्वर्य को छोड़ कर वे लता-पता—फल फूल देखने जाते हैं) फिर भी वे अपने को विदग्ध शिरोमणि कहलवाते हैं ? अर्थात् वे रसिक शिरोमणि नहीं कहे जा सकते हैं। तुम अपने स्वामी (श्रीजगन्नाथजी) को श्रीलक्ष्मीजी के सामने ले आओ।" इतना कह कर श्रीलक्ष्मीजी की सब दासियों ने श्रीजगन्नाथजी के सेवकों को कमर में वस्त्र डाल कर बान्ध दिया और श्रीलक्ष्मीजी के चरणों में लाकर उनको प्रणाम करा उनसे जुर्माना लिया एवं उनसे विनय-अनुनय कराई। श्रीजगन्नाथजी की रथ पर भी दण्डों से ताड़ना की। उन्होंने श्रीजगन्नाथजी के सेवकों के साथ चोरों जैसा व्यवहार किया" ॥१६४—१६८॥

सब भृत्यगण कहे करि योड़हात—। कालि आनि दिव तोमार आगे जगन्नाथ॥१६९॥
तबे लक्ष्मी शान्त हैया यान निज घर। आमार लक्ष्मीर सम्पद् वाक्य–अगोचर॥२००॥
दुग्ध आउटे दधि मथे तोमार गोपीगणे। आमार ठाकुराणी वैसे रत्न सिंहासने॥२०१॥
नारद प्रकृति श्रीवास करे परिहास। शुनि हासे महाप्रभुर यत निजदास ॥२०२॥

श्रीवास ने फिर कहा—"दामोदर। देखो, सब सेवकगण हाथ जोड़ कर कह रहे हैं कि "कल हम श्रीजगन्नाथजी को आप के सामने पेश कर देंगे।" इतना सुन कर श्रीलक्ष्मीजी शान्त होकर फिर अपने महल में जाएंगी। स्वरूप ! हमारी श्रीलक्ष्मीजी की सम्पद् एवं महिमा अकथनीय है। तुम्हारी गोपीगण तो दूध औटाना ही जानती हैं या दही ही मथती रहती हैं, हमारी ठाकुराणी जो सदा रत्न

सिंहासन पर विराजमान् रहती हैं।'' श्रीवास नारद-प्रकृति हैं न, इस प्रकार परिहास कर रहे थे। उनके वचनों को सुन कर श्रीमहाप्रभु एवं उनके सब भक्तगण हंसने लगे ॥ १९९—२०१ ॥

प्रभु कहे–श्रीवास ! तोमार नारद-स्वभाव । ऐश्वर्य भाय तोमार ईश्वर प्रभाव ॥२०३॥
दामोदर स्वरूप इंहो शुद्ध ब्रजवासी । ऐश्वर्य ना जाने इंहो शुद्धप्रेमे भासि ॥२०४॥
स्वरूप कहेन–श्रीवास ! शुन सावधाने । वृन्दाबन सम्पद् तोमार नाहि पड़े मने॥२०५॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—''श्रीवास ! तुम्हारा श्रीनारद जैसा (ऐश्वर्यात्मक) स्वभाव है। ईश्वर के प्रभाव से तुम्हें ऐश्वर्य ही प्यारा लगता है। यह स्वरूप दामोदर तो शुद्ध ब्रजवासी है। यह ऐश्वर्य को कुछ नहीं जानता है, यह तो शुद्ध प्रेम में मग्न रहता है''। श्रीस्वरूप ने कहा—''श्रीवास ! सावधान होकर सुनो। श्रीवृन्दाबन की सम्पत्ति की तो तुम मन में कल्पना भी नहीं कर सकते'' ॥ २०३—२०५ ॥

वृन्दाबने साहजिक ये सम्पद्सिन्धु । द्वारका-वैकुण्ठ–सम्पद तार एक बिन्दु ॥२०६ ॥
परम पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् । कृष्ण याहां धनी ताहां वृन्दाबन धाम ॥२०७॥
चिन्तामणिमय भूमि, रत्नेर भवन । चिन्तामणिगण दासी चरण भूषण ॥२०८॥
कल्पवृक्षलता याहां साहजिक बन । पुष्पफल बिना केहो ना मागे अन्य धन ॥२०९॥

''श्रीवास ! श्रीवृन्दाबन में जो स्वभावतः सम्पदा का समुद्र प्रवाहित हो रहा है, द्वारका एवं वैकुण्ठ की सम्पदा तो उस के एक बिन्दु के तुल्य ही है। परम पुरुषोत्ताम स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जिसके धनी हैं—श्रीवृन्दावन वह धाम है। श्रीवृन्दाबन की भूमि चिन्तामणिमय है, अर्थात् जो शक्ति चिन्तामणि में होती है—वही शक्ति श्रीवृन्दावन की साधारण भूमि में है। वहां के समस्त गृह–भवन रत्नों से निर्मित हैं। वहां की साधारण दासियों के चरण-नूपुर चिन्तामणियों से बने हुए हैं। वहां के साधारण वृक्ष लताएं ही कल्पवृक्ष हैं। ब्रजवासियों की सम्पत्ति का वर्णन क्या हो सकता है ? वे उन कल्पवृक्षों से पुष्प–फल के अतिरिक्त और कुछ कामना ही नहीं करते। उन्हें किसी धन-सम्पद् की आवश्यकता ही नहीं है।

अनन्त कामधेनु याहां चरे बने बने । दुग्ध मात्र देन, केहो ना मागे अन्य धने ॥२१०॥
सहज–लोकेर कथा याहां दिव्य–गीत । सहजगमन करे नृत्य—परतीत ॥२११॥
सर्वत्र जल याहां अमृत—समान । चिदानन्द ज्योतिः स्वाद्य याहां मूर्त्ति मान्॥२१२॥
लक्ष्मी जिनि गुण याहां लक्ष्मीर समाज । कृष्णवंशी करे याहां प्रिय--सखी--काज॥२१३॥

''कोटि कोटि कामधेनु श्रीवृन्दाबन के बन बन में चरती रहती हैं, ब्रजवासी उनसे केवलमात्र दूध ही लेते हैं, उनसे और कोई वस्तु वे नहीं चाहते (कारण कि श्रीवृन्दाबन में माधुर्य ही प्रधान है। श्रीकृष्ण की सेवा–परिपाटी भी वहां शुद्ध माधुर्यात्मक है। उनकी सेवा ही केवल ब्रजवासियों की अभीष्ट वस्तु है। अतः उसके लिये पत्र-पुष्प, फल, दूध माखन आदि की ही आवश्यकता ब्रजवासियों को रहती है। अतः वे कल्पवृक्षों अथवा कामधेनुओं से इन्हीं सेवा के उपकरणों को ही चाहते हैं और फिर धन–रत्नादि सम्पदा तो उनके पास परिपूर्ण है ही, श्रीवृन्दाबन के लोगों की सहज कथावार्त्ता भी दिव्य गीतों की भांति मधुर है (गीतादि के माधुर्य का तो कहना ही क्या है ?) वहां की सहज चाल ही दिव्य नृत्य के समान है। वहां के सर्व स्थानों का जल अमृत के समान है। (श्रीवृन्दावन में साधारण सूर्य्य एवं चन्द्र नहीं प्रकाशित

होते ।) वहां चिदानन्द ही ज्योति की मूर्त्तिस्वरूप होकर प्रकाशित हो रहा है । श्रीवृन्दावन की रमणीगण इतनी गुणवती हैं कि प्रत्येक रमणी अपने गुणों से श्रीलक्ष्मी को पराजित करने ,वाली है । वहां श्रीकृष्ण की एक बांस की वंशी ही प्रिय सखी का कार्य करती है (अर्थात् श्रीकृष्ण का संदेश ब्रजगोपियों तक उनकी वंशी ही पहुँचा देती है और ब्रजगोपियां उस बंशी के स्वर का अनुकरण करती हुई श्रीश्यामसुन्दर तक पहुँच जाती हैं । एक बाँस को वंशी जब वहां प्रिय सखी का कार्य करती है तो श्रीनिवास ! तुम ही बताओ कि वहां की प्रिय सखियां क्या करती होंगी ?'') ॥ २१०—२१३ ॥

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५—५६)

श्रियः कान्ताः परम-पुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम् ।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ॥१४॥

श्रीवृन्दाबन में जो कृष्णकान्तागण हैं वे समस्त लक्ष्मीरूप हैं, उनके कान्त परमपुरुष श्रीकृष्ण ही हैं । वहां के समस्तवृक्ष कल्पवृक्ष हैं, भूमि चिन्तामणिगणमयी है, जल अमृत है, सहज की कथा-वार्त्ता गान है, सहज गमन ही नृत्य है, बंशी—प्रिय सखी है, चिदानन्द ही परम ज्योतिः स्वरूप चन्द्र सूर्य्य है एवं चिदानन्द ही श्रीवृन्दाबन में आस्वाद्य वस्तु है ॥ १४ ॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे विभावलहर्य्यां (२१—८०)

विल्वमङ्गल वाक्यम् ।—

चिन्तामणिश्चरण-भूषण-मङ्गनानां शृङ्गार-पुष्पतरवस्तरवः सुराणाम् ।
वृन्दावने ब्रजधनं ननु कामधेनु-वृन्दानि चेति सुखसिन्धुरहो विभूतिः ॥१५॥

श्रीवृन्दाबन की अङ्गनाओं के चरण-भूषण (नूपुर) चिन्तामणि मय हैं, उनके शृंगार के काम आने वाले पुष्प-तरु सब कल्पवृक्ष हैं, ब्रजवासियों का धन जो धेनु गण हैं, वे सब कामधेनु हैं, अहो ! इसलिये श्रीवृन्दावन की समस्त विभूति महैश्वर्य सुखसिन्धु के समान है ॥१५॥

शुनि प्रेमावेशे नृत्य करे श्रीनिवास । कक्षतालि—बाजाय, करे अट्टअट्ट हास ॥२१४॥
राधार शुद्ध रस प्रभु आवेशे शुनिल । सेइ रसावेशे प्रभु नृत्य आरम्भिल ॥२१५॥
रसावेशे प्रभुर नृत्य, स्वरूपेर गान । 'बोल बोल' बलि प्रभु पाते निज कान ॥२१६॥
ब्रजरस गीत शुनि प्रेम उथलिल । पुरुषोत्तम ग्राम प्रभु प्रेमे भासाइल ॥२१७॥

श्रीस्वरूप दामोदर के वचन सुन कर श्रीनिवास प्रेमावेश में नृत्य करने लगे और बगल (कांख) बजाने लगे एवं अट्ट-अट्ट हास करने लगे । श्रीराधाजी के शुद्ध प्रेम-रस की कथा को श्रीमहाप्रभु ने प्रेमावेश में सुना और उसी रसावेश में प्रभु ने नृत्य आरम्भ कर दिया । प्रभु तो रसावेश में नृत्य कर रहे थे, श्रीस्वरूप दामोदर गान कर रहे थे । श्रीमहाप्रभु 'बोलो, बोलो' ऐसा कह कर अपने कान उठा रहे थे । ब्रजप्रेम के गीत सुन कर प्रेम उमड़ रहा था और पुरुषोत्तम क्षेत्र को प्रभु ने प्रेम में सराबोर ही कर दिया ।

लक्ष्मीदेवी यथाकाले गेला निज घर। प्रभु नृत्य करे–हैल तृतीय प्रहर ॥२१८॥
चारिसम्प्रदाय गान करि श्रान्त हैल। महाप्रभुर प्रेमावेश द्विगुण बाढ़िल ॥२१९॥
राधाप्रेमावेशे प्रभु हैला सेइ–मूर्त्ति। नित्यानन्द दूरे देखि करिलेन स्तुति ॥२२०॥
नित्यानन्द जानिया प्रभुर भावावेश। निकटे ना आइसे–रहे किछु दूर देश ॥२२१॥

श्रीलक्ष्मीदेवी यथाकाल नीलाचल मन्दिर में पहुँच गईं। श्रीमहाप्रभु नृत्य कर रहे थे और तीसरे प्रहर का समय हो चुका था। चारों मण्डलियाँ कीर्त्तन करते-करते थक चुकी थीं, किन्तु श्रीमहाप्रभु का प्रेमावेश द्विगुण बढ़ रहा था। श्रीराधा-प्रेमावेश में प्रभु श्रीराधा-मूर्त्ति ही हो गये और श्रीनित्यानन्द प्रभु को देख कर स्तुति करने लगे (श्रीनित्यानन्द जी श्रीबलराम स्वरूप हैं अतः श्रीराधा जी का उनको देख कर संकुचित होना स्वाभाविक था। श्रीमहाप्रभु इस समय प्रेमावेश में अपने को श्रीराधा ही मान रहे थे, अतः श्रीनित्यानन्द जी (श्रीबलराम) को देख कर वे संकुचित हो गये और नृत्य बन्द कर उनकी स्तुति करने लगे।) श्रीनित्यानन्द जी भी यह बात जान गये कि प्रभु अब राधा-भावावेशमें हैं, वे भी वहाँ से कुछ दूर चले गये। प्रभु के पास न आए ॥२१८—२२१॥

नित्यानन्द बिना प्रभुके धरे कोन जन। प्रभुर आवेश ना याय, ना रहे कीर्त्तन ॥२२२॥
भङ्गी करि स्वरूप सभार श्रम जानाइल। भक्तगणेर श्रम देखि प्रभुर बाह्य हैल॥२२३॥
सब भक्त लञा प्रभु गेला पुष्पोद्याने। विश्राम करिया कैल माध्याह्निक–स्नाने ॥२२४॥
जगन्नाथेर प्रसाद आइल बहु उपहार। लक्ष्मीर प्रसाद आइल विविध प्रकार ॥२२५॥
सभा लञा नानारङ्गे करिल भोजन। सन्ध्या स्नान करि कैल जगन्नाथ दर्शन ॥२२६॥

श्रीनित्यानन्द जो तो प्रभु से दूर खड़े थे, उनके बिना प्रभु को प्रेमावेश अवस्था में कौन ऐसा व्यक्ति है जो सँभाल सके? इसलिए न तो प्रभु का आवेश शान्त हो रहा था और न ही कीर्त्तन बन्द होता था। श्रीस्वरूप ने इशारा करके प्रभु को सब भक्तों की थकान जनाई। भक्तों को थका हुआ जानकर प्रभु का आवेश उतरा। समस्त भक्तों को साथ लेकर श्रीमहाप्रभु पुष्पोद्यान में आए, थोड़ी देर विश्राम करके प्रभु ने मध्याह्न काल का स्नान किया। उस समय श्रीजगन्नाथ जो का सुन्दराचल से और श्रीलक्ष्मीजी का नीलाचल से अनेक प्रकार का प्रसाद प्रभु के पास आया। प्रभु ने सब भक्तों के साथ प्रेम पूर्वक भोजन किया। फिर सन्ध्याकाल का स्नान करके प्रभु ने श्रीजगन्नाथ जो का दर्शन किया ॥२२२-२२६॥

जगन्नाथ देखि करे नर्त्तन–कीर्त्तन। नरेन्द्रे जलक्रीड़ा करे लैया भक्तगण ॥२२७॥
उद्याने आसिया करेन वन्य–भोजने। एइमत क्रीड़ा प्रभु कैल अष्टदिने ॥२२८॥
आरदिने जगन्नाथेर भितर–विजय। रथे चढ़ि जगन्नाथ चले निजालय ॥२२९॥
पूर्ववत् कैल प्रभु लैया भक्तगण। परम आनन्दे करे कीर्त्तन-नर्त्तन ॥२३०॥

श्रीजगन्नाथ जो के दर्शन करके प्रभु ने वहाँ नृत्य-गान किया। फिर नरेन्द्र सरोवर में आकर भक्तों सहित प्रभु ने जल-क्रीड़ा की। फिर उद्यान में आकर प्रभु ने फल-फूल का भोजन किया। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने आठ दिन तक (तृतीया से दशमी पर्य्यन्त) लीला की। दूसरे दिन श्रीजगन्नाथजी सुन्दराचल से रथ पर चढ़कर नीलाचल अपने मन्दिर में आए। पहले की भाँति प्रभु ने अपने भक्तों सहित रथ के आगे परम आनन्द पूर्वक नृत्य-कीर्त्तन किया ॥२२७—२३०॥

जगन्नाथेर पुन पाण्डुविजय हइल। एकगुटि पट्टडोरी ताहां टूटि गेल ॥२३१॥
पाण्डुविजयेर तुलि फाटि-फूटि याय। जगन्नाथेर भरे तुला उड़िया पलाय ॥२३२॥
कुलीनग्रामी रामानन्द सत्यराजखान। तारे आज्ञा दिल प्रभु करिया सम्मान ॥२३३॥
एइ पट्टडोरीर तुमि हओ यजमान। प्रतिवर्षे आनिवे डोरी करिया निर्म्माण ॥२३४॥

फिर श्रीजगन्नाथ जी की पाण्डु-विजय हुई और उस समय एक रेशमी डोरी जिससे श्रीविग्रह को खींचा और उठाया जा रहा था, वह टूट पड़ी। श्रीजगन्नाथजी के गमन काल में जो रुई के गद्दे थे, वे टूटे-फूटे जा रहे थे और उनके भार से रुई उड़ी जा रही थी। कुलीनग्राम वासी श्रीरामानन्द वसु तथा श्रीसत्यराज खान को श्रीमहाप्रभु ने आदर पूर्वक आज्ञा की कि आप इस डोरी के लिए व्रत धारण करो और प्रति वर्ष श्रीजगन्नाथ जी की सेवा के लिए एक नई रेशमी डोरी बनवा कर लाया करो ॥२३१-२३४॥

एत बलि दिला तारे छिड़ा पट्टडोरी। इहा देखि करिवे डोरी अति दृढ़ करि ॥२३५॥
एइ पट्टडोरीते हय शेषेर अधिष्ठान। दशमूर्त्ति धरि येंह सेवे भगवान् ॥२३६॥
भाग्यवान सत्यराज वसु रामानन्द। सेवा-आज्ञा पाञा हैल परम आनन्द ॥२३७॥
प्रतिवर्ष गुण्डिचाते सब भक्त सङ्गे। पट्टडोरी लञा आसे अति बड़-रङ्गे ॥२३८॥

इतना कह कर प्रभु ने उन्हें उस डोरी का एक टुकड़ा नमूना के लिये दिया कि उसे देख कर वे बहुत ही दृढ़ डोरी बनवा लाया करें। प्रभु ने कहा—"इस डोरी में श्रीशेष जी का अधिष्ठान है, जो दश मूर्त्ति धारण करके श्रीभगवान् की सेवा करते हैं। छत्र, चँवर, पादुका, आसन, शय्या, भवन, उपाधान (सिराहना), वसन, यज्ञोपवीत एवं निवास स्थान—इन दश रूपों से श्रीशेष जी श्रीभगवान् की सेवा करते हैं। श्रीसत्यराज खान एवं श्रीरामानन्द वसु बड़े भाग्यवान् थे, वे प्रभु की आज्ञा पाकर परम आनन्दित हुए। प्रति वर्ष पट्टडोरी साथ लेकर वे समस्त भक्तों के सहित गुण्डिचा में (श्रीजगन्नाथ जी की रथयात्रा काल में) प्रेम पूर्वक आते थे ॥२३५—२३८॥

तबे जगन्नाथ याइ बसिला सिंहासने। महाप्रभु आइला लैया भक्तगणे ॥२३९॥
एइमत भक्तगणे यात्रा देखाइल। भक्तगण लैया वृन्दाबन केलि कैल ॥२४०॥
चैतन्यप्रभुर लीला अनन्त अपार। सहस्रबदने यार नाहि पाय पार ॥२४१॥
श्रीरूप रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२४२॥

फिर श्रीजगन्नाथ जी अपने सिंहासन पर आकर विराजमान हुए, श्रीमहाप्रभु अपने भक्तों सहित अपने निवास स्थान पर लौट आए। इस प्रकार श्रीप्रभु ने उन्हें श्रीवृन्दाबन-विहार के लक्ष्य से होने वाली रथयात्रा के दर्शन कराये। श्रीचैतन्यदेव की अनन्त एवं अपार लीलाएँ हैं। श्रीशेष जी अपने सहस्र मुखों से भी उनका गान करके पार नहीं पा सकते। श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथ गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥२३९—२४२॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायाँ होरापञ्चमी यात्रादर्शनं नाम
चतुर्दश परिच्छेदः ॥१४॥

जयगौर

मध्य-लीला

पञ्चदश परिच्छेद

★

सार्वभौमगृहे भुञ्जन् स्वनिन्दकममोघकम् ।
अङ्गीकुर्वन् स्फुटां चक्रे गौरः स्वां भक्तवश्यताम् ॥ १ ॥

(जिन) श्रीगौरचन्द्र ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर में भोजन करके अपनी निन्दा करने वाले अमोघ को अङ्गीकार करते हुए स्पष्ट रूप से अपनी भक्तवश्यता को प्रगट किया था, (मैं उनकी वन्दना करता हूँ) ॥ १ ॥

[इस पञ्चदश परिच्छेद में श्रीअद्वैताचार्यजी ने जिस प्रकार श्रीमहाप्रभुजी का तथा श्रीमहाप्रभु ने जैसे श्रीअद्वैताचार्य प्रभु का पूजन किया, श्रीकृष्ण जन्मोत्सव-लीला, अलक्षित भाव से श्रीशचीमाता के घर में प्रभु का भोजन, गौड़ीय भक्तों के गुणकीर्त्तन करते हुए उनका विदा होना, श्रीसार्वभौम के घर भोजन, तथा अमोघ के उद्धार की कथा वर्णन की गई है ।]

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जय अद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
जय श्रीचैतन्यचरित--श्रोता भक्तगण । चैतन्यचरितामृत यार प्राणधन ॥२॥
एइमत महाप्रभु भक्तगण—सङ्गे । नीलाचले रहि करे नृत्यगीत रङ्गे ॥३॥
प्रथमावसरे जगन्नाथ दरशन । नृत्य गीत दण्डवत् प्रणाम स्तवन ॥४॥
उपल लागिले करे बाहिरे विजय । हरिदास मिलि आइसे आपन निलय ॥५॥

श्रीचैतन्य महाप्रभु जी की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो । श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु की जय हो, श्रीगौरभक्त-वृन्द की जय हो । श्रीश्रीचैतन्य-चरित के श्रोता भक्तगण जिनको श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत प्राणों के समान प्रिय है, उनकी जय हो । इस प्रकार श्रीमहाप्रभु अपने भक्तों सहित नृत्य-गीत का रसास्वादन करते हुए नीलाचल वास कर रहे थे, वे सवेरे श्रीजगन्नाथजी की मङ्गल आरती के दर्शन करते एवं नृत्य गीत दण्डवत् प्रणाम तथा स्तुति करते । फिर उपल-भोग अर्थात् प्रातः कालीन भोग के दर्शन करके प्रभु मन्दिर से बाहर आते और फिर श्रीहरिदास को मिल कर अपने निवास स्थान पर लौट आते ॥ १—५ ॥

घरे आसि करे कभु नामसङ्कीर्त्तन। अद्वैत आसिया करे प्रभुर पूजन ॥६॥
सुगन्धि सलिले देन पाद्य—आचमन। सर्वाङ्गे लेपये प्रभुर सुगन्धि-चन्दन ॥७॥
गले माला देय, माथाय तुलसीमञ्जरी। योड़हस्ते स्तुति करे पदे नमस्करि ॥८॥
पूजापात्रे पुष्प-तुलसी शेष ये आछिल। सेइ सब लञा प्रभु आचार्ये पूजिल ॥९॥
'योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते' एइमन्त्र पढ़े। मुखवाद्य करि प्रभु हासे आचार्येरे ॥१०॥

इस प्रकार मन्दिर से लौट कर प्रभु एक दिन नाम—सङ्कीर्त्तन कर रहे थे कि श्रीअद्वैतचार्य जी आकर प्रभु का पूजन करने लगे। सुगन्धित जल से प्रभु के चरण पखार कर उन्हें आचमन कराया, फिर श्रीअद्वैतप्रभु ने श्रीमहाप्रभु के सर्वाङ्ग पर कर्पूर-मिश्रित चन्दन का लेप किया। उनके गले में पुष्प माला धारण कराई एवं प्रभु के सिर पर तुलसी मञ्जरी चढ़ाई (क्योंकि श्रीमहाप्रभु भक्त-भाव से अवतीर्ण हुए। अत: आचार्यपाद ने तुलसी मस्तक पर ही चढ़ाई) फिर हाथ जोड़ कर स्तुति करते हुए प्रभु को नमस्कार किया। प्रभु के पूजन करने के बाद पूजा-पात्र में जो पुष्प—तुलसी बच गये उन्हें प्रभु ने ले लिया और उनसे श्रीअद्वैतप्रभु का पूजन करने लगे। प्रभु ने "योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते" आप जो हो, सो हो—आपको मेरा नमस्कार है, यह मन्त्र पढ़ कर प्रभु ने मुख से "बोम्-बोम् शब्द किया और श्रीअद्वैत को देखकर प्रभु हंसने लगे ॥ ६—१० ॥

चै० च०चु० *टीका*—प्रभु ने **योऽसि सोऽसि** इत्यादि मन्त्र पढ़ा, इससे उनका अभिप्राय यह था कि आपका तत्त्व दुर्ज्ञेय है। वैसे तो यह पाद एक शिवमन्त्र का अंश विशेष है, श्रीअद्वैताचार्य जी भी सदाशिव—तत्त्व होने से प्रभु ने शिव मन्त्र से उनकी पूजा की। तन्त्रोक्त सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—
"राधे कृष्ण रमे विष्णो सीते राम शिवे शिव, यासि सासि नमो नित्यं योऽसि सोऽसि नमोस्तु ते।।"

एइमत अन्योन्ये करेन नमस्कार। प्रभुके निमन्त्रण आचार्य करे बारबार॥११॥
आचार्येरनिमन्त्रण आश्चर्य-कथन। विस्तार वर्णियाछेन दास-वृन्दाबन ॥१२॥
पुनरुक्तिभये ताहा ना कैल वर्णन। आर भक्तगण प्रभुके करे निमन्त्रण ॥१३॥
एकेक दिन एकेक भक्त गृहे महोत्सव। प्रभु सङ्गे ताहां भोजन करे भक्त सब ॥१४॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु एवं श्रीअद्वैताचार्य एक दूसरे को नमस्कार करते थे, श्रीआचार्य बार बार श्रीमहाप्रभु को अपने यहां भोजन के लिये निमन्त्रण देते थे। श्रीआचार्य के निमन्त्रण का प्रसङ्ग भी अपूर्व होता था, जिसे श्रीचैतन्यभागवत में श्रीवृन्दाबनदास जी ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। पुनरुक्ति दोष के भय से उसे हम यहां वर्णन नहीं करते हैं। अन्यान्य भक्त भी श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रण देते, एक एक दिन एक एक भक्त के घर में महोत्सव होता था। प्रभु के साथ और सब भक्त भी भोजन करते।

चै० च० चु० *टीका*—श्रीचैतन्य भागवत, अन्त्यलीला नवम अध्याय में श्रीअद्वैतप्रभु के निमन्त्रण की कथा इस प्रकार है कि एक दिन श्रीअद्वैत श्रीमहाप्रभु को भोजन का नितन्त्रण दे आए और अपने स्थान पर आकर स्वयं ही रसोई बनाने लगे। उनकी गृहिणी सङ्ग सङ्ग रसोई की जोगाड़ करने लगी। दोनों परमानन्दित हो रहे थे और प्रभु के मन-भावते पदार्थ बनाने में लग रहे थे। पाक करते समय श्रीअद्वैत सोचते लगे—"प्रभु के साथ उनके अन्तरङ्ग सब संन्यासीगण भी सर्वदा आते हैं, उनके साथ रहने पर प्रभु अच्छी प्रकार भोजन नहीं कर सकते। आज जो पदार्थ हम बना रहे हैं—महाप्रभु ही अकेले आकर इन्हें पावें तो हमारी मनोकामना पूर्ण हो। उनके साथ और संन्यासी न आवें तो अच्छा हो—"

यही बात श्रीअद्वैत सोचते जा रहे थे और रसोई भी बना रहे थे। इधर मध्याह्न काल हुआ और प्रभु एवं उनके सब संन्यासी साथी स्नानादि करने के लिये गये। इतने में अचानक उसी समय बड़ी भारी ओलों सहित वृष्टि होने लगी। इतनी वृष्टि हुई कि कौन कहां अपने प्राण बचाने के लिये भागा दौड़ा, कुछ पता न चला। आश्चर्य यह कि सर्वत्र महावृष्टि हो रही थी किन्तु श्रीअद्वैत के निवास स्थान पर साधारण बून्दा–बान्दी ही थी। श्रीअद्वैत प्रभु ने रसोई बना लेने के बाद भोग सजाया और तुलसी मञ्जरी देकर प्रभु का ध्यान करने लगे और यह भी इच्छा जना रहे थे कि प्रभु अकेले ही पधारें। वस्तुतः श्रीमहाप्रभु उसी समय अकेले ही "हरे कृष्ण–हरे कृष्ण" उच्चारण करते हुए श्रीअद्वैताचार्य के घर आ पहुँचे। सङ्गीय संन्यासीगण महान वृष्टि के कारण कहां चले गये कुछ पता न लग सका। श्रीमहाप्रभु को अकेला आया देख कर श्रीअद्वैत आनन्द से फूले न समाये और प्रभु को अपने हाथ से परिवेशन करके इच्छानुरूप भाव से भोजन कराया॥

केहो घर भात करे—केहो प्रसादान्न। एइमत वैष्णवगण करे निमन्त्रण॥१५॥
चारिमास रहिला सभे महाप्रभु सङ्गे। जगन्नाथेर नाना यात्रा देखे महारङ्गे॥१६॥
एइमत नानारङ्ग चातुर्मास्य गेला। कृष्णजन्मयात्राय प्रभु गोपवेश हैला॥१७॥
कृष्णजन्मयात्रा दिने नन्द—महोत्सव। गोपवेश हैला प्रभु लैया भक्त सब॥१८॥
दधि–दुग्ध–भार सभे निजस्कन्धे करि। महोत्सवेर स्थाने आइला बलि'हरि हरि'॥१९॥

श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रण करने वाला कोई वैष्णव तो अपने घर प्रभु के लिये चावल (भात) तैयार करता और कोई श्रीजगन्नाथ जी का प्रसादान्न ही लाकर प्रभु को भोजन कराता—"इस प्रकार सब वैष्णवगण प्रभु को भोजन कराते। समस्त वैष्णवगण रथ–यात्रा के पश्चात् चार मास तक श्रीमहाप्रभु के साथ रहे और श्रीजगन्नाथ जी के अनेक महोत्सव प्रेम-पूर्वक देखे। इस प्रकार चातुर्मास्य (वर्षा के चार मास) अनेक लीलाओं में निकल गये। श्रीकृष्ण–जन्माष्टमी जब आई तो श्रीमहाप्रभु ने गोपवेश धारण किया। जन्माष्टमी के दूसरे दिन नन्द–महोत्सव मनाया गया, प्रभु ने सब भक्तों को लेकर गोपवेश सजाया दधि–दूध के भरे हुए बरतन अपने कन्धों पर लाद लाद कर अब भक्त महोत्सव के स्थान पर "हरि-हरि" बोलते हुए पहुँचे॥ १५—१९॥

कानाञि खूटिया आछे नन्दवेश धरि। जगन्नाथ माहिती हइयाछे ब्रजेश्वरी॥२०॥
आपने प्रतापरुद्र आर मिश्र काशी। सार्वभौम आर पड़िछापात्र तुलसी॥२१॥
इहा सभा लैया प्रभु करे नृत्य रङ्ग। दधि–दुग्ध–हरिद्राजले भरे सभारे अङ्ग॥२२॥

श्रीकानाई खूटियाने श्रीनन्दबाबा का वेश बनाया और श्रीजगन्नाथ–माहिती ने माता यशोदा जी का शृंगार धारण किया। श्रीमहाप्रभु राजा प्रतापरुद्र, श्रीकाशी मिश्र,श्रीसार्वभौम एवं तुलसी पड़िछा को साथ लेकर नृत्य–गान करने लगे और दधि, दुग्ध एवं हल्दी और जल का मिश्रण सब के अङ्गों पर मलने लगे॥ २०—२२॥

अद्वैत कहे—सत्य कहि, ना करह कोप। लगुड़ फिराइते पार, तबे जानि गोप॥२३॥
तबे लगुड़ लैया प्रभु फिराइते लागिला। बार बार आकाशे फेलि लुफिया धरिला॥२४॥
शिरेर उपरे पृष्ठे सन्मुखे दुइपाशे। पादमध्ये फिराय लगुड़, देखि लोक हासे॥२५॥
अलातचक्रेर प्राय लगुड़ फिराय। देखि सब लोक चित्ते चमत्कार पाय॥२६॥

श्रीअद्वैतप्रभु ने श्रीमहाप्रभु से कहा—"मैं आप से एक सच्ची बात कहता हूँ यदि आप क्रोधित न हों। आप यदि गोपों की भांति लाठी घुमा कर दिखावें तभी हम आपको सच्चा गोप मानेंगे (केवल गोपवेश धारण करने से गोप थोड़े ही हो जाओगे।") इतना सुन कर प्रभु ने लाठी हाथ में ली और घुमाने लगे। बार बार प्रभु लाठी को आकाश में फेंकते और फिर उसे उछल कर पकड़ लेते। अपने सिर के ऊपर, पीठ पीछे, आगे और दोनों बगल, पांव के बीच इस प्रकार अनेक करतब करते हुए प्रभु लाठी घुमाने लगे। प्रभु की यह लीला देख कर सब लोग हंसने लगे। प्रभु उस लाठी को आलात चक्र की भांति गोल फिराने लगे, जिसे देख कर सब लोग चमत्कृत हो उठे॥ २३—२६॥

एइमत नित्यानन्द फिराय लगुड़। के जानिवे तांहा दोंहार गोपभाव गूढ़ ॥२७॥
प्रतापरुद्रेर आज्ञाय पड़िछा तुलसी। जगन्नाथेर प्रसादवस्त्र एक लञा आसि ॥२८॥
बहुमूल्य वस्त्र प्रभुर मस्तके बान्धिल। आचार्यादि प्रभुर सब गणे पराइल ॥२९॥
कानाञि खुंटिया जगन्नाथ दुइजन। आवेशे विलाइल घरे छिल यत धन ॥३०॥
देखि महाप्रभु बड़ सन्तोष पाइल। पितामाता–ज्ञाने दोंहाय नमस्कार कैल ॥३१॥
परम आवेशे प्रभु आइला निज घर। एइमत लीला करे गौराङ्ग—सुन्दर ॥३२॥

श्रीमहाप्रभु की भाँति श्रीनित्यानन्द प्रभु ने भी लाठी घुमाई। इन दोनों के गूढ़-गोपवेश (श्रीकृष्ण-बलराम वेष) को सहज में कौन जान सकता था? (इस लीला से उनका गूढ़-गोपवेश व्यक्त हो गया)। राजा प्रतापरुद्र की आज्ञा से श्रीतुलसी पड़िछा श्रीजगन्नाथ जी का एक प्रसादी वस्त्र ले आया। वह बहुमूल्य वस्त्र उसने प्रभु के मस्तक पर बाँध दिया और आचार्यादि गौर-भक्तों को भी उसने अनेक प्रसादी वस्त्र धारण कराये। श्रीकानाई खूटिया एवं श्रीजगन्नाथ माहिती जिन्होंने श्रीनन्द-यशोदा जी का वेश धारण किया था, उन्होंने प्रेमावेश में अपने घरों की सब सम्पत्ति सचमुच लुटा दी। श्रीमहाप्रभु ने उनकी भावना देख कर सन्तोष लाभ किया और उन्हें पिता-माता जान कर प्रणाम किया। परम आवेश में प्रभु फिर अपने निवास स्थान पर लौट आए। इस प्रकार श्रीगौराङ्ग प्रभु अनेक लीलाएँ करते हैं॥२७—३२॥

विजयादशमी लङ्का विजयेर दिने। बानर सैन्य हय प्रभु लैया भक्तगणे ॥३३॥
हनुमानवेशे प्रभु वृक्षशाखा लैया। लंकार गड़े चढ़ि फेले गड़ भाङ्गिया ॥३४॥
'काहां रे रावणा'! प्रभु कहे क्रोधावेशे। 'जगन्माता हरे पापी' मारिमु सवंशे॥३५॥
गोसाञिर आवेश देखि लोक चमत्कार। सर्वलोक 'जय-जय' बोले बार-बार ॥३६॥

लङ्का-विजय के दिन विजयदशमी पर श्रीमहाप्रभु ने बानर सेना को सजाया। श्रीमहाप्रभु ने श्रीहनुमान जी के आवेश में एक वृक्ष की शाखा ले ली और लङ्का के भाव में प्राची (दीवार) पर चढ़ गये और उसे तोड़-फोड़ कर गिराने लगे। क्रोधावेश में प्रभु कहने लगे—"अरे रावण कहाँ है? पापी! जगन्माता श्रीजानकी जी को हर ले गया है, आज तुझे वंश के सहित मैं मार डालूँगा।" श्रीमहाप्रभु के आवेश को देख कर सब लोगों को चमत्कार हुआ और वे बार बार जय ध्वनि करने लगे॥३३–३६॥

एइमत रासयात्रा आर दीपावली। उत्थान द्वादशीयात्रा देखिल सकलि ॥३७॥
एकदिन महाप्रभु नित्यानन्द लैया। दुइ भाइ युक्ति कैल निभृते वसिया ॥३८॥

किवा युक्ति कैल दोंहे, केहो नाहि जाने । फले अनुमान पाछे कैल भक्तगणे ॥३९॥
तबे महाप्रभु सब भक्त बोलाइल । 'गौड़देशे याह सभे' विदाय करिल ॥४०॥

इसी प्रकार रासलीलोत्सव और दीपावली एवं उत्थान-द्वादशी आदि सब उत्सवों के दर्शन श्रीमहाप्रभु ने अपने भक्तों सहित किये। एक दिन श्रीमहाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु दोनों भाईयों ने एकान्त में बैठ कर कुछ परामर्श किया। उन्होंने क्या परामर्श किया ? इस बात को उस समय कोई भी न जान सका, उस गोपन परामर्श का फल देख कर सब भक्त पीछे अवश्य जान गये कि दोनों भाईयों ने यही सोचा था (कि गौड़-देश में कैसे भक्ति धर्म का प्रचार हो—इसके सम्बन्ध में उन्होंने गुप्त परामर्श किया था ऐसा अगले पयारों से ज्ञात होता है) फिर श्रीमहाप्रभु जी ने सब भक्तों को बुलाया और उन्हें गौड़ देश को लौट जाने के लिये विदा दी ॥ ३७—४० ॥

सभारे कहिल प्रभु—प्रत्यब्द आसिया । गुण्डिचा देखिया यावे आमारे मिलिया ॥४१॥
आचार्येर आज्ञा दिला करिया सम्मान । आचाण्डालादि करिह कृष्णभक्ति दान ॥४२॥
नित्यानन्दे आज्ञा दिल—याह गौड़देशे । अनर्गल प्रेमभक्ति करिह प्रकाशे ॥४३॥
रामदास–गदाधर आदि कथोजने । तोमार सहाय लागि दिल तोमा सने ॥४४॥
मध्ये मध्ये आमि तोमार निकटे याइब । अलक्षिते रहि तोमार नृत्य देखिब ॥४५॥

श्रीमहाप्रभु ने सब भक्तों से कहा—"आप लोग प्रति वर्ष श्रीजगन्नाथ—रथ यात्रोत्सव पर आया करिये और मुझे भी मिल जाया करिये।" श्रीअद्वैत प्रभु का बहुत सन्मान करते हुए प्रभु ने आज्ञा की कि "आप जाति–वर्ण का कुछ भी विचार न करके चण्डाल से लेकर ब्राह्मण पर्यन्त श्रीकृष्ण-भक्ति का दान दीजिये।" प्रभु ने श्रीनित्यानन्द जी को आज्ञा दी कि "आप भी गौड़ देश को जाइये और विघ्नशून्य—(अधिकारी, अनधिकारी, जाति–वर्ण का कुछ भी विचार न करके) प्रेमभक्ति का प्रकाश करिये। रामदास, गदाधर, आदि कुछ एक भक्त भी आपके साथ भेजता हूँ जो आपकी सहायता करेंगे। और नित्यानन्द ! मैं भी बीच बीच में आपके पास अलक्षित-भाव से आता रहूंगा और आपका नृत्य देख जाया करूंगा॥४१-४५॥

श्रीवास पण्डिते प्रभु करि आलिङ्गन । कण्ठे धरि कहे तांरे मधुर वचन—॥४६॥
तोमार गृहे कीर्त्तने आमि नित्य नाचिब । तुमि देखा पावे, आर केहो ना देखिब ॥४७॥
एइ वस्त्र माताके दिह ए सब प्रसाद। दण्डवत् करि आमार क्षमाइह अपराध ॥४८॥
तांरे सेवा छाड़ि आमि करियाछि संन्यास । धर्म नहे, कैल आमि निजधर्म नाश ॥४९॥

श्रीवास पण्डित को प्रभु ने आलिंगन किया एवं उसके गले में भुजा डाल कर मधुर वचन कहने लगे—"श्रीवास ! मैं तुम्हारे घर सङ्कीर्त्तन में भी नित्य आकर नृत्य करूंगा, केवल तुम ही (मेरी कृपा से) मुझे देख पाओगे, और कोई भी मुझे नहीं देख सकेगा। इतना कह कर प्रभु ने एक वस्त्र और श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद श्रीवास के हाथ में दिया और कहा— "श्रीवास ! ये सब मेरी माता जी को दे देना और उन्हें दण्डवत् प्रणाम करके मेरी ओर से अपराध की क्षमा मांगना। मैंने उनकी सेवा त्याग कर संन्यास ग्रहण किया (उनके प्रति यह मेरा अपराध है) मैं समझता हूँ मैंने संन्यास धारण कर कोई धर्म या शुभ कार्य नहीं किया है बल्कि अपने धर्म का नाश किया है ॥ ४६—४९ ॥

तांर प्रेमवश आमि, तांर सेवा धर्म । ताहा छाड़ि करियाछि बातुलेर कर्म ॥५०॥
वातुल—बालकेर माता नाहि लय दोष । एत जानि माता मोरे मानिवे सन्तोष॥५१॥
कि कार्य संन्यासे मोर प्रेम निजधन । ये काले संन्यास कैल, छन्न हैल मन ॥५२॥
नीलाचले आछों मुञि तांहार आज्ञाते । मध्ये मध्ये आसिमु तांर चरण देखिते ॥५३॥

प्रभु ने फिर कहा—"मैं उनके प्रेम के वशीभूत हूँ । उनकी सेवा करना ही मेरा धर्म है। मैंने उसे त्याग कर बावरों का सा कर्म किया है । पगले बालक के दोष को किन्तु माता मन में नहीं रखती—ऐसा ही जानकर, श्रीवास ! माता मुझे क्षमा करेंगी और मुझ पर प्रसन्न रहें—ऐसा तुम जाकर उन्हें कहना । मेरा संन्यास से क्या प्रयोजन था ? मेरी धन-सम्पत्ति तो श्रीकृष्ण प्रेम ही है । जिस समय मैंने संन्यास ग्रहण किया था, उस समय मेरा मन छिन्न-भिन्न हो गया । श्रीवास ! शची माता से कहना कि मैं उनकी आज्ञा से नीलाचल वास कर रहा हूँ, बीच बीच में उनके चरण—दर्शन करने भी मैं आता रहता हूं ।"

चै० च० चु० *टीका*:—ऊपर के पयारों में श्रीमहाप्रभु जी ने कहा है कि संन्यास से उनका क्या प्रयोजन था उनका धन-सम्पत्ति तो श्रीकृष्ण प्रेम है-इस वचन से दो प्रकार के अर्थ निकलते हैं—पहला बहिरङ्ग अर्थ । दूसरा—अन्तरङ्ग अर्थ । **बहिरङ्ग** अर्थ इस प्रकार है कि—श्रीमहाप्रभु जी ने बताया कि श्रीकृष्ण प्रेम-प्राप्ति के लिये संन्यास की आवश्यकता नहीं थी, वह तो केवल कृष्ण-भजन द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । अतः संन्यास से मेरा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ । दूसरा-अन्तरङ्ग-अर्थ यह निकलता है कि "संन्यास से मेरी अपनी क्या स्वार्थ सिद्धि थी, केवल उसे तो मैंने जगत्-जीवों के लिये विशेषतः निन्दक पुरुषों के हित के लिये धारण किया था (कि वे मेरे इस भेष को देख कर मुझे प्रणाम कर समस्त अपराधों से मुक्त हो जाएंगे) मेरा अन्तरङ्ग अभीष्ट तो श्रीकृष्ण-माधुर्य आस्वादन करना है । संन्यास से मेरा कुछ भी प्रयोजन न था । प्रभु ने यह भी कहा है कि "जिस समय उन्होंने संन्यास लिया उस समय उनका मन छिन्न-भिन्न हो रहा था"—इस वाक्य से भी प्रभु के दो अभिप्राय हैं । एक तो यह कि जिस समय उन्होंने संन्यास ग्रहण किया, उस समय वे अच्छा-बुरा कुछ न विचार सके । यह **बहिरङ्ग-अर्थ** है । **अन्तरङ्ग-अर्थ** यह है-प्रभु ने कहा—"जिस समय मैंने संन्यास ग्रहण किया, उस समय मेरा मन जीवों के उद्धार करने में आविष्ट था, अपने अन्तरङ्ग-अभीष्ट की ओर न था । इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने माता जी के प्रति आश्वासन दिला भेजा ।

नित्य याइ देखि मुइ तांहार चरणे । स्फूर्त्तिज्ञाने तेंहो ताहा सत्य नाहि माने ॥५४॥
एक दिन शाल्यन्न व्यञ्जन पांच-सात । शाक मोचाघण्ट भृष्ट पटोल निम्बपात॥५५॥
लेबु आदाखण्ड दधि दुग्ध खण्डसार । शालग्रामे समर्पिल बहु उपहार ॥५६॥
प्रसाद लइया कोले करेन क्रन्दन । निमाञि र प्रिय मोर ए सब व्यञ्जन ॥५७॥
निमाञि नाहिक घरे, के करे भोजन ? । मोर ध्याने अश्रुजले भरिल नयन ॥५८॥

प्रभु ने कहा—"वैसे तो मैं नित्य जाकर माता के चरण-दर्शन करता हूँ, किन्तु माता उसे मेरी स्फूर्ति जान लेती हैं, मेरे आने को सत्य नहीं मानतीं । श्रीवास ! एक दिन तो ऐसा हुआ कि माता ने शाल्यन्न, साग, मोचारघण्ट (बंगाली मिठाई) पटल-साग, नीम के पत्तों का साग, नीबू, अद्रक, दूध, दही एवं खण्ड-सार—ये सब पदार्थ तैयार किये और अपने शालग्राम जी के आगे भोग धर दिये । जब फिर प्रसाद लेने को मन्दिर के भातर जाने का समय हुआ तो माता रोने लगीं और वह कहने लगीं—"ये सब

पदार्थ तो मेरे निमाई को बहुत प्रिय थे, (निमाई घर पर होता तो आज वह इनको बड़े प्रेम से पाता) हाय ! हाय !) वह तो घर छोड़ कर चला गया है, कौन इसे खाएगा ?" इस प्रकार बस मेरे ही ध्यान में वह रोने लगीं ॥ ५४—५८ ॥

शीघ्र याइ मुञि सब करिनु भक्षण । शून्यपात्र देखे अश्रु करिया मार्जन ॥५९॥
के अन्न व्यञ्जन खाइल, शून्य केने पात । हेन बुझि बाल-गोपाल खाइल सब भात॥६०॥
किवा मोर मनः कथाय भ्रम हैया गेल । किवा कोन जन्तु आसि सकल खाइल ॥६१॥
किवा आमि भ्रमे पाते अन्न न बाढ़िल । एत चिन्ति पाकपात्र याइया देखिल ॥६२॥
अन्न व्यञ्जन पूर्ण देखि सकल भाजन । देखिया संशय किछु चमत्कार मन ॥६३॥
ईशानद्वाराय पुन स्थान लेपाइल । पुनरपि गोपालेरे अन्नरे समर्पिल ॥६४॥

"श्रीवास ! माता की यह दशा देख कर मैं उसी क्षण वहाँ पहुँचा और सब व्यञ्जन जाकर भोजन कर लिये । माता जब भोग उसारने गई तो चकित हो गईं, उन्होंने अश्रु पोंछ कर ध्यान पूर्वक देखा तो वहां खाली पात्र ही पात्र थे, कुछ भी सामग्री न थी । सोचने लगीं—"अन्न पदार्थ किसने खा लिये ? पात्र खाली कैसे धरे हैं ? ऐसा मालूम होता है इस नये बाल गोपाल ने (शालग्राम जी ने) पदार्थ पा लिये हैं ? अथवा मुझे ही चिन्ता चिन्ता में कुछ भ्रम हो गया है ? कोई मूसादि जन्तु आकर सब कुछ खा गया है क्या ? क्या मैंने ही भ्रम में आकर भोग धरा ही नहीं, केवल खाली वासन ही धर दिये थे क्या ?" ऐसे सोचती हुई माता फिर रसोई में गई कि देखूं तो सही मैंने पदार्थ भोग रखे भी थे । कि नहीं? वहां आकर देखा तो सब पदार्थ ज्यों के त्यों रखे हैं और सब पात्र व्यञ्जनों से भरे रखे हैं । यह देख कर माता शची का मन संशय में पड़ गया (कि ओहो ! सब पदार्थ तो यहां रखे हैं, मैंने वास्तव में भोग धरा ही नहीं—इस प्रकार का उसे संशय हुआ) और फिर उसे कुछ चमत्कार भी हुआ ? अर्थात् जब स्वस्थ चित्त हो कर उसने याद किया तो निश्चय हुआ कि सब पदार्थ भोग तो उस ने रखे थे फिर रसोई में बासन कैसे पूर्ण हो गये और वह पहला प्रसाद गया तो गया कहां ? श्रीवास ! अन्त में शची माता ने अपने सेवक ईशान द्वारा पुनः स्थान को लिपवाया और श्रीगोपाल जी के लिये दूसरा भोग लगाया ।

एइमत यबे करे उत्तम रन्धन । मोरे खाओयाइते करे उत्कण्ठा क्रन्दन ॥६५॥
तांर प्रेमे आनि मोरे कराय भोजने । अन्तरे मानये सुख, बाह्ये नाहि माने ॥६६॥
एइ विजया दशमीते हैल एइ रीति । तांहाके पुछिया तांरे कराइह प्रतीति ॥६७॥
एतेक कहिते प्रभु विह्वल हइला । लोक विदाय करिते प्रभु धैर्य्य करिला ॥६८॥

प्रभु ने कहा—"श्रीवास ! इस प्रकार जब भी शची माता उत्तम उत्तम पदार्थ बनाती है, मुझे खिलाने के लिये उत्कण्ठित होकर रोने लगती है । उसका प्रेम मुझे खींच कर भोजन कराता है. भीतर हृदय में तो वह सुख अनुभव करती है किन्तु साक्षात् रूप से उसे सुख का अनुभव नहीं होता । इसी गत विजयादशमी पर ही यह सब घटना घटी थी । श्रीवास ! तुम माता शची को पूछ कर उसे विश्वास दिलाना (कि वस्तुत. मैं उसके प्रेम द्वारा नित्य उसके पास जाता हूं और उसके व्यवजनों को भी भोजन करता हूं ।" ऐसा कहते हुए श्रीमहाप्रभु भी विह्वल हो उठे, परन्तु सब भक्तों को विदा कर रहे थे इसलिये धीरज धारण किये रहे । ६५—६८ ॥

राघव—पण्डिते कहे वचन सरस । तोमार शुद्ध प्रेमे आमि हइ तोमार वश ॥६९॥
इंहार कृष्ण सेवा कथा शुन सर्वजन । परम पवित्र सेवा अति सर्वोत्तम ॥७०॥
आर द्रव्य बहु, शुन नारिकेलेर कथा । पांचगण्डा करि नारिकेल विकाय यथातथा॥७१॥
बाड़ीते कतशत वृक्ष, लक्ष लक्ष फल । तथापि शुनेन यथा मिष्ट नारिकेल ॥७२॥
एकेक फलेर मूल्य दिया चारि चारि पण । दश क्रोश-हैते आनाय करिया यतन ॥७३॥

श्रीमहाप्रभु ने श्रीराघव पण्डित को सम्बोधन करते हुए मधुर बचनों में कहा–"पण्डित ! तुम्हारे शुद्ध प्रेम ने मुझे वशीभूत कर लिया है—" प्रभु सब भक्तों को सुना कर कहने लगे –"इनकी (श्रीराघव पण्डित की) श्रीकृष्ण सेवा की कथा सब सुनिये । इनकी सेवा परम पवित्र एवं सर्वोत्तम है । अनेक सेवा-द्रव्यों से ये सेवा करते ही हैं, किन्तु एक नारियल की बात आपको सुनाता हूं, उसे सुनिये । सब जगह नारियल एक रुपैया के बीस बीस बिकते हैं और इनके अपने बाग में सैकड़ों नारियल के वृक्ष हैं और लाखों नारियल उनमें लगते हैं, तथापि जहां मीठे नारियल की बात सुनते हैं, एक एक नारियल को चार चार आने में खरीद लाते हैं, यहां तक कि दस दस कोस परे से यत्न पूर्वक श्रीकृष्ण सेवा के लिये नारियल मंगवाते हैं ॥ ६९—७३ ॥

प्रतिदिन पांच–छय फल छोलाइया । सुशीतल करिते राखे जले डुबाइया ॥७४॥
भोगेर समये पुन छोलि शंख करि । कृष्णे समर्पण करे मुखे छिद्र करि ॥७५॥
कृष्ण सेइ नारिकेल-जल पान करि । कभु शून्य फल राखे कभु जल भरि ॥७६॥
जलशून्य फल देखि पण्डित हरषित । फल भाङ्गि शस्य कैल सत्पात्र-पूरित॥७७॥
शस्य समर्पिया करे बाहिरे धेयान । शस्य खाञा कृष्ण करे शून्य भाजन॥७८॥
कभु शस्य खाञा पुन पात्र भरे शांसे । श्रद्धा बाढ़े पण्डितेर प्रेमसिन्धु भासे ॥७९॥

प्रभु ने कहा—"प्रति दिन पांच-छः अच्छे अच्छे नारियलों को छील कर राघव पण्डित उन्हें ठण्डा करने के लिये सुशीतल जल में डुबा कर रख देते हैं । भोग के समय उन्हे तोड़ कर बीच का गोला निकाल लेते हैं । उस गोला के मुख पर छिद्र करके श्रीकृष्ण के समर्पण करते हैं । श्रीकृष्ण उस गोले को लेकर उस छिद्र द्वारा उसका भीतरी जल पान कर लेते हैं । श्रीकृष्ण कभी तो जल पान करके शून्य फल रख देते हैं और कभी जल पूर्ण फल को ही लौटा देते हैं । जल शून्य फल को देखकर पण्डित बहुत प्रसन्न होते हैं और फिर उस गोला की गिरी निकाल कर एक सुन्दर पात्र में भरकर श्रीकृष्ण को भोग धर देते हैं और आप उनके भोग का ध्यान करते हुए बाहर आ जाते हैं । इनके प्रेम के वशीभूत होकर श्रीकृष्ण उस गिरी का भोजन करके पात्र को खाली कर देते हैं । कभी श्रीकृष्ण केवल गिरी ही भोजन करके नारियल के जल से उस पात्र को भर कर छोड़ देते हैं । इस प्रकार प्रत्यक्ष भाव से श्रीकृष्ण इनके भोग को अङ्गीकार करते हैं और पण्डित जी की श्रद्धा बढ़ती जाती है और ये सदा प्रेम-सागर में निमग्न रहते हैं ॥ ७४-७९॥

एक दिन दश फल संस्कार करिया । भोग लागाइते सेवक आइला लइया ॥८०॥
अवसर नाहि हय, विलम्ब हइल । फल-पात्र हाथे सेवक द्वारेते रहिल ॥८१॥
द्वारेर उपर भित्त्ये तेंहो हाथ दिल । सेइ हाते फल छुंइल, पण्डित देखिल ॥८२॥

पण्डित कहे, द्वारे लोक करे यातायाते । तार पदधूलि उड़ि लागे उपर भिते ॥८३॥
सेइ भिते हाथ दिया फल परशिला । कृष्ण–योग्ये नहे फल अपवित्र हैला ॥८४॥
एत बलि फल फेले प्राचीर लङ्घिया । ऐछे पवित्र प्रेम सेवा जगत् जिनिया ॥८५॥

और सुनिये, एक दिन इनका (राघव पण्डित का) सेवक दश नारियल संस्कार करके भोग लगाने के लिये ले आया। पण्डित जी भगवान् की अन्य सेवा में व्यस्त थे, इसलिये इन्हें वह भोग-पात्र लेने में कुछ देर लग गई, जिससे सेवक उस भोग को हाथ में लिये दरवाजे पर खड़ा रहा। दरवाजे पर खड़े हुए सेवक ने अपना एक हाथ दीवार पर रख दिया और फिर हाथ उठाकर उस से भोग-पात्र को छू लिया–यह बात राघव ने देख ली। यह बोल उठे—"अरे ! इस दरवाजे में से तो बहुत बार सब का आना-जाना होता है, जिससे सब की चरण-रज इन दीवारों पर पड़ती है।" तुमने दीवार पर हाथ रख कर वही हाथ फिर भगवान् के भोग-पदार्थ को लगा दिया ? ये फल अब श्रीकृष्ण के भोग लायक नहीं रहे, ये अपवित्र होगये।" इतना कहकर इन्होंने वे फल दीवार के ऊपर से उछल कर बाहर फैंक दिये। इस प्रकार पवित्रता से श्रीकृष्ण की प्रेम - पूर्वक सेवा करके इन्होंने जगत् को जीत लिया है।" ॥८०—८५॥

तबे आर नारिकेल संस्कार कराइल । परम पवित्र करि भोग लागाइल ॥८६॥
एइमत कला आम्र नारङ्ग कांठाल । यांहा-यांहा दूरग्रामे शुने आछे भाल ॥८७॥
बहु मूल्य दिया आने करिया यतन । पवित्र संस्कार करि करे निवेदन ॥८८॥
एइमत व्यञ्जनेर शाक मूल फल । एइमते चिड़ा हुडुम सन्देश सकल ॥८९॥
एइमते पिठा पाना क्षीर ओदन । परम-पवित्र आर करे सर्वोत्तम ॥९०॥
कासन्दी–आदि आचार अनेक प्रकार । गन्ध–वस्त्र– अलंकार सब द्रव्यसार ॥९१॥
एइमत प्रेमे सेवा करे अनुपम । याहा देखि सर्व लोकेर जुड़ाय नयन ॥९२॥
एत बलि राघवेरे कैल आलिगन । एइमत सम्मानिल सब भक्तगण ॥९३॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"फिर इन्होंने और नारियलों का संस्कार कराया और परम-पवित्र करके भगवान् को भोग लगाया। इसी प्रकार केला, आम, सन्तरा, काँठाल आदि आदि फल जो-जो जहाँ अच्छा मिलता है, ये बहुत दूर-दूर से बहुत मूल्य खर्च करके यत्न-पूर्वक उसे मँगाते हैं और परम-पवित्रता से उन्हें अमनिया करके भगवान् के भोग लगाते हैं। इसी रीति से शाक मूल-फलादि सब व्यञ्जन तथा चिड़ा, हुडुम, सन्देशादि, पिठा–पाना, क्षीर-भातादि सब पदार्थ परम-पवित्रता से तैयार करते हैं। कासन्दी आदि अनेक प्रकार के अचारादि तथा धूप दीप, वस्त्र, अलङ्कारादि सब द्रव्यों में परम पवित्रता का ध्यान रखते हुए श्रीकृष्ण की प्रेम पूर्वक ये अपूर्व सेवा करते हैं। जिसको देखकर सब लोगों को आनन्द प्राप्त होता है। इतना कहकर श्रीमहाप्रभु ने श्रीराघव पण्डित को आलिङ्गन किया। इसी प्रकार सब भक्तों का प्रभु ने गुणगान एवं सन्मान किया ॥८६—९३॥

शिवानन्दसेने कहे करिया सम्मान । वासुदेव दत्तेर तुमि करिह समाधान ॥९४॥
परम उदार इहो ये दिने ये आइसे । सेइ दिने व्यय करे, नाहि राखे शेषे ॥९५॥
गृहस्थ हयेन इंहो, चाहिये सञ्चय । सञ्चय ना कैले कुटुम्ब–भरण ना हय ॥९६॥
इंहार घरेर आय-व्यय सब तोमा स्थाने । सरखेल हञा तुमि करिह समाधाने ॥९७॥

श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीशिवानन्द संत को सम्मान पूर्वक कहा—"शिवानन्द ! तुम वासुदेवदत्त का समाधान करो । देखो ! यह परम उदार है । जो कुछ आमदनी होती है, उसे उसी दिन ही खर्च कर डालता है, कुछ बचाता नहीं है । यह गृहस्थी है, स्त्री-पुत्रादि का भार इसके ऊपर है, इस को परिवार के प्रबन्ध के लिये कुछ सञ्चय करना चाहिये । ताकि इसके भजन में परिवार के लोग विघ्न न करें । यदि कुछ उनके लिए सञ्चय न करेगा, तो वे इसको बुरी तरह दुख देंगे जिससे इसके भजन में बाधा होगी । (सञ्चय से यहाँ महाप्रभु का विलासता के लिये सञ्चय करना अभिप्राय नहीं है ।) क्योंकि सञ्चय न होने से स्त्री-पुत्रादि का पालन-पोषण नहीं हो सकता । अच्छा होगा कि उसके घर का आय-व्यय तुम्हारे हाथ में रहे और तुम इसका लेखा-जोखा रख कर इसके कार्य का निर्वाह करो" ॥९४—९७॥

प्रतिवर्ष आमार सब भक्तगणे लञा । गुण्डिचाय आसिवे सभाय पालन करिया ॥९८॥

कुलीन—ग्रामीरे कहे सम्मान करिया—। प्रत्यब्द आसिवे यात्राय पट्टडोरी लैया ॥९९॥

गुणराज खान कैल 'श्रीकृष्ण-विजय' । ताहां एक वाक्य तांर आछे प्रेममय—॥१००॥

'नन्देर नन्दन कृष्ण मोर प्राणनाथ । एइवाक्ये बिकाइनु ताँर वंशेर हाथ ॥१०१॥

तोमार का कथा, तोमार ग्रामेर कुक्कुर । सेह मोर प्रिय—अन्यजन बहु दूर ॥१०२॥

प्रभु ने आगे कहा—"शिवानन्द ! प्रतिवर्ष तुम मेरे सब भक्तों को साथ लेकर एवं उनका रास्ते में सब प्रबन्ध करते हुए श्रीजगन्नाथ रथयात्रोत्सव दर्शन करने आना ।" प्रभु ने कुलीन ग्राम वासी सत्यराज खां आदि भक्तों से आदर करते हुए कहा—"तुम लोग श्री जगन्नाथ जी की सेवा के लिये रेशमी डोरी साथ ले आकर रथयात्रा पर प्रतिवर्ष आना । गुणराज खांन ने जो श्रीकृष्ण-विजय-नामक पुस्तक रची है, उसमें उसका एक प्रेममय वाक्य है—वह यह है—"नन्दनन्दन श्रीकृष्ण मेरे प्राणनाथ हैं" । मैं तो इस वाक्य के द्वारा गुणराज खांन के वंश के हाथ बिक गया हूँ । तुम लोगों की क्या बात, तुम्हारे कुलीन ग्राम का एक कुत्ता भी मुझे प्यारा है, अन्य के लिये तो कहना ही क्या है ? ॥९८—१०२॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्री गुणराज खांन का नाम वस्तुतः श्रीमालाधर वसु था । गुणराज खाँन इनकी उपाधि थी । इनके एक पुत्र श्री लक्ष्मीनाथ वसु थे जिसकी 'सत्यराज खांन' उपाधि थी । श्रीसत्य-राज खान के पुत्र श्री रामानन्द वसु थे । श्री सत्यराज खान एवं श्री रामानन्द वसु—ये दोनों गौर पार्षद थे । इन दोनों का ही नाम पयार १०३ में आगे वर्णित है । श्री गुणराज खान ने श्रीकृष्णविजय-नामक एक ग्रन्थ की रचना की, जो बङ्गला पयारादि छन्दों में है । ये श्रीमद्भागवत जी का पद्यानुवाद है, किन्तु आक्षरिक अनुवाद नहीं है । सम्भवतः श्रीकृष्णविजय श्रीमद्भागवत का सर्वप्रथम बङ्गला-भाषा का अनुवाद है । श्रीमहाप्रभु के आविर्भाव से पहिले ही इसकी रचना हुई थी । इसकी रचना का काल १३९५ शक से १४०२ शक तक अनुमान किया जाता है ।

तबे रामानन्द आर सत्यराज खान । प्रभुर चरणे किछु कैल निवेदन ॥१०३॥

गृहस्थ विषयी आमि, कि मोर साधने । श्रीमुखे आज्ञा कर प्रभु ! निवेदि चरणे ॥१०४॥

प्रभु कहे—कृष्णसेवा वैष्णवसेवन । निरन्तर कर कृष्णनाम संकीर्त्तन ॥१०५॥

सत्यराज कहे—वैष्णव चिनिव केमने । के 'वैष्णव' कह तार सामान्य लक्षणे ॥१०६॥

तब श्री रामानन्द तथा श्रीसत्यराज ने श्रीमहाप्रभु जी के चरणों में प्रार्थना की—"प्रभो ! हम गृहस्थ में फंसे हुए विषयी जीव हैं, हमारे लिये क्या साधन है ? आप अपने श्रीमुख से कुछ आज्ञा

करें-यह हमारी विनय आपके चरणों में है।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"श्रीकृष्ण-सेवा, श्रीवैष्णव-सेवा तथा नित्य श्रीकृष्णनाम सङ्कीर्त्तन करते रहिये—(यही गृहस्थ में रहकर श्रीकृष्ण-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है।) श्रीसत्यराज ने पूछा—"प्रभो ! वैष्णव की क्या पहचान है ? वैष्णव कौन है—उसके सामान्य लक्षण कहने की कृपा कीजिये" ॥ १०३—१०६ ॥

प्रभु कहे—यार मुखे शुनि एकबार । कृष्णनाम, पूज्य सेइ श्रेष्ठ सभाकार ॥१०७॥
एक कृष्णनामे करे सर्वपापक्षय । नवविध भक्ति पूर्ण नाम हैते हय ॥१०८॥
दीक्षापुरश्चर्य्याविधि अपेक्षा ना करे । जिह्वास्पर्शे आचण्डाल सभारे उद्धारे ॥१०९॥
आनुषङ्ग फले करे संसारेर क्षय । चित्त आकर्षिया करे कृष्ण प्रेमोदय ॥११०॥

श्री महाप्रभुजी ने कहा—"जिसके मुख से एक बार श्रीकृष्णनाम निकलता है, वही वैष्णव है और वह पूज्य एवं सर्वश्रेष्ठ है। एक श्रीकृष्णनाम ही सर्व पापों के नाश करने वाला है। नवविधा-भक्ति (श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन. दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन) एक श्रीकृष्ण-नाम से पूर्ण होती है। श्रीकृष्णनाम—दीक्षा (उपदेश) और पुरश्चरण की अपेक्षा नहीं रखता, जिह्वा से स्पर्श होने मात्र से ही चण्डाल पर्यन्त सब का उद्धार कर देता है। श्रीकृष्णनाम के आनुषङ्गिक फल से तो संसार-बन्धन नाश हो जाता है और श्रीकृष्णनाम का मुख्य फल श्रीकृष्ण प्रेम है। श्रीकृष्णनाम चित्त को श्रीकृष्ण की ओर आकर्षण करके उस प्रेम को भी हृदय में उदित कर देता है ॥१०७—११०॥

चै० च० चु० *टीका*:—एक बार श्रीकृष्णनाम उच्चारण करने से जीव कैसे वैष्णव हो जाता है, यह बात ऊपर के पयारों में कही गई है। (१) एकबार श्रीकृष्णनाम उच्चारण करने से समस्त पाप नाश हो जाते हैं। (२) श्रीकृष्णनाम से श्रवण-कीर्त्तनादि नवविधा भक्ति पूर्ण हो जाती है। (३) श्रीकृष्ण नाम जिह्वा से स्पर्श होने मात्र से चण्डाल पर्य्यन्त सब प्राणियों का उद्धार कर देता है। (४) श्रीकृष्ण-नाम चित्त में श्रीकृष्ण—प्रेम को उदित कर देता है। (५) श्रीकृष्णनाम में दीक्षा-पुरश्चरणादि की अपेक्षा नहीं है एवं (६) उक्त पाँचों फलों की प्राप्ति के साथ साथ बिना किसी चेष्टा किये आनुषङ्गिक भाव से संसारबन्धन का नाश कर देता है। इस प्रकार एकबार श्रीकृष्णनाम उच्चारण करने से उक्त छहों बातों की प्राप्ति होने से उच्चारण कर्त्ता को प्रभु ने 'वैष्णव' कहा है।

श्री गुरुदेव से यथा विधि मन्त्र-उपदेश ग्रहण करने का नाम '**दीक्षा**' है। दीक्षा के लिये बिना कोई मन्त्र फलदायक नहीं होता, किन्तु श्रीकृष्णनाम एक ऐसा मन्त्र है कि बिना किसी गुरु से दीक्षा लिये वह अपना फल प्रदान करता है।

श्री गुरुदेव द्वारा लिए हुए मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करने के लिये पञ्चाङ्ग उपासना रूप जो अनुष्ठान है—उसे '**पुरश्चरण**' कहते हैं। नित्य त्रिकालीन अर्चना, नित्य मन्त्र का जप, नित्य तर्पण, नित्य हवन, एवं नित्य ब्राह्मण-भोजन—ये पांचों अनुष्ठान पुरश्चरण कहे जाते हैं (श्रीहरि भक्ति बिलास)।

श्रीकृष्णनाम रूप महामन्त्र इस प्रकार गुरु दीक्षा एवं किसी पुरश्चरण की अपेक्षा नहीं रखता। जिह्वा से स्पर्श होते ही उपर्युक्त छः फलों को प्रदान कर देता है। इसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं :—

तथाहि पद्यावल्याम् (२९)

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा—
माचाण्डालममुकलोकसुलभो वश्यश्च मुक्तिश्रियः ।

नो दीक्षां न च सत्क्रियां न च पुरश्चर्य्यां मनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः ॥२॥

यह श्रीकृष्णात्मक-मन्त्र अर्थात् श्रीकृष्णनाम किसी प्रकार की दीक्षा, सदाचार तथा पुरश्चरण की अपेक्षा नहीं रखता, केवल मात्र जिह्वा से स्पर्श होने मात्र से ही फल प्रदान करता है। यह श्रीकृष्ण-नाम स्वभावतः ही पुण्यात्मा लोगों के चित्त को आकर्षण करने वाला है एवं अति महान् पापों को भी दूर करने वाला है। यह चण्डाल पर्यन्त समस्त नीच लोगों अथवा वाक् शक्ति सम्पन्न जीवों के लिए सुलभ है और यह श्रीकृष्णनाम मोक्षरूप सम्पत्ति को भी प्राप्त कराने वाला है ॥२॥

अतएव यार मुखे एक कृष्णनाम। सेइ वैष्णव करि तार परम सम्मान ॥१११॥
खण्डेर मुकुन्ददास, श्रीरघुनन्दन। श्रीनरहरि—एइ मुख्य तिन जन ॥११२॥
मुकुन्ददासेर पूछे श्रीशचीनन्दन। तुमि पिता, पुत्र तोमार श्रीरघुनन्दन ॥११३॥
किवा रघुनन्दन पिता, तुमि ताहार तनय ?। निश्चय करिया कह, याउक संशय ॥११४॥

श्री महाप्रभु जी ने आगे कहा—"इसलिये जिसके मुख में एक बार भी श्रीकृष्णनाम आया है। वही वैष्णव है। उसका परम सन्मान करना चाहिये। श्रीखण्ड-वासियों में तीन जन मुख्य थे—श्री मुकुन्ददास, श्रीरघुनन्दन तथा श्रीनरहरि। (श्रीरघुनन्दन श्रीमुकुन्ददास के पुत्र थे) श्रीमहाप्रभु ने श्रीमुकुन्ददास से पूछा—तुम पिता हो और श्रीरघुनन्दन तुम्हारा पुत्र है ? या श्रीरघुनन्दन तुम्हारा पिता है और तुम उसके पुत्र हो ? यह बात निश्चय करके कहो जिससे मेरा संशय दूर हो ॥१११—११४॥

मुकुन्द कहे—रघुनन्दन मोर पिता हय। आमि तार पुत्र, एइ आमार निश्चय ॥११५॥
आमा सभार कृष्णभक्ति रघुनन्दन हैते। अतएव रघु पिता, आमार निश्चिते ॥११६॥
शुनि हर्षे कहे प्रभु, कहिले निश्चय। याहा हैते कृष्णभक्ति, से-इ गुरु हय ॥११७॥
भक्तेर महिमा प्रभु कहिते पाय सुख। भक्तेर महिमा कहिते हय पञ्चमुख ॥११८॥

श्रीमुकुन्द ने कहा—"प्रभो ! श्रीरघुनन्दन ही मेरे पिता हैं, मैं उनका पुत्र हूँ—मेरा यही निश्चय है। क्योंकि वास्तव में पिता अर्थात् पालन कर्त्ता वही है जो श्रीकृष्णभक्ति देकर जन्म-मृत्यु आदि से रक्षा करके एक नित्य शाश्वत् भगवत्-पार्षद देह की प्राप्ति कराता है। फिर श्रीरघुनन्दन को मुझ से पहले श्रीकृष्ण-भक्ति की प्राप्ति हुई है। अतः मुझ से पहले इसका भागवत जन्म हुआ है। श्री रघुनन्दन से ही हमें श्रीकृष्ण-भक्ति की प्राप्ति हुई है, अतः श्रीरघुनन्दन ही (मेरे भागवत-जन्म प्रदाता होने से) मेरे पिता हैं—मेरा यह विश्वास है"। श्रीमुकुन्द की बात सुन कर प्रभु बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—"तुम ने ठीक निर्णय कहा है, जिससे श्रीकृष्ण-भक्ति की प्राप्ति हो। (वयस में छोटा होने पर भी) वही गुरु या बड़ा है। भक्तों की महिमा वर्णन करने में प्रभु को बहुत सुख होता था। भक्तों की महिमा कहने में वे श्रीमहादेव के समान मानो पांच मुख धारण कर लेते अर्थात् भक्तों की महिमा कहते हुए वे अघाते नहीं थे॥

भक्तगणे कहे—शुन मुकुन्देर प्रेम। निगूढ़ निर्मल प्रेम—येन दग्ध हेम ॥११९॥
बाह्ये राजवैद्य इंहो करे राजसेवा। अन्तरे कृष्णप्रेम इंहार जानिवेक केवा ? ॥१२०॥
एक दिन म्लेच्छराजार उच्च टुङ्गीते। चिकित्सार बात कहे ताहार अग्रेते ॥१२१॥

हेनकाले एक मयूर-पुच्छेर आड़ानी । राजार शिरोपरि धरे एक सेवक आनी ॥१२२॥
मयूर-पुच्छ देखि मुकुन्द प्रेमाविष्ट हैला । अति उच्च टुङ्गी हैते भूमिते पड़िला ॥१२३॥

श्रीमहाप्रभुजी भक्तगणों से कहने लगे—"आप मुकुन्द के प्रेम की एक बात सुनिये। बाहर से तो यह राजवैद्य है और राजा की सेवा करता है, किन्तु इसके भीतर कितना कृष्णप्रेम है—इसे कौन जान सकता है ? एक दिन मुसलमान राजा के साथ यह उच्च मंच पर बैठे हुए राजा के साथ चिकित्सा सम्बन्धी बात कह रहे थे। इतने में एक राज सेवक एक मोर-पुच्छ का बना हुआ पंखा ले आकर राजा की उससे हवा करने लगा। श्रीमुकुन्द उस मोरपंख को देखते ही (श्रीकृष्ण का उद्दीपन होने से) प्रेमाविष्ट हो उठे और बेसुद्ध होकर उस अति ऊंचे मंच से नीचे गिर पड़े ॥ ११९—१२३ ॥

राजार ज्ञान—राजवैद्येर हइल मरण । आपने नामिया राजा कराइल चेतन ॥१२४॥
राजा कहे—व्यथा तुमि पाइले कोन ठाञि ? मुकुन्द कहे—अतिबड़ व्यथा नाहि पाइ ॥१२५॥
राजा कहे मुकुन्द ! तुमि पड़िला कि लागि ? । मुकुन्द कहे-मोर एक व्याधि आछे मृगि
महा विदग्ध राजा सेइ सब बात जाने । मुकुन्देर हैल तांर महासिद्ध ज्ञाने ॥१२७॥

राजा ने समझा कि राजवैद्य मुकुन्द की मृत्यु होगई। तत्काल राजा स्वयं नीचे उतरा और मुकुन्द को चेतन कराया। राजा ने पूछा—'मुकुन्द। तुम्हें कहाँ चोट लगी है ?' मुकुन्द ने कहा—"कुछ अधिक चोट नहीं लगी, मैं ठीक हूँ। राजा ने पूछा—"मुकुन्द ! तुम गिर कैसे पड़े।" मुकुन्द ने उत्तर दिया—"मुझे मृगी की एक व्याधि है।" (क्योंकि अपने भजन-प्रेम की बात गुप्त रखना ही विधान है, इसलिये श्रीमुकुन्द ने एक व्याधि का बहाना बनाया) राजा महाचतुर था, मृगी व्याधि के सब लक्षण जानता था। वह श्रीमुकुन्द के प्रेम के भावों को जान गया और वह यह भी जान गया कि श्रीमुकुन्द एक साधनसिद्ध महापुरुष हैं" ॥१२४—१२७॥

रघुनन्दन सेवा करे कृष्णेर मन्दिरे । द्वारे पुष्करिणी तार बान्धाघाट-तीरे ॥१२८॥
कदम्बेर वृक्ष एक फूटे बारमासे । नित्य दुई पुष्प हय कृष्ण अवतंसे ॥१२९॥
मुकुन्देरे कहे पुन मधुर वचन—। तोमार ये कार्य्य, धर्मे धन-उपार्जन ॥१३०॥
रघुनन्दनेर कार्य्य—श्रीकृष्ण-सेवन । कृष्णसेवा बिना इहार अन्यत्र नाहि मन ॥१३१॥
नरहरि ! रह आमार भक्तगण सने । एइ तिन कार्य सदा कर तिनजने ॥१३२॥

"श्रीरघुनन्दन श्रीकृष्ण-मन्दिर में सेवा किया करते हैं। इनके घर के बाहर एक छोटीसी तालाई है, जिसके किनारे पर एक कदम्ब का वृक्ष है जो बारहों मास फूलता है। उसके नित्य दो फूल लेकर श्रीरघुनन्दन श्रीकृष्ण के कर्णफूलों में उन्हें धारण कराते हैं।" श्रीमहाप्रभु फिर श्रीमुकुन्द से मधुरवचन कहने लगे कि—"तुम्हारा कार्य्य धर्म का रक्षा सहित धन उपार्जन करना है और श्रीरघुनन्दन का काम श्रीकृष्ण सेवा करना है। क्योंकि इसका मन श्रीकृष्ण-सेवा को छोड़ कर और कहीं नहीं लगता। प्रभु ने फिर श्री नरहरि को सम्बोधित करते हुए कहा—"नरहरि ! तुम तो मेरे भक्तों के साथ रहा करो। तुम तीनों जने यही तीन काम किया करो' ॥१२८—१३२॥

सार्वभौम विद्यावाचस्पति दुइभाई । दुइजने कृपा करि कहेन गोसाञि ॥१३३॥
दारु-जलरूपे कृष्ण प्रकट सम्प्रति । दरशने स्नाने करे जीवेर मुकति ॥१३४॥

दारुब्रह्मरूपे साक्षात् श्रीपुरुषोत्तम। भागीरथी साक्षात् हय जलब्रह्म—सम ॥१३५॥
सार्वभौम ! कर दारु-ब्रह्म आराधन। वाचस्पति ! कर जलब्रह्मेर सेवन ॥१३६॥

श्रीसार्वभौम तथा श्रीविद्यावाचस्पति—दोनों भाइयों पर कृपा करते हुए श्रीमहाप्रभु बोले—"श्रीकृष्ण दारु (लकड़ी) एवं जल इन दोनों रूपों से प्रगट हैं। दारुमय स्वरूप से जीवों को दर्शन देकर और जलरूप से स्नान करा कर जीव को संसार-बन्धन से मुक्त कराते हैं। दारु-ब्रह्म तो साक्षात् श्रीजगन्नाथ रूप से श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में विराजमान हैं और श्रीगंगाजो साक्षात् जलरूप ब्रह्म हैं। श्रीसार्वभौम ! तुम तो दारुब्रह्म (श्रीजगन्नाथ) की पूजा करते हो और विद्यावाचस्पति ! तुम जल-ब्रह्म (श्रीगंगा) का सेवन करते हो" ॥१३३—१३६॥

मुरारिगुप्तेरे गौर करि आलिङ्गन। तांर भक्तिनिष्ठा कहे शुने भक्तगण ॥१३७॥
पूर्वे आमि इहांरे लोभाइल बार बार। "परम मधुर गुप्त ! ब्रजेन्द्रकुमार ॥१३८॥
स्वयं भगवान् सर्वअंशी सर्वाश्रय। विशुद्ध निर्मल प्रेम सर्वरसमय ॥१३९॥
विदग्ध—चतुर—धीर—रसिकशेखर। सकल—सद्गुणवृन्दरत्न—रत्नाकर ॥१४०॥
मधुर चरित्र कृष्णेर मधुर विलास। चातुर्य वैदग्ध्ये करे येंहो लीलारास ॥१४१॥
सेइ कृष्ण भज तुमि, हओ कृष्णाश्रय। कृष्ण बिना उपासना मने नाहि लय" ॥१४२॥

फिर श्रीमहाप्रभु ने श्रीमुरारिगुप्त को (जो श्रीराम उपासक थे) आलिङ्गन किया और उसकी भक्ति-निष्ठा भक्तों को सुनाने लगे। प्रभु ने कहा—"पहले मैंने इसे बहुत बार लोभ दिखाया कि हे गुप्त ! देखो, श्रीकृष्ण ब्रजेन्द्र नन्दन परम मधुर हैं। वे स्वयं-भगवान हैं, सर्वअंशी एवं सर्वाश्रय हैं। वे विशुद्ध निर्मल प्रेममय तथा अखिल रसामृत मूर्त्ति हैं। वे रसिक—शेखर, धीर एवं विदग्ध-चतुर हैं, श्रीकृष्ण समस्त सद्गुणरत्नों के सागर हैं। श्रीकृष्ण के मधुर चरित्र हैं एवं उनकी लीला अत्यन्त मधुर हैं। उन्होंने अपने चातुर्य एवं वैदग्ध्य की पराकाष्ठा रासलीला में दिखाई है। इतना कहने के पश्चात् मैंने इसे कहा कि ऐसे श्रीकृष्ण का तुम भजन करो। तुम श्रीकृष्ण का ही आश्रय ग्रहण करो। श्री कृष्ण की उपासना को छोड़कर तुम और किसी की उपासना मत करो" ॥१३७—१४२॥

एइमत बारबार शुनिया बचन। आमार गौरवे किछु फिरि गेल मन ॥१४३॥
आमारे कहेन—आमि तोमार किङ्कर। तोमार आज्ञाकारी आमि, नहि स्वतन्तर ॥१४४॥
एत बलि घरे गेला, चिन्ते रात्रि काले। रघुनाथ-त्याग चिन्ति हइला विह्वले ॥१४५॥
"केमने छाड़िव रघुनाथेर चरण ?। आजि रात्रे राम ! मोर कराह मरण" ॥१४६॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"इस प्रकार मेरे बचनों को बार बार सुन कर मेरे प्रति श्रद्धावशतः इसका मन कुछ फिसल गया। इसने मुझसे कहा कि मैं तो आप का किङ्कर हूँ। आपका आज्ञाकारी हूँ, मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। आप जैसे कहते हैं मैं वैसे ही करूंगा अर्थात् श्रीकृष्ण की उपासना करूंगा।" इतनाकहकर यह अपने घर चला गया और रात को सोचने लगा कि मैं श्रीरघुनाथ जी की उपासना त्याग दूं"—बस इतना सोचते ही यह विह्वल हो उठा, और कहने लगा—हे रघुनाथ ! मैं आपके चरणों को कैसे छोड़ दूं ? हे राम ! मेरे प्राण आज ही रात को ले लीजिये। (क्योंकि मैं प्रभु के बचन भी नहीं टाल सकता और हे राम ! मैं आपके चरण भी नहीं त्याग सकता) ॥१४३—१४६॥

एइमत सर्वरात्रि करेन क्रन्दन । मने स्वास्थ्य नाहि, रात्रि कैल जागरण ॥१४७॥
प्रातःकाले आसि मोर धरिया चरण । कान्दिते कान्दिते किछु करे निवेदन—॥१४८॥
रघुनाथ–पाये मुञि वेचियाछि माथा । काढ़िते ना पारों माथा, मने पाङ व्यथा ॥१४९॥
श्रीरघुनाथेर चरण छाड़ान ना याय । तोमार आज्ञा भङ्ग हय, कि करों उपाय ॥१५०॥
ताते मोरे एइ कृपा कर दयामय ! । तोमार आगे मृत्यु हउक, याउक संशय" ॥१५१॥

श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा—"इस प्रकार यह मुरारिगुप्त सारी रात रोता रहा, इसका मन बेचैन होगया, इसे रात भर नींद नहीं आई। प्रातःकाल उठकर यह मेरे पास आया और मेरे चरण पकड़ कर रोने लगा और कहने लगा—"मैं इस शिर को श्रीरघुनाथ जी के चरणों में बेच चुका हूँ, उनके चरणों से अब इस मस्तक को नहीं हटा सकता। मन में मैं बहुत दुखी हूँ। मैं श्रीरघुनाथजी के चरणों को नहीं छोड़ सकता किन्तु इसमें आपकी आज्ञा भङ्ग होती है। कहिये मैं अब क्या करूं ? इसलिये हे दयामय ! मुझ पर अब यही कृपा कीजिये कि आपके आगे यह मेरा शरीर छूट जाए, ताकि मैं इस दुविधा से बच सकूं।"

एत शुनि आमि मने बड़ सुख पाइल । इहारे उठाइया तबे आलिङ्गन कैल ॥१५२॥
"साधु साधु गुप्त ! तोमार सुदृढ़ भजन । आमार वचने तोमार ना टलिल मन ॥१५३॥
एइमत सेवकेर प्रीति चाहि प्रभु-पाय । प्रभु छाड़ाइले पद छाड़न ना याय ॥१५४॥
तोमार भाव-निष्ठा जानिवार तरे । तोमारे आग्रह आमि कैल बारे बारे ॥१५५॥
साक्षात् हनुमान तुमि, श्रीराम–किङ्कर । तुमि केने छाड़िवे तांर चरण कमल ? ॥१५६॥
सेई मुरारिगुप्त एइ मोर प्राणसम । इंहार दैन्य शुनि मोर फाटये जीवन ॥१५७॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"इसके वचन सुन कर मुझे बहुत ही आनन्द हुआ, तब इसे उठा कर मैंने आलिङ्गन कर लिया और कहा—"बहुत सुन्दर, बहुत सुन्दर, गुप्त ! तुम्हारा भजन सुदृढ़ है, जो मेरे वचनों से भी तुम्हारा मन टलमल नहीं हुआ। वास्तव में सेवक की प्रीति प्रभु के चरणों में इसी प्रकार सुदृढ़ होनी चाहिये, यदि स्वयं प्रभु भी छुड़ाना चाहें तो भी सेवक उनके चरण न छोड़े—ऐसी दृढ़ प्रीति होनी चाहिये। गुप्त ! तुम्हारी भाव-निष्ठा को देखने के लिये मैंने बारबार तुम से (श्रीकृष्ण-भजन करने का) आग्रह किया था। तुम साक्षात् श्रीराम किङ्कर श्रीहनुमान हो, तुम भला श्रीरघुनाथजी के चरण-कमल कैसे छोड़ सकते हो ?" प्रभु ने सब भक्तों को सम्बोधन करते हुए कहा—"यह वही मुरारिगुप्त है जो मुझे प्राणों के समान प्यारा है। इसकी दीनता को देखकर तो ओहो ! मेरा हृदय फटता है

तबे वासुदेवे प्रभु करि आलिङ्गन । तांर गुण कहे हैया सहस्र बदन ॥१५८॥
निज गुण शुनि दण्ड मने लज्जा पाञा । निवेदन करे प्रभुर चरणे धरिया ॥१५९॥
जगत् तारिते प्रभु ! तोमार अवतार । मोर निवेदन एक कर अङ्गीकार ॥१६०॥
करिते समर्थ तुमि प्रभु दयामय । तुमि मन कर यबे अनायासे हय ॥१६१॥
जीवेर दुख देखि मोर हृदय विदरे । सब जीवेर पाप प्रभु ! देह मोर शिरे ॥१६२॥
जीवेर पाप लञा मुञि करों नरक भोग । सकल जीवेर प्रभु ! घुचाओ भव–रोग ॥१६३॥

फिर श्रीमहाप्रभु ने श्रीवासुदेवदत्त को आलिङ्गन किया एवं उसके गुणों को मानो सहस्र-मुख होकर प्रभु वर्णन करने लगे। अपने गुणों को सुन कर लज्जित होते हुए श्रीदत्त ने प्रभु के चरण पकड़ लिये और निवेदन करने लगा। हे प्रभो! आपका अवतार जगत् का उद्धार करने के निमित्त है, मेरी एक प्रार्थना है, आप उसे अङ्गीकार कीजिये। प्रभो! आप दयामय हो, आप मेरी प्रार्थना को पूरा भी करने में समर्थ हो। हां, यदि आपके मन में आजाए तो वह काम अनायास हो सकता है। वह प्रार्थना यह है कि संसार के जीवों के दुखों को देखकर मेरा हृदय फटा जाता है। हे प्रभो! इन जीवों के पाप मेरे मस्तक पर मढ़ दीजिये। मैं उन समस्त पापों को लेकर नरक भोगता रहूँगा, किन्तु उन समस्त जीवों का भव-रोग आप मिटा दीजिये ॥१५८—१६३॥

एत शुनि महाप्रभुर चित्त द्रविला। अश्रु कम्प स्वरभङ्गे वलिते लागिला ॥१६४॥

तोमार एइ चित्र नहे, तुमित प्रह्लाद। तोमार उपरे कृष्णेर सम्पूर्ण प्रसाद ॥१६५॥

कृष्ण सेइ सत्य करे, येइ मागे भृत्य। भृत्य वाञ्छापूर्ति-बिनु नाहि अन्य कृत्य ॥१६६॥

ब्रह्माण्ड–जीवेर तुमि वाञ्छिले निस्तार। बिना पापभोगे हवे समार उद्धार ॥१६७॥

असमर्थ नहे कृष्ण धरे सर्वबल। तोमाके वा केने भुञ्जाइवे पाप फल ॥१६८॥

तुमि यार हित वाञ्छ, से हैल वैष्णव। वैष्णवेर पाप कृष्ण दूर करे सब ॥१६९॥

यह सुनकर प्रभु का मन द्रवीभूत होगया और उनके नेत्र अश्रु-पूर्ण होगये, उनमें कम्प एवं स्वर-भेद होने लगा। प्रभु ने कहा—"दत्त! तुम्हारे लिये ऐसा कहना कोई विचित्र बात नहीं है, तुम प्रह्लाद हो न! तुम पर श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण कृपा है। भक्त जो भी मांगता है, श्रीकृष्ण उसे सत्य करते हैं, श्रीकृष्ण को अपने सेवकों की वाञ्छापूर्ति करने के अतिरिक्त और कोई काम ही नहीं है। दत्त! तुमने ब्रह्माण्ड के जीवों के निस्तार की वाञ्छा की है, बिना पापों के भोगे उन सब का निश्चय उद्धार हो जायेगा। श्रीकृष्ण असमर्थ नहीं हैं, वे सर्व शक्तिमान हैं। वे तुम्हें क्यों पापों का फल भुगवायेंगे? तुमने जिनके हित की कामना की है, वे सब वैष्णव होगये और वैष्णवों के पाप तो श्रीकृष्ण सब दूर कर देते हैं ॥१६४—१६९॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीवासुदेव दत्त पूर्व-लीला में श्रीप्रह्लादजी थे। श्रीप्रह्लादजी ने श्रीनृसिंह भगवान् से भवसागर में पड़े हुए समस्त जीवों के उद्धार की प्रार्थना की थी जैसा कि, **'एवं सकर्म पतित'** इत्यादि श्लोक (श्री भा० ८–९–४१) से स्पष्ट है। श्रीप्रह्लादजी ने **'नैतान् विहाय कृष्णान् विमुमुक्ष एकः'** इत्यादि (श्री भा० ८–९–४४) प्रार्थना करते हुए अपने उद्धार के साथ साथ और सब जीवों के उद्धार की भी प्रार्थना की थी। अन्य लोग भवसमुद्र में पड़े रहें इस रूप में केवल अपना उद्धार श्रीप्रह्लाद जी ने नहीं मांगा था, उन्होंने कहा—"भगवन्! यदि अन्य जीवों का उद्धार नहीं होता, तो मैं भी उनके साथ संसार में ही रहना चाहता हूँ।" यहां सकल जीवों की मङ्गल कामना को लेकर श्रीवासुदेव दत्त को श्रीप्रह्लादजी से उपमा दी गई है। श्रीवासुदेवजी की कामना में श्रीप्रह्लाद जी की अपेक्षा एक उत्कर्ष भी है, वह यही कि श्रीवासुदेव ने अन्य जीवों के पापों को अपने मस्तक पर लेकर उन समस्त का उद्धार चाहा है। उन्हीं ने अपने लिये किन्तु उद्धार न चाह कर नरक भोगना भी स्वीकार किया है, किन्तु श्रीप्रह्लादजी ने अन्य लोगों के साथ अपने भी उद्धार की कामना की है। अन्य लोगों के पापों को लेकर नरक भोग कर अन्य लोगों का उद्धार श्रीप्रह्लाद जी का अभीष्ट न था, किन्तु श्रीवासुदेव दत्त का यही अभीष्ट है। इस अपूर्व

वैशिष्ट्य का कारण यह प्रतीत होता है, जिस प्रकार श्रीगौर स्वरूप में जीवों के प्रति करुणा का सर्वातिशायी अपूर्व विकाश है, उसी प्रकार श्रीगौरस्वरूप के पार्षद-भक्तों में भी जीव के प्रति करुणा का सर्वातिशायी विकाश है।

श्रीभगवान् अपने भक्तों के सर्व पाप नाश करने वाले हैं—इसका प्रमाण उद्धृत करते हैं—

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५–५४)

यस्त्विन्द्रगोपमथवेन्द्रमहो स्वकर्मबन्धानुरूपफल–भाजन–मातनोति।
कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजां गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥३॥

जो इन्द्रगोप-पर्यन्त (रक्तवर्ण का एक कीट विशेष, अथवा देवराज इन्द्र अथवा अति क्षुद्र कीट से लेकर इन्द्र पर्यन्त) सब को ही अपने कर्मानुरूप फल प्रदान किया करते हैं, किन्तु जो अपने भक्तगणों के सर्वविध कर्मों को निःशेष रूप से विनाश करने वाले हैं—उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ ॥३॥

तोमार इच्छामात्रे हवे ब्रह्माण्ड मोचन। सर्वमुक्त कृष्णेर नाहि किछु श्रम ॥१७०॥
एक उडुम्बर-वृक्षे लागे कोटि फले। कोटि ब्रह्माण्ड भासे विरजार जले ॥१७१॥
तार एक फल पड़ि यदि नष्ट हय। तथापि वृक्ष ना माने निज अपचय ॥१७२॥
तैछे एक ब्रह्माण्ड यदि मुक्त हय। तबु अल्प-हानि कृष्णेर मने नाहि लय ॥१७३॥

प्रभु ने कहा—"तुम्हारी इच्छामात्र से ही ब्रह्माण्ड का उद्धार हो जावेगा। सब को निस्तार करने में श्रीकृष्ण को कुछ श्रम या हानि नहीं होगी। एक गूलर के वृक्ष में कोटि कोटि फल लगते हैं, उसी प्रकार विरजा नदी या कारण-समुद्र में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रकाशित होते हैं। उस वृक्ष में से एक फल टूट कर यदि नष्ट हो जाए, तो उस में जैसे वृक्ष अपनी कुछ हानि नहीं जानता, उसी प्रकार एक ब्रह्माण्ड को श्रीकृष्ण यदि उद्धार करदें तो श्रीकृष्ण के मन में उससे कुछ भी हानि नहीं होती ॥१७०–१७३

अनन्त ऐश्वर्य कृष्णेर वैकुण्ठादिधाम। तार गड़खाइ 'कारणाब्धि' यार नाम ॥१७४॥
ताते भासे माया लञा अनन्त ब्रह्माण्ड। गड़खाइते भासे येन राइपूर्ण भाण्ड ॥१७५॥
तार एक-राइ-नाशे हानि नाहि मानि। ऐछे एक अण्डनाशे कृष्णेर नाहि हानि ॥१७६॥
सब–ब्रह्माण्ड–सह यदि मायार हय क्षय। तथापि ना माने कृष्ण किछु अपचय ॥१७७॥
कोटिकामधेनुपतिर छागी यैछे मरे। षड़ैश्वर्यपति कृष्णेर माया किबा करे ॥१७८॥

श्री वैकुण्ठादि भगवत्-धाम श्रीकृष्ण के अनन्त ऐश्वर्य की वैचित्री हैं। उन वैकुण्ठादि धामों को चारों ओर से वेष्टन करने वाली जो दिव्य जल की एक खाई है, उसे कारणाब्धि या कारण समुद्र कहते हैं। उसके एक किनारे पर माया-रचित अनन्त ब्रह्माण्ड प्रकाशित होते हैं और ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे उस जल की खाई में राई भरे भाण्ड़े तैर रहे हों। उनमें राई का एक दाना यदि नष्ट होजाए तो राई भरे भाण्ड़े में क्या हानि होती है अर्थात् कुछ भी हानि नहीं होती, उसी प्रकार एक ब्रह्माण्ड यदि मुक्त हो जाए तो श्रीकृष्ण की कुछ हानि नहीं होती। समस्त ब्रह्माण्डों के साथ यदि माया विनष्ट होजाए तो भी श्रीकृष्ण इसमें कुछ क्षति नहीं मानते। कोटि कामधेनु के मालिक की यदि एक बछिया मर जाए तो उसके लिये जैसे कुछ क्षति नहीं होती, उसी प्रकार श्रीकृष्ण षड़ैश्वर्य्यपूर्ण हैं, माया-ब्रह्माण्ड यदि नष्ट होजायें, अर्थात् उनका उद्धार हो जाये तो श्रीकृष्ण की क्या हानि ॥१७४—१७८॥

तथाहि (भाः १०—८७—१४)

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिल शक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥४॥

हे अजित ! आपकी जय हो । स्थावर एवं जङ्गम देह-धारी जीवों के आनन्दादि को आवरण करने वाले गुणों वाली माया को आप विनष्ट करने वाले हैं कारण कि अपनी स्वरूप–भूत चिच्छक्ति के द्वारा ही आप समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त हो रहे हैं। हे जीवगणों की अखिल शक्तियों के उद्‌बोधक ! सृष्टि के समय आप जब माया के साथ क्रीड़ा करते हैं एवं नित्य सच्चिदानन्द विग्रह होने के कारण अपने स्व-स्वरूप में भी स्थित रहते हैं अर्थात् अपनी नित्यलीलाओं को भी सम्पादन करते रहते हैं, तब श्रुतिगण आपको प्रतिपादित किया करती हैं ॥४॥

चै० च० चु० *टीका*:—तात्पर्य यह है कि श्रीभगवान् समस्त जीवों को माया--अविद्या को नाश करके अपने चरण कमलों का माधुर्य आस्वादन कराके जययुक्त विराजमान् हैं।' गुणवती माया को श्रीभगवान् क्यों नाश करते हैं ? यदि ऐसा कोई प्रश्न करे, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि वह माया गुणों को ग्रहण करके गुणवती हैं—यह बात ठीक है, किन्तु माया ने गुणों को ग्रहण किया है केवल दोष के निमित्त । माया दो प्रकार की है—**१–जीव-माया**—यह जीवों के ज्ञान एवं आनन्दादि को तथा जीव के स्वरूपज्ञान को आवृत्त करने वाली है तथा जीव के चित्त को भगवान् से विक्षिप्त करने वाली है—यही इसका गुण है (जो वास्तव में दोष स्वरूप है) इसलिये इसे गुणवंती कहा गया है । २–**'गुणमाया'**—यह जीवों को प्राकृत भोग्य वस्तुओं में प्रलुब्ध करने के लिये त्रिगुणों द्वारा अनेक भोग्यवस्तुओं को प्रस्तुत करती तथा जीवों का भोगायतन देह रचकर जीवों को भगवान् से सर्वतोभावेन बहिर्मुख करने वाली है। इन गुणों (दोषों) के कारण यह गुणवती कही जाती है । अतः माया गुणवती होते हुए भी विनाश करने योग्य है । श्रीभगवान् के पास इसे नाश करने की चिच्छक्ति है, वे मायापति हैं ।

जीव भी तो इस माया को ज्ञान द्वारा नाश कर सकता है ?—नहीं, जीव में ज्ञान वैराग्यादि साधनों द्वारा माया को नाश करने की स्वतन्त्र शक्ति नहीं है, अतः वह ऐसा साधन कैसे कर सकता है ? क्योंकि श्रीभगवान् ही जीव में समस्त शक्तियों को उद्‌बुध करने वाले हैं, अन्तर्यामी रूप से वही जब अपनी कृपा से जीव के अन्दर उस साधन करने की शक्ति का सञ्चार करते हैं तभी ही वह इस प्रकार का साधन कर सकता है, अन्यथा नहीं ।

मायाशक्ति भी तो श्रीभगवान् के प्राकृत्–वैभव का कारण है, अतः उसके नाश करने से उनको क्षति होती होगी ? सो यह बात भी नहीं है। श्रुतिगण कहती हैं कि श्रीभगवान् अपने स्वरूपभूत परमानन्द द्वारा हो और उस परमानन्द से अभिन्न अपनी स्वरूपशक्ति द्वारा ही सम्यक्‌रूप से समस्त ऐश्वर्य से पूर्ण हैं । माया का जो भी वैभव है, वह भी श्रीभगवान् की स्वरूप शक्ति की कृपा से ही है। जड़माया अपने आप किसी वैभव का कारण भी नहीं हो सकती । अतः निरवच्छिन्नभाव से परमानन्द दायिका श्रीभगवान् की स्वरूपशक्ति ही मानों कोटि कोटि कामधेनुओं के तुल्य उनके पास नित्य वर्तमान है। तुच्छ माया का उस महान् ऐश्वर्य के सामने कुछ भी मूल्य नहीं है, माया के नष्ट होने में श्रीभगवान् की कोई भी क्षति नहीं होती । यही बात वेद प्रतिपादन करते हैं ।

इस प्रकार ब्रह्माण्डों को अनायास मायाबन्धन से मुक्त करने को शक्ति श्रीभगवान् में है—इस बात के प्रमाण—स्वरूप ऊपर का श्लोक कहा गया है।

एइमत सब भक्तेर कहि से-से-गुण। सबाके विदाय दिला करि आलिङ्गन ॥१७९॥
प्रभुर विच्छेदे भक्त करये क्रन्दन। भक्तेर विच्छेदे प्रभुर विषण्ण हैल मन ॥१८०॥
गदाधर पण्डित रहिला प्रभुपाशे। यमेश्वरे प्रभु तार कराइला आवासे ॥१८१॥
पुरी गोसाञि जगदानन्द स्वरूपदामोदर। दामोदरपण्डित आर गोविन्दकाशीश्वर ॥१८२॥
एइ सब सङ्गे प्रभु वैसे नीलाचले। जगन्नाथ दर्शन नित्य करे प्रातःकाले ॥१८३॥

इस प्रकार सब भक्तों के समस्त गुणों को वर्णन करके श्रीमहाप्रभु ने सब को आलिङ्गन करके उन्हें विदा किया। श्रीमहाप्रभु के वियोग में सब भक्त क्रन्दन करने लगे एवं प्रभु का मन भी भक्तों के वियोग में दुखी हुआ। श्रीगदाधर पण्डित प्रभु के पास रह गये और प्रभु ने उन्हें यमेश्वर नामक बागीचा में निवास स्थान दे दिया। श्रीपुरी गोस्वामी, श्रीजगदानन्द, श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीदामोदर-पण्डित, श्रीगोविन्द तथा श्रीकाशीश्वर—इन भक्तों सहित प्रभु नीलाचल में वास करने लगे और नित्य प्रातःकाल श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन कर आनन्दित होते ॥१७९—१८३॥

एक दिने प्रभु-पाशे आसि सार्वभौम। योड़हात करि किछु कैल निवेदन—॥१८४॥
एबे सब वैष्णव गौड़ देशे गेला। एबे प्रभुर निमन्त्रणेर अवसर हैला ॥१८५॥
एबे मोर घरे भिक्षा कर मास-भरि। प्रभु कहे—धर्म नहे, करिते ना पारि ॥१८६॥
सार्वभौम कहे—भिक्षा कर विंश-दिन। प्रभु कहे—एहो नहे, यति धर्म चिन्ह ॥१८७॥
सार्वभौम कहे—कर दिन पञ्चदश। प्रभु कहे—तोमार भिक्षा एक दिवस ॥१८८॥

एक दिन श्रीसार्वभौम जी श्रीमहाप्रभु जी के पास आए और हाथ जोड़कर निवेदन करने लगे—"प्रभो ! अब सब वैष्णवगण गौड़ देश लौट गये हैं, (पहले तो वे आपको निमन्त्रण देते थे, और अन्य किसी को अवसर ही न देते थे) अब आपके निमन्त्रण का अवसर मिला है। अतः आप एक मास पर्यन्त मेरे घर पर भिक्षा कीजिये।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सार्वभौम ! एक मास तक लगातार एक व्यक्ति के घर भोजन करना संन्यासी का धर्म नहीं है। इसलिये ऐसा मैं नहीं कर सकता।" श्रीसार्वभौम जी ने कहा—"तो आप बीस ही दिन के लिये भिक्षा करिये।" प्रभु ने कहा—"ऐसा करना भी यति-धर्म के विरुद्ध है।" श्रीसार्वभौम ने कहा—"पन्द्रह दिन तक सही।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"तुम्हारे पास केवल एक दिन भिक्षा कर लूंगा" ॥१८४—१८८॥

तवे सार्वभौम प्रभुर चरण धरिया। 'दशदिन कर' कहे मिनति करिया ॥१८९॥
प्रभु क्रमे क्रमे पञ्चदिन घाटाइल। पञ्चदिन तार भिक्षा नियम करिल ॥१९०॥
तबे सार्वभौम करे आर निवेदन। तोमार सङ्गे सन्न्यासी आछे दशजन ॥१९१॥
पुरीगोसाञिर पञ्चदिन भिक्षा मोर घरे। पूर्वे आमि करियाछि तोमार गोचरे ॥१९२॥
दामोदरस्वरूप हय बान्धव आमार। कभु तोमार सङ्गे यावे कभु एकेश्वर ॥१९३॥
आर अष्ट सन्न्यसीर दुइ दुइ दिवसे। एकेकदिन एकेकजन-पूर्ण हैल मासे ॥१९४॥

फिर श्रीसार्वभौम ने प्रभु के चरण पकड़ कर दश दिनों के लिये प्रार्थना की। प्रभु ने क्रम-क्रम पांच दिन घटाये और पांच दिन के लिये भिक्षा का उनके घर नियम बना लिया। श्रीसार्वभौम ने फिर निवेदन किया कि आपके साथ दश जने संन्यासी और हैं, उनमें श्रीपुरीगोस्वामी पाञ्च दिन मेरे घर भिक्षा करेंगे, पहले भी मैं आपको यह निवेदन कर चुका हूँ। श्रीस्वरूप दामोदर तो मेरे भाई हैं, कभी आपके साथ और कभी अकेले मेरे घर भिक्षा करेंगे। बाकी जो आठ संन्यासी हैं—उनमें प्रत्येक संन्यासी दो-दो दिन मेरे घर भिक्षा करेंगे, इस प्रकार एक मास पूर्ण होजायगा, (अर्थात् पांच दिन श्रीमहाप्रभु, पाँच दिन पुरीगोस्वामी, आठ संन्यासी श्रीब्रह्मानन्दपुरी, श्रीब्रह्मानन्द भारती, श्रीविष्णु पुरी, श्रीकेशव-पुरी, श्रीकृष्णानन्द पुरी, श्रीनृसिंहतीर्थ, श्रीसुखानन्द पुरी तथा श्रीसत्यानन्द भारती।) प्रत्येक दो-दो दिन के हिसाब से सोलह दिन। इस प्रकार कुल २६ दिन होंगे एक मास में कभी तीन दिन कभी दो दिन एकादशी का नागा होता है। बाकी एक दिन—कभी श्रीस्वरूपदामोदर अकेले, कभी श्रीमहाप्रभु के साथ। इस प्रकार श्रीसार्वभौम जी ने अपने घर पूरे मास भर प्रभु का एवं संन्यासियों का निमन्त्रण स्वीकार कराया। (सब संन्यासियों को इकट्ठा भोजन न कराने का कारण अगले पयारों में कहते हैं)—

बहुत सन्न्यासी यदि आइसे एक ठाञि। सम्मान करिते नारि अपराध पाइ ॥१६५॥
तुमि निज छाया सङ्गे आसिवे मोर घर। कभु सङ्गे आसिवेन स्वरूपदामोदर ॥१६६॥
प्रभुर इङ्गित पाञा आनन्दित मन। सेइ दिन महाप्रभुर कैल निमन्त्रण ॥१६७॥

श्रीसार्वभौम ने कहा—"सब संन्यासियों को यदि एक ही दिन निमन्त्रण दिया जाये तो यथेष्ठ आदर नहीं हो सकता है, जिससे अपराध होता है। कभी आप अपनी छाया के साथ अर्थात् अकेले मेरे घर पधारेंगे और कभी आपके साथ श्रीस्वरूपदामोदर भी आयेंगे—(इससे मैं यथेष्ठ सन्मान कर सकूंगा)।' श्रीमहाप्रभु की स्वीकृति पाकर श्रीसार्वभौम का मन आनन्दित हुआ और उसी दिन के लिये उन्होंने श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रित किया ॥१६५—१६७॥

षाठीर माता नाम भट्टाचार्य गृहिणी। प्रभुर महा भक्त तेंहो स्नेहेते जननी ॥१६८॥
घरे आसि भट्टाचार्य तांरे आज्ञा दिल। आनन्दे षाठीर माता पाक चड़ाइल ॥१६९॥
भट्टाचार्य-गृहे सब द्रव्य आछे भरि। येवा शाकफलादिक आनाइल आहरि ॥२००॥
आपने भट्टाचार्य करे पाकेर सब कर्म। षाठीर-माता विचक्षण जाने पाक मर्म ॥२०१॥

श्रीसार्वभौम जी की गृहिणी को षाठी की माँ करके बोलते थे (षाठी—श्रीसार्वभौम जी की कन्या थी) वह श्रीमहाप्रभु के प्रति मातृ-स्नेह-पूर्ण महा भक्ता थीं। घर में आकर श्रीभट्टाचार्यजी ने उसे रसोई तैयार करने की आज्ञा दी। वह बहुत आनन्दित हुई और रसोई आरम्भ करदी। श्रीभट्टाचार्य के घर में सब सामान भरपूर था ही, जो शाक, फलादि घर पर नहीं थे, उन्हें भट्टाचार्य ने मंगवा लिया। श्रीसार्वभौम अपने हाथों से सब रसोई का काम करने लगे और षाठी की माता तो रसोई बनाने में अत्यन्त कुशल थी ही ॥१६८—२०१॥

पाकशालार दक्षिणे दुइ भोगालय। एक घरे शालग्रामेर भोग सेवा हय ॥२०२॥
आर घर महाप्रभुर भिक्षार लागिया। निभृते करियाछेन नूतन करिया ॥२०३॥
बाह्ये एक द्वार तार प्रभु प्रवेशिते। पाकशालार एक द्वार अन्न परिवेशिते ॥२०४॥

पाकशाला के दक्षिण में दो भोगालय थे। एक कमरे में श्रीशालग्राम जी की भोग सेवा होती थी। दूसरा कमरा श्रीभट्टाचार्य ने श्रीमहाप्रभु के एकान्त भोजन करने के लिये साफ करके नये के समान कर दिया था। बाहर से कमरे का एक दरवाजा था उसमें से प्रभु प्रवेश करते थे और एक दरवाजा रसोई में जाने के लिये था जिसमें से सामग्री लाकर प्रभु के आगे परोसी जाती थी ॥२०२—२०४॥

बत्रिशा—कलार एक आङ्गटिया पात। तिन-मान-तण्डुलेर ताते धरे भात ॥२०५॥
पीत सुगन्धि घृते अन्न सिक्त कैल। चारिदिगे पाते घृत बाहिया चलिल ॥२०६॥
केयापत्र कलार खोला डोङ्गा सारिसारि। चारिदिगे धरियाछे नाना व्यञ्जन भरि ॥२०७॥
दश प्रकार शाक, निम्ब—सुकुतार झोल। मरिचेर झाल, छानाबड़ा बड़ी घोल ॥२०८॥
दुग्धतुम्बी, दुग्धकुष्माण्ड, वेसारि, लाफरा। मोचाघण्ट, मोचाभाजा विविधशाकरा ॥२०९॥
वृद्धकुष्माण्डबड़ीर व्यञ्जन अपार। फुलबड़ी फलमूले विविध प्रकार ॥२१०॥
नव—निम्बपत्रसह भृष्ट वार्त्ताकी। फुलबड़ी पटोलभाजा कुष्मांड मानचाकी ॥२११॥
भृष्ट—माष मुद्गसूप अमृते निन्दय। मधुराम्ल बड़ाम्लादि अम्ल पांच छय ॥२१२॥
मुद्गबड़ा माषबड़ा कलाबड़ा मिष्ट। क्षीरपुली नारिकेलपुली आर यत पिष्ट ॥२१३॥
काञ्जिबड़ा दुग्धचिड़ा दुग्धलकलकी। आर यत पिठा कैल कहिते ना शकि ॥२१४॥
घृतसिक्त परमान्न मृत्कुण्डिका भरि। चांपाकला घनदुग्ध आम्र ताहां धरि ॥२१५॥
रसाला, मथित दधि, सन्देश अपार। गौड़े उत्कले यत भक्ष्येर प्रकार ॥२१६॥
श्रद्धा करि भट्टाचार्य सब कराइल। शुभ्रपीठ—उपरे शुभ्र वसन पातिल ॥२१७॥

श्रीसार्वभौम जी ने बतीस-केला (केला का एक प्रकार) के एक पत्ते पर जो बहुत बड़ा होता है, तीन—मान (अर्थात् ३×३४ तोले=१६२ तोले) चावलों का भात परोसा, उस पर पीतवर्ण सुगन्धित घृत इतना डाला कि चारों ओर से वह बह निकला। उसके चारों ओर ढाक एवं केले के पत्तों से बने हुए दोनों में अनेक व्यञ्जन भर भर कर उन्होंने रखे। दश प्रकार के साग, नीम तथा सुकुतार के पत्तों का झोल, मिर्च-झोल, पनीर-बड़ा, बड़ियों का झोल, खोये के लड्डू, खीरसा, घण्ट की तरकारी, लाफरा, मोचाघण्ट, मोचा-भाजा, अनेक प्रकार के शाकरा, वृद्धकुष्माण्डबड़ी के अनेक व्यञ्जन, फूलबड़ी, अनेक प्रकार के फलों के मूल, नीम के पत्तों सहित बैंगन का भर्ता, फूलबड़ी, पटल-भाजा, कुष्माण्ड मान चाकी, भावकला की तरकारी, मूँग की दाल जो अमृत के स्वाद की भी निन्दा करती थी, खट्टी-मिट्ठी चटनी, सोंठ के बड़ा पांच छय प्रकार के अचार, मूँग की दाल के बड़े, माष की दाल के बड़े, केला के मीठे बड़े, क्षीर-पुली (मलाई की पुरी), नारियल की पुरी, सब प्रकार की पिष्ठी आदि काजी-बड़ा, दूध के चीला, दुग्ध-लकलकी और अनेक प्रकार के पिठा जिनकी गिनती नहीं हो सकती, घी में सनी हुई क्षीर मिट्टी की कुण्डी में भरीं हुई, केला एवं आम की कतलियां रबड़ी में पड़ी हुई, आम, मथा हुआ दही, अनेक प्रकार की मिठाई, सारांश यह है कि बंगाल एवं उड़ीसा देशों में जितने प्रकार के उत्तम-उत्तम व्यञ्जन हैं, वे सब ही व्यञ्जन श्रीभट्टाचार्य ने श्रद्धा सहित तैयार कराये एवं प्रभु के लिये सफेद आसन पर एक सफेद कपड़ा बिछा दिया ॥२०५—२१७॥

दुइ पाशे सुगन्धि–शीतल–जलझारी । अन्नव्यञ्जन–उपरि देन तुलसीमञ्जरी ॥२१८॥
अमृतगुटिका पिठापाना आनाइल । जगन्नाथेर प्रसाद सब पृथक् धरिल ॥२१९॥
हेन काले महाप्रभु मध्याह्न करिया । एकले आइला तांर हृदय जानिया ॥२२०॥
भट्टाचार्य्य कैल तबे पाद प्रक्षालन । घरेर भीतर गेला प्रभु करिते भोजन ॥२२१॥

सब सामग्री के दोनों ओर दो झारियां सुगन्धित, शीतल जल की भर कर उन्होंने रखीं, (एक हाथ पांव धोने के लिये और एक पान करने के लिये ।) अन्नव्यञ्जनों पर श्रीभट्टाचार्य ने तुलसी मञ्जरी डाल दी । अमृत-गुटिका, पिठा पाना आदि सब श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद भी अलग एक स्थान पर धर दिया । इतने में श्रीमहाप्रभु जी मध्याह्न का कृत्य करके श्रीसार्वभौम की इच्छा जानते हुए अकेले ही वहां आ पहुँचे । श्रीसार्वभौम जी ने प्रभु के चरण धोये और प्रभु को भोजन कराने के लिए भीतर कमरे में ले गये ॥२१८—२२१॥

अन्नादि देखिया प्रभु विस्मित हइया । भट्टाचार्ये कहेन किछु भङ्गि करिया ॥२२२॥
अलौकिक एइ सब अन्नव्यञ्जन । दुइ प्रहर भितरे कैछे हइल रन्धन ? ॥२२३॥
शत–चूलाय यदि शतजन–पाक करे । तबु शीघ्र एत व्यञ्जन रान्धिते ना पारे ॥२२४॥
कृष्णे भोग लगाइयाछ अनुमान करि । उपरे देखिये याते तुलसी मञ्जरी ॥२२५॥
भाग्यवान् तुमि, सकल तोमार उद्योग । राधाकृष्णे लागाइयाछ एतादृश भोग ॥२२६॥
अन्नेर सौरभ वर्ण परममोहन । राधाकृष्ण साक्षात् इहा करियाछेन भोजन ॥२२७॥
तोमार बहुत भाग्य, कत प्रशंसिब । आमि भाग्यवान् इहार अवशेष पाब ॥२२८॥
कृष्णेर आसन पीठ राख उठाइया । मोरे प्रसाद देह भिन्न पात्रे करिया ॥२२९॥

अन्नादि व्यञ्जनों को देखकर श्रीमहाप्रभु विस्मित होकर श्रीभट्टाचार्य से प्रेम-पूर्वक कहने लगे—"भट्टाचार्य ! ये सब अन्नादि व्यञ्जन अलौकिक हैं, वरना दो प्रहरों में इतने पदार्थ कैसे आपने तैयार कर लिये हैं ? सौ चूल्हों पर सौ व्यक्ति भी रसोई करने लगें, तो भी इतने अल्पकाल में इतने अधिक पदार्थ तैयार नहीं कर सकते । इनको श्रीकृष्ण ने भोग लगाया है—ऐसा अनुमान होता है क्योंकि सब व्यञ्जनों पर तुलसी मञ्जरी दीख रही है । सार्वभौम ! तुम बड़े भाग्यशाली हो, तुम्हारे सब उद्योग सफल हैं कि तुम श्रीराधाकृष्ण को इस प्रकार का भोग लगाते हो । इस अन्न प्रसाद की सुगन्धि एवं वर्ण परम मनोहर है । अवश्य इसे श्रीराधा-कृष्ण ने भोजन किया है । तुम्हारे बड़े भाग्य हैं, मैं कहाँ तक प्रशंसा करूं ? मैं भी अपने को भाग्यशाली समझता हूँ कि श्रीप्रिया–प्रीतम का प्रसाद मैं भी पाऊंगा । यह आसन जो तुमने श्रीकृष्ण के लिये बिछाया था, अब इसे उठाकर ऊंचा रख दो और मुझे एक दूसरे पत्ता पर कुछ प्रसाद दे दो ॥२२२—२२९॥

भट्टाचार्य कहे—प्रभु ! ना कर विस्मय । ये खाइबे, तार शक्तये भोग सिद्ध हय ॥२३०॥
ना मोर उद्योगे, ना गृहिणीर रन्धने । यार शक्तये भोग सिद्ध से–इ–ताहा जाने ॥२३१॥
एइ त आसने वसि करह भोजन । प्रभु कहे—पूज्य एइ कृष्णेर आसन ॥२३२॥

भट्ट कहे—अन्न पीठ समान प्रसाद। अन्न खाइवे—पीठे वसिते कांहा अपराध ॥२३३॥
प्रभु कहे—भाल बलिले, शास्त्र-आज्ञा हय। कृष्णेर सकल शेष भक्त आस्वादय ॥२३४॥

श्रीसार्वभौम जी ने कहा—"प्रभो! आप कुछ विस्मय न करिये, जिन्होंने इसे आरोगना है, उनकी शक्ति से ही ये सब पदार्थ सिद्ध (तैयार) हुए हैं। न तो कुछ मेरा इसमें परिश्रम है और न ही इसमें मेरी गृहिणी की रसोई में कुछ कुशलता है, जिन की शक्ति से ये भोग तैयार हुआ है—वे ही सब जानते हैं। इस आसन पर आप ही विराजिए और भोजन करिये।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"श्रीकृष्ण का यह आसन तो पूज्य है। इस पर कैसे बैठूं।" भट्टाचार्य ने कहा—"अन्न और आसन दोनों समान ही तो श्रीकृष्ण के प्रसादी हैं। अन्न प्रसाद का जब भोजन कर लिया जाता है तो प्रसादी आसन पर बैठने में अपराध कैसा?" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"भट्ट! आप ने ठीक कहा है, शास्त्र की भी यही आज्ञा है। श्रीकृष्ण की समस्त प्रसादी वस्तुओं को भक्त आस्वादन करता है अथवा भक्त जो भी आस्वादन या सेवन करता है उसे पहले श्रीकृष्ण को निवेदन करके उसे प्रसादरूप में ग्रहण करता है।२३०-२३४।(उसका प्रमाण यह है)

तथाहि (११-६-६४)

त्वयोपयुक्तस्रग्गन्ध—वासोऽलङ्कार — चर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥५॥

श्रीउद्धव जी ने श्रीश्यामसुन्दर भगवान् से कहा—"आपके प्रसादी माला, चन्दनादि-सुगन्धित द्रव्य, वस्त्र तथा अलङ्कारादिकों के द्वारा सज्जित होकर आपके उच्छिष्ट-भोजी-दास हम लोग आपकी माया को जीतने में निश्चय ही समर्थ होंगे" ॥५॥

चै० च० चु० *टीका*:—उक्त श्लोक में श्रीउद्धव जी ने श्रीकृष्ण के प्रसादी माल्यचन्दनादि ग्रहण करने की बात कही है। प्रसादी माल्यादि-ग्रहण करने से माया को जीता जा सकता है, यह बात सत्य है, किन्तु माया से भयभीत होकर माया को जीतने के अभिप्राय से श्रीउद्धव जी ने यह बात नहीं कही है। परन्तु वह श्रीकृष्ण की अत्यन्त प्रीति के कारण उनके प्रसादी माल्यचन्दनादि ग्रहण किये बिना रह नहीं सकते। इसलिये वह उन समस्त को धारण करते हैं। हां, यदि ऐसे में माया उन पर आक्रमण करे तो वह श्रीकृष्ण-प्रसादी माल्यचन्दनादि अस्त्रों-शस्त्रों से लैस होकर उस माया को पराजित करेंगे। किन्तु माया को पराजित करने के निमित्त अपने ज्ञान वैराग्यादि का आश्रय वह नहीं लेंगे—इस प्रकार इस श्लोक की टीका करते हुए श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद ने तात्पर्य व्यक्त किया है।

श्रीसार्वभौम एवं श्रीमहाप्रभु के बीच जो श्रीकृष्ण-प्रसादी आसन की बात चल रही है और जिसके प्रमाण में यह श्लोक उद्धृत हुआ है, उस आसन के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख इस श्लोक में नहीं दीखता। किन्तु किसी वस्तु का यथायुक्त व्यवहार में लाना ही उसका आस्वादन करना है, श्रीकृष्ण-प्रसादी माला को गले में धारण करना ही उसका आस्वादन करना है। श्रीकृष्ण-प्रसादी व्यञ्जन का खाना ही उसका आस्वादन करना है। इसी प्रकार पयार में कहे हुए "सकल शेषेर"—शब्दों में अर्थात् समस्त प्रसादी वस्तुओं के अन्तर्भुक्त आसन भी आ जाता है। अन्यत्र श्लोक में आसन की कथा नहीं हैं तो भी श्रीमहाप्रभु ने उसे ग्रहण किया।

किन्तु साधक-भक्त श्रीकृष्ण के आसन पर नहीं बैठते और न ही उनकी प्रसादी-शय्या पर शयन ही करते हैं। बल्कि श्रीकृष्ण के आसन-शय्यादि तो भक्तों के लिये पूज्य एवं नमस्कार करने योग्य हैं। शास्त्र प्रमाणों को उद्धृत करते हुए श्रीहरि-भक्ति-विलास में कहा गया है कि श्रीगुरुदेव के प्रसादी-माला,

शय्या, पादुका, आसन, छाया एवं स्नान जलादि को उलङ्घन करने से, उनको पांव लगाने से अपराध होता है, तो भगवान् के प्रसादी आसनादि पर पांव देना अपराध-जनक है ही— इसमें कहना ही क्या है ? श्रीभगवान् के प्रसादी–माला चन्दनादि वस्तुओं को शिर पर धारण करने का विधान है। प्रसादी–आसन को शिर पर धारण किया जा सकता है, उसका उलङ्घन करना भी अपराधजनक है, बैठना तो दूर रहा। अतः साधक–भक्तों के लिये श्रीकृष्ण–प्रसादी प्रत्येक वस्तु को व्यवहार करने में उसकी मर्यादा एवं पूजनीयत्व की रक्षा करनी चाहिये ।

श्रीमन्महाप्रभु तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वस्तुतः श्रीसार्वभौम जी ने वह आसन श्रीमहाप्रभु जी के लिये ही बिछाया था और अन्तर्यामी श्रीमहाप्रभु भी इस बात को जानते थे कि वह आसन उनके लिये ही बिछाया गया है। चाहे बाहर से उन दोनों में से किसी ने भी मुख से यह बात व्यक्त नहीं की। भक्त की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रभु ने उस आसन को अङ्गीकार कर लिया और उस पर वे बैठ गये। यहाँ यह ध्यान रहे कि श्रीभागवत् के श्लोक के प्रमाण–बल पर उन्होंने आसन ग्रहण नहीं किया ।

श्रीभागवत् का आदेश ही अनुसरणीय एवं पालनीय हुआ करता है। उनके आचरण भक्तों के पक्ष में अविचार-पूर्वक अनुकरणीय नहीं हैं। भक्तों के पक्ष में श्रीकृष्ण–प्रसादी आसन का नमस्कार एवं सत्कार करना ही उसका आस्वादन है। श्रीकृष्ण–रूप, नाम-कथादि की भांति इसका भी अन्तरिन्द्रिय से आस्वादन अभिप्रेत है।

सारांश यह है कि श्रीकृष्ण–प्रसादी कोई भी वस्तु अधमाङ्ग से (नाभि के निचले अङ्ग पांवादि से) व्यवहार में नहीं लाई जाती, जिस प्रकार भक्ति उन्मेषित हो एवं उसकी पुष्टि साधित हो—उसी भाव से ही उसका व्यवहार करना भक्तों के लिये विधान है और वही यथार्थ आस्वादन है।

तथापि एतेक अन्न खाओन ना याय। भट्ट कहे—जानि खाओ यतेक युयाय ॥२३५॥

नीलाचले भोजन तुमि कर बायान्न बार। एक–एक भोगेर अन्न शतशत–भार ॥२३६॥

द्वारकाते षोलसहस्र महिषी मन्दिरे। अष्टादश माता आर यादवेर घरे ॥२३७॥

व्रजे ज्येठा–खुड़ा–मामा–पिसादि गोपगण। सखीवृन्द सभार घरे द्विसन्ध्या भोजन ॥२३८॥

गोवर्द्धन–यज्ञे खाइले अन्न राशि–राशि। तार लेखे एइ अन्न नहे एकग्रासी ॥२३९॥

तुमि त ईश्वर, मुञि क्षुद्र कोन् छार। एक ग्रास माधुरी कर अङ्गीकार ॥२४०॥

एत शुनि हासि प्रभु बसिला भोजने। जगन्नाथ–प्रसाद भट्ट देन हर्षमने ॥२४१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सार्वभौम ! तथापि इतना प्रसाद तो मुझसे नहीं खाया जा सकता।" भट्ट ने कहा—"जितना कुछ आप खा सकते हो, उसे मैं जानता हूँ।" नीलाचल में (श्रीजगन्नाथ रूप से) आप प्रति दिन बावन (५२) बार भोजन करते हो और एक एक भोग में सौ-सौ भार अन्न परोसा जाता है। द्वारका में सोलह-हजार महिषी-वृन्द के घरों में. एवं अठारह माताओं (देवकी, रोहिणी, पौरवी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला, कौशल्या, धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा–आदि श्रीवसुदेव-गृहणी) के घरों में और अन्यान्य आत्मीयजन यादवों के घरों में आप (श्रीवासुदेवरूप से) नित्य सन्ध्या सवेरे दो बार भोजन करते हैं। ब्रज में (श्रीव्रजेन्द्रनन्दन रूप से) श्रीनन्द–यशोदा-पितामाता के घर में, (श्रीउपनन्द, श्रीअभिनन्द—इन दोनों) ज्येष्ठ-तातों (ताऊन) के घर में, (श्रीसनन्द, श्रीनन्दन, श्रीसुनन्द—इन) चाचाओं के घर में, (श्रीयशोधर, श्रीयशोदेव एवं श्रीसुदेव-इन) मामाओं के घर में

(श्रीमहानील, श्रीसुनील—इन दोनों) नानाओं के घर में, अन्यान्य गोपबालकों के घरों में तथा अपनी प्रेयसी गोपियों के घर में नित्य प्रति आप दोबार भोजन करते हो। नित्य के भोजन की बात छोड़ दो आपने श्रीगिरिराज-रूप से गोवर्द्धन यज्ञ में ढेरों के ढेर पदार्थ भोजन किये—उस हिसाब से, प्रभो! ये पदार्थ आपका एक ग्रास भी तो नहीं हैं। आप तो ईश्वर हैं। मैं एक क्षुद्र दरिद्र जीव हूं। आपके लिये भोजन मैं क्या करा सकता हूँ। यह एक ग्रास भर मधुकरी है—इसे स्वीकार कीजिये। श्रीसार्वभौम जी के वचन सुनकर श्रीमहाप्रभु हंस पड़े और भोजन करने बैठ गये। श्रीभट्टाचार्य जी श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद जो अलग रखा था, वह भी हर्षित होकर प्रभु को परोसने लगे ॥२३५—२४१॥

चै० च० चु० *टीका*:—मधुकर जैसे भिन्न-भिन्न फूलों से थोड़ा-थोड़ा मधु जितना भी सहज में प्राप्त होजाये ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार अल्प अल्प जो कुछ भी भोजन भिन्न-भिन्न घरों से प्राप्त होजाए—इस प्रकार उदर-पूर्ति करने की वृत्ति का नाम माधुकरी है।

हेनकाले अमोघ-नामे भट्टेर जामाता। कुलीन निन्दक तेंहो षाठीकन्यार भर्त्ता ॥२४२॥
भोजन देखिते चाहे, आसिते ना पारे। लाठी हाथे भट्टाचार्य आछेन दुयारे ॥२४३॥
तेंहो यदि प्रसाद दिते हैला आनमन। अमोघ आसि अन्न देखि करये निन्दन ॥२४४॥
एइ अन्न तृप्त हय दश बार जन। एकेला सन्न्यासी करे एतक भोजन ॥२४५॥
शुनितेइ भट्टाचार्य उलटी चाहिल। तार अवधान देखि अमोघ पलाइल ॥२४६॥

इसी समय श्रीसार्वभौम जी की षाठी-कन्या का पति अर्थात् उनका जामाता जिसका नाम अमोघ था, वहां आ पहुँचा। वह किसी न किसी की प्रायः निन्दा ही करता रहता था। वह श्रीमहाप्रभु को भोजन करते देखना चाहता था। परन्तु इसी आशंका से श्रीभट्टाचार्य जी उस कमरे के दरवाजे पर लाठी हाथ में लेकर बैठे हुए थे। इसलिये अमोघ भीतर प्रवेश न कर सकता था। श्रीसार्वभौम जब प्रसाद परोसने में व्यस्त थे और उनका ध्यान उसी ओर लग रहा था तो अमोघ ने आकर उन सब पदार्थों को देख लिया और इस प्रकार प्रभु की निन्दा करने लगा—"ओहो! इतने अन्न-भोजन से तो दश-बारह व्यक्ति तृप्त होते हैं, यह संन्यासी अकेला इतना भोजन करता है।" इतना सुनते ही श्रीभट्टाचार्य ने दृष्टि फेर कर अमोघ की ओर देखा। श्रीभट्टाचार्य की दृष्टि पड़ते ही अमोघ वहां से भाग निकला ॥२४२-२४६॥

भट्टाचार्य लाठी लैया मारिते धाइला। पलाइला अमोघ, तार लाग ना पाइला ॥२४७॥
तारे गालि-शाप दिते भट्टाचार्य आइला। निन्दा शुनि महाप्रभु हासिते लागिला ॥२४८॥
शुनि षाठीर माता बूके-शिरे हात मारे। 'षाठी रांड़ी हौक' इहा बोले बारे बारे ॥२४९॥
दोहार दुख देखि प्रभु दोंहा प्रबोधिया। दोहांर इच्छाते भोजन कैल तुष्ट हैया ॥२५०॥

श्रीभट्टाचार्य जी लाठी लेकर उसे मारने के लिये उसके पीछे दौड़े, परन्तु अमोघ कहां भागा, उसका कुछ पता न लगा। उसे अनेक गालियां एवं शाप देते हुए श्रीभट्टाचार्य जी लौट आये। श्रीमहाप्रभु अमोघ के मुख से अपनी निन्दा सुनकर हंसने लगे। षाठी की मां तो अमोघ के वचन सुनकर अपने शिर और छाती को कूटने लगी और बार बार कहने लगी—" मेरी षाठी राण्ड (विधवा) हो जाओ, ऐसा प्रभु-निन्दक जामाता मर जाए तो अच्छा है।" दोनों के इस प्रकार दुःख को देखकर महाप्रभु जी ने दोनों को सान्त्वना दी और उनकी इच्छानुसार सन्तुष्ट होकर उन्होंने भोजन किया ॥२४७—२५०॥

आचमन कराइया भट्ट दिल मुखवास। तुलसी मञ्जरी लवङ्ग एलाची रसवास ॥२५१॥
सर्वाङ्गे पराइल प्रभुर माल्य चन्दन। दण्डवत् हैया कहे दैन्य वचन— ॥२५२॥
निन्दा कराइते तोमा आनिमु निजघरे। एइ अपराध प्रभु! क्षमा कर मोरे ॥२५३॥
प्रभु कहे—निन्दा नहे, सहज कहिल। इहाते तोमार किवा अपराध हैल ॥२५४॥
एत बलि महाप्रभु चलिला भवने। भट्टाचार्य तांहार घरे गेला तांर सने ॥२५५॥
प्रभु पाये पड़ि बहु आत्मनिन्दा कैल। तारे शान्त करि प्रभु घरे पाठाइल ॥२५६॥

भोजन के बाद श्रीभट्टाचार्य ने श्रीमहाप्रभु को आचमन कराया एवं तुलसी-मञ्जरी, लौंग, इलायची एवं कबाबचीनी आदि मुख-शुद्धि के लिये प्रभु को दिये। श्रीमहाप्रभु के सर्वाङ्गों में उन्होंने चन्दन लगाया और माला पहराई। दण्डवत्-प्रणाम करके दीन वचनों में प्रार्थना करने लगे—"प्रभो! आपकी निन्दा कराने के लिये मैं आपको अपने घर ले आया था, आप मेरा यह अपराध क्षमा कीजिये। श्रीमहाप्रभुने कहा—सार्वभौम! यह निन्दा नहीं है। अमोघ ने तो प्राकृत बात ही कही है (वस्तुतः इस अन्न-भोजन से दश-बारह व्यक्ति तृप्त होते) तुम्हारा इसमें क्या अपराध है।" इतना कह कर श्रीमहाप्रभु अपने निवास-स्थान पर चल दिये और भट्टाचार्य जी उन्हें उनके स्थान तक पहुँचाने गये। श्रीभट्टाचार्य जी ने श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ कर अपनी बहुत निन्दा की। श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें शान्त किया एवं उन्हें उनके घर भेज दिया ॥ २५१—२५६ ॥

घरे आसि भट्टाचार्य, षाठीर माता सने। आपना निन्दिया किछु कहेन वचने—॥२५७॥
चैतन्य गोसाञिर निन्दा शुनिल याहा हैते। तारे बध कैले हय पाप-प्रायश्चित्ते ॥२५८॥
किंवा निज प्राण यदि करि विमोचन। दुइ नहे योग्य, दुइ शरीर ब्राह्मण ॥२५९॥
पुन सेइ निन्दकेर मुख ना देखिव। परित्याग कैल, तार नाम ना लइव ॥२६०॥
षाठीके कह—तारे छाडुक से हैल पतित। पतित हइले भर्त्ता त्यजिते उचित ॥२६१॥

श्रीभट्टाचार्य घर पर जब लौट आए तो षाठी की मां के सामने अपनी बहुत निन्दा की और कहने लगे—"श्रीचैतन्यदेव गोस्वामी की मैंने निन्दा सुनी है, इसलिये उस निन्दक का वध कर देने पर ही मेरे पाप का प्रायश्चित होगा। अथवा फिर अपने प्राण त्याग करने पर ही इस पाप की निवृति होगी। किन्तु अमोघ भी और मेरा भी ब्राह्मण-शरीर है। उसके मारने एवं अपने को मार डालने में ब्राह्मण-हत्या होगी यह दोनों काम उचित नहीं हैं। इसका उपाय यही है कि उस प्रभु-निन्दक का हम मुख ही नहीं देखें और उसका सदा के लिये त्याग करदें, उसका नाम भी कभी नहीं लें। तुम षाठी को कह दो कि वह भी अपने पति का त्याग करदे कारण कि वह भगवत्-निन्दा ने से अपने ब्राह्मणधर्म से पतित होगया है। शास्त्र कहता है कि पतित होजाने पर पति को स्त्री त्याग दे—यही उसके लिये उचित है ॥ २५७—२६१॥ (जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा है—)

तथाहि (भाः ७—११—२८)

सन्तुष्टाऽलोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक्।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥६॥

साध्वी नारियों के धर्मों का वर्णन करते हुए श्रीनारद जी ने कहा—"साध्वी नारी यथालाभ सन्तुष्टा होती है, भोग-विषय में लोभहीना एवं सदा आलस्य हीना होती है, जो धर्मज्ञा हो, प्रियवादिनी तथा सत्य बोलने वाली हो, सब कामों में सतर्का हो एवं जो सदा पवित्र एवं स्निग्धा होकर अपतित अर्थात् महापातकशून्य पति का भजन करती हैं, वही साध्वी नारी है ॥६॥

चै० च० चु० *टीका:*—यह श्लोक उपर्युक्त पयार नं० २६१ का परम्पराक्रम से समर्थक है किन्तु साक्षाद्भाव से समर्थक नहीं है।" 'अपतित-पति का भजन करे' इससे ध्वनित होता है कि पतित-पति का सेवन साध्वी-नारी के लिये विधान नहीं है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से शास्त्र की ऐसी आज्ञा है, क्योंकि यदि पति महापातक करने वाला होगा, उसके सङ्ग से, उसके उपार्जित अशुद्ध धन-धान्य से, उसके निन्दित आचरण से, कपट व्यवहार से स्त्री का परमार्थ भी नष्ट होकर भगवद्बहिर्मुख होकर जन्म-जन्म तक संसार सागर में गोते खाती रहेगी। इसलिये पतित-पति का त्याग ही साध्वी नारियों के लिये श्रेयस्कर कहा गया है। स्मृति भी कहती है—"**पतिञ्च पतितं त्यजेत्।**" पतित--पति को त्याग कर देना ही उचित है—यह स्मृति वचन उक्त पयार का साक्षाद्भाव से समर्थक है।

सेइ रात्रे अमोघ काहां पलाइया गेल। प्रातःकाले तारे विसूचिका व्याधि हैल ॥२६२॥
'अमोघ मरेन' शुनि कहे भट्टाचार्य्य। सहाय हइया दैव कैल मोर कार्य्य ॥२६३॥
ईश्वरेते अपराध फले ततक्षण। एतबलि पढ़े दुइ शास्त्रेर वचन ॥२६४॥

उसी रात को अमोघ न जाने कहां भाग गया। दूसरे दिन उसे सबेरे ही विसूचिका (हैजा) होगया। ऐसा किसी ने आकर कहा कि "अमोघ तो अब मरेगा"—यह बात सुनकर श्रीभट्टाचार्य ने कहा—"दैव ने ही मेरी सहायता की है, उसने ही मेरा काम कर दिया है। ईश्वर के प्रति अपराध का फल तत्काल मिला करता है।" इतना कहकर भट्टाचार्य ने शास्त्र के दो श्लोक प्रमाण स्वरूप में कहे ॥२६२—२६४॥

तथाहि महाभारते बन पर्व्वणि (२४१—१५)

महता हि प्रयत्नेन हस्त्यश्वरथपत्तिभिः।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥७॥

श्रीभीमसैन ने श्रीयुधिष्ठिर महाराज को कहाहै—"हाथी, अश्व, रथ तथा पयादों के द्वारा महा प्रयत्न से अर्थात् युद्ध करके जो कुछ हमें करना चाहिये था वह गन्धर्वगण ही कर रहे हैं ॥७॥

चै० च० चु० *टीका:*—एकबार गन्धर्वों के साथ युद्ध करते हुए वीर कर्ण पराजित होगये और उनकी कौरव--सैना भाग खड़ी हुई, किन्तु दुर्योधन फिर उनसे युद्ध करने लगा, कुछ देर में गन्धर्वों ने दुर्योधन को भी बन्दी बना लिया एवं उसके सङ्गी दुःशासनादिकों तथा राजपत्नियों को भी पकड़ कर ले गये। ऐसी दुर्दशा में दुर्योधन के कुछ लोगों ने दीनभाव से श्रीयुधिष्ठिर के पास आकर शरण ग्रहण की। भीमसैन ने उनकी अवस्था को इस श्लोक में कहा है। दुर्योधन ने धर्मात्मा युधिष्ठिर एवं भगवान् श्रीकृष्ण का अपराध किया था। इसलिये गन्धर्वों के द्वारा दुर्योधन की ऐसी दुर्दशा हुई कि राजपत्नियों एवं परिवार सहित उनके हाथ बन्दी होना पड़ा। भीमसैन ने कहा,—"हमें दुर्योधन को इस प्रकार किये की सजा देने में बहुत युद्ध करना पड़ता तब कहीं इस प्रकार वह हमारे हाथ आता। जो कुछ हमें करना पड़ता, वही गन्धर्व कर रहे ।" ईश्वर श्रीकृष्ण के अपराध होने से ही दुर्योधन की यह हालत हुई ॥

श्रीभगवान् के अपराध की बात तो दूर उनके भक्तों का—महत् पुरुषों का अपराध करने पर कितनी दुर्दशा होती है, उसे निम्न श्लोक में कहते हैं —

तथाहि (भा: १०—४—४६)

आयुः श्रियं यशो धर्म्मं लोकानाशिष एव च।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥८॥

श्रीशुकदेव जी ने महाराज परीक्षित जी से कहा—"भक्त या महत्-पुरुषों का अपराध करने से लोगों की आयु, श्री, यश, धर्म, धर्मसाध्य स्वर्गादि लोक स्वीयवाञ्छित विषय एवं सर्वविध कल्याण विनष्ट हो जाता है ॥८॥

(इसीलिये श्रीसार्वभौम जी ने कहा कि—अमोघ निश्चय ही श्रीचैतन्यदेव की निन्दा के अपराध वश मरणासन्न हो रहा है।)

गोपीनाथाचार्य्य गेला प्रभुर दर्शने। प्रभु तांरे पूछिल भट्टाचार्य्य-विवरणे ॥२६५॥
आचार्य्य कहे—उपवास कैल दुइजने। विसूचिका-व्याधिते अमोघ छाड़ये जीवने ॥२६६॥
शुनि कृपामय प्रभु आइला धाइया। अमोघेरे कहे तार बुके हाथ दिया—॥२६७॥
सहजे निर्मल एइ ब्राह्मण-हृदय। कृष्णेर वसिते एइ योग्यस्थल हय ॥२६८॥
मात्सर्य्य चण्डाल केने इंहा बसाइले?। परमपवित्र स्थान अपवित्र कैले? ॥२६९॥
सार्वभौम सङ्गे तोमार कल्मष हैल क्षय। कल्मष घूचिले जीव कृष्णनाम लय ॥२७०॥
उठह अमोघ! तुमि कह कृष्णनाम। अचिरे तोमाके कृपा करिवे भगवान् ॥२७१॥

दूसरे दिन श्रीगोपीनाथाचार्य श्रीमहाप्रभु के दर्शन करने उनके स्थान पर गये। श्रीमहाप्रभु ने उनसे श्रीभट्टाचार्य का हाल पूछा। आचार्यने कहा-"प्रभो! भट्टाचार्य एवं षाठी की मां दोनों उपवास कर रहे हैं और अमोघ के विसूचिका-रोग के कारण प्राण छूटने वाले हैं। इतना सुनते ही कृपामय श्रीमहाप्रभु अमोघ के पास दौड़कर पहुँचे और आते ही अमोघ के सीने पर हाथ रखकर कहने लगे--"यह ब्राह्मण-हृदय तो सहज ही शुद्ध होता है, यह श्रीकृष्ण के विराजमान होने योग्य स्थल है। तुमने, अमोघ! मात्सर्यरूप (ईर्षा--द्वेषरूप) चण्डाल को यहां (हृदय में) कैसे बैठा लिया ? इस परम पवित्र स्थान को तुमने अपवित्र कैसे कर दिया? श्रीसार्वभौम--परमभक्त के सङ्ग से तुम्हारे सब पाप नाश होगये हैं और जब पाप नष्ट हो जाते हैं तभी जीव श्रीकृष्णनाम उच्चारण करता है अर्थात् जीव महापुण्यों के ही प्रभाव से श्रीकृष्ण नाम का उच्चारण कर सकता है। अमोघ! उठो, तुम कृष्णनाम कहो। श्रीभगवान् तुम पर शीघ्र कृपा करेंगे ॥२६५—२७१॥

शुनि "कृष्ण-कृष्ण" बलि अमोघ उठिला। प्रेमोन्मादे मत्त हैया नाचिते लागिला ॥२७२॥
कम्पाश्रु पुलक स्वेद स्तम्भ स्वरभङ्ग। प्रभु हासे देखि तार प्रेमेर तरङ्ग ॥२७३॥
प्रभुर चरणे धरि करये विनय। अपराध क्षम मोर प्रभु दयामय ॥२७४॥
एइ छार मुखे तोमार करिल निन्दने। एतबलि आपन गाले चड़ाय आपने ॥२७५॥
चड़ाइते चड़ाइते गाल फुलाइल। हाथे धरि गोपीनाथाचार्य्य निषेधिल ॥२७६॥

श्रीमहाप्रभु के बचन सुन कर (उनके हस्त कमल के स्पर्श से प्रेम प्राप्त करके) अमोघ "श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण" कहते हुए उठ बैठा और प्रेमोन्मत्त होकर नृत्य करने लगा। उसमें कम्प, अश्रु. पुलक, स्वेद,

स्तम्भ, स्वरभङ्ग आदि प्रेम के विकार देखकर श्रीमहाप्रभु हंसने लगे। श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ कर अमोघ विनय करने लगा—"हे प्रभो ! आप दयामय हो, मेरे अपराधों को क्षमा कीजिये। इस मेरे मुख में धूलि पड़े जिससे मैंने आपकी निन्दा की है।" इतना कह कर अमोघ अपने गालों को फाड़ने लगा और चीड़ते--चीड़ते गाल जब फूलने लगे तो श्रीगोपीनाथाचार्य ने उसके हाथों को पकड़ लिया ॥२७२—२७६॥

प्रभु आश्वासन करे स्पर्शि तार गात्र। सार्वभौम—सम्बन्धे तुमि मोर स्नेहपात्र ॥२७७॥

सार्वभौम—गृहे दास—दासी ये कुक्कुर। सेहो मोर प्रिय अन्यजन रहु दूर ॥२७८॥

अपराध नाहि, सदा लह कृष्णनाम। एतबलि प्रभु आइला सार्वभौम स्थान ॥२७९॥

प्रभु देखि सार्वभौम धरिला चरणे ! प्रभु तांरे आलिङ्गिया वसिला आसने ॥२८०॥

श्रीमहाप्रभु ने अमोघ के शरीर पर-हाथ फेरते हुए उसको आश्वासन दिया और कहा—"अमोघ श्रीसार्वभौम के सम्बन्ध से तुम तो मेरी प्रीति के पात्र हो। श्रीसार्वभौम के घर के दास-दासी यहाँ तक कि वहां के जो कुत्ते भी हैं, वे भी मुझे प्यारे हैं, औरों की तो बात ही क्या है ? (फिर तुम तो उसके जमाई हो।) तुम्हारा अब मेरे प्रति कोई भी अपराध नहीं है। तुम सदा श्रीकृष्णनाम लिया करो।' इतना कहकर श्रीमहाप्रभु जी श्रीसार्वभौम के घर आए। श्रीमहाप्रभु को आया देखकर श्रीसार्वभौम उनके चरणों में गिर पड़े और प्रभु ने उन्हें आलिङ्गन कर लिया। श्रीमहाप्रभु आसन पर बैठ गये ॥२७७-२८०॥

प्रभु कहे—अमोघ शिशु, किवा तार दोष ?। केने उपवास कर केने तारे रोष? ॥२८१॥

उठ स्नान करि देख जगन्नाथ—मुख। शीघ्र आसि भोजन कर, तवे मोर सुख ॥२८२॥

तावत् रहिव आमि एथाइ वसिया। यावत् ना खाइवे तुमि प्रसाद आसिया ॥२८३॥

प्रभु—पाद धरि भट्ट कहिते लागिला। मरित अमोघ, तारे केने जीयाइला ? ॥२८४॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सार्वभौम ! अमोघ बच्चा है, उसका क्या दोष है ? आप इतना क्रोध करके क्यों उपवास कर रहे हो ?" उठिये, आप स्नान करके श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करिये और शीघ्र आकर भोजन करिये, तभी मुझे सुख होगा। मैं तब तक यहां ही बैठा रहूँगा, जब तक आप आकर प्रसाद नहीं पाओगे ?" श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ कर सार्वभौम जी ने कहा—"अमोघ मर रहा था, आपने उसे क्यों जिला दिया" ? ॥२८१—२८४॥

प्रभु कहेन, अमोघहय तोमार बालक। बालक—दोष ना लय पिता, याहाते पालक ॥२८५॥

एबे वैष्णव हैल, तार गेल अपराध। ताहार उपरे एबे करह प्रसाद ॥२८६॥

भट्ट कहे चल प्रभु ! ईश्वर दर्शने। स्नान करि ताहां मुञि आसिछों एखने ॥२८७॥

प्रभु कहे—गोपीनाथ इहांइ रहिवा। इंहो प्रसाद पाइले वार्त्ता आमारे कहिवा ॥२८८॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सार्वभौम ! अमोघ तो आपका बालक है। बालक का दोष पिता नहीं गिना करता, कारण कि वह तो उसका पालक होता है। अब वह श्रीकृष्ण—नाम करने से वैष्णव होगया है, उसके अपराध सब दूर होगये हैं। अब आप उस पर कृपा करिये।" श्रीभट्ट ने कहा—"प्रभो ! आप श्रीजगन्नाथ जी के दर्शनों को पधारिये, मैं स्नान करके वहां ही आरहा हूँ।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"श्रीगोपीनाथ यहाँ ही रहेंगे, क्योंकि यह तो प्रसाद पाकर मेरे पास आए थे और इन्होंने ही मुझे आकर सब वृत्तान्त (अमोघ की मरणासन्नदशा और आपके उपवास का) सुनाया था" ॥२८५—२८८॥

एत बलि प्रभु गेला ईश्वर–दर्शने । भट्ट स्नान दर्शन करि करिल भोजने ॥२८९॥
सेइ अमोघ हैल प्रभुर भक्त एकान्त । प्रेमे नृत्य कृष्णनाम लय महाशान्त ॥२९०॥
ऐछे चित्र लीला करे शचीर नन्दन । येइ देखे शुने तार विस्मय हय मन ॥२९१॥
ऐछे भट्टगृहे करे भोजन विलास । तार मध्ये नाना चित्र चरित्र प्रकाश ॥२९२॥

इतना कहकर श्रीमहाप्रभु जी श्रीजगन्नाथ जी के दर्शनों के लिये चले गये और श्रीसार्वभौम जी ने स्नान करके श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किये तथा वहाँ से आकर भोजन किया । वही श्रीअमोघ श्रीमहाप्रभु के एकान्तिक भक्त होगये और प्रेमपूर्वक नृत्य करते हुए श्रीकृष्णनाम करने लगे, महाशान्त-प्रकृति के बन गये । इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी विचित्र लीलाएं करते हैं जो भी उन्हें देखता और सुनता है वही चमत्कृत हो उठता है । इस प्रकार श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर में भोजन–लीला वर्णन की गई है जिसमें और भी अनेक विचित्र चरित्रों को प्रकाशित किया गया है ॥२८९—२९२॥

सार्वभौम–घरे एइ भोजन–चरित्र । सार्वभौम–प्रेम यांहा हइल विदित ॥२९३॥
षाठीर मातार प्रेम, आर प्रभुर प्रसाद । भक्त–सम्बन्धे यांहा क्षमिला अपराध ॥२९४॥
श्रद्धा करि एइ लीला शुने येइजन । अचिराते पाय सेइ चैतन्यचरण ॥२९५॥
श्रीरूप–रघुनाथ–पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२९६॥

श्रीसार्वभौम के घर में इस भोजन--चरित्र को जिसमें श्रीसार्वभौम के प्रेम की महिमा विदित होती है, और षाठी की मां का प्रेम तथा श्रीमहाप्रभु की कृपा प्रकाशित होती है, जिसमें भक्त के सम्बन्ध से उन्होंने अमोघ का अपराध क्षमा किया है । इन चरित्रों को जो भी व्यक्ति श्रद्धापूर्वक सुनेगा, उसे अति शीघ्र श्रीचैतन्य--चरणों की प्राप्ति होगी । श्रीरूपगोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चरण-कमलों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ।

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां
सार्वभौमगृहे भोजन–विलासो–नाम
पञ्चदश परिच्छेदः ॥१५॥

जयगौर

मध्य-लीला

षोड़श परिच्छेद

★

गौड़ारामं गौरमेघः सिञ्चन् स्वालोकनामृतैः ।
भवाग्नि—दग्धजनता—वीरुधः समजीवयत् ॥१॥

(जिन) श्रीगौराङ्गरूप मेघ ने अपने दर्शनरूप जलद्वारा गौड़देशरूप बागीचे को सींच कर संसार-रूप अग्नि से जलते हुए जीव समूह-लताओं को सञ्जीवित कर दिया (मैं उनको नमस्कारकरता हूँ) ॥१॥

चै० च० चु० *टीका* :—बागीचा में यदि आग लग जाए तो वहाँ के समस्त वृक्षलतादिक जलने लगते हैं, किन्तु मेघ यदि पानी बरसादे तो वह जलने से बच जाते हैं, उसी प्रकार संसार के समस्त जीव त्रितापों की अग्नि में जल रहे थे, श्रीमहाप्रभु ने गौड़देश में आकर सब को दर्शन दिये और उनके सन्तप्त हृदयों को शीतल कर उन्हें कृतार्थ कर दिया। इस श्लोक में इस परिच्छेद के प्रधान वर्णनीय विषय का अर्थात् नीलाचल से प्रभु का गौड़देश में आगमन—उल्लेख किया गया है।

इस परिच्छेद में श्रीवृन्दावन-गमन के छल से श्रीमहाप्रभु का गौड़देश में गमन, कानाई-नाट-शाला तक जाकर फिर नीलाचल लौट आना, गौड़देश में रहते हुए रामकेलि गांव में श्रीरूप-सनातन गोस्वामी के साथ मिलन, शान्तिपुर में श्रीअद्वैताचार्य के घर में श्रीरघुनाथदास गोस्वामीके साथ मिलनादि अनेक लीलाओं का वर्णन किया गया है।

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥१॥
प्रभुर हइल इच्छा याइते वृन्दावन । शुनिञा प्रतापरुद्र हइला विमन ॥२॥
सार्वभौम रामानन्द आनि दुइजन । दोंहा के कहेन राजा विनय बचन ॥३॥
नीलाद्रि छाड़ि प्रभुर मन अन्यत्र याइते । तोमरा करह यत्न तांहारे राखिते ॥४॥
तांहा बिना एइ राज्य मोरे नाहि भाय । गोसाञि राखिते करिह अनेक उपाय ॥५॥

श्रीगौराङ्गचन्द्रदेव की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्दप्रभु की जय हो। श्रीअद्वैताचार्य की जय हो, श्रीगौर-भक्तों की जय हो। श्रीमन्महाप्रभु की इच्छा श्रीवृन्दावन जाने की हो रही है—ऐसा राजा प्रतापरुद्रजी ने सुना। यह बात सुन कर उनका मन बहुत दुखी हुआ! उन्होंने श्रीसार्वभौम तथा राय-

रामानन्द जी को अपने पास बुलाया और उन्हें निवेदन किया कि श्रीमहाप्रभु का मन नीलाचल को छोड़-कर अन्यत्र जाने का है। अतः आप लोग ऐसा यत्न करिये कि वे यहां ही निवास करें, कारण कि उनके विना मुझे यह राज्य-पाट अच्छा नहीं लगता है। इसलिये आप हर प्रकार से श्रीमहाप्रभु को अन्यत्र न जाने दीजिये ॥१—५॥

रामानन्द सार्वभौम दुइजना सने। यवे युक्ति करे प्रभु याइते वृन्दाबने ॥६॥
दोंहे कहे—रथयात्रा कर दरशन। कार्त्तिक आइले तवे करिह गमन ॥७॥
कार्त्तिक आइले कहे—एबे महा शीत। दोलयात्रा देखि याइह,एइ भाल रीति ॥८॥
"आजि-कालि" करि उठाय विविध उपाय। याइते सम्मति ना देय, विच्छेदेर भय॥९॥
यद्यपि स्वतन्त्र प्रभु—नहे निवारण। भक्त-इच्छा बिना तबु ना करे गमन ॥१०॥

श्रीरामानन्द तथा श्रीसार्वभौम—इन दोनों से जब भी श्रीमहाप्रभु जी श्रीवृन्दावन जाने की बात चलाते, तब दोनों कह देते कि "रथयात्रा दर्शन करने के बाद कार्त्तिक में आप चले जाना"। कार्त्तिक आने पर कह देते कि अब तो बहुत सर्दी है, फूलडोल (होरी) पीछे जाना ही ठीक रहेगा। आज-कल करते-करते अनेक युक्तियां लड़ाते और प्रभु के विच्छेद--भय से प्रभु को जाने की सम्मति न देते। यद्यपि श्रीमहा-प्रभु परम स्वतन्त्र भगवान् हैं, फिर भी भक्तों की इच्छा उलङ्घन करके वे नहीं जाते थे ॥६—१०॥

द्वितीय वत्सरे सब गौड़ेर भक्तगण। नीलाचले चलिते सभार हइल मन ॥११॥
सभे मिलि गेला अद्वैत-आचार्य्येर पाशे। प्रभु देखिते आचार्य्य चलिला उल्लासे ॥१२॥
यद्यपि प्रभुर आज्ञा गौड़ेते रहिते। नित्यानन्द प्रभुके प्रेम भक्ति प्रकाशिते ॥१३॥
तथापि चलिला महाप्रभुके देखिते। नित्यानन्देर प्रेमचेष्टा के पारे बुझिते ? ॥१४॥

दूसरे वर्ष फिर सब गौड़ीय भक्तगणों ने नीलचल चलने की तैयारी की (कहीं-कहीं इस पयार में द्वितीय वत्सर की जगह "तृतीय वत्सर" पाठ है, किन्तु "तृतीय वत्सर" पाठ सङ्गत नहीं है। पयार नं०८५ की टीका द्रष्टव्य) सब भक्त मिलकर श्रीअद्वैताचार्य जी के पास आये। श्रीअद्वैताचार्य जी भी प्रभु के दर्शन उल्लास में चल पड़े। यद्यपि श्रीमहाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु को प्रेम-भक्ति के प्रचार करने के लिये गौड़देश में रहने की आज्ञा की थी, तथापि वे भी प्रभु के दर्शनों के लिये साथ हो लिये। श्रीनित्यानन्द प्रभु की प्रेम चेष्टाओं के रहस्य को कौन जान सकता है ॥११—१४॥

आचार्य्यरत्न विद्यानिधि श्रीवास रामाइ। वासुदेव मुरारि गोबिन्द तिन भाइ ॥१५॥
राघव पण्डित निज झालि साजाइया। कुलीनग्रामवासी चले पट्टडोरी लञा ॥१६॥
खण्डवासी नरहरि श्रीरघुनन्दन। सर्वभक्त चले, तार के करे गणन ॥१७॥
शिवानन्दसेन करे घाटी-समाधान। सभा के पालन करि सुखे लञा यान ॥१८॥
सभार सर्वकार्य करेन, देत वासास्थान। शिवानन्द जाने उड़िया-पथेर सन्धान ॥१९॥

श्रीआचार्यरत्न, विद्यानिधि, श्रीवास, श्रीरामाई तथा श्रीवासुदेव, श्रीमुरारि एवं श्रीगोविन्द—ये तीनों भाई और श्रीराघव पण्डित भी अपनी झालि (श्रीमहाप्रभु के लिये खाने के पदार्थों की भरी हुई पिटारी) लेकर नीलाचल को चले और कुलीन-ग्रामवासी भी रेशमी डोरी लेकर चले। खण्डवासी

श्रीनरहरि, श्रीरघुनन्दन आदि असंख्य भक्त प्रभु के दर्शनों के लिये रवाना हुए। श्रीशिवानन्द सेन रास्ते में लगने वाले कर को अपने पैसे से ही चुका देते और सब भक्तों के भोजन एव रहने का समाधान करते हुए सब को सुखपूर्वक ले जारहे थे। वे हर एक का कार्य करते एवं उसे रास्ते में निवासस्थान भी देते क्योंकि वे उड़ियादेश से श्रीनीलाचल जाने वाले पथ को जानते थे ॥१५—१६॥

से वत्सर प्रभु देखिते सब ठाकुराणी। चलिला आचार्य्य-सङ्गे अच्युत—जननी ॥२०॥
श्रीवास पण्डित—सङ्गे चलिला मालिनी। शिवानन्द सङ्गे चले तांहार गृहिणी ॥२१॥
शिवानन्देर बालक—नाम चैतन्यदास। तेंहो बलियाछे प्रभु देखिते उल्लास ॥२२॥
आचार्य्यरत्न सङ्गे तांहार गृहिणी। तांहार प्रेमेर कथा कहिते ना जानि ॥२३॥
सब ठाकुराणी महाप्रभुके भिक्षा दिते। प्रभुर नाना प्रियद्रव्य निल घर हैते ॥२४॥

इस वर्ष श्रीमहाप्रभु के दर्शन करने के लिये सब वैष्णवों की गृहिणियां भी साथ थीं। श्रीअद्वैताचार्य जी के साथ श्रीअच्युत की माता (श्रीअच्युत, श्रीअद्वैताचार्य के सुपुत्र थे) 'सीताठाकुराणी' थी। श्रीवास पण्डितजी के साथ उनकी गृहिणी 'मालिनी जी' थीं। श्रीशिवानन्द जी के साथ भी उनकी गृहिणी थी। श्रीशिवानन्द का एक लड़का जिसका नाम श्रीचैतन्यदास था, वह भी श्रीमहाप्रभु के दर्शन—उल्लास में साथ था। श्रीआचार्य-रत्न के साथ भी उनकी गृहिणी थी, उसके प्रेम की महिमा तो अकथनीय है। ये सब वैष्णव-गृहिणियां श्रीमहाप्रभु को भोजन कराने के लिये उनके प्रिय अनेक पदार्थों को अपने घर से ही साथ ले चलीं ॥२०—२४॥

शिवानन्दसेन करे सब समाधाने। घाटियाल प्रबोधि देन सभारे वास स्थाने ॥२५॥
भक्ष्य दिया करेन सभार सर्वत्र पालने। परम आनन्दे यान प्रभुर दर्शने ॥२६॥
रेमुणा आसिया कैल गोपीनाथ-दर्शन। आचार्य्य करिल ताहाँ कीर्त्तन—नर्त्तन ॥२७॥
नित्यानन्देर परिचय सब सेवक—सने। बहुत सम्मान आसि कैल सेवकगणे ॥२८॥
सेइरात्रि सब महान्त ताहांइ रहिला। बार क्षीर आनि आगे सेवक धरिला ॥२९॥
क्षीर बांटि सभारे दिल प्रभु नित्यानन्द। क्षीरप्रसाद पाञा सभार बाढ़िल आनन्द ॥३०॥

श्रीशिवानन्द सेन रास्ते का सब प्रबन्ध करते थे और चौकीदारों को कर देकर सन्तुष्ट करते हुए सब को वास--स्थान दिलाते थे। भोजनादि सब को देकर सन्तुष्ट करते। इस प्रकार सब वैष्णवगण परम आनन्द पूर्वक प्रभु के दर्शनों को जारहे थे। रेमुणा में आकर सबने क्षीरचोरा श्रीगोपीनाथ ठाकुर के दर्शन किये, एवं श्रीअद्वैताचार्य जी ने उनके सामने नृत्य--गान किया। श्रीनित्यानन्द प्रभु का तो वहां के सेवकों के साथ पहला परिचय था, उन सेवकों ने बहुत सम्मान आकर किया। उस रात को समस्त वैष्णव वहां ही रहे और पुजारी ने बारह पात्र क्षीर भोग के लाकर दिये। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने उस क्षीर प्रसाद को सब में बाँट दिया उसे पाकर सब परम आनन्दित हुए ॥२५—३०॥

माधव पुरीर कथा, गोपाल स्थापन। तांहारे गोपाल यैछे मागिल चन्दन ॥३१॥
तांर लागि गोपीनाथ क्षीर चुरि कैल। महाप्रभुर मुखे आगे ए कथा शुनिल ॥३२॥
सेइ कथा सभार मध्ये कहे नित्यानन्द। शुनिञा आचार्य्य मने बाढ़िल आनन्द ॥३३॥

एइमत चलि चलि कटक आइला। साक्षिगोपाल देखि से दिन रहिला ॥३४॥
साक्षिगोपालेर कथा कहे नित्यानन्द। शुनिञा वैष्णवमने बाढ़िल आनन्द ॥३५॥

श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी की कथा—श्रीगोपाल जी की स्थापना तथा श्रीगोपाल जी ने जैसे उनसे चन्दन मांगा था, उनके लिये श्रीगोपीनाथ जी ने जैसे क्षीर की चोरी की थी—ये सब चरित्र जैसे श्रीमहाप्रभु जी के मुख से श्रीनित्यानन्द जी ने सुने थे, (चतुर्थपरिच्छेद में जिनका वर्णन हो चुका है) उन्होंने वे सब चरित्र सब वैष्णवों को सुनाये, जिन्हें सुनकर श्रीअद्वैताचार्यजी को बहुत आनन्द हुआ। इस प्रकार चलते-चलते सब आनन्दपूर्वक कटक आ पहुँचे। वहां श्रीसाक्षिगोपालजी के दर्शन किये और वहां ही निवास किया। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने सब को श्रीसाक्षिगोपाल जी कथा सुनाई (जो पञ्चम परिच्छेद में वर्णन की जा चुकी है) जिसे सुनकर सब वैष्णवगण आनन्दित हुए ॥३१—३५॥

प्रभु के मिलिते सभार उत्कण्ठा अन्तरे। शीघ्र करि आइला श्रीनीलाचले ॥३६॥
आठारमालाके आइला गोसाञि शुनिया। दुइ मालापाठाइला गोविन्द हाथे दिया ॥३७॥
दुइ माला गोविन्द दुइ जने पराइल। अद्वैत अवधूत गोसाञि बड़ सुख पाइल ॥३८॥
ताहांइ आरम्भ कैल कृष्ण सङ्कीर्तन। नाचिते नाचिते चलि आइला दुइ जन ॥३९॥
पुन माला दिया स्वरूपादि निजगण। आगुवाढ़ि पाठाइल शचीरनन्दन ॥४०॥

श्रीमहाप्रभु के मिलने के लिये सब का मन उत्कण्ठित हो रहा था, सब अति शीघ्र श्रीनीलाचल आ पहुँचे। जब सब आठारमाला-स्थान पर पहुँचे, तो उनका आगमन सुन कर श्रीमहाप्रभु ने श्रीगोविन्द के हाथ में दो माला देकर उसे उनकी अगवानी के लिये भेजा। श्रीगोविन्द ने आकर एक एक माला श्रीअद्वैताचार्य तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु को पहराई, वे दोनों श्रीगोविन्द से मिलकर बहुत सुखी हुए। वहां से दोनों ने श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन करना आरम्भ कर दिया एवं नृत्य करते हुए चलने लगे। श्रीमहाप्रभु ने फिर श्रीस्वरूप दामोदर आदि अपने भक्तों को मालादि देकर उनकी अगवानी के लिये भेजा ॥४०॥

नरेन्द्रे आसिया तांरा सभारे मिलिला। महाप्रभुर दत्त माला सभारे पराइला ॥४१॥
सिंहद्वार निकटे आइला शुनि गौरराय। आपने आसिया प्रभु मिलिला सभाय ॥४२॥
सभा लैया कैल जगन्नाथ दरशन। सभा लञा आइला पुन आपन भवन ॥४३॥
वाणीनाथ काशीमिश्र प्रसाद आनिल। स्वहस्ते सभारे प्रभु प्रसाद खाओयाइल ॥४४॥
पूर्ववत्सरे यार येइ वासास्थान। ताहां सभा पाठाइया कराइल विश्राम ॥४५॥

नरेन्द्र सरोवर पर वे सब वैष्णवों से आकर मिले और श्रीमहाप्रभु की दी हुई मालाएं सब को पहराईं। जब प्रभु ने सुना कि सब सिंहद्वार पर आगये हैं तो वे स्वयं वहां आकर सब को मिले। सब को मिल कर उन सब को साथ लेकर श्रीमहाप्रभु ने श्रीजगन्नाथजी के दर्शन किये। फिर सबको साथ लेकर श्रीमहाप्रभु अपने निवासस्थान पर आए। श्रीवाणीनाथ तथा श्रीकाशीनाथ मिश्र, श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद ले आए एवं श्रीमहाप्रभु जी ने सब को अपने हाथों से भोजन कराया। पहले वर्ष की भांति सब को प्रभु ने उनके वासस्थान पर विश्राम करने को भेज दिया ॥४१—४५॥

एइमत भक्तगण रहिला चारिमास। प्रभुर सहिते करे कोर्त्तन विलास ॥४६॥

पूर्ववत् रथयात्राकाल यवे आइल। सभालञा गुण्डिचा-मन्दिर प्रक्षालिल ॥४७॥
कुलीनग्रामीर पट्टडोरी जगन्नाथे दिल। पूर्ववत् रथ अग्रे नर्त्तन करिल ॥४८॥
बहु नृत्य करि पुन चलिला उद्याने। वापी-तीरे ताहां याइ करिला विश्रामे ॥४९॥

इस प्रकार समस्त वैष्णवगण नीलाचल में चारमास रहे और श्रीमहाप्रभु के साथ कीर्त्तनानन्द उठाते रहे। जब रथयात्रा का उत्सव आया तो पहले की भाँति प्रभुने सब भक्तों सहित गुण्डिचा-मन्दिर का प्रक्षालन किया। कुलीनग्रामी जो रेशमी डोरी लाए थे, वह लेकर प्रभुने श्रीजगन्नाथजी के लिए पुजारी को दी, प्रभु ने पहले की भाँति श्रीजगन्नाथ जी की रथ के आगे नृत्य किया। अनेक नृत्य के पश्चात् प्रभु पुष्पोद्यान में आए और बावली के किनारे आपने जाकर विश्राम किया ॥४६—४९॥

राढ़ी एक विप्र-तेंहो नित्यानन्ददास। महा भाग्यवान तेंहो, नाम कृष्णदास ॥५०॥
घट भरि प्रभुर तेंहो अभिषेक कैल। तार अभिषेके प्रभु महा तृप्त हैल ॥५१॥
बलगण्डिभोगेर बहु प्रसाद आइल। सभा सङ्गे महाप्रभु प्रसाद खाइल ॥५२॥
पूर्ववत् रथयात्रा कैल दरशन। होरा-पञ्चमी यात्रा देखे लञा भक्तगण ॥५३॥

राढ़देश का एक विप्र जिसका नाम श्रीकृष्णदास था नह श्रीनित्यानन्द का दास था। उसने जल का घड़ा भर कर श्रीमहाप्रभुजी को स्नान कराया और उसकी सेवा (स्नान) से प्रभु बहुत तृप्त हुए, बलगण्डी पर जो भोग लगता है—वहां का प्रसाद प्रभु के पास आया और श्रीमहाप्रभु जी ने सब भक्तों के साथ प्रेमपूर्वक पाया। पहले वर्ष की भांति रथयात्रा के दर्शन किये, फिर भक्तों सहित प्रभु ने होरा-पञ्चमी यात्रा का दर्शन किया ॥५०—५३॥

आचार्य्य गोसाञि प्रभुर कैल निमन्त्रण। तार मध्ये कैल यैछे झड़-वरिषण ॥५४॥
विस्तारि वर्णियाछेन दास वृन्दावन। श्रीवास प्रभुरे तबे कैल निमन्त्रण ॥५५॥
प्रभुर प्रिय व्यञ्जन सब रान्धेन मालिनी। भक्त्ये दासी अभिमान, वात्सल्ये जननी ॥५६॥
आचार्य्यरत्न-आदि यत मुख्य भक्तगण। मध्ये मध्ये प्रभुरे करेन निमन्त्रण ॥५७॥

श्रीआचार्य्य गोस्वामी ने श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रण दिया, और जैसे उस समय वर्षा हुई और प्रभु अकेले ही उनके घर उनकी इच्छानुसार भोजन करने पधारे—उस चरित्र को श्रीवृन्दाबनदास जी ने (श्रीचैतन्यभागवत में अन्त्यलीला नवम अध्याय में) विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। फिर एक दिन श्रीवासजी ने श्रीमहाप्रभु का निमन्त्रण किया और उनकी गृहिणी मालनी ने श्रीमहाप्रभु के मन भावते अनेक व्यञ्जन तैयार किये। सेवा करने में वह दासी अभिमान रखतीं थी एवं वात्सल्य में वह प्रभु में माता की भांति स्नेह करती थीं। श्रीआचार्यरत्न आदि जितने मुख्य भक्त थे, वे सब भी अवसर पाकर प्रभु को भिक्षा कराते थे ॥५४—५७॥

चातुर्मास्य-अन्ते पुन नित्यानन्द लञा। किवा युक्ति करे नित्य निभृते वसिया ॥५८॥
आचार्य्यगोसाञि के प्रभु कहे ठारे-ठोरे। आचार्य तर्ज्जा पढ़े केहो बुझिते ना पारे॥५९॥
तांर मुख देखि हासे शचीरनन्दन। अङ्गीकार जानि आचार्य्य करेन नर्त्तन ॥६०॥
किवा प्रार्थना, किवा आज्ञा, केहो ना बुझिल। आलिङ्गन करि प्रभु तांरे विदाय दिल ॥६१

चातुर्मास्य की समाप्ति पर श्रीमहाप्रभु जी श्रीनित्यानन्द के साथ एकान्त स्थान पर बैठकर नित्य प्रति कुछ विचार परामर्श करते थे। एक दिन श्रीअद्वैताचार्य्य को भी श्रीमहाप्रभु ने इशारे से कुछ कहा। श्रीअद्वैताचार्य्य जी ने भी कुछ ऐसी भाषा में बात कही जिसे कोई भी समझ न सका। श्रीअद्वैताचार्य के मुख को देख कर श्रीमहाप्रभु हँस दिये। श्रीअद्वैतप्रभु श्रीमहाप्रभु के हँसने से जान गये कि वे जो कुछ चाहते थे, प्रभु उसका अनुमोदन कर रहे हैं। यह जान कर श्रीअद्वैत आनन्द पूर्वक नृत्य करने लगे। उन्होंने क्या प्रार्थना की, अथवा क्या आज्ञा की, कोई भी न समझ सका। श्रीअद्वैत को प्रभु ने आलिङ्गन किया एवं उन्हें विदा किया ॥५८—६१॥

चै० च० चु० *टीका*:—उपर्युक्त पयारों में किस विषय पर श्रीनित्यानन्द प्रभु से श्रीमहाप्रभु ने एकान्त में परामर्श किया, एवं अपरिचित भाषा में श्रीअद्वैत प्रभु ने क्या प्रार्थना की—यह समस्त विषय अज्ञात है। भक्तिप्रचार-सम्बन्धी विषय तो नहीं हो सकता। कारण कि भक्ति प्रचार के सम्बन्ध में तो श्रीमहाप्रभु श्रीनित्यानन्द प्रभु को सबके सामने आदेश दे चुके हैं। अनुमान किया जाता है कि यह श्रीनित्यानन्द प्रभु के विवाह के सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव है।

किसी युक्ति सङ्गत कारणवश श्रीनित्यानन्द प्रभु के विवाह का प्रयोजन समझ कर श्रीमन्महाप्रभु जी ने उन्हें ऐसा आदेश किया होगा, क्योंकि श्रीमहाप्रभु के आदेश के बिना श्रीनित्यानन्द प्रभु ने विवाह किया हो, विवाह करके संन्यासाश्रम से फिर गृहस्थाश्रम में उन्होंने बिना प्रभु के आदेश के प्रवेश किया हो—ऐसा कभी भी अनुमान नहीं किया जा सकता। श्रीमन्महाप्रभु स्वयं संन्यासी होकर दूसरे संन्यासी (श्रीनित्यानन्द) को विवाह के लिये आदेश सबके सामने देगें, यह भी सङ्गत नहीं प्रतीत होता, किन्तु श्रीअद्वैताचार्य जी स्वयं गृहस्थी हैं, वे इस प्रकार का प्रस्ताव अवश्य रख सकते हैं। परन्तु वह भी सबके सामने सरल भाषा में श्रीनित्यानन्द प्रभु के विवाह की बात संन्यासाश्रमी श्रीमहाप्रभु से जिज्ञासा करेंगे—यह भी नहीं जचता। इसलिये श्रीअद्वैताचार्य ने उस विषय को अपरिचित भाषा में कहा।

वैष्णव शास्त्रानुसार जाना जाता है कि श्रीगौर—श्रीनित्यानन्द प्रभु के आविर्भाव के साथ श्रीनित्यानन्द प्रभु के सुपुत्र श्रीवीरभद्र गोस्वामी का आविर्भाव भी अङ्गाङ्गी-भाव में जुड़ा हुआ है। गौर गणोद्देशदीपिका के मत से श्रीवीरभद्र गोस्वामी, क्षीरसमुद्रशायी नारायण हैं जो सङ्कर्षण का व्यूह या अशंकला हैं। अतः महासङ्कर्षण श्रीनित्यानन्द प्रभु से लौकिक लीला में उनका आविर्भाव होना सङ्गत एवं स्वाभाविक ही है। नरलीला के अङ्गरूप से आविर्भूत होने के लिये जन्मलीला के प्रकट होने का प्रयोजन है। दूसरी ओर श्रीबलराम जी की कान्ता रेवती-वारुणी भी जान्ह्वा जी एवं वसुधा जी के रूप से श्रीसूर्यदास पण्डित के घर प्रकटित हुई थीं। श्रीनित्यानन्दरूपी श्रीबलराम के साथ उनका नरलीला में मिलन भी आवश्यक था। इन समस्त कारणों से श्रीनित्यानन्द प्रभु के विवाह का गौरलीला के अङ्गरूप में होना प्रयोजनीय था।

ज्ञात होता है—एकान्त में यही सब बात श्रीमहाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द जी के साथ आलोचना की एवं सङ्कर्षणावतार श्रीअद्वैत प्रभु ने भी उसे जान लिया और उन्होंने अपरिचित भाषा में प्रभु से जिज्ञासा की। श्रीमहाप्रभु के हँसने को देख कर श्रीअद्वैतप्रभु जान गये कि प्रभु नित्यानन्दजी ने अङ्गीकार कर लिया है और श्रीवीरभद्र गोस्वामी के प्रगटित होने का समय आ गया है। तभी श्रीअद्वैत प्रभु आनन्द में नाचने लगे। ऐसा इन पयारों के रहस्य का युक्ति मूलक अनुमान किया जा सकता है।

नित्यानन्दे कहे प्रभु-शुनह श्रीपाद। एइ आमि मागि, तुमि करह प्रसाद ॥६२॥
प्रतिवर्ष नीलाचले तुमि ना आसिवा। गौड़े रहि मोर इच्छा सफल करिवा ॥६३॥
ताहा सिद्धि करे हेन अन्य ना देखिये। आमार दुष्कर कर्म तोमा हैते हये ॥६४॥
नित्यानन्द कहे-आमि देह, तुमि प्राण। देह प्राण भिन्न नहे-एइ त प्रमाण ॥६५॥
अचिन्त्यशक्त्ये कर तुमि ताहार घटन। ये कराह, सेइ करि नाहिक नियम ॥६६॥
तारे विदाय दिल प्रभु करि आलिङ्गन। एइमत विदाय दिल सब भक्त गण ॥६७॥

श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीनित्यानन्द प्रभु से कहा—"श्रीपाद ! मैं आप से एक निवेदन करता हूँ, आप कृपा कर उसे स्वीकार कीजिये। आप प्रति वर्ष नीलाचल न आया करें। गौड़देश में रहकर मेरी इच्छा (भक्तिधर्म-प्रचार) को पूर्ण कीजिये। मेरी इस इच्छा को पूरा कर सके—ऐसा और कोई जन मुझे नहीं दीखता। यह मेरा दुष्कार्य आपके द्वारा ही हो सकता है। (कारण कि श्रीसंकर्षण ही मूल भक्त-तत्व हैं और वे नवद्वीप लीला में-श्रीनित्यानन्द ही हैं। इनके बिना भक्ति-प्रचार या भक्ति-प्रदान का कार्य नहीं हो सकता—अतः प्रभु ने अपने पक्ष में भी न हो सकने के कारण उसे दुष्कर कार्य कहा।)" श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"मैं शरीर हूँ और आप प्राण हो, देह एवं प्राण भिन्न नहीं रह सकते—यह बात प्रामाणिक है। किन्तु आप अपनी अचिन्त्य-शक्ति से उसे सम्भव करना चाहते हैं, जो आपकी इच्छा हो, कर सकते हैं, उस में फिर नियम की क्या बात है।" इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने उन्हें आलिङ्गन पूर्वक विदा किया ॥६७॥

कुलीनग्रामी पूर्ववत् कैल निवेदन। प्रभु ! आज्ञा कर आमार कर्त्तव्यसाधन ॥६८॥
प्रभु कहे—वैष्णवसेवा, नामसङ्कीर्त्तन। दुइ कर, शीघ्र पावे श्रीकृष्ण चरण ॥६९॥
तेंहो कहे—के वैष्णव, कि तार लक्षण ? तबे हासि कहे प्रभु जानि तार मन ॥७०॥
कृष्णनाम निरन्तर याहार बदने। सेइ वैष्णव श्रेष्ठ, भज ताहार चरणे ॥७१॥

कुलीनग्राम वासियों ने पहले वर्ष की भाँति वही जिज्ञासा की कि—"प्रभो ! आप हमारे लिये करने योग्य साधन का आदेश करिये।" प्रभु ने कहा—"वैष्णव सेवा तथा नामसङ्कीर्त्तन—इन दोनों का पालन करने से अति शीघ्र श्रीकृष्णचरण-कमलों की प्राप्ति होती है।" उन्होंने फिर पूछा - "प्रभो ! वैष्णव कौन है ? उसके क्या लक्षण हैं ?।" उनके मन की बात जान कर प्रभु मुस्कराए और कहने लगे—"जिसके मुख से निरन्तर श्रीकृष्णनाम उच्चारित होता है—वही श्रेष्ठ वैष्णव है, उसकी चरण सेवा करनी चाहिये ॥६८-७१॥

चै० च० च० *टीका*—कुलीनग्राम वासियों ने पहले वर्ष प्रभु से यही प्रश्न किया था और प्रभु ने "कृष्ण-सेवा, वैष्णव-सेवा तथा नाम-सङ्कीर्त्तन इन तीनों को जीव का कर्त्तव्य बतलाया था (१५ परिच्छेद, पयार नं० १०५) किन्तु इस बार प्रभु ने कृष्ण-सेवा को छोड़ कर केवल "वैष्णव-सेवा" तथा "नाम सङ्कीर्त्तन"—इन दोनों को कर्त्तव्य बतलाया। श्रीकृष्ण सेवा का तात्पर्य यहाँ विग्रह सेवा से है जो अर्चन-मार्ग है। यहाँ प्रभु ने विग्रह—सेवा या अर्चन मार्ग के लिये विशेष बल न देकर इतना ही पर्याप्त समझा और कहा कि केवल वैष्णव-सेवा और नाम-सङ्कीर्त्तन से ही श्रीकृष्ण के चरण कमलों की सेवा शीघ्र प्राप्त हो सकती है।

पूर्व वर्ष भी कुलीनग्रामवासी भक्तों ने वैष्णवों के लक्षण पूछे थे और प्रभु ने कहा था कि "एक बार जिसके मुख से श्रीकृष्ण नाम सुना जाए—वही वैष्णव है।" इस सामान्य लक्षण युक्त वैष्णव मात्र की सेवा करना सम्भव नहीं हो सकता। कारण कि इस सामान्य लक्षण अनुसार प्रायः मनुष्य मात्र ही वैष्णव है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं होगा कि जिसने किसी न किसी कारण वश एक बार कृष्ण नाम अथवा भगवत् नाम न उच्चारण किया हो। इस प्रकार सब की सेवा करना असम्भव ही है। इसी शङ्का वश इस वर्ष पुनः कुलीनग्रामबासियों ने प्रभु से वही प्रश्न किया—इसी बात को जानकर प्रभु मुस्कराए भी।

वर्षान्तरे पुन तांरा एछे प्रश्न कैल। वैष्णवेर तारतम्य प्रभु शिखाइल ॥७२॥
यांहार दर्शने मुखे आइसे कृष्णनाम। ताहारे जानिह तुमि वैष्णव प्रधान ॥७३॥
क्रम करि कहे प्रभु वैष्णव-लक्षण—। वैष्णव, वैष्णवतर आर वैष्णवतम ॥७४॥
एइमत सब वैष्णव गौड़े चलिला। विद्यानिधि से-वत्सर नीलाद्रि रहिला ॥७५॥

वर्ष पीछे कुलीनग्राम वासी भक्तों के फिर उसी प्रश्न को सुन कर प्रभु ने वैष्णवों के तारतम्य का यहां वर्णन किया। प्रभु ने कहा—"जिसके दर्शन मात्र से मुख में श्रीकृष्णनाम स्फुरित हो, उसे आप वैष्णव-प्रधान जानिये।" क्रमशः प्रभु ने वैष्णवों के लक्षण वर्णन किये—(जिसके मुख से एक बार श्रीकृष्ण नाम सुना जाय) वह **वैष्णव** है। (जो निरन्तर श्रीकृष्णनाम करता है—) वह **वैष्णवतर** है एवं (जिसके दर्शन करने से ही श्रीकृष्ण नाम मुख में स्फुरित हो—) वह **वैष्णवतम** है। इस प्रकार सब वैष्णव प्रभु से आज्ञा पाकर गौड़ देश को चले गये, किन्तु श्रीपुण्डरीक, श्रीविद्यानिधि उस वर्ष नीलाचल में रह गये ॥७५॥

स्वरूप-सहिते तांर हय सख्यप्रीति। दुइजनाय कृष्णकथा एकत्रइ स्थिति ॥७६॥
गदाधरपण्डिते तेंहो पुन मन्त्र दिल। ओड़निषष्ठीर दिने यात्रा ये देखिल ॥७७॥
जगन्नाथ परेन तथा माडुया वसन। देखिया सघृण हैल विद्यानिधिर मन ॥७८॥
सेइरात्र्ये जगन्नाथ-बलाइ आसिया। दुइभाइ चड़ान तारे हासिया हासिया ॥७९॥
गाल फुलिल, आचार्य अन्तरे उल्लास। विस्तारि वर्णियाछेन वृन्दाबन दास ॥८०॥

श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि की श्रीस्वरूप दामोदर जी से सख्य-प्रीति थी, दोनों एक स्थान पर रह कर श्रीकृष्ण-कथा कहते। श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि जी ने श्रीगदाधर पण्डित जी को दोबारा मन्त्र-दीक्षा दी। श्रीविद्यानिधि ने अगहन मास की शुक्ला षष्ठी के दिन श्रीजगन्नाथ का उत्सव दर्शन किया। उस दिन श्रीजगन्नाथ जी माण्ड (कलफ) लगा हुआ नवीन वस्त्र धारण करते हैं। माण्ड लगे हुए वस्त्र को देखकर श्रीविद्यानिधि का मन बहुत घृणा मानने लगा, (क्योंकि माण्डयुक्त कपड़ा अपवित्र होता है)। उसी दिन रात को श्रीजगन्नाथ जी तथा श्रीबलराम जी दोनों भाई इन्हें स्वप्न में आये और श्रीविद्यानिधि जी के गालों पर हँसते-हँसते (एक भाई एक गाल पर और दूसरा भाई दूसरे गाल पर) चपेटें मारने लगे। (इसलिये कि विद्यानिधि जी ने श्रीजगन्नाथ जी के सेवकों की सेवा में तर्क को हृदय में स्थान दिया) इतना मारा कि उनकी गाल सूज गईं (और उन पर श्रीभगवान् की अँगुलियों के चिह्न पड़ गये जिन्हें सवेरे दूसरे दिन श्रीविद्यानिधि ने तथा श्रीस्वरूप दामोदर जी ने प्रत्यक्ष देखा) श्रीविद्यानिधि श्रीभगवान् की कृपा जान कर मन में बहुत आनन्दित हुए। इस चरित्र को श्रीचैतन्य भागवत, (अन्त्य खण्ड, दशम अध्याय) में श्रीवृन्दाबन दास जी ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है ॥७६—८०॥

चै० च० चु० *टीका:*—ऊपर कहा गया है कि श्रीविद्यानिधि जी ने श्रीगदाधर जी को पुन: दीक्षा दी, इसका कारण यह है कि श्रीविद्यानिधि जी ने नवद्वीप में श्रीगदाधर पण्डित जी को दीक्षा मन्त्र दिया था। श्रीगदाधर ने उस मन्त्र को किसी और के आगे प्रकाशित कर दिया था जिससे उनके मन में इष्टदेव की भली प्रकार स्फूर्ति न होती थी, अतः उन्होंने दुबारा मन्त्र दीक्षा ली।

एइमत प्रत्यब्द आइसे गौड़ेर भक्तगण। प्रभु–सङ्गे रहि करे यात्रा–दरशन ॥८१॥
तार मध्ये ये–ये वर्ष आछये विशेष। विस्तारिया आगे ताहा कहिब विशेष ॥८२॥
एइमत महाप्रभुर चारिवत्सर गेल। दक्षिण यात्रा, आसिते दुइवत्सर लागिल ॥८३॥
आर दुइ वत्सर चाहे वृन्दाबन याइते। रामानन्द–हठे प्रभु ना पारे चलिते ॥८४॥
पञ्चम–वत्सरे गौड़ेर भक्तगण आइला। रथ देखि ना रहिला, गौड़े चलिला ॥८५॥

इस प्रकार प्रतिवर्ष गौड़ीय भक्त श्रीजगन्नाथपुरी आते और श्रीमहाप्रभु के साथ रहकर यात्रा दर्शन करते। उन वर्षों में जिस-जिस वर्ष में विशेष लीलाएं हुई, उस उस वर्ष की विशेषता को आगे विशेष विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी को संन्यास ग्रहण किये हुए चार वर्ष बीत गये। दो वर्ष तो प्रभु को दक्षिण की यात्रा में जाने--आने में लग गये और दो वर्ष तक श्रीवृन्दाबन जाने की इच्छा करते-करते में बीत गये किन्तु श्रीरामानन्द जी के आग्रह से प्रभु श्रीवृन्दाबन न जा सके। पांचवें वर्ष फिर गौड़ीय भक्त नीलाचल आए और रथयात्रा दर्शन करके वापिस लौट गये। नीलाचल में वे रह न सके ॥८१—८५॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीमहाप्रभु जी ने शक १४३१ में माघ-संक्रान्ति के दिन संन्यास ग्रहण किया। शक १४३२ एवं १४३३ के वर्षों में वे दक्षिण देशों की यात्रा में रहे। शक १४३४ के वर्ष में रथयात्रा के अवसर पर गौड़ीयभक्त श्रीमहाप्रभु जी से सर्व प्रथम नीलाचल में आकर मिले। यह संन्यास के बाद का तीसरा वर्ष था। इसी वर्ष की भक्त समागम की कथा मध्य-लीला के एकादश परिच्छेद में वर्णन की गई है। संन्यास से लेकर पञ्चम वर्षकी रथयात्रा शकाब्द १४३६ के आषाढ़ मास में होनी चाहिये १४३४ शकाब्द में गौड़ीय भक्तों का नीलाचल में पहला आगमन हुआ। इस हिसाब से १४३६ शकाब्द में उनका तीसरा आगमन होता है। इस वत्सर वे चातुर्मास्य काल में नीलाचल नहीं रहे जैसा कि ऊपर के पयार नं० ८५ में कहा गया है। इसी परिच्छेद के १२ से ७५ पयारों में जो भक्तों के नीलाचल आगमन की कथा वर्णित है—उस वर्ष वे सब चातुर्मास्य काल में नीलाचल रहे हैं जैसा कि पयार नं० ४६ से ५८ में कहा गया है। इसलिए पयार नं० १२ से ७५ तक की जो कथा है वह शकाब्द १४३६ की भी नहीं है और न शकाब्द १४३४ की है। वह कथा शक १४३५ के वर्ष की ही हैं। इस प्रकार १४३४ शकाब्द में गौड़ीय भक्तों का प्रथम आगमन होने से १४३५ शक का आगमन दूसरा ही आगमन होगा। और प्रभु के संन्यास काल से चौथे वर्ष का और दक्षिण से लौटने के काल से दूसरे वर्ष का आगमन होगा। अतः १४३५ शकाब्द के आगमन को लक्ष्य करके पयार नं० ११ में "द्वितीय वत्सर" पाठ ही सङ्गत बैठता है, कहीं-कहीं "तृतीय वत्सर" पाठ जो मिलता है—वह सङ्गत नहीं प्रतीत होता।

तबे प्रभु सार्वभौम–रामानन्द–स्थाने। आलिङ्गन करि कहे मधुर–वचने— ॥८६॥
बहुत उत्कण्ठा मोर याइते वृन्दाबन। तोमार हठे दुइ वत्सर ना कैल गमन ॥८७॥
अवश्य चलिब, दोंहे करह सम्मति। तोमादोंहे बिना मोर नाहि अन्यगति ॥८८॥

गौड़देशे हय मोर दुइ समाश्रय। जननी जाह्नवी एइ दुइ—दयामय ॥८९॥
गौड़देश दिया याव ता-सभा देखिया। तुमि दोंहे आज्ञा देह प्रसन्न हइया ॥९०॥

तदनन्तर श्रीमहाप्रभु जी ने एक दिन श्रीसार्वभौम तथा श्रीरामानन्द राय को आलिङ्गन करते हुए मधुर वचनों में कहा—"श्रीवृन्दावन जाने के लिये मेरो बहुत उत्कण्ठा है और आप दोनों के रोकने से मैं दो वर्ष से रुक रहा हूँ। अब आप दोनों सम्मति दें, मैं अवश्य श्रीवृन्दावन जाऊंगा। आप दोनों को छोड़कर मेरी और गति नहीं है। गौड़देश में मुझे श्रीगंगा जी तथा शचीमाता—इन दोनों दया की मूर्त्तियों का समाश्रय है। गौड़देश में उन सब को मिलता हुआ मैं श्रीवृन्दावन जाऊंगा। आप दोनों प्रसन्न होकर मुझे अब आज्ञा दीजिये" ॥८६—९०॥

शुनिया प्रभुर वाणी दोंहे विचारय—। प्रभुसने अति हठ कभु भाल नय ॥९१॥
दोंहे कहे—एबे वर्षा, चलिते नारिवा। विजयादशमी आइले अवश्य चलिवा ॥९२॥
आनन्दे महाप्रभु वर्षा कैल समाधान। विजया-दशमी दिने करिल पयाण ॥९३॥
जगन्नाथेर प्रसाद प्रभु यत पाइयाछिला। कड़ार चन्दन डोर—सब सङ्गे लैला ॥९४॥
जगन्नाथेर आज्ञा मागि प्रभाते चलिला। उड़ियाभक्तगण सङ्गे पाछे चलि आइला ॥९५॥

श्रीमहाप्रभु के वचन सुनकर श्रीसार्वभौम तथा रायरामानन्द जी ने विचार किया कि अब प्रभु के साथ अधिक हठ करना—उन्हें श्रीवृन्दावन जाने से रोकना ठीक नहीं है। दोनों ने कहा—"अब तो वर्षा आगई है, आप न जा सकोगे। विजया-दशमी पर आप अवश्य चले जाईयेगा।" श्रीमहाप्रभु ने आनन्द-पूर्वक वर्षा के चार मास वहां बिताए और विजया-दशमी (शकाब्द १४३६) के दिन आप वहां से चल दिये। श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद, उनके अङ्गों से छुटा हुआ सूखा चन्दन तथा रेशमी डोरी—ये सब अपने साथ प्रभु ने ले लिये। श्रीजगन्नाथ जी से आज्ञा मांग कर सबेरे ही वहां से चल दिये। उड़िया अर्थात् श्रीजगन्नाथपुरी के जितने भक्त थे वे भी प्रभु के साथ-साथ चलने लगे ॥९१—९५॥

उड़ियाभक्तगणे प्रभु यत्ने निवर्त्तिला। निज भृत्य गण-सङ्गे भवानीपुर आइला ॥९६॥
रामानन्द आइला पाछे दोलाय चड़िया। वाणीनाथ बहु प्रसाद दिल पाठाइया ॥९७॥
प्रसाद भोजन करि तांहाइ रहिला। प्रातःकाले चलि प्रभु भुवनेश्वर आइला ॥९८॥
कटक आसिया कैल गोपाल दर्शन। स्वप्नेश्वर विप्र कैल प्रभुर निमन्त्रण ॥९९॥
रामानन्दराय सब भक्तगण निमन्त्रिल। बाहिर-उद्याने आसि प्रभु वासा कैल ॥१००॥

उड़िया-भक्तों को प्रभु ने बहुत यत्न से वापस लौटाया और श्रीजगदानन्द, श्रीमुकुन्द आदि सेवकों के सहित भवानीपुर (श्रीजगन्नाथपुरी के नजदीक एक स्थान विशेष है) में आए। रायरामानन्द पीछे पालकी में चढ़कर वहां आपहुँचे। श्रीवाणीनाथ ने उनके हाथ बहुत सा प्रसाद श्रीमहाप्रभु जी को दिलवा भेजा। प्रभु ने भवानीपुर में प्रसाद भोजन किया और उस दिन वहां ही निवास किया। दूसरे दिन प्रातःकाल वहां से चलकर भुवनेश्वर में आए। वहां से कटक में आ कर साक्षी गोपाल के दर्शन किये एवं श्रीस्वप्नेश्वर विप्र के घर प्रभु ने भोजन किया। रायरामानन्द जी ने वहाँ सब भक्तों को निमन्त्रित किया। प्रभु ने वहां नगर के बाहर एक बागीचा में निवास किया ॥९६—१००॥

भिक्षा करि बकुलतले करिल विश्राम। प्रतापरुद्र ठाञि राय करिल पयाण ॥१०१॥
शुनि आनन्दित राजा शीघ्र आइला। प्रभु देखि दण्डवत् भूमिते पड़िला ॥१०२॥
पुन उठे, पुन पड़े, प्रणये विह्वल। स्तुति करे पुलाकङ्ग, पड़े अश्रुजल ॥१०३॥
तांर भक्ति देखि प्रभुर तुष्ट हैल मन। उठि महाप्रभु तांरे कैल आलिङ्गन ॥१०४॥
पुन स्तुति करि राजा करये प्रणाम। प्रभु कृपाश्रुते तांर देह हैल स्नान ॥१०५॥

श्रीमहाप्रभु ने भोजन किया और एक बकुल वृक्ष के नीचे विश्राम किया। इतने में रायरामानन्द जी राजा प्रतापरुद्र के पास पहुँचे (कटक राजधानी थी एवं राजा उस समय वहां ही थे) और सब वृत्तान्त उन्हें सुनाया। राजा प्रभु का आगमन सुनकर आनन्दित हुआ और प्रभ के दर्शनों के लिये तत्काल चला आया। प्रभु के दर्शन करते ही राजा ने दण्डवत् प्रणाम किया। बार बार राजा ने प्रेम में विह्वल होकर प्रभु को प्रणाम किया और पुलकित शरीर से वह अश्रुपूर्ण नेत्रों से प्रभु की स्तुति करने लगा। राजा की भक्ति देखकर प्रभु का मन सन्तुष्ट हुआ और उन्होंने उठ कर राजा को आलिङ्गन किया। राजा ने पुनः स्तुति करते हुए प्रभु को प्रणाम किया और अपने नेत्र-जल से महाप्रभु ने भी कृपा-पूर्वक राजा को मानो स्नान ही करा दिया ॥१०१—१०५॥

सुस्थ करि रामानन्द राजा बसाइला। कायमनो वाक्ये प्रभु तांरे कृपा कैला ॥१०६॥
ऐछे तांहारे कृपा कैल गौरधाम। "प्रतापरुद्र संत्राता" याते हैल नाम ॥१०७॥
राजपात्रागण कैल प्रभुर वन्दन। राजारे विदाय दिल शचीरनन्दन ॥१०८॥
बाहिरे आसिया राजा पत्र लिखाइल। निजराज्ये यत विषयी ताहारे पाठाइल ॥१०९॥
निज-निज ग्रामे नूतन आवास करिवा। पांच-सात नव्यगृहे सामग्री भरिवा ॥११०॥
आपनि प्रभु के लञा ताहां उत्तारिवा। रात्रि-दिवा वेत्रहस्ते सेवाय रहिवा ॥१११॥

रायरामानन्द जी ने राजा को धीरज दिया एवं बैठाया, श्रीमहाप्रभु जी ने काय-मन एवं वचन द्वारा राजा पर कृपा की। इस प्रकार श्रीगौराङ्ग प्रभु ने उन पर कृपा करते हुए उन्हें "प्रतापरुद्र-संत्राता" (रक्षक) का नाम दिया। राजपात्रगणों ने प्रभु की वन्दना की। श्रीमहाप्रभु ने राजा प्रतापरुद्र को विदा दी। राजा ने बाहर आकर अपने राज्य में जिस मार्ग से श्रीमहाप्रभु ने निकलना थी, अपने सब कर्मचारियों को पत्र लिखवाये कि—"तुम लोग अपने अपने ग्राम में श्रीमहाप्रभु जी के निवास के लिये नवीन घर बना लो और पाञ्च-सात नूतन घरों में प्रभु के लिए सब सामग्री भरकर तैयार रखो। तुम लोग प्रभु की अगवानी के लिये उन-उन स्थानों पर उपस्थित रहना और दिन रात छड़ी हाथ में लेकर पहरेदार के रूप में श्रीमहाप्रभु जी की सेवा में उपस्थित रहना" ॥१०६—१११॥

दुइ महापात्र—हरिचन्दन मर्द राज। तारे आज्ञा दिल राजा-कर सर्वकाज ॥११२॥
एक नव्य नौका आनि राख नदी-तीरे। ताहां करि प्रभु यावेन नदीपारे ॥११३॥
ताहां स्तम्भ रोपण कर महातीर्थ करि। नित्य स्नान करिव ताहां, ताहां येनमरि ॥११४
चतुर्द्वारे करह उत्तम नव्य वास। रामानन्द ! याह तुमि महाप्रभु पाश ॥११५॥

सन्ध्याते चलिबे प्रभु-नृपति शुनिल। हस्ति-उपर ताम्बुगृहे स्त्रीगण चढ़ाइल ॥११६॥
प्रभु चलिवारे पथे रहे सारि हैया। सन्ध्याते चलिला प्रभु निजगण लैया ॥११७॥

राजा प्रतापरुद्र जी के दो प्रधान कर्मचारी थे—श्रीहरिचन्दन तथा श्रीमर्दराज। उनके लिये राजा ने आज्ञा दी कि ये सब काम आप जाकर करिये—"एक नवीन (नौका) चित्रोत्पला नदी पर तैयार रखिये कि प्रभु नदी में स्नान कर उसके पार जाएँगे। जहां प्रभु स्नान करेंगे वहाँ एक स्तम्भ रोपण करियेगा और एक महाघाट का निर्माण करिये। जिससे मैं वहाँ नित्य स्नान कर सकूं और प्राण त्याग के समय मैं उसी घाट पर रहूँ—ऐसी भी मेरी इच्छा है। चौद्वार नामक स्थान पर उत्तम नवीन वासस्थान बनवाइये।" फिर राजा ने कहा—"रामानन्द ! आप श्रीमहाप्रभु के पास चलिये। राजा ने सुना कि प्रभु सन्ध्या के समय यहां से आगे के लिये चल देंगे, तो उन्होंने हाथियों के ऊपर पालकियाँ सजाकर उनमें रानियों को चढ़ाया और उन हाथियों को प्रभु के निकलने वाले मार्ग के किनारे पंक्तिवार खड़ा कर दिया (ताकि राजरानियां भी प्रभु के दर्शन करलें) सन्ध्या के समय प्रभु अपने सेवकों को लेकर वहाँ से चलदिये।

चित्रोत्पलानदी आसि घाटे कैल स्नान। महिषी सकल देखि करये प्रणाम ॥११८॥
प्रभुर दर्शने सभे हैला प्रेममय। "कृष्ण-कृष्ण" कहे, नेत्र अश्रु वरिषय ॥११९॥
एमन कृपालु नाहि शुनि त्रिभुवने। कृष्णप्रेमा हय यार दूर दरशने ॥१२०॥
नौका ते चढ़िया प्रभु हैल नदी पार। ज्योत्स्नावती रात्रि चलि आइल चतुर्द्वार ॥१२१॥
रात्र्ये तथा रहि प्राते स्नान-कृत्य कैल। हेनकाले जगन्नाथेर महाप्रसाद आइल ॥१२२॥

श्रीमहाप्रभु ने चित्रोत्पला नदी पर आकर स्नान किया और सब रानियों ने प्रभु के दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया। प्रभु के दर्शन करते ही सब में प्रेम उमड़ आया—सब रानियाँ "कृष्ण, कृष्ण" कह कर नेत्रों से आँसू बहाने लगीं। श्रीमन्महाप्रभु के समान कृपालु त्रिभुवन में और कोई नहीं है—जिनके दूर से दर्शन करने मात्र से ही श्रीकृष्ण प्रेमाभक्ति उदित हो जाती है। नौका पर महाप्रभु चढ़कर नदी के पार उतरे। उस चांदनी रात में अतीव शोभापूर्ण दृश्य था। प्रभु चौद्वार-स्थान पर आ पहुँचे। रात को आपने वहाँ विश्राम किया और प्रातः उठ कर आपने स्नान एवं कृत्य किया। इतने में श्रीजगन्नाथ जी का महाप्रसाद पुजारी वहाँ ले आया ॥११८-१२२॥

राजार आज्ञाय पड़िछा पाठाय दिने-दिने। बहुत प्रसाद पाठाय दिया बहुजने ॥१२३॥
स्वगण-सहित प्रभु प्रसाद अङ्गीकरि। उठिया चलिला प्रभु बलि "हरि-हरि" ॥१२४॥
रामानन्द, मर्द्दराज, श्रीहरिचन्दन। सङ्गे सेवा करि चले एइ तिनजन ॥१२५॥
प्रभु सङ्गे पुरीगोसाञि स्वरूपदामोदर। जगदानन्द मुकुन्द गोविन्द काशीश्वर ॥१२६॥
हरिदासठाकुर आर पण्डित वक्रेश्वर। गोपीनाथाचार्य आर पण्डित दामोदर ॥१२७॥
रामाइ नन्दाइ आर बहु भक्तगण। प्रधान कहिल सभार के करे गणन? ॥१२८॥

राजा श्रीप्रतापरुद्र की आज्ञा से पुजारी प्रति दिन श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद भिजवाता था और अनेक जन बहुत सा प्रसाद लेकर आते थे। अपने गणों के साथ प्रभु ने प्रसाद अङ्गीकार किया और

"हरि-हरि" बोल कर वहाँ से उठ कर चल दिये। श्रीरामानन्दराय, श्रीमर्दराज, एवं श्रीहरिचन्दन—ये तीनों व्यक्ति प्रभु की सेवा करते हुए साथ चल रहे थे। श्रीमहाप्रभु के साथ श्रीपुरीगोस्वामी, श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीजगदानन्द, श्रीमुकुन्द, श्रीगोविन्द, श्रीगोपीनाथाचार्य, श्रीदामोदर पण्डित, श्रीरामाई, श्रीनन्दाई तथा और भी अनेक भक्तगण चल रहे थे। यहाँ प्रधान प्रधान भक्तों के नाम वर्णन किये गये हैं—सब की गिनती कौन कर सकता है ?॥१२३-१२८॥

गदाधर पण्डित यबे सङ्गे चलिला। 'क्षेत्रसंन्यास ना छाड़िह' प्रभु निषेधिला ॥१२९॥
पण्डित कहे—याहां तुमि सेइ नीलाचल। क्षेत्र-संन्यास मोर याउक रसातल ॥१३०॥
प्रभु कहे—इहां कर गोपीनाथ-सेवन। पण्डित कहे—कोटि सेवा त्वत्पाददर्शन ॥१३१॥
प्रभु कहे—सेवा छाड़िबे,आमाय लागे दोष। इहां रहि सेबा कर आमार सन्तोष॥१३२
पण्डित कहे—सब दोष आमार उपर। तोमा सङ्गे ना याइब, याब एकेश्वर ॥१३३॥
आइ देखिते याब आमि, ना याब तोमा लागि।
प्रतिज्ञा-सेवा-त्याग-दोष तार आमि भागी ॥१३४॥

श्रीमहाप्रभु जब नीलाचल से चलने लगे थे तब श्रीगदाधर पण्डित भी साथ चलने लगे, किन्तु श्रीमहाप्रभु ने उन्हें साथ चलने में निषेध किया और कहा—"गदाधर! तुम अपना श्रीक्षेत्र-संन्यास मत छोड़ो।" (श्रीगदाधर का संकल्प था कि आजीवन मैं श्रीक्षेत्र—श्रीनीलाचल रहूँगा।) प्रभु के वचन सुनकर श्रीगदाधर ने कहा—"प्रभो! जहाँ आप रहोगे—मेरा तो वही नीलाचल है। (मैंने आपके साथ ही नीलाचल रहने का सङ्कल्प लिया था, न कि भौगोलिक नीलाचल वास का)। मेरा नीलाचल संन्यास जाओ रसातल में, मैं तो आपके साथ चलूंगा।" (श्रीमहाप्रभु ने देखा कि गदाधर पण्डित की युक्ति अकाट्य है, तो प्रभु ने दूसरी युक्ति की।) प्रभु ने कहा—"गदाधर! तुम नित्य नीलाचल में श्रीगोपीनाथ जी की सेवा करते हो—मैं इसी में सन्तुष्ट हूँ।" (श्रीगदाधर जी जिस विग्रह की सेवा करते थे, वह अब तक भी टोंटा-गोपीनाथ जी के नाम से विद्यमान है) श्रीगदाधर जी ने कहा—"मेरे लिये आपके चरणों का दर्शन ही श्रीगोपीनाथ जी की कोटि सेवाओं के समान है।" प्रभु ने फिर कहा—"देखो, तुम मेरे लिये श्रीगोपीनाथ जी की सेवा छोड़ोगे, उससे मुझे भी अपराध होगा। अतः तुम यहाँ ही रह कर उनकी सेवा करो, मुझे इसी में सन्तोष है।" श्रीगदाधर बोले "प्रभो! सब अपराध मैं अपने ऊपर ही लेता हूँ। मैं आपके साथ नहीं चलता हूँ, मैं अकेला ही आ जाऊंगा। (यदि आप कहो कि आओगे तो आखिर मेरे लिये ?) प्रभो ? मैं आप के लिए भी नहीं चलूंगा। मैं तो नवद्वीप में माता शची देवी के दर्शन करने जाऊंगा। अब तो क्षेत्र-संन्यास की प्रतिज्ञा तथा श्रीगोपीनाथ जी की सेवा के त्याग करने का अपराध आप पर नहीं आयेगा, उस सब अपराध का भागी मैं ही रहूँगा ॥१२९-१३४॥

एत बलि पण्डित गोसाञि पृथक् चलिला। कटक आसि प्रभु तांरे सङ्गे आनाइला ॥१३५॥
पण्डितेर चैतन्य प्रेम बुझन ना याय। प्रतिज्ञा श्रीकृष्णसेवा छाड़िल तृणप्राय ॥१३६॥
तांहार चरित्रे प्रभुर अन्तरे सन्तोष। तांहार हाथे धरि कहे करि प्रणय-रोष ॥१३७॥
'प्रतिज्ञा सेवा छाड़िबे' ए तोमार उद्देश्य। से सिद्ध हइल, छाड़ि आइला दूर देश ॥१३८॥
आमार सङ्गे रहिते चाह, वाञ्छ निजसुख। तोमार दुइ धर्म याय, आमार हय दुख ॥१३९॥

मोर सुख चाह यदि–नीलाचले चल । आमार शपथ–यदि आर किछु बोल ॥१४०॥
एत बलि महाप्रभु नौकाते चढ़िला । मूर्च्छित हैया पण्डित तथाइ पड़िला ॥१४१॥
पण्डिते लञा याइते सार्वभौमे आज्ञा दिला । भट्टाचार्य कहे—उठ,ऐछे प्रभुर लीला ।१४२॥
तुमि जान–कृष्ण निज प्रतिज्ञा छाड़िला । भक्तकृपावशे भीष्मेर प्रतिज्ञा राखिला ॥१४३॥

ऐसा निश्चय करके श्रीगदाधर पण्डित श्रीमहाप्रभु से पृथक् ही चले आए। कटक में पहुँचने पर प्रभु ने उन्हें अपने पास बुला लिया। श्रीगदाधर पण्डित जी का श्रीचैतन्यचन्द्र में जो प्रेम है—वह इतना उत्कर्षमय है कि उसे कोई समझ नहीं सकता। उसी प्रेमवश उन्होंने अपनी क्षेत्र-संन्यास की प्रतिज्ञा तथा श्रीकृष्ण विग्रह-सेवा को जैसे तृण को बिना किसी कष्ट के त्याग कर दिया जाता है उसी प्रकार सहज में त्याग दिया। उनके चरित्र से श्रीमहाप्रभु जी अन्दर से बहुत सन्तुष्ट थे, किन्तु उनके हाथ को पकड़ कर प्रेम का रोष दिखाते हुए कहने लगे—"गदाधर ! प्रतिज्ञा और सेवा छोड़ देना"–यही तुम्हारा उद्देश्य था न ! सिद्ध हो गया न वह ! अब तो तुम बहुत दूर चले आए। तुम मेरे साथ रहना चाहते हो और अपना ही सुख चाहते हो। तुम्हारे दोनों धर्म (क्षेत्रवास-प्रतिज्ञा तथा श्रीगोपीनाथ-सेवा) जाते हैं और मुझे भी दुख हो रहा है। तुम यदि मेरा सुख चाहते हो तो नीलाचल चले जाओ,मेरी शपथ है तुम्हें यदि और अब कुछ तुमने कहा।" बस इतना कह कर प्रभु नौका पर चढ़ गये और श्रीगदाधर पण्डित मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े। श्रीमहाप्रभु जी ने पण्डित गदाधर को लेजाने के लिये श्रीसार्वभौम को आज्ञा दी। श्रीसार्वभौम ने पण्डित गदाधर जी को आश्वासन देते हुए कहा—"उठिये ! प्रभु की ऐसी ही लीला है। गदाधर ! तुम जानते हो कि श्रीकृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दी और भक्त कृपा के वश भीष्मपितामह की ही प्रतिज्ञा रखी" ॥१३५–१४३॥

चै० च० चु० *टीका* :—ग्रन्थकार श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने ऊपर के पयारों में वर्णन किया है कि श्रीगदाधर पण्डित जी ने श्रीचैतन्यदेव के साथ जाने में, उनके प्रेम में अपनी क्षेत्र-संन्यास की प्रतिज्ञा तथा श्रीगोपीनाथ जी की सेवा को 'तृणप्राय'–अर्थात् तृणवत् त्याग कर दिया। एक वैष्णव के लिये श्रीविग्रह सेवा एवं प्रतिज्ञा को तृणवत् त्यागना शङ्कास्पद है, किन्तु श्रीगदाधर जी ने श्रीचैतन्यदेव के प्रेम में अपनी प्रतिज्ञा तथा श्रीकृष्ण सेवा तृणवत् त्याग दी––इसका रहस्य जानने के लिये यह आवश्यक है कि पहले यह जान लिया जाये कि तत्वतः पण्डित श्रीगदाधर कौन हैं ? और फिर जिनके प्रेम में यह श्रीकृष्ण-सेवा तथा अपनी प्रतिज्ञा को त्याग रहे हैं, वह श्रीचैतन्यदेव स्वरूपतः क्या तत्व है ? प्रतिज्ञा का वास्तविक क्या स्वरूप था ? तथा उनकी श्रीकृष्ण-सेवा का क्या स्वरूप था ? तृणवत् त्याग से यहाँ क्या अभिप्राय है ? श्रीमहाप्रभु के साथ जाने में क्या उनकी श्रीकृष्ण सेवा का वस्तुतः त्याग होता भी है ? और फिर श्रीमहाप्रभु जी ने उनके अत्यन्त प्राणान्त–विरह––दुख की कुछ भी चिन्ता न करते हुए उन्हें वापस नीलाचल क्यों भेज दिया ? इन सब बातों को तत्वतः जान लेने पर ही ऊपर के पयारों का भीतरी अभिप्राय जाना जा सकता है, वरन् श्रीकृष्ण-सेवा का तृणवत् त्याग, आपात दृष्टि से भक्ति–सिद्धान्त-विरुद्ध प्रतीत होता है।

नवद्वीपलीला तथा व्रजलीला में स्वरूपतः कुछ भी भेद नहीं है, ये दोनों एक ही लीला प्रवाह के दो अंश-मात्र हैं। जिस उद्देश्य को लेकर रसिक शिरोमणि श्रीश्यामसुन्दर ने लीला प्रकट की थी, उसकी सिद्धि का आरम्भ तो व्रज में हुआ और पूर्णता नवद्वीप में। श्रीकृष्ण रसिकशेखर हैं, वे प्रेम के वशीभूत

हैं, वे ब्रजगोपियों के ऋणी हैं—ये सब बातें श्रीनवद्वीप लीला में ही जाकर पूर्णतम रूप से प्रगटित हुईं। ब्रजलीला में शारदीय महारास में "**न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजामित्यादि**"—श्लोक में उन्होंने केवल मुख से कह कर ब्रजसुन्दरियों का ऋणी होना स्वीकार किया. किन्तु नवद्वीप लीला में तो श्रीराधा जी से मादनाख्य-महाभाव को लेकर कार्यतः ही ऋणी हो गये। अपने माधुर्य को आस्वादन करने के लिये श्रीकृष्ण श्रीराधिका जी के मादनाख्य-महाभाव को अङ्गीकार करके ही तो श्रीगौराङ्ग रूप में प्रगट हुए।

श्रीकृष्ण जब अपने माधुर्य को आस्वादन करने के लिये श्रीराधिका जी के मादनाख्य-महाभाव को ग्रहण करने के लिये अभिलाषी हुए, तो श्रीराधा जी ने अपने प्राणवल्लभ को उसे प्रदान कर दिया, क्योंकि श्रीराधा जी की समस्त चेष्टाएँ ही श्रीकृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी हैं। श्रीकृष्ण-वाञ्छाओं को पूर्ण करना ही उनकी आराधना है। श्रीराधा जी ने अपने प्राणप्रेष्ठ को अपना भाव दे दिया और अपनी कान्ति भी दे दी जिससे श्रीश्यामसुन्दर श्रीगौरसुन्दर हो गये। इससे जहाँ एक तरफ प्रेयसी—परतन्त्रतादि अर्थात् श्रीराधाजी की वशीभूतता के पूर्णतम विकाश द्वारा श्रीकृष्ण का पूर्णतम कृष्णत्व प्रगट हुआ, वहाँ दूसरी ओर कृष्णवाञ्छा पूर्त्ति निमित्त चेष्टा की पराकाष्ठा प्रदर्शन करते हुए श्रीराधिका जी का राधिकात्व भी पूर्णतम रूप से प्रगटित हुआ। ब्रजलीला में श्रीवृन्दावनेश्वरी अनुराग की प्रबल उत्कण्ठा में अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण को कहाँ छिपावें, वह यह स्थिर न कर सकीं। निरन्तर गले में भुजा डालकर अपने पास रखने से भी उनकी तृप्ति न हो सकी, नेत्रों में रखने से भी उन्हें सन्तोष न हुआ, अङ्ग में अङ्ग संलग्न करने से भी वह तृप्त न हुईं। दृढ़ आलिङ्गन करके हृदय से लगाये रखने में भी उनकी उत्कण्ठा पूर्ण न हो सकी। किसी भी प्रकार जब श्रीप्रियाजी की प्राण-आशा न मिट सकी, तो उन्होंने यही समझा कि अपने हृदय धन को हृदय के भीतर ही विराजमान करके कुछ उनकी तृप्ति हो सकेगी, सो नवद्वीप लीला में यही हुआ कि श्रीवृन्दाबनेश्वरी ने मानो अपने हृदय-धन श्रीश्यामसुन्दर को हृदय में ही विराजमान कर लिया और उन श्रीश्यामसुन्दर का श्यामवर्ण सुवर्णाङ्गों के गौराञ्चल में ढक गया एवं श्रीश्यामसुन्दर, श्रीगौरसुन्दर ही बन गये। श्रीश्यामसुन्दर भी परम-आनन्द में उस रसास्वादन की अदम्य पिपासा से युक्त होकर अखण्ड प्रेमरस के मूल उत्स-स्वरूप एवं मादनाख्य-महाभाव के मूलभण्डार-स्वरूप श्रीराधिका जी के हृदय-प्रकोष्ठ में परम आनन्द से भावमणियों की लूट करने लगे।

मादनाख्य-महाभाव को प्राप्त कर अपने माधुर्य को आस्वादन करके "श्रीकृष्ण कितना आनन्द प्राप्त करते हैं और उस आनन्द की वृद्धि में श्रीकृष्ण का माधुर्य फिर किस सीमा तक पहुँचता है"—ये सब देखने के लिये एवं आस्वादन करने के लिए और श्रीकृष्ण की वासना-पूर्ति की सहायता करने के लिये श्रीराधा जी ने स्वतन्त्र एक स्वरूप भी श्रीगौरसुन्दर के निकट अवस्थान करने के लिये प्रगटित किया—वह स्वरूप है—**श्रीगदाधर पण्डित**।

अथवा श्रीराधिका जी तो श्रीकृष्णमयी हैं, उन के भीतर बाहर श्रीकृष्ण हैं। "**कृष्णमयी कृष्ण यार भितरे बाहरे।**" श्रीराधिका जी ने श्रीश्यामसुन्दर को जब हृदय-अन्तस्थल में ही छिपा लिया और श्रीकृष्ण भी जब उनके भीतर ही विराजमान हो गये, तब उन्हें भीतर विराजमान करके जिस भाव का आस्वादन हो सकता है, वह तो श्रीराधा जी को प्राप्त होने लगा, किन्तु बाहर साक्षात् दर्शन करके जिस माधुर्य का आस्वादन होना चाहिये, वह उन्हें प्राप्त न हो सका, इसलिये श्रीवृषभानुनन्दनी ने एक पृथक् स्वतन्त्र स्वरूप भी प्रगट किया, जिससे वह बाहर साक्षात् रूप से भी अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण का माधुर्य आस्वादन कर सकें, वह स्वरूप है—**श्रीगदाधर पण्डित**, जो श्रीगौराङ्ग के साथ जाने में श्रीकृष्ण

विग्रह—श्रीगोपीनाथ जी की सेवा भी त्याग करना चाह रहे हैं। सारांश यह है कि **श्रीगदाधर तत्व श्रीराधा तत्व ही है।**

इस तथ्य का तो प्रतिपादन पहले भी कई बार किया जा चुका है एवं ऊपर की पंक्तियों में भी वर्णन किया गया है कि श्रीचैतन्यदेव तत्त्वतः श्रीकृष्ण-ब्रजेन्द्रनन्दन स्वयं भगवान् ही हैं।

उनकी क्षेत्र-संन्यास प्रतिज्ञा का क्या स्वरूप था ?—उनकी इस प्रतिज्ञा का मुख्य एवं एक मात्र तात्पर्य था—श्रीमन्महाप्रभु जी के साथ रहना। क्षेत्रवास की बात तो उनका मुख्य उद्देश्य प्रच्छन्न रखने के लिए एक कौशल विशेष था। इस प्रकार का कौशलमय वाक्यविन्यास एवं आचरण हम ब्रजसुन्दरियों में भी देखते हैं। वे यमुना जी पर जाती थीं केवल श्रीश्यामसुन्दर के वदनचन्द्र के दर्शन के लिये, किन्तु बाहर वह लोगों को कहती थीं कि "वे यमुना पर जल लेने जा रही हैं।" हाँ, यदि उनको यह पता लगता कि श्रीश्यामसुन्दर यमुना पर आज नहीं हैं, तो वे फिर उस दिन यमुना पर जाने का विचार तक भी नहीं करती थीं, फिर वे दूध-दधि की मटकियाँ सिर पर धारण कर उसके बेचने के बहाने उसी पथ पर अग्रसर होतीं जहाँ श्रीकृष्ण रहते थे। इसी प्रकार की चातुरी का स्फुरण होना—प्रेम का एक स्वभाव ही है। श्रीगदाधर भी तो श्रीराधिका जी का स्वरूप हैं, उन्होंने भी केवलमात्र श्रीगौराङ्ग प्रभु के साथ रहने के लिये ही क्षेत्र-वास का संकल्प किया था। श्रीमन्महाप्रभु यदि काशी में रहते तो श्रीगदाधर भी काशी-वास की प्रतिज्ञा करते। उनकी क्षेत्र-वास की प्रतिज्ञा केवल प्रभु के साथ-साथ रहने के लक्ष्य से थी। अब जब श्रीमहाप्रभु क्षेत्र को छोड़ कर जा रहे थे तो श्रीगदाधर जी उनके बिना कैसे रह सकते थे। जिस क्षेत्र में वास करने की शक्ति ही श्रीगदाधर जी में नहीं थी, विशेषतः श्रीगौराङ्ग के साथ रहने में ही उनके क्षेत्र-वास के संकल्प का मुख्य उद्देश्य पूर्ण होता था—इसलिये उन्होंने कहा कि "क्षेत्र-वास जाय रसातल में—मैं तो आपके साथ चलूंगा।"

वे जो श्रीगोपीनाथ जी की सेवा करते थे—विचार पूर्वक देखा जाय तो वे श्रीकृष्ण विग्रह-श्रीकृष्ण-मूर्त्ति की सेवा किया करते थे। उनकी इस मूर्त्ति-सेवा के दो उद्देश्य हो सकते हैं--पहला बहिरङ्ग या आनुषङ्गिक, दूसरा **अन्तरङ्ग या मुख्य**। बहिरङ्ग उद्देश्य यह था—श्रीमहाप्रभु की नवद्वीप-लीला का बहिरङ्ग उद्देश्य था, कलियुग के जीवों को भजन की शिक्षा देना। उन्होंने स्वयं भी साधक-जीव की भाँति भजन किया। वे श्रीगिरिराज-शिला-श्रीगिरिधारी जी की सेवा किया करते थे। (वह श्रीगिरि-धारी जी अब श्रीभागवत निवास, रमणरेती श्रीवृन्दावन में विराजमान हैं) उसी प्रकार उनके परिकरवर्ग भी बहिरङ्ग उद्देश्य की पूर्ति के लिये भजन करते थे। विशेषतः भजनाङ्ग का मुख्यतम अङ्ग है—श्रीमूर्त्ति-पूजा। इसलिये श्रीगदाधर जी श्रीगोपीनाथ-विग्रह की सेवा कर के बहिरङ्ग उद्देश्य से साधक जीवों को भजन की शिक्षा देते थे कि साधक-जीवों के लिये मूर्त्ति-पूजन अपरिहार्य्य भजनाङ्ग है। श्रीमन्महाप्रभु जब तक नीलाचल में रहे, तब तक श्रीगदाधर जी की वह मूर्त्ति-सेवा उनके क्षेत्र वास के मुख्य उद्देश्य अर्थात् श्रीमहाप्रभु के निकट रहने में आनुषङ्गिक रूप से चलती थी, किन्तु जब श्रीमहाप्रभु जी वहाँ से चलने लगे तो वे अपने मुख्य उद्देश्य (श्रीमहाप्रभु के निकट रहने) की बलवती उत्कण्ठा में अपने आनुषङ्गिक उद्देश्य (श्रीमूर्त्ति-सेवा) को भूल गये, अथवा उसकी ओर उनका विशेष आकर्षण न रहा। वस्तुतः मुख्य एवं आनुषङ्गिक के बीच यही सम्बन्ध है। मुख्य उद्देश्य की यदि रक्षा होती रहे तो आनुषङ्गिक कार्य भी किया जाता। आनुषङ्गिक की रक्षा करने में यदि मुख्य उद्देश्य की उपेक्षा होती हो या विघ्न उत्पन्न होता हो, तो कोई भी फिर उस आनुषङ्गिक कार्य में आग्रह नहीं करता। अपने भोजन के लिये रसोई की जाती

है, रसोई बन जाने पर दी एक रोटी किसी भिक्षुक को भी दे दो जाती हैं। यहाँ अपने लिये रसोई बनाना मुख्य कार्य है, दूसरे भिक्षुक को रसोई में से कुछ दे देना आनुषङ्गिक कार्य है। दूसरे को भोजन देने में यदि अपने को ही भोजन से वञ्चित रहना पड़े, तो कोई भी दूसरे के लिये भोजन नहीं बनाता। अथवा जिस दिन अपने लिये भोजन न बनाना हो, तो केवल भिक्षुक के लिये कोई भी भोजन नहीं बनाता। इसी प्रकार श्रीगदाधर जी ने अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्त्ति को हो लक्ष्य में रखा, आनुषङ्गिक को नहीं।

यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि मूर्ति-सेवा श्रीगदाधर पण्डित या भगवान् के नित्य-परिकरों के पक्ष में आनुषङ्गिक या बहिरङ्ग कार्य हो सकता है,किन्तु मायाबद्ध हम जीवों के लिये श्रीमूर्त्ति-पूजा आनुषङ्गिक या बहिरङ्ग नहीं है। बल्कि साधक जीवों के लिये श्रीमूर्त्ति-पूजा एक मुख्य कर्त्तव्य है, जो किसी समय भी परित्याग करने योग्य नहीं है। विशेषत: यहाँ श्रीगदाधर जी, श्रीकृष्ण की मूर्त्ति-सेवा को छोड़ रहे हैं साक्षात्–श्रीकृष्ण-सेवा के लिये वे श्रीकृष्ण–सेवा का त्याग नहीं कर रहे हैं। साक्षात् श्रीकृष्ण रूप श्रीगौराङ्ग सुन्दर की साक्षात् सेवा के पीछे मूर्त्ति सेवा का वे त्याग कर रहे हैं. किन्तु साधक जीव के भाग्य में साक्षात् श्रीकृष्ण-सेवा प्राप्ति असम्भव है। साधक जीव के लिये श्रीकृष्णमूर्त्ति-सेवा ही साक्षात् सेवा तुल्य है। इसलिये यदि कोई साधक-जीव श्रीमूर्त्ति-सेवा का परित्याग करता है तो उसके पक्ष में श्रीकृष्ण-सेवा का ही त्याग समझा जायेगा, जो साधक के लिये महापराध है।''

श्रीगदाधर जी की श्रीगोपीनाथ–विग्रह सेवा के दो **''अन्तरङ्ग-उद्देश्य''** थे। एक तो श्रीमहाप्रभु के सम्बन्ध में। दूसरा उनके अपने सम्बन्ध में। श्रीमहाप्रभु सम्बन्धीय उद्देश्य यह था—श्रीराधा–अभिमान भावित श्रीमहाप्रभु का श्रीकृष्ण–सेवा करना एवं श्रीकृष्ण माधुर्य–आस्वादन करना मुख्य उद्देश्य था। इसलिये उनके परिकरों का मुख्य-उद्देश्य भी श्रीमहाप्रभु के उद्देश्य की पूर्ति की अनुकूलता विधान करना था। श्रीजगन्नाथ–विग्रह को देख कर श्रीमहाप्रभु जी विभोर हो जाते थे। श्रीराधिका जी के लिये गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण की मूर्ति कितने आदर की वस्तु है—यह तो श्रीराधाजी या उन की प्रिय सखी वृन्द ही जानती हैं। उसी प्रकार श्रीराधाभाव–सुवलित श्रीगौराङ्ग के लिये भी श्रीकृष्णविग्रह उतने ही आदर की वस्तु थी—इसलिए श्रीगौराङ्ग की प्रीति के लिए श्रीगौराङ्ग के प्राण-धन श्रीकृष्णविग्रह की सेवा गौर–परिकरगण के लिये—श्रीगदाधर जी के लिए प्राणतुल्य प्रिय थी। श्रीश्यामसुन्दर के विरह में व्याकुला श्रीराधाजी को श्रीकृष्ण का चित्रपट दिखाकर श्रीविशाखा जी जैसे उनको किञ्चत्स्थिर किया करती थीं, श्रीकृष्ण.विरह–विधुर श्रीगौराङ्गसुन्दर की विरह–व्यथा को प्रशमित करने के लिए उसी प्रकार श्रीगदाधर जी का श्रीगोपीनाथ-विग्रह भी उपयोगी था। उसके दर्शन कर प्रभु को शान्ति मिल जाती थी।

श्रीगोपीनाथ--मूर्ति सेवा में श्रीगदाधर जी का निज सम्बन्धीय अन्तरङ्ग उद्देश्य यह था कि—श्रीगदाधर स्वरूपत: श्रीकृष्णगत प्राण श्रीराधाजी तो थे ही। अत: श्रीकृष्ण उनके नित्य सेव्य हैं। स्वयंरूप श्रीश्यामसुन्दर की विरहावस्था में उनका श्रीविग्रह ही उनका एकमात्र अवलम्बन था। यही उनकी श्रीगोपीनाथ--मूर्ति--सेवा का निजस्व अन्तरङ्ग हेतु था।

''श्रीकृष्णसेवा को तृणप्राय छोड़ने'' का तात्पर्य यहाँ यह नहीं है कि श्रीगोपीनाथ की सेवा को तृणवत् तुच्छ जान कर श्रीगदाधर जी ने त्याग कर दिया। तृण के त्याग करने में जैसे कोई कष्ट नहीं होता, श्रीमहाप्रभु के साथ जाने में श्रीगोपीनाथ--मूर्ति जी की सेवा त्यागकरने में श्रीगदाधर जी को

उसी प्रकार कोई कष्ट न हुआ—यही अभिप्राय है। कष्ट न होने का कारण यह है कि श्रीगदाधर जी तत्त्वतः श्रीराधिका जी हैं और श्रीमन्महाप्रभु हैं—श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण--सेवा या सङ्ग के लिये श्रीराधाजी - देह, धर्म, कर्म सब कुछ त्याग कर सकती हैं, उन्हें कुछ भी कष्ट नहीं होता। श्रीगोपीनाथ जी श्रीकृष्ण का मूर्ति--विग्रह हैं। विग्रह--मूर्ति और स्वरूप--मूर्ति में तत्त्वतः कुछ भी भेद न रहते हुए भी—भक्त के प्रेमविकाश के साथ-साथ "**विग्रह-मूर्ति**" में भी स्वरूप के वैदग्ध्य-- माधुर्यादि का विकाश होते-होते भी, साक्षात्--स्वरूप की सेवा में तथा विग्रह--मूर्ति की सेवा में सेवासुख का किन्तु अवश्य कुछ पार्थक्य है। रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्ण के चित्रपट को देखते ही श्रीराधिकाजी श्रीकृष्ण के प्रति अनुरागिणी हो उठती थीं। उस अनुराग की वृद्धि के साथ--साथ चित्रपट स्थित श्रीकृष्ण विग्रह का माधुर्यादि भी उनके नेत्रों में बढ़ता जाता था—यह सत्य है, किन्तु उस चित्रपट का माधुर्यादि श्रीराधाजी के मन में स्वयंरूप श्रीकृष्ण के सङ्ग या मिलन की तीव्र वासना को जगाने मात्र का काम करता था, स्वयंरूप श्रीकृष्ण को छोड़कर केवल उस चित्रपट के माधुर्यास्वादन में उनकी तृप्ति कभी न हो सकी। वास्तविक, श्रीकृष्ण--चित्रपट को त्याग करके ही श्रीराधिका जी ने स्वयंरूप श्रीकृष्ण की सेवा प्राप्त कर उनके माधुर्यादि का आस्वादन किया। यहां श्रीराधास्वरूप—श्रीगदाधर जी ने भी श्रीकृष्ण की विग्रहमूर्ति श्रीगोपीनाथ जी की सेवा त्याग करके स्वयंरूप श्रीकृष्णस्वरूप श्रीमन्महाप्रभु के सङ्ग लाभ के लिये उनके साथ गमन किया। श्रीगोपीनाथ--मूर्ति की सेवा को निष्प्रयोजन जान कर उसका त्याग नहीं किया। अतः "**वस्तुतः श्रीगदाधर जी ने श्रीमहाप्रभु के साथ जाने में श्रीकृष्ण--सेवा का त्याग नहीं किया।**

इतना होने पर नदी पार होने से पहले श्रीमहाप्रभु ने कहा—"गदाधर! मेरे साथ चलने में तुम्हारे दोनों धर्म—क्षेत्रबास--प्रतिज्ञारूपधर्म तथा श्रीगोपीनाथ--सेवारूप धर्म—नाश होते हैं। और यह भी कहा—यदि तुम मेरा सुख चाहते हो तो तुम नीलाचल लौट जाओ। तुम्हें मेरी शपथ है तुम और कुछ मत बोलना" इतना कहकर प्रभु नाव चढ़ गये और श्रीगदाधर जी को मूर्च्छितावस्था में छोड़ कर चले गए। श्रीमहाप्रभु जी ने ऐसा क्यों किया?

इसका कारण यह है कि प्रेमिक--भक्त सदा उपास्यदेव का ही सुख चाहते हैं, कभी अपना सुख वे नहीं चाहते, वास्तविक भजन भी यही है। श्रीमहाप्रभु के अवतार का एक उद्देश्य—साधक जीवों को प्रकृत--भजन की शिक्षा देना और उनके सामने भजन का आदर्श स्थापन करना था। श्रीमहाप्रभु जी ने स्वयं वही किया और अपने पार्षदों द्वारा वही कराया। श्रीगदाधर जी के द्वारा इस लीला में उन्होंने श्रीविग्रह--सेवा का आदर्श स्थापन कराया है। श्रीगदाधर जी ने व्रतरूप में श्रीगोपीनाथ विग्रह की सेवा ग्रहण किया था। जो वस्तु, व्रतरूप में ग्रहण की जाती है। वह फिर कभी भी त्याग नहीं की जाती। भजनाङ्ग को भी व्रतरूप में ही ग्रहण करना चाहिए, ऐसा न करने पर भजन में निष्ठा उत्पन्न नहीं होती और न ही भजन का फल ही मिलता है। श्रीगदाधर जी की श्रीगोपीनाथविग्रह--सेवा के त्याग को यदि श्रीमहाप्रभु जी उन्हें अपने साथ ले जाकर अनुमोदित कर देते, तो ऐसा करने से व्रतरूप में भजनाङ्ग को ग्रहण करने का आदर्श मिट जाता और साधक--जीवों के लिए अकल्याण--जनक हो जाता। इसलिए श्रीमहाप्रभु जी ने जोरदार शब्दों में यहाँ तक कि अपनी शपथ देकर श्रीगदाधर जी को नीलाचल वापस भेजा ताकि उनका व्रतभङ्ग न हो और न ही जीव-शिक्षा का उद्देश्य व्यर्थ होने पाय। प्रभु के इस अकाट्य आदेश को पाकर श्रीगदाधर जी के लिए कोटि वृश्चिक-दंशन तुच्छकारी विरह--व्यथा को सहन करने के अतिरिक्त और क्या उपाय था?—उन्हें प्रभु की विरह--व्यथा को सहन ही करना पड़ा। इस प्रकार श्रीगदाधर पण्डित जी के प्रतिज्ञा एवं कृष्ण-सेवा को तृणवत् त्यागने का अति गूढ़ रहस्य है।

श्रीसार्वभौमजी ने श्रीगदाधरजी को धीरज बँधाते हुए कहा—"पण्डित! तुम जानते हो श्रीकृष्ण चन्द्र ने अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ दिया, किन्तु अपने भक्त की प्रतिज्ञा को नहीं टूटने दिया। उन्होंने कुरुक्षेत्र रण में अस्त्र न पकड़ने की प्रतिज्ञा छोड़ दी, किन्तु अपने भक्त श्रीभीष्मपितामह पर अपनी कृपा के वशीभूत होकर उन्होंने श्रीभीष्म की प्रतिज्ञा ही दृढ़ रहने दी। उसी प्रकार, गदाधर! तुम्हारे ऊपर कृपा करते हुए श्रीमन्महाप्रभु स्वयं तुम्हारे विच्छेद के दुख को सहन कर रहे हैं, किन्तु तुम्हारी प्रतिज्ञा—श्रीक्षेत्रवास तथा-श्रीगोपीनाथ सेवा की प्रतिज्ञा को भङ्ग नहीं होने दे रहे हैं।" इस प्रकार आश्वासन देते हुए श्रीसार्वभौम जी ने इस बात के प्रमाण-स्वरूप निम्नलिखित श्लोक पढ़ा।

तथाहि (भाः १-६-३७)

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्त्तुमप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्यगाच्चलद्गुर्हरिरिवहन्तुमिभंगतोत्तरीयः ॥२॥

श्रीभीष्म जी ने श्रीयुधिष्ठिर महाराज से कहा है—"जिन्होंने अपनी प्रतिज्ञा सत्य करने के लिये सहसा श्रीअर्जुन के रथ से उतर कर रथचक्र धारण करते हुए, हाथी का वध करने के लिये जैसे सिंह धावित होता है—उसी प्रकार, मेरी ओर धावित हुए थे और उनके चरणों की पटकन से पृथ्वी पद-पद में कम्पित हो गई थी, एवं उनका पीताम्बर अङ्ग से छूट कर लटकता जा रहा था—वह श्रीमुकुन्द ही मेरी गति हों। (इस श्लोक से यही प्रमाणित होता है कि श्रीभगवान् अपने भक्तों की प्रतिज्ञा को पूरा करने में अपनी प्रतिज्ञा को त्याग देते हैं।) ॥२॥

एइमत प्रभु तोमार विच्छेद सहिया। तोमार प्रतिज्ञा रक्षा कैल यत्न करिया ॥१४४॥
एइमत कहि तारे प्रबोध करिला। दुइजने शोकाकुल नीलाचले आइला ॥१४५॥
प्रभु लागि धर्म-कर्म छाड़े भक्तगण। भक्तधर्महानि प्रभुर ना हय सहन ॥१४६॥
प्रेमेर विवर्त्त इहा शुने येइजन। अचिरे मिलये तारे चैतन्य चरण ॥१४७॥

श्रीसार्वभौम ने आगे कहा-"गदाधर! इस प्रकार तुम्हारे वियोग-दुख को प्रभु स्वयं सहन करेंगे, किन्तु उन्होंने तुम्हारी प्रतिज्ञा की यत्नपूर्वक रक्षा की है।" इस प्रकार श्रीसार्वभौम जी ने पण्डित गदाधर जी को सान्त्वना दी और दोनों प्रभु के विरह-दुख से व्याकुल होकर नीलाचल लौट आये। भक्तगण प्रभु के प्रेम में अपना समस्त धर्म-कर्म त्याग देते हैं, परन्तु श्रीमहाप्रभु भक्त के धर्म की हानि को कभी सहन नहीं करते, इस प्रेम-विवर्त्त अर्थात् प्रेम की विशेष अवस्था या लक्षण को जो व्यक्ति सुनेगा, उसे श्रीचैतन्य देव के चरणों की शीघ्र ही प्राप्ति होगी ॥१४४-१४७॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीगदाधर जी श्रीमहाप्रभु के साथ उनकी सेवा के लिये अपने क्षेत्रावासरूप धर्म एवं श्रीगोपीनाथ-विग्रह-सेवा को छोड़ना चाहते थे, किन्तु श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें अपने साथ न जाने दिया। इसका एक कारण तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि जीव-शिक्षा के लिये प्रभु ने श्रीगदाधर जी के द्वारा धर्म की रक्षा कराई और भजन का आदर्श स्थापन किया,किन्तु इसमें एक गूढ़ कारण और है।

यहा कहा जा चुका है कि श्रीराधा-भाव में विभावित-चित्त होकर श्रीराधाजी की भाँति श्रीकृष्ण माधुर्यादि का आस्वादन करना श्रीमहाप्रभु के अवतार का गूढ़ या अन्तरङ्ग कारण था। प्रभु के श्रीवृन्दावन-गमन में इसी उद्देश्य की सिद्धि का संकल्प था। उस समय जब श्रीमहाप्रभु श्रीवृन्दावन जा रहे

थे, श्रीवृन्दावन की लीला अप्रगट हो चुकी थी अर्थात् श्रीकृष्ण अप्रगटलीला में पधार चुके थे। प्रगटलीला में श्रीकृष्ण जब मथुरा चले गये थे, उस समय श्रीकृष्ण-शून्य श्रीवृन्दावन में श्रीराधा जी की जो अवस्था थी, श्रीराधाभाव में विभावित होकर ठीक उसी अवस्था की उपलब्धि एवं आस्वादन करना ही श्रीमहाप्रभु के श्रीवृन्दावन-गमन लीला का गूढ़ उद्देश्य जान पड़ता है। इस उद्देश्यसिद्धि के लिये श्रीवृन्दावन में रहकर उनके लिये राधा-भाव की निबिड़ता एवं अविच्छिन्नता का एकान्त प्रयोजन था। किन्तु यदि श्रीगदाधरजी उनके साथ रहते,तो इस प्रकार की भाव-अविच्छिन्नताका प्रभु में रहना सम्भव न हो पाता। कारण कि श्रीगदाधर श्रीकृष्ण की प्रेयसीशक्ति या कान्ताशक्ति हैं, उनमें दक्षिणा-नायिका का भाव ही प्रधानरूप से अभिव्यक्त है। इसलिये उनके साथ रहने में अथवा उनके भाव के प्रभाव से श्रीगौराङ्गरूपी श्रीकृष्ण में नागर-भाव या श्रीकृष्ण-भाव की अभिव्यक्ति होना सम्भव हो सकता था। परन्तु नागर-भाव की अभिव्यक्ति प्रभु के श्रीवृन्दावन गमन के गूढ़ उद्देश्य की सिद्धि के प्रतिकूल थी। इसलिये श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीगदाधर जी को अपने साथ ले जाना स्वीकार नहीं किया।

प्रेमविवर्त्त का अर्थ है, प्रेम की विशेष अवस्था। श्रीगदाधर जी अपने धर्म को छोड़ कर एवं उसके अपराध को भी सिर पर लेकर प्रभु के साथ जाना चाहते थे—यह प्रेम की एक विशेष अवस्था है। अथवा **प्रेमविवर्त्त** का अर्थ हो सकता है, प्रेम का विपरीत भाव। प्रेम के स्वभाव से भक्त भगवान् के सुख की वाञ्छा करता है और उसी प्रेम के स्वभाव से भगवान् भक्त के धर्म की रक्षा की वाञ्छा करते हैं। प्रभु के लिये भक्त धर्म-कर्म त्याग करता है और प्रभु भी भक्त के लिये अपनी प्रतिज्ञा (धर्म-कर्म) छोड़ देते हैं। भक्त का मन प्रभु की ओर रहता है, किन्तु भगवान् के मन की गति उसके विपरीत भक्त की ओर रहती है—यह प्रेम का विपरीत भाव है, जिसे **प्रेम विवर्त्त** कहते हैं–यहाँ यही अर्थ सङ्गत प्रतीत होता है।

दुइ राजपात्र येइ प्रभु–सङ्गे याय। याजपुर आसि प्रभु तारे दिलेन विदाय ॥१४८॥
प्रभु विदाय दिल, राय याय तांर सने। कृष्णकथा रामानन्द सने रात्रि–दिने ॥१४६॥
प्रति ग्रामे राज-आज्ञाय राजभृत्यगण। नव्य गृहे नाना द्रव्ये करये सेवन ॥१५०॥
एइमत चलि प्रभु रेमुणा आइला। तथा हैते रामानन्द राये विदाय दिला ॥१५१॥

श्रीमन्महाप्रभु जी के साथ श्रीहरिचन्दन तथा श्रीमर्दराज जो दो कर्मचारी थे, उन्हें भी याजपुर में पहुँच कर प्रभु ने विदा कर दिया। प्रभु ने रायरामानन्द जी को भी विदाई दी, किन्तु वे प्रभु के साथ ही रहे। दिन रात प्रभु के साथ उनकी कृष्ण-कथा होती थी। राजा की आज्ञा से प्रति ग्राम में राजकर्मचारी उपस्थित होकर नवीन निवास स्थान तथा अनेक द्रव्यों से प्रभु की सेवा करते थे। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु चलकर रेमुणा आए और वहाँ से रायरामानन्द जी को विदा कर दिया।।१४८–१५१॥

भूमिते पड़िला राय नाहिक चेतन। राय कोले करि प्रभु करये क्रन्दन ॥१५२॥
रायेर विदाय–कथा ना याय कथन। कहिते ना पारि एइ ताहार वर्णन ॥१५३॥
तबे ओड्रदेशसीमा प्रभु चलि आइला। तथा राज—अधिकारी प्रभुरे मिलिला ॥१५४॥
दिन दुइ-चारि तेंहो करिल सेवन। आगे चलिवारे सेइ कहे विवरण—॥१५५॥

श्रीमहाप्रभु के विदा करते ही रायरामानन्द जी पृथ्वी पर मूर्च्छित होकर गिर पड़े और प्रभु ने उन्हें अङ्क में उठा लिया और क्रन्दन करने लगे। राय की विदाई की बात कुछ वर्णन नहीं की जासकती।

'उसका वर्णन नहीं हो सकता'—बस यही उसका वर्णन है। फिर प्रभु उड़ीसा देश की सीमा पर आए वहाँ एक राजकर्मचारी प्रभु को मिला। दो-चार दिन उसने प्रभु की सेवा की एवं आगे जाने की सब व्यवस्था कहने लगा ॥१५२–१५५॥

मद्यप–यवनराजार आगे अधिकार। तार भये पथे केहो नारे चलिवार ॥१५६॥

पिछलदा–पर्य्यन्त सब तार अधिकार। तार भये नदी केहो हैते नारे पार ॥१५७॥

दिन कथो रह, सन्धि करि तार सने। तबे सुखे नौकाते कराइब गमने ॥१५८॥

सेइकाले से–यवनेर एक चर। उड़िया कटक आइल करि वेशान्तर ॥१५९॥

प्रभुर से अद्भुत चरित्र देखिया। हिन्दु चर कहे सेइ यवन–पाश गिया ॥१६०॥

उस राजकर्मचारी ने प्रभु से कहा—"प्रभो! अब यहाँ से आगे एक यवन राजा का अधिकार है, जो मद्यपान करता है और वह अत्याचारी है, उसके भय से उसके देश के रास्ते से निकलना कठिन है। पिछलदा तक उसका अधिकार है, मन्त्रेश्वरनद को भी उसके भय से कोई पार नहीं कर सकता। इसलिये आप कुछ दिन और यहाँ रहिये, उसके साथ मैं सन्धि कर लूं। फिर मैं आपको सुखपूर्वक नदी से भी पार उतार दूंगा।" इतने काल में उसी यवन राजा का एक गुप्तचर वेश बदले हुए वहाँ कटक में आ पहुंचा। (यह कटक दूसरा गाँव है। यह राजा प्रतापरुद्र की राजधानी से पृथक् है।) श्रीमहाप्रभु के अद्भुत प्रभाव को देख कर वह गुप्तचर जो हिन्दू ही था, अपने मद्यप यवन राजा के पास जाकर कहने लगा—॥

एक सन्न्यासी आइल जगन्नाथ हैते। अनेक सिद्ध पुरुष हय ताहार सहिते ॥१६१॥

निरन्तर करे सभे कृष्णसङ्कीर्त्तन। सभे हासे नाचे गाय करये क्रन्दन ॥१६२॥

लक्षलक्षलोक आइसे ताहा देखिवारे। तांरे देखि पुनरपि याइते नारे घरे ॥१६३॥

सेइ सब लोक हय बाउलेर प्राय। कृष्ण कहि नाचे कान्दे गड़ागड़ि याय ॥१६४॥

कहिवार कथा नहे, देखिले से जानि। तांहार स्वभावे तांरे ईश्वर करि मानि ॥१६५॥

एत कहि सेइ चर 'हरिकृष्ण' गाय। हासे कान्दे नाचे गाय बाउलेर प्राय ॥१६६॥

उस गुप्तचर ने जाकर कहा—"राजन् एक संन्यासी जगन्नाथपुरी से आया है और उसके सा अनेक सिद्ध पुरुष हैं। वे सब लोग निरन्तर श्रीकृष्ण सङ्कीर्त्तन करते हैं और कभी हँसते-नाचते-गाते हैं और कभी रोने लगते हैं। असंख्य लोग उस संन्यासी को देखने आते हैं और उसे देख कर फिर वे अपने घरों को नहीं लौटते। वे सब लोग पागल से हो जाते हैं और 'कृष्ण-कृष्ण' कह कर वे नाचते-गाते एवं गिरने-पड़ने लगते हैं। उनकी महिमा कुछ कही नहीं जाती, देखने से ही उसका पता लग सकता है। उसके कार्य-आचरण एवं प्रभा को देख कर ऐसा जान पड़ता है—वह ईश्वर है।" इतना कहते-कहते वह गुप्तचर 'हरि-कृष्ण' गाने लगा और पागलों की भाँति हँसने-रोने, नाचने-गाने लगा ॥१६१—१६६॥

एत शुनि यवनेर मन फिरि गेल। आपन विश्वास प्रभुस्थाने पाठाइल ॥१६७॥

विश्वास आसिया प्रभुर चरण बन्दिल। 'कृष्ण–कृष्ण' कहे प्रेमे विह्वल हइल ॥१६८॥

धैर्य्य हञा उड़ियाके कहे नमस्करि। तोमा स्थाने पाठाइल म्लेच्छ–अधिकारी ॥१६९॥

तुमि यदि आज्ञा देह, एखाने आसिया। यवन अधिकारी याय प्रभुके मिलिया ॥१७०॥

बहुत उत्कण्ठा तार करियाछे विनय। तोमा सने एइ सन्धि, नाहि युद्धभय ॥१७१॥

अपने गुप्तचर की बात सुन कर एवं उसकी अवस्था देखकर यवन-राजा का मन फिर गया अर्थात् हिन्दुओं के प्रति जो उसका विद्वेष था, वह मिट गया और उसने एक विश्वस्त दूत को प्रभु के स्थान पर भेजा। उस दूत ने आकर श्रीमहाप्रभु के चरणों में प्रणाम किया और वह 'कृष्ण-कृष्ण' कहते कहते विह्वल होगया। फिर थोड़ी देर में धीरज-पूर्वक वह दूत उस उड़ियाराज-कर्मचारी को नमस्कार करके कहने लगा—"मुझे तुम्हारे पास यवन--राजा ने भेजा है। यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो यवन-राजा यहां आकर प्रभु के दर्शन कर जावें। उसने बहुत उत्कण्ठा-पूर्वक यह विनय की है—तुम से वह सन्धि करना चाहता है। कुछ भी युद्ध का भय नहीं करो" ॥१६७—१७१॥

शुनि महापात्र कहे हइया विस्मय। मद्यप--यवनेर चित्त ऐछे के करय ? ॥१७२॥
आपने महाप्रभु तार मन फिराइल। दर्शने श्रवणे यार जगत् तारिल ॥१७३॥
एत बलि विश्वासेरे कहिल वचन—। भाग्य तांर, आसि करुक प्रभुर दर्शन ॥१७४॥
प्रतीत करिये यदि निरस्त्र हइया। आसिवेक पांच सात भृत्य सङ्गे लैया ॥१७५॥
विश्वास याइया ताँरे सकल कहिल। हिन्दू वेश धरि सेइ यवन आइल ॥१७६॥

दूत की बात सुनकर उड़िया--राज--कर्मचारी को बहुत आश्चर्य हुआ कि मद्य--पान करने वाले यवन--राजा के चित्त को ऐसा किसने कर दिया। उसने यही निश्चय किया कि इसके चित्त को स्वयं श्रीमहाप्रभु जी ने ही बदल दिया है। कारण कि उनके दर्शन मात्र से एवं उनके मुख से श्रीहरिनाम सुनने मात्र से ही जगत् का उद्धार हो जाता है। ऐसा जानकर उसने दूत से कहा—"उस यवन--राजा के बड़े भाग्य ही उदय हुए हैं, वह आकर अवश्य प्रभु के दर्शन करे। और फिर उसका विश्वास मुझे तब होगा कि वह अपने साथ शस्त्रादि कुछ भी न लावे, केवल पांच--सात सेवक साथ लेकर चला आवे।" उस दूत ने जाकर यवन--राजा से सब वृत्तान्त कह सुनाया और यवन--राजा हिन्दू वेश धारण कर प्रभु के दर्शनों को चल दिया ॥१७२—१७६॥

दूर हैते प्रभु देखि भूमिते पड़िया। दण्डवत् करे अश्रु-पुलकित हैया ॥१७७॥
महापात्र आनिल तांरे करिया सम्मान। योड़हाते प्रभु-आगे लय कृष्णनाम ॥१७८॥
"अधम यवनकुले केने जन्म हैल। विधि मोरे हिन्दुकुले केने ना जन्माइल ॥१७९॥
हिन्दु हैले पाइताम तोमार चरण-सन्निधान। व्यर्थ मोर एइ देह,याउक पराण" ॥१८०॥

यवनराज दूर से ही श्रीमहाप्रभु को देखकर भूमि पर दण्डवत् प्रणाम करने लगा और उसकी आखों से अश्रु प्रवाहित होने लगे और उसका शरीर पुलकित हो उठा। उड़िया--कर्मचारी उसे आदर-पूर्वक अन्दर ले आया। उसने हाथ जोड़ कर प्रभु को 'कृष्णनाम' उच्चारण करते हुए वन्दना की और कहने लगा—"हाय! हाय!! अधम यवन कुल में मेरा जन्म क्यों हुआ? विधाता ने मुझे हिन्दू कुल में क्यों न जन्म दिया? यदि मैं हिन्दू होता तो आज आपके चरणों की समीपता प्राप्त करता। मेरा यह जन्म वृथा ही गया, अच्छा है कि इस शरीर को त्याग दूं ॥१७७—१८०॥

एत शुनि महापात्र आविष्ट हइया। प्रभुके करेन स्तुति चरणे धरिया ॥१८१॥
चण्डाल पवित्र यांर श्रीनामश्रवणे। हेन तोमार एइ जीव पाइल दर्शने ॥१८२॥
इहार ये एइ गति, कि इहा विस्मय। तोमार दर्शन-प्रभाव एइमत हय ॥१८३॥

यवन--राजा के वचन सुनकर कर्मचारी प्रेम में आविष्ट हो उठा और श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ कर स्तुति करने लगा। उसने कहा—"जिनका नाम सुनने मात्र से ही चण्डाल पर्यन्त पवित्र हो जाते हैं, साक्षात् उनके दर्शन करके इस यवन--राज की मति बदल जाए तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। प्रभो ! आपके दर्शनों का यही प्रभाव है"॥१८१-१८३॥ (इस बात का प्रमाण नीचे उल्लिखित करते हैं।)

तथाहि (भा: ३—३३—६)

यन्नामधेयश्रवणा नुकीर्त्तनात् यत्प्रह्वणाद्यत् स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥३॥

माता देवहूति ने भगवान् कपिलदेव जी से कहा है– "हे भगवन् ! कभी भी आपका नाम श्रवण व कीर्त्तन करने पर, किंवा आपको नमस्कार करने पर या स्मरण कर लेने पर कुत्ते का मांस खाने वाला श्वपच नीच जाति भी तत्क्षणात् सोमयाग की योग्यता प्राप्त कर लेता है। इसलिए आपके दर्शन करने से लोग पवित्र होजाते हैं। इस विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥३॥

चै० च० चु० *टीका:*—इस श्लोक में यह कहा गया है कि किसी भी प्रकार, किसी भी समय यदि श्रीभगवन्नाम का श्रवण, कीर्त्तनादि किया जाये, तो उससे नीचजाति श्वपच तक भी पवित्र होजाता है और सोमयाग की योग्यता प्राप्त कर लेता है। सोमयाग एक यज्ञ विशेष है, सोमलता का रस पान करना इस यज्ञ का एक अङ्ग है। इस यज्ञ की पूर्ति में तीन वर्ष लगते हैं। जो इस यज्ञ को करता है, उसे एकवर्ष तक सोमलता का रस, एकवर्ष तक केवल फल और एक वर्ष तक केवल जल पान करके ही रहना पड़ता है। इस यज्ञ का अधिकारी केवल ब्राह्मण ही होता है। सारांश यह है कि श्रीभगवन्नाम का श्रवण कीर्त्तनादि करने से एक नीच जाति श्वपच भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मचारी ने प्रभु की स्तुति की।

तबे महाप्रभु तारे कृपा दृष्टि करि । आश्वासिया कहे—'तुमि कह कृष्ण-हरि' ॥१८४॥
सेइ कहे—मोरे यदि कैले अङ्गीकार । एक आज्ञा देह, सेवा करिये तोमार ॥१८५॥
गो-ब्राह्मण-वैष्णव हिंसा करेछि अपार । सेइ पाप हइते मोर हउक निस्तार ॥१८६॥
तबे मुकुन्ददत्त कहे—शुन महाशय । गङ्गातीर याइते महाप्रभुर मन हय ॥१८७॥
ताहां याइते कर तुमि सहाय प्रकार । एइ बड़ आज्ञा, एइ बड़ उपकार ॥१८८॥
तबे सेइ महाप्रभुर चरण वन्दिया । सभार चरण वन्दि चले हृष्ट हैया ॥१८९॥

श्रीमहाप्रभु जी ने उस यवन-राज को कृपा पूर्ण नेत्रों से देखा और उसे आश्वासन देते हुए कहा —"तुम यवन कुल में जन्मे तो क्या हुआ ? श्रीकृष्ण--भक्ति में जाति--कुलादि का कुछ भी विचार नहीं है—तुम सदा 'श्रीकृष्ण--हरि' कहो।" यवनराज ने कहा—"प्रभो ! आपने यदि मुझे अङ्गीकार कर लिया है तो मुझे अब अपनी किसी सेवा के लिये आज्ञा दीजिये। मैंने गौ--ब्राह्मण तथा वैष्णवों की अपार हिंसा की है, उस पाप से जैसे मेरा निस्तार हो सके—ऐसी कृपा कीजिये।" तब श्रीमुकुन्ददत्त बोले—"महाशय ! सुनिये, श्रीमहाप्रभु गौड़देश-गंगातीर पर जाना चाहते हैं, उनके जाने में तुम यदि सहायता कर दो, यही सब से बड़ी आज्ञा है और यही बड़ी सेवा होगी।" यवनराज ने सुन कर उसे स्वीकार किया और श्रीमहाप्रभु के चरणों में प्रणाम की। सब वैष्णवों के चरणों में वह नमस्कार करके प्रसन्नतापूर्वक वहां से चला आया ॥१८४—१८९॥

महापात्र तार सने कैल कोलाकुलि। अनेक सामग्री दिया करिल मितालि॥१६०॥
प्रातःकाले सेइ बहु नौका साजाइया। प्रभुके आनिते दिल विश्वास पाठाइया॥१६१॥
महापात्र चलि आइल महाप्रभुर सने। म्लेच्छ आसि कैल प्रभुर चरण–वन्दने॥१६२॥
एक नवीन नौका तार मध्ये एक घर। स्व–गण चड़ाइल प्रभु ताहार उपर॥१६३॥
महापात्रे महाप्रभु करिल विदाय। कान्दिते–कान्दिते सेइ तीरे रहि चाय॥१६४॥

महापात्र ने यवनराज को गलकण्ठ लगाया और उसे अनेक सामग्री देकर उससे मित्रता जोड़ ली। दूसरे दिन प्रातःकाल उसने अपने विश्वासी जन के साथ बहुत सी नौकाएं प्रभु को लेने के लिये भेज दीं। महापात्र उस विश्वासीजन के साथ प्रभु के पास आया। उस यवन-राज के सेवक ने प्रभु के चरणों में वन्दना की। एक नवीन नौका थी उसमें एक कोठरी भी बन रही थी, उस नौका पर प्रभु ने पहले अपने सब भक्तों को चढ़ाया। श्रीमहाप्रभु ने उस उड़ियाराज--कर्मचारी को विदा किया—वह रोते-रोते नदी के किनारे पर खड़ा प्रभु को देखता रह गया॥१६०—१६४॥

जलदस्युभये सेइ यवन चलिल। दश नौका भरि बहु सैन्य सङ्गे निल॥१६५॥
मन्त्रेश्वर दुष्टनदे पार कराइल। पिछलदा–पर्य्यन्त सेइ यवन आइल॥१६६॥
तारे विदाय दिल प्रभु सेइ ग्राम हैते। सेकाले तार प्रेम– चेष्टा ना पारि वर्णिते॥१६७॥
अलौकिक लीला करे श्रीकृष्णचैतन्य। येइ इहा शुने—तार जन्म देह धन्य॥१६८॥

नदी में डाका डालने वालों के भय से प्रभु की रक्षा करने के लिये स्वयं यवनराज भी दश नौकाओं में सेना भर कर प्रभु के साथ चल दिया। भयंकर मन्त्रेश्वर नद को पार कराके वह यवनराज पिछलदा पर्य्यन्त प्रभु को पहुँचाने आया। श्रीप्रभु ने उसे वहां ही विदा कर दिया। उसकी उस समय जो प्रेम की दशा हुई, उसका वर्णन नहीं हो सकता। इस प्रकार श्रीकृष्णचैतन्यदेव अलौकिक लीलाएं करते हैं, जो उन लीलाओं को सुनता है, उसका जन्म एवं शरीर कृतार्थ हो जाता है॥१६५—१६८॥

सेइ नौका चढ़ि प्रभु आइला पानीहाटी। नाविकेरे पराइल निज कृपा–शाटी॥१६६॥
'प्रभु आइला' बलि लोकेर हैल कोलाहल। मनुष्ये भरिल सब–जल आर स्थल॥२००॥
राघव पण्डित आसि प्रभु लञा गेला। पथे याइते लोकभिड़ कष्टे–सृष्टे आइला॥२०१॥
एकदिन प्रभु तथा करिया निवास। प्राते कुमारहट्टे आइला–यांहा श्रीनिवास॥२०२॥

यवनराज तो पहले विदा होगया, किन्तु श्रीमहाप्रभु उस नौका पर चढ़ कर पानीहारी तक आए और वहां उतर कर प्रभु ने कृपा करते हुए उस मल्लाह (खेवट) के लिये अपना एक बहिर्वास दिया, जिसे पाकर वह कृतार्थ होगया। "श्रीप्रभु आगये हैं"—समस्त गौड़देश में यह कोलाहल होगया। वहां घाट पर ही लोगों की भीड़ जुड़ गई। श्रीराघव पण्डित वहां आए और प्रभु को अपने साथ ले गये। रास्ते में लोगों की इतनी भीड़ होगई कि प्रभु मुश्किल से स्थान पर पहुँचे। एक दिन श्रीमहाप्रभु ने वहां निवास किया और फिर प्रातःकाल कुमारहाटी पर श्रीनिवास (श्रीनिवास पण्डित) जहां रहते थे, प्रभु वहां आए॥१६६—२०२॥

ताहां हैते आगे गेला शिवानन्दघर । वासुदेव—गृहे पाछे आइला ईश्वर ।।२०३।।
वाचस्पतिगृहे प्रभु येमते रहिला । लोकभिड़ भये यैछे कुलिया आइला, ।।२०४।।
माधवदास-गृहे तथा शचीर नन्दन । लक्षकोटि लोक तथा पाइल दर्शन ।।२०५।।
सात दिन रहि तथा लोक निस्तारिला । सब अपराधिगणे प्रकारे तारिला ।।२०६।।

वहां से श्रीमहाप्रभु श्रीशिवानन्द के घर आए, फिर श्रीवासुदेव के घर आए। फिर श्रीसार्वभौम जी के भाई श्रीवाचस्पति के घर प्रभु आकर रहे परन्तु लोगों की भीड़ के मारे वहां से कुलिया गांव में प्रभु चले आए। फिर श्रीशचीनन्दन श्रीमाधवदास के घर आए और वहाँ असंख्य लोगों ने प्रभु के दर्शन किये। वहाँ प्रभु ने सात दिन रहकर असंख्य लोगों का निस्तार किया और सब अपराधी लोगों का (जो जो पूर्वकाल में प्रभु की निन्दा किया करते थे, तथा देवानन्द तथा गोपाल--चोपालादि का) उद्धार किया ।।

शान्तिपुराचार्य्यगृहे यैछे आइला । शचीमाता मिलि ताँर दुख खण्डाइला ।।२०७।।
तथा हैते प्रभु यैछे गौड़ेरे चलिला । तबे रामकेलिग्रामे प्रभु यैछे गेला ।।२०८।।
ताहां यैछे रूप-सनातनेरे मिलिला । नृसिंहानन्द यैछे पथ साजाइला ।।२०९।।
सूत्रमध्ये आमि ताहा करिल वर्णन । नाटशाला हैते यैछे फिरि आगमन ।।२१०।।
नाटशाला हैते प्रभु पुन फिरि आइला । लोक-भिड़-भये वृन्दाबन नाहि गेला ।।२११।।
शान्तिपुरे पुन कैल दश दिन वास । विस्तारि वर्णियाछेन बृन्दाबनदास ।।२१२।।

तदनन्तर श्रीमहाप्रभु जी शान्तिपुर में श्रीअद्वैताचार्य के घर पर आए और श्रीशचीमाता को मिलकर उसका दुख दूर किया। वहाँ से प्रभु बंगाल देश में गये, वहां रामकेलि गांव में श्रीरूप-सनातनजी से प्रभु का मिलन हुआ, फिर श्रीनृसिंहानन्द ने मार्ग को सजाया—इत्यादि ये सब चरित्र प्रथम-परिच्छेद (१४० से २१२ पयारों में) में हम वर्णन कर चुके हैं। श्रीमहाप्रभु नाटशाला से वापस लौटे आए और लोगों की बड़ी भीड़ के मारे वे श्रीवृन्दावन नहीं जा सके और शान्तिपुर में उन्होंने दश दिन तक निवास किया—ये सब चरित्र श्री वृन्दाबनदास जी ने श्रीचैतन्य-भागवत में विस्तार पूर्वक वर्णन किये हैं ।।२१२।।

अतएव इहां तार ना कैल विस्तार । पुनरुक्ति हय ग्रन्थ बाढ़ये अपार ।।२१३।।
पुनरपि प्रभु यदि शान्तिपुर आइला । रघुनाथदास आसि प्रभुरे मिलिला ।।२१४।।
हिरण्य गोवर्द्धन नाम दुइ सहोदर । सप्तग्रामे बारलक्षमुद्रार ईश्वर ।।२१५।।
महैश्वर्य्ययुक्त दोंहे वदान्य ब्रह्मण्य । सदाचार सत्कुलीन धार्मिक अग्रगण्य ।।२१६।।
नदीयावासि ब्राह्मणेर उपजीव्य प्राय । अर्थ भूमि ग्राम दिया करेन सहाय ।।२१७।।

कविराज कहते हैं—"इसलिये मैंने उक्त चरित्रों को यहाँ विस्तार से नहीं कहा है, पुनरुक्ति होती और ग्रन्थ का आकार भी बहुत बढ़ जाता।" जब श्रीमहाप्रभु शान्तिपुर आए तो वहां श्रीरघुनाथदास जी श्रीमहाप्रभु से आकर मिले। श्रीहिरण्य तथा श्रीगोवर्द्धन दो भाई थे जो सप्तग्राम में रहते थे। जिनकी बारहलाख रुपये की भूमिद्वारा आय थी। दोनों महान् सम्पत्ति शाली थे, दानशील एवं ब्राह्मणों की पालना करने वाले थे। दोनों सदाचारी, कुलीन एवं धार्मिक पुरुषों में अग्रगण्य थे। नदियावासी ब्राह्मणों के लिये तो वे आश्रय स्वरूप थे। उन्हें पैसा, भूमि, गांवादि देकर दोनों भाई सहायता किया करते थे ।।२१३—२१७।।

नीलाम्बरचक्रवर्त्ती आराध्य दोंहार। चक्रवर्त्ती करे दोंहाय भ्रातृव्यवहार ॥२१८॥
मिश्र पुरन्दरेर पूर्वे करियाछेन सेवने। अतएव प्रभु भाल जाने दुइजने ॥२१६॥
सेइ गोवर्द्धनेर पुत्र—रघुनाथदास। बाल्यकाल हैते तेंहो विषये उदास ॥२२०॥
सन्न्यास करि प्रभु यवे शान्तिपुर आइला। तबे आसि रघुनाथ प्रभुरे मिलिला ॥२२१॥
प्रभुर चरणे पड़े प्रेमाविष्ट हैया। प्रभु पादस्पर्श कैल करुणा करिया ॥२२२॥

श्रीहिरण्य एवं श्रीगोवर्द्धन ये दोनों श्रीनीलाम्बर चक्रवर्ती (श्रीमहाप्रभु के नाना) को अपना पूज्यनीय मानते थे और चक्रवर्ती भी इन दोनों के साथ भाइयों जैसा व्यवहार करते थे। ये दोनों पूर्वकाल में श्रीजगन्नाथ मिश्र (श्रीमहाप्रभु जी के पिता) की भी बहुत सेवा किया करते थे। इसलिये श्रीमहाप्रभु जी इन दोनों को अच्छी प्रकार जानते थे। श्रीगोवर्द्धन जी के पुत्र थे श्रीरघुनाथदास। ये बालक-पन से ही विषयों में उदासीन रहते थे। श्रीमहाप्रभु जब संन्यास करके शान्तिपुर में आए थे, उस समय श्रीरघुनाथ दास प्रभु से आकर मिले थे। वे प्रेमाविष्ट होकर श्रीमहाप्रभु के चरणों में गिर पड़े और प्रभु ने कृपा कर उन्हें अपना चरण स्पर्श कर दिया था ॥२१८—२२२॥

तांर पिता सदा करे आचार्य्य सेवन। अतएव आचार्य्य तांरे हैला प्रसन्न ॥२२३॥
आचार्य्य प्रसादे पाइला प्रभुर उच्छिष्ट पात। प्रभुर चरण देखे दिन पांच-सात ॥२२४॥
प्रभु तांरे विदाय दिया गेला नीलाचल। तेंहो घरे आसि हैल प्रेमेते पागल ॥२२५॥
बार-बार पलाय तेंहो नीलाद्रि याइते। पिता तारे बान्धि राखे आनि पथ-हैते ॥२२६॥
पञ्च पाइक तांरे राखे रात्रि-दिने। चारि सेवक दुइ-ब्राह्मण रहे तांर सने ॥२२७॥
एइ एकादश जन राखे निरन्तर। नीलाचल याइते ना पाय, दुःखित अन्तर ॥२२८॥

श्रीरघुनाथदास के पिता जी श्रीअद्वैताचार्य जी की भी बहुत सेवा किया करते थे, इसलिये श्रीआचार्य भी उन पर बहुत प्रसन्न थे। श्रीअद्वैताचार्य की कृपा से श्रीरघुनाथदास जी ने श्रीमहाप्रभु का उच्छिष्ट-प्रसाद भी प्राप्त किया और पांच सात दिन तक श्रीमहाप्रभु के पास रहे। श्रीमहाप्रभुजी उन्हें बिदा देकर नीलाचल चले गये एवं श्रीरघुनाथदासजी घर लौट आए किन्तु उसी काल से प्रेम-पागल हो बने रहते। बार-बार नीलाचल जाने के लिये घर से भाग निकलते, परन्तु उनके पिता जी उन्हें रास्ते से पकड़ कर घर में बांध कर रखते। पांच पहरेदार रात-दिन उन पर रहते, चार व्यक्ति उनकी सेवा के लिये और दो ब्राह्मण—इस प्रकार ग्यारह व्यक्ति दिन-रात उनकी रखवाली करते कि कहीं वह भाग न जाएँ। श्रीरघुनाथदास जी नीलाचल न जा पाते, जिससे वह हृदय में बहुत दुखी रहते ॥२२३—२२८॥

एबे यदि महाप्रभु शान्तिपुर आइला। शुनिञा पितारे रघुनाथ निवेदिला ॥२२६॥
आज्ञा देह, याइ देखि प्रभुर चरण। अन्यथा ना रहे मोर शरीरे जीवन ॥२३०॥
शुनि तांर पिता बहुलोक द्रव्य दिया। पाठाइल तांरे 'शीघ्र 'आसिह' कहिया ॥२३१॥
सातदिन शान्तिपुरे प्रभुसङ्गे रहे। रात्रि-दिवसे एइ मनःकथा कहे—॥२३२॥
रक्षकेर हाथे मुञि केमने छुटिब ?। केमने प्रभुर सङ्गे नीलाचल याब ? ॥२३३॥
सर्वज्ञ गौराङ्ग प्रभु जानि तार मन। शिक्षारूपे कहे तारे आश्वास-वचन ॥२३४॥

जब श्रीमहाप्रभु जी शान्तिपुर में आए, तो यह बात सुन कर श्रीरघुनाथदास ने अपने पिता जी से निवेदन किया—"आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं प्रभु के पास जाकर चरण-दर्शन करूं, नहीं तो अब मेरा जीवन नहीं रहेगा।" पिता जी ने यह बात सुन कर अनेक व्यक्ति एवं द्रव्य देकर श्रीरघुनाथदास जी को जाने की आज्ञा दी और वापिस शीघ्र लौट आने को कहा। श्रीरघुनाथदास जी शान्तिपुर में आए और सात दिन तक प्रभु के साथ रहे। रात-दिन बस यही अपने मन की बात प्रभु से कहते और पूछते रहते—"प्रभो! मैं इन पहरेदारों के हाथ से कैसा छुटकारा पाऊँ? किस प्रकार मैं आपके साथ नीलाचल चल सकूँगा?" श्रीमहाप्रभु सर्वज्ञ हैं—उनके मन की बात को जानकर इस प्रकार शिक्षा देने लगे और उनको आश्वासन देने लगे—॥२२६–२३४॥

स्थिर हञा घरे याह, ना हओ वातुल। क्रमे-क्रमे पाय लोक भवसिन्धुकूल ॥२३५॥
मर्कट-वैराग्य ना कर लोक देखाइया। यथायोग्य विषय भुञ्ज अनासक्त हैया ॥२३६॥
अन्तर्निष्ठा कर, बाह्ये लोकव्यवहार। अचिराते कृष्ण तोमाय करिवे उद्धार ॥२३७॥
वृन्दाबन देखि यबे आसि नीलाचले। तबे तुमि आमापाश आसिह कोनछले ॥२३८॥
सेकाले से छल कृष्ण स्फुरावे तोमारे। कृष्ण कृपा यारे, तारे के राखिते पारे?॥२३९॥
एत कहि महाप्रभु तांरे विदाय दिल। घरे आसि तेंहो प्रभुर शिक्षा आचरिल ॥२४०॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"रघुनाथ! तुम स्थिर होकर घर जाओ, पागलों की सी बातें मत करो। एक दिन में कोई संसारसिन्धु से पार नहीं हुआ, क्रम-क्रम से संसार सिन्धु का किनारा मिलता है। लोगों को दिखाने के लिये मर्कट-वैराग्य मत करो।" प्रभु ने कहा—"रघुनाथ! तुम अपना भीतरी वैराग्य बाहर प्रकाशित मत करो और अनासक्त होकर भक्ति-अङ्गों की रक्षा के लिये जितने खान-पान, वस्त्रादि की उपयोगिता है— उतने विषयों का भोग करते रहो और घर में ही रह कर मन को एकान्त भाव से श्रीकृष्ण में लगाओ एवं बाहर से अन्य लोगों की भाँति प्रकृत-आचरण करते रहो ताकि दूसरे तुम्हारे वैराग्य को न जान सकें। इससे हे रघुनाथ! श्रीकृष्ण तुम्हारा शीघ्र उद्धार करेंगे। मैं श्रीवृन्दावन दर्शन करके वापस जब नीलाचल आऊंगा, तब तुम किसी बहाने से मेरे पास वहाँ आजाना। उस समय श्रीकृष्ण स्वयं ही तुम्हारे लिये कोई न कोई रास्ता निकालेंगे। श्रीकृष्ण जिस पर कृपा करते हैं—उसे कौन बन्धन में रख सकता है।" इस प्रकार प्रभु ने शिक्षा देकर श्रीरघुनाथदास जी को विदा किया और वे घर में आकर प्रभु की शिक्षा के अनुसार आचरण करने लगे॥२३५—२४०॥

चै० च० चु० टीकाः—**मर्कट-वैराग्य** का तात्पर्य यह है कि—बन्दर दीखने में संग्रह-हीन है, कोई घर-घोंसला नहीं बनाता, फल-फूल खाकर जीवन बिताता है, वृक्षों की शाखाओं पर जीवन बिता देता है—उसमें ये सब लक्षण वैराग्य के होते हैं, किन्तु बन्दर अत्यन्त इन्द्रिय-लम्पट होता है। भीतर विषय-वासना रहते हुए बाहर वैराग्य के चिह्न धारण करता है। इस प्रकार का वैराग्य **मर्कट-वैराग्य** कहलाता है। वस्तुतः श्रीरघुनाथदास जी का वैराग्य बाहरी वैराग्य न था, वह भीतरी था। अतः मर्कट-वैराग्य से यहाँ बाहरी वैराग्य-चिह्नों से तात्पर्य है।

वाह्य वैराग्य वातुलता —सकल छाड़िया। यथायोग्य कार्य करे अनासक्त हैया ॥२४१॥
देखि तार पिता-माता बड़ सुख पाइल। तांहार आवरण किछु शिथिल हइल ॥२४२॥

इहाँ प्रभु एकत्र करि सर्वभक्तगण। अद्वैत-नित्यानन्दादि यत भक्तजन ॥२४३॥
सभा आलिङ्गन करि कहेन गोसाञि। सभे आज्ञा देह आमि नीलाचले याइ ॥२४४॥
सभा-सहित इहां मोर हइल मिलन। ए-वर्ष नीलाद्रि केह ना करिह गमन ॥२४५॥
ताहां हैते अवश्य आमि वृन्दाबने याव। सभे आज्ञा देह तबे निर्विघ्ने आसिव ॥२४६॥

श्रीरघुनाथदास जी ने बाहरी वैराग्य की वृत्ति तथा प्रेमोन्मत्तता को प्रगट करना छोड़ दिया और अनासक्त होकर सब कामों को यथायोग्य करने लगे। उनके आचरण को देख कर उनके माता-पिता को बहुत सुख हुआ और श्रीरघुनाथदास जी पर जो पहरे की पाबन्दी लगा रखी थी—वह भी कुछ ढीली हो गई। यहां शान्तिपुर में श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीअद्वैत, श्रीनित्यानन्द आदि सब भक्तों को एकत्रित किया और सब को आलिङ्गन करते हुए प्रभु ने कहा—"अब आप सब मुझे आज्ञा दीजिये, मैं नीलाचल जाऊंगा यहाँ आप सबसे मिलन हो गया है, इसलिये इस वर्ष आप कोई भी नीलाचल आने की चेष्टा न करियेगा।" क्योंकि वहाँ से अवश्य मैं श्रीवृन्दावन जाऊंगा। उसके लिये आप सब मुझे आज्ञा दीजिये ताकि मैं वहाँ से निर्विघ्नता पूर्वक लौट आऊं ॥२४१—२४६॥

मातार चरण धरि बहु विनय कैल। वृन्दावन याइते तांर आज्ञा मागि लैल ॥२४७॥
तबे नवद्वीपे तांरे दिल पाठाइया। नीलाद्रि चलिला सङ्गे भक्तगण लैया ॥२४८॥
सेइ सब लोक पथे करेन सेवन। सुखे नीलाचल आइला शचीर नन्दन ॥२४९॥
प्रभु आसि जगन्नाथ दर्शन कैल। 'महाप्रभु आइला' ग्रामे कोलाहल हैल ॥२५०॥
आनन्दित भक्तगण आसिया मिलल। प्रेम-आलिङ्गन प्रभु सभारे करिल ॥२५१॥
काशीमिश्र रामानन्द प्रद्युम्न सार्वभौम। वाणीनाथ-शिखि आदि यत भक्तगण ॥२५२॥
गदाधर पण्डित आसि प्रभुरे मिलिला। सभार आगेते प्रभु कहिते लागिला ॥२५३॥

श्रीमहाप्रभु ने शचीमाता के चरण पकड़ कर बहुत विनय की और उनसे भी श्रीवृन्दावन जाने की आज्ञा मांगी। प्रभु ने माता को फिर नवद्वीप भिजवा दिया। और स्वयं भक्तगणों के साथ नीलाचल की ओर चल दिये। पूर्ववत् सब लोगों ने रास्ते में प्रभु की सेवा की और श्रीशचीनन्दन सुख पूर्वक नीलाचल आ पहुँचे। श्रीमहाप्रभु जी ने आते ही श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किये। नीलाचल में "श्रीमहाप्रभु आ गये हैं"—यह बात सब जगह फैल गई। आनन्द पूर्वक सब भक्त श्रीमहाप्रभुजी से आकर मिले। प्रभु ने सब को प्रेम पूर्वक आलिङ्गन किया। श्रीकाशीमिश्र, श्रीरामानन्दराय, श्रीप्रद्युम्न, श्रीसार्वभौम जी, श्रीवाणीनाथ, श्रीशिखि माहिती आदि जितने भी भक्त नीलाचल में थे सब प्रभु को आकर मिले। श्रीगदाधर जी भी प्रभु से मिले और उन सब के सामने प्रभु अपने वापस लौट आने का कारण कहने लगे ॥२४७—२५३॥

वृन्दाबन याव आमि गौड़देश दिया। निजमाता आर गङ्गार चरण देखिया ॥२५४॥
एत मने करि कैल गौड़ेरे गमन। सहस्रेक सङ्गे हैल निजभक्तगण ॥२५५॥
लक्ष-लक्ष लोक आसे कौतुक देखिते। लोकेर सङ्घट्टे पथ ना पारि चलिते ॥२५६॥
यथा रहि, तथा घर प्राचीर हय चूर्ण। यथा नेत्र पड़े तथा लोक देखि पूर्ण ॥२५७॥
कष्ट-सृष्ट करि गेलाम रामकेलि ग्राम। आमार ठाञि आइला रूप-सनातन नाम॥२५८॥

श्रीमहाप्रभु जो ने कहा—"मैं गौड़देश होता हुआ श्रीवृन्दावन जाऊंगा और शचीमाता तथा श्रीगंगा जी के भी दर्शन करता जाऊंगा—यह विचार करके मैं यहाँ से गौड़देश गया था, किन्तु मेरे साथ हजारों भक्त हो लिए और लाखों लोग वहाँ देखने के लिये एकत्रित हो जाते। इतनी भीड़ लग जाती कि रास्ता चलना मुश्किल हो जाता। जिस घर में मैं जाकर रहता, वहाँ इतने लोग जमा हो जाते कि उस घर की दीवारों का चूर्ण हो जाता, जहाँ तक नेत्र जाते, भीड़ ही भीड़ दीखती थी। बड़ी कठिनाई से मैं रामकेलि ग्राम तक जा पाया। वहाँ रामकेलि में मेरे पास दो व्यक्ति आए, जिनका नाम श्रीरूप तथा श्रीसनातन है ॥२५४—२५८॥

दुइ भाइ भक्तराज कृष्णकृपा—पात्र। व्यवहारे राजमन्त्री हय राजपात्र ॥२५९॥
विद्या-भक्ति-बुद्धिबले परम प्रवीण। तबु आपनाके माने तृण हैते क्षीण ॥२६०॥
तांर दैन्य देखि शुनि पाषाण विदरे। आमि तुष्ट हैया तवे कहिल दोंहारे ॥२६१॥
उत्तम हइञा 'हीन' करि मान आपनारे। अचिरे करिवे कृष्ण तोमार उद्धारे ॥२६२॥
एत कहि आमि यवे विदाय तांरे दिल। गमन काले सनातन प्रहेली कहिल ॥२६३॥

वे दोनों भाई भक्तराज एवं श्रीकृष्ण कृपापात्र हैं, विद्या में, भक्ति में एवं बुद्धिबल में वे दोनों ही परम प्रवीण हैं, किन्तु ऐसे होते हुए भी वे अपने को तृण से भी तुच्छ मानते हैं। उनकी दीनता को सुन कर पाषाण भी द्रवीभूत होता है। मैंने उनसे सन्तुष्ट होकर यह कहा—"आप उत्तम होकर भी अपने को अति हीन मानते हो—इसी गुण से ही श्रीकृष्ण आपका अति शीघ्र उद्धार करेंगे। इतना कह कर जब मैंने उन्हें विदा किया तो चलते समय श्रीसनातन ने एक प्रहेली कही—॥२५९—२६३॥

यार सङ्गे हय एइ लोक लक्षकोटि। वृन्दाबन यावार एइ नहे परिपाटी ॥२६४॥
तबे आमि शुनिल मात्र, ना कैल अवधान।
प्राते चलि आइलाङ कानाइर नाटशाला ग्राम ॥२६५॥
रात्रिकाले मने आमि विचार करिल—। सनातन मोरे किवा प्रहेली कहिल ?॥२६६॥
भालत कहिल, मोर एत लोक सङ्गे। लोक देखि कहिवे मोरे 'एइ एक टङ्गे ॥२६७॥
दुर्लभ दुर्गम सेइ निर्ज्जन वृन्दाबन। एकाकी याइव, किवा सङ्गे एकजन ॥२६८॥

श्रीसनातन ने कहा—"असंख्य लोगों को साथ ले जाना-यह श्रीवृन्दावन जाने की परिपाटी नहीं है।" उस समय मैंने श्रीसनातन की बात सुन तो अवश्य ली, किन्तु उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। दूसरे दिन प्रातः काल चलकर मैं कानाइनाटशाला गाँव में चला आया। रात को मैंने विचार किया कि सनातन ने मुझे क्या कहा। मैंने सोचा कि सनातन ने मुझे ठीक ही तो कहा, इतने लोगों के साथ मुझे देख कर और लोग यही तो कहेंगे कि मैं एक तमाशा कर रहा हूँ, (अपनी महिमा दिखाता फिरता हूँ।) श्रीवृन्दावन तो बहुत दुर्लभ एवं दुर्गम तथा निर्जन है, [वहाँ का आनन्द लेने के लिए तो मुझे अकेला ही जाना चाहिये, किंवा साथ में एक दो व्यक्ति ही ले जाना उचित है ॥२६४--२६८॥

माधवेन्द्रपुरी तथा गेला एकेश्वरे। दुग्धदान—छले कृष्ण साक्षात् दिल तांरे ॥२६९॥
वादियार बाजी पाति चलिलाम तथारे। बहुसङ्गे वृन्दावन गमन ना करे ॥२७०॥

वृन्दावन याव काहां एकाकी हइया। सैन्य-सङ्गे चलियाछि ढाक वाजाइया ॥२७१॥
'धिक्-धिक् आपनाके' बलि हइलाङ अस्थिर। निवृत्त हइया पुन आइलाङ गङ्गातीर ॥
भक्तगणे राखि आइनु निज-निज स्थाने। आमा सङ्गे आइल सबे पाँच-छय-जने॥२७३॥
निर्विघ्ने एबे कैछे याव वृन्दाबने। सभे मेलि युक्ति देह हञा परसन्ने ॥२७४॥

श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा—"श्रीमाधवेन्द्रपुरी जी भी तो श्रीवृन्दाबन अकेले गये थे और श्रीकृष्ण ने आकर उन्हें दूध के बहाने दर्शन दिया था (चतुर्थ परिच्छेद द्रष्टव्य)॥ मैं तो—बाजीगर (मदारी) की भाँति डुगडुगी बजाता हुआ अर्थात् अपने वृन्दाबन जाने की घोषणा करते हुए चल रहा था। श्रीवृन्दाबन अनेक लोगों के साथ जाना उचित नहीं है। कहाँ तो श्रीवृन्दावन अकेला जाना चाहिये और कहाँ मैं सैना सजाकर ढफली बजाते हुए चल रहा हूँ। मैंने अपने को बहुत धिक्कार दिया और मेरा मन अस्थिर हो गया। इसलिये श्रीवृन्दावन जाने का संकल्प छोड़कर मैं गङ्गातीर पर शान्तिपुर में लौट आया। (श्रीमहाप्रभु के श्रीवृन्दावन न जाने का कारण सत्रहवें परिच्छेद पयार नं० ५०-५१ में द्रष्टव्य है) अन्य सब भक्तों को मैंने उनके घरों को वापस भेज दिया, केवल ये पाँच छः व्यक्ति मेरे साथ आये हैं। अब मैं निर्विघ्नता पूर्वक श्रीवृन्दावन कैसे जाऊं, सब मिल कर मुझे प्रसन्न चित्त होकर ऐसा उपाय बताओ" ॥२६६-२७४॥

गदाधरे छाड़ि गेनु, इंह दुख पाइल। सेइ हेतु वृन्दाबन याइते नारिल ॥२७५॥
तबे गदाधर पण्डित प्रेमाविष्ट हैया। प्रभु-पदे धरि कहे विनय करिया ॥२७६॥
तुमि याहां-याहां रह—ताहां वृन्दाबन। ताहां जमुना गङ्गा सर्वतीर्थगण ॥२७७॥
तभु वृन्दावन याह लोक शिखाइते। सेइ त करिवे तोमार येइ लय चित्ते ॥२७८॥

श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा—"मैं गदाधर को यहाँ छोड़ गया था, इसने बहुत दुःख पाया था—मैं समझता हूँ, इसी कारण से मैं श्रीवृन्दावन नहीं जा सका हूँ (प्रभु ने सब को शिक्षा दी है कि वैष्णव को दुख देकर किसी काम में भी सफलता नहीं मिल सकती)। तब श्रीगदाधर पण्डित प्रेमाविष्ट हो उठे और श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ कर विनय करने लगे—"प्रभो ! आप मुझे क्यों लज्जित करते हो ? जहाँ भी आप निवास करो, वहाँ ही श्रीवृन्दावन है। वहाँ ही श्रीयमुना है, वहाँ ही गङ्गा और वहाँ ही सर्वतीर्थों का निवास है। फिर भी आप लोगों को श्रीवृन्दावन की यात्रा करने की शिक्षा दे रहे हो। आप वही तो करते हैं जो आपकी इच्छा होती है—आप परम स्वतन्त्र हैं" ॥२७५-२७८॥

एइ आगे आइल प्रभु वर्षा चारिमास। एइ चारिमास कर नीलाचले वास ॥२७९॥
पाछे सेइ आचरिवा,येइ तोमार मन। आपन इच्छाय चल-रह,के करे वारण॥२८०॥
शुनि सब भक्त कहे प्रभुर चरणे—। सभाकार इच्छाय पण्डित कैल निवेदने ॥२८१॥
सभार इंच्छाय प्रभु चारिमास रहिला। शुनिञा प्रतापरुद्र आनन्दित हैला ॥२८२॥

श्रीगदाधर जी ने आगे कहा—"प्रभो ! अब तो वर्षा के चार मास आ गये हैं। चार मास के लिये आप नीलाचल ही निवास करिए। इनके बीतने पर जैसे आपकी इच्छा हो वैसे करना। आपकी इच्छा हो रह जाना या चले जाना, आपको कोई भी न रोकेगा।" सब भक्तों ने श्रीगदाधर जी के वचन सुन कर कहा—"प्रभो ! हम सब की भी यही इच्छा है जो श्रीगदाधर जी ने प्रार्थना की है।" सब की

इच्छा जान कर श्रीमहाप्रभु जी ने नीलाचल में चार मास रहना स्वीकार कर लिया। श्रीप्रतापरुद्र जी ने जब यह समाचार सुना तो वह बहुत आनन्दित हुए ॥२७९-२८२॥

सेइ दिन गदाधर कैल निमन्त्रण। ताहां भिक्षा कैल प्रभु लञा भक्तगण ॥२८३॥

भिक्षाते पण्डितेर स्नेह, प्रभुर आस्वादन। मनुष्येर शक्त्ये दुइ ना याय वर्णन ॥२८४॥

एइमत गौरलीला अनन्त अपार। संक्षेपे कहिये, कहा ना याय विस्तार ॥२८५॥

सहस्रबदने कहे आपने अनन्त। तबु एक दिनेर लीलार नाहि पाय अन्त ॥२८६॥

श्रीरूप--रघुनाथ--पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२८७॥

उस दिन श्रीगदाधर जी ने श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रण दिया, और प्रभु ने भक्तों सहित उनके पास भिक्षा ग्रहण की। श्रीगदाधर जी ने कितने प्रेम से प्रभु के लिये व्यञ्जन तैयार किये—और श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें कितने प्रेम से आरोगा—इन दोनों का वर्णन करने में मनुष्य की शक्ति नहीं है। श्रीकविराज कहते हैं—"इस प्रकार श्रीगौराङ्ग महाप्रभु जी की अनन्त एवं अपार लीलाएँ हैं. मैंने यहाँ संक्षेप से कुछ वर्णन की हैं। विस्तार पूर्वक तो उनका वर्णन किया ही नहीं जा सकता। यदि श्रीअनन्त-भगवान अपने सहस्र बदनों से उसका वर्णन करें तो वे प्रभु की एक दिन की लीला का भी पार नहीं पा सकते। श्रीरूपगोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी जी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥२८३-२८७॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां
गौड़गमन-विलासो-नाम षोड़श-परिच्छेदः ॥१६॥

जयगौर

मध्य-लीला

सप्तदश परिच्छेद

★

गच्छन् वृन्दावनं गौरो व्याघ्रेभैणखगान् बने।
प्रेमोन्मत्तान् सहोन्नृत्यान् विदधे कृष्णजल्पिनः ॥१॥

(जिन) श्रीमहाप्रभु गौराङ्गदेव ने श्रीवृन्दावन को जाते हुए मार्ग में वन के व्याघ्र, हाथी-हरिण एवं पक्षियों को प्रेमोन्मत्त करके एक ही समय एक साथ नृत्य कराया एवं उनसे श्रीकृष्णनाम उच्चारण कराया था। (मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ) ॥१॥

चै०च० चु० *टीका*:—श्रीमहाप्रभुजी ने अपनी अलौकिक शक्ति से जंगली पशु-पक्षियों से श्रीकृष्ण-नाम का उच्चारण कराया एवं उन्हें एक साथ प्रेमोन्मत्त करके जैसे नृत्य कराया उस लीला का इस श्लोक में वर्णन किया गया है।

इस परिच्छेद में झारिखण्ड के रास्ते श्रीमहाप्रभु का श्रीवृन्दाबन गमन, जंगली पशु-पक्षियों, कीट पतंगों एवं वृक्ष-लताओं को तथा असभ्य पहाड़ी भीलादि जाति के व्यक्तियों को नाम--प्रेम प्रदान करना, काशी में श्रीतपनमिश्र के साथ प्रभु का मिलन, मथुरा में अनेक तीर्थों के दर्शन, माथुर ब्राह्मण से प्रभु का मिलन एवं श्रीवृन्दाबन में श्रीमहाप्रभु के भ्रमणादि लीलाओं का वर्णन किया गया है।

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द। जयाद्वैचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
शरत्काल हैल प्रभुर चलिते हैल मति। रामानन्द-स्वरूप सङ्गे निभृते युगति ॥२॥
मोर सहाय कर यदि तुमि दुइजन। तबे आमि याइ देखि श्रीवृन्दावन ॥३॥
रात्र्ये उठि बन पथे पलाइया याव। एकाकी याइव, काहो सङ्गे ना लइव ॥४॥
केहो यदि सङ्गे मेले—पाछे उठि धाय। सभाके राखिवे, येन केहो नाहि याय ॥५॥
प्रसन्न हैया आज्ञा दिवा, ना मानिवा दुःख। तोमा सभार सुखे पथे हवे मोर सुख ॥६॥

श्रीगौराङ्गचन्द्र की जय हो जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो, श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो। शरत्काल आने पर श्रीमहाप्रभु का मन श्रीवृन्दावन जाने को उत्कण्ठित हुआ और वे श्रीरामानन्दराय तथा श्रीस्वरूप--दामोदर जी के साथ एकान्त में परामर्श करने लगे। प्रभु ने कहा—"आप दोनों जनें यदि मेरी सहायता करें तो मैं जाकर श्रीवृन्दाबन के दर्शन करूं। मैं रात के समय वन के रास्ते भाग कर अकेला ही जाना चाहता हूँ, किसी को भी साथ नहीं ले जाऊंगा। कोई

मेरे साथ जाने के लिये मेरे पीछे उठ भागे, तो आपको उसे यत्न करके रोकना होगा, कोई भी मेरे साथ न आने पावे। आप मुझे प्रसन्न होकर आज्ञा दीजिये। आप मन में कुछ भी दुख न मानिये, इस प्रकार आप सब के सुखी एवं प्रसन्न रहने पर मुझे भी रास्ते में सुख प्राप्त हो सकेगा ॥१—६॥

दुइजन कहे—तुमि ईश्वर स्वतन्त्र। येइ इच्छा, सेइ करिवा, नह परतन्त्र ॥७॥
किन्तु आमा दोंहार शुन एक निवेदन। तोमार 'सुखे आमार सुखे' कहिले आपने ॥८॥
आमा सभार मने तबे बड़ सुख हय। एक निवेदन यदि धर महाशय ॥९॥
उत्तम ब्राह्मण एक सङ्गे अवश्य चाहि। भिक्षा करि भिक्षा दिवे, यावे पात्र वहि ॥१०॥
बनपथे याइते नाहि भोज्यान्न ब्राह्मण। आज्ञा कर, सङ्गे चलु विप्र एकजन ॥११॥

प्रभुकी बात सुनकर श्रीरामानन्द एवं श्रीस्वरूपदामोदर—दोनों ने कहा—"प्रभो ! आप स्वतन्त्र ईश्वर हो। आप की जो इच्छा हो, आप कर सकते हैं। आप किसी के पराधीन नहीं हो। किन्तु आप हम दोनों का एक निवेदन सुनिये—आपने स्वयं ही अभी कहा है कि हमारा सुख आपका सुख है। हमें तो सब से बड़ा सुख तभी होगा यदि प्रभो ! आप हमारी एक प्रार्थना स्वीकार करें। एक उत्तम ब्राह्मण आपके साथ अवश्य चलना चाहिये जो भिक्षा मांग कर लावे और आपको भोजन तैयार करके खिलावे और जलपात्रादि को भी उठाकर साथ चले। आप वन के जिस रास्ते से श्रीवृन्दाबन जाना चाह रहे हैं, उस मार्ग में कोई भी आचार-विचार शील ब्राह्मण नहीं मिलेगा कि जिससे आपको भोजन प्राप्त हो सके, अतः एक ब्राह्मण आप अपने साथ अवश्य ले जाइये ॥७—११॥

प्रभु कहे—निज सङ्गी काहो ना लइव। एकजने निले—आनेर मने दुःख हव ॥१२॥
नूतन सङ्गी हइवेक—स्निग्ध यार मन। ऐछे यबे पाइ, तब लइ एक जन ॥१३॥
स्वरूप कहे—एइ बलभद्र भट्टाचार्य्य। तोमाते सुस्निग्ध बड़, पण्डित, साधु आर्य्य॥१४॥
प्रथमेइ तोमासङ्गे आइला गौड़ हैते। इंहार इच्छा आछे सर्वतीर्थ करिते ॥१५॥
इंहार सङ्गे आछे विप्र एक भृत्य। इंहो पथे करिवेन सेवा भिक्षा कृत्य ॥१६॥
इंहा सङ्गे लह यदि, सभार हय सुख। बनपथे याइते तोमार नहिवे कोन दुख ॥१७॥
एइ विप्र वहि निवे वस्त्राम्बुभाजन। भट्टाचार्य भिक्षा दिवे करि भिक्षाटन ॥१८॥
तांहार वचन प्रभु अङ्गीकार कैल। बलभद्र भट्टाचार्य सङ्गे करि निल ॥१९॥

श्रीमहाप्रभु जी बोले—"मैं अपने साथ किसी को भी नहीं ले जाऊंगा, कारण कि एक व्यक्ति को साथ ले जाने में दूसरा दुःख मानेगा। हां यदि कोई ऐसा नया व्यक्ति मेरे साथ चले, और उसका मन भी अत्यन्त प्रीति पूर्ण हो। तो उस एक व्यक्ति को साथ ले जा सकता हूँ।" श्रीस्वरूप दामोदर जी ने कहा—"ऐसा ही एक व्यक्ति श्रीबलभद्र भट्टाचार्य है, उसकी आपके चरणों में अत्यन्त प्रीति है, वह पण्डित भी है और भक्त शुद्ध आचारवान् भी है। पहले भी वह आपके साथ-साथ गौड़देश से आया था और फिर उसकी सब तीर्थों की यात्रा करने की इच्छा भी है। उसके पास एक ब्राह्मण सेवक भी है जो रास्ते में आपकी सेवा एवं भोजन पाकादि की व्यवस्था भी करता चलेगा। श्रीबलभद्र को यदि अपने साथ आप ले जायेंगे तो किसी दूसरे को भी कुछ दुःख न होगा और हम सब को बड़ा सुख होगा। उसके

साथ रहने से बन के रास्ते में आपको भी कोई दु:ख न होगा। उसका ब्राह्मण-सेवक आपके बहिर्वास एवं जलपात्र को भी उठाये चलेगा और भट्टाचार्य भिक्षा मांग कर आप को भोजन करा देगा।" प्रभु ने श्रीस्वरूप एवं रायरामानन्दजी के बचन स्वीकार कर लिये और श्रीबलभद्र भट्टाचार्य को साथ ले लिया ॥

पूर्वरात्रे जगन्नाथ देखि आज्ञा लञा। शेषरात्र्ये उठि प्रभु चलिला लुकाइया ॥२०॥
प्रातःकाले भक्तगण प्रभु ना देखिया। अन्वेषण करि फिरे व्याकुल हइया ॥२१॥
स्वरूपगोसाञि सभाय कैल निवारण। निवृत्त हइ रहे सभे जानि प्रभुर मन ॥२२॥
प्रसिद्ध पथ छाड़ि प्रभु उपपथे चलिला। कटक डाहिने करि बने प्रवेशिला ॥२३॥
निर्जन बने चले प्रभु कृष्णनाम लैया। हस्ती व्याघ्र पथ छाड़े प्रभुके देखिया ॥२४॥
पाले पाले व्याघ्र हस्ती गण्डार शूकरगण। तार मध्ये आवेशे प्रभु करेन गमन ॥२५॥
देखि भट्टाचार्येर मने हय महाभय। प्रभुर प्रतापे तारा एकपाश हय ॥२६॥

श्रीमहाप्रभु जी ने सन्ध्या के समय श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किये एवं उनसे श्रीवृन्दावन जाने की आज्ञा मांग ली। रात के पिछले प्रहर में प्रभु उठकर चुपके चुपके वहां से चल दिये। प्रातःकाल भक्तगण प्रभुको न देखकर बहुत व्याकुल हुए और इधर उधर उनको खोज करने लगे। श्रीस्वारूपगोस्वमी ने सब को निवारण किया और कहा कि प्रभु की इच्छा ऐसे ही जान कर आप स्थिर हो जाइये। श्रीमहाप्रभु प्रसिद्ध पथ-सड़कादि को छोड़कर अप्रसिद्ध-मार्ग से चले और कटक की दाहिनी ओर बन में प्रवेश कर लिया। वह निर्जन बन था, प्रभु उसमें श्रीकृष्ण का उच्चारण करते हुए जा रहे थे। हाथी, सिंहादि हिंसक पशु श्रीमहाप्रभु को देखकर रास्ता छोड़ देते। झुण्डों के झुण्ड व्याघ्र, हाथी, गेंडादि उस जंगल में विचर रहे थे, किन्तु श्रीमहाप्रभु प्रेमावेश में उनके बीचोबीच चल रहे थे। उन सब को देखकर श्रीभट्टाचार्य का मन अत्यन्त भयभीत हुआ, किन्तु वे हिंसक-पशु श्रीमहाप्रभु के प्रताप से एक तरफ हो जाते और प्रभु उनके बीच चले जाते ॥२०—२६॥

एक दिन पथे व्याघ्र करि आछे शयन। आवेशे तार गाय प्रभुर लागिल चरण ॥२७॥
प्रभु कहे—"कृष्ण-कृष्ण" व्याघ्र उठिल। "कृष्ण-कृष्ण" कहि व्याघ्र नाचिते लागिल ॥२८॥
आर दिने महाप्रभु करे नदी स्नान। मत्त-हस्तीयूथ आइल करिते जलपान ॥२९॥
प्रभु जलकृत्य करे, आगे हस्ती आइला। 'कृष्ण कह' बलि प्रभु जल फेलि माइला ॥३०॥
सेइ जलबिन्दु कणा लागे यार गाय। सेइ 'कृष्ण कृष्ण' कहे प्रेमे नाचे गाय ॥३१॥
केहो भूमे पड़े, केहो करये चीत्कार। देखि भट्टाचार्येर मने हय चमत्कार ॥३२॥

एकदिन जब श्रीमहाप्रभु प्रेमावेश में जारहे थे, उनके रास्ते में एक व्याघ्र सोरहा था, प्रभु का चरण उस व्याघ्र को लग गया। प्रभु ने 'कृष्ण-कृष्ण'-नाम का उच्चारण किया। व्याघ्र उठकर 'श्रीकृष्ण--कृष्ण' कहकर नाचने लगा और एक दिन प्रभु एक नदी में स्नान कर रहे थे कि मतवारे हाथियों का एक झुण्ड जल पीने के लिये वहां आं पहुँचा। श्रीमहाप्रभु जल-कृत्य कर रहे थे, एक हाथी उनके सामने ही चला आया। प्रभु ने 'कृष्ण' कह कर उसी हाथी पर जल का छींटा दे मारा। उस जल की बूंदें जिस हाथी पर पड़ीं, वही 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर प्रेम में नाचते-गाने लगा। कोई तो पृथ्वी पर लोटने लगा और कोई चीत्कार करने लगा। श्रीभट्टाचार्य श्रीमहाप्रभु की ये अलौकिक लीलाएं देखकर चमत्कृत हो उठे ॥२७—३२॥

चै० च० चु० टीका —"श्रीमहाप्रभु के चरण स्पर्श करने से एवं उन के मुखारविन्द से 'कृष्ण-कृष्ण'-नाम सुनकर व्याघ्र 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर नाचने लगा"—ऐसा ऊपर के पयार में कहा गया है। यहाँ एक प्रश्न उठता है—व्याघ्र मनुष्य को भाँति तो बोल सकता नहीं फिर वह 'कृष्ण--कृष्ण' कैसे कह उठा होगा ?—उत्तर —श्रीकृष्णनाम, रूप, गुण लीलादि (श्रीकृष्ण से अभिन्न होने के कारण ये सब भी स्वप्रकाश एवं अप्राकृत हैं। ये सब प्राकृत इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं। वाक्शक्ति सम्पन्न मनुष्य भी अपनी प्राकृत जिह्वा से श्रीकृष्णनाम का उच्चारण नहीं कर सकता। हां, जो मनुष्य श्रीभगवान् के नाम लेने की इच्छा करता है, नाम स्वयं कृपा करके उसकी जिह्वा पर उदित होता है, क्योंकि कृष्णनाम श्रीकृष्ण की भांति स्वप्रकाश--वस्तु है।

भगवन्नाम ग्रहण करने की इच्छा होने से स्वप्रकाश भगवन्नाम मनुष्य की जिह्वा पर स्फुरित होता है। मनुष्य, भगवन्नाम ग्रहण करने की इच्छा कर सकता है, क्योंकि उसमें विचार-शक्ति है—किन्तु विचार-शक्ति-हीन जंगली पशु कैसे नाम ग्रहण करने का इच्छुक हो सकता है ? और कैसे भगवन्नाम उसकी जिह्वा पर स्फुरित हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि यदि विचारशक्ति हीं के होने से जीव नाम-ग्रहण करने का इच्छुक होता या नाम--ग्रहण करता तो सब ही मनुष्य भगवन्नाम ग्रहण करते, किन्तु ऐसा दीखता नहीं। अनेकों यत्न करने पर भी, अनेकों उपदेश एवं प्रेरणाओं के करने पर भी मनुष्य भगवन्नाम को ओर उन्मुख नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि, भगवन्नाम ग्रहण करने की इच्छा का कारण मनुष्य की विचार-शक्ति नहीं है बल्कि महत्-कृपा या भगवत्-कृपा ही इसका एकमात्र कारण है। यहाँ स्वयंभगवान् श्रीमन्महाप्रभु कृपा करके व्याघ्रादि जंगली-पशुओं को 'कृष्ण' नाम बोलने का आदेश कर रहे हैं, अतः उनकी कृपा-शक्ति तथा इच्छा-शक्ति के प्रभाव से उनमें भगवन्नाम ग्रहण करने की इच्छा निश्चय ही जागृत हो सकती है, वह जागृत हो उठी और स्वप्रकाश श्रीकृष्णनाम उनकी जिह्वा पर स्फुरित होने लगा।

और फिर आध्यातमिका-शक्ति-शून्य एक साधारण मनुष्य जब व्याघ्र. हाथी आदिक जंगली-पशुओं को सिखा--बुझा कर अपनी इच्छानुरूप उनसे काम ले सकता है, जैसा कि सरकस आदि खेल-तमाशों में हम नित्य देखते हैं, और यहाँ तक कि तोता, मैना आदि को 'राम'--'कृष्ण' 'हरि' बोलना सिखा सकता है तो फिर स्वयं भगवान् की अलौकिक असीम कृपा--शक्ति के आगे यह कौनसी बड़ी बात है कि व्याघ्र--हाथी आदि 'कृष्ण कृष्ण' कहकर नाचने लगें। अनन्त अचिन्त्यशक्ति--सम्पन्न स्वयं भगवान् श्रीमन्महाप्रभु जी ने जब उस व्याघ्र को चरण-स्पर्श किया एवं कृपापूर्वक जब उसे कृष्ण--नाम उच्चारण करने का आदेश दिया तो उस व्याघ्र का प्रारब्ध कर्मफल-जिसके कारण उसकी पशु जन्मोचित जिह्वा में मनुष्य की भांति न बोल सकने की प्रकृति थी, वह तत्काल नाश होगया और उसकी जिह्वा में भगवान्नाम--श्रीकृष्ण के उच्चारण करने की शक्ति आगई। उसका जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप में पशु--पक्षी--मनुष्य देहाभिमान से रहित चैतन्यस्वरूप में जाग उठा। स्वरूप--अवस्थित जीवात्मा पशुदेह में रहते हुए भी श्रीकृष्णनामादि का उच्चारण कर सकता है इसके अनेक प्रमाण हैं। श्रीमद्भागवतजी में मृगदेहधारी श्रीभरत--महाराज ने मृगदेह को त्याग करते समय "नारायणाय हरये नमः" (भाः ५-१४-४५) का उच्चारण किया और गजराज ने "ॐ नमोभगवते तस्मै" इत्यादि (भाः ८-२-३) भगवन्नामों का उच्चारण किया। अतः व्याघ्रादि हिंसक--जीवों द्वारा 'कृष्ण कृष्ण' कहकर नाचना कोई असङ्गत बात नहीं है, सङ्गत एवं सम्भव ही है।

झारिखण्ड-पथ से श्री चैतन्यदेव की श्रीवृन्दावन-यात्रा

"कृष्ण-कृष्ण कहि व्याघ्र नाचिते लागिल"

पथे याइते करे प्रभु उच्च सङ्कीर्त्तन । मधुर कण्ठ ध्वनि शुनि आइसे मृगीगण ॥३३॥
डाहिने-वामे ध्वनि शुनि याय प्रभु सङ्गे । प्रभु तार अङ्ग मुछे, श्लोक पढ़े रङ्गे ॥३४॥

मार्ग में चलते हुए श्रीमहाप्रभु उच्चस्वर से सङ्कीर्त्तन करते थे। उनके कण्ठ की मधुरध्वनि को सुनकर मृगीगण एकत्रित हो जातीं और प्रभु के साथ उनके दायें--बायें मधुरध्वनि को सुनते हुए चलने लगतीं। श्रीमहाप्रभु उनके अङ्गों पर हाथ फेरते हुए निम्न श्लोक पढ़ने लगते ॥३३—३४॥

तथाहि (भा: १०—२१—११)

धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्त-विचित्र-वेशम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विचरितां प्रणयावलोकैः ॥२॥

शरत्काल में श्रीवृन्दाबन में श्रीकृष्ण की परम मनोहर वेणुध्वनि सुनकर किसी एक गोपी ने कहा है—"ये हरिणगण विचार हीन बुद्धिवाली होते हुए भी धन्या हैं, क्योंकि ये वेणुनाद को सुनकर अपने अपने पति कृष्णसार--मृगों के साथ मिलकर प्रेमभरी दृष्टि द्वारा बनमाला मोरपुच्छ एवं गुञ्जावतंस आदि के द्वारा रचित विचित्र वेशधारी श्रीनन्दनन्दन की पूजा करती हैं, अहो ! किन्तु हमारे ऐसे भाग्य नहीं हैं। (ब्रजगोपीजन मृगीगण की भांति अपने पतियों के साथ श्रीकृष्ण दर्शन नहीं कर पाती थीं, अतः उन्होंने अपने को अभागिनी कहा है।) ॥२॥

हेनकाले व्याघ्र तथा आइल पांच-सात । व्याघ्र मृगी मिलि चले महाप्रभुर साथ ॥३५॥
देखि महाप्रभुर वृन्दाबन-स्मृति हैल । वृन्दाबन गुण वर्णन-श्लोक पढ़िल ॥३६॥

जिस समय श्रीमहाप्रभु के दायें--बायें मृगीगण चल रही थीं उसी समय वहां पांच--सात व्याघ्र आ पहुँचे। वे व्याघ्र भी मृगियों के साथ मिलकर श्रीमहाप्रभु के साथ साथ चलने लगे। यह देखकर प्रभु को श्रीवृन्दाबन की स्फूर्त्ति हो आई और वे श्रीवृन्दाबन के गुण वर्णन करते हुए निम्नलिखित श्लोक पढ़ने लगे ॥३५—३६॥

तथाहि (भा: १०—१३—६०)

यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः ।
मित्राणी—वाजितावासद्रुतरुट्तर्षणादिकम् ॥३॥

ब्रह्ममोहनलीला के समय श्रीब्रह्मा जी ने श्रीवृन्दाबन के इस प्रकार दर्शन किये थे—"अजित-श्रीकृष्ण का निवासस्थान अर्थात् लीलास्थल होने के कारण इस श्रीवृन्दावन से क्रोध--लोभादि दूर भाग गये हैं एवं यहां स्वभावतः ही शत्रुभाव रखने वाले मनुष्य एवं सिंह--व्याघ्रादि पशु मित्र की भांति एक साथ वास कर रहे हैं ॥३॥

'कृष्ण कृष्ण कह' करि प्रभु यबे बैल । 'कृष्ण' कहि व्याघ्र-मृग नाचिते लागिल ॥३७॥
नाचे-कुन्दे व्याघ्रगण मृगीगण-सङ्गे । बलभद्र भट्टाचार्य देखे अपूर्व रङ्गे ॥३८॥
व्याघ्र-मृग अन्योन्ये करे आलिङ्गन । मुखे मुख दिया करे अन्योन्ये चुम्बन ॥३९॥
कौतुक-देखिया प्रभु हासिते लागिला । ता-सभाके ताहां छाड़ि आगे चलि गेला ॥४०॥

जब श्रीमहाप्रभु जी ने उनसे 'कृष्ण--कृष्ण' कहने को कहा, तो वे व्याघ्र और हरिण 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर नाचने लगे। व्याघ्र हरिणों के साथ मिलकर नाचने कूदने लगे। इस अपूर्व लीला को देखकर श्रीबलभद्राचार्य ने आश्चर्य किया। व्याघ्र और हरिण एक दूसरे को आलिङ्गन करने लगे और एक दूसरे को मुंह लगा कर चुम्बन करने लगे। इस कौतुक को देख कर श्रीमहाप्रभु हंसने लगे और उन्हें वहां प्रेमोन्मत्त दशा में छोड़ कर आगे चल दिये ॥३७—४०॥

मयूरादि पक्षीगण प्रभुके देखिया। सङ्गे चले 'कृष्ण' बोले, नाचे मत्त हञा ॥४१॥
'हरिबोल' बलि प्रभु करे उच्चध्वनि। वृक्षलता प्रफुल्लित सेइ ध्वनि शुनि ॥४२॥
झारिखण्डे स्थावर-जङ्गम आछे यत। कृष्णनाम दिया कैल प्रेमेते उन्मत्त ॥४३॥
येइ ग्राम दिया यान, याहां करेन स्थिति। से सब ग्रामेर लोकेर हय प्रेमभक्ति ॥४४॥
केहो यदि तांर मुखे शुने कृष्णनाम। तांर मुखे आन शुने, तांर मुखे आन ॥४५॥
सभे 'कृष्णहरि' बलि नाचे कान्दे हासे। परम्पराय वैष्णव हइल सर्वदेशे ॥४६॥

मोर आदि पक्षीगण श्रीमहाप्रभु को देखकर 'कृष्ण कृष्ण' कहते हुए नाचते नाचते उनके साथ चलने लगते। प्रभु उच्च-स्वर से हरि-हरि-ध्वनि करते, उनकी ध्वनि को सुनकर मुरझाये हुए वृक्ष-लताएं तत्क्षण प्रफुल्लित हो उठते। झारिखण्ड--बन में जितने स्थावर जंगम थे, श्रीमहाप्रभु जी ने उन सब को श्रीकृष्णनाम प्रदान कर प्रेम में उन्मत्त कर दिया। जिस ग्राम में से होकर प्रभु निकलते या जहाँ जाकर निवास करते, उस ग्राम के सब लोगों को प्रेमभक्ति की प्राप्ति करा देते। एक व्यक्ति के मुख से दूसरा व्यक्तिश्रीकृष्णनाम सुनता, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा—इस प्रकार सर्वदेश श्रीकृष्णनाम उच्चारण कर वैष्णव होगया और प्रेमोन्मत्त होकर 'कृष्ण-हरि' बोल कर नाच उठा ॥४१—४६॥

यद्यपि प्रभु लोकसङ्घट्टेर त्रासे। प्रेम गुप्त करे, बाहिरे ना करे प्रकाशे ॥४७॥
तथापि तांर दर्शन-श्रवण-प्रभावे। सकल देशेर लोक हइल वैष्णवे ॥४८॥
गौड़ बङ्ग उत्कल दक्षिणदेशे गिया। लोकेर निस्तार कैल आपने भ्रमिया ॥४९॥
मथुरा यावार छले आसि झारिखण्ड। भिल्ल प्राय लोक ताहां परम पाषण्ड ॥५०॥
नाम-प्रेम दिया कैल सभार निस्तार। चैतन्येर गूढ़लीला बुझिते शक्ति कार ? ॥५१॥

यद्यपि श्रीमहाप्रभु लोगों की भीड़-भाड़ से डरते थे और अपने प्रेम को गुप्त रखकर बाहर प्रकाशित नहीं करते थे, तो भी उनके दर्शन और उनके मुख से श्रीकृष्णनाम के श्रवण के प्रभाव से समस्त देशों के लोग वैष्णव हो गये। गौड़देश बंगाल उड़ीसा एवं दक्षिण देशों के लोगों का प्रभु ने अपने भ्रमण द्वारा निस्तार कर दिया। मथुरा--वृन्दाबन जाने के बहाने से प्रभु ने झारिखण्ड में रहने वाले परम पाखण्डी भील जाति के लोगों का भी श्रीकृष्णनाम प्रेम देकर उद्धार कर दिया। (श्रीमहाप्रभु का झारिखण्ड के रास्ते होकर श्रीवृन्दावन जाने का मुख्य उद्देश्य भी यही था।) श्रीचैतन्य की गूढ़लीलाओं के रहस्य को जानने की शक्ति किसी में भी नहीं है। ॥४७—५१॥

बन देखि हय भ्रम—एइ वृन्दावन। शैल-देखि मने हय, एइ गोवर्द्धन ॥५२॥
याहां नदी देखे,ताहां मानये कालिन्दी। ताहां प्रेमावेशे नाचे प्रभु पड़े कान्दि ॥५३॥

पथे याइते भट्टाचार्य शाक मूल फल। याहां येइ पायेन, ताहा लयेन सकल ॥५४॥
ये ग्रामे रहेन प्रभु, तथाय ब्राह्मण। पांच सात जन आसि करेन निमन्त्रण॥५५॥
केहो अन्न आनि देय भट्टाचार्य-स्थाने। केहो दुग्ध-दधि,केहो घृत-खण्ड आने ॥५६॥

बन को देखकर श्रीमहाप्रभु को श्रीवृन्दावन का भ्रम होता, और पर्वत को देख कर वे समझते कि यही श्रीगिरिराज हैं। जिस नदी को वे देखते—उसे ही श्रीयमुना समझने लगते। रास्ते में जाते हुए श्रीभट्टाचार्य शाक-मूल-फल जो कुछ भी पाते उसे ग्रहण कर लेते और प्रभु को भिक्षा कराते। जिस गाँव में प्रभु जा कर ठहरते, वहाँ पाँच-सात ब्राह्मण आकर प्रभु का निमन्त्रण करते। कोई अन्न लाकर भट्टाचार्य जी को दे देता और कोई दूध, दही, घृत एवं चीनी ही लाकर देता। इस प्रकार भट्टाचार्य जी प्रभु के लिये पाक कर देते ॥५२—५६॥

याहां विप्र नाहि ताहां शूद्रमहाजन। आसि सभे भट्टाचार्ये करे निमन्त्रण ॥५७॥
भट्टाचार्य पाक करे बन्य-व्यञ्जन। बन्य-व्यञ्जने प्रभुर आनन्दित मन ॥५८॥
दुइचारि दिनेर अन्न राखेन संहति। याहां शून्यबन, लोकेर नाहिक वसति ॥५९॥
ताहां सेइ अन्न भट्टाचार्य करेन पाक। फलमूले व्यञ्जन करे बन्य नाना शाक॥६०॥
परम सन्तोष प्रभुर बन्य भोजने। महासुख पान ये दिन रहेन निर्जने ॥६१॥

जहाँ ब्राह्मण नहीं होता था, वहाँ शूद्र किन्तु भगवत्-भक्त आकर श्रीभट्टाचार्य को निमन्त्रण करते और भट्टाचार्य उनसे साग, बन के व्यञ्जनादि ग्रहण कर लेते और उन्हें पाक करके प्रभु को भिक्षा कराते। बन्य-भोजन में श्रीमहाप्रभु को विशेष आनन्द आता। दो-चार दिन के सौदा-सामान का तो श्रीभट्टाचार्य जी अपने पास संग्रह रखते, जहाँ बिल्कुल शून्य बन होता, मनुष्यों की कोई भी बस्ती न मिलती, वहाँ उसी अन्न का पाक श्रीभट्टाचार्य कर लेते। बन के फल-मूलादि की अनेक प्रकार की रसोई वे तैयार करते। श्रीमहाप्रभु जी बन्य-भोजन से परम सन्तुष्ट होते और जिस दिन निर्जन बन में निवास करते उस दिन प्रभु अतीव सुख लाभ करते ॥५७–६१॥

चै० च० चु० *टीका*:—पयार ५७ में लिखा है कि जहाँ ब्राह्मण न मिलता था वहाँ शूद्र महाजन या शूद्र भक्त से श्रीभट्टाचार्य जी रसोई का द्रव्यादि ग्रहण करते थे। शास्त्र कहता है, जिस व्यक्ति का अन्न ग्रहण किया जाता है, उसके दोष-गुण अन्न खाने वाले के मन पर अपना प्रभाव डालते हैं, इसलिये शूद्र का अन्न ग्रहण करना निषेध किया गया है। अतः श्रीमहाप्रभु जी और किसी का अन्न ग्रहण नहीं करते थे। किन्तु जहाँ ब्राह्मणादि कोई नहीं मिले वहाँ शूद्र किन्तु भगवद्भक्त का अन्न ग्रहण करने का विधान भी शास्त्र में है कारण कि "**न शूद्रा भगवद्भक्ताः**" जो भगवद्भक्त हैं—जो भक्ति का आचरण करते हैं, शूद्र के घर में जन्म होते हुए भी वे शूद्र नहीं होते (ह. भ. वि. ५–२२४ टीकाधृत पाद्मवचन।) भगवान् ने कहा है—(श्रीहरिभक्तिविलास—११, ६१)—

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथाह्यहम् ॥ट॥

मुझे अभक्त चतुर्वेदाध्यायी ब्राह्मण भी प्रिय नहीं है, किन्तु श्वपच भक्त भी मुझे प्रिय है। उसके द्वारा दी हुई वस्तु को मैं ग्रहण करता हूँ और वह आदरणीय है अथवा वह मेरा कृपा-पात्र है।

भट्टाचार्य सेवा करे स्नेहे यैछे दास । तांर विप्र वहे जल पात्र-बहिर्वास ॥६२॥
निर्झरेर ऊष्णोदके स्नान तिनवार । दुइसंध्या अग्नि तापे काष्ठ अपार ॥६३॥
निरन्तर प्रेमावेशे निर्जने गमन । सुख अनुभवि प्रभु कहेन वचन ॥६४॥
शुन भट्टाचार्य ! आमि गेलाम बहुदेश । बनपथेर सुखेर काहां नाहि पाइ लेश ॥६५॥

श्रीभट्टाचार्य तो श्रीमहाप्रभु जी की एक दास की भाँति प्रीतिपूर्वक सेवा करते ; और उनका सेवक विप्र श्रीमहाप्रभु के लिये जलपात्र एवं बहिर्वास को उठाए हुए चला करता था । श्रीमहाप्रभु जी झरनों के गर्म जल से नित्य तीन बार स्नान करते और प्रातःकाल और संध्या के समय अनेक लकड़ी जलाकर अग्नि से तापा करते । निरन्तर प्रेमावेश में निर्जन बनों में चलते हुए प्रभु अति सुख अनुभव करते और कहने लगते—'सुनो भट्टाचार्य ! मैं बहुत देशों में घूमा हूँ, किन्तु इस वन-पथ में जो मुझे सुख मिल रहा है इसका लेशमात्र भी सुख मुझे और कहीं नहीं मिला" ॥६२—६५॥

कृष्ण कृपालु आमाय बहु कृपा कैल । बनपथे आनि आमाय बड़ सुख दिल ॥६६॥
पूर्वे वृन्दाबन याइते करिलाम विचार । माता गङ्गा भक्तगण देखिव एकबार ॥६७॥
भक्तगण सङ्गे अवश्य करिव मिलन । भक्तगण सङ्गे लञा याव वृन्दावन ॥६८॥
एत भावि गौड़देशे करिल गमन । माता गङ्गा भक्त देखि सुखी हैल मन ॥६९॥
भक्तगण लञा तबे चलिलाम रङ्गे । लक्षकोटि लोक ताहां हैल आमासङ्गे ॥७०॥
सनातन-मुखे कृष्ण आमा शिखाइला । ताहां विघ्न करि बनपथे लञा आइला॥७१॥
कृपार समुद्र—दीनहीने दयामय । कृष्ण कृपा बिना कोन् सुख नाहि हय ॥७२॥

श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा—"भट्टाचार्य ! कृपासागर श्रीकृष्णचन्द्र ने मुझ पर बहुत कृपा की है जो इस बन के मार्ग से लाकर मुझे अत्यन्त सुख दिया है । पहले भी मैंने श्रीवृन्दावन जाने का विचार किया था कि शचीमाता, श्रीगङ्गा जी तथा सब गौड़ीय भक्तों को एक बार देखता-मिलता हुआ जाऊंगा । सब भक्तों से मिलूंगा और भक्तों के साथ श्रीवृन्दावन जाऊंगा—ऐसा विचार कर मैं गौड़देश में गया और शचीमाता तथा श्रीगङ्गाजी के दर्शन करके सुखी हुआ । भक्तगणों को साथ लेकर जब वहाँ से आनन्दपूर्वक मैं श्रीवृन्दावन को जाने लगा तो असंख्य लोग मेरे साथ चलने लगे । श्रीकृष्ण ने श्रीसनातन के मुख से मुझे शिक्षा दी जिस से वहाँ से मैं वापस चला आया, अब श्रीकृष्ण मुझे इस बन के मार्ग से ले आए हैं । श्रीकृष्ण कृपा के समुद्र हैं, दीन-हीन जनों पर अत्यन्त दया करते हैं । श्रीकृष्ण-कृपा से बढ़ कर और कोई भी सुख नहीं है ॥६६—७२॥

भट्टाचार्ये आलिङ्गिया तांहारे कहिल—। तोमार प्रसादे आमि एत सुख पाइल॥७३॥
तेंहो कहे—तुमि कृष्ण, तुमि दयामय । अधम जीव मुञि-मोरे हइला सदय ॥७४॥
मुञि छार,मोरे तुमि सङ्गे लञा आइला । कृपा करि मोर हाथे भिक्षा ये करिला॥७५॥
अधम काकेरे कैला गरुड़ समान । स्वतन्त्र ईश्वर तुमि स्वयं भगवान् ॥७६॥

फिर श्रीमहाप्रभु ने श्रीभट्टाचार्य को आलिङ्गन करते हुए कहा—"मैं तुम्हारी कृपा से इतना सुख प्राप्त कर रहा हूँ ।" श्रीभट्टाचार्य ने कहा—"प्रभो ! आप ही तो श्रीकृष्ण हो, आप ही दयामय हो ।

मैं एक अधम जीव हूँ, आपने मुझ पर अत्यन्त दया की है। मैं तो अति तुच्छ हूँ, आप दया करके मुझे अपने साथ ले आए। और कृपा-पूर्वक मुझ से अपनी भिक्षा की सेवा अङ्गीकार कर रहे हो, मुझ अधम--काग को आपने श्रेष्ठ गरुड़ के समान कर लिया है। आप परम स्वतन्त्र ईश्वर हो, स्वयं भगवान हो।" ॥७

तथाहि (भाः १—१—१) भावार्थदीपिकायाम्

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम् ॥४॥

जिनकी कृपा मूक व्यक्ति को प्रवीण वक्ता कर देती है और पङ्गु व्यक्ति को पर्वत पर चढ़ने की शक्ति प्रदान कर देती है—मैं उस परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण की वन्दना करता हूँ ॥४॥

एइमत बलभद्र करेन स्तवन। प्रेमे सेवा करि तुष्ट कैल प्रभुर मन ॥७७॥
एइमत नाना सुखे प्रभु आइला काशी। मध्याह्न स्नान कैला मणिकर्णिकाय आसि ॥७८॥
सेइ काले तपनमिश्र करे गङ्गा स्नान। प्रभु देखि हैल ताँर किछु विस्मयज्ञान ॥७९॥
पूर्वे शुनियाछि प्रभु करियाछे सन्न्यास। निश्चय करिल, हैल हृदये उल्लास ॥८०॥

इस प्रकार श्रीबलभद्र भट्टाचार्य ने प्रभु की स्तुति की और प्रेमपूर्वक सेवा से प्रभु के मन को संतुष्ट कर दिया। अनेक आनन्द करते हुए श्रीमहाप्रभु जी काशी आ पहुँचे और मणिकर्णिका घाट पर मध्याह्न काल का स्नान किया। उस समय श्रीतपन मिश्र भी गङ्गास्नान कर रहे थे, अचानक प्रभु को देख कर वह विस्मित होगये। (श्रीमहाप्रभु जब पूर्वबङ्ग में भ्रमण करने गये थे, उस समय श्रीतपन मिश्र से इनका मिलन हुआ था और प्रभु ने काशी में रहने का इन्हें आदेश देते हुए श्रीहरिनाम करने का उपदेश दिया था और यह भी कहा था कि काशी में फिर तुम्हारा मेरा मिलन होगा--(आदिलीला१६-१४, १५) आज अचानक प्रभु को देख कर एवं उनका मुण्डित मस्तक देख कर श्रीतपन मिश्र विस्मित हो गये) श्रीतपन मिश्र को यह बात स्मरण हो आई कि "हां, मैंने बहुत दिन हुए सुना ही था कि प्रभु ने संन्यास ग्रहण कर लिया है।" इस प्रकार मिश्र को निश्चय हो गया कि ये तो श्रीमहाप्रभु ही हैं, उसके हृदय में परम उल्लास हुआ ॥७७—८०॥

प्रभुर चरण धरि करेन रोदन। प्रभु तांरे उठाइया कैल आलिङ्गन ॥८१॥
प्रभु लञा गेल विश्वेश्वर दरशने। तबे आसि देखे बिन्दुमाधव-चरणे ॥८२॥
घरे लञा आइला प्रभु के आनन्दित हैया। सेवा करि नृत्य करे वस्त्र उड़ाइया ॥८३॥
प्रभुर चरणोदक सवंशे कैल पान। भट्टाचार्येर पूजा कैल करिया सम्मान ॥८४॥
प्रभु के निमन्त्रण करि घरे भिक्षा दिल। बलभद्रभट्टाचार्ये पाक कराइल ॥८५॥
भिक्षा करि महाप्रभु करिला शयन। मिश्रपुत्र रघु करे पादसंवाहन ॥८६॥

श्रीतपन मिश्र ने पास आकर श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ लिये और रोने लगे। प्रभु ने उन्हें उठाकर आलिङ्गन किया। श्रीमहाप्रभु को साथ लेकर श्रीतपन मिश्र ने उन्हें श्रीविश्वेश्वर जी के दर्शन कराये, फिर श्रीविन्दु माधव जी के दर्शन किये। तदनन्तर मिश्र जी प्रभु को आनन्द पूर्वक अपने घर ले आये। प्रभु की पादप्रक्षालनादि सेवा करके मिश्र हाथ में दुपट्टा फिरा कर प्रेम में नृत्य करने लगे।

श्रीमहाप्रभु के चरण-जल को वंश-सहित मिश्र जी ने पान किया। उसके बाद मिश्र जी ने श्रीबलभद्र भट्टाचार्य की सादर पूजा की। प्रभु को निमन्त्रण करके श्रीबलभद्राचार्य के द्वारा रसोई तैयार कराकर श्रीप्रभु को भिक्षा कराई। भोजन के बाद श्रीमहाप्रभु जी ने शयन की और मिश्र जी के पुत्र श्रीरघु श्रीमहाप्रभु के चरण पलोटने लगे ॥८१—८६॥

प्रभुर शेषान्न मिश्र सवंशे खाइला। 'प्रभु आइला' शुनि चन्द्रशेखर आइला ॥८७॥
मिश्रेर सखा तेंहो—प्रभुर पूर्वदास। वैद्यजाति लिखनवृत्ति वाराणसी–वास ॥८८॥
आसि प्रभुर पदे पड़ि करेन रोदन। प्रभु उठि तांरे कृपाय कैल आलिङ्गन ॥८९॥
चन्द्रशेखर कहे–प्रभु! बड़ कृपा कैला। आपने आसिया भृत्ये दरशन दिला ॥९०॥
आपन प्रारब्धे वसि वाराणसी स्थाने। 'मायाब्रह्म'–शब्द बिना नाहि शुनि काणे ॥९१॥
'षड़्-दर्शन-व्याख्या' बिना कथा नहि एथा। मिश्र कृपा करि मोरे शुनान कृष्णकथा॥९२॥
निरन्तर दोंहे चिन्ति तोमार चरण। सर्वज्ञ ईश्वर तुमि दिला दरशन ॥९३॥

श्रीमहाप्रभु का उच्छिष्ट प्रसाद श्रीतपन मिश्र ने परिवार सहित पाया। इधर 'श्रीमहाप्रभु आये हैं'—यह बात सुनकर श्रीचन्द्रशेखर वहां आये। श्रीचन्द्रशेखर जी श्रीतपन मिश्र के सखा थे और श्रीमहाप्रभु के दास थे। वह वैद्य थे, किन्तु पुस्तक आदि लिख कर अपनी जीविका निर्वाह करते थे और काशी में वास किया करते थे। श्रीचन्द्रशेखर ने आकर प्रभु के चरणों में वन्दना की और रोने लगे। श्रीमहाप्रभु जी ने कृपा-पूर्वक उन्हें उठाकर आलिङ्गन किया! श्रीचन्द्रशेखर जी ने कहा—"प्रभो! आपने हम पर बड़ी कृपा की है जो यहाँ पधार कर हम दासों को दर्शन दिया है। अपनी प्रारब्ध के वश—खोटे कर्मों के वशीभूत होकर हम यहाँ काशी में वास कर रहे हैं—(कारण कि यहां तो श्रीकृष्ण-कथा, भक्ति चर्चा कहीं नहीं सुन पाते) केवल माया व ब्रह्म के बिना यहाँ और कोई बात ही नहीं सुनी जाती। षड़्-दर्शनों की व्याख्या के अतिरिक्त और कोई कथा यहाँ सुनाई नहीं देती। यहाँ एक यही श्रीतपन मिश्र हैं जो कृपा करके मुझे श्रीकृष्णकथा सुनाते हैं। निरन्तर हम दोनों आपके चरण-कमलों का ध्यान-चिन्तवन करते रहते हैं, सो आप जानते ही हो। आप सर्वज्ञ हो, ईश्वर हो, इसलिये ही आपने हमें दर्शन दिये हैं ॥८७-९३॥

चै० च० चु० टीका:—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल, पूर्व--मीमांसा व उत्तर–मीमाँसा तथा वेदान्त—ये छः दर्शनशास्त्र हैं। इन समस्त दर्शनकारों का मत यह है कि संसार दुख--सागर है, जो कुछ सुख इस संसार में दीखता है, वह क्षण स्थायी तो है ही, उसके अन्त में फिर भी दुख भोगना ही पड़ता है। इस दुख के नाश का प्रकृष्ट उपाय निर्णय करना ही दर्शनशास्त्रों का उद्देश्य है। इन छयों दर्शनों ने दुख निवारण करने का उपाय निर्णय किया है परन्तु वह उपाय सब का एक जैसा नहीं है। इन समस्त भिन्न-भिन्न उपायों की आलोचना करने से ज्ञात होता है कि वेदान्त दर्शन को छोड़कर अन्यान्य दर्शनों का जो दुखनिवृत्ति का निर्धारित उपाय है उसके साथ ईश्वर का कोई घनिष्ट सम्पर्क नहीं है। सांख्य एवं पूर्व मीमांसा शास्त्र में ईश्वर प्रायः प्रत्याख्यात ही हो गया है। न्याय और वैशेषिक में ईश्वर का प्रतिपादन है किन्तु उनके निर्धाति उपाय से ईश्वर का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। पातञ्जल ने भी ईश्वर को गौण स्थान दिया है—इन समस्त कारणों से इन दर्शनों की व्याख्या में भक्तों को कुछ सुख नहीं मिलता। वेदान्तदर्शन का प्रतिपाद्य विषय परमब्रह्म–श्रीकृष्ण ही हैं किन्तु काशी में उस समय वेदान्त के श्रीशङ्कराचार्यकृत भाष्य का प्रचार था। मायावाद के निरस--मत का उस समय बोलबाला था।

इसलिये भक्तों को ऐसे शास्त्र की व्याख्या में कैसे सुख हो सकता था ? जिस शास्त्र का--सम्बन्धतत्त्व श्रीकृष्ण नहीं हैं, अभिधेय तत्त्व भक्ति नहीं है, प्रयोजन तत्त्व प्रेम नहीं है, उस शास्त्र की आलोचना में भक्तों को भला कैसे सुख मिल सकता है ? इसलिये श्रीचन्द्रशेखर जी ने कहा कि यहां काशी में दर्शनशास्त्रों की निरस व्याख्या तो सुनने को मिलती है, परन्तु श्रीकृष्ण--कथा यहां सुनने को नहीं मिलती, जिसमें भक्तों को दुख होता है ।

शुनि-महाप्रभु ! यावेन श्रीवृन्दाबन । दिनकथो रहि तार, भृत्य दुइजन ॥९४॥
मिश्र कहे-प्रभु ! यावत् काशी ते रहिवा । मोर निमन्त्रण बिना अन्य ना मानिवा ॥९५॥
एइमत महाप्रभु दुइ भृत्येर वशे । इच्छा नाइ, तबु तथा रहिल दिन दशे ॥९६॥
महाराष्ट्री विप्र आइसे प्रभु देखिवारे । प्रभुर रूप-प्रेम देखि हय चमत्कारे ॥९७॥
विप्र सब निमन्त्रये- प्रभु नाहि माने । प्रभु कहे-आजि मोर हयेछे निमन्त्रणे ॥९८॥
एइमत प्रतिदिन करेन वञ्चन । सन्न्यासीर सङ्ग भये ना माने निमन्त्रण ॥९९॥

श्रीचन्द्रशेखर जी ने कहा—"हे महाप्रभो ! सुनिये, आप श्रीवृन्दाबन जा रहे हैं, किन्तु कुछ दिन यहाँ रह कर हम दोनों सेवकों का उद्धार कीजिए ।" श्रीमिश्र ने कहा—"प्रभो ! जब तक आप काशी में रहें, आप मेरे घर ही भोजन करियेगा और किसी का निमन्त्रण नहीं मानियेगा ।" इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी दोनों सेवकों के वशीभूत होकर, चाहे उनकी इच्छा नहीं थी, वहां दस दिन तक रहे । एक महाराष्ट्री विप्र श्रीमहाप्रभु का दर्शन करने आया और प्रभु का सुन्दर रूप एवं प्रेम देख कर चमत्कृत हो उठा और अनेक ब्राह्मण प्रभु को निमन्त्रण करने आते किन्तु प्रभु किसी का निमन्त्रण नहीं मानते । "आज मेरा निमन्त्रण हो चुका है"—प्रभु सब से ऐसा कह देते । इस प्रकार प्रतिदिन प्रभु टाल-मटोल कर देते, (क्यों कि वे सब ब्राह्मण श्रीकृष्ण बहिर्मुख मायावादियों का सङ्ग करने बाले थे) विशेषतः कहीं निमन्त्रण स्वीकार करने में प्रभु को अन्यान्य मायावादी संन्यासियों के सङ्ग का भय लगा रहता । अतः वे किसी का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते और उन्हें अपनी सेवा से वञ्चित कर देते ॥९४—९९॥

प्रकाशानन्द श्रीपाद सभाते वसिया । वेदान्त पढ़ान बहु शिष्यगण लैया ॥१००॥
एक विप्र देखि आइला प्रभुर व्यवहार । प्रकाशानन्द आगे कहे चरित्र तांहार-॥१०१॥
एक सन्न्यासी आइल जगन्नाथ हैते । तांहार महिमा प्रभाव ना पारि वर्णिते ॥१०२॥
प्रकाण्ड शरीर, शुद्धकाञ्चन वरण । आजानुलम्बित भुज कमलनयन ॥१०३॥
यत किछु ईश्वरेर सर्व सल्लक्षण । सकल देखिये तांते अद्भुत कथन ॥१०४॥
तांहा देखि ज्ञान हय, एइ नारायण । येइ तांरे देखे, करे कृष्ण सङ्कीर्त्तन ॥१०५॥

काशी में श्रीपाद प्रकाशानन्द सरस्वती सभा में बैठ कर अनेक शिष्यों को वेदान्त की शङ्कर-भाष्यानुरूप व्याख्या पढ़ाया करते थे । एक ब्राह्मण (वही महाराष्ट्री ब्राह्मण) श्रीमहाप्रभु जी के आचरण को देखकर श्रीप्रकाशानन्द जी के पास आया और उनको प्रभु के चरित्र सुनाने लगा । विप्र ने कहा—"श्रीपाद ! एक संन्यासी जगन्नाथपुरी से यहां आया है । उसकी बड़ी महिमा एवं प्रभाव है, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता हूँ । प्रकाण्ड तो उसका शरीर है, विशुद्ध-सुवर्ण की भांति उसका गौर वर्ण है,

आजानु पर्यन्त विशाल भुजाएं एवं कमल के समान उसके नेत्र हैं। ईश्वर में जितने स्वरूप--लक्षण होते हैं! उसमें वे सब लक्षण दीखते हैं, अकथनीय उसकी शोभा है। उसे देखते ही ऐसा जान पड़ता है कि वह साक्षात् श्रीनारायण हैं और फिर जो भी एक बार उसके दर्शन करता है—वही श्रीकृष्ण सङ्कीर्त्तन करने लगता है ॥१००—१०५॥

महाभागवत–लक्षण शुनि भागवते। से सब लक्षण प्रकट देखिये तांहाते ॥१०६॥
निरन्तर 'कृष्णनाम' जिह्वा तांर गाय। दुइ नेत्रे अश्रु बहे गङ्गाधार-प्राय ॥१०७॥
क्षणे नाचे हासे गाय करये क्रन्दन। क्षणे हुहुङ्कार करे सिंहेर गर्ज्जन ॥१०८॥
जगत मङ्गल तांर 'कृष्णचैतन्य' नाम। नाम रूप गुण तांर सब अनुपाम ॥१०९॥
देखिया से जानि तांरे ईश्वरेर रीति। अलौकिक कथा शुनि के करे प्रतीति ? ॥११०॥

उस ब्राह्मण ने आगे कहा—"श्रीमद्भागवत जी में जो लक्षण महाभागवतों के वर्णन किये गये हैं, वे सब लक्षण उस सन्यासी में प्रत्यक्ष दीखते हैं। उसकी जिह्वा निरन्तर श्रीकृष्णनाम का गान करती है और दोनों नेत्रों से गङ्गाप्रवाह की भांति निरन्तर अश्रु प्रवाहित होते हैं। एक क्षण में तो वह नाचने--हंसने--गाने एवं रोने लगता है और दूसरे क्षण में वह सिंह के समान गर्जना करते हुए हु–हुङ्कार करने लगता है। उसका नाम 'श्रीकृष्णचैतन्य' है जो जगत् के मंगल करने वाला है। उसके रूप, गुण समस्त अनुपम हैं। उसकी सब रीति ईश्वर के सदृश है। उसका समस्त व्यवहार अलौकिक है—सुनने से कोई विश्वास नहीं कर सकता, देखने से ही इसका सम्बन्ध है" ॥१०६—११०॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीमद्भागवत जी (११--२--४८ से ५५) में महाभागवतों के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं—जो महाभागवत हैं, उनका चित्त श्रीकृष्ण में आविष्ट रहता है, रूप--रसादि इन्द्रियों के विषयों में वे लालायित नहीं होते, रूप--रसादि विषयों को ग्रहण करते हुए भी इस विश्व को श्रीविष्णु की मायारूप देखकर वे हर्ष--द्वेष मोह एवं कामादि के वशीभूत नहीं होते, भगवान् की स्मृति वश देह के जन्म--मृत्यु, प्राणों की क्षुधा, मन का भय, बुद्धि की तृष्णा एवं इन्द्रियों के परिश्रमरूप संसार-धर्म द्वारा वे विमुग्ध नहीं होते, उनके चित्त में काम एवं कर्म—वासना का उदय नहीं होता। श्रीकृष्ण ही केवल उनका आश्रय होता है, पांचभौतिक शरीर में जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम, जाति आदिक द्वारा उनके चित्त में अहंभाव उदित नहीं होता, धन--सम्पत्ति, देहादि में उन्हें अपने--पराये का ज्ञान नहीं होता, वे सर्वभूतों में समदर्शी हुआ करते हैं, वे शान्त होते हैं। वे भगवान् के चरण--कमलों की सेवा को ही एकमात्र सार जानते हैं, इसलिये त्रिभुवन के विभव-ऐश्वर्य की प्राप्ति का लोभ उपस्थित होने पर भी वे आधे निमिष के लिये भी श्रीभगवान् के चरण–कमलों से विचलित नहीं होते, विषयों की प्राप्ति की कामना में उनका चित्त कभी सन्तापित नहीं होता। श्रीभगवान् भी कभी उनके हृदय का परित्याग नहीं करते किन्तु उनकी प्रेम–डोरी में आबद्ध होकर सर्वदा उनकी हृदय--कुञ्ज में विश्राम करते हैं।

इस प्रकार महाभागवतों के समस्त लक्षण श्रीमहाप्रभु जी में प्रकाशित होते थे। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ने दोनों बातों को कहा। इधर तो प्रभु को साक्षात् श्रीनारायण--स्वरूप कहा और फिर उन्हें महाभागवत भी कहा। श्रीमहाप्रभु जी को भगवान् और भक्त दोनों बता दिया। ब्राह्मण ने परम सत्य का अनुभव किया। श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं भगवान् हो तो अपने माधुर्यास्वादन के लिये श्रीराधा--भाव को

ग्रहण कर भक्त--भाव को अङ्गीकार किये हुये थे। स्वयं भगवान् में ही महाभागवतों के लक्षणों की अभिव्यक्ति थी जो उस ब्राह्मण ने अनुभव किया और उसका वर्णन श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती पाद के सामने किया।

शुनिञा प्रकाशानन्द बहुत हासिला। विप्रे उपहास करि कहिते लागिला ॥१११॥
शुनियाछि गौड़देशे सन्न्यासी भावक। केशव भारती शिष्य लोक-प्रतारक ॥११२॥
'चैतन्य' नाम तार भावकगण लैया। देशे-देशे ग्रामे-ग्रामे बुले नाचाइया ॥११३॥
येइ तारे देखे, से-इ ईश्वर करि कहे। ऐछे मोहन विद्या-ये देखे से मोहे ॥११४॥
सार्वभौमभट्टाचार्य पण्डित प्रबल। शुनि—चैतन्येर सङ्गे हइल पागल ॥११५॥
सन्न्यासी नाम मात्र-महा इन्द्रजाली। काशीपुरे ना विकावे तार भाव काली ॥११६॥
वेदान्त श्रवण कर ना याइह तार पाश। उच्छृङ्खल लोकसङ्गे दुइलोक नाश ॥११७॥

श्रीप्रकाशानन्द जी उस ब्राह्मण के बचन सुनकर बहुत हंसे और उस विप्र का उपहास करते हुये कहने लगे—"हां! मैं ने भी सुना है कि एक भावक संन्यासी गौड़देश से यहां आया हैं, वह केशव भारती का शिष्य है और लोगों को ठगता फिरता है। उसका नाम चैतन्य है और भावक लोगों को साथ लेकर देश--विदेश, गांव-गांव में नाचता फिरता है। जो भी उसे देखता है वही उसे ईश्वर कहने लगता है, ऐसी मोहन-विद्या उसके पास है कि, जो भी उसे देखता है वही मोहित हो जाता है। पुरी में एक सार्वभौम भट्टाचार्य महान् पण्डित है, मैंने सुना है वह भी उस चैतन्य के सङ्ग से पागल हो गया है। संन्यासी तो वह नाममात्र का है। वह महा इन्द्रजाली है, किन्तु इस काशी नगरी में उसकी भावकता की कालिमा टिकने की नहीं। तुम तो वेदान्त श्रवण किया करो, उसके पास जाना भी ठीक नहीं है कारण कि स्वेच्छाचारी लोगों के सङ्ग से मनुष्य के यह लोक और परलोक दोनों नाश हो जाते हैं।।१११—११७॥

एत शुनि सेइ विप्र महादुख पाइल। 'कृष्ण कृष्ण' कहि तथा हैते उठि गेल ॥११८॥
प्रभुर दर्शने शुद्ध हैयाछे तार मन। प्रभु आगे दुखी हैया कहे विवरण ॥११९॥
शुनि महाप्रभु ईषत् हासिया रहिला। पुनरपि सेइ विप्र प्रभुरे पुछिला-- ॥१२०॥
तार आगे यबे आमि तोमार नाम लैल। सेहो तोमार नाम जाने, आपनि कहिल ॥१२१॥
तोमार दोष कहिते करे नामेर उच्चार। "चैतन्य चैतन्य' करि कहे तिन बार ॥१२२॥
तिनबारे कृष्णनाम ना आइल तार मुखे। अवज्ञाते नाम लय, शुनि पाइ दुखे ॥१२३॥
इहार कारण मोरे कह कृपा करि। तोमा देखि मुख मोर बोले 'कृष्ण' 'हरि' ॥१२४॥

श्रीप्रकाशानन्द के मुख से श्रीमहाप्रभु की निन्दा सुनकर उस ब्राह्मण को महान् दुख हुआ और 'कृष्ण--कृष्ण' कहकर वहां से उठकर चल दिया। क्योंकि उस ब्राह्मण का मन श्रीमहाप्रभु के दर्शन करके शुद्ध हो चुका था। उसने जाकर सब वृत्तान्त श्रीमहाप्रभु जी को सुनाया। उसके वचन सुनकर श्रीमहाप्रभु मन्द मुस्करा दिये। उस ब्राह्मण ने प्रभु से पूछा—"प्रभो! जब मैंने श्रीप्रकाशानन्द के आगे आप का नाम लिया, तो वह आपका नाम पहले से ही जानता था। उसने अपने आप आपका नाम बताया। आपके दोषों को कहते हुए उसने आपके नाम का उच्चारण भी किया और 'चैतन्य'-

'चैतन्य'—इतना ही अधूरा नाम वह दो-तीन बार बोला। हर बार किन्तु "कृष्ण"-नाम उसकी जिह्वा पर नहीं आया, पूरा नाम "श्रीकृष्ण चैतन्य" वह न कह सका। इस प्रकार वह अवज्ञापूर्वक नाम लेता था और मुझे बहुत दुख होता था। मुझे इसका कारण आप कृपा करके कहो कि कृष्णनाम उसकी जिह्वा से क्यों न निकला ? मेरे मुख से तो आपके दर्शन करते ही अपने आप 'कृष्ण'--'हरि' 'कृष्ण-हरि' उच्चारित हो रहा है ।।११८—१२४।।

प्रभु कहे—मायावादी कृष्ण अपराधी। 'ब्रह्म आत्मा चैतन्य' कहे निरवधि ।।१२५।।
अतएव तार मुखे ना आइसे 'कृष्णनाम'। कृष्णनाम कृष्णस्वरूप—दुइ त समान ।।१२६।।
नाम, विग्रह, स्वरूप—तिन एकरूप। तिने भेद नाहि, तिन चिदानन्दस्वरूप ।।१२७।।
देह-देहीर नाम—नामीर कृष्णे नाहि भेद। जीवेर धर्म—नाम-देह स्वरूप विभेद ।।१२८।।

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"विप्र ! मायावादी श्रीकृष्ण के अपराधी हैं, वे 'ब्रह्म' 'आत्मा' एवं 'चैतन्य'--'चैतन्य' बस इतने नाम ही निरन्तर बोला करते हैं। इसलिये उनकी जिह्वा से 'कृष्णनाम' का उच्चारण नहीं होता, क्योंकि श्रीकृष्णनाम और श्रीकृष्णस्वरूप दोनों समान ही तो हैं। श्रीकृष्णनाम श्रीकृष्ण--विग्रह (मूर्त्ति) एवं श्रीकृष्ण--स्वरूप (स्वयं श्रीकृष्ण) ये तीनों सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण में देह और देही का, नाम और नामी का भेद नहीं है। जीवों में ही नाम—नामी, देह एवं देही का भेद रहता है ।।१२५—१२८।।

चै० च० चु० *टीका*:—मायावादियों को श्रीकृष्ण का अपराधी कहने का कारण यह है कि **प्रथमतः**—मायावादी मायाधीन जीव को मायाधीश ईश्वर के साथ अभेद मानते हैं, यह एक अपराध है। इससे श्रीभगवान् एवं जीव का सेव्य--सेवकत्व भाव नष्ट हो जाता है, जीव श्रीभगवान् की सेवा से वञ्चित हो जाता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति जीव का जो कर्त्तव्य है, उसे पालन करने में मायावाद से वे बाधा उत्पन्न करते हैं, इसलिये वे कृष्ण--अपराधी हैं। **द्वितीयतः**—मायावादीगण षड़ैश्वर्यपूर्ण सच्चिदानन्द विग्रह श्रीभगवान् को निराकार और निःशक्तिक कहते हैं, यह दूसरा अपराध है—इससे श्रीभगवान् की महिमा घटती है। **तृतीयतः**—श्रीभगवान् का श्रीविग्रह चिदानन्दाकार है, किन्तु मायावादी उस विग्रह को सत्वगुण का विकार समझते हैं—यह तीसरा अपराध है, क्योंकि सत्वगुण माया का गुण है, वह जड़ है, मायावादी शुद्ध चिन्मय, अप्राकृत श्रीकृष्ण—विग्रह को प्राकृत एवं जड़ कहते हैं—इससे बढ़ कर श्रीकृष्ण के प्रति और क्या अपराध हो सकता है ? अतः मायावादियों को श्रीकृष्ण का अपराधी कहा गया है।

श्रीकृष्ण स्वयंस्वरूप, श्रीकृष्णनाम एवं श्रीकृष्ण--विग्रह अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण का अपराधी मनुष्य श्रीकृष्णनाम के प्रति भी अपराधी है। अतः श्रीकृष्णनाम मायावादी व्यक्ति की जिह्वा पर प्रकाशित नहीं होता। श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्णनाम अभिन्न हैं—इसके प्रमाण में एक श्लोक उद्धृत करते हैं—

तथाहि श्रीहरिभक्तिविलासे विष्णुधर्मोत्तर वचनम् (११—२६९)--
भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—२—१०८) पद्मपुराणवचनम्—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरस—विग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ।।५।।

नाम और नामी में कुछ भी भेद नहीं है, इसलिये श्रीकृष्णनाम श्रीकृष्ण की ही भांति चैतन्यरस-विग्रह है, सर्वशक्तिपूर्ण है, मायागन्धशून्य है, नित्यमुक्त एवं चिन्तामणिवत् सर्वाभीष्टप्रद है ।।५।।

अतएव कृष्णेर नाम देह विलास। प्राकृतेन्द्रियग्राह्य नहे, हय स्वप्रकाश ॥१२९॥
कृष्णनाम कृष्णगुण कृष्णलीलावृन्द। कृष्णेर स्वरूप सम सब चिदानन्द ॥१३०॥

(श्रीकृष्ण चिदानन्दमय एवं स्वयं प्रकाश हैं। श्रीकृष्ण से उनका नाम, उनका विग्रह एवं उनकी लीलाएं अभिन्न हैं।) अतः श्रीकृष्णनाम, उनका विग्रह एवं उनकी लीलाएं भी चिदानन्दमय होने से प्राकृत इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं और स्वयं प्रकाश हैं अर्थात् उन्हें और कोई प्रकाश नहीं कर सकता, वे अपनी कृपा से या इच्छा से स्वयं प्रकाशित होते हैं। श्रीकृष्णनाम श्रीकृष्ण के गुणसमूह तथा श्रीकृष्ण की लीलाएं श्रीकृष्ण के स्वरूप के समान ही चिदानन्दमय हैं। इस बात का प्रमाण निम्नलिखित श्लोक में उल्लेख करते हैं :—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे साधनभक्तिलर्य्याम् (१०९)—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥६॥

(नाम एवं नामी का भेद ना रहने से सच्चिदानन्द स्वरूप) श्रीकृष्णनामादि (नाम, लीला, रूप एवं गुणादि) प्राकृत-इन्द्रियों द्वारा ग्रहणीय नहीं हैं। जिह्वादि इन्द्रियां जब श्रीकृष्णनामादि को ग्रहण करने की इच्छा या उसके लिये प्रवृत्त होती हैं, तभी वे जिह्वादि पर स्वयं ही स्फुरित होते हैं, (कारण कि वे भी श्रीकृष्णवत् स्वयं-प्रकाश हैं) ॥६॥

ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द लीलारस।
ब्रह्मज्ञानी आकर्षिया करे आत्मवश ॥१३१॥

ब्रह्म के स्वरूप अनुभव से जो आनन्द लाभ होता है (वह पूर्णानन्द नहीं है) उससे श्रीकृष्ण-लीलारस के आस्वादन का आनन्द बहुत अधिक एवं पूर्ण-आनन्द है। श्रीकृष्णलीलारस ब्रह्मज्ञानियों को भी आकर्षण करके अपने वशीभूत कर लेता है ॥१३१॥

चै० च० चु० *टीका*—पयार नं० १३० से १३३ तक इस बात को पुष्ट किया गया है कि श्रीप्रकाशानन्द मायावादी श्रीकृष्ण के अपराधी थे, अतः श्रीकृष्णनाम उनके मुख से नहीं उच्चारित हुआ। उक्त पयार में कहा गया है—यदि कोई अपराध न हो तो जो लोग ब्रह्मानन्द में निमग्न हैं, उनका चित्त श्रीकृष्णनाम-रूप-गुण-लीलादि द्वारा आकृष्ट होता है। महाराष्ट्री विप्र के मुख से एवं और अनेक व्यक्तियों के मुख से श्रीकृष्णनाम सुनकर भी श्रीप्रकाशानन्द जी का चित्त श्रीकृष्णनामादि में आकृष्ट नहीं हुआ—इसी से ज्ञात होता है कि वे श्रीकृष्ण-अपराधी थे। वस्तुतः जो श्रीकृष्ण के अपराधी हैं, उनके पक्ष में ब्रह्मानन्द की अनुभूति भी सम्भव नहीं है, क्यों कि भक्ति की कृपा के बिना निर्भेद-ब्रह्मचिन्ता अपना फल प्रदान करने में असमर्थ है। श्रीकृष्ण की शक्ति विशेष जो भक्ति है उसकी कृपा श्रीकृष्ण अपराधी पर नहीं हो सकती। अपराध शून्य ब्रह्मज्ञानियों का चित्त श्रीकृष्णनामादि की ओर आकृष्ट होता है, इसके प्रमाण-श्लोक का नीचे उल्लेख करते हैं:—

तथाहि (भा; १२-१२-६९)—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो—ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदायम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥७॥

श्रीसूत जी ने कहा है—"जिनका चित्त ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण था एवं इसलिये अन्य विषयों से जो अपनी मन की वृत्ति को हटाये रखने में समर्थ थे, ऐसे होने पर भी अजित श्रीकृष्ण की मनोहर लीला द्वारा आकृष्ट--चित्त होकर जिन्होंने कृपावशतः श्रीकृष्णतत्त्व को प्रकाश करने वाला श्रीमद्भागवत पुराण लोकों में प्रचारित किया है, अखिल पापों के नाश करने वाले उन श्रीव्यासनन्दन श्रीशुकदेव जी को मैं प्रणाम करता हूँ" ।।७।।

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीशुकदेव मुनि जन्म से ही ब्रह्मानन्द में निमग्न थे. किसी अन्य विषय की ओर उनकी मनोवृत्ति नहीं जाती थी, किन्तु श्रीकृष्णलीलादि में उनका चित्त आकृष्ट हो गया एवं उन्होंने कृपापूर्वक श्रीमद्भागवत जी, जो श्रीकृष्णलीला--नाम--रूप गुणों से परिपूर्ण पुराण- श्रेष्ठ है, उसका गान किया, अर्थात् श्रीकृष्णलीलाओं से उनका मन आकर्षित हो गया।

निर्भेद--ब्रह्मानुसन्धान करने वाले ज्ञानियों की ब्रह्मानन्द के अनुभव में समाधि लग जाती है। इस अवस्था में उनकी समस्त इन्द्रियों की वृत्ति निरुद्ध हो जाती है, इन्द्रियों में किसी प्रकार की चेष्टा नहीं रहती। इसी अवस्था में ही श्रीशुकदेवजी का चित्त श्रीकृष्णकी मनोहरलीलाओं में आकृष्ट हुआ। वे निर्जन वन में ब्रह्मसुख में निमग्न थे, तब उनके पिता श्रीव्यास जी ने श्रीमद्भागवत जी के कुछ श्लोक, जिन में श्रीभगवान् के लीला--गुणों का वर्णन था, उन का गान श्रीशुकदेव जी के निकट स्थान पर अपने शिष्यों द्वारा कराया, उन का चित्त भगवद्गुणानुवाद के प्रभाव से समाधि से आकृष्ट हो गया। उन्होंने ब्रह्म--समाधि का त्याग कर दिया। भगवद्गुणानुवाद सुनने के लिये वे उत्कण्ठित होगये और फिर अपने पिता जी के पास जाकर उन्होंने श्रीभागवत् जी का अध्यन एवं आस्वादन किया।

प्रश्न हो सकता है कि श्रीशुकदेव जी का मन समाधि-मग्न था और उनकी इन्द्रियों की वृत्तियां निरुद्ध थी, इस अवस्था में उन्होंने उन श्लोकों को किस प्रकार सुना? उसका उत्तर यह है कि श्रीशुकदेव जी का मन शुद्ध सत्त्वात्मक था, वरना उन्हें ब्रह्मानन्द का अनुभव ही न हो सकता। श्रीभगवान् की कथा भी शुद्ध सत्त्वात्मिका है, स्वयं प्रकाश है। किसी के द्वारा भी भगवत् कथा गाई जाने पर सबके कानों में प्रवेश कर सकती है, किन्तु माया से मलिन चित्त के साथ उसका संयोग नहीं हो सकता। शुद्ध सत्त्वो-ज्ज्वल चित्त के साथ शुद्धसत्त्वात्मिका भगवद्--गुण कथा का संयोग अपने आप हो जाता है। श्रीशुकदेवजी के चित्त में माया का कुछ भी आवरण न था जो उनके चित्त के साथ उस भगवत्--कथा के संयोग को रोक सकता। हाँ, किन्तु उनके चित्त में जीव--ब्रह्म के अभेदज्ञान का एक आवरण अवश्य था। जो जीव के स्वरूपानुवन्धि सेव्य-सेवक--भाव को प्रच्छन्न किये रहता है। परन्तु यह आवरण शुद्ध--सत्त्व की गति को रोकने में असमर्थ है। इसलिये उनके शुद्ध चित्त के साथ शुद्धसत्त्वात्मिका श्रीकृष्ण कथा का संयोग हो गया। भगवत् कथा ने अपनी अचिन्त्य-शक्ति के प्रभाव से उनके चित्त से जीव-ब्रह्म के अभेद-ज्ञान आवरण को दूर फेंक दिया और उनके चित्त में सेव्य--सेवक भाव को जागरुक कर उनके चित्त में सेवा वासना रहित निस्तरङ्गित आनन्द समुद्र को तरङ्गायित कर दिया। निस्तरङ्गित ब्रह्मानन्द समुद्र से निकलकर वे अनन्त वैचित्रीमयरस-तरङ्गायित आनन्दसमुद्र में निमग्न हो गये। तो क्या उनकी समाधि भङ्ग होगई?—नहीं. नहीं, वे पूर्ववत् आनन्दसमुद्र में ही मग्न रहे। उनकी समाधि ज्यों की त्यों बनी रही। पार्थक्य यह था कि पहले आनन्दसमुद्र वैचित्रीहीन था, अब अनन्तवैचित्रीमय तरङ्गों से उछलता हुआ आनन्दसमुद्र था, जिसमें अब वे निमग्न थे। अब वे भक्तिसमाधि में स्थित थे। उन्होंने फिर उस ब्रह्मानन्द की ओर लौटकर नहीं देखा, बल्कि भगवद् गुणादि के रसास्वादन के लिये श्रीशुकदेव जी अपने पिता जी के पास जाकर श्रीभागवत जी का अध्ययन करने लगे। सारांश यह है कि लीलारस की शक्ति इतनी उत्कृष्ट है कि वह ब्रह्मज्ञानियों के चित्त को भी आकर्षण कर लेती है।

ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द कृष्ण गुण ।
अतएव आकर्षये आत्मारामेर मन ॥१३२॥

श्रीकृष्ण--लीलागुणों में ब्रह्मानन्द की अपेक्षा अधिक पूर्ण आनन्द है, इसलिये वे आत्माराम मुनियों के मन को भी आकर्षण कर लेते हैं ॥१३२॥

इसके प्रमाण स्वरूप निम्नलिखित श्लोक का उल्लेख करते हैं—

तथाहि तत्रैव (१—७—१०)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूत गुणो हरिः ॥८॥

श्रीहरि में ऐसे चित्ताकर्षक गुण हैं कि जिनकी अविद्यारूप हृदय की गांठ टूट चुकी है, वे आत्माराम मुनिगण भी उन उरुक्रम श्रीहरि की अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं। (इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या २४ वें परिच्छेद में की जावेगी) ॥८॥

इहो सब रहु, कृष्णचरण सम्बन्धे ।
आत्मारामेर मन हरे तुलसीर गन्धे ॥१३३॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"श्रीकृष्णनाम-गुण-लीलादिक की बात रहने दो, श्रीकृष्ण--चरणों से संलग्न जो तुलसी है, उसकी गन्ध ही आत्माराम मुनियों के मन को हरण कर लेती है। (इसके प्रमाण स्वरूप श्लोक का नीचे उल्लेख करते हैं)—॥१३३॥

तथाहि तत्रैव (३—१५—४३)—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द—किञ्जल्कमिश्रतुलसी—मकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥६॥

श्रीब्रह्माजी ने कहा है—"उन कमल--नयन श्रीभगवान् के चरण--कमलों के केशर से लिप्त तुलसी की मकरन्द युक्त वायु ने नासा-रन्ध्रों के द्वारा भीतर प्रवेश करके उन ब्रह्मानन्द सेवी सनकादिकों के चित्त एवं शरीर में सम्यक् क्षोभ उत्पन्न कर दिया अर्थात् चित्त में अतिशय हर्ष और शरीर में रोमाञ्च आदि प्रकाशित कर दिये ॥६॥

चै० च० चु० *टीका*:—इन प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो ब्रह्मानन्द में निमग्न व्यक्ति हैं, उनका चित्त अतिनिर्मल होता है और श्रीभगवान् की किसी भी वस्तु नाम--रूप--गुण, तुलसी पर्यन्त का संस्पर्श पाकर भगवत् कृपा से उनके चित्त में प्रेमविकार उत्पन्न हो आते हैं और उनका चित्त श्रीभगवान् के रूप--गुणलीला--नाम की ओर अवश्य आकर्षित होता है। किन्तु जिन का मन श्रीभगवान् के नाम--गुण लीलादिक की ओर आकर्षित नहीं होता—चाहे वे अपने को ब्रह्मानन्दानुभवि समझे, वास्तव में न तो उन्हें ब्रह्मानन्द की अनुभूति ही प्राप्त है और न ही उनके चित्त से माया का आवरण ही दूर हुआ है—विशेषतः वे 'श्रीकृष्ण के अपराधी ही हैं।

अतएव 'कृष्णनाम' ना आइसे तार मुखे। मायावादिगण याते महा बहिर्मुखे ॥१३४॥
भावकाली बेचिते आमि आइलाम काशीपुरे । ग्राहक नाहि, ना बिकाय, लञा याव घरे ॥१३५

भारी बोझा लञा आइलाम केमने लञा याव । अल्पस्वल्पमूल्य पाइले-एथाइ बेचिव ॥१३६
एत बलि सेइ विप्रे आत्म साथ करि । प्राते उठि मथुराय चलिला गौर हरि ॥१३७॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"वह प्रकाशानन्द मायावादी होने से श्रीकृष्ण-अपराधी एवं महा-बहिर्मुख है, इसलिये श्रीकृष्ण-नाम उसके मुख से नहीं निकला । ठीक है, मैं यहां काशी में भावकता की कालिमा को बेचने आया था, इसका ग्राहक नहीं मिलेगा और न बिकेगी, तो फिर अपने घर लौटा ले जाऊंगा । (मन में यह भी विचार करता हूँ कि–) भारी बोझा भावकता की कालिमा का मैं लेकर यहां आया हूँ—फिर कैसे लौटा ले जाऊंगा, थोड़ा बहुत जो भी कुछ मूल्य मिल जाये तो इसे यहां बेच दूंगा ।" (परिहास्य करते हुए) यह कहकर श्रीप्रभु ने उस महाराष्ट्री ब्राह्मण को अपने सेवकरूप में अङ्गीकार कर लिया और दूसरे दिन प्रभु उठकर मथुरा के लिये चल पड़े ॥१३४—१३७॥

चैं० च० चु० टीका:—श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती का श्रीमहाप्रभु ने जिस प्रकार उद्धार किया, वह सम्पूर्ण चरित्र आदिलीला सप्तम परिच्छेद में पयार नं० ३८ से १४३ तक वर्णन किया जा चुका है ।

श्रीमहाप्रभु ने जैसे कहा कि "यदि थोड़ा बहुत भी मूल्य मुझे मिल जाए तो मैं इस भावकता--कालिमा के बोझे को बेच जाऊंगा ।" वस्तुतः उन्होंने ऐसा ही किया । जिस समय श्रीमहाप्रभु जी उस महाराष्ट्री ब्राह्मण के घर भोजन करने के लिये पधारे थे, श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती अपने हजारों शिष्यों के साथ वहां पहले ही उपस्थित थे । प्रभु ने सब संन्यासियों को नमस्कार कर सब से पीछे स्थान ग्रहण किया । किन्तु उनके महातेजोमय प्रकाण्ड गौर--शरीर को देखकर सब के सब संन्यासी उठ खड़े हुए और श्रीप्रकाशानन्द जी ने कहा—"आइये, आइये ! श्रीपाद ! वहां अपवित्र स्थान पर क्यों बैठ रहे हो ?—बस इतना ही सम्मान श्रीप्रकाशानन्द ने श्रीप्रभु की भेंट किया । सम्मान कहिये या यत्किञ्चित् मूल्य ! परम कृपालु प्रेमावतार श्रीगौराङ्ग सुन्दर जी ने इतने में ही उन्हें सुदुर्लभ अमूल्य वस्तु—श्रीकृष्णप्रेम-भाव प्रदान कर दिया । फिर उन्हें श्रीप्रकाशानन्द से श्रीप्रबोधानन्द बनाकर श्रीवृन्दाबन की परम पुनीत रसमयी भूमि की ओर भेज दिया ।

श्रीसरस्वतीपाद ने अपने उद्‌गारों एवं अनुभूतियों को जिन सरस चित्रों में साधकसमाज के समक्ष्य प्रस्तुत किया है—उससे वैष्णव समाज अपरिचित नहीं है । श्रीसरस्वतीपाद की सम्पूर्ण ग्रन्थमाला-बङ्ग भाषा में प्रकाशित हो चुकी है । उनमें श्रीचैतन्यचन्द्रामृत, श्रीसङ्गीतमाधवादि एवं श्रीवृन्दाबन महिमामृतम् (१ से १७ शतक तक) हिन्दी भाषा में भी प्रकाशित हो चुके हैं । श्रीवृन्दाबन महिमामृत (३–४ शतक) में श्रीसरस्वतीपाद का क्रमबद्ध सम्पूर्ण चरित्र द्रष्टव्य है ।

सेइ तिन सङ्गे चले, प्रभु निषेधिल । दूरे हैते तिनजने घरे पाठाइल ॥१३८॥
प्रभुर विरहे तिने एकत्रे मिलिया । प्रभुगुण गान करे प्रेमे मत्त हैया ॥१३९॥
प्रयागे आसिया प्रभु कैल वेणीस्नान । माधवे देखिया प्रेमे कैल नृत्य गान ॥१४०॥
यमुना देखिया प्रेमे पड़े झांप दिया । आस्ते व्यस्ते भट्टाचार्य उठाय धरिया ॥१४१॥
एइमत तिन दिन प्रयागे रहिला । कृष्णनाम–प्रेम दिया लोक निस्तारिला ॥१४२॥

श्रीचन्द्रशेखर, श्रीतपनमिश्र एवं महाराष्ट्री ब्राह्मण—ये तीनों भी उनके साथ मथुरा चलने लगे, किन्तु श्रीमहाप्रभु जी ने उन्हें निषेध कर दिया और बहुत दूर से उन्हें वापस घर लौटा दिया ।

श्रीमहाप्रभु के विरह में तीनों एकत्रित होकर प्रेम में मत्त होकर गान किया करते। श्रीमहाप्रभु प्रयाग में आए और त्रिवेणी में स्नान किया। श्रीवेणीमाधव भगवान् के दर्शन कर प्रेमोन्मत्त होकर नृत्यगान किया। श्रीयमुना जी के दर्शन करते ही श्रीमहाप्रभु जी प्रेमोन्मत्त होकर यमुना जी में कूद पड़े। जैसे तैसे श्रीवलभद्र भट्टाचार्य जी ने उन्हें पकड़ कर बाहर निकाला। इस प्रकार प्रभु तीन दिन प्रयाग में रहे और वहां लोगों को श्रीकृष्णनाम एवं प्रेम प्रदान कर उनका निस्तार किया ॥१३८—१४२॥

मथुरा चलिते प्रेमे याहां रहि याय। कृष्णनाम प्रेम दिया लोकेरे नाचाय ॥१४३॥
पूर्वे यैछे दक्षिण याइते लोक निस्तारिल। पश्चिम देश तैछे सब वैष्णव करिल ॥१४४॥
पथे याहां याहां हय यमुना-दर्शन। ताहां झांप दिया पड़े-प्रेमे अचेतन ॥१४५॥
मथुरा निकटे आइला, मथुरा देखिया। दण्डवत् हैया पड़े प्रेमाविष्ट हैया ॥१४६॥
मथुरा आसिया कैल विश्रान्ततीर्थे स्नान। जन्मस्थाने केशव देखि करिला प्रणाम ॥१४७॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु मथुरा के मार्ग में जहां जहां निवास करते, वहां के लोगों को श्रीकृष्ण--नाम-प्रेम प्रदान कर उन्हें उन्मत्त कर देते। पहले जिस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने अपनी दक्षिण-यात्रा में लोगों का उद्धार किया, अब पश्चिम देश को भी उसी प्रकार श्रीकृष्णनाम-प्रेम प्रदान कर पुनीत कर दिया। मार्ग में जहां जहां श्रीयमुना के दर्शन होते, वहां-वहां ही वे प्रेमोन्मत्त हो उठते और श्रीयमुनाजी में कूद पड़ते। जब मथुरा के निकट आए तो मथुरा को देखकर प्रभु ने प्रेमाविष्ट होकर दण्डवत् प्रणाम की। मथुरा जी में आकर विश्रान्तघाट पर प्रभु ने स्नान किया और श्रीकृष्ण जन्मभूमि पर श्रीकेशव भगवान् के दर्शन किये एवं उनकी वन्दना की ॥१४३—१४७॥

प्रेमानन्दे नाचे गाये सघन हुङ्कार। प्रभुर प्रेमावेशे देखि लोके चमत्कार ॥१४८॥
एक विप्र पड़े प्रभुर चरण धरिया। प्रभु सङ्गे नृत्य करे प्रेमाविष्ट हैया ॥१४९॥
दोंहे प्रेमे नृत्य करि करे कोलाकुलि। 'हरिकृष्ण कह' दोंहे बोले बाहु तुलि ॥१५०॥
लोक 'हरि हरि' बोले, कोलाहल हैल। केशव सेवक प्रभुके माला पराइल ॥१५१॥

श्रीमहाप्रभु प्रेमोन्मत्त होकर घन--घन हुँकार करते हुए वहां नृत्य गान करने लगे। प्रभु का प्रेमावेश देखकर लोग चमत्कृत हो उठे। मथुरावासी एक ब्राह्मण ने प्रभु के चरणों में प्रणाम की और प्रभु के साथ प्रेमाविष्ट होकर नृत्य करने लगा। दोनों परस्पर गलकण्ठ होकर, भुजाओं को ऊंचा उठाकर हरि--कृष्ण कहो—ऐसा कहकर प्रेमपूर्वक नृत्य करने लगे। सब-लोग मिल कर "हरि--हरि" बोलने लगे और वह मन्दिर नाम--ध्वनि से गूंज उठा। श्रीकेशव जी के पुजारी ने श्रीमहाप्रभु जी को आकर एक प्रसादी माला पहराई ॥१४८—१५१॥

प्रभु देखि लोके कहे हइया विस्मय—। ए रूप ए प्रेम लौकिक कभु नय ॥१५२॥
यांहार दर्शने लोक प्रेमे मत्त हैया। हांसे कान्दे नाचे गाय कृष्णनाम लैया ॥१५३॥
सर्वथा निश्चित इंहो कृष्ण--अवतार। मथुरा आइला लोकेर करिते निस्तार ॥१५४॥
तबे महाप्रभु सेइ ब्राह्मणे लइया। तांहारे पुछिला किछु निभृते वसिया ॥१५५॥

श्रीमहाप्रभु की प्रेमावस्था को देखकर उस पुजारी ने लोगों से कहा- "यह सौन्दर्य और यह प्रेम लौकिक नहीं है, जिनके दर्शन करने मात्र से लोग प्रेमोन्मत्त हो उठते हैं और श्रीकृष्णनाम उच्चारण

कर हंसने, रोने एवं नृत्य करने लगते हैं। यह बात सर्वथा निश्चित है कि ये श्रीकृष्ण का अवतार हैं। लोगों के उद्धार करने के लिये ये मथुरा पधारे हैं। श्रीमहाप्रभु ने उस ब्राह्मण को एकान्त में ले जाकर कुछ जिज्ञासा की— ॥१५२—१५५॥

आर्य्य सरल तुमि वृद्ध ब्राह्मण। काहां हैते पाइले तुमि एइ प्रेमधन ॥१५६॥
विप्र कहे–श्रीपाद श्रीमाधवेन्द्रपुरी। भ्रमिते भ्रमिते आइला मथुरानगरी ॥१५७॥
कृपा करि तेंहो मोर निलये आइला। मोरे शिष्य करि मोरे हाथे भिक्षा कैला ॥१५८॥
गोपाल प्रकट करि सेवा कैल महाशय। अद्यापिह तांर सेवा गोवर्द्धने हय ॥१५९॥
शुनि प्रभु कैल तांर चरणवन्दन। भय पाञा प्रभु–पाय पड़िल ब्राह्मण ॥१६०॥

श्रीमहाप्रभु ने पूछा—"आर्य्य ! आप सरल वृद्ध ब्राह्मण हैं, आपको यह श्रीकृष्ण--प्रेमधन कहाँ से प्राप्त हुआ ? विप्र ने कहा—"प्रभो ! यहां मथुरा में श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी यात्रा करते हुए आये थे। वे कृपाकर मेरे घर पधारे और उन्होंने मुझे अपना शिष्य किया तथा मेरे यहां भोजन स्वीकार किया। उन्होंने यहां श्रीगोपाल जी को प्रकट कर उनकी सेवा की भी व्यवस्था की थी। आज तक उनकी सेवा गोवर्द्धन में चलती है। जब इस प्रकार ब्राह्मण ने कहा तो श्रीमहाप्रभु ने उस ब्राह्मण के चरणों में नमस्कार किया। तब ब्राह्मण भयभीत होकर प्रभु के चरणों में पड़ गया ॥१५६—१६०॥

प्रभु कहे–तुमि गुरु, आमि शिष्यप्राय। गुरु हैया शिष्ये नमस्कार न जुयाय ॥१६१॥
शुनिञा विस्मित विप्र कहे भय पाञा। ऐछे बात कहे केने सन्न्यासी हइया ? ॥१६२॥
किन्तु तोमार प्रेम देखि मने अनुमानि। माधवेन्द्रपुरीर सम्बन्ध धर जानि ? ॥१६३॥
कृष्णप्रेमा ताहां—यहां तांहार सम्बन्ध। तांहा बिना एइ प्रेमार काहां नाहि गन्ध ॥१६४॥
तबे भट्टाचार्य तांरे सम्बन्ध कहिल। शुनि आनन्दित विप्र नाचिते लागिल ॥१६५॥
तब विप्र प्रभु लैया आइल निज घरे। आपन इच्छाय प्रभुर नाना सेवा करे ॥१६६॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"आप तो गुरु हैं, और मैं आप का एक प्रकार शिष्य लगता हूँ। अतः होकर शिष्य को नमस्कार करना आपको नहीं बनता।" प्रभु के वचन सुनकर विप्र विस्मित होगया और गुरु संकुचित होकर कहने लगा—"आप संन्यासी होकर ऐसी बात कैसे कह रहे है ? किन्तु आपके प्रेम को देखकर मैं अवश्य अनुमान कर रहा हूँ कि श्रीमाधवेन्द्रपुरी पाद से आप का कोई सम्बन्ध है। उनके सम्बन्ध के बिना ऐसे प्रेम की गन्ध भी किसी में नहीं आसकती। फिर भट्टाचार्य ने श्रीमाधवेन्द्रपुरी के साथ सम्बन्ध को बताया। जिसे सुनकर वह ब्राह्मण आनन्दपूर्वक नाचने लगा। वह ब्राह्मण श्रीमहाप्रभु को अपने घर ले आया और अपनी इच्छानुरूप प्रभु की सेवा करने लगा ॥१६१—१६६॥

भिक्षा लागि भट्टाचार्यें कराइल रन्धन। तबे महाप्रभु आमि बलिला वचन ॥१६७॥
पुरी गोसाञि तोमार ठाञि करियाछे भिक्षा। मोरे तुमि भिक्षा देह, एइ मोर शिक्षा॥१६८

उस ब्राह्मण ने श्रीमहाप्रभु के लिये श्रीभट्टाचार्य के द्वारा रसोई बनवाई। श्रीमहाप्रभु ने यह देखकर ब्राह्मण से कहा--"श्रीपुरी गोस्वामी ने तुम्हारे घर भोजन किया था—मुझे भी तुम अपने हाथ की भिक्षा कराओ—श्रीपुरी गोस्वामी की मुझे यही शिक्षा है" ॥१६७—१६८॥

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (३—२१)

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ।।१०।।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति भी कहा है—"श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा-जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग भी उसी प्रकार आचरण करते हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति जिस बात को प्रमाणित करते हैं, साधारण लोग भी उसी का अनुसरण करते हैं। (श्रीमहाप्रभु ने कहा—जब श्रीमाधवेन्द्रपुरी ने आपकी रसोई को स्वीकार किया है तो मैं भी उनका अनुसरण करूंगा) ।।१०।।

यद्यपि सनोड़िया हय सेइ त ब्राह्मण। सनोड़िया–घरे सन्यासी ना करे भोजन ।।१६९।।
तथापि पुरी देखि तारे वैष्णव-आचार। शिष्य करि तांर भिक्षा कैल अङ्गीकार ।। १७०।।
महाप्रभु तांरे यदि भिक्षा मागिल। दैन्य करि सेइ विप्र कहिते लागिल ।।१७१।।
तोमारे भिक्षा दिव, बड़ भाग्य से आमार। तुमि ईश्वर नाहितोमार विधि व्यवहार ।।१७२
मूर्खलोक करिवेक तोमार निन्दन। सहिते ना पारिव सेइ दुष्टेर वचन ।।१७३।।

वह ब्राह्मण—सनोड़िया ब्राह्मण था। सनोड़ियों के घर संन्यासी भोजन नहीं करते थे। तथापि श्रीपुरी गोस्वामी जी ने उसका वैष्णव-आचरण देखकर उसे दीक्षा दे दी थी और उसे वैष्णव बनाकर उसके घर भोजन भी कर लिया था। (क्योंकि वैष्णव होने पर जीव की जाति बदल जाती है और वह भगवद्भक्त ही हो जाता है।) जब श्रीमहाप्रभु ने उस ब्राह्मण से भिक्षा मांगी तो वह ब्राह्मण दीनता-पूर्वक कहने लगा—"मैं आपको भिक्षा कराऊंगा, मेरे बड़े भाग्य हैं। आप ईश्वर हो, आपके लिये विधि-निषेध कुछ भी नहीं है। केवल इतनी बात है कि मूर्ख लोग आपकी इसमें निन्दा करेंगे और मैं उन दुष्ट वचनों को सहन नहीं कर पाऊंगा ।।१६९—१७३।।

प्रभु कहे–श्रुति स्मृति यत ऋषिगण। सब एकमत नहे भिन्न भिन्न धर्म ।।१७४।।
धर्म स्थापन-हेतु साधु व्यवहार। पुरी गोसाञिर आचरण, सेइ धर्म सार ।।१७५।।

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"श्रुति, स्मृति तथा ऋषिगण इन सब का भिन्न-भिन्न मत है, (जिससे कोई भी एक पथ निर्णय नहीं कर पाता।) इसलिये साधु पुरुषों का आचरण ही धर्मस्थापन का आदर्श होता है। श्रीपुरी गोस्वामी का जो आचरण है—वही धर्म का सार है ।।१७४—१७५।।

चै० च० चु० *टीका:*—यहां एक बात आलोचनीय है—प्रत्येक सम्प्रदाय में ही साधु एवं महा-पुरुष हैं। किन्तु हर साधक के लिये हर एक महापुरुष का आचरण सब समय ही आचरणीय हो—ऐसी बात नहीं है। भक्तिमार्ग के साधक को भक्ति-मार्ग के ही अथवा अपने सम्प्रदाय के ही महापुरुष का आचरण सदा अनुसरणीय हैं। उसमें भी यदि वह आचरण शास्त्र द्वारा अनुमोदित हो, तो अनुसरणीय है, वरना नहीं। सामाजिक दृष्टिकोण से कोई आचरण यदि निषिद्ध है, किन्तु भक्ति मार्ग के साधक के लिये भक्तिशास्त्र से अनुमोदित होने पर वह आचरणीय हो सकता है। जैसा कि हम इस प्रसङ्ग में देखते हैं। सनोड़िया ब्राह्मण जाति के हाथ का भोजन सामाजिक दृष्टि से उस समय निषिद्ध माना जाता था, किन्तु जब वह ब्राह्मण दीक्षित होकर वैष्णव हो गया एवं उसका आचरण भी वैष्णवोचित होगया, तब उसके हाथ की भिक्षा सामाजिक मर्यादा से बहुत ऊंचे उठे हुए श्रीपुरी गोस्वामी जी के लिये कुछ भी बाधक नहीं रह सकी।

उपर्युक्त पयारों के प्रमाण--स्वरूप महाभारतपुराण का एक श्लोक उद्धृत करते हैं—

तथाहि महाभारते, बनपर्वणि (३—१३—११७)

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥११॥

तर्क द्वारा तत्त्व का निर्णय नहीं किया जा सकता, समस्त श्रुतियों का मत भिन्न-भिन्न है, जिसका भिन्न मत न हो—ऐसा कोई ऋषि नहीं है और धर्म-तत्त्व अति गूढ़ स्थानीय है, इसलिये महाजनों (पूर्वाचार्यगणों) ने जिस पथ का आचरण किया है, उसी पथ का ही अवलम्बन करना चाहिये ॥११॥

तबे सेइ विप्र प्रभुके भिक्षा कराइल । मधुपुरीर लोक प्रभुके देखिते आइल ॥१७६॥
लक्ष्यसंख्य लोक आइसे नाहिक गणन । बाहिर हइया प्रभु दिल दरशन ॥१७७॥
बाहु तुलि बोले प्रभु 'बोल हरि हरि' । प्रेमे मत्त नाचे लोक हरिध्वनि करि ॥१७८॥
यमुनार चब्बिश-घाटे प्रभु कैल स्नान । सेइ विप्र प्रभुके देखाय तीर्थस्थान ॥१७९॥
स्वयम्भु, विश्राम, दीर्घविष्णु, भूतेश्वर । महाविद्या गोकर्णादि देखिल सकल ॥१८०॥

तदनन्तर उस ब्राह्मण ने श्रीमहाप्रभु को भिक्षा कराई और मथुरावासी सब लोग श्रीमहाप्रभु के दर्शन करने आए । असंख्य लोगों ने आकर प्रभुके दर्शन किये, श्रीमहाप्रभु कमरे से बाहर आकर बिराजमान होगये, जिससे सब ने जी भर कर दर्शन किया । श्रीमहाप्रभु जी भुजाएं उठाकर सब से कहते "हरि--हरि बोलिये" । सब लोग उच्च हरिध्वनि करते हुए नृत्य करने लगते । श्रीमहाप्रभु ने श्रीयमुना के चौबीस घाटों पर स्नान किया और उस ब्राह्मण ने सब स्थानों के दर्शन प्रभु को कराये । प्रभु ने—स्वयंभु विश्राम, दीर्घविष्णु, भूतेश्वर, महाविद्या एवं गोकर्णादि सब मन्दिर--स्थानों के भी दर्शन किये ॥१७६-१८०॥

बन देखिवारे यदि प्रभुर मन हैल । सेइ त ब्राह्मण निज सङ्गे करि लैल ॥१८१॥
मधुवन ताल-कुमुद-बहुला बन गेला । ताहां ताहां स्नान करि प्रेमाविष्ट हैला ॥१८२॥
पथे गावीघटा चरे—प्रभुके देखिया । प्रभुके वेढ़य आसि हुङ्कार करिया ॥१८३॥
गावी देखि स्तब्ध प्रभु प्रेमेर तरङ्गे । वात्सल्ये गावी प्रभुर चाटे सब अङ्गे ॥१८४॥
सुस्थ हञा प्रभु करे अङ्ग कण्डूयन । प्रभु सङ्गे चले, नाहि छाड़े धेनुगण ॥१८५॥
कष्टे-सृष्टे धेनु सब राखिल गोयाल । प्रभुकण्ठध्वनि शुनि आइसे मृगीपाल ॥१८६॥

श्रीमहाप्रभु जी का मन जब बन--शोभा देखने को उत्कण्ठित हुआ तो उस ब्राह्मण को अपने साथ ले लिया । मधुवन, तालबन, कुमुदबन, बहुलाबन में प्रभु गये और सब स्थानों पर स्नान किया एवं प्रेमाविष्ट हो उठे । रास्ते में गौएं चर रहीं थीं, प्रभु को देखकर वे प्रभु के चारों ओर उन्हें घेर करके हुङ्कार करती हुई खड़ी होगईं । श्रीमहाप्रभु गौओं को देखकर प्रेम में स्तब्ध होगये और गौएं वात्सल्य भाव से प्रभु के अङ्गों को चाटने लगीं । प्रभु ने स्वस्थ होकर गौओं के गलदेश को खुजाया और वे प्रभु के साथ साथ चलने लगीं । बहुत यत्नपूर्वक गोपालों ने गौओं को रोका । श्रीमहाप्रभु की कण्ठध्वनि को सुनकर वहां मृग एकत्रित होगये ॥१८१ - १८६॥

मृग–मृगी मुख देखि प्रभु–अङ्ग चाटे । भय नाहि करे–सङ्गे याय बाटे–बाटे ॥१८७॥
अङ्गेर सौरभे मृग–मृगी–शृङ्ग उठे । कृपा करि प्रभु हस्त दिला तार पिठे ॥१८८॥
पिक भृङ्ग प्रभुके देखि पञ्चम गाय । शिखिगण नृत्य करि प्रभु आगे याय ॥१८९॥
प्रभु देखि वृन्दाबनेर वृक्षलतागण । अङ्कुर पुलक, मधु अश्रु वरिषण ॥१९०॥
फूल-फल भरि डाल पड़े प्रभु पाय । बन्धु देखि बन्धु येन भेट लञा याय ॥१९१॥

मृगी एवं मृगगण श्रीमहाप्रभु को देखकर उन के अङ्ग चाटने लगे । प्रभु से मृगगण कुछ भी भय न करते, प्रभु के साथ साथ वे चले जाते । प्रभु के श्रीअङ्ग की सौरभ को पाकर मृगगण अपने सींगों को ऊपर उठाते और प्रभु कृपाकर उनकी पीठ पर हाथ फेरने लगते । कोकिला एवं मधुकरगण प्रभु को आया देख कर पञ्चम स्वर में गाने लगे और-मोरगण नृत्य करते हुए प्रभु के आगे चल रहे थे । श्रीमहाप्रभु को देखकर श्रीवृन्दावन के वृक्ष एवं लताएं अङ्कुरित—पुलकित हो उठीं, उनसे मकरन्द प्रवाहित होने लगा मानो वे प्रेम में अश्रु प्रवाहित कर रहे थे । अपनी फूल--फलों से लदी हुई डालों से वे प्रभु का चरण--स्पर्श कर रहे थे । जैसे मानो बन्धु को बन्धु मिलते समय भेंट उपस्थित कर रहे थे ॥१८७—१९१॥

प्रभु देखि वृन्दाबनेर स्थावर जङ्गम । आनन्दित–वन्धु येन देखे बन्धुगण ॥१९२॥
ता सभार प्रीति देखि प्रभु भावावेशे । सभासने क्रीड़ा करे हञा तार वशे ॥१९३॥
प्रतिवृक्षलता प्रभु करे आलिङ्गन । पुष्पादि ध्याने करेन कृष्ण समर्पण ॥१९४॥
अश्रु कम्प पुलक प्रेमे शरीर अस्थिरे । 'कृष्ण बोल कृष्ण बोल' बोले उच्चस्वरे ॥१९५॥
स्थावर जङ्गम मिलि करे कृष्णध्वनि । प्रभुर गम्भीर स्वरे येन प्रतिध्वनि ॥१९६॥
मृगेर गला धरि प्रभु करेन रोदन । मृगेर पुलक अङ्ग–अश्रु–नयन ॥१९७॥

श्रीवृन्दावन के स्थावर जंगम श्रीमहाप्रभुजी को देखकर आनन्दित हो उठे--मानो बिछुड़े हुए बन्धु परस्पर मिल रहे हों । उन सब की प्रीति को देखकर श्रीमहाप्रभु भावावेश में मानो उन सब के आधीन होकर क्रीड़ा करने लगे । प्रति वृक्ष, प्रति लता को श्रीगौराङ्ग आलिङ्गन करने लगे और ध्यान में पुष्पों को श्रीकृष्ण के अर्पण करने लगे । श्रीमहाप्रभु जी अश्रु, कम्प, पुलकादिक प्रेम के सात्विक विकारों से अस्थिर होगये और उच्चस्वर से 'बोलकृष्ण--बोलकृष्ण' उच्चारण करने लगे । श्रीवृन्दावन का स्थावर--जङ्गम उस समय कृष्ण--ध्वनि कर रहा था ! मानो प्रभु की गम्भीर--ध्वनि का प्रत्योत्तर दे रहे थे । मृगों को गलकण्ठ कर प्रभु रो रहे थे और मृगोंके भी अङ्गोंमें पुलकावली एवं नेत्रों से प्रेमाश्रु प्रवाहित हो रहे थे ।

वृक्ष डाले शुक–शारी दिल दरशन । ताहा देखि प्रभुर किछु सुनिते हैल मन ॥१९८॥
शुक–शारिका प्रभुर हाथे उड़ि पड़े । प्रभुके शुनाञा कृष्णेर गुण श्लोक पढ़े ॥१९९॥

वृक्षों की डालों पर शुक एवं शारिका दिखाई दे रही थीं, उन्हें देखकर प्रभु का मन उनसे कुछ सुनने को हुआ । शुक--शारिका उड़कर झट श्रीमहाप्रभु के हाथ पर आ बैठीं और प्रभु को श्रीकृष्ण--गुणात्मक निम्नलिखित श्लोक पढ़ कर सुनाने लगीं ॥१९८—१९९॥

तथाहि श्रीगोविन्दलीलामृते (१३—२९)

सौन्दर्य्यं ललनालिधैर्य्यदलनं लीलारमास्तम्भिनी
वीर्य्यं कुन्दुकिताद्रिवर्य्यममलाः पारेपरार्द्धं गुणाः ।

शीलं सर्वजनानुरञ्जनमहो यस्यायमस्मत्प्रभुर्विश्वं
विश्वजनीनकीर्त्तिरवतात् कृष्णो जगन्मोहनः ॥१२॥

शुक ने कहा—"जिन का सौन्दर्य ललनागणों के धैर्य्य को दलन करता है, जिन की लीला वैकुण्ठाधीश्वरी श्रीलक्ष्मीजी को स्तम्भित कर देती है, जिन का बल पर्वतराज गोवर्द्धन को भी गेंद की भाँति कर देता है, जिन के समस्त गुण अनन्त एवं निर्मल हैं, जिनका स्वभाव सब को सुखी करने वाला है, एवं जिनकी कीर्त्ति विश्वजनों की मंगल करने वाली है, वे हमारे प्रभु जगमोहन--श्रीकृष्ण विश्व की रक्षा करें" ॥१२॥

शुकमुखे शुनि तबे कृष्णोर वर्णन ।
शारिका पढ़ये तबे राधिका वर्णन ॥२००॥

शुक के मुख से श्रीकृष्ण का गुणानुवाद सुनकर शारिका श्रीराधिका जी के गुणों को वर्णन करने लगी ॥२००॥

तथाहि श्रीगोविन्दलीलामृते (१३—३०)

श्रीराधिकायाः प्रियता सुरूपता सुशीलता नर्त्तन–गान--चातुरी ।
गुणालिसम्पत् कविता च राजते जगन्मनोमोहन-—चित्तमोहिनी ॥१३॥

शारिका ने कहा—"हे शुक ! हमारी श्रीराधिका जी का प्रेम, सौन्दर्य, सुशीलता, नृत्य, गीत, चातुरी, गुणसम्पत्ति तथा कवित्व—इनमें प्रत्येक ही जगन्मोहन श्रीकृष्ण के चित्त को मोहित करके सुशोभित हो रहा है" ॥१३॥

पुन शुक कहे—कृष्ण मदनमोहन ।
तबे आर श्लोक शुक करिल पठन ॥२०१॥

शारिका के बचन सुनकर फिर शुक बोला—"शारिके ! हमारे श्रीकृष्ण मदन मोहन हैं ।" एक श्लोक रचना करके शुक कहने लगा ॥२०१॥

तथाहि श्रीगोविन्दलीलामृते

वंशीधारो जगन्नारो-चित्तहारी स शारिके ।
बिहारी गोपनारीभिर्जीयान्मदनमोहनः ॥१४॥

शारिके ! वंशीधारी, जगत्–नारी चित्तहारी, गोपनारी--बिहारी श्रीमदनमोहन की जय हो ॥१४॥

पुन शारी कहे शुके करि परिहास ।
एत शुनि प्रभुर हैल विस्मय प्रेमोल्लास ॥२०२॥

फिर शारी, शुक का परिहास करते हुए निम्नलिखित श्लोक बोली, जिसे सुनकर श्रीमहाप्रभु को विस्मय एवं प्रेमोल्लास हुआ ॥२०२॥

तथाहि तत्रैव—(८—३५)—

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः ।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः ॥१५॥

शारिका ने कहा—"अरे शुक ! श्रीकृष्ण जब श्रीराधिका जी के साथ रहते हैं तभी वे (श्रीराधा जी के प्रभाव से) मदन को मोहित करने में समर्थ होते हैं, अन्यथा वे विश्व को मोहित करने वाले होते हुए भी मदन से मोहित हो जाते हैं" ॥१५॥

शुक–शारी उड़ि पुन गेला वृक्ष–डाले । मयूरेर नृत्य प्रभु देखे कुतूहले ॥२०३॥
मयूरेर कण्ठ देखि कृष्णस्मृति हैला । प्रेमावेशे महाप्रभु भूमिते पड़िला ॥२०४॥
प्रभुके मूर्च्छित देखि सेइ त ब्राह्मण । भट्टाचार्य-सङ्गे करे प्रभु–सन्तर्पण ॥२०५॥
आस्तेव्यस्ते महाप्रभुर लञा बहिर्वास । जलसेक करे अङ्गे वस्त्रेर वातास ॥२०६॥
प्रभु कर्णे 'कृष्णनाम' कहे उच्च करि । चेतन पाइया प्रभु यान गड़ागड़ि ॥२०७॥

इतना कहकर शुक एवं शारिका उड़कर वृक्ष की डाल पर चले गये और प्रभु मोर का नृत्य आनन्द पूर्वक देखने लगे । मोर के नीलकण्ठ को देखकर उन्हें श्रीकृष्णस्मृति उदय हो आई और प्रेमावेश में श्रीमहाप्रभु पृथ्वी पर गिर पड़े ! प्रभु को मूर्च्छित अवस्था में देखकर वह ब्राह्मण एवं श्रीबलभद्रभट्टाचार्य दोनों मिल कर प्रभु की सेवा करने लगे । अतिशीघ्र श्रीमहाप्रभु जी का ही बहिर्वास लेकर पानी से भिगो कर प्रभु के माथे पर जल पट्टी एवं जल को सींचने लगे और एक वस्त्र से हवा करने लगे ताकि प्रभु चेतन हों । श्रीमहाप्रभु के कानों में उच्चस्वर से श्रीकृष्णनाम कहा जिससे श्रीप्रभु को चेतनता तो हुई किन्तु पृथ्वी पर वे लोटने लगे ॥२०३—२०७॥

कण्टक–दुर्गमबने अङ्ग क्षत हैल । भट्टाचार्य कोले करि प्रभु सुस्थ कैल ॥२०८॥
कृष्णावेशे प्रभुर प्रेमे गरगर मन । 'बोल बोल' करि उठि, करेन नर्त्तन ॥२०९॥
भट्टाचार्य सेइ विप्र 'कृष्णनाम' गाय । नाचिते नाचिते पथे प्रभु चलि याय ॥२१०॥
प्रभुर प्रेमावेशे देखि ब्राह्मण विस्मित । प्रभुर रक्षा लागि विप्र हइला चिन्तित॥२११॥
नीलाचले छिला यैछे प्रेमावेश–मन । वृन्दाबने याइते पथे हैल शतगुण ॥२१२॥
सहस्रगुण प्रेम बाढ़े मथुरा-दर्शने । लक्षगुण प्रेम बाढ़े भ्रमें यवे बने ॥२१३॥
अन्यदेशे प्रेम उछले 'वृन्दाबन' नामे । साक्षात् भ्रमये एबे सेइ वृन्दाबने ॥२१४॥

वह कण्टक-युक्त दुर्गम बन था, प्रभु के अङ्ग घायल हो गये । श्रीभट्टाचार्यजी ने प्रभु को अङ्क में उठा लिया और स्वस्थ किया । श्रीमहाप्रभु का मन श्रीकृष्णप्रेमावेश में बैठा जा रहा था । कुछ देर के बाद "बोल, कृष्ण बोल" कहकर प्रभु उठ खड़े हुए और नृत्य करने लगे । श्रीभट्टाचार्य तथा वह ब्राह्मण 'कृष्णनाम' गान करने लगे । प्रभु नृत्य करते हुए चलने लगे । श्रीमहाप्रभु का प्रेमावेश देखकर मथुरा-वासी ब्राह्मण को बहुत विस्मय हुआ और प्रभु की रक्षा के लिये कि कहीं वे फिर न गिर पड़ें, वह बहुत चिन्ता करने लगा । श्रीमहाप्रभु के मन का प्रेमावेश जैसे नीलाचल में रहता था, श्रीवृन्दाबन की ओर चलते समय मार्ग में वह शतगुणा बढ़ गया था । वह प्रेम मथुरा जी को देखते ही हजार गुणा बढ़ गया और जब श्रीवृन्दाबन में प्रभु घूम रहे थे, वह प्रेम लाखगुणा वर्द्धित हो उठा । ऐसा क्यों न होता ? जब अन्य देश में रहते हुए श्रीवृन्दाबन का नाम मात्र लेने से ही प्रेम उमड़ उठता था, अब तो प्रभु साक्षात् श्रीवृन्दाबन में घूम रहे थे ॥२०८—२१४॥

प्रेमे गरगर मन रात्रि-दिवसे। स्नान-भिक्षादि निर्वाह करेन अभ्यासे ॥२१५॥
एइमत प्रेम--यावत् भ्रमिला बार-बन। एकत्र लिखिल, सर्वत्र ना याय वर्णन ॥२१६॥
वृन्दावने हैल प्रभुर यतेक विकार। कोटिग्रन्थे अनन्त लिखे ताहार विस्तार ॥२१७॥
तबु लिखिवारे नारे तार एक कण। उद्देश करिते करि दिग्दरशन ॥२१८॥
जगत भासिल चैतन्यलीलार पाथारे। यार यत शक्ति तत पाथारे सांतारे ॥२१९॥
श्रीरूप--रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२२०॥

श्रीमहाप्रभु का मन रात दिन प्रेमाविष्ट रहता और अभ्यास के कारण वे स्नान--भिक्षादि करते रहते, परन्तु और स्थान-कालादि का कुछ भी उन्हें अनुसन्धान न रहता था। इसी प्रकार जब तक प्रभु ब्रज के बारह बनों में भ्रमण करते रहे तब तक उनकी यह अवस्था रही। उस का वर्णन यहाँ एक साथ ही मैंने कर दिया है। पृथक्-पृथक् स्थानों का विवरण वर्णन नहीं हो सकता। श्रीवृन्दाबन में जो सात्विक विकारों की प्रबलता श्रीमहाप्रभु में प्रकाशित हुई--उसका वर्णन यदि विस्तारपूर्वक श्रीअनन्त कोटि ग्रन्थों में भी करें, तो वे भी उसके एक बिन्दु का भी वर्णन नहीं कर सकते। श्रीकविराज कहते हैं केवल उसका इङ्गित मात्र करने के लिये यहाँ मैंने उसका दिग्दर्शन कराया है। जगत् में श्रीचैतन्य--लीलारूप एक गम्भीर समुद्र प्रवाहित हो रहा है, जिसकी जितनी शक्ति है, वह उतनी ही इसमें डुबकी ले सकता है। श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥२१५--२२०॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां
श्रीवृन्दाबनगमनं-नाम सप्तदश-परिच्छेदः ॥१७॥

॥ मध्यलीला--प्रथम खण्ड समाप्त ॥

जयगौर

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

मध्य-लीला

द्वितीय-खण्ड

अष्टादश परिच्छेद

★

वृन्दाबने स्थिरचरान् नन्दयन् स्वावलोकनैः ।
आत्मानञ्च तदालोकाद्गौराङ्गः परितोऽभ्रमत् ॥१॥

श्रीवृन्दाबन में (जिन) श्रीगौराङ्गसुन्दर ने अपना दर्शन देकर स्थावर-जङ्गमादिक को आनन्दित किया एवं स्वयं स्थावर-जङ्गमादि के दर्शन करके (जिन श्रीगौराङ्ग ने) आनन्दित होकर सर्वत्र भ्रमण किया, (मैं उनको नमस्कार करता हूँ)॥१॥

इस अष्टादश-परिच्छेद में श्रीमन्महाप्रभु का श्रीवृन्दाबन में भ्रमण, श्रीश्रीश्यामकुण्ड-राधाकुण्ड का आविष्कार, नन्दीश्वर (नन्दगांव) में श्रीनन्द--यशोदा--सहित श्रीकृष्णमूर्ति का आविष्कार, श्रीगोपाल--दर्शन, श्रीवृन्दाबन से लौट कर पुनः प्रयाग--गमन, प्रयाग के मार्ग में म्लेच्छ पठान लोगों के प्रति श्रीमहाप्रभु की कृपा आदिक लीलाएं वर्णन की गई हैं ।

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
एइमत महाप्रभु नाचिते नाचिते । आरिटग्रामे आसि बाह्य हैल आचम्बिते ॥२॥
आरिटे राधाकुण्ड वार्त्ता पुछे लोकस्थाने । केहो नाहि कहे,सङ्गेर ब्राह्मण ना जाने ॥३॥
तीर्थ लुप्त जानि प्रभु सर्वज्ञ भगवान् । दुइ धान्यक्षेत्रे अल्पजले कैल स्नान ॥४॥
देखि सब ग्राम्यलोकेर विस्मय हैल मन । प्रेमे प्रभु करे राधाकुण्डेर स्तवन— ॥५॥
सब गोपी हैते राधा कृष्णेर प्रेयसी । तैछे-राधाकुण्ड प्रिय-प्रियार सरसी ॥६॥

श्रीश्रीगौराङ्गसुन्दरदेव की जय हो, जय हो, श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु को जय हो । श्रीअद्वैताचार्य प्रभु की जय हो, तथा श्रीगौराङ्ग--भक्तवृन्द की जय हो । इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी नृत्य करते करते आरिट गांव में आये और उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ । आरिट गांव में श्रीमहाप्रभु ने लोगों से श्रीराधाकुण्ड के सम्बन्ध में पूछा कि श्रीराधाकुण्ड कहां है ? प्रभु के वचन सुन कर कोई भी श्रीराधाकुण्ड के सम्बन्ध में कुछ बता न सका । कोई जानता भी न था, श्रीमहाप्रभु के साथ जो माथुर-ब्राह्मण था वह भी कुछ न बता सका । श्रीमहाप्रभु जान गये कि श्रीराधाकुण्ड तीर्थ स्थान लुप्त हो चुका है । किन्तु वे सर्वज्ञ भगवान् हैं, वे जान गये कि वहां जो दो धान्य के खेत हैं, उसी स्थान पर श्रीराधाकुण्ड एवं श्रीश्यामकुण्ड हैं ।

अतः प्रभु ने उन धान्य के खेतों में खड़े हुए थोड़े थोड़े जल में स्नान किया। प्रभु की इस लीला को देख कर गाँव वासियों को आश्चर्य हुआ। किन्तु श्रीमहाप्रभु वहां प्रेमपूर्वक श्रीराधाकुण्ड की स्तुति करने लगे। सब गोपियों में श्रीराधाजी जैसे श्रीश्यामसुन्दर को अति प्यारी हैं, उसी प्रकार श्रीराधाजी का श्रीराधाकुण्ड भी उन्हें अति प्यारा है ॥१—६॥

चै० च० चु० *टीका:*—जिस स्थान पर श्रीकृष्ण ने बछड़े का रूप धारण किए हुए अरिष्टासुर का वध किया था, उस स्थान का नाम 'अरिष्ट-गांव' या आरिष्ट-गांव है। श्रीश्यामसुन्दर जब अरिष्टासुर का बध कर चुके तो वे कौतुकवशतः श्रीराधाजी के पास खेलने चले आए एवं उन्हें स्पर्श करने लगे। श्रीराधा जी तत्क्षण पीछे हट गईं और बोलीं—"आप हमसे परे रहिये, अरिष्ट-असुर ने बछड़े का रूप धारण किया और आपने उसका बध कर दिया है, आपने तो एक प्रकार गोवध किया है। आप अपवित्र हो गये हो। आप पहले समस्त तीर्थों का स्नान करके पवित्र होकर आओ, फिर हमसे खेलना एवं हमें छूना।" श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधा जी के वचन सुन कर मन्द मुस्काते हुए बोले—"मैं यहां ही सब तीर्थों को बुलाता हूँ और आपके सामने स्नान करता हूँ।" इतना कहकर भगवान् ने कौतुकवश वहां पृथ्वी पर अपना एक चरण प्रहार किया। उनकी ऐश्वर्यशक्ति के प्रभाव से वहां एक कुण्ड सा बन गया और सब के देखते देखते समस्त तीर्थों के जल से परिपूर्ण हो गया। सब तीर्थों ने वहाँ आकर अपना अपना परिचय दिया और भगवान् की स्तुति की। श्रीश्यामसुन्दर ने श्रीराधा जी एवं समस्त सखियों के सामने उसमें स्नान किया। उस कुण्ड का नाम "**अरिष्टकुण्ड**" या "**श्रीश्यामकुण्ड**" आज तक विख्यात है।

श्रीश्यामसुन्दर ने इस लीला से गौ-माता के स्वरूप की पवित्रता एवं परम पूज्यता का भी आदर्श स्थापन किया। यदि एक राक्षस भी गौ का कपट-रूप धारण करके आया तो उसके वध में भी गोपियों ने गोवध के पाप की आशंका उठा दी। श्रीभगवान् परम पुण्य स्वरूप हैं, किन्तु उन्होंने एक आदर्श स्थापन करने के लिये उसका प्रायश्चित किया एवं गो-वध के निरोध की शिक्षा स्थापन की।

श्रीश्यामसुन्दर की चातुरी को देखकर श्रीराधा जी भी अपनी सखियों सहित श्रीश्यामकुण्ड की पश्चिम ओर एक दूसरे कुण्ड को खोदने लगीं। श्रीराधा जी की ऐश्वर्यशक्ति के प्रभाव से वहां भी एक दूसरा कुण्ड बन गया। सर्व तीर्थमयी मानसीगङ्गा के जल से सखीगण उसे पूर्ण करने की इच्छा ही कर रही थीं कि श्रीश्यामसुन्दर ने सब तीर्थों को उस कुण्ड को भरने का आदेश दिया और समस्त तीर्थों ने श्रीश्यामकुण्ड के जल से उस कुण्ड को भी परिपूर्ण कर दिया वे श्रीराधा जी की भी स्तुति करने लगे। वह कुण्ड आज तक "**श्रीराधाकुण्ड**" या "**श्रीकुण्ड**" के नाम से सुप्रसिद्ध है।

श्रीश्यामसुन्दर को श्रीराधा जी के समान उनका श्रीराधाकुण्ड प्रिय है, उसका प्रमाण निचले श्लोक में उल्लिखित करते हैं—

तथाहि श्रीलघुभागवतामृते उत्तरखण्डे (४५) पद्मपुराणवचनम्

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ॥२॥

समस्त गोपसुन्दरियों में जिस प्रकार श्रीराधा जी श्रीकृष्ण को अत्यन्त प्रिय हैं, उसी प्रकार श्रीराधाजी का श्रीराधाकुण्ड भी उन्हें अति प्रिय है ॥२॥

येइ कुण्डे नित्य कृष्ण राधिकार सङ्गे । जले जलकेलि करे, तीरे रासरङ्गे ॥७॥
सेइ कुण्डे येइ एकबार करे स्नान । तारे राधा-सम-प्रेम कृष्ण करे दान ॥८॥
कुण्डेर माधुरी येन राधार मधुरिमा । कुण्डेर महिमा येन राधार महिमा ॥९॥

श्रीराधाकुण्ड में श्रीकृष्ण नित्य श्रीराधाजी के साथ जलकेलि करते हैं और इसके किनारे नित्य रास-क्रीड़ा करते हैं । श्रीराधाकुण्ड में जो कोई भी एकबार स्नान करता है, उसे श्रीकृष्ण श्रीराधाजी का सा प्रेम प्रदान करते हैं अर्थात् श्रीराधाजी का जैसे स्वसुख-वासना-शून्य, कृष्ण--सुखैकतत्पर्यमय कान्ताप्रेम श्रीकृष्ण के प्रति है, उसे वही प्रेम प्रदान करते हैं । श्रीराधाकुण्ड की माधुरी श्रीराधा जी की मधुरिमा जैसी है और इस कुण्ड की महिमा भी श्रीराधाजी की महिमा के समान है जैसा कि— श्रीगोविन्दलीलामृत में कहा गया है ॥७—९॥

तथाहि श्रीगोविन्दलीलामृते (७—१०२)

श्रीराधेव हरेस्तदीयसरसी प्रेष्ठाद्भुतैः स्वैर्गुणै—
र्यस्यां श्रीयुतमाधवेन्दुरनिशं प्रीत्या तया क्रीड़ति ।
प्रेमास्मिन् वत राधिकेव लभते यस्यां सकृत् स्नानकृत्
तस्या वै महिमा तथा मधुरिमा केनास्तु वर्ण्यः क्षितौ ॥३॥

अपने असाधारण तथा सर्वजन-चमत्कारी गुणों के कारण श्रीराधाकुण्ड, श्रीराधाजी की भाँति ही श्रीकृष्ण को अतीव प्यारा है, ब्रज के पूर्णचन्द्र-माधव (श्रीकृष्ण) प्रियतमा श्रीराधा जी के सहित इस कुण्ड में प्रेमपूर्वक निरन्तर जलकेलि किया करते हैं, इस कुण्ड में जो केवल एकबार मात्र स्नान करता है वह श्रीकृष्ण में श्रीराधाजी जैसा प्रेम प्राप्त करता है । इसलिये श्रीराधाकुण्ड की महिमा एवं माधुरी पृथ्वीतल पर कौन वर्णन करने में समर्थ हो सकता है ? ॥३॥

एइमत स्तुति करे प्रेमाविष्ट हइया । तीरे नृत्य करे कुण्ड लीला स्मङ्रिया ॥१०॥
कुण्डेर मृत्तिका लञा तिलक करिल । भट्टाचार्य द्वारा मृत्तिका सङ्गे करि लैल ॥११॥
तबे चलि आइला प्रभु सुमनःसरोवर । ताहां गोवर्द्धन देखि हइला विह्वल ॥१२॥
गोवर्द्धन देखि प्रभु हैला दण्डवत । एक शिला आलिङ्गिया हइला उन्मत्त ॥१३॥
प्रेमे मत्त चलि आइला गोवर्द्धन ग्राम । हरिदेव देखि ताहां हइला प्रणाम ॥१४॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी ने प्रेमाविष्ट होकर श्रीराधाकुण्ड की स्तुति की और उसके तीर पर श्रीराधाकुण्ड की लीला स्मरण करते हुए उन्होंने बहुत काल तक नृत्य गान किया । श्रीराधाकुण्ड की रज लेकर प्रभु ने माथे पर उसका तिलक किया और भट्टाचार्य को आज्ञा दी कि श्रीराधाकुण्ड की रज साथ बाँध कर ले चलो । तदनन्तर श्रीमहाप्रभु वहाँ से चलकर मानसी गङ्गा पर आए और श्रीगिरिराज के दर्शन करके विह्वल हो उठे । श्रीगिरिराज को देखकर प्रभु ने दण्डवत् प्रणाम की और एक शिला को उठाकर आलिङ्गन किया । उसे आलिङ्गन करते ही प्रभु उन्मत्त हो उठे । उसी उन्मत्त अवस्था में श्रीमहाप्रभु गोवर्द्धन गांव में चले आए और श्रीहरिदेव (श्रीनारायण-मूर्त्ति) के दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया ।

मथुरा-पद्मेर पश्चिम दले यार वास । हरिदेवनारायण आदि परकाश ॥१५॥
हरिदेव-आगे नाचे प्रेमे मत्त हैया । सबलोक देखिते आइसे आश्चर्य शुनिया ॥१६॥
प्रभु प्रेम-सौन्दर्य देखि लोक चमत्कार । हरिदेवेर भृत्य प्रभुर करिल सत्कार ॥१७॥
भट्टाचार्य ब्रह्मकुण्डे पाक याञा कैल । ब्रह्मकुण्डे स्नान करि प्रभु भिक्षा कैल ॥१८॥
से-रात्रि रहिला हरिदेवेर मन्दिरे । रात्र्ये महाप्रभु करे मनेते बिचारे ॥१९॥
गोवर्द्धन-उपरे आमि कभु ना चढ़िव । गोपालरायेर दर्शन केमने पाइव ? ॥२०॥
एत मने करि प्रभु मौन करि रहिला । जानिञा गोपाल किछु भङ्गी उठाइला ॥२१॥

श्रीमथुरा मण्डल या श्रीव्रजमण्डल जो कमल के आकार का है उसके पश्चिम ओर में श्रीहरिदेव-नारायण अनादिकाल से विराजमान हैं। श्रीमहाप्रभु जी श्रीहरिदेव के आगे प्रेम में उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे और उनके आश्चर्यजनक नृत्य की बात सुन कर वहां असंख्य लोग एकत्रित होगये। श्रीमहाप्रभु के प्रेम एवं सौन्दर्य को देखकर सब लोग चमत्कृत हो उठे। श्रीहरिदेव के पुजारी ने श्रीमहाप्रभु जी को माला-प्रसाद देकर सम्मानित किया। श्रीबलभद्र भट्टाचार्य ने निकटवर्त्ती ब्रह्मकुण्ड पर जाकर रसोई तैयार की और प्रभु ने भी ब्रह्मकुण्ड पर जाकर स्नान किया एवं भिक्षा की। उस दिन रात को प्रभु श्रीहरिदेव जी के मन्दिर में रहे और रात को श्रीमहाप्रभु मन ही मन विचार करने लगे—"कि श्रीगिरिराज के ऊपर मैं तो कभी चढ़ूँगा नहीं, किन्तु श्रीगोपालराय जो श्रीगिरिराज पर विराजमान हैं उनके मुझे दर्शन कैसे हो सकेंगे ?" इस प्रकार मन में चिन्ता करते हुए मौन होकर रह गये। किन्तु भक्तवत्सल श्रीगोपालरायजी को श्रीमहाप्रभु को दर्शन देने के लिये एक लीला सूझी ॥१५—२१॥

तथाहि ग्रन्थकारस्य—

अनारुरुक्षवे शैलं स्वस्मै भक्ताभिमानिने ।
अवरुह्य गिरेः कृष्णो गौराय स्वमदर्शयत् ॥४॥

श्रीगोपालदेव स्वयं श्रीगिरिराज से नीचे उतर आये और श्रीगिरिराज पर न चढ़ने की इच्छा वाले, भक्ताभिमानी अपने गौर--स्वरूप को अपना दर्शन दिया। (श्रीगोपालदेव गोवर्द्धन से किस बहाने से नीचे उतरे और श्रीमहाप्रभु को दर्शन दिया, वह अगले पयारों में कहते हैं।) ॥४॥

अन्नकूटनाम--ग्रामे गोपालेर स्थिति । राजपूत लोकेर सेइ ग्रामेते वसति ॥२२॥
एकजन आसि रात्र्ये ग्रामी के बलिल । तोमार ग्राम मारिते तुड़ुकधाड़ी साजिल ॥२३॥
आजि रात्र्ये पलाह, ग्रामे ना रह एकजन । ठाकुर लइया भाग, आसिवे कालयवन ॥२४॥
शुनिया ग्रामेर लोक चिन्तित हइल । प्रथमे गोपाल लञा गांठुलिग्रामे थुइल ॥२५॥

श्रीगोपालदेव जी का मन्दिर अन्नकूटनामक (आनिओर) गांव में था और वहां राजपूत लोग रहते थे। उसी दिन रात में एक व्यक्ति ने गांव-वासियों को आकर कहा कि यवन-प्रधान तुम्हारे गांव को लूटने के लिये सैना सजाकर आरहा है। आज रात रात में ही सब लोग यहां से भाग निकलो। एक व्यक्ति भी यहाँ मत रहो, अपने गोपाल ठाकुर को भी यहां से लेकर भाग जाओ, वह यवन--प्रधान कल यहां आपहुँचेगा। उस अपरिचित व्यक्ति (स्वयं गोपाल ही इस व्यक्ति के रूप में आये थे) की बात सुनकर गांव--वासी बहुत चिन्तित हुये। सर्व-प्रथम श्रीगोपालदेव को लेकर गांठुलि गांव में आ पहुंचे ॥२२—२५॥

विप्रगृहे गोपालेर निभृते सेवन। ग्राम उजाड़ हैल, पलाइल सर्वजन ॥२६॥
ऐछे म्लेच्छभये गोपाल भागे बारे-बारे। मन्दिर छाड़ि कुञ्जे रहे-किवा ग्रामान्तरे ॥२७
प्रातः काले प्रभु मानसगङ्गाय करि स्नान। गोवर्द्धन परिक्रमाय करिला प्रयाण ॥२८॥
गोवर्द्धन देखि प्रभु प्रेमाविष्ट हैला। नाचिते नाचिते चलिला श्लोक पढ़िया ॥२९॥

वहाँ एक ब्राह्मण के घर में गुप्त स्थान पर श्रीगोपाल जी की सेवा होने लगी और वह अन्नकूट गाँव उजाड़ हो गया। वहाँ से सब लोग भाग गये। इसी प्रकार पहले भी कई बार श्रीगोपाल जी यवनों के भय से भागते रहे थे। मन्दिर छोड़ कर कभी कुञ्जों में कभी दूसरे-दूसरे गांवों में जा छिपते। प्रातः काल श्रीमहाप्रभु उठे और मानसीगङ्गा में स्नान किया और श्रीगिरराज की परिक्रमा करने चल दिये। श्रीगिरिराज के दर्शन कर श्रीमहाप्रभु प्रेमाविष्ट हो उठे और निम्नलिखित श्लोक पढ़ते हुए नृत्य पूर्वक चलने लगे ॥२६—२९॥

तथाहि (भाः १०—२१—१८)—

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्य्यो यद्रामकृष्णचरणस्पर्श प्रमोदः।
मानं तनोति सह गोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसुयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥५॥

"हे अबलागण ! यह गोवर्द्धनगिरि निश्चय ही हरिदासों में श्रेष्ठ है, क्योंकि यह श्रीराम-कृष्ण के चरणों के स्पर्श को पाकर प्रसन्न चित्त होकर पीने के जल से, उत्तम तृणों से, कन्दराओं से, कन्द एवं मूल द्वारा गौओं तथा गोपालगणों के सहित श्रीराम-कृष्ण की यथोचित पूजा करता है" ॥५॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीकृष्ण के वेणुगीत को सुनकर मुग्ध चित्त होकर एक सखी ने दूसरी सखियों के प्रति इस श्लोक में श्रीगोवर्द्धन की महिमा का वर्णन किया है। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु श्रीगोवर्द्धन की महिमा गान करते हुए नृत्य कर रहे थे।

गोविन्द-कुण्डादि तीर्थे प्रभु कैल स्नान। ताहां शुनिल-गोपाल गेल गांठुलिग्राम॥३०॥
सेइ ग्रामे गिया कैल गोपाल दर्शन। प्रेमावेशे प्रभु करे कीर्त्तन नर्त्तन ॥३१॥
गोपालेर सौन्दर्य देखि प्रभुर आवेश। एइ श्लोक पढ़ि नाचे, हैल दिनशेष ॥३२॥

श्रीमहाप्रभु ने जाकर गोविन्दकुण्डादि तीर्थों पर स्नान किया और वहां उन्होंने सुना कि श्रीगोपालदेव गांठुलिगांव में आ गये हैं। प्रभु ने जाकर उस गांव में गोपाल जी के दर्शन किये। प्रेमोन्मत्त होकर प्रभु ने गान-नृत्य किया। श्रीगोपाल जी का सौन्दर्य देख कर प्रभु प्रेमाविष्ट हो उठे एवं निम्नलिखित श्लोक को पढ़ कर नाचने लगे। उन्हें वहाँ ही रात हो गई ॥३०-३२॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे विभावलहर्य्याम् (२-१-२६)—

वामस्तामरसाक्षस्य भुजदण्डः स पातु वः।
क्रीड़ाकन्दुकतां येन नीतो गोवर्द्धनो गिरिः ॥६॥

कमललोचन श्रीकृष्ण की जिस वाम भुजा ने गोवर्द्धन पर्वत को खेलने की गेंद की भांति अनायास उठा लिया था, वही वाम भुजा तुम्हारी रक्षा करे ॥६॥ [गोवर्द्धनलीला का वर्णन करते हुए श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीगोपालदेव की इस श्लोक द्वारा स्तुति की।]

एइ मत तिनदिन गोपाल देखिला। चतुर्थ दिवसे गोपाल स्वमन्दिरे गेला ॥३३॥
गोपाल सङ्गे चलि आइला नृत्यगीत करि। आनन्द कोलाहले लोक बले 'हरि-हरि॥३४॥
गोपाल मन्दिरे गेला प्रभु रहिला तले। प्रभुर वाञ्छा पूर्ण सब करिल गोपाले ॥३५॥
एइमत गोपालेर करुणस्वभाव। येइ भक्तजने देखिते हय भाव ॥३६॥
देखिते उत्कण्ठा हय ना चढ़े गोवर्द्धने। कोन छले गोपाल आसि उतरे आपने ॥३७॥
कभु कुञ्जे रहे, कभु रहे ग्रामान्तरे। सेइ भक्त ताहां आसि देखये तांहारे ॥३८॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु वहाँ तीन दिन तक रहे एवं श्रीगोपाल जी के दर्शन किये। चौथे दिन श्रीगोपाल जी फिर अपने मन्दिर में लौट गये। श्रीमहाप्रभु भी श्रीगोपाल जी के साथ-साथ नृत्य-गान करते हुए चले आये। सब लोग आनन्द पूर्वक 'हरि-हरि' ध्वनि पूर्वक आनन्द कोलाहल कर रहे थे। श्रीगोपाल जी गोवर्द्धन पर ऊपर अपने मन्दिर में चले गये, किन्तु श्रीमहाप्रभु नीचे ही रहे आये। इस प्रकार श्रीगोपाल जी ने प्रभु की वाञ्छा को पूर्ण किया। श्रीगोपाल जी का इस प्रकार का करुणस्वभाव था, जिस भक्त के हृदय में उनके दर्शन की भावना होती, उत्कण्ठा होती, किन्तु गोवर्द्धन पर वह न चढ़ना चाहता, तो किसी न किसी बहाने से श्रीगोपाल जी स्वयं नीचे उतर आते। कभी कुञ्जों में, कभी किसी दूसरे गाँव में चले जाते, फिर वह भक्त वहाँ ही जाकर उनके दर्शन कर लेता ॥३३—३८॥

पर्वते ना चढ़े दुइ रूप–सनातन। एइ रूपे तां सभारे दियाछेन दर्शन ॥३९॥
वृद्धकाले रूपगोसाञि ना पारे याइते। वाञ्छा हैल गोपालेर सौन्दर्य देखिते ॥४०॥
म्लेच्छभये आइल गोपाल मथुरा नगरे। एकमास रहिल विट्ठलेश्वर घरे ॥४१॥
तबे रूपगोसाञि सब निज-गण लञा। एकमास दर्शन कैल मथुरा रहिञा ॥४२॥
सङ्गे गोपालभट्ट, दास रघुनाथ। रघुनाथ भट्ट गोसाञि, आर लोकनाथ ॥४३॥

श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीसनातन गोस्वामी—ये दोनों भी श्रीगिरिराज के ऊपर नहीं चढ़े थे, इसी प्रकार श्रीगोपाल जी ने उनको भी नीचे उतर कर दर्शन दिये थे। वृद्धावस्था में श्रीरूप गोस्वामी जब श्रीवृन्दावन में थे और गोवर्द्धन में नहीं जा सकते थे, तब उन्होंने श्रीगोपाल जी के सौन्दर्य दर्शन करने की वाञ्छा की थी। उस समय भी म्लेच्छों के भय का बहाना करके श्रीगोपाल जी मथुरा चले आए और एक मास तक श्रीवल्लभाचार्य जी के सुपुत्र श्रीविट्ठलेश्वर जी के घर में रहे। (श्रीमहाप्रभु जिस समय श्रीवृन्दावन से नीलाचल लौटे हैं, उस समय तो श्रीवल्लभ-भट्ट जी आड़ैल गाँव में थे, किन्तु उसके बाद वे सकुटुम्ब मथुरा में वास करते थे)। तब श्रीरूप गोस्वामी ने अपने समस्त साथियों के साथ एक मास तक मथुरा रह कर श्रीगोपाल जी के दर्शन किये। उनके साथ श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी तथा श्रीलोकनाथ गोस्वामी भी थे ॥३९—४३॥

भूगर्भगोसाञि, आर श्रीजीव गोसाञि। श्रीयादव-आचार्य, आर गोविन्द गोसाञि॥४४
श्रीउद्धवदास, आर माधव दुइजन। श्रीगोपालदास, आर दास नारायण ॥४५॥
गोविन्दभक्त, आर वाणी--कृष्णदास। पुण्डरीकाक्ष, ईशान, आर लघु हरिदास ॥४६॥
एइ सब मुख्य भक्त लञा निज-सङ्गे। श्रीगोपाल दर्शन कैल बहु रङ्गे ॥४७॥

एकमास रहि गोपाल गेला निजस्थाने। श्रीरूपगोसाञि आइला श्रीवृन्दाबने ॥४८॥
प्रस्तावे कहिल गोपाल-कृपार आख्याने। तबे महाप्रभु गेला श्रीकाम्यबने ॥४६॥

श्रीभूगर्भ गोस्वामी, श्रीजीवगोस्वामी, श्रीयादवाचार्य, श्रीगोविन्द गोस्वामी, श्रीउद्धवदास, श्रीमाधवदास तथा श्रीगोपालदास, श्रीनारायणदास, श्रीगोविन्द भक्त, श्रीवाणीकृष्णदास, श्रीपुण्डरीकाक्ष, श्रीईशान, श्रीहरिदास लघु—इन समस्त मुख्य-मुख्य भक्तों को साथ ले जाकर श्रीरूप गोस्वामी जी ने आनन्द पूर्वक श्रीगोपालदेव के दर्शन किये। एक मास मथुरा में रह कर श्रीगोपाल जी फिर अपने अन्नकूट गांव में लौट गये और तब श्रीरूप गोस्वामी जी भी वापस श्रीवृन्दावन लौट आये। श्रीकविराज कहते हैं—प्रसङ्गवश मैंने यहाँ श्रीगोपाल जी की कृपा सम्बन्धी कथा का उल्लेख कर दिया है। इस प्रकार श्रीगोपाल जी के दर्शन करने के बाद श्रीमहाप्रभु जी काम्यबन में चले गये ॥४४—४६॥

प्रभुर गमन-रीति पूर्वे ये लिखिल। सेइमत बृन्दाबने यावत् देखिल ॥५०॥
ताहां लीलास्थली देखि गेला नन्दीश्वर। नन्दीश्वर देखि प्रेमे हइला विह्वल ॥५१॥
पावनादि सब कुण्डे स्नान करिया। लोकेरे पुछिल पर्वत उपरे याइया ॥५२॥
किछु देवमूर्त्ति हय पर्वत-उपरे ?। लोक कहे—मूर्त्ति हय गोफार भितरे ॥५३॥
दुइदिके माता-पिता-पुष्ट कलेवर। मध्ये एक शिशु हय, त्रिभङ्ग सुन्दर ॥५४॥

श्रीमन्महाप्रभु की चलने की रीति जिस प्रकार पहले वर्णन कर चुके हैं, जब तक वे श्रीवृन्दाबन में भ्रमण करते रहे, उनकी वही रीति (प्रेमोन्मत्तावस्था) रही आई। श्रीकाम्यबन में श्रीभगवान् की लीलास्थली देख कर श्रीमहाप्रभु श्रीनन्दगांव में आए। नन्दगांव को देख कर श्रीमहाप्रभु प्रेम में विह्वल हो उठे। वहाँ पावन कुण्ड आदि सब सरोवरों में स्नान करके नन्दीश्वर पर्वत पर ऊपर जाकर प्रभु ने लोगों से पूछा कि वहाँ पर्वत पर कोई देव मूर्त्ति हो तो वे वहाँ दर्शन करें। लोगों ने गुफा के भीतर एक मन्दिर बतलाया कि वहाँ दोनों ओर माता श्रीयशोदा जी एवं पिता श्रीनन्दमहाराज की विशाल मूर्त्तियाँ हैं और उनके मध्य में त्रिभङ्ग-सुन्दर शिशुरूप श्रीश्यामसुन्दर की एक मूर्त्ति है ॥५०—५४॥

शुनि महाप्रभु मने आनन्द पाइया। तिन मूर्त्ति देखिला सेइ गोफा उघाड़िया ॥५५॥
ब्रजेन्द्र-ब्रजेश्वरीर कैल चरण वन्दन। प्रेमावेशे कृष्णेर कैल सर्वाङ्ग-स्पर्शन ॥५६॥
सब दिन प्रेमावेशे नृत्यगीत कैला। ताहां हैते महाप्रभु खदिरबन आइला ॥५७॥
लीलास्थल देखि ताहां गेला शेषशायी। लक्ष्मी देखि एइ श्लोक पढ़ेन गोसाञि॥५८॥

श्रीमहाप्रभु उनके वचन सुन कर बहुत आनन्दित हुए एवं उस गुफा में जाकर उन्होंने तीनों मूर्त्तियों के दर्शन किये। श्रीनन्दराज एवं माता यशोदा के चरणों में वन्दना की एवं प्रेमावेश में श्रीकृष्ण के सर्व-अङ्गों का स्पर्श किया। उस समस्त दिन प्रेमावेश में श्रीमहाप्रभु ने नृत्य-गान किया और फिर वहाँ से खदिरबन में चले आये। वहाँ लीलास्थली को देखकर प्रभु शेषशायी के स्थान पर गये (जहाँ श्रीकृष्ण ही शेष शैय्या पर शयन कर रहे हैं और श्रीलक्ष्मी जी की भाँति श्रीराधा जी ही उनकी चरण सेवा कर रही हैं) श्रीराधा जी के दर्शन कर श्रीमहाप्रभु निम्नलिखित श्लोक पाठ करने लगे ॥५५—५८॥

तथाहि (भा: १०-३१-१९)—

यत्ते सुजात् चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किं स्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥७॥

ब्रज सुन्दरियों ने कहा है—"हे प्यारे ! तुम्हारे जिन परम कोमल चरणकमलों को हम अपने कठिन स्तनमण्डल पर डरते हुए धीरे-धीरे धारण करती थीं (कि कहीं आपको चोट न लग जाए) तुम उन्हीं चरणकमलों से रात्रि के समय बन-बन में भ्रमण कर रहे हो। वे चरणकमल तीक्ष्ण कंकरों के चभने से क्या व्यथित नहीं हो रहे होंगे ? (अवश्य वे पीड़ित हो रहे होंगे) अतः हमारा चित्त अत्यन्त व्याकुल हो रहा है, क्योंकि आप ही हमारे जीवन हो ॥७॥

तबे खेलातीर्थ देखि भाण्डीरबन आइला । यमुनाते पार हञा भद्रबन गेला ॥५९॥
श्रीबन देखि पुन गेला लोहबन । महाबन गिया जन्मस्थान-दरशन ॥६०॥
यमलार्ज्जुनभङ्गादि देखिल सेइ स्थल । प्रेमावेशे प्रभुर मन हैल टलमल ॥६१॥
गोकुल देखिया आइल मथुरा नगरे । जन्मस्थान देखि रहे सेइ विप्रघरे ॥६२॥

तदनन्तर श्रीमहाप्रभु खेलन-वन देखते हुए भाण्डीरबन में आए और फिर श्रीयमुना से पार उतर कर भद्रबन में पहुँचे । तदनन्तर बेलबन को देख कर श्रीमहाप्रभु लोहबन में गये, (जहाँ श्रीकृष्ण ने लोह-जंग राक्षस को मारा था) वहाँ से श्रीकृष्ण-जन्मस्थान श्रीमहाबन (गोकुल) में आकर दर्शन किये । वहाँ जहाँ यमलार्जुन वृक्षों को भगवान् ने ऊखल बन्धन में तोड़ा था, उस स्थान के दर्शन किये और प्रेमावेश में प्रभु का मन अस्थिर हो गया । गोकुल के दर्शन करके प्रभु मथुरा में लौट आये, बहाँ श्रीकृष्ण-जन्मस्थान को देख कर उसी ब्राह्मण (सनोड़िया-ब्राह्मण) के घर चले आए ॥५९—६२॥

चै० च० चु० *टीका*:—**श्रीखेलनबन**—उस स्थान का नाम है, जहाँ श्रीकृष्ण-बलराम सखाओं सहित खेला करते थे (भक्तिरत्नाकर पञ्चम तरङ्ग में इस बन का विषद वर्णन है) ।

भाण्डीरबन—सखाओं के सहित मल्लवेश में श्रीकृष्ण-बलराम यहाँ कुश्ती लड़ा करते थे। श्रीबलराम जी ने प्रलम्ब-असुर का यहाँ वध किया था। एक दिन श्रीकृष्ण ने भाण्डीरबन में अकेले ही पहुँच कर वंशी बजाई । उसे सुनते ही अधीर होकर सखीगण सहित श्रीराधा जी वहाँ आ उपस्थित हुईं। वहाँ उनसे श्रीश्यामसुन्दर ने परमानन्द पूर्वक विहार किया । श्रीराधा जी ने कौतुक वशतः श्रीश्यामसुन्दर से पूछा कि "आप यहाँ सखाओं के साथ क्या-क्या खेल खेला करते हैं ?" श्रीकृष्ण ने कहा—"प्रिये ! मैं यहाँ सखाओं के साथ मल्लयुद्ध किया करता हूँ और उसमें सबको हरा देता हूँ।" तब श्रीललिता जी ने मुस्करा कर कहा—"अच्छा ! आज हमारी सखियों के साथ आपका मल्ल-युद्ध होना चाहिये ।" सब सखियों ने मल्लवेश धारण किया एवं मल्लवेशधारी श्रीश्यामसुन्दर से कुश्ती होने लगी । बहुत पेचबन्द श्रीश्यामसुन्दर ने किये किन्तु किसी सखी को भी पराजित न कर सके । मन मन में श्रीकृष्ण बड़े लज्जित हुए एवं श्रीराधा जी ने सखियों के सहित उनका परिहास किया इत्यादि । श्रीपाद रघुनाथदास गोस्वामीजी ने अपने ब्रजविलास-स्तव में इस लीला का उल्लेख करते हुए भाण्डीरबन की बन्दना की है । बाराह पुराण एवं भक्तिरत्नाकर में भाण्डीरबन का माहात्म्य विस्तरशः वर्णन किया गया है ।

भगवान् श्रीकृष्ण के **जन्म-स्थान** के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उनका जन्म कंस के कारागार में मथुरा में हुआ था, जैसा कि पयार नं० ६२ में कहा गया है, किन्तु पयार नं० ६० में भी महाबन अर्थात्

गोकुल को भी श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान कह कर वर्णन किया गया है। प्रश्न उठता है, श्रीकृष्ण के दो पृथक् जन्म-स्थान कैसे ?—समाधान यह है, श्रीहरिवंश पुराण में यह बात स्पष्ट रूप से वर्णित है कि कंस के कारागार में माता देवकी ने जिस समय श्रीकृष्ण को जन्म दिया, ठीक उसी समय ही गोकुल में माता यशोदा जी से भी श्रीकृष्ण का आविर्भाव हुआ। दोनों के गर्भ से आठवें मास में प्रसव हुआ, श्रीभागवत (१०-३-६) श्लोक की वृहद् वैष्णवतोषणी टीका में श्रीहरिवंश पुराण का प्रमाण दिया गया है, यथा—

गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ।
देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा ॥ठ॥

तात्पर्य यह है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने दो स्थानों पर दो रूपों से जन्म-लीला प्रकट की—मथुरा में कंस के कारागार में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज रूप से, तथा गोकुल में द्विभुज रूप से अर्थात् स्वयंरूप से। चतुर्भुजरूप उनके स्वयं रूप का प्रकाशरूप है। देवकी-वसुदेवजी ने जब भगवान् का अद्भुत चतुर्भुज रूप देखा, तो उन्होंने उनकी स्तुति की और भगवान् से उस चतुर्भुज रूप के संवरण करने की प्रार्थना की। तदनुसार भगवान् ने अपना वह चतुर्भुज रूप संवरण कर लिया और नवजात शिशु की भाँति द्विभुज रूप में प्रगटित हो गये। तदनन्तर भगवान् के आदेशानुसार जब श्रीवसुदेव जी ने भगवान् को लेकर कारागार से बाहर आने की इच्छा की, तब गोकुल में श्रीनन्द जी के घर में माता यशोदा के गर्भ से योगमाया आविर्भूत हुई जैसा कि श्रीभागवत जी के (१०-३-४८) श्लोक से स्पष्ट है—

"यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाऽजनि नन्दजायया" ॥

इस प्रकार जब श्रीवसुदेव जी गोकुल पहुँचे तो उन्होंने वहाँ देखा कि सब गाढ़ निद्रा में अविभूत पड़े हैं, यशोदा जी भी अचेतन प्राय अवस्था में सो रही हैं और उनकी बग़ल में एक नवजात कन्या सो रही है। वसुदेव जी ने अपने पुत्र को वहाँ सुला दिया और उस कन्या को लेकर वापस मथुरा की ओर चल दिये।

श्रीहरिवंश के वचनों से हम जान चुके हैं कि देवकी एवं यशोदा जी के गर्भ से एक ही समय अर्थात् अष्टमी तिथि को ही भगवान् दोनों स्थानों पर आविर्भूत हुए और श्रीभागवत जी (१०-३-४८) से ज्ञात होता है कि जब वसुदेव जी ने अपने पुत्र को लेकर कारागार से बाहर निकलने की इच्छा की, तब ही यशोदा के गर्भ से योगमाया आविर्भूत हुई। हरिवंश में यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि योगमाया का जन्म नवमी तिथि में ही हुआ, यथा—

"नवम्यामेव संजाता कृष्णपक्षस्य वै तिथौ।"

योगमाया का आविर्भाव नवमी तिथि को हुआ, यह बात श्रीविष्णुपुराण (५—१—७६) के श्लोक से भी प्रमाणित होती है। इस से जाना जाता है कि यशोदा जी ने उस रात्रि को दो बार प्रसव किया, देवकी ने जब प्रसव किया तब एक बार और वसुदेव जी ने जब कारागार से बाहर निकलने की जब इच्छा की, तब दूसरी बार। श्रीभागवत् जी के (१०-४-६) श्लोक में यशोदागर्भजाता योगमाया को "श्रीकृष्ण अनुजा" अर्थात् 'श्रीकृष्ण की छोटी बहन' कह कर वर्णन किया गया है। इससे भी स्पष्ट है कि यशोदाजी के गर्भ से श्रीकृष्ण एवं योगमाया दोनों का आविर्भाव हुआ। यशोदा जी से जो भगवान् आविर्भूत हुए—वे नराकृति द्विभुज रूप में ही प्रगट हुए।

प्रश्न उठता है—यशोदा जी ने यदि दो सन्तानों को जन्म दिया, तो जब श्रीवसुदेव जी यशोदा-गृह में पहुँचे तो उन्होंने केवल एक कन्या को क्यों देखा, प्रथमजात पुत्र कहाँ गया ? और यशोदा जी भी

जब जागीं तो उन्होंने केवल एक नवजात पुत्र को ही देखा, कन्या को न देखा और न ही उसके सम्बन्ध में कोई बात ही की, इसका क्या कारण ?—इसका समाधान विष्णुपुराण में पाया जाता है, वहां उल्लेख है कि योगमाया के प्रभाव से गोकुल के समस्त लोग मोहित होकर गाढ़ निद्रा में सो गए,यहाँ तक कि यशोदा जी को उस कन्या के प्रसव का कुछ भी ज्ञान न हुआ,वह निद्रावस्था में ही आविर्भूत हुई। इसलिये यशोदा जी को उसका कुछ ज्ञान न होने से उन्होंने उस कन्या के प्रसव के सम्बन्ध में कुछ भी न कहा। सम्भवतः अपने गर्भ से श्रीकृष्ण के जन्म के बाद क्लान्ता एवं परिश्रान्ता होकर श्रीयशोदाजी निद्रिता होकर अचेतनावस्था में पड़ गईं और लीलाशक्ति ने समय पाकर योगमाया को जन्म देकर लीला की सहायता कर दी। यशोदा जी ने पुत्र-जन्म को अवश्य जाना, किन्तु उसके बाद होने वाले कन्या-जन्म को वे न जान सकीं। अतः उसकी कोई चर्चा भी न की।

श्रीवसुदेव जी ने यशोदानन्दन को क्यों न देखा—इसका समाधान यह है कि जब श्रीवसुदेव जी यशोदा-गृह में अपने पुत्र को लेकर पहुँचे तो श्रीकृष्ण योगमाया के साथ ही यशोदा जी की शय्या पर सो रहे थे, उस योगमाया के प्रभाव से श्रीवसुदेव जी की दृष्टि में श्रीयशोदानन्दन आए ही नहीं। वसुदेवजी ने अपने पुत्र को जब शय्या पर सुलाया तो वे यशोदानन्दन में ही लीन हो गये—यशोदानन्दन स्वयं भगवान् में उनका प्रकाशरूप वसुदेवनन्दन स्वरूप मिल गया अर्थात् यशोदानन्दन ने वसुदेवनन्दन को आत्मसात् कर लिया। वसुदेव जी ने यही समझा कि मेरा ही पुत्र सो रहा है। एक स्वरूप हो जाने से श्रीयशोदा जी ने भी दो शिशुओं को न देख कर एक ही शिशु को अपने पास देखा, यथा वृहद्वैष्णव तोषणी :—

"श्रीवसुदेवेन माया परिवर्त्तने विन्यस्तः पुत्रः श्रीनन्दात्मजेनैक्यं प्राप्तः।"

अथवा कंस के कारागार में जिस समय चतुर्भुज रूप धारी रूप अन्तर्हित हुआ, ठीक उसी समय नन्दगृह से भी यशोदानन्दरूप अन्तर्हित हो गया और कंस के कारागार में आविर्भूत होकर उसी ने ही वसुदेवनन्दन रूप का स्थान ग्रहण कर लिया। उसे ही श्रीवसुदेव जी लेकर फिर नन्दगृह में आए और उसी यशुदानन्दन स्वरूप को सुला कर योगमायारूपिणी कन्या को ले गये। इस प्रकार यशोदा जी के गर्भ से गोकुल में भी श्रीकृष्ण-जन्म लीला का प्रकटन हुआ, जिस से श्रीकृष्ण को श्रीमद्भागवत जी (१०-८-१४) में "नन्दात्मज" कहा गया है, और दूसरा प्रकटन श्रीदेवकी के गर्भ से मथुरा में हुआ। इस प्रकार श्रीकृष्ण के दो जन्मस्थानों का उल्लेख ऊपर के पयारों में किया गया है।

लोकेर सङ्घट्ट देखि मथुरा छाड़िया। एकान्ते अक्रूरतीर्थे रहिला आसिया ॥६३॥
आरदिन आइल प्रभु देखिते वृन्दाबन। कालिह्रदे स्नान कैल आर प्रस्कन्दन ॥६४॥
द्वादश-आदित्य हैते केशितीर्थे आइला। रासस्थलि देखि प्रेमे मूर्छित हइला ॥६५॥
चेतन पाइया पुन गड़ागड़ी याय। हासे कान्दे नाचे पड़े उच्चैः स्वरे गाय ॥६६॥
एइ रङ्गे सेइ दिन तथा गोङाइला। सन्ध्याकाले अक्रूरे आसि भिक्षा निर्वाहिला ॥६७॥

मथुरा में लोगों की अधिक भीड़-भाड़ देख कर श्रीमहाप्रभु एकान्त-स्थान अक्रूर घाट पर आकर रहने लगे। एक दिन प्रभु श्रीवृन्दावन के दर्शन करने चले आए और कालिय-दह पर आकर स्नान किया। फिर प्रस्कन्दन-घाट पर स्नान करके द्वादश-आदित्य टीला को देखते हुए श्रीमहाप्रभु केशिय घाट पर आये। वहां रासस्थलि के दर्शन कर प्रभु प्रेम में मूर्च्छित हो गये। पुनः-पुनः चेतन होकर फिर बेसुद्ध हो जाते

प्रभु प्रेम में कभी हँसने, रोने, नाचने लगते और कभी उच्च स्वर में गान करने लगते। इस प्रकार वह दिन श्रीमहाप्रभु ने वहाँ बिताया और सन्ध्या के समय अक्रूर घाट पर लौट आए और वहाँ आकर भिक्षा की।

चै० च० चु० *टीका:*—कहते हैं कि कालिय-दमन के समय श्रीकृष्ण अनेक काल तक कालिय दह में रहे थे, जिससे उन्हें शीतल जल के कारण बहुत सर्दी लगने लगी। वहाँ एक टीला पर श्रीकृष्ण आकर धूप तापने लगे। उस समय द्वादश-सूर्यों ने ताप को विकीर्ण किया जिससे भगवान् की सर्दी छूटी। तभी से उस कालियदह निकटवर्त्ती टीला का नाम **द्वादश-आदित्य-टीला** पड़ गया। धूप में बैठने से भगवान् के अङ्गों में से स्वेद बहने लगा। वह स्वेदजल बह कर यमुना जी में जा मिला। जिस स्थान पर यमुना जी में वह स्वेदजल मिला—उस स्थान का नाम **प्रस्कन्दन घाट** है।

प्राते वृन्दाबने कैल चीरघाटे स्नान। तेंतुली तलाते आसि करिल विश्राम ॥६८॥
कृष्णलीला कालेर वृक्ष पुरातन। तारतले पिंड़ि बान्धा परम चिक्कण ॥६९॥
निकटे यमुना बहे शीतल समीर। वृन्दाबन-शोभा देखे यमुनार नीर ॥७०॥
तेंतुलतले वसि करे नाम-सङ्कीर्त्तन। मध्याह्न करि आसि करे अक्रूरे भोजन ॥७१॥

दूसरे दिन प्रातः काल उठ कर श्रीमहाप्रभु श्रीवृन्दाबन में चले आए और चीरघाट पर आकर स्नान किया तथा इमली के वृक्ष के नीचे बैठ कर विश्राम किया। वह इमली का वृक्ष श्रीकृष्ण लीलाकाल का पुरातन वृक्ष था, जिसके नीचे बहुत सुन्दर चिकना फर्श बँधा हुआ था। उसके निकट यमुना बह रही थी, शीतल-शीतल पवन चल रही थी, श्रीयमुना की धारा एवं श्रीवृन्दावन की शोभा देख कर प्रभु उस वृक्ष के नीचे बैठ गये एवं श्रीनाम-संकीर्त्तन करने लगे। दोपहर काल तक प्रभु ने वहाँ विश्राम किया। फिर अक्रूर घाट पर प्रभु ने भोजन किया। (वह स्थान अब भी **इमलीतला** के नाम से वृन्दाबन में सुप्रसिद्ध है)

अक्रूरेर लोक आइसे प्रभुरे देखिते। लोकभिड़े स्वच्छन्दे नारे कीर्त्तन करिते ॥७२॥
वृन्दाबने आसि प्रभु वसिया एकान्ते। नामसङ्कीर्त्तन करे मध्याह्न पर्य्यन्ते ॥७३॥
तृतीय प्रहरे लोक पाय दर्शन। सभारे उपदेश करे—'नाम सङ्कीर्त्तन' ॥७४॥
हेन काले आइला वैष्णव—कृष्णदासनाम। राजपूत जाति गृहस्थ—यमुनापारे ग्राम॥७५॥
केशीस्नान करि सेइ कालिदहे याइते। आमलितलाय गोसाञि देखे आचम्बिते ॥७६॥

अक्रूर घाट पर प्रभु के दर्शन करने प्रतिदिन बहुत से लोग आने जाने लगे, उस भीड़भाड़ के कारण श्रीमहाप्रभु स्वच्छन्दभाव से नाम-सङ्कीर्त्तन न कर पाते। अतः श्रीमहाप्रभु नित्य श्रीवृन्दाबन में चले आते और उस इमली-वृक्ष के नीचे एकान्त स्थान पर बैठ कर मध्याह्न पर्य्यन्त नाम-सङ्कीर्त्तन करते। तीसरे पहर जब अक्रूर घाट पर प्रभु लौट आते, तभी सब लोग आकर प्रभु के दर्शन करते। उस समय सब को प्रभु नाम-सङ्कीर्त्तन करने का उपदेश देते। एक दिन जब प्रभु इमली-वृक्ष के नीचे बैठकर सङ्कीर्त्तन कर रहे थे, एक वैष्णव श्रीकृष्णदास नामक वहाँ आया। वह राजपूत था एवं गृहस्थी था, उसका गाँव यमुना पार था। केशीघाट पर स्नान करके जब वह कालिय दह पर जा रहा था, तो अचानक उसकी दृष्टि इमली-वृक्ष के नीचे श्रीमहाप्रभु पर जा पड़ी ॥७२-७६॥

प्रभुर रूप प्रेम देखि हैल चमत्कार। प्रेमावेशे प्रभुरे करेन नमस्कार ॥७७॥
प्रभु कहे—के तुमि, काहां तोमार घर? कृष्णदास कहे—मुञि गृहस्थ पामर ॥७८॥

राजपूत जाति मुञि, पारे मोर घर । मोर इच्छा हय-हङ वैष्णवकिङ्कर ।।७९।।
किन्तु आजि एक मुञि स्वपन देखिनु । सेइ स्वप्न परतेख तोमा आसि पाइनु।।८०।।
प्रभु तांरे कृपा कैल आलिङ्गन करि । प्रेमे मत्त हैल सेइ नाचे बोले हरि ।।८१।।
प्रभु सङ्गे मध्याह्ने अक्रूरतीर्थ आइला । प्रभुर अवशिष्ट पात्र प्रसाद पाइला ।।८२।।
प्राते प्रभु सङ्गे आइला जलपात्र लञा । प्रभुसङ्गे रहे गृह-स्त्री-पुत्र छाड़िया ।।८३।।

श्रीकृष्णदास श्रीमहाप्रभु के सौन्दर्य एवं श्रीकृष्ण-प्रेम को देख कर चमत्कृत हो उठा और प्रेमावेश में प्रभु के पास आकर उसने दण्डवत् प्रणाम की । श्रीमहाप्रभु ने पूछा—"तुम कौन हो ? तुम्हारा घर कहाँ है ?" श्रीकृष्णदास ने उत्तर दिया—"प्रभो ! मैं एक अधम गृहस्थी हूँ । मैं राजपूत जाति हूँ और मेरा घर यमुना के पार है। मेरी ऐसी इच्छा है कि मैं वैष्णवदास बन जाऊं । मैंने प्रभो ! आज एक स्वप्न भी देखा था । उसी स्वप्न के अनुकूल आपको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ।" श्रीमहाप्रभु ने उसे कृपा पूर्वक आलिङ्गन किया एवं वह प्रेमोन्मत्त होकर नृत्य पूर्वक "हरि-हरि" बोलने लगा । मध्याह्नोत्तर वह भी श्रीमहाप्रभु के साथ-साथ अक्रूर घाट पर चला आया और प्रभु के भोजन कर लेने पीछे उसने प्रभु का प्रसादी-अन्न भी पाया । रात को प्रभु के साथ वह वहाँ ही रहा और दूसरे दिन प्रातः काल श्रीमहाप्रभु के साथ उनका जल-पात्र उठाकर श्रीवृन्दाबन चला आया । वह अपने स्त्री-पुत्र-घर को छोड़कर प्रभु के साथ रहने लगा ।

'वृन्दाबने पुन कृष्ण प्रकट हइल' । याहां ताहां लोक सब कहिते लागिल ।।८४।।
एकदिन मथुरार लोक प्रातः काले । वृन्दाबन हैते आसे करि कोलाहले ।।८५।।
प्रभु देखि कैल लोक चरणवन्दन । प्रभु कहे-काहां हैते कैले आगमन ? ।।८६।।
लोक कहे—कृष्ण प्रकट कालि दहेर जले । कालियशिरे नृत्य करे फणारत्न ज्वले।।८७
साक्षात् देखिल लोक-नाहिक संशय । शुनि हासि कहे प्रभु-सब सत्य हय ।।८८।।

'श्रीवृन्दाबन में पुनः श्रीकृष्ण प्रगट हुए हैं--"यह बात जहाँ तहां सब लोग परस्पर कहने लगे । एक दिन मथुरा के लोग श्रीवृन्दाबन से होकर प्रातःकाल अक्रूरघाट पर आकर कोलाहल करने लगे । उन्होंने श्रीमहाप्रभु को देखकर चरण वन्दना की । श्रीमहाप्रभु जी ने पूछा—"आप लोग कहां से आरहे हो ?" उन्होंने कहा—श्रीवृन्दाबन में कृष्ण प्रगट हो गये हैं । कालियदह के जल में कालियनाग के शिर पर मणियों की कान्ति थी और उस पर श्रीकृष्ण नृत्य कर रहे थे, इस में ज़रा भी संशय नहीं है, लोगों ने साक्षात् देखा है हम वहीं दर्शन करने गये थे ।" उनके वचन सुनकर प्रभु हंसने लगे और उन्होंने कहा—"आपके वचन सब सत्य हैं" ।।८४—८८।।

एइमत तिन रात्रि लोकेर गमन । सभे आसि कहे—'कृष्ण पाइल दर्शन ।।८९।।
प्रभु आगे कहे लोक—श्रीकृष्ण देखिल' । सरस्वती वाक्य सत्य कहाइल ।।९०।।
महाप्रभु देखि सत्य कृष्ण दरशन । निजाज्ञाने सत्य छाड़ि असत्ये सत्य भ्रम ।।९१।।
भट्टाचार्य तबे कहे प्रभुर चरणे— । आज्ञा देह, याइ करि कृष्ण दरशने ।।९२।।

इस प्रकार तीनों दिन रात के समय मथुरावासी लोग श्रीवृन्दाबन जाते रहे और लौट कर सब प्रभु से आकर कहें कि 'हमने श्रीकृष्ण के दर्शन किये हैं ।' सरस्वती देवी उनके वचन सत्य ही करा

रही थी, क्योंकि श्रीमहाप्रभु के दर्शन करने पर वस्तुतः वह श्रीकृष्ण-दर्शन कर रहे थे, किन्तु वे लोग अपने अज्ञान के कारण श्रीमहाप्रभु के दर्शनों को श्रीकृष्ण-दर्शन न मान कर असत्य बात में सत्यता का भ्रम कर रहे थे। (वास्तव में लोग जो कुछ देखकर आ रहे थे वह सब भ्रम था जिसे अगले पयारों में स्पष्ट करके वर्णन किया गया है।) सब लोगों की बातें सुनकर श्रीबलभद्र भट्टाचार्य ने (जो प्रभु के साथ रहते थे) अगले दिन श्रीमहाप्रभु जी से प्रार्थना की—"प्रभो ! यदि आप आज्ञा दें तो मैं भी श्रीवृन्दाबन जाकर श्रीकृष्ण के दर्शन कर आऊं ॥८६—६२॥

तबे तारे कहेन प्रभु चापड़ मारिया। मूर्खेर वाक्ये मूर्ख हैला पण्डित हइया ॥६३॥
कृष्ण केने दरशन दिवे कलिकाले ?। निजभ्रमे मूर्खलोक करे कोलाहले ॥६४॥
वातुल ना हइओ, घरे रह त वसिया। कृष्णदर्शन करिह कालि रात्र्ये याञा ॥६५॥
प्रातःकाले भव्यलोकप्रभुस्थाने आइला। 'कृष्ण देखि आइला ?' प्रभु ताहारे पूछिला ॥६६॥

श्रीभट्टाचार्य की बात सुनकर प्रभु ने प्रेम पूर्वक उन्हें एक थप्पड़ मारते हुए कहा—"भट्टाचार्य ! मूर्खों की बातों में आकर पण्डित होते हुए तुम भी मूर्ख बन गये ? कलियुग में भला श्रीकृष्ण कैसे दर्शन देंगे ? ये लोग तो भ्रांतिवश अपनी मूर्खता का कोलाहल कर रहे हैं। तुम पागल मत बनो। अपने घर में रहे आओ, हां यदि नहीं मानो तो कल रात को तुम जाकर कृष्ण-दर्शन कर आना।" दूसरे दिन प्रातःकाल कुछ विद्वान् लोग श्रीमहाप्रभु के स्थान पर आए। प्रभु ने उनसे पूछा—"कहिये ! आप भी श्रीकृष्ण के दर्शन कर आये क्या ? ॥६३—६६॥

लोक कहे—रात्र्ये कैवर्त्त नौकाते चड़िया। कालिदहे मत्स्य मारे-देउटि ज्वालिया ॥६७॥
दूर हैते ताहा देखि लोकेर हय भ्रम—। कालिय-शरीरे कृष्ण करिछेनर्त्तन ॥६८॥
नौकाते कालिय ज्ञान, दीपे रत्नज्ञाने। जालिया के मूढ़लोक 'कृष्ण' करि माने ॥६६॥
वृन्दाबने कृष्ण आइला, सेह सत्य हय। कृष्ण के देखिल लोक, इहा मिथ्या नय ॥१००॥
किन्तु काहों कृष्ण देखे—काहों भ्रमे माने। स्थाणु पुरुष यैछे विपरीत ज्ञाने ॥१०१॥

वे लोग कहने लगे—"प्रभो ! श्रीकृष्णदर्शन कहां ? वहाँ तो रात के समय माहीगीर (मछली पकड़ने वाले) नौका पर चढ़ कर दीपक जलाये हुये कालीदह में मछलियाँ पकड़ रहे थे, दूर से यह बात देखकर भ्रम होगया कि कालियनाग पर श्रीकृष्ण नृत्य कर रहे हैं। नौका को तो लोगों ने कालियनाग समझ लिया था और मशाल या दीपक को उन्हों ने कालियनाग के सिर की मणि समझ लिया। मूर्खों ने उस माहीगीर को ही कृष्ण समझ रखा था और वहाँ कुछ न था।" उन्होंने आगे कहा—"श्रीवृन्दाबन में श्रीकृष्ण आये हैं—यह बात सत्य है। लोगों ने श्रीकृष्ण के दर्शन किये हैं—यह बात भी मिथ्या नहीं है। किन्तु उन्होंने श्रीकृष्ण के दर्शन किये तो किसी और स्थान पर हैं और मान रहे हैं किसी और स्थान पर। वृक्ष के ठोंट को देखकर जैसे भ्रमवश उसे मनुष्य समझ लिया जाता है, उसी प्रकार लोगों को भी विपरीत ज्ञान होगया है ॥६७—१०१॥

प्रभु कहे—काहां पाइले कृष्ण दरशन। लोक कहे—सन्न्यासी तुमि जङ्गम—नारायण ॥१०२॥
वृन्दाबने हैले तुमि कृष्ण-अवतार। तोमा देखि सर्वलोक हइल निस्तार ॥१०३॥
प्रभु कहे—'विष्णु विष्णु' इहा ना कहिय। जीवाधमे कृष्णज्ञान कभु ना करिय ॥१०४॥

संन्यासी चित्‌कण, जीव किरणकणसम । षड़ैश्वर्यपूर्ण कृष्ण हय सूर्य्योपम ॥१०५॥
जीव आर ईश्वरतत्त्व कभु नहे सम । जलदग्निराशि यैछे स्फुलिङ्गेर कण ॥१०६॥

श्रीमहाप्रभु जी ने पूछा—"लोगों ने कहाँ श्रीकृष्ण का दर्शन पाया है?" वे बोले—आप संन्यासी हो, संन्यासी भी तो श्रीनारायण की चलती-फिरती मूर्त्ति के समान होता है। श्रीवृन्दाबन में तो इस समय आप ही श्रीकृष्ण का अवतार हो। आपके दर्शन करके हम सब लोगों का निस्तार हो जाएगा।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"विष्णु-विष्णु' ऐसा कभी मत कहना (ऐसा कहने एवं सुनने में भी अपराध होता है—कि संन्यासी श्रीनारायण की चलती-फिरती मूर्त्ति के समान होता है) एक जीव में जो ईश्वर की तुलना में अधम है उसमें कभी भी भगवान् श्रीकृष्ण या श्रीनारायण की बुद्धि मत करना। संन्यासी हो या कोई जीव वह तो श्रीभगवान् के चित्‌कण का एक क्षुद्र अंश है और षड़ैश्वर्य पूर्ण श्रीकृष्ण सूर्य के समान हैं। जीवतत्त्व और ईश्वरतत्त्व कभी भी समान नहीं हो सकते। ज्वलन्त अग्निराशि और एक क्षुद्र चिनगारी जैसे कभी समान नहीं हो सकते, तद्रूप जीव और ईश्वर कभी भी एक समान नहीं हो सकते। प्रभु ने इसके प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित श्लोक भी पढ़ा—॥१०३—१०६॥

तथाहि भावार्थदीपिकाधृतं विष्णुस्वामिवचनम् (१—७—६)

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः ।
स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः ॥८॥

सच्चिदानन्द-स्वरूप ईश्वर ह्लादिनी एवं सम्वित् शक्तियों द्वारा पूर्ण है और जीव अपने अज्ञान द्वारा आवृत्त है, इसलिये जीव बहुविध क्लेशों की खान है। अतः जीव और ईश्वर में समानता नहीं हो सकती।

चै० च० चु० *टीका:*—इस श्लोक से जीव एवं ईश्वर में चार प्रकार के पार्थक्य का ज्ञान होता है। १. ईश्वर चिद्वस्तु है, किन्तु जीव के देहादि जड़ वस्तुएं हैं। २. ईश्वर आनन्द स्वरूप है, किन्तु जीव अनेक दुखों की खान या आकर-स्वरूप है। ३. ईश्वर माया का अधीश्वर है और जीव माया के आधीन है। ४-ईश्वर ह्लादिनी एवं सम्वित् शक्ति सम्पन्न है, किन्तु जीव में ये शक्तियां नहीं हैं। इसलिये जीव को कभी भी ईश्वर की तुलना नहीं दी जा सकती।

येइ मूढ़ कहे—जीव ईश्वर हय सम ।
सेइ त पाषण्डी हय दण्डे तारे यम ॥१०७॥

श्रीमहाप्रभु ने आगे कहा—"जो मूर्खलोग जीव और ईश्वर को समान कहते हैं, वे पाषण्डी हैं और उन्हें यम से दण्ड मिलता है" ॥१०७॥

तथाहि हरिभक्तिविलासे (१—७३)

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादि दैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥९॥

जो व्यक्ति ब्रह्मा एवं रुद्रादि देवताओं को श्रीनारायणदेव के समान देखता है अर्थात् ब्रह्मा-रुद्रादि देवताओं को भी श्रीनारायण देव के समान मानता है। वह व्यक्ति निश्चय ही पाषण्डी है ॥९॥

चै० च० चु० *टीका:*—ब्रह्मा-रुद्र एवं आदि शब्द से यहां अन्यान्य इन्द्र देवताओं से अभिप्राय है, ये सब श्रीभगवान् की विभूति या शक्ति से आविष्ट जीव-तत्त्व ही हैं। ब्रह्मा दो प्रकार के होते हैं।

१. जीव कोटि २. ईश्वरकोटि। किसी किसी महाकल्प में उपासना के प्रभाव से कोई जीव--विशेष ब्रह्मा बना करता है और किसी कल्प में श्रीविष्णु ही ब्रह्मा रूप से प्रगट होते हैं (पाद्म-वचन) : श्रीमद्भागवत (४—२४—२६) में कहा गया है कि जो व्यक्ति सौ जन्म पर्यन्त निष्ठा के साथ स्वधर्म पालन करता है, वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है ।

इसी प्रकार रुद्र भी जीवकोटि एवं ईश्वरकोटि भेद से दो प्रकार के हैं। जिस कल्प में योग्य जीव प्राप्त हो जाता है, उस कल्प में भगवान् उसी जीव में ही संहार-शक्ति सञ्चारित कर देते हैं और वही रुद्र का कार्य करता है। योग्य जीव प्राप्त न होने पर श्रीविष्णु ही रुद्ररूप में प्रगट होकर सृष्टि कार्य निर्वाह करते हैं, (द्रष्टव्य आदि-लीला पृष्ठ १३१) इस प्रकार 'ब्रह्मा-रुद्रादि को भी जो श्रीनारायण के समान कहते हैं, उन्हें पाषण्डी कहा गया है फिर किसी साधारण जीव या संन्यासी को श्रीनारायण मानना घोर अपराध है—इसमें कहना ही क्या है ? जीव तथा ईश्वर को समान जानने वाले को पाषण्डी कहा जाता है—इस बात के समर्थन में उक्त श्लोक उल्लिखित किया गया था। प्रसङ्ग वश कोई यह भी कह सकता है कि उक्त श्लोक में जिन ब्रह्मा--रुद्र आदि की बात कही गई है, वे जीव--कोटि ब्रह्मा एवं जीव-कोटि रुद्र के सम्बन्ध में हो सकती है, किन्तु ईश्वर--कोटि ब्रह्मा तथा रुद्र के सम्बन्ध में नहीं है। अतः ईश्वर--कोटि ब्रह्मा तथा ईश्वर--कोटि रुद्र को यदि श्रीनारायण के समान माना जाए तब तो पाषण्ड अथवा किसी दोष की आशङ्का नहीं रहती ? इस में तो ईश्वर--स्वरूप का कोई अपकर्ष नहीं होता ?

इसके समाधान में वक्तव्य यह है कि ईश्वरकोटि--ब्रह्मा एवं ईश्वरकोटि--रुद्र को श्रीनारायण के समान मान लेने में ईश्वर--स्वरूप का कुछ अपकर्ष नहीं होता, किन्तु श्रीनारायण की महिमा का अपकर्ष अवश्य सूचित होता है। क्यों कि श्रीनाराण सत्व, रज, तम—इन तीनों माया के गुणों से परे हैं। उनके साथ माया के गुणों का कोई संश्रव नहीं है। किन्तु ईश्वरकोटि--ब्रह्मा तथा रुद्र इन दोनों का स्वरूपतः ईश्वर होने पर भी प्राकृत ब्रह्माण्ड--व्यापार में माया के गुणों के साथ सम्बन्ध है। ब्रह्मा रजोगुण द्वारा सृष्टि करते हैं एवं रुद्र तमोगुण के द्वारा सृष्टि का संहार करते हैं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती पाद ने इस श्लोक की टीका में लिखा है कि रजोगुण ब्रह्मा को एवं तमोगुण रुद्र को उपरञ्जित कर देते हैं। अपने गुण--प्रभाव से ये दोनों गुण उनके आनन्द में विक्षेप एवं आवरण सम्पादित कर देते हैं। इसलिये उनके विग्रह रजोगुणमय एवं तमोगुणमय के समान ही हो जाते हैं। अतः वे सगुण कहलाते हैं, किन्तु श्रीविष्णु या श्रीनारायण जो सत्वगुण के द्वारा सृष्टि का पालन करते हैं, वे सत्व गुण से रञ्जित नहीं होते क्योंकि सत्वगुण उदासीन एवं प्रकाशरूप हैं। उसमें रञ्जकत्व नहीं है। सत्वगुण में रञ्जकत्व न होने से श्रीविष्णु निर्गुण ही रहते हैं। अतः ब्रह्मा--रुद्रादि की उपासना से जीव माया--गुणातीत नहीं हो सकता, किन्तु निर्गुण श्रीनारायण की उपासना से जीव गुणातीत हो जाता है। अतः उपासना की दृष्टि से ईश्वरकोटि ब्रह्मा एवं रुद्र की श्रीनारायण के साथ समानता मानने में श्रीनारायण की महिमा का अपकर्ष सूचित होता है ।

जीव-कोटि ब्रह्मा एवं रुद्र के साथ श्रीनारायण का स्वरूपगत भेद है। वे जीवकोटि हैं परन्तु श्रीनारायण ईश्वरकोटि है और ईश्वरकोटि ब्रह्मा एवं शिव का श्रीनारायण के साथ स्वरूपगत भेद नहीं हैं, किन्तु महिमागत भेद है। यहां ब्रह्मा, शिव एवं श्रीनारायण तीनों स्वरूपतः आनन्द स्वरूप ईश्वर होते हुए भी रजोगुण के विक्षेपात्मक धर्मवशतः श्रीब्रह्मा का आनन्द विक्षेपविशिष्ट हो जाता है और तमोगुण के आवरणात्मक धर्मवशतः श्रीशिव का आनन्द आवरण--विशिष्ट हो जाता है, अतः उनमें

साक्षात् परब्रह्मत्व एवं उपकारकत्व नहीं रहता और इस लिये वे धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनों को ही प्रदान कर सकते हैं। किन्तु सत्वगुण के प्रकाशात्मक धर्मवशतः श्रीविष्णु का आनन्द प्रकाश-विष्टि ही रहता है, जिससे कुछ भी क्षति नहीं होती। इसलिये उन्हें श्रेष्ठ उपास्य कहा गया है और उनमें साक्षात् परब्रह्मत्व तथा उपकारत्व रहता है। वे धर्म, अर्थ, काम के साथ साथ मोक्ष भी प्रदान कर सकते हैं। अतः श्री ब्रह्मा--रुद्रादि को श्रीविष्णु के समान मानने में श्रीविष्णु की महिमा का अपकर्ष सूचित होता है, जो अपराध-जनक है।

नामापराध प्रकरण में जहाँ श्रीशिव के एवं श्रीविष्णु के गुण--नामादिक में भेद मानने को अपराध कहा गया है, वहां भी स्वरूपगत भेद मानने में अपराध कहा गया है। महिमा--गत भेद समस्त भगवत् स्वरूपों में उनके स्वरूप, नाम--लीला एवं गुण तथा धाम के तारतम्यानुसार शास्त्रों में निरूपण किया ही गया है। अतः उक्त श्लोकों में परस्पर महिमा की समानता मानने में ही पाषण्ड अथवा दोष वर्णन किया गया है।

सारांश यह है कि मूल-नारायण श्रीकृष्ण परमब्रह्म, परम स्वतन्त्र तत्त्व है एवं ब्रह्मा-रुद्रादि उनकी ही अंश-विभूतियां हैं, उनको श्रीनारायण के समान मानने में जब दोष एवं अपराध है, फिर साधारण जीव को श्रीनारायण के समान कहना पाषण्ड कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

लोक कहे—तोमाते कभु नहे जीवमति। कृष्णेर सदृश तोमार आकृति—प्रकृति ॥१०८॥
आकृत्ये तोमाके देखि ब्रजेन्द्रनन्दन। देहकान्ति पीताम्बर कैल आच्छादन ॥१०९॥
मृगमद वस्त्रे बान्धि कभु ना लुकाय। ईश्वर स्वभाव तोमार ढाका नाहि याय ॥११०॥
अलौकिक प्रकृति तोमार बुद्धि अगोचर। तोमा देखि कृष्ण प्रेमे जगत् पागल ॥१११॥

विज्ञ-पुरुषों ने कहा—"प्रभो! आप में तो किसी की भी जीव-मति नहीं है अर्थात् आप तो जीव-कोटि में नहीं हैं, आपका रूप-लावण्य तथा स्वभाव श्रीकृष्ण के सदृश है। आकृति से आप को हम श्रीब्रजेन्द्रनन्दन ही देखते हैं। आपकी श्यामवर्णकान्ति को पीताम्बर ने आच्छादन कर रखा है। यदि कस्तूरी को किसी कपड़े में बाँध दिया जाये तो उसकी सुगन्धि कभी छिपती नहीं, उसी प्रकार आपका जो ईश्वर स्वभाव है, वह किसी प्रकार भी ढक नहीं सकता। आपका स्वभाव अलौकिक एवं बुद्धि से परे अर्थात् अचिन्त्य है। आपके दर्शन करने मात्र से ही समस्त जगत् प्रेमोन्मत्त हो उठता है ॥१०८—१११॥

स्त्री बाल वृद्ध आर चाण्डाल यवन। येइ तोमार एकबार पाय दरशन ॥११२॥
कृष्णनाम लये नाचे हइये उन्मत्त। आचार्य हइल सेइ तारिल जगत ॥११३॥
दर्शने आछुक कार्य, ये तोमार नाम शुने। सेह कृष्णप्रेमे मत्त, तारे त्रिभुवने ॥११४॥
तोमार नाम शुनि हय श्वपच पावन। अलौकिक शक्ति तोमार ना याय कथन ॥११५॥

स्त्री, बालक, वृद्ध, चाण्डाल एवं यवनादि, कोई भी क्यों न हो, जो भी एकबार आपके दर्शन करता है, वही श्रीकृष्णनाम लेकर प्रेमोन्मत्त होकर नृत्य करने लगता है, और वही आचार्य हो जाता है एवं समस्त जगत् का उद्धार करने लगता है। यह तो आपके दर्शन का प्रभाव है। जो कोई आपका नाम सुनता है, वह भी श्रीकृष्णप्रेम में उन्मत्त होकर, त्रिभुवन को पवित्र करने वाला हो जाता है। आपका नाम सुनकर श्वपच भी पवित्र हो जाते हैं, आपकी अलौकिक शक्ति का कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। (जैसा कि श्रीभागवतजी में कहा गया है) ॥११२—११५॥

तथाहि (भा: ३—३—७६)—

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्त्तनात् यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥१०॥

देवहूतिजी ने श्रीकपिलदेव भगवान् के प्रति कहा है—"हे भगवान् ! कभी आपका नाम श्रवण या कीर्त्तन करने पर किंवा आप को नमस्कार कर लेने से या स्मरण कर लेने से कुकुर-मांस भोजी—श्वपच भी तत्क्षण सोमयाग की योग्यता अर्थात् ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है, अतः आपके दर्शन करके लोग पवित्र हो जाते हैं, इस सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है ? (विशेष टीका पृष्ठ ४५२ पर द्रष्टव्य है ।)

एइ त महिमा तोमार तटस्थ-लक्षण । स्वरूप-लक्षणे तुमि ब्रजेन्द्रनन्दन ॥११६॥
सेइ सबलोके प्रभु प्रसाद करिल । प्रेम नामे मत्त लोक निज घरे गेल ॥११७॥
एइमत कथोदिन अक्रूरे रहिला । कृष्णनामप्रेम दिया लोक निस्तारिला ॥११८॥
माधवपुरोर शिष्य सेइ त ब्राह्मण । मथुराते घरे घरे करान निमन्त्रण ॥११९॥
मथुरार यत लोक ब्राह्मण-सज्जन । भट्टाचार्य-स्थाने आसि करे निमन्त्रण ॥१२०॥

विज्ञ-पुरुषों ने कहा—"यह समस्त महिमा आपका तटस्थ-लक्षण है और स्वरूप-लक्षण से तो आप श्रीब्रजेन्द्रनन्दन ही हैं ।" इस प्रकार उन सब लोगों पर श्रीमहाप्रभु ने अपनी कृपा की और वे सब प्रेम एवं नाम में उन्मत्त होकर अपने अपने घर लौट आए । कुछ दिन प्रभु अक्रूरघाट पर रहे और श्रीकृष्णनाम-प्रेम प्रदान कर लोगों का उद्धार किया । वह ब्राह्मण जो श्रीमाधवपुरी पाद का ही शिष्य था, वह प्रभु को घर घर में निमन्त्रण कराने लगा । मथुरा के जितने सज्जन एवं ब्राह्मण लोग थे, सब आ आकर श्रीभट्टाचार्य के पास प्रभु के निमन्त्रण की प्रार्थना करते ।।११६—१२०।।

एकदिन दशविश आइसे निमन्त्रण । भट्टाचार्य एकमात्र करेन ग्रहण ॥१२१॥
अवसर ना पाय लोक निमन्त्रण दिते । सेइ विप्रे साधे लोक निमन्त्रण निते ॥१२२॥
कान्यकुब्ज दाक्षिणात्य वैदिक ब्राह्मण । दैन्य करि करे महाप्रभुर निमन्त्रण ॥१२३॥
प्रातःकाले अक्रूरे आसि रन्धन करिया । प्रभु के भिक्षा देन शालग्रामे समर्पिया ॥१२४॥

एक एक दिन में दस-बीस निमन्त्रण आजाते किन्तु श्रीभट्टाचार्य किसी एक व्यक्ति का निमन्त्रण स्वीकार कर लेते । लोगों को निमन्त्रण स्वीकार कराने का अवसर ही न मिलता । जिसे निमन्त्रण स्वीकार कराना होता, वह उस सनोड़िया-ब्राह्मण को अनुमोदन के लिये प्रभु के पास ले जाता । कान्यकुब्ज, दाक्षिणात्य एवं वैदिक ब्राह्मण—सभी अत्यन्त दीनता पूर्वक श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रित करते । प्रातःकाल में ही वे अक्रूरघाट पर आ जाते और वहीं रसोई तैयार करके श्रीशालग्राम को भोग लगाकर श्रीमहाप्रभु को भोजन कराते ।।१२१—१२४।।

एकदिन अक्रूर घाटेर उपरे । वसि महाप्रभु किछु करेन विचारे ॥१२५॥
एइ घाटे अक्रूर वैकुण्ठ देखिल । ब्रजवासी लोक गोलोक दर्शन पाइल ॥१२६॥

एत बलि झांप दिल जलेर उपरे। डुबिया रहिल प्रभु जलेर भितरे ॥१२७॥
देखि कृष्णदास कान्दि फुकार करिल। भट्टाचार्य शीघ्र आसि प्रभु उठाइल ॥१२८॥

एकदिन अक्रूरघाट पर बैठ हुये श्रीमहाप्रभु जी विचार कर रहे थे कि—"इसी घाट पर अक्रूर ने यमुना जी में वैकुण्ठ देखा था और व्रजवासी लोगों ने गोलोक के दर्शन किये थे।" इतना सोचते ही श्रीमहाप्रभु जल में कूद पड़े और कुछ देर तक जल में डुबकी लगाये पड़े रहे। श्रीकृष्णदास देखते ही रोने-चिलाने लगे कि झट श्रीभट्टाचार्य जी ने आकर प्रभु को बाहर निकाल लिया ॥१२५—१२८॥

तबे भट्टाचार्य सेई ब्राह्मण लइया। युक्ति करिला किछु निभृते वसिया ॥१२९॥
आजि आमि आछिला उठाइल प्रभुरे। वृन्दाबने डुबे यदि, के उठावे ताँरे ? ॥१३०॥
लोकेर सङ्घट्ट, निमन्त्रणेर जञ्जाल। निरन्तर आवेश प्रभुर ना देखिये भाल ॥१३१॥
वृन्दाबन हैते यदि प्रभुरे काढ़िये। तबे मङ्गल हय, एइभाल युक्ति हये ॥१३२॥

श्रीभट्टाचार्य ने माथुर--ब्राह्मण को बुलाया और एकान्त स्थान पर बैठ कर कहने लगे—"ब्रह्मन्! देखिये आज तो मैं उस समय यहाँ उपस्थित था, जब श्रीमहाप्रभु यमुना में कूद पड़े और मैंने उठा लिया" किन्तु श्रीवृन्दावन में इस प्रकार वे कूद पड़े, तो उस समय इन्हें कौन यमुना से बाहर करेगा ? और फिर यहां लोगों की भीड़--भाड़ होने लगी है, दिन-रात निमन्त्रण करने वालों का जंजाल होता है। इधर श्रीमहाप्रभु निरन्तर आवेश में रहते हैं, अतः मुझे अब यहाँ रहना ठीक नहीं दीखता। अब श्रीमहाप्रभु को यदि किसी प्रकार श्रीवृन्दावन से अन्यत्र ले जाया जाये तो ठीक रहेगा ॥१२९-१३२॥

विप्र कहे प्रयागे प्रभुरे लये याइ। गङ्गातीर पथे याइ, तबे सुख पाइ ॥१३३॥
सोरों क्षेत्रे आगे याञा करि गङ्गा स्नान। सेइ पथे प्रभु लञा करिये प्रयाण ॥१३४॥
माघ मास लागिल, एबे यदि याइये। मकरे प्रयाग स्नान कथोदिने पाइये ॥१३५॥
आपनार दुख किछु करि निवेदन। मकर पौंछसि प्रयागे करिह सूचन ॥१३६॥
गङ्गातीर पथेर सुख जानाइह तांरे। भट्टाचार्य आसि तबे कहिल प्रभुरे ॥१३७॥

श्रीभट्टाचार्य के वचन सुनकर माथुर ब्राह्मण ने कहा—'आपकी बात ठीक है, प्रभु को प्रयाग में ले जाओ और इन्हें गङ्गा के किनारे ले जाओ जिस से इन्हें अति सुख मिलेगा। पहले सोरों क्षेत्र में जाकर गङ्गा स्नान करिये फिर वहां से प्रभु को प्रयाग ले जाना चाहिये। माघमास भी लग गया है, अब जाने से मकर का प्रयाग स्नान भी कुछ दिन तक मिलेगा। और भट्टाचार्य! तुम कुछ अपना दुख भी प्रभु के आगे प्रकट करो और उन्हें प्रयाग की मकर--पूर्णिमा की भी सूचना कर दो एवं गङ्गा के किनारे जो रास्ता है, उसका भी कुछ सुख प्रभु के आगे वर्णन करो—इस प्रकार सम्भवतः प्रभु का मन अन्यत्र चलने के लिये सहमत हो जावे। तदनन्तर अवसर पाकर श्रीभट्टाचार्य जी ने प्रभु से आकर निवेदन किया।

सहिते ना पारि आमि लोकेर गड़बड़ी। निमन्त्रण लागि लोक करे हुड़ाहुड़ी ॥१३८॥
प्रातःकाले आइसे लोक तोमारे ना पाय। तोमारे ना पाञा लोक मोर माथा खाय ॥१३९॥
तबे सुख हय—यदि गङ्गापथे याइ। एवे यदि याइ, प्रयागे मकरस्नान पाइ ॥१४०॥

उद्विग्न हइल प्राण, सहिते ना पारि। प्रभुर ये आज्ञा हय, सेइ शिरे धरि ॥१४१॥
यद्यपि वृन्दाबनत्यागे नाहि प्रभुर मन। भक्त-इच्छा करिते कहे मधुर वचन—॥१४२॥

श्रीभट्टाचार्य ने कहा—"प्रभो! अब लोग यहां आकर आपके निमन्त्रण के लिये बहुत गड़बड़ और झगड़ा करते हैं, जिसे मैं तो अब सहन भी नहीं कर सकता हूँ। प्रातःकाल आप तो श्रीवृन्दावन चले जाते हैं। तभी लोग यहाँ आते हैं और आप के दर्शन न पाकर मेरा माथा बिगाड़ते हैं। मैं समझता हूँ-अब तो जभी इन लोगों से छुटकारा मिले, जब यहाँ से गङ्गा के किनारे किनारे चला जाये। हां, प्रभो! एक और बात भी है। यदि अब यहां से चला जाये तो प्रयाग में मकर-स्नान भी प्राप्त हो जायगा। मेरे प्राण तो यहाँ से उद्विग्न होगये हैं, मैं तो सहन भी नहीं कर सकता। आगे जो प्रभु की आज्ञा हो, वही शिरोधार्य है।" यद्यपि प्रभु का मन श्रीवृन्दाबन को छोड़ने का नहीं था। तो भी भक्त की इच्छा पूर्ण करते हुये श्रीमहाप्रभु मधुर वचन बोले—॥१३८—१४२॥

तुमि आमाय आनि देखाइले बृन्दाबन। एइ ऋण आमि नारिव करिते शोधन ॥१४३॥
ये तोमार इच्छा, आमि से-इ त करिव। याहां लञा याह तुमि, ताहांइ याइव ॥१४४॥
प्रातःकाले महाप्रभु प्रातःस्नान कैल। 'वृन्दाबन छाड़िव' जानि प्रेमावेश हैल ॥१४५॥
बाह्य विकार नाहि, प्रेमाविष्ट मन। भट्टाचार्य कहे चल याइ महाबन ॥१४६॥
एत बलि भट्टाचार्य नौकाय बसाइया। पार करि भट्टाचार्य चलिला लइया ॥१४७॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"भट्टाचार्य! आपने मुझे ले आकर यहाँ श्रीवृन्दाबन के दर्शन कराये हैं। मैं आपके इस ऋण को नहीं चुका सकता, जो आपकी इच्छा हो, मुझे तो वही करना है। जहाँ मुझे ले चलो मैं वहां ही चला चलूंगा।" प्रातःकाल उठकर श्रीमहाप्रभु जी ने प्रातः स्नान किया और 'श्रीवृन्दाबन से अन्यत्र चलना है,—यह बात जानकर प्रभु प्रेमाविष्ट होगये, किन्तु बाहर कुछ विकार प्रगट न हुआ। उनका मन ही प्रेमाविष्ट होगया। श्रीभट्टाचार्य ने कहा-"प्रभो! चलिये महाबन (गोकुल) चलें।" इतना कहकर उन्होंने श्रीमहाप्रभु को नौका में बैठाया और यमुना पार चले आए ॥१४३—१४७॥

प्रेमी कृष्णदास आर सेइ-त ब्राह्मण। गङ्गापथे याइबार विज्ञ दुइ जन ॥१४८॥
याइते एक वृक्षतले प्रभु सभा लञा। वसिल सभार पथश्रान्ति देखिया ॥१४९॥
से वृक्ष निकटे चरे बहु गावीगण। ताहा देखि महाप्रभुर उल्लासित मन ॥१५०॥
आचम्बिते एक गोप वंशी बाजाइल। शुनि महाप्रभुर महा प्रेमावेश हैल ॥१५१॥
अचेतन हञा प्रभु भूमिते पड़िल। मुखे फेन पड़े, नासाय श्वास रुद्ध हैल ॥१५२॥

प्रेमी कृष्णदास तथा वह माथुर-ब्राह्मण तथा अन्य दो व्यक्ति जो गङ्गापथ के जानकार थे—सब श्रीमहाप्रभु के साथ साथ चले आए। कुछ दूर आकर सब को थका हुआ जानकर श्रीमहाप्रभु सब के साथ एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिये बैठ गये। उस वृक्ष के आस-पास अनेक गौवें चर रही थीं। उन्हें देखकर श्रीमहाप्रभु का मन आनन्दित हुआ। अचानक वहां एक गोपने आकर वंशी बजाई,फिरतो क्या था? उस वंशीध्वनि को सुनते ही श्रीमहाप्रभु को तो महाप्रेमावेश होगया। वे बेसुद्धि होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उनके मुख से झाग आने लगे और नासिका से श्वास का आना जाना बन्द होगया ॥१४८—१५२॥

हेन काले ताहां आसोयार दश आइला । म्लेच्छ पाठान घोड़ा हैते उत्तरिला ॥१५३॥
प्रभुके देखिया म्लेच्छ करये विचार— । एइ–यति–पाश छिल सुवर्ण अपार ॥१५४॥
एइ चारि बाटोयार धुतुरा खाओयाइया । मारि डारियाछे यतिर सब धन लैया ॥१५५॥
तबे सेइ पाठान चारि जनेरे बांधिला । काटिते चाहे, गौड़िया सब कांपिते लागिला ॥१५६॥

इसी समय दस घुड़--सवार वहाँ आ पहुँचे, वे म्लेच्छ पठान थे। इन सब को बैठा देखकर वे घोड़ों से उतर पड़े। प्रभु की मूर्छित दशा देखकर उन्होंने मन में विचार किया कि—"इस संन्यासी के पास बहुत सा धन होगा। ये जो चार जनें इस के चारों ओर बैठे हैं—ये डाकू दिखाई देते हैं। इन्होंने इस संन्यासी को धतूरा खिला कर मार दिया है और इस का धन छुड़ा लिया है।" इतना अनुमान कर उन पठानों ने उन चारों को (श्रीकृष्णदास, माथुर ब्राह्मण, श्रीबलभद्र भट्टाचार्य तथा बलभद्र भट्टाचार्य के सेवक ब्राह्मण को) बांध दिया और मारना चाहते थे ! श्रीभट्टाचार्य तथा उसका सेवक ब्राह्मण—ये दोनों गौड़िया तो भय से काँपने लगे ॥१५३—१५६॥

कृष्णदास राजपूत निर्भय बड़ । सेइ विप्र निर्भय—मुखे बड़ दढ़ ॥१५७॥
विप्र कहे पाठान ! तोमार पात्शार दोहाइ । चल तुमि आमि सिकदार–पाश याइ ॥१५८॥
ए यति आमार गुरु, आमि माथुर ब्राह्मण । पात्शाहार आगे आछे मोर शतजन ॥१५९॥
एइ यति व्याधिते कभु हये त मूर्च्छित । अवहि चेतन पाव, हइब संवित ॥१६०॥
क्षणेक इहां वैस बान्धि राखह सभारे । इहांके पुछिया तबे मारिह सभारे ॥१६१॥

श्रीकृष्णदास राजपूत था एवं वह स्वाभाविक बहुत निर्भय था। माथुर--ब्राह्मण भी निर्भय एवं ज़ोरदार बात बनाकर कहने वाला था। माथुर--ब्राह्मण ने कहा—"पठान ! तुम्हें अपने बादशाह (राजा) की शपथ है, जो तुम समझ रहे हो वह बात नहीं है। चलो, हम तुम्हारे राजा के पास चलने को तैयार हैं। यह संन्यासी हमारा गुरु है, मैं मथुरा का रहने वाला ब्राह्मण हूँ। तुम्हारे राजा के पास सैंकड़ों व्यक्ति मेरी जान–पहचान के हैं। इसको कभी-कभी एक व्याधिवश मूर्च्छा आ जाया करती है, अभी इन्हें चेतनता आई जाती है, और सावधान हो जायेंगे। कुछ देर यहाँ रहो, भले ही हमें बान्धे रखो। पहले इनसे सब बात पूछ लो, फिर हमें मार डालना" ॥१५७—१६१॥

पाठान कहे—तुमि पश्चिमा साधु दुइजन । गौड़िया ठक एइ कांपे दुइजन ॥१६२॥
कृष्णदास कहे–आमार घर एइग्रामे । शतेक तुरुकी आछे दुइशत कामाने ॥१६३॥
एखनि आसिवे सब, आमि यदि फुकारि । घोड़ा पिड़ा लुटि लवे तोमासभा मारि॥१६४॥
गौड़िया बाटपाड़ नहे, तुमि बाटपाड़ । तीर्थवासी लुट आर चाह मारिबार ॥१६५॥

पठान बोले—"तुम दोनों (माथुर ब्राह्मण एवं श्रीकृष्णदास) तो पश्चिम देश के रहने वाले भले दीखते हो। किन्तु ये दोनों गौड़िया (श्रीभट्टाचार्य एवं उसका सेवक ब्राह्मण) हमें ठग नज़र आते हैं, तभी ये काँप भी रहे हैं। उनकी बात सुन कर श्रीकृष्णदास ने कहा—"मेरा घर तो इसी गांव में है और वहां सौ एक मुसलमान भी हैं।और दो सौ बन्दूकें भी हैं। यदि मैं अभी पुकारूं तो सभी यहाँ आजाएंगे और तुम्हारे घोड़ा एवं सब कपड़ा-लत्तादि छुड़ा लेंगे और तुम्हें जान से मार देंगे। ओ पठान ! तुम ही डाकू हो, ये गौड़िया डाकू नहीं हैं। तुम ही तीर्थवासियों को लूटना और मारना चाहते हो॥१६५॥

शुनिया पाठान मने सङ्कोच हैल। हेनकाले महाप्रभु चेतन पाइल ॥१६६॥
हुङ्कार करिया उठे, बोले "हरि-हरि"। प्रेमावेशे नृत्य करे ऊर्ध्वबाहु करि ॥१६७॥
प्रेमावेशे प्रभु यबे करेन चीत्कार। म्लेच्छेर हृदये येन लागे शेलधार ॥१६८॥
भय पाञा म्लेच्छ छाड़ि दिल चारि जन। प्रभु ना देखिल निज गणेर बन्धन ॥१६९॥
भट्टाचार्य आसि प्रभुके धरि बसाइल। म्लेच्छगण देखि महाप्रभुर बाह्य हैल ॥१७०॥

श्रीकृष्णदास की बात सुन कर पठान लोग सहम गये और इधर श्रीमहाप्रभु को भी चेतना आगई। प्रभु हुँकार करते हुए उठे और 'हरि हरि' बोलने लगे। प्रेमावेश में दोनों भुजाओं को ऊंचा उठाकर प्रभु नृत्य करने लगे। प्रेमावेश में जब श्रीमहाप्रभु चीत्कार करते तो पठानों के हृदय में मानो वज्र की सी चोट लगती। पठानों ने भयभीत होकर उन चारों जनों को छोड़ दिया। प्रभु अभी इन चारों को बन्धा हुआ देख भी नहीं पाये थे। श्रीभट्टाचार्य ने आकर प्रभु को पकड़ कर बैठाया। श्रीमहाप्रभु उन पठानों को देखकर बाह्य-अवस्था को प्राप्त हुये ॥१६६—१७०॥

म्लेच्छगण आसि प्रभुर वन्दिल चरण। प्रभु आगे कहे-एइ ठक चारिजन ॥१७१॥
एइ चारि मिलि तोमाय धुतुरा खाओयाइया। तोमार धन लैल तोमाय पागल करिया ॥१७२॥
प्रभु कहेन, ठक नहे, मोर सङ्गीजन। भिक्षुक संन्यासी-मोर नाहि किछु धन ॥१७३॥
मृगी व्याधिते आमि हइ अचेतन। एइ चारि दया करि करेन पालन ॥१७४॥
सेइ म्लेच्छमध्ये एक परम गम्भीर। काल वस्त्र परे सेइ, लोके कहे 'पीर' ॥१७५॥
चित्त आर्द्र हइल तार प्रभुके देखिया। 'निर्विशेष ब्रह्म' स्थापे स्वशास्त्र उठाइया ॥१७६॥

पठान लोग प्रभु के पास चले आये एवं उनके चरणों की वन्दना की। वे प्रभु से कहने लगे—"ये चारों ठग दीखते हैं, इन्होंने मिलकर आपको धतूरा खिला दिया था जिस से आपको पागल बनाकर इन्होंने आपका सब धन लूट लिया है।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"अरे! ये ठग नहीं हैं। ये तो मेरे साथी हैं। मैं एक भिक्षु संन्यासी हूँ मेरे पास धन कहाँ से आया? मैं मृगी की व्याधि से अचेतन हो जाया करता हूँ, यही चारों मुझ पर दया करके मेरी रक्षा किया करते हैं।" उन पठानों में एक व्यक्ति परम गम्भीर था, उसने काले वस्त्र पहर रखे थे और उसे सब 'पीर' कहते थे। श्रीमहाप्रभु के दर्शन करते ही उसका चित्त द्रवीभूत होगया और वह कुछ शास्त्र चर्चा करने लगा। उसने अपने कुरानादि शास्त्र के द्वारा निर्विशेष-ब्रह्म की स्थापना की अर्थात् ब्रह्म निर्गुण निराकार है, ऐसा उसने अपना मत स्थापन किया ॥

'अद्वयवाद' सेइ करिल स्थापन। तारि शास्त्रयुक्त्ये प्रभु करिल खण्डन ॥१७७॥
येइ-येइ कहे, प्रभु सकलि खण्डिल। उत्तर ना आइसे मुखे, महा स्तब्ध हैल ॥१७८॥
प्रभु कहे-तोमार शास्त्रे स्थापि 'निर्विशेष'। ताहा खण्डि 'सविशेष' स्थापियाछे शेष ॥१७९
तोमार शास्त्रे कहे शेषे—एकइ ईश्वर। सर्वैश्वर्य्यपूर्ण तेंहो श्याम-कलेवर ॥१८०॥
सच्चिदानन्द देह—पूर्णब्रह्मरूप। सर्वात्मा सर्वज्ञ नित्य सर्वादि स्वरूप ॥१८१॥
सृष्टि स्थिति प्रलय तांहा हैते हय। स्थूल-सूक्ष्म जगतेर तेंहो समाश्रय ॥१८२॥

उस मुसलमान-पीर ने अद्वैतवाद अर्थात् जीव एवं ब्रह्म की अभेदता की स्थापना की। किन्तु श्रीमहाप्रभु ने उन्हीं के शास्त्र की युक्ति से उसके मत का खण्डन किया। जो कुछ उस पीर ने कहा—श्रीमहाप्रभु ने उस समस्त का खण्डन किया। उस पीर से फिर कोई उत्तर न बन सका, जड़वत् चुप होगया। श्रीमहाप्रभु ने कहा—"पीर ! सुनो, तुम्हारे शास्त्र ने पहले निर्विशेष ब्रह्म की स्थापना की है परन्तु फिर अन्त में उस निर्विशेष का खण्डन करके सविशेष ब्रह्म की स्थापना की है। तुम्हारा शास्त्र अन्त में कहता है कि ईश्वर एक है और वह षड़ैश्वर्य पूर्ण है और उसके शरीर का रंग काला है ! उसका विग्रह सच्चिदानन्दमय है, वह पूर्ण ब्रह्म है। वह सब को आत्मा है, वह सर्वज्ञ, नित्य एवं सब का आदि स्वरूप है। इस जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय सब उसी के द्वारा होती है। स्थूल अर्थात् ब्रह्माण्डादि जगत् तथा सूक्ष्म अर्थात् स्वर्गादि या चिन्मय भगवद्धामादि का वही ही एकमात्र आश्रय है ॥१७२-१८२॥

सर्वश्रेष्ठ सर्वाराध्य कारणेर कारण। तांर भक्त्ये हय जीवेर संसार तारण ॥१८३॥
तांर सेवा बिना जीवेर ना याय संसार। तांहार चरणे प्रीति—पुरुषार्थसार ॥१८४॥
मोक्षादि आनन्द यार नहे एक कण। पूर्णानन्दप्राप्ति—तांर चरणसेवन ॥१८५॥
कर्म ज्ञान योग आगे करिया स्थापन। सब खण्डि स्थापे शेषे ईश्वर सेवन ॥१८६॥
तोमार पण्डित-सभेर नाहि शास्त्र ज्ञान। पूर्व-पर-विधि मध्ये पर बलवान् ॥१८७॥
निज शास्त्र देख तुमि विचार करिया। किवा लिखियाछे शेषे निर्णय करिया १८८॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा कि तुम्हारे शास्त्र में भी ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ, सर्वाराध्य, तथा सब कारणों का कारण माना गया है, उसकी भक्ति करने से ही जीव संसार-सागर से तर सकता है। उसकी सेवा के बिना जीव का संसार से उद्धार नहीं हो सकता। उसके चरणों की प्रीति ही सर्व पुरुषार्थों का सार कही गई है। उसके चरणों की सेवा में ही पूर्ण आनन्द की प्राप्ति है। कर्म, ज्ञान, योग को पहले स्थापन करके फिर उनका खण्डन करके अन्त में ईश्वर-सेवा की ही स्थापना की गई है। तुम्हारे विद्वानों को शास्त्र का पूरा ज्ञान नहीं था, एक बात के ऊपर जो दूसरी बात स्थापन की जाती है—उसमें दूसरी बात ही अधिक जोरदार हुआ करती है। तुम अपने शास्त्र को विचार पूर्वक फिर देखो, अन्त में निर्णय करके वहां क्या लिखा है ? ॥१८३—१८८॥

म्लेच्छ कहे, ये-इ कहे, से-इ-सत्य हय। शास्त्रे लिखियाछे, केहो लैते ना पारय ॥१८९॥
'निर्विशेष गोसाञि' लञा करेन व्याखान। 'साकार गोसाञि सेव्य' कारो नाहि ज्ञान ॥१९०
सेइ त गोसाञि तुमि साक्षात् ईश्वर। मोरे कृपा कर, मुञि अयोग्य पामर ॥१९१॥
अनेक देखिनु मुञि म्लेच्छ शास्त्र हैते। साध्य साधन-वस्तु नारि निर्द्धारिते ॥१९२॥
तोमा देखि जिह्वा मोर बले 'कृष्ण कृष्ण' नाम। "आमि बड़ ज्ञानी'-एइ गेल अभिमान ॥
कृपा करि बोल मोरे साध्य साधने। एतबलि पड़े महाप्रभुर चरणे ॥१९४॥

पीर ने कहा—"प्रभो ! आपने जो कहा है, वही सत्य है। शास्त्र में यही बात लिखी है, किन्तु उसे कोई ग्रहण नहीं कर सकता। निर्विशेष-ईश्वर को लेकर तो व्याख्या आरम्भ की है किन्तु सेव्य साकार-ईश्वर ही है—इस बात का किसी को ज्ञान नहीं है। वह साकार-ईश्वर साक्षात् तुम हा तो हो। आप मुझ पर कृपा कोजिये, मैं एक मूढ़ अधम जीव हूँ। मैंने म्लेच्छ-शास्त्र का खूब अध्ययन किया है

किन्तु साधन एवं साध्य वस्तु का कुछ निर्णय नहीं कर सका हूँ। आपके दर्शन करते ही मेरी जिह्वा 'कृष्ण कृष्ण' नाम का उच्चारण कर रही है।' मैं बड़ा ज्ञानी हूँ'—ऐसा अभिमान मेरा सब दूर होगया है। आप कृपा पूर्वक मुझे साध्य एवं साधन तत्त्व बतलाइये", इतना कहकर वह पीर श्रीमहाप्रभु के चरणों पर गिर पड़ा ॥१८९—१९४॥

प्रभु कहे-उठ, कृष्णनाम तुमि लैले। कोटि जन्मेर पाप गेल पवित्र हइले ॥१९५॥
"कृष्ण कह कृष्ण कह" कैल उपदेश। सभे 'कृष्ण' कहे, सभार हैल प्रेमावेश ॥१९६॥
"रामदास" बलि प्रभु तार कैल नाम। आर एक पाठान,तार नाम "बिजुलिखान्"॥१९७॥
अल्प वयस तार—राजार कुमार। रामदास आदि पाठान चाकर ताहार ॥१९८॥
कृष्ण बलि पड़े सेइ महाप्रभुर पाय। प्रभु श्रीचरण दिल ताहार माथाय ॥१९९॥
ता-सभारे कृपा करि प्रभु त चलिला। सेइ त पाठान सब वैरागी हइला ॥२००॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"पीर ! उठो, उठो, तुमने श्रीकृष्णनाम का उच्चारण किया है, तुम्हारे कोटि जन्मों के पाप नष्ट होगये हैं और तुम पवित्र हो चुके हो। तुम सदा "श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण" कहा करो—इस प्रकार प्रभु ने उसे उपदेश किया। सभी पठान 'कृष्ण' 'कृष्ण' कहने लगे और सभी प्रेमाविष्ट हो उठे। श्रीमहाप्रभु ने तब से उसका नाम 'रामदास' रख दिया और एक पठान का नाम 'बिजुलि खान्' था। वह छोटी वयस का था और वह राजकुमार था। रामदास आदि और सब पठान उसी के चाकर थे। सब 'श्रीकृष्णनाम' बोल कर श्रीमहाप्रभु जी के चरणों में गिर पड़े। श्रीमहाप्रभु ने अपने श्रीचरण का स्पर्श उनके सिर पर किया। उन सब पठानों पर--इस प्रकार कृपा करके श्रीमहाप्रभु वहाँ से चल दिये और वे सब पठान तभी से वैरागी होगये ॥१९५—२००॥

'पाठान वैष्णव' बलि हइल तार ख्याति। सर्वत्र गाइया बुले महाप्रभुर कीर्त्ति ॥२०१॥
सेइ बिजुलिखान् हैल परम भागवत। सर्वतीर्थे तांर परम महत्त्व ॥२०२॥
ऐछे लीला करे प्रभु श्रीकृष्णचैतन्य। पश्चिम आसिया कैल यवनादि धन्य ॥२०३॥
सोरोंक्षेत्रे आसि प्रभु कैल गङ्गा स्नान। गङ्गातीर-पथे कैल प्रयागे प्रयाण ॥२०४॥

वे सब 'पठान-वैष्णव' नाम से विख्यात हुए और वे सर्वत्र श्रीमन्महाप्रभु की कीर्त्ति का गान करते रहते थे। वह बिजलीखान् तो परम भागवत् हुआ और सर्व तीर्थों में उसकी महिमा फैल गई। इस प्रकार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु अनेक लीलाएं करते हैं। पश्चिम देश में आकर उन्होंने मुसलमानों का भी उद्धार कर दिया। सौरों क्षेत्र में आकर प्रभु ने गङ्गास्नान किया और गङ्गा किनारे किनारे प्रयाग की ओर चल दिये ॥२०१—२०४॥

सेइ विप्र कृष्णदासे प्रभु विदाय दिला। योड़हाते दुइजन कहिते लागिला ॥२०५॥
प्रयाग पर्य्यन्त दोंहे तोमा सङ्गे याव। तोमार चरणसङ्ग पुन कांहा पाव ॥२०६॥
म्लेच्छदेशे केहो काहां करये उत्पात्। भट्टाचार्य पण्डित कहिते ना जाने बात ॥२०७॥
शुनि महाप्रभु ईषत् हासिते लागिला। सेइ दुइजन प्रभुर सङ्गे चलि आइला ॥२०८॥

श्रीमहाप्रभु ने माथुर-ब्राह्मण तथा श्रीकृष्णदास को चलते समय विदा करना चाहा, किन्तु दोनों हाथ जोड़कर कहने लगे—"प्रभो ! प्रयाग तक तो हम आप के साथ साथ चलेंगे, क्योंकि फिर हमारे

लिये आपके चरण-दर्शन कब मिलेंगे ? और फिर मुसलमानी-देशों में से आप को निकलना है, कौन किस जगह क्या उत्पात् कर दे, भट्टाचार्य एवं इसका सेवक-ब्राह्मण तो इधर की बोली भी नहीं जानते, इसलिये हम आपके साथ साथ चलेंगे। उनके वचन सुनकर श्रीमहाप्रभुर मन्द मुसकराए (जगत् के पालक भगवान् की रक्षा का अभिमान इनके हृदय में है—प्रेम की प्रबलता एवं मदीयता भाव की महिमा जानकर प्रभु मुस्कराए)। वे दोनों श्रीमहाप्रभु जी के साथ साथ चले आये ॥२०५-२०८॥

येइ येइ जन प्रभुर पाय दरशन। से-इ-प्रेमे मत्त, करे कृष्णसंङ्कीर्त्तन ॥२०९॥
तार सङ्गे अन्यान्य, तार सङ्गे आन। एइमत वैष्णव कैल सब देश ग्राम ॥२१०॥
दक्षिण याइते यैछे शक्ति प्रकाशिल। सेइमत पश्चिमदेश प्रेमे भासाइल ॥२११॥
एइमत चलि प्रभु प्रयाग आइला। दशदिन त्रिवेणीते मकरस्नान कैला ॥२१२॥

रास्ते में जो व्यक्ति भी प्रभु के दर्शन करता, वही प्रेमोन्मत्त होकर श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन करने लगता, उसके साथ दूसरा व्यक्ति—इस प्रकार समस्त गांव-देश श्रीमहाप्रभु ने वैष्णव कर दिये। दक्षिण-यात्रा के समय जिस शक्ति का महाप्रभु ने प्रकाश किया, उसी करुणा—शक्ति से पश्चिम-देश (मथुरा—वृन्दाबनादि जो नीलाचल प्रदेश से पश्चिम की ओर पड़ते हैं) को भी प्रेम-वन्या में निमग्न कर दिया। इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु गङ्गा के किनारे किनारे चलते चलते प्रयाग आ पहुंचे एवं दश दिन तक त्रिवेणी में मकर-स्नान किया ॥२०९-२१२॥

वृन्दावन गमन प्रभुर चरित्र अनन्त। सहस्रवदन यार नाहि पाय अन्त ॥२१३॥
ताहा के कहिते पारे क्षुद्र जीव हञा। दिग्दर्शन कैल सूत्र करिया ॥२१४॥
अलौकिक लीला प्रभुर अलौकिक रीति। शुनिलेह भाग्यहीनेर ना हय प्रतीति ॥२१५॥
आद्योपान्त चैतन्यलीला अलौकिक जान। श्रद्धा करि शुन इहा सत्य करि मान ॥२१६॥
येइ तर्क करे इहा-से-इ-मूर्खराज। आपनार मुण्डे आपनि पाड़े बाज ॥२१७॥
चैतन्यचरित एइ अमृतेर सिन्धु। जगत् आनन्दे भासय यार एक विन्दु ॥२१८॥
श्रीरूप-रघुनाथ पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२१९॥

श्रीवृन्दावन-यात्रा में श्रीमहाप्रभु ने अनन्त चरित्र किये. जिनका श्रीअनन्त भगवान् अपने सहस्र वदनों से वर्णन करने पर भी पार नहीं पा सकते। उन चरित्रों को फिर मुझ जैसा क्षुद्र जीव कैसे वर्णन कर सकता है। यहां मैंने सूत्र रूप में वर्णन करके केवल उनका दिग्दर्शन कराया है। श्रीमन्महाप्रभु की अलौकिक लीलाएं हैं और उनकी अलौकिक रीति है, किन्तु ऐसा सुनने पर भी दुर्भागे व्यक्तियों को उन चरित्रों में प्रतीति नहीं होती है। अतः आदि से अन्त तक श्रीचैतन्य-लीलाओं को अलौकिक जानकर श्रद्धापूर्वक सुनिये एवं उन्हें सर्वथा सत्य मानिए। जो इन लीलाओं में तर्क-बुद्धि करता है—वह मूर्खों का राजा है। वह अपने शिर पर अपने हाथों बज्राघात करता है। श्रीचैतन्यचरित्र अमृत के सागर-तुल्य हैं, उसकी एक विन्दु में समस्त जगत् आनन्द-निमग्न हो जाता है। श्रीरूप गोस्वामी पाद तथा श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी पाद के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत का गान करते हैं ॥२१३-२१९॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां
श्रीवृन्दावन-दर्शन-विलासो-नाम अष्टादश-परिच्छेदः ॥१८॥

जयगौर

मध्य-लीला

उनविंश परिच्छेद

★

वृन्दाबनीयां रसकेलिवार्त्तां कालेन लुप्तां निजशक्तिमुत्कः ।
सञ्चार्य्य रूपे व्यतनोत् पुनः स प्रभुर्विधौ प्रागिव लोकसृष्टिम् ॥१॥

सृष्टि के आदि में जैसे (श्रीकृष्णरूप से) श्रीब्रह्मा जी में शक्ति सञ्चारित करके लोक-सृष्टि का विस्तार किया था, उसी प्रकार (जिन) श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु जी ने उत्कण्ठित-चित्त होकर श्रीरूप-गोस्वामी में शक्ति का सञ्चार करके, अनेक काल बीत जाने से विलुप्त हुई, श्रीवृन्दाबन-सम्बन्धी रस-केलि-कथा का पुनर्वार सर्वत्र विस्तार किया, (मैं उनकी वन्दना करता हूँ) ॥१॥

चै० च० चु० टीका:—सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने श्रीब्रह्मा जी में शक्ति सञ्चार की थी, उस शक्ति के प्रभाव से श्री ब्रह्मा जी सृष्टि-रचना में समर्थ हुए। उसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभु ने भी प्रयाग में श्रीपाद रूपगोस्वामी जी में शक्ति सञ्चार की; उसी शक्ति के प्रभाव से ही श्रीरूपगोस्वामी पाद ने श्री उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिरसामृतसिन्धु, ललितमाधव, विदग्धमाधवादि रसग्रन्थों की रचना कर श्रीवृन्दाबन की रसकेलि की कथा को जन साधारण में प्रचारित किया। जिन लीलाओं में रस का उत्स प्रवाहित होता है, जिन समस्त लीलाओं में रसिक चूड़ामणि श्रीश्यामसुन्दर अपने परिकरों का प्रेमरस-निर्यास आस्वादन किया करते हैं और अपने परिकरवर्ग को भी अपने माधुर्यादि का आस्वादन कराया करते हैं—वे समस्त लीलाएं **रसकेलि** कही जाती हैं। उन समस्त लीलाओं की कथा ही **रसकेलि-वार्त्ता** है। उन समस्त रस केलि कथाओं को पहले कल्प में जब श्रीमहाप्रभु जगत् में अवतीर्ण हुए थे, उन्होंने जगत् में प्रचारित किया था। काल प्रभाव से वह लीला-कथा क्रमशः लुप्त हो चुकी थी, लोक समाज प्रायः उन्हें भूल चुका था। श्रीमहाप्रभु जी से शक्ति पाकर श्रीरूपगोस्वामी पाद ने उस समस्त लीला-कथा को पुनः जगत् में प्रचारित किया।

श्रीमन्महाप्रभु जब श्रीवृन्दाबन से प्रयाग पहुँचे, तब श्रीरूपगोस्वामी जी वहाँ उपस्थित थे। श्रीमहाप्रभु जी दश दिन तक प्रयाग में रहे और उन्होंने दश दिन पर्यन्त रस-तत्व के सम्बन्ध में श्रीरूप-गोस्वामी पाद को शिक्षा प्रदान की। जिससे श्रीरूपगोस्वामी पाद उस समस्त रस-तत्त्व को धारण कर सकें, तत्सम्बन्धीय ग्रन्थों की रचना कर जनसाधारण में उस रसकेलि-कथा को प्रचारित कर सकें—इस प्रकार की शक्ति का भी श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरूपगोस्वामी में सञ्चार किया। इस परिच्छेद के इस प्रधान विषय को श्रीकविराज गोस्वामी पाद ने इस श्लोक में वर्णन किया है।

इस उन्नीसवें परिच्छेद में श्रीरूपगोस्वामी पाद का प्रयाग में जाना, प्रयाग में श्रीमन्महाप्रभु से मिलन, आड़ैलगाँव में श्रीवल्लभाचार्य भट्ट जी के घर में श्रीमहाप्रभु जी का पधारना, श्रीरूपगोस्वामी में

शक्तिसञ्चार पूर्वक उन्हें जीवतत्त्व,भक्ति-तत्त्वादि की शिक्षा देना तथा प्रयाग से श्रीमन्महाप्रभु का वाराणसी जाना—इत्यादि लीलाएँ वर्णन की जायेंगी ।

जय-जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
श्रीरूप–सनातन रामकेलि ग्रामे । प्रभुके मिलिया गेला आपन भवने ॥२॥
दुइभाइ विषयत्यागेर उपाय सृजिल । बहु धन दिया दुइ ब्राह्मण वरिल ॥३॥
कृष्णमन्त्रे कराइल दुइ पुरश्चरण । अचिराते पाइवारे चैतन्य-चरण ॥४॥
श्रीरूपगोसाञि तबे नौकाते भरिया । आपनार घर आइला बहुधन लञा ॥५॥

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो, श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु की जय हो । श्रीअद्वैताचार्य प्रभु की जय हो, तथा श्रीगौर--भक्तवृन्दों की जय हो । रामकेलि ग्राम में श्रीमन्महाप्रभु से मिलने के पश्चात् श्रीरूप तथा श्रीसनातन अपने घरों में लौट आए । दोनों भाइयों ने राजा का मन्त्रित्वादि एवं राज्य-सम्बन्धीय विषय-कर्म छोड़ने के लिये उपाय सोचा । उन्होंने बहुत सा धन दे कर दो ब्राह्मणों को (पुरश्चरण करने के लिये) नियुक्त कर दिया । उन दो ब्राह्मणों ने श्रीरूप-सनातन पाद के लिये श्रीकृष्ण-मन्त्र के दो पुरश्चरण किये कि जिससे अति शीघ्र श्रीचैतन्य-चरणों की प्राप्ति हो । श्रीरूपगोस्वामी पाद अपना बहुतसा धन-अन्नादि नौका में भरवा कर गौड़देश से अपने निवास स्थान(माड़ग्राम जिला मुर्शिदाबाद) पर चले आए ॥१-५॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीगुरुदेव की कृपा से जो मन्त्र प्राप्त होता है, उसकी सिद्धि के लिये सर्व प्रथम जिस अनुष्ठान का प्रयोजन होता है–उसे **पुरश्चरण** कहते हैं (पृष्ठ ४१०द्रष्टव्य) श्रीचैतन्य-चरण प्राप्ति के लिये ब्राह्मणों ने श्रीकृष्ण-मन्त्र का पुरश्चरण किया, उसके फल स्वरूप श्रीरूप-सनातन पाद को श्रीचैतन्यदेव की शीघ्र प्राप्ति भी हुई । जिस मन्त्र द्वारा पुरश्चरण किया जाता है, उसी देवता या स्वरूप की प्राप्ति होती है । श्रीकृष्ण-मन्त्र द्वारा श्रीचैतन्यदेव की प्राप्ति का रहस्य एवं कारण केवल मात्र यही है कि श्रीकृष्ण ही श्रीचैतन्यदेव हैं और श्रीचैतन्य ही स्वयं श्रीकृष्ण हैं ।

ब्राह्मण–वैष्णवे दिल तार अर्द्ध धने । एकचौठि धन दिल कुटुम्बभरणे ॥६॥
दण्डबन्ध लागि चौठि सञ्चय करिल । भालभाल विप्र-स्थाने स्थाप्य राखिल॥७॥
गौड़े राखिल मुद्रा दश हाजारे । सनातन व्यय करे, रहे मुदिघरे ॥८॥
श्रीरूप शुनिला—प्रभुर नीलाद्रिगमन । बनपथे यावेन प्रभु श्रीवृन्दाबन ॥९॥
रूपगोसाञि नीलाचले पाठाइला दुइजन । "प्रभु यबे वृन्दाबने करेन गमन ॥१०॥
शीघ्र आसि मोरे तार दिवे समाचार । शुनिञा तदनुरूप करिव व्यवहार"॥११॥

श्रीरूप गोस्वामी पाद ने अपना आधा धन श्रेष्ठ ब्राह्मणों एवं वैष्णवों में बाँट दिया और एक चौथाई अपने कुटुम्बियों के पालन-पोषण के लिये रखा । एक चौथाई धन राजकीय दण्ड, कर आदि के लिये विश्वस्त ब्राह्मण के पास जमा कर दिया । गौड़देश में भी दश हजार मुद्रा एक मोदी के घर में श्रीसनातन गोस्वामी के व्यय के लिये जमा कर दीं । श्रीरूप गोस्वामी पाद ने जब सुना कि श्रीमन्महाप्रभु नीलाचल में आ गये हैं और वे बन के रास्ते श्रीवृन्दाबन जायेंगे, तो गोस्वामी पाद ने दो व्यक्तियों को

नीलाचल भेज दिया और उन्हें समझा दिया कि जब प्रभु श्रीवृन्दाबन के लिये वहाँ से रवाना हों, तो वे अति शीघ्र आकर उन्हें सूचित करें, तब जैसी स्थिति होगी वे वैसी व्यवस्था करेंगे ॥६-११॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीरूप-सनातन गोस्वामी पाद गौड़देश के राजा हुसैनशाह के पास कार्य करते थे। श्रीसनातन पाद उसके प्रधान मन्त्री थे और श्रीरूप पाद उसके प्रधान मुन्शी थे। श्रीमहाप्रभु के दर्शन के पश्चात् इन दोनों ने हुसैनशाह का काम छोड़ कर संसार से विरक्त होकर भगवत्-भजन का सङ्कल्प कर लिया था, किन्तु दोनों एक साथ काम को न छोड़ सकते थे। यदि वे ऐसा करते तो गौड़ेश्वर हुसैनशाह के कुपित होने की आशङ्का थी और वह सम्भवतः उन पर हर प्रकार का प्रतिबन्ध लगा देता, तथा उनकी समस्त धन सम्पत्ति आदि भी जब्त कर लेता। इसी आशङ्का से श्रीरूप गोस्वामी पाद ने अपना धन वहाँ विश्वस्त मोदी के पास रख दिया और बाकी समस्त धन-सम्पत्ति आदि गौड़ेश्वर के मन में कुछ सन्देह आने से पहले ही वे अपने निजी घर माड़ग्राम में ले आये। वे दोनों शाहहुसैन के अति विश्वस्त कर्मचारी थे। उस समय विशेषतः हिन्दुधर्मावलम्बी उड़ीसा देश के राजा के साथ गौड़ेश्वर का युद्ध चल रहा था, ऐसी अवस्था में उन दोनों का कार्य छोड़ना अथवा उसके लिये प्रार्थना करना भी गौड़ेश्वर के लिये निश्चय ही सन्देह जनक एवं हानिकारक था। अतः उन्होंने पद-त्याग-पत्र आदि कुछ न दिया। अपने देश जाने के बहाने से श्रीरूप गोस्वामी पाद अपनी समस्त धन-सम्पत्ति नौका में भरवा कर ले आए और श्रीसनातन पाद वहाँ गौड़ेश्वर के पास रहे आये। श्रीरूप पाद के चले जाने के बाद श्रीसनातन गोस्वामी भी राजकीय कार्यो से उदासीन होकर रहने लगे। वे अस्वस्थता का बहाना करके अपने घर में रह कर धार्मिक ग्रन्थों की आलोचना में व्यस्त रहते और ऐसा आचरण करने लगे कि गौड़ेश्वर उनसे रुष्ट होकर उन्हें अपने-आप पद से हटा दे। इस प्रकार दोनों ने परामर्श करके अपनी कार्य-पद्धति स्थिर कर ली थी।

एथा सनातन गोसाञि भावे मनेमन। राजा मोरे प्रीति करे, से मोर बन्धन ॥१२॥
कोन मते राजा यदि मोरे क्रुद्ध हय। तबे अव्याहति हय करिल निश्चय ॥१३॥
अस्वास्थ्येर छद्म करि रहे निजघरे। राजकार्य छाड़िल, ना याय राजद्वारे ॥१४॥
लेभ कायस्थगणे राजकार्य करे। आपनि स्वगृहे करे शास्त्रेर विचारे ॥१५॥
भट्टाचार्य पण्डित बिश-त्रिश लञा। भागवत-विचार करे सभाते वसिया ॥१६॥

इधर श्रीसनातन गोस्वामी मन में विचार करने लगे कि 'राजा हुसैनशाह मुझ से प्रीति करता है'—यही मेरे बन्धन का कारण है। किसी प्रकार राजा यदि मेरे ऊपर क्रुद्ध हो जाये तभी मेरा छुटकारा हो सकता है—ऐसा उन्होंने निश्चय कर लिया। वे अस्वस्थता का बहाना करके अपने घर में ही रहने लगे एवं सब राजकार्य करना छोड़ दिया। सहायक कर्मचारी राजकार्य करते और वे अपने घर में बैठ कर शास्त्र-विचार ही करते रहते। बीस-तीस भट्टाचार्य पण्डितों की सभा में वे बैठ कर श्रीमद्भागवत पर विचार किया करते ॥१२—१६॥

आर दिन गौड़ेश्वर सङ्गे एकजन। आचम्बिते गोसाञि-सभाते कैल आगमन ॥१७॥
पातशा देखिया सभे सम्भ्रमे उठिला। सम्भ्रमे आसन दिया राजा वसाइला ॥१८॥
राजा कहे तोमार स्थाने वैद्य पाठाइल। वैद्य कहे व्याधि नाहि सुस्थ से देखिल ॥१९॥

आमार ये किछु कार्य सब तोमा लञा। कार्य छाड़ि रहिला तुमि घरेते वसिया ॥२०॥
मोर यत राज काम सब कैले नाश। कि तोमार हृदये आछे कह मोर पाश ॥२१॥

एक दिन गौड़ेश्वर अपने साथ एक कर्मचारी को लेकर अचानक श्रीसनातन पाद की भागवत-सभा में आ पहुँचा। राजा को आया देख कर सारी सभा एक दम खड़ी हो गई। राजा को आसन देकर श्रीसनातन पाद ने बैठाया। गौड़ेश्वर ने कहा—"मन्त्री जी! मैंने आपके पास वैद्य को भेजा था कि आपके रोग की चिकित्सा करे, किन्तु उसने जाकर बताया कि आपको कुछ रोग नहीं है और आप स्वस्थ हैं। यह आप जानते हैं कि मेरा सब काम-काज आपके ऊपर निर्भर है, किन्तु आप काम-काज छोड़ कर घर बैठ गये हैं,इससे मेरा सब काम-काज नष्ट हो रहा है। इसलिये आप सत्य कहो कि आपके मन में क्या बात है?"

सनातन कहे नहे आमा हैते काम। आर एकजन दिया कर समाधान ॥२२॥
तबे क्रुद्ध हञा राजा कहे आर बार। तोमार बड़ भाइ करे दस्यु-व्यवहार ॥२३॥
जीव बहु मारिया बाकला कैल खास। एथा तुमि मोर सर्वकार्य कैले नाश ॥२४॥
सनातन कहे—तुमि स्वतन्त्र गौड़ेश्वर। येइ येइ-दोष करे, देह तार फल ॥२५॥
एत शुनि गौड़ेश्वर उठि घरे गेला। पलाइवे बलि सनातनेरे बान्धिला ॥२६॥

श्रीसनातन पाद ने कहा—"राजन्! अब कुछ मुझ से काम-काज नहीं हो सकता, अतः मेरे स्थान पर किसी और एक व्यक्ति को नियुक्त कर लीजिये एवं अपने कार्य का समाधान कीजिये।" ऐसा उत्तर सुनकर गौड़ेश्वर क्रोधित होउठा और फिर कहने लगा—"सनातन! तुम्हारा बड़ा भाई (श्रीरघुनन्दन) ठगों जैसा व्यवहार कर रहा है। उसने बहुत लोगों को मार-धाड़ कर बाकला (बाकलाचन्द्र द्वीप) पर कब्जा कर रखा है, इधर तुम भी मेरा समस्त कार्य नाश करना चाहते हो।" श्रीसनातन पाद ने कहा—"गौड़ेश्वर! आप राजा हो, जो कोई दोष करे, उसे आप दण्ड दे सकते हैं। यदि मेरे भाई ने कुछ अन्याय कर रखा है तो उसे आप दण्ड दीजिये।" श्रीसनातन पाद की बात सुन कर गौड़ेश्वर उठ कर अपने घर चल दिया। फिर-श्रीसनातन कहीं भाग न जायें-इसी आशङ्का से राजा ने उन्हें कारागार में डाल दिया।

चै० च० चु० टीका :—श्रीसनातन गोस्वामी के एक बड़े भाई थे जिनका नाम श्रीरघुनन्दन था। श्रीचैतन्यचरितामृत में श्रीसनातन, श्रीरूप एवं श्रीवल्लभ—इन तीनों भाइयों का नाम पाया जाता है, किन्तु श्रीवैष्णवतोषणी में श्रीजीव गोस्वामी पाद ने श्रीकुमारदेव जी के चार पुत्रों—श्रीरघुनन्दन, श्रीसनातन, श्रीरूप पाद एवं श्रीवल्लभ—के नामों का उल्लेख किया है। श्रीरघुनन्दन जी अत्यन्त दृढ़चेता एवं स्वाधीन प्रकृति के थे और वे गौड़ेश्वर के शासन का बहुत बार विरोध किया करते। इसलिये ही ज्ञात होता है, गौड़ेश्वर ने उन्हें दस्यु के समान बतला दिया है। वरन् वे भी परम वैष्णव एवं सत्पुरुष थे।

हेनकाले गेल राजा उड़िया मारिते। सनातने कहे—तुमि चल मोर साथे ॥२७॥
तेंहो कहे यावे तुमि देवताय दुख दिते। मोर शक्ति नाहि तोमार सङ्गे याइते ॥२८॥
तबे तारे बाँधि राखि करिल गमन। एथा नीलाचल हैते प्रभु चलिला वृन्दाबन ॥२९॥
तबे सेइ दुइ चर श्रीरूप ठांइ आइला। 'वृन्दाबन चलिला प्रभु' आसिया कहिला ॥३०॥
शुनिञा श्रीरूप लिखिल सनातन ठाञि। वृन्दाबने चलिला श्रीचैतन्यगोसाञि ॥३१॥
आमि दुइभाइ चलिलाम तांहारे मिलिते। तुमि यैछे तैछे छुटि आइस ताहां हइते ३२॥

दशसहस्र मुद्रा तथा आछे मुदिस्थाने। ताहा दिया कर शीघ्र आत्मविमोचन ॥३३॥
यैछे तैछे छुटि तुमि आइस वृन्दाबन। एत लिखि दुइभाइ करिला गमन ॥३४॥

उसी समय राजा हुसैनशाह उड़िया देश के राजा पर चढ़ाई करने के लिये तैयार हुआ। उसने श्रीसनातन पाद से एक बार फिर कहा कि तुम भी मेरे साथ चलो।" श्रीसनातन पाद ने उत्तर दिया—कि तुम उड़िया में देवताओं को ही दुख देने जा रहे हो (उड़िया देश में बहुत देव मन्दिर हैं। तुम मुसलमान हो। उड़िया पर चढ़ाई करके सर्वप्रथम तुम देव-मन्दिरों को ही तो नष्ट-भ्रष्ट करोगे) मुझ में अब आपके साथ चलने की शक्ति भी नहीं है। गौड़ेश्वर ने श्रीसनातन पाद को कैद में डाल दिया और स्वयं युद्ध के लिये चला गया। इधर श्रीमन्महाप्रभु नीलाचल से श्रीवृन्दाबन की ओर रवाना हो गये। श्रीरूप गोस्वामी पाद के दो व्यक्तियों ने,जो नीलाचल इसी सूचनाके लिये ही रह रहे थे,शीघ्र श्रीरूपपाद के पास,श्रीमहाप्रभु के श्रीवृन्दाबन जाने का समाचार आकर सुनाया। यह समाचार सुन कर श्रीरूप गोस्वामी पाद ने श्रीसनातन गोस्वामी को लिख भेजा कि "श्रीचैतन्यदेव श्रीवृन्दाबन की ओर चल दिये हैं और हम दोनों भाई (श्रीरूप तथा अनुपम) उनके दर्शनों के लिये श्रीवृन्दाबन जा रहे हैं। आप जैसे-तैसे करके वहाँ से छूट कर श्रीवृन्दाबन आइये। मोदी के पास हमारी दश हजार मुद्रा रखी हैं—उनको देकर अति शीघ्र अपना छुटकारा करो। जिस प्रकार भी बने वहाँ से भाग कर आप श्रीवृन्दाबन पहुँचिये।" इतना लिख कर दोनों भाई वहाँ से रवाना हो पड़े॥२७—३४॥

अनुपम मल्लिक तांर नाम श्रीबल्लभ। रूपगोसाञिर छोटभाइ परम वैष्णव ॥३५॥
तांहा लञा श्रीरूप प्रयाग आइला। महाप्रभु ताहां शुनि आनन्दित हैला ॥३६॥
प्रभु चलियाछेन बिन्दुमाधव दर्शने। लक्ष लक्ष लोक आइसे प्रभुर मिलने ॥३७॥
केहो कान्दे केहो हासे केहो नाचे गाय। 'कृष्ण-कृष्ण' बलि केहो गड़ागड़ि याय ॥३८॥
गङ्गा-यमुना प्रयाग नारिल डुबाइते। प्रभु डुबाइल कृष्णप्रेमेर बन्याते ॥३९॥
भिड़ देखि दुइ भाइ रहिला निर्जने। प्रभुर आवेश हैल माधव दर्शने ॥४०॥

श्रीअनुपम-मल्लिक,जिसका दूसरा नाम श्रीबल्लभ था (श्रीअनुपम उनका नाम था एवं 'मल्लिक' उनकी उपाधि थी), श्रीरूपगोस्वामी के छोटे भाई थे और परम वैष्णव थे। उनको साथ लेकर श्रीरूप गोस्वामी प्रयाग में आये। वहाँ आकर उन्होंने सुना कि श्रीमहाप्रभु वहीं प्रयाग में आये हुए हैं, श्रीरूप बहुत आनन्दित हुए। उस समय श्रीमहाप्रभु श्रीविन्दुमाधव जी के दर्शनों को जा रहे थे और लाखों लोग उनके दर्शनों के लिये वहाँ जमा थे। कोई रो रहा था, कोई हँस रहा था एवं कोई नृत्य कर रहा था, कोई 'कृष्ण-कृष्ण' उच्चारण करके उन्मत्तता पूर्वक पछाड़ें खा रहा था। जिन लोगों को गङ्गा-यमुना एवं प्रयाग नहीं डुबा सकते थे (अर्थात् असंख्य लोग थे) उन सब को श्रीमहाप्रभु ने श्रीकृष्ण-प्रेम की बन्या में डुबा रखा था। लोगों की भीड़-भाड़ देख कर श्रीरूप एवं श्रीवल्लभ दोनों भाई निर्जन स्थान पर खड़े हो गये। श्रीमहाप्रभु जी श्रीबिन्दुमाधव के दर्शन करके प्रेमाविष्ट हो गये॥३५—४०॥

प्रेमावेशे नाचे प्रभु 'हरिध्वनि' करि। ऊर्ध्वबाहु करि बोले 'बोल हरि-हरि' ॥४१॥
प्रभुर महिमा देखि लोके चमत्कार। प्रयागे प्रभुर लीला नारि वर्णिवार ॥४२॥
दाक्षिणात्य-विप्र सने आछे परिचय। सेइ विप्र निमन्त्रिया निल निजालय ॥४३॥

विप्र गृहे आसि प्रभु निभृते वसिला। श्रीरूप बल्लभ दोंहे आसिया मिलिला ॥४४॥
दुइगुच्छ तृण दोंहे दशने धरिया। प्रभु देखि दूरे पड़े दण्डवत् हञा ॥४५॥
नाना श्लोक पढ़ि उठे-पड़े बार—बार। प्रभु देखि प्रेमावेश हइल दोंहार ॥४६॥
श्रीरूप देखि प्रभुर प्रसन्न हैल मन। 'उठ-उठ रूप ! आइस' बलिला वचन ॥४७॥
'कृष्णेर करुणा किछु ना याय वर्णन। विषय-कूप हैते काढ़िल तोमा दुइजन ॥४८॥

श्रीमहाप्रभु 'हरिध्वनि' करके प्रेमावेश में नृत्य कर रहे थे, एवं दोनों भुजाओं को ऊंचा उठाकर 'हरि-हरि' बोल रहे थे। प्रभु की महिमा देख कर लोग चमत्कृत हो रहे थे, प्रयाग में जो प्रभु की लीला थी, उसका वर्णन नहीं हो सकता। एक दाक्षिणात्य-ब्राह्मण से प्रभु का परिचय था, वह श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रण देकर अपने घर ले आया। उस ब्राह्मण के घर में प्रभु एकान्त में जब बैठ गये, उस समय श्रीरूप एवं श्रीबल्लभ दोनों आकर प्रभु से मिले। दो तृणों के गुच्छे दोनों ने अपने दाँतों में दाब लिये थे और श्रीमहाप्रभु को दूर से देख कर दोनों पृथ्वी पर दण्डवत् प्रणाम करने लगे। अनेक श्लोक पढ़ते हुए बार-बार प्रभु की स्तुति करने लगे। श्रीमहाप्रभु के दर्शन करते ही दोनों को प्रेमावेश हो गया। श्रीरूप को देखते ही श्रीमहाप्रभु का मन अतीव प्रसन्न हुआ और बोले—"रूप ! उठो, उठो, आओ, श्रीकृष्ण की करुणा अकथनीय है—उसने तुम दोनों को विषय-कूप से बाहर निकाला है।" ॥४१—४८॥

तथाहि हरिभक्ति विलासे (१०—६१)—

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥२॥

चतुर्वेदी ब्राह्मण होकर यदि वह भक्तिशून्य है, तो वह मुझे प्रिय नहीं है, यदि एक चाण्डाल मुझ में भक्ति करता है, तो वह मेरा प्रिय है। अतएव ऐसे भक्त चाण्डाल को सत्पात्र जान कर दान करना उचित है, उससे कुछ अङ्गीकार करना भी उचित है और वह मेरी भाँति पूजनीय है ॥२॥

एइ श्लोक पढ़ि दोंहारे कैल आलिङ्गन। कृपाते दोंहार माथाय धरिल चरण ॥४९॥
प्रभु कृपा पाञा दोंहे दुइ हाथ युड़ि। दीन हञा स्तुति करे विनय आचरि ॥५०॥

उपर्युक्त श्लोक पढ़ते हुए श्रीमहाप्रभु ने दोनों को आलिङ्गन किया और कृपा पूर्वक अपने चरणों से दोनों के सिर का स्पर्श किया। श्रीमहाप्रभु की कृपा प्राप्त कर दोनों हाथ जोड़ कर अति दीन भाव से स्तुति एवं विनय करने लगे ॥४९-५०॥

तथाहि श्रीरूपगोस्वामिवाक्यम्—

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः ॥३॥

श्रीकृष्ण-प्रेम-प्रदाता महावदान्य (महादाता) श्रीकृष्णचैतन्य नामक गौरकान्ति विशिष्ट श्रीकृष्ण! आपको मेरा प्रणाम है ॥३॥

तथाहि श्रीगोविन्दलीलामृते (१—२)—

योऽज्ञानमत्तं भुवनं दयालुरुल्लाघयन्नप्य करोत् प्रमत्तम् ।
स्वप्रेम सम्पत्सुधयाद्भुतेहं श्रीकृष्णचैतन्यममुं प्रपद्ये ।।४।।

परम कृपालुतावश जिन्होंने अज्ञानमत्त समस्त लोगों को अपने प्रेम-सम्पत्तिरूप अमृत द्वारा संसार-रोग से मुक्त कर के उन्हें प्रेमोन्मत्त कर दिया। उन अद्भुत-लीलाकारी श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।।४।।

तबे महाप्रभु तारे निकटे बसाइला । 'सनातनेर वार्त्ता कह'—ताहारे पुछिला ।।५१।।
रूप कहेन—तेंहो वन्दी हय राजघरे । 'तुमि यदि उद्धार' तबे हइवे उद्धारे ।।५२।।
प्रभु कहे—सनातनेर हइयाछे मोचन । अचिराते आमासह हइवे मिलन ।।५३।।
मध्याह्न करिते विप्र प्रभुके कहिला । रूपगोसाञि से दिवस तथाइ रहिला ।।५४।।
भट्टाचार्य दुइ भाइर निमन्त्रण कैल । प्रभुर शेष प्रसादपात्र दुइभाइ पाइल ।।५५।।
त्रिवेणी-उपर प्रभुर वासाघर स्थान । दुइ भाइ वासा कैल प्रभु सन्निधान ।।५६।।

तदनन्तर श्रीमहाप्रभु ने उन्हें अपने पास बैठाया और 'सनातन का क्या हाल है ?'—ऐसा उनसे पूछने लगे। श्रीरूप ने कहा—"प्रभो ! वह राजा के बन्दीगृह में बन्धन में हैं। हाँ, यदि आप उनका उद्धार करें, तभी वह छुटकारा पा सकते हैं।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"रूप ! सनातन तो वहाँ से मुक्त हो चुका है, अति शीघ्र वह हम से आकर मिलेगा। उस ब्राह्मण ने समय जान कर प्रभु को मध्याह्न काल के स्नान-कृत्यादि करने की प्रार्थना की और श्रीरूप उस दिन वहाँ ही रहे। श्रीभट्टाचार्य जी ने दोनों भाइयों को निमन्त्रित किया और दोनों ने श्रीमहाप्रभु का प्रसादी अन्न पाया। त्रिवेणी के किनारे ही श्रीमहाप्रभु का निवास-स्थान था, वहाँ प्रभु के साथ ही दोनों भाइयों ने निवास किया ।।५१—५६।।

से काले बल्लभ-भट्ट रहे आड़ैल-ग्रामे । 'महाप्रभु आइला' शुनि आइला तांर स्थाने५७
तेंहो दण्डवत् कैल प्रभु कैल आलिङ्गन । दुइजने कृष्णकथा हैल कथोक्षण ।।५८।।
कृष्णकथाय महाप्रभुर प्रेम उथलिल । भट्टेर सङ्कोचे प्रभु संवरण कैल ।।५९।।
अन्तरे गरगर प्रेम—नहे संवरण । देखि चमत्कार हैल बल्लभ-भट्टेर मन ।।६०।।
तबे भट्ट महाप्रभु के निमन्त्रण कैल । महाप्रभु दुइभाइ ताहारे मिलाइल ।।६१।।
दुइभाइ दूरे हैते भूमिते पड़िया । भट्टे दण्डवत् कैल अति दीन हैया ।।६२।।

जब श्रीमहाप्रभु त्रिवेणी पर निवास कर रहे थे, उन्हीं दिनों श्रीवल्लभाचार्य-भट्ट जी आड़ैल-गाँव में निवास करते थे। उन्होंने जब सुना कि श्रीचैतन्य प्रभु त्रिवेणी पर निवास कर रहे हैं, तो वे प्रभु के दर्शन करने उनके स्थान पर आए। श्रीमहाप्रभु जी को देखते ही श्रीवल्लभाचार्य जी ने उन्हें दण्डवत्-प्रणाम की एवं श्रीमहाप्रभु ने उन्हें उठाकर आलिङ्गन किया। बहुत देर तक परस्पर श्रीकृष्ण-कथा करते रहे। श्रीकृष्ण-कथा में श्रीमहाप्रभु जी का प्रेम उमड़ने लगा, किन्तु श्रीवल्लभाचार्य के सङ्कोचवश उन्होंने उसे बहुत दबाया। श्रीमहाप्रभु के हृदय में प्रेम उछल रहा था, वे उसे छिपा न सके। उस प्रेमावस्था को देख कर श्रीवल्लभाचार्य जी का मन चमत्कृत हो उठा। तदनन्तर श्रीवल्लभाचार्य जी ने श्रीमहाप्रभु जी

को निमन्त्रण दिया और प्रभु ने श्रीरूप एवं श्रीवल्लभ को श्रीवल्लभाचार्य जी से मिलाया। दोनों भाइयों ने दूर से ही पृथ्वी पर पड़ कर अति दीनता पूर्वक श्रीवल्लभाचार्य जी को प्रणाम किया ।।५७—६२।।

भट्ट मिलिवारे याय, दोंहे पलाय दूरे। 'अस्पृश्य पामर मुञि,' ना छुंइह मोरे ।।६३।।
भट्टेर विस्मय हैल—प्रभुर हर्ष मन। भट्टेरे कहिला प्रभु तांर विवरण ।।६४।।
'इहां ना स्पर्शिह इंहो जाति अति हीन। वैदिक-याज्ञिक तुमि कुलीन प्रवीण ।।६५।।
दोंहार मुखे निरन्तर कृष्णनाम शुनि। भट्ट कहे प्रभुर किछु इङ्गित भङ्गी जानि ।।६६।।
दोंहार मुखे कृष्णनाम करिछे नर्त्तन। ए दुइ अधम नहे, हये सर्वोत्तम ।।६७।।

श्रीवल्लभाचार्य जी दोनों को आलिङ्गन करने के लिये ज्यों ही आगे बढ़े, तो दोनों भाई पीछे की ओर हटने लगे और कहने लगे—"हम अस्पृश्य हैं, पामर हैं, आप हमें मत छूइये।" श्रीवल्लभाचार्य जी को बहुत विस्मय हुआ, किन्तु (श्रीरूप एवं श्रीवल्लभ में भक्तिरानी की कृपा का फल—दीनता को देखकर) श्रीमहाप्रभु का मन अति हर्षित हुआ। श्रीमहाप्रभु ने उनका सब वृत्तान्त श्रीवल्लभाचार्य जी को सुनाया। श्रीमहाप्रभु जी (उपहास वचन) कहने लगे—"श्रीवल्लभाचार्य! हां, हां, आप इनको मत छूईये इनकी छोटी जाति है और आप वेदज्ञ एवं यज्ञों के विधानादि को जानने वाले एवं उत्तम कुलीन हो।" श्रीवल्लभाचार्य जी ने देखा कि उन दोनों के मुख से निरन्तर श्रीकृष्ण नाम सुनाई दे रहा है (परन्तु श्रीमहाप्रभु उन्हें अस्पृश्य एवं नीच जाति बता रहे हैं। श्रीवल्लभाचार्य जी जान गये कि प्रभु मेरे हृदय के उत्तम जाति-कुल एवं वेदज्ञ होने के गर्व के प्रति लक्ष्य करके ऐसा कह रहे हैं) श्रीवल्लभाचार्य जी ने कहा—"प्रभो! इन दोनों की जिह्वा पर तो श्रीकृष्ण-नाम निरन्तर नृत्य कर रहा है, ये अधम नहीं हो सकते, ये तो सर्वोत्तम श्रीकृष्ण-भक्त हैं ।।६३—६७।। (उन्होंने अपनी उक्ति के प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक पढ़ा)—

तथाहि (भा: ३—३३—७)—

अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ।।५।।

देवहूति जी ने श्रीकपिलदेव जी के प्रति कहा—"जिसकी जिह्वा के अग्रभाग पर आपका नाम वर्त्तमान रहता है, वह व्यक्ति श्वपच होते हुए भी पूजनीय है। जो आपका नाम-सङ्कीर्त्तन करते रहते हैं, वही ही सदाचारी हैं। उन्होंने सब तपस्याएँ कर ली हैं, उन्होंने सर्वयज्ञ तथा तीर्थ-स्नान कर लिये हैं और उन्होंने ही चारों वेदों का अध्ययन कर लिया है—अर्थात् श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन करने वालों को तपस्या, यज्ञ, होम, तीर्थ-यात्रा एवं वेद-अध्ययनादि आचरणों की कुछ भी आवश्यकता नहीं है ।।५।।

शुनि महाप्रभु तारे बहु प्रशंसिला।
प्रेमाविष्ट हञा श्लोक पढ़िते लागिला ।।६८।।

श्रीवल्लभाचार्य जी के वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु जी ने उनकी बहुत प्रशंसा की (कारण कि श्रीवल्लभाचार्य जी ने प्रभु के मन की बात कही थी) प्रेमाविष्ट होकर श्रीमहाप्रभु ने भी उनकी उक्ति के प्रमाण स्वरूप दो श्लोक पढ़े ।।६८।।

तथाहि हरिभक्तिसुधोदये (३-१२)—

शुचिः सद्भक्तिदीप्ताग्नि—दग्धदुर्जाति कल्मशः ।
श्वपाकोऽपि बुधैः श्लाघ्यो न वेदाढ्योऽपि नास्तिकः ॥६॥

श्रीभगवान् की अनन्या-भक्ति रूप प्रज्ज्वलित अग्नि द्वारा जिसके नीचकुल में जन्म होने के कारण होने वाले पाप-समूह भस्मीभूत हो गये हैं, वह इसलिये पवित्र है। ऐसा श्वपच ही क्यों न हो, वह भी पण्डित गणों से आदर पाने योग्य है। सर्व वेदों का वेत्ता होकर यदि कोई भगवद्-भक्ति से शून्य है, तो किसी के लिये भी वह आदरणीय नहीं है ॥६॥

तथाहि तत्रैव (३--११)—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः ।
अप्राणस्येव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम् ॥७॥

भग ।द्भक्ति-हीन पुरुष के ब्राह्मणादि-उत्तम जाति,वेद-शास्त्र-अध्ययन, मन्त्रजप एवं तपस्यादि—ये समस्त मृतक देह के शृङ्गार की भाँति लोक-रञ्जन मात्र ही हैं। (इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने जाति-कुल, आचार, अध्ययन, तपस्यादि सबके ऊपर श्रीभवगद्भक्ति की स्थापना की।) ॥७॥

प्रभुर प्रेमावेश आर प्रभाव भक्तिसार। सौन्दर्यादि देखि भट्टेर हैल चमत्कार ॥६९॥
सगणे प्रभुके भट्ट नौकाते चढ़ाइया। भिक्षा दिते निजघरे चलिला लइया ॥७०॥
यमुनार जल देखि चिक्कण श्यामल। प्रेमावेशे महाप्रभु हइल विह्वल ॥७१॥
हुङ्कार करि यमुनार जले दिल झाप। प्रभु देखि सभार मने हइल भय काँप ॥७२॥
आस्तेव्यस्ते सभे धरि प्रभुरे उठाइला। नौकार उपरे प्रभु नाचिते लागिला ॥७३॥
महाप्रभुर भरे नौका करे टलमल। डुबिते लागिला नौका झलके भरे जल ॥७४॥
यदि भट्टेर आगे प्रभुर धैर्य्य हैल मन। दुर्वार उद्भट प्रेम—नहे संवरण ॥७५॥
देश—पात्र देखि महाप्रभुर धैर्य्य हैल। आड़ैलेर घाटे तबे नौका उत्तरिल ॥७६॥

श्रीमन्महाप्रभु का प्रेमावेश एवं महिमा तथा भक्ति ही एकमात्र सारवस्तु है—यह बात देखकर तथा श्रीमहाप्रभु के सौन्दर्यादि के दर्शन कर श्रीवल्लभाचार्य जी चमत्कृत हो गये। समस्त भक्तों के साथ श्रीमन्महाप्रभु को नौका में चढ़ा कर श्रीवल्लभाचार्य जी उन्हें भिक्षा कराने के लिये अपने घर ले चले। यमुना जी के जल की स्निग्ध-श्यामलता को देखकर (श्रीकृष्ण-रूप जान कर) श्रीमहाप्रभु प्रेमावेश में विह्वल हो गये और हुङ्कार करते हुए प्रभु यमुना जल में कूद पड़े। इस अवस्था को देखकर सब का मन भय से कांपने लगा। अति शीघ्र सबने श्रीमहाप्रभु को जल से बाहर निकाल लिया, फिर भी प्रभु नौका में ही नृत्य करने लगे। श्रीमहाप्रभु के नृत्य-भार के कारण नौका डगमगाने लगी, नौका में पानी उछल कर भरने लगा और वह डूबने लगी। यद्यपि श्रीमहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य जी के सामने मन में धैर्य्य करना चाहते थे, किन्तु वह अपने उद्भट प्रेम का संवरण न कर सके। देश-पात्रादि को देख कर श्रीमहाप्रभु स्थिर हुए और आड़ैल-घाट पर आकर नौका से उतर पड़े ॥६९–७६॥

भये भट्ट सङ्गे रहि मध्याह्न कराइया। निजगृहे आनिला प्रभुके सङ्गेते लइया ॥७७॥
आनन्दित हञा भट्ट दिल दिव्यासन। आपने करिल प्रभुर पाद-प्रक्षालन ॥७८॥
सवंशे सेइ जल मस्तके धरिल। नूतन कौपीन बहिर्वास पराइल ॥७९॥
गन्ध पुष्प-धूप-दीपे महा पूजा कैल। भट्टाचार्ये मान्य करि पाक कराइल ॥८०॥
भिक्षा कराइल प्रभु के सस्नेह यतने। रूपगोसाञि दुइ भाइर कराइल भोजने ॥८१॥
भट्टाचार्ये श्रीरूपे देओयाइल अवशेष। तबे सेइ प्रसाद कृष्णदास पाइल शेष ॥८२॥
मुखवास दिया प्रभुके कराइल शयन। आपने भट्ट करेन प्रभुर पाद संवाहन ॥८३॥
प्रभु पाठाइल तांरे करिते भोजने। भोजन करि आइला तेंहो प्रभुर चरणे ॥८४॥

श्रीमहाप्रभु फिर कहीं यमुना में न कूद पड़ें—इस भय से भयभीत होकर, साथ रह कर श्रीवल्लभाचार्य जी ने प्रभु को यमुना-स्नानादि मध्याह्न का कृत्य कराया और अपने साथ प्रभु को घर ले आए। अति आनन्दित होकर श्रीवल्लभाचार्य जी ने प्रभु को दिव्य आसन बैठने को दिया और अपने हाथों से प्रभु के चरण धोये। अपने वंश सहित उस चरणामृत को मस्तक पर धारण किया। प्रभु को उन्होंने नवीन कोपीन एवं बहिर्वास पहराया। गन्ध-पुष्प-धूप दीपादि से श्रीमहाप्रभु की महान् पूजा की एवं श्रीबलभद्र भट्टाचार्य का सन्मान करके उनसे रसोई तैयार कराई। श्रीमहाप्रभु जी को अति स्नेह पूर्वक श्रद्धा से उन्होंने भोजन कराया और फिर श्रीरूप श्रीवल्लभ—दोनों भाइयों को सादर भोजन कराया। श्रीभट्टाचार्य ने प्रभु का अवशेष प्रसाद श्रीरूप गोस्वामी को दिया फिर उन्होंने वह प्रसाद श्रीकृष्णदास को (जो मथुरा से प्रभु के साथ आए थे) दे दिया। श्रीवल्लभाचार्य जी ने प्रभु को पानादि मुख-वास देकर उन्हें शयन कराई, और उनके चरण दाबने लगे। श्रीमहाप्रभु ने उन्हें भोजन करने के लिये भेजा। थोड़ी देर में भोजन करके श्रीवल्लभाचार्य जी प्रभु के पास फिर आ बैठे ॥७७-८४॥

हेनकाले आइला रघुपति उपाध्याय। तिरोहिता पण्डित बड़ वैष्णव महाशय ॥८५॥
आसि तेंहो कैल प्रभुर चरण वन्दन। 'कृष्णे मति रहु' बोले प्रभुर बचन ॥८६॥
शुनि आनन्दित हैल उपाध्यायेर मन। प्रभु तांरे कैल कह कृष्णेर वर्णन ॥८७॥
निजकृत कृष्णलीला-श्लोक पढ़िल। शुनि महाप्रभुर महा प्रेमावेश हैल ॥८८॥

इसी समय श्रीमहाप्रभु के दर्शन करने के लिये श्रीरघुपति उपाध्याय वहाँ आये। वे त्रिहुत (मिथिला) देश के पण्डित थे, जो महान् वैष्णव थे। उन्होंने आते ही श्रीमहाप्रभु के चरणों में वन्दना की और प्रभु ने 'श्रीकृष्ण में तुम्हारी मति रहे'—इस प्रकार उन्हें आशीर्वाद दिया। प्रभु के मुख से ऐसे बचन सुनकर उपाध्याय को बहुत प्रसन्नता हुई। प्रभु ने कहा—"कुछ कृष्ण-कथा का वर्णन कीजिये न।" उपाध्याय ने अपने द्वारा रचित कृष्ण-लीला सम्बन्धी एक श्लोक पढ़ा जिसे सुनकर प्रभु को महा प्रेमावेश हुआ ॥८५-८८॥ वह श्लोक इस प्रकार है :—

तथाहि पद्यावल्याम् (१२७)—

श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥८॥

संसार से भयभीत होकर कोई श्रुति को, कोई स्मृति को, कोई महाभारत को भजता है, भजने दो; किन्तु मैं तो श्रीनन्दमहाराज की वन्दना करता हूँ, जिसके आँगन में परम ब्रह्म (खेलता है) ।।८।।

रघुपति उपाध्याय नमस्कार कैल ।
'आगे कहे' प्रभु-वाक्ये उपाध्याय कहिल ।।८६।।

उपर्युक्त श्लोक को (जिसमें श्रीकृष्ण सेवा की परम पुरुषार्थता का वर्णन किया गया है) पढ़कर श्रीरघुपति उपाध्याय ने प्रभु को नमस्कार किया। प्रभु के आदेश से उपाध्याय ने और एक श्लोक पढ़ा—जो इस प्रकार है—।।८९।।

तथाहि पद्यावल्याम् (६६)—

कं प्रति कथयितुमीशे सम्प्रति को वा प्रतीतिमायातु ।
गोपतितनयाकुञ्जे गोपवधूटीविटं ब्रह्म ।।६।।

(गोपति अर्थात् किरण-पति अर्थात् सूर्य, सूर्यतनया अर्थात्) श्रीयमुना जी के तीरस्थ निकुञ्जबन में तरुणी गोपवधुओं के साथ परब्रह्म क्रीड़ा कर रहा है, यह बात किसे मैं कह सकता हूँ और कौन हो इस मेरी बात का विश्वास करेगा ? ।।९।।

प्रभु कहे 'कह', तेंहो पड़े कृष्णलीला । प्रेमावेशे प्रभुर देह-मन आल्वाइला ।।६०।।
प्रेम देखि उपाध्याय हैल चमत्कार । 'मनुष्य नहे, इंहो कृष्ण' करिल निर्द्धार ।।६१।।
प्रभु कहे—उपाध्याय! श्रेष्ठ मान, का'य ? "श्यामेव परं रूपं," कहे उपाध्याय ।।६२।।
श्यामरूपेर वासस्थान श्रेष्ठ मान, का'य ? 'पुरी मधुपुरी वरा' कहे उपाध्याय ।।६३।।
बाल्य पौगण्ड कैशोर-श्रेष्ठ मान' का'य ? 'वयः कैशोरकं ध्येयं' कहे उपाध्याय ।।६४।।
रसगणमध्ये तुमि श्रेष्ठ मान' का'य ? 'आद्य एव परो रसः' कहे उपाध्याय ।।६५।।
प्रभु कहे—भाल तत्त्व शिखाइला मोरे । एत बलि श्लोक पढ़े गद्गद स्वरे ।।६६।।

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने फिर कहा—"उपाध्याय ! आगे कहो।" वे श्रीकृष्ण-लीला को कहने लगे। उसे सुन कर श्रीमहाप्रभु का मन एवं शरीर अवश होता जा रहा था। प्रभु के प्रेम को देखकर उपाध्याय को चमत्कार हुआ और उन्होंने निश्चय किया कि 'वे साधारण मनुष्य नहीं हैं वरन् साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीमहाप्रभु ने पूछा—"उपाध्याय ! आप किस रूप को श्रेष्ठ मानते हैं ? उपाध्याय ने कहा—"श्रीश्यामसुन्दर ही परम रूप हैं।" "उस श्रीश्यामसुन्दर रूप के किस धाम को श्रेष्ठ मानते हो ?"—"धामों में मथुरापुरी अर्थात् श्रीवृन्दाबन धाम को श्रेष्ठ मानता हूँ।"—"बाल्य, पौगण्ड एवं कैशोर—इन तीनों वयसों में किस वयस को श्रेष्ठ मानते हो?"—"कैशोर-वयस ही ध्यान करने योग्य है।" प्रभु ने पूछा—"रसों में किस रस की श्रेष्ठता है ?" उपाध्याय ने कहा—"मधुर-रस (शृङ्गार-रस) ही परम श्रेष्ठ है।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"उपाध्याय ! आपने सुन्दर तत्त्वों की मुझे शिक्षा दी है।" इतना कहकर प्रभु ने गद्गद्-स्वर से यह श्लोक पढ़ा—।।६०—६६।।

तथाहि पद्यावल्याम् (८३)

श्याममेव परं रूपं पुरी मधुपुरी वरा ।
वयः कैशोरकं ध्येयमाद्य एव परो रसः ।।१०।।

श्रीकृष्ण के अनेक रूपों में श्यामरूप ही श्रेष्ठ है, द्वारिकादि पुरियों में मथुरापुरी ही श्रेष्ठ है, बाल्यादि वयसों में कैशोर वयस ही ध्येय है और शान्तादि रसों के बीच शृङ्गार-रस ही परम श्रेष्ठ है।।१०।।

चै० च० चु० *टीका:*—पद्मपुराण के पातालखण्ड में भी इस श्लोक के अनुरूप श्लोक पाये जाते हैं। पाठकों के लिये जिन्हें हम उद्धृत करते हैं —

न राधिका समा नारी न कृष्णसदृशः पुमान्।
वयः परं न कैशोरात् न भावः प्रकृतेः परः ।।ड।।
धेयं कैशोरकं ध्येयं बनं वृन्दाबनं बनम्।
श्यामेव परं रूपं आदिदैवः परो रसः ।।ढ।।

श्रीराधिकाजी के समान रमणी नहीं है और श्रीकृष्ण के समान पुरुष नहीं है। कैशोर से बढ़कर और वयस नहीं है एवं कान्ता-भाव से श्रेष्ठ और भाव नहीं है। कैशौर वयस ही ध्येय है। वनों में श्रीवृन्दावन ही ध्येय है। श्यामरूप ही श्रेष्ठरूप है और आदि-दैवत (विष्णुदैवत—श्यामरस) ही सर्वश्रेष्ठरस है ।।ड—ढ।।

प्रेमावेशे प्रभु तांरे कैल आलिङ्गन। प्रेमेमत्त हञा तेंहो करेन नर्त्तन ।।९७।।
देखि बल्लभभट्ट मने चमत्कार हैल। दुइ पुत्र आनि प्रभुर चरणे पड़िल ।।९८।।
प्रभु देखिवारे ग्रामेर सब लोक आइल। प्रभुर दर्शने सभे कृष्णभक्त हइल ।।९९।।
ब्राह्मण सकल करेन प्रभुर निमन्त्रण। बल्लभभट्ट करे ता सभारे निवारण ।।१००।।
'प्रेमोन्मादे पड़े गोसाञि मध्य-यमुनाते। प्रयागे चालावो, इहां ना दिव रहिते ।।१०१।।
यार इच्छा, प्रयाग याइ कर निमन्त्रण'। एत बलि प्रभु लञा करिल गमन ।।१०२।।

श्रीमन्महाप्रभु ने प्रेमावेश में उपाध्याय को आलिङ्गन किया और वे प्रेमोन्मत्त होकर नृत्य करने लगे।। प्रभु की महिमा देखकर श्रीबल्लभाचार्य जी अति चमत्कृत हुए और अपने दोनों पुत्रों को लाकर श्रीमहाप्रभु के चरणों में वन्दना कराई। श्रीमहाप्रभु जी के दर्शन करने के लिये गांववासी समस्त लोग वहां आए एवं उनके दर्शन कर सभी श्रीकृष्णभक्त बन गये। वहाँ के सब ब्राह्मण प्रभु को निमन्त्रण देने लगे किन्तु श्रीबल्लभाचार्य जी उन्हें ऐसा करने से रोकने लगे। सब से यह कहने लगे कि—"श्रीमहाप्रभु प्रेमोन्माद में यमुना के बीच कूद पड़े थे।" वे अब अधिक यहाँ नहीं रहेंगे, प्रयाग ही चल रहे हैं, जिस की इच्छा हो, वह प्रयाग जाकर ही प्रभु को निमन्त्रित करें, ऐसा कहकर श्रीमहाप्रभु को लेकर वे चल दिये। (श्रीमहाप्रभु जी के प्रेमोन्माद वश यमुना में कूद पड़ने को देखकर श्रीबल्लभाचार्य जी अति भयभीत हो गये थे। इसलिये वे प्रभु को अति शीघ्र उनके निवास-स्थान पर पहुँचाना चाहते थे।१०२।

गङ्गापथे महाप्रभु नौकाते बसाइया। प्रयाग आइला भट्ट गोसाञि लइया ।।१०३।।
लोकभिड़-भये प्रभु दशाश्वमेध याञा। रूपगोसाञि के शिक्षा करान शक्तिसञ्चारिया ।।
कृष्णतत्त्व-भक्तितत्त्व रसतत्त्व प्रान्त। सब शिक्षाइल प्रभु भागवत-सिद्धान्त ।।१०५।।
रामानन्द-पाशे यत सिद्धान्त शुनिल। रूपे कृपा करि ताहा सब सञ्चारिल ।।१०६।।
श्रीरूप-हृदये प्रभु शक्ति सञ्चारिला। सर्वतत्त्व-निरूपणे प्रवीण करिला ।।१०७।।

शिक्षा दिया वृन्दाबन याइते आज्ञा दिल । प्रभुर आज्ञा अनुसारे सब आचरिल ।।१०८।।
शिवानन्दसेनेर पुत्र कवि कर्णपूर । रूपेर मिलन ग्रन्थे लिखियाछेन प्रचुर ।।१०९।।

श्रीवल्लभाचार्य जी श्रीमन्महाप्रभु जी को गङ्गा जी के रास्ते नौका में बैठाकर प्रयाग ले आए। अपने निवास स्थान पर लोगों की अधिक भीड़-भाड़ जान कर श्रीमहाप्रभु वहाँ न जाकर दशाश्वमेध स्थान पर चले आये और वहां आकर श्रीरूप-गोस्वामी जी में शक्ति का सञ्चार कर उन्हें शिक्षा देने लगे। श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीरूपपाद को श्रीकृष्ण-तत्त्व, भक्ति-तत्त्व एवं रस-तत्त्व, आदि श्रीमद्भागवत-सिद्धान्तानुसार सब तत्त्वों की शिक्षा दी। श्रीरामानन्दराय के साथ जिन भक्ति-सिद्धान्तों की आलोचना हुई थी, उन सब सिद्धान्तों को श्रीरूप में अपनी कृपा से प्रभु ने सञ्चारित किया। और श्रीरूप के हृदय में प्रभु ने शक्ति सञ्चारित कर उन्हें समस्त तत्त्वों के निरूपण में प्रवीण कर दिया। इस प्रकार शिक्षा देकर उन्हें प्रभु ने श्रीवृन्दाबन जाने की आज्ञा की और उन्हों ने प्रभु की आज्ञानुसार सब आचरण किया। श्रीशिवानन्दसेन जी के पुत्र श्रीकविकर्णपूर जी ने श्रीरूप एवं श्रीमहाप्रभु के मिलन-प्रसङ्ग को अपने श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक में इस प्रकार लिखा है ।।१०३—१०९।।

तथाहि श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटके (९—४८)—

कालेन वृन्दाबनकेलिवार्त्ता लुप्तेति तां ख्यापयितुं विशिष्य ।
कृपामृतेनाभिषिषेच देवस्तत्रैव रूपञ्च सनातनञ्च ।।११।।

काल प्रभाव से श्रीवृन्दावन-सम्बन्धीय जो श्रीकृष्णलीला कथा विलुप्त हो चुकी थी, श्रीचैतन्य-देव ने फिर उसे विशेषरूप से प्रकाशित करने के लिये श्रीरूप एवं श्रीसनातन को उसी कार्य में (लीला-कथा प्रचार के लिये) कृपामृत द्वारा अभिषिक्त किया ।।११।।

तथाहि तत्रैव (९—४२)—

यः प्रागेव प्रियगुणगणैर्गाढ़ बद्धोऽपि मुक्तो
गेहाध्यासाद्रस इव परो मूर्त्त एवाप्यमूर्त्तः ।
प्रेमालापैर्दृढ़तरपरिष्वङ्गरङ्गैः प्रयागे
तं श्रीरूपं सममनुपमेनानुजग्राह देवः ।।१२।।

जो पहले से ही श्रीगौराङ्गदेव की गुणावली द्वारा दृढ़ बन्धन में होते हुए भी गृहासक्ति से विमुक्त हो चुके थे और शृङ्गाररस स्वरूपतः मूर्तिहीन होते हुए भी मूर्त्तिधारण कर जिन श्रीरूपगोस्वामी पाद के रूप में प्रकाशित हुआ था, भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने श्रीअनूपम के सहित उन्हीं श्रीरूपगोस्वामी पर प्रेमालाप एवं दृढ़ आलिङ्गन द्वारा प्रयाग में अनुग्रह किया ।।१२।।

चै० च० चु० *टीका*:—उपर्युक्त श्लोक में श्रीरूप गोस्वामी पाद को शृङ्गार रस की मूर्त्ति के समान कह कर श्रीकविकर्णपूर ने वर्णन किया है, उसका कारण यह है कि श्रीमन्महाप्रभु जी की कृपा से रस-तत्त्व के सम्बन्ध में श्रीरूप गोस्वामी पाद ने इतनी अभिज्ञता एवं अनुभव को प्राप्त किया कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में शृङ्गार-रस की एक ज्वलन्त मूर्त्ति ही मढ़ कर रख दी है। शृङ्गार-रस विषयक लीलाओं को उन्होंने इतने सुन्दर एवं सुस्पष्ट भावों में वर्णन किया है कि उसे पाठ करने मात्र से रसिक भक्तों की आँखों के सामने वे लीलाएँ प्रस्फुट भाव से साक्षात् दीखने लगती हैं। वास्तव में श्रीमहाप्रभु-कृपा से

शृङ्गार-रस श्रीरूप गोस्वामी पाद के हृदय में मूर्त्ति परिग्रह करके ही विराजमान था और उस मूर्त्ति को देख देखकर मानो श्रीरूपगोस्वामी पाद ने अपने ग्रन्थों में उसके अङ्ग प्रति अङ्ग का उज्ज्वल चित्रण किया है। कितने ही शृंगार-रस के रसिक हुए और होंगे, अनेक वाणीकारों ने भी शृङ्गार-रस का परिवेशन किया है, किन्तु जितना सुस्पष्ट प्रस्फुट शृङ्गार-रस का सारगर्भित चित्रण श्रीरूप गोस्वामी पाद ने अपनी अमूल्य एवं अनुपम रचनाओं में किया है, तद्रूप न कोई कर सका और न कर सकेगा। हाँ, इतना अवश्य है कि अनेक वाणीकारों ने उनकी संस्कृत-रचनाओं से उपादान संग्रह कर उसे पद-पदावलियों में रच कर जन साधारण में प्रचारित करने का श्रेय प्राप्त किया है। अतः श्रीरूप गोस्वामी पाद को शृङ्गार-रस-मूर्त्ति की तुलना सर्वथा सङ्गत ही है।

तथाहि तत्रैव (६—४३)

प्रियस्वरूपे दयितस्वरूपे प्रेमस्वरूपे सहजाभिरूपे ।
निजानुरूपे प्रभुरेकरूपे ततान रूपे स्वविलासरूपे ॥१३॥

कवि कर्णपूर जी ने और भी कहा है—"श्रीस्वरूप गोस्वामी जिनके प्रिय पात्र थे (अथवा जो स्वयं-रूप के सर्वोत्कर्ष निरूपण में समर्थ थे) जो प्रभु के प्रिय स्वरूपतुल्य थे, जो प्रभु के स्वतुल्य या अभिन्न रूप थे (अथवा जो प्रेम के स्वरूप या मूर्त्ति थे) जो स्वभावतः ही मनोरमरूपविशिष्ट थे, प्रेम विषय में जो प्रभु के अपने ही तुल्य थे, जो मुख्यरूप थे (या जिनका रूप प्रभु के रूप के समान था) जो प्रभु के या श्रीकृष्ण के विलास-तत्त्व को निरूपण करने में समर्थ थे, उन्हीं श्रीरूप गोस्वामी में श्रीमन्महाप्रभु जी ने प्रेम विस्तार किया (या शक्ति सञ्चारित की) ॥१३॥

चै० च० चु० *टीका* :— उक्त श्लोक के **प्रेम ततान** तथा **शक्ति ततान** इस प्रकार दो प्रकार से अन्वय होने से दो प्रकार के अर्थ निकलते हैं—(१) श्रीरूप गोस्वामी में प्रभु ने प्रेम सञ्चारित किया। (२) या शक्ति सञ्चारित की। देखा जाए तो दोनों अर्थों में कुछ विशेष पार्थक्य नहीं है। प्रेम स्वरूप-शक्ति की वृत्ति विशेष है और शक्ति जो प्रभु ने सञ्चारित की—वह स्वरूप शक्ति से ही अभिप्राय है।

सम्भवतः उल्लिखित दोनों प्रकार के अर्थों की सार्थकता है। प्रभु के द्वारा श्रीरूप-सनातन में प्रेम एवं शक्ति—इन दोनों के सञ्चारित होने की प्रयोजनीयता थी। उनके द्वारा श्रीवृन्दावन-केलिवार्त्ता के जिस रस को प्रकटित कराने में प्रभु की इच्छा थी, उस रस के अपरोक्ष अनुभव के लिये प्रेम का प्रयोजन है और उस रस का अनुभव प्राप्त हो जाने पर उसके वर्णन करने के लिये तद्रूप-शक्ति का भी प्रयोजन है। अतः प्रेम एवं शक्ति इन दोनों अर्थों की ही सार्थकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि श्रीरूप गोस्वामी व्रजलीला की श्रीरूप मञ्जरी हैं और श्रीसनातन गोस्वामी हैं श्रीरति मञ्जरी या श्रीलवङ्ग मञ्जरी। इसलिये श्रीवृन्दावन-केलिवार्त्ता का निगूढ़तम रहस्य भी तो वे जानते हैं। निगूढ़तमलीला-रहस्य के रस का अनुभव भी उन्हें साक्षात् हैं, उसकी अपरोक्ष अनुभूति का उपयोगी प्रेम भी नित्यसिद्ध भाव से उनमें वर्त्तमान है। इस अवस्था में उनमें फिर दुबारा प्रेम-सञ्चार का क्या प्रयोजन था?

इसका उत्तर यह है कि नरलीला-सिद्धि के लिये एवं जीव-शिक्षा के लिये ऐसा करने का प्रयोजन था। गौरलीला में प्रभु ने अपने पूर्वलीला के परिकरगणों को सांसारिक जीव की विभिन्न अवस्थाओं में स्थापन किया था। व्यवहारिक जगत् की समस्त अवस्थाओं में रहकर भी भगवद्भजन

किया जा सकता है–यह बात जगत् के जीवों को बताना उनका उद्देश्य था। प्रभुने उन विभिन्न अवस्थाओं से अपने परिकरगणों को कृपापूर्वक अपने चरणों की ओर खींच लिया था।" उनकी कृपा से ही उनके चरणों की प्राप्ति सम्भव हो सकती है, "**यमेवैष वृणुते तस्य एषः लभ्यः**"—इस श्रुतिवाक्य की सत्यता प्रत्यक्षभाव से उन्होंने दिखाई। ठीक इसी भाव से श्रीश्रीरूप–सनातन में प्रेम एवं शक्ति सञ्चारित करके प्रभु ने यह दिखाया कि उनकी कृपा के बिना कोई भी रस के अनुभव करने का उपयोगी प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता और न ही कोई रस-वर्णन करने की शक्ति ही प्राप्त कर सकता है। श्रीश्रीरूप-सनातन गोस्वामी के प्रेम की अपूर्व महिमा का प्रकाशित करना भी उनका उद्देश्य था। श्रीअद्वैताचार्य, रायरामानन्द श्रीस्वरूप दामोदर आदि जो प्रभु के अन्तरङ्ग भक्त थे, वे भी प्रभु की पूर्वलीला के परिकर ही थे, वे पूर्वलीला में पौर्णमासी, नान्दीमुखी तथा वृन्दा थे। उनके प्रति तथा श्रीललिता–विशाखादि के प्रति गौरव बुद्धि वशतः एवं वयोवृद्धा होने से श्रीराधिकाजी जैसे श्रीकृष्ण के सहित होने वाली अपनी निभृत-निकुञ्ज-केलि का समस्त रहस्य इन सब के सामने उद्घाटन करने में सङ्कोच अनुभव करती थीं, किन्तु श्रीरूपमञ्जरी आदि के सामने उन्हें इस प्रकार का कोई सङ्कोच नहीं था। इससे जैसे श्रीरूपमञ्जरी आदिक के प्रेम की विशेषता सूचित होती है, उसी प्रकार श्रीअद्वैत--रायरामानन्द, श्रीस्वरूप दामोदर आदिक में गौरव बुद्धिवशतः केलि-लीलारस वर्णन की शक्ति उनमें सञ्चारित न करके किन्तु श्रीरूप--श्रीसनातन गोस्वामी पाद में सञ्चारित करके प्रभु ने यह दिखाया कि वे लीलारहस्य इन्हीं के द्वारा ही प्रकाशित कराना चाहते थे और इनके सामने उस रहस्य का उद्घाटन करने में राधाभाव-द्युति सुवलित प्रभु को कुछ भी सङ्कोच नहीं था। इससे श्रीरूप--श्रीसनातन गोस्वामी के अपूर्व प्रेम की विशेषता भी सूचित होती है। श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीपाद ने इस श्लोक की टीका में ऐसा भाव अभिव्यक्त किया है।

एइमत कर्णपूर लिखे स्थाने स्थाने। प्रभु कृपा कैल यैछे रूप–सनातने ॥११०॥
महाप्रभुर यत बड़ बड़ भक्त मात्र। रूप-सनातन सभार कृष्ण-गौरव पात्र ॥१११॥
केहो यदि देशे याय देखि वृन्दाबन। तारे–प्रभु करेन प्रभुर पार्षदगण ॥११२॥
'कह—ताहां कैछे रहे रूप–सनातन ?। कैछे रहे वैराग्य, कैछे वा भोजन ? ॥११३॥
कैछे अष्टप्रहर करेन श्रीकृष्ण भजन ?। तबे प्रशंसिया कहे सेइ भक्तगण— ॥११४॥

इस प्रकार कवि श्रीकर्णपूर जी ने अनेक स्थानों पर वर्णन किया है कि जैसे श्रीश्रीरूप-सनातन पर प्रभुने कृपा की। श्रीमन्महाप्रभु के जितने बड़े बड़े भक्त थे श्रीश्रीरूप–सनातन उन सब की कृपा-गौरवता के पात्र थे। कोई व्यक्ति जब श्रीवृन्दावन दर्शन करके गौड़देश में जाता तो प्रभुके पार्षदगण उससे यही पूछते कि "कहिये ! रूप--सनातन वहां श्रीवृन्दाबन में कैसे रहते हैं ? उनका वैराग्य कैसा है ? वे क्या भोजन करते हैं ? अष्टप्रहर वे कैसे श्रीकृष्णभजन करते हैं ?" तब वे भक्तगण उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहते थे ॥११०—११४॥

अनिकेतन दोंहे रहे, यत वृक्षगण। एकेक–वृक्षेर तले एकेक रात्रि शयन ॥११५॥
विप्रगृहे स्थूल भिक्षा काहां माधुकरि। शुष्क रुटि चाना चाबाय भोग परिहरि ॥११६॥
करोया मात्र हाथे कांथा छिड़ा बहिर्वास। कृष्णकथा कृष्णनाम नर्त्तन उल्लास॥११७॥
अष्टप्रहर कृष्णभजन–चारिदण्ड शयने। नामसङ्कीर्त्तने सेहो नहे कोनदिने ॥११८॥
कभु भक्तिरसशास्त्र करये लिखन। चैतन्यकथा शुने, करे चैतन्य चिन्तन ॥११९॥

एइ कथा शुनि महान्तेर महासुख हय। चैतन्येर कृपा याहाँ, ताहां कि विस्मय ॥१२०॥
चैतन्येर कृपा रूप लिखियाछे आपने। रसामृतसिन्धु ग्रन्थेर मङ्गला चरणे ॥१२१॥

"वे दोनों अनिकेतन रहते हैं अर्थात् उन्होंने अपने लिये कोई कुटिया या झोंपड़ी नहीं बना रखी है और न ही वे किसी एक निर्दिष्ट स्थान पर ही रहते हैं, बल्कि श्रीवृन्दावन के जो वृक्ष हैं, उनमें एक-एक वृक्ष के नीचे एक-एक रात शयन करते हैं (इस प्रकार का भी नियम नहीं है, वे प्रेमोन्मत्त हैं, जहाँ रात हुई वहां पड़ जाते हैं) केवल ब्राह्मण ब्रजवासी के घर से कभी उन्हें स्थूल-भिक्षा (भरपेट-भिक्षा या कुछ अधिक परिमाण में भिक्षा) बिना माँगे मिल जाती है और कभी वे मधुकरि कर लेते हैं। उन्होंने समस्त भोग त्याग कर दिये हैं। रूखी रोटी और चने चबा कर ही रहते हैं। केवल मिट्टी का करवा उनके हाथ में रहता है और वे चीथड़ों से जुड़ा हुआ बहिर्वास धारण करते हैं। श्रीकृष्ण कथा एवं श्रीकृष्णनाम-प्रेम में नृत्य पूर्वक वे आनन्दित रहते हैं। आठों प्रहर श्रीकृष्ण भजन में वे मग्न रहते हैं, केवल चार घड़ी के लिये कभी शयन करते हैं, वह भी यदि श्रीनामसंकीर्त्तन में बैठ गये तो उतना भी नहीं सो पाते। वे कभी तो भक्तिरस-शास्त्रों को ही लिखते रहते हैं। श्रीचैतन्य की कथा नित्य सुनते हैं और श्रीचैतन्य-लीला का चिन्तन किया करते हैं।" इस प्रकार श्रीश्रीरूप-सनातन गोस्वामी जी की रहन-सहन सुन कर श्रीगौर-पार्षदों को महाद् सुख होता था। श्रीकविराज कहते हैं—जहाँ श्रीचैतन्य की कृपा है—वहां इस प्रकार के आचरण में कोई आश्चर्य नहीं है। (जहाँ इस आचरण के विपरीत आचरण हैं—रहने को बागीचे एवं कोठियाँ हैं, खाने को लड्डू और खस्ता कचौड़ी, हाथों में धन-सम्पत्ति एवं नीचे से ऊपर तक रेशमी पोशाक, श्रीकृष्ण-कथा के स्थान पर कञ्चन एवं कामिनी की कथाएँ—ऐसे आचरण हों, तो उसे क्या भजन, वैष्णवाचरण, वृन्दाबन वास तथा वैराग्य कहा जा सकता है?—वहाँ किञ्चित-मात्र भी भगवत्-कृपा नहीं है) श्रीरूप गोस्वामी जी ने अपने भक्तिरसामृत-सिन्धु ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में श्रीचैतन्यदेव की कृपा को स्वीकार किया है ॥११५-१२१॥ उसे निम्न लिखित श्लोक में कहते हैं—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे भक्तिसामान्य लहर्य्याम् (२)—

हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्त्तितोऽहं वराकरूपोऽपि तस्यः चैतन्यदेवस्य ॥१४॥

मैं अति क्षुद्र होकर भी हृदय में जिनकी प्रेरणा प्राप्त करके इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हो रहा हूँ, उन श्रीचैतन्यदेव के चरण कमलों की वन्दना करता हूँ ॥१४॥

एइमत दशदिन प्रयागे रहिया। श्रीरूपे शिक्षा दिल शक्ति सञ्चारिया ॥१२२॥
प्रभु कहे शुनि रूप! भक्तिरसेर लक्षण। सूत्ररूपे कहि, विस्तार न याय वर्णन ॥१२३॥
पारावारशून्य गम्भीर भक्तिरससिन्धु। तोमा चाखाइते तार कहि एकबिन्दु ॥१२४॥
एइत ब्रह्माण्ड भरि अनन्त जीवगण। चौराशीलक्षयोनिते करये भ्रमण ॥१२५॥
केशाग्र-शतेकभाग पुन शतांश करि। तार सम सूक्ष्म जीवेर स्वरूप विचारि ॥१२६॥

श्रीमन्महाप्रभु दश दिन तक प्रयाग में रहे एवं श्रीरूप गोस्वामी में शक्ति का सञ्चार करके उन्हें इस प्रकार शिक्षा दी :—श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"रूप! सुनो, तुम्हें भक्ति-रस का लक्षण कहता हूँ। उसे सूत्र रूप से ही कहता हूँ, कारण कि, विस्तार पूर्वक तो उसका वर्णन हो ही नहीं सकता। वह भक्तिरस-सिन्धु पारावार शून्य (असीम) एवं परम गम्भीर है, उसका आस्वादन कराने के लिए मैं तुम्हें

उसके एक विन्दु को ही कहता हूँ। इस ब्रह्माण्ड में अनन्त जीव भर रहे हैं एवं चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहे हैं। केश के अग्रभाग के सौ भाग करके पुनः एक भाग के सौ भाग किये जाए तो उसके समान सूक्ष्म एक जीव का स्वरूप निरूपण किया गया है ॥१२२—१२६॥

चै०च० चु० टीका:—शास्त्र कहता है जीव की अनन्त संख्या है और वह अपने अपने कर्मफल के अनुसार चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है। जीव नौलाख बार जलज-योनियों में, बीसलाख बार स्थावर-योनि में ग्यारहलाख बार कृमि-योनि में, दशलाख बार पक्षी-योनि में, तीसलाख बार पशु योनि में एवं चारलाख बार मनुष्य-योनि में भ्रमण करता है। उसके बाद साधन-बल से सब योनियों को त्यागकर ब्रह्मयोनि को प्राप्ति होता है। विशेष विशेष कर्मफलानुसार जीव विशेष योनि में जाता है। इसमें कोई क्रम नहीं। जीव के अति सूक्ष्म स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भा: १०—८७—३०) श्रुतिव्याख्याधृत—श्लोकः

केशाग्र-शत-भागस्य शतांशसदृशात्मकः ।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं सङ्ख्यातीतो हि चित्कणः ॥१५॥

केशाग्र के सौवें भाग का एक भाग, फिर उसी एक भाग के शतांश भाग तुल्य सूक्ष्म जीव का स्वरूप है, जीव चैतन्यस्वरूप के एक कण के तुल्य है और संख्या में अनन्त है ॥१५॥

तथाहि पञ्चदश्यां चित्रदीपे (८१)—

बालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहापरा श्रुतिः ॥१६॥

केशाग्र के सौवें भाग का एक भाग, उस एक भाग के शतांश के तुल्य ही जीव को जानन चाहिये—ऐसा परा श्रुति कहती है ॥१६॥

तथाहि (भा: ११—१६—११)—

सूक्ष्माणामप्यहं जीवः ॥१७॥

श्रीभगवान् ने कहा है—"सूक्ष्म वस्तुओं में मैं जीव हूँ" ॥१७॥

तथाहि (भा: १०—८७—३०)—

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत् समतनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥१८॥

श्रुतिगण ने श्रीकृष्ण से कहा है—"हे नित्य ! असंख्य एवं नित्य जीवगण को यदि सर्वगत अर्थात् व्यापक माना जाये, तो ऐसा मानने से 'जीव ईश्वर के शासनाधीन है'—यह नियम नहीं रहता है। किन्तु अन्यरूप होने से अर्थात् जीव को सूक्ष्म मानने से इस नियम का व्याघात नहीं होता। अधिकन्तु, जिसके (ईश्वर के) विकाररूप से जीव उत्पन्न होता है अर्थात् जिस कारण से जो कोई भी कार्य उत्पन्न होता है, कारणत्व को त्याग न करते हुए भी वह कार्य का नियामक रहता है (इसलिये ईश्वर से जीव की उत्पत्ति होने से ईश्वर नियामक तथा जीव नियम्य है) जो कार्य को कारण के समान मानते हैं अर्थात् जीव को ईश्वर के समान मानते हैं, उनका मत वेद-विरुद्ध होने से दोषयुक्त है ॥१८॥

चै० च० चु० टीका:—इस श्लोक में युक्ति प्रमाण द्वारा यह दिखाया गया है कि जीव व्यापक या विभु नहीं है, सूक्ष्म है। यदि जीव के स्वरूप को विभु मान लिया जाए यो जीव का फिर ईश्वर से

कुछ पार्थक्य नहीं रहता। इस अवस्था में जीव ईश्वर के शासन-आधीन है—यह जो वेद का नियम है—वह नहीं रह सकता, क्योंकि जब जीव विभु या व्यापक हो तो फिर उस पर शासन कैसा ? और श्रुतियों के ये वचन मृषा भी नहीं हो सकते कि 'जीव ईश्वर के आधीन हैं।' वस्तुतः ईश्वर ही जीव का नियामक है, क्यों कि जिसके विकाररूप से कोई कार्य उत्पन्न होता है, वह कारण अपने कारणत्व को त्याग न करके भी उस कार्य का नियामक ही रहता है। जीवरूप कार्य ईश्वररूप कारण से ही उत्पन्न हुआ है। इसलिये ईश्वर जीव का नियन्ता या नियामक है। अतः जीव नियम्य या शासित होकर विभु नहीं रह सकता। कार्य एवं कारण को अर्थात् जीव एवं ईश्वर को जो समान मानते हैं, उनका मत अश्रद्धेय है, मतदुष्टता के कारण अर्थात् वेदमत के प्रतिकूल होने के कारण वह मत दोषयुक्त है। साराँश यह है कि जीव का स्वरूप विभु नहीं है, मध्याकार भी नहीं है। वह अति सूक्ष्मतम वस्तु है। इसी के प्रमाण में ही श्रीमहाप्रभु जी ने ऊपरके सब श्लोकों का वर्णन किया है।

तार मध्ये स्थावर जङ्गम दुइ भेद। जङ्गमे तिर्य्यक् जल-स्थलचर-विभेद ॥१२७॥
तार मध्ये मनुष्य जाति अति अल्पतर। तार मध्ये म्लेच्छ पुलिन्द बौद्ध शवर ॥१२८॥
वेदनिष्ठमध्ये अर्द्धेक वेद मुखे माने। वेदनिषिद्ध पाप करे धर्म नाहि गणे ॥१२९॥
धर्मचारिगणमध्ये बहुत कर्मनिष्ठ। कोटि कर्मनिष्ठ मध्ये एक ज्ञानी श्रेष्ठ ॥१३०॥
कोटि ज्ञानीमध्ये हय एक जन मुक्त। कोटि मुक्तमध्ये दुर्लभ एक कृष्णभक्त ॥१३१॥
कृष्णभक्त निष्काम, अतएव 'शान्त'। भुक्ति-मुक्ति-सिद्धिकामी सकलि 'अशान्त' ॥१३२॥

प्रभु ने कहा—"रूप! अनन्त जीवों के स्थावर (वृक्षादि) एवं जङ्गम (मनुष्य, पशु-पक्षी, आदि) ये दो भेद हैं। जङ्गम जीवों में अनेक भेद हैं। जिनमें पशु-पक्षी, जलचर मछली आदि और स्थलचर मनुष्यादि हैं। इन जङ्गम जीवों में मनुष्य-जाति जीव अत्यन्त अल्पतर हैं। उस मनुष्य-जाति में फिर म्लेच्छ, पुलिन्द, बौद्ध एवं शवर आदि ऐसी जातियां हैं, जो वेदों को नहीं मानतीं। इनको छोड़ देने के बाद मनुष्यों की और भी अल्पसंख्या रह जाती है, जो वेदों को मानने वाली हैं। उन वेद-निष्ठ मनुष्यों में आधे लोग ऐसे हैं, जो वेद को केवल मुंह से मानने वाले हैं (केवल वेद कहना जानते हैं। वेदानुकूल आचरण नहीं करते।) वेद जिन कर्मों के करने का निषेध करता है, वे उन पापकर्मों का आचरण करते हैं और धर्म को कुछ मानते। नहीं फिर धर्माचरण करने वाले लोगों में अधिक संख्या कर्मों में निष्ठा रखने वाले लोगों की है (जो स्वर्गादि के सुखों को प्राप्त करके अपना सुख-भोग चाहते हैं) उन कोटि कर्मनिष्ठ लोगों में यदि कोई एक ज्ञानी मिल जाए, तो वही श्रेष्ठ है। कोटि ज्ञानियों में कोई एक ज्ञानी मायाबन्धन रहित होकर मुक्ति प्राप्त करके जीवनमुक्त हो पाता है, अर्थात् साधन की सिद्धि को प्राप्त करता है, ऐसे कोटि जीवनमुक्तों में कोई एक श्रीकृष्णभक्त मिलता है, वह भी मिलना अति दुर्लभ है। वह श्रीकृष्णभक्त निष्काम अर्थात् अपने सुख की कामना रहित होता है। अतएव वही शान्त अर्थात् आत्मसुख के लिये चञ्चलता से रहित होता है। श्रीकृष्णभक्त के अतिरिक्त और जितने भी साधक हैं, वे समस्त मुक्ति एवं सिद्धियों को चाहने वाले हैं, अतः वे सकामी हैं और इसलिये वे सब अशान्त ही हैं ॥१२७—१३२॥

चै० च० चु० *टीका*:—ऊपर कहा गया है कि कोटि कर्मनिष्ठ लोगों में यदि एक ज्ञानी मिल जाये तो वह श्रेष्ठ है—इसका तात्पर्य यह नहीं कि कर्मनिष्ठा से किसी को ज्ञान-निष्ठा प्राप्त हो जाती है या वह ज्ञानी बन जाता है। कर्मनिष्ठा से कोई साधक ज्ञानी नहीं बना करता। कारण कि ज्ञानी स्वर्गादि सुखों को न चाह कर केवल सायुज्य-मुक्ति को चाहता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के लिये उसे आनुषङ्गिकभाव

से भक्ति का आचरण तो अवश्य करना पड़ता है। क्योंकि भक्ति की सहायता बिना ज्ञान किसी को मुक्ति दे ही नहीं सकता। कर्मों के अनुष्ठान का मुक्ति से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतः कर्मनिष्ठा से ज्ञानी का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिये कोटि कर्मनिष्ठ लोगों में एक ज्ञानी के मिलने का प्रकृत्त अर्थ यह है कि कोटि कर्मनिष्ठ लोग जहां रहते हों, वहाँ यदि कोई एक ज्ञानी भी निवास करता हो, तो वह श्रेष्ठ है। यह अर्थ सङ्गत नहीं कि कोटि कर्मनिष्ठों में कोई एक ज्ञानी होता है।

जो लोग विषयादिकों को या स्वर्ग के सुख भोगों को चाहने वाले हैं, ऐसे कर्मनिष्ठ एवं सालोक्यादि पाँच प्रकार की मुक्तियों को चाहने वाले ज्ञाननिष्ठ, तथा अणिमादि आठ प्रकार की सिद्धियों को चाहने वाले योगनिष्ठ, ये सब अपने लिये ही कुछ न कुछ कामना करने वाले हैं, उस आत्म-सुख-वासना की पूर्त्ति के लिये उन सबका मन चञ्चल रहता है। अतः उन्हें अशांत कहा गया है। अथवा उनकी बुद्धि सर्वदा आत्म-सुख का या अपने दुख की निवृत्ति का ही अनुसरण करती रहती है, उनकी बुद्धि में श्रीकृष्ण-निष्ठा नहीं होती, अतः वे अशान्त हैं।

अष्ट प्रकार की सिद्धियां इस प्रकार हैं—१-**अणिमा**, अणुवत् क्षुद्र हो जाना, २-**लघिमा**, अत्यन्त लघु या हलका हो जाना, ३-**महिमा**, पर्वतवत् बहुत बड़ा हो जाना, ४-**प्राप्ति**, जो भी प्राप्त करने की इच्छा हो, उसे प्राप्त कर लेना, ५-**ईशित्व**, भूत-भौतिक सृष्टि को उत्पन्न कर सकना, ६-**वशित्व**, भूत-भौतिक सृष्टि को अपने वशीभूत कर लेना, ७-**प्राकाम्य**, मिट्टी में भी जल की भांति डुबकी लगा लेना आदि समस्त असम्भावी इच्छाओं की भी पूर्त्ति कर लेना, ८-**कामावसायिता**, सत्य सङ्कल्पत्व प्राप्त कर लेना—ये आठ प्रकार की सिद्धियां हैं, जिनकी प्राप्ति के लिये योगियों का मन चञ्चल रहता है।

प्रश्न हो सकता है—सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य एवं सामीप्य मुक्तियों में धामोचित ऐश्वर्यादि की प्राप्ति-कामना रहने से तो मन की चञ्चलता रह सकती है, किन्तु सायुज्य-मुक्ति में जहां अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रह जाता, जहां स्वसुखवासना का अवकाश ही नहीं रहता, वहां चञ्चलता और अशान्ति कैसी ? —उत्तर यह है— सायुज्यमुक्ति-कामी में स्वसुख की वासना नहीं रहती—ठीक है, किन्तु उसमें अपने दुख की निवृत्ति की कामना रहती है। संसार-यन्त्रणा से छुटकारा पाने की कामना ही उसे सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त करती है। अतः इसके साधन के मूल में भी अपने लिये कुछ चाहना है-वह है दुखनिवृत्ति की कामना। इसका नाम भी काम है जो चित्त की चञ्चलता उत्पन्न करता है। यदि कोई कहे कि दुखनिवृत्ति के अभिप्राय को न लेकर केवल ब्रह्म के साथ मिल जाने के लिये, ब्रह्म ही हो जाने के लिये सायुज्य मुक्ति के साधन में प्रवृत्त हुआ जाये तो ?—इसमें भी अपने लिये कुछ कामना है, ब्रह्म हो जाने के गौरव की कामना। यह भी चित्त-चाञ्चल्य-जनक कामना ही है। दुख-निवृत्ति की अथवा ब्रह्मत्व-लाभ के गौरव की कामना साधन की शेष अवस्था में भी रहती ही है। कारण इस कामना को हटाकर, उसके स्थान पर और कोई भी उद्देश्य सायुज्यकामी का नहीं रहता। इस लिये हर समय हा ज्ञान मार्ग के साधक के साधन की प्रवर्त्तक रहती है—अपने लिये कुछ प्राप्ति की कामना। श्रीकृष्ण-निष्ठ बुद्धि भी ऐसे साधकों में नहीं रहती, इसलिये सायुज्यमुक्ति-कामी को भी अशान्त कहा गया है।

विशेषतः जब तक एक नित्य, अचञ्चल, सर्वग्रासी एवं अनन्त वैचित्रीमय आनन्द का अनुसन्धान जीव प्राप्त नहीं कर लेता, जब तक उस आनन्द में चित्त की निबिड़ आविष्टता नहीं जन्मती, तब तक चित्त की चञ्चलता की निवृत्ति कदाचित् सम्भव नहीं। इस प्रकार का आनन्द केवल मात्र भक्ति में ही है, लीला-रस आस्वादन में ही है। जिन्होंने लीलारसास्वादन प्राप्त किया है, उनके चित्त को ब्रह्मानन्द विचलित नहीं कर सकता। किन्तु लीलारसास्वादन सुख ब्रह्मज्ञानियों के चित्त को सहज में आकृष्ट कर लेता है।

इस बात के अनेक शास्त्र-प्रमाण हैं। इससे ज्ञात होता है—ब्रह्मज्ञानियों का चित्त ब्रह्मानन्द में भी अचञ्चल रहता है तब तक, जब तक उन्हें अशेष रसामृत सिन्धु श्रीकृष्णचन्द्र के रूप-गुण-लीलादि की कथा सुनने को नहीं मिलती। इसमें श्रीशुकदेव, श्रीसनकादिक प्रमाण हैं। अतः श्रीकृष्ण-लीला गुणों में आकृष्टता प्राप्त न होने तक ब्रह्मानन्दी में भी चित्त की चञ्चलता की सम्भावना रहती है, जिससे उन्हें भी अशान्त कहा गया है।

जो भक्तिमार्ग का साधक है, दुखनिवृत्ति तथा श्रीकृष्ण-सेवा सुख की कामना उसके भी साधन की प्रवर्त्तक हो सकती है। प्रारम्भ में उठी हुई इस प्रकार की कामना जब तक भक्ति-मार्ग के साधक में भी रहती है, तब तक उसे भी निष्काम भक्त नहीं कहा जा सकता और न ही वह शान्त कहा जा सकता है। बल्कि तबतक उसके चित्त में भक्ति का आविर्भाव भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु एकान्तिकभाव से भजन करते करते श्रीभगवान् की कृपा से उस साधक की उस प्रकार की कामना दूर हो सकती है, और हो जाती है। उस कामना के स्थान पर कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी सेवा-वासना आकर उदय हो आती है। इस कृष्णसुखैक तात्पर्यमयी सेवा-वासना के मूल में अपने लिये चाहना कुछ भी नहीं है और तो क्या, आनन्द स्वरूप श्रीकृष्ण की सेवा के स्वाभाविक धर्मवशतः अपने आप जो एक अपूर्व अनिर्वचनीय सुख भक्त के हृदय में आ टपकता है, उसका भी अनुसन्धान भक्त को नहीं रहता। जब एकमात्र श्रीकृष्ण की प्रीति सम्पादन करने की कामना ही समग्र हृदय में छा जाती है, तभी उसके चित्त में भक्ति का आविर्भाव होता है, तभी ही वह श्रीकृष्ण-भक्त कहलाता है और तभी उसे निष्काम कृष्ण-भक्त कहा जा सकता है। इस प्रकार का निष्काम कृष्ण-भक्त श्रीकृष्ण निष्ठा-बुद्धियुक्त होता है—वह शान्त और अचञ्चल होता है—श्रीकृष्ण सेवा-सुख के लिये जोभजन में प्रवृत्त होते हैं वे भक्त भी बहुत अल्प संख्या में हैं और जो सेवा सुख के लोभ को भी छोड़कर केवलमात्र श्रीकृष्ण को ही सुख देने के लिये भजन करते हैं—"ऐसे भक्त तो सुदुर्लभ ही हैं"—इस बात के प्रमाण में श्रीभागवतजी के एक श्लोक का उल्लेख करते हैं—

तथाहि (भाः ६—१४—५)

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण–परायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥१६॥

श्रीशुकदेवजी के प्रति महाराज परीक्षितजी ने कहा है—"हे महामुने ! जो जीवनन्मुक्त हैं एवं जो सायुज्यमुक्ति रूप सिद्धि को प्राप्त करने वाले हैं—ऐसे कोटि जनों से भी श्रीनारायण का सेवा-परायण प्रशान्त-चित्त एक भक्त (श्रेष्ठ है एवं) सुदुर्लभ है ॥१६॥

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव । गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता-बीज ॥१३३॥
माली हञा करे सेइ बीज आरोपण । श्रवण–कीर्त्तन–जले करये सेचन ॥१३४॥
उपजिया बाढ़े लता-ब्रह्माण्ड भेदि याय । विरजा ब्रह्मलोक भेदि परव्योम पाय ॥१३५॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"ब्रह्माण्ड में अर्थात् अनेक योनियों में भ्रमण करते करते कोई भाग्यवान् जीव (महत्-कृपा से कृष्ण-भक्ति में श्रद्धादि उत्पन्न होने का उपक्रम रूप भाग्य जिसका उदय हुआ है वह जीव,) श्रीगुरु कृपा से अथवा श्रीकृष्ण-कृपा से भक्तिरूपी लता के बीज को (महत्-कृपाश्रित भजनाकांक्षा को) प्राप्त करता है। माली बन कर जब वह जीव उस बीज को बोता है और श्रवण-कीर्त्तनादि (साधन–भक्ति) रूप जल से उसको सींचता है, तब उसमें से (भजन-प्रवृत्ति या रति) रूपअङ्कुर उपजता है। फिर वह भक्तिलता (निष्ठा, रुचि, आसक्ति आदि अवस्थाओं को प्राप्त होकर) ब्रह्माण्ड को फोड़ती

हुई ऊपर चली जाती है और विरजा (कारण समुद्र) तथा ब्रह्म लोक (सिद्धलोक या चिन्मय ज्योतिर्मय धाम) को फोड़ कर परव्योम तक पहुंचती है ॥१३३—१३५॥

चै० च० चु० *टीका* :—पयार सं० १२७ से १३२ तक श्रीकृष्णभक्ति की सुदुर्लभता वर्णन करने के बाद,कैसे उस कृष्णभक्ति की प्राप्ति होती है,उसे इन अगले पयारों में कहा गया है। महत्-कृपा से ही कृष्ण-भक्ति की प्राप्ति होती है। साधु-सङ्ग से महत्-कृपा प्राप्त होती है और उसके प्रभाव से कृष्णभक्ति में श्रद्धा, भजन में प्रवृत्ति आदि उत्पन्न होती हैं। भजन में प्रवृत्ति होने पर जीव भजन करने लगता है। भजन के साथ साथ महत्-कृपा अपनी शक्ति से भजन-प्रवृत्ति को क्रमशः परिपुष्ट एवं परिवर्द्धित करती रहती है, उससे भजन-प्रवृत्ति क्रमशः निष्ठा, रुचि, आसक्ति आदि स्तर तक उन्नत हो उठती है एवं अवशेष में शुद्ध-सत्व के साथ तादात्म्य प्राप्त करके चिन्मयत्व को प्राप्त होती है और फिर कृष्ण-सुखैकतात्पर्यमयी सेवा-वासना रूप प्रेम में परिणत हो जाती है।

कृष्णभक्ति को यहाँ एक लता की उपमा दी गई है। किसी लता का बीज रोपण किया जाता है। उसे जल से सींचा जाता है। बीज अंकुर में बदल जाता है। अंकुर फिर लता में—शाखा, प्रशाखा, पत्र एवं पुष्पों में परिणत होता है। पुष्प फिर फल में परिणत हुआ करता है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण-सेवा-वासना ही एक भक्ति-लता है। उसका बीज है—महत्कृपा से प्राप्त भजन में प्रवृत्ति। वह भजन-प्रवृत्ति रूप-बीज श्रवण-कीर्त्तनादि साधन के अनुष्ठान-रूप जल से परिपुष्ट होकर निष्ठा, रुचि, आसक्ति आदि शाखा-प्रशाखा-पत्रादि रूप में अंकुरित एवं परिवर्द्धित होता है। अन्त में रति-रूप फूल में प्रफुल्लित होकर प्रेम-रूप फल में परिणत हो जाता है।

यह स्मरण रहे कि सत्सङ्गादि के बिना एव महत्-कृपा की प्राप्ति के बिना कभी भी भजन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। भजनाङ्गों का अनुष्ठान करने पर भी महत्-कृपा के बिना प्रेम-फल की प्राप्ति की सम्भावना कदाचित् नहीं हो सकती। महत्-कृपा के आश्रय विहीन जो अपने आप उत्पन्न होने वाली भजन प्रवृत्ति है, उस में ऐसी शक्ति नहीं कि वह श्रीभगवान् की मायाशक्ति का मुकाबला कर सके। महत्-कृपा इतनी परम शक्तिशालिनी है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड ऐश्वर्याधिपति स्वयं भगवान् को भी वशीभूत करा देती है। वह महत्-कृपा यदि भजन प्रवृत्ति के पीछे रहे तो बहिरङ्गा-मायाशक्ति में उस भजन की गति-रोध करने की कुछ भी सामर्थ्य नहीं रहती। अतः महत्-कृपा आश्रय-विहीना जो भजन-प्रवृत्ति है, उसे भक्ति-लता का बीज नहीं कहा जा सकता।

श्रीगुरु-कृपा और श्रीकृष्ण-कृपा से यहाँ महत्-कृपा का ही अभिप्राय है। कारण कि महत्-पुरुषों के लक्षण गुरु-लक्षणों के अन्तर्भुक्त हैं और श्रीगुरु में जो लक्षण होते हैं, वही महत्-पुरुषों के लक्षण हैं। अतः गुरु-कृपा से महत्-कृपा का ही अभिप्राय है। कृष्ण-कृपा साधारणतः दो प्रकार से अभिव्यक्त होती है। एक—श्रीगुरुरूप से, दूसरे—अन्तर्यामी रूप से। अन्तर्यामी भगवान् की शिक्षा को जीव साधारणतः समझने में असमर्थ होता है। अतः श्रीकृष्ण ही महान्त रूप से, किसी महत्-पुरुष के रूप से जीव पर कृपा करते हैं। इसलिये कृष्ण-कृपा का तात्पर्य भी महत्-कृपा से ही है।

ऊपर कहा गया है कि कोई भाग्यवान् जीव श्रीगुरु या श्रीकृष्ण-कृपा से कृष्ण-भक्तिलता के बीज अर्थात् भजन-प्रवृति को प्राप्त करता है। यहाँ भाग्य का क्या अर्थ है? क्या पहले कोई भाग्य उदय होता है—फिर श्रीगुरु-कृपा या श्रीकृष्ण-कृपा अथवा महत्-कृपा प्राप्त हुआ करती है?—ऐसा नहीं है। वस्तुतः साधुसङ्ग प्रभाव से, महत्-कृपा के फल से कृष्ण-भक्ति में जीव की जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, भजन में जीव की जो प्रवृत्ति जन्मती है--वही जीव का भाग्य है। महत्-कृपा से कृष्ण-भक्ति में श्रद्धादिक रूप भाग्य

जिनका उदय हुआ है—वस्तुतः वही भाग्यवान् हैं। भाग्य महत्-कृपा का फल या कार्य है और महत्-कृपा ही भाग्य का कारण है। जैसा कि पयार का यथाश्रुत अर्थ प्रतीत होता है, अर्थात् भाग्य से महत्-कृपा होती है—ऐसा अर्थ सङ्गत नहीं है। भाग्य गुरुकृपा, महत्-कृपा या कृष्ण-कृपा का कारण हो ही नहीं सकता, क्योंकि गुरु-कृपा, महत्-कृपा या कृष्ण-कृपा अहैतुकी हैं। इनका कुछ भी कारण नहीं हो सकता। तथापि इस पयार में कार्य को कारणरूप एवं कारण को कार्यरूप में उल्लेख करने का हेतु—एक प्रकार **अतिशयोक्ति-अलङ्कार** है, जहाँ कार्य-कारण का विपर्यय हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि महत्-कृपा होने से ही कृष्ण-भक्ति में श्रद्धादि रूप सौभाग्य अति शीघ्र उदय हो आता है।

बीज रोपण करने के बाद जिस प्रकार माली बीज की रक्षा किया करता है और जल से उसे सींचा करता है, उसी प्रकार भक्तिलता के बीज का चित्त-रूपी पृथ्वी में रोपण करने पर जीव को उसकी रक्षा करनी अति आवश्यक है, कि कहीं वह बीज वहाँ से हट न जाए। श्रवण-कीर्त्तनादि जलरूप अनुष्ठान से उसे सींचना भी आवश्यक है। उस बीज से जब भक्तिलता अंकुरित होकर बढ़ने लगती है तो ब्रह्माण्ड को फोड़ कर ऊपर चढ़ने लगती है। प्राकृत-ब्रह्माण्ड में ऊपर की ओर जो स्वर्गलोक, तपोलोक, सत्य-लोकादि भोगलोक हैं—उसमें कर्मफलानुसार जीव जाकर सुख भोगा करता है, किन्तु जिसके चित्त में भक्ति उत्पन्न होती है, वह फिर भोग लोकों के किसी भी सुखभोग की ओर आकृष्ट नहीं होता। बल्कि उसका चित्त अप्राकृत भगवद्धामों की ओर ऊपर चढ़ता हुआ चला जाता है।

इन समस्त प्रकृत्त लोकों को छोड़ कर भक्तिलता विरजा-नदी अर्थात् कारण-समुद्र को भी अति-क्रम करके आगे चढ़ जाती है। भावार्थ यह है कि महाप्रलय में कारण-समुद्र में ही जीव सूक्ष्म रूप से अपने कर्मफल का आश्रय लेकर अवस्थित रहते हैं, किन्तु जिसके हृदय में भक्ति उत्पन्न होती है, उसके समस्त कर्मफल नष्ट हो जाते हैं (श्री भा: ११-१४-१९), अतः कर्मफल नष्ट हो जाने से महाप्रलय में भी भक्त को कर्मफल-आश्रित होकर कारण-समुद्र में नहीं रहना पड़ता।

भक्तिलता ब्रह्मलोक को भी भेद कर ऊपर चली जाती है। ज्ञानमार्ग का साधन करके सायुज्य-मुक्ति के अधिकारी जीव तथा श्रीभगवान् के हाथों से मरने वाले दैत्य लोग ब्रह्मलोक में, जो विरजा और परव्योम (वैकुण्ठों) के बीच में स्थित है, सूक्ष्म जीव-स्वरूप से अवस्थान करते हैं। भक्त उसे भी कृष्ण-सेवा-विहीन लोक जान कर एवं ब्रह्मानन्द को सेवा-सुख से अति तुच्छ जान कर वहाँ भी मुग्ध नहीं होते; उससे भी ऊपर उठ जाते हैं।

ब्रह्मलोक के ऊपर एवं कृष्णलोक के बीच जो समस्त भगवद्धाम हैं, जिन्हें परव्योम कहते हैं और जहाँ सार्ष्टि-सारूप्य, सालोक्य,सामीप्य—चार प्रकार की मुक्ति के अधिकारी रहा करते हैं, जिस परव्योम के अधिपति श्रीनारायण हैं—भक्तिलता उस परव्योम का भी उलङ्घन करती हुई ऊपर चली जाती है। भावार्थ यह है कि शुद्धा-भक्ति की कृपा होने पर भक्त चार प्रकार की मुक्ति की भी कामना नहीं करता। चार-प्रकार की मुक्ति देने पर भी वह उसे ग्रहण नहीं करता। तदनन्तर भक्तिलता कहाँ तक जाती है, कहाँ तक परिवर्द्धित होती है, उसे अगले पयारों में वर्णन करते हैं :—

तबे याय तदुपरि गोलोक वृन्दावन। कृष्णचरण—कल्पवृक्षे करे आरोहण ॥१३६॥
ताहां विस्तारित हञा फले प्रेमफल। इहां माली सेचे नित्य श्रवणादि जल ॥१३७॥
यदि वैष्णव-अपराध उठे हाथी माता। उपाड़े वा छिण्डे, तार शुकि याय पाता॥१३८॥
ताते माली यत्न करि करे आवरण। अपराध-हस्ती यैछे ना हय उद्गम ॥१३९॥

परव्योम से ऊपर वह भक्तिलता गोलोक श्रीवृन्दाबन में चली जाती है। वहां जाकर श्रीकृष्ण-चरण रूप कल्पवृक्ष का आश्रय लेती है। वहाँ विस्तार को प्राप्त कर फलने लगती है और उसमें प्रेम-फल लगता है, यह आवश्यक है कि इधर भी (साधकदेह में) भक्तिलता के मूल में माली (साधक) श्रवण-कीर्त्तनादि अनुष्ठानरूप जल से नित्य उस को सींचता रहे। यदि कहीं वैष्णव-अपराध रूप मतवाला हाथी वहाँ आ उपस्थित हुआ तो वह उस लता के मूल को उखाड़ देता है, फिर उसके पत्ते इत्यादि सूख जाते हैं। इसलिये माली को यत्न पूर्वक इस लता के चारों ओर मेड़ बान्धनी चाहिए जिससे अपराधरूप-हाथी आकर उसको उखाड़ या उजाड़ न सके ॥१३६—१३६॥

चै० च० चु० *टीका* :—जैसे लता किसी वृक्ष विशेष का आश्रय लेकर फला करती है। उसी प्रकार यह भक्तिलता भी सर्वफल-प्रदाता कल्पवृक्षरूप श्रीकृष्ण-चरणों का आश्रय लेकर फलीभूत होती है, अर्थात् श्रीकृष्ण-चरण-कृपा से ही भक्ति के फल प्रेम की प्राप्ति होती है।

साधक को नित्य ही अबाधितरूप से श्रवण-कीर्त्तनादि भजनाङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिये, यह भी उपर्युक्त पयार से सूचित होता है। भक्ति एक लता है। लता अति कोमल होती है। पशु आदि से उसकी रक्षा आवश्यक होती है। इसी प्रकार भक्ति भी अति कोमल है उसकी रक्षा हर प्रकार से करना आवश्यक है। भक्तिलता को हर समय रक्षित रखना होता है। नहीं तो वैष्णव–अपराध उस भक्ति को मूल से उखाड़ देते हैं।

वैष्णव-अपराध से अभिप्राय किसी भी वैष्णव के प्रति अपराध करने से है। किसी वैष्णव को मारना, उसकी निन्दा करना। उससे द्वेष करना, अनादर करना, किंवा उस पर क्रोध करना उसे देख कर हर्ष प्रकाश न करना इत्यादि वैष्णव-अपराध हैं (श्रीमद् वैष्णव सि० सं० पृष्ठ १८१ द्रष्टव्य) जाति-बुद्धि-वशतः या किसी कारण वश वैष्णव के प्रति वैष्णवोचित सम्मान न करने से भी अपराध होता है। किसी वैष्णव में यदि कोई अनुचित आचरण भी दीखता है। दुष्कर्म एवं दुराचार भी यदि किसी वैष्णव में दीखता है, तथापि उसके आचरण को देख कर उसके प्रति मन में अश्रद्धा एवं अवज्ञा का भाव आते ही वैष्णव अपराध होता है। वैष्णव के प्रति कुछ भी दोषदृष्टि न करके उसके प्रति वैष्णवोचित सन्मान मनसा-वाचा-कर्मणा दिखाना एवं करना ही चाहिये—यह बात श्रीभगवान् ने गीता जी (६–३०) में कही है—

अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितोहि सः ॥ण॥

श्रीभगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है—"जो एकान्तिक-भाव से मेरा भजन करने वाला है, (किन्तु प्रारब्धकर्मवश) यदि वह सुदुराचार में फंस गया है, तो भी उसे साधु-पुरुष ही मानना चाहिये क्योंकि उसने (अपने उद्धार के लिये भजनरूप) सम्यक् व्यवस्था करली है ॥ण॥

सुदुराचारी व्यक्ति को भी साधु मानने का कारण यह है कि अनन्य भजन परायण होकर भी प्रारब्ध कर्मवश वह दुष्कर्म में लगा रहता है। दुष्कर्म के लिये वह सदा पश्चाताप भी किया करता है, दुष्कर्म से बचने के लिये वह भगवान् से प्रार्थना भी किया करता है और यथा सम्भव स्वयं भी चेष्टा करता रहता है, तथापि प्रारब्ध कर्मवशतः बहुत अवसरों पर वह आवेश में आकर दुष्कर्म कर बैठता है। वह तीव्र अनुताप एवं चेष्टा तथा भगवत्-कृपा के फल स्वरूप **"क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति"** गीता (६– ३१) अर्थात् वह शीघ्रही धर्मात्मा होकर परमशान्ति को प्राप्त करता है और उसका दुराचारत्व

शीघ्र दूर हो जाता है। कुछ भी हो, दुष्कर्म ही घृणा करने की वस्तु है, दुष्कर्मकारी से घृणा नहीं करनी चाहिये, वरं उसके सुधारने की चेष्टा ही करनी चाहिये।उस वैष्णव के सुधारने में, उसे समझाने-बुझाने में यदि कुछ ऐसा आचरण किया जाये जिससे उस वैष्णव के मन कष्ट हो तो उससे अपराध की सम्भावना नहीं है। अर्थात् संशोधन के सदुद्देश्य में वैष्णव के मन से को यदि कष्ट होता है तो यह अपराध नहीं है, किन्तु किसी क्षति पहुँचाने के लिये—कोई भी कार्य, कथा व आचरण जिससे वैष्णव के मन को कष्ट हो—उससे वैष्णव-अपराध होगा जो भक्तिलता को जड़ से उखाड़ने वाला है।

वैष्णव की पहिचान तो श्रीमहाप्रभु द्वारा बताई जा चुकी है "एकबार जिसके मुख से श्रीकृष्ण-नाम निकलता है वही वैष्णव है, जो निरन्तर श्रीकृष्णनाम करता है, वह **वैष्णवतर** है और जिसके दर्शन मात्र से श्रीकृष्णनाम मुख से निकलने लगे, वह **वैष्णव-तम** है। अतः वैष्णव अपराध से बचने के लिये अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। वैष्णव अपराध हो जाने पर उसी वैष्णव से अपराध की क्षमा-याचना करने से, उसकी वन्दना एवं सेवादि करने से ही उस अपराध की निवृत्ति सम्भव है। वैष्णव को छोड़कर और किसी के प्रति अपराध हो जाये, तो एकान्त भाव में श्रीहरिनाम का आश्रय लेने से वह अपराध मिट जाता है, किन्तु वैष्णव-अपराध हो जाने पर यदि कोई अभिमान वशतः उस वैष्णव से क्षमा याचना या उसकी वन्दना, सेवादि न करे, और श्रीहरिनाम का आश्रय लेकर उससे मुक्ति चाहे तो उसमें सन्देह है अर्थात् श्रीहरिनाम की भी कृपा उस अभिमान के रहते हुए होने में संशय है। अथच अपराध निवृत्ति नहीं होगी।

यहां वैष्णव-अपराध के उल्लेख से **सेवापराध** एवं **नामापराध** भी साथ साथ समझने चाहियें, क्योंकि सेवापराध तथा नामापराध से बचना भी साधन-भक्ति पथ में अनिवार्य ही है। भक्तिलता की और किस किस से रक्षा करनी आवश्यक है, उसे अब अगले पयारों में कहते हैं।

किन्तु यदि लतार अङ्गे उठे उपशाखा। भुक्ति-मुक्ति-वाञ्छा यत असङ्ख्य तार लेखा ॥१४०॥
निषिद्धाचार कुटिनाटि जीव हिंसन। लाभ-प्रतिष्ठादि जन उपशाखागण ॥१४१॥
सेकजल पाञा उपशाखा बाढ़ि याय। स्तब्ध हञा मूल शाखा बाढ़िते न पाय ॥१४२॥

उस (भक्ति) लता के साथ साथ अन्यान्य उपशाखाएं अर्थात् अन्यान्य घास-पौधे आदिक भी उत्पन्न हो आते हैं और वे हैं—भुक्ति (इस लोक-परलोक के भोग) तथा मुक्ति की इच्छा और भी अनगिनत उपशाखाएं हैं जैसे निषिद्धाचार (शास्त्र निषिद्ध एवं सदाचार निषिद्ध आचरण) कुतर्क एवं कुटिलता, प्राणियों को (वृक्ष-लतादि तक को) दुख देना। धनादि का लोभ व उसके लिये चेष्टा सुख्याति एवं सम्मान प्राप्त करने की इच्छा और चेष्टा-इत्यादि ये अनेक उपशाखाएं हैं जो भक्तिलता के आस-पास उत्पन्न हो आती हैं। श्रवण-कीर्तनादि का जल पाकर यही उपशाखाएं ही बढ़ने लगती हैं और मूल जो भक्तिलता है वह स्तब्ध हो जाती है और वह बढ़ने एवं पुष्ट होने से वञ्चित रह जाती है ॥१४०—१४२॥

प्रथमेइ उपशाखार करिये छेदन। तबे मूलशाखा बाढ़ि याय वृन्दावन ॥१४३॥
प्रेमफल पाकि पड़े—माली आस्वादय। लता अवलम्बि माली कल्पवृक्ष पाय ॥१४४॥
ताहां सेइ कल्पवृक्षेर करये सेवन। सुखे प्रेमफल-रस करे आस्वादन ॥१४५॥
एइ त परम फल—परम पुरुषार्थ। यार आगे तृण तुल्य चारि पुरुषार्थ १४६॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"रूप! इसलिये इन उपशाखाओंको प्रारम्भ से ही काट डालना चाहिये।

अर्थात् भुक्ति-मुक्ति- वाञ्छा-धन प्रतिष्ठा, निषिद्धाचार आदि सब का परित्याग करके केवल भक्तिलता की ही रक्षा करनी चाहिये। तभी वह मूल भक्तिलता बढ़ कर श्रीवृन्दावन गोलोक तक पहुँचती है। तभी वहां पका हुआ प्रेमफल प्राप्त होता है, जिसका आस्वादन माली को (साधक को) प्राप्त होता है। उस लता के सहारे से माली कल्पवृक्षरूप श्रीकृष्ण-चरणों की भी प्राप्ति कर लेता है। (देहावसान के बाद) वहां पहुँच कर उस कल्पवृक्ष का सेवन करके माली (सिद्ध देह से) सुखपूर्वक प्रेमफल रस का आस्वादन करता है। साक्षात् श्रीकृष्ण सेवाप्राप्ति—यही परमफल एवं परम पुरुषार्थ है। जिसके सामने धर्म, अर्थ, काम एवं मुक्ति—ये चारों पुरुषार्थ तृणवत् तुच्छ हैं। जैसा कि कहा गया है—॥१४३—१४६॥

तथाहि ललितमाधवे (५—६)

ऋद्धा सिद्धि ब्रजविजयिता सत्यधर्मा समाधि—
ब्र ह्मानन्दो गुरुरपि चमत्कारयत्येव तावत्।
यावत् प्रेम्नां मधुरिपुवशीकार-सिद्धौषधीनां—
गन्धोऽप्यन्तःकरणसरणीपान्थतां न प्रयाति ॥२०॥

श्रीकृष्ण के वशीकरण में सिद्ध-औषधिस्वरूप प्रेम समूह का लेशमात्र जब तक अन्तःकरण के पथ का पथिक नहीं होता है, तब तक ही समृद्धिशालिनी अणिमादि सिद्धियों की उत्कृष्टता, सत्यधर्मोपेत समाधि (सत्य, शौच, दान व तपस्यादि जिसके साधन होते हैं—ऐसी समाधि) तथा निर्विशेष ब्रह्मानुभवजनित महानन्द चमत्कारिता सम्पादन कर सकते हैं। अर्थात् श्रीकृष्णप्रेम के सामान्य मात्र भी हृदय में आविर्भूत होने पर अष्टसिद्धियां, योगाभ्यास लब्ध समाधि एवं निर्विशेष-ब्रह्मानन्द उस साधक के लिये तुच्छ होकर दीखते हैं—वह इन में लोभायित नहीं होता ॥२०॥

शुद्धभक्ति हैते हय प्रेमेर उत्पन्न। अतएव शुद्धभक्तिर कहिये लक्षण— ॥१४७॥
'अन्य वाञ्छा, अन्य पूजा छाड़ि ज्ञान कर्म। आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन ॥१४८॥
एइ शुद्धभक्ति, इहा हैते प्रेम हय। पञ्चरात्र्ये भागवते एइ लक्षण कय ॥१४९॥

शुद्धभक्ति से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है, अतएव अब शुद्धभक्ति के लक्षण कहते हैं। अन्य वाञ्छा अर्थात् श्रीकृष्ण-सेवा के अतिरिक्त और कोई वासना, अन्य पूजा (अर्थात् श्रीकृष्ण को छोड़ कर अन्य किसी देवता की पूजा) ज्ञान अर्थात् निराकार-निर्गुण ब्रह्म का अनुसन्धान, कर्म अर्थात् स्वर्गादि भोगों को देने वाले यज्ञादिक कर्म—इन समस्त का परित्याग करके श्रीकृष्ण-प्रीति के अनुकूल भाव से (कंस-शिशुपालादिक की भाँति शत्रुभाव से नहीं) समस्त इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण का अनुशीलन अर्थात् श्रीकृष्ण-विषयक चेष्टा या आचरण करना—यह शुद्ध भक्ति कहलाती है, जिससे प्रेम की प्राप्ति होती है। नारद पञ्चरात्र, श्रीमद्भागवत में भी शुद्ध भक्ति के यही लक्षण कहे गये हैं ॥१४७—१४९॥

वैं० च० चु० *टीका* :—ऊपर के पयारों में शुद्ध भक्ति के लक्षण कहे गये हैं। अनुकूल भाव से सर्व इन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्ण का अनुशीलन—ये शुद्ध भक्ति के स्वरूप-लक्षण हैं और अन्य वाञ्छा, अन्य पूजा तथा कर्मज्ञानादि का परित्याग—ये शुद्ध भक्ति के तटस्थ-लक्षण हैं। सर्वैश्वर्य-माधुर्य पूर्ण स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का अन्य वासना, अन्य पूजा, कर्मयोग ज्ञान आदिक को परित्याग करके, सर्वेन्द्रियों से अनुकूल भावों द्वारा अनुशीलन करना ही शुद्ध-भक्ति है।

अनुशीलन दो प्रकार का है—१. **प्रवृत्त्यात्मक** अर्थात् ग्रहण-चेष्टा और २.—**निवृत्त्यात्मक** अर्थात् त्याग चेष्टा। ये दोनों कायिक, मानसिक एवं वाचनिक—तीन तीन प्रकार के हैं। कायिक चेष्टाएँ—श्रवणादि एवं परिचर्यादि, तीर्थगमनादि हैं। मानसिक चेष्टा—स्मरण है और वाचनिक चेष्टाएँ—सङ्कीर्त्तनादि हैं—ये तीनों अनुकूल भाव से **प्रवृत्त्यात्मक-कृष्णानुशीलन** कहा जाता है। और जिन चेष्टाओं से श्रीकृष्ण में अप्रीति हो, कंस-शिशुपालादि की तरह हिंसा-द्वेषादि के वशीभूत हो कर श्रीकृष्ण का नाम उच्चारण करना, उनके गुण-लीलादिक में दोष आरोपण करना, उनकी निन्दा सुनना—इन समस्त के श्रवण, एवं स्मरणादिक से दूर रहना—"**निवृत्त्यात्मक-कृष्णानुशीलन**" है।

समस्त इन्द्रियों को श्रीकृष्ण-सेवा में कैसे नियोजित किया जाय?—पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं—**नेत्र**, **कर्ण**, नासिका, जिह्वा एवं त्वचा। पाँच कर्म इन्द्रियाँ हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु, एवं उपस्थ। चार अन्तर इन्द्रिय हैं—मन, बुद्धि, अहङ्कार, एवं चित्त। **नेत्रों** द्वारा श्रीमूर्त्ति दर्शन, लीलास्थानों के दर्शन, **कानों** द्वारा श्रीकृष्णनाम-गुण-लीलादि श्रवण, **नासिका** द्वारा श्रीकृष्ण प्रसादी-तुलसी-पुष्पमालादि का सूंघना, **जिह्वा** द्वारा श्रीकृष्ण नाम-गुण लीलादि का कीर्त्तन एवं महाप्रसाद-आस्वादन, **त्वक** द्वारा श्रीकृष्ण प्रसादी चन्दन-माला का धारण, लीलास्थल की रज का स्पर्श करना, नाम-मुद्रादि का तिलक धारण करना, **वाक्य** द्वारा नाम-गुण-लीलादि का कथन, **हाथों** द्वारा श्रीकृष्ण सेवोपयोगी सामग्री का चयन करना, लीला लिखना सङ्कीर्त्तनादि में ताल-वाद्यादि बजाना, हरि मन्दिर का मार्जनादि, **पादों** द्वारा तीर्थों में या हरि मन्दिर में जाना, सेवा सामग्री के लिये गमनागमन। **पायु एवं उपस्थ** द्वारा मल-मूत्रादि को त्याग कर शरीर को सेवा के उपयोगी बनाये रखना। **मन** द्वारा श्रीकृष्ण-गुणलीलादि का स्मरण, **बुद्धि** को श्रीकृष्ण-निष्ठ करना। **अहङ्कार** द्वारा—मैं श्रीकृष्ण दास हूँ—इस अभिमान को पोषण करना एवं **चित्त** द्वारा अनुसन्धान में लगना—इस प्रकार समस्त इन्द्रियों को श्रीकृष्ण-सेवा में नियोजित किया जा सकता है। अगले श्लोक में नारद पञ्चरात्र के प्रमाण को उल्लिखित करते हैं।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ भक्तिसामान्यलहर्य्यां (१-१-१०) नारद पञ्चरात्र वचनम्—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश—सेवनं भक्तिरुच्यते॥२१॥

समस्त इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियों के अधीश्वर श्रीकृष्ण की सेवा को भक्ति कहते हैं, वह सेवा सब प्रकार से उपाधिशून्य (सेवा व्यतीत अन्य वासना-शून्य) एवं सेवापरत्वरूप से निर्मल होती है॥२१॥ श्रीमद्भागवत जी में भी कहा है:—

तथाहि (भा: ३-२९-११, १२, १३)—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥२२॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥२३॥
सालोक्य--सार्ष्टि--सामीप्य--सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः॥२४॥

श्रीकपिलदेवजी ने अपनी माता देवहूति को कहा है—"हे माते ! मैं पुरुषोत्तम सब के अन्तःकरण में अवस्थित हूँ। मेरे गुणों को श्रवण करने मात्र से, गङ्गा के समुद्र में अविच्छिन्न प्रवाह की भांति मुझ में जो मनोगति अर्थात् भक्ति उत्पन्न होती है एवं जिस में अपने लिये किसी भी फल की लालसा नहीं है, तथा मुझ भगवान् की प्रीति विधान करना ही जिसका एकमात्र प्रयोजन है—इन लक्षणों वाली भक्ति को 'निर्गुण' या 'शुद्धाभक्ति' कहते हैं। ऐसी शुद्धाभक्ति से युक्त मेरे भक्त मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य तथा सायुज्य—ये पाँच प्रकार की मुक्तियां मेरे देने पर भी ग्रहण नहीं करते हैं।

चै० च० चु० *टीका*:—स्वरूपशक्ति की वृत्ति होने से भक्ति स्वभावतः निर्गुणा अर्थात् प्राकृत गुण-स्पर्शशून्या है, किन्तु भक्ति का अनुष्ठान करता है मायाबद्ध जोव। जीव के चित्त में माया के सत्व, रजः एवं तमोगुण विद्यमान हैं। साधक के चित्त में इन मायिक गुणों की प्रधानता रहने से भक्ति अनुष्ठान में वही प्रतिफलित होकर भक्ति को ही गुणमयी या सगुण प्रतीत कराते हैं, जैसे वर्णहीन स्फटिकमणि के आगे जैसा वर्ण आजाये, स्फटिकमणि उसी वर्णयुक्त भासती है, तद्रूप। इस प्रकार मायागुण प्रतिफलित भक्तियोग **सगुण-भक्तियोग** कहा जाता है। जिस भक्ति में इस प्रकार का प्रतिफलन नहीं है उसे **निर्गुण-भक्तियोग** कहते हैं। श्लोक नं० २२ एवं २३ में इसी निर्गुण-भक्ति का वर्णन किया गया है, निर्गुण-भक्ति की सगुण अर्थात् सात्विक-भक्तियोग, राजस-भक्तियोग तथा तामस-भक्तियोग से उत्कर्षता कही गई है इस प्रकार की सगुणा-भक्ति का वर्णन श्रीमद्भागवत जी के तृतीय स्कन्ध २९ वें अध्याय में किया गया है। उद्देश्य भेद से प्रत्येक सगुण-भक्ति अधम, मध्यम एवं उत्तम तीन प्रकार की है। इस तरह सगुणा-भक्ति नौ प्रकार की होती है। इन नौ भेदों से प्रत्येक भक्ति का अनुष्ठान फिर नौ प्रकार का हो सकता है, क्यों कि श्रवण-कीर्त्तनादि नवविधा भक्ति अङ्ग का किसी अङ्ग से उल्लिखित नौ प्रकार का भक्तियोग अनुष्ठित हो सकता है। अतः सगुणा-भक्ति नौ प्रकार की होकर भी उद्देश्यमूलक अनुष्ठान को लेकर इक्यासी प्रकार की हो जाती है। अपने किसी न किसी एक उद्देश्य की सिद्धि को वासना ही सगुणाभक्ति की प्रवर्त्तक हुआ करती है। इसलिये वह सकाम है और अहैतुकी नहीं है। उल्लिखित श्लोक में यह दिखाया गया है कि सगुणा-भक्ति के अनुष्ठान में कहीं भी भक्तिवासना नहीं है। भक्ति-वासना को रखते हुए सगुण-अवस्था में भी साधक यदि भक्तियोग का अनुष्ठान करे तो भक्तिरानी की कृपा से उसकी भक्ति भी फिर निर्गुणरूपसे उसके चित्त में विराजित हो सकती है।

इस प्रकार सगुण-भक्ति के सम्बन्ध में कहकर भगवान् श्रीकपिलदेव जी ने अपनी माता देवहुति के प्रति श्लोक नं० २२ मे निर्गुण-भक्ति का वर्णन किया है।

जहां अपने सुख की प्राप्ति या अपने दुःख की निवृत्ति की वासना है—वह **सगुण-भक्तियोग** है। वस्तुतः वह स्वरूपतः भक्ति नहीं है। भक्ति नाम है—स्वसुखवासनागन्धहीना कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी-सेवा का। अपने लिये किसी उद्देश्य की सिद्धि जहाँ नहीं है, केवल श्रीभगवान् के सर्वचित्ताकर्षक गुणों के श्रवण मात्र से भगवत-गुणादि के स्वरूपधर्मवशतः जिस भजन की प्रवृत्ति होती है वही अहैतुकी-भक्ति है। मायिक गुणजात किसी भी उद्देश्य सिद्धि की वासना उस भजन की प्रवृत्ति का कारण न होने से, वह **भक्ति निर्गुण** है। इसलिये वह **स्वरूपगत** एवं **स्वरूप-सिद्धा भक्ति** भी कहलाती है और वही **शुद्धाभक्ति** मानी गई है। उस शुद्धाभक्ति का लक्ष्य रखकर तदनुकूलभाव से नवविधा-भक्ति का अनुष्ठान ही शुद्धाभक्ति का साधन कहलाता है। इस प्रकार के साधन के फल स्वरूप भगवत्-कृपा एवं महत्-कृपा से चित्तशुद्ध होने पर इस शुद्धाभक्ति का चित्त में आविर्भाव होता है। शुद्धाभक्ति की कृपा होने पर और तो क्या फिर पांचों प्रकार की मुक्ति यदि भगवान् स्वयं उस भक्त को देना चाहें तो वह उन्हें भी ठुकरा देता है। यदि

कुछ चाहता है तो वह चाहता है केवल शुद्धमाधुर्यमय व्रज में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की प्रेमसेवा। यही बात भगवान् कपिलदेव जी निम्नलिखित श्लोक में कहते हैं —

तथाहि (भा: ३—२९—१४)

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणां मद्भावायोपपद्यते ॥२५॥

श्रीकपिलदेव जी ने कहा है—"मां ! वही भक्तियोग ही आत्यन्तिक कहा जाता है अर्थात् शुद्धा भक्तियोग से श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की सेवा की शेष सीमा तक वही पहुँचाने वाला है, जिससे साधक तीनों गुणों को अतिक्रम करके मेरे प्रेम विशेष की प्राप्ति के योग्य हो जाता है" ॥२५॥

भुक्ति-मुक्ति-आदि-वाञ्छा यदि मने हय।
साधन करिले प्रेम उत्पन्न ना हय ॥१५०॥

भुक्ति तथा मुक्ति आदि की वासना यदि मन में रहती है तो साधन करने पर भी प्रेम का आविर्भाव नहीं हो सकता। जैसा कि कहा गया है—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे द्वितीयलहर्य्याम् (१५)

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा-यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥२६॥

जब तक भुक्ति तथा मुक्ति की वासनारूपा पिशाचिनी हृदय में वास करती है, तब तक भक्तिसुख का कैसे अभ्युदय हो सकता है ? (पिशाचिनी जहाँ रहती है, वह स्थान अपवित्र हो जाता है—वहां किसी भी सद्पुरुष अथवा देवता का निवास नहीं रहता। तद्रूप भुक्ति-मुक्ति की वासना से चित्त अपवित्र हो जाता है फिर वहां परम पवित्र भक्ति महारानी कैसे रह सकती है ? ॥२६॥

साधन-भक्ति हैते रतिर उदय। रति गाढ़ हैले तार 'प्रेम' नाम कय ॥१५१॥
प्रेमवृद्धिक्रमे नाम–स्नेह, मान, प्रणय। राग, अनुराग, भाव, महाभाव हय ॥१५२॥
यैछे बीज, इक्षु, रस, गुड़, खण्डसार। शर्करा, सिता, मिश्रि, उत्तममिश्रि आर ॥१५३॥

श्रवण-कीर्त्तनादि—साधन भक्ति से रति या प्रेमाङ्कुर या भाव उत्पन्न होता है। वही रति गाढ़ता को प्राप्त होकर प्रेम नाम धारण करती है। फिर प्रेम की वृद्धि का क्रम इन नामों से प्रसिद्ध है—स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव। जैसे इक्षु का बीज वृद्धि को पाकर क्रमशः इक्षु, रस, गुड़, खाण्ड, शक्कर, चीनी, मिश्री एवं पताशा–आदि नामों से प्रसिद्ध होता है ॥१५१–१५३॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रवण कीर्त्तनादि साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते करते अनर्थों की निवृत्ति (श्रीमद्वैष्णव० सि० १८८ पृष्ठ द्रष्टव्य) होकर जब चित्त शुद्ध हो जाता है तब रति या भाव अथवा प्रीति का अंकुर उदय होता है। भक्ति अथवा प्रेम नित्यसिद्ध वस्तु है—वह माया-मुग्ध चित्त में उदित नहीं हो सकता। अतः साधन के द्वारा चित्त शुद्ध हो जाने पर ही वह अपने आप आत्म-प्रकाश करता है। उस आत्म-प्रकाश की प्रथमावस्था का नाम ही रति या भाव है। प्रेम के पूर्णतम विकाश का नाम है—

महाभाव। रति-प्रेम-स्नेहादि का विस्तार पूर्वक विवरण श्रीमद्वैष्णव सि० में पृष्ठ ८७ पर द्रष्टव्य है। आगे चल कर २२ वें तथा २३ वें परिच्छेद में भी इनका वर्णन किया जाएगा।

एइ सब कृष्ण-भक्ति रसेर स्थायिभाव। स्थायि-भावे मिले यदि विभाव अनुभाव ।।१५४।।
सात्त्विक–व्यभिचारि--भावेर मिलने। कृष्ण-भक्ति रस हय अमृत–आस्वादने ।।१५५।।
यैछे दधि सिता घृत मरीच कर्पूर। मिलने 'रसाला' हय अमृत–मधुर ।।१५६।।

रति, प्रेम, स्नेह इत्यादि महाभाव पर्यन्त--ये सब कृष्ण-भक्ति रस के अर्थात् कृष्ण-विषयिणी रति के स्थायी-भाव हैं (जिन भावों के मिलने से रति आस्वादन योग्यता को प्राप्त करके भक्ति-रस में परिणत हो जाती है और जो भाव इस भक्ति-रस में नित्य ही प्रधान-भाव से विराजमान् हैं—वे भक्तिरस के स्थायीभाव कहलाते हैं।) उन स्थायी-भावों से यदि विभाव अनुभाव, सात्त्विक-भाव एवं व्यभिचारी-भाव आकर मिलें तो कृष्णभक्ति-रस अपूर्व अमृत के तुल्य आस्वादन को प्राप्त करता है, जैसे दधि में चीनी, घी, मिरच, कपूर सब मिलकर 'रसाला' नाम धारण कर उसे अमृत तुल्य मधुर बना देते हैं ।।

चै० च० चु० *टीका*:—भक्ति-रस प्रधानतः बारह हैं—उन बारह रसों के **स्थायी-भाव** निम्न प्रकार हैं—१. **वीररस** का स्थायीभाव है **'उत्साह'** २. **करुणरस** का स्थायीभाव है—**'शोक'**। ३. **अद्भुतरस** का स्थायीभाव है **'विस्मय'**। ४. **हास्यरस** का **'हास्य'**। ५. भयानकरस का 'भय'। ६. **रौद्ररस** का **'क्रोध'**। ७. **वीभत्स रस** का स्थायी भाव है **'जुगुप्सा'**। (ये सातों रसभक्ति के गौण-रस हैं) ८—**शान्तरस** का स्थायी भाव है **'शान्त'**। ९. **दास्यरस** का **'दास्य'**, १०. **सख्यरस** का **'सख्य'**,११. **वात्सल्यरस** का **'वात्सल्य'**, तथा १२. **मधुरभाव** का स्थायी भाव है **'प्रियता'**। !(ये पाञ्चों भक्तिरस के मुख्य रस माने गये हैं।)

विभाव का वर्णन आदि लीला पृष्ठ ७३ पर, अनुभाव तथा सात्विक भाव का वर्णन पृष्ठ ५२ पर, और व्यभिचारी भावों का विस्तरशः वर्णन पृष्ठ २२४ पर द्रष्टव्य है।

भक्तभेदे रतिभेद—पञ्च परकार। शान्तरति दास्यरति सख्यरति आर ।।१५७।।
वात्सल्य रति, मधुर रति-ए पञ्च विभेद। रतिभेदे कृष्ण-भक्तिरस पञ्चभेद ।।१५८।।
शान्त-दास्य,सख्य-वात्सल्य, मधुररस नाम। कृष्णभक्ति-रसमध्ये ए पञ्च प्रधान ।।१५९।।
हास्याद्भुत वीर करुण, रौद्र वीभत्स भय। पञ्चविध-भक्ते गौण सप्तरस हय।।१६०।।
पञ्च रस स्थायी व्यापि रहे भक्तमने। सप्त गौण आगन्तुक पाइये कारणे ।।१६१।।

भक्त के भेद से रति के भी पाँच प्रकार हैं—शान्तरति, दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति तथा मधुररति। रति भेद के अनुसार कृष्ण-भक्ति रस के भी पांच भेद हैं—शान्तरस, दास्यरस, सख्यरस, वात्सल्यरस एवं मधुर-रस—ये पाँचों कृष्ण-भक्ति रसों में प्रधान हैं। हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, वीभत्स, भयानक ये सातों पाँचों प्रकार के भक्तों में कृष्णभक्ति रस के गौण रस हैं। मुख्य जो पांच रस हैं वे स्थायी हैं अर्थात् भक्त के मन में सर्वदा वर्त्तमान् रहते हैं और जो सात गौण रस हैं, वे हर समय वर्तमान नहीं रहते। किसी कारण को लेकर उदित होते हैं, अतः वे आगन्तुक हैं ।।१५७–१६१।।

चै० च० चु० *टीका* :—शान्त–दास्यादि पाँच प्रकार की रति का वर्णन पृष्ठ नं० २०२ पर द्रष्टव्य है।

हास्यादि गौण भक्ति-रसों का विवरण इस प्रकार है—

हास्य भक्तिरस—वाक्य, वेश, एवं चेष्टादि की विकृति वशतः चित्त के प्रकाश को **हास्य** कहते हैं। नैनों का विकाश, नासा, अधर एवं कपाल का स्पन्दनादि इसकी चेष्टाएँ हैं। श्रीकृष्ण-सम्बन्धि चेष्टा जनित हास्य को स्वयं-सङ्कोचमयी कृष्णरति द्वारा अनुगृहीत होने पर **हास्यरति** कहा जाता है। यह हास्यरति स्वयोग्य विभावादि द्वारा परिपुष्ट होकर **हास्य भक्तिरस** में परिणत हो जाती है।

अद्भुत भक्तिरस—अलौकिक विषयों को देखने से चित्त में जो विस्मृति उत्पन्न होती है—उसे **विस्मय** कहते हैं। श्रीकृष्ण सम्बन्धि अलौकिक विषयों के दर्शन से उत्पन्न हुआ जो विस्मय है—वह कृष्ण-रति द्वारा अनुगृहीत होने से '**विस्मयरति**' कहलाता है। स्वयोग्य विभावादि के द्वारा परिपुष्ट एवं आस्वाद्य होने पर वह विस्मयरति **अद्भुत भक्तिरस** में परिणत हो जाती है। नेत्र विस्तार, अश्रु, स्तम्भ, पुलकादि इसके अनुभाव हैं और आवेग, हर्ष तथा जड़ता आदि इसके सञ्चारीभाव हैं।

वीरभक्तिरस—जिसका फल साधुगणों से प्रशंसित होता है, उन युद्धादि कार्यों में स्थिरतर मन की आसक्ति को उत्साह या **वीर** कहते हैं। काल विलम्ब का असहन, धैर्य-त्याग, तथा उद्यम आदि इसकी चेष्टाएँ हैं। श्रीकृष्ण सम्बन्धि युद्धादि कार्यों में उत्साह, श्रीकृष्णरति द्वारा अनुगृहीत होने पर **उत्साहरति** कहलाता है। विभावादि के मिलने पर परिपुष्ट एवं आस्वाद्य होने पर उत्साह-रति को **वीरभक्तिरस** कहते हैं। स्तम्भादि सात्त्विक अनुभाव हैं एवं गर्व,आवेग,धृति, क्रीड़ा, हर्ष, स्मृति आदि इसके सञ्चारी-भाव हैं।

करुणभक्ति रस—इष्ट-वियोगादि द्वारा चित्त के अतिशय क्लेश को **शोक** कहते हैं। श्रीकृष्ण-सम्बन्धि शोक श्रीकृष्णरति द्वारा अनुगृहीत होने पर **शोकरति** कहलाता है। आत्मोचित विभावादि द्वारा पुष्ट होकर शोकरति **करुणभक्तिरस** कहलाती है। मुख-शोष, विलाप, स्रस्तगात्रता, श्वास क्रोशन एवं कक्ष-ताड़नादि इसके अनुभाव हैं तथा जाड़्य, निर्वेदादि इसके सञ्चारी-भाव हैं।

रौद्रभक्तिरस:—प्रतिकूलतादि के कारण होने वाली चित्त की जलन का नाम **क्रोध** है। श्रीकृष्ण सम्बन्धि प्रतिकूलतादि से उत्पन्न क्रोध श्रीकृष्णरति द्वारा अनुगृहीत होकर **क्रोधरति** कहलाता है। स्वयोग्य विभावादि के द्वारा भक्त के हृदय में पुष्ट होने पर वह क्रोधरति **रौद्रभक्तिरस** में परिणत हो जाती है। रक्तनेत्रता, ओष्टदंशन, मौन आदि इसके अनुभाव हैं। स्तम्भादि सात्विक-भाव हैं तथा आवेग, जड़ता, गर्वादि उसके सञ्चारी भाव हैं।

वीभत्सभक्तिरस:—अवाञ्छित वस्तु के अनुभव जनित चित्त-निमिलन को जुगुप्सा कहते हैं। श्रीकृष्णरति कर्त्तृक अनुगृहीत जुगुप्सा को **जुगुप्सा-रति** कहते हैं। स्वयोग्य विभावादि द्वारा परिपुष्ट जुगुप्सा-रति को **वीभत्सरस** कहते हैं। मुखशोष उच्छ्वास, उद्घूर्णा, रक्षक अन्वेषणादि अनुभाव हैं। अश्रु को छोड़कर अन्यान्य सात्त्विक भाव हैं एवं त्रास, मरण, आवेग आदि इसके सञ्चारी-भाव हैं।

इन सब का विशेष वर्णन श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु (२-५) में तथा प्रीति-सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। किस रस का कौन भक्त है—उसे अब वर्णन करते हैं:—

शान्त-भक्त-नवयोगेन्द्र, सनकादिक आर। दास्यभाव-भक्त—सर्वत्र सेवक अपार ॥१६२॥
सख्य-भक्त—श्रीदामादि, पुरे भीमार्जुन। वात्सल्य-भक्त—माता,पिता, यत गुरुजन॥१६३॥
मधुररस-भक्त मुख्य—ब्रजगोपीगण। महिषीगण, लक्ष्मीगण, असंख्य गणन ॥१६४॥

शान्तरस के भक्त हैं—नव योगेश्वर (अर्थात् कवि, हरि, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्लायन, आविर्होत्र द्रविड़, चमश, तथा करभाजन) और श्रीसनकादिक (अर्थात् सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार)।

दास्य-रस के भक्त हैं—सर्वत्र श्रीभगवान् के असंख्य सेवकगण। श्रीदाम, सुबल, मधुमङ्गलादि ब्रजलीला में सख्यरस के भक्त हैं। इनका माधुर्यमय सख्य है और द्वारका लीला में भीम तथा अर्जुन सख्यरस के भक्त हैं—इनका ऐश्वर्यमय सख्य है। वात्सल्य रस के भक्त वे हैं, जो श्रीभगवान् के माता-पिता हैं तथा जितने गुरुजन हैं। (श्रीनन्द–यशोदादि शुद्ध माधुर्यमय वात्सल्य रस के और देवकी–वसुदेवादि ऐश्वर्य मिश्रित वात्सल्य के आश्रय हैं)। श्रीराधादि ब्रज-गोपीगण ब्रज में शुद्ध मधुर रस का परिकर हैं और मथुरा द्वारका में श्रीरुक्मणी आदि पटरानियां तथा वैकुण्ठों में श्रीलक्ष्मी आदि मधुररस के परिकर हैं ।।१६४।।

चै० च० चु० *टीका*—शान्तभक्तों की दो श्रेणियां हैं। एक **आत्माराम** एवं दूसरे **तापस**। श्रीकृष्ण की अथवा श्रीकृष्ण के भक्तों की कृपा से जो समस्त आत्माराम-गण तथा तापस-गण कृष्ण-भक्ति लाभ करते हैं—वही **शान्त-भक्त** हैं। श्रीसनकादिक **आत्माराम-शान्तभक्त** हैं (वे मधुर-रस के उपासक या प्रवर्त्तक नहीं हैं।) भक्ति के बिना मुक्ति निर्विघ्ना नहीं होती—यह जान कर जो युक्त-वैराग्य को स्वीकार कर लेते हैं, अथवा युक्तिवासना का त्याग नहीं करते, उन्हें **तापस-शान्तभक्त** कहा जाता है।

दास्य-भाव के भक्तों की चार श्रेणियाँ हैं—**अधिकृत, आश्रित, परिषद** तथा **अनुग**। श्रीब्रह्मा जी, शिव जी, इन्द्रादि देवतागण **अधिकृतदास** हैं। आश्रित-दास तीन प्रकार के हैं—**शरणागत, ज्ञाननिष्ठ** तथा **सेवानिष्ठ**। कालीयनाग एवं जरासन्ध के कारागार में बँधे हुए जो राजालोग थे–वे **शरणागत-दास** हैं। जो मुक्ति की कामना को छोड़कर श्रीहरि की शरण में आते हैं, जैसे श्रीशौनिकादि ऋषिगण—वे **ज्ञाननिष्ठ-दास** हैं और जो पहले से ही भजन-विषय आसक्त रहते हैं, जैसे राजा बहुलाश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव, एवं पुण्डरीक आदि वे सब **सेवानिष्ठ-दास** हैं। द्वारका में श्रीउद्धव, दारुक, सात्यकी आदि **पार्षदभक्त** हैं। कुरुवंश में श्रीभीष्म-पितामह, श्रीपरीक्षित जी, श्रीविदुर जी—ये भी **पार्षद भक्त** हैं। जो सर्वदा श्रीभगवान् की सेवा में आसक्त रहते हैं—उन्हें **अनुग-दास** कहते हैं। अनुग दासों की फिर दो श्रेणियां हैं—**पुरस्थ** (द्वारका वासी) तथा **ब्रजस्थ** (ब्रजवासी)। सुयन्त्र, मण्डन, स्तन्व आदि **पुरस्थ-अनुग** हैं और रक्तक, पत्रक, पत्री मधुकण्ठ आदि **ब्रजस्थ-अनुग** हैं। वैकुण्ठ में सारुप्यादि चतुर्विधा मुक्ति में प्रेमसेवोत्तर मुक्ति लाभ करके जो श्रीभगवान् की छत्र–चामरादि के द्वारा सेवा करते हैं—वे भी अनुग-भक्त कहे जाते हैं। ब्रज में शुद्ध माधुर्यात्मक-भाव होने से ब्रजस्थ अनुग-भक्तों में श्रीकृष्ण में भगवत्ता-बुद्धि नहीं है। प्रभु ज्ञान से उनमें केवल सेव्य-बुद्धि मात्र है, किन्तु और सब सेवकों में श्रीकृष्ण में भगवत्ता-बुद्धि रहती है।

पुन कृष्णरति हय दुइ त प्रकार। ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा, केवला भेद आर ।।१६५।।
गोकुले केवला–रति ऐश्वर्य—ज्ञानहीन। पुरीद्वये वैकुण्ठाद्ये ऐश्वर्य प्रवीण ।।१६६।।
ऐश्वर्यज्ञान प्राधान्ये सङ्कोचित प्रीति। देखिले ना माने ऐश्वर्य–केवला रीति ।।१६७।।
शान्तदास्यरसे ऐश्वर्य कहांओ उद्दीपन। वात्सल्य-सख्य-मधुरे त करे सङ्कोचन ।।१६८।।
वसुदेव-देवकीर कृष्णचरण वन्दिल। ऐश्वर्यज्ञाने दोंहार मने भय हैल ।।१६९।।

श्रीकृष्ण-रति दो प्रकार की है—**ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा और केवला**। गोकुल–ब्रज में ऐश्वर्यज्ञानहीना केवलारति है और मथुरा–द्वारका तथा वैकुण्ठ में ऐश्वर्यज्ञान-मिश्रा कृष्णरति है। ऐश्वर्यज्ञान की प्रधानता होने से प्रीति सङ्कुचित हो जाती है किन्तु केवलारति के परिकर श्रीभगवान् का ऐश्वर्य देख कर भी उन्हें भगवान् नहीं मानते और उनकी प्रीति सदा एक रस माधुर्यमयी रहती है। कहीं शान्तरस तथा दास्यरस के भक्त यदि श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को देखते हैं, तो उससे श्रीकृष्ण के प्रति उनका भाव-उद्दीपन होता है, अर्थात् भाव जाग उठता है। किन्तु वात्सल्य, सख्य तथा मधुररस आश्रित जो ऐश्वर्य-

ज्ञान-मिश्रित-रति के परिकरगण हैं, श्रीभगवान् का ऐश्वर्य देखकर उनका भाव सङ्कुचित हो जाता है। जैसे कि श्रीकृष्ण-श्रीबलराम जी कंस को मारने के पश्चात् जब माता-पिता श्रीवसुदेव-देवकी के चरणों में जाकर वन्दना करने लगे, तो ऐश्वर्यज्ञान होने के कारण वे दोनों उनको प्रणाम करता हुआ देखकर भयभीत हो उठे (ये भगवान् होकर हमें प्रणाम कर रहे हैं ? यह सोचकर उनका मन सङ्कुचित हो गया) इस बात का प्रमाण निम्नलिखित श्लोक है—॥१६५—१६९॥

तथाहि (भा १०—४४—५१)

देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ॥२७॥

माता-देवकी तथा श्रीवसुदेव जी ने श्रीकृष्ण-बलराम जी को जगदीश्वर जान लिया था, इस लिये उनके वन्दना करने पर भयभीत होकर उन्होंने (अपने दोनों पुत्रों को) आलिङ्गन न किया। ॥२७॥ (आगे सख्यरति के सङ्कोच का प्रमाण देते हैं)

कृष्णेर विश्वरूप देखि अर्जुनेर हैल भय ।
सख्यभावे धार्ष्ट्य क्षमाय करिया विनय ॥१७०॥

श्रीअर्जुन श्रीकृष्ण के सखा थे किन्तु श्रीकृष्ण का विराट-स्वरूप देखकर वे भयभीत हो गये और सखाभाव में श्रीकृष्ण के साथ जो आचरण किया करते थे, उस धृष्टता की क्षमा के लिये प्रार्थना करने लगे, अर्थात् उनकी वह सख्य-प्रीति सङ्कुचित होगई ॥१७०॥

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (११—४१, ४२)

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥२८॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि बिहार-शय्यासन भोजनेषु ।
एकोऽथ वाप्यच्युत तत् समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥२९॥

श्रीअर्जुन ने कहा है—"आप की महिमा को न जानकर प्रमादवश अथवा प्रेमयुक्त होकर आप को सखा जानकर प्रच्छन्न तिरस्कार के रूप में—हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा आदि जो सब सम्बोधन या वचन आप से मैंने कहे हैं, विहार करते हुए, शयन में उठते बैठते, भोजन करते समय परिहास रूप से अकेले में या किसी के सामने, जो कुछ मैंने आप का (सखा-भाव में) असत्कार किया है। हे अचिन्त्य-प्रभाव-सम्पन्न प्रभो ! वह सब मेरा अपराध आप क्षमा कीजिये ॥२८—२९॥ (ऐश्वर्यज्ञान से द्वारका की मधुर-रति भी सङ्कुचित हो जाती है—अब उसका प्रमाण उल्लेख करते हैं—

कृष्ण यदि रुक्मिणीके कैल परिहास ।
'कृष्ण छाड़िवेन' जानि रुक्मिणीर हैल त्रास ॥१७१॥

(एकबार श्रीकृष्ण परिहास करते हुए रुक्मिणी जी से बोले—"हे सुन्दरि ! तुम तो राजकन्या हो, तुम्हारे लिये तो किसी राजपुत्र के साथ विवाह करना उचित था। मैं गोप-जाति एवं स्त्री-पुत्र धनादि से उदासीन रहने वाला हूँ, तुमने मेरे साथ विवाह करके बुद्धिमता का परिचय नहीं दिया। अब भी तुम

किसी राजपुत्र के साथ विवाह कर लो तो अच्छा रहेगा, इत्यादि) इस प्रकार जब श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी जी से परिहास किया तो रुक्मिणी जी भयभीत होकर वेसुद्ध दशा में पृथ्वी पर गिर पड़ीं और जानने लगीं कि श्रीकृष्ण उन्हें छोड़ देंगे, अर्थात् उनकी भी प्रीति सङ्कुचित होगई। इस बात का प्रमाण निम्न लिखित श्लोक से दिखाते है—॥१७१॥

तथाहि (भाः १०—६०—२४)

तस्याः सुदुखभयशोकविनष्टबुद्धे—र्हस्तात् श्लथद्वयलयतो व्यजनं पपात।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन् रम्भेव वातविहता प्रविकीर्य्य केशान् ॥३०॥

अत्यन्त दुःख, भय और शोक से हत-बुद्धि रुक्मिणी जी के हाथ के कङ्कण ढीले पड़ गये एवं उनके हाथ से पंखा (जिससे वह श्रीभगवान् की हवा कर रही थीं) भूमि पर गिर पड़ा। उनका वेसुद्धि शरीर भी मोह प्राप्त होकर बिखरे हुये केशों युक्त होकर अन्धेरी से गिरे केले के पेड़ के समान पृथ्वी पर गिर गया ॥३०॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीकृष्ण ईश्वर हैं—ऐसा ज्ञान श्रीरुक्मिणी आदि समस्त पटरानियों को था क्योंकि वे शिशुपालादि के वध एवं इस प्रकार के अनेक चरित्रों को देख चुकी थीं। तभी जब श्रीकृष्ण ने परिहास करते हुए श्रीरुक्मिणी जी से कहा कि "मैं तो स्त्री-पुत्र-धनादिक की इच्छा-रहित हूँ। देह-गेहादिक से उदासीन रहता हूँ। आत्म-सुख में सुखी रहने वाला हूँ"—इत्यादि, तो ऐसे वचनों को श्रीरुक्मिणी जी ने सत्य ही जाना और यही जानने लगीं कि वास्तव में ये तो ईश्वर हैं और स्त्री-पुत्रादि में इनको बन्धन कहाँ ? ये कभी भी मुझे छोड़ सकते हैं। श्रीकृष्ण के परिहास वचनों को वह परिहास न समझ सकीं। उस ऐश्वर्यज्ञान के प्रभाव से उनकी प्रीति सङ्कुचित होगई और उनके केश विखर गये, भुजाएं लट गईं, कङ्कण भुजाओं से निकल कर पृथ्वी पर गिर पड़े। सेवा करते हुए हाथ से पंखा छूट गया और वह बेसुद्धि होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। फिर श्रीभगवान् ने उन्हें चेतन किया और "मैं ने तो परिहास किया है—"इत्यादि ऐसे वचनों से उन्हें सान्त्वना दी। सारांश यह है कि ऐश्वर्यज्ञान होने से श्रीरुक्मिणीजी की ऐसी दशा हुई और उनकी प्रीति शिथिल होगई।

केवलार शुद्धप्रेम—ऐश्वर्य ना जाने।
ऐश्वर्य देखिलेओ निज सम्बन्ध से माने ॥१७२॥

ऐश्वर्यज्ञानहीना जो केवलारति है, (जो कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी है, जिसमें अपने सुख की, व अपने दुखनिवृत्ति की कोई भी वासना-गंध नहीं है) उसका जो शुद्ध माधुर्यमय प्रेम है, वह ऐश्वर्य को (भगवत्ता को) कुछ भी नहीं जानता है। श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को देखकर (ईश्वरीय लीलाओं को देखकर भी) श्रीभगवान् को केवलारति-युक्त भक्त उन्हें भगवान् नहीं मानता। भक्त का उनके साथ जो सम्बन्ध है, वह उसे ही केवल मानता और जानता है ॥१७२॥ जैसाकि श्रीभागवत जी में कहा गया है—

तथाहि (भाः १०—८—४५)

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च साङ्ख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामान्यतात्मजम् ॥३१॥

ऋक्-यजु-साम—इन तीनों वेदों में (संहितांश में व कर्मकाण्ड में आदि देवतारूप से) उपनिषद् में (वेदों के ज्ञानकाण्ड में ब्रह्मरूप से) सेश्वर-सांख्य में (पुरुषरूप से) योगशास्त्र में (परमात्मारूप से) एवं (नारद पञ्चरात्रादि) सात्वत शास्त्रों में (भगवान् रूप से) जिनकी महिमा वर्णन की गई है, यशोदा माता उन श्रीहरि को अपना गर्भजात पुत्र ही मानती है ॥३१॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीकृष्ण की मृद्-भक्षण-लीला वर्णन के प्रसङ्ग में यह श्लोक कहा गया है। श्रीकृष्ण के मुख में समस्त ब्रह्माण्ड, समस्त तत्त्वादि एवं ब्रजमण्डल सहित श्रीकृष्ण तथा अपने को भी देखकर वात्सल्य-मूर्त्ति श्रीयशोदा में ऐश्वर्य-ज्ञान एवं तत्त्वज्ञान का कुछ भी उदय नहीं हुआ एवं श्रीकृष्ण को अपनी सन्तान जानकर गले ही लगा लिया। श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य देख कर शुद्ध वात्सल्यमय ब्रजपरिकरों का प्रेम संकुचित नहीं होता—यह श्लोक इस बात का प्रमाण है, एक और श्लोक द्वारा भी इसे स्पष्ट करते हैं :—

तथाहि (भाः १०-६-१४)--

तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्त्यलिङ्ग मधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबद्ध प्राकृतं यथा ॥३२॥

गोपिका यशोदा जी ने अव्यक्त, मनुष्यलिङ्ग एवं अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्ण को अपना पुत्र जान कर प्राकृत बालक की भांति उन्हें रस्सी द्वारा ऊखल से बाँध दिया ॥३२॥

चै० च० चु० *टीका* :—अव्यक्त अर्थात् प्रकट-लीला समय को छोड़ कर अन्यान्य समय जिनके दर्शन प्राप्त नहीं हो सकते, नरतन धारी तथा प्रकृत्त-इन्द्रियों से परे उन भगवान् श्रीकृष्ण को श्रीयशोदा जी ने रस्सी के द्वारा ऊखल के साथ बाँध दिया—इस अभिप्राय से कि यदि वह इसे आज शासित नहीं करती है तो इनका पुत्र और भी चञ्चल हो जाएगा, अर्थात् बिगड़ जायगा--श्रीकृष्ण को अपना पुत्र मात्र जान कर ही उन्हें शासित करने के लिये श्रीयशोदा ने उन्हें बांध दिया, अर्थात् उनका वात्सल्य प्रेम ज़रा भी संकुचित न हुआ। अगले श्लोक में सख्य प्रेम के सम्बन्ध में कहते हैं--

तथाहि तत्रैव (१०-१८-२४)—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानां पराजितः ।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥३३॥

खेल में पराजित होकर भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को, भद्रसेन ने वृषभ को तथा प्रलम्ब ने श्रीबलदेव जी को अपने अपने कन्धों पर चढ़ा लिया ॥३३॥ इस श्लोक में सखाओं के श्रीकृष्ण के कन्धों पर चढ़ने की लीला वर्णन की गई है।

चै० च० चु० *टीका*--श्रीदामादि सखाओं ने भी श्रीकृष्ण का अनेक बार अनन्त ऐश्वर्य देखा था, किन्तु उससे उनका श्रीकृष्ण के प्रति सख्य-प्रेम कभी भी संकुचित नहीं हुआ। यदि उनका प्रेम संकुचित होता तो श्रीदामा कभी भी श्रीकृष्ण के कन्धों पर नहीं चढ़ते, किन्तु इस श्लोक में कहा गया है कि श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को अपने कन्धों पर चढ़ा लिया और वह भी सवारी करने लगे। इससे प्रमाणित होता है कि ब्रज परिकर के सखाओं का सख्यप्रेम भगवान् के ऐश्वर्य को देख कर भी कभी संकुचित नहीं होता है। अब मधुररस के परिकर के सम्बन्ध में कहते हैं :—

तथाहि तत्रैव (१०-३०-३१)--

ततो गत्वा बनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ।
एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति ॥३४॥

इस प्रकार गर्व उदय होने पर वह (श्रीराधा जी) श्रीकृष्ण के साथ बन-प्रदेश में जाती हुई गर्व पूर्वक श्रीकृष्ण से बोलीं—"अब मैं और नहीं चल सकती हूँ, अतएव जहाँ आप जाने की इच्छा करें मुझे उस स्थान पर ले चलिये।" श्रीराधा जी के इस प्रकार कहने पर श्रीश्यामसुन्दर ने कहा—"यदि ऐसी बात है, तो आप मेरे कन्धों पर बैठ कर चलिये" ॥३४॥

नै० च० चु० *टीका*—शारदीय महारास में श्रीकृष्ण अन्यान्य ब्रज गोपियों को त्यागकर केवल श्रीराधाजी को अपने साथ लेकर रासमण्डल से अन्तर्धान हो गये थे। लीलाविशेष में श्रीराधा जी की वेणी जब ढीली हो गई तो श्रीश्यामसुन्दर ने उसे फिर सँवार दिया। एवं उनका शृङ्गार कर दिया (जिस स्थान पर श्रीभगवान् ने श्रीप्रिया जी का शृङ्गार किया था, वह स्थान अब तक श्रीवृन्दाबन में शृङ्गारवट के नाम से विख्यात है।) श्रीराधा जी अपने को सर्वश्रेष्ठ जानकर एवं प्रीतम को अपने एकान्त वशीभूत जानकर गर्वित हो उठीं। मार्ग में चलते-चलते वह उनसे बोलीं—"मैं अब बहुत थक गई हूँ और अब मैं आगे नहीं चल सकती। आप मुझे अपने कन्धों पर बैठा लो और जहाँ चलना चाहो, मुझे ले चलो।' श्रीकृष्णचन्द्र के सम्बन्ध में यदि श्रीराधा जी का कुछ भी ऐश्वर्य ज्ञान होता तो वह कभी भी ऐसा नहीं कह सकती थीं। चाहे वह श्रीकृष्ण के अनन्त ऐश्वर्य को रासमण्डल में ही देख चुकीं थी। तथापि उनकी मधुरा-रति किञ्चित्मात्र भी संकुचित नहीं हुई। वह उन्हें अपना प्राणवल्लभ-मात्र ही जानती हैं, उन्हें ईश्वर नहीं जानतीं—यह श्लोक इसी बात का प्रमाण है। और भी कहते हैं :—

तथाहि तत्रैव (१०-३१-१६)

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥३५॥

ब्रज गोपियों ने कहा है--"हे अच्युत! आप हमारे यहाँ बन में आने का कारण जानते हो? हम आपके वेणुगीत में ही मोहित होकर पति, पुत्र, ज्ञाति, भ्राता तथा बान्धव—इन सब का अनादर करके आपके पास आई हैं। हे शठ! स्त्रियों को रात्रिकाल में भी कोई त्याग करता है? ॥३५॥

चै० च० चु० *टीका* :—शारदीय महारास मण्डल से श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर उनका अन्वेषण करते हुए ब्रज सुन्दरीगण ने ये वचन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कहे हैं। रास मण्डल में एवं उससे पूर्व समस्त गोपीगण श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को देख चुकी थीं, किन्तु उनकी मधुरारति कभी भी संकुचित नहीं हुई। यदि वह उन्हें भगवान् जानतीं तो 'हे शठ' – आदि ऐसे कठोर एवं निरादर सूचक वचनों से वे उन्हें सम्बोधित न करतीं। वे उन्हें केवल अपना प्राणवल्लभ मात्र ही जानती हैं—यह बात इस श्लोक से प्रमाणित होती है। अगले पयारों में शान्तरस का स्वरूप कहते हैं—

शान्तरसे स्वरूपबुद्ध्ये कृष्णैकनिष्ठता।
'शमो मन्निष्ठता बुद्धेः' इति श्रीमुख-गाथा ॥१७३॥

श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, श्रीकृष्ण परमात्मा हैं—इस बुद्धि से जो श्रीकृष्ण में निष्ठा है—वही शान्त-रस का स्वरूप है। (चतुर्भुज-श्रीनारायण ही शान्तरस भक्तों के उपास्य हैं) श्रीकृष्ण में बुद्धि की एकान्तिकी निष्ठा का नाम 'शम' या 'शान्ति' है—यह श्रीभगवान् की श्रीमुखोक्ति है॥१७३॥ 'शम'-शब्द से श्रीकृष्ण में एकान्तिकी निष्ठा से तात्पर्य है, इसके प्रमाण स्वरूप नीचे के दो श्लोक उद्धृत करते हैं :—

तथाहि भक्तिरसामृत सिन्धौ पश्चिमविभागे शान्तभक्तिरस लहर्य्याम् (३-१-२२)—

शमो मन्निष्ठता बुद्धेरिति श्रीभगवद्वचः ।
तन्निष्ठा दुर्घटा बुद्धेरेतां शान्तिरतिं बिना ॥३६॥

"बुद्धि की मन्निष्ठता (मुझ में निष्ठा को) शम कहते हैं"—यह श्रीकृष्ण के वचन हैं। अतएव शान्त-रति के बिना बुद्धि की भगवन्निष्ठा असम्भव है। अथवा शान्तरति में ही एकान्तिकी भगवन्निष्ठा हुआ करती है ॥३६॥ श्रीभागवत जी में भी कहा गया है :—

तथाहि (भाः ११-१९-३६)—

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥३७॥

श्रीउद्धव जी के प्रति श्रीभगवान् ने कहा है—"मुझ में बुद्धि-वृत्ति की निष्ठा का नाम 'शम' है, इन्द्रियों के संयम का नाम 'दम' है। दुख को सहिष्णुता का नाम 'तितिक्षा' है। जिह्वा एवं उपस्थ के वेग को जीतने का नाम 'धृति' है ॥३७॥ इस श्लोक से भी प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण में निष्ठा होने का नाम 'शम' है।

कृष्ण-बिना तृष्णात्याग—तार कार्य मानि। अतएव शान्त 'कृष्णभक्त' एक जानि ॥१७४॥
स्वर्ग मोक्ष कृष्णभक्त 'नरक' करि माने। कृष्णनिष्ठा,तृष्णात्याग-शान्तेर दुइगुणे॥१७५॥

श्रीकृष्ण-कामना को छोड़ कर अन्यान्य समस्त कामनाओं का त्याग कर देना—शान्तरस के भक्त का काम है। (सेवा-कार्य न रहने पर भी श्रीकृष्ण-वासनारूप कार्य उसे सर्वदा रहता ही है।) अतः शान्तरस आश्रित व्यक्ति को भी श्रीकृष्ण भक्त माना गया है। श्रीकृष्ण का शान्तभक्त स्वर्ग, मुक्ति एवं नरक को समान मानता है। (स्वरूपतः स्वर्ग, मुक्ति एवं नरक एक न होने पर भी—इन समस्त से कुछ प्रयोजन न होने से वह उन्हें समान ही जानता है) कृष्णनिष्ठा तथा कृष्ण-व्यतीत अन्य वासनाओं का त्याग—ये दोनों गुण शान्तरति के हैं। (तृष्णा-त्याग कृष्ण-निष्ठा का ही फल है। जब तक कृष्ण-निष्ठा नहीं होती तब तक तृष्णा-त्याग भी नहीं हो सकता, अतः इन दोनों गुणों को केवल कृष्ण-निष्ठा भी कहा जाता है। अगले पयारों में दास्य, सख्य एवं मधुररस के गुण वर्णन प्रसङ्ग में कृष्ण-निष्ठा एवं तृष्णा-त्याग को एक ही गुण—कृष्ण-निष्ठा ही कहा गया है। कृष्ण भक्त स्वर्ग, मुक्ति एवं नरक को समान देखते हैं, उसका प्रमाण नीचे उद्धृत करते हैं) :—

तथाहि (भाः ६—१७—२८)—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥३८॥

श्रीमहादेवजी ने पार्वती के प्रति कहा है—"श्रीनारायण भगवान् के सब भक्त किसी से भी भयभीत नहीं होते हैं, क्योंकि वे स्वर्ग, मुक्ति एवं नरक में एकसा ही प्रयोजन देखते हैं, अर्थात् उनके लिये स्वर्ग, नरक एवं मुक्ति बराबर ही हैं।" (विशेष टीका पृष्ठ २७७ पर द्रष्टव्य है।) ॥३८॥

एइ दुइ गुण व्यापे सब भक्तजने। आकाशेर शब्दगुण येन भूतगणे ॥१७६॥
शान्तेर स्वभाव—कृष्णे ममतागन्धहीन। परंब्रह्म-परमात्मा-ज्ञान प्रवीण ॥१७७॥

केवल स्वरूपज्ञान हय शान्तरसे । पूर्णैश्वर्य-प्रभुज्ञान अधिक हय दास्ये ॥१७८॥
ईश्वर-ज्ञान सम्भ्रम गौरव प्रचुर । सेवा करि कृष्णे सुख देन निरन्तर ॥१७९॥
शान्तेर गुण दास्ये आछे अधिक 'सेवन' । अतएव दास्य रसेर हय दुइ गुण ॥१८०॥

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर—इन पांचों भावों के सब भक्तों में ही कृष्ण-निष्ठा तथा अन्य तृष्णा-त्याग—ये दोनों गुण वर्तमान रहते हैं, जैसे आकाश का गुण—शब्द (वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी)—इन समस्त भूतों में वर्तमान रहता है। शान्तरस में श्रीकृष्ण-ममता की गन्ध नहीं है अर्थात् 'श्रीकृष्ण मेरे हैं'—ऐसा ज्ञान या ऐसी ममता शान्तरस के भक्त में नहीं है। वह श्रीकृष्ण को परब्रह्म परमात्मा ही जानता है। उसमें श्रीकृष्ण का स्वरूप ज्ञान ही प्रधान रहता है। (ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा भक्तियुक्त तथा केवला भक्तियुक्त दोनों प्रकार के भक्तों में यही बात है) दास्यरस के भक्तों में—'श्रीकृष्ण षड़ैश्वर्यपूर्ण हैं एवं हमारे प्रभु हैं'—यह भाव शान्तरस के भक्तों की अपेक्षा अधिक रहता है। अर्थात् श्रीकृष्ण-निष्ठा जो शान्तरस के भक्तों में रहती है वह दास्य रस के भक्तों में तो रहती ही हैं,'श्रीकृष्ण हमारे प्रभु हैं'–यह भाव (जो शान्त भक्तों में नहीं रहता) इनमें अधिक रहता है। (ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा भक्त-दास प्रभु की सेवा करते हैं—उन्हें श्रीभगवान् जान कर, किन्तु केवला के दास भक्त उनकी सेवा उन्हें भक्तवत्सल स्वामी या सेव्य जानकर ही करते हैं।) ईश्वर या स्वामी जानने से (दोनों प्रकार के) दास्य भक्तों में, श्रीकृष्ण हमारे बड़े हैं या पूज्य हैं'—ऐसी बुद्धि बनी रहती है और सङ्कोच भी बना रहता है। दास्य भक्त सेवा द्वारा निरन्तर श्रीकृष्ण को सुख देते हैं। शान्तरस के गुण श्रीकृष्ण-निष्ठा एवं अन्य तृष्णा-त्याग दास्यरस में है ही किन्तु सेवा-गुण दास्य रस में उसके अतिरिक्त और वर्त्तमान है। इसलिये दास्य में (श्रीकृष्ण-निष्ठा तथा सेवा) ये दो गुण हैं॥१७६–१८०॥ अगले पयारों में ब्रज के सख्यरस का स्वरूप वर्णन करते हैं:—

शान्तेर गुण, दास्येर सेवन–सख्ये दुइ रय । दास्ये सम्भ्रम गौरव सेवा,सख्ये विश्वासमय१८१
कान्धे चढ़े कान्धे चढ़ाय, करे क्रीड़ा रण । कृष्ण सेवे, कृष्ण कराय आपन सेवन ॥१८२॥
विश्रम्भ प्रधान सख्यगौरव-सम्भ्रम हीन । अतएव सख्यरसेर तिन गुण चिन ॥१८३॥
ममता अधिक कृष्णे आत्मसम ज्ञान । अतएव सख्यरसे वश भगवान् ॥१८४॥

सख्यरस में—शान्त का गुण (कृष्ण-निष्ठा) और दास्य का गुण कृष्ण-सेवा—ये दोनों रहते हैं। दास्य भाव की सेवा में गौरवबुद्धिवशत: (श्रीकृष्ण मुझ से बड़े हैं—इस भाव के कारण) सङ्कोच रहता है। किन्तु सख्य रस में सेवा विश्वासमयी होती है। अर्थात् सम्भ्रम या सङ्कोचयुक्त नहीं होती। सखा श्रीभगवान् को कन्धे पर चढ़ा लेते हैं और उनके कन्धे पर भी चढ़ बैठते हैं। क्रीड़ा में परस्पर लड़ने भी लगते हैं। वे श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं और उनसे अपनी सेवा कराते भी हैं। सख्यरस विश्रम्भ-प्रधान है अर्थात् उसमें श्रीकृष्ण के साथ परस्पर हर प्रकार से अभेद-मनन या समानता का भाव प्रधान है। उसमें गौरव तथा सङ्कोच नहीं है। इसलिये सख्य-रस में (कृष्ण-निष्ठा, सेवा तथा गौरव-सम्भ्रमहीनता या निःसङ्कोचता) ये तीन गुण हैं। सख्य-रस के भक्तों में श्रीकृष्ण के प्रति (दासभक्तों की अपेक्षा) ममताबुद्धि अधिक है और वे श्रीकृष्ण को अपने समान ही जानते हैं। इसलिये श्रीभगवान् उनके वशीभूत रहते हैं॥१८१–१८४॥ (अगले पयारों में ब्रज के शुद्ध वात्सल्य रस के गुणों का वर्णन करते हैं):—

वात्सल्ये शान्तेरगुण, दास्येर सेवन । सेइ सेइ सेवनेर इहां नाम 'पालन' ॥१८५॥
सख्येर गुण असङ्कोच अगौरव सार । ममता-प्राधिक्ये ताड़न-भर्त्सन व्यवहार ॥१८६॥

आपनाके'पालक'ज्ञान,कृष्णे'पाल्य'ज्ञान । चारिरसेर गुणे वात्सल्य अमृत-समान ॥१८७॥
से अमृतानन्दे भक्तसह डुबेन आपने । 'कृष्ण भक्तवश' गुण कहे ऐश्वर्यज्ञानिगणे॥१८८॥

वात्सल्य रस में शान्तरस का गुण (कृष्णनिष्ठा) एवं दास्यरस का गुण—सेवा वर्त्तमान रहते हैं, किन्तु दास्यभाव की सेवाओं का नाम वात्सल्य भाव में 'पालन'—नाम में बदल जाता है। अर्थात् दास जो सेवा करते हैं, वही सेवा माता-यशोदा भी करती है, किन्तु उसको 'सेवा' न कह कर श्रीकृष्ण का "लालन-पालन" कहा जाता है। सख्यरस का सार गुण जो असङ्कोच तथा अगौरव बुद्धि है—वह भी वात्सल्य रस में रहता है, इन गुणों के अतिरिक्त वात्सल्य में ममता-बुद्धि (सख्यरस की अपेक्षा) अधिक होने से ताड़ना, तिरस्कार करना आदि व्यवहार भी वर्त्तमान् रहते हैं। उसका कारण यह है कि वात्सल्य रस के भक्त अपने को श्रीकृष्ण का पालन-पोषण करने वाला मानते हैं और श्रीकृष्ण को अपने द्वारा पालनीय या अपनी सन्तान-पुत्र जानते हैं। इस प्रकार शान्त, दास्य, सख्य तथा वात्सल्य—इन चारों रसों के गुणों से युक्त (कृष्ण-निष्ठा, सेवा, असङ्कोच तथा पालक भाव या अनुग्रहमय भाव—इन चारों गुणों से युक्त) वात्सल्य-रस अमृत के समान आस्वादनीय होता है। उस अमृत-आनन्द सागर में (भक्तिवशः पुरुषः-भक्ताधीन) श्रीभगवान् भी स्वयं मुग्ध हो जाते हैं अर्थात् अपनी भगवत्ता को भूल जाते हैं। इसलिये ऐश्वर्यज्ञान युक्त जो भक्तगण हैं—वे श्रीकृष्ण को भक्तों के वशीभूत—भक्ताधीन कहकर पुकारते हैं ॥१८५-१८८॥ जैसा कि पद्मपुराण में दामोदराष्टक स्तोत्र में कहा गया है :—

तथाहि हरिभक्तिविलासधृते पद्मपुराणोक्त दामोदराष्टक स्तोत्रे (१६-९६)—

इतीदृक्स्वलीलाभिरानन्दकुण्डे स्वघोषं निमज्जन्तमाख्यापयन्तं ।
तदीयेशितज्ञेषु भक्तैर्जितत्वं पुनः प्रेमतस्तं शतावृत्ति वन्दे ॥३९॥

हे दामोदर ! आप इस प्रकार दामोदर लीला द्वारा गोकुलवासी प्राणीमात्र को आनन्दकुण्ड में निमग्न कर रहे हो एवं अपने ऐश्वर्यज्ञान-परायण भक्तों को अपनी भक्ताधीनता-भक्तवश्यता जना रहे हो, मैं अत्यन्त प्रेम से-भक्ति पूर्वक आपको बार बार वन्दना करता हूँ ॥३९॥ (अगले पयारों में मधुर-रस का स्वरूप वर्णन करते हैं) :—

मधुररसे-कृष्णनिष्ठा, सेवा-अतिशय । सख्येर असङ्कोच, लालन ममताधिक हय ॥१८९॥
कान्तभावे निजाङ्ग दिया करेन सेवन । अतएव मधुररसे हय पञ्चगुण ॥१९०॥
आकाशादिर गुण येन पर पर भूते । एक दुइ तिन क्रमे पञ्च पृथिवीते ॥१९१॥
एइमत मधुरे सब-भाव-समाहार । अतएव स्वादाधिक्ये करे चमत्कार ॥१९२॥

मधुर-रस में—(शान्त का गुण) कृष्ण-निष्ठा (दास्य रस का गुण) सेवा-प्रधानता, [सख्यरस का गुण, असङ्कोच तथा वात्सल्य रस का गुण ममता वश "पालन-पोषण", ये सब गुण तो रहते ही हैं इनके अतिरिक्त कान्ता-भाव या मधुरभाव में अपने अङ्गों द्वारा भी श्रीकृष्ण की सेवा का गुण वर्त्तमान है। इसलिये मधुररस में (कृष्ण-निष्ठा, सेवा, असङ्कोच, पालन-पोषण तथा निजाङ्ग सेवा—ये) पांचों गुण हैं। आकाशादि पञ्चभूतों के गुण दूसरे दूसरे भूत में एक-दो-तीन आदि के क्रम से बढ़कर जैसे पृथ्वी में समस्त भूतों के (पाँचों) गुण वर्त्तमान हैं, उसी प्रकार मधुररस में समस्त रसों के (पाँचों) गुण वर्त्तमान रहते हैं।

(पृष्ठ २०२ द्रष्टव्य) इस प्रकार मधुररस में समस्त भावों का या समस्त गुणों का मिलन है एवं इसी से वह अपने स्वाद अस्वादन से भक्तों को चमत्कृत कर देता है ॥१८९-१९२॥

एइ भक्तिरसेर कैल दिग्दरशन । इहार विस्तार मने करिह भावन ॥१९३॥
भाविते भाविते कृष्ण स्फुरये अन्तरे । कृष्णकृपाय अज्ञ पाय रस सिन्धुपारे ॥१९४॥
एत बलि प्रभु तांरे कैल आलिङ्गन । वाराणसी चलिवारे प्रभुर हैल मन ॥१९५॥
प्रभाते उठिया यबे करिलगमन । तबे तांर पदे रूप कैल निवेदन—॥१९६॥
आज्ञा हय आइसों मुञि श्रीचरणसङ्गे । सहिते ना पारि मुञि विरह-तरङ्गे ॥१९७॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"रूप ! इस प्रकार मैंने तुम्हें भक्तिरस का दिग्दर्शन कराया है—अब तुम इसको विस्तार रूप से वर्णन करने के लिये मन में चिन्तवन करना । इसकी चिन्तवना करते करते श्रीकृष्ण तुम्हारे हृदय में स्वयं स्फुरित होंगे या इसकी स्फूर्त्ति करायेंगे । श्रीकृष्ण-कृपा से एक अज्ञ व्यक्ति भी रस-सागर का पार प्राप्त कर लेता है ।" इतना कहकर श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीरूप को गले लगाया और प्रभु ने काशी में जाने की अपनी इच्छा प्रगट की। प्रातः काल जब प्रभु उठ कर चलने लगे तो श्रीरूप गोस्वामी ने उनके चरणों में पड़ कर निवेदन किया – "प्रभो ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं भी आपके साथ साथ चलूं ? मैं आपकी विरह-ज्वाला को सहन नहीं कर पाऊंगा" ॥१९३-१९७॥

प्रभु कहे—तोमार कर्त्तव्य आमार वचन । निकट आसियाछ तुमि याह वृन्दावन॥१९८॥
वृन्दाबन हैते तुमि गौड़देश दिया । आमारे मिलिवे नीलाचलेते आसिया ॥१९९॥
तांरे आलिङ्गया प्रभु नौकाते चढ़िला । मूर्च्छित हइया तेंहो ताहाञि पड़िला ॥२००॥
दाक्षिणात्य विप्र तांरे घरे लञा गेला । तबे दुइ भाइ वृन्दाबनेते चलिला ॥२०१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"रूप ! मेरे वचन मानना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है । तुम श्रीवृन्दावन के निकट आये हुए हो, तुम श्रीवृन्दावन में ही चले जाओ । श्रीवृन्दाबन से फिर गौड़देश से होते हुए तुम मुझे नीलाचल में आकर मिलोगे ।" इतना कह कर श्रीमहाप्रभु ने श्रीरूप को आलिङ्गन किया और आप नौका पर चढ़कर चल दिये । श्रीरूप प्रभु के विरह में वहीं मूर्च्छित होकर गिर पड़े । दक्षिणवासी ब्राह्मण श्रीरूप गोस्वामी जी को अपने साथ अपने घर ले आया । फिर वहां से श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीअनुपम गोस्वामी—दोनों भाई श्रीवृन्दाबन की ओर चल दिये ॥१९८-२०१॥

महाप्रभु चलि चलि आइला वाराणसी । चन्द्रशेखर मिलिला ग्रामेर बाहिर आसि२०२॥
रात्र्ये तेंहो स्वप्न देखे–प्रभु आइला घरे । प्रातःकाले आसि रहे ग्रामेर बाहिरे ॥२०३॥
आचम्बिते प्रभु देखि चरणे पड़िला । आनन्दित हञा निज गृहे लञा गेला ॥२०४॥
तपन मिश्र शुनि आसि प्रभुरे मिलिला । इष्टगोष्ठी करि प्रभुर निमन्त्रण कैला ॥२०५॥
निजघरे लञा प्रभुके भिक्षा कराइल । भट्टाचार्य्ये चन्द्रशेखर निमन्त्रण कैल ॥२०६॥

श्रीमन्महाप्रभु वहाँ से चलकर काशी में पहुंचे और श्रीचन्द्रशेखर नगर के बाहर आकर प्रभु से मिले । कारण कि श्रीचन्द्रशेखरजी ने रात में स्वप्न देखा कि श्रीमहाप्रभु उनके घर आए हैं, अतः वे प्रातः काल उठ कर नगर से बाहर आकर बैठ गये थे और प्रभु की प्रतीक्षा करने लगे थे । श्रीमहाप्रभु को

अचानक आया देख कर श्रीचन्द्रशेखर उनके चरणों में गिर पड़े और आनन्दपूर्वक प्रभु को अपने घर ले आए। श्रीतपनमिश्र जी ने जब सुना कि प्रभु आए हैं तो वे भी प्रभु को आकर मिले। प्रभु के साथ वार्त्तालाप करने के पश्चात् प्रभु को निमन्त्रण दिया और अपने घर प्रभु को ले आकर भोजन कराया। तदनन्तर भट्टाचार्य श्रीबलभद्र जी को श्रीचन्द्रशेखर जी ने भोजन कराया ॥२०२–२०६॥

भिक्षा कराइया मिश्र कहे पाय धरि। एक भिक्षा मागि मोरे देह कृपा करि ॥२०७॥
यावत् तोमार हय काशीपुरे स्थिति। मोर घरे बिना भिक्षा न करिबे कति ॥२०८॥
प्रभु जानेन दिन पाँच सात से रहिब। संन्यासीर सङ्गे भिक्षा काहों न करिब ॥२०९॥
एत जानि तार भिक्षा कैल अङ्गीकार। वासा–निष्ठा कैल–चन्द्रशेखरेर घर ॥२१०॥

श्रीमहाप्रभु को भोजन कराने के पश्चात् श्रीतपन मिश्र ने प्रभु के चरण पकड़ कर प्रार्थना की—"एक भिक्षा मैं आपसे चाहता हूँ, आप कृपा कर वह मुझे दीजिये। वह यह है कि जब तक आप काशीपुरी में रहें, तब तक मेरे घर को छोड़ कर और कहीं भी भोजन न करिये।" श्रीप्रभु ने विचार किया कि उन्हें पाँच सात दिन ही यहाँ रहना है और संन्यासियों के साथ कहीं मिलकर भी उन्हें भोजन नहीं करना है—ऐसा जानकर प्रभु ने स्थायी भाव से निमन्त्रण श्रीतपन मिश्र का स्वीकार कर लिया और निवास करने के लिये श्रीचन्द्रशेखर का घर निश्चित कर लिया। (वस्तुतःश्रीमहाप्रभुजी दो मास से भी अधिक दिन काशी में रहे किन्तु संन्यासी—मायावादी गणों के साथ वे भोजन न करना चाहते थे, अतः उन्होंने श्रीतपन मिश्र के घर निमन्त्रण स्वीकार कर लिया था।) ॥२०७–२१०॥

महाराष्ट्री विप्र आसि तांहारे मिलिला। प्रभु तांरे स्नेह करि कृपा प्रकाशिला ॥२११॥
'महाप्रभु आइला' शुनि शिष्टशिष्ट जन। ब्राह्मण क्षत्रिय आसि करे दरसन ॥२१२॥
श्रीरूप उपरे प्रभु यैछे कृपा कैल। अत्यन्त विस्तार कथा संक्षेपे कहिल ॥२१३॥
श्रद्धा करि एइ कथा शुने येइ जने। प्रेमभक्ति पाय से-इ चैतन्यचरणे ॥२१४॥
श्रीरूप—रघुनाथ-पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२१५॥

महाराष्ट्री ब्राह्मण यहाँ काशी में आकर प्रभु से मिला (जिसकी कथा १७ परिच्छेद में कही जा चुकी है) श्रीमहाप्रभु ने स्नेह पूर्वक उस पर अपनी कृपा प्रकाश की। "श्रीमहाप्रभु काशी आए हैं"—यह बात सुन कर समस्त शिष्ट पुरुष क्या ब्राह्मण क्या क्षत्रिय, सब आकर प्रभु का दर्शन करने लगे। श्रीरूप गोस्वामी पाद पर श्रीमहाप्रभु ने जैसे कृपा की, वह बहुत विस्तृत प्रसङ्ग है। श्रीकविराज कहते हैं "मैंने उसे संक्षेप से वर्णन किया है। श्रद्धापूर्वक जो भी व्यक्ति इस कथा को सुनेगा, वह श्रीचैतन्यदेव के चरण कमलों की प्रेमभक्ति को प्राप्त करेगा। श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी के चरणों की अभिलाषा रखते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥२११–२१५॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायांश्रीरूपानुग्रहो-नाम
उनविंश परिच्छेदः ॥१९॥

जयगौर

मध्य-लीला

विंश परिच्छेद

★

वन्देऽनन्ताद्भुतैश्वर्य्यं श्रीचैतन्यमहाप्रभुम् ।
नीचोऽपि यत्प्रसादात् स्याद्भक्तिशास्त्रप्रवर्त्तकः ॥१॥

जिन के अनुग्रह से नीच व्यक्ति भी भक्तिशास्त्र का प्रवर्तक हो जाता है, अनन्त व अद्भुत ऐश्वर्य-शाली उन श्रीचैतन्य महाप्रभु की मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

(इस बीसवें परिच्छेद में गौड़देश से श्रीपाद सनातन का काशी-गमन, काशी में श्रीमहाप्रभु के साथ मिलन, उनकी जिज्ञासा के उत्तर में श्रीमहाप्रभु द्वारा सम्बन्ध-तत्त्व निरूपण करते हुए भगवत्-स्वरूपों का भेद-विचारादि वर्णन किये गये हैं ।)

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
एथा गौड़े सनातन आछे बन्दिशाले । श्रीरूपगोस्वामीर पत्री आइल हेनकाले ॥२॥
पत्री पाञा सनातन आनन्दित हैला । यवन-रक्षक-पाश कहिते लागिला ॥३॥
तुमि एक जिन्दापीर महाभाग्यवान् । केताब-कोराण-शास्त्रे आछे तोमार ज्ञान ॥४॥
एक बन्दि छाड़े यदि निजधन दिया । संसार हैते तारे मुक्त करेन गोसाञा ॥५॥
पूर्वे आमि तोमार करियाछि उपकार । तुमि आमा छाड़ि कर प्रत्युपकार ॥६॥
पांच सहस्र मुद्रा तुमि कर अङ्गीकार । पुण्य अर्थ दुइ लाभ हइबे तोमार ॥७॥

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो । श्रीअद्वैताचार्यप्रभु की जय हो, श्रीगौरभक्तवृन्दों की जय हो । इधर जब श्रीसनातन गोस्वामी गौड़देश में राजा हुसैनशाह के कारागार में बन्द थे, तब उन्हें श्रीरूपगोस्वामी की चिट्ठी आ मिली, उस चिट्ठी को पाकर श्रीसनातनपाद आनन्दित हुए । जो यवन उन पर चौकीदारी करता था, उसे वे कहने लगे । "तुम एक सिद्ध महापुरुष एवं महाभाग्यवान् हो क्योंकि तुम्हें कुरानशरीफ का ज्ञान है । उसमें लिखा है कोई व्यक्ति यदि किसी को बन्धन से अपना धन देकर मुक्त करता है, तो भगवान् (खुदा) उसको संसार-बन्धन से मुक्त कर देता है । मैंने पहले तुम पर भी उपकार किया था, तुम्हें याद होगा, अब तुम मुझे इस बन्धन से मुक्त करके भलाई के बदले भलाई करो । मैं तुम्हें पांच हजार मुद्रा भेंट करता हूँ, उसे भी तुम अङ्गीकार करो । पुण्य तथा धन—ये दोनों लाभ तुम्हें मिल रहे हैं" ॥१—७॥

तबे सेइ यवन कहे शुन महाशय। तोमारे छाड़िये, किन्तु करि राजभय ॥८॥
सनातन कहे—तुमि ना कर राजभय। दक्षिण गियाछे, यदि लञ्ओटि आइसय ॥९॥
तांहाके कहिओ–सेइ बाह्यकृत्ये गेल। गङ्गार निकट गङ्गा देखि झांप दिल ॥१०॥
अनेक देखिल, तार लागि ना पाइल। दांड़ुका सहित डूबि काहां बहि गेल ॥११॥
किछु भय नाहि, आमि एदेशे ना रव। दरवेश हञा आमि मक्काय याइव ॥१२॥

वह यवन चौकीदार बोला—"महाशय! सुनिये, मैं आप को अवश्य छोड़ देता, किन्तु राजा से डरता हूँ।" श्रीसनातन ने कहा—"तुम राजा का कुछ भी भय मत करो। राजा अभी तो दक्षिण देश में गया हुआ है, जब वह लौट आए तो उससे इस प्रकार कहना कि सनातन शौच (मलत्याग) के लिये गङ्गा के किनारे गया था (और मैं भी हथकड़ी पकड़े हुए उसके साथ था।) वह गङ्गा को देखते ही उसमें कूद पड़ा। मैं ने उसे बहुत खोजा किन्तु वह मुझे फिर नहीं मिला। जान पड़ता है हाथ तो उसके बन्धे हुए थे ही, वह गङ्गा में ही डूब गया है। और सुनो, मैं तो इस देश में ही न रहूँगा और न ही लौट कर आऊंगा। मैं तो फकीर (संन्यासी) बन कर मक्के अर्थात् तीर्थस्थान पर चला जाऊंगा" ॥८—१२॥

तथापि यवन मन प्रसन्न ना देखिल। सात हाजार मुद्रा तार आगे राशि कैल ॥१३॥
लोभ हैल यवनेर मुद्रा देखिया। रात्र्ये गङ्गा पार कैल दांड़ुका काटिया ॥१४॥
गड़िद्वार पथ छाड़िल, नारे ताहा जाइते। रात्रि-दिने चलि आइल पातरा पर्वते ॥१५॥
तथाय एक भूमिक हय, तार ठाञि गेला। "पर्वत पार कर आमा" विनति करिला ॥१६॥
सेइ भुञा-सङ्गे हय हाथगणिता। भुञा-काणे कहे सेइ जानि एक कथा ॥१७॥
इहार ठाञि सुवर्णेर अष्टमोहर हय। शुनि आनन्दित भुञा सनातने कय ॥१८॥

इतना कहने पर भी श्रीसनातन ने देखा कि उस यवन का मन प्रसन्न नहीं हुआ। उन्होंने सात हजार मुद्राओं का ढेर उसके आगे लगा दिया। मुद्राओं को देखते ही चौकीदार लोभ में आ गया और बेड़ी काट कर उन्हें गङ्गा पार कर दिया। गौड़देश से दिल्ली की ओर आने वाले प्रसिद्ध पथ को छोड़कर श्रीसनातन अज्ञात पथ से चले कि जहाँ कोई भी नहीं जा सकता था। रात-दिन चलते चलते पातड़ा-नामक पर्वत पर आ पहुँचे। वहाँ एक भूमिधर रहता था। श्रीसनातन उसके पास आए और उससे विनय की कि "तुम मुझे इस पर्वत के पार पहुँचा दो।" उस के पास एक हस्तरेखा-शास्त्र के जानने वाला बैठा था, उसने झट से भूमिधर के कान में कहा कि एकबात सुनो जो मैं जानता हूँ। वह यह है कि "इस व्यक्ति (श्रीसनातन) के पास सोने की आठ मोहरें हैं"—उसकी बात सुनकर वह भूमिधर आनन्दित हुआ और श्रीसनातन पाद से कहने लगा—॥१३—१८॥

रात्र्ये पर्वत पार करिव निजलोक दिया। भोजन करह तुमि रन्धन करिया ॥१९॥
एत बलि अन्न दिल करिया सम्मान। सनातन आसि तबे कैल नदी-स्नान ॥२०॥
दुइ उपवासे कैल रन्धन-भोजने। राजमन्त्री सनातन विचारिल मने ॥२१॥
एइ भुञा केने मोर सम्मान करिल ?। एत चिन्ति सनातन ईशानें पुछिल- ॥२२॥
तोमार ठाञि जानि किछु द्रव्य आछय ?। ईशान कहे-मोर ठाञि सात मोहर हय ॥२३॥
शुनि सनातन तारे करिल भर्त्सन। सङ्गे केने आनियाछे एइ काल यम ? ॥२४॥

उस भूमिधर ने कहा—"आज रात को अपने सेवकों को साथ भेज कर आपको पर्वत के पार पहुँचवा दूंगा, अब आप रसोई बनाओ और भोजन करो।" इतना कहकर उसने श्रीसनातन पाद को आदर पूर्वक अन्न दिया और श्रीसनातन पाद ने आकर नदी पर स्नान किया। दो दिनों का उन्हें उपवास था, उन्होंने रसोई बनाकर भोजन किया। फिर श्रीसनातन पाद मन में विचार करने लगे, क्योंकि वह राजमन्त्री रह चुके हैं—बहुत दूरदर्शी थे। वे सोचने लगे कि यह भूमिधर मेरा इतना आदर क्यों कर रहा है?—विचार करते करते उन्होंने अपने सेवक जिसका नाम 'ईशान' था, उससे पूछा—'ईशान! मै समझता हूँ, तुम्हारे पास कुछ धन है, क्यों?'' ईशान ने कहा—"जी हां, मेरे पास सात मोहरें हैं।" यह बात सुन कर श्रीसनातन पाद ने उसे फटकारा और कहा—इस साक्षात् काल को अपने साथ क्यों ले आए हो? ॥१९—२४॥

तबे सेइ सात मोहर हस्तेते करिया। भूञा-काछे याञा कहे मोहर धरिया ॥२५॥
एइ सात सुवर्ण मोहर आछिल आमार। इहा लञा धर्मं देखि कर मोरे पार ॥२६॥
राजबन्दी आमि-गड़िद्वार याइते न पारि। पुण्य हवे, पर्वत आमा देह पार करि ॥२७॥
भूञा हासि कहे-आमि जानियाछि पहिले। अष्ट मोहर हय तोमार सेवक-आंचले ॥२८॥
तोमा मारि मोहर आजि लइताम रात्र्ये। भाल हैल, कहिला तुमि, छुटिलुं पाप हैते ॥२९॥
सन्तुष्ट हइलाम आमि, मोहर ना लइव। पुण्य लागि पर्वत तोमा पार करिदिव ॥३०॥

श्रीसनातनपाद ने उन मोहरों को हाथ में लिया और भूमिधर के आगे लाकर रखदीं, और कहने लगे—"ये सात स्वर्ण की मोहरें मेरे पास हैं, आप इन्हें स्वीकार करो और अब अपने धर्म अर्थात् वचन को निभाते हुये मुझे पर्वत से पार कर दीजिये। मैं राजबन्दी हूँ, अतः मैं दरें (सीधे रास्ते) से नहीं जा सकता हूँ। आपको बहुत पुण्य होगा आप मुझे पर्वत से पार कर दीजिये।" वह भूमिधर हँस पड़ा और कहने लगा—"मैंने पहले ही जान लिया था कि तुम्हारे सेवक की गांठ में आठ मोहरें हैं। आज रात को मैं तुम्हारा वध कर देता एवं मोहरें ले लेता। अच्छा हुआ, तुमने अपने आप मुझे यह बात कह दी और मोहरें सामने रखदीं। तुम मौत से बचे और मैं तुम्हारे वध के पाप से। मैं तुम्हारी सचाई से सन्तुष्ट हुआ हूँ, अतः मैं अब ये मोहरें तुम से नहीं लूंगा और पुण्य की दृष्टि से तुम्हें आज पर्वत के उस पार पहुँचा दूंगा" ॥२५—३०॥

गोसाञि कहे—केहो द्रव्य लैवे आमा मारि। आमार प्राणरक्षा कर द्रव्य अङ्गीकारि ॥३१॥
तबे गोसाञिर सङ्गे भूञा चारि पाइक दिल। रात्र्ये-रात्र्ये बनपथे पर्वत पार कैल ॥३२॥
पार हञा गोसाञि तबे पुछिल ईशाने—। जानि शेषद्रव्य किछु आछे तोमास्थाने? ॥३३॥
ईशान कहे-एक मोहर आछे अवशेष। गोसाञि कहे-मोहर लञा याह तुमि देश ॥३४॥
तारे विदाय दिया गोसाञि चलिला एकला। हाते करोया, छिड़ा कान्था निर्भय हइला ॥३५
चलिचलि गोसाञि तबे आइला हाजीपुरे। सन्ध्याकाले वसिला एक उद्यानभितरे ॥३६॥

श्रीसनातन पाद ने कहा—"यदि आप इस धन को नहीं लोगे तो कोई और इसे ले लेगा और मुझे भी मार देगा। इसलिये इस धन को लेकर मेरी प्राण-रक्षा कीजिये। फिर उस भूमिधर ने श्रीसनातन पाद के साथ अपने चार सेवक भेज दिये और उन्होंने रात रात में बन के रास्ते चलकर उन्हें पर्वत से

पार कर दिया। पार होकर श्रीसनातन पाद ने ईशान से पूछा कि मेरे विचार में अभी तुम्हारे पास कुछ और मोहर बाकी हैं ? ईशान ने बताया कि एक मोहर मेरे पास और है।" श्रीसनातन ने कहा कि तुम उस मोहर को लेजाओ और अपने देश में लौट जाओ। उसे श्रीगोस्वामीपाद ने विदा किया और आप अकेले वहाँ से चल दिये। हाथ में केवल जल के लिये मिट्टी का करुवा था, फटे-पुराने वस्त्र पहर रहे थे और कुछ भी उनके पास मूल्यवान् वस्तु न थी। अतः अब वे चोर डाकू से निर्भय होकर चल रहे थे। श्रीसनातनपाद चलते चलते हाजीपुर में आये और वहाँ एक बागीचे में रात को निवास किया ॥३१-३६॥

सेइ हाजिपुरे रहे श्रीकान्त तार नाम। गोसाञिर भगिनीपति—करे राजकाम ॥३७॥
तिनलक्ष मुद्रा राजा दियाछे तार स्थाने। घोड़ा मूल्य लञा पाठाय पात्शार स्थाने ॥३८॥
टुङ्गीर उपर वसि सेइ गोसाञिके देखिल। रात्र्ये एकजन सङ्गे गोसाञि पाश आइल ॥
दुइजन मिलि तथा इष्टगोष्ठी कैल। छुटिवार बात गोसाञि सकलि कहिल ॥४०॥
तेंहो कहे–दिन–दुइ रह एइ स्थाने। भद्र कर छाड़ एइ मलिन वसने ॥४१॥
गोसाञि कहे-एक क्षण इहां ना रहिव। गङ्गा पार करि देह–एक्षणि चलिव ॥४२॥

वहाँ हाजीपुर में श्रीकान्त रहते थे जो श्रीसनातन की बहिन के पति अर्थात् उनके जीजा थे और वहाँ राजकर्मचारी थे। तीन लाख मुद्रा राजा ने उन्हें दे रखीं थी, एवं वहाँ से अच्छे अच्छे घोड़े खरीद कर राजा को भेजा करते थे। श्रीसनातनपाद सन्ध्या के समय जब एक ऊंचे टीले पर बागीचा में बैठे हुए थे, श्रीकान्त ने उन्हें देखा और पहचान लिया। (उनका ऐसा भेष देखकर वह जान गये कि कोई रहस्य है) अतः वे रात को एक विश्वस्त व्यक्ति को साथ लेकर श्रीसनातनपाद के पास मिलने आए। दोनों परस्पर मिले एवं वार्तालाप किया। श्रीगोस्वामीपाद ने अपने बन्दीगृह से भाग निकलने की सब बात उन्हें सुनाई। श्रीकान्त ने कहा कि "आप दो-चार दिन यहाँ रहिये एवं आप के दाढ़ी-बालादि बढ़ गये हैं, यहाँ क्षौर कराईये तथा यह मैले-कुचैले कपड़े भी बदल लीजिये।" श्रीसनातनपाद ने कहा— "श्रीकान्त ! मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं रुकूंगा। मुझे अभी किसी प्रकार गङ्गा के पार उतरवा दो, मैं तो इसी क्षण ही यहाँ से चला जाऊंगा ॥३७—४२॥

यत्न करि तेंहो एक भोटकम्बल दिल। गङ्गा पार करि दिल, गोसाञि चलिल ॥४३॥
तबे वाराणसी गोसाञि आइला कथोदिने। शुनि आनन्दित हैल प्रभुर आगमने ॥४४॥
चन्द्रशेखर घरे आसि दुयारे वसिला। महाप्रभु जानि चन्द्रशेखरे कहिला—॥४५॥
द्वारे एक वैष्णव हय बोलाह ताहारे। चन्द्रशेखर देखे—वैष्णव नाहिक द्वारे ॥४६॥
'द्वारे वैष्णव नाहि'—प्रभुरे कहिल। 'केहो हय' ? करि प्रभु ताहारे पुछिल ॥४७॥
तेंहो कहे—एक दरवेश आछे द्वारे। 'तांरे आन' प्रभु वाक्ये कहिल ताहारे ॥४८॥

बहुत यत्न करके श्रीकान्त ने श्रीगोस्वामी पाद को एक मोटा-सा कम्बल दिया और गङ्गा जी के पार उतार दिया। वहाँ से श्रीगोस्वामीपाद चलते चलते कई दिन बाद काशी आ पहुँचे। वहाँ आकर जब यह सुना कि श्रीमहाप्रभु काशी में विराजमान हैं तो श्रीसनातनपाद बड़े आनन्दित हुए। श्रीचन्द्रशेखर के घर के द्वार पर आकर श्रीसनातन बैठ गये, जहाँ श्रीमहाप्रभु जी घर के भीतर बैठे थे। वे भी जान गये कि श्रीसनातन आये हैं। वे श्रीचन्द्रशेखर से बोले—"देखो ! तुम्हारे दरवाजे पर एक वैष्णव आया

है, उसे भीतर बुला लाओ।" श्रीचन्द्रशेखर ने बाहर आकर देखा कि वैष्णव तो यहां कोई नहीं है" (कोई एक डाढ़ी वाला मुसलमान फकीर सा बैठा है)। भीतर जाकर प्रभु से कहा—"दरवाजे पर कोई भी वैष्णव नहीं है।" प्रभु ने पूछा—"तो कोई है सही ?" "जी हाँ ! एक फकीर अवश्य बैठा है"-श्रीचन्द्रशेखर ने कहा। "उसे ही ले आओ"—प्रभु ने आदेश दिया ॥४३—४८॥

प्रभु तोमाय बोलाय, आइस दरवेश। शुनि आनन्दे सनातन करिल प्रवेश ॥४९॥
तांहारे अङ्गने देखि प्रभु धाञा आइला। तांरे आलिङ्गन करि प्रेमाविष्ट हैला ॥५०॥
प्रभुस्पर्शे प्रेमाविष्ट हैला सनातन। 'मोरे ना छुंइह—कहे गद्गद वचन ॥५१॥
दुइजने गलागलि रोदन अपार। देखि चन्द्रशेखरेर हैल चमत्कार ॥५२॥
तबे प्रभु तांर हाथ धरि लञा गेला। पिण्डार उपरे आपन पाशे वसाइला ॥५३॥
श्रीहस्ते करेन तांर अङ्ग—सम्मार्ज्जन। तेंहो कहे—मोरे प्रभु ! ना कर स्पर्शन ॥५०॥
प्रभु कहे—तोमा स्पर्शि पवित्र हइते। भक्तिबले पार तुमि ब्रह्माण्ड शोधिते ॥५५॥

श्रीचन्द्रशेखर ने पुनः बाहर आकर कहा—"हे दरवेश। भीतर चलिये, आपको मेरे प्रभु ने बुलाया है।" यह वचन सुनकर आनन्दपूर्वक श्रीसनातन पाद ने भीतर प्रवेश किया। अभी वह आङ्गन में ही आये थे कि उन्हें देख कर प्रभु दौड़े आये और उन्हें आलिङ्गन कर लिया। श्रीमहाप्रभु प्रेमाविष्ट होगये। श्रीमहाप्रभु के स्पर्श होते ही श्रीसनातन भी प्रेमाविष्ट होगये और गद्गद् स्वर से कहने लगे "दीनबन्धो ! मुझे न छुईए।" दोनों एक दूसरे के गले से लिपटे हुए थे, उच्चस्वर से रोदन कर रहे थे, श्रीचन्द्रशेखर खड़े खड़े देखकर चमत्कृत हो रहे थे। तब श्रीमहाप्रभु ने श्रीसनातन का हाथ पकड़ा और भीतर ले गये और अपने साथ चौंतरे पर बैठा लिया : प्रभु अपने हस्त-कमलों से श्रीसनातन के अङ्गों की धूलि झाड़ने लगे। श्रीसनातन बार बार कह रहे थे—"प्रभो ! मुझ अधम को स्पर्श मत करिये, मैं इस योग्य नहीं हूँ।" श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन ! मैं स्वयं पवित्र होने के लिये तुम्हारा स्पर्श कर रहा हूँ—तुम अपनी भगवद्भक्ति के बल से समस्त ब्रह्माण्ड का उद्धार एवं उसे पवित्र कर सकते हो ॥४९-५५॥ जैसा कि कहा गया है—

तथाहि (भाः १—१३—१०)—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥२॥

श्रीयुधिष्ठिर जी ने श्रीविदुर जी से कहा है—"हे प्रभो ! आप जैसे भगवद्भक्त स्वयं ही तीर्थस्वरूप हैं। उनके हृदय में श्रीभगवान् गदाधर का वास होने से वे तीर्थों को भी तीर्थरूप अर्थात् पवित्र करते हैं ॥२॥ (श्रीहरिभक्तिविलास में भी कहा गया है)—

तथाहि श्रीहरिभक्तिविलासे (१०—६१)—

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥३॥

श्रीभगवान् कहते हैं—चारों वेदों का ज्ञाता ब्राह्मण यदि भक्तिशून्य है, तो वह मुझे प्रिय नहीं है। यदि चाण्डाल भी मेरा भक्त है, तो वह मुझे प्रिय है। अतएव उस प्रकार के चाण्डाल-भक्त को

सत्पात्र जान कर दान करना उचित है, उससे कुछ ग्रहण करने में भी कोई दोष नहीं है, वह व्यक्ति मेरी भांति पूज्यनीय अर्थात् पवित्र है" ।.३।। श्रीमद्भागवत जी में भी कहा गया है —

तथाहि (भा: ७—९—१०)

विप्राद्विषड़्गुणयुतादरविन्द—नाभ—पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठन् ।
मन्ये तदर्पित मनोवाचने हितार्थ—प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ।।४।।

श्रीनृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए श्रीप्रह्लाद जी ने कहा —"कमल की भांति सुन्दर एवं सुगन्धित जिन की नाभि है, ऐसे जो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनके चरणकमलों को भक्ति से रहित जो द्वादश-गुण-युक्त ब्राह्मण है (अर्थात् धर्म, सत्य, दम, तप, मत्सरहीनता, लज्जा, तितिक्षा, असूयाहीनता, यज्ञ, दान, धृति अर्थात् जिह्वा-उपस्थ-वेग संवरण एवं श्रुत अर्थात् वेदाध्ययन—इन बारह गुणों युक्त जो ब्राह्मण है) उसकी अपेक्षा श्रीकृष्णचरणों में जिसने अपने मन, वचन, चेष्टा, अर्थ एवं प्राण सब अर्पण कर दिये हैं ऐसे श्वपच को भी मैं श्रेष्ठ मानता हूँ । कारण कि ऐसा श्वपच तो अपने कुल को पवित्र करने में समर्थ है, किन्तु अतिशय गर्वयुक्त वह ब्राह्मण ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सकता" ।।४।।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि भगवद्भक्त अपने को एवं अन्यान्य समस्त को पवित्र कर सकता है । कैसे पवित्र करता है—उसे अगले पयारों में वर्णन करते हैं ।

तोमा देखि, तोमा स्पर्शि, गाइ तोमार गुण ।
सर्वेन्द्रिय फल एइ शास्त्र-निरूपण ।।५६।।

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन ! तुम्हारे अथवा किसी भगवद्भक्त के दर्शन करने में, उसका स्पर्श करने में, उसके गुण गाने में ही सर्व इन्द्रियों की सार्थकता है—ऐसा शास्त्र निरूपण करता है ।.५६।। (जैसा कि हरिभक्ति सुधोदय में कहा गया है)—

तथाहि हरिभक्तिसुधोदये (१३—२)—

अक्ष्णोः फलं त्वादृशदर्शनं हि तन्वाः फलं त्वादृशगात्रसङ्गः ।
जिह्वाफलं त्वादृशकीर्त्तनं हि सुदुर्ल्लभा भागवता हि लोके ।।५।।

पृथ्वी ने श्रीप्रह्लाद जी को कहा है—"हे प्रह्लाद ! तुम जैसे भक्तों के दर्शनों में ही नेत्रों की सार्थकता है, तुम जैसे भक्तों के गात्र-स्पर्श करने में देह की सार्थकता है, तुम जैसे भक्तों के गुणादि कीर्त्तन करने में जिह्वा की सार्थकता है, कारण कि जगत् में भगवद्भक्त अत्यन्त दुर्लभ हैं ।।५।। (पूर्ववर्त्ती ५६ नं० पयार के प्रमाण में यह श्लोक कहा गया है ।)

एत कहि कहे प्रभु शुन सनातन । कृष्ण बड़ दयामय पतित-पावन ।।५७।।
महा रौरव हैते तोमा करिल उद्धार । कृपार समुद्र कृष्ण गम्भीर अपार ।।५८।।
सनातन कहे—कृष्ण आमि नाहि जानि । आमार उद्धार-हेतु तोमार कृपा मानि ।।५९।।
'केमने छुटिला ? बलि प्रभु प्रश्न कैल । आद्योपान्त सब कथा तेंहो शुनाइल ।।६०।।
प्रभु कहे-तोमार दुइ भाइ प्रयागे मिलिला । रूप अनुपम दोंहे वृन्दाबन गेला ।।६१।।
तपन मिश्रे रे आर चन्द्रशेखरेरे । प्रभु आज्ञाय सनातन मिलिला दोंहारे ।।६२।।

इस प्रकार भक्तों की महिमा का वर्णन करके श्रीमहाप्रभुने कहा—"सनातन ! सुनो, श्रीकृष्ण अति दयालु हैं एवं पतितपा-वन हैं। उन्होंने तुम्हें इस संसाररूप रौरव-नरक से (जिसमें जीव जाकर निरन्तर तपा करता है), निकाल लिया है। श्रीकृष्ण कृपा के अपार गम्भीर समुद्र हैं।" श्रीसनातन ने कहा— "मैं श्रीकृष्ण को तो नहीं जानता हूँ, अपने उद्धार का कारण मैं तो आपकी कृपा को ही मानता हूँ।" प्रभु ने श्रीसनातन से पूछा कि "तुम किस प्रकार बन्धन से छूट निकले ?"—श्रीसनातन ने आद्योपान्त सब वृतान्त कह सुनाया। प्रभु बोले—"तुम्हारे दोनों भाई श्रीरूप एवं श्रीअनुपम प्रयाग में मुझे मिले थे, अब वे दोनों श्रीवृन्दावन चले गये हैं।" फिर श्रीमहाप्रभु ने श्रीतपन मिश्र तथा श्रीचन्द्रशेखर—इन दोनों से श्रीसनातन पाद का परिचय कराया एवं वे प्रभु-आज्ञा पाकर उन दोनों से मिले ॥५७—६२॥

तपनमिश्र तांरे तबे कैल आलिङ्गन। प्रभु कहे क्षौर कराह, याह सनातन ॥६३॥
चन्द्रशेखरेरे प्रभु कहे बोलाइया। एइ वेश दूर कर, याह इंहा लैया ॥६४॥
भद्र कराइया तांरे गङ्गास्नान कराइल। शेखर आनिया तांरे नूतन वस्त्र दिल ॥६५॥
सेइ वस्त्र सनातन ना कैल अङ्गीकार। शुनिया प्रभुर मने आनन्द अपार ॥६६॥
मध्याह्न करि प्रभु गेला भिक्षा करिवारे। सनातने लञा गेला तपनमिश्र घरे ॥६७॥
पाद प्रक्षालन करि भिक्षाते वसिला। सनातने भिक्षा देह—मिश्रेरे कहिला ॥६८॥

श्रीतपन मिश्र ने श्रीसनातन को आलिङ्गन किया। श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन ! तुम जाओ और क्षौर कराओ।" श्रीचन्द्रशेखर को बुलाकर प्रभु ने कहा—"इन्हें साथ ले जाओ और इनका यह भेष दूर कराओ (अर्थात् दाढ़ी बनवाकर इनके वस्त्रादि बदलाओ)" श्रीचन्द्रशेखर ने उनको भद्र कराकर उन्हें गङ्गा-स्नान कराया और एक नवीन वस्त्र भी लाकर उन्हें दिया। उस वस्त्र को किन्तु श्रीसनातनपाद ने अङ्गीकार न किया। यह बात सुनकर प्रभु मन में बहुत प्रसन्न हुए। तदनन्तर प्रभु ने अपना मध्याह्न-काल का कृत्य किया और भोजन करने के लिये श्रीतपन मिश्र के घर जाने लगे। प्रभु ने श्रीसनातन को भी अपने साथ ले लिया। प्रभु ने पांव धोये और वे भोजन के लिये बैठे। उन्होंने श्रीतपन मिश्र से कहा कि सनातन के लिये भी भोजन लाओ ॥६३—६८॥

मिश्र कहे—सनातनेर किछु कृत्य आछे। तुमि भिक्षा कर, प्रसाद तांरे दिव पाछे ॥६९॥
भिक्षा करि महाप्रभु विश्राम करिल। मिश्र प्रभुर शेषपात्र सनातने दिल ॥७०॥
मिश्र सनातने दिल नूतन वसन। वस्त्र नाहि निल तेंहो कैल निवेदन ॥७१॥
मोरे वस्त्र दिते यदि तोमार हय मन। निज-परिधान एक देह पुरातन ॥७२॥
तबे मिश्र पुरातन एक धुति दिल। तेंहो दुइ बहिर्वास कौपीन करिल ॥७३॥
महाराष्ट्री द्विजे प्रभु मिलाइला सनातने। सेइ विप्र तांरे कैल महा निमन्त्रणे—॥७४॥

श्रीमिश्र ने कहा—"प्रभो ! सनातन को अभी कुछ काम है, आप भोजन करिये, उसे पीछे आप का प्रसाद ही दूंगा।" भोजन करने के पश्चात् श्रीमहाप्रभु ने विश्राम किया एवं मिश्र जी ने श्रीमहाप्रभु का प्रसादी अन्न श्रीसनातन को दे दिया। श्रीतपन मिश्र श्रीसनातन पाद को एक नया वस्त्र देने लगे, किन्तु उन्होंने उसे न लेकर यह निवेदन किया—"मिश्र ! यदि आप का मन मुझे वस्त्र देने को है, तो अपना पहिरा हुआ कोई एक पुराना वस्त्र दीजिये ना !" तब श्रीमिश्र ने एक पुरानी धोती श्रीसनातन

पाद को लाकर दी। उन्होंने उसके दो टुकड़े कर लिये, एक बहिर्वास बना लिया और एक कौपीन। प्रभु ने महाराष्ट्री ब्राह्मण से श्रीसनातन पाद का परिचय कराया। उस ब्राह्मण ने श्रीसनातन पाद को बहुत लम्बे काल के लिये निमन्त्रण दिया ॥६६—७४॥

सनातन ! तुमि यावत् काशीते रहिवे। तावत् आमार घरे भिक्षा ये करिवे ॥७५॥
सनातन कहे—आमि माधुकरी करिव। ब्राह्मणेर घरे केने एकत्र भिक्षा लव ? ॥७६॥
सनातनेर वैराग्ये प्रभुर आनन्द अपार। भोटकम्बलपाने प्रभु चाहे बारेबार ॥७७॥
सनातन जानिल—एइ प्रभुरे ना भाय। भोट त्याग करिबारे चिन्तिल उपाय ॥७८॥
एत चिन्ति गेला गङ्गाय मध्याह्न करिते। एक गौड़िया कान्था धुञा दियाछे शुकाइते ॥७९॥
तारे कहे—आरे भाई ! कर उपकारे। एइ भोट लञा एइ कांथा देह मोरे ॥८०॥

महाराष्ट्री ब्राह्मण ने कहा—"सनातन ! तुम जब तक काशी में रहो, तब तक मेरे ही घर में भिक्षा किया करना।" श्रीसनातन ने कहा—"मैं तो माधुकरी करूंगा, आप ब्राह्मण हो आपके घर एक स्थान पर कैसे भोजन कर सकता हूँ ?" श्रीसनातन पाद के वैराग्य को देख कर श्रीमहाप्रभु को अपार आनन्द हुआ। श्रीसनातन पाद के पास जो ऊनी-कम्बल था, श्रीमहाप्रभु उसे बार बार देखा करते थे। श्रीसनातन पाद जान गये कि प्रभु को यह कम्बल अच्छा नहीं लग रहा है। उन्होंने उसे त्याग करने का भी उपाय सोच लिया। यही विचार करके श्री सनातन पाद गङ्गा पर मध्याह्न कृत्य करने के लिये गये। वहां उन्होंने देखा कि एक बङ्गाली ने अपने फटे पुराने वस्त्र को धोकर धूप में सूखने डाल दिया है। श्रीसनातन पाद ने उससे कहा—"अरे भाई ! तुम एक उपकार करो, यह ऊनी कम्बल तो मेरा ले लो और मुझे अपना यह कन्था दे दो" ॥७५—८०॥

सेइ कहे—हास्य कर प्रामाणिक हञा ? । बहुमूल्य भोट दिवे केने कांथा लञा ? ॥८१॥
तेंहो कहे—हास्य नहे कहि सत्यवाणी। भोट लेह तुमि देह मोरे कांथाखानि ॥८२॥
एत बलि कांथा लइल, भोट तारे दिया। गोसाञिर ठाञि आइल कांथा गले दिया ॥८३॥
प्रभु कहे—तोमार भोट कम्बल कोथा गेल। प्रभु पदे सब कथा गोसाञि कहिल ॥८४॥
प्रभु कहे—इहा आमि करियाछि विचार। विषय भोग खण्डाइल कृष्णये तोमार ॥८५॥
से केने राखिवे तोमार शेष विषयभोग। रोग खण्डि सद्वैद्य ना राखे शेष रोग ॥८६॥
तिन मुद्रार भोट गाय, माधुकरी ग्रास। धर्महानि हय, लोक करे उपहास ॥८७॥

उस गौड़िया ने कहा—"आप गण्यमान्य व्यक्ति होकर मुझसे मज़ाक कर रहे हैं ? बहुमूल्य कम्बल के बदले कोई व्यक्ति ऐसा चीथड़ा लेता होगा ?" श्रीगोस्वामीपाद ने कहा—"ना. ना, मैं आप से मज़ाक नहीं कर रहा हूँ, सत्य ही कहता हूँ। आप इस कम्बल को ले लीजिये और मुझे यह कन्था दे दीजिये।" इतना कहकर श्रीगोस्वामीपाद ने वह कम्बल उसे दे दिया और उसका कन्था ले लिया। उसे गले में डाल कर श्रीसनातन श्रीमहाप्रभु के पास वापिस लौट आए। श्रीमहाप्रभु ने पूछा—"सनातन ! तुम्हारा वह कम्बल कहाँ गया ?" श्रीसनातन पाद ने प्रभु को सब बात कह सुनाई। श्रीमहाप्रभु बोले—"मैं भी यही विचार करता था कि श्रीकृष्ण ने तुम्हारे सब विषय भोग छुड़ा दिये हैं, अब यह बाकी विषय-भोग (ऊनीकम्बल ओढ़ना) वे क्यों रहने देंगे ? क्योंकि जो सद्वैद्य होते हैं वह कुछ रोग रोगी में बाकी

नहीं रहने देते। "तीन रुपैए का तो कम्बल ओढ़े और फिर मांगे माधुकरी ? इससे वैराग्य-धर्म की हानि होती है और लोग भी उपहास करते हैं" ।।८१—८७।।

गोसाञि कहे—ये खण्डिल कुविषय-भोग । तांर इच्छाय गेल मोर शेष विषयभोग ।।८८।।
प्रसन्न हइया प्रभु तांरे कृपा कैल । तांर कृपाय प्रश्न करिते तांर शक्ति हैल ।।८९।।
पूर्वे यैछे राय-पाश प्रभु प्रश्न कैल । तांर शक्तचे रामानन्द तांरे उत्तर दिल ।।९०।।
इहां प्रभुर शक्तचे प्रश्न करे सनातन । आपने महाप्रभु करे तत्त्व-निरूपण ।।९१।।

श्रीसनातनपाद ने कहा—"जिन्होंने मेरे विषय-भोग छुड़ाए हैं, उन्हीं की इच्छा से मेरा यह बचा-खुचा विषय-रोग भी आज दूर होगया।" श्रीमहाप्रभु श्रीसनातन पाद के वचन सुनकर अति हर्षित हुए और उन पर कृपादृष्टि की। (वस्तुतः इस सीमा तक जब वैराग्य एवं दीनता पहुँचती है, तभी साधक पर श्रीकृष्ण-कृपा होती है।) उस कृपा से श्रीसनातन में प्रश्न करने की शक्ति आगई। पहले जैसे राय-रामानन्द जी के प्रति प्रभु ने प्रश्न किये थे और प्रभु की शक्ति से रायरामानन्द जी ने उत्तर दिये थे, यहाँ उसी प्रकार श्रीमहाप्रभु की शक्ति से श्रीसनातनपाद प्रश्न करने लगे और स्वयं श्रीमहाप्रभु उनके उत्तर में तत्त्वों का निरूपण करने लगे ।।८९—९१।। जैसा कि कहा गया है —

तथाहि—

कृष्ण स्वरूपमाधुर्यैश्वर्यभक्तिरसाश्रयम् ।
तत्त्वं सनातनायेशः कृपयोपदिदेश सः ।।६।।

उन ईश्वर श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने कृपा करके श्रीपाद सनातन को (अथवा श्रीसनातन पाद को उपलक्ष्य करके सर्व साधारण को) श्रीकृष्ण के स्वरूप, माधुर्य, ऐश्वर्य तथा भक्तिरस—इन समस्त तत्त्वों का उपदेश किया ।।६।।

तबे सनातन प्रभुर चरणे धरिया। दैन्य विनति करे दन्ते तृण लञा—।।९२।।
नीचजाति नीचसङ्गी पतित अधम। कुविषय-कूपे पड़ि गोङाइनु जनम ।।९३।।
आपनार हिताहित किछुइ ना जानि। ग्राम्य-व्यवहारे पण्डित, ताहि सत्य मानि ।।९४।।
कृपा करि यदि मोरे करियाछ उद्धार। आपन कृपाते कह कर्त्तव्य आमार ।।९५।।
के आमि, केने आमाय जारे तापत्रय ?। इहा नाहि जानि आमि-केमने हित हय ?।।९६।।
साध्य साधन तत्त्व पुछिते ना जानि। कृपा करि सब तत्त्व कहत आपनि ।।९७।।

तब श्रीसनातन पाद ने प्रभु के चरण पकड़ लिये और दांतों में तृण धारण कर अति दीनता पूर्वक विनय करने लगे—"प्रभो ! मैं नीच जाति हूँ और नीच पुरुषों के सङ्ग में रहा हूँ, पतित हूँ एवं अधम हूँ। मैंने खोटे विषयों के गर्त्त में पड़कर अपना सारा जन्म खोया है, अतः मैं तो अपना हित और अहित नहीं जानता हूँ। हां, सांसारिक विषय-व्यवहार में अवश्य कुशल हूँ, यह बात सत्य है। आपने अब जब कृपाकर मेरा उद्धार किया है, तो अपनी कृपा से मुझे मेरा कर्त्तव्य भी बताइये। मैं कौन हूं ? (जीव का क्या स्वरूप है ?) मुझे तापत्रय क्यों जला रहे हैं ? मैं यह नहीं जानता हूँ कि मेरा हित कैसे होगा ? साध्य-साधनतत्त्व के विषय में तो जिज्ञासा करना भी मैं नहीं जानता—आप कृपा कर इन समस्त तत्त्वों को मेरे प्रति कहिये ।।९२-९७।।

चै० च० चु० टीका—श्रीसनातन पाद ने अति दीनता पूर्वक श्रीमहाप्रभु से कई एक प्रश्न किये, वे प्रश्न उन्हीं तक ही सीमित नहीं है। उनका सम्बन्ध जीव-मात्र से है। उनका **पहला प्रश्न** था कि मेरा कर्त्तव्य क्या है? अर्थात् संसार बन्धन से उद्धार पाने के लिये मुझे क्या करना उचित है? याति **जीवका अभिधेय क्या है**? उनका **दूसरा प्रश्न** था—मैं कौन हूँ? अर्थात् मेरा स्वरूप या **जीव का स्वरूप क्या है**? मैं वही शरीर हूँ क्या? या इस शरीर के अतिरिक्त ज्ञान शक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति-विशिष्ट और कोई वस्तु हूँ? कारण कि देह के साथ मन तथा अन्य इन्द्रियों का मेल है, मन अन्यान्य इन्द्रियों को चलाता है, मन में ज्ञानशक्ति तथा इच्छाशक्ति है। मन जो कुछ इच्छा करता है, ज्ञानशक्ति द्वारा उस इच्छा को पूर्ण करने का उपाय स्थिर करके अन्य इन्द्रियों द्वारा उस उपाय को कार्य में बदल देता है। अतः मुझे सन्देह होता है कि शुद्ध देह ही मैं हूँ या इन्द्रियादि समन्वित मन ही मैं हूँ! यदि मैं देह हूँ, तो काम क्रोध लोभ आदि जो मन की प्रवृत्तियां हैं, उनसे उद्भूत ताप मेरे देह को क्यों कष्ट देता है? और यदि इन्द्रिय-समन्वित मन ही मैं हूँ तो वात-पित्तादि-जनित रोगादि जो देह के विकार हैं, वे मेरे मन को क्यों पीड़ित करते हैं? और यदि देह तथा मन से अतिरिक्त कोई और वस्तु ही में मेरा स्वरूप है—तो काम-क्रोधादि व रोगादि मुझे क्यों दुख देते हैं? तीसरा प्रश्न उनका है कि मुझे तापत्रय क्यों जला रहे हैं?—

ताप तीन प्रकार के हैं—अध्यात्मक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। उनका विवरण इस प्रकार है–**अध्यात्मक ताप**—शारीरिक तथा मानसिक दो प्रकार के हैं–वात-पित्त कफ विकार से उत्पन्न होने वाले रोग शारीरिक-अध्यात्मक हैं और काम-क्रोधादि जनित ताप मानसिक-आध्यात्मक ताप कहे जाते हैं। **आधिभौतिक-ताप**—मानुष, पशु-पक्षी, भूत-पिशाच, सर्पादि से होने वाले ताप, आधिभौतिक-ताप कहे जाते हैं और सर्दी-गर्मी, वर्षा-धूप, बिजली आदि से उत्पन्न होने वाले ताप, **आधिदैविक-ताप** कहे जाते हैं। ये तीनों ताप जीव को क्यों जला रहे हैं—श्रीसनातन पाद का यह तीसरा प्रश्न है।

उक्त प्रश्नों का उत्तर श्रीमन्महाप्रभु ने सूत्ररूप में इस प्रकार दिया—"**मैं कौन हूँ**"—इस प्रश्न के उत्तर में प्रभु ने कहा कि जीव का स्वरूप-श्रीकृष्ण–नित्यदास है। वह श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति है एवं वह श्रीकृष्ण का भेदाभेद प्रकाश है जैसे सूर्य एवं उसका अंश-किरण, तथा अग्नि एवं उसका अंश ताप।" (पयार नं० १०१–१०२)।

"**मुझे तापत्रय क्यों पीड़ित करते हैं?**—इसका उत्तर (पयार नं० १०४–१०५) यह दिया है कि यह जीव श्रीकृष्ण को भूल कर अनादिकाल से बहिर्मुख हो गया है, अतः माया इसे संसार-दुख या ताप-त्रय देकर पीड़ित करती है, कभी इसे स्वर्ग में उठा देती है और कभी इस जीव को नरक में गिरा देती है जैसे अपराधी पुरुष को राजा नदी में डुबाता है तो वह कभी ऊपर उठता है, कभी पानी में नीचे जाता है। कृष्ण-बहिर्मुखता ही इस यन्त्रणा का हेतु हैं।

मेरा कल्याण कैसे हो?—इसका उत्तर प्रभु ने (पयार नं० १०६ में) दिया कि साधु (महत्पुरुष) एवं शास्त्र की कृपा से यदि इस जीव की बहिर्मुखता दूर हो जाय और वह श्रीकृष्णोन्मुख हो जाए तो वह इस संसार ताप से बच सकता है और माया उसे छोड़ देती है।

किन्तु किस उपाय से जीव कृष्णोन्मुख हो सकता है? जीव का क्या कर्त्तव्य है?—इसका उत्तर (बाईसवें परिच्छेद के पयार नं० १६) में दिया है कि जीव को श्रीकृष्ण का भजन एवं श्रीगुरुदेव का सेवन करना चाहिये, तभी वह माया से छूट कर अपने परम साध्य श्रीकृष्ण-चरण सेवा को प्राप्त कर सकता है।

द्वितीय प्रश्न के उत्तर में (अर्थात् त्रिताप-ज्वाला से छूटने पर अथवा माया के नाश हो जाने पर)

आपात दृष्टि से तीसरे प्रश्न का उत्तर भी (अर्थात् जीव का हित हो जाता है) प्राप्त होता दीखता है, किंतु तीसरे प्रश्न के आनुषङ्गिक उत्तर में जो कुछ श्रीमहाप्रभु ने कहा है, उससे ज्ञात होता है कि मायापाश से केवल मुक्त हो जाने पर जीव का आत्यन्तिक हित नहीं होता। श्रीकृष्ण-चरण-सेवा की प्राप्ति में ही जीव का परमतम हित या कल्याण पर्यवसित है। कारण कि जीव स्वरूपतः श्रीकृष्ण का नित्य-दास है, अतः उसका स्वरूप-धर्म है–श्रीकृष्ण-सेवा। श्रीकृष्ण-सेवाप्राप्त करके ही जीव अपने स्वरूपगत-धर्म में सुप्रतिष्ठित हो सकता है और तभी वह अपने परमतम हित को प्राप्त कर सकता है। जब तक जीव अपने स्वरूपगत-धर्म में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता, तब तक धर्म-विपर्यय वश इसकी दुर्गति होती रहती है या त्रिताप-जलन में तपा करता है, स्वरूपगत-धर्म में प्रतिष्ठित होते ही त्रिताप ज्वाला तो अपने आप ही दूर हो जाती है। जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार अपने आप दूर हो जाता है, इसी प्रकार श्रीकृष्ण-चरण सेवा प्राप्त होने पर माया एवं त्रिताप-जलन तो अपने आप (आनुषङ्गिक भावों से) ही दूर हो जाते हैं।

श्रीसनातनपाद के प्रश्नों का उत्तर जो सूत्ररूप में ऊपर वर्णन किया गया है—श्रीमन्महाप्रभु ने दो मास पर्यन्त उसका ही वर्णन किया और इस ग्रन्थ के २०, २१, २२, एवं २३ वें—परिच्छेदों में इन्हीं उत्तरों की ही विशेष आलोचना की गई है।

प्रभु कहे—कृष्णकृपा तोमाते पूर्ण हय। सब तत्त्व जान, तोमार नाहि तापत्रय ॥९८॥

कृष्णशक्ति धर तुमि, जान तत्त्व-भाव। जानि दार्ढ्य लागि पुछे-साधुर स्वभाव ॥९९॥

श्रीसनातनपाद के वचन सुन कर श्रीमहाप्रभु जी बोले—"सनातन! तुम्हारे ऊपर श्रीकृष्ण की पूर्ण कृपा है, तुम सब तत्त्वों को जानते हो और तुम्हें तापत्रय भी पीड़ित नहीं कर रहे हैं। तुम श्रीकृष्ण की शक्ति को धारण कर रहे हो। समस्त तत्त्वों का भाव भी तुम जानते हो। फिर भी यह प्रश्न तुमने जो पूछे हैं, वह दृढ़ता के लिये ही तुम पूछ रहे हो अर्थात् जो कुछ जानते हो, वह ठीक है कि नहीं—इसका निश्चय करने के लिये तुमने सब प्रश्न पूछे हैं—ऐसा साधु पुरुषों का स्वभाव होता है।" ९८–९९॥ (वस्तुतः तत्त्वज्ञान के लिये जिसका बार-बार आग्रह रहता है, वही अति शीघ्र अपनी साध्य-वस्तु को प्राप्त कर लेता है। इस बात का प्रमाण निम्न लिखित श्लोक में उद्धृत करते हैं) :—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे साधनभक्तिलहर्य्याम् (४७)—

अचिरादेव सर्वार्थः सिध्यत्येषामभीप्सितः।
सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः ॥७॥

भागवत-धर्म के निगूढ़ तत्त्व को जानने के लिये जिनकी बुद्धि अतिशय आग्रह-शालिनी है, उनकी अभिलषित समस्त वस्तुएँ अतिशीघ्र उन्हें प्राप्त हो जाती हैं ॥७॥

योग्यपात्र हओ तुमि भक्ति प्रवर्त्ताइते। क्रमे सब तत्त्व शुन, कहिये तोमाते ॥१००॥

जीवेर स्वरूप हय—कृष्णेर नित्यदास। कृष्णेर तटस्था शक्ति-भेदाभेद प्रकाश ॥१०१॥

सूर्य्यांश-किरण यैछे अग्निज्वालाय चय। स्वाभाविक कृष्णेर तिन शक्ति हय ॥१०२॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन! तुम भक्ति-धर्म के प्रचार के लिये योग्य-पात्र हो, मैं तुम्हारे आगे क्रम से सब तत्त्व कहता हूँ, तुम उन्हें सुनो। जीव का स्वरूप श्रीकृष्ण-नित्यदास है। जीव श्रीकृष्ण की तटस्थाशक्ति है और उनका भेदाभेद-प्रकाश है। जैसे सूर्य और सूर्य का अंश किरण और अग्नि तथा उसका ताप। श्रीकृष्ण की स्वाभाविक तीन शक्तियाँ हैं ॥१०२॥

चै० च० चु० *टीका*—ऊपर के पयारों में "मैं कौन हूँ?" या **जीव का क्या स्वरूप है?** इसका उत्तर दिया गया है। श्रीमहाप्रभु ने कहा—'यह देह जीव नहीं है। मृत्यु हो जाने पर यह देह तो यहाँ पड़ा रहता है,उसे कोई भी जीव नहीं कहता। जीव अनेक देहों का आश्रय करने वाला है,कभी पशु-देह,कभी पक्षी-देह, कभी वृक्ष-देह—इत्यादि अनेक योनियों में जाकर अपने कर्मफलानुसार अनेक देह धारण करता है। अतः जीव देहातिरिक्त कोई और वस्तु है। मृत्यु के पश्चात् मन-इन्द्रिय रूप सूक्ष्मदेह को भी जीव प्राप्त करता है, जिसको देखा नहीं जा सकता। सूक्ष्म देह से जीव स्वर्ग-नरक आदि में जाकर कर्मफलों को भोगता है। महाप्रलय में जब प्राकृत ब्रह्माण्ड ध्वन्स हो जाता है, तब स्थूल एवं सूक्ष्म देह—ये दोनों नाश हो जाते हैं, किन्तु जीव का ध्वंस नहीं होता। जीव अपने कर्मफल को अवलम्बन कर कारण-समुद्र में अवस्थान करता है—ऐसा शास्त्र का कथन है, अतः ज्ञात होता है कि स्थूल एवं सूक्ष्म देह जो दोनों प्राकृत देह हैं, उनके नाश हो जाने पर भी जीव वर्त्तमान रहता है, अतः जीव उन दोनों से एक पृथक् वस्तु है। अर्थात् **देह भी जीव नहीं है, मन इन्द्रियादि भी जीव नहीं हैं।**

तब जीव क्या वस्तु है?—तृण, गुल्म, पशु, पक्षी, मानुष आदि को हम तब तक जीव कहते हैं, जब तक उनमें चेतना रहती है। चेतनाशून्य होने पर वे मृतक कहे जाते हैं, ना कि जीव। इससे जाना जाता है कि जीव के साथ चेतना का या चैतन्य का एक नित्य अच्छेद्य सम्बन्ध है और जीव के साथ स्वरूपतः जड़ का ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। जड़रूपा माया के संश्रव से उत्पन्न होने वाले मन-इन्द्रियादि सूक्ष्म एवं स्थूल देह जड़ है। महाप्रलय में समस्त प्राकृत जड़ वस्तुओं के नाश हो जाने पर भी जीव की स्थिति है, तब स्पष्ट है कि जीव में जड़ का कुछ भी अंश या सम्बन्ध नहीं है।

चित् एवं जड़—इन दो प्रकार की वस्तुओं के अतिरिक्त और किसी तीसरी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। जीव में जब जड़ का कोई अंश नहीं है और जीव के साथ चित् का एक नित्य अच्छेद्य सम्बन्ध भी है, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जीव चित् वस्तु ही है। एक देहधारी जीव के देह त्याग करने पर दूसरे देहधारी जीव का देहत्याग नहीं होता है, इससे यह भी जाना जाता है कि जीव भिन्न-भिन्न देहों का आश्रय करने से परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् जीव अनेक एवं असंख्य हैं। किन्तु चित्-वस्तु तो एकमात्र अद्वयज्ञान तत्त्व हो है। उस सर्वव्यापक-विभुचित् परब्रह्म के व्यतीत और कोई चित्-वस्तु नहीं है। **अतः जीव चिद्वस्तु परमब्रह्म का ही अति क्षुद्र अंश है,** यह सिद्धान्त निर्धारित होता है।

अंशी की सेवा ही अंश का स्वरूपानुबन्धि धर्म या कर्त्तव्य होता है। जीव श्रीकृष्ण की तटस्थता शक्ति है। शक्तिमान् की सेवा करना ही शक्ति का स्वरूपानुबन्धि-धर्म है। अतः **जीव को स्वरूपतः श्रीकृष्ण-का नित्यदास,** कहा गया है।

जीव हर अवस्था में सुख का अनुसन्धान कर रहा है। जीव की हर चेष्टा में आनन्द का अनुसन्धान ही नियोजित है। आनन्द-प्राप्ति की आकांक्षा को जीव किसी समय छोड़ सकता ही नहीं—दूसरे शब्दों में जीव आनन्द का ही नित्य दासत्व कर रहा है, किन्तु नित्य-आनन्द की एकमात्र मूर्त्ति श्रीकृष्ण ही हैं। अतः जीव नित्य ही उस आनन्दघन श्रीकृष्ण का दासत्व ही कर रहा है। कहा जा सकता है मायिक जीव तो मायिक आनन्द का दास बना हुआ है?—ठीक है, किन्तु उस मायिक आनन्द का मूल भी श्रीकृष्ण ही हैं। उस आनन्दघन-मूर्ति के आनन्द का आभास ही प्राकृत गुणों में प्रतिफलति या प्रतिबिम्बित होकर प्राकृत आनन्दरूप में प्रतिभात होता है। प्राकृत-गुण अनित्य हैं, अतः उनका आनन्द भी अनित्य है, जीव अज्ञानवश उस क्षणिक आनन्द को स्थायी जान लेता है और अन्त में धोखा खाता है। उसे सुख नहीं मिलता। जीव चाहता है नित्य एवं शाश्वत आनन्द। वह नित्य-आनन्द भूमापुरुष एकमात्र श्रीकृष्ण

ही हैं। अतः जीव को आनन्द का दास कहने से श्रीकृष्ण का ही नित्यदास कहा गया है। (विशेष आलोचना श्रीमद्वैष्णव-सि० सं० में पृष्ठ १०७ पर द्रष्टव्य है)।

जीव को श्रीकृष्ण की तटस्था-शक्ति कहा गया है। श्रीकृष्ण की तीन प्रधान शक्तियाँ हैं—**चित्-शक्ति, जीव-शक्ति** तथा **मायाशक्ति**। चित्-शक्ति का नाम है **स्वरूपशक्ति**, जो सदा श्रीकृष्ण के स्वरूप में ही वर्त्तमान रहती है अतः इसे **अन्तरङ्गाशक्ति** भी कहते हैं। वह चिन्मयी है। दूसरी शक्ति है—**माया-शक्ति**, जो जड़शक्ति है—वह प्राकृत ब्रह्माण्ड में ही वर्त्तमान रहती है। भगवत्स्वरूप एवं भगवद्धामों में उसका प्रवेश नहीं है। अतः उसे **बहिरङ्गा-शक्ति** भी कहते हैं। तीसरी है—**जीव-शक्ति** जो न तो स्वरूप-शक्ति के अन्तर्भुक्त है और न माया-शक्ति के। अतः उसे तटस्था अर्थात् मध्यवर्त्तिनी-शक्ति कहा गया है। विशेष आलोचना श्रीमद्वैष्णव० सि०सं० में पृष्ठ सं० ९० पर द्रष्टव्य है)

जीव को श्रीकृष्ण का भेद-अभेद-प्रकाश कहा गया है। शक्ति एवं शक्तिमान् में भेद भी रहता है एवं अभेद भी रहता है। जीव श्रीकृष्ण की शक्ति है और श्रीकृष्ण शक्तिमान् हैं। अतः जीव का श्रीकृष्ण से भेद भी है और अभेद भी है। श्रीकृष्ण चित्-वस्तु हैं एवं जोव भी चिद्-वस्तु है। अतः चिदंश में श्रीकृष्ण एवं जीव का अभेद है। किन्तु अन्य विषयों में इनमें परस्पर भेद है। श्रीकृष्ण विभु-चित् हैं, किन्तु जीव अणु-चित् है। जीव नियम्य है,श्रीकृष्ण नियन्ता हैं। जीव व्याप्य है, किन्तु वे व्यापक हैं। जीव मायाधीन है, किन्तु श्रीकृष्ण मायाधीश हैं, वे कभी मायाधीन नहीं होते। अतः जीव तथा श्रीकृष्ण में भेद भी वर्त्तमान् है। इसलिये जीव को श्रीकृष्ण का भेदाभेद-प्रकाश कहा जाता है। (यह स्मरण रहे कि जीव केवल या शुद्ध श्रीकृष्ण का अंश नहीं है। वह जीव-शक्ति विशिष्ट श्रीकृष्ण का अंश है। विशेष आलोचना श्रीमद्वैष्णव सि० सं० में पृष्ठ नं० १०८ पर द्रष्टव्य है)

भेदाभेद प्रकाश किस रूप में है—उसका दृष्टान्त देते हैं :—जैसे सूर्य एवं सूर्य की किरण और अग्नि एवं उसका ताप। सूर्य्य तेजोमय है एवं उसकी किरण भी तेजोमय है। सूर्य्य से उसकी किरण बाहर प्रकाशित होती है. अतः किरण सूर्य्य का अंश मानी जाती है। दोनों तेजोमय हैं, इसलिये उनका परस्पर अभेद है, किन्तु किरण सूर्य्य नहीं और न ही वह सूर्य्य हो सकती है। किरण को छाया प्रतिहत कर देती है, किन्तु छाया सूर्य्य को प्रतिहत नहीं कर सकती। अतः उन में भेद है। इसी प्रकार अग्नि एवं उसका ताप—तापांश में दोनों अभेद हैं, किन्तु ताप एवं अग्नि के कार्य में बहुत भेद है। इसी प्रकार जीव एवं ईश्वर में चिदंश में अभेद है परन्तु उनके स्वरूप में उनके कार्य में एवं उनकी शक्ति में भेद है। अतः जीव को श्रीकृष्ण का भेदाभेद-प्रकाश कहा गया है। (विशेष आलोचना भूमिका में पृष्ठ ११९ पर तथा परिच्छेद २५ में पयार ४५ की टीकान्तर्गत अचिन्त्य-भेदाभेदवाद द्रष्टव्य है)। अगले पयारों में श्रीकृष्ण की तीन स्वाभाविकी शक्तियों का वर्णन करते हैं :—

तथाहि विष्णुपुराणे (१-२२-५४)—

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ॥८॥

एक स्थान पर प्रज्ज्वलित अग्नि की किरणें जैसे सर्व दिशाओं में व्याप्त रहती हैं,परब्रह्म भगवान् की शक्ति भी उसी प्रकार अखिल जगत् में (सर्वत्र) व्याप रही है ॥८॥

कृष्णेर स्वाभाविक तिन-शक्ति-परिणति।
चिच्छक्ति, जीवशक्ति, आर मायाशक्ति ॥१०३॥

श्रीकृष्ण की स्वाभाविक तीन शक्तियों की परिणति चित्-शक्ति, जीव-शक्ति एवं माया-शक्ति के रूप में प्रकाशित होती है ॥१०३॥

चै० च० चु० *टीका* :—चित्-शक्ति, जीव-शक्ति तथा माया-शक्ति—ये तीनों शक्तियाँ श्रीकृष्ण की स्वाभाविकी शक्तियाँ हैं अर्थात् उनका श्रीकृष्ण-स्वरूप के साथ नित्य अविच्छेद्य सम्बन्ध विशिष्ट है—वे उनकी स्वरूपगत-शक्तियाँ हैं। शक्ति के कार्य द्वारा ही शक्ति के अस्तित्व का परिचय मिला करता है। कारणरूपाशक्ति ही कार्यरूप में परिणत हुआ करती है। अतः शक्ति की परिणति से अभिप्राय है—शक्ति का कार्य। चिन्मय भगवत्-धामादि, परिकरादि श्रीकृष्ण की चित्-शक्ति की परिणति या कार्य हैं। असंख्य जीव उनकी जीव-शक्ति की परिणति हैं और प्राकृत-ब्रह्माण्ड उनकी मायाशक्ति की परिणति है। (विशेष आलोचना भूमिका में शक्तितत्त्व पृष्ठ ६० पर द्रष्टव्य है) पयार नं० १०३ के प्रमाण में नीचे का श्लोक कहते हैं :—

तथाहि तत्रैव (६-७-६१)—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा ।
अविद्याकर्मसंज्ञाख्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥६॥

भगवान् विष्णु की तीन शक्तियाँ हैं—एक का नाम परा (स्वरूप) शक्ति है और दूसरी शक्ति का नाम क्षेत्रज्ञा-(जीव-तटस्था) शक्ति है तथा तीसरी शक्ति को अविद्या-कर्म (माया) शक्ति कहा जाता है। ॥६॥ जीव ईश्वर की शक्ति है उसका प्रमाण नीचे उद्धृत करते हैं :—

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (७-५)—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥१०॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीअर्जुन के प्रति कहा है—"हे महाबाहो ! (ऊपर जिसका वर्णन किया है) वह निकृष्ट प्रकृति है, उसके अतिरिक्त जीवशक्ति-रूपा मेरी एक और उत्कृष्ट प्रकृति है, उसे तू जान। वह ही जगत् को धारण कर रही है ॥१०॥

'कृष्ण' भूलि सेइ जीव,अनादि-बहिर्मुख । अतएव माया तारे देय संसार-दुख ॥१०४॥
कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय । दण्ड्यजने राजा येन नदीते चुबाय ॥१०५॥

श्रीकृष्ण का तटस्था-शक्तिरूप वह जीव अपने अंशी श्रीकृष्ण को भूलकर अनादि काल से बहिर्मुख हो गया है। इसलिये उनकी माया उस बहिर्मुख जीव को सांसारिक-दुख (त्रिताप) भोग कराती है। कभी उसे स्वर्ग में उठा देती है और कभी नरक में गिरा देती है। अपराधी व्यक्ति को जैसे राजा के कर्मचारी नदी में डुबाते समय नीचे-ऊपर डुबकियाँ दिया करते हैं, तद्रूप ॥१०४-१०५॥

चै० च० चु० *टीका*:—जीव श्रीकृष्ण का नित्य-दास है, अपने कर्त्तव्य नित्यदासत्व को त्यागकर जब जीव मायिक उपाधि को अङ्गीकार कर माया का दासत्व करने लगता है, तभी त्रितापों से पीड़ित होता है। त्रिताप देह एवं इन्द्रियों के ही ताप हैं और जीव देह एवं इन्द्रियों से अतीत वस्तु है, परन्तु जीव अपने आप को देह एवं इन्द्रिय मान लेता है, उसी अभिनिवेश के कारण ही त्रितापों की ज्वाला का भोग करता है।

पयार नं० १८४ में कहा गया है कि श्रीकृष्ण को भूलने से जीव अनादि बहिर्मुख हुआ है। इससे यह भी समझा जा सकता है कि जीव को पहले किसी समय कृष्णस्मृति थी। बाद में वह श्रीकृष्ण को भूला, किन्तु ऐसा विचार सङ्गत नहीं है, कारण कि **प्रथमतः**—अनादि बहिर्मुखता का कारण कृष्ण-विस्मृति को कहा गया है और जब बहिर्मुखता ही को अनादि कहा गया है, तो जानना चाहिये कृष्ण-विस्मृति भी अनादि हैं। जब विस्मृति ही अनादि है तो उससे पहले कभी स्मृति थी—यह प्रश्न ही नहीं उठता। **द्वितीयतः**—कृष्णस्मृति जब रहती है, तो उसके साथ जीव को अपने स्वरूप की स्मृति,स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्य की स्मृति, सेवावासना की स्मृति सेवा की स्मृति, आदि का रहना भी अनिवार्य है। श्रीकृष्णसेवा का सौभाग्य श्रीकृष्ण-धाम में उनकी लीलाओं में ही प्राप्त होता है। तभी यह जानना चाहिये कि यदि जीव में बहिर्मुखता के पहले कृष्ण-स्मृति थी, तो वह था भी श्रीकृष्ण-धाम में। जब एक बार श्रीकृष्ण-धाम की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर कोई भी वहां से अन्यत्र नहीं जाता–"**यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम**" —स्वयं भगवान् की ऐसी श्रीमुखोक्ति है। अतः कृष्ण-विस्मृति से पहले कभी कभी कृष्ण-स्मृति हो ही नहीं सकती। **तृतीयतः**—जिनको श्रीकृष्ण-स्मृति होती है, और जो श्रीकृष्ण-सेवा प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें फिर कृष्णविस्मृति कौन करा सकता है? वे स्वरूप शक्ति के कृपा-प्राप्त होते हैं। कृष्ण विस्मृति का कारण जो माया है, वह स्वरूपशक्ति के निकट झांक भी नहीं सकती। अतः उन्हें कृष्ण-विस्मृति कभी हो ही नहीं सकती। विशेषतः श्रीकृष्ण सेवा-परायण भक्त जब सालोक्यादि पांच प्रकार की मुक्तियों के सुख को भी ठुकरा देते हैं, तो ऐसी फिर और क्या वस्तु हो सकती है जो उन्हें श्रीकृष्ण की विस्मृति करा सके?

वस्तुतः यहाँ कृष्ण-विस्मृति से श्रीकृष्ण-स्मृति के अभाव का अभिप्राय है और वह अभाव अनादि है। अतः जीव अनादि बहिर्मुख है। यदि कोई कहे कि जीव अपने कृष्ण-नित्यदासत्व को क्यों भूला और माया का दासत्व उसने क्यों स्वीकार किया?—तो इसी के उत्तर में ही कहा गया है कि "जीव अनादि बहिर्मुख है", जो वस्तु अनादि है, उसके सम्बन्ध में 'क्यों' का प्रश्न उठता ही नहीं। यदि उसका कोई कारण हो तो फिर वह वस्तु अनादि नहीं कही जा सकती। जीव की बहिर्मुखता का कोई कारण नहीं है। यदि कहा जाय कि जीव ने अपने अणु-स्वातन्त्र्य का अपव्यवहार किया, तभी से बहिर्मुख हुआ तो प्रश्न उठता है कि उसने स्वातन्त्र्य का क्यों अप-व्यवहार किया? उसका समाधान भी केवल अनादि शब्द से किया जा सकता है, अतः श्रीमहाप्रभु ने कहा कि जीव अनादि काल से बहिर्मुख है।

यह स्मरण रहे कि जीव दो प्रकार के हैं—एक **नित्य-मुक्त** दूसरे **मायाबद्ध**। यहां केवल मायाबद्ध जीव की बात कही जा रही है। कारण कि मायाबद्ध जीव ही त्रिताप में जला करता है, नित्य–मुक्त जीव कभी भी माया के चक्कर में नहीं पड़ते।

एक प्रश्न और हो सकता है कि अनादिकाल से मनुष्य, पशु-पक्षी आदि, तरु-लतादि अनेक प्रकार के जीव मायिक ब्रह्माण्ड में वर्त्तमान हैं, सब के लिये एक बहिर्मुखता ही यदि संसार-भोग का कारण है, तब जीव भिन्न-भिन्न योनियों को क्यों प्राप्त करते हैं?—संसार में आकर विभिन्न-विभिन्न नये, कर्मों के करने पर पुनः उनके फल स्वरूप ही तो विभिन्न योनियाँ प्राप्त हो सकती हैं किन्तु अनादि काल से विभिन्न योनियों में जन्म कैसे सम्भव हो सकता है? इसका उत्तर यह है. शास्त्र कहता है, कृष्णबहिर्मुखता की भांति जीव के कर्म भी अनादि हैं, उन अनादि कर्मों की वैचित्री के कारण अनादिकाल से बहिर्मुख जीव का विभिन्न योनियों में जन्म होता है। सुखवासना की वैचित्रीवश विभिन्न योनियों की जन्म वैचित्री है।

कहा गया है कि बहिर्मुख जीव को माया कभी स्वर्ग कभी नरक में ले जाती है एवं निरन्तर त्रितापों में जलाया करतो है। प्रश्न उठता है कि माया बहिरङ्गा होते हुए भी है तो श्रीकृष्ण की शक्ति ? श्रीकृष्ण तो सुखस्वरूप एवं मङ्गलमय परम सुन्दर हैं। फिर उनकी शक्ति जीव को दुख क्यों देती है ? विशेषतः कोई भी दुख चाहता नहीं, फिर क्यों दुख देती है ?—उसके उत्तर में कहते हैं कि राजा जैसे अपराधी व्यक्ति को दण्ड देता है, उसी प्रकार माया भी बहिर्मुख जीवों को अनेक प्रकार का दण्ड देती है और त्रितापों से पीड़ित करती है। विचार पूर्वक देखा जाए तो राजा दण्डनीय व्यक्ति को जब दण्ड देता है तब उसका उद्देश्य केवल उसे दुख देना नहीं होता। उसकी अपराध करने की प्रवृत्ति को हटाने के लिये ही राजा का मुख्य उद्देश्य हुआ करता है। अतः उद्देश्य के प्रति लक्ष्य रख कर यदि देखा जाये तो अपराधी व्यक्ति के प्रति दण्ड या शास्ति राजा की एक प्रकार की करुणा ही है। उसी प्रकार कृष्ण-बहिर्मुख जीव के प्रति माया की जो ताड़ना या शास्ति है, वह जीव के प्रति करुणा ही है। बहिर्मुख जीव सुखस्वरूप भगवान् को पीठ देकर संसार में दौड़ता है सुख भोगने की आशा लेकर। वह जीव जिससे जान सके कि—इस संसार में सुख नहीं है, केवल दुख ही दुःख है, जिसे सुख समझा जाता है—वह भी दुखमिश्रित है, उसका परिणाम दुख है, इस प्रकार किसी भांति जीव अपनी भूल को अनुभव कर सके और नित्य सुखस्वरूप श्रीकृष्ण की ओर जाने की चेष्टा कर सके। इसी उद्देश्य से ही माया इस जीव को शासित करती है, जो वास्तव में जीव पर करुणा ही करती है। माया की वह शास्ति मङ्गलमय ही है। अतः मङ्गलमय भगवान् की शक्ति द्वारा कभी भी किसी का परिणाम में अमङ्गल नहीं हो सकता। भगवद्-बहिर्मुखता ही जीव के संसार-दुख का हेतु है—इसके समर्थन में नीचे का श्लोक कहते हैं—

तथाहि (भा: ११-२-३७)—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥११॥

परमेश्वर से विमुख जीवों में मायावश स्वरूप की विस्मृति जन्मती है एवं उससे देह में आत्माभिमान उत्पन्न होता है। द्वितीय वस्तु जो देह-इन्द्रियादि हैं, उनमें अभिनिवेश होने से ही भय (त्रिताप) उत्पन्न होता है। अतएव ज्ञानी व्यक्ति को श्रीगुरु में देवता बुद्धि एवं प्रियताबुद्धि स्थापन करते हुये अव्यभिचारिणी-भक्ति पूर्वक परमेश्वर का भजन करना चाहिये ॥११॥

(किन्तु श्रीकृष्ण-स्मृति बहिर्मुख जीव के हृदय में कैसे जागृत हो एवं कैसे इस जीव का हित हो ?—इसका उत्तर अगले पयार में देते हैं)—

साधु–शास्त्र–कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय ।
सेइ जीव निस्तरे, माया ताहारे छाड़य ॥१०६॥

महत्–पुरुष तथा शास्त्र यदि बहिर्मुख जीव पर कृपा करदें, तभी यह श्रीकृष्णोन्मुख होता है, तभी इस का उद्धार हो जाता है और माया इसका पीछा छोड़ देती है ॥१०६॥ (श्रीकृष्णभजन के बिना माया से छुटकारा नहीं पाया जा सकता—इसका प्रमाण नीचे के श्लोक में देते हैं)—

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (७-१४)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१२॥

श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—"मेरी यह अलौकिकी एवं अत्यद्भुता गुणमयी (सत्त्व, रज. एवं तम-गुणों वाली) माया को तरना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जो व्यक्ति मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, केवल वही इस सुदुस्तरा माया से उद्धार पाते हैं ॥१२॥

मायामुग्ध-जीवेर नाहि स्वतः कृष्णज्ञान। जीवेर कृपाय कैल कृष्ण वेद-पुराण ॥१०७॥
शास्त्र-गुरु-आत्मा-रूपे आपना जानान। 'कृष्ण मोर प्रभु त्राता' जीवेर हय ज्ञान ॥१०८॥

मायामुग्ध जीव के हृदय में अपने आप (बिना किसी के उपदेश किये) श्रीकृष्ण सम्बन्धीय ज्ञान उदित नहीं हो सकता। अतः अनादि बहिर्मुख जीव पर कृपा करने के लिये परमकृपालु श्रीकृष्ण ने वेद तथा पुराणों को प्रगट किया। जिनका अध्ययन करके जीव अपने तत्त्व को, जगत्-तत्त्व को जान सके और श्रीकृष्ण का भजन कर माया से छुटकारा पा सके। शास्त्ररूप से, गुरुरूप से तथा परमात्मा—(अन्तर्यामी) रूप से ही श्रीकृष्ण अपना तत्त्व प्रकाश करते हैं। उस तत्त्व के प्रकाशित होने पर जीव को यह ज्ञान उदय होता है कि श्रीकृष्ण मेरे प्रभु एवं उद्धार कर्ता हैं ॥१०७ १०८॥

चै० च० चु० *टीका*:—वेद तथा पुराणादि शास्त्र श्रीकृष्ण से ही प्रगटित हुए हैं—वे अपौरुषेय हैं—श्रुति इस बात का प्रमाण है। "**अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यद् ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः अथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणञ्च**" (मैत्रेयी उपनिषत्, (६—३२)। अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इतिहास (महाभारत) एवं पुराण—ये समस्त उस महत्तम-तत्त्व परब्रह्म के ही निःश्वास हैं।" इस श्रुति-प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि वेदों की भांति पुराण भी अपोरुषेय हैं। कुछ भ्रान्त लोग ऐसे भी दीखते हैं जो वेदों को अपौरुषेय बता कर पुराणों को प्रमाणित नहीं मानते। वास्तव में यह बात नहीं है। जो शास्त्र वेदों के अर्थों का पूरक हो एवं वेदों के अर्थों का प्रकाशक हो—उसे 'पुराण' कहते हैं। श्रीभगवान् से एक ही वेद की उत्पत्ति हुई एवं श्रीव्यासरूप से फिर श्रीभगवान् ने उसे चार भागों में विभक्त किया। उसी प्रकार पुराण भी एक ही है, जिसके शतकोटि श्लोक हैं। श्रीव्यास देव रूप से श्रीभगवान् प्रति चतुर्युगी के द्वापर में उस चतुर्युगी के उपयोगी भावों के चार लाख श्लोकात्मक अठारह पुराणों को भू-लोक में प्रकाशित करते हैं। शतकोटि श्लोकात्मक समग्र पुराण देवलोक में ही विद्यमान रहता है, जैसा कि मत्स्यपुराण (५३—४) में लिखा है—

चतुर्लक्ष प्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।
तथाष्टदशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते।
अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटि प्रविस्तरम् ॥त॥

इस प्रकार शास्त्ररूप भगवान् अपना तत्त्व प्रकाशित करते हैं एवं श्रीगुरुरूप से जीव को उसका उपदेश करते हैं तथा अन्तर्यामी परमात्मा रूप से उस उपदेश को ग्रहण करने की प्रेरणा करते हैं, अर्थात् स्वयं श्रीकृष्ण कृपा करके इन तीनों रूपों से जीव को अपने तत्व का ज्ञान कराते हैं।

वेद-शास्त्रे कहे—सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन। कृष्ण प्राप्य सम्बन्ध, भक्ति प्राप्त्येर साधन ॥
अभिधेय नाम भक्ति, प्रेम प्रयोजन। पुरुषार्थ शिरोमणि प्रेम महाधन ॥११०॥
कृष्णमाधुर्य सेवानन्द प्राप्तिर कारण। कृष्णसेवा करे आर कृष्णरस-आस्वादन ॥१११॥

वेद एवं शास्त्रों से जीव यह जान सकता है कि सम्बन्ध-तत्त्व क्या है, अर्थात् वेद-शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय क्या है। अभिधेय-तत्त्व क्या है, अर्थात् वेद-शास्त्र-विहित जीव का कर्त्तव्य क्या है, तथा

प्रयोजन-तत्त्व क्या है अर्थात् प्राप्यवस्तु (साध्य) क्या है। वेद एवं शास्त्र बतलाते हैं कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही प्राप्त करने योग्य सम्बन्ध-तत्त्व हैं, भक्ति ही उन की प्राप्ति करने का साधन है। अतः भक्ति ही अभिधेय-तत्त्व है। श्रीकृष्ण की प्राप्ति अर्थात् उनकी सेवाप्राप्ति के लिये प्रेम का प्रयोजन है। प्रेम बिना उनकी सेवा नहीं प्राप्त हो सकती। अतः प्रेम को ही प्रयोजन-तत्त्व कहा गया है, प्रेम महाधन है एवं समस्त पुरुषार्थों में शिरोमणि है, प्रेम ही श्रीकृष्ण के माधुर्य आस्वादन का एवं उनकी सेवा के आनन्द-प्राप्ति का एकमात्र कारण है। प्रेम द्वारा ही कृष्णसेवा की प्राप्ति होती है और प्रेम द्वारा ही श्रीकृष्ण-रस अर्थात् उनके चारों प्रकार के माधुर्यरस (लीला-माधुर्य, वेणुमाधुर्य, रूपमाधुर्य एवं प्रेममाधुर्य) अथवा श्रीकृष्णभक्तिरस का आस्वादन हो सकता है ॥१०९--१११॥

इहाते दृष्टान्त–यैछे दरिद्रेर घरे। सर्वज्ञ आसि दुखी देखि पूछये ताहारे— ॥११२॥
तुमि केन दुखी, तोमार आछे पितृधन। तोरे ना कहिल, अन्यत्र छाड़िल जीवन ॥११३॥
सर्वज्ञेर वाक्ये करे धनेर उद्देशे। ऐछे वेद-पुराण जीवे कृष्ण उपदेशे ॥११४॥
सर्वज्ञेर वाक्ये मूल धन अनुवन्ध। सर्वशास्त्रे उपदेशे-श्रीकृष्ण सम्बन्ध ॥११५॥

(वेद-पुराण किस प्रकार मायावद्ध जीव को उपदेश करके त्रितापों से छुड़ाते हैं—उसे यहाँ एक दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं) एक दरिद्री था, वह बहुत दुखी था। एक सर्वज्ञ (ज्योतिषी) ने उसके घर आकर उससे पूछा—"तुम क्यों दुख पा रहे हो ? तुम्हारे पिता का धन तो तुम्हारे घर में दबा हुआ है, क्योंकि वह परदेश में जाकर मरा था, अतः वह तुम को उसे बता न सका।" उस सर्वज्ञ व्यक्ति के बताने पर उस दरिद्री ने धन को निकाला एवं धन को पाकर वे अत्यन्त सुखी हो गया। इस प्रकार वेद-पुराण भी जीव को श्रीकृष्ण-प्राप्ति का उपदेश करते हैं। सर्वज्ञ व्यक्ति के वचनों से जिस प्रकार दरिद्री को मूल-धन जो प्राप्य वस्तु थी—प्राप्त होगई, उसी प्रकार सर्वशास्त्रों के वचनों से श्रीकृष्ण जो सम्बन्ध-तत्त्व अर्थात् प्राप्यवस्तु हैं, जीव को प्राप्त होते हैं ॥११२—११५॥

चै० च० चु० *टीका:*—सर्वज्ञ व्यक्ति के बताने पर जैसे दरिद्री व्यक्ति को धन प्राप्ति के लिये केवल मिट्टी-आदि आवरण को हटाने की ही चेष्टा करनी पड़ी, उसी प्रकार वेद-शास्त्र एवं गुरुदेव अपने अपने उपदेश से मायाबद्ध जीव के चित् में जो मलीनता है, उसे हटाने का उपाय बता देते हैं, साधन करते करते उस मलीनता के हटने पर ह्लादिनी-शक्ति की वृत्ति-विशेष जो प्रेम धन है, जिसे श्रीकृष्ण सदा निक्षिप्त करते रहते हैं, वह नित्य सिद्ध वस्तु—प्रेम उस जीव को प्राप्त हो जाता है।

'बापेर धन आछे'–ज्ञाने धन नाहि पाय। तबे सर्वज्ञ कहे तारे प्राप्त्येर उपाय ॥११६॥
एइ स्थाने आछे धन, यदि दक्षिणे खुदिवे। भीमरुल बरुली उठिवे, धन ना पाइवे ॥११७॥
पश्चिमे खुदिवे, ताहां यक्ष एक हय। से विघ्न करिवे, धन हाते ना पड़य ॥११८॥
उत्तरे खुदिले आछे कृष्ण अजागरे। धन नाहि पावे खुदिते गिलिवे सभारे ॥११९॥
पूर्वदिगे ताते माटी अल्प खुदिते। धनेर जाड़ि पड़िवे तोमार हातेते ॥१२०॥
ऐछे शास्त्र कहे–कर्म ज्ञान योग त्यजि। भक्तेच कृष्ण वश हय भक्त्ये तांरे भजि ॥१२१॥

"पिता का धन दबा हुआ पड़ा है —इतना मात्र जानने पर दरिद्री को धन की प्राप्ति नहीं हो सकती (और ना उसका दुख ही दूर हो सकता है) ज्योतिषी फिर उसे धन का पूरा पूरा अनुसन्धान भी

इस प्रकार देता है—"यदि तुम घर के दक्षिण का कोना खोदोगे तो वहाँ ततैया निकलेंगे, जो तुम्हें काट खाएँगे और धन की प्राप्ति भी नहीं होगी। पश्चिम के कोने में यदि खोदोगे, तो वहाँ एक यक्ष भूत रहता है, वह तुम्हारे पर आविष्ट हो जाएगा, तुम्हें वहाँ धन की प्राप्ति नहीं होगी और यदि तुम उत्तर दिशा के कोने में खोदोगे, तो वहाँ एक काला सांप है, जो सब को निगल जाएगा, वहाँ भी तुम्हारे हाथ धन न पड़ेगा। अतः तुम पूर्वदिशा के कोने की थोड़ी सी मिट्टी हटालो, वहाँ तुम्हें धन का दबा हुआ पात्र मिलेगा" (इस प्रकार धन प्राप्ति का उपाय बताने पर ही उस दरिद्री को धन की सहज एवं निश्चित प्राप्ति होती है।) इसीप्रकार शास्त्र भी प्रेमधन की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय बताता है कि कर्म, ज्ञान, योगादि साधनों को छोड़ कर श्रीकृष्ण का भजन केवल भक्ति-अनुष्ठान द्वारा ही करो, कारण श्रीकृष्ण केवल भक्ति के ही वशीभूत हैं।

चै० च० चु० *टीका*—वास्तव में "प्रेम पूर्वक श्रीकृष्ण की सेवा करने से ही संसारी दुख दूर हो जाता है"—यह बात केवल जान लेने से न तो श्रीकृष्ण-सेवा की प्रेम पूर्वक प्राप्ति ही होती है और न संसार-दुख की निवृत्ति ही होती है। उसके लिये शास्त्राज्ञानुसार साधन करना होगा और उस साधन को गुरु एवं शास्त्रज्ञ व्यक्ति ही बता सकते हैं।

उदाहरण में कहा गया है कि दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं को छोड़कर उस सर्वज्ञ व्यक्ति के उपदेशानुसार पूर्व दिशा में ही खोदने से उस दरिद्री को धन की प्राप्ति हुई। उसी प्रकार शास्त्र भी कहता है कि कर्म, ज्ञान एवं योग का त्याग कर भक्ति का साधन करने पर ही सहज में श्रीकृष्ण सेवा की प्राप्ति हो सकती है। दक्षिण दिशा में खोदने से जैसे ततैया निकल कर काटने का भय है, उसी प्रकार कर्म-मार्ग के साधनों से स्वर्गादि भोगमय धाम ही प्राप्त होते हैं। वहाँ असूया से अर्थात् अपने ऊंचे पद वाले को देख कर जलन होना एवं अपने से नीचे पद वाले को देख कर अभिमान होना—इससे उत्पन्न होने वाली यन्त्रणा मानो ततैया के काटने के समान दुख ही देती रहती है। पश्चिम में खोदने से जैसे यक्ष की पकड़ का डर है, उसी प्रकार ज्ञानमार्ग के साधन करने पर यक्ष के आवेश या भूत के आवेश की भाँति निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति का आवेश बढ़ता है। भूताविष्ट व्यक्ति जैसे अपने स्वरूप को भूल जाता है, निर्विशेष-ब्रह्म को प्राप्त करने वाले जीव भी अपने स्वरूप, को भूल जाते हैं। श्रीकृष्ण नित्यदासत्व कर को भूल कर स्वयं ही ब्रह्म बनने का उन्हें भूत सवार रहता है। अतः वे फिर प्रेम प्राप्ति की चेष्टा भी नहीं सकते और उत्तर दिशा में खोदने से जैसे अजगर के निगल जाने की बात कही है, उसी प्रकार योगमार्ग के साधन करने पर अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होकर जीव को ग्रस लेती हैं, जिससे जीव अपने स्वरूप की स्फूर्त्ति के लिये कोई भी चेष्टा ही नहीं कर सकता। इस प्रकार इन समस्त मार्गों के साधन करने वाले जीव को श्रीकृष्ण-सेवा की प्राप्ति नहीं हो सकती। किन्तु पूर्व दिशा में खोदने से जैसे सहज में धन की प्राप्ति की बात कही गई है, उसी प्रकार शास्त्र-गुरु वचनों पर विश्वास करने पर सहज ही श्रीकृष्ण-सेवा-रूप परमधन की प्राप्ति हो जाती है।

सारांश यह है कि, भक्ति को छोड़ कर और किसी भी साधन से श्रीकृष्ण-सेवा की प्राप्ति नहीं हो सकती—यह बात अगले श्लोकों द्वारा प्रमाणित करते हैं—

तथाहि (भा: ११-१४-२०)

न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपोस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्ज्जिता ॥१३॥

श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है, "हे उद्धव ! मेरे प्रति की हुई दृढ़ भक्ति जैसे मुझे वशीभूत कर लेती है, योग, सांख्य, धर्म, वेदाध्ययन, तपस्या तथा संन्यास उस प्रकार मुझे वशीभूत नहीं कर सकते ॥१३॥ और भी कहा है :—

तथाहि तत्रैव (११-१४-२१)—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धायात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥१४॥

श्रीभगवान् ने आगे कहा है, "उद्धव ! साधु पुरुषों की आत्मा एवं उनका प्रिय मैं केवलमात्र श्रद्धा के सहित अनुष्ठान की हुई भक्ति के द्वारा ही वशीभूत होता हूँ । मुझ में निष्ठा प्राप्त भक्ति श्वानभोजी नीच व्यक्तियों को भी जातिदोष से पवित्र कर देती है ॥१४॥

अतएव भक्ति-कृष्णप्राप्तिर उपाय । 'अभिधेय' बलि तारे सर्वशास्त्रे गाय ॥१२२॥
धन पाइले यैछे सुखभोग फल पाय । सुखभोग हैते दुख आपनि पलाय ॥१२३॥
तैछे भक्तिफल कृष्णे प्रेम उपजाय । प्रेमे कृष्णास्वाद हैले भवनाश पाय ॥१२४॥
'दारिद्र्यनाश भवक्षय' प्रेमेर फल नय । 'भोग प्रेमसुख' मुख्य प्रयोजन हय ॥१२५॥
वेदशास्त्रे कहे—सम्बन्ध,अभिधेय,प्रयोजन । कृष्ण, कृष्णभक्ति, प्रेम,-तिन महाधन ॥१२६॥
वेदादि सकल शास्त्रे कृष्ण मुख्य सम्बन्ध । तार ज्ञाने आनुषङ्गे याय मायाबन्ध ॥१२७॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"हे सनातन ! इसलिये केवल मात्र भक्ति ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति का साधन या उपाय है । सर्वशास्त्रों में भक्ति को ही इसलिये **'अभिधेय-तत्त्व'** कहा गया है । धन को प्राप्त कर दरिद्री व्यक्ति जैसे धन के फल स्वरूप सुख-भोगों को प्राप्त करता है और सुखभोग प्राप्त कर लेने पर जैसे दुख अपने आप दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार भक्ति के कारण या फलस्वरूप श्रीकृष्ण-प्रेम की प्राप्ति होती है, और प्रेम से श्रीकृष्ण सेवा-रस का आस्वादन प्राप्त हो जाने पर संसार के त्रितापाद दुख तो अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं । प्रेम का फल भवबन्धन रूप दरिद्रता का नाश होना नहीं है, बल्कि प्रेमसुख का ही आस्वादन करना, प्रेम का मुख्य प्रयोजन है । अतः वेद-शास्त्रों में श्रीकृष्ण को **'सम्बन्ध-तत्त्व** तथा कृष्ण भक्ति को **'अभिधेय तत्त्व'** और प्रेम को **'प्रयोजन-तत्त्व'** महाधनरूप कहकर वर्णन किया गया है । वेदादि समस्त शास्त्रों के मुख्य सम्बन्ध श्रीकृष्ण को जान लेने पर अथवा उनकी सेवा-प्राप्ति हो जाने पर माया का बन्धन तो आनुषङ्गिक रूप से अपने आप नष्ट हो जाता है ॥१२२-१२७॥ (किसी किसी शास्त्र में श्रीकृष्ण को छोड़ कर अन्यान्य देवी देवताओं को भी साध्य-रूप में प्रतिपादित किया गया है—उसका समाधान निम्नलिखित श्लोक में करते हैं ।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिण विभागे व्यभिचारिलहर्य्याम् (४-१३), हरिभक्तिविलासे (१-६८), लघुभागवतामृते पूर्वखण्डे (२-५३), पाद्मपातालखण्ड वचनम् (९३-२६)—

व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमा-
स्तां तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्तु कल्पावधि ।
सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान् विष्णुः समस्तागम-
व्यापारेषु विवेचनव्यतिकरं नीतेषु निश्चीयते ॥१५॥

(अन्यान्य देवी-देवताओं को सम्बन्ध-तत्व या परतत्व बतलाने वाले) पुराण एवं आगमादि शास्त्र अर्थात् तन्त्रादि-शास्त्र उन समस्त चराचर जगद्वासियों को, (जो पुराणादि का सम्यक् विचार करने में असमर्थ हैं–विशेष रूप से मोहित करने के लिये कल्पकाल तक उन देवी-देवताओं को श्रेष्ठ बता कर जल्पना करते रहें, तो किया करें, किन्तु समस्त आगमादि शास्त्रों का रूढ़ी-आदि वृत्ति द्वारा सम्यक् विचार करने पर जो सिद्धान्त उपनीत होता है, उस सिद्धान्त के अनुसार एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ रूप में सम्बन्ध-तत्व या साध्यतत्व निश्चित होते हैं ।।१५।।

चै० च० चु० *टीका* :—पद्मपुराण—उत्तरखण्ड (६२–३१) श्लोक से पता लगता है कि जिससे इस लोक–सृष्टि की उत्तरोत्तर वृद्धि हो सके। उस उद्देश्य से जीवों को मोहित करने के लिये स्वकल्पित आगमादि शास्त्रों की रचना के लिये स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने श्रीशिव जी आदि को आदेश किया था (पृष्ठ १३५ द्रष्टव्य) अतः आगमादि शास्त्र जो श्रीकृष्ण को छोड़ कर अन्य देवी-देवताओं को परतत्त्व कहकर वर्णन करते हैं, वे केवल साधारण लोगों को जो शास्त्रों का समन्वय-पूर्वक सम्यक् विचार नहीं कर सकते उन्हें मोहित कर सकते हैं। जिस जिस पुराण में जिस जिस देवता की कथा वर्णन की गई है, वह पुराण उस देवता को ही पर-तत्त्व कह कर वर्णन करता है। इसमें कुछ क्षति भी नहीं है। कारण कि जो लोग भुक्ति-मुक्ति की वासनाओं को त्याग करने के इच्छुक नहीं हैं और जो शास्त्रादि का निरपेक्ष विचार न करके अपनी भुक्ति-मुक्ति की वासना के अनुकूल शास्त्र-वचनों को ही ढूँढ़ते फिरते हैं, वे समस्त आगम-पुराणादि केवल मात्र उन लोगों के लिये आदरणीय हैं। यदि इस प्रकार के आगम-पुराण प्रगटित न होते, तो भी वे लोग अपनी भुक्ति मुक्ति की वासनाओं को न छोड़ सकते। इसलिये वे आगम-पुराण उनका इसके अतिरिक्त कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकते हैं और जो लोग शास्त्र का निरपेक्ष विचार करने वाले हैं एवं जो स्वसुख वासना का त्याग करके जीव के स्वरूपानुबन्धि कर्तव्य-साधन की खोज में लगे हुए हैं, वे आगम-पुराण उनकी भी कोई क्षति नहीं कर सकते। कारण कि वे लोग ऐसे आगम-शास्त्रों का कभी आदर ही नहीं करते। इसलिये कहा गया है कि ऐसे आगम-शास्त्रों से कोई क्षति नहीं पहुंचती, यदि वे अन्य देवी-देवताओं को परतत्व कहते हैं, किन्तु समस्त शास्त्रों का निरपेक्ष सिद्धान्त यही है कि एक मात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही परतत्व या सम्बन्ध तत्व हैं।

गौण-मुख्य-वृत्ति कि अन्वय-व्यतिरेके।
वेदेर प्रतिज्ञा केवल—कहये कृष्णके ।।१२८।।

गौण-वृत्ति अर्थात् तात्पर्य वृत्ति से, मुख्य-वृत्ति अर्थात् अविधावृत्ति या साक्षात् रूप से और अन्वय विधि वाक्यों से तथा व्यतिरेक अर्थात् निषेध वाक्यों से जहाँ जैसी वृत्ति व जैसी विधि प्रयुक्त की गई है, वहाँ तदनुसार अर्थ करने से यही सिद्धान्त निश्चित होता है कि वेद केवल श्रीकृष्ण को ही प्रतिपादन करते हैं—श्रीकृष्ण को ही सम्बन्ध-तत्त्व कह कर वर्णन करते हैं। (स्वर्गादि, यज्ञ, एवं ओंकार आदि को भी जहाँ सम्बन्ध-तत्त्व कह कर वर्णन किया है – वहाँ भी केवल श्रीकृष्ण का ही अभिप्राय है)।।१२८।। इस बात का प्रमाण निम्नलिखित श्लोक में वर्णन करते हैं।

तथाहि (भाः ११–२१–४२, ४३)

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ।।१६।।
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् ।।१७।।

श्रीउद्धव जी के प्रति वेदादि के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण कहते हैं—" (वृहती-नामक वेद के छन्द विशेष से) कर्मकाण्ड में विधि-वाक्यों द्वारा जिसका विधान किया गया है ? (देवता-काण्ड में मन्त्रवाक्यों द्वारा) किसको प्रकाशित किया गया है ? एवं (ज्ञान-काण्ड में) किसको अवलम्बन करके विकल्पना (तर्क-वितर्क) की गई हैं ?—इन समस्त विषय में वृहती-छन्द्र का तात्पर्य मेरे बिना और किसी में भी नहीं जानना, वह वृहती-छन्द कर्मकाण्ड में यज्ञरूप में मुझे (श्रीकृष्ण को) ही विधान करता है, (देवता-काण्ड में मन्त्ररूप से) मुझे ही प्रकाशित करता है, तथा (ज्ञानकाण्ड में) तर्क-वितर्क द्वारा मुझे ही निश्चय करता है" ॥१६—१७॥

कृष्णेर स्वरूप अनन्त, वैभव अपार । चिच्छक्ति, मायाशक्ति जीवशक्ति आर ॥१२९॥
वैकुण्ठ, ब्रह्माण्डगण, शक्तिकार्य हय । स्वरूपशक्ति, शक्तिकार्येर–कृष्ण समाश्रय ॥१३०॥

श्रीकृष्ण का स्वरूप अनन्त अर्थात् सीमाशून्य-व्यापक है । श्रीकृष्ण के स्वरूप अर्थात् श्रीराम-नृसिंह भगवत्-अवतारादि अनन्त—असंख्य हैं। उनका असीम ऐश्वर्य है (शक्ति एवं शक्ति का कार्य ही उनका ऐश्वर्य है, जो अपार है) उनकी शक्ति के प्रधान तीन नाम हैं—चित्त-शक्ति (स्वरूप-शक्ति) माया-शक्ति (बहिरङ्गाशक्ति) तथा जीव-शक्ति (तटस्था-शक्ति) । वैकुण्ठादि भगवद्धाम उनकी चित्-शक्ति का कार्य है और प्राकृत ब्रह्माण्ड उनकी मायाशक्ति के कार्य हैं (तथा समस्त जीव उनकी तटस्थाशक्ति के कार्य हैं) । स्वरूपादि शक्तियों के तथा उनके कार्यों के समाश्रय—एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं ॥१२९-१३०॥

चै० च० चु० *टीका:*—चिन्मय भगवद्धामों के, प्राकृत ब्रह्माण्डों के एवं उन दोनों के समस्त अधिवासियों के श्रीकृष्ण ही एक मात्र आश्रय हैं । यशोदा-माता को श्रीकृष्ण ने अपने मुख में समस्त ब्रह्माण्ड का जो दर्शन कराया था, उस लीला में उन्होंने अपना इस प्रकार का आश्रयत्व ही प्रकाशित किया था—श्रीकृष्ण ही आश्रय-तत्त्व हैं—इसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते है —

तथाहि भावार्थदीपिकायाम् (भा: १०—१—१)

दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रय विग्रहम् ।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तम् ॥१८॥

जो आश्रितो के आश्रय-विग्रह हैं, जो सब का मूल आश्रय हैं एवं जो जगत्-समूह की उत्पत्ति का कारण है, तथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के जो आलोच्य विषय हैं—श्रीकृष्ण-नामक उस दशम पदार्थ को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१८॥

कृष्णेर स्वरूप-विचार शुन सनातन । अद्वयज्ञान तत्त्व ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन ॥१३१॥
सर्वादि सर्व-अंशी किशोर-शेखर । चिदानन्ददेह सर्वाश्रय सर्वेश्वर ॥१३२॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"सनातन ! श्रीकृष्ण के स्वरूप के सम्बन्ध में अब तुम सुनो । श्रीवृन्दाबन-बिहारी श्रीब्रजेन्द्रनन्दन, श्रीकृष्ण ही अद्वय-ज्ञान-तत्त्व या अद्वय ज्ञान स्वरूप हैं । वे समस्त के आदि हैं, समस्त के अंशी हैं । वे नित्य किशोर-शिरोमणि हैं। उनका विग्रह चिदानन्द-स्वरूप है। वे समस्त आश्रय हैं, वे समस्त के ईश्वर हैं ॥१३१—१३२॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीकृष्ण ही सम्बन्ध तत्त्व हैं—इसको जानने के लिये श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण के स्वरूप समूह, उनकी शक्ति एवं उनकी शक्ति का कार्य—इन सब की सम्यक् आलोचना का

प्रयोजन है। अतः श्रीमहाप्रभु ने इन दो पयारों में सर्व प्रथम श्रीकृष्ण के स्वरूप का वर्णन किया है। अद्वय-ज्ञान-तत्त्व का अर्थ है—भाव या स्वरूप। श्रीकृष्ण-तत्त्व से श्रीकृष्ण-स्वरूप का ही तात्पर्य है। इस प्रकार अद्वयज्ञान ही श्रीकृष्ण का स्वरूप कहा गया है। 'ज्ञान' शब्द से "**ज्ञानं चिदेकरूपम्**"–तत्त्वसन्दर्भ:५१॥ ज्ञान से एक मात्र चिद्वस्तु ही से अभिप्राय है, अर्थात् जो चेतनस्वरूप है, वही ज्ञान है। श्रुति कहती है।"–"**सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म**।" अतः चिद्वस्तु से सत्, चित्, एवं आनन्द–इन तीनों का तात्पर्य है। सारांश यह है कि जो ज्ञानस्वरूप है, वह चित्-सत् एवं आनन्द-स्वरूप है। ऐसा ज्ञान ही जब अद्वय हो—तभी उसे तत्त्व-वस्तु कहा जाता है। **अद्वय वस्तु** वह है—(१) जो स्वयं सिद्ध हो, जिसका अस्तित्व किसी अन्य के ऊपर निर्भर न हो। (२) जब उस स्वयं-सिद्ध-वस्तु के सदृश और कोई वस्तु न हो। (३) जब उस स्वयं-सिद्ध वस्तु की विजातीय और कोई वस्तु न हो। (४) एवं जब वह अपनी शक्ति से अपनी एकमात्र सहाय हो—तात्पर्य यह है कि "**स्वयं-सिद्ध भेदशून्य**" वस्तु ही **अद्वय वस्तु** कही जाती है।

सजातीय, विजातीय एवं **स्वगत**—ये तीन प्रकार के भेद हैं। परतत्त्ववस्तु में ये तीनों प्रकार के भेद नहीं हैं। परतत्त्व श्रीकृष्ण तथा अन्यान्य श्रीनारायण-नृसिंह-रामादि भगवत्-स्वरूप सजातीय हैं। इनमें परस्पर गुण-प्रकाश से भेद प्रतीत होता है, किन्तु वह भेद स्वयंसिद्ध नहीं है। समस्त भगवत्-स्वरूपों की सत्ता श्रीकृष्ण-परतत्त्व की सत्ता के ऊपर निर्भर है। अतः परब्रह्म श्रीकृष्ण तथा अनन्त भगवत्-स्वरूपों में सजातीय भेद नहीं है।

जीव चिद्-रूप होने से परतत्त्व का चित्कण अंश है। अतः जीव भी परब्रह्म का सजातीय है, किन्तु जीव की सत्ता भी परतत्त्व-श्रीकृष्ण की सत्ता पर निर्भर करती है। जीव स्वयंसिद्ध तत्त्व नहीं है। अतः जीव एवं परब्रह्म का भी **सजातीय-भेद** नहीं है।

काल-प्रकृति आदि अचित् वस्तुएं होने से परतत्त्व-चिद्वस्तु की विजातीय हैं, किन्तु उनका भी परतत्त्व-श्रीकृष्ण के साथ विजातीय-भेद नहीं है, कारण कि काल-प्रकृति आदि भी स्वयं सिद्ध नहीं हैं। इनकी सत्ता परतत्त्व की सत्ता की अपेक्षा रखती है। अतः परतत्त्व में '**विजातीय-भेद**' भी नहीं है।

देह एवं देही का भेद, **स्वगत-भेद** कहलाता है। जीव के देह एवं देही में भेद है। देह जड़-वस्तु है एवं देही चित्-वस्तु है किन्तु परतत्त्व में **स्वगत-भेद** भी नहीं है। कारण कि परतत्त्व श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द स्वरूप ही हैं। जीव में स्वगतभेद होने के कारण जीव की एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का काम नहीं करती। नेत्र सुन नहीं सकते और कान देख नहीं सकते। परन्तु परतत्त्व की हर एक इन्द्रिय सर्व इन्द्रियों का काम कर सकती है। अतः परतत्त्ववस्तु **स्वगत-भेद** से रहित है। (भूमिका पृष्ठ ५१-श्रीकृष्ण-तत्त्व द्रष्टव्य)।

अद्वय-ज्ञान उसे कहा जा सकता है, जो सच्चिदानन्दमय है तथा चिच्छक्ति विशिष्टतत्त्व है, जो तीनों प्रकार के भेदों से रहित है। जो समस्त का आश्रय एवं समस्त का कारण है। ऐसे अद्वय-ज्ञान को तत्त्व कहा गया है। तत्त्व क्यों कहा गया है?—सार वस्तु को **तत्त्व** कहा जाता है ("**सारे वस्तुनि तत्त्व-शब्दोनीयते**") सार वस्तु क्या है?—सारवस्तु है–**सुख**। "**सारञ्च सुखमेव सर्वेषामुपायानां तदर्थत्वात्**" अतः अद्वय ज्ञान तत्त्व का अर्थ है, **अद्वयज्ञान सुख**। प्राकृत ज्ञान एवं सुख अनित्य हैं, किन्तु अद्वयज्ञान-सुख से उस ज्ञान-सुख का तात्पर्य है जो अनित्य नहीं है, नित्य है, जो स्वयंसिद्ध है, जिसका अपर कोई कारण या हेतु नहीं है। अर्थात् स्वयंसिद्ध नित्य ज्ञान-सुख ही परम सार या **तत्त्व-वस्तु** है। अतः अद्वयज्ञान तत्त्व का अर्थ परमचिद्-आनन्द–स्वरूप ही है।

जीव आनन्द के लिये ही सदा लालायित रहता है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-इन चारों पुरुषार्थों का अनुसन्धान जीव केवलमात्र सुख के लिये ही कर रहा है। धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों से जो सुख

प्राप्त होता है, वह अनित्य है। इनसे जीव की सुख वासना की तृप्ति नहीं होती। अतः इन्हें परम पुरुषार्थ भी नहीं माना गया है, मोक्ष में जिस आनन्द की प्राप्ति होती है—वह आनन्द नित्य होने पर भी परम-आनन्द नहीं है। इस मोक्षानन्द से बढ़कर भी एक आनन्द है। जो मुक्त-जीव हैं, वे उस श्रेष्ठ परम-आनन्द के लिये लालायित रहते हैं। अतः मोक्ष को भी परम पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। अद्वयज्ञान रूप आनन्द है— स्वयंसिद्ध आनन्द, परम-आनन्द अर्थात् परम-पुरुषार्थ, वही परम-पुरुषार्थ ही साक्षात् भाव से अथवा परम्परा-भाव से जीव के पुरुषार्थ का द्योतक है। इस अद्वय ज्ञान को परम सुख स्वरूप एवं परम पुरुषार्थ का द्योतक होने से 'तत्त्व' नाम कहा गया है।

वह अद्वयज्ञान तत्त्व क्या वस्तु है?—यह पहले कहा जा चुका है कि अद्वयज्ञान-तत्त्व में अनेक शक्तियां हैं। वे समस्त शक्तियाँ क्रियाशीला हैं **(परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच)** अथवा किसी स्थल पर वे क्रिया-हीना भी हो सकती हैं। जहाँ वे शक्तियाँ क्रिया-हीना हैं वहाँ वे नित्य ही क्रिया-हीना हैं और जहाँ वे क्रिया-शीला हैं वहाँ वे नित्य ही क्रिया-शीला हैं, कारण कि अनादि स्वयंसिद्ध वस्तु के समस्त धर्म नित्य हुआ करते हैं। अब जहाँ अद्वयज्ञान-तत्त्व की शक्ति (चिद् शक्ति) क्रिया-हीना है, वहाँ क्या अवस्था हो सकती है और जहाँ वह क्रिया-शीला है–वहां क्या अवस्था हो सकती है–इस बात की विवेचना करने से पता लगता है कि शक्ति की क्रिया के बिना कोई वस्तु भी विशेषत्व प्राप्त नहीं कर सकती। कुम्हार की शक्ति से ही मिट्टी घड़े आदि के आकार-रूप विशेषत्व को प्राप्त होती है और जब कुम्हार की शक्ति क्रिया-हीन हो जाती है–तब वह स्थूलमिट्टी फिर किसी आकार आदि विशेषत्व को प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार अद्वयज्ञान-तत्व की चित्-शक्ति जहाँ कोई क्रिया नहीं करती, वह सच्चिदानन्दमय तत्त्व किसी भी विशेषत्व को प्राप्त नहीं करता। अतः उसे वहाँ **निर्विशेष एवं निराकार ब्रह्म** कहा जाता है। उसमें शक्ति की कोई क्रिया नहीं है—अतः उसे **अव्यक्त-शक्तिक** भी कहा जाता है। अद्वयज्ञान-तत्त्व या सच्चिदानन्द के इस स्वरूप को **निर्विशेष स्वरूप** या **निर्विशेष ब्रह्म** कहा जाता है। यह निर्विशेष-तत्व परम-तत्त्व नहीं हो सकता, कारण कि इसमें परमतत्त्व की स्वाभाविकी-शक्ति होते हुए भी उस शक्ति का विकाश नहीं है, उसकी क्रिया नहीं है। इस अपूर्णता के कारण उसे पूर्णतत्त्व या परमतत्त्व नहीं माना जा सकता। हाँ, यह स्वरूप पूर्णतत्त्व न होकर भी किन्तु नित्य है।

जहाँ सच्चिदानन्द तत्त्व की स्वाभाविकी शक्ति क्रियाशीला है, वहाँ वह उस शक्ति के प्रभाव से विशेषत्व को प्राप्त होता है अर्थात् आकाशादि को धारण करता है—इस स्वरूप को **सविशेष वा साकार** कहा जाता है। उस सविशेष वा साकार स्वरूप में भी यदि समस्त शक्तियां पूर्णतम रूप से विकसित हों, तभी उसे पूर्णतम तत्त्व या परम तत्त्व कहा जा सकता है। तब ही उस स्वरूप को **अद्वय-ज्ञान-तत्त्व** कहा जा सकता है। जब इसमें सत्-चित् आनन्द तथा चित्शक्ति का पूर्णतम विकाश हो। निर्विशेष-स्वरूप को तो अद्वय-ज्ञान-तत्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें अद्वयज्ञान-तत्त्व की स्वाभाविकी शक्ति का विकाश ही नहीं है। उसमें तत्त्व का आंशिक विकाशमात्र है। अतः निर्विशेष स्वरूप या निर्विशेष-निराकार ब्रह्म को अद्वयज्ञान-तत्त्व का अंश ही कहा जाता है। "**वृहत्ताव् वृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्म परमं विदुः**"(विष्णुपुराण १-१२-५७) जो स्वयं वृहत् है (बड़ा है) एवं जो (अपनी शक्तिक्रिया द्वारा) अपर को बड़ा कर सकता है— उसे **परम-ब्रह्म** कहते हैं। इस प्रमाण से भी यह स्पष्ट पता लगता है कि जिसमें शक्ति के विकाश की पूर्णता नहीं, उस स्वरूप को परब्रह्म—परतत्त्व या अद्वयज्ञान-तत्त्व नहीं कहा जा सकता है।

यहाँ एक शङ्का उठ सकती है कि चित्शक्ति की क्रिया के फलस्वरूप ही जब सविशेष स्वरूप का उद्भव होता है, तब वह सविशेष स्वरूप स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। वह शक्ति के परतन्त्र ही हुआ,

ओर वह अनादि एवं स्वयंसिद्ध भी न रहा, क्योंकि शक्ति की क्रिया के पश्चात् शक्तिके प्रभाव से उसकी उत्पत्ति या उद्भव कहा गया है। इसका समाधान यह है कि चित्-शक्ति अद्वय-तत्त्व को छोड़कर पृथक् कोई तत्त्व नहीं। यह अद्वय-ज्ञान तत्त्व की ही शक्ति है। शक्ति में शक्तिमान् का अनुप्रवेश होने से शक्ति एवं शक्तिमान् अभेद होते हैं। अतः शक्ति की परतन्त्रता में सविशेष स्वरूप स्वातन्त्र्य की हानि नहीं होती और न ही उसके स्वयंसिद्धत्व की हानि होती है। और फिर शक्ति की जिस क्रिया से वह स्वरूप सविशेषत्व को प्राप्त करता है उस क्रिया का भी कोई निर्दिष्ट समय नहीं है—वह अनादिकाल से है। वह स्वयंसिद्ध भाव से ही अनादिकाल से उस सविशेषस्वरूप में अवस्थान करती है। इस आलोचना से यह सिद्ध हुआ कि **सच्चिदानन्द तत्व का पूर्णतम विकाशमय-शक्तिनिचय समन्वित स्वयंसिद्ध अनादि सविशेष स्वरूप ही–अद्वयज्ञान-तत्व हैं।**

वह सविशेष स्वरूप, साकार है– ऐसा भी कहा गया है। अब यह देखना है कि वह आकार कैसा है? उस आकार के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—"**गोपवेशमवभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्**"— गोपालतापनी, पूः विः १२। दूसरे स्थल पर कहा गया है—"**सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्। द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं बनमालिनमीश्वरम्** ।। पू० १०"। वह सविशेष रूप-गोपवेश-धारी है, नवजलधरवर्ण, नित्यकिशोर, कल्पवृक्षाश्रित है एवं सुन्दर कमल जैसे उसके नयन हैं, मेघवर्ण है उसका पीताम्बर धारण किये हुए हैं तथा द्विभुज नराकृति है—तथा वह बनमाला धारण किये हुए हैं—इत्यादि। ऐसा श्रुति कहती है। पद्मपुराण कहता है—"**नराकृतं परंब्रह्म।**" अर्थात् परमब्रह्म नराकृति है। श्रीमद्भागवत कहती है—"**गूढंपरंब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।**" अर्थात् वह परमसारवस्तु, परब्रह्म मनुष्याकृति है—इन शास्त्र-प्रमाणों से यह स्थिर होता है कि परब्रह्म साकार है, उसका गोपवेश है, वह नित्य-नवकिशोर है एवं नवजलधर-श्यामवर्ण है।

परमब्रह्म के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—"**रसो वै सः।** तैत्ति० ।२७।" परब्रह्म रसस्वरूप है। रस-शब्द के दो अर्थ हैं—"**रस्यते आस्वाद्यते इति रसः**—जिसका आस्वादन किया जाए—वह रस है और—"**रसयति आस्वादयति इति रसः**"—जो आस्वादन करता है—वह रस है। ये दोनों अर्थ ही परब्रह्म में प्रयोज्य हैं। इस प्रकार ब्रह्म रस एवं रसिक है। जब समस्त शक्तियों को उसमें परम परिणति होती है, तब उसे **रसिक-शेखर** कहा जाता है।

परब्रह्म के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—"**कृष्णो वै परमदैवतम्**" गोपालतापनी–पू०३।।–"श्रीकृष्ण परमदेवता हैं। कृष्ण-शब्द परमब्रह्मवाचक है। "कृष" धातु सत्वा-वाचक हैं और "ण"— प्रत्यय आनन्द-वाचक हैं। इन दोनों की जहाँ एकता है-वे हैं—"कृष्ण"। श्रुति कहती है श्रीकृष्ण अर्थात् परमब्रह्मपरम-देवता है। दिव्-धातु से देवता शब्द बनता है। दिव् धातु का अर्थ है द्युति तथा क्रीड़ा। जो द्युतिमय है अर्थात् ज्योतिर्मय-विग्रह है जिसका—वह देवता है। अथवा जो क्रीड़ा (लीला) करता है—वह देवता है। जिसकी द्युति सर्वापेक्षा दीप्तिशाली या व्यापक है—वह परमदेवता है। अथवा जिसकी लीला सर्वापेक्षा सकल विषयों में सर्वोत्तम है—वह परमदेवता है। वेदान्त सूत्र—"**लोकवत्तूलीलाकैवल्यम्**' से भी परब्रह्म लीला का परिचय मिलता है। अतः गोपवेशधारी नवकिशोर द्विभुज नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र ही की परम ज्योतिष्मान् हैं एवं सर्वोत्तम क्रीड़ा-परायण ही सिद्ध होते हैं। किन्तु अकेले रहने से क्रीड़ा या लीला नहीं हो सकती—"**स एकाकी न रमते**"—महोपनिषद् ।।१–१।। क्रीड़ा के लिये परिकर एवं लीलास्थलि का प्रयोजन होता है। उनकी जब क्रीड़ा अनादि है तो जानना चाहिये कि उनके परिकर तथा धामादि भी अनादि हैं। सारांश यह है कि अनादिकाल से परब्रह्म साकाररूप से—द्विभुज मुरलीधारी श्रीश्यामसुन्दर स्वरूप से लीलारस का आस्वादन करते हैं और उनके लीला परिकर भी अनादि काल से लीलापयोगी

अनेक अनेक आकार धारण करके परब्रह्म को—श्रीश्यामसुन्दर को लीला रस का आस्वादन कराते हैं—यह समस्त परब्रह्म की चित्-शक्ति की ही क्रिया है।

एक प्रश्न उठता है कि यदि अनादिकाल से नराकृति परब्रह्म एवं उसके परिकरादि विराजमान हैं तो "**एक एवासीदग्रे**" **अहमेवासयेवाग्रे**"—अर्थात् सृष्टि से पहले एक मैं ही था, पहले मैं ही था"—इत्यादि इस प्रकार के श्रुति-पुराण कथित वाक्यों का फिर क्या अभिप्राय है ?—उत्तर यह है कि—"वहाँ अकेला राजा रहता है"—जैसे इतना कहने का अभिप्राय यह होता है कि राजा, उसका परिवार, उसकी सैना भी सब राजा के साथ रहते हैं—उसी प्रकार "परब्रह्म ही एकमात्र पहले था" का अभिप्राय यह जानना चाहिये कि परब्रह्म का परिकर भी सदा उसके साथ अवस्थान करता है। यदि ऐसा न हो तो उसे 'रसिक-शेखर,' 'रसोवै सः' श्रुतियाँ न कहतीं।

वह परब्रह्म कैसी लीला करता है ?—श्रीमद्भागवत कहती है कि उनका देह"**मर्त्यलीलौपयिक**" **नरवत्** क्रीड़ा के उपयोगी है, अतःअनादिकाल से चित्-शक्ति के प्रभाव से अद्वयज्ञान-तत्त्व परब्रह्म ने माता-पिता, दास, सखा तथा कान्तादि रूप में स्वीय काय-व्यूह प्रकटित किया है और उनके साथ अनादिकाल से नरवत् क्रीड़ा करता है–जैसा कि श्रुति कहती है–"**एकोऽपि सन् यो बहुधा विभाति**"—गो० ता, पू ११" **अपने** समस्त नित्यसिद्ध परिकरों में वात्सल्यरस का आस्वादन करने के लिये, वह अपनी चित्शक्ति के प्रभाव से अपने माता-पिता के स्वरूप में भी स्वयं व्यक्त होता है। उसकी उस सन्धिनी-प्रधान (वात्सल्य-मूर्त्ति) शक्ति की अभिव्यक्ति हैं दोनों—श्रीनन्द महाराज तथा ब्रजरानी श्रीयशोदा। वह परब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीब्रजेन्द्र के पुत्ररूप में प्रकट होकर **ब्रजेन्द्रनन्दन** कहलाता है। अतः श्रीमहाप्रभु जी ने कहा कि **अद्वयज्ञान-तत्त्व ब्रजबिहारी श्रीब्रजेन्द्रनन्दन** ही हैं।

यह स्मरण रहे कि परम-तत्त्व-परब्रह्म यदि साकार रूप में है तो वह सीमाबद्ध नहीं है। वह अद्वयज्ञान-तत्त्व नराकृति-साकार रूप में होते हुए भी अपनी अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से सर्वग, अनन्त एवं विभु ही रहता है। विभुत्व उसका स्वरूपानुबन्धि धर्म है, वह सर्वावस्था में ही उसमें विराजमान् रहता है। अपनी अचिन्त्यशक्ति प्रभाव से वह समस्त विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। इन तत्त्वों को श्रीश्यामसुन्दर ने अपनी ब्रजलीलाओं में अनेक स्थानों पर प्रकाशित भी किया है। अतः अद्वयज्ञान-तत्त्व परब्रह्म की लीलाओं का पूर्णतम विकाश श्रीवृन्दाबन-नित्यधाम में ही माना जाता है, जहाँ वह समस्त रसों की परम तम परिणति का आस्वादन करता है।

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी ने श्रीकृष्ण-स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रीसनातन पाद से कहा—"सनातन ! अद्वयज्ञान-तत्त्व श्रीब्रजेन्द्रनन्दन ही ब्रज में विराजमान् हैं, जो सबके आदि हैं, समस्त के अंशी हैं एवं समस्त के ईश्वर हैं।" इस उक्ति के प्रमाण में श्रीमहाप्रभु ने एक श्लोक कहा—जिसे नीचे उद्धृत करते हैं :—

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५—१)—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण–कारणम् ॥१९॥

समस्त ईश्वरों के परम-ईश्वर सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण हैं एवं वे श्रीगोविन्द अनादि हैं, समस्त के आदि तथा समस्त कारणों के कारण हैं ॥१९॥

स्वयं भगवान् कृष्ण—गोविन्दापर नाम ।
सर्वैश्वर्यपूर्ण यांर गोलोक नित्यधाम ॥१३३॥

स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण का ही दूसरा नाम श्रीगोविन्द है। उनका नित्यधाम—गोलोक या श्रीवृन्दाबन है। जो सर्व ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है ॥१३३॥ (आदि लीला पृष्ठ ५२ द्रष्टव्य है) श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् है, नीचे इसका प्रमाण उद्धृत करते हैं :—

तथाहि (भाः १—३—२८)—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णास्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे ॥२०॥

(समस्त अवतारों के नाम पूर्व श्लोकों में गिनाने के पश्चात्)—श्रीसूत जी ने कहा—"ये सब अवतार पुरुष के अंश रूप और विभूति रूप हैं, जो राक्षसों से पीड़ित जगत् को प्रति युग में (राक्षसों का संहार करके) सुख प्रदान करते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं ॥ २० ॥ (आदि लीला पृष्ठ ४२ द्रष्टव्य है ।)

ज्ञान, योग, भक्ति,—तिन साधनेर वशे ।
ब्रह्म, आत्मा, भगवान्—त्रिविध प्रकाशे ॥१३४॥

ज्ञान, योग एवं भक्ति—इन तीन प्रकार के साधनों के अनुसार स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण अपने को ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीन प्रकार के रूपों में प्रकाशित करते हैं ॥१३४॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकृष्ण अपने को अनन्त स्वरूपों में प्रकाशित करते हैं। उन समस्त स्वरूपों को तीन श्रेणियों में शास्त्र ने विभक्त किया है । ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् । इन स्वरूपों में **ब्रह्म-श्रेणी** में केवलमात्र एक स्वरूप है, जो निराकार, निर्विशेष एवं **अव्यक्त-शक्तिक-ब्रह्म** नाम से प्रतिपादित किया गया है। यह स्वरूप श्रीकृष्ण की अङ्गकान्ति-रूप है। (द्वितीय) **परमात्मा या अन्तर्यामी श्रेणी** में तीन स्वरूप आते हैं। (१) समष्टि-ब्रह्माण्ड का अन्तर्यामी **प्रथम-पुरुष** (२) व्यष्टि-ब्रह्माण्ड या ब्रह्मा का अन्तर्यामी **द्वितीय-पुरुष**। (३) व्यष्टि जीव का अन्तर्यामी—**तृतीय-पुरुष**। ये तीनों सविशेष-स्वरूप हैं। ये तीनों स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण के स्वांश हैं। ये साकार हैं, किन्तु इनके परिकर नहीं हैं। (तृतीय) साकार तथा सविशेष स्वरूप समूह जिनके परिकर हैं, लीलाएँ हैं—वे समस्त **भगवान् श्रेणी** में गिने जाते हैं। श्रीकृष्ण के जिस आविर्भाव में पूर्णज्ञान, पूर्णशक्ति आदि षड्-भग रहते हैं—उसे षड़ैश्वर्यपूर्ण **भगवान्** या परव्योमाधिपति **श्रीनारायण** कहते हैं, जो स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण का विलास-स्वरूप हैं।

ज्ञान मार्ग के साधनों से उस ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। योगमार्ग के साधकों के आगे श्रीकृष्ण अपने परमात्मा-अन्तर्यामी स्वरूप को प्रकाशित करते हैं एवं भक्तिमार्ग के साधकों के आगे वे अपना भगवान् स्वरूप प्रकाशित करते हैं। भक्तिमार्ग के साधनों में अनेक वैचित्री है। उस विभिन्नता के अनुसार विभिन्न भगवत्-स्वरूपों में विभिन्न परिकरों सहित साधकों के आगे वे आत्मप्रकाश करते हैं। (आदि-लीला पृष्ठ ३३ द्रष्टव्य)।

परवर्ती पयार सं० १३५ में ब्रह्मस्वरूप का एवं १३६ में परमात्मा-स्वरूप का तथा पयार १३७ से लेकर अगले नौ पयारों में भगवान् स्वरूपों का वर्णन किया जायेगा। परब्रह्म श्रीकृष्ण तीनों स्वरूपों में आत्मप्रकट करते हैं—इसका प्रमाण नीचे उद्धृत करते हैं :—

तथाहि (भा: १—२—११)—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥२१॥

जो अद्वयज्ञान है, उसे ही तत्त्वज्ञ-लोग तत्त्व कहते हैं, वही तत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—इन तीनों नामों से पुकारा जाता है ॥२१॥ (आदि लीला पृष्ठ नं० ३३ द्रष्टव्य है) ।

ब्रह्म—अङ्गकान्ति तार निर्विशेष-प्रकाशे ।
सूर्य्य येन चर्म्मचक्षे ज्योतिर्मय भासे ॥१३५॥

(इस पयार में ब्रह्म का स्वरूप कहते हैं)—ब्रह्म श्रीकृष्ण की अङ्गकान्ति है एवं उनका निर्विशेष प्रकाश है अर्थात् शक्ति की क्रिया के अभाव के कारण उसमें कोई परिदृश्यमान् विशेषत्व—रूप गुण आदि प्रकाशित नहीं होता । जैसे चर्मचक्षुओं से सूर्य ज्योतिर्मय भासता है, ज्ञानमार्ग के साधकों को ब्रह्म उसी प्रकार केवल ज्योतिर्मय ही भासता है । अर्थात् चर्मचक्षुओं से सूर्य का वास्तविक स्वरूप जो कर-चरणादि विशिष्ट है वह दूर से न दीख कर केवल जैसे ज्योतिर्मय ही दीखता है, उसी प्रकार परब्रह्म श्रीकृष्ण का कर-चरणादि विशिष्ट स्वरूप ज्ञानमार्ग के साधकों को न दीख कर उन्हें वह केवल ज्योतिर्मय ही भासता है ॥१३५॥ जैसा कि ब्रह्मसंहिता में कहा गया है :—

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५-४०) —

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटिकोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम् ।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥२२॥

श्रीब्रह्मा जी ने कहा है—"अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में अनन्त पृथ्वी-आदिक विभूतियों द्वारा जो भेद को प्राप्त हो रहा है । वह पूर्ण, निर्विच्छन्न अशेषभूत (मूल-कारण) प्रभावशाली ब्रह्म जिसकी प्रभा या अङ्गकान्ति है, उस आदिपुरुष श्रीगोविन्द—श्रीकृष्ण का मैं भजन करता हूँ॥२२॥(आदिलीला पृ० ३४ द्र०)

परमात्मा येंहो, तेंहो कृष्णेर एक अंश ।
आत्मार आत्मा हय कृष्ण सर्व—अवतंस ॥१३६॥

(अब परमात्मा का स्वरूप कथन करते हैं)—जो परमात्मा है, वह श्रीकृष्ण का एक अंश है । परमात्मा समूह की आत्मा का आत्मा या अन्तर्यामी अर्थात् मूल सर्व शिरोमणि श्रीकृष्ण ही हैं ॥१३६॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीकृष्ण की विलास-मूर्त्ति हैं—श्रीबलदेव । उनका अंश हैं—कारण समुद्र-शायी श्रीविष्णु । उसका अंश गर्भोदशायी तथा फिर उनका अंश क्षीरसमुद्रशायी हैं । इस प्रकार इन तीनों परमात्मा स्वरूपों का मूल श्रीकृष्ण ही हैं एवं ये तीनों श्रीकृष्ण का एक अंश ही हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत जी में कहा गया है :—

तथाहि (भा: १०-१४-५५)

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥२३॥

श्रीशुकदेव जी ने महाराज परीक्षित जी से कहा है—"तुम इस श्रीकृष्ण को समस्त आत्माओं

का आत्मा जानो। वे परमात्मा श्रीकृष्ण ही जगत् के मंगल निमित्त योगमाया की सहायता से इस जगत् में देहधारी–मनुष्य की भांति प्रकाशित हो रहे हैं ॥२३॥ (परमात्मा–श्रीकृष्ण का एक अंश है—इसके प्रमाण में श्रीगीता जी का भी एक श्लोक कहते हैं) —

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (१०—४१)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥२४॥

श्रीभगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है—"अथवा हे अर्जुन। पृथक् पृथक् भाव से इस समस्त विस्तृत विषय को जानने का तुम्हें क्या प्रयोजन ? मैं ही एक अंश द्वारा (परमात्मारूप से) समस्त जगत् को धारण कर रहा हूँ ॥२४॥ (अगले पयारों में श्रीभगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध में वर्णन करते हैं)—

भक्त्ये भगवानेर अनुभवे पूर्णरूप। एकइ विग्रह तांर अनन्त स्वरूप ॥१३७॥
स्वयंरूप, तदेकात्मरूप, आवेश नाम। प्रथमेइ तिन रूपे रहे भगवान् ॥१३८॥
स्वयंरूपे स्वयं प्रकाश–दुइ रूपे स्फूर्त्ति। स्वयं रूप एक–कृष्ण ब्रजे गोपमूर्त्ति ॥१३९॥

भक्ति से अर्थात् शुद्धा-भक्ति मार्ग के साधनों द्वारा पूर्णतम स्वरूप श्रीकृष्णभगवान् की अनुभूति हो सकती है। उसी श्रीकृष्ण के एक विग्रह से अनन्त स्वरूप (भगवत्स्वरूप) प्रकाशित होते हैं। वे अद्वय-ज्ञानतत्व-स्वरूप श्रीकृष्ण, स्वयंरूप से, तदेकात्मरूप से एवं आवेशरूप से—इन तीनों रूपों से विलास करते हैं। स्वयंरूप से फिर वे 'स्वयं' तथा 'प्रकाश'—इन दो रूपों से स्फुरित होते हैं। 'स्वयंरूप' तो उनका एक मात्र ब्रज में श्रीकृष्ण-गोपवेश से विराजमान है ॥१३७–१३९॥

चै० च० चु० *टीका:*—यहाँ श्रीकृष्ण के तीन स्वरूपों का वर्णन किया गया है—उनके स्वयंसिद्ध-रूप को—'**स्वयंरूप**' कहा जाता है। दूसरा रूप उनका '**तदेकात्मरूप**' है। वह रूप स्वयंरूप से स्वरूपतः अभिन्न होते हुए भी, उसमें आकारादि, भावावेशादि, का पार्थक्य रहता है। तीसरा उनका '**आवेशरूप**' है, अर्थात् वे समस्त महत्तम जीव जो भगवान् के स्वीय ज्ञान एवं शक्ति आदि अंश के द्वारा आविष्ट होते हैं, वे समस्त आवेशावतार—श्रीकृष्ण का आवेश रूप है। भगवान् इन तीनों रूपों से विलास करते हैं। अगले पयारों में उनके 'प्रकाशरूप का वर्णन करते हैं—

प्राभव–वैभवरूपे द्विविध प्रकाशे। एक वपु बहुरूप यैछे हैल रासे ॥१४०॥
महिषी विवाहे, हैल मूर्त्ति बहुविध। 'प्राभव प्रकाश–एइ शास्त्रे परसिद्ध ॥१४१॥
सौभर्य्यादि–प्राप्य सेइ कायव्यूह नय। कायव्यूह हैले नारदेर विस्मय ना हय ॥१४२॥

श्रीभगवान् का "प्रकाश-रूप" दो प्रकार का होता है—"प्राभव-प्रकाश" तथा वैभव-प्रकाश।" एक ही विग्रह जैसे रासलीला में अनेक रूपों में प्रकाशित हुआ एवं महिषीगणों के विवाह के समय जैसे अनेक श्रीकृष्णमूर्ति प्रकाशित हुई—इन स्वरूपों को शास्त्र में "प्राभव–प्रकाश" कहा गया है, यह ध्यान रहे कि सौभरी ऋषि आदि योगी व्यक्तियों की भांति वे अनेक मूर्त्तियाँ श्रीकृष्ण की काय-व्यूह नहीं थीं। यदि वे कायव्यूहरूप होतीं तो उन्हें देखकर श्रीनारद जी को विस्मय न होता ॥१४०—१४२॥

चै० च० चु० *टीका*–एक ही देह यदि सर्वतो भाव से समान अनेक देहों में आविर्भूत हो, तो उन अनेक देहों में प्रत्येक देह को मूल देह का '**प्राभव-प्रकाश**' कहा जाता है। प्राभव-प्रकाश में प्रकाशरूप

के साथ मूल देह का किसी अंश में भी पार्थक्य नहीं होता। रासलीला में एक एक गोपी के मध्य एक एक श्रीकृष्ण नृत्य कर रहे थे, उन समस्त श्रीकृष्णमूर्त्तियों में परस्पर कुछ भी पार्थक्य नहीं था और इसी प्रकार द्वारका में सोलह हजार रानियों के साथ सोलह हजार देह प्रकट करके श्रीकृष्णने एक समय विवाह किया था—उन समस्त सोलह हजार श्रीकृष्णमूर्त्तियों में परस्पर कोई भी भेद न था। इस प्रकार के प्रकाश को "प्राभव-प्रकाश" कहते हैं।

सौभरी ऋषि ने भी मान्धाता राजा की पचास कन्याओं से जब विवाह किया था। तब उन्होंने भी योग के प्रभाव से अपने पचास देह धारण कर लिये थे। किन्तु वे पचास देह सौभरी के 'कायव्यूह' कहे जाते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण के रासलीला एवं महिषी-विवाह के समय जो अनेक देह प्रगट हुए—वे कायव्यूह नहीं थे। श्रीकृष्ण के उन देहों को देखकर श्रीनारद जी विस्मित हो उठे थे। यदि वे देह श्रीकृष्ण के कायव्यूह होते, तो श्रीनारद जी के लिये विस्मय होने की कोई बात नहीं थी, कारण कि श्रीनारद जी भी कायव्यूह धारण कर सकते हैं। इसलिये उनके लिये श्रीकृष्ण के कायव्यूह देखकर चमत्कृत होना नहीं बनता। 'प्रकाश' एवं 'कायव्यूह' में पार्थक्य यह है कि कायव्यूह योगबल से बनाये जाते हैं। प्रकाश में ऐसा नहीं होता—इसमें एक ही देह भिन्न भिन्न स्थानों पर प्रकाशित होता है। श्रीकृष्ण का देह विभु है, अतः उनके लिये ऐसा होना सम्भव है। प्रकाश में रूप की एवं कालव्यूह में क्रिया की समानता हुआ करती है। (आदि-लीला पृष्ठ २४ द्रष्टव्य है) इसके प्रमाण में श्रीभागवत् जी का श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भाः १०—६९—२)—

चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥२५॥

श्रीनारद जी ने कहा है—"भगवान् श्रीकृष्ण ने अकेले एक ही शरीर से एक ही समय पृथक्-पृथक् घरों में आविर्भूत होकर पृथक् पृथक् भाव से सोलह हजार रमणियों का पाणिग्रहण किया—यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥२५॥ (श्रीनारद जी के आश्चर्यान्वित होने का कारण श्रीभगवान् का 'प्राभव-प्रकाश' रूप में प्रगट होना ही है। आगे 'वैभव-प्रकाश" के लक्षण कहते हैं)—

सेइ वपु सेइ आकृति पृथक् यदि भासे। भावावेशभेदे नाम 'वैभव-प्रकाशे' ॥१४३॥
अनन्त प्रकाशे कृष्णेर नाहि मूर्त्तिभेद। आकार-वर्ण-अस्त्रभेदे नाम विभेद ॥१४४॥

स्वयं-रूप के देह से जहाँ आकृति (वर्ण व रूप) पृथक् प्रतीत होती है, एवं जहाँ भाव तथा आवेश का भेद है—उसे 'वैभव-प्रकाश' कहते हैं। 'प्राभव' एवं 'वैभव' प्रकाशों में अनन्तरूपों में श्रीकृष्ण स्वरूप के प्रकाशित होने पर भी—उन अनन्त रूपों के मूल-तत्त्व मूर्त्तिमान् श्रीकृष्ण में कोई भी भेद एवं पार्थक्य नहीं है। (अनन्त मूर्त्ति होने पर भी वे एक मूर्त्ति हैं) आकृति, वर्ण तथा अस्त्रादि की विभिन्नता के कारण प्रकाशों के भिन्न नाम हैं ॥१४२—१४४॥ जैसा कि श्रीमद्भागवत जी के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है—

तथाहि (भाः १०—४०—७)

अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्त्येकमूर्त्तिकम् ॥२६॥

श्रीअक्रूर जी भगवान् श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके कहते हैं—(साँख्य-योग, वेदमार्ग के अवलम्बन करने वालों के अतिरिक्त वैष्णवमार्गावलम्बी) दूसरे दूसरे व्यक्तिगण (दीक्षादि ग्रहण पूर्वक) विशुद्धचित्त होकर एकान्तिकभाव से आपका चिन्तवन करते हुए आप के द्वारा उपदिष्ट (नारद पञ्चरात्रादिक की) विधि अनुसार अनेक स्वरूपों में अभिव्यक्त होते हुए भी स्वरूपतः एक ही मूर्त्ति-विशिष्ट आपकी उपासना किया करते हैं ।।२६।।

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीकृष्ण एवं श्रीबलराम जी को मथुरा ले जाते समय रास्ते में उन्हें रथ में बैठा छोड़कर श्रीअक्रूर जी जब मध्याह्नकाल का स्नान करने के लिये यमुना जी में उतरे और डुबकी लगाई तो जल में उन्होंने श्रीकृष्ण-बलराम को देखा । विस्मित होकर जब बाहर किनारे पर देखा तो श्रीकृष्ण-बलराम को उन्होंने रथ में भी विराजमान पाया । फिर डुबकी लगाई तो उन्होंने वहाँ श्रीकृष्ण बलराम को न देखकर, शेषनाग शय्या पर सिद्ध-चारणादिक द्वारा स्तूयमान् चतुर्भुजस्वरूप श्रीविष्णु को देखा । उस चतुर्भुजरूप को भी श्रीकृष्ण का एक रूप मानते हुए हाथ जोड़कर श्रीअक्रूर जी उनकी स्तुति करने लगे—"साँख्ययोगीगण भी आप की आराधना किया करते हैं, वेदों के कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्ड को जानने वाले ब्राह्मणगण भी आप की ही उपासना करते हैं । इनके अतिरिक्त और भी शैव तथा वैष्णवादिक हैं । आपकी बतायी हुई विधि अनुसार आपकी चिन्ता एवं उपासना किया करते हैं । तात्पर्य यह है कि विभिन्न मार्गों के उपासकगण विभिन्न भगवत्-स्वरूपों की उपासना करते हुए भी सब आपकी ही उपासना करते हैं । कारण कि विभिन्न भगवत्-स्वरूप आपके ही विभिन्नरूप हैं एवं वे समस्त आप से स्वतन्त्र भी नहीं हैं । तथा समस्त विभिन्न मूर्त्तियों में आपकी एक मूर्त्ति ही आत्म–प्रगटित हो रही है । अतः वे सब आप की ही उपासना करते हैं ।" अगले पयारों में वैभव-प्रकाश का दृष्टान्त देते हैं—

वैभव-प्रकाश कृष्णेर—श्रीबलराम । वर्णमात्र-भेद—सब कृष्णेर समान ।।१४५।।
वैभव-प्रकाश यैछे देवकी-अनुज । द्विभुज-स्वरूप, कभु हय चतुर्भुज ।।१४६।।
ये काले द्विभुज—नाम 'प्राभव-प्रकाश' । चतुर्भुज हैले नाम—'वैभव–विलास' ।।१४७।।

श्रीबलरामजी, श्रीकृष्ण का 'वैभव-प्रकाश' हैं । इनमें केवल वर्ण (रंग) का भेद है और सब रूप श्रीकृष्ण के समान ही है । श्रीदेवकीनन्दन भी श्रीयशोदानन्दन-कृष्ण का 'वैभव-प्रकाश' हैं । श्रीकृष्ण मथुरा-द्वारका में कभी द्विभुजरूप से और कभी चतुर्भुज रूप से बिहार करते हैं । जिस समय वे द्विभुजरूप से अभिव्यक्त होते हैं, तब उनका वह रूप (स्वयंरूप का)'प्राभव-प्रकाश' कहलाता है और जब वे चतुर्भुज रूप से लीला करते हैं, तब उनके उस रूप को (स्वयंरूप का) 'वैभव-प्रकाश' कहा जाता है ।।१४५–१४७।।

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीबलराम जी को श्रीकृष्ण का 'वैभव-प्रकाश' कहा गया है । कारण कि इन दोनों का देह अर्थात् अवयव-सन्निवेश एक जैसा है । दोनों द्विभुज हैं । केवल इनमें वर्ण एवं आवेश का भेद है । श्रीबलराम जी का वर्ण श्वेत है और उनका रोहिणीनन्दन-स्वभाव है । किन्तु श्रीकृष्ण का वर्ण श्याम है और उनका यशोदानन्दन-स्वभाव है । जब यशोदानन्दन-श्रीकृष्ण, श्रीदेवकीनन्दन-नाम से मथुरा एवं द्वारका लीला करते हैं, तो मथुरा-द्वारका वासीगण उन्हें देवकी पुत्र मानने लगते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण वहां भी अपने यशोदापुत्रत्व-स्वभाव का त्याग नहीं करते । वहां जब वे द्विभुजरूप से लीला करते हैं, वह रूप उनका श्रीकृष्ण-यशोदानन्दन का 'प्राभव-प्रकाश' कहा जाता है और जब वे चतुर्भुज रूप धारण करते हैं तो उनका वह रूप **'वैभव विलास'** (वैभव-प्रकाश) कहलाता है ।

स्वयंरूपे गोपवेश गोप–अभिमान । वासुदेवेर क्षत्रियवेश–'आमि क्षत्रिय' ज्ञान ॥१४८॥
सौन्दर्य्य-ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य-वैदग्ध्य-विलास । व्रजेन्द्रनन्दन इहां अधिक उल्लास ॥१४९॥
गोविन्देर माधुरी देखि वासुदेवेर क्षोभ । से माधुरी आस्वादिते उपजाय लोभ ॥१५०॥

स्वयंरूप (श्रीव्रजेन्द्रनन्दन) का गोपवेश है और वे अपने को गोप मानते हैं, किन्तु श्रीवासुदेव का क्षत्रिय वेश है और वे अपने को क्षत्रिय मानते हैं। सौन्दर्य, ऐश्वर्य, माधुर्य वैदग्ध्य (चौंसठ-कलाओं में निपुणता) तथा विलास (लीला) इन समस्त का श्रीव्रजेन्द्रनन्दन में (श्रीवासुदेव की अपेक्षा अथवा समस्त स्वरूपों की अपेक्षा) अधिक प्रकाश या स्फूर्त्ति है। श्रीकृष्ण के माधुर्य को देखकर श्रीवासुदेव का चित्त भी क्षुभित हो उठता है एवं उसको आस्वादन करने के लिये वे भी लालायित हो उठते हैं ॥१४८—१५०॥ (इस बात के प्रमाण में श्रीललित-माधव का एक श्लोक कहते हैं)—

तथाहि ललितमाधवे (४–१९)—

उद्गीर्णाद्भुतमाधुरी—परिमलस्याभीरलीलस्य मे—
द्वैतं हन्त समीक्षयन् मुहुरसौ चित्रीयते चारणः ।
चेतः केलिकुतूहल्येत्तरलितं सत्यं सखे मामकं
यस्य प्रेक्ष्य स्वरूपतां व्रजवधूसारूप्यमन्विच्छति ॥२७॥

श्रीवासुदेव ने श्रीउद्धव के प्रति कहा है—"हे सखे ! अहो ! (नन्दनन्दन वेशधारी) यह नट अद्भुत माधुर्य-परिमल (सुगंध) विच्छुरित कर रहा है एवं यह गोपवेशधारी मेरे (श्रीकृष्ण के) दूसरे रूप (कृत्रिम रूप) का प्रदर्शन करके पुनः पुनः मुझे चमत्कृत कर रहा है। इस नट की अपने जैसी मूर्त्ति देखकर (गोप-लीलाकारी) श्रीकृष्ण के साथ केलि-कौतुक (क्रीड़ा) करने के लिये मेरा चित्त अतिशय चञ्चल हो रहा है और मेरा मन व्रजवधु श्रीराधा के सारूप्य को (आकृति एवं रूप को) धारण करने की इच्छा करता है—यह मैं तुम से सत्य कह रहा हूँ" ॥२७॥

चै० च० चु० *टीका* :—भगवान् श्रीकृष्ण जब मथुरा में थे, तब एकबार गन्धर्वों ने आकर श्रीकृष्ण की व्रजलीला का अभिनय किया। उस अभिनय में जिस गन्धर्व ने श्रीकृष्ण का रूप सजाया, योगमाया के प्रभाव से उसके देह में श्रीकृष्ण के माधुर्यादि प्रकटित हो आये। उसे देख कर वासुदेव-श्रीकृष्ण चमत्कृत हो उठे और आनन्दपूर्वक उक्त श्लोक को अपने सखा श्रीउद्धव जी के प्रति कहने लगे। तात्पर्य यह है कि श्रीवासुदेव-कृष्ण का मन भी श्रीयशुदानन्दन-कृष्ण के माधुर्यादि को देखकर चमत्कृत हो उठता है और उनके साथ केलि-विलास करने के लिये अर्थात् उस माधुर्य का आस्वादन करने के लिये उनका मन इतना चञ्चल हो उठता है कि वे श्रीराधा जी के स्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा करने लगते हैं। किस किस समय श्रीकृष्ण के माधुर्य को देखकर श्रीवासुदेव का चित्त क्षुभित हुआ—उसे अगले पयार में कहते हैं—

मथुराय यैछे गन्धर्व-नृत्य-दरशने ।
पुन द्वारकाते यैछे चित्र-विलोकने ॥१५१॥

एक तो मथुरा में गन्धर्वों के अभिनय को देखकर श्रीवासुदेव का मन श्रीयशुदानन्दन के माधुर्यास्वादन के लिये लोभित हो उठा (जैसे श्लोक-टीका में ऊपर वर्णन कर ही चुके हैं) और दूसरे उसी प्रकार द्वारका में अपने प्रतिबिम्ब को मणिमय भित्ति में देखकर उनका मन अपने माधुर्य को श्रीराधिका जी की भांति आस्वादन करने के लिये लुब्ध हो उठा था ॥१५१॥

तथाहि (ललितमाधवे ८—३२)—

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्य पूरः ।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः सरभसमुपभोक्तु ं कामये राधिकेव ।।२८।।

(द्वारका में एक बार मणिमय भित्ति में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अर्थात् अपने सौन्दर्य-माधुर्य को देख कर श्रीवासुदेव कृष्ण विस्मय-पूर्वक कहने लगे)—"अहो ! कैसा अपूर्व चमत्कार जनक एवं अनिवर्चनीय मेरा यह श्रेष्ठ माधुर्य-सौन्दर्य है कि जिसे देखकर मेरा अपना चित्त भी लुब्ध हो रहा है और श्रीराधा जी की भांति उत्कण्ठा एवं उत्साह पूर्वक उसे मैं उपभोग करने की अभिलाषा करता हूँ ।।२८।। (अगले पयारों में तदेकात्मरूप के लक्षण वर्णन करते हैं—

सेइ वपु भिन्नाभासे किछु भिन्नाकार । भावावेशाकृतिभेदे 'तदेकात्मरूप' नाम तार।।१५२।।
तदेकात्मरूपेर 'विलास' 'स्वांश' दुइ भेद । विलास-स्वांशेर भेद-विविध विभेद ।।१५३।।
प्राभव वैभवभेदे 'विलास' द्विधाकार । विलासेर विलस-भेदे अनन्त प्रकार ।।१५४।।
प्राभव-विलास—वासुदेव, सङ्कर्षण । प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—मुख्य चारिजन ।।१५५।।

स्वयंरूप देह से जो भिन्न रूप प्रतीत होता है, किन्तु वास्तविक भिन्न नहीं होता, जिसका आकार या अङ्ग सन्निवेश भिन्न हो, जिसके स्वभाव, आवेश तथा आकृति में (स्वयंरूप से) पार्थक्य रहता है, उस रूप का नाम 'तदेकात्मरूप' होता है। 'तदेकात्मरूप' के दो प्रकार हैं—'विलास' तथा 'स्वांश'। फिर 'तदेकात्मविलास'-रूप के तथा 'तदेकात्म-स्वांश'-रूप के विविध प्रकार हैं। विलास के भी दो भेद हैं—'प्राभव' तथा 'वैभव'। प्राभव-विलास तथा वैभव विलास के फिर और अनेक विलास या भेद हैं। वासुदेव (आदिव्यूह, वसुदेव-नन्दनभिमानी) सङ्कर्षण (द्वारका-चतुर्व्यूह का दूसरा व्यूह, द्वारिका का भावाविष्ट बलराम) श्रीप्रद्युम्न (श्रीकृष्ण-पुत्र) तथा श्रीअनिरुद्ध (श्रीप्रद्युम्न-पुत्र) ये चारों रूप स्वयंरूप का 'प्राभव-विलास' हैं ।।१५२—१५५।।

चै० च० चु० *टीका* :—स्वयंरूप श्रीकृष्ण किसी विशेष लीला के लिये यदि अन्य आकार में प्रतिभात हों एवं उस अन्य आकार की शक्ति यदि प्राय स्वयं रूप के तुल्य ही अर्थात् स्वयंरूप से किञ्चित् कम हो, तब उस अन्य आकार को **'विलास'** कहते हैं। परव्योमाधिपति—श्रीकृष्ण का विलासरूप हैं। जो रूप विलास की भाँति स्वयंरूप के साथ स्वरूपतः अभिन्न होते हुए भी विलास की अपेक्षा अल्प परिमित शक्ति का प्रकाश करते हैं—उन्हें **'स्वांश'** कहते हैं। सङ्कर्षणादि पुरुषावतार एवं मत्स्यादि लीलावतारगण श्रीकृष्ण के 'स्वांश' हैं।

ब्रजे गोपभाव रामेर-पुरे क्षत्रिय-भाव । वर्ण-वेश-भेद ताते 'विलास' तार नाम ।।१५६।।
वैभव-प्रकाशे आर प्राभव-विलासे । एक मूर्त्ये बलदेव भावभेदे भासे ।।१५७।।
आदि चतुर्व्यूह-इंहा केहो नाहि सम । अनन्त चतुर्व्यूहगणेर प्राकट्य-कारण ।।१५८।।
कृष्णेर एइ चारि प्राभव-विलास । द्वारका-मथुरापुरे नित्य इंहार वास ।।१५९।।

(अब ब्रज के श्रीबलराम तथा द्वारका के श्रीबलराम का पार्थक्य दिखाते हैं—दोनों धामों में श्रीबलदेव जी का एक ही देह विराजान है) किन्तु ब्रज में श्रीबलराम का गोपभाव है तथा मथुरा-द्वारका में उनका क्षत्रिय भाव है। वर्ण एवं वेश का (श्रीकृष्ण के साथ) पार्थक्य होने से, इन्हें 'विलास' कहा जाता

है। वैभव-प्रकाश में तथा प्राभव-विलास में एक मूर्त्ति श्रीबलदेव जी भावों के भेद से दो रूपों में भासते हैं। अर्थात् ब्रज में श्रीबलराम जब ब्रज के भाव एवं ब्रज के वेश में रहते हैं तो वे 'वैभव-प्रकाश'-रूप हैं और जब द्वारका के भाव तथा द्वारका के वेश में रहते हैं, तो वे 'प्राभव-विलास'-रूप कहे जाते हैं। इस प्रकार एक ही मूर्त्ति दो रूपों में प्रतिभात होती है। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—यह जो द्वारका का चतुर्व्यूह है, यह अनन्त ब्रह्माण्डों के चतुर्व्यूहों के प्राकट्य का मूल कारण है, अतः इसे 'आदिचतुर्व्यूह' कहा जाता है—ये चारों श्रीकृष्ण का 'प्राभव-विलास' हैं, मथुरा तथा द्वारका में इनका नित्य निवास है।

एइ चारि हैते चब्बिश मूर्त्ति परकाश। अस्त्रभेदे नामभेद वैभव-विलास ॥१६०॥
पुन कृष्ण चतुर्व्यूह लैया पूर्वरूपे। परव्योममध्ये वैसे नारायणरूपे ॥१६१॥
ताहा हैते पुन चतुर्व्यूह परकाशे। आवरणरूपे चारिदिके यार वासे ॥१६२॥
चारिजने पुन पृथक् तिन तिन मूर्त्ति। केशवादि याहा विलासेर पूर्त्ति ॥१६३॥

वासुदेवादि चतुर्व्यूह से चौबीस मूर्त्तियाँ प्रकाशित होती हैं, अस्त्रधारण के भेदानुसार उनके नाम में भेद है—वे समस्त चतुर्भुज हैं और श्रीकृष्ण का 'वैभव-विलास' हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण द्वारका में प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार परव्योम में वे श्रीनारायण रूप से विराजमान हैं एवं फिर वहाँ चतुर्व्यूह (द्वितीय चतुर्व्यूह) रूप का प्रकाश करते हैं तथा श्रीनारायण के चारों ओर आवरण-देवता के रूप में निवास करते हैं (पूर्वदिशा में वासुदेव, दक्षिण में सङ्कर्षण, पश्चिम में प्रद्युम्न, तथा उत्तर में अनिरुद्ध रहते हैं) उन चारों में से एक एक में से पृथक् पृथक् तीन तीन मूर्त्तियाँ केशवादि रूप से प्रकाशित होती हैं, जिनसे विलास की पूर्त्ति होती है।।१६०-१६३।।(अगले पयारों में उन २४ मूर्त्तियों का विवरण देते हैं)—

चक्रादिधारण-भेदे नामभेद सब। वासुदेव मूर्त्ति—केशव, नारायण, माधव ॥१६४॥
सङ्कर्षण मूर्त्ति—गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन। ए अन्य गोविन्द, नहे ब्रजेन्द्रनन्दन ॥१६५॥
प्रद्युम्नमूर्त्ति-त्रिविक्रम, वामन,श्रीधर। अनिरुद्धमूर्त्ति-हृषीकेश,पद्मनाभ,दामोदर ॥१६६॥

चक्र-आदिक विभिन्न अस्त्रों के धारण करने से इन सब में नाम-भेद है। श्रीवासुदेव से—श्रीकेशव श्रीनारायण, श्रीमाधव—ये तीन मूर्त्तियाँ प्रकाशित हुईं। श्रीगोविन्द, श्रीविष्णु, श्रीमधुसूदन—ये तीनों श्रीसङ्कर्षण की मूर्त्तियां हैं। इनमें जो श्रीगोविन्द हैं वे ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीगोविन्द नहीं है, ये अन्य श्रीगोविन्द हैं। श्रीत्रिविक्रम,श्रीवामन,श्रीश्रीधर—ये तीनों श्रीप्रद्युम्न की मूर्त्तियाँ हैं एवं श्रीहृषीकेश, श्रीपद्मनाभ तथा श्रीदामोदर—ये तीनों श्रीअनिरुद्ध की मूर्त्तियाँ हैं।(यह श्रीदामोदर भी ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीदामोदर से भिन्न हैं)

द्वादश-मासेर देवता एइ बारो जन। मार्गशीर्षे केशव, पौषे नारायण ॥१६७॥
माघेर देवता माधव, गोविन्द फाल्गुने। चैत्रे विष्णु, वैशाखे श्रीमधुसूदने ॥१६८॥
ज्यैष्ठे त्रिविक्रम, आषाढ़े वामन देवेश। श्रावणे श्रीधर, भाद्रे देव हृषीकेश ॥१६९॥
आश्विने पद्मनाभ, कार्त्तिके दामोदर। 'राधादामोदर' अन्य ब्रजेन्द्र कोङर ॥१७०॥

ऊपर कहे हुए बारहों स्वरूप बारह मासों के देवता माने गये हैं—उनका क्रम इस प्रकार है—मार्गशीर्ष के देवता श्रीकेशव हैं, एवं पोष के श्रीनारायण हैं। माघ मास के देवता श्रीमाधव, फाल्गुन के श्रीगोविन्द, चैत्र के श्रीविष्णु, वैशाख के श्रीमधुसूदन। ज्येष्ठ के श्रीत्रिविक्रम तथा आषाढ़ मास के देवता

श्रीवामनदेव हैं। श्रावण के श्रीश्रीधर, भादों के श्रीहृषीकेश, आश्विन के श्रीपद्मनाभ, एवं कार्तिक मास के देवता श्रीदामोदर हैं, किन्तु श्रीराधादामोदर जो श्रीव्रजेन्द्रकुँवर हैं—वे इन श्रीदामोदर से भिन्न जानने चाहिये ॥१६७—१७०॥

द्वादश–तिलक मन्त्र-नाम आचमने। एइ द्वादश नामे स्पर्शि तत्तत्स्थाने ॥१७१॥
एइ चारिजनेर विलास अष्टजन। तासभार नाम कहि शुन सनातन ॥१७२॥
पुरुषोत्तम, अच्युत, नृसिंह, जनार्द्दन। हरि, कृष्ण, अधोक्षज, उपेन्द्र–अष्टजन ॥१७३॥
वासुदेवेर विलास–अधोक्षज,पुरुषोत्तम। सङ्कर्षणेरविलास–उपेन्द्र,अच्युत दुइजन ॥१७४॥
प्रद्युम्नेर विलास–नृसिंह जनार्दन। अनिरुद्धेर विलास· हरि, कृष्ण दुइजन ॥१७५॥

द्वादश तिलक तथा आचमन करते समय ऊपर कहे गये बारहों देवताओं का नाम ले लेकर शरीर के तत्तत् स्थान का स्पर्श करना चाहिये। श्रीवासुदेवादि चारों जनों के आठ जन विलास हैं—उन सब के नाम, "हे सनातन! मैं तुम्हें सुनाता हूँ—उन्हें सुनो" वे आठ जन क्रमशः ये हैं—श्रीपुरुषोत्तम, श्रीअच्युत, श्रीनृसिंह, श्रीजनार्दन, श्रीहरि, श्रीकृष्ण, श्रीअधोक्षज एवं श्रीउपेन्द्र। श्रीअधोक्षज तथा श्रीपुरुषोत्तम—ये दोनों श्रीवासुदेव का 'विलास' हैं। श्रीउपेन्द्र तथा श्रीअच्युत—ये दोनों श्रीसङ्कर्षण का 'विलास' हैं। श्रीनृसिंह तथा श्रीजनार्दन– श्री प्रद्युम्न के विलास हैं, तथा श्रीअनिरुद्ध के विलास हैं—श्रीहरि एवं श्रीकृष्ण। (यह श्रीकृष्ण व्रज के या मथुरा-द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं) ॥१७१-१७५॥

च॰ च॰ चु॰ *टीका* :—शरीर के द्वादश स्थानों पर हरि मन्दिराख्य तिलक की रचना करके श्रीकेशवादि द्वादश नामों का यथाक्रम उच्चारण करते हुए द्वादश तिलकों को स्पर्श करके वैष्णवगण श्रीकेशवादि द्वादश मूर्त्तियों का ध्यान करते हैं—स्थान एवं नाम इस प्रकार हैं-ललाट में श्रीकेशव, उदर में श्रीनारायण, वक्षस्थल में श्रीमाधव, कण्ठ में श्रीगोविन्द, दक्षिण कुक्षि में श्रीविष्णु, दक्षिण बाहु में श्रीमधुसूदन, दक्षिण स्कन्ध में श्रीत्रिविक्रम, वाम कुक्षि में श्रीवामन, वाम बाहु में श्रीश्रीधर, वाम स्कन्ध में श्रीहृषीकेष, पीठ में श्रीपद्मनाभ, एवं कटि में श्रीदामोदर - इन द्वादश स्थानों पर तिलक रचना कर द्वादश मूर्त्तियों का ध्यान किया जाता है। इसी प्रकार आचमन की भी विधि है। श्रीकेशवादि नामों का उच्चारण करते हुए ओष्ठादि स्थानों का स्पर्श किया जाता है। आचमन का विवरण श्रीहरिभक्ति विलास ३-१०२-१०८ श्लोक में द्रष्टव्य है।

एइ चब्बिश मूर्त्ति प्राभव-विलास-प्रधान। अस्त्रधारण भेदे धरे भिन्न भिन्न नाम ॥१७६॥
इहार मध्ये याहार हय आकार-वेश-भेद। सेइ सेइ हय विलास–वैभव विभेद ॥१७७॥
पद्मनाभ, त्रिविक्रम, नृसिंह वामन। हरि, कृष्ण आदि हय आकारे विलक्षण ॥१७८।
कृष्णेर प्राभव-विलास वासुदेवादि चारि जन। सेइ चारिजनार विलास विंशतिगणन१७६।

(परव्योम के श्रीवासुदेवादि चतुर्व्यूह के चार रूप, द्वादश मासों के बारहों देवता, चतुर्व्यूह के विलास आठों रूप) ये चौबीस मूर्त्तियाँ श्रीकृष्ण के साक्षात् सम्बन्ध से 'प्राभव-विलास' हैं (द्वारका के चतुर्व्यूह श्रीकृष्ण स्वयंरूप के 'प्राभव-विलास' हैं और ये चौबीस मूर्त्तियाँ चतुर्व्यूह के प्राभव-विलास' है अर्थात् श्रीकृष्ण के प्राभवविलास के विलास हैं, अतः इन समस्त को श्रीकृष्ण का ही प्राभव-विलास कहा गया है) अस्त्र-शस्त्र धारण के भेद से सबके भिन्न भिन्न नाम हैं। इनमें जिनका स्वयं रूप से आकार और वेश

का पार्थक्य है, वे सब 'विलास-वैभव' हैं, जैसे श्रीपद्मनाभ, श्रीत्रिविक्रम, श्रीनृसिंह, श्रीवामन, श्रीहरि, श्रीकृष्ण आदि के आकार विभिन्न हैं। श्रीवासुदेवादि चारों व्यूह श्रीकृष्ण का प्राभव-विलास हैं और शेष के बीस इन चारों व्यूहों के विलास हैं ॥१७६–१७६॥

इंहा सभार पृथक् वैकुण्ठ परव्योमधामे। पूर्वादि अष्टदिगे तिन-तिन क्रमे ॥१८०॥
यद्यपि परव्योमे सभार नित्यधाम। तथापि ब्रह्माण्डे कारों काहों सन्निधान ॥१८१॥
परव्योम मध्ये नारायणेर नित्य स्थिति। परव्योम–उपरि कृष्णलोकेर विभूति ॥१८२॥

इन सबके (द्वादश मूर्त्तियों के) परव्योमधाम में अपने अपने पृथक् पृथक् वैकुण्ठ (भगवत्धाम) हैं। पूर्व दिशा, अग्निकोण, दक्षिण दिशा, नैऋत कोण, पश्चिम दिशा, वायु कोण, उत्तर दिशा, ईशान कोण—इन चारों दिशाओं एवं चारों कोणों में अर्थात् आठों दिशाओं में क्रमशः तीन तीन भागवत्स्वरूपों के धाम है। यद्यपि परव्योम में इन सब के नित्यधाम हैं, तथापि प्राकृत ब्रह्माण्ड में किसी किसी मूर्त्ति का किसी किसी स्थान पर आविर्भाव है। परव्योम में श्रीनारायण नित्य विराजमान रहते हैं (उनका प्राकृत ब्रह्माण्ड में आविर्भाव नहीं होता)। परव्योम के ऊपर श्रीकृष्णलोक का ऐश्वर्य प्रकाशित हो रहा है॥

एककृष्णलोक हय त्रिविध–प्रकार। गोकुलाख्य, मथुराख्य, द्वारकाख्य आर ॥१८३॥
मथुराते–केशवेर नित्य सन्निधान। नीलाचले–पुरुषोत्तम जगन्नाथ नाम ॥१८४॥
प्रयागे माधव, मन्दारे–श्रीमधुसूदन। आनन्दाख्ये–वासुदेव, पद्मनाभ, जनार्दन ॥१८५॥
विष्णुकाञ्चीते–विष्णु, हरि रहे मायापुरे। ऐछे आर नानामूर्त्ति ब्रह्मांड भितरे॥१८६॥

श्रीकृष्णलोक एक है, किन्तु वह गोकुल, मथुरा एवं द्वारका इन तीन नामों से अभिव्यक्त होता है। (आदिलीला पृष्ठ ११६ द्रष्टव्य)। मथुरा में श्रीकेशव नित्य विराजमान रहते हैं और नीलाचल में श्रीपुरुषोत्तम जिनका दूसरा नाम श्रीजगन्नाथ भी है—वह विराजमान हैं। प्रयाग में श्रीमाधव, मन्दार में श्रीमधुसूदन तथा आनन्दारण्य में (उड़ीसा देशान्तर्गत) श्रीवासुदेव, श्रीपद्मनाभ तथा श्रीजनार्दन निवास करते हैं। विष्णुकाञ्ची में (दक्षिणदेश में है) श्रीविष्णु तथा मायापुर में (हरिद्वार में) श्रीहरि निवास करते हैं। इस प्रकार और भी अनेक मूर्त्तियाँ प्राकृत ब्रह्माण्ड में जहाँ तहाँ आविर्भूत होकर विराजमान हैं।

एइमत ब्रह्माण्डमध्ये सभार प्रकाश। सप्तद्वीपे, नवखण्डे करेन विलास ॥१८७॥
सर्वत्र प्रकाश तांर भक्ते सुख दिते। जगतेर अधर्म नाशि धर्म स्थापिते ॥१८८॥
इहार मध्ये कारो अवतारेह गणन। यैछे विष्णु, त्रिविक्रम, नृसिंह, वामन ॥१८९॥
अस्त्रधृति भेद नामभेदेर कारण। चक्रादि–धारणभेद शुन सनातन ॥१९०॥

इस प्रकार ब्रह्माण्ड में सब का कहीं न कहीं प्रकाश है और (जम्बु, प्लक्ष, शाल्मली, क्रौञ्च, कुश, शाक एवं पुष्कर—इन) सातों द्वीपों तथा (भारतवर्ष, भद्राश्ववर्ष, केतुमालवर्ष, उत्तरकुरुवर्ष, इलावर्तवर्ष, रम्यकवर्ष, हिरण्मयवर्ष, हरिवर्ष तथा किंपुरुषवर्ष—इन) नौ खण्डों में श्रीकृष्ण ही विलास करते हैं। सर्वत्र ही श्रीभगवान् प्रकाशित होते हैं—केवल अपने भक्तों को सुख देने के लिये तथा जगत् में अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना करने के लिये इन चौबीस मूर्त्तियों में से कईयों की अवतारों में गिनती है, जैसे श्रीविष्णु, श्रीत्रिविक्रम, श्रीनृसिंह, तथा श्रीवामन। अस्त्रों के धारण के भेद से ही नामों का भेद है। (श्रीमहाप्रभु जी ने कहा) सनातन! तुम चक्रादि अस्त्रों के धारण का भेद भी सुनो ॥१८७–१९०॥

दक्षिणाधो हस्त हैते वामाधः पर्य्यन्त । चक्राद्यस्त्रधारणेर गणनार अन्त ॥१९१॥
सिद्धान्त—संहिता करे चब्बिशमूर्त्तिगणन । तारमते कहि आगे चक्रादिधारण ॥१९२॥
वासुदेव—गदा, शंख, चक्र, पद्म, कर । सङ्कर्षण—गदा, शंख, पद्म, चक्र धर ॥१९३॥
प्रद्युम्न—चक्र, शंख, गदा, पद्मधर । अनिरुद्ध—चक्र, गदा, शंख, पद्म कर ॥१९४॥

दाहिनी ओर के निचले हाथ से लेकर बायीं ओर के निचले हाथ तक चक्रादि अस्त्रों के धारण करने की गणना-क्रम वर्णन करते हैं—(हर एक स्वरूप के चार हाथ हैं। दाहिनी ओर एक नीचे और एक ऊपर, इस प्रकार बाईं ओर एक ऊपर और एक नीचे । दाहिनी ओर के निचले हाथ से लेकर यथा-क्रम बाईं ओर के निचले हाथ तक किस हाथ में कौनसा अस्त्र, कौन स्वरूप धारण करता है—उसे अगले पयारों में कहते हैं) 'सिद्धान्त संहिता' —ग्रन्थ में चौबीस मूर्तियों की गणना की गई है, उसके मतानुसार अगले पयारों में चक्रादि अस्त्रों के धारण का क्रम वर्णन करते हैं । श्रीवासुदेव के दाहिने निचले हाथ में गदा, दाहिने ऊपर के हाथ में शङ्ख, बायें ऊपर के हाथ में चक्र तथा बायें निचले हाथ में पद्म है । (हर एक स्वरूप के आगे जिन अस्त्रों का वर्णन किया गया है, उनके हाथों का क्रम भी ऐसे जान लेना चाहिये । अर्थात् पहला अस्त्र हर मूर्त्ति के दाहिने निचले हाथ का है द्वितीय दाहिने ऊपर के हाथ का तीसरा बायें ऊपर के हाथ का एवं चौथा बायें निचले हाथ का है) श्री सङ्कर्षण—गदा, शंख, पद्म एवं चक्र क्रमशः धारण करते हैं। श्रीप्रद्युम्न—चक्र, शंख, गदा एवं पद्म-इस क्रम से धारण करते हैं। श्रीअनिरुद्ध—चक्र, गदा शंख पद्म इस प्रकार धारण करते हैं ॥१९१-१९४॥

परव्योमे वासुदेवादि निज-निज-अस्त्रधर । श्रीकेशव—पद्म, शंख-चक्र—गदा कर ॥१९५॥
नारायण—शंख, पद्म, गदा, चक्रधर । श्रीमाधव—गदा, चक्र, शंख, पद्म कर ॥१९६॥
श्रीगोविन्द—चक्र, गदा, पद्म, शंखधर । विष्णुमूर्त्ति—शंख, गदा, पद्म, चक्रकर ॥१९७॥
मधुसूदन—चक्र, शंख, पद्म, गदाधर । त्रिविक्रम—पद्म, गदा, चक्र, शंख कर ॥१९८॥
श्रीवामन—शंख, चक्र, गदा, पद्मधर । श्रीधर—पद्म,चक्र, गदा, शंख कर ॥१९९॥
हृषीकेश—गदा, चक्र, पद्म, शंखधर । पद्मनाभ—शंख, पद्म, चक्र, गदा कर ॥२००॥

परव्योम में इस प्रकार श्रीवासुदेवादि अपने अपने अस्त्रों को धारण कर विराजमान रहते हैं। श्रीकेशव–पद्म, शंख, चक्र, एवं गदा, श्रीनारायण—शंख, पद्म, गदा, तथा चक्र। श्रीमाधव—गदा, चक्र, शंख, पद्म, एवं श्रीगोविन्द—चक्र, गदा, पद्म, तथा शंख तथा श्रीविष्णु—शंख, गदा, पद्म, एवं चक्र—इस क्रम से अस्त्रों को धारण करते हैं। श्रीमधुसूदन—चक्र, शंख, पद्म व गदा एवं श्रीत्रिविक्रम—पद्म, गदा, चक्र व शंख तथा श्रीवामन—शंख, चक्र, गदा व पद्म और श्रीधर—पद्म, चक्र, गदा, एवं शंख—इस क्रम से धारण करते हैं और श्रीहृषीकेश—गदा, चक्र, पद्म, व शंख। श्रीपद्मनाभ—शंख, पद्म, चक्र, एवं गदा—इस क्रम से धारण करते हैं ॥१९५–२००॥

दामोदर—पद्म, चक्र, गदा, शंखधर । पुरुषोत्तम—चक्र, पद्म, शंख, गदा कर ॥२०१॥
अच्युत—गदा, पद्म, चक्र, शंख कर । नरसिंह—चक्र, पद्म, गदा शंखधर ॥२०२॥
जनार्दन—पद्म, चक्र, शंख, गदाधर । श्रीहरि—शंख, चक्र, पद्म, गदा कर ॥२०३॥
श्रीकृष्ण—शंख, गदा, पद्म, चक्र कर । अधोक्षज—पद्म, गदा, शंख, चक्रधर ॥२०४॥

श्री उपेन्द्र—शंख, गदा, चक्र, पद्मधर। एइ चब्बिश मूर्त्ति शँख चक्रादिक-कर ॥२०५॥
हयशीर्षपञ्च रात्रे कहे षोलजन। तार मते कहि एबे चक्रादि धारण ॥२०६॥

श्रीदामोदर—पद्म, चक्र, गदा, शंख, श्रीपुरुषोत्तम—चक्र, पद्म, शंख एवं गदा तथा श्रीअच्युत—गदा, पद्म, चक्र, व शंख और श्रीनृसिंह—चक्र, पद्म, गदा व शंख—इस क्रम से धारण करते हैं। श्रीजनार्दन—पद्म, चक्र, शंख, व गदा, एवं श्रीहरि—शंख, चक्र, पद्म, व गदा, तथा श्रीकृष्ण—शंख, गदा, पद्म, व चक्र और श्रीअधोक्षज—पद्म, गदा, शंख व चक्र धारण करते हैं। श्रीउपेन्द्र—शंख, गदा, चक्र तथा पद्म, इस प्रकार चौबीस स्वरूपों के शंख चक्रादि अस्त्रों के धारण का क्रम (सिद्धान्त-संहिता में) वर्णन किया गया है। 'हय शीर्षपञ्चरात्र'-ग्रन्थ में चौबीस की बजाय सोलह ही स्वरूपों का वर्णन किया गया—उसके मत से कुछ एक स्वरूपों के अस्त्र धारण का क्रम नीचे कहते हैं ॥२०१—२०६॥

केशव भेद पद्म-शंख-गदा-चक्रधर। माधव भेद चक्र-गदा-पद्म-शंख-कर ॥२०७॥
नारायणभेद नानाभेद अस्त्रधर। इत्यादिक भेद एइ सब अस्त्र कर ॥२०८॥
'स्वयं भगवान्' आर 'लीला पुरुषोत्तम,। एइं दुइ नाम धरे व्रजेन्द्रनन्दन ॥२०९॥
पुरीर आवरण-रूपे पुरीर नव-दिशे। नवव्यूहरूपे नव मूर्त्ति परकाशे ॥२१०॥

(सिद्धान्त-संहिता के अनुसार श्रीकेशव के अस्त्रधारण का क्रम है—पद्म, शंख, चक्र गदा, किन्तु हयशीर्षपञ्चरात्र के मतानुसार) श्रीकेशव—पद्म, शंख, गदा, चक्र–इस क्रम से अस्त्रधारण करते हैं—यही भेद है और इसी प्रकार श्रीमाधव के अस्त्र धारण का क्रम (हयशीर्षपञ्चरात्र में) चक्र, गदा, पद्म, एवं शंख है (जिसका सिद्धान्त-संहितामत से पार्थक्य है) इसी प्रकार श्रीनारायण के अस्त्रधारण में भी दोनों मतों में पार्थक्य है। इस प्रकार अस्त्र धारण के भेद से सब स्वरूपों का भेद है। 'स्वयं भगवान्' तथा 'लीला-पुरुषोत्तम' ये दोनों नाम स्वयंरूप-श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के ही हैं। मथुरादि पुरी के आवरणरूप में पुरी की नौ दिशाओं में (पूर्वादि चार दिशा, अग्न्यादि चार कोण, एवं अर्द्ध में) नौ व्यूहों के रूप में नौ मूर्त्तियाँ प्रकाशित हैं ॥२०७—२१०॥ (जैसा कि लघुभागवतामृत में वर्णन किया गया है)—

तथाहि लघुभागवतामृते पूर्व खण्डे (५—१७५)—

चत्वारो वासुदेवाद्या नारायणनृसिंहकौ।
हयग्रीवो महाक्रोड़ो ब्रह्मा चेति नवोदिताः ॥२९॥

श्रीवासुदेवादि चारमूर्त्ति (वासुदेवादि चारमूर्त्ति (वासुदेव-सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध) श्रीनारायण, श्रीनृसिंह, श्रीहयग्रीव, श्रीवराह एवं श्री ब्रह्मा (श्रीहरि)—नौ मूर्त्तियों को 'नवव्यूह' हैं।

प्रकाश-विलासेर एइ कैल विवरण। स्वांशेर भेद एबे शुन सनातन ॥२११॥
सङ्कर्षण, मत्स्यादिक–दुइ भेद तार। पुरुषावतार सङ्कर्षण, लीलावतार आर ॥२१२॥
अवतार हय कृष्णेर षड़विध प्रकार। पुरुषावतार एक, लीलावतार आर ॥२१३॥
गुणावतार, आर मन्वन्तरावतार। युगावतार, आर शक्त्यावेशावतार ॥२१४॥
बाल्य पौगण्ड हय विग्रहेर धर्म। एतरूपे लीला करे व्रजेन्द्र-नन्दन ॥२१५॥

यहाँ तक प्रकाशरूप का वर्णन करने के पश्चात् तदेकात्म-रूप के अन्तर्गत विलासरूप की बात कही है। अब तदेकात्मरूपान्तर्गत् स्वांशरूप का वर्णन करते हैं)—श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन! मैंने तुम्हें प्रकाश

एवं विलास का विवरण सुनाया, अब स्वाँशरूप के भेदों को सुनो। स्वाँशरूपों के भेद हैं—पुरुषावतार तथा लीलावतार। सङ्कर्षणादि 'पुरुषावतार' हैं एवं मत्स्यादि 'लीला-अवतार' हैं। श्रीकृष्ण के अवतार छः प्रकार के हैं-(१) पुरुषावतार, (२) लीलावतार, (३) गुणावतार, (४) मन्वन्तरावतार, (५) युगावतार तथा (६) शक्त्यावेशावतार। इन समस्त अवतारों का विस्तृत विवरण यथास्थान आगे किया जाएगा। (प्रकाशविलासादिरूप तथा पुरुषावतारादि छः प्रकार के अवताररूपों के अतिरिक्त) श्रीकृष्ण ब्रजेन्द्रनन्दन स्वरूप से बाल्य एवं पौगण्ड अवस्थाओं को विग्रह के धर्मरूप में अङ्गीकार करके भी प्रकट लीला करते हैं।

चै० च० चु० *टीका:*—ऊपर के पयार में कहा गया कि श्रीकृष्ण बाल्य एवं पौगण्ड अवस्थाओं को विग्रह के धर्म रूप में ग्रहण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण स्वयंरूप से नित्यकिशोर (१५ वर्ष वयस) हैं। उनका देह नित्य किशोर ही रहता है। वे वात्सल्य-रस का आस्वादन करने के लिये बाल्य (५ वर्ष पर्य्यन्त वयस) तथा सख्य रस का आस्वादन करने के लिये पौगण्ड (५ से १० वर्ष पर्य्यन्त वयस) को अङ्गीकार करते हैं। कारण कि बिना बाल्य अवस्था ग्रहण किये वात्सल्यरस का आस्वादन करना सम्भव नहीं है और पौगण्ड अवस्था के ग्रहण किये बिना सख्यरस का आस्वादन नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण रसिक-शेखर हैं न ! समस्त रसों का अशेष-विशेषरूप से आस्वादन करना उनका स्वभाव या स्वरूपधर्म है।

यह जान लेना आवश्यक है कि वात्सल्य-रस के पूर्णतम आस्वादन के लिये नित्य किशोर श्रीकृष्ण बाल्य वयस, बाल्य-अवस्था तथा बाल्य भाव—इन तीनों को ग्रहण करते हैं और उसी प्रकार सख्य रस का पूर्णतम आस्वादन करने के लिये पौगण्ड-वयस, पौगण्ड-अवस्था तथा पौगण्ड-भाव—इन तीनों को ही अङ्गीकार करते हैं। वयस एवं अवस्था को अङ्गीकार न करके केवल भाव को अङ्गीकार करने से रस का सम्यक् आस्वादन नहीं हो सकता। अतः वे इन अवस्थाओं को विग्रह के धर्म–विशेषरूप में अङ्गीकार करते हैं।

बाल्य एवं पौगण्ड को श्रीकृष्ण अनादिकाल से ही प्रकट लीला में अङ्गीकार करके रसास्वादन करते हैं। अतः उनके बाल-कृष्ण तथा पौगण्ड-कृष्ण—ये दोनों रूप भी नित्य ही हैं। नित्यवस्तु के समस्त धर्म नित्य होते हैं।

बालकृष्ण तथा पौगण्ड-कृष्ण दोनों स्वरूप ही नित्य हैं और दोनों ही ब्रज में अवस्थान करते हैं। अतः वे दोनों ही ब्रजेन्द्रनन्दन माने जाएँगे तो क्या बालकृष्ण एवं पौगण्ड-कृष्ण दोनों ही स्वयंरूप या अद्वयज्ञान तत्त्व हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, ना—बालकृष्ण एवं पौगण्ड-कृष्ण दोनों रूप स्वयंरूप नहीं हैं और अद्वयज्ञान-तत्त्व भी नहीं हैं। कारण कि इन दोनों स्वरूप में श्रीकृष्ण की समस्त शक्ति—अर्थात् ऐश्वर्यशक्ति, माधुर्यशक्ति तथा कृपाशक्ति आदिक सम्यक्रूप में विकसित नहीं होतीं। शक्ति समूह की पूर्ण-परिणति इन दोनों स्वरूपों में नहीं है।

अनन्तावतार कृष्णेर-नाहिक गणन।
शाखाचन्द्रण्याय करि दिग्दरशन ॥२१६॥

वस्तुतः श्रीकृष्ण के अवतार अनन्त एवं असंख्य हैं उनकी गिनती नहीं हो सकती। फिर भी जैसे शाखा-पल्लवों के भीतर अंगुली के इशारे से चन्द्र को दिखाया जाता है, उसी प्रकार अनन्त अवतारों के सम्बन्ध में यहाँ यत्किञ्चित् दिग्दर्शन कराते हैं ॥२१६॥ जैसा कि श्रीभागवत् जी में भी कहा गया है—

तथाहि (भा: १—३—२३)—

अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ।।३०।।

श्रीसूतजी ने शौनकादिकों को कहा है—"हे द्विजगण ! अक्षय सरोवर में से जैसे सहस्र-सहस्र छोटे-छोटे प्रवाह निकलते हैं (और उसमें कुछ क्षति नहीं होती) उसी प्रकार सत्त्वनिधि (समस्त सत्ताओं के समुद्र) श्रीहरि से असंख्य अवतार प्रकाशित होते हैं, (किन्तु फिर भी उनकी पूर्णता में कुछ हानि नहीं होती ।)

प्रथमेइ करे कृष्ण पुरुषावतार ।
सेइ त पुरुष हय त्रिविध प्रकार ।।२१७।।

श्रीकृष्ण का सर्वप्रथम अवतार पुरुषावतार है । पुरुषावतार तीन प्रकार का है ।।२१७।।

चै० च० चु० *टीका:*—इस पयार में पुरुषावतार के सम्बन्ध में कहा गया है, जो परमेश्वर का अंशरूप है, एवं जो प्रधान-गुण सम्बन्ध की भांति प्रकृति तथा प्राकृत का वीक्षण, नियमन एवं प्रवर्त्तनादि करता है तथा जिससे नानाविधि अवतारों का आविर्भाव होता है—उसे 'पुरुष' कहते हैं । वह पुरुषावतार तीन प्रकार का है—**प्रथनपुरुष**-सहस्रशीर्षा कारणार्णवशायी श्रीनारायण ही प्रथमपुरुष हैं, जो श्रीसङ्कर्षण का अंश हैं । वे अपनी अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से माया को स्पर्श न करके माया में सृष्टि-कारिणी-शक्ति का संचार करते हैं और जीवरूप वीर्य का आधान करते हैं, उससे प्रकृति क्षुब्ध होती है और महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है । उनकी शक्ति से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि होती है । अतः उन्हें '**महास्रष्टा**' भी कहते हैं । ये समष्टि-ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी हैं ।

द्वितीय-पुरुष—गर्भोदशायी-श्रीनारायण सहस्रशीर्षा ही द्वितीय-पुरुष हैं । प्रथम-पुरुष की शक्ति से ब्रह्माण्डों की सृष्टि हो जाने पर द्वितीय-पुरुष एक एक रूप से एक एक ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर अपने स्वेदजल से अन्धकारमय ब्रह्माण्ड के आधे भाग को पूर्ण कर—उसमें शयन करते हैं । वे प्रथम-पुरुष का अंश हैं । वे व्यष्टि-ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी हैं ।

तृतीय-पुरुष—क्षीरसमुद्रशायी श्रीनारायण ही तृतीय पुरुष हैं । वे चतुर्भुज हैं एवं द्वितीय-पुरुष के अंश हैं । द्वितीय-पुरुष की नाभि से निकले हुए कमल से उद्भूत जब श्रीब्रह्माजी जीवों की सृष्टि करते है, तब वे तृतीय-पुरुष परमात्मारूप से प्रत्येक जीवों के अन्तर प्रवेश करते हैं । वे व्यष्टि-जीव के अन्तर्यामी हैं । (निम्नलिखित श्लोक में तीनों पुरुषावतारों का प्रमाण देते हैं)—

तथाहि श्रीलघुभागवतामृते पूर्वखण्डे (२-६) सात्वततन्त्र-वचनम्

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः ।
एकन्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयन्त्वण्ड संस्थितम् ।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ।।३१।।

श्रीमहाविष्णु के तीन रूप हैं—उसको पुरुष-नाम से वर्णन किया जाता है । उनमें प्रथम-पुरुष (कारणसमुद्रशायी) हैं, जो महत्तत्व की सृष्टि करते हैं । द्वितीय-पुरुष (गर्भोदशायी) हैं जो प्रत्येक ब्रह्माण्ड के गर्भसमुद्र में रहते हैं एवं तीसरारूप या तृतीय-पुरुष (क्षीरसमुद्रशायी) हैं, जो प्रत्येक जीव के अन्तर्यामी हैं—इन तीनों रूपों को जान लेने से जीव संसार से मुक्त हो जाता है ।।३१।। (पुरुषावतार ग्रहण करने का प्रयोजन एवं सृष्टि-क्रम अगले पयारों में कहते हैं)—

अनन्तशक्तिमध्ये कृष्णेर तिन शक्ति प्रधान— । इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति नाम ।।
इच्छाशक्तिप्रधान कृष्ण इच्छाय सर्वकर्त्ता । ज्ञानशक्ति प्रधान वासुदेव अधिष्ठाता ।।२१९।।
इच्छा-ज्ञान-क्रिया बिना न हय सृजन । तिनेर तिन शक्ति मिलि प्रपञ्च-रचन ।।२२०।।
क्रियाशक्ति-प्रधान सङ्कर्षण बलराम । प्राकृताप्राकृत सृष्टि करेन निर्माण ।।२२१।।
अहङ्कारेर अधिष्ठाता कृष्णेर इच्छाय । गोलोक वैकुण्ठ सृजे चिच्छक्तिद्वाराय ।।२२२।।
यद्यपि असृज्य नित्य चिच्छक्ति-विलास । तथापि सङ्कर्षण-इच्छाय ताहार प्रकाश ।।२२३।।

श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियों में तीन शक्तियाँ (सृष्टिकार्य में) प्रधान हैं—इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति । इनमें इच्छाशक्ति प्रधान है, क्यों कि इच्छामात्र से ही श्रीकृष्ण समस्त कार्यों को सम्पन्न कर सकते हैं । श्रीवासुदेव में ज्ञान-शक्ति की प्रधानता है एवं वे चित्त के अधिष्ठाता हैं । इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के बिना सृष्टि का सृजन नहीं हो सकता । अतः तीनों की तीनों शक्तियां मिल कर प्रपञ्च अर्थात् ब्रह्माण्ड की रचना करती हैं । श्रीसङ्कर्षण में ही क्रिया-शक्ति की प्रधानता हैं । वे उस शक्ति के प्रयोग से प्राकृत एवं अप्राकृत ब्रह्माण्डों की रचना करते हैं । श्रीकृष्ण को इच्छा से अहंकार के अधिष्ठाता— श्रीसङ्कर्षण चित्शक्ति की वृत्ति द्वारा अर्थात् चित्-शक्ति के विलास विशेष सन्धिनी-प्रधान शुद्ध सत्त्व द्वारा गोलोक, वैकुण्ठादि अप्राकृत धामों की रचना करते हैं । यद्यपि अप्राकृतधाम असृज्य है, नित्य है, एवं चिच्छक्ति का विलास हैं, तथापि श्रीकृष्ण की इच्छा से श्रीसङ्कर्षण उन्हें प्रकाशित करते हैं ।।२१८-२२३।।

चै० च० चु० *टीकाः*—इन पयारों में सृष्टि का कार्य श्रीकृष्ण कैसे करते हैं, उसका वर्णन किया गया है । सृष्टिलीला में भी श्रीकृष्ण की करुणामयी लोला की अभिव्यक्ति है । जीवों को प्रारब्धकर्म भोग कराने के लिये एवं भजनादि द्वारा जीव के स्वरूप को उद्बुद्ध कराने के लिये करुणामय श्रीकृष्ण में सृष्टि की इच्छा होती है । कोई भी कार्य हो, वह इच्छा, ज्ञान एवं क्रियाशक्ति के बिना नहीं हो सकता । सर्वप्रथम उस कार्य की इच्छा हुआ करती है, फिर ज्ञान मूलक विचार द्वारा उसके सम्पादन करने के लिये उसका उपाय स्थिर किया जाता है और अन्त में क्रिया-शक्ति द्वारा उस उपाय एवं उपादान की सहायता से कार्य निर्वाह होता है । इसी प्रकार श्रीकृष्ण की इच्छाशक्ति, श्रीवसुदेव की ज्ञानशक्ति एवं श्रीसङ्कर्षण की क्रियाशक्ति—ये तीनों मिलकर सृष्टि का कार्य करती हैं ।

गोलोक एवं वैकुण्ठादि अप्राकृत चिन्मयधाम सब अनादि हैं, उनका कभी ध्वंस नहीं होता । वे अनादि-काल से वर्त्तमान हैं । वे विभु हैं एवं सर्वज्ञ हैं । अतः मायिक ब्रह्माण्ड में भी उनकी व्याप्ति है, किन्तु वहाँ वे अप्रकट या अप्रकाश्य अवस्था में रहते हैं । ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं श्रीकृष्ण जब किसी लीला करने की इच्छा करते हैं, तब श्रीसङ्कर्षण उस स्थान पर श्रीकृष्णलीलोपयोगी धाम को प्रकट या प्रकाशित मात्र करते हैं । श्रीकृष्ण की इच्छा भी अनादि है, श्रीसङ्कर्षण द्वारा किया जाने वाला वह धामों का प्रकाश भी अनादि है । पहले श्रीकृष्ण इच्छा करते हैं एवं फिर श्रीसङ्कर्षण उन्हें प्रकाशित करते हैं— यह बात केवल भाषा की परिपाटी मात्र है—मूल विषय को समझाने के लिये, वरना ये समस्त चिन्मय धाम नित्य एवं अनादि हैं, जैसा कि ब्रह्मसंहिता के निम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है —

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५—२)

सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत् पदम् ।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम् ।।३२।।

सहस्र- पद्म की आकृति-विशिष्ट गोकुलनामक जो महाभगवद्धाम है एवं उस पद्म की कर्णिका के सदृश (मध्य में) जो श्रीकृष्ण का मन्दिर है, वह श्रीसङ्कर्षण द्वारा ही प्रकाशित होता है ॥३२॥ (अगले पयारों में मायिक ब्रह्माण्डों की सृष्टि का प्रकार कहते हैं)—

मायाद्वारे सृजे तेंहो ब्रह्माण्डेरगण । जड़रूपा प्रकृति नहे ब्रह्माण्ड-कारण ॥२२४॥
जड़ हैते सृष्टि नहे ईश्वर-शक्ति बिने । ताहाते सङ्कर्षण करे शक्ति आधाने ॥२२५॥
ईश्वरेर शक्त्ये सृष्टि करये प्रकृति । लोह येन अग्निशक्त्ये हय दाह शक्ति ॥२२६॥

श्रीसङ्कर्षण माया के द्वारा प्राकृत-ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं । (सृष्टि-रचना में कुम्भकार के चाक की भांति ही माया आनुषङ्गिक कारण हैं, क्यों कि) जड़रूपा प्रकृति ब्रह्माण्ड रचना का मुख्य कारण नहीं हो सकती । ईश्वर की शक्ति के बिना जड़ वस्तु माया से (वैचित्रीमय) सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अतः श्रीसङ्कर्षण ही अपनी शक्ति का सञ्चार उस माया में करते हैं, जिससे सृष्टि कार्य सम्पन्न होता है । ईश्वर की शक्ति पाकर ही जड़-माया सृष्टि की रचना करती है, जैसे अग्नि की शक्ति पाकर लोहा (जो वस्तुतः जलाने की शक्ति-रहित है) जलाने लगता है ॥२२४—२२६॥ (श्रीमद्भागवत जी में भी यही बात कही गई है)—

तथाहि (भाः १०—४६—३१)—

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥३३॥

श्रीउद्धव जी ने श्रीनन्द महाराज से कहा—"श्रीराम एवं श्रीकृष्ण ये दोनों ही विश्व के उपादान एवं निमित्त कारण हैं (इन दोनों का अंश ही) पुरुष तथा (इनकी शक्ति ही) प्रकृति है ; अनादिसिद्ध ये दोनों (अन्तर्यामीरूप से) भूतों में अनुप्रविष्ट होकर नाना प्रकार के भेद विशिष्ट जीवों के नियन्ता हैं॥३३

सृष्टि हेतु येइ मूर्त्ति प्रपञ्चे अवतरे । सेइ ईश्वर मूर्त्ति 'अवतार' नाम धरे ॥२२७॥
मायातीत परव्योमे सभार अवस्थान । विश्वे अवतरि धरे 'अवतार' नाम ॥२२८॥
माया अवलोकिते हय श्रीसङ्कर्षण । पुरुषरूपे अवतीर्ण हइला प्रथम ॥२२९॥

सृष्टि-आदि विश्व के कार्य के लिये कोई स्वरूप जब प्राकृत-ब्रह्माण्ड में आविर्भूत होता है, उस भगवत्स्वरूप को 'अवतार' कहते हैं । मायातीत परव्योम में अर्थात् वैकुण्ठधाम में समस्त भगवत्-स्वरूप नित्य विराजमान रहते हैं, किन्तु जब वे प्राकृत ब्रह्माण्ड में आविर्भूत होते हैं—तब उनका नाम 'अवतार' कहा जाता है । सृष्टि-शक्ति सञ्चार करने के लिये प्रकृति के प्रति अवलोकन करने के उद्देश्य से श्रीसङ्कर्षण ही सर्व प्रथम प्रथम पुरुष के रूप (कारण समुद्रशायी रूप) से अवतीर्ण होते हैं ॥२२७—२२९॥ (जैसा कि श्रीभागवत् में कहा गया है)—

तथाहि (भाः १—३—१)—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः ।
सम्भूतं षोड़शकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥३३॥

सृष्टि के प्रारम्भ में श्रीभगवान् ने (लोकसृष्टि के उद्देश्य से) महतत्त्वादि के द्वारा सुनिष्पन्न एवं (एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चमहाभूत—इन) सोलह अंशों से युक्त पुरुष-नाम के स्वरूप (कारण समुद्रशायी-स्वरूप) को प्रगट किया ॥३४॥ (और भी कहा है)—

तथाहि (भाः २—६—४२)—

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः ॥३५॥

स्वरूप एवं शक्ति में सर्वश्रेष्ठ श्रीभगवान् का प्रथम अवतार कारणसमुद्रशायी है। काल, स्वभाव, कार्यकारणात्मिका प्रकृति, मन (महत्तत्त्व), द्रव्य (महाभूत), विकार (अहंकार) गुण (सत्व, रज, तम), इन्द्रिय (पञ्चज्ञान-इन्द्रिय तथा पञ्चकर्म-इन्द्रिय) विराट् (ब्रह्माण्डरूप-समष्टि शरीर) स्वराट् (समष्टि-जीव हिरण्यगर्भ) स्थावर तथा जङ्गमादि—(ये सब उस श्रीभगवान् की विभूतियाँ हैं) ॥३५॥

सेइ पुरुष विरजाते करिल शयन। 'कारणाब्धिशायी' नाम जगत्-कारण ॥२३०॥
कारणाब्धि—पारे हय मायार नित्य स्थिति। विरजार पारे परव्योमे नाहि गति ॥२३१॥

वह प्रथमपुरुष विरजा नदी या कारण समुद्र में शयन करता है। जिससे उसका नाम—"कारण-समुद्रशायी" है—वही जगत् का कारण है। कारणसमुद्र के इस पार माया नित्य अवस्थान करती है, किन्तु कारणसमुद्र के पार परव्योम अर्थात् दिव्य चिन्मय लोक है, जहाँ माया की गति नहीं है ॥२३०—२३१॥ (श्रीभागवत जी में भी कहा गया है)—

तथाहि (भाः २—९—१०)—

प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥३६॥

श्रीनारद जी के प्रति श्रीब्रह्मा जी ने कहा है—"जिस वैकुण्ठ में रजोगुण एवं तमोगुण तथा इन गुणों का साथी जड़ सत्वगुण तथा काल विक्रम अर्थात् विनाश नहीं है और जहाँ माया ही नहीं है, वहां फिर माया के कार्य राग-लोभादि कहां ? वैकुण्ठ में सुर एवं असुरों से पूजित भगवत्-पार्षद ही रहते हैं।

मायार ये दुइ वृत्ति—'माया' आर 'प्रधान'। 'माया' निमित्त हेतु विश्वेर उपादान 'प्रधान ॥
सेइ पुरुष माया-पाने करे अवधान। प्रकृति क्षोभित करि करे वीर्याधान ॥२३३॥
साङ्गविशेषाभासरूपे प्रकृति-स्पर्शन। जीवरूप बीज ताते कैल समर्पण ॥२३४॥

माया की दो वृत्तियां हैं—माया (जीवमाया) तथा प्रधान (गुणमाया)। इस विश्व का निमित्त-कारण जीव-माया है और उपादान-कारण गुणमाया है। जब वे कारणसमुद्रशायी-पुरुष माया की ओर दृष्टि डालते हैं तो माया क्षुभित हो जाती है अर्थात् (महाप्रलय में प्रकृति के सत्व, रज, तम ये तीनों गुण जो साम्यावस्था में रहते हैं, वे पुरुष की दृष्टि द्वारा शक्ति सञ्चार पाकर साम्यावस्था में नहीं रहते। तब उसमें पुरुष सृष्टि के मूल बीज (वीर्य या मूल-उपादान) का आधान करते हैं। कारणसमुद्र-शायी पुरुष अपने अङ्ग विशेष नेत्रों के आभास या ज्योति द्वारा प्रकृति को स्पर्श करते हैं अर्थात् प्रकृति का साक्षात् भाव से स्पर्श नहीं करते। उस क्षुभिता-प्रकृति में जीवरूप मूल-उपादान को समर्पण करते हैं ॥२३२-२३४॥ (श्रीमद्भागवत जी में भी कहा गया है)—

तथाहि (भाः ३-२६-१९)

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परःपुमान् ।
आधत्त वीर्य्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥३७॥

कालवश प्रकृति के सत्त्वादिगुणों के क्षुभित होने पर परमपुरुष आद्यावतार कारणसमुद्रशायी उस प्रकृति में जीवाख्य चिद्रूपाशक्ति अर्थात् जीव का आधान करते हैं, तब वह प्रकृति महाप्रकाशवान् महत्तत्त्व को प्रसव करती है ।।३७।। (और भी कहा गया है) —

तथाहि तत्रैव (भाः ३—५—२३)

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्य्यमाधत्त वीर्य्यवान् ।।३८।।

कालशक्ति-प्रभाव से प्रकृति के गुण क्षुभित होने पर महाशक्तिशाली भगवान् श्रीकृष्ण स्वीय अंशभूत (प्रकृति के अधिष्टाता) पुरुष—कारणसमुद्रशायी पुरुष के द्वारा उस प्रकृति में जीवरूप वीर्य का आधान करते हैं ।।३८।।

तबे महत्तत्त्व हैते त्रिविध अहङ्कार । याहा हैते देवतेन्द्रिय-भूतेर प्रचार ।।२३५।।
सर्वतत्त्व मिलि सृजिल ब्रह्माण्डेरगण । अनन्त ब्रह्माण्ड—तार नाहिक गणन ।।२३६।।
एहो महत्स्रष्टा पुरुष—'महाविष्णु' नाम । अनन्त ब्रह्माण्ड यार लोमकूपे धाम ।।२३७।।
गवाक्षे उड़िया यैछे रेणु आय-याय । पुरुष-निश्वास-सह ब्रह्माण्ड बाहिराय ।।२३८।।
पुनरपि निश्वास-सह याय अभ्यन्तर । अनन्त ऐश्वर्य ताँर—सब माया पर ।।२३९।।

प्रकृति की परिणति से त्रिविध अहंकार अर्थात् सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक अहंकारों की उत्पत्ति होती है । उस त्रिविध अहंकार में से (सात्विक अहंकार से) कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवता (इन्द्र, विष्णु, यम, प्रजापति, अग्नि), राजसिक-अहंकार से दश-इन्द्रिय (हस्त, पाद, पायु, उपस्थ, वाक्, नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वक्) एवं तामसिक-अहंकार से पांचों भूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी) ये समस्त प्रकाशित होते हैं । महत्तत्त्व, देवता, इन्द्रिय एवं महाभूत—ये समस्त तत्त्व मिलकर ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं । वे ब्रह्माण्ड अनन्त एवं असंख्य हैं । उस प्रथम अवतार महास्रष्टा पुरुष का नाम—'महाविष्णु' भी है, जिसके लोम कूपों में अनन्त अनन्त ब्रह्माण्ड निवास करते हैं । गवाक्ष में जैसे रेणु के कण उड़कर आते और जाते हैं । उसी प्रकार महाविष्णु के निश्वास के साथ अनन्त ब्रह्माण्ड बाहर आते हैं और फिर श्वास के साथ वे उनके भीतर चले जाते हैं । कारणार्णवशायी पुरुष का समस्त ऐश्वर्य ही मायातीत या अप्राकृत है ।।२३५—२३९।। (जैसे कि श्रीब्रह्मसंहिता में कहा गया है)—

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५—४८)—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ।।३९।।

जिस महाविष्णु के एक श्वास बाहर करने के समय तक, उनके लोमकूपों से आविर्भूत होने वाले ब्रह्माण्ड के अधिपति—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इस जगत् में अपने-अपने अधिकार में प्रकटरूप से अवस्थान करते हैं, वह महाविष्णु जिन की एक कला (अंश) हैं, उन आदि-पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ ।।३९।। (विशेष टीका आदि-लीला पृष्ठ सं० १२७ पर द्रष्टव्य है ।)

समस्त ब्रह्माण्डगणेर एंहो अन्तर्यामी । कारणाब्धिशायी सब जगतेर स्वामी ।।२४०।।
एइ त कहिल प्रथम पुरुषेर तत्त्व । द्वितीय पुरुषेर एबे शुनह महत्त्व ।।२४१।।

सेइ पुरुष अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड सृजिया। एकैकमूर्त्त्ये प्रवेशिला बहुमूर्त्ति हैया ॥२४२॥
प्रवेश करिया देखे सब अन्धकार। रहिते नाहिक स्थान, करिल विचार ॥२४३॥
निजाङ्ग स्वेदजले ब्रह्माण्डार्द्ध भरिल। सेई जले शेष-शय्या शयन करिल ॥२४४॥

इस प्रकार, हे सनातन ! कारणाब्धिशायी पुरुष समस्त ब्रह्माण्डों का अन्तर्यामी है और सब जगत् का स्वामी है। यहाँ तक मैंने तुम्हें प्रथमपुरुष का तत्त्व सुनाया है, अब तुम द्वितीय-पुरुष की महिमा सुनो। प्रथमपुरुष ने जब अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि की, तब उसने अनेक मूर्त्ति होकर एक एक ब्रह्माण्ड में एक एक मूर्त्ति द्वारा प्रवेश किया। उन ब्रह्माण्डों में प्रवेश करने पर उसने अन्धकार को देखा और अपने रहने का स्थान वहाँ न देखकर उसने कुछ विचार किया। तदनन्तर उसने अपने अङ्ग के स्वेदजल से प्रति ब्रह्माण्ड के अधोभाग को पूर्ण किया और फिर उसी जल में शेष-शय्या पर वह शयन करने लगा ॥२४०—२४४॥

तांर नाभिपद्म हैते उठिल एक पद्म। सेइ पद्मे हइल ब्रह्मार जन्मसद्म ॥२४५॥
सेइ पद्मनाले हैल चौद्द भुवन। तेंहो ब्रह्मा हञा सृष्टि करिल सृजन ॥२४६॥
विष्णुरूप हञा करे जगत-पालने। गुणातीत विष्णु-स्पर्श नाहि माया-सने ॥२४७॥
रुद्ररूप धरि करे जगत-संहार। सृष्टि स्थिति प्रलय इच्छाय यांहार ॥२४८॥
ब्रह्मा-विष्णु-शिव तांर गुण-अवतार। सृष्टि-स्थिति-प्रलयेर तिने अधिकार ॥२४९॥
हिरण्यगर्भ-अन्तर्यामी गर्भोदकशायी। सहस्रशीर्षादि करि वेदे यारे गाइ ॥२५०॥
एइ त द्वितीय पुरुष ब्रह्माण्ड-ईश्वर। मायार आश्रय हय—तबु मायापर ॥२५१॥

उस द्वितीय पुरुष की नाभि से एक कमल उठा और उस कमल से श्रीब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। उस कमल की नाल में ही चौदह भवनों की स्थिति है। वही द्वितीय-पुरुष ही ब्रह्मा के रूप से फिर सृष्टि का सृजन करते हैं। वे ही विष्णुरूप होकर जगत् का पालन करते हैं। वे श्रीविष्णु गुणातीत हैं एवं उन्हें माया स्पर्श नहीं कर सकती। श्रीरुद्र का रूप धरकर वही द्वितीयपुरुष ही जगत् का संहार करते हैं। जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय उनकी इच्छा पर ही निर्भर है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव ये तीनों द्वितीय-पुरुष के गुणावतार हैं। सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का इन तीनों को अधिकार है (सत्त्व, रज एवं तम—इन गुणों को श्रीविष्णु, ब्रह्मा, एवं शिव क्रमशः गुण के नियामकरूप से अङ्गीकार करते हैं—अतः इन्हें 'गुणावतार' कहा जाता है)। द्वितीय-पुरुष गर्भोदकशायी ब्रह्मा के अन्तर्यामी हैं—उनको वेद सहस्रशीर्षादि नामों से वर्णन करते हैं। वे द्वितीय-पुरुष ब्रह्माण्ड के ईश्वर हैं। मायिक ब्रह्माण्ड के आश्रित रहकर भी माया से परे हैं ॥२४५—२५१॥

तृतीयपुरुष विष्णु गुण-अवतार। दुइ-अवतार भितर गणना तांहार ॥२५२॥
विराट व्यष्टिजीवेर तेंहो अन्तर्यामी। क्षीरोदकशायी तेंहो पालनकर्त्ता स्वामी ॥२५३॥
पुरुषावतारेर एइ कैल निरूपण। लीलावतारेर एबे शुन सनातन ॥२५४॥
लीलावतार कृष्णेर नाहिक गणन। प्रधान करिया कहि दिग्दरशन ॥२५५॥
मत्स्य कूर्म रघुनाथ नृसिंह–वामन। वराहादि लेखा यार न याय गणन ॥२५६॥

तृतीय-पुरुषावतार का नाम श्रीविष्णु है। (वे द्वितीय-पुरुष का अंश हैं, जगत्-पालन के लिये सत्त्वगुण के नियामकरूप में वे अवतीर्ण होते हैं, इसलिये इन्हें 'गुणावतार' भी कहते हैं। अतः वे गुणावतार तथा पुरुषावतार) इन दोनों अवतारों में गिने जाते हैं वे तृतीय-पुरुष व्यष्टि जीव के अन्तर्यामी हैं। उन्हें **'क्षीर समुद्रशायी'** भी कहते हैं। विराट् जो चौदह-भुवनादि द्वारा एक कल्पितरूप है—वह उन तृतीय-पुरुष का एकरूप कल्पित किया गया है। असुर-संहार एवं धर्म-संस्थापनादि के द्वारा वे ही जगत् का पालनादि करते हैं। श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन ! पुरुषावतारों की बात मैंने तुम्हें सुनाई है, अब लीलावतारों के विषय में सुनो। श्रीकृष्ण के लीलावतार असंख्य हैं, उन सब की गिनती नहीं हो सकती, संक्षेप से प्रधान प्रधान कुछ लीलावतारों का यहां वर्णन करता हूँ।" (श्रीकृष्ण के जिन अवतारों में चेष्टाशून्य विविध वैचित्रीपूर्ण एवं नित्य नूतन उल्लास-तरङ्गमय स्वेच्छाधीन सब कार्य दीखते हैं—उन्हें **'लीलावतार'** कहते हैं) मत्स्य, कूर्म, श्रीरघुनाथ, नृसिंह, वामन, वराहादि —इस प्रकार अनेक लीलावतार हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती ।।२५२—२५६।। (पृष्ठ १२० द्रष्टव्य)।

तथाहि (भा: १०—२—४०)

मत्स्याश्वकच्छपवराहनृसिंह हंस राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनञ्च तथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ।।४०।।

देवताओं ने श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके कहा है—"हे ईश ! मत्स्य, अश्व, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, श्रीराम, परशुराम, एवं वामन, आदि रूपों में आविर्भूत होकर जिस प्रकार हमारी एवं त्रिभुवन की आपने पालना की, उसी प्रकार अब भी इस पृथ्वी का भार हरण कीजिये" ।।४०।। श्रीकृष्ण मत्स्यादि अवतारों के रूप में प्रकटित होते हैं —यह श्लोक इस बात का प्रमाण है।

लीलावतारेर कैल दिग्‌दरशन। गुणावतारेर एबे शुन विवरण ।।२५७।।
ब्रह्मा विष्णु शिव—तिन गुणावतार। त्रिगुणाङ्गी करि सृष्ट्यादि-व्यवहार ।।२५८।।
भक्तिमिश्र-कृतपुण्य कोन जीवोत्तम। रजोगुणे विभावित करि तार मन ।।२५९।।
गर्भोदकशायि द्वारे शक्ति सञ्चारि। व्यष्टि-सृष्टि करे कृष्ण ब्रह्मा रूपधरि ।।२६०।।

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन ! लीलावतारों के सम्बन्ध में मैंने संक्षेप में तुम्हें सुनाया है। अब गुणावतारों का वर्णन सुनो। श्रीब्रह्मा, श्रीविष्णु एवं श्रीशिव—ये तीनों गुणावतार हैं। क्रमशः रजः, सत्त्व, एवं तम-इन तीनों गुणों को अङ्गीकार करके ये जगत् की सृष्टि के पालन एवं संहारादि करते हैं। जब कोई श्रेष्ठ जीव सौ जन्म तक पुण्य कर्मों को भक्ति पूर्वक करता है, तो श्रीभगवान् उसके मन को रजोगुण से विभावित करते हैं एवं गर्भोदकशायी-पुरुष द्वारा उसमें सृष्टि-कारिणी-शक्ति का सञ्चार करते हैं—इस प्रकार वह जीव ब्रह्मा-पदवी को प्राप्त करता है वस्तुतः श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा का रूप धारण कर व्यष्टि सृष्टि की रचना करते हैं ।।२५७–२६०।।

चै० च० चु० *टीका:*—ब्रह्मा दो प्रकार के हैं, **'जीवकोटि ब्रह्मा'** एव **'ईश्वरकोटि-ब्रह्मा'**। जब कोई जीव सौ जन्मों तक वर्णाश्रम-धर्मों का सुचारुरूप से पालन करता है, वह ब्रह्मा-पदवी को प्राप्त करता है, ऊपर के पयारों में 'जीव-कोटि-ब्रह्मा' के लक्षण कहे गये हैं। इसके प्रमाण में ब्रह्मसंहिता का एक श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं—

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५-४९)—

भास्वान् यथाश्मसकलेषु तेजः स्वीयं कियत् प्रकटयत्यपि तद्वदत्र ।
ब्रह्मा य एव जगदण्ड विधान कर्त्ता गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥४१॥

सूर्य्य जिस प्रकार सूर्य्य-कान्त मणि में अपना किञ्चित् तेज प्रकट करता है (और मणि उस तेज को प्राप्त कर जलाने की शक्ति को प्राप्त करती है) उसी प्रकार जो ब्रह्मा होकर (जीव विशेष में सृष्टि-शक्ति सञ्चार करके, उसे ब्रह्मा बनाकर) व्यष्टि सृष्टि को करने वाले हैं, उन आदि- पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ ।

चै० च० चु० *टीका:*—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि श्रीगोविन्द ही अपनी शक्ति का सञ्चार किसी उत्तम जीव विशेष में करते हैं, जिससे वह जीव ब्रह्मा-नाम को प्राप्त होता है और व्यष्टि सृष्टि का कर्त्ता कहलाता है। ब्रह्मा, श्रीकृष्ण नहीं और न ही श्रीकृष्ण ब्रह्मा के रूप को धारण करते हैं, यह बात स्मरण रखनी चाहिये। एक जीव विशेष में श्रीकृष्ण केवल अपनी सृष्टि कारिणी शक्ति का सञ्चार करते है, जिसे 'ब्रह्मा' कहा जाता है। अगले पयार में ईश्वरकोटि-ब्रह्मा का वर्णन करते हैं ।

कोन कल्पे यदि योग्य जीव नहि पाय ।
आपने ईश्वर तबे अंशे ब्रह्मा हय ॥२६१॥

किसी कल्प में जब कोई ऐसा योग्य जीव नहीं मिलता (कि जिसमें श्रीभगवान् सृष्टिकारिणी शक्ति का सञ्चार करें) तो फिर श्रीभगवान् अपने अंश से ब्रह्मा होकर व्यष्टि जीव की सृष्टि करते हैं। (श्रीभगवान् के अंश उस ब्रह्मा को 'ईश्वर-कोटि-ब्रह्मा' कहते हैं ।)

तथाहि (भा: १०—६८—३७)

यस्याङ्घ्रिपङ्कज रजोऽखिललोकपालैर्मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थ तीर्थम् ।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व ॥४२॥

श्रीबलराम जी ने अभिमानी दुर्योधन को कहा है—"श्रीकृष्ण के चरण-कमलों की रज को ब्रह्मादिक सब लोकपाल अपने अलंकृत-मस्तकों पर धारण करते हैं। उनकी चरण-रज सब से पूजित तीर्थों को भी तीर्थत्व (पवित्रता) प्रदान करने वाली है। उनके अंश के अंश ब्रह्म, शिव एवं मैं (श्रीबलराम) तथा लक्ष्मी जी भी जिन श्रीकृष्ण के चरणों की रज मस्तक पर धारण करते हैं, उन 'श्रीकृष्ण को नृपासन कहाँ मिलता "—ऐसा कहना, ओ दुर्योधन ! तेरी मूर्खता एवं बकवाद ही है।" ॥४२॥ (इस श्लोक में ब्रह्मा जी को श्रीकृष्ण की कला की कला (अंश का अंश) कहा गया है। अगले पयारों में संहारकर्त्ता श्रीरुद्र या श्रीशिव के सम्बन्ध में कहते हैं)—

निजांश कलाय कृष्ण तमोगुण अङ्गीकरि । संहारार्थे माया-सङ्गे रुद्ररूप धरि ॥२६२॥
माया-सङ्गे विकारी रुद्र भिन्नाभिन्न रूप । जीव तत्त्व नहे, नहे कृष्णेर स्वरूप ॥२६३॥
दुग्ध येन अम्लयोगे दधिरूप धरे । दुग्धान्तर-वस्तु नहे, दुग्ध हैते नारे ॥२६४॥

श्रीकृष्ण अपने अंश (प्रथम-पुरुष) के कलारूप (द्वितीय-पुरुषरूप से) तमोगुण को अङ्गीकार करते हैं। सृष्टि के संहार करने के निमित्त माया के गुणयुक्त होकर रुद्ररूप को धारण करते हैं। माया

का सङ्ग प्राप्त होने से श्रीरुद्र विकारी है, श्रीकृष्ण के साथ श्रीरुद्र का भेद भी है और अभेद भी है। किन्तु श्रीरुद्र जीव-तत्त्व नहीं हैं, और न ही श्रीकृष्ण का स्वरूप ही हैं। जैसे दूध अम्ल के योग से दही रूप धारण करता है, दही दूध से पृथक वस्तु नहीं है, परन्तु दही दूध भी नहीं है, तद्रूप ॥२६२—२६४॥

चै० च० चु० *टीका*:—माया सङ्ग वशतः श्रीरुद्र को विकारी कहा गया है। किन्तु वास्तविक वे विकारी नहीं हैं। संहार के समय तमोगुण के पास रहकर वे उसकी सहायता करते हैं। अतः आपात दृष्टि से वे विकारी जान पड़ते हैं। तमोगुण में आवरणात्मिका-शक्ति होने से वह श्रीशिव के आनन्दस्वरूपत्त्व को आच्छन्न कर देता है, जिस से वे विकारी प्रतीत होते हैं।

श्रीशिव, श्रीकृष्ण का भिन्नाभिन्न-रूप है अर्थात् श्रीकृष्ण से श्रीशिव का भेद भी है और अभेद भी। श्रीशिव श्रीकृष्ण का अंश हैं। अंश और अंशी में अभेद होता है। अतः इस प्रकार श्रीकृष्ण एवं श्रीशिव में अभेद है। किन्तु माया सङ्ग अङ्गीकार करके श्रीशिव विकारी होते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण सर्वथा विकार-हीन हैं—इस रूप में श्रीकृष्ण एवं श्रीशिव में भेद है।

जीव का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'जीव श्रीकृष्ण का भेदाभेद-प्रकाश है, और यहां श्रीशिव को भी श्रीकृष्ण का भिन्नाभिन्न-रूप कहा गया है। इससे ऐसी आशङ्का हो सकती है कि जीवतत्त्व एवं शिवतत्त्व एक ही हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। श्रीशिव गर्भोदशायी का अंश होने से श्रीकृष्ण का स्वांश हैं और जीव श्रीकृष्ण का विभिन्नांश है। उनकी तटस्था-शक्ति है। तटस्थाशक्ति युक्त श्रीकृष्ण का कणिकांश ही जीव है। माया सङ्गी होते हुए श्रीशिव माया के नियन्ता हैं, परन्तु जीव माया के अधीन है। श्रीशिव माया को अङ्गीकार करते हैं, परन्तु जीव को माया वरवश बाँध लेती है।

श्रीशिव, श्रीकृष्ण का स्वरूप नहीं हैं, कारण कि (१) श्रीशिव मायाशक्ति के सङ्गी हैं। तमोगुण सन्निहित हैं किन्तु श्रीकृष्ण मायातीत एवं गुणातीत हैं। (२) श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं, किन्तु श्रीशिव में ब्रह्म का असाक्षात्त्व है। (३) श्रीकृष्ण कारण हैं और श्रीशिव कार्य हैं। श्रुति कहती हैं—सर्वप्रथम एकमात्र पुरुष श्रीनारायण थे, श्रीब्रह्मा एवं श्रीशिव की अभिव्यक्ति पीछे हुई। जैसे दूध से दही की उत्पति होती है, किन्तु दही से दूध उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार श्रीकृष्ण से श्रीशिव की उत्पत्ति है। श्रीशिव में श्रीकृष्ण का प्रकाश अति सामान्य है। श्रीविष्णु, श्रीब्रह्मा एवं श्रीशिव—इन तीनों में—श्रीकृष्ण का सर्वापेक्षा अधिक प्रकाश श्रीविष्णु में हैं। श्रीब्रह्मा में श्रीविष्णु की अपेक्षा कम और श्रीशिव में और भी कम है। अतः श्रीशिव को श्रीनारायण के समान नहीं माना जा सकता।

यहाँ श्रीकृष्ण एवं श्रीशिव में भेद का वर्णन किया गया है, किन्तु नामापराधों में—श्रीशिव तथा श्रीविष्णु के नामगुणादि में भेद मानना एक नामापराध कहा गया है—इसका समाधान यह है कि श्रीविष्णु सर्वात्मक हैं, अतः वे श्रीशिव की आत्मा हैं। श्रीशिव के नामगुणादिक का मूल हैं—श्रीविष्णु के नामगुणादिक। श्रीविष्णु की शक्ति से श्रीशिव की शक्ति है। किन्तु इस तत्त्व को भूल कर जो श्रीशिव के गुण-नामादिक को स्वतन्त्र या श्रीशिव को स्वतन्त्र ईश्वर मानकर उन्हें श्रीविष्णु से भिन्न मानते हैं—इस प्रकार का भेद अपराध जनक है—नामापराध का तात्पर्य यही समझना चाहिये।

जिन शास्त्रों में श्रीशिव को परतत्त्व कहकर वर्णन किया गया है, उनकी गम्भीर विवेचना करने से भी परतत्त्व श्रीशिव न होकर श्रीकृष्ण ही परतत्त्व सिद्ध होते हैं। शास्त्रों की भी तीन श्रेणियाँ हैं। सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक। उनमें यथाक्रम सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक कल्पों की कथाएं वर्णन की गई हैं। सात्त्विक शास्त्रों में श्रीहरि की, राजसिक-शास्त्रों में श्रीब्रह्मा जी की और तामसिक-शास्त्रों में श्रीशिव एवं अग्नि की महिमा का अधिक वर्णन किया गया है। परमात्म सन्दर्भ (१७) में मत्स्यपुराण का ऐसा प्रमाण मिलता है, (श्लोक १५ पृष्ठ ५७१ द्रष्टव्य है।)

राजसिक तथा तामसिक प्रकृतियों के जो जीव हैं, वे अपने भोग सुखों को प्राप्त करने के लिये वर प्रदान करने वाले एवं शाप प्रदान करने वाले देवताओं की सेवा करने के अभिलाषी होते हैं, उन लोगों के लिये ही श्रीब्रह्मा एवं श्रीशिव की महिमा वर्णन करने वाले राजसिक तथा तामसिक शास्त्रों की उत्पत्ति हुई है। क्योंकि श्रीब्रह्मा एवं श्रीशिव अपने साधकों की इच्छा पूर्ण करने के लिये उन्हें वर प्रदान करते हैं और यदि साधक उनके भजन को त्याग दे तो वे उसे शाप भी देते हैं। (श्रीभा: १०—८८—१२) श्रीविष्णु भी वर एवं शाप प्रदान करते हैं किन्तु श्रीब्रह्मा और श्रीशिव की भांति वे शीघ्र वर या शाप प्रदान नहीं करते। माया-मुग्ध जीव भोग सुख के लिये ही लालायित रहते हैं। परन्तु श्रीश्यामसुन्दर की आराधना में भोगसुख कहां ? उनकी आराधना से तो भोगसुख नष्ट होते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—कि मैं जिस पर कृपा करता हूँ, क्रमशः मैं उसके भोगसुखों के मूल धन को हरण कर लेता हूँ। जब मेरा भक्त निर्धन हो जाता है—तो उसे उसके बान्धव स्वजन सब त्याग देते हैं, तभी वह निर्विण्ण होकर निश्चित मन से मेरा भजन कर सकता है।" (श्रीभा: १०—८८—८ व ९) इसलिये मायामुग्ध जीव श्रीकृष्ण का भजन त्याग कर सुख भोग के लोभ से श्रीब्रह्मा-शिवादिक का भजन करते हैं और उनसे सुखभोग-ऐश्वर्य पाकर उन जीवों का मोह क्रमशः बढ़ता जाता है और मायाबन्धन दृढ़ ही हो जाता है।

श्रीकृष्ण अपनी शुद्धाभक्ति को सदा गोपन करते हैं, योग्य पात्र न मिलने पर श्रीकृष्ण उस अमूल्य, सुदुर्लभ भक्ति रत्न को किसी को भी नहीं देते। जो लोग भोगसुख चाहते हैं, उन्हें भक्ति के आभास की भी प्राप्ति नहीं होती। उन लोगों से सुदुर्लभाभक्तिचिन्तामणि गुप्त रखने के लिये वे इस प्रकार के राजसिक एवं तामसिक शास्त्रों को प्रकाशित करते हैं। उनमें केवल जीव को मोहित करने के लिये ही श्रीब्रह्मा-शिव-अग्नि आदिक को परतत्त्व कहकर वर्णन किया गया है। मूल परतत्त्व श्रीकृष्ण ही हैं।

अतः कहा गया है कि दूध से जैसे दही की उत्पत्ति है, श्रीकृष्ण से उसी प्रकार श्रीशिव की उत्पत्ति है। श्रीकृष्ण कारण हैं और श्रीशिव कार्य हैं। किन्तु दही जैसे फिर दूध नहीं हो सकता, श्रीशिव भी उसी प्रकार श्रीकृष्ण नहीं हो सकते। इसी बात का प्रमाण ब्रह्मसंहिता में से उद्धृत करते हैं—

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम्(६—४५)—

क्षीरं यथा दधि विकारविशेष योगात् सञ्जायते न तु ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्यात् गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥४३॥

दूध जैसे विकार विशेष (खटाई) योग से दही हो जाता है, किन्तु दही अपने कारण दूध से कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। उसी प्रकार जो संहारादि-कार्य के निमित्त (तमोगुण को अङ्गीकार कर) शम्भुरूप को प्राप्त होते हैं, उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ ॥४३॥ (श्रीकृष्ण एवं श्रीशिव स्वरूपतः अभिन्न होते हुए भी प्रकाश के दृष्टिकोण से उनमें भेद है। इसे फिर अगले पयारों में स्पष्ट करते हैं।)

शिव मायाशक्तियुक्त तमोगुणावेश।
मायातीत गुणातीत—विष्णु परमेश ॥२६५॥

श्रीशिव मायाशक्तियुक्त हैं और (अपनी इच्छा से) तमोगुण में आविष्ट हैं। किन्तु श्रीविष्णु मायातीत एवं उसके गुणों के स्पर्श से परे हैं, परमेश्वर अर्थात् श्रीशिव के भी ईश्वर हैं ॥२६५॥

तथाहि (भा: १०—८८—३)

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥४४॥

(श्रीमद्भागवत जी में कहा गया है कि) श्रीशिव सर्वदा शक्तियुक्त हैं, अर्थात् गुणसाम्यात्मिका-प्रकृति की उपाधियुक्त हैं। वे त्रिलिङ्ग हैं, अर्थात् प्रकृति में गुण-क्षोभ होने पर गुणत्रय की उपाधियुक्त हैं। क्योंकि सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक— यह तीन प्रकार का अहङ्कार है (और श्रीशिव इस त्रिविध अहङ्कार के अधिष्ठाता होने से 'त्रिलिङ्ग' कहे गये हैं ॥४४॥ (और भी कहा है)—

तथाहि (भा: १०—८८—५)—

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ॥४५॥

श्रीकृष्ण ही निर्गुण अर्थात् मायिक गुणों के स्पर्श से शून्य हैं। मायातीत हैं, साक्षात् ईश्वर हैं, सर्वदर्शी व सर्वसाक्षी हैं। अतः उनके भजन द्वारा ही निर्गुण या माया-बन्धन-रहित हुआ जा सकता है ॥४५॥ (अब अगले पयारों में श्रीविष्णु के सम्बन्ध में कहते हैं)—

पालनार्थ स्वांश विष्णुरूपे अवतार। सत्त्वगुणद्रष्टा, ताते गुण—मायापार ॥२६६॥
स्वरूप—ऐश्वर्य—पूर्ण कृष्ण सम प्राय। 'कृष्ण अंशी, तेंहो अंश, वेदे हेन गाय ॥२६७॥

सृष्टि के पालन करने के लिये श्रीकृष्ण अपने अंश से श्रीविष्णुरूप में अवतार धारण करते हैं। वे सत्त्वगुण के प्रति केवल-सृष्टि का पालन करते हैं, (उसे स्पर्श नहीं करते।) अतः उन्हें गुणातीत एवं मायातीत कहा गया है। श्रीविष्णु के स्वरूप एवं पूर्ण-ऐश्वर्य्य (षड़ैश्वर्य) प्रायः श्रीकृष्ण के समान ही हैं। श्रीकृष्ण अंशी हैं और श्रीविष्णु उनका अंश हैं। ऐसा वेद-शास्त्र कहते हैं ॥२६६--२६७॥

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५—४६)—

दीपार्च्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा ।
यस्तादृगेव हि च विष्णुतयाविभाति गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥४६॥

दीपशिखा जिस प्रकार दूसरी बत्ती के साथ जुड़कर मूल दीपक के समान धर्म वाले दूसरे दीपक के रूप में प्रकाशित होती है, उसी प्रकार ही जो श्रीविष्णुरूप में प्रकाशित होते हैं, मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ ॥४७॥

चै० च० चु० *टीका:*—सारांश यह है कि एक दीपक से जुड़कर प्रकाशित होने वाला दूसरा दीपक चाहे समान धर्म वाला होता है, तथापि दूसरे दीपक का कारण पहला दीपक कहलाता है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण जब श्रीविष्णुरूप में प्रकाशित होते हैं, तो श्रीविष्णु में समस्त धर्म श्रीकृष्ण के समान ही अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण श्रीविष्णु का कारण होने से श्रीविष्णु श्रीकृष्ण का अंश ही कहलाते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव—ये तीनों ही तो श्रीकृष्ण के गुणावतार हैं, अतः ये तीनों समान हैं—ऐसा कहा जा सकता है, किन्तु वस्तुतः ये तीनों समान नहीं हैं—अगले पयार में इस बात को स्पष्ट करके कहते हैं—

ब्रह्मा शिव—आज्ञाकारी भक्त अवतार।
पालनार्थे विष्णु—कृष्णेर स्वरूप-आकार ॥२६८॥

श्रीब्रह्मा तथा श्रीशिव श्रीकृष्ण की आज्ञा से सृष्टि की उत्पत्ति तथा संहार करते हैं। इस प्रकार
आज्ञा का पालन करने से ये दोनों श्रीकृष्ण के भक्त हैं। अतः इन्हें 'भक्तावतार' भी कहा जाता है।
किन्तु सृष्टि के पालन के लिये श्रीकृष्ण ही श्रीविष्णुरूप में प्रकाशित होते हैं, अतः श्रीविष्णु श्रीकृष्ण का
ही स्वरूप-आकार हैं। (श्रीविष्णु श्रीकृष्ण के भक्त नहीं हैं, किन्तु श्रीब्रह्मा एवं श्रीशिव श्रीकृष्ण के भक्त
हैं —अतः ये तीनों समान नहीं है ॥२६८॥ (श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है)—

तथाहि (भाः २—६—३२)—

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥४७॥

श्रीब्रह्मा जी ने श्रीनारद जी से कहा है—"उन श्रीकृष्ण द्वारा नियुक्त होकर ही मैं विश्व की
सृष्टि करता हूं और श्रीशिव उनके अधीन होकर विश्व का संहार करते हैं और वही त्रिशक्तिशाली
श्रीहरि विष्णुरूप से विश्व का पालन करते हैं ॥४७॥ (इस श्लोक से स्पष्ट है कि श्रीब्रह्मा तथा श्रीशिव
श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी हैं एवं श्रीविष्णु स्वयं श्रीकृष्ण का ही स्वरूप हैं अगले पयारों में मन्वन्तरावतारों
के सम्बन्ध में कहते हैं।)—

मन्वन्तरावतार एबे शुन सनातन। असंख्य गणन तार, शुनह कारण ॥२६९॥
ब्रह्मार एक दिने हय चौद्द मन्वन्तर। चौद्द-अवतार तांहा करेन ईश्वर ॥२७०॥
ए चौद्द एकदिने, मासे चारिशत-विश। ब्रह्मार वत्सरे पञ्च-हाजार चल्लिश ॥२७१॥
शतेक वत्सर हय जीवन ब्रह्मार। पञ्चलक्ष-चारि-हाजार मन्वन्तरावतार ॥२७२॥
अनन्त ब्रह्माण्डे ऐछे करह गणन। महाविष्णुर एक श्वास ब्रह्मार जीवन ॥२७३॥
महाविष्णुर निश्वासेर नाहिक पर्य्यन्त। एक मन्वन्तरावतारेर देख लेखार अन्त ॥२७४॥

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—"सनातन! अब मन्वन्तरावतारों की बात सुनो। मन्वन्तरावतारों की
गणना असंख्य हैं, उसका कारण यह है कि ब्रह्मा जी के एक दिन में चौदह मन्वन्तर होते हैं।
प्रत्येक मन्वन्तर में एक एक मन्वन्तरावतार-रूप से भगवान् ब्रह्मा जी के एक दिन में चौदह
अवतार धारण करते हैं। इस हिसाब से ब्रह्मा जी के एक मास में चारसौ बीस (४२०) और
ब्रह्मा जी के एक वर्ष में पांच हजार चालीस (५०४०) मन्वन्तरावतार होते हैं। ब्रह्मा जी की आयु सौ
वर्ष होती है, इस प्रकार ब्रह्मा जी की आयु में श्रीभगवान् पांच लाख चार हजार (५०४०००) मन्वन्तरा-
वतार धारण करते हैं। इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। अनन्त ब्रह्माण्डों के अनन्त ब्रह्मा हैं। एक एक
ब्रह्मा की आयु में पांच लाख चार हजार मन्वन्तरावतार के हिसाब से अनन्त ब्रह्माओं की आयु में कितने
मन्वन्तरावतार बैठेंगे—भला कौन हिसाब लगा सकता है? फिर महाविष्णु के एक श्वास में एक ब्रह्मा
का जीवन पूरा होता है। महाविष्णु के श्वासों का क्या अन्त? वे अनन्त हैं अतः मन्वन्तरावतारों की
गणना भी असंख्य ही है ॥२६९—२७४॥ अतः

(असंख्य होने के कारण समस्त मन्वन्तरावतारों का विवरण देना भी असम्भव है।

अगले पयारों में ब्रह्मा के एक दिन के अन्दर होने वाले चौदह मन्वन्तरों का नाम उल्लेख करके प्रति मन्वन्तर में अवतीर्ण होने वाले अवतार का नाम उल्लेख करते हैं।)—

स्वायम्भुवे 'यज्ञ' स्वारोचिषे 'विभु' नाम। उत्तमे 'सत्यसेन' तामसे 'हरि' अभिधान ॥२७५॥
रैवते 'वैकुण्ठ' चाक्षुषे 'अजित' वैवस्वते 'वामन'। सावर्णे 'सार्वभौम' दक्षसावर्णे 'ऋषभ'गणन
ब्रह्मसावर्णे 'विश्वकसेन' 'धर्मसेतु' धर्मसावर्णे। रुद्रसावर्णे 'सुधाम' 'योगेश्वर' देवसावर्णे २७७
इन्द्रसावर्णे 'वृहद्भानु' अभिधान। एइ चौद्द-मन्वन्तरे चौद्द-अवतार नाम ॥२७८॥

"स्वायम्भुव मन्वन्तर में—'यज्ञ' नाम के मन्वन्तरावतार होते हैं, स्वारोचिष मन्वन्तर में 'विभु' नाम के, उत्तम में श्रीसत्यसेन, तामस में श्रीहरि, रैवत में श्रीवैकुण्ठ, चाक्षुष में श्रीअजित, वैवस्वत (वर्तमान मन्वन्तर) में श्रीवामन, सावर्ण में श्रीसार्वभौम, दक्षसावर्ण में श्रीऋषभ, ब्रह्मसावर्ण में, विश्वकसेन और धर्मसावर्ण में श्रीधर्मसेतु, रुद्रसावर्ण में श्रीसुधाम, देवसावर्ण में श्रीयोगेश्वर तथा इन्द्रसावर्ण में श्रीवृहद्भानु—इस प्रकार चौदह मन्वन्तरों में चौदह मन्वन्तरावतारों के नाम शास्त्र में वर्णन किये गये हैं ॥२७५—२७८॥

युगावतार एबे शुन सनातन !। सत्य, त्रेता, द्वापर कलि—चारि युगेर गणन ॥२७९॥
शुक्ल, रक्त, कृष्ण, पीत—क्रमे चारि वर्ण। चारि वर्ण धरि कृष्ण कराय युगधर्म ॥२८०॥

प्रभु ने कहा—"सनातन ! अब युगावतारों की बात सुनो। सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलि—ये चार युग हैं। शुक्ल, रक्त, कृष्ण, एवं पीत—चारों युगों में क्रमशः इन चार वर्णों को श्रीकृष्ण धारणकर युगधर्म का प्रचार करते हैं ॥२७९—२८०॥ (जैसा कि श्रीमद्भागवत जी में कहा गया है)—

तथाहि (भाः १०—८—१३)—

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥४८॥

श्रीगर्गाचार्य ने श्रीनन्दबाबा से कहा है—"हे व्रजराज ! प्रति युग में आपका पुत्र अवतार लेता है। इसके शुक्ल, रक्त, तथा पीत (गौर) ये तीनों वर्ण हो चुके हैं, अब इस द्वापर में यह कृष्ण-रङ्ग को प्राप्त हुआ है—(अतः इस का नाम अब 'कृष्ण' होगा) ॥४८॥ (आदिलीला पृष्ठ सं० ६० द्रष्टव्य है और भी कहा गया है)—

तथाहि (भाः ११—५—२१ व २४)—

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो बल्कलाम्बरः।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान् बिभ्रद्दण्डकमण्डलू ॥४९॥
त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः।
हिरण्यकेशस्त्रयात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥५०॥

सत्ययुग में शुक्लवर्ण, चतुर्बाहु, जटाधारी, वल्कल धारी एवं कृष्णसार मृगचर्म, उपवीत, अक्ष-माला, दण्ड व कमण्डल-धारी अर्थात् ब्रह्मचारी वेश से भगवान् अवतीर्ण होते हैं। त्रेतायुग में रक्तवर्ण, चतुर्भुज, मेखलात्रयधारी, पिङ्गलकेश, वेदमयशरीर, स्रुक-स्रुवादि चिन्हों को श्रीभगवान् धारण करते हैं। (इस श्लोक का तात्पर्य अगले पयारों में कहते हैं)—

सत्ययुगे धर्म ध्यान कराय शुक्लमूर्त्ति धरि। कर्दम के वर दिला येंहो कृपा करि ॥२८१॥
कृष्ण ध्यान करे लोक 'ज्ञान-अधिकारी'। त्रेतार धर्म यज्ञ कराय रक्तवर्ण धरि ॥२८२॥
कृष्णपदार्चन हय द्वापरेर धर्म। कृष्णवर्णे कराय लोके कृष्णार्चनकर्म ॥२८३॥

सत्ययुग में शुक्ल-मूर्त्ति धारण कर भगवान् (श्री कपिलदेव) सत्ययुग के धर्म ध्यान का प्रचार करते हैं। श्री कर्दम पर कृपाकर उन्हें वरदान देते हैं। सत्ययुग में ज्ञान के अधिकारी श्रीकृष्ण चतुर्भुज-मूर्त्ति का ध्यान करते हैं। त्रेतायुग का धर्म यज्ञ है, जिसे रक्तवर्णधारण कर भगवान् करते कराते हैं। द्वापरयुग का धर्म श्रीकृष्णपद की अर्चना करना है। द्वापर के युगावतार का वर्ण भी कृष्ण है, जो लोगों को कृष्णार्चना कराते हैं ॥२८१—२८३॥ (जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है)—

तथाहि (भा: ११—५—२७)—

द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासा निजायुधः।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥५१॥

द्वापर युग में श्रीभगवान् का वर्ण (अतसी के फूल की भांति) श्याम होता है। वे पीताम्बर धारण करते हैं, स्वरूप-भूत चक्रादि आयुध, श्रीवत्सादि चिन्ह, हस्तपादादि में पद्मादि शारीरिक चिन्ह एवं कौस्तुभमणि तथा पताकादि बाह्यिक चिन्हों सहित अवतीर्ण होते हैं ॥५१॥ (आदिलीला पृष्ठ ६१ द्रष्टव्य है)—

तथाहि तत्रैव (११—५—२९)—

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥५२॥

श्रीवासुदेव को नमस्कार है, एवं श्रीसङ्कर्षण को नमस्कार है, श्रीप्रद्युम्न तथा श्रीअनिरुद्ध भगवान् को नमस्कार है ॥५२॥ (इस मन्त्र के द्वारा श्रीकृष्ण की अर्चना द्वापरयुग में होती है।)

एइमन्त्रे द्वापरे करे कृष्णार्चन। कृष्णनाम सङ्कीर्त्तन—कलियुगेर धर्म ॥२८४॥
पीतवर्ण धरि तबे कैल प्रवर्त्तन। प्रेमभक्ति दिला लोके लञा भक्तगण ॥२८५॥
धर्म प्रवर्त्तन करे ब्रजेन्द्रनन्दन। प्रेमे गाय नाचे लोक करे सङ्कीर्त्तन ॥२८६॥

"नमस्ते वासुदेवाय"—इत्यादि श्लोक के द्वारा द्वापर में श्रीकृष्ण-अर्चना होती है। कलियुग का धर्म श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन है। (वैवस्वत मन्वन्तर के अठाईसवें कलि में) श्रीभगवान् पीतवर्ण (गौरवर्ण) धारण कर कलियुग के धर्म कृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन का प्रचार करते हैं और भक्तगणों को साथ लेकर लोगों को प्रेमभक्ति प्रदान करते हैं। श्रीब्रजेन्द्रनन्दन स्वयं ही अवतीर्ण होकर कलिधर्म का प्रचार करते हैं एवं प्रेमावेश में लोग नृत्य-गान पूर्वक नाम-सङ्कीर्त्तन करते हैं ॥२८४—२८६॥ (जैसे कि श्रीभागवत् जी में कहा गया है)—

तथाहि (भा: ११—५—३२)—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्र पार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तन—प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥५३॥

सदा कृष्ण-नाम का वर्णन करने वाले, गौर कान्तियुक्त एवं जिनके अङ्ग-उपाङ्ग ही अस्त्र एवं पार्षद हैं—ऐसे भगवान् (श्रीगौराङ्ग सुन्दर) की बुद्धिमान लोग कलि में सङ्कीर्त्तन-प्रधान अनुष्ठान द्वारा पूजा करते हैं ।।५३।। (विशेष व्याख्या के लिये आदि-लीला पृष्ठ ६३ द्रष्टव्य है ।)

आर तिन युगे ध्यानादिते येइ फल हय ।
कलियुगे कृष्णनामे से-इ-फल पाय ।।२८७।।

"सनातन ! और तीनों युगों में जो फल ध्यान, यज्ञ एवं अर्चना से होता है, वही फल कलियुग में केवल श्रीकृष्ण-नाम से ही प्राप्त होता है" ।।२८७।। (इस बात का प्रमाण उद्धृत करते हैं)—

तथाहि (भा: १२—३—५१ व ५२)—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ।।५४।।
कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्य्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ।।५५।।

श्रीशुकदेव जी ने महाराज-परीक्षितजी से कहा है—"राजन् ! समस्त दोषों का निधि होते हुए भी कलियुग में एक महान् गुण है । वह यह है कि कलि में एकमात्र श्रीकृष्ण-कीर्त्तन से ही जीव मायाबन्धन से मुक्त होकर परम पुरुष (श्रीकृष्ण) को प्राप्त कर सकता है । सत्ययुग में श्रीविष्णु का ध्यान करके, त्रेता में यज्ञों द्वारा श्रीविष्णु का यजन करके एवं द्वापर में परिचर्य्या या अर्चना द्वारा जो फल प्राप्त होता है, कलियुग में केवल श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन द्वारा वही फल प्राप्त किया जा सकता है" ।।५४—५५।।

तथाहि विष्णुपुराणे (६—२—१७), पद्मोत्तरखण्डे (७२—२५), वृहन्नारदीये (३८—९७), हरिभक्ति विलासे (११—२३६)—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्च्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम् ।।५६।।

सत्ययुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ एवं द्वापर में अर्चन करके जो गति प्राप्ति होती है, कलि में वही गति केवल श्रीकेशव के नाम- सङ्कीर्त्तन से प्राप्त होती है ।।५६।।

तथाहि (भा: ११—५—३६)—

कलिं सभाजयन्त्यार्य्या गुणज्ञाः सारभागिनः ।
यत्र सङ्कीर्त्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽपि लभ्यते ।।५७।।

जिस कलियुग में सङ्कीर्त्तन द्वारा ही समस्त स्वार्थ (अभीष्ट) प्राप्त होते हैं, सारग्राही (सार-वस्तु को ग्रहण करने वाले) गुणज्ञ (कलि के महान् गुण को जानने वाले) श्रेष्ठपुरुष उस कलि का सन्मान किया करते हैं ।।५७।। (श्रीमन्महाप्रभु जी ने इस प्रकार कलियुग के धर्म श्रीहरिनाम-सङ्कीर्त्तन का सर्वसाधन-श्रेष्ठत्व वर्णन किया ।)

पूर्ववत् लिखि जबे गुणावतारगण । असंख्या संख्या तार ना हय गणन ।।२८८।।
चारियुगेर अवतारेर एइ त गणन । शुनि भङ्गी करि तांरे पूछे सनातन ।।२८९।।

राजमन्त्री सनातन-बुद्धये वृहस्पति। प्रभुर कृपाते पूछे असङ्कोच मति ॥२९०॥
अतिक्षुद्र जीव मुञि-नीच नीचाचार। केमने जानिव- कलिते कौन अवतार ॥२९१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा – "सनातन ! पहले जैसे मैंने कहा है कि मन्वन्तरावतार असंख्य है, उसी प्रकार युगावतार भी असंख्य हैं, उनकी गणना नहीं हो सकती। अतः यहाँ मैंने तुम्हें चारों युगों के अवतारों का संक्षिप्त वर्णन सुनाया है।" श्रीमहाप्रभु के वचन सुनकर श्रीसनातन पाद जो कभी राजमन्त्री थे एवं बुद्धि में वृहस्पति के समान हैं। (श्रीमन्महाप्रभु ही स्वयं भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन हैं, कलि के पीतवर्ण अवतार भी वही हैं, यह बात प्रभु के निज मुख से ही स्पष्ट कराने के लिये) उन्होंने चतुरता पूर्वक जिज्ञासा की और सङ्कोच छोड़कर प्रभु की कृपा के बल पर प्रभु से पूछा—"मैं तो अति क्षुद्र जीव हूँ, नीच हूँ और नीच-आचार वाला हूँ। अब कलियुग तो है ही, इस कलि का कौन अवतार है ? यह मैं कैसे जान सकूंगा ? ॥२८८—२९१॥

प्रभु कहे—अन्यावतार शास्त्र द्वारे जानि। कलि-अवतार तैछे शास्त्रवाक्ये मानि ॥२९२॥
सर्वज्ञ मुनिर वाक्य शास्त्र—परमाण। आमासभा-जीवेर हय शास्त्रद्वारा ज्ञान ॥२९३॥
अवतार नाहि कहे-'आमि अवतार'। मुनि सब जानि करे लक्षण विचार ॥२९२॥

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—"जिस प्रकार अन्यान्य अवतारों को शास्त्र के प्रमाणों से जाना जाता है, उसी प्रकार कलि के अवतार को भी शास्त्र के वचनों से जाना जा सकता है। सर्वज्ञ मुनियों के वाक्य रूप जो शास्त्र हैं—वही प्रमाण है (क्योंकि वे शास्त्र भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा तथा करणापाटव आदि दोषों से रहित हैं) अतः हम सब जीवों को अवतार का ज्ञान अथवा हर बात का वास्तव ज्ञान शास्त्रों द्वारा ही हो सकता है। सनातन ! अवतार अपने मुख से नहीं कहता कि "मैं अवतार हूँ।" मुनि लोग ईश्वर के लक्षणों को जान कर अवतार को पहचान लेते हैं ॥२९२—२९४॥ (श्रीमद्भागवत जी में भी कहा गया है)—

तथाहि (भाः १०—१०—३४)

यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरिष्वशरीरिणः।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतैः ॥५८॥

यमलार्जुन ने श्रीभगवान्-कृष्ण से कहा है—"जिन के समान कोई नहीं, जिन से अधिक कोई नहीं, एवं शरीर-धारियों में जो अत्यन्त दुर्लभ हैं, ऐसे वीर्यसमूह अर्थात् प्रभाव-पराक्रम-समूह द्वारा ही देहधारियों में प्राकृत-शरीर शून्य जिन भगवान् के अवतारों को जाना जा सकता है—वही श्रीभगवान् आप ही अवतीर्ण हुए हो" ॥५८॥

चै० च० चु० *टीका*:—सारांश यह है कि श्रीकृष्ण भगवान् ने बाल्यावस्था में जैसे ऊखलबन्धन लीला के मिस से अति विशाल यमुलार्जुन वृक्षों को अनायास गिरा दिया—इस प्रकार की अलौकिक-प्रभाव शाली लीलाओं एवं पराक्रमों को देखकर ही मुनिगण पहिचान लेते हैं कि ये अवतार हैं एवं साधारण देहधारी-जीव नहीं हैं। जिस प्रकार के लक्षणों द्वारा अवतार की पहचान हो सकती है—उन्हें अगले पयारों में कहते हैं—

स्वरूप-लक्षण आर तटस्थ-लक्षण। एइ दुइ लक्षणे वस्तु जाने मुनिगण ॥२९५॥
आकृति प्रकृति एइ-स्वरूप लक्षण। कार्यद्वाराय ज्ञान एइ-तटस्थलक्षण ॥२९६॥
भागवतारम्भे व्यास मङ्गलाचरणे। परमेश्वर निरूपिल ए दुइ लक्षणे ॥२९७॥

समस्त वस्तुओं के दो प्रकार के लक्षरण होते हैं—स्वरूप लक्षरण तथा तटस्थ-लक्षरण। इन दोनों लक्षरणों से ही वस्तुओं को पहचाना जाता है। मुनिगरण अवतार को भी इन्हीं दोनों लक्षरणों से जान लेते हैं॥ (मुनि वे हैं जो भगवान् के मननशील है एवं भगवदनुभव विशिष्ट हैं—वही भगवदवतारों को जान सकते हैं—शास्त्र-ज्ञान हीन एवं भगवदनुभव विहीन-जीव भगवदवतार की पहचान नहीं कर सकते) आकृति की जो प्रकृति है या विशिष्टता है—वह स्वरूप लक्षरण है। किसी वस्तु के कार्यद्वारा जिन लक्षरणों को जाना जाता है--वह तटस्थ-लक्षरण कहलाते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण के आरम्भ में श्रीव्यासदेवजी ने मंगलाचरण करते हुए—इन दोनों लक्षरणों द्वारा परमेश्वर का निरूपण किया है ।।२९५—२९७।।

चै० च० चु० *टीका:*— **स्वरूपलक्षरण**—आकृति की जो प्रकृति या विशिष्टता है—उसे 'स्वरूप-लक्षरण' कहते हैं। आकृति का अर्थ अङ्ग- सन्निवेश और रूप होता है। अतः अङ्ग- सन्निवेश की या रूप की जो विशिष्टता है—वह स्वरूपलक्षरण है। किसी वस्तु को देखने मात्र से ही उसके अङ्ग- सन्निवेश या रूप की विशिष्टता दीख जाती है। जैसे चार भुजाएं, जानु तक लम्बी भुजाएं, द्विपद, द्विभुज इत्यादि ये अङ्गसन्निवेश की विशेषताएं हैं, जो देखने मात्र से ही जानी जा सकती हैं। इसी प्रकार शुक्लवर्ण, रक्तवर्ण, पीतवर्ण इत्यादि रूप की विशिष्टताएं हैं, जो देखने मात्र से दृष्टिगोचर हो जाती हैं। किसी वस्तु की आकृति की प्रकृति या स्वरूपगत विशिष्टता भी उसका **स्वरूपलक्षरण** कही जाती है, जैसे जड़त्व' प्राकृत वस्तुओं की स्वरूपगत विशिष्टता है, और 'चिन्मयत्व' अप्राकृत वस्तुओं की स्वरूपगत विशिष्टता है। इसी प्रकार किसी वस्तु की उपादानगत-विशिष्टता भी उसका स्वरूप-लक्षरण कही जाती है, जैसे नमक तथा फिटकरी दोनों देखने में एक ही रूप हैं, परन्तु उनके उपादान में भेद है। परीक्षा के बिना केवल देखने मात्र से उनके भेद को नहीं समझा जा सकता। अतः किसी वस्तु के अङ्ग-सन्निवेश की विशिष्टता, किंवा रङ्ग, रूपगत-विशिष्टता किंवा उपादानगत-विशिष्टता ही उसका **स्वरूप-लक्षरण** होता है।

तटस्थ-लक्षरण—तटस्थ-लक्षरण स्वरूप लक्षरण की भांति दृष्टि मात्र से या बाह्यिक परीक्षा से उपलब्ध नहीं होता। एक व्यक्ति वैद्य है यह उसके चिकित्सा-कार्य द्वारा ही जाना जा सकता है। यह बात उसके अङ्ग-सन्निवेश या रूप या उसके शरीर के उपादान द्वारा नहीं जानी जा सकती। अतः चिकित्सा ही एक वैद्य का 'तटस्थ-लक्षरण' है। इसी प्रकार नमक और मिश्री के कार्यों द्वारा ही उनकी पहचान हो सकती है। अतः किसी वस्तु के कार्य द्वारा जो लक्षण जाना जाता है—उसे **तटस्थ-थलक्षरण** कहते हैं—श्रीव्यासदेवजी ने श्रीभागवत जी के आरम्भ में मङ्गलाचरण करते हुए परमेश्वर का निरूपण इन दोनों प्रकार के लक्षणों का उल्लेख करते हुए किया है। उस श्लोक को नीचे उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भा: १—१—१)

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारि मृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।५६।।

अन्वय-व्यतिरेक भाव से इस विश्व का उपादान-कारण एवं निमित्त कारण होने से इस विश्व की सृष्टि-स्थिति-लय का जो कारण है, सृज्य-असृज्य समस्त विषय में जो सर्वज्ञ है, जो अन्य-निरपेक्ष है, जो स्वतः-सिद्ध एवं स्वतन्त्र है, जिन वेदों को समझने में ज्ञानीगरण भी मोहित होजाते हैं, उन

वेदों को जिसने सङ्कल्प मात्र से श्रीब्रह्माजी के हृदय में प्रकाशित किया, तेज, जल एवं मृतिका—इन वस्तुओं में से एक को दूसरी वस्तु मान लेना जैसे मिथ्या है, मिथ्या ज्ञान मात्र है अथवा इन तीनों के यथायथ मिलन से जो उत्पन्न होने वाला त्रिगुणमय शरीर मिथ्या या अनित्य है—उस त्रिगुणमय सृष्टि का जो कर्त्ता है, जिसका विग्रह मिथ्या नहीं है, जो स्वीय शक्ति द्वारा माया को सर्वदा दूर हटाये रखता है, उस परमेश्वर का मैं ध्यान करता हूं ॥ ५९ ॥ (विशेष टीका पृष्ठ २४२ पर एवं पच्चीसवें परिच्छेद के श्लोक न० ३९ में द्रष्टव्य है ।)

एइ श्लोके 'पर'—शब्दे कृष्ण निरूपण । 'सत्य'—शब्दे कहे तांर स्वरूप लक्षण ॥२९८॥
विश्वसृष्ट्यादिक कैल, वेद ब्रह्माके पढ़ाइल । अर्थाभिज्ञता स्वरूप शक्त्ये मायादूर कैल ॥
एइ सब कार्य ताँर तटस्थ लक्षण । अन्य अवतार ऐछे जाने मुनिगण ॥३००॥
अवतार-काले हय जगते गोचर । एइ दुइ लक्षणे केहो जानये ईश्वर ॥३०१॥

उपर्युक्त श्लोक में 'पर' शब्द से परतत्व या परमेश्वर श्री कृष्ण का निरूपण किया गया है। (पर-शब्द वाच्य श्रीकृष्ण ही श्लोक में कहे गये स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षणों द्वारा निरूपणीय-तत्त्व हैं ।) श्लोक में 'सत्य' शब्द द्वारा परमेश्वर श्रीकृष्ण का स्वरूपगत-विशिष्टतारूप स्वरूपलक्षण व्यक्त किया गया है । (कारण कि श्रुति प्रमाणानुसार श्रीकृष्ण ही सत्यस्वरूप हैं, यथा—"**सत्यं ज्ञानं आनन्दं ब्रह्म**" । "**सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः** सत्यमत्र प्रतिष्ठितमां"—इत्यादि । "**सत्यं श्रीकृष्णं धीमहि नराकृति परं ब्रह्म**" । आदि) वे विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय करते हैं, उन्होंने आदि कवि श्रीब्रह्मा को वेद अध्ययन कराया, अर्थाभिज्ञता अर्थात् समस्त कार्यों में, समस्त लीलाओं में जो सर्वभाव से निपुण हैं, एवं जो अपनी स्वरूप शक्ति के प्रभाव से माया को दूर करते हैं—ये चारों कार्य हैं जो (साक्षात्-भाव से या परोक्षभाव से) श्रीकृष्ण करते हैं—अतः ये सब उनके 'तटस्थ लक्षण' हैं। इसी प्रकार इन्हीं दोनों लक्षणों से मुनिगण अन्यान्य अवतारों को भी जान लेते हैं। सनातन ! भगवान् जब अवतार लेते हैं तो वे जगत् के गोचर होते हैं—जगद्वासी उन्हें आँखों से देख सकते हैं, तब इन्हीं लक्षणों को विचार कर अवतार को जाना जा सकता है—किन्तु अवतार को सब नहीं पहचान सकते—कोई कोई (शास्त्रज्ञ) मुनि ही पहचानता है ॥३०१॥

सनातन कहे—याते ईश्वर-लक्षण— । पीतवर्ण, कार्य—प्रेमदान-सङ्कीर्त्तन ॥३०२॥
कलिकाले से-इ-ईश्वर कृष्णावतार निश्चय । सुदृढ़ करिया कह, जाउक संशय ॥३०३॥
प्रभु कहे—चातुराली छाड़ सनातन । शक्त्यावेशावतारेर शुन विवरण ॥३०४॥

श्रीसनातन पाद ने कहा—"जिसका (स्वरूप-लक्षण) पीतवर्ण और जिसका कार्य (तटस्थ-लक्षण) प्रेमदान एवं सङ्कीर्त्तन हो, जिसमें ये दोनों ईश्वरीय-लक्षण हों, तो कलिकाल में वही निश्चय-पूर्वक (श्रीकृष्णावतार है न ? आप यह बात दृढ़तापूर्वक कहिये, ताकि मेरा (मायाबद्ध-जीवों का) संशय दूर हो । श्रीमन्महाप्रभु में ही ये दोनों लक्षण थे, श्रीसनातन पाद चतुरता से श्रीमहाप्रभु के अपने मुख से यह कहलवाना चाहते थे कि कलि के श्रीकृष्णावतार वे आप ही हैं ।) प्रभु ने कहा—"सनातन ! अब मेरे आगे ऐसी चतुराई मत करो, तुम मुझ से अब शक्त्यावेशावतारों की कथा सुनो !" ॥३०२-३०४॥

शक्त्यावेशावतार कृष्णेर असंख्य गणन । दिग्दर्शन कहि मुख्य मुख्य जन ॥३०५॥
शक्त्यावेश दुइरूप—गौण मुख्य देखि । साक्षात् शक्त्ये 'अवतार' आभासे विभूति लिखि ॥

सनकादि नारद पृथु परशुराम । जीवरूप ब्रह्मार 'आवेशावतार' नाम ॥३०७॥
वैकुण्ठे शेष-धरा धरये अनन्त । एइ मुख्यावेशावतार–विस्तारे नाहि अन्त ॥३०८॥
सनकाद्ये ज्ञानशक्ति, नारदे भक्तिशक्ति । ब्रह्माय सृष्टिशक्ति, अनन्ते भूधारणशक्ति ॥३०९॥
शेषे स्व-सेवन-शक्ति पृथुते पालन । परशुरामे दुष्टनाशक–वीर्य सञ्चारण ॥३१०॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन ! श्रीकृष्ण के शक्त्यावेशावतारों की भी गणना नहीं हो सकती । केवल मुख्य मुख्य का वर्णन कर तुम्हें यहाँ दिग्दर्शन कराता हूँ । शक्त्यावेशावतार दो प्रकार के हैं । एक गौण, दूसरे मुख्य । जिन में साक्षात्रूप से शक्ति का आवेश है—वे मुख्य शक्त्यावेशावतार हैं और जिनमें शक्ति के आभास का आवेश है, उन्हें गौण-शक्त्यावेशावतार या 'विभूति' कहते हैं । श्रीसनकादि (सनक-सनातन, सनन्दन एवं सनत्कुमार) श्रीनारद, श्रीपृथु, श्रीपरशुराम, जीवकोटि-ब्रह्मा तथा वैकुण्ठ में जो शेष जी हैं । तथा श्रीअनन्तरूप से जो पृथिवी को धारण कर रहे हैं, ये सब मुख्य-शक्त्यावेशावतार हैं—इनकी महिमा का अन्त नहीं है । श्रीसनकादि में ज्ञान-शक्ति का आवेश है, श्रीनारद जी में भक्ति-शक्ति का श्रीब्रह्माजी में सृष्टि-शक्ति का, श्रीअनन्त में पृथ्वी धारण करने की शक्ति का, श्रीशेष जी में निजसेवन करने की शक्ति का, श्रीपृथु में प्रजा-पालन करने की शक्ति का आवेश है, तथा श्रीपरशुराम जी में दुष्टों के नाश करने की शक्ति का सञ्चार हैं ॥३०५--३१०॥ (इनमें श्रीकृष्ण अपनी सम्पूर्ण शक्ति का सञ्चार नहीं करते, किन्तु आंशिक शक्ति का ही सञ्चार करते हैं ।)

तथाहि लघुभागवतामृते पूर्वखण्डे (१—१८)—

ज्ञान शक्त्यादिकलया यत्राविष्टोजनार्द्दनः ।
ते आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः ॥६०॥

श्रीलघुभागवतामृत में कहा गया है कि जनार्दन श्रीकृष्ण ज्ञानशक्त्यादि कलाओं के द्वारा जिन जीवों में आविष्ट होते हैं—वे समस्त महत्तम-जीव 'आवेश' या आवेशावतार कहे जाते हैं ॥६०॥

विभूति कहिये यैछे गीता एकादशे ।
जगत् व्यापिल कृष्णेर शक्ति-भावावेशे ॥३११॥

श्रीगीता जी (के दशम अध्याय) में तथा श्रीभागवत जी के एकादश स्कन्ध (के षोड़श-अध्याय) में श्रीभगवान् की जिन-जिन विभूतियों का वर्णन किया गया है—वे सब गौण-शक्त्यावेशावतार हैं । किसी में श्रीकृष्ण की शक्ति का आवेश है और किसी में उनके भाव का । साधारण मनुष्यों की अपेक्षा जिन में शक्ति एवं भाव का आवेश अधिक दीखता है, वे भगवान् की विभूतियां हैं और वे समस्त जगत् में व्याप्त—वर्त्तमान हैं ॥३११॥

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (१०—४१ व ४२)

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्ज्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंश सम्भवम् ॥६१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्ज्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृतस्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥६२॥

श्रीगीता जी में श्रीभगवान् ने श्रीअर्जुन के प्रति कहा है—"हे अर्जुन ! इस संसार में ऐश्वर्य समन्वित, वा सम्पत्ति विशिष्ट अथवा बल-प्रतापादि सम्पन्न जो जो वस्तुएं हैं, उन समस्त को तुम मेरी शक्ति के अंश से उत्पन्न हुआ जानो। अथवा हे अर्जुन ! पृथक् पृथक् भाव से इन समस्त विभूतियों को जानने से तुम्हें क्या प्रयोजन ? मैं ही एक अंश द्वारा इस समस्त जगत् को धारण कर रहा हूँ ॥६१-६२॥ (इन दोनों श्लोकों में यह बताया गया है कि समस्त जगत् ही श्रीकृष्ण की शक्ति के अंश से आविष्ट है।)

एइ त कहिल शक्त्यावेश-अवतार। बाल्य-पौगण्ड-धर्मेर शुन विचार ॥३१२॥

किशोर-शेखर धर्मी व्रजेन्द्रनन्दन। प्रकट—लीला करिवारे यबे करे मन ॥३१३॥

आदौ प्रकट कराय माता-पिता भक्तगणे। पाछे प्रकट हय जन्मादिक लीला क्रमे ॥३१४॥

(पुरुषावतारादि छः प्रकार के अवतारों की बात कहकर अब प्रभु, जिन बाल्य एवं पौगण्ड-अवस्थाओं को अङ्गीकार करके स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण लीला करते हैं—उन बाल्य एवं पौगण्ड अवस्थाओं के विषय में कहते हैं) सनातन ! मैंने यहाँ तक शक्त्यावेशावतारों के सम्बन्ध में तुम्हें बताया अब तुम बाल्य एवं पौगण्ड जो श्रीकृष्ण के विग्रह के धर्म हैं—उनका विचार सुनो। (पयार नं० २१५ की टीका द्रष्टव्य) श्रीव्रजेन्द्रनन्दन स्वयं भगवान् नित्य--किशोर स्वरूप हैं—वे बाल्य एवं पौगण्ड—इन विग्रह-धर्मों को अङ्गीकार कर बाल्य-पौगण्ड-धर्मी कहे जाते हैं। जब वे प्रकट-लीला को करने की इच्छा करते हैं, वे पहले आदि में माता-पिता एवं अपने भक्तों को प्रकटित करते हैं और फिर वे अपने जन्मादिक लीला-क्रम को प्रकाशित करते हैं ॥३१२—३१४॥

चै० च० चु० *टीका*:—'**प्रकट-लीला**' से श्रीकृष्ण भगवान् की उन लीलाओं से तात्पर्य है जिन्हें जगत् के लोग देख सकते हैं और जिन लीलाओं को जगत् के लोग नहीं देख सकते, उन्हें '**अप्रकट-लीला**' कहते हैं। यह ध्यान रहे कि श्रीभगवान् की समस्त लीलाएं चाहे वे प्रकट हों या अप्रकट, समस्त ही अप्राकृत हैं। वे प्राकृत-इन्द्रियों के गोचरीभूत नहीं हो सकतीं। अतः वे लीलाएं नित्य वर्त्तमान होने पर भी हमें नहीं दीखतीं। अतः वास्तव में जब जब परमकरुणामय भगवान् जिस-जिस ब्रह्माण्ड के लोगों को अपनी लीलाओं को देखने की शक्ति प्रदान करते हैं, तभी जगत्वासी लोग उन लीलाओं को देख सकते हैं—और कहा जाता है कि यह भगवान् की प्रकट-लीला है और जब भगवान् उस अपनी शक्ति को अन्तर्धान कर लेते हैं, तब जगत् के लोग उनकी लीलाओं को नहीं देख सकते—और कहा जाता है कि भगवान् की लीला अप्रकट होगई। अर्थात् उनको कृपाशक्ति के बिना उनकी लीलाओं को देखने की शक्ति किसी में भी नहीं है।

एक ही भगवान् श्रीकृष्ण के जैसे अनन्त प्रकाश हैं, उनके लीलास्थल एक ही व्रजमण्डल के भी उसी प्रकार अनन्त प्रकाश हैं। उन अनन्त प्रकाशों में कभी प्रकाश में कोई लीली, उसी समय ही दूसरे प्रकाश में कोई दूसरी लीला इस क्रम से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में यथाक्रम उनकी समस्त लीलाएं नित्य प्रवाह रूप में होती रहतीं हैं और जगद्वासी उनकी कृपाशक्ति प्राप्त कर उन्हें देखते रहते हैं।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिण विभागे—विभावलहर्य्याम् (१—२७)—

वयसो विविधत्वेऽपि सर्वभक्तिरसाश्रयः।

धर्मी किशोर एवात्र नित्यलीला-विलासवान् ॥६३॥

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है कि वयस के कौमार, पौगण्ड एवं कैशोरादिक अनेक प्रकार भेद होने पर भी सर्वभक्तिरसाश्रय सर्वगुणान्वित तथा नित्य-नूतन लीला विशिष्ट कैशोर वयस ही श्रीकृष्ण की प्रशस्त वयस है—अर्थात् श्रीकृष्ण स्वरूपतः नित्य-किशोर अवस्थायुक्त हो हैं ॥६३॥

चै० च० चु० *टीका*—तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण स्वरूपतः नित्यकिशोर हैं किन्तु बाल्यरसमयी लीलाओं का आस्वादन स्वयं करने और भक्तों को कराने के लिये वे बाल्य-अवस्था को अङ्गीकार कर 'बाल-गोपाल' बन जाते हैं और सख्यरसमयी लीलाओं का आस्वादन करने कराने के लिये वे पौगण्ड वयस को अङ्गीकार करके 'पौगण्ड-गोपाल' कहलाते हैं।

पूतनावधादि यत लीला क्षणे क्षणे। सब लीला नित्य प्रकट करे अनुक्रमे ॥३१५॥
अनन्त ब्रह्माण्डे–तार नाहिक गणन। कोन लीला कोन ब्रह्माण्डे हय प्रकटन ॥३१६॥
एइमत सब लीला–येन गंगाधार। से से लीला प्रकट करे ब्रजेन्द्रकुमार ॥३१७॥
क्रमे बाल्य-पौगण्ड-कैशोरता-प्राप्ति। रास-आदि लीला करे कैशोरे नित्य स्थिति॥३१८॥
नित्यलीला कृष्णेर सर्वशास्त्रे कय। बुझिते ना पारि, लीला केमते नित्य हय ? ॥३१९॥
दृष्टान्त दिया कहि यदि, तबे लोक जाने। कृष्णलीला नित्य–ज्योतिश्चक्र-प्रमाणे ॥३२०॥

भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म–पूतनावधादि से लेकर मूषलान्त- लीला पर्यन्त जो प्रकट लीलाएं हैं, वे समस्त ही क्षण क्षण में नित्य प्रकट हो रही हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती। कोई न कोई लीली किसी न किसी ब्रह्माण्ड में प्रकट रहती ही है। इस प्रकार समस्त लीलाएं गंगा की धारावत् नित्य ही भगवान् श्रीब्रजेन्द्रकुमार प्रकटित करते हैं। श्रीकृष्ण जन्म लीला के पश्चात् बाल्य तथा उसके बाद पौगण्ड तथा फिर कैशोर–अवस्था को प्राप्त होते हैं। कैशोर अवस्था में ही श्रीभगवान् रास-लीला करते हैं। कैशोर में ही श्रीकृष्ण की नित्य स्थिति है। (उसके बाद प्रौढ़ वा वार्द्धक्य–लीला नहीं है)। सर्व शास्त्रों में श्रीकृष्ण–लीला को नित्य कहकर वर्णं किया गया है। किन्तु जन साधारण यह बात समझ नहीं सकते कि लोला नित्य कैसे होतीहै।ग्रथंकार कहते हैं—"मैं इस विषय को दृष्टान्त देकर स्पष्ट करता हूं, सम्भवतः उससे जन साधारण जान सकेंगे।" श्रीकृष्ण–लीला नित्य है, जैसे ज्योति चक्र॥ ३१५—३२०॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीकृष्ण की समस्त लीलाएं नित्य हैं। पूतना लीला एक ब्रह्माण्ड में जिस समय समाप्त होती है—ठीक उसी समय और एक दूसरे ब्रह्माण्ड में आरम्भ हो रही होती है। जब दूसरे ब्रह्माण्ड में समाप्त होती है। ठीक उसी समय और एक तीसरे ब्रह्माण्ड में आरम्भ हो जाती है। इसी प्रकार पूतनावध–लीला किसी न किसी ब्रह्माण्ड में प्रकट ही रहती है। यहां तक कि महाप्रलय में जब प्राकृत ब्रह्माण्ड भी नहीं रहते, उस समय भी योगमाया द्वारा कल्पित ब्रह्माण्डों में उनकी लीला प्रकट ही रहती है। ऐसा कोई भी समय नहीं है, जब किसी न किसी ब्रह्माण्ड में पूतनावध लीला न हो रही हो। इसलिये इस लीला का प्रकटत्व नित्य ही कहा जाता है। इस लीला की भांति श्रीभगवान् की समस्त लीलाएं नित्य ही प्रकट रहती हैं। इन लीलाओं का क्रम एवं भाव यथावत् चलता है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में वे क्रमशः अर्थात् जन्म, उसके पश्चात् पूतनावध उसके बाद शकट–भंजन–इत्यादि लीलाएं प्रकटित होती हैं–आगे पीछे नहीं होतीं।

श्रीकृष्ण परब्रह्म होने से नित्य हैं, परब्रह्म होने से उनका रसस्वरूप अर्थात् आस्वादनत्व एवं आस्वादकत्व भी नित्य ही है। उनका जब आस्वादनत्व एवं आस्वादकत्व नित्य है, तो उनकी लीला भी नित्य है। क्योंकि लीला के बिना आस्वादनत्व या आस्वादकत्व अर्थात् रस स्वरूपत्व का अस्तित्व नहीं रहता। इस रूप में भी श्रीकृष्ण लीलाएं नित्य ही प्रमाणित होती हैं।

समस्त शास्त्रों में श्रीकृष्ण-लीलाओं के नित्यत्व का वर्णन मिलता है, समस्त शास्त्रों के नाम एवं प्रमाण यहां उद्धृत करना असम्भव है किन्तु यहां कुछ मुख्य मुख्य शास्त्रों के नाम एवं वाक्यों का प्रमाण उल्लेख करते हैं जिन्हें पाठकगण आवश्यकता होने पर स्वयं देख सकते हैं। ऋग्वेद (२५४-६), कठोपनिषद (१-२-१६), गोपालतापनी श्रुति (पू-ता- ३५), वेदान्तसूत्र, ब्रह्मसंहिता (५-३३), गर्ग-संहिता (गोलोकखण्ड ३-२२) पद्मपुराण-पाताल खण्ड (४०—) स्कन्दपुराण, श्रीमद्भागवत जी श्रीगीताजी इत्यादि अनेक शास्त्रों में ही श्रीकृष्ण-लीलाओं का नित्यत्व कथन किया गया है।

उक्त पयार में श्रीकृष्ण लीला के नित्यत्व को ज्योतिश्चक्र की उपमा दी गई है। तात्पर्य यह है कि ज्योतिश्चक्र का नियम यह है कि पृथ्वी अपने मेरुदण्ड के चारों ओर घूम रही है, और सूर्य आकाश में एक स्थान पर अवस्थित है। पृथ्वी का जो जो भाग सूर्य के सन्मुख आता जाता है, उस भाग के निवासी लोग अपने यहां सूर्य का उदय मानने लगते हैं। जैसे जैसे पृथ्वी घूमती है, सूर्य की अधिक अधिक सन्मुखता के अनुसार मध्यान्ह एवं सन्ध्याकाल मान लिये जाते हैं। अन्ततः जब वह भाग सूर्य की विपरीत दिशा में घूम जाता है, तब उस भाग में रात्रि मानी जाती है। वस्तुतः पृथ्वी-वासी पृथ्वी के साथ साथ स्वयं घूमते हैं, और सूर्य स्थिर नित्य एक रूप में प्रकाशित रहता है, परन्तु सब कहते यही हैं कि अब सूर्य उदय हो आया, अब सूर्य सिर पर चढ़ आया है और अब रात्रि हो गई या सूर्य अस्त हो गया। इस प्रकार यह ज्योतिश्चक्र नित्य चल रहा है और जो भाग अथवा नगर सूर्य के सामने आते जाते हैं वहां सूर्य का प्राकट्य माना जाता है और जो जो नगर सूर्य की विपरीत दिशा में घूमते जाते हैं, वहां सूर्य का अप्राकट्य मान लिया जाता है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण लीला सूर्य की भांति नित्य प्रकट हो रही है। उनकी इच्छानुसार, उनकी कृपा--शक्ति द्वारा जब एक ब्रह्माण्ड के लोग उनकी लीला को देख पाते हैं, वहां वह लीला प्रकट हो जाती है, और वहां जब अप्रकट हो जाती है, तब और अगले ब्रह्माण्ड में प्रकट होने लगती है। जैसे सूर्य एक स्थान से अन्तर्हित होने पर दूसरे स्थान पर उदय होता जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण लीला भी एक ब्रह्माण्ड से दूसरे ब्रह्माण्ड और दूसरे से तीसरे ब्रह्माण्ड में प्रकटित होती रहती है। किसी न किसी ब्रह्माण्ड में वह लीला प्रकटित ही रहती है। अतः श्रीकृष्ण-लीला के नित्यत्व को समझाने के लिये ज्योतिश्चक्र का दृष्टान्त दिया है। अगले पयारों में ग्रन्थकार ज्योतिश्चक्र के दृष्टान्त को और भी स्पष्ट करके श्रीकृष्ण-लीला का नित्यत्व स्थापन करते हैं।

ज्योतिश्चक्रे सूर्य्य येन भ्रमे रात्रि दिने। सप्तद्वीपाम्बुधि लङ्घि फिरे क्रमे क्रमे ॥३२१॥
रात्रिदिने हय—षाटि दण्ड परिमाण। तिनसहस्र-छयशत पल तार मान ॥३२२॥
सूर्योदय हैते षाटि पल क्रमोदय। सेइ 'एक दण्ड' अष्टदण्डे 'प्रहर' हय॥३२३॥
एक दुइ तिन चारि प्रहरे अस्त हय। चारि प्रहर रात्रि गेले पुन सूर्योदय ॥३२४॥
ऐछे कृष्णलीला-मण्डल चौद्द मन्वन्तरे। ब्रह्माण्ड मण्डल व्यापि क्रमे क्रमे फिरे ॥३२५॥

ज्योतिश्चक्र के नियमानुसार वास्तव में पृथ्वी के घूमने पर भी सूर्य रात दिन घूमता हुआ दीखता है और (जम्बु, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक एवं पुष्कर—इन) सातों द्वीपों तथा (लवण, इक्षु, सुरा, सर्पि (शहद) दधि, दुग्ध तथा जल—इन) सातों समुद्रों को क्रम क्रम से लांघता हुआ चला जाता है। रात और दिन साठ साठ घड़ियों के होते हैं। एक घड़ी में साठ पल

होने से—एक दिन अथवा एक रात में (६०×६०=३६००) पल हुआ करते हैं । सूर्योदय होने से साठ पल के अनन्तर एक घड़ी बीत जाती है । आठ घड़ियों के बीतने पर एक प्रहर होता है। क्रमशः चार प्रहर बीतने पर सूर्य अस्त हो जाता है और दिन बीत जाता है। इसी प्रकार और चार प्रहर बीतने पर रात्रि समाप्त हो जाती है और फिर सूर्योदय होता है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण-लीला-मण्डल भी चौदह मन्वन्तरों में क्रम क्रम से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में प्रकट होकर घूमता रहता है ॥।३२१—३२५॥

सओयाशत वत्सर कृष्णेर प्रकट प्रकाश । ताहां यैछे ब्रजपुरे करिल विलास ॥३२६
अलातचक्रवत् सेइ लीलाचक्र फिरे । सल लीला सब ब्रह्माण्डे क्रमे उदय करे ॥३२७॥
जन्म बाल्य पौगण्ड कैशोर प्रकाश । पूतनावधादि करि मौषलान्त विलास ॥३२८॥॥
कोन ब्रह्माण्डे कोन लीलार हय अवस्थान । ताते 'नित्यलीला' कहे आगम पुराण ॥३२९॥

सवा सौ (१२५) वर्ष पर्यन्त श्रीकृष्ण भगवान् की लीला का प्रकट-प्रकाश है (अर्थात् जन्म से लेकर मूषल-लीला पर्यन्त, जिसमें श्री भगवान् अन्तर्धान हुए—एक सौ पच्चीस वर्ष होते हैं) जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र ने इस पृथ्वीतल पर ब्रज में वर्त्तमान रहकर लीलाएं प्रकट की हैं। एक लकड़ी के सिरे को जलाकर द्रुतवेग से घुमाने पर जैसे अटूट अग्नि चक्र या अलातचक्र दीखता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की लीलाओं का चक्र भी घूम रहा है और समस्त लीलाएं समस्त ब्रह्माण्डों में क्रम क्रम से उदित होती रहती हैं। जन्म, बाल्य, पौगण्ड तथा कैशोर अवस्थाओं को प्रकाशित करते हुए पूतनावध से लेकर मूषल लीला पर्यन्त श्रीभगवान् की जितनी लीलाए हैं किसी न किसी ब्रह्माण्ड में उनमें से कोई न कोई लीला चलती ही रहती है—अतः वेद-शास्त्रों में श्रीकृष्ण-लीला को नित्य कहकर वर्णन किया गया है ॥

गोलोक गोकुल धाम-'विभु' कृष्णसम । कृष्णेच्छाय ब्रह्माण्डगणे ताहार संक्रम ॥३३०॥
अतएव गोलोकस्थाने नित्य-बिहार । ब्रह्माण्डगणे क्रमे प्राकट्य ताहार ॥३३१॥
ब्रजे कृष्ण सर्व्वैश्वर्य्य प्रकाशे पूर्णतम । पुरीद्वये परव्योमे-पूर्णतर पूर्ण ॥३३२॥

गोलोक या गोकुलधाम जो श्रीकृष्ण का लीलास्थल है, श्रीकृष्ण की भाँति विभु—सर्वव्यापक है। श्रीकृष्ण की इच्छा से उनका लीलास्थल—गोकुलधाम भी ब्रह्माण्डों में क्रम क्रम से आविर्भूत होता रहता है। अतएव गोलोक में ही श्रीकृष्ण का नित्य लीलाविहार कहा गया है, जो ब्रह्माण्डों में क्रमशः प्रकट या प्रकाशित हुआ करता है। ब्रज अर्थात् श्रीवृन्दाबन में श्रीकृष्ण के समस्त ऐश्वर्य-माधुर्य का 'पूर्णतम' प्रकाश है और मथुरा में 'पूर्णतर' तथा द्वारका एवं परव्योम—वैकुण्ठ में 'पूर्ण' प्रकाश है ॥३३०-३३२॥ (जैसा कि भक्तिरसामृतसिन्धु में वर्णित हुआ है)—]

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे विभावलहर्य्याम् (१—११८ से १२०)

हरिः पूर्णतमः पूर्णतरः पूर्ण इति त्रिधा ।
श्रेष्ठमध्यादिभिः सर्वैर्नाट्ये यः परिपठ्यते ॥६४॥
प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः ।
असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदर्शकः ॥६५॥

कृष्णस्य पूर्णतमता व्यक्ताभूत् गोकुलान्तरे ।
पूर्णता पूर्णतरता द्वारकामथुरादिषु ॥६६॥

नाट्य शास्त्र में अर्थात् गुणों के प्रकाश के तारतम्यानुसार श्रेष्ठ, मध्यमादि के भेद से श्रीकृष्ण—पूर्णतम, पूर्णतर एवं पूर्ण—इन तीन प्रकार से कीर्तित हुए हैं । पण्डितगण उनके सर्वगुण प्रकाशक स्वरूप को (अर्थात् जिस स्वरूप में उनके समस्त गुण पूर्णतमरूप से अभिव्यक्त हुए हैं—उस स्वरूप को) 'पूर्णतम' कहते हैं और जिस स्वरूप में उस पूर्णतम स्वरूप की अपेक्षा अल्पगुण प्रकाशित हुए है, उस स्वरूप को 'पूर्णतर' कहकर वर्णन करते हैं तथा जिस स्वरूप में पूर्णतर स्वरूप की अपेक्षा और भी अल्प गुण प्रकाशित होते हैं, उस स्वरूप को 'पूर्ण' कहा करते हैं, श्रीकृष्ण की पूर्णतमता श्रीवृन्दावन में है, पूर्णतरता मथुरा में एवं पूर्णता द्वारका एवं परव्योम में अभिव्यक्त है ॥ ६४—६६ ॥

एक कृष्ण ब्रजे–पूर्णतम भगवान् । आर सब स्वरूप—पूर्णतर पूर्ण नाम ॥३३३॥
संक्षेपे कहिल कृष्णेर स्वरूप-विचार । अनन्त कहिते नारे इहार विस्तार ॥३३४॥
अनन्त स्वरूप कृष्णेर–नाहिक गणन । शाखाचन्द्रन्याय करि दिग्दरशन ॥३३५॥
इहा येइ पढ़े शुने—से–इ-भाग्यवान् । कृष्णेर स्वरूप-तत्त्वेर हय किछु ज्ञान ॥३३६॥
श्रीरूप-रघुनाथ पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥३३७॥

केवल श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण पूर्णतम–भगवान् स्वरूप से प्रकाशित होते हैं (कारण कि ब्रज के परिकरों में प्रेम की पूर्णतम अभिव्यक्ति है—अतः श्रीकृष्ण का सौन्दर्य–माधुर्य ऐश्वर्य भी पूर्णतम रूप से प्रकाशित होता है) अन्यान्य समस्त स्थानों पर (वहां के परिकरों के प्रेम विकाश के तारतम्यानुसार) श्रीकृष्ण पूर्णतर एवं पूर्ण स्वरूपों से प्रकाशित होते हैं । श्रीमहाप्रभु ने कहा–"सनातन! मैंने तुम्हें श्रीकृष्ण के स्वरूप के सम्बन्ध में संक्षेप से कुछ सुनाया है । श्रीअनन्त भगवान् भी इसको विस्तार पूर्वक कहने में असमर्थ हैं । श्रीकृष्ण के अनन्त स्वरूप हैं जिनकी गणना नहीं हो सकती । वृक्ष की शाखाओं में से जैसे चन्द्र को किञ्चित् दिखाया जाता है, उसी प्रकार मैंने तुम्हें यहां श्रीकृष्ण-स्वरूप का दिग् दर्शन कराया है । इस प्रसङ्ग को जो भी पढ़े अथवा सुनेगा, वही बड़ा भाग्यवान् है, उसे श्रीकृष्ण के स्वरूप–तत्त्व का कुछ ज्ञान प्राप्त हो जायगा ॥ श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्ण दास कविराज गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥३३३–३३७

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां
सम्बन्ध-तत्त्वनिरूपणे श्रीभगवत्स्वरूपभेद–विचारो–नाम
विंश परिच्छेदः ॥२०॥

जयगौर

मध्य-लीला

एकविंश परिच्छेद

अगत्येकगतिं नत्वा हीनार्थाधिकसाधकम् ।
श्रीचैतन्यं लिखाम्यस्य माधुर्यैश्वर्य्य श्रीकरम् ।।१।।

गतिहीनों की एकमात्र गति व हीन जनों के अत्यधिक–रूप से धर्मादि-सिद्धि-प्रदाता, श्रीचैतन्य-देव को नमस्कार करके मैं, उनके (श्रीकृष्ण या श्रीकृष्णचैतन्य के) ऐश्वर्य व माधुर्य के कण मात्र का उल्लेख करता हूँ ।।१।।

(इस परिच्छेद में गत परिच्छेद में कहे गये सम्बन्धतत्त्व-विचार के प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य-माधुर्य का वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने इसी उद्देश्य से इस श्लोक में श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा प्रार्थना की है।)

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ।।१।।
सर्वस्वरूपेर धाम परव्योमधामे। पृथक् पृथक् वैकुण्ठ सब, नाहिक गणने ।।२।।
शतसहस्रायुत लक्षकोटि योजन। एकैक वैकुण्ठेर विस्तार वर्णन ।।३।।
सब वैकुण्ठ–व्यापक आनन्दचिन्मय। पारिषद्–षड़ैश्वर्यपूर्ण सब हय ।।४।।

श्रीश्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो, एवं श्रीगौर-भक्तवृन्दों की जय हो। (गत परिच्छेद में श्रीकृष्ण के जिन विलासादि-रूप अनन्त स्वरूपों का उल्लेख किया जा चुका है–) उन समस्त स्वरूपों में प्रत्येक का परव्योम में अपना पृथक् पृथक् धाम या वैकुण्ठ है—इस प्रकार परव्योम में असंख्य वैकुण्ठ है। एक-एक वैकुण्ठ का परिमाण शत सहस्र-अयुत लक्ष-कोटि योजन वर्णन किया गया है। किन्तु फिर भी सब वकुण्ठ व्यापक एवं आनन्द-चिन्मय स्वरूप हैं। सब वैकुण्ठ वैकुण्ठाधिपति के पारिषदों एवं षड़-प्रकार के ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं ।।१—४।।

अनन्त वैकुण्ठ एक-एक देशे यार। सेइ परव्योमधामेर के करु विस्तार? ।।५।।
अनन्त वैकुण्ठ-परव्योम यार 'दलश्रेणी'। सर्वोपरि कृष्णलोक 'कर्णिकाय' गणि ।।६।।
एइमत षड़ैश्वर्य–स्थान अवतार। ब्रह्मा शिव अन्त ना पाय, जीव कोन छार ।।७।।

अनन्त एवं असंख्य वैकुण्ठ जिस परव्योम के एक कोने या अंश में स्थित हैं, उस परव्योम के विस्तार का कौन वर्णन कर सकता है? अनन्त वैकुण्ठ जो परव्योम में स्थित हैं, तथा द्वारका, मथुरा एवं गोकुल—इन तीनों रूपों में प्रगटित—श्रीकृष्णलोक, इन दोनों का आकार मानों एक कमल की भांति है।) अनन्त परव्योमस्थित वैकुण्ठ उस कमल की दलश्रेणी स्थानीय हैं एवं कमल की कर्णिका के स्थान

पर श्रीकृष्ण-लोक सर्वोपरि विराजमान है। इस प्रकार श्रीभगवान् षड़ैश्वर्यपूर्ण हैं, उनके अवतार, उन सब अवतारों के धाम उनके सब पारिषद षड़ैश्वर्यपूर्ण ही हैं। उनका अन्त श्रीब्रह्मा-शिवादिक भी नहीं पा सकते, फिर जीवों की क्या गिनती ? ॥५—७॥ (जैसे कि श्रीभागवत जी में कहा गया है)—

तथाहि (भा: १०—१४—२१)—

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्वाहो कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीड़सि योगमायाम् ॥२॥

श्रीब्रह्मा जी ने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कहा है—"हे भूमन् ! (सर्वव्यापक) हे षड़ैश्वर्य-परिपूर्ण भगवन् ! हे सर्वान्तर्यामिन् ! हे योगेश्वर ! कैसा आश्चर्य हैं ? आप जब अपनी स्वरूपशक्ति योग-माया का विस्तार कर क्रीड़ा करते हो तब आपकी लीला कहाँ, किस प्रकार, कितनी, किस समय सम्पादित होती है—इस त्रिभवन में कौन ऐसा है जो उसे जान सके ? अर्थात् कोई भी नहीं जान सकता ॥२॥

एइमत कृष्णोर दिव्य सद्गुण अनन्त ।
ब्रह्मा-शिव सनकादि ना पाय यार अन्त ॥८॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण की लीलाएं दिव्य हैं, उनके अनन्त सद्गुण हैं, जिनका पारब्रह्मा-शिव-सनकादिक भी नहीं पा सकते ॥८॥

तथाहि (भा: १०—१४—७)

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांशवः खे मिहिका द्युभासः ॥३॥

श्रीब्रह्मा जी ने श्रीकृष्ण के प्रति कहा है—"स्वरूपाभूत गुणों से गुणी आपके एवं विश्व के हित के निमित्त अवतीर्ण होने वाले आपके गुणसमूह की कौन गिनती कर सकता है ? यथोपयुक्त समय पाकर जो समस्त सुनिपुण व्यक्ति हैं—वे पृथ्वी के परमाणु-समूह, आकाश के हिमकण तथा सूर्य की किरणों की गणना कर लें, तो माना जा सकता है, किन्तु आपके सद्गुणों को कोई भी नहीं गिन सकता ॥३॥

ब्रह्मादिक रहु, अनन्त सहस्रवदन ।
निरन्तर गाय, गुणोर अन्त नाहि पान ॥९॥

ब्रह्मा जी (जिनके चार मुख हैं) शिव जी (जिन के पांच मुख हैं) एवं सनकादि (जिनका केवल एक-एक ही मुख है) वे श्रीकृष्ण के गुणों का तो क्या गान करेंगे ? जब कि श्री अनन्त जिनसे हजार मुख हैं, वे निरन्तर श्रीकृष्ण के गुणों का गान करके भी उनका अन्त नहीं पा सकते ॥९॥

तथाहि (भा: २—८—४२)

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽवरा ये ।
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥४॥

श्रीब्रह्मा जी ने कहा है—"हे नारद ! तुम्हारे अग्रज (बड़े भाई) सनकादि मुनिगण भी परम पुरुष श्रीकृष्ण की माया के बल का अन्त नहीं पा सकते, और तो क्या, मैं भी नहीं पा सकता, फिर अन्य

किसी के लिये क्या कहूँ ? सहस्रबदन श्रीअनन्त देव अनादिकाल से आज तक उनके गुणों का गान कर रहे हैं, वे भी उनको पार नहीं पा सके ॥४॥

सेहो रहु, सर्वज्ञ-शिरोमणि कृष्ण ।
निज गुणेर अन्त ना पाय, हये त सतृष्णा ॥१०॥

इन सब का बात रहने दीजिये, श्रीकृष्ण जो सर्वज्ञ शिरोमणि हैं, वे स्वयं भी अपने गुणों का अन्त नहीं पा सकते, सदा वे उत्कण्ठित ही रहते हैं ॥१०॥ (जैसा कि कहा गया है)—

तथाहि (भाः १०—८७—४१)—

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यत् श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥५॥

श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके श्रुतियों ने कहा है—"हे भगवन् ! स्वर्गादि लोकपति ब्रह्मादि देवगण भी आपका अन्त नहीं पा सकते हैं, और तो क्या आप अनन्त होते हुए भी अपना अन्त नहीं पा सकते हो। (आपके अनन्त होने का प्रमाण यह है कि) आकाश धूलि के कणसमूह जैसे घूमते रहते हैं, उसी प्रकार आपके रोमविवरों में सावरण (उत्तरोत्तर दशगुण सप्तावरण युक्त) ब्रह्माण्डसमूह कालचक्र द्वारा प्रवर्त्तित होकर एक साथ भ्रमण कर रहे हैं। अतः समस्त श्रुतियां जिनका आलोच्य विषय आप ही हो, अतद्वस्तु (जो तद् वस्तु नहीं है—उस) का निरसन (खण्डन) करती हुई आपको ही अपना प्रतिपाद्य-विषय बनाकर सफलता को प्राप्त हुई हैं अर्थात् कृतार्थ हुई हैं ॥५॥ श्रीकृष्ण अपना अन्त स्वयं भी नहीं पा सकते—इस श्लोक से प्रमाणित होता है।

सेहो रहु, ब्रजे यबे कृष्ण-अवतार । तांर चरित्र-विचारेते मत ना पाय पार ॥११॥
प्राकृताप्राकृत-सृष्टि कैल एक क्षणे । अशेष वैकुण्ठाजाण्ड स्व-स्व-नाथ सने ॥१२॥
एमत अन्यत्र नाहि शुनिये अद्भुत । याहार श्रवणे चित्त हय अवधूत ॥१३॥
"कृष्णवत्सैरसंख्यातैः—शुकदेव वाणी । कृष्णसङ्गे कत गोप-संख्या नाहि जानि ॥१४॥
एक एक गोप-करे ये वत्स चारण । कोटि-अर्बुद-पद्म-शंख ताहार गणन ॥१५॥
वेत्र वेणु दल शृङ्ग वस्त्र अलङ्कार । गोपगणेर यत-तार नाहि लेखा पार ॥१६॥
सभे हैल चतुर्भुज वैकुण्ठेर पति । पृथक् पृथक् ब्रह्माण्डेर ब्रह्मा करे स्तुति ॥१७॥

श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं और गुणों की बात तो रहने दो, ब्रज में जब श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुए, उनकी ब्रज की लीला की भी थाह बुद्धि एवं मन नहीं पा सकते। (गो-वत्स हरण करने के पश्चात् ब्रह्मा जी को अपना ऐश्वर्य दिखाते हुए) श्रीकृष्ण ने प्राकृत तथा अप्राकृत ब्रह्माण्डों को एक क्षण में प्रगट कर दिया। अनन्त ब्रह्माण्ड, अनन्त वैकुण्ठ एवं उन वैकुण्ठों के अनन्त वैकुण्ठाधिपति भी ब्रह्मा जी ने वहां वन में देखे। इस प्रकार की अद्भुतलीला और अन्यत्र कहीं भी सुनाई नहीं देती। इस लीला को सुन कर चित्त चमत्कृत हो उठता है। श्रीशुकदेव जी ने (श्रीमद्भागवत १० म स्कन्ध के बारहवें अध्याय के तीसरे श्लोक में) कहा है। "कृष्णवत्सैरसंख्यातैः"—अर्थात् "श्रीकृष्ण ने असंख्य गोवत्सों के द्वारा"—यानि श्रीकृष्ण के साथ असंख्य बछड़े थे। उनकी गणना हो ही नहीं सकती। एक एक गोप जो बछड़े

चराता था, उन बछड़ों की संख्या कोटि, अर्बुद, पद्म एवं शंखों में थी। और फिर गोप जो वेत्र, वेणु (बारह अंगुल लम्बी मोटे बांस की बंशी), शृङ्ग, वस्त्र एवं आभूषण धारण कर रहे थे, उनकी संख्या का तो कोई लेखा ही नहीं हो सकता। वे समस्त अर्थात् वे प्रत्येक सखा, प्रत्येक बछड़ा, प्रत्येक वेणु, प्रत्येक वेत्र, प्रत्येक दल –बंशी, प्रत्येक शृङ्ग, प्रत्येक वस्त्र एवं प्रत्येक अलङ्कार ही चतुर्भुज विष्णु होगया और प्रत्येक विष्णु के आधीन रहने वाले प्रत्येक ब्रह्माण्ड का प्रत्येक ब्रह्मा स्तुति करने लगा—ऐसा ब्रह्मा जी ने देखा ॥११—१७॥

एक कृष्णदेह हैते सभार प्रकाशे। क्षणेके सभार सेइ शरीरे प्रवेशे ॥१८॥
इहा देखि ब्रह्मा हैला मोहित विस्मित। स्तुति करि एइ पाछे करिल निश्चित—॥१९॥
ये कहे—कृष्णेर वैभव मुञि सब जानो। से जानुक, कायमने मुञि एइ मानो ॥२०॥
एइ तोमार अनन्त वैभवामृतसिन्धु। मोर वाङ्मनोगम्य नहे एक विन्दु ॥२१॥

उन समस्त असंख्य ब्रह्माण्डों के विष्णुओं का एक श्रीकृष्ण के देह से प्रगटन हुआ और एक क्षण के बाद एक श्रीकृष्ण में ही वे समस्त समा गये। यह सब ऐश्वर्य देखकर ब्रह्माजी मोहित एवं विस्मित हो गये और स्तुति करके फिर उन्होंने यही निश्चित किया कि—जो यह कहते हैं कि मैं श्रीकृष्ण का वैभव जानता हूँ"—वह जाना करे, किन्तु मैं तो काय-मन-से यही मानता हूँ कि, हे कृष्ण! आपका वैभवामृत-सिन्धु अनन्त है—मैं तो उसके एक बिन्दु का भी वाणी और मन से पार नहीं पा सकता ॥१८-२१॥ (जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है)—

तथाहि (भा: १०—४१—३८)

जानन्तु एव जानन्तु किं बहुक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥६॥

ब्रह्मा जी ने श्रीकृष्ण से कहा है—"जो कहते हैं—हम श्रीकृष्ण की महिमा जानते हैं—वे जाना करें, अधिक बोलने का प्रयोजन नहीं है, हे प्रभो! आपकी महिमा मेरे तो मन, देह एवं वाणी के गोचर नहीं है ॥६॥

कृष्णेर महिमा रहु, केबा तार ज्ञाता। वृन्दाबन स्थानेर देख आश्चर्य विभुता ॥२२॥
षोलक्रोश वृन्दाबन—शास्त्रे परकाशे। तार एक देशे वैकुण्ठाजाण्डगण भासे ॥२३॥
अपार ऐश्वर्य कृष्णेर, नाहिक गणन। शाखाचन्द्रन्याय करि दिग्दरशन ॥२४॥
ऐश्वर्य कहिते स्फुरिल कृष्णेर ऐश्वर्यसागर। मनेन्द्रिय डूबि प्रभुर, हइला फांफर ॥२५॥
भागवतेर एइ श्लोक पढ़िला आपने। अर्थ आस्वादिते सुखे करेन व्याख्याने ॥२६॥

श्रीकृष्ण की महिमा की बात रहने दीजिये, उसको कौन जान सकता है? जिस स्थान पर वे लीला करते हैं—उस श्रीवृन्दावन का वैभव भी आश्चर्यमय है, देखिये तो शास्त्र कहता है श्रीवृन्दाबन सोलह कोस में व्याप्त है। भगवान् वन में जहां गैया चराते थे, वह स्थान उस श्रीवृन्दावन के एक अंश में स्थित था। किन्तु उसी एक अंश में ही अनन्त वैकुण्ठ एवं अनन्त ब्रह्माण्ड श्रीब्रह्मा जी ने देखे। कितने आश्चर्य की बात है? श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"अपार ऐश्वर्य है, उसका कुछ पारावार नहीं है। किञ्चित्

मात्र मैंने, सनातन ! तुम्हें उसका दिग्दर्शन कराया है।" इस प्रकार श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का वर्णन करते करते श्रीमाहाप्रभु जी को श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य के समुद्र की स्फूर्त्ति होने लगी और उनके मन-इन्द्रिय उसमें मानो डुबकियां लेने लगे। श्रीमहाप्रभु श्रीभागवत का निम्नलिखित श्लोक पढ़ कर उसके अर्थ का सुखपूर्वक आस्वादन करने लगे ॥२२—२६॥

तथाहि (भा: ३—२—२१)

स्वयन्त्वजाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
वलिं हरद्‌भिश्चिरलोकपालैः किरीट—कोटीड़ित पादपीठः ॥७॥

श्रीविदुर जी को श्रीउद्धव जी ने कहा है—"जो आप स्वयं भगवान् हैं, जिनके समान और जिन से बड़ा और कोई नहीं है, जो त्रिलोक के अधीश्वर हैं, परमानन्द स्वरूप सम्पत्ति द्वारा जो समस्त काम्यवस्तुओं को प्राप्त हैं। पूजोपहार समर्पण करते हुए ब्रह्मादिक चिरलोकपालगण कोटि कोटि किरीटों के अग्रभागों द्वारा जिनकी चरण-पीठ की पूजा करते हैं, (वे श्रीकृष्ण उग्रसैन के अनुवर्ती होकर चलेंगे—यह बात हम लोगों के लिये, जो उनके सेवक हैं—अत्यन्त दुखदाई है) ॥७॥

चै० च० चु० *टीका:*—तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने बाहुबल से कंस को मारा। वे स्वयं ही मथुरा की राजपदवी सम्भाल कर राजा बन सकते थे, किन्तु वे स्वयं राजा न बनकर कंस के पिता—श्रीउग्रसैन को ही उन्होंने राजा बना दिया और वे स्वयं राजा उग्रसेन के आज्ञानुवर्त्ती होकर काम काज करने लगे। इस बात से श्रीउद्धवादि जो श्रीकृष्णभक्त थे, उनके मन में अत्यन्त दुख था—उसी दु:ख को श्रीउद्धव जी ने श्रीविदुर जी के सामने इस श्लोक में व्यक्त किया है। यह श्लोक श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का परिचायक है। स्वयं श्रीमहाप्रभु ने इस श्लोक की जो व्याख्या की, उसे परवर्त्ती पयारों में उल्लिखित करते हैं।

परम ईश्वरकृष्ण स्वयंभगवान् ।
ताते बड़, तार सम, केहो नाहि आन ॥२७॥

श्रीकृष्ण परम-ईश्वर एवं स्वयं-भगवान् हैं, उनसे बड़ा तथा उनके समान भी कोई नहीं है ॥२७॥ (जैसे कि ब्रह्मसंहिता में कहा गया है)—

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५—१)—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥८॥

श्रीकृष्ण परम-ईश्वर हैं, वे सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। वे स्वयं अनादि किन्तु सब के आदि हैं। वे गाविन्द हैं एवं समस्त कारणों के कारण हैं ॥८। (आदि-लीला पृष्ठ ४६ द्रष्टव्य है)

ब्रह्मा विष्णु हर-एइ सृष्ट्यादि-ईश्वर ।
तिने आज्ञाकारी कृष्णेर, कृष्ण अधीश्वर ॥२८॥

श्रीब्रह्मा, श्रीविष्णु एवं श्रीमहादेव—ये तीनों सृष्टि के ईश्वर हैं, किन्तु ये तीनों श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी हैं। श्रीकृष्ण सब के अधीश्वर हैं ॥२८। (इस बात का प्रमाण कहते हैं)—

तथाहि (भाः २—६—३०)

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥६॥

श्रीब्रह्माजी ने नारद जी से कहा है—श्रीकृष्ण के द्वारा नियुक्त होकर ही मैं विश्व की सृष्टि करता हूँ और श्रीरुद्र उनके अधीन होकर विश्व का संहार करते हैं, तथा वही त्रिशक्तिशाली श्रीकृष्ण ही विष्णुरूप से विश्व की पालना करते हैं ॥६॥

ए सामान्य, 'त्र्यीधीश्वरेर' शुन अर्थ आर—। जगत्कारण तिन पुरुषावतार ॥२६॥
महाविष्णु, पद्मनाभ, क्षीरोदकस्वामी । एइ तिन स्थूल-सूक्ष्म-सर्व-अन्तर्यामी ॥३०॥
एइ तिन सर्वाश्रय जगत्-ईश्वर । एहों सब कला-अंश, कृष्ण अधीश्वर ॥३१॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन ! पूर्ववर्ती पयारों में जो भगवान् श्रीकृष्ण को ब्रह्मा, विष्णु महादेव को ईश्वर कहा गया है—वह 'त्र्यधीश्वर' का सामान्य अर्थ है । त्र्यधीश्वर-शब्द का एक और गूढ़ अर्थ सुनो । जगत् के कारण तो वास्तव में—श्रीमहविष्णु (कारणसागरशायी), श्रीपद्मनाभ (गर्भोदकशायी) तथा क्षीरसागरशायी—ये तीनों पुरुषावतार हैं । ये तीनों—स्थूल जीवों के स्थूल ब्रह्मा के एवं सूक्ष्मब्रह्माण्ड व महतत्त्व के अन्तर्यामी हैं, अर्थात् स्थूल जीव का अन्तर्यामी—क्षीरसमुद्रशायी पुरुष है । स्थूल ब्रह्मा का अन्तर्यामी—गर्भोदकशायी द्वितीय-पुरुष है, एवं सूक्ष्मब्रह्माण्ड व महतत्त्व का अन्तर्यामी प्रथमपुरुष कारण-समुद्रशायी है । ये तीनों ही सब के आश्रय एवं जगत् के ईश्वर हैं । किन्तु ये तीनों भी श्रीकृष्णचन्द्र के कला और अंश ही हैं, अतः श्रीकृष्णचन्द्र समस्त के अधीश्वर कहे गये हैं ॥२६-३१॥
(इस बात का प्रमाण इस प्रकार है)—

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५-४४)—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कला-विशेषो गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥१०॥

जिस महा विष्णु के एक श्वास बाहर करने के समय तक, उनके लोमकूपों से आविर्भूति होने वाले ब्रह्माण्ड के अधिपति ब्रह्मा विष्णु तथा शिव—इस जगत् में अपने अपने अधिकार में प्रगट रूप से अवस्थान करते हैं, वे महा विष्णु भी जिसकी एक कला हैं—उस आदि-पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ ॥१०॥

एहो अर्थ मध्यम, आर अर्थ शुन सार । तिन आवासस्थान कृष्णेर शास्त्रे ख्याति यार ॥३२॥
अन्तःपुर गोलोक, श्रीवृन्दाबन । यांहा नित्य स्थिति माता-पिता-बन्धुगण ॥३३॥
मधुरैश्वर्य्य माधुर्य कृपादि भाण्डार । योगमाया दासी याहां—रासादि लीलासार ॥३४॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन ! यह अर्थ भी मध्यम है, । एक और सार अर्थ का तू श्रवण कर । शास्त्रों में ही श्री कृष्ण के तीन निवास स्थानों की प्रसिद्धि वर्णन है । एक तो श्रीकृष्ण का अन्तःपुर गोलोक—श्रीवृन्दावन है, जहां श्रीकृष्ण नित्य अपने माता-पिता-कान्ता,वन्धुगणों के सहित विराजमान हैं वह श्रीवृन्दावन श्रीकृष्ण के अति मधुर अर्थात् आस्वादनीय ऐश्वर्य का, माधुर्य का तथा जीवों के प्रति कृपादि

का भण्डार है। जहां उनकी योगमाया दासी होकर सेवा करती है और जहां समस्त लीलाओं की सार रास लीलाओं की अभिव्यक्ति है ॥३२—३४॥ (जसे कि श्रीगोस्वामीपाद ने कहा है):—

तथाहि गोस्वामिपादोक्तश्लोकः—

करुणानिकुरन्वकोमले मधुरैश्वर्य विशेषशालिनि।
जयति व्रजराजनन्दने न हि चिन्ताकणिकाभ्युदेति नः ॥११॥

जो स्वीय करुणा समूह द्वारा कोमल-चित्त हैं एवं जो माधुर्य तथा ऐश्वर्य-विशेष युक्त हैं—वे व्रजराज श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्ण जययुक्त जब विराजमान हैं, तो हमारे लिये लेशमात्र चिन्ता भी उदित नहीं हो सकती ॥११॥

चै० च० चु० *टीका:*— इस श्लोक में श्रीकृष्ण के माधुर्य-ऐश्वर्य एवं कृपा विशेष युक्त होने का कथन किया गया है। यहां तक श्रीकृष्ण के एक निवास स्थान अर्थात् अन्तःपुर श्रीवृन्दावन का वर्णन किया गया है, अगले पयारों में दूसरे निवासस्थान का वर्णन करते हैं:—

तार तले परव्योम-विष्णुलोक नाम। नारायण आदि अनन्त स्वरूपेर धाम ॥३५॥
मध्यम आवास कृष्णेर-षड़ैश्वर्य्यभाण्डार। अनन्त स्वरूप याहां करेन बिहार ॥३६॥
अनन्त वैकुण्ठ यांहा भाण्डार कोठरि। पारिषदगण षड़ैश्वर्य आछे भरि ॥३७॥

श्रीकृष्ण के गोलोक धाम के नीचे परव्योम है, जिस का दूसरा नाम 'श्रीविष्णु-लोक' है। वहां श्रीनारायणादि अनन्त स्वरूप निवास करते हैं। श्रीकृष्ण का वह बीच का या मध्यम निवास स्थान कहा जाता है, जो षड़ैश्वर्यों का भण्डार है। वहां श्रीकृष्ण की विलास मूर्त्ति, लीलावतार, मन्वन्तरावतार आदि अनन्त भगवत्-स्वरूपों के रूप में श्रीकृष्ण निवास करते हैं। अनन्त भगवत्-स्वरूपों के वैकुण्ठ मानों कोठरियों के समान परव्योम में स्थित हैं, और वह परव्योम षडैश्वर्यपूर्ण पार्षदों से भरपूर है ॥३५-३७॥ (इस बात के प्रमाण में कुछ एक श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं):—

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् (५—४३)—

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥१२॥

श्रीब्रह्माजी ने कहा है—"श्रीकृष्ण का निजधाम गोलोक या श्रीवृन्दावन है एवं उस गोलोक के नीचे यथाक्रम हरिधाम महेशधाम तथा देवीधाम हैं, जिन्होंने यथायोग्य भाव से अपने प्रभाव से समस्त लोक विस्तार किये हैं या प्रकाशित किए हैं—उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ ॥१२॥

चै० च० चु० *टीका:*—इस श्लोक में गोलोकधाम के नीचे हरिधाम, महेशधाम तथा देवी धाम—इन तीन धामों के नामों का भी उल्लेख है। हरिधाम से तो परव्योम-धाम का अभिप्राय है, जो कृष्णलोक के नीचे है किन्तु महेशधाम एवं देवी अर्थात् दुर्गादेवी का धाम—ये जो दोनों धाम हैं—इनकी गिनती चिन्मयधामों में न ही है और नहीं इनका वहां अवस्थान ही है। परव्योम में जो सदा-शिव का धाम है—वह चिन्मय है और परव्योम के अन्तर्गत ही है। जो दुर्गादेवी है, वह सृष्टि-स्थिति-प्रलय साधिका शक्ति है। अतःउसका मायिक गुणों से सम्पर्क रहता है, वह गुणमयी देवी है। अतः उसका अवस्थान चिन्मय धामों में नहीं है। हां, भगवत्-धाम में भगवान् के आवरण देवता-रूप में एक दुर्गा

रहती है, जो गुणातीत है और अष्टाक्षरादि मन्त्रों की अधिष्ठात्री देवता भी है, वह भगवान् की स्वरूप-शक्ति की वृत्ति-विशेष है जिस का पृथक् धाम चिन्मय लोक में नहीं है, श्लोक में "देवी-महेश-हरिधामसु"-पद को बहु वचनान्त किया गया है। अतः इससे ज्ञात होता है, यहां देवीधाम महेशधाम एवं हरिधाम—ये तीनों पृथक् पृथक् धाम हैं। अत: यहां जानना चाहिये कि महेश एवं देवी धाम प्राकृत ब्रह्माण्ड में अवस्थित हैं। वैसे भी यहां प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण को त्र्यधीश्वर अर्थात् तीनों धामों का अधीश्वर प्रतिपादित किया जा रहा है। अत: एक तो उनका 'गोलोक धाम' अन्त:पुर रूप में सर्वोपरि विराजमान है। दूसरा उनका मध्यम निवासस्थान 'परव्योम' है। तीसरा उनका निवासस्थान प्राकृत-ब्रह्माण्ड भी है, जिसको भगवान् का बाह्यावास परवर्त्ती पयार नं० ३८ में कह कर वर्णन किया गया है। अतः तीसरे निवासस्थानन्तर्गत प्राकृत-ब्रह्माण्ड में ही 'महेश धाम' तथा दुर्गाधाम को जानना चाहिये। तभी 'त्र्यधीश्वर'-शब्द के सार अर्थ में इस श्लोक की सङ्गति बैठती है'

तथाहि लघुभागतामृते पूर्वखण्डे (: ५—२४७—२४८) पद्मपुराण वचने—

प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी।
वेदाङ्गस्वेदजनितैस्तोयैः प्रस्राविता शुभा ॥१३॥
तस्याः पारे परव्योम त्रिपादद्भुतं सनातनम्।
अमृतं शाश्वतं नित्यमनन्तं परमं पदम् ॥१४॥

प्रधान (प्रकृति) एवं परव्योम के मध्य विरजा-नाम की नदी है। वह नदी वेदाङ्ग-श्रीभगवान् के घर्मजल से प्रवाहिता (प्रसूता) है और वह शुभा अर्थात् त्रिभुवन को पावन करने वाली है। उस विरजा के (एक तीर पर प्राकृत ब्रह्माण्ड है और दूसरे) तीर पर त्रिपाद् विभूति चिन्मय ऐश्वर्य परव्योम-नामका परमधाम विराजित है। वह परव्योम सनातन (नित्य) है अमृत (परम मधुर), शाश्वत, (नित्य नूतन), नित्य एवं अनन्त अर्थात् विभु है ॥११४॥ (परव्योम षड़ैश्वर्य का भण्डार है—यह बात ऊपर के श्लोक से प्रमाणित की गई है।)

तार तले बाह्यावास-विरजार पार। अनन्त ब्रह्माण्ड याहा कोठरि अपार ॥३८॥
'देवीधाम' नाम तार, जीव यार वासी। जगल्लक्ष्मी राखि रहे याहां माया दासी ॥३९॥
एइ तिन धामेर हये कृष्ण अधीश्वर। गोलोक परव्योम प्रकृतिर पर ॥४०॥
चिच्छक्ति-विभूति धाम-'त्रिपादैश्वर्य' नाम। मायिक विभूति-'एकपाद'-अभिधान ॥४१॥

उस परव्योम—श्रीकृष्ण के मध्यम निवास स्थान के नीचे श्रीकृष्ण का तीसरा निवासस्थान है, जिसे 'बाह्यावास' कहते हैं—वह विरजा नदी के पार अर्थात् प्राकृत राज्य में अवस्थित है। उसमें अनन्त ब्रह्माण्ड मानो कोठरियों की भांति वर्त्तमान हैं॥ बाह्यावास को देवी-धाम अर्थात् मायादेवी का धाम भी कहते है। इसमें सब (मायाबद्ध) जीव रहते हैं। वहां मायारूप जगत्-सम्पत्ति रहती है और माया जो श्रीकृष्णदासी है (वहिरङ्गाशक्ति होने से, श्रीकृष्ण-सेवा करने से माया को यहां कृष्णदासी कहा गया है)—वह उस सम्पत्ति की रखवाली करती है। (गोलोक, परव्योम तथा प्राकृत ब्रह्माण्ड)—इन धामों के श्रीकृष्ण अधीश्वर हैं (अत: उन्हें 'त्र्यधीश्वर' कहा जाता है) गोलोक तथा परव्योम—ये दोनों धाम तो माया से परे चिन्मय हैं। ये दोनों धाम चिच्छक्ति की विभूति हैं, अतः इन्हें 'त्रिपादैश्वर्य' नाम से पुकारा जाता है। (अर्थात् इन दोनों धामों में भगवान् का त्रिपाद-ऐश्वर्य या चिन्मय-ऐश्वर्य है) और माया की

विभूति जो प्राकृत ब्रह्माण्ड है—उसे 'एक पाद'-ऐश्वर्यात्मक कहा जाता है (मायिक ऐश्वर्य का परिमाण यदि एक पाद माना जाए तो श्रीकृष्ण के चिन्मयधामों का ऐश्वर्य-परिमाण उससे तीन गुणा होगा, अतः चिन्मयधामों को 'त्रिपाद-ऐश्वर्यात्मिक' कहा जाता है और मायिक ब्रह्माण्ड को 'एकपादात्मिका')। ३८-४१॥

तथाहि लघुभागवतामृते पूर्वखण्डे(५—२८६)—

त्रिपाद् विभूतेर्धामत्वात् त्रिपाद्भूतं हि तत्पदम्।
विभूतिर्मायिकी सर्वा प्रोक्ता पादात्मिका यतः ॥१५॥

परव्योम-धाम त्रिपाद भूत है, क्योंकि समग्र मायिक ऐश्वर्य को 'एकपाद' कहते है (यह एकपाद मायिक ऐश्वर्य परव्योमादि भगवद्धामों में नहीं है, अतः भगवद्धामों को 'त्रिपाद विभूति' कहा गया है।) १५

त्रिपाद-विभूति कृष्णेर-वाक्य अगोचर। एक पाद-विभूतिर शुनह विस्तार—॥४२॥
अनन्त ब्रह्माण्डेर यत ब्रह्मा-रुद्रगण। 'चिरलोकपाल' शब्दे ताहार गणन॥४३॥
एकदिन द्वारकाते कृष्ण देखिबारे। ब्रह्मा आइला, द्वारपाल जानाइल कृष्णेरे॥४४॥
कृष्ण बोलेन-कोन ब्रह्मा, कि नाम ताहार? द्वारी आसि ब्रह्मा के पूछिल आर बार॥४५॥
विस्मित हइया ब्रह्मा द्वारीके कहिला। कह गिया, सनक-पिता चतुर्मुख आइला॥४६॥

श्रीकृष्ण की त्रिपाद-विभूति की महिमा तो अनिर्वचनीय है। एकपाद विभूति की महिमा, हे सनातन! तुम सुनो। अनन्त ब्रह्माण्डों के जितने ब्रह्मा एवं शिव हैं—उन्हें 'चिरलोकपाल' कहते हैं। एक दिन द्वारका में श्रीकृष्ण के दर्शन करने के लिये श्रीब्रह्मा जी आए। द्वारपाल ने भीतर जाकर भगवान् की सूचना दी कि ब्रह्माजी उन से मिलने आए हैं। श्रीकृष्ण ने पूछा—"कौन सा ब्रह्मा आया है? उसका क्या नाम है? पूछ कर आओ।" द्वारपाल ने आकर ब्रह्मा जी से तदनुसार जिज्ञासा की। द्वारपाल की बात सुनकर ब्रह्मा जी विस्मित रह गये और द्वारपाल से बोले—"सनकादिक का पिता चारिमुख-ब्रह्मा आया है—"ऐसा जाकर आप कहिये॥४२—४६॥

कृष्णे जानाइया द्वारी ब्रह्मा लञा गेला। कृष्णेर चरणे ब्रह्मा दण्डवत् हैला॥४७॥
कृष्ण मान्य पूजा करि तारे प्रश्न कैल—। कि लागि तोमार इहां आगमन हैल?॥४८॥
ब्रह्मा कहे-ताहा पाछे करिव निवेदन। एक संशय मने, ताहा करह छेदन॥४९॥
'कोन ब्रह्मा' पूछिले तुमि कोन अभिप्राये। आमा बइ जगते आर कोन् ब्रह्मा हये?॥५०॥

द्वारपाल ने जाकर श्रीभगवान् को बताया और उनकी आज्ञा से वह श्रीब्रह्मा जी को भीतर ले गया। श्रीब्रह्मा जी ने जाकर श्रीकृष्ण के चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीकृष्ण ने श्रीब्रह्माजी का आदर सत्कार किया और पूछने लगे—"ब्रह्मा जी! आप का यहां किस हेतु आगमन हुआ है?" श्रीब्रह्मा जी ने कहा—"प्रभो। मैं यहां किस लिये आया, यह बात तो मैं बाद में निवेदन करूंगा। पहले आप मेरे एक संशय को छेदन करिये। प्रभो! आपने द्वारपाल से पुछवाया था कि कौन ब्रह्मा आया है?'—ऐसा पूछने से आपका क्या अभिप्राय था? मुझे छोड़कर जगत् में और भी कोई ब्रह्मा है क्या?" ॥४७—५०॥

शुनि हासि कृष्ण तबे करिलेन ध्याने। असंख्य ब्रह्मार गण आइल तत्क्षणे॥५१॥
शत-विंश- सहस्रायुत - लक्ष - बदन। कोट्यार्बुद-मुख, कारो नाहिक गणन॥५२॥

रुद्रगण आइला लक्षकोटि-बदन। इन्द्रगण आइला लक्षकोटि-नयन ॥५३॥
देखि चतुर्मुख ब्रह्मा फांफर-हइला। हस्तिगण मध्ये येन शशक रहिला ॥५४॥

ब्रह्मा जी के वचन सुनकर श्रीभगवान् मुस्कराये और मन में उन्होंने कुछ ध्यान किया। इतने में वहाँ तत्काल असंख्य ब्रह्मा आने लगे। किसी के सौ बदन, किसी के बीस, किसी के सहस्र, किसी के अयुत तो किसी के लाख बदन थे। इस प्रकार कोटि एवं अर्बुद मुखों के ब्रह्मा वहां आ पहुँचे, जिन की गणना नहीं हो सकती। वहां लाख-लाख, कोटि कोटि मुख वाले शिव जी भी आये और लाख-कोटि नेत्रों वाले इन्द्र भी वहां आपहुँचे। ये समस्त देखकर ब्रह्मा जी तो ठगे से खड़े रह गये। अनेक हाथियों के बीच जैसे एक खरगोश खड़ा हो—ब्रह्मा जी की वही अवस्था थी ॥५१—५४॥

आसि सब ब्रह्मा कृष्णपादपीठ-आगे। दण्डवत् करि पड़े, मुकुट पादपीठे लागे ॥५५॥
कृष्णेर अचिन्त्यशक्ति लखिते केहो नारे। यत ब्रह्मा, तत मूर्त्ति, एकइ शरीरे ॥५६॥
पादपीठ मुकुटाग्रसङ्घटे उठे ध्वनि। 'पादपीठके स्तुति करे मुकुट'—हेन जानि ॥५७॥
योड़हाथे ब्रह्मा-रुद्रादि करेन स्तवन। बड़ कृपा कैले प्रभु ! देखाइले चरण ॥५८॥
भाग्य आमार—बोलाइला 'दास,अङ्गीकरि। कोन आज्ञा हय, ताहा करि शिरेधरि ॥५९॥

वे सब ब्रह्मा आकर श्रीकृष्ण-पादपीठ के आगे दण्डवत् प्रणाम करने लगे और अपने मुकुटों को वहां रगड़ने लगे। श्रीकृष्ण की अचिन्त्य-शक्ति है, उसे कोई भी नहीं जान सकता। जितने ब्रह्मा वहाँ आये, श्रीकृष्ण ने एक ही शरीर से उतनी मूर्त्तियां धारण करलीं। पादपीठ पर मुकुटों की रगड़ से महान् ध्वनि उठने लगी—ऐसा जान पड़ता था कि मुकुट पादपीठ की स्तुति गान कर रहे हैं। हाथ जोड़ कर समस्त ब्रह्मा-रुद्रादि श्रीभगवान् की स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—"प्रभो ! आपने बड़ी कृपा की है जो हमें अपने चरणों के दर्शन दिये हैं। आप ने हम दासों को अपने पास बुलाकर अङ्गीकार किया है। हमारे लिये क्या आज्ञा है, उसे शिर पर धारण कर हम उसका पालन करें" ॥५५--५९॥

कृष्ण कहे—तोमासभा देखिते चित्त हैल। ताहा-लागि एकत्र सभारे बोलाइल ॥६०॥
सुखी हओ सभे—किछु नाहि दैत्यभय ?। तारा कहे तोमार प्रसादे सर्वत्र जय ॥६१॥
सम्प्रति येवा हैते पृथिवीते भार। अवतीर्ण हञा ताहा करिले संहार ॥६२॥
द्वारकादि विभु—तार एइ त प्रमाण। 'आमार ब्रह्माण्डे कृष्ण' सभार हैल ज्ञान ॥६३॥
कृष्ण-सह द्वारका-वैभव अनुभव हैल। एकत्र-मिलने केहो काहो ना देखिल ॥६४॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा—"तुम सब को देखने के लिये मेरा मन हो रहा था—इसलिये तुम सब को यहां इकट्ठा बुलाया था। कहिये, आप सभी सुखी तो हो न ? कहीं राक्षसों का भय तो नहीं है ?"—सब ब्रह्माओं ने मिल कर कहा—"आपकी कृपा से सर्वत्र आप की ही जय है।" अभी जो पृथिवी पर भार होगया था--उसे आप ने अवतीर्ण होकर राक्षसों का संहार करके हटा ही दिया है।" (इस उक्ति से यह सूचित होता है कि भगवान् सब ब्रह्माओं के ब्रह्माण्डों में अवतीर्ण होकर इस समय द्वारका में विराजमान थे)। जैसे भगवान् विभु हैं, उसी प्रकार उनकी द्वारकापुरी विभु ही है। इससे यह प्रमाणित होता है। प्रत्येक ब्रह्मा यही जान रहा था कि श्रीकृष्ण उसके ही ब्रह्माण्ड में विराजमान हैं। श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य के साथ साथ द्वारका के भी ऐश्वर्य का इस लीला से अनुभव होता है। वहां असंख्य

ब्रह्मा-रुद्र एवं इन्द्रादिक एकत्रित हुए, किन्तु न तो किसी द्वारकावासी ने किसी को वहाँ देखा और न हीं उन्होंने एक दूसरे को देखा ॥६०—६४॥

तबे कृष्ण सर्वब्रह्मागणे विदाय दिला। दण्डवत् हञा सभे निज घरे गेला ॥६५॥
देखि चतुर्मुख-ब्रह्मार हैल चमत्कार। कृष्णेर चरणे आसि कैल नमस्कार ॥६६॥
ब्रह्मा बोले पूर्वे आमि ये निश्चय कैल। तार उदाहरण आमि आजि से देखिल ॥६७॥

तब श्रीकृष्ण ने समस्त ब्रह्मादिकों को विदा किया और वे दण्डवत् प्रणाम करके अपने-अपने लोकों को चले गये। यह चरित्र देख कर चार-मुख वाले ब्रह्मा जी तो चमत्कृत हो उठे और आगे बढ़ कर श्रीकृष्ण के चरणों में नमस्कार की। ब्रह्मा जी ने कहा—"मैंने जो पहले निश्चय कर रखा था। (केवल मन द्वारा), उसको साक्षात् आज मैं ने देख लिया है" ॥६५—६७॥ (क्या देखा है ?)—

तथाहि (भा: १०-१४-३८)

जानन्तु एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥१६॥

"जो कहते हैं कि हमने श्रीकृष्ण का वैभव जान लिया हैं, वे जाना करें, अधिक बात बनाने का क्या प्रयोजन, किन्तु हे प्रभो ! आपका वैभव मेरे मन, मेरे शरीर एवं मेरे वचनों के तो गोचर नहीं है॥१६॥

कृष्ण कहे—एइ ब्रह्माण्ड पञ्चाशत्कोटियोजन। अति क्षुद्र ताते तोमार चारि बदन ॥६८॥
कोन ब्रह्माण्ड शतकोटि, कोन लक्षकोटि। कोन नियुत कोटि, कोन कोटि कोटि ॥६९॥
ब्रह्माण्डानुरूप ब्रह्मार शरीर-बदन। एइरूपे पालि आमि ब्रह्माण्डेरगण ॥७०॥
एक पाद विभूति' इहार नाहि परिमाण। त्रिपादविभूति-परव्योमेर के करे परिमाण ॥७१॥

श्रीकृष्ण भगवान् ने ब्रह्मा जी के बचन सुन कर कहा—"ब्रह्मा जी सुनिये ! यह ब्रह्माण्ड पचास कोटि योजन है, जो सब ब्रह्माण्डों से छोटा है, इसलिये तुम्हारे केवल चार ही मुख हैं। किसी ब्रह्माण्ड का परिमाण सौ-कोटि है। किसी का लक्षकोटि है। किसी का नियुत-कोटि तथा किसी का कोटि-कोटि योजन है। ब्रह्माण्ड के अनुरूप ही उसके ब्रह्मा का शरीर और मुख हैं, इस प्रकार मैं अनन्त ब्रह्माण्डों की पालना किया करता हूँ।" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन ! यह मैंने तुम्हें श्रीकृष्ण की एकपाद-विभूति का वर्णन सुनाया है। जब यह ही जीवों की धारणा से अतीत है। फिर उनकी त्रिपाद-विभूति का जो परव्योम या चिन्मयधामों में प्रकाशित हो रही है, कौन अनुमान कर सकता है ? ॥६८—७१॥ (लघुभागवतामृत में भी कहा गया है)—

तथाहि लघुभागवतामृते पूर्वखण्डे पद्मपुराणवचनम् (५—२४८)—

तस्याः पारे परव्योम्नि त्रिपाद्भूतं सनातनम्।
अमृतं शाश्वतं नित्यमनन्तं परमं पदम् ॥१७॥

विरजा नदी के उस पार त्रिपादविभूतियुक्त परव्योम-नाम का परम धाम विराजित है। वह परव्योम सनातन, अमृत की भांति मधुर, शाश्वत, नित्य एवं विभु है ॥१७॥

तबे कृष्ण ब्रह्मारे दिलेन विदाय । कृष्णेर विभूति स्वरूप जानिल न याय ॥७२॥
'अधीश्वर'-शब्देर अर्थ गूढ़ आरो हय। त्रि-शब्दे-कृष्णेर तिन लोक कहय ॥७३॥
गोलोकाख्य–गोकुल, मथुरा, द्वारावती । एइ तिन लोके कृष्णेर सहज नित्यस्थिति ॥७४॥
अन्तरङ्ग पूर्णैश्वर्यपूर्ण तिन धाम। तिनेर अधीश्वर–कृष्ण स्वयं-भगवान् ॥७५॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा जी को विदा किया । सनातन ! श्रीकृष्ण की विभूति का स्वरूप नहीं जाना जा सकता । 'अधीश्वर' शब्द का एक और भी गूढ़ अर्थ है। वह इस प्रकार कि, त्रि-शब्द से श्रीकृष्ण के तीन लोकों का अभिप्राय है।गोकुल, मथुरा एवं द्वारका—इनका दूसरा नाम 'गोलोक' भी है । इन तीनों लोकों में श्रीकृष्ण की सहज में नित्य अवस्थिति है । ये तीनों धाम उनके अन्तरङ्ग हैं एवं पूर्ण-ऐश्वर्य पूर्ण हैं । इन तीनों धामों के अधीश्वर श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् ही हैं । अतः उन्हें 'त्र्यधीश्वर' कहा जाता है ॥७२—७५॥

पूर्व-उक्त ब्रह्माण्डेर यत दिक्पाल । अनन्त वैकुण्ठावरण–'चिरलोकपाल' ॥७६॥
ता-सभार मुकुट कृष्णपादपीठ-आगे । दण्डवत्काले तार मणि पीठे लागे ॥७७॥
मणि पीठे ठेकाठेकि–उठे झनझनि । 'पीठे स्तुति करे मुकुट' हेन अनुमानि ॥७८॥
निज चिच्छक्तये कृष्ण नित्य विराजमान । चिच्छक्ति–सम्पत्येर 'षड़ैश्वर्य' नाम ॥७९॥

ऊपर कहे हुए अनन्त प्राकृत ब्रह्माण्डों के जितने दिक्पाल हैं एवं अनन्त वैकुण्ठों के आवरणों में रहने वाले जितने चिरलोकपाल हैं—वे समस्त श्रीकृष्ण की पादपीठ में दण्डवत प्रणाम करते हैं । दण्डवत् करते समय उन सब के मुकुटों की मणियाँ-पादपीठ (चरणचौकी) से टकराती हैं और झन-झन की ध्वनि करती हैं । तब ऐसा जान पड़ता है कि मुकुट ही पादपीठ की स्तुति कर रहे हैं । इस प्रकार श्रीकृष्ण अपनी चित्-शक्ति में नित्य विराजमान हैं । उस चित् शक्ति की सम्पत्ति का नाम ही 'षड़ैश्वर्य' है ॥७६-७९॥

चै० च० चु० *टीका:*—प्राकृत ब्रह्माण्डों में प्रत्येक ब्रह्माण्ड की दश दिशाओं में एक एक दिग्पाल रहता है—उनके इस नाम प्रकार हैं—पूर्व में इन्द्र, अग्निकोण में वह्नि, दक्षिण में यम, नैर्ऋत में निर्ऋत, पश्चिम में वरुण, वायु-कोण में मरुत, उत्तर में कुवेर, ईषान में शङ्कर, ऊर्द्ध में ब्रह्मा एवं अधोदिशा में 'अनन्त' रहते हैं।

परव्योम वा महावैकुण्ठ के सात आवरण हैं एवं उनके चौहत्तर (७४) आवरण-देवता हैं । वे इस प्रकार हैं —

प्रथम आवरण में आठ-देवता हैं—चतुर्व्यूहान्तर्गत वासुदेव पूर्वदिशा में, सङ्कर्षण दक्षिण में, प्रद्युम्न पश्चिम में, एवं अनिरुद्ध उत्तर में । अग्निकोण में लक्ष्मी, नैर्ऋत-कोण में सरस्वती, वायुकोण में, रति एवं ईषानकोण में कान्ति ।

द्वितीय आवरण में—केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, पुरुषोत्तम, अधोक्षज, नृसिंह, अच्युत, जनार्दन, उपेन्द्र, हरि, व कृष्ण— ये चौबीस हैं—इनमें से क्रमशः तीन तीन करके पूर्वादि-आठों दिशाओं में रहते हैं ।

तीसरे आवरण में पूर्वादि दश दिशाओं में यथाक्रम मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशु-राम, राम, हलधर, बुद्ध, कल्कि—ये दश स्वरूप रहते हैं ।

चौथे आवरण में पूर्वादि आठों दिशाओं में सत्या, अच्युत, अनन्त, दुर्गा, विष्वक्सेन, गजानन, शंख-निधि एवं पद्मनिधि—ये आठों रहते हैं।

पञ्चम आवरण में—पूर्वादि आठों दिशाओं में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, सावित्री, गरुड़, धर्म एवं यज्ञ—ये आठों रहते हैं।

षष्ठ आवरण में—पूर्वादि आठों दिशाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म, खड़्ग, शार्ङ्ग, हल एवं मूसल—ये आठों रहते हैं!

सप्तम आवरण में—पर्वादि आठों दिशाओं में इन्द्र, वह्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुवेर एवं ईषान—ये आठों रहते हैं।

इस प्रकार ये कुल चौहत्तर आवरण-देवता हैं, जो परव्योम में रहते हैं। यह बात ध्यान रहे कि परव्योम में जो साध्यगण, मरुद्गण, विश्वदेवगण एवं इन्द्रादिदेवगण रहते हैं-वे सब नित्य एवं अप्राकृत स्वर्गादि के इन्द्रादि देवताओं की भांति अनित्य एवं प्राकृति नहीं हैं।

सेइ 'स्वराज्यलक्ष्मी' करे नित्य पूर्णकाम। अतएव वेदे कहे—स्वयं भगवान्॥८०॥
कृष्णेर ऐश्वर्य अपार-अमृतेर सिन्धु। अवगाहिते नारिल, तार छुंइल एक बिन्दु॥८१॥
ऐश्वर्य कहिते प्रभुर कृष्णस्फूर्त्ति हैल। माधुर्ये मजिल मन, एक श्लोक पड़िल॥८२॥

(अब सातवें श्लोक के 'स्वराज्य लक्ष्म्याप्तसमस्तकामः' इस पद का अर्थ करते हैं) उस स्वराज्य लक्ष्मी द्वारा उनकी नित्य समस्त कामनाएं पूर्ण होती हैं-इसलिये उन्हें वेद में 'स्वयं-भगवान्' कहा गया है। श्रीकृष्णचन्द्र का ऐश्वर्य असीम अमृत-सिन्धु के समान है, उसका पार कोई भी नहीं पा सकता। उसके एक विन्दु का ही मैंने स्पर्श किया है अर्थात् उसका दिग्दर्शन ही मैंने तुम्हें कराया है। भगवान् के ऐश्वर्य का वर्णन करते करते श्रीमहाप्रभु के मन में श्रीकृष्ण-स्फूर्ति हो आई और उनका मन उनके माधुर्य में निमग्न हो गया। उन्होंने एक और श्लोक पढ़ा॥८०-८२॥

चै० च० चु० *टीका*:—जो परम स्वतन्त्र एवं अन्य निरपेक्ष है, उसे **'स्वराट्'** कहते हैं। स्वराट् के भाव को ही **'स्वराज्य'** कहते हैं। अतः जो अन्य की अपेक्षा न करके अपनी ही शक्ति द्वारा तन्त्रित हैं, उनका भाव या शक्ति ही स्वराज्य है। वे श्रीकृष्ण चिदेकरूप हैं। उनकी चित्-शक्ति का नाम ही **'स्वराज्य-लक्ष्मी'** है। वही श्रीकृष्ण की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली है। अतः श्रीकृष्ण को **'स्वयं भगवान्'** कहा जाता है।

तथाहि (भा: ३—२—१२)—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः पर परं भूषण-भूषणाङ्गम्॥१८॥

श्रीउद्धवजी ने श्रीविदुरजी को कहा है—"श्रीकृष्ण ने अपनी योगमाया की शक्ति-प्रदर्शन करने के निमित्त मर्त्य लीला के उपयोगी सौभाग्य-अतिशय की पराकाष्ठा को प्राप्त किया है और (सौन्दर्य-माधुर्यादि से श्रीकृष्ण का) अपने को भी विस्मित कर देने वाला भूषणों का भी भूषण स्वरूप अङ्ग विशिष्ट जो रूप प्रगटित हुआ (उसे देखकर ऐसा जान पड़ता है कि समस्त सृष्टि या रचना-कौशल ही इस रूप के निर्माण में लगा दिया गया है)॥१८॥

यह ध्यान रहे कि श्रीकृष्ण विग्रह नित्य है, तथापि लौकिक दृष्टि से इस श्लोक में 'सृष्टि' एवं 'निर्माण' (शब्दों का प्रयोग किया गया है, इस श्लोक की व्याख्या श्रीमन्महाप्रभु निम्नलिखित त्रिपदी में वर्णन करते हैं:—

यथा राग—

कृष्णेर यतेक खेला, सर्वोत्तम नरलीला, नरवपु ताहार स्वरूप ।
गोपवेश वेणुकर, नव किशोर नटवर, नरलीलार हय अनुरूप ॥८३॥

श्रीकृष्ण की (वैकुण्ठादि धामों में भिन्न भिन्न स्वरूप से) जितनी भी लीलाएं हैं, उन समस्त में उनकी नरवत्-लीला (जो उन्होंने व्रज में एक साधारण मनुष्य की भांति की हैं) सर्व श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण का स्वरूप अर्थात् अनादि सिद्ध निजस्व नित्यरूप नरवपु है, अर्थात् नराकृति— द्विभुज, द्विपग-आदि युक्त मनुष्य की भांति ही है ॥ वह नरवपु कैसा है—गोपवेश है उनका, उनके हाथों में वेणु है। (द्वादश आङ्गुलि दीर्घ, अङ्गुष्ट परिमिति मोटी एवं छः छिद्रोंयुक्त वंशी का नाम वेणु है।) उनकी वयस— नित्य नवीन किशोर है। वे नटवर हैं, अर्थात् सिर पर मोरपुच्छ, वक्षस्थल में गुञ्जा व बनफूलों की मालाएं, कानों में कुण्डल, पीले नीले वस्त्र–इत्यादि नटों जैसा परम श्रेष्ठ भेष सजाए रहते हैं। उनका यह स्वरूप नरलीला के उपयुक्त ही है, अर्थात् नरवत्-लीला के योग्य अथवा नरलीला की परिपाटि-विशिष्ट ही है ॥८३॥

कृष्णेर मधुर रूप शुन सनातन !
ये रूपेर एककण, डुबाय सब त्रिभुवन, सर्व प्राणी करे आकर्षण ॥८४॥

श्रीमहा प्रभु ने कहा—"सनातन। श्रीकृष्ण के मधुर रूप अर्थात् रूप के माधुर्य के सम्बन्ध में सुनो, जिस रूप का एक कण त्रिभुवन को सराबोर कर देता है और प्राणी मात्र के मन को आकर्षण कर लेता है ॥८४॥

योगमाया चिच्छक्ति, विशुद्ध सत्त्व परिणति, तांर शक्ति लोके देखाइते ।
एइ रूप-रतन, भक्तगणेर गूढ़धन, प्रकट कैल नित्य लीला हैते ॥८५॥
रूप देखि आपनार, कृष्णेर हय चमत्कार, आस्वादिते मने उठे काम ।
स्वसौभाग्य यार नाम, सौन्दर्यादिगुणग्राम, एइरूप तार नित्यधाम ॥८६॥

श्रीकृष्ण की जो चित्-शक्ति की वृत्ति-विशेष योगमाया है (जिसे अचिन्त्य-पराशक्ति या लीला की सहायकारिणी अघट-घटन-पटीयसी शक्ति भी कहते हैं) वह विशुद्ध सत्त्व की परिणति विशेष है (ह्लादिनी, सन्धिनी एवं संवित्‌त्मिका चिच्छक्ति की जिस स्वप्रकाश-लक्षण वृत्ति-विशेष द्वारा भगवान् अपना स्वरूप एवं अपने लीला परिकरों का स्वरूप प्रकाशित करते हैं, उसे शुद्ध सत्व कहते हैं। उस शुद्ध सत्व की परिणति का नाम है-योगमाया)—उस योगमाया की शक्ति को लोगों को दिखाने के लिये, वह रूप-रतन जो भक्तों का गूढ़ धन है, उसे श्रीभगवान् नित्यलीला से अर्थात् अप्रकट-लीला से (गोलोकधाम से) प्रकट करते हैं अर्थात् प्राकृत ब्रह्माण्ड में प्रकाशित करते हैं। उस अपने रूप को देखकर स्वयं श्रीकृष्ण को भी चमत्कार होता है और उस स्वरूप का माधुर्य आस्वादन करने के लिये उनका मन भी उत्कण्ठित हो उठता है। सौन्दर्य-माधुर्यादि जो गुण समूह हैं— जिनका नाम 'स्व-सौभाग्य' है, उनका यह रूप नित्य-आश्रय है। अर्थात् स्व-सौभाग्य स्वरूप गुण-समूह का मूल आश्रय श्रीकृष्ण स्वरूप ही है ॥८५-८६॥

भूषणेर भूषण अङ्ग, ताहे ललित त्रिभङ्ग, तार ऊपर भ्रु धनु-नर्त्तन ।
तेरछ-नेत्रान्त बाण, तार दृढ़ सन्धान, विन्धे राधा-गोपीगणेर मन ॥८७॥
कोटि ब्रह्माण्ड परव्योम ताहां ये स्वरूपगण, ता सभार बले हरे मन ।
पतिव्रता-शिरोमणि, यारे कहे वेदवाणी, आकर्षये सेइ लक्ष्मीगण ॥८८॥

श्रीकृष्ण के अङ्ग अलंङ्कारों के भी अलंङ्कार हैं, उस पर भी उनके अङ्ग ललित-त्रिभङ्ग हैं। फिर वे कामदेव के धनुष के समान अपनी विशाल भौंवों को नचाते रहते हैं । तिरछे नेत्रों की कोर से कटाक्ष करते हुए मानो वे वाणों को छोड़ते हैं, जिनका अचूक निशाना श्रीराधा–ब्रजगोपियों के मन को जाकर बींधता है । अनन्त कोटि प्राकृत ब्रह्माण्डों में तथा अनन्त वैकुण्ठ धामों में जितने भी स्वरूप हैं– उन सबके मन को (श्रीकृष्ण का रूप) वरवश हर लेने वाला है । वेद–शास्त्र जिनको पतिव्रताओं में शिरोमणि कहकर वर्णन करते हैं, उन लक्ष्मीगणों के मन को भी श्रीकृष्ण का रूप–माधुर्य लुभाने वाला है ॥८७–८८॥

चढ़ि गोपी-मनोरथे, मन्मथेर मन मथे, नाम धरे 'मदनमोहन' ।
जिनि पञ्चशरदर्प, स्वयं नव कन्दर्प, रास करे लञा गोपीगण ॥८९॥
निज सम सखासङ्गे, गोगण-चारण-रङ्गे, वृन्दाबने स्वच्छन्द बिहार ।
यांर वेणुध्वनि शुनि, स्थावर जङ्गम प्राणी, पुलक कम्प अश्रु बहे धार ॥९०॥

श्रीकृष्ण का रूप माधुर्य गोपीवृन्द के मन रूपी रथ पर सवार होकर मन्मथ अर्थात् कामदेव के मन को भी मथ डालता है, और तभी उनका नाम 'मदन-मोहन' होता है । उस कामदेव के गुमान को चूर करके स्वयं नवीन मदन रूप होकर गोपी गनों के साथ श्रीकृष्ण रास लीला करते हैं । वही श्रीकृष्ण अपने समान के सखाओं के साथ गोचारण लीला करते हुए श्रीवृन्दावन में स्वच्छन्द विहार करते हैं । उनकी वेणु की मधुर ध्वनि को सुन कर क्या स्थावर, क्या जङ्गम—समस्त प्राणियों में प्रेम उदय हो उठता है, और उनमें पुलक, कम्प एवं अश्रु-आदि प्रेम के सात्विक विकार होने लगते हैं ॥८९–९०॥

मुक्ताहार बकपांति, इन्द्रधनु पिच्छ तति, पीताम्बर विजुरी सञ्चार ।
कृष्णनव जलधर, जगत् शस्य उपर, वरिषये लीलामृतधार ॥९१॥
माधुर्य भगवत्ता-सार, व्रजे कैल परचार, ताहा शुक-व्यासेरनन्दन ।
स्थाने-स्थाने भागवते, वर्णियाछे जानाइते, याहा शुनि माते भक्तगण ॥९२॥
कहिते कृष्णेर रसे, श्लोक पढ़े प्रेमावेशे, प्रेमे सनातनेर हाथे धरि ।
गोपीभाग्य कृष्णगुण, ये करिल वर्णन, भावावेशे मथुरानागरी ॥९३॥

श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर जो मुक्ताहार सुशोभित हो रहे हैं, वे मानो बक--पंक्ति के समान हैं और मोरपुच्छ मानो इन्द्रधनुष है । उनका पीताम्बर क्या है ?-मानो बिजली चमचमा रही है । श्रीकृष्ण नवीन मेघ के सदृश हैं, जो जगत् रूप शस्य (धान) पर लीला रूपी अमृत की धारा वर्षण करते हैं (ऐश्वर्य भगवत्ता का सार नहीं है—) माधुर्य ही भगवत्ता का सार है—इस को श्रीकृष्ण ने ब्रज--लीला में प्रचारित व प्रकाशित किया । इस बात को श्रीशुकदेव-श्रीव्यास-नन्दन ने श्रीमद्भागवत में अनेक स्थानों पर वर्णन किया है, जिसको भक्तगण सुन कर प्रेमोन्मत्त हो उठते हैं ॥ इस प्रकार श्रीकृष्ण के रूप-माधुर्य को वर्णन करते हुए श्रीमन्महाप्रभु प्रेमाविष्ट होकर श्लोक पढ़ने लगे और प्रेम से श्रीसनातन गोस्वामी का हाथ पकड़ कर

माधुर्य-आस्वदन में अपनी अक्षमता जानते हुये गोपियों के भाग्यों की सराहना करने लगे। मथुरा की नागरियों ने भी भावावेश में श्रीकृष्ण-प्राप्ति रूप सौभाग्य का वर्णन किया है ॥९१-९३॥ श्रीमहाप्रभु ने प्रेमावेश में निम्नलिखित श्लोक पढ़ा —

तथाहि (भा: १०—४४—१४)

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं लावण्यसारमसमोर्द्ध मनन्यसिद्धन् ।
दृग्भिः पिवन्त्यनुसवाभिनवं दुरापमेकान्तधाम यशसः श्रिय ईश्वरस्य ॥१९॥

कंस के रङ्गस्थल में श्रीकृष्ण के अपूर्वरूप-लावण्य का दर्शन कर विस्मित होकर एवं उसके आस्वादन करने में लालायित होकर मथुरा की नारीगण परस्पर कहती हैं—"हे सखियो ! व्रज की गोपियों ने कौनसी तपस्या की है जिसके प्रभाव से वे अपने नेत्रों के द्वारा श्रीकृष्ण के रूपामृत का पान करती हैं ? (यह रूप कैसा है ?) जो लावण्य का सार-स्वरूप है, जिसके समान एवं जिससे अधिक रूप और कहीं भी नहीं है, जिस की सुन्दरता भूषणों के द्वारा नहीं वल्कि स्वाभाविक है, जो प्रति क्षण-क्षण में नवीन नवीन प्रतीत होता है। वह यश, शोभा एवं ऐश्वर्य का एकमात्र परम-आश्रय है, तथा (लक्ष्मी-आदि के लिये भी) दुर्लभ है ॥१९॥

यथा राग :—

तारुण्यामृत पारावार, तरङ्ग लावण्यसार, ताते से आवर्त्त भावोद्‌गम ।
वंशीध्वनि चक्रवात, नारीर मन तृण-पात, तांहा डुबाय, ना हय उद्‌गम ॥९४॥

श्रीकृष्ण का नवयौवनोचित माधुर्यादिरूप अमृत का समुद्र है, उनके विग्रह का जो अपरूप लावण्य है वह मानो उसमें तरङ्गें उठ रही हैं। उसमें मृदुमुस्कान, कटाक्षादि भावों का जो उद्‌गम हैं, वह मानो समुद्र के भंवर हैं। उनकी वंशीध्वनि मानो वायु का झंझावात है, जिसमें नारियों का मन मानों तृण के समान जाकर फंस जाता है और फिर वहां से निकल नहीं सकता ॥९४॥

सखि हे ! कोन तप कैल गोपीगण ?
कृष्णरूपमाधुरि,पिव पिव नेत्र भरि, श्लाध्य करे जन्म तनु मन ॥ध्रु०९५॥
ये माधुरी-ऊर्द्ध व आन, नाहि यार समान, परव्योम स्वरूपेरगणे ।
येंहो सब अवतारी, परव्योमे अधिकारी, ए माधुर्य नाहि नारायणे ॥९६॥

मथुरा की नागरिगण कहती हैं—हे सखि ! गोपीवृन्द ने कौन सी तपस्या की है ? कि जिसके फल स्वरूप वे श्रीकृष्णरूप-माधुरी को नेत्र भर-भर कर पान करती हैं। उन्होंने अपने जन्म तन एवं मन को प्रशंसनीय अर्थात् सफल कर लिया है। वह मधुरिमा कैसी है ? जिससे बढ़कर और जिसके समान और कोई रूप माधुरी नहीं हैं। परव्योम में जितने भगवत्स्वरूप हैं। यहां तक कि जो सब अवतारों के अवतारी हैं एवं परव्योम के अधिपति हैं—उन श्रीकृष्ण के विलासमूर्त्तिस्वरूप-श्रीनारायण में भी ऐसी रूपमाधुरी नहीं है—औरों की तो बात ही क्या है ॥९५—९६॥

ताते साक्षी सेइ रमा, नारायणेर प्रियतमा, पतिव्रतागणेर उपास्या ।
तेहों ये माधुर्य लोभे, छाड़ि सब कामभोगे, व्रत करि करिल तपस्या ॥९७॥

सेइ त माधुर्यसार, अन्य सिद्धि नाहि तार, तेंहो माधुर्यादि गुणखानि ।
आर सब प्रकाशे, ताँर दत्त गुण भासे, याहां यत प्रकाशे कार्य जानि ॥६८॥

श्रीनारायण की रूपमाधुरी भी श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी के समान नहीं है—इस बात की साक्षी श्रीनारायण की प्रियतमा श्रीलक्ष्मी जी ही हैं, जो पतिव्रताओं की उपास्या—पूज्यनीया हैं । उस श्रीलक्ष्मी ने श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी के लोभ से समस्त सुख-भोग छोड़कर श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए व्रतधारण कर घोर तपस्या की थी । अतः श्रीकृष्ण का माधुर्य ही सर्वश्रेष्ठ है, वह किसी अन्य अलंकारादि वस्तुओं से साधित नहीं है, किन्तु अनन्यसिद्ध या स्वाभाविक ही है । अतः वह ही समस्त सौन्दर्य-माधुर्यादिगुणों का जन्म-स्थान है—या खान है ! जितने भी भगवत्स्वरूप हैं, उनमें जो सौन्दर्य-माधुर्यादि गुण प्रतीत होते हैं—वे सब गुण श्रीकृष्ण द्वारा ही प्रदत्त हैं—श्रीकृष्ण ही के उन्हें दिये हुये हैं । जहाँ जितना सौन्दर्य-माधुर्य है, उसका परिमाण उनके कार्यों द्वारा ही प्रकाशित हो जाता है ॥६७—६८॥

गोपीभाव दर्पण, नवनवक्षणेक्षण, तार आगे कृष्णेर माधुर्य ।
दोंहे करे हुड़ाहुड़ि, वाढ़े, मुख नाहि मुड़ि, नवनव दोंहार प्राचुर्य्य ॥६९॥
कर्म जप योग ज्ञान, विधि-भक्ति तप ध्यान, इहा हैते माधुर्य दुर्लभ ।
केवल ये रागमार्गे, भजे कृष्ण अनुरागे, तारे कृष्ण माधुर्य सुलभ ॥१००॥

व्रजगोपियों का भाव मानो एक दर्पण है, जिसके आगे श्रीकृष्ण का माधुर्य क्षण प्रतिक्षण नव-नवायमान-रूप में प्रकाशित होता है । गोपीवृन्द का भाव अर्थात् प्रेम एवं श्रीकृष्ण का माधुर्य दोनों होड़ करने लगते हैं, इनमें कोई भी मुख नहीं मोड़ता, बल्कि दोनों ही नवनव रूप में वृद्धि को प्राप्त होते जाते हैं । श्रीकृष्ण का माधुर्य-कर्म, जप, योग, ज्ञान, विधिभक्ति, तपस्या एवं ध्यानादि साधनों से प्राप्त नहीं होता—दुर्लभ है । वह केवल मात्र रागमार्ग से अनुराग पूर्वक श्रीकृष्ण के भजन करने वाले को ही सुलभ है—सहज में प्राप्त हो जाता है—और किसी को नहीं ॥६६—१००॥

सेइ रूप व्रजाश्रय, ऐश्वर्यमाधुर्यमय, दिव्यगुणगण रत्नालय ।
आनेर वैभव सत्ता, कृष्णदत्त भगवत्ता, कृष्ण सर्वअंशी सर्वाश्रय ॥१०१॥
श्रीलज्जा-दया-कीर्त्ति, धैर्य वैशारदी-मति, ए सब कृष्णे प्रतिष्ठित ।
सुशील मृदु वदान्य, कृष्णसम नाहि अन्य, कृष्ण करे जगतेर हित ॥१०२॥
कृष्ण देखि नाना जन, कैल निमिष-निन्दन, व्रजे विधि निन्दे गोपीगण ।
सेइ सब श्लोक पढ़ि, महाप्रभु अर्थ करि, सुखे माधुर्य करे आस्वादन ॥१०३॥

ऐसा सर्वोपरि माधुर्यमय-श्रीकृष्ण स्वरूप केवल श्रीव्रजमण्डल में ही विराजमान है, वह स्वरूप परम ऐश्वर्य-माधुर्यमय है, एव समस्त दिव्य गुणों का समुद्र है । अन्यान्य समस्त स्वरूपों में सत्ता एवं ऐश्वर्य तथा भगवत्तादि जो दीखते हैं, वह श्रीकृष्ण द्वारा ही प्रदत्त हैं । श्रीकृष्ण ही समस्त स्वरूपों के अंशी हैं और वे ही सब के आश्रय हैं । श्रीलक्ष्मी, लज्जा, दया, कीर्ति, धैर्य, निपुण-बुद्धि—ये सब श्रीकृष्ण में ही प्रतिष्ठित हैं । श्रीकृष्ण के समान सुशील, कोमलचित्त दानशील और कोई भी नहीं है । केवलमात्र श्रीकृष्ण ही जगत् का हित करने वाले हैं । श्रीकृष्ण के सौन्दर्य माधुर्य को देख कर अनेकों ने पलकों के गिरने की निन्दा की है, गोपीवृन्द ने तो श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्णरूप को देखते हुए विधाता की भी निन्दा

की है—"इस प्रकार सब श्लोकों को पढ़कर एवं उनका अर्थ करते हुए श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्ण-माधुर्य को सुखपूर्वक आस्वादन कर रहे थे ॥१०१—१०३॥ श्रीमद्भागवत जी में कहा गया है —

तथाहि (भा: ९—२४—६५)—

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्णभ्राजत्कपोलसुभगं सुविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥२०॥

मकराकृति-कुण्डलों द्वारा परिशोभित कर्णद्वय एवं तद्द्वारा झलमल करते हुए गण्डद्वय द्वारा जिनका सौन्दर्य वृद्धि को प्राप्त कर रहा है, (हर्षोत्सुक्य-चापल्यादि) विलासमय मुस्कराहट जिस पर शोभित हो रही है, एवं जो (सर्वसन्तापहारक एवं नित्य आनन्ददायक होने के कारण) नित्य ही उत्सवमय है—श्रीकृष्ण के उस मुखचन्द्र का माधुर्य नेत्रों द्वारा पान करके (श्रीराधादि) नारीगण एवं (सुवलादि) नरगण आनन्दित होकर तृप्तिलाभ नहीं कर सके (कारण कि निरवच्छिन्न दर्शन करने में नेत्रों के पलक गिर गिर कर विघ्न कर रहे थे ।) अतः वे राजा निमि पर कोप प्रकाशित करने लगे ॥२०॥

तथाति तत्रैव (भा: १०—३१—१५)—

अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिल कुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड़ उदिक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् ॥२१॥

ब्रजगोपियों ने कहा है—"हे कृष्ण ! जब तुम दिन में गौओं को चराने के लिये श्रीवृन्दावन को चले जाते हो, तब तुम्हारे देखे बिना आधे क्षणका समय भी हमें एक युग के समान होकर बीतता है। घुंघराली अलकावलि से सुशोभित तुम्हारे श्रीमुखचन्द्र के दर्शन करने वाले प्राणियों के नेत्रों पर जिसने पलकों की रचना की है—वह विधाता (ब्रह्मा) निश्चय ही कोई जड़ (मूर्ख) होगा ॥२१॥

(ऊपर के दोनों श्लोकों में श्रीकृष्णदर्शन में विघ्नकारी पलकों के गिरने की एवं पलकों के बनाने वाले विधाता की निन्दा कथन की गई है ।)

यथा रागः—

कामगायत्री मन्त्ररूप, हय कृष्णस्वरूप, सार्द्ध चब्बिश अक्षर तार हय ।
से अक्षर चन्द्र हय, कृष्णे करि उदय, त्रिजगत् कैल काममय ॥१०४॥

पूर्वोक्त दोनों श्लोकों का अर्थ आस्वादन करने के लिये काम गायत्री का स्वरूप इस त्रिपदी में प्रकाशित करते हैं ।) मन्त्ररूप कामगायत्री श्रीकृष्ण का स्वरूप है । कामगायत्री के साढ़े चौबीस अक्षर होते हैं । वे सब अक्षर चन्द्ररूप होकर श्रीकृष्ण में (श्रीकृष्णदेह में) उदित होकर त्रिभुवन को काममय कर देते हैं—अर्थात् त्रिभुवन को श्रीकृष्ण-कामनामय कर देते हैं ।।१०४।।

चै० च० चु० टीका:—"**कामदेवाय विद्महे पुष्पबाणाय धीमहि तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्**"—यह मन्त्ररूप कामगायत्री है । इसे श्रीकृष्ण का स्वरूप कहकर वर्णन किया गया है, कारण यह है कि नाम, मन्त्र एवं विग्रह तथा स्वरूप—ये चारों एक ही रूप होते हैं । गान या जप करने वाले की जो त्राण (रक्षा) करे उसे 'गायत्री' कहते हैं । प्रत्येक देवता का मन्त्र और गायत्री होती है । किसी देवता की प्राप्ति के लिये उसी देवता के मन्त्र तथा गायत्री से उसकी पूजा करनी पड़ती है । शृङ्गार-रसराज-मूर्त्ति, अप्राकृत नवीन मदनरूप मदनमोहन श्रीकृष्ण को गायत्री का नाम 'काम-गायत्री' है । इसी काम-गायत्री से ही उनकी उपासना होती है । यह कामगायत्री वैदिक-जप्य-गायत्री का ही रसात्मकरूप है । (पृष्ठ २१६ द्रष्टव्य है ।)

इस मन्त्र को श्रीकृष्ण-गायत्री न कह कर काम-गायत्री क्यों कहा जाता है ?—श्रीकृष्ण को 'काम' नाम से क्यों अभिहित किया गया है ?—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कम्-धातु से काम-शब्द निष्पन्न होता है। कम्-धातु का अर्थ 'स्पृहाय' व 'कामनाय' होता है। इस प्रकार स्पृहणीय या कामना की वस्तु को 'काम' कहा जाता है। मुक्तप्रग्रहावृत्ति से (व्यापक अर्थ) काम-शब्द का होता है —सर्वश्रेष्ठ काम्यदस्तु। सौन्दर्य-माधुर्य-वैदग्ध्यादि गुणों से श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ काम्यवस्तु हैं। अतः श्रीकृष्ण ही वस्तुतः काम हैं। किन्तु यह सर्वश्रेष्ठ काम्यवस्तु प्राकृत नहीं है। यह अप्राकृत-काम-अप्राकृत-मदन नाम से विख्यात है। अतः काम-गायत्री से अप्राकृत-मदन—श्रीकृष्ण-गायत्री का ही अभिप्राय है।

इस काम-गायत्री का जप करने से श्रीकृष्ण की कामना उत्पन्न होती है। इस मन्त्र के जप के साथ इसके अर्थ की चिन्ता भी साथ साथ करने से श्रीकृष्ण का माधुर्यमय-रूप चित्त में समुज्ज्वलरूप से स्फुरित होने लगता है। अतः मन्त्र के जप से पहले ही कामगायत्री के जप की व्यवस्था है।

काम-गायत्री के साढ़े चौबीस अक्षर माने गये हैं। का, म, दे, वा, य, वि, द्म, हे, पु, ष्प, बा, णा, य, धी, म, हि, त, न्नो, न, ङ्गः, प्र, चो, द, या, त्—इस प्रकार कामगायत्री के आपात दृष्टि से पच्चीस अक्षर होते हैं, किन्तु कामदेवाय शब्द का जो शेष 'य'-अक्षर है, उसे आधा अक्षर ही गिना गया है—श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती पाद ने कामगायत्री की व्याख्या में ऐसा प्रमाणित किया है। अतः 'य' अर्ध-अक्षर मानने से गायत्री के साढ़े चौबीस अक्षर ही माने जाते हैं।

कहा जाता है, श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्त्ती जब कामगायत्री का अर्थ प्रकाश करने लगे, तो वे यह निश्चय न कर सके कि कौन सा अक्षर आधा-अक्षर माना जाता है। तब वे रात को श्रीराधाजी के चरणों की चिन्ता करते हुए श्रीराधाकुण्ड के तीर पर सो गये। कुछ देर पश्चात् तन्द्रित अवस्था में उन्हें श्रीराधाजी ने आकर बताया कि श्रीकृष्णदास कविराज ने जो कुछ लिखा है (कामगायत्री में साढ़े चौबीश ही अक्षर हैं) वह बात ठीक है। कारण कि "**व्यन्त-य-कारोर्द्धाक्षरं ललाटेऽर्द्ध चन्द्रबिम्बः। तदितरं पूर्णाक्षरं पूर्णचन्द्रः**—इति। कामगायत्री में जिस 'य'-अक्षर के परे 'वि' अक्षर है, वर अर्द्ध अक्षर है। श्रीकृष्ण के ललाट पर यह अर्द्धाक्षर रूप अर्द्ध चन्द्र है। इसके अतिरिक्त और सब अक्षर पूर्ण अक्षर हैं। जिस 'य' कार के परे 'वि'-कार रहता है, वह 'य' अर्द्ध-अक्षर माना जाता है—इसका प्रमाण भी श्रीराधाजी ने श्रीचक्रवर्त्तीपाद को बताया—"**वि-कारान्त-य-कारेण चार्द्धाक्षरं प्रकीर्त्तितम**"—वर्णागमभास्वादि। वर्णागमभास्वत्-नामक ग्रंथ में लिखा है कि जिस 'य'-कार के परे 'वि'-कार आता है, वह अर्द्ध-अक्षर ही माना जाता है।—चक्रवर्त्तीपाद को पहले इस प्रमाण का ज्ञान न था, श्रीराधाजीने ही बताया कि इस प्रकार काम-गायत्री में साढ़े चौबीस अक्षर माने गये हैं।

काम गायत्री का एक एक अक्षर एक एक चन्द्र का स्वरूप है। श्रीकृष्ण काम-गायत्री का स्वरूप श्रीकृष्ण का स्वरूप होने से साढ़े चौबीस चन्द्रों को समवाय ही श्रीकृष्ण-स्वरूप है। श्रीकृष्ण इन चन्द्रगणों को उदित करके त्रिभुवन को ही कृष्ण-कामनामय कर देते हैं, अर्थात् इन चन्द्रों की मन-प्राणाकर्षि स्निग्धता से श्रीकृष्ण के अङ्गों का असमोर्ध्व- माधुर्य इतना बढ़ जाता है कि वह त्रिलोकों के लोगों में श्रीकृष्णदर्शन की अदम्य कामना को जागृत कर देता है।

साढ़े चौबीस चन्द्र श्रीकृष्ण के किस अङ्ग में कसे प्रकाशित हो रहे हैं—उसका वर्णन अगले कई एक पयारों में करते हैं—

सखि हे ! कृष्णमुख द्विजराज राज।
कृष्णवपु सिंहासने, वसि राज्यशासने, करे सङ्गे चन्द्रेर समाज ॥ध्रु, १०५॥

दुइ गण्ड सुचिक्कण, जिनि मणिदर्पण, सेइ दुइ पूर्णचन्द्र जानि ।
ललाट अष्टमी-इन्दु, ताहाते चन्दन विन्दु, सेहो एक पूर्णचन्द्र मानि ॥१०६॥

(श्रीमन्महाप्रभु अपने को श्रीराधा मानकर एवं श्रीसनातन को श्रीलवङ्ग मंजरी जानकर श्रीकृष्ण-विरह में कातर होकर श्रीकृष्ण का स्वरूप वर्णन करते हैं)--"हे सखि ! श्रीकृष्ण का मुखचन्द्र समस्त चन्द्रों का राजा है । वह श्रीकृष्णमुखचन्द्र--राजा श्रीकृष्ण--वपु--रूप सिंहासन पर बैठ कर और सब चन्द्रमाओं को (मन्त्री, लीला--कमल, नर्त्तक--नर्त्तकी—इत्यादि को) साथ लेकर राज्य शासन करता है अर्थात् श्रीकृष्ण कामनामय प्रजावृन्द का शासन करता है । समस्त कामनाओं को अन्य ओर से आकर्षण करके, दमन करके केवल अपनी ओर ही प्रयोग कराता है, श्रीकृष्ण के दोनों कपोल जो झलमल झलमल करने वाले हैं एवं जो मणिजड़ित दर्पण को भी पराजित करने वाले हैं--वे दोनों पूर्ण चन्द्रमा हैं । ललाट पर अष्टमीतिथि का चन्द्र अर्थात् अर्द्ध चन्द्र है । तथा ललाट के बीच में जो चन्दन की बिन्दु है-वह एक और पूर्ण चन्द्र है ॥१०६॥

कर-नख चान्देर हाट, वंशी-उपर करे नाट, तार गीत मुरलीर तान ।
पद-नखचन्द्रगण, तले करे नर्त्तन, नूपुरेर ध्वनि यार गान ॥१०७॥
नाचे मकर-कुण्डल, नेत्र लीलाकमल, विलासी राजा सतत नाचाय ।
भ्रु-धनु, नासा-बाण, धनुर्गुण दुइ काण, नारीगण लक्ष्य विन्धे ताय ॥१०८॥

"हाथों के दश नख-चन्द्र वंशी के ऊपर नृत्य करते हैं, मुरली की तान ही उनका गीत है । चरण के दश नख--चन्द्र नीचे नृत्य कर रहे हैं और नूपुरों की ध्वनि ही उनका गान है । ऊपर मकराकृति कुण्डल (मुख सञ्चालन करने से) नृत्य करते हैं । दोनों नेत्र ही मुखचन्द्र विलासी राजा के हाथ में मानो लीला-कमल हैं, जिन्हें वह बार बार घुमा--फिरा रहा है । भृकुटि ही धनुष है, नासा बाण के समान है । उनके दोनों कर्ण धनुष के मुड़े हुए मानो दोनों सिरे हैं । इस धनुष--बाण द्वारा वे गोपनारीगण को निशाना बनाते हैं ॥१०७-१०८॥

एइ चान्देर बड़ नाट, पसारि चान्देर हाट, बिनिमूले विलाय निजामृत ।
कांहो स्मित-ज्योत्स्नामृते, काहाके अधरामृते, सब लोक करे आप्यायित ॥१०९॥
विपुल आयतारुण, मदन मदघूर्णन, मन्त्री यार एइ दुइ नयन ।
लावण्यकेलिसदन, जननेत्र रसायन, सुखमय गोविन्द बदन ॥११०॥

यह श्रीकृष्ण-मुख-चन्द्र-रूप राजा, चन्द्रों का मानों बाजार लगाकर बैठा है, और सबको अपना अमृत विना मूल्य लुटा रहा है । किसी को मृदु--मुस्कान अमृत पिलाता है, तो किसी को अधरामृत—इस प्रकार किसी को भी विना अमृत पिलाये नहीं रहता है । विशाल एवं चौड़े चौड़े, अरुण वर्ण, मदन--मद से मदमस्त जो दोनों नेत्र हैं—यही दोनों इस मुखचन्द्र--राजा के दोनों मन्त्री हैं । इस प्रकार श्रीकृष्ण का मुखचन्द्र लावण्य-केलि का सदन है, भक्तों के नेत्रों के लिये तो रसायन सदृश है ॥१०९-११०॥

यारपुण्यपुञ्जफले, से मुखदर्शन मिले, दुइ अक्ष्ये कि करिवे पाने ।
द्विगुण बाढ़े तृष्णा-लोभ, पिते नारे मनःक्षोभ, दुखे करे विधिर निन्दने ॥१११॥
ना दिलेक लक्षकोटि, सबे दिल आंखि दुटि, ताते दिल निमिष-आच्छादन ।
विधि जड़ तपोधन, रसशून्य तार मन, नाहि जाने योग्य सृजन ॥११२॥

जिसके पुण्यों के पुंज फलित होते हैं, उसे ही श्रीकृष्ण मुखचन्द्र के दर्शन मिलते हैं, किन्तु दो आंखों से वह उस अगाध छवि का किस तरह पान करे, एक बार दर्शन करने के बाद द्विगुणी तृष्णा एवं अत्यधिक लोभ दर्शनों के लिये बढ़ जाता है। तृप्ति न होने पर उसका मन क्षुभित हो उठता है और अन्त में दुखी होकर वह विधाता की निन्दा करने लगता है। वह कहने लगता है—"अरे विधाता तुमने मुझे लाख-कोटि आँखें न देकर केवल दो आंखें दीं, उन पर भी तुम ने पलकें लगादीं। ज्ञात होता है कठोर तपस्या करते करते तुम्हारी बुद्धि भी कठोर-जड़ता को प्राप्त कर चुकी है, और तुम्हारा मन रसशून्य—निरस हो गया है। अतः तुम्हें योग्य सृष्टि की रचना करना नहीं आया" ॥१११—११२॥

ये देखिवे कृष्णानन, तार करे द्विनयन, विधि हञा हेन अविचार।
मोर यदि बोल धरे, कोटि आंखि तार करे, तबे जानि योग्य सृष्टि तार ॥११३॥
कृष्णाङ्ग-माधुर्य-सिन्धु, मुख-सुमधुर-इन्दु, अतिमधुर स्मित- सुकिरणे।
ए-तिने लागिल मन, लोभे करे आस्वादन, श्लोक पढ़े स्वहस्तचालने ॥११४॥

"अरे विधाता ! जो कृष्ण दर्शन करेगा—उसके दो नेत्र ? विधाता होकर तुममें इतना अविचार ? हाँ, यदि तू मेरी बात माने, तो कृष्ण--दर्शन करने वालों की तो कोटि कोटि आंखें बनादे, तभी तुम्हारी सृष्टि-रचना में निपुणता मानूंगा।" श्रीकृष्ण का वपु तो माधुर्य का सिन्धु है और उनका मुख अति मधुर चन्द्र के सदृश है तथा जिसमें अति मधुर मृदु--मुस्कान की किरणें छिटक रही हैं"—इन तीनों के माधुर्य--आस्वादन करने के लिये श्रीमन्महाप्रभु का मन लालायित हो उठा और वे अपने दोनों हाथों को उठा कर निम्नलिखित श्लोक पढ़ने लगे—॥११३-११४॥

तथाहि कर्णामृते (९२)

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं बदनं मधुरम्।
मधुगन्धिमृदुस्मित मेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ॥२२॥

अहो ! इस विभु-श्रीकृष्ण का वपु अति सुमधुर है। उसमें भी उनका मुख और भी अधिक सुमधुर है। उसकी मृदु सुगन्धि तथा मन्द हास्य उससे भी अधिक सुमधुर है-मधुरतम है ॥२२॥ (इसकी व्याख्या निम्नलिखित त्रिपदी में करते हैं):—

यथा रागः—

सनातन ! कृष्णमाधुर्य अमृतेर सिन्धु।
मोर मन सान्निपाति, सब पिते करे मति, दुर्दैव-वैद्य ना देय एक विन्दु ॥ध्रु ११५॥
कृष्णाङ्ग लावण्यपूर, मधुर हैते सुमधुर, ताते येइ मुख-सुधाकर।
मधुर हैते सुमधुर, ताहा हैते सुमधुर, तार येइ स्मित-ज्योत्स्नाभर ॥११६॥

हे सनातन ! श्रीकृष्ण का माधुर्य अमृत का समुद्र है। मेरा मन सन्निपात रोग से ग्रस्त होरहा है, (जिसमें अत्यन्त प्रबल पिपासा होती है।) अतः वह समस्त माधुर्यसिन्धु को ही पी जाना चाहता है। हाय ! हाय !! किन्तु मेरा अभाग्यरूप वैद्य मुझे एक बिन्दु भी उसका पान नहीं करने देता। श्रीकृष्ण का वपु तो लावण्य से पूर्ण है, मधुर से भी सुमधुर है। उसमें जो फिर मुखचन्द्र है, वह तो मधुर से भी सुमधुर है। उस में जो मन्दहास्य-रूप चान्दनी छिटक रही है वह तो और भी सुमधुर है ॥११५—११६॥

मधुर हैते सुमधुर, ताहा हैते सुमधुर, ताहा हैते अति सुमधुर।
आपनार एक कणे, व्यापे सब त्रिभुवने, दश दिके बहे यार पूर ॥११७॥
स्मित किरण सुकर्पूरे, पैशे अधर-मधुरे, सेइ मधु माताय त्रिभुवने।
वंशीछिद्र-आकाशे, तार गुण शब्दे पैशे, ध्वनिरूपे पाञा परिणामे ॥११८॥

वह मन्द मुस्कान मधुर से सुमधुर, उससे भी सुमधुर, उससे भी अति सुमधुर है। अपने एक कण से ही त्रिभुवन में व्याप्त होकर दशों दिशाओं को माधुर्य-सिन्धु के प्रवाह में सराबोर कर रही है। वह मन्द मुस्कान सुन्दर कर्पूर के सदृश है, जो अधरों के माधुर्य में प्रवेश कर जाता है और वह अपनी मधुरता से त्रिभुवन को मतवाला कर रहा है। किस प्रकार मतवाला कर रहा है?—श्रीकृष्ण की बंशी में जो छिद्र-रूप आकाश है, उसका (आकाश का) गुण है शब्द। श्रीकृष्ण की वह मन्दहास्ययुक्त अधर-सुधा उस शब्द में प्रवेश करके ध्वनिरूप में परिणत हो जाता है ॥११७—११८॥

से ध्वनि चौदिके धाय, अण्ड भेदि वैकुण्ठे याय, जगतेर बले पैशे काणे।
सभा मातोयाल करि, बलात्कारे आने धरि, विशेषत युवतीरगणे ॥११९॥
ध्वनि बड़ उद्धत, पतिव्रतार भाङ्गे व्रत, पतिकोले हैते काढ़ि आने।
वैकुण्ठेर लक्ष्मीगणे, येइ करे आकर्षणे, तार आगे केवा गोपीगणे ॥१२०॥

वह ध्वनि चारों ओर छा जाती है और ब्रह्माण्ड को फोड़ कर वैकुण्ठ पर्यन्त जाती है और जगत्-वासियों के कान में तो जबरदस्ती प्रवेश कर जाती है। समस्त को मतवाला कर देती है और बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षण कर लेती है, विशेषतः युवतीगण को। वह ध्वनि बहुत उद्धत है, अर्थात् हिताहित-ज्ञान-शून्य है। पतिव्रता-स्त्रियों के व्रत को भी भङ्ग कर देती है, यहां तक कि पति-अङ्क में से खींच उन्हें श्रीकृष्ण को ओर ले जाती है। वह वैकुण्ठ की लक्ष्मीगणों को भी जब आकर्षण कर लेती है, फिर उसके आगे गोपीगण की क्या चलती है? ॥११९—१२०॥

नीवि खसाय पति-आगे, गृहकर्म कराय त्यागे, बले धरि आने कृष्णस्थाने।
लोकधर्म लज्जा भय, सब ज्ञान लुप्त हय, ऐछे नाचाय सब नारीगणे ॥१२१॥
काणेर भितर वासा करे, आपने तांहा सदा स्फुरे, अन्य शब्द ना देय प्रवेशिते।
आन कथा न शुने काण, आन् बुलिते बोलाय आन्, एइ कृष्णेर वंशीर चरिते ॥१२२॥
पुन कहे बाह्य ज्ञाने, आन कहिते कहि आने, कृष्णकृपा तोमार उपरे।
मोर चित्तभ्रम करि, निजैश्वर्य्यमाधुरी, मोर मुखे शुनाय तोमारे ॥१२३॥

वह वंशी-ध्वनि पति के आगे ही ब्रजगोपियों की नीवि को ढीला कर देती है, गृह-कामकाज का त्याग करा देती है। बरबश गोपीगण को वह वंशी-ध्वनि श्रीकृष्ण के समीप ले आती है। लोकधर्म, लज्जा, भय, आदि समस्त ज्ञान उनका लुप्त कर देती है—ऐसे नाच गोपीवृन्द को वह वंशी-ध्वनि नचाती है। उनके कानों के भीतर जाकर घुस ही बैठती है और सदैव अपने आप वहां उन्हें सुनाई देती रहती है और कोई दूसरा शब्द वहां प्रवेश ही नहीं करने देती। गोपीगण अथवा जिसने एकबार श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि सुनी है, वह फिर दूसरे की बात कानों से सुनता ही नहीं है। वह ऐसा बावरा हो जाता है कि

बोलना कुछ चाहता है और बोलता है कुछ और—ऐसे चरित्र हैं—श्रीकृष्ण की वंशी के।" श्रीमहाप्रभु इस प्रकार श्रीकृष्ण की वंशी-माधुरी को वर्णन करते करते प्रेमाविष्ट हो रहे थे। फिर उन्हें बाह्यज्ञान हुआ, और वे कहना तो कुछ और चाहते थे, परन्तु कुछ और कहने लगे। प्रभु ने कहा—"सनातन! तुम पर श्रीकृष्ण की विशेष कृपा है, कारण कि वे अपनी ऐश्वर्य-माधुरी का मेरे चित्त में भ्रम उत्पन्न करके मेरे मुख से ही तुम्हें सुना रहे हैं ॥१२१—१२३॥

आनि त बाउल, आन कहिते आन कहि। कृष्णेर माधुर्यामृतस्रोते याइ बहि ॥१२४॥
तबे प्रभु क्षण एक मौन करि रहे। मने धैर्य्य करि पुन सनातने कहे ॥१२५॥
कृष्णेर माधुरी आर महाप्रभुर मुखे। येइ इहा शुने सेइ भासे प्रेमसुखे ॥१२६॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥१२७॥

"सनातन! मैं तो बावला हूं, बावला। कहना कुछ और चाहता था और कहने लगा हूँ कुछ और, मैं तो श्रीकृष्ण के माधुर्यामृत की धारा में बहा जा रहा था।" इतना कहकर श्रीमहाप्रभु एक क्षण के लिये चुप होगये। मन में धैर्य्य धारण कर फिर श्रीसनातनपाद से (जो अगले परिच्छेद में वर्णन किया गया है।) कहने लगे। ग्रन्थकार श्रीकविराज कहते हैं कि श्रीकृष्ण-माधुरी और फिर श्रीमहाप्रभु के मुखसे इस अद्भुत प्रसङ्ग को जो सुनेगा, वह प्रेम-सुख में सराबोर हो जाएगा। श्रीरूपगोस्वामीपाद तथा श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीपाद के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥१२४—१२७॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां
सम्बन्ध-तत्त्व-विचारेश्रीकृष्णैश्वर्यमाधुर्य्यवर्णनंनाम
एकविंश परिच्छेदः ॥२१॥

जयगौर

मध्य-लीला

द्वाविंश परिच्छेद

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यदेवं तं करुणार्णवम् ।
कलावप्यतिगूढ़ेयं भक्तिर्येन प्रकाशिता ॥१॥

अति निगूढ़ होते हुए भी यह भक्ति (साधन-भक्ति) कलिकाल में जिन्होंने प्रकाशित की है, दया के सागर उन श्रीकृष्णचैतन्यदेव की मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

चै० च० चु० *टीका:*— भक्तितत्त्व अति निगूढ़ है, अत्यन्त गोपनीय वस्तु है, किन्तु परम-करुण श्रीमन्महाप्रभु जी ने उस निगूढ़ भक्ति-तत्त्व का भी सर्वसाधारण के मङ्गल निमित्त जगत् में प्रकाश किया, जिससे कि उस साधन-भक्ति का अनुष्ठान आचरण करके कलिहत समस्त जीव श्रीकृष्णसेवा को प्राप्त कर सकें ।

इस परिच्छेद में साधन-भक्ति विषय की ही आलोचना की गई है—उसके लिये कविराज ने श्रीमन्महाप्रभु की कृपा प्रार्थना—ऊपर के श्लोक में की है ।

जय जय श्रीकृष्णचैतन्य नित्यानन्द । जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
एइ त कहिल सम्बन्धतत्त्वेर विचार । वेदशास्त्रे उपदेशे—कृष्ण एक सार ॥२॥
एबे कहि शुन अभिधेयेर लक्षण । याहा हैते पाइ कृष्ण, कृष्णप्रेम-धन ॥३॥
'कृष्ण-भक्ति' अभिधेय सर्वशास्त्रे कय । अतएव मुनिगण करियाछे निश्चय ॥४॥

श्रीकृष्णचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्दप्रभु की जय हो । श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो, श्रीगौर-भक्तवृन्द की जय हो । पिछले परिच्छेद में सम्बन्ध-तत्त्व का विवरण आलोचित हुआ है । (भूमिका पृष्ठ— १४० सम्बन्ध तत्त्व द्रष्टव्य है ।) समस्त वेद-शास्त्रों का यही ही उपदेश है कि श्रीकृष्ण ही एकमात्र सार तत्त्व हैं या सम्बन्ध-तत्त्व हैं अर्थात् जीव का नित्य अविच्छेद्य-सम्बन्ध एकमात्र श्रीकृष्ण से ही है। सर्वशास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय साक्षात् रूप से या परोक्षरूप से श्रीकृष्ण ही हैं । श्रीमहाप्रभु ने कहा— "सनातन ! अब मैं तुम्हें अभिधेय-तत्त्व के लक्षण कहता हूँ, उसे सुनो ! जिसके द्वारा श्रीकृष्ण की एवं श्रीकृष्ण-प्रेमधन की प्राप्ति होती है। समस्त शास्त्रों में 'कृष्ण भक्ति' को ही अभिधेय कहा गया है । अतः मुनियों ने भी यही निश्चय किया है ॥१—४॥

चै० च० चु० *टीका:*—इस परिच्छेद में अभिधेय-तत्त्व का ही वर्णन किया गया है, जिससे कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति होती है । "अभिधीयते अनेन इति अभिधेयम्"—अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाये उसे 'अभिधेय' कहते हैं। जिसके द्वारा समस्त जानने योग्य तत्त्व ज्ञात होजाये, अथवा जिसके द्वारा ऐसी एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो, जिसको जान लेने के बाद और कुछ 'अज्ञात'—'बिन जाना' न

रहे। वस्तुः वही **मुख्यअभिधेय** हो सकता है। जिसके जान लेने से और कुछ अज्ञात नहीं रह जाता—वे हैं श्रीकृष्ण। क्योंकि श्रीकृष्ण ज्ञानस्वरूप हैं, वे अद्वयज्ञान तत्त्व हैं एवं वे समस्त के आश्रय हैं—समस्त उनके भीतर ही हैं। अतः श्रीकृष्ण को जान लेने के बाद और कोई जानना शेष नहीं रह जाता। अतः जिसके द्वारा श्रीकृष्ण को जाना जा सके—वही **मुख्य अभिधेय** है। श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त रत्नसंग्रह—(भूमिका) में अभिधेय-तत्त्व पृष्ठ १४४ द्रष्टव्य है। भक्ति ही अभिधेय तत्त्व है—उसका प्रमाण देते हैं—

तथाहि मुनिवाक्यम्—

श्रुति र्माता पृष्टा दिशति भवदाराधनविधिं
यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी।
पुराणाद्या ये वा सहजनिवहास्ते तदनुगा
अतः सत्यं ज्ञातं मुरहर भवानेव शरणम् ॥२॥

मुनिगण कहते हैं—"माता-स्वरूपा श्रुति (वेद एवं उपनिषत्) से जिज्ञासा करने पर, वह हे भगवन्! आप की आराधना विधि अर्थात् भक्ति का उपदेश करती है। श्रुति माता जो कुछ कहती है, भगिनी स्मृति (श्रीमद्भागवद्गीता आदि) भी वही बात कहती है। पुराणादि (पुराण एवं नारद-पञ्चरात्रादि शास्त्र) जो सहोदरगण हैं, वे भी माता एवं भगिनी के अनुगत हैं अर्थात् वे भी श्रीकृष्ण-भक्ति का उपदेश करते हैं। अतः हे मुरारे! आप ही हमारे एकमात्र आश्रय हैं। यही सत्य बात है ॥२॥

अद्वय ज्ञानतत्त्व कृष्ण स्वयं भगवान्। स्वरूप-शक्तिरूपे तांह हय अवस्थान ॥५॥
स्वांश विभिन्नांशरूपे हइया विस्तार। अनन्त वैकुण्ठ ब्रह्माण्डे करेन बिहार ॥६॥
स्वांश-विस्तार—चतुर्व्यूह अवतारगण। विभिन्नांश—जीव तांर शक्तिते गणन ॥७॥
सेइ विभिन्नांश जीव दुइ त प्रकार—। एक नित्यमुक्त, एकेर नित्यसंसार ॥८॥

(श्रीकृष्णभक्ति का अभिधेयत्त्व प्रतिपादन करने के उद्देश्य से अन्य भगवत्-स्वरूपों के भजन की बात न कहकर श्रीकृष्ण के भजन की ही कथा अभिधेय रूप में क्यों कही गई है—उसका कारण कहते हैं) श्रीकृष्ण अद्वय-ज्ञानतत्त्व हैं एवं स्वयं-भगवान् हैं। वे स्वरूप-रूप से तथा शक्तिरूप से अवस्थान करते हैं। स्वांश-रूप से तथा विभिन्नांश-रूप से अनेकरूप होकर अनन्त वैकुण्ठों में एवं ब्रह्माण्डों में वे श्रीकृष्ण बिहार करते हैं। स्वांशरूप में—चतुर्व्यूह तथा अनेक अवतार आते हैं और विभिन्नांश में—जीव हैं जिसे भगवान् की तटस्था-शक्ति कहकर माना गया है। भगवान् के विभिन्नांश जीव भी दो प्रकार के हैं—एक नित्य मुक्त-जीव हैं, दूसरे नित्य संसारबद्ध-जीव हैं ॥५—८॥

चै० च० चु० टीका:—श्रीकृष्ण ही अद्वयज्ञान तत्त्व हैं। (चै० च० २—२०—१३१ पयार-टीका द्रष्टव्य) एवं स्वयं भगवान् हैं अर्थात् वे समस्त भगवत्स्वरूपों के मूल हैं। श्रीकृष्ण ही कहीं स्वांशरूप से अर्थात् श्रीबलराम-नारायणादि रूप से (विलास रूप से), द्वारकानाथादि रूप से (प्रकाशरूप से) चतुर्व्यूहरूप से (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध रूप से); पुरुष-त्रयरूप से (कारण-सागरशायी, गर्भोदकशायी, क्षीरसागरशायी रूप से), अनन्त अवतारादि रूप से विलास करते हैं और विभिन्नशक्ति के विकाशरूप से अर्थात् श्रीराधिका-श्रीरुक्मणी ललितादिरूप से (ह्लादिनीशक्ति-विकाशरूप), श्रीनन्द-यशोदादि एवं भगवद्धामादिरूप से (सन्धिनीशक्ति विकाश रूप से) नित्यमुक्त वमायाबद्ध जीव रूप से (जीवशक्ति विकाश रूप से), श्रीरुक्मिणी-आदि रूप से), (ह्लादिनीशक्ति पराभव विलास रूप से),

श्रीलक्ष्मी आदि रूप से (ह्लादिनीशक्ति वैभव प्रकाश रूप से), योगमाया (अन्तरङ्गाशक्ति), माया व प्रकृति, प्राकृत ब्रह्माण्ड (बहिरङ्ग-मायाशक्ति विकाश)—इस प्रकार समस्त रूपों से श्रीकृष्ण ही सर्वत्र विलास कर रहे हैं। अतः अन्यस्वरूपों की भक्ति या भजन करने की बात को छोड़कर श्रीकृष्ण-भक्ति को ही अभिधेयरूप में प्रतिपादन किया गया है। मूल को सींचने से जैसे पत्ते, शाखाएं आदि अपने आप हरे हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-भजन में ही समस्त स्वरूपों का भजन हो जाता है।

नित्यमुक्त—नित्य कृष्णचरणे उन्मुख। 'कृष्णपरिषद'—नाम भुञ्जे सेवा-सुख ॥६॥
'नित्यबद्ध'-कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख। नित्यसंसारी भुञ्जे नरकादि दुख ॥१०॥
सेइ-दोषे मायापिशाची दण्ड करे तारे। आध्यात्मिकादि तापत्रये जारि तारे मारे ॥११॥
काम-क्रोधेर दास हञा तार लाथि खाय। भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु-वैद्य पाय ॥१२॥
तार उपदेश-मन्त्रे पिशाची पालाय। कृष्णभक्ति पाय तबे कृष्ण निकट याय ॥१३॥

दो प्रकार के जीवों में जो नित्यमुक्त-जीव हैं अर्थात् जो अनादिकाल से नित्य—निरवच्छिन्न-भाव से मायाबन्धन से मुक्त हैं—वे तो सदा श्रीकृष्णचरण-सेवा में लगे हुए हैं, और उनका नाम 'कृष्ण-पार्षद' है। वे सर्वदा श्रीकृष्णसेवा-सुख का आस्वादन करते रहते हैं। और दूसरे जो नित्यबद्ध जीव हैं अर्थात् जो अनादि काल से जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि आदि का भोग करते आ रहे हैं, किन्तु वे भगवत्-कृपा प्राप्त कर मुक्त हो सकते हैं, (जब तक मायाबन्धन से मुक्त नहीं होते, तब तक वे नित्य मायाबन्धन में ही रहते हैं)—वे नित्यबद्ध-जीव श्रीकृष्ण से नित्य बहिर्मुख हैं, नित्य संसार में आते जाते हैं और नरकादि का दुख भोगते रहते हैं। श्रीकृष्ण-बहिर्मुख होने के दोष से माया-पिशाचिनी उन जीवों को दण्ड देती रहती है और आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—इन तीन प्रकार के तापों की ज्वाला में उनको जला कर मारती है। वे काम-क्रोधादि के दास होकर सदा उनकी ठोकरें खाते रहते हैं। ऐसे नित्यबद्ध जीव को नाना योनियों में भ्रमण करते करते यदि किसी एक जन्म में साधु अर्थात् महत्-पुरुष-रूप वैद्य उसे मिल जाये, तो उसके सदुपदेश रूप मन्त्र से मायारूपी पिशाचिनी उसे छोड़कर भाग जाती है। तभी उसे कृष्णभक्ति की प्राप्ति होती है और तभी वह श्रीकृष्ण की समीपता या सेवा प्राप्त करता है ॥६—१३॥

तथाहि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ (३—२—६)

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा—
स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते साम्प्रतं लब्धबुद्धि—
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये ॥३॥

नित्यबद्धजीव की उक्ति है—"मैंने काम-क्रोधादि की किस किस खोटी आज्ञा का पालन नहीं किया है ? अर्थात् हर प्रकार की उनकी वशीभूतता अङ्गीकार की है। तथापि मेरे प्रति उनकी दया कुछ न हुई। मेरे प्रति दया न कर सकने पर वे लज्जित भी न हुए, उन्होंने अपने दासत्व से मुझे तिष्कृति भी न दी। हे यदुपते ! आपकी कृपा से मुझे अब ज्ञान प्राप्त हुआ है और अब उनका त्याग कर मैं आपके अभयप्रद चरणों का आश्रय करता हूँ, आप मुझे अपनी दासता में—सेवा में नियुक्त कर लीजिये ॥३॥

चै० च० चु० टीका:—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों से विषय-भोग करने से कभी भी इन्द्रियों की तृप्ति की वासना दूर नहीं होती, प्रशमित भी नहीं होती वरं अग्नि में घृत की आहुति पड़ने से जैसे अग्नि अधिक प्रज्ज्वल्लित ही होती जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियों के भोग भोगने से उनकी भोग-वासना और अधिक ही बढ़ती जाया करती है। किसी महत्पुरुष की कृपा से, उसके उपदेश से श्रीकृष्ण-सेवा की वासना जागृत हो उठे, तभी ही इन्द्रियों की सेवा वासना अर्थात् देहावेश दूर हो सकता है।

साधारणत: चार प्रकार के ही साधन माने जाते हैं। कर्म मार्ग, योगमार्ग, ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग। इन चारों साधनों में भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है अत: भक्तिमार्ग ही श्रेष्ठ अभिधेय है—अगले पयारों में इसी बात का वर्णन करते हैं।

कृष्णभक्ति हय—अभिधेय-प्रधान। भक्तिमुख निरीक्षक-कर्म-योग-ज्ञान ॥१४॥
एइ सब साधनेर अति तुच्छ फल। कृष्णभक्ति बिने ताहा दिते नारे बल ॥१५॥

श्रीकृष्ण भक्ति ही प्रधान अभिधेय है, क्यों कि कर्म, योग एवं ज्ञान—ये तीनों साधन भक्ति का मुंह ताका करते हैं अर्थात् ये तीनों भक्ति की सहायता के बिना स्वन्तत्ररूप से अपना फल प्रदान करने में असमर्थ हैं, इन सब साधनों का फल भी अति तुच्छ है। परन्तु वही तुच्छ फल भी ये तीनों कृष्णभक्ति की सहायता के बिना प्रदान करने की शक्ति नहीं रखते ॥१४--१५॥ (भूमिका में अभिधेय तत्त्व पृष्ठ १४४ पर द्रष्टव्य) श्रीमद्भागवत जी में कहा है—

तथाहि (भा: १-५-१२)

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्ज्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥४॥

निरुपाधिब्रह्मज्ञान भी जब भगवद्भक्ति के बिना सम्यक् प्रकार से शोभित नहीं होता है अर्थात् मोक्ष-साधक नहीं होता, तब साधनकाल में एवं फल भोगकाल में भी दुख देने वाले काम्यकर्म तथा निष्काम-कर्म ईश्वर के अर्पित किये बिना, शोभित नहीं होते, फलप्रद नहीं हैं—इस विषय में कहना ही क्या है? ॥४॥ और भी कहा है—

तथाहि तत्रैव (२—४—१७)

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति बिना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः ॥५॥

ब्रह्माजी ने श्रीभगवान् के प्रति कहा है—"तपस्वीगण, (ज्ञानीगण) दानशीलगण (कर्मीगण), यशस्वीगण (अश्वमेधादि यज्ञों के करने वाले), मनस्वीगण (योगीगण व जपशीलगण), मन्त्रों को जानने वाले (आगम-वेत्तागण) एवं सदाचार परायणगण—जिन आप भगवान् को अपनी तपस्यादि को अर्पण न करने पर मङ्गल को प्राप्त नहीं कर सकते अर्थात् अपने अपने अभीष्ट फलों को प्राप्त नहीं कर सकते, उस सुमङ्गल-यशस्वी श्रीभगवान् (आपको) मेरा नमस्कार है ॥५॥

केवल-ज्ञान मुक्ति दिते नारे भक्ति बिने।
कृष्णोमुन्खे सेइ मुक्ति हय बिना ज्ञावे ॥१६॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन! इसलिये भक्ति के बिना केवल ज्ञान मुक्ति अर्थात् सायुज्यमुक्ति नहीं दे सकता। किन्तु जो श्रीकृष्ण के उन्मुख होते हैं अर्थात् उनकी सेवा करने के लिये लालायित होते हैं, उन्हें ज्ञान प्राप्त किये विना ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। (अर्थात् वे मायाबन्धन से मुक्त हो जाते हैं)।१६

चै० च० चु० *टीका:*—जो श्रीकृष्ण की भक्ति करते हैं, उनके लिये सायुज्य मुक्ति ज्ञानमार्ग के अनुशीलन बिना ही प्राप्त हो जाती है। इससे भक्ति की अन्यनिरपेक्षता व स्वतन्त्रता सूचित होती है। इस पयार के दूसरे मुक्ति-शब्द का अर्थ मायाबन्धन से मुक्त होना ही अभिप्रेत है, यदि कहा जाये कि पयार के पूर्वोल्लिखित मुक्ति-शब्द के अर्थ की भांति इसका भी अर्थ सायुज्य-मुक्ति किया जाना चाहिये, तो वह भी ठीक है, किन्तु ब्रह्मसायुज्य-मुक्ति चाहने वालों की सायुज्य-कामना का मूल केवल मायाबन्धन से मुक्ति चाहना ही है। क्योंकि उनके मत में ब्रह्म सायुज्य प्राप्त करने पर ही मायाबन्धन से मुक्ति हो सकती है। अन्यथा किसी प्रकार नहीं। अथवा मायाबन्धन से मुक्त होने पर ही उनके मत में साधक ब्रह्मसायुज्य लाभ करता है। अतः उनके मत में मायाबन्धन से मुक्ति या ब्रह्मसायुज्य प्रायः एक ही बात है। जो भक्तिमार्ग से श्रीकृष्णोपासना करते हैं, वे सायुज्य-मुक्ति तो चाहते नहीं और मायाबन्धन से भी मुक्ति नहीं चाहते हैं, वे चाहते हैं केवल श्रीकृष्ण-सेवा। मायाबन्धन से मुक्ति न चाहने पर भी—इस प्रकार की मुक्ति उन्हें कृष्णसेवा के आनुषङ्गिक फलरूप में अपने आप ही प्राप्त हो जाती है।

श्रीकृष्ण परम-करुण हैं—वे भी अपने भक्त को सायुज्यमुक्ति नहीं देते, क्यों कि उससे जीव का स्वरूपानुबन्धि सेव्य-सेवकभाव नष्ट हो जाता है।

अथवा इस पयार का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि ज्ञानमार्ग के साधक भक्ति को त्यागकर बहु कष्ट साध्य-साधनों के द्वारा जिस सायुज्यमुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते, उसी मुक्ति के उद्देश्य से यदि वे श्रीकृष्णोन्मुख हों, तो ज्ञानमार्ग के साधन व्यतीत भी श्रीकृष्ण उन्हें वही सायुज्यमुक्ति दे सकते हैं और दिया करते हैं। क्यों कि यदि साधक को श्रीकृष्ण भुक्ति और मुक्ति देकर अपना पल्ला छुड़ा सकें तो वे उनको भुक्ति-मुक्ति देकर ही राजी कर देते हैं—उन्हें फिर वे अपनी प्रेमाभक्ति प्रदान नहीं करते—कि जिससे उन्हें साधक के वशीभूत ही होना पड़ता है।

तथाहि तत्रैव (१०—१४—४)

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥६॥

श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रह्मा जी कहा—"हे सर्वव्यापक प्रभो! श्रेय की हेतु या उपाय-स्वरूप आपकी भक्ति को छोड़कर जो लोग केवल ज्ञान (शास्त्राभ्यास या जीव-ब्रह्मैक ज्ञान) की प्राप्ति के लिये क्लेशकर साधनों का परिश्रम करते हैं, उनके हाथ में साधन का केवल मात्र क्लेश ही पड़ता है और कुछ नहीं, जैसे चावल निकले हुए धान के छिलके कूटने वाले को केवल क्लेश ही क्लेश उठाना पड़ता है, और कुछ हाथ न पड़ता, तद्रूप" ॥६॥

(तात्पर्य यह है कि कृष्णभक्ति ही एकमात्र सार-अभिधेय है एवं सार वस्तु है! भक्ति-साधन से ही जीव मायाबन्धन से छूट सकता है। जैसा कि श्रीगीताजी में भी कहा गया है।

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (७—१४)—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥७॥

श्रीभगवान् ने कहा है "मेरी यह अलौकिक एवं अद्भुत गुणमयी माया अतिदुस्तर है। जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं, केवल वे ही इस माया से उद्धार पा सकते हैं ॥७॥

कृष्णनित्यदास जीव ताहा भुलि गेल। सेइ दोषे माया तार गलाय बान्धिल ॥१७॥
ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन। मायाजाल छुटे, पाय कृष्णेर चरण ॥१८॥
चारिवर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे। स्वकर्म करिते सेइ रौरवे पड़ि मजे ॥१९॥

जीव नित्य कृष्णदास है—इस अपने स्वरूप को जीव भूल जाता है और इसी दोष से माया उसको बांध देती है। अतः श्रीकृष्ण का भजन श्रीगुरु की सेवा करते हुए करे, तभी यह जीव माया-जाल से छूट कर श्रीकृष्णचरण-सेवा को प्राप्त कर सकता है। चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा भिक्षु) में से किसी वर्ण का एवं किसी आश्रम में रहने वाला कोई मनुष्य यदि अपने वर्ण एवं आश्रम के धर्मों का तो पालन करता है किन्तु श्रीकृष्ण का भजन नहीं करता है, तो वह (स्वधर्माचरण करता हुआ भी) रौरव नरक की यन्त्रणा को भोग करता है ॥१७—१९॥ यही बात श्रीभागवत जी में कही है—

तथाहि (भा: ११—५—२ व ३)—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयं पृथक् ॥८॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥९॥

पुरुष के (श्रीभगवान् के) मुख, (से ब्राह्मण) भुजाओं (से क्षत्रिय) ऊरु (से वैश्य) एवं चरणों से (शूद्र) सत्व, रज, तम-आदि गुणों के तारतम्य से पृथक् पृथक् चारों वर्णों की चारों आश्रमों सहित उत्पत्ति हुई है। इन चारों वर्णों या चारों आश्रमियों में से जो मनुष्य अज्ञानावशतः अपने जनक अर्थात् पिता ईश्वर-परम-पुरुष का भजन नहीं करता, या उनकी अवज्ञा करता है, वह कर्मलब्ध अधिकार से अर्थात् अपने वर्ण और आश्रम के धर्म-पालन करने से प्राप्त होने वाले पद से च्युत हो जाता है एवं अधः (नरकों में) गिरता है ॥८-९॥

ज्ञानी जीवन्मुक्तिदशा पाइनु करि माने।
वस्तुत बुद्धि शुद्ध नहे कृष्णभक्ति बिने ॥२०॥

ज्ञानी मन में यह मान लेता है कि उसने जीवन्मुक्ति-अवस्था को प्राप्त कर लिया है अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्-वशतः उसके अज्ञान एवं अज्ञानकृत-कर्मादि ध्वंस हो चुके हैं और उसे अब कोई बन्धन नहीं रहा (वास्तव में वह जीवन्मुक्त नहीं होता और कृष्णभक्ति के बिना उसकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं हो सकती।)

चै० च० चु० टीका:—इस पयार में उन लोगों की बात कही गई है जो भक्ति की उपेक्षा करके केवलमात्र ज्ञानमार्ग का अनुष्ठान करते हैं। परवर्ती श्लोक जो इस पयार के प्रमाण स्वरूप वर्णन किया जायेगा, उससे ही यह बात ज्ञात होती है। उस प्रमाण-स्वरूप श्लोक के मर्मानुसार ही इस पयार का अर्थ सङ्गत होगा। परवर्ती श्लोका मर्म यह है कि बियुक्तमानिगण बहुत कष्टकर साधनों द्वारा उच्च पद पर पहुँच कर भी भगवच्चरणारविन्द के अनादर करने के कारण वे अधः पतित हो जाते हैं।

इस श्लोक की टीका में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद ने लिखा है, जो गुणीभूत-भक्ति की सहायता से शमदमादि-तपस्या के प्रभाव से जीवन्मुक्तदशा को प्राप्त करते हैं, वे भगवद्-विग्रह को मायिक जानकर भगवच्चरणारविन्द के प्रति आदर नहीं करते, अतः उनका अधःपतन होता है।

ज्ञानमार्ग के साधक तीन प्रकार के हैं—**प्रथमतः**, जो परब्रह्म का साकार-स्वरूप स्वीकार करते हैं एवं साकार-विग्रह को सच्चिदानन्दमय जानते हुए उससे भक्तिपूर्वक उनके चरणों में निर्विशेष ब्रह्म-सायुज्य की कामना करते हैं—वे साधक मुक्ति लाभ कर सकते हैं उनमें कोई कोई अवस्था-विशेष में परा-भक्ति भी लाभ कर सकता है। **द्वितीयतः**—जो परब्रह्म का साकार-सगुण-स्वरूप बिल्कुल स्वीकार नहीं करते, भक्तिशास्त्र के मतानुसार उन साधकों का साधन वृथा श्रममात्र ही है—उन्हें कुछ नहीं प्राप्त होता। **तृतीयतः**—जो परब्रह्म का साकार-स्वरूप मानते हैं, किन्तु उस साकार-विग्रह को मायिक-विग्रह समझते हैं अर्थात् उस विग्रह को प्राकृतिक-सत्त्व, रज, तम गुणोंयुक्त मानते हैं वे जो भक्ति करते हैं वह भक्ति **गुणमयी** है—वह निर्गुणशुद्धाभक्ति नहीं है। उस भक्ति के गुणीभूत होते हुए भी उस भक्ति के प्रभाव से वे बहुकाल तक तप-शमादि का अनुष्ठान करके अविद्यानिरसनी विद्या लाभ कर सकते हैं। अर्थात् रज, एवं तम जिनके आधिक्य से अविद्या रहती है, जो दुख एवं अज्ञान का कारण है—वे दूर हो जाते हैं एवं केवल सत्त्व ही वर्त्तमान रहता है। उस सत्त्व या विद्या के द्वारा अज्ञान दूर हो जाता है और उन्हें प्राकृत-आनन्द अनुभव होने लगता है, किन्तु अप्राकृत-आनन्द या ब्रह्मसाक्षात्कारोद्भव आनन्द प्राप्त नहीं होता। क्योंकि भगवान् की चिच्छक्ति का विलास जो भक्ति है उस निर्गुण भक्ति के बिना उस ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव असम्भव है। विद्या तथा अविद्या–इन दोनों के तिरोधान हो जाने पर चिच्छक्ति की वृत्ति विशेष जो **निर्गुणभक्ति** है। वह भक्ति केवलमात्र यदि हृदय में **अवस्थान** करे, तभी उस भक्ति के प्रभाव से ब्रह्मानुभव हो सकता है—एकमात्र इस अवस्था में ही साधक को **जीवनमुक्त** कहा जा सकता है। किन्तु जो परब्रह्म के साकार-विग्रह को प्राकृत गुणशून्य व सच्चिदानन्दमय जानते हैं, उनकी ही निर्गुणाभक्ति अविद्या एवं विद्या के तिरोधान हो जाने पर भी हृदय में अवस्थान करती है। ऐसा श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती-पाद ने श्रीगीता, १८—५४ श्लोक की टीका करते हुये सिद्धान्त किया है। इस भक्ति के साथ सत्व–रज–तमादि प्राकृत गुणों का कोई सम्बन्ध न रहने से मायिकी विद्या तथा अविद्या के साथ उस भक्ति का तिरोधान नहीं होता है। किन्तु जो परब्रह्म के साकार स्वरूप को मायिक-सत्त्व गुणका विकार मात्र समझते हैं, उनके द्वारा अनुष्ठित भक्ति निर्गुणा चिच्छक्ति का विलास नहीं है उनकी वह भक्ति मायिकगुणयुक्त है, इसलिये मायिकी गुणमयी विद्या के तिरोधान के साथ साथ वह भक्ति भी अन्तर्हित हो जाती है।

सारांश यह है कि गुणीभूत भक्ति के प्रभाव से साधक की अविद्या दूर होकर जब विद्या का उद्भव होता है, तब उसके चित्त में तमोगुण तथा रजोगुण से उत्पन्न होने वाला कोई भी कामक्रोधादि विकार उत्पन्न नहीं होता, सत्त्वगुण (विद्या) के प्रभाव से चित्त में आनन्द भी अनुभव होता है, उसी आनन्द को तब वे ब्रह्मानुभूतिमूलक आनन्द समझ लेता है और उसी अवस्था के साथ अपने चित्त को भी निर्विकारी देख कर अपने को वह जीवन्मुक्त समझने लगता है। वास्तविक तभी तक वह जीवन्मुक्त नहीं होता। कारण तब तक वह गुणातीत नहीं होता। उसके चित्त में प्राकृत सत्वगुणमयी विद्या तब भी वर्त्तमान रहती है। गुणातीत न हो सकने के कारण उसको इस प्रकार की जीवनमुक्त-अवस्था की भ्रान्ति उत्पन्न हो आती है। जब तक गुणातीत नहीं होता तब तक साधक की बुद्धि विशुद्धता को लाभ नहीं करती और निर्गुणाभक्ति की कृपा बिना जीव गुणातीत हो सकता नहीं। इसलिये कहा गया है "वस्तुतः कृष्णभक्ति के बिना शुद्ध बुद्धि नहीं होती। गुणीभूत भक्ति के अन्तर्धान होने पर भगवच्चरणारविन्द के अनादर जनित अपराध के फलस्वरूप फिर उसका अधःपतन हो जाता है।

तथाहि (भा: १०—२—४२)

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधो नादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥१०॥

श्रीभगवान् को लक्ष्य करके देवतागणों ने कहा है--"हे कमललोचन ! जो आप से विमुख हैं। आपकी भक्ति के अभाववशतः उनकी बुद्धि अविशुद्ध रहती है। अतः वस्तुतः विमुक्त न होने पर भी वे अपने आप को विमुक्त (जीवन्मुक्त) समझते हैं। वे अति कष्ट से विषयसुखों का परित्याग पूर्वक कठोर तपस्यादि द्वारा मोक्ष सन्निहि सत्कुलादि को प्राप्त होकर भी आपके चरणों के प्रति अनादर वशतः अधः पतित होते हैं ॥१०॥"

कृष्ण सूर्य्यसम माया हय अन्धकार।
याहां कृष्ण ताहां नाहि मायार अधिकार ॥२१॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन ! श्रीकृष्ण सूर्य के समान हैं, और माया अन्धकारमय है। (जहां सूर्य रहता है, वहां अन्धकार कैसा ?—उसी प्रकार) जहां श्रीकृष्ण हैं वहां फिर माया का कुछ भी अधिकार नहीं है। (अतः श्रीकृष्ण-भक्ति के बिना न तो बुद्धि ही विशुद्ध हो सकती है और न यह जीव-माया चगुंल से छुटकारा ही पा सकता है) ॥२१॥

तथाहि (भा: २—५—१३)

विज्जलमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया ।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्द्धियः ॥११॥

ब्रह्मा जी ने नारद जी के प्रति कहा है--"जो माया भगवान् के नेत्र के आगे अवस्थान करने में भी लज्जित होती है, दुर्बुद्धि व्यक्ति उसी माया में मोहित होकर "मैं और मेरा" बोल बोल कर गाल बजाते हैं। (और बार बार जीवन मरण को प्राप्त कर दुखों का भोग करते हैं) ॥११॥

'कृष्ण ! तोमार हङ' यदि बोले एकबार ।
मायाबन्ध हैते कृष्ण तारे करे पार ॥२२॥

"हे कृष्ण ! मैं आपका हूँ"—एक बार भी यदि कोई ऐसे कहता है, तो वे परमकरुण श्रीकृष्ण उसे मायाबन्धन से मुक्त कर देते हैं ॥२२॥

तथाहि हरिभक्तिविलासे (११—३९७) रामायण वचनम्—

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं मम ॥१२॥

श्रीभगवान् कहते हैं—"मेरी शरण में आकर जो एकबार यह कहता है कि—"हे कृष्ण मैं आपका हूँ"—मैं उसे सर्वदा के लिये अभय अर्थात् मायाबन्धन से रहित कर देता हूँ—ऐसा मेरा दृढ़ प्रण है ॥१२॥

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धकामी सुबुद्धि यदि हय ।
गाढ़भक्तियोगे तबे कृष्णेरे भजय ॥२३॥

अतः इहलोक एवं परलोक के सुखों के भोगने की कामना करने वाला कर्मी-साधक, तथा सायुज्य-मुक्ति की कामना वाला ज्ञानी साधक और अष्टसिद्धियों की कामनायुक्त योगमार्ग का साधक—यदि ये उत्तम बुद्धि वाले हों तो गाढ़भक्तियोग से ही उनको श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिये । (श्रीकृष्ण-भक्ति से उन्हें अपना अपना अभीष्ट फल मिल सकता है) ॥२३॥

तथाहि (भा: २—३—१०)

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥१३॥

महाराज परीक्षित से श्रीशुकदेव जी ने कहा है—"महाराज ! सुखभोगवासनादि शून्य एकान्त-भक्त, किंवा धनादि सर्वकामनायुक्त-कर्मी, अथवा मोक्ष कामी-ज्ञानी—इन में कोई भी क्यों न हो, वह यदि उत्तमबुद्धिवाला है तो उसे एकान्तिक भक्ति के साथ परमपुरुष भगवान् का भजन करना चाहिये ॥१३॥

अन्यकामी यदि करे कृष्णेर भजन । ना मागितेओ कृष्ण तारे देन स्वचरण॥२४॥
कृष्ण कहे—आमाय भजे, मागे विषय सुख । अमृत छाड़ि विष मागे, एइ बड़ मुर्ख ॥२५॥
आमि विज्ञ एइ मूर्खे विषय केने दिव । स्वचरणामृत दिया विषय भुलाइव ॥२६॥

श्रीकृष्ण-सेवा को छोड़कर भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि आदि की भी कामना करने वाला यदि कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण का भजन करता है, उसकी मांग न होने पर भी श्रीकृष्ण उसे अपने चरणों की भक्ति ही प्रदान करते हैं । श्रीकृष्ण सोचते हैं कि "मुझे भजता है और चाहता है विषय सुख ?" अमृत को छोड़कर यह विष मांगता है—यह बड़ा मूर्ख है । किन्तु मैं तो जानकार हूं—मैं इसे विषयरूप विष को क्यों दूं ? इसको अपनी चरण-सेवारूप अमृत देकर ही इसको विषय छुड़ा दूंगा" ॥२४—२६॥

चै० च० चु० *टीका:*—जिन की बुद्धि विशुद्ध नहीं है, वे तो श्रीकृष्णभजन में प्रवृत्त होते नहीं हैं । हाँ, जिन की बुद्धि यह समझ लेती है कि श्रीकृष्ण-भजन से हर एक अभीष्ट वस्तु प्राप्त की जा सकती है, वे अपनी कामना की पूर्ति के लिये श्रीकृष्ण-भजन में (प्रथमावस्था) में प्रवृत्त होते हैं । वे अपने परम हितकारक साध्य को सुस्थिर न कर सकने के कारण ऐसा करते हैं । किन्तु वे कृष्ण-भजन में पूर्ण उत्कण्ठा से संलग्न हो जाते हैं । कृष्ण भजन की तीव्रता से होता क्या है ?—चित्त अन्यकामनाओं की मलीनता से शुद्ध हो जाता है । श्रीभगवान् के सामने आते ही फिर वे अन्य सब कामनाओं को भूल जाते हैं और केवल उनके चरणों की सेवा के लिये ही उत्कण्ठित हो जाते हैं ।

हम भक्त ध्रुव जी के चरित्र में देखते हैं—ध्रुव जी केवल राजसम्पत्ति की प्राप्ति की तीव्र इच्छा को लेकर कमललोचन भगवान् की खोज में निकले । भगवान् से मिलने की इच्छा इतनी तीव्र थी और उनमें इतनी तन्मयता थी कि भयानक जङ्गलों में सिंह को देखकर उसके पास चले जाते और उसके गले में हाथ देकर पूछने लगते—"अहो ! पद्म-पलाश-लोचन आप हैं क्या ?" उनकी इस तन्मयता को देखकर भक्तवत्सल भगवान् न रह सके । साक्षात्कार होने पर जब भगवान् ने वर मांगने का संकेत किया, और राजसिंहासन की स्मृति कराई तो ध्रुव जी बोले—ना प्रभो ! मुझे और कुछ नहीं चाहिये । कांच को ढूंढ़ने निकला था, अब चिन्तामणि-स्वरूप आपको पा लिया है । अब तो केवल आपके चरणों की सेवा ही मुझे चाहिये ।"

इस प्रकार अन्यान्य कामनाओं वाले भक्त जब कृष्णभजन तीव्र संलग्नता एवं तन्मयता से करते हैं, तो परमकरुण श्रीकृष्ण उन पर अपनी विशेष कृपा करते हुए उनके अन्याभिलषित विषयों से उनके मन को हटा कर अपने चरणों की भक्ति हो प्रदान कर देते हैं।

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत आदि खण्ड अष्टमपरिच्छेद पयार नं० १६ में कहा जा चुका है कि—"श्रीकृष्ण यदि भक्तों को अर्थात् सकाम भजन करने वालों को भुक्ति एवं मुक्ति देकर अपना पीछा छुड़ा सकें तो वे उन्हें भुक्ति एवं मुक्ति दे दिया करते हैं और अपनी प्रेम भक्ति उन्हें नहीं देते बल्कि उनसे उसे छिपा कर रखते हैं"—और ऊपर वर्णन करते हैं कि—"भजन करने वाले की अन्यकामना होने पर, उस के कृष्णचरण-सेवा न मांगने पर भी, भगवान् उसकी अन्यकामनाओं को छुड़ाकर अपने चरणों की सेवा ही प्रदान करते हैं"—इन दोनों भावों में विरोध प्रतीत होता है।

इसका समाधान यह है, कि जहाँ साधक भजन करते हुए अपने अभीष्ट की ओर ही तन्मय रहता है, उसकी वासनानुरूप भगवान् उसे भुक्ति-मुक्ति आदि ही प्रदान कर देते हैं विशेषतः जब वह कृष्ण-चरण-सेवा सुख से अपरिचित होता है, वहाँ भगवान् की सामान्य कृपा की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु जहाँ अपने अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये श्रीकृष्ण-प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा एवं तन्मयता होती है, जैसे ध्रुव जी में—उस स्थल विशेष में अपनी विशेष कृपा को अभिव्यक्त कर उसे अपने चरणों की सेवा की ओर ही आकृष्ट कर लेते हैं और साधक में अन्य सब कामनाएं अन्तर्धान हो जाती हैं। उसमें भगवत्-चरण-सेवा की वासना ही प्रबलतम हो उठती है। अतः भगवान् उसे अपनी चरणसेवा ही प्रदान कर देते हैं। स्थलविशेष पर यह उनकी विशेष कृपा का ही परिचय है। भगवान् की उस विशेष कृपा के प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भाः ५—१९—२६)—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥१४॥

भगवान् श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर देवगण ने कहा है—"श्रीभगवान् प्रार्थित होने पर (अर्थार्थी) मनुष्यों के प्रार्थित विषय को दिया करते हैं—यह बात सत्य है, (कभी भी अन्यथा नहीं होता) तथापि किन्तु (प्रार्थित विषयों के देने से) वे परमार्थदाता नहीं होते अर्थात् ऐसा नहीं होता कि प्रार्थित विषय को पा लेने पर वे सकामी पुरुष परमसन्तुष्ट हो जाएं और भगवान् परम-अर्थ (जिसको पा लेने के पश्चात् और कुछ पाने की इच्छा या आवश्यकता न रहे-ऐसी वस्तु) के दाता नहीं कहलाते। क्यों कि (ऐसा देखने में आता है कि एक बार) प्रार्थित वस्तु पा लेने के पश्चात् भी वे व्यक्ति और दूसरी वस्तु की प्रार्थना करते हैं, (तो क्या भगवान् किसी को भी परमार्थ-वस्तु दान नहीं करते ?—उसके उत्तर में कहते हैं) जो भगवान् का भजन तो करते हैं किन्तु उनके चरण-प्राप्ति की इच्छा जिन्हें नहीं है, उनकी अन्य कामनाओं को अन्तर्धान करने वाले अपने चरण-कमल श्रीभगवान् उनको प्रदान करते हैं तभी वे परमार्थदाता कहे जाते हैं। (यह उनकी विशेष कृपा है) ॥१४॥

काम लागि कृष्ण भजे पाय कृष्ण रसे।
काम छाड़ि दास हैते हय अभिलाषे ॥२७॥

आत्मेन्द्रिय तृप्ति की कामनाओं को लेकर जो श्रीकृष्णभजन करते हैं—उन्हें भी कृष्णभक्तिरस की प्राप्ति हो जाती है और वे उन कामनाओं को छोड़कर श्रीकृष्णचरण-सेवा के लिये ही लालायित हो उठते हैं ॥२७॥ जैसे कि श्रीध्रुव जी ने कहा है—

तथाहि हरिभक्ति सुधोदये (७—२८)—

स्थानाभिलाषी तपसि स्थितोऽहं त्वां प्राप्तवान्देव मुनीन्द्र गुह्यम् ।
काचं विचिन्वन्निव दिव्यरत्नं स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥१५॥

"हे प्रभो ! कांच की खोज करते करते किसी को जैसे दिव्यरत्न मिल जाए, मैंने भी उसी प्रकार पिता के सिंहासन को पाने के लिये तपस्या करते करते देवेन्द्र एवं मुनीन्द्रगणों के लिये भी दुर्लभ आपके चरणों को प्राप्त कर लिया है, स्वामिन् ! इन्हें प्राप्त कर अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ, अब और कोई भी वर मैं नहीं चाहता" ॥१५॥

इस प्रकार कृष्णभक्ति का अभिधेयत्व प्रतिपन्न करके, किस प्रकार उस कृष्ण भक्ति में जीव की रुचि उत्पन्न हो सकती है—उसे अब श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं—

संसार भ्रमिते कोन भाग्ये केहो तरे ।
नदीर प्रवाहे येन काष्ठ लागे तीरे ॥२८॥

"सनातन ! अपने कर्मों का भोग करने के लिये संसार में भ्रमण करते करते किसी भाग्यवश कोई जीव संसार से उद्धार पाने के उपाय कृष्ण-भक्ति में रुचि को प्राप्त करता है, जैसे नदी के प्रवाह में बहता बहता कोई लकड़ी का टुकड़ा कभी किनारे जा लगे, उसी प्रकार ॥२८॥

चै० च० चु० *टीका*:—वह भाग्य क्या है ? जिससे जीव भ्रमण करते करते संसार में उद्धार पाने के उपाय को प्राप्त करता है । सब से बड़ा भाग्य तो मनुष्य तन को प्राप्त करना है कि जिसमें इसे संसार सागर से तारने का सब से अधिक सुयोग मिल सकता है । दूसरे—अजामिल की भांति साङ्केतिक नामादि ग्रहण करने से या नामाभासादि के फल से इसे ऐसा अवसर मिल सकता है । अथवा पूतनादि की भांति भगवद्-विमुखता को प्राप्त करने से, किंवा किसी और प्रकार से भगवदनुग्रह प्राप्त का सौभाग्य अथवा किसी महत्-पुरुष की कृपा प्राप्त करना—इस प्रकार का ही कोई भाग्य उदय हो, तभी संसार-समुद्र से उद्धार पाने के उपाय—श्रीकृष्णभक्ति में इस जीव की रुचि उत्पन्न होती है। जैसे कि श्रीअक्रूर जी ने भी कहा है —

तथाहि (भा: १०—३८—५)—

नैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम् ।
ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरतिकश्चन ॥१६॥

इस प्रकार नहीं (अर्थात् मेरा भजन-साधन तथा कोई पुण्य नहीं है, अतः मुझे श्रीकृष्णदर्शन नहीं मिल सकते—न यह बात नहीं है) मैं चाहे अधम हूँ, फिर भी मुझे अच्युत भगवान् के दर्शन हो सकते हैं, क्योंकि कालरूप नदी में बहता हुआ कोई कोई मनुष्य रूप तृण कभी कभी पार लग जाया करता है ॥१६॥

कोन भाग्ये कारो संसार क्षयोन्मुख हय ।
साधुसङ्गे तबे कृष्णे रति उपजय ॥२९॥

किसी भाग्यवश किसी जीव में जब संसार से उद्धार पाने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब उसे साधुसङ्ग से श्रीकृष्ण में रति उत्पन्न होती है अर्थात् श्रीकृष्ण-भजन की इच्छा उत्पन्न होती है ॥२९॥

जैसे कि भागवतजी में कहा गया है—

तथाहि (भा: १०—५१—५३)—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत् जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते रतिः ॥१७॥

श्रीकृष्ण भगवान् के प्रति मुचुकुन्द ने कहा है—"हे अच्युत ! इस संसार में भ्रमण करते करते जब कोई जीव संसार से उद्धार पाने के मार्ग की ओर चलता है, तभी ही उसे भगवद्-भक्त का सङ्ग प्राप्त होता है। जिस समय उसे भक्त का सङ्ग प्राप्त होता है। तभी ही उसकी कृपा से साधुजनों के एकमात्र आश्रय एवं कार्य कारण के नियन्ता-स्वरूप आप में उस जीव की रति उत्पन्न होती है" ॥१७॥

(महत्पुरुष स्वतः-प्रेरणा से भी कभी कभी किसी भाग्यवान् जीव पर कृपा कर दिया करते हैं। अथवा श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरणा पाकर भी वे जीव पर कृपा करते हैं—अगले पयार में श्रीकृष्ण-प्रेरणोदित कृपा की बात कहते हैं।)

कृष्ण यदि कृपा करे कोन भाग्यवाने ।
गुरु-अन्तर्यामीरूपे शिखाय आपने ॥३०॥

श्रीकृष्ण जब किसी भाग्यवान् जीव पर कृपा करने की इच्छा करते हैं, तो वे श्रीगुरुदेव के हृदय में प्रेरणा देकर अथवा हृदयस्थित अन्तर्यामीरूप से स्वयं ही उसे शिक्षा दिया करते हैं ॥३०॥ जैसे श्रीभागवत जी में कहा गया है—

तथाहि (भा: ११—२९—६)—

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥१८॥

उद्धव जी ने श्रीभगवान् से कहा—"हे प्रभो ! बाहर में गुरुरूप से (दीक्षा गुरु रूप से) तत्त्वोपदेश के द्वारा तथा अनन्तर में अन्तर्यामी परमात्मारूप से शुभ कार्यों में प्रवृत्ति के द्वारा आप ही जीवों की भक्ति के प्रतिकूल विषय-वासनाओं को दूर करते हैं और अपने स्वरूप का अनुभव कराते हैं। सर्वज्ञ ब्रह्मविद् व्यक्ति ब्रह्मा के समान परम आयु को प्राप्त करके भी आपके इस उपकार का बदला नहीं चुका सकता, किन्तु आपके इस उपकार को स्मरण करने से उस व्यक्ति को और भी अधिक परमानन्द की प्राप्ति होती है ॥१८॥ (आदि-लीला पृष्ठ १५ द्रष्टव्य है)।

साधुसङ्गे कृष्णभक्त्ये श्रद्धा यदि हय ।
भक्तिफल 'प्रेम' हय,—संसार याय क्षय ॥३१॥

साधुसङ्ग के प्रभाव से यदि श्रीकृष्ण-भक्ति में श्रद्धा अर्थात् दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाये, तभी भक्ति के फल-प्रेम की प्राप्ति होती है और तभी संसारबन्धन का नाश होता है ॥३१॥

तथाहि (भा: ११—२०—८)—

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥१९॥

श्रीभगवान् ने उद्धव जी के प्रति कहा—"हे उद्धव ! किसी परमस्वतन्त्र भगवद्भक्त के सङ्ग से एवं उसकी कृपा से उदय हुए भाग्य से मेरे कथादि में (नाम-गुण के श्रवण-कीर्त्तन में) जिसकी श्रद्धा उत्पन्न हुई है एवं जो संसार से अत्यन्त विरक्त भी नहीं है, (जो अत्यन्त आसक्त है—वह ज्ञान का अधिकारी है) और अत्यन्त आसक्त भी नहीं है (जो अत्यन्त आसक्त है, वह कर्म का अधिकारी है) उसी व्यक्ति का भक्ति योग सफल होता है अर्थात् प्रेमोत्पादक होता है ॥१६॥

महत्कृपा बिना कौन कर्म्मे 'भक्ति' नय ।
कृष्णभक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय ॥३२॥

अतः सनातन ! महत्-कृपा के बिना किसी में किसी प्रकार भी भक्ति का उन्मेष नहीं हो सकता । महत्-कृपा के बिना कृष्ण-भक्ति का उन्मेष तो दूर, किसी का संसारबन्धन भी दूर नहीं हो सकता ॥३२॥

तथाहि (भा: ५—१२—१२)

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्व्वपणाद्गृहाद् वा ।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्य्यैविना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥२०॥

श्रीभरत जी ने कहा—"हे महाराज रहुगण ! महापुरुषों की चरण-रज द्वारा अभिषिक्त हुए विना, तपस्या-वैदिक कर्म, अन्नादिदान, धर्मशालादि का निर्माणरूप परोपकार, वेदाभ्यास अथवा जल, अग्नि व सूर्य की उपासना—इन सब के द्वारा भी भगवत्तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥२०॥

तथाहि तत्रैव (भा: ७—५—३२)—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥२१॥

श्रीप्रह्लाद जी ने अपने गुरुपुत्र को कहा है—"जब तक विषयाभिमान-शून्य साधुगणों की चरण-धूलि द्वारा अभिषेक नहीं किया जाता तब तक किसी को भी बुद्धि भगवत्-चरणों को स्पर्श नहीं कर सकती, अर्थात् तब तक किसी की मति-रति श्रीकृष्ण-चरणों में नहीं हो सकती । श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में मति होने पर ही समस्त अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है ॥२१॥

'साधुसङ्ग साधुसङ्ग' सर्वशास्त्रे कय ।
लव-मात्र साधुसङ्गे सर्वसिद्धि हय ॥३३॥

'सर्वशास्त्रों में साधुसङ्ग करो' साधुसङ्ग करो—ऐसा बार बार कहा गया है, किन्तु अति अल्प काल के लिये भी यदि साधुसङ्ग प्राप्त हो जाए तो सर्व सिद्धि हो जाती है अर्थात् श्रीकृष्ण-भक्ति की प्राप्ति हो जाती है ॥३३॥

तथाहि (भा: १—१८—१३)

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्त्यानां किमुताशिषः ॥२२॥

शौनकादिक मुनियों के प्रति श्रीसूत जी ने कहा है—"भगवद्-भक्त के साथ जो अति अल्प सङ्ग है, उसके फल के साथ स्वर्ग और मुक्ति की भी तुलना नहीं हो सकती (धनराज्य-सम्पद् प्राप्ति के सम्बन्ध में) मनुष्यों की आशीर्वाद की तो बात ही क्या है ? ॥२२॥

(ऊपर कह आये हैं कि साधुसङ्ग के फल से श्रीकृष्ण-भक्ति में श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा किसे कहते हैं—उसके समझाने का अब उपक्रम करते हैं)—

कृष्णकृपालु अर्जुनेरे लक्ष्य करिया।
जगतेरे राखियाछे उपदेश दिया ॥३४॥

परम-करुण श्रीकृष्ण-भगवान् ने अर्जुन के प्रति लक्ष्य करके समस्त जगत् के लिये उपदेश दिया है (कि उनकी शुद्धा-भक्ति ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ अभिधेय- तत्त्व है।)—उसे नीचे उद्धृत करते हैं—

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (१८—६४ व ६५)—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥२३॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥२४॥

श्रीभगवान् ने कहा—"हे अर्जुन! सर्वापेक्षा गुह्यतम एक बात तुम से कहता हूँ, उन मेरे सर्वोत्तम वचनों को श्रवण कर। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, अतः तुम्हारे हित के लिये कहता हूँ। मुझ में तू अपना मन अर्पण कर (सर्वदा मेरे विषय अर्थात् मेरे नाम-रूप-गुण-लीलादि की चिन्ता कर) मेरा भक्त बन (समस्त इन्द्रियों को मेरी सेवा में नियुक्त कर। निज सुख कामना को त्यागकर केवल मेरी प्रीति का साधन विधान कर) मेरी अर्चना कर (धूप-दीप-गन्ध-तुलसी-पुष्प-नैवेद्यादि से मेरी पूजा कर), मुझे ही नमस्कार कर (मेरे चरणों में सम्यक् रूप से आत्मसमर्पण पूर्वक भूमि पर पतित होकर अष्टांग व पञ्चांग प्रणाम कर। ये पाञ्च बातें तुम्हारे लिये पालनीय हैं। इन सब का पालन कर अथवा अपनी रुचि के अनुसार किसी एक का अनुष्ठान कर) ऐसा करने से तू मेरे इस (श्यामसुन्दर)रूप को प्राप्त करेगा तू मेरा अत्यन्त प्रिय है—यह बात मैं तुम से सत्य एवं प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूँ ॥२३—२४॥

पूर्व आज्ञा—वेदधर्म कर्म योग ज्ञान। सब साधि शेषे एइ आज्ञा बलवान् ॥३५॥
एइ आज्ञाबले भक्तेर श्रद्धा यदि हय। सर्व कर्म त्याग करि से कृष्ण भजय ॥३६॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सनातन! श्रीभगवान् ने (श्रीगीता के पूर्व के सतरहों अध्यायों में)—वेदधर्म, कर्म, योग एवं ज्ञान आदि विषयों का उपदेश किया है और सब के शेष में (अठारहवें अध्याय में) भगवान् ने उपर्युक्त गुह्यत्तम उपदेश या आज्ञा की है। (पूर्व-पर विधि में पर-विधि ही बलावान् हुआ करती हैं—ऐसा न्याय-शास्त्र कहता है) अतः भगवान् को सर्वशेष में की हुई आज्ञा बलवान है। यह श्रीभगवान् की निज आज्ञा है और सर्वोपरि आज्ञा है। इस सिद्धान्त से प्रभावित होकर साधक की यदि इन वचनों में श्रद्धा उत्पन्न हो जाये, तो वह अन्याय सर्वकर्मो का त्याग कर श्रीकृष्ण का भजन करने लगे या लगता है ॥३६॥

इस पयार से यही भी ध्वनित होता है कि जब तक श्रीभगवान् के उर्युक्त वचनों में दृढ़ विश्वास या श्रद्धा नहीं जन्मती तब तक कर्मों का त्याग किसी के लिये विधेय नही हैं—इसी ध्वनित अर्थ के अनुकूल एक श्लोक का नीचे उल्लेख करते हैं:—

तथाहि (भा: ११-२०-६)—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥२५॥

श्रीभगवान् ने श्रीउद्धवजी के प्रति कहा है—"जब तक निर्वेद अवस्था की प्राप्ति नहीं होती और जब तक मेरी कथाओं के श्रवण-कीर्त्तनादि में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तब तक (निष्काम-भाव से) नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करना ही चाहिये ॥२५॥ (विशेष टीका पृष्ठ २७६ पर द्रष्टव्य है ।)

'श्रद्धा' —शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय ।
कृष्णभक्ति कैले-सर्वकर्म कृत्त हय ॥१७॥

श्रद्धा—का अर्थ सुदृढ़ निश्चित विश्वास है । ऐसी श्रद्धा होने पर यदि कोई श्रीकृष्ण-भक्ति करता है, उसे फिर अन्यान्य कर्मों के करने की आवश्यकता ही नहीं रहती—उसके द्वारा सर्व कर्म ही किये हुए हो जाते हैं ॥३७॥

तथाहि (भा: ४—३१ —१४)

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥२६॥

जैसे वृक्ष के मूल में जल सींचने से उसके स्कन्ध, शाखा, उपशाखा आदि सब तृप्त या पुष्ट होते हैं, और जैसे भोजन द्वारा प्राणों की तृप्ति कराने से सब इन्द्रियादि तृप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की आराधना करने से सबकी पूजा हो जाती है । (कारण कि वे अद्वयज्ञान तत्त्व हैं एवं सर्वमूल-सर्वाश्रय हैं) ॥२६॥

श्रद्धावान् जन हय भक्त्ये अधिकारी । उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ—श्रद्धा-अनुसारी ॥३८॥
शास्त्र-युक्त्ये सुनिपुण दृढ़ श्रद्धा यार । उत्तम अधिकारी सेइ तारये संसार ॥३९॥

जिस व्यक्ति में (उक्त) श्रद्धा उत्पन्न होती है, वही भक्ति-धर्म आचरण का अधिकारी है । श्रद्धा की गाढ़ता के तारतम्यानुसार भक्ति के उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ—ये तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं जो शास्त्र में सुनिपुण है एवं शास्त्रोक्त युक्तियों में भी चतुर है और जिसकी दृढ़ श्रद्धा है, अर्थात् किसी युक्ति तर्क से जो विचलित नहीं होता, वही व्यक्ति भक्ति का उत्तम अधिकारी है । (वह शास्त्रयुक्तियों से दूसरों के भ्रम को दूर करके उन्हें भक्तिपथ की ओर चलाता है, अतः) वह संसार को भी तार देता है ।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वखण्डे द्वितीय लहर्य्याम् (१-२-११)

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढ़निश्चयः ।
प्रौढ़श्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः ॥२७॥

जो शास्त्रज्ञान में एवं शास्त्रानुगत युक्ति प्रदर्शन करने में निपुण है (तत्त्वविचार, साधन-विचार एवं पुरुषार्थ विचारादि द्वारा—(श्रीकृष्ण ही एकमात्र उपास्य व प्रीति के विषय हैं) सर्वतोभाव से इस प्रकार के सिद्धान्त में जिसको जरा भी सन्देह नहीं है एवं जिसकी श्रद्धा अत्यन्त गाढ़ है, भक्तिधर्मयाजन में वही उत्तम अधिकारी कहा जाता है ॥२७॥

शास्त्रयुक्ति नाहि जाने दृढ़श्रद्धावान् ।
'मध्यम अधिकारी' सेइ महाभाग्यवान् ॥४०॥

और जो व्यक्ति शास्त्र भी नहीं जानता, शास्त्र की युक्ति प्रदर्शन में भी निपुण नहीं है (कुछ-कुछ युक्ति दिखा सकता है) किन्तु है दृढ़ श्रद्धावान्—वह महाभाग्यवान् पुरुष भक्ति का 'मध्यम-अधिकारी' है ॥४०॥ जैसा कि कहा गया है—

तथाहि तत्रैव (१—२—१२)—

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान् स तु मध्यमः ॥२८॥

जो शास्त्रज्ञान में एवं शास्त्र सम्मत युक्ति प्रदर्शन में विशेष निपुण नहीं है, अथच जो दृढ़ श्रद्धावान् है—वह भक्ति का मध्यम-अधिकारी है ॥२८॥

याहार कोमल श्रद्धा से 'कनिष्ठ जन' ।
क्रमे क्रमे तेंहो भक्त हइबे उत्तम ॥४१॥

जिसकी श्रद्धा कोमल है अर्थात् दूसरों की प्रतिकूल युक्ति से जिसकी श्रद्धा विचलित हो जाती है, वह भक्ति का कनिष्ठ-अधिकारी है । वह भी भक्ति का अनुष्ठान करते-करते भक्ति का उत्तम-अधिकारी हो सकता है ॥४१॥ जैसा कि कहा गया है—

तथाहि तत्रैव (१—२—१३)—

यो भवेत् कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते ॥२९॥

जिसकी श्रद्धा कोमल है, वह भक्ति का कनिष्ठ-अधिकारी कहा जाता है ॥२९॥

रतिप्रेम—तारतम्ये भक्त—तरतम ।
एकादशस्कन्धे तार करियाछे लक्षण ॥४२॥

रति (प्रेमाङ्कुर) तथा प्रेम (रति की गाढ़तर अवस्था) के तारतम्यनुसार भक्तों में भ तारतम्य है—भक्त भी उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ—तीन प्रकार के होते हैं) श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में विभिन्न भक्तों के लक्षण कहे गये हैं ॥४२॥ उन श्लोकों को नीचे उद्धृत करते हैं ।

तथाहि (भाः ११-२-४५ व ४६ व ४७)—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥३०॥
ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥३१॥
अर्च्चायामेव हरये पूजां य श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥३२॥

योगेन्द्र श्रीहरि ने महाराज निमि के प्रति कहा है—"हे राजन्! जो सर्वभूतों में अपने उपास्यदेव श्रीभगवान् के ही दर्शन करते हैं एवं जो अपने उपास्यदेव में ही समस्त प्राणियों को देखते हैं, वे ही भक्तों में 'उत्तम-भक्त' हैं। जो ईश्वर में प्रेम करता है, भगवद्भक्तों से मित्रता एवं अज्ञ-पुरुषों पर कृपा करता है, तथा भगवद्द्वेषी बहिर्मुख पुरुषों की जो उपेक्षा करता है, वह 'मध्यम-भक्त' है। जो श्रद्धापूर्वक हरिप्रतिमा की पूजा करता है, किन्तु हरिभक्त की या और किसी की पूजा नहीं करता है—वह 'कनिष्ठ-भक्त' है ॥३०-३२॥ (अगले पयारों में वैष्णवों या भक्तों के गुणों तथा लक्षणों का उल्लेख करते हैं)—

सर्व—महा—गुणगण　वैष्णव—शरीरे।
कृष्ण भक्ते कृष्णेर गुण सकल सञ्चारे ॥४३॥

वैष्णवों के शरीर में समस्त ही सद्गुण वर्तमान रहते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण, भक्त में अपने गुणों का (जो जो गुण भक्तदेह में सञ्चारित होने के योग्य होता है—उन गुणों का) सञ्चार करते हैं ॥४३॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीकृष्ण-भक्त या वैष्णव में श्रीकृष्ण के केवल वही गुण ही सञ्चारित होते हैं, जो कृष्ण-भक्त में उन्मेषित होने के योग्य होते हैं। श्रीकृष्ण में अनन्तगुण हैं, किन्तु चौंसठ गुण माने गये हैं जिनका उल्लेख भक्तिरसामृतसिन्धु दक्षिणविभाग प्रथम लहरी में किया गया है एवं चैतन्य-चरितामृत के २३ वें परिच्छेद २४ से ३८ तक के श्लोकों में किया जायगा। वे सारे चौंसठ गुण भक्त में सञ्चारित नहीं होते। भक्तिरसामृत-सिन्धु के मतानुसार उनमें से केवल उनतीस गुण ही कृष्ण-भक्त में लक्षित होते हैं। वे २९ गुण इस प्रकार हैं—

१—सत्यवाक्य, २—प्रियम्वद, (प्रिय बोलने वाला) ३—वावदूक (जो सुनने में मधुर एवं अर्थ-परिपाटीयुक्त वाक्य-प्रयोग में पटु हो ४—सुपण्डित, ५—बुद्धिमान्, ६—प्रतिभान्वित (नूतन-नूतन विषय के उद्भावन में समर्थ) ७—विदग्ध (चौंसठ विद्याओं एवं विलासादि में निपुण) ८—चतुर ९—दक्ष (दुष्कर काम को भी अति शीघ्र सम्पादन करने वाला) १०—कृतज्ञ ११—सुदृढ़ व्रत १२—देशकाल सुपात्रज्ञ १३—शास्त्रचक्षु (शास्त्रानुसार कर्म करने वाला) १४—शुचि (पवित्र) १५—वशी (जितेन्द्रिय) १६—स्थिर १७—दान्त (दुसह क्लेश को सहन करने वाला) १८—क्षमाशील १९—गम्भीर (जिसका अभिप्राय दूसरों के लिये दुर्वोध हो) २०—धृतिमान् (क्षोभशून्य) २१—सम २२—वदान्य (दाता) २३—धार्मिक, २४—शूरवीर, २५—करुण २६—मान्यमानकृत (गुरु-ब्राह्मण-वृद्धजनों की पूजा करनेवाला) २७—दक्षिण (सत्स्वभावगुण से कोमल चरित्र) २८—विनयी एवं २९—ह्रीमान् (लज्जायुक्त)। ये २९—गुण हैं जो कृष्ण-भक्त में लक्षित होते हैं।

कृष्ण-भक्त किसे कहते हैं?—जिसका अन्तःकरण श्रीकृष्ण सम्बन्धीय रति आदि निजाभीष्ट सर्वोत्कृष्ट भाव से भावित हो—वह कृष्ण-भक्त है (भक्तिरसामृतसिन्धु २-१-१४२)! भक्त दो प्रकार के हैं—साधक एवं सिद्ध। सिद्ध भक्त फिर तीन प्रकार के होते हैं—साधनसिद्ध, कृपासिद्ध एवं नित्य-सिद्ध। कृष्ण-भक्त में समस्त सद्गुण निवास करते हैं—उसके प्रमाण में नीचे एक श्लोक उद्धृत करते हैं—

तथाहि भागवते (५—१८—१२)

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो वहिः ॥३३॥

श्रीभगवान् में जिसकी निष्काम भक्ति है, उस पुरुष में समस्त गुणों के सहित समस्त देवता नित्यवास करते हैं। और जिसमें हरि-भक्ति नहीं है, उसमें सब महद्गुण कहां ? क्योंकि वह मनुष्य मनोरथों की पूर्त्ति के लिये खोटे पथ में अनित्य विषय सुखों के लिये ही धावित होता रहता है ॥३२॥

एइ सब गुण हय वैष्णव-लक्षण। सब कहा नाहि याय, करि दिगदरशन ॥४४॥
कृपालु, अकृतद्रोह, सत्यसार, सम। निर्दोष, वदान्य, मृदु, शुचि, अकिञ्चन ॥४५॥
सर्वोपकारक, शान्त, कृष्णैकशरण। आकाम, अनीह, स्थिर, विजितषड़्गुण ॥४६॥
मितभुक, अप्रमत्त, मानद, अमानी। गम्भीर, करुण, मैत्र, कवि, दक्ष मौनी ॥४७॥

वैष्णव जिन गुणों से लक्षित होता है—उनमें कुछ गुणों को नीचे वर्णन करते हैं, सब गुणों का तो वर्णन नहीं हो सकता, यहाँ केवल दिग्दर्शन ही कराते हैं—वैष्णव कृपालु होता है, द्रोह (शत्रुता) रहति होता है, सत्यवाक् एवं सत्य-आचरणयुक्त होता है। सम (समानदृष्टि), निर्दोष, दाता, कोमल-चित्त, पवित्र, एवं अकिञ्चन होता है अर्थात् श्रीकृष्ण के लिये समस्त त्याग करने वाला होता है। सबका उपकार करने वाला, शान्त (श्रीकृष्णनिष्ठ) कृष्णैकशरण (श्रीकृष्ण के बिना और किसी की शरण नहीं लेता) अकाम (निजेन्द्रिय-तृप्ति वासनाशून्य) अनीह (श्रीकृष्णसेवावासना व्यतीत चेष्टाशून्य), स्थिर विजित-षड़-गुण (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य्य—इन छओं को जीतने वाला) मितभुक (थोड़ा खाने वाला) अप्रमत्त (जो अति सुख तथा अति दुख में उन्मत्त न हो। अथवा जो सदा सतर्क रहे) दूसरों को मान देने वाला, एवं स्वयं मान न चाहने वाला, गम्भीर, दयालु, सबका मित्र, कवि (जो श्रुतमधुर एवं सुन्दर अर्थ एवं भाव की परिपाटी युक्त बोलने में चतुर हो) दक्ष (कार्यकुशल) एवं मौनी (वृथा आलाप न करने वाला) होता है ॥४४—४७॥ श्रीमद्भागवतजी में भी वैष्णव या साधु पुरुष के लक्षण इसी प्रकार वर्णन किये गये हैं।

तथाहि (भाः ३-२५-२१)—

तितिक्षवः कारुणिकः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥३४॥

जो व्यक्ति सहिष्णु, करुणाशील, सबके सुहृद, एवं अजातशत्रु (किसी को शत्रु न मानने वाले) हैं तथा जो कृष्ण-निष्ठ-बुद्धि तथा साधुपुरुषों का सम्मान करने वाले हैं, वह साधु हैं ॥३४॥ और भी कहा है:—

तथाहि तत्रैव (भाः ५-५-२)—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ताः विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥३५॥

श्रीऋषभदेवजी ने कहा है—"हे पुत्रगण! महत्-पुरुषों की सेवा को भगवत्प्राप्ति का द्वार कहते हैं। और स्त्री के सङ्गी-पुरुष के सङ्ग को संसार का (जीवनमरण का) द्वार कहा गया है। जो सर्वत्र समचित्त हैं, एवं प्रशान्त, क्रोधहीन, सर्वसुहृद एवं साधु (शास्त्रीय-आचार सम्पन्न) हैं—वे महत्पुरुष हैं।

कृष्ण-भक्ति-जन्ममूल हय—साधुसङ्ग।
कृष्ण-प्रेम जन्मे तेंहो पुन मुख्य अङ्ग ॥४८॥

मायाबद्ध जीव के हृदय में कृष्णभक्ति के उन्मेष या जन्म का मूल कारण—साधु-पुरुषों का सङ्ग ही है एवं कृष्णभक्ति के मुख्य अङ्ग-कृष्ण-प्रेम का मूल कारण भी साधु-सङ्ग-महत्पुरुषों का सङ्ग ही है।

तथाहि (भा: १०-५१-५२)—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत् जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते रतिः ॥३६॥

श्रीमुचुकुन्द ने कहा—हे अच्युत! इस संसार में भ्रमण करते २ जब कोई व्यक्ति संसार से उद्धार पाने के रास्ते पर आने वाला होता है, तभी उसे भगवद्भक्त का सङ्ग प्राप्त होता है, जब उसे भक्त का सङ्ग प्राप्त होता है, तभी उस भक्त की कृपा से साधुजनों की एकमात्र गति एवं कार्य-कारण के नियन्ता स्वरूप-आप में उसकी रति उत्पन्न होती है ॥३६॥

तथाहि तत्रैव (भा: ११-२-३०)

अतः आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्गःसेवधिर्नृणाम् ॥३७॥

निमि महाराज ने नवयोगेन्द्रों से कहा—"अतएव हे अनघ ऋषिगण! आपसे आत्यन्तिक क्षेम (मङ्गल) पूछता हूँ, कारण कि इस संसार में क्षणकाल के लिये किया हुआ सत्सङ्ग भी मनुष्यों की सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला है" ॥३७॥

तथाहि तत्रैव (भा: ३-२५-२४)—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥३८॥

श्रीभगवान् ने कहा है—'महत्-पुरुषों के साथ घनिष्टता से सङ्ग होने से मेरी महिमा को प्रकाशित करने वाली मेरी कथा उदित होती है, जो हृदय एवं कानों को तृप्त करती है। प्रीतिपूर्वक उस कथा का आस्वादन करने से अपवर्ग-वर्त्मस्वरूप मुझमें श्रद्धा, रति तथा प्रेम-भक्ति की क्रमशः उत्पत्ति होती है ॥३८॥ (विशेष टीकादि चै० च० १-१-२८ श्लोक पृष्ठ सं० २२ पर द्रष्टव्य है)।

पूर्वकथित कई एक पयारों एवं उनके प्रमाणस्वरूप श्लोकों में श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीसनातनपाद को महत्-पुरुषों की महिमा एवं उनके सङ्ग की महिमा सुनाई है और अन्त में यह बताया है कि सत्सङ्ग ही से श्रद्धा, रति एवं प्रेमाभक्ति की उत्पत्ति होती है। अगले पयारों में वैष्णव-आचार के सम्बन्ध में उपदेश करते हैं—

असत्सङ्ग-त्याग एइ वैष्णव-आचार।
स्त्रीसङ्गी एक 'असाधु'-कृष्णाभक्त आर ॥४९॥

वैष्णव का विशेष आचरण यह है कि असत्सङ्ग का त्याग कर दे। (श्रीकृष्णभक्ति-कामना व्यतीत अन्य वस्तु की कामना होना ही असत्सङ्ग है) उस असत्सङ्ग में प्रधानतः दो ही आते हैं। एक तो स्त्री-सङ्गी का सङ्ग करना। दूसरे जो श्रीकृष्ण से बहिर्मुख है—उसका सङ्ग करना। स्त्री-सङ्गी तथा श्रीकृष्ण का अभक्त—ये दोनों असाधु हैं अर्थात् असत् वस्तुओं में आसक्त हैं ॥४९॥

चै० च० चु० टीका:—श्रीमन्महाप्रभुजी ने इस पयार में वैष्णवों के—'विशेष-आचार' की ही बात कही है। क्योंकि कई ऐसे आचरण हैं अथवा निषिधाचरण हैं, जिनका पालन करना अथवा जिनका त्याग करना सर्वसाधारण जन समाज के लिये आवश्यक हुआ करता है। जैसे सत्य बोलना आदि साधारण

विधि है जो हर एक के लिये पालनीय है और चोरी न करना, परस्त्री-गमन न करना—यह साधारण निषेध हैं, जो वैष्णव न होते हुए भी सबके लिये पालनीय हैं। अत: श्रीमहाप्रभु ने स्त्री के सङ्ग करने वाले व्यक्ति का तथा श्रीकृष्ण अभक्त-पुरुष के सङ्ग त्याग करने की जो आज्ञा की है–यह जन-साधारण का आचरण नहीं हो सकता, यह वैष्णवों का विशेष–आचरण है।

स्त्री-सङ्गी से, अभिप्राय स्त्री में आसक्त पुरुष से है। अर्थात् जो कामुक है; निज स्त्री में हो, कि पर स्त्री में ही हो। जिसकी भी स्त्री में आसक्ति है, वही स्त्री-सङ्गी है। इस पयार के प्रमाण या समर्थक रूप में जो आगे श्लोक श्रीमहाप्रभु ने कहे हैं उनका मर्म भी यही है। जो पुरुष निज स्त्री में या पर-स्त्री में आसक्त है, उसका सङ्ग त्याग करना ही वैष्णव के लिये आवश्यक है।

जिस प्रकार पुरुष का भक्ति में अधिकार है, उसी प्रकार स्त्री का भी भक्ति में अधिकार है। अत: जैसे वैष्णव-पुरुष के लिये स्वीय-स्त्री या पर-स्त्री में आसक्ति दोषजनक है, उसी प्रकार वैष्णव-स्त्री के लिये भी भजन-पक्ष में स्वीय-पति में या पर-पुरुष में आसक्ति दूषणीय है।

हम देखते हैं, श्रीमन्महाप्रभुजी के परिवार में भी श्रीसेन-शिवानन्द, श्रीअद्वैताचार्य आदि अनेक गृहस्थी थे, जो स्त्रियों के संश्रव में थे—तो क्या वे असाधु थे? उनका आचरण क्या अनुसरणीय नहीं है? इसका उत्तर यह है कि—वे गृही होते हुए भी स्त्रियों में आसक्त न थे, अत: उन्हें स्त्री-सङ्गी नहीं कहा जा सकता। द्वितीयत: वे जैसे भगवत्परिकर में से थे, उनकी सहधर्मिणियां भी उसी प्रकार भगवत्परिवार में से ही थीं। फिर भी भगवत्परिवारों का या भगवत्-स्वरूपों का आचरण (भक्ति शास्त्रानुसार) अनुसरणीय नहीं हुआ करता। तथापि अनासक्त भाव से संसार में स्त्री-पुत्रादि के साथ रहकर किस प्रकार भगवद्भजन किया जा सकता है, उसका आदर्श ही उन्होंने दिखाया है। अत: अनेक साधक भक्त जो गृही हैं, और स्त्री-आदिक में अनासक्त होकर भजन करते हैं, उनकी गिनती भी साधु पुरुषों में ही है—वे स्त्री-सङ्गी नहीं माने गये हैं। किन्तु जो विरक्तभेष धारण करके गृहस्थ आश्रम को छोड़ चुके हैं, फिर भी स्त्रियों एवं स्त्री-आसक्त पुरुषों के सम्पर्क में दिन-रात रहते हैं, वे गृहस्थी न होकर भी स्त्री-सङ्गी है। सारांश यह है कि जो स्त्रियों में आसक्त हैं तथा जो श्रीकृष्ण से बहिर्मुख हैं–उनका सङ्ग वैष्णवों को त्याग करने की आज्ञा है।

परन्तु यहाँ यह भी स्मरण रहे कि स्त्री-सङ्गी पुरुष के प्रति तथा श्रीकृष्ण-बहिर्मुख व्यक्ति के प्रति वैष्णव की अवज्ञा-बुद्धि या भावना नहीं होनी चाहिये। वे भी वैष्णव के लिये निन्दा के पात्र नहीं है। वैष्णव को उनके अन्दर भी परमात्मा-रूप से श्रीकृष्ण को विराजमान देखना चाहिये। यदि दूसरों के प्रति कुछ दोष दृष्टि रहेगी, तभी तक वैष्णवाचरण में अधूरापन रहेगा। अत: उनके प्रति अवज्ञाबुद्धि न करके, उनके भीतर रहने वाले कामुकता एवं कृष्ण-बहिर्मुख दोषों से बचते हुए वैष्णव के लिये उनका सङ्ग-त्याग करना ही विधेय है। इस पयार के समर्थक श्लोकों का नीचे उल्लेख करते हैं:—

तथाहि (भा: ३-३१-३५)—

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गत:।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत: ॥३६॥

श्रीमद्भागवतजी में कहा है कि, स्त्री-सङ्ग (स्त्री की आसक्ति) तथा स्त्री-सङ्गी (स्त्री में आसक्त पुरुष) के सङ्ग से पुरुष को जैसा मोह और संसार-बन्धन होता है, उस प्रकार और किसी के सङ्ग से प्राप्त नहीं होता। (अत: स्त्री-सङ्ग एवं स्त्री-सङ्गी के सङ्ग से साधक को बचना चाहिये) ॥३६॥

तथाहि तत्रैव (भाः ३—३१—३३ व ३४)—

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्री—श्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सङ्क्षयम् ।।४०।।
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीड़ामृगेषु च ।।४१।।

माता देवहूति के प्रति श्रीकपिलदेव जी ने कहा है—"जिनके सङ्ग के प्रभाव से सत्य, पवित्रता दया, मौन, समबुद्धि, लज्जा, सम्पत्ति, कीर्ति, क्षमा, शम, दम, एवं उन्नति सम्यक्‌रूप से नाश को प्राप्त हो, उन समस्त अशान्त, मूढ़, शोचनीय, देहात्मबुद्धि विशिष्ट एवं स्त्रियों के क्रीड़ामृग तुल्य असाधु (असदाचारी) पुरुषों का सङ्ग (अर्थात् उनके साथ एक स्थान पर रहना एवं उनके साथ बोलचाल करना) त्याग करना चाहिये ।।४०—४१।।

तथाहि हरिभक्तिविलासे (१०-२२४)—भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-२-५१) कात्यायन संहिता वचनम्—

वरं हुतवहज्वाला—पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ।
न शौरिचिन्ताविमुख—जनसंवासवैशसम् ।।४२।।

श्रीहरिभक्तिविलास में कहा गया है कि अग्नि के शिखामय पिञ्जर में वास करना श्रेष्ठ है, किन्तु श्रीकृष्ण-चिन्ता विमुख पुरुषों के साथ एकत्रवासरूप क्लेश कभी भोग नहीं करना चाहिए ।।४२।। श्रीकृष्ण बहिर्मुख पुरुष के सङ्ग त्याग करने में यह श्लोक प्रमाण-स्वरूप है ।

तथाहि गोस्वामीपादोक्त श्लोकपादः—

मा द्राक्षीः क्षीणपुण्यान् क्वचिदपि भगवद्भक्तिहीनान् मनुष्यान् ।।४३।।

अर्थात् भगवद्भक्ति-विहीन क्षीणपुण्य व्यक्तियों का कभी भी दर्शन नहीं करना चाहिए ।।४३।।

ए सब छाड़िया आर वर्णाश्रमधर्म ।
अकिञ्चन हञा लय कृष्णैकशरण ।।५०।।

श्रीमन्महाप्रभुजी ने कहा—"सनातन ! स्त्रीसङ्गी-सङ्ग एवं कृष्ण-बहिर्मुखजन-सङ्ग का त्यागकर तथा वर्णाश्रमधर्मों का त्याग कर के अकिञ्चन होकर अर्थात् श्रीकृष्ण-प्राप्ति के लिये स्त्री-पुत्र-धन-सम्पत्ति आदि की आसक्ति को छोड़कर केवलमात्र श्रीकृष्ण का ही शरणापन्न हो ।।५०।।

चै० च० चु० *टीका:*—ऊपर के पयार में वर्णाश्रमधर्म के भी त्यागने की बात कही है। उसका कारण यह है कि वर्णाश्रम धर्मों के पालन से इस लोक एवं परलोक के भोग्य पदार्थ ही प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु इस लोक तथा परलोक के सुख भोगों की वासना जब तक हृदय में रहती है, तब तक कृष्ण-भक्ति की प्राप्ति कदाचित् नहीं हो सकती। इन से वैष्णव के उद्देश्य-सिद्धि की सम्भावना भी नहीं हो सकती। भक्तिरसामृतसिन्धु में वर्णाश्रमपालन को भक्ति का अङ्ग भी नहीं माना गया है। अतः जो वर्णाश्रमधर्मों का त्याग करके (श्रीकृष्ण प्राप्ति के लिये, श्रीकृष्ण का भजन करते हैं, वही ही) भगवान् की कृपा से कृतार्थ हो सकते हैं।

किन्तु जिनमें श्रीकृष्ण-प्राप्ति की कामना ही नहीं है, जो कृष्णबहिर्मुख, कृष्णभजनबहिर्मुख हैं, जो संसार की वस्तुओं की-स्त्री-पुत्र, धन सम्पत्ति यश-मान आदि की प्राप्ति के लिये दिन रात लम्पट हो रहे

हैं— ऐसे लोग यदि इन वचनों की आड़ में वर्णाश्रमधर्मों का पालन छोड़ दें, तो उन्हें निश्चय ही रौरव नरक यातना भोगनी होगी एवं वे इस लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट हो जाएंगे।

श्रीभगवान् ने भी सर्वधर्मों के त्याग के साथ अपनी शरण ग्रहण करने की शर्त लगाई है, जैसे कि नीचे के श्लोक में स्पष्ट है—

तथाहि श्रीभगवद्गीतायां (१८—६६)—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥४४॥

श्रीभगवान् ने कहा है—'हे अर्जुन ! तू सर्वधर्मों को (वर्णाश्रमधर्मों को) त्याग कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर। (उन धर्मों के त्याग करने में जिन पापों की सम्भावना है—उन) सब पापों से मैं तुम्हें मुक्त कर दूंगा (क्यों कि तू मेरी शरण में आएगा)—इस विषय में तू सोच मत कर" ॥४४॥

इस श्लोक से श्रीमहाप्रभु ने अपनी उक्ति को समर्थित किया है वैष्णव को वर्णाश्रमधर्मों को त्याग कर अर्थात् स्त्रीपुत्र-धनादि की आसक्ति रहित होकर मेरी शरण ग्रहण करनी चाहिये।

भक्तवत्सल कृतज्ञ समर्थ वदान्य ।
हेन कृष्ण छाड़ि पण्डित नाहि भजे अन्य ॥५१॥

श्रीकृष्ण भक्तवत्सल एवं कृतज्ञ हैं अर्थात् भजन करने वाले के भजन के स्वरूप को जानने वाले हैं। वे सर्वसमर्थ तथा परम दाता भी हैं—ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण को छोड़ कर पण्डित अर्थात् बुद्धिमान तो और किसी का भजन नहीं करते। (अर्थात् श्रीकृष्ण को छोड़कर जो अन्य का भजन करते हैं, वे बुद्धिमान् नहीं हैं) ॥५१॥

तथाहि (भाः १०—८८—२६)—

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्—भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा—नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥४५॥

श्रीअक्रूर ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा है—"जो भजनकारी सुहृद को समस्त अभिलषित वस्तुएं दान करते हैं और तो क्या आत्म-पर्यन्त भी दान कर देते हैं, जिन में ह्रास नहीं, जिनमें वृद्धि नहीं अर्थात् जो सदा पूर्ण रहते हैं, ऐसे भक्तप्रिय, सत्यवाक् सर्व सुहृद एवं कृतज्ञ जो आप हैं, आपको छोड़कर और किसी की शरण कौन बुद्धिमान् जाएगा ? ॥४५॥

विज्ञ जनेर हय यदि कृष्ण-गुण-ज्ञान ।
अन्य त्यजि भजे ताते—उद्धव प्रमाण ॥५२॥

यदि विज्ञ (बुद्धिमान) व्यक्ति को श्रीकृष्ण के (भजनीय) गुणों का ज्ञान हो जाय तो वह फिर अन्य समस्त को छोड़कर उन्हीं का ही भजन करने लगता है—इस में श्रीउद्धवजी के ये वचन प्रमाण है, (जिन्हें निम्नलिखित श्लोक में वर्णन करते हैं) ॥५२॥

तथाहि (भाः ३—२—२३)

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥४६॥

श्रीविदुरजी के प्रति श्रीउद्धवजी ने कहा है-"अहो ! (श्रीकृष्ण में कैसी आश्चर्यमय दयालुता है !) दुष्टा पूतना प्राणविनाश करने की इच्छा से जिन को अपने स्तनों में लगी हुई कालकूट भी पान कराकर माता के उपयुक्त गति को प्राप्त कर गई। उन श्रीकृष्ण को छोड़ कर और ऐसा दयालु कौन है, कि जिस का भजन करूं ? ।।४६।।

शरणागत अकिञ्चनेर एकइ लक्षण ।
तार मध्ये प्रवेशये 'आत्मसमर्पण' ।।५३।।

शरणागत भक्त तथा अकिञ्चन भक्त, इन दोनों का एक ही लक्षण है। आत्मसमर्पण अर्थात् देह-दैहिक विषय श्रीकृष्ण के समर्पण करना-) उसी लक्षण के अन्तर्भुक्त है। तात्पर्य यह है कि शरणागत तथा अकिञ्चन दोनों ही देह व दैहिक समस्त विषयों को श्रीकृष्ण के अर्पण कर दिया करते हैं ।।५३।।

चै० च० च० टीका:—शरणागत एवं अकिञ्चन भक्तों का एक ही लक्षण होते हुए भी दोनों के श्रीकृष्ण-आत्मसमर्पण के हेतु में एक पार्थक्य होता है। जो लोग संसार के भोग भोगने के इच्छुक हैं, और उनकी प्राप्ति के लिये यथासाध्य चेष्टा भी करते रहते हैं, किन्तु जब वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते, सांसारिक आपद विपद् से घबड़ा कर तब वे संसार से विरक्त हो जाते हैं और अन्य उपाय कुछ न देखकर श्रीकृष्ण की शरणग्रहण कर लेते हैं और आत्म-समर्पण कर देते हैं—ऐसे भक्तों को **'शरणागत भक्त'** कहा जाता है और जो संसार के सुख भोगों को श्रीकृष्ण भक्ति के प्रतिकूल जान कर, **अपने** स्वरूपानुवन्धि कर्त्तव्य-श्रीकृष्ण-सेवा की प्राप्ति के लिये ही श्रीकृष्ण को आत्म-समर्पण करते हैं— उन्हें **'अकिञ्चन भक्त'** कहते हैं। शरणागत-भक्त के आत्मसमर्पण का हेतु है—संसार भोगों में उसकी अकृत-कार्यता या असफलता और अकिञ्चन-भक्त के आत्म-समर्पण का हेतु होता है—श्रीकृष्ण सेवा-वासना—इतना पार्थक्य रहता है। निम्नलिखित दो श्लोकों में शरणागत के लक्षणों का वर्णन करते हैं—

तथाहि हरिभक्तिविलासे (११-४१७ व ४१८)—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्ज्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड़्विधा शरणागतिः ।।४७।।
तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन् ।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः ।।४८।।

भगद्भक्तों के अनुकूल विषय का व्रतरूप से ग्रहण, उसके प्रतिकूल विषय का त्याग, भगवान् मेरो निश्चय ही रक्षा करेंगे—इस प्रकार का दृढ़ विश्वास, रक्षाकर्त्तारूप में श्रीकृष्ण को बरण करना, श्रीकृष्ण को आत्मसमर्पण एवं श्रीकृष्ण-चरणों में आर्त्ति ज्ञापन—ये छः लक्षण शरणागत-भक्त के हैं। "हे भगवन् ! मैं तुम्हारा हूँ"—मुख से इस प्रकार कहते हुए, मन से भी इसी प्रकार जानकर, तथा शरीर द्वारा श्रीवृन्दावनादि भगवल्लीलास्थानों का आश्रय करके शरणागत-व्यक्ति आनन्दोपभोग करता है ।।४८।।

शरण लञा करे कृष्णे आत्मसमर्पण ।
कृष्ण तारे करे तत्काले आत्मसम ।।५४।।

जो भक्त शरणागत होकर श्रीकृष्ण को आत्मसमर्पण कर देते हैं, श्रीकृष्ण उन्हें तत्काल अपने समान कर देते हैं। अर्थात् भगवान् अपनी भांति उसे मायातीत व चिन्मय कर देते हैं एवं कई एक अपने

गुणों को प्राप्त करने के योग्य उसको बना देते हैं, (जीवन्मुक्त ही कर देते हैं। कारण कि समस्त विषयों में श्रीकृष्ण के समान तो कोई हो ही नहीं सकता) ॥५४॥ जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में कहा गया है—

तथाहि (भा: ११—२९—३४)—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥४९॥

श्रीउद्धव जी के प्रति श्रीभगवान् ने कहा है—"मनुष्य जब अन्यान्य समस्त कर्मों को त्याग कर मुझ में आत्म-समर्पण कर देता है, तब उसके लिये भी विशेष कुछ करने की मेरी इच्छा होती है, उसी कारण वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर मेरे ऐश्वर्य भोग के योग्य हो जाता है ॥३९॥

एवे साधनभक्ति-लक्षण शुन सनातन।
याहा हैते पाइ कृष्णप्रेम महाधन ॥५५॥

(भक्ति की अभिधेयता, श्रीकृष्ण में भक्ति के प्रयोग की प्रयोजनीयता तथा भक्ति की अधिकारिता के सम्बन्ध में आलोचन करने के बाद श्रीमहाप्रभु अब साधन-भक्ति के लक्षण कहते हैं) प्रभु ने कहा—"सनातन ! अब तुम साधन-भक्ति के लक्षण सुनो, जिस साधन-भक्ति के अनुष्ठान से श्रीकृष्ण-प्रेमरूप महाधन की प्राप्ति होती है ॥५५॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—२—२

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ॥५०॥

'अन्याभिलाषिताशून्यं" इत्यादि श्लोक में उत्तमा-भक्ति के लक्षण वर्णन करने के बाद भक्तिरसामृत सिन्धु में कहा गया है कि वह उत्तमा-भक्ति यदि जिह्वा-कर्णादि इन्द्रियों के द्वारा साधनीय हो—अर्थात् उस उत्तमाभक्ति का इन्द्रियों द्वारा अनुष्ठान किया जाये, और उसका साध्य या लक्ष्य यदि कृष्णप्रेम हो तो उसे 'साधन-भक्ति' कहते हैं। नित्यसिद्ध प्रेम के हृदय में प्रगट होने का नाम ही साध्यता है, अर्थात् जब साधन-भक्ति के करते करते हृदय में कृष्णप्रेम उदित हो आए, तभी उस साधन-भक्ति की सफलता अथवा सिद्धता जाननी चाहिये ॥५०॥

श्रवणादि-क्रिया तार 'स्वरूप-लक्षण'। 'तटस्थ-लक्षणे' उपजाय प्रेमधन ॥५६॥
नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम-'साध्य' कभु नय। श्रवणादि-शुद्ध-चित्ते करये उदय ॥५७॥
एइ त साधन-भक्ति दुइ त प्रकार—। एक वैधीभक्ति, रागानुगाभक्ति आर ॥५८॥
रागहीन जन भजे शास्त्रेर आज्ञाय। 'वैधीभक्ति' बलि तारे सर्वशास्त्रे गाय ॥५९॥

श्रवण-कीर्त्तनादि नवधा-भक्ति का आचरण इस साधन-भक्ति का 'स्वरूप-लक्षण' है और श्रीकृष्ण-प्रेम का उदय होना—साधन-भक्ति का 'तटस्थ-लक्षण' है। (तो क्या कृष्ण-प्रेम साधन-भक्ति से उत्पन्न होता है ? वह जन्य पदार्थ है क्या ?'—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं:—) श्रीकृष्ण-प्रेम नित्यसिद्धि वस्तु है। वह अनादि वस्तु है। वह साध्य अर्थात् उत्पादनीय वस्तु नहीं है। वह किसी साधन या उपाय द्वारा उत्पन्न की जाने वाली वस्तु नहीं है। श्रवण-कीर्त्तनादि अनुष्ठान करते करते जब चित्त शुद्ध हो जाता है (कर्मफल तथा अपराधादि दूर हो जाते हैं) तब कृष्ण-प्रेम (सूर्य की भांति) चित्त में

उदय होता है । (सूर्य उत्पन्न नहीं होता, उदय होता है, उसी प्रकार प्रेम भी उत्पन्न नहीं होता, हृदय में उदित होता है ।) साधनभक्ति दो प्रकार की है—एक—वैधी-भक्ति, दूसरी—रागानुगा-भक्ति। श्रीकृष्ण को सुखी करने की बलवती तृष्णा, अर्थात् अनुराग के बिना जो केवल शास्त्र की आज्ञा से भजन किया जाता है, उस भजन को शास्त्रों में "वैधी-भक्ति" कहते हैं । ।।५६—५६।। (श्रीमद्वैष्णव पृष्ठ १७० द्रष्टव्य है साधन-भक्ति विषयक कुछ प्रमाणों का नीचे उल्लेख करते हैं—)

तथाहि (भाः २-१-१५)—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताभयन् ।।५१।।

श्रीशुकदेव जी ने कहा है—"हे परीक्षित् ! [गृहासक्त व्यक्ति स्त्री-पुत्र-धनादि में आसक्त होकर अपने मायाबन्धन को दृढ़तर करते जाते हैं, उनमें] जो व्यक्ति माया-बन्धन से मुक्त होने की कामना करे, उसे सर्वात्मा भगवान् ईश्वर श्रीहरि के गुण-लीलादि का श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण करना चाहिये ।।५१।।

तथाहि तत्रैव [११—५—२ व ३]—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ।।५२।।
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ।।५३।।

परमपुरुष के मुख, बाहु, उरु एवं चरणों से सत्वादिगुणों के तारतम्य से पृथक् पृथक् चारों वर्णों की चारों आश्रमों सहित उत्पत्ति हुई है । इन चारों वर्णों या चारों आश्रमों में से जो व्यक्ति (अज्ञानवशतः) अपने जनक ईश्वर परम-पुरुष का भजन नहीं करता है अर्थात् उनकी अवज्ञा करता है, वह कर्मलब्ध अधिकार से च्युत एवं अधःपतित होता है ।।५२-५३।।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-२-५) पाद्मोत्तर वचनम् (७२-१००)

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः—स्युरेतयोरेव किङ्कराः ।।५४।।

श्रीविष्णु को सर्वदा स्मरण करना चाहिये, उन्हें कभी भी विस्मरण नहीं करना चाहिये, जितने भी विधि एवं निषेध हैं, वे समस्त इन दोनों विधि-निषेधों के किङ्कर अर्थात् अधीन हैं ।।५४।।

चै० च० चु० *टीकाः*—शास्त्र में जितनीविधि हैं–उनका मूल एक ही विधि है–वह है सदा श्रीकृष्ण-स्मृति । अन्यान्य जितनी बिधि हैं, वे इस विधि की अनुकूलता विधान करने वाली हैं या उस कृष्णस्मृति को बनाये रखने के लिये ही हैं । तथा जितने निषेध हैं, उनका भी सार एक है । वह है—श्रीकृष्ण को भूलो नहीं, श्रीकृष्णस्मृति ही साधक के साधन को सासङ्ग-भजन का रूप देती है । श्रीकृष्णस्मृति-विहीन भजन अनासङ्ग-भजन कहलाता है और अनासङ्ग-भजन से प्रेम का हृदय में उदय होना असम्भव है, और जब तक प्रेम उदित नहीं होता, साधन की सफलता भी नहीं मानी जाती । अतः श्रीकृष्ण-स्मृति को भजन का प्राण कहा गया है । श्रीकृष्ण-स्मृति को मन में जागृत करने की चेष्टा ना करके शास्त्रोक्त विधि-निषेधों के पालन करने में विशेष सार्थकता कुछ नहीं है ।

विविधाङ्ग साधन भक्ति बहुत विस्तार। संक्षेपे कहिये किछु साधनाङ्ग-सार ॥६०॥
गुरुपादाश्रय, दीक्षा, गुरुर सेवन। सद्धर्मशिक्षापृच्छा, साधुमार्गानुगमन ॥६१॥
कृष्ण प्रीते भोगत्याग, कृष्णतीर्थे वास। यावत् निर्वाह प्रतिग्रह, एकादश्युपवास ॥६२॥
धात्र्यश्वत्थ-गोविप्र-वैष्णव-पूजन। सेवा-नामापराधादि विदूरे वर्जन ॥६३॥

"साधन-भक्ति के विविध अङ्गों का बहुत विस्तार है। सनातन ! मैं तुम्हें विविध-साधनाङ्गों का सार यहां संक्षेप से कहता हूँ। भक्ति के साधन-पथ में प्रवेश करते समय सर्व प्रथम श्रीगुरु चरणों का आश्रय लेना चाहिए, श्रीगुरु जी से दीक्षा अर्थात् इष्टमन्त्र का दान कान में ले। तथा श्रीगुरुदेव की सेवा करना (श्रीगुरुदेव के साक्षात् उपस्थित रहने पर उनकी हर प्रकार की सेवा, पूजा करना और उनके अन्तर्धान हो जाने पर उनके चित्रपटादि की पूजा अथवा मानसी पूजा करना) उचित है। साधु-महत् पुरुषों से सद्धर्म अर्थात् भागवत-धर्म की जिज्ञासा करना, महत् पुरुषों के आचरण तथा आज्ञा-उपदेश का अनुसरण करना, श्रीकृष्ण की प्रीति विधान के लिये अपने सुख भोगों का त्याग करना, श्रीकृष्ण-लीला-स्थानों पर निवास करना, जितनी वस्तु से निर्वाह हो सके उतनी वस्तु ही का संग्रह करना, एकादशी व्रत अर्थात् एकादशी के दिन उपवास तथा भजन करना, आमला के एवं पीपल के वृक्ष की, गौ की, ब्राह्मण की, वैष्णव की पूजा-सेवा करना, तथा सेवा अपराध और नामापराधों का दूर से ही त्याग करना—ये सब साधन-भक्ति के अङ्ग हैं। (इन अङ्गों का विस्तरशः वर्णन भूमिका-स्वरूप, श्रीमद्वैष्णव—सि० र० सं० के 'साधन तत्त्व' पृष्ठ १६७ एवं 'अपराध' शीर्षक में पृष्ठ १९७ पाठकगण देखने की कृपा करें) ॥६०—६३॥

अवैष्णव-सङ्ग, बहु शिष्य ना करिव। बहुग्रन्थ कलाभ्यास व्याख्यान वर्जिव ॥६४॥
हानि लाभ सम, शोकादिर वश ना हईव। अन्य देव अन्यशास्त्र निन्दा ना करिव ॥६५॥
विष्णु वैष्णव निन्दा ग्राम्यावार्त्ता ना शुनिव। प्राणिमात्रे मनोवाक्ये उद्वेग ना दिव ॥६६॥
श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पूजन, वन्दन। परिचर्य्या, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन ॥६७॥
अग्रे नृत्य-गीत विज्ञप्ति दण्डवत्-नति। अभ्युत्थान, अनुव्रज्या, तीर्थेगृहे गति ॥६८॥
परिक्रमा, स्तव-पाठ, जप सङ्कीर्त्तन। धूप-माल्य-गन्ध महाप्रसाद भोजन ॥६९॥

साधन-भक्ति के अङ्गों का वर्णन करते हुए श्रीमहाप्रभुजी ने आगे कहा—"अवैष्णव-व्यक्तियों का सङ्ग नहीं करना, अनेक शिष्य नहीं बनाना, अनेक ग्रन्थों का तथा अनेक विद्याओं का अभ्यास नहीं करना, व्याख्यान-उपदेश नहीं करना, हानि-लाभ में समान रहना, शोकादि के वशीभूत न होना, अपने इष्टदेव के अतिरिक्त और जो देवता हैं तथा अन्यान्य देवताओं को प्रतिपादन करने वाले जो शास्त्र हैं उनकी निन्दा नहीं करना, श्रीविष्णु की तथा वैष्णवों की निन्दा नहीं सुनना, ग्राम्यवार्त्ता अर्थात् भगवद्-विषय को छोड़ कर अन्य विषय सम्बन्धीय जो बातें हैं, उन्हें नहीं सुनना, प्राणी मात्र को मन से, वचन से एवं शरीर से कभी भी उद्वेग या दुख न देना—ये सब साधन-भक्ति के वर्जनात्मक-अङ्ग हैं। भगवान् के गुण-लीला-नामका श्रवण करना, उनके नाम-गुण-लीलाओं का कीर्त्तन करना, भगवान् का स्मरण करना, उनकी पूजा करना, उनकी वन्दना करना, उनकी अर्च्चा-सेवा करना, उनकी दास्य भाव अथवा सख्यभाव से प्रीति विधान करना, देह एवं दैहिक समस्त विषयों को श्रीकृष्ण के अर्पण कर देना, श्रीमूर्त्ति के आगे नृत्य-गान

करना, श्रीकृष्ण के आगे अपने मनोगत भावों को निवेदन करना, दण्डवत् प्रणाम करना, श्रीमूर्त्ति एवं गुरुदेव के सामने उठ खड़ा होना, श्रीमूर्त्ति के पीछे-पीछे चलना, भगवत्-तीर्थ स्थानों पर जाना, श्रीमूर्त्ति या श्रीगिरिराज की परिक्रमा करना, स्तोत्र-पाठ करना, नाम-मन्त्र का जप करना, भगवान् के गुण-नाम-लीलाओं का उच्चस्वर से सङ्कीर्त्तन करना, श्रीकृष्ण-प्रसादी धूप-माला-चन्दन आदि का सेवन करना तथा सदा भगवत्-प्रसादी भोजन को पाना—सनातन ! ये सब साधन-भक्ति के ही अङ्ग हैं ।।६४—६९।।

आरात्रिक-महोत्सव—श्रीमूर्त्तिदर्शन । निजप्रिय-दान, ध्यान, तदीय-सेवन ।।७०।।
'तदीय'—तुलसी, वैष्णव, मथुरा, भागवत । एइ चारि-सेवा हय कृष्णेर अभिमत ।।७१।।
कृष्णार्थे अखिल चेष्टा, तत्कृपावलोकन । जन्मदिनादि महोत्सव लञा भक्तगण ।।७२।।
सर्वथा शरणापत्ति, कार्त्तिकादि व्रत । चतुःषष्टि अङ्ग एइ परम महत्त्व ।।७३।।

श्रीभगवान् की आरती दर्शन करना (पांच, सात, नौ, बत्तियों द्वारा श्रीभगवान् के चरणों की चार बार, नाभि की एक बार, बक्षस्थल की एक बार, मुखचन्द्र की एक बार और सर्वाङ्गों की सात बार आरति उतारना विधेय है । एवं शंख में जल भर कर सर्वाङ्गों की तीन बार आरती उतारी जाती है) भगवान् के महोत्सव (झूला-होली, रथयात्रादि के दर्शन) करना, श्रीमूर्त्ति के दर्शन करना, श्रीकृष्णसेवा की उपयोगी वस्तुओं में अपने को अत्यन्त प्रिय लगने वाली वस्तु को भगवान् के अर्पण करना, श्रीभगवान् के रूप, गुण, लीलाओं का ध्यान अर्थात् चिन्तन करना, तदीय-सेवन करना, तदीय अर्थात्—तुलसी, वैष्णव मथुरा तथा भागवतजी जो प्रभु की अपनी ही वस्तुएं हैं या उनका ही स्वरूप हैं—इन चारों का सेवन करना, क्योंकि ये चारों भगवान् को अति प्रिय हैं । जो चेष्टाएं श्रीकृष्ण को प्रिय है—उन्हीं समस्त चेष्टाओं को ही करना, सदैव भगवान् की कृपा की बाट तकते रहना, भक्तों के साथ जन्माष्टमी महोत्सव मनाना, मन, वाणी एवं शरीर से श्रीकृष्ण के शरणागत होना, कार्त्तिक मास में नियम-सेवादि व्रत धारण करना—ये सब साधन-भक्ति के कुल चौसठ अङ्ग हैं, जो विविध अङ्गों में मुख्य या प्रधान हैं ।।७०—७३।।

साधुसङ्ग, नामकीर्त्तन, भागवत श्रवण । मथुरावास, श्रीमूर्त्तिर श्रद्धाय सेवन ।।७४।।
सकल साधनश्रेष्ठ एइ पञ्च अङ्ग । कृष्ण प्रेम जन्माय एइ पाञ्चेर अल्प सङ्ग ।।७५।।

श्रीमन्महाप्रभु ने साधन-भक्ति के प्रधान चौसठ अङ्गों का वर्णन करने के बाद कहा—"सनातन ! साधुसङ्ग, श्रीनामसङ्कीर्त्तन, श्रीभागवत-श्रवण, मथुरा –(श्रीवृन्दाबन–) वास, तथा श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्त्ति पूजा—ये पाञ्चों अङ्ग सर्व साधनों में श्रेष्ठ हैं । पाञ्चों का अथवा इनमें एक अङ्ग का भी थोड़ा सा अनुष्ठान साधक के मन में श्रीकृष्ण-प्रेम को उदय कर देता है" ।।७४–७५।। (इस उक्ति के प्रमाण में निम्नलिखित श्लोकों को उद्धृत करते हैं)—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—२—४३ व ११०)

श्रद्धाविशेषतः प्रीतिः श्रीमूर्त्तेरङ्घ्रि सेवने ।
श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह ।।५५।।
सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे ।
नामसङ्कीर्त्तनं श्रीमन्मथुरामण्डले स्थितिः ।।५६।।

दुरुहाद्भुतवीर्येऽस्मिन श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके ।
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धियां भावजन्मने ॥५७॥

विशेष श्रद्धा से श्रीमूर्त्ति के चरण-सेवन में प्रीति करो, नाम-संङ्कीर्त्तन करो, मथुरा-मण्डल (श्रीवृन्दावन) में वास करो, अपनी भांति वासनायुक्त अर्थात् समभावापन्न तथा अपने से उच्च अधिकारी एवं स्निग्ध-प्रकृति साधु के साथ कथावार्त्ता व उपदेशश्रवणादि रूप सङ्ग करो। रसिक (लीला-रसज्ञ व लीला रसास्वादन के अधिकारी) भक्तों के साथ श्रीमद्भागत के अर्थों का आस्वादन करो। (साधुसङ्ग नाम-सङ्कीर्त्तन, भागवत-श्रवण, मथुरावास एवं श्रद्धा सहित श्रीमूर्त्ति-सेवन—इन पाञ्चों) दुर्ज्ञेय व आश्चर्य-मय प्रभावशाली भजनाङ्गों में—श्रद्धा तो दूर, इनका अति अल्पमात्र सम्बन्ध होने से भी निरपराध व्यक्तियों के चित्त में अति शीघ्र भाव का (प्रेम का) उदय हो आता है ॥५५-५७॥

एक अङ्ग साधे—केहो साधे बहु अङ्ग ।
निष्ठा हैले उपजये प्रेमेर तरङ्ग ॥७६॥
एक अङ्गे सिद्धि पाइल बहु भक्तगण ॥७७॥

इनमें कोई साधक तो एक अङ्ग का अनुष्ठान करता है और कोई अनेक अङ्गों को साधता है। एक या अनेक अङ्गों का अनुष्ठान करते-करते जब अनर्थ निवृत्ति होकर निष्ठा उत्पन्न होती है—फिर (क्रमशः रुचि, आसक्ति एवं) प्रेमाङ्कुर का उदय होता है ॥ ७६ ॥ अनेक भक्तों ने तो एक ही अङ्ग से सिद्धि की (प्रेम) प्राप्ति की है ॥७७॥ जैसे कि :—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—२—१२९) पद्यावल्याम् (५३)—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिद भवद्वैयासकिः कीर्त्तने ।
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्ज्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परा ॥५८॥

श्रीविष्णु के नाम-गुण-लीलादि के श्रवण करने में राजा परीक्षित् ने, श्रीशुकदेवजी ने कीर्त्तन में, श्रीप्रह्लाद ने स्मरण में, श्रीलक्ष्मी ने पादसेवन में, राजा पृथु ने पूजन में, श्री अक्रूर ने वन्दन में, श्रीहनुमानजी ने दास्य में, श्रीअर्जुन ने सख्य में, एवं बलि राजा ने सर्वतोभावेन आत्म-निवेदन में—इन्होंने एक-एक अंग के अनुष्ठान से ही भगवत्-प्रेम को प्राप्त कर श्रीभगवान् को प्राप्त किया है ॥५८॥

अम्बरीषादि भक्तेर बहु-अङ्ग-साधन ॥७८॥

किन्तु श्रीअम्बरीषादि भक्तों ने भक्ति के अनेक अंगों का भी अनुष्ठान करके सिद्धि प्राप्त की है।

तथाहि (भाः ९-४-१८, १९, २०)—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिञ्चकाराच्युतसत्कथोदये ॥५९॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्परशेऽङ्गसङ्गम् ।
घ्राणञ्च तत्पाद सरोज सौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥६०॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामञ्च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमःश्लोकजनाश्रया रतिः ॥६१॥

महाराज अम्बरीष ने श्रीकृष्णपादपद्म में मन को, कृष्ण-गुणानुवर्णन करने में वाग-इन्द्रिय को, हरि-मन्दिर–मार्जनादि में दोनों हाथों को, अच्युतभगवान् की पवित्र-कथा सुनने में कानों को, भगवद्भक्तों के गात्रस्पर्श में अङ्ग-अङ्ग को, कृष्णपादपद्म-सौरभयुक्त तुलसी की गन्ध में नासिका को, कृष्णनिवेदित अन्नादि के ग्रहण करने में रसना को, भगवत्-तीर्थों में गमन करने में दोनों चरणों को, हृषीकेश के चरण-वन्दन में मस्तक को नियुक्त कर दिया था; एवं विषयभोगों के अङ्ग-रूप से उन्होंने कभी भी माला-चन्दनादि ग्रहण नहीं किया था, उत्तमश्लोक श्रीभगवान् के चरणों का जिन्होंने आश्रय लिया है, उनमें जो भक्ति रहती है, उसी भक्ति के आविर्भाव के अनुकूल होने से श्रीकृष्ण को निवेदित माला-चन्दनादि को श्रीकृष्ण का प्रसाद जानकर ही उन्होंने ग्रहण किया था, इसी प्रकार उनकी भोगवासना (काम) भी भवगद्दास्य में ही नियोजित थी ॥५९–६१॥

काम त्यागि कृष्ण भजे शास्त्र–आज्ञा मानि ।
देव—ऋषि—पित्रादिकेर कभु नहे ऋणी ॥७९॥

जो व्यक्ति अपने सर्व प्रकार सुख को वासनाओं को त्याग कर शास्त्र-विधि के अनुसार श्रीकृष्ण का भजन करता है । उसके लिये गृहस्थ के कर्त्तव्यरूप देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, भूत-ऋण एवं नृ-ऋण अर्थात् आत्मीय स्वजनों का ऋण—ये जो पाञ्च प्रकार के ऋण हैं, इनका कुछ भी दायत्व नहीं रहता अर्थात् वह इनका ऋणी नहीं रहता ॥७९॥

चै० च० चु० *टीका:*—मनुष्य पर उक्त पाँच प्रकार के ऋण हैं—(१) इन्द्रादि देवतागण वर्षादि के द्वारा हमारे जीवन धारण के उपयोगी अन्नादि को उत्पादन करने में सहायता करते हैं, अतः हम देवताओं के ऋणी हैं, इसे **देव-ऋण** कहते हैं । देव-ऋण का शोधन हवनादि के द्वारा होता है । (२) ऋषिगण यज्ञादि के द्वारा इन्द्रादि देवताओं की तृप्ति विधान करके-रौद्र-वृष्टि आदि कार्यों में अनुकूलता प्रदान करते हैं और वे अपने साधनों से प्राप्त किये हुए भगवद्-तत्त्वों को शास्त्रों के रूप में लिपिबद्ध करके हमारा पारमार्थिक मङ्गल विधान करते हैं, अतः हम ऋषिगणों के ऋणी हैं, इसे **ऋषि-ऋण** कहते हैं । ऋषि-ऋण शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने से शोधित होता है । (३) अपने जन्म, शरीर एवं शरीर की रक्षादि के लिये हम अपने माता-पिता के ऋणी हैं, इसे **पितृ-ऋण** कहते हैं । यह सन्तानोत्पादन एवं श्राद्ध-तर्पण करने से उतरता है । (४) काक-चील-कुत्ते आदि जो विष्ठा, मृत-पशु आदि का भक्षण करके वायुमण्डल को शुद्ध करते रहते हैं, मछली आदि जलचर-जन्तु जो जल को शुद्ध रखते हैं, इस प्रकार न जाने किस-किस जीव-प्राणी (भूत) के द्वारा मनुष्यों का क्या-क्या उपकार होता रहता है, उस सबके लिये मनुष्य भूतों का ऋणी है, इसे **भूत-ऋण** कहते हैं, जो बलि द्वारा (इन जीवों को खाद्यपदार्थ डालने से शोधित होता है । (५) आत्मीयस्वजन अर्थात् पाड़-पड़ौसी तथा अन्यान्य अनेक मनुष्यों द्वारा प्रत्यक्षभाव से या परोक्षभाव से मनुष्य का उपकार होता है, अतः मनुष्य मनुष्य तथा आत्मीय स्वजनों का भी ऋणी माना गया है । इसे **नृ-ऋण** या **नर-ऋण** कहते हैं, जो अतिथि सत्कार द्वारा शोधित होता है ।

इन पाञ्च प्रकार के ऋणों को उतारने के लिये पांच प्रकार के यज्ञों का करना गृहस्थी के लिये आवश्यक है । किन्तु श्रीमहाप्रभु ने कहा यदि गृहस्थी स्वार्थ को त्याग कर शास्त्रविधि अनुसार श्रीकृष्ण

का भजन करता है, तो उसे फिर उक्त ऋणों का शोधन करने के लिये उक्त पांच प्रकार के यज्ञों के करने की आवश्यकता नहीं है। वे सब ऋण श्रीकृष्ण-भजन से स्वतः शोधित हो जाते हैं। जैसा कि श्री भागवतजी में भी कहा गया है:—

तथाहि (भा: ११—५—४१)—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणि च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥६२॥

श्रीकरभाजन ने निमिमहाराज से कहा है—"हे राजन्! जिस व्यक्ति ने कृत्य एवं अकृत्य कर्म अथवा भेद को त्याग कर सर्वभाव से शरणागतपालक भगवान् श्रीमुकुन्द की शरण ग्रहण की है, उसके लिये फिर देवता, ऋषि, भूत, पौष्य-कुटुम्बादि वा पितृ-पुरुषादि का कोई ऋण नहीं रह जाता, कारण कि वह व्यक्ति फिर किसी का किङ्कर नहीं रह जाता। (वह श्रीकृष्ण का ही दास हो जाता है) ॥६२॥

विधिधर्म छाड़ि भजे कृष्णेर चरण। निषिद्ध पापाचारे तार कभु नहे मन ॥८०॥
अज्ञानेओ यदि हय पाप उपस्थित। कृष्ण तारे शुद्ध करे ना करे प्रायश्चित ॥८१॥

विधि धर्म अर्थात् काम्य-कर्म या लोक-धर्म, वेद-धर्म एवं देह-धर्म जो इस लोक तथा परलोक के सुख-वासना-मूलक धर्म हैं, उन्हें छोड़कर जो श्रीकृष्ण-चरणारविन्द का भजन करता है, वह फिर निषिद्ध पाप-आचरण करने की इच्छा भी नहीं करता। अज्ञानवश—अनजाने में इच्छा न होते हुए यदि उससे कोई पाप कर्म बन जाए तो श्रीकृष्ण उसके लिये उसे शासित नहीं करते, परन्तु उसके चित्त का संशोधन करके उसे शुद्ध-पापरहित कर देते हैं ॥८०-८१॥ श्रीभागवतजी में ऐसा प्रमाण है—

तथाहि (भा: ११—५—४२)

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥६३॥

श्रीकरभाजन ने राजा निमि से कहा है—"जो श्रीकृष्ण-सेवा-भाव के अतिरिक्त अन्यान्य समस्त भावों से रहित है, और जो श्रीकृष्ण के चरण-मूल की सेवा में निरत है, श्रीहरि के उस प्रिय भक्त के आगे यदि कभी कोई निषिद्ध कर्म भी आकर उपस्थित हो जाय, तो हृदय में सन्निविष्ट परमेश्वर श्रीहरि उसे सम्यक्‌रूप से विनष्ट कर देते हैं ॥६३॥

ज्ञान—वैराग्य भक्तिर कभु नहे अङ्ग ॥८२॥

श्रीमहाप्रभुजी ने आगे कहा—"सनातन! ज्ञान एवं वैराग्य साधन-भक्ति के कभी भी अङ्ग नहीं हैं। (अङ्ग-रूप से ज्ञान व वैराग्य का अनुष्ठान करने से वरं भक्ति की प्रतिकूलता उत्पन्न होती है)॥८२॥

चै० च० चु० *टीका:*—ज्ञान एवं वैराग्य को इस पयार में साधन-भक्ति का अङ्ग स्वीकार नहीं किया गया है। उसका कारण यह है, कि अङ्ग-रूप से ज्ञान का व वैराग्य का अनुष्ठान करने से भक्ति की प्रतिकूलता उत्पन्न होती है।

ज्ञान के तीन अङ्ग हैं—(१) **त्वम्-पदार्थ का ज्ञान** या जीव के स्वरूप का ज्ञान, (२) **तत्-पदार्थ का ज्ञान** अर्थात् भगवत्स्वरूप विषयकज्ञान, एवं (३) **जीव एवं ब्रह्म का ऐक्यविषयक ज्ञान**। इन तीनों में तीसरा जो जीव-ब्रह्म-ऐक्य विषयक ज्ञान है—वह भक्ति मार्ग का सम्पूर्ण विरोधी है। क्योंकि इससे

सेव्य-सेवकत्व भाव जो भक्ति का मूल है—नष्ट हो जाता है। अतः वह सर्वतो भावेन परित्याज्य है। किन्तु प्रथम के दोनों अङ्ग अर्थात् जीव के स्वरूप का ज्ञान तथा भगवत्स्वरूप का ज्ञान-ये दोनों भक्तिमार्ग के साधक के लिये सर्वथा उपेक्षणीय भी नहीं हैं। जीव एवं भगवत् के स्वरूप ज्ञान के बिना इन दोनों का स्वरूपतः क्या सम्बन्ध है —वह नहीं जाना जा सकता। ये दोनों अङ्ग भक्ति के अनुकूल हैं, अतः उपेक्षणीय नहीं हैं। परन्तु ऐसा होते हुए भी ये भक्ति के अङ्ग नहीं हैं। भक्तिमार्ग-प्रवेश के सहाय-स्वरूप हैं। इसलिये साधन-भक्ति के आरम्भ-स्वरूप प्रथम दश-अंगों में **"सद्धर्मपृच्छा"** अर्थात् जीवस्वरूप एवं भगवत्-स्वरूप विषयक जिज्ञासा को स्थान दिया गया है। श्रीजीवगोस्वामी पाद ने कहा है साधक की प्रथम अवस्था में अन्य वस्तु से (श्रीकृष्ण-व्यतीत वस्तु से) चित्त के आवेश को हटाने के लिये भक्ति के अविरोधी ज्ञान व वैराग्य की कुछ उपयोगिता है, किन्तु अन्यावेश परित्याग के फलस्वरूप भक्ति में प्रवेश होने पर उस ज्ञान एवं वैराग्य का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। कारण कि उस समय वैराग्य की बात या जीव व भगवत्-तत्त्व की बात चिन्तवन करने से भक्तिमूलक सेवा-प्रवाह में विच्छेद हो जाता है। अतः ये दोनों भक्ति के अंग नहीं हैं।

वैराग्य को त्याग के उद्देश्य के प्रति लक्ष्य रख कर दो श्रेणियों में बाँटा जाता है। **१-युक्त-वैराग्य"** और **२-फल्गु-वैराग्य।** श्रीकृष्ण-कृपा की प्राप्ति के उद्देश्य से जो अपने भोगों का त्याग है—उसे **युक्त-वैराग्य** कहते हैं। युक्त-वैराग्य में यथायोग्य विषय-भोगों में भी दोष नहीं है, अर्थात् भक्ति अङ्गों के निर्वाह के लिये जितने विषय भोग का प्रयोजन है, उतना विषय-भोग निषिद्ध नहीं हैं। और जिस त्यागका उद्देश्य श्रीकृष्ण-प्रीति नहीं है, जिसका उद्देश्य केवल अपना भोग-त्याग है, उसे **फल्गु या शुष्क वैराग्य** कहते हैं : ऐसा वैरागी श्रीकृष्ण-प्रसादी वस्तुओं का भी त्याग कर देता है। ऐसे वैराग्य में भोग वासना हृदय में सुप्त रूप से वर्त्तमान रहती हैं। भोग वासना मूल से उत्पादित नहीं होती। केवल अपनी शक्ति से भोग-वासना दूर करने की चेष्टा ही ऐसे वैराग्य में प्रधानता लाभ करती हैं, जिसके फल-स्वरूप हृदय कठोर एवं शुष्क हो जाता है। कठिन एवं निरस चित्त में सुकोमल स्वभावा भक्ति प्रवेश नहीं कर सकती। अतः भक्ति के प्रतिकूल होने से वैराग्य को भी भक्ति का अङ्ग नहीं माना गया है। इस के प्रमाण में श्रीभागवत जी का एक श्लोक उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भाः ११—२०—३१)—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥६४॥

श्रीभगवान् ने श्रीउद्धव जी से कहा है—"हे उद्धव ! जिसने मुझ में अपना चित्त समर्पण कर दिया है एवं जो मेरी भक्तियुक्त है—ऐसे भक्ति-योगी के लिये ज्ञान और वैराग्य प्राय ही मङ्गलजनक नहीं होते ॥६४॥

यम-नियमादि बुले कृष्णभक्तसङ्ग ॥८३॥

यम-नियमादि (जो योग मार्ग के साधन हैं वे) तो श्रीकृष्ण-भक्त के साथ आप भ्रमण करते रहते हैं ॥८॥

चै० च० चु० *टीकाः*—ज्ञान एवं वैराग्य यदि भक्ति के अङ्ग नहीं हैं, तो भक्ति-मार्ग के साधक के लिये इन्द्रिय-वृति का संयम कैसे हो सकता है ?—इस आशङ्का का समाधान इस पयार में किया गया है। इस पयार का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों की वृत्तियों के संयम के लिए भक्त को यम-नियमादि का स्वतन्त्र अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। वे भक्त के पास भक्ति के प्रभाव से ही आनुषङ्गिक भाव से आजाते हैं।

अनिष्ठुरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दम, सरलता, ध्यान, प्रसन्नता, माधुर्य (सरसता) एवं संतोष—ये दशों 'यम' कहलाते हैं (वह्नि पुराण)। मनुसंहिता में अहिंसा, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य्य, अकलङ्कता एवं अस्तेय (चौर्यहीनता) ये पाँच ही 'यम, माने गये हैं। गरुड़ पुराण में—ब्रह्मचर्य्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, दम्भहीनता, अहिंसा, अस्तेय, सरसता एवं दम—आदि अनेक 'यम' माने गये हैं।

वेदान्तसार के मत में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, एवं ईश्वर-प्रणिधान, इन पाँचों को ,नियम' कहते हैं और तन्त्रसार मतानुसार—तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजा, सिद्धान्त-श्रवण, लज्जा, मति, जप एवं होम—ये दश 'नियम' माने गये हैं।

यम एवं नियम की उपर्युक्त तालिका को देखने से यह सहज में ही जाना जा सकता है कि यम-नियम के समस्त लक्षण भक्तिमार्ग के साधक में स्वतः ही स्फुरित होते हैं। अतः इनके लिये भक्तिमार्ग के साधक को कोई भी स्वतन्त्र अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसका प्रमाण उद्धृत करते हैं—

तथाहि भक्तिरसामृतसिंधौ (१—२—११८) स्कन्दपुराण वचनम्

एते न ह्यद्भुता व्याध तवाहिंसादयो गुणाः ।
हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः ॥६५॥

श्रीनारद जी ने अपने शिष्य एक व्याध को कहा है—"हे व्याध ! तुम्हारे में जो ये अहिंसादि गुण आगये हैं, यह कुछ भी आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि जो हरिभक्ति में प्रवृत्त होते हैं, वे दूसरे को दुख नहीं देते--दुख देने की इच्छामात्र भी नहीं करते ॥६५॥

चै० च० चु० टीका:—कूर्म पुराण में एक आख्यान है। वह इस प्रकार है कि एक व्याध था, जिसके लिये पशुओं का मारना ही जीविका-निर्वाह का एकमात्र उपाय था। वह पशुओं को मार डालने में जरा भी नहीं हिचकिचाता था। श्रीनारद जी की कृपा से वह भक्तिमार्ग के साधन में प्रवृत्त होगया था। तब उसकी हिंसादि हीन-प्रवृत्ति सम्यक्‌रूप से नष्ट होगई। यहां तक कि मार्ग में चलते समय पिपीलिका के ऊपर पांव न पड़ जाये—इसी भय से उसे मार्ग चलना भी कठिन हो गया था। उसकी इस अवस्था को देखकर श्रीनारद जी ने उक्त श्लोक कहा है-(परिच्छेद २४ में १५२—२०० पयार तक विस्तृत आख्यान द्रष्टव्य है) सांराश यह है कि भक्तिमार्ग के भजन-प्रभाव से अहिंसा, यम, नियमादि तो अपने आप भक्त में उदित हो आते हैं। अतः भक्त के लिये उन योगमार्ग के साधनों का स्वतन्त्र रूप में अनुष्ठान की आवश्यकता ही नहीं रहती।

विधि-भक्ति-साधनेर कैल विवरण। 'रागानुगा'-भक्तिर लक्षण शुन सनातन ॥८४॥
रागात्मिकाभक्ति मुख्या ब्रजवासिजने। तार अनुगत भक्तिर 'रागानुगा' नामे ॥८५॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—'सनातन ! विधिसाधन-भक्ति के लक्षण एवं साधनों का विवरण मैंने तुम्हें सुनाया है। अब रागानुराग-साधन-भक्ति के लक्षण सुनो। रागात्मिका-भक्ति (अर्थात् राग ही जिस भक्ति की आत्मा है। जो राग से ही गठित हैं एवं राग ही जिसका प्रवर्त्तक है, वह भक्ति) मुख्या है—अर्थात् सर्व भक्तियों में ही प्रधान है। वह केवल ब्रजवासीजनों अर्थात् नित्य-सिद्ध ब्रजपरिकरों में ही रहती है। उन ब्रजवासियों की भक्ति के आनुगत्य में जिस भक्ति का आचरण किया जाता है, उसे 'रागानुगा-भक्ति' कहते हैं ॥८४—८५॥

तथाहि तत्रैव (१—२—१३१)

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥६६॥

अभीष्ट वस्तु में स्वाभाविकी जो एक प्रेममयी तृष्णा है, उस के फल स्वरूप इष्ट-वस्तु में एक परमाविष्टता हुआ करती है। जिस प्रेममयी तृष्णा से वह परमाविष्टता उत्पन्न होती है-उसी प्रेममयी तृष्णा का नाम है—राग । रागमयी भक्ति का नाम है रागात्मिका-भक्ति ॥६६॥

इष्टे गाढ़तृष्णा 'राग'—एइ स्वरूप-लक्षण । इष्टे आविष्टता—एइ तटस्थ-लक्षण ॥८६॥
रागमयी भक्तिर हय 'रागात्मिका' नाम । ताहा शुनि लुब्ध हय कोन भाग्यवान् ॥८७॥
लोभे ब्रजवासिभावे करे अनुगति । शास्त्रयुक्ति नाहि माने-रागानुगार प्रकृति ॥८८॥

'इष्टवस्तु में बलवती तृष्णा होना, यह राग का स्वरूप-लक्षण है। और इष्टवस्तु में परमाविष्टता होना', यह राग का तटस्थ-लक्षण हैं । इस प्रकार के राग से युक्त जो भक्ति है, उसका नाम रागात्मिका-भक्ति है। (लीला ग्रन्थों में अथवा अनुरागी भक्तों के मुख से) रागात्मिका-भक्ति (के अपूर्व-माधुर्य) की बात सुनकर कोई ही भाग्यवान् उसकी प्राप्ति के लिये लालायित होता है। उस भक्ति के लिये लुब्ध होकर वह भाग्यवान् मनुष्य ब्रज-वासियों (नित्य सिद्ध परिकरों) की अनुगति स्वीकार करता है । उस भक्ति अथवा सेवा की लोभोत्पत्ति के समय रागानुगा-भक्ति का साधक फिर शास्त्रयुक्ति की अपेक्षा नहीं रखता है। अर्थात् वह शास्त्रों के निषेध एवं युक्ति के निषेध की कुछ परवाह नहीं करता ॥८६—८८॥

चौ० च० चु० *टीका*:—वैधी-भक्ति एवं रागानुगा-भक्ति का पार्थक्य भी यही है कि शास्त्र के शासन का भय ही वैधी-भक्ति का प्रवर्त्तक है और दूसरी ओर श्रीकृष्ण-सेवा का लोभ ही रागानुगा-भक्ति का प्रवर्त्तक है। किन्तु यह स्मरण रहे सेवा की, लोभ-उत्पत्ति के समय शास्त्र और युक्ति की अपेक्षा नहीं रहती, यह सत्य है, किन्तु लोभनीय वस्तु की प्राप्ति में शास्त्र युक्ति की अपेक्षा रखनी ही होगी। रसगुल्ला खाने का लोभ उत्पन्न होने से रसगुल्ला मुँह में नहीं आ जाता। उसके खाने के लिये, रसगुल्ला कहां मिलता है, कैसे मिलता है, अथवा कैसे बनाया जाता है—इसके लिये किसी जानकार से पूछना होगा एवं उसके कथनानुसार चलना पड़ता है। इसी प्रकार रागमार्ग में श्रीकृष्ण सेवा का जिसे लोभ उत्पन्न हुआ है, अपने को उस सेवा के उपयोगी बनाने के लिये क्या क्या उपाय हैं, उन्हें शास्त्रादि में देखना होगा अथवा उस मार्ग के भक्तों से तदनुकूल उपदेशादि ग्रहण करना ही होगा। शास्त्र, गुरु एवं वैष्णवजनों के उपदेश बिना कोई इस पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। शास्त्र-युक्ति का न मानना ही राग-मार्ग का भजन नहीं है। अगर ऐसा मान लिया जाए, तो श्रीकृष्ण को न मानना भी रागमार्ग का भजन हो जाएगा, क्योंकि शास्त्र ही तो जीव को श्रीकृष्ण-भजन का परिचय देता है। अतः श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की सेवा-प्राप्त करने के लिये रागमार्ग-शास्त्रोक्त विधि का अनुसरण करना ही होता है।

ऊपर यह कहा गया है कि रागानुगा-भक्ति की यह प्रकृति ही है, कि वह ब्रजवासी-परिकरों के भावों की अनुगति करती है अर्थात् रागात्मिका का आनुगत्य मात्र करती है। अनुकरण नहीं करती। वास्तव में श्रीकृष्ण-दास जीव के लिये रागात्मिका-भक्ति का आनुगत्य प्राप्त करना ही सम्भव है। रागा-त्मिका को प्राप्त करना सम्भव ही नहीं है। श्रीकृष्ण के स्वरूप-शक्ति विलास श्रीनन्द-यशोदा, सुवल-मधु मङ्गल एवं श्रीराधा-ललितादि को छोड़कर और कोई रागात्मिका का आश्रय नहीं हो सकता।

एक उदाहरण द्वारा आनुगत्य एवं अनुकरण का पार्थक्य दिखाते हैं—राजा के जो समस्त अनुचर हैं, वे राजा के कार्य में सहायता करते हैं, राजा की इच्छापूर्ण करने में अनुकूलता विधान करते है। उन्हें राजा का **अनुगत** कहा जाता है। राजा उनके प्रति सन्तुष्ट रहता है एवं उन पर अनुग्रह करता रहता है। किन्तु जो राजा के राजत्व को पाने के लिये प्रयास करता है, अर्थात् जैसे राजा करता है वैसे ही करने का कोई इच्छुक हो, तो उसे राजा का अनुगत नहीं कहा जा सकता, उसे राजा का द्रोही कहा जाता है। वह राजा से दण्ड का भागी होता है। इसी प्रकार, रागात्मिका के आनुगत्य से यह अभिप्राय है कि रागात्मिका की जो समस्त सेवा है, उस समस्त सेवा को सहायता व अनुकूलता विधान करना। रागात्मिका के आश्रय जो नित्यसिद्ध ब्रजपरिकर हैं, वे जो समस्त सेवा करके श्रीकृष्ण को सुखी करते हैं उस सेवा का आयोजनादि करके उसको अनुकूलता करना। आनुगत्य से उस समस्त सेवा द्वारा आप ही श्रीकृष्ण को सुखी करने को चेष्टा का तात्पर्य नहीं है। यदि कोई ऐसी चेष्टा करता है तो वह नृप द्रोही को भाँति रागात्मिकाभक्ति के आश्रय ब्रजपरिकरों द्वारा निग्रह का ही भाजन होता है। वह उनकी कृपा का पात्र नहीं हो सकता।

जीव स्वरूपतः कृष्णदास है। कृष्ण प्रेयसी नहीं है, कृष्णसखा या कृष्ण का माता-पिता नहीं है, अतः आनुगत्यमयी सेवा ही जीव का स्वरूपानुबन्धि धर्म है। रागानुगा-भक्ति के आश्रय-रूप जो श्रीरूप-मञ्जरी, श्रीरति-मञ्जरी आदि मञ्जरीगण हैं, उनका आनुगत्य स्वीकार करके ही रागानुगा-भक्ति मार्ग के भजन से श्रीब्रजेन्द्रनन्दन को सेवा प्राप्त की जा सकती है, स्वतन्त्रभाव से कभी भी नहीं। अतः रागानुगा-भक्ति की प्रकृति (अर्थात् स्वरूप धर्म) ब्रजपरिकरों की आनुगत्यमयी सेवा ही कही गई है। जैसा कि भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है—

तथाहि तत्रैव (१—२—१३१)—

विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिका मनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥६७॥

ब्रजवासिजनों में जो सुस्पष्ट भाव से प्रकाशित होती है, उस रागात्मिका की अनुगता भक्ति को 'रागानुगा' कहते हैं ॥६७॥

तथाहि तत्रैव (१—२—१४८)—

तत्तादभावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिञ्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम् ॥६८॥

ब्रजपरिकरों के दास्य-सख्यादि भावों के माधुर्य की बात सुनते ही उस भाव माधुर्य के प्रति बुद्धि इतनी उन्मुखी होती हैं कि वह फिर शास्त्र व युक्ति की अपेक्षा नहीं रखती। इस प्रकार होना—लोभ उत्पत्ति का लक्षण है—(अर्थात् यह लोभ का धर्म है) ॥६८॥

'बाह्य' 'अन्तर' इहार दुइ त साधन। बाह्य-साधक देहे करे श्रवण-कीर्त्तन ॥८९॥
मने—निज सिद्धदेह करिया भावन। रात्रि दिने करे ब्रजे कृष्णेर सेवन ॥९०॥

(रागानुगा-भक्ति के लक्षण कहकर अब श्रीमहाप्रभु उस की साधन-प्रणाली कहते हैं।) रागानुगा-भक्ति के 'वाह्य' एवं 'अन्तर'—ये दो प्रकार के साधन-अंश हैं। बाह्य' यह है कि साधक देह से अर्थात् यथावस्थित देह से श्रवण-कीर्त्तनादि नवविधा-भक्ति अथवा चौंसठ-अङ्ग साधन-भक्ति का अनुष्ठान करना

चाहिये । 'अन्तर' इस प्रकार है कि मन में अपने सिद्ध-देह की भावना करते हुए रात-दिन निरन्तर ब्रज में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की (मानसी) सेवा करे ॥६०॥

चै० च० चु० *टीका*:—रागानुगा भक्ति के साधक को चौंसठ अङ्ग साधन-भक्ति में से उन-उन अङ्गों को ग्रहण करना होगा जो स्वाभीष्ट-भावमय हों, स्वाभीष्ट भावसम्बन्धी एवं स्वाभीष्ट भावानुकूल हों तथा स्वाभावाविरुद्ध अर्थात् अपने भाव की पुष्टि में उपकारक हों। किन्तु अहंग्रहोपासन, न्यास, मुद्रा, द्वारकाध्यान, महिषीध्यान आदि जो अर्चनाङ्गभक्ति के साधन हैं और स्वाभीष्ट के विरुद्ध हैं, उन्हें रागानुगा के साधक को त्याग देना चाहिये ।

इन बाह्यिक साधनों के अनुष्ठान में केवल यथावस्थित देह से आचरण कर देने का अभिप्राय नहीं हैं। इन साधनों में भी मन का योग आवश्यक है, नहीं तो अनासङ्ग भजन होकर श्रवण-कीर्त्तनादि अपना मुख्य फल नहीं देते ।

सिद्धदेह:—श्रीगुरुदेव सिद्ध-प्रणाली में से वर्ण वयस-वेश-भूषा-सेवा इत्यादि का उल्लेख करके शिष्य साधक को जो एक स्वरूप बताया करते हैं, वह साधक का **सिद्ध-देह** कहलाता है। साधक सिद्धि प्राप्त करने पर उसी सिद्ध-देह से भगवान् की सेवा किया करता है। उस देह को **अन्तश्चिन्तित देह** भी कहते हैं।

तथाहि तत्रैव (१—२—१५१)—

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि ।
तद्भाव—लिप्सुना कार्या ब्रजलोकानुसारतः ॥६९॥

साधकरूप (यथावस्थित देह) से एवं सिद्धरूप (सिद्ध-देह) से निजाभीष्ट श्रीकृष्ण के प्रिय ब्रज परिकरवर्ग का भाव-लिप्सु होकर उनके अनुसरणपूर्वक सेवा में प्रवृत्त होना चाहिये ॥६९॥

निजाभीष्ट—कृष्णप्रेष्ठ—पाछे त लागिया ।
निरन्तर सेबा करे अन्तर्मना हञा ॥६१॥

ब्रज में दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—इन चारों भावों के परिकर हैं —) इन में से साधक को अपने भाव के अनुकूल श्रीकृष्ण प्रिय-परिकर के अनुगत होकर, मन को बाहर के विषयों से हटाकर एवं अन्तर्मुख होकर निरन्तर श्रीकृष्ण सेवा करनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि साधक यदि दास्य-भाव का साधक है तो उसे दास्यभाव के ब्रजपरिकर के अनुगत होकर सेवा करनी चाहिये और इसी प्रकार यदि कोई सख्य-भाव का साधक है तो उसे सख्यभाव के ब्रजपरिकर के आनुगत्य में सेवा करनी चाहिए इत्यादि ॥६१॥

तथाहि तत्रैव (१—२—१५०)—

कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम् ।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं ब्रजे सदा ॥६०॥

रागानुगा-मार्ग के साधक को श्रीकृष्ण का स्मरण करते हुए एवं उनके प्रियतम परिकरवर्ग में जो अपना अभीष्ट परिकर है, उसका स्मरण करते हुए अपने भावानुकूल लीला-कथा में अनुरक्त होकर (यथावस्थित देह से अथवा अन्तश्चिन्तित देह से) सर्वदा ब्रज में वास करना चाहिये ॥७७॥

दास सखा पित्रादि प्रेयसीरगण ।
रागमार्गें एइ सब भावेर गणन ॥६२॥

रागमार्ग में दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—ये चार भाव हैं । (रक्तकादि दासगणों की दास्य भाव की, सुबलादि सखाओं की सख्यभाव की श्रीनन्द-यशोदादि पिता-माता की वात्सल्य भाव की एवं श्रीराधा ललितादि कृष्ण-प्रेयसीवर्ग की मधुरभाव की रागात्मिका सेवा है) ॥६२॥

तथाहि (भाः ३—२५— ३८)—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो देवमिष्टम् ॥७१॥

श्रीकपिलदेव जी ने कहा है—हे जननि । मैं जिन का पति, पुत्र, आत्मा, सखा, सुहृत्, गुरु एवं अभीष्ट-देव हूँ, उन मेरे नित्यधामवासी (श्रीवृन्दावन धामवासी) एकान्त भक्तगणों का सेवा-सुखभोग कभी नष्ट नहीं होता (किन्तु स्वर्ग में जाने वालों का पुण्य समाप्त होजाने पर उनका सुखभोग नाश हो जाता है) और मेरा कालचक्र भी उनको ग्रास नहीं कर सकता ॥७१॥ (नित्य-भगवद्धाम में भक्तगण भगवान् की पति-पुत्र-प्रभु-सखादि भावों से सेवा विधान करते हैं—उक्त श्लोक इस बात का प्रमाण है) ।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—२—१६२)—

पतिः-पुत्र-सुहृद्-भ्रातृ-पितृवन्मित्र वद्धरिम् ।
ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः ॥७२॥

जो उद्यम् सहित श्रीकृष्ण की, पति-पुत्र-सुहृत्-भ्राता-पिता व मित्र की भांति सदा चिन्ता करते हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥७२॥ (यह श्लोक भी श्रीकृष्ण की चारों भावों से सेवा का प्रमाण है)

एइमते करे येवा रागानुगाभक्ति । कृष्णेर चरणे तार उपजय प्रीति ॥९३॥
प्रीत्यङ्कुरेर—'रति', 'भाव',—हय दुइ नाम । याहा हैते वश हय श्रीभगवान् ॥९४॥
याहा हैते पाइ कृष्णेर प्रेम सेवन । एइ त कहिल 'अभिधेय'-विवरण ॥९५॥
अभिधेय साधनभक्ति शुने येइ जन । अचिराते पाव सेइ कृष्णप्रेम धन ॥९६॥
श्रीरूप रघुनाथ-पदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥९७॥

इस प्रकार जो रागानुगा-भक्ति का अनुष्ठान करता है, उसे श्रीकृष्ण के चरणों में प्रीति उत्पन्न होती है । प्रीति के अङ्कुर के रति एवं भाव—ये दो नाम हैं, जिससे श्रीभगवान् वशीभूत हो जाते हैं । भाव से श्रीकृष्ण की प्रीति पूर्वक सेवा प्राप्त होती है । इस 'अभिधेय-तत्व' का विवरण मैंने सनातन ! तुम्हें सुनाया है ।" ग्रन्थकार कवि राजगोस्वामी कहते हैं, "इस अभिधेय रूप साधन भक्ति के विवरण को जो व्यक्ति सुनेगा, वह श्रीकृष्ण-प्रेतधन को अति ही शीघ्र प्राप्त करेगा । श्रीरूपगोस्वामीपाद तथा श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीपाद के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥९०—९७॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां
अभिधेय—भक्तितत्व विचार नाम
द्वाविंश परिच्छेदः ॥२२॥

जयगौर

मध्य-लीला

त्रयोविंश परिच्छेद

चिराददत्तं निजगुप्तवित्तं स्वप्रेमनामामृतमत्युदारः।
आपामरं यो विततार गौरः कृष्णो जनेभ्यस्तमहं प्रपद्ये ॥१॥

अनेक काल तक जो वितरित नहीं किया गया था, उस स्वीय-गोपनीय सम्पत्ति-तुल्य स्वप्रेम-नामामृत को जिन्होंने आपामर जनसमूह में वितरण किया, मैं उन परम करुण श्रीगौरकृष्ण की शरणापन्न होता हूँ ॥१॥

(मध्यलीला के इस परिच्छेद में प्रयोजन-तत्त्व तथा प्रेमाभक्ति का वर्णन किया गया है।)

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौर-भक्तवृन्द ॥१॥
एबे शुन भक्तिफल, प्रेम 'प्रयोजन'। याहार श्रवणे हय भक्तिरस ज्ञान ॥२॥
कृष्णे रति गाढ़ हैले, 'प्रेम' अभिधान। कृष्णभक्तिरसेर एइ, 'स्थायिभाव'-नाम ॥३॥

श्रीगौरचन्द्रदेव की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्दप्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु की जय हो, श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो। श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"सनातन! अब भक्ति का फल जो प्रेम है, जिसे 'प्रयोजन-तत्त्व' भी कहते हैं, उसे सुनो। उसके सुनने से भक्तिरस का ज्ञान होता है। श्रीकृष्ण में जो रति है, वह गाढ़ होने पर प्रेम नाम से विख्यात होती है। उस प्रेम को भक्तिरस का 'स्थायी-भाव' कहते हैं, (क्योंकि प्रेम भक्तिरस में प्रधानरूप से नित्य निरवच्छिन्नभाव से वर्त्तमान रहता है।) ॥१—३॥ निम्न श्लोक में रति के लक्षण कहते हैं—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—३—१)—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्य-कृदसौ भाव उच्यते ॥२॥

शुद्ध-सत्त्व विशेष स्वरूपा, प्रेमरूपसूर्य की किरण सदृश एवं रुचि द्वारा चित्त की स्निग्धता सम्पादन करने वाली भक्ति विशेष का नाम 'भाव' है ॥२॥

चै० च० चु० टीकाः— ह्लादिनी सन्धिनी-संविदात्मिका चिच्छक्ति की वृत्ति-विशेष का नाम 'शुद्ध-सत्त्व' है। शुद्ध-सत्त्व में कभी ह्लादिनी की, कभी सन्धिनी की एवं कभी संवित् की प्रधानता दीखती है। ह्लादिनी प्रधान-शुद्धसत्त्व को 'गुह्य विद्या' या 'भाव' कहते हैं। वही भाव क्रमशः प्रेमभक्तिरूप में परिणत हुआ करता है। भाव—शुद्धसत्त्व-विशेषात्मक है, यह भाव का स्वरूप-लक्षण है। भाव—प्रेमरूप-सूर्य की किरण के सदृश है। सूर्योदय से पहले जैसे किरण दिखाई देती है, उसी प्रकार प्रेम से पहले भाव आविर्भूत होता है। किरण से जैसे अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार प्रेमाविर्भाव से पूर्व भाव के उदय

होने से चित्त की मलिनता दूर हो जाती है। प्रेम और भाव, सूर्य एवं किरण की भांति स्वरूपतः एक वस्तु हैं।

भाव का तटस्थ-लक्षण यह है कि वह चित्त को स्निग्ध कर देता है। अर्थात् जब भाव या रति उदित होती है, तब चित्त कोमल हो जाता है। वह स्निग्धता यह है कि भाव के उदित होने पर श्रीकृष्ण-सेवा की रुचि अर्थात् उनकी सेवा करने की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो आती है।

एइ दुइ भावेर स्वरूप-तटस्थ-लक्षण।
प्रेमेर लक्षण एबे शुन सनातन ॥४॥

ऊपर के पयारों में भाव के स्वरूप-लक्षण तथा तटस्थ-लक्षण कहे गये हैं। अब सनातन! प्रेम के लक्षण सुनो ॥४॥

तथाहि तत्रैव (१—४—१)—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥३॥

भाव अत्यन्त गाढ़ता को प्राप्त होकर जब सम्यक्‌रूप से चित्त की आर्द्रता सम्पादन करे एवं श्रीकृष्ण में अतिशय ममत्वबुद्धि उत्पन्न करदे, तभी उसे 'प्रेम' कहते हैं ॥३॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—४—२) हरिभक्तिविलासे (११—३८२) नारदपञ्चरात्रवचनम्—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्म-प्रह्लादोद्धवनारदैः ॥४॥

भीष्म, प्रह्लाद, नारद एवं उद्धव जी श्रीकृष्ण में ममता को ही 'प्रेम-भक्ति' कहते हैं। जो ममता अन्य विषय में ममत्व शून्य है एवं जो ममता प्रेमरस से प्लावित है। (उसी ममता का नाम ही 'प्रेम-भक्ति' है)

अगले पयारों में साधक की प्रथमावस्था से लेकर प्रेम पर्यन्त समस्त अवस्थाओं के विकास-क्रम का वर्णन करते हैं:—

कोनो भाग्ये कोनो जीवेर श्रद्धा यदि हय। तबे सेइ जीव साधुसङ्ग ये करय ॥५॥
साधुसङ्ग हैते हय श्रवण-कीर्त्तन। साधनभक्त्ये हय सर्वानर्थनिवर्त्तन ॥६॥
अनर्थनिवृत्ति हैते भक्त्ये निष्ठा हय। निष्ठा हैते श्रवणाद्ये रुचि उपजय ॥७॥
रुचि हैते भक्त्ये हय आसक्ति प्रचुर। आसक्ति हैते चित्ते जन्मे कृष्णे प्रीत्यङ्कुर ॥८॥
सेइ भाव गाढ़ हैले धरे 'प्रेम' नाम। सेइ प्रेम प्रयोजन—सर्वानन्दधाम ॥९॥

किसी भाग्य से अर्थात् महत्-सङ्गादिजात संस्कार-विशेष से किसी जीव में जब श्रद्धा उत्पन्न होती है, तब वह जीव साधु-सङ्ग करने लगता है। साधुसङ्ग में—साधुमुख से भगवत्‌लीला-कथादि सुनता है एवं समय समय पर भगवन्नाम-रूप-गुणों का कीर्त्तन करने लगता है, श्रवण-कीर्त्तनादि साधन-भक्ति का आचरण करते करते समस्त 'अनर्थों की निवृत्ति' होती है। अनर्थ-निवृत्ति से भक्ति में 'निष्ठा' उत्पन्न होती है। निष्ठा से श्रवण-कीर्त्तनादि में 'रुचि' उत्पन्न होती है। रुचि से भक्ति में गाढ़ 'आसक्ति' होती है और आसक्ति से चित्त में, श्रीकृष्ण की प्रीति का अङ्कुर अर्थात् 'भाव' पैदा होता है और वही भाव जब

गाढ़ता को प्राप्त करता है, तब उसका नाम 'प्रेम' होता है। वही प्रेम ही 'प्रयोजन-तत्त्व' है, जो समस्त आनन्दों का निकेतन है ॥५—६॥

चै० च० चु० टीका:—ऊपर के पयारो में कहा गया है कि अनर्थ-निवृत्ति होने के पश्चात् रुचि, आसक्ति तथा रति का उदय होता है। रति है ह्लादिनी-प्रधान शुद्ध-सत्त्व की वृत्ति-विशेष और अनर्थ हैं माया की क्रिया। अतः माया की निवृत्ति हो जाने के बाद ही रति का उदय होता है। यह जान लेना चाहिये कि, माया के गुणों के सङ्ग रहित होने पर ही भक्ति का उदय होता है।

माया के तीन गुण हैं—सत्त्व, रज एवं तम। जब रज व तम प्रधान रहते हैं, तब माया को **'अविद्या'** कहते हैं और जब सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है, (रज व तम के तिरोहित हो जाने पर) तब माया को **'विद्या'** कहते हैं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि विद्या की भी निवृत्ति हो जाने पर (माया के समस्तगुणों के सङ्गरहित हो जाने पर) तभी भक्ति का उदय होता है। मन एवं चित्त जब शुद्धसत्त्व के साथ तादात्म्य प्राप्त करते हैं व अप्राकृततत्त्व लाभ करते हैं तभी भक्ति की योग्यता अथवा भगवान् को जानने की योग्यता प्राप्त होती है। प्राकृति-इन्द्रियों द्वारा तो अप्राकृत भगवान् को जाना जा सकता ही नहीं। अतः अविद्या तथा विद्या की निवृत्ति के बाद ही जब चित्त शुद्ध सत्त्व से तादात्मता प्राप्त करता है, तभी भक्ति की योग्यता प्राप्त होती है।

सारांश यह है कि साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते करते पहले रजस्तमो मयी अविद्या नाश होती है, तब चित्त केवल सत्त्वमयी विद्या द्वारा अधिकृत रहता है उस अवस्था में चित् शक्ति का विकासरूप शुद्धसत्त्व प्रतिफलित होकर क्रमशः विद्या को भी तिरोहित कर देता है। तब चित्त माया के सम्यक् रूप से तिरोहित होजाने पर शुद्ध सत्त्व के अविर्भाव की योग्यता प्राप्त करता है शुद्धसत्त्व के स्पर्श से जब चित्त शुद्धसत्त्व के साथ तादात्म्यता प्राप्त करता है, तब उस चित्त में शुद्धसत्त्व अविर्भूत होकर रतिरूप में परिणत होता है।

साधन-भक्ति (श्रवण-कीर्त्तनादि) का अनुष्ठान करते समस्त अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है। भुक्ति-मुक्ति-स्पृहादि दुर्वासनाओं का नाम अनर्थ है। माधुर्यकादम्बिनी में चार प्रकार के अनर्थ कहे गये हैं १-**'दुष्कृत जात'**—दुरभिनिवेश, द्वेष, राग आदि को दुष्कृतजात-अनर्थ कहते हैं। २-**सुकृतजात** स्वर्गलोक के सुख भोगों के अभिनिवेश आदि को सुकृतजात-अनर्थ कहा गया है। ३-**अपराधजात**—नामा-पराध, सेवापराधादि अपराध-जात अनर्थ हैं और ४-**भक्तिजात**—अनर्थ वे हैं जो भक्ति की सहायता से धनादिलाभ, पूजा, प्रतिष्ठा पाने की कामनाएं हैं। वे भक्ति से ही उत्पन्न होकर भक्ति को ही नाश कर देती हैं। इन चारों प्रकार के अनर्थों की निवृत्ति पांच प्रकार की कही गई है, जिसका उल्लेख भूमिका—(श्रीमद्वैष्णव सि० र० सं०) पृष्ठ १८८ पर द्रष्टव्य है।

श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजन क्रिया, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, रति तथा प्रेम—इस प्रकार साधक में भक्ति का विकाश-क्रम वर्णन किया गया है, जैसे कि निम्नलिखित श्लोक से प्रमाणित होता है—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—४—११)

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥५॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेमणः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥६॥

आदि में श्रद्धा (श्रद्धा से पूर्व महत्कृपारूप संस्कार), फिर साधुसङ्ग, फिर भजन-क्रिया, फिर अनर्थ-निवृत्ति, फिर भजनाङ्ग में निष्ठा, फिर रुचि, फिर आसक्ति, फिर रति या भाव एवं उसके पश्चात् प्रेम का उदय होता है। साधकों में प्रेमाविर्भाव का यह ही क्रम है ॥५—६॥

आदि में किन्तु श्रद्धा कैसी होती है ?—उसका मूल साधु-सङ्ग एवं उन महत्-पुरुषों की कृपा से जो एक संस्कार विशेष उदय होता है—उसका परिचय निम्नलिखित श्लोक द्वारा देते हैं—

तथाहि (भा: ३-२५-२४)—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥७॥

श्रीभगवान् ने कहा है—महत्पुरुषों के साथ घनिष्ठता से सङ्ग करने से (निकट-निवास एवं कथोपकथन होने से) मेरी महिमा को प्रकाशित करने वाली मेरी कथाएं उदित होती हैं, जो हृदय और कानों को तृप्त करती हैं। प्रीतिपूर्वक उन कथाओं का आस्वादन करने से अपवर्ग-वर्त्मस्वरूप (जिनको प्राप्ति के रास्ते में मुक्ति पड़ी मिलती है) मुझमें श्रद्धा, रति तथा प्रेम-भक्ति की क्रमशः उत्पत्ति होती है ॥७॥ (विशेष टीका आदि-लीला पृष्ठ २२ पर द्रष्टव्य है) साधु-सङ्ग एवं महत् कृपा से श्रद्धा की उत्पत्ति होती है, यही बात ऊपर के श्लोक में कही गई है।

याहार हृदये एइ भावाङ्कुर हय ।
ताहाते एतेक चिह्न सर्वशास्त्रे कय ॥१०॥

जिसके हृदय में भाव का या रति का अङ्कुर उदय होता है। सर्वशास्त्रों में उसके निम्नलिखित लक्षण वर्णन किये गये हैं :—॥१०॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-३-११)

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः ॥८॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले ।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ॥९॥

जिनके चित्त में प्रेम का अङ्कुर मात्र उत्पन्न होता है, उन सब महापुरुषों में क्षान्ति (क्षोभ-शून्यता), अव्यर्थकालता (किसी समय का भी भगवत्-विषय को छोड़कर व्यर्थ प्रयोग न करना), विराग (मोहरहितता), मानशून्यता, आशाबन्ध (सदैव भगवत्-कृपा प्राप्त की आशायुक्त होना), समुत्कण्ठा सदा नाम-गान में रुचि, भगवद्गुण कथन करने में आसक्ति, एवं भगवत्-लीलास्थल (श्रीवृन्दावनादि) में प्रीति–इत्यादि ये सब लक्षण होते हैं ॥८–९॥ अगले पयारों में इन लक्षणों का तात्पर्य वर्णन करते हैं :—

एइ नव प्रीत्यङ्कुर यार चित्ते हय ।
प्राकृत-क्षोभे तार क्षोभ नाहि हय ॥११॥

इस प्रीति का नवीन अङ्कुर अर्थात् भाव जिसके हृदय में उत्पन्न होता है, उसका चित्त प्राकृत क्षोभों से (अर्थात् पिता-माता, स्त्री-पुत्रादि के सुख-दुख से अथवा मृत्यु आदि से या सांसारिक किसी भी आपदा-विपद से दुखी या) विषणता को प्राप्त नहीं होता (यह क्षान्ति का लक्षण है) ॥११॥ जैसे कि महाराज परीक्षित जी ने कहा है :—

तथाहि (भाः १-१९-१५)—

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥१०॥

"हे विप्रगण ! मैं आपकी शरणागत हूँ एवं मैंने श्रीभगवान् को चित्त में धारण कर लिया है, आप मुझे अङ्गीकार कीजिये । श्रीगङ्गाजी भी मुझे अङ्गीकार करें । द्विज-प्रेरित कोई माया हो या तक्षक ही हो—वह मुझे भले दंशन करे (मुझे उसकी कुछ चिन्ता नहीं है) आप श्रीविष्णु-कथा का गान कीजिये ।

कृष्णेर सम्बन्ध—बिना काल नाहि याय ॥१२॥

जिसके चित्त में श्रीकृष्ण-प्रीति का अङ्कुर उत्पन्न हुआ है, वह हर समय श्रीकृष्ण-सम्बन्धीय कथा-वार्त्ता, सेवा-कार्य ही करता रहता है । उसका श्रीकृष्ण सम्बन्ध-रहित काल नहीं जाता है । (यह अव्यर्थ-कालता का लक्षण है । जैसा कि भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है)—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-३-१२) हरिभक्तिसुधोदयवचनम् (१२-३७)

वाग्भिस्तवन्तो मनसा स्मरन्तस्तन्वा नमस्तोऽप्यनिशं न तृप्ताः ।
भक्ताः श्रवन्नेत्रजलाः समग्रमायुर्हरेरेव समर्पयन्ति ॥११॥

निरन्तर वाक्य द्वारा स्तव, मन के द्वारा स्मरण, एवं शरीर के द्वारा प्रणाम करते हुए परितृप्त न होकर साधुगण नेत्र से जल प्रवाह करते हुए श्रीहरि के ही उद्देश्य में (सेवा में) अपना समस्त परमायुष् काल (जीवन) अर्पण कर देते हैं ॥११॥

[भक्तगण अपने समस्त जीवन काल तक अपना प्रति मुहूर्त भजनाङ्ग-अनुष्ठान में ही नियोजित किये रखते हैं—इस श्लोक का यही तात्पर्य है ।]

भुक्ति सिद्धि इन्द्रियार्थ तारे नाहि भाय ॥१३॥

जिसके चित्त में प्रीति का अङ्कुर जन्मा है, उसे भोग (इस लोक के एवं परलोक के), अणिमा-आदि अष्टसिद्धियां (पृष्ठ ५२९ द्रष्टव्य) तथा इन्द्रियों के विषय-भोग (अच्छा खाना, अच्छा पहिरना, स्त्री-पुत्रादि) यह सब अच्छे नहीं लगते ॥१३॥ (यहाँ विराग या विरक्ति का लक्षण कहा गया है ।)

तथाहि (भाः ५-१४-४३)—

यो दुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवैव मलवदुत्तमः श्लोकलालसः ॥१२॥

श्रीशुकदेवजी ने महाराज परीक्षितजी से कहा है—"भरत महाराज ऐसे विरक्त थे कि उन्होंने उत्तम-श्लोक श्रीकृष्ण के लिये लालायित होकर जीवन-काल से ही दुस्त्यज्य (न छोड़े जाने वाले) एवं मनोज्ञ (मनोहर-प्यारे) स्त्री-पुत्रों को, हृदयजनों को एवं राज्य को मल-वत् (विष्ठा के समान जानकर) त्याग कर दिया था । (भक्तों में विराग का यह आदर्श है) ॥१२॥

सर्वोत्तम आपनाके 'हीन' करि माने ॥१४॥

(इस पयार में 'मान-शून्यता' का तात्पर्य कहते हैं :—) जिसके चित्त में भक्ति का अङ्कुर उगमता है, वह सर्वश्रेष्ठ होकर भी अपने को सबसे अधम व दीन-हीन मानता है ॥१४॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—३—१५) पद्यवचनम्—

हरौ रतिं वहन्नेषो नरेन्द्राणां शिखामणिः ।
भिक्षामटन्नरिपुरे श्वपाकमपि बन्दते ॥१३॥

समस्त राजाओं के मुकुटमणिस्वरूप महाराज भरत श्रीभगवान् में ही केवलमात्र अनुरक्त थे, और वे भिक्षा के लिये शत्रुओं के घर भी जाते और श्वपचादि नीच जाति के लोगों को भी प्रणाम करते थे ॥१३॥ (मान-शून्यता का प्रमाण इस श्लोक में दिया गया है ।)

'कृष्ण कृपा करिवेन' दृढ़ करि जाने ॥१५॥

(अब आशाबन्ध का तात्पर्य कहते हैः—) जिसके चित्त में प्रेमाङ्कुर उत्पन्न हुआ है, वह "श्रीकृष्ण मुझ पर कृपा करेंगे ही करेंगे"—यह बात दृढ़ करके जानता है । उसे श्रीकृष्ण कृपा-प्राप्ति का दृढ़ विश्वास होता है ॥ १५ ॥ जैसा कि कहा है—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१–३–१६) श्रीसनातनगोस्वामिवाक्यम्—

न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि वा योगोऽथ वा वैष्णवो
ज्ञानं वा शुभकर्म वा कियदहो सज्जातिरप्यस्ति वा ।
हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाप्यच्छेद्य-मूला सती
हे गोपीजनवल्लभ व्यथयते हा हा मदाशैव माम् ॥१४॥

"मुझमें प्रेम नहीं है; प्रेम का कारण जो श्रवण-कीर्त्तनादि साधन-भक्ति है, वह भी मुझमें नहीं है, ध्यान-धारणादि वैष्णव-योग का भी कोई अनुष्ठान मुझमें नहीं है, एवं ज्ञान और किसी भी शुभकर्म का अनुष्ठान मैं नहीं करता हूँ, और अधिक क्या बताऊँ, साधनों का मूल जो अच्छी जाति या श्रेष्ठ कुलादि हैं, वह भी मेरे नहीं हैं । मेरी स्व-सुखेच्छा जिसका मूल अच्छेद्य है अर्थात् जिसकी जड़ बहुत पक्की है, वह मुझे व्यथित कर रही है । किन्तु, हे गोपीजनवल्लभ ! आप हीनार्थाधिक-साधक हो । अतः मेरा दृढ़-विश्वास है कि आप कृपा कर उसे दूर करोगे ही, अर्थात् स्व-सुखेच्छा-वासना को दूर कर मेरे हृदय में कृष्ण-सुखेच्छा-वासना को उदय कर दोगे" ॥१४॥

चै० च० चु० टीकाः—उक्त श्लोक में अच्छे जाति-कुलादि को साधनों का मूल कहा गया है । वस्तुतः जाति-कुलादि का सम्बन्ध कृष्ण-भजन से कुछ भी नहीं है । तथापि देखा जाता है कि श्रेष्ठ जाति कुल में उत्पन्न व्यक्ति के संस्कार श्रेष्ठ होते हैं एवं उसमें धार्मिकता होने की अधिक सम्भावना होती है । और नीच-हीन कुल में उत्पन्न व्यक्ति के संस्कार स्वभावतः नीच एवं अधार्मिक होते हैं । अतः श्रेष्ठ जाति-कुलादि को यहाँ साधन का मूल कह दिया गया है ।

यहाँ श्रीभगवान् को हीनार्थाधिक-साधक कहा गया है । तात्पर्य यह है कि निकृष्ट (देहेन्द्रिय) सुख की जो वासना है, श्रीभगवान् उसके अधिक साधक हैं । अर्थात् स्व-सुखाभिलाषा को नष्ट करके कृष्ण-सुख-वासना के वे श्रेष्ठ प्रतिपादक हैं—उसे उत्पन्न करने वाले हैं । सारांश यह हैं कि श्रीभगवान् ही जीव की स्वसुख-वासना जो अच्छेद्य-मूला है, उसको नष्ट करके कृष्ण-सुखेच्छा के उत्पन्न करने वाले हैं । इस प्रकार वे स्वसुख-वासना की व्यथा से जीव को मुक्ति देने वाले हैं । अतः उन्हें हीनार्थाधिक-साधक कहा गया है ।

समुत्कण्ठा हय सदा लालसा-प्रधान ॥१६॥

जिसके चित्त में प्रेम का अङ्कुर उत्पन्न होता है उसमें श्रीकृष्ण की सेवा करने की एवं श्रीकृष्ण के दर्शन की सदा तीव्र उत्कण्ठा रहती है—समस्त लालसाओं में यह लालसा उस भक्त में प्रधान रहती है ॥१६॥ जैसा कि श्रीकृष्णकर्णामृत में कहा गया है—

तथाहि श्रीकृष्णकर्णामृते (३२)—

त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि मच्चापलञ्च तव वा मम वाधिगम्यम् ।
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासी मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम् ॥१५॥

हे कृष्ण ! आपका कैशोर और मेरी चपलता—ये दोनों त्रिभुवन में विचित्र ही हैं । ये आपके और सम्भवतः मेरे जानने योग्य ही हैं, (और किसी के लिये नहीं) अब यह आप ही बतलाइए कि आपके उस वंशी-विलासी मनोहर मुखकमल को नेत्र भरकर देखने के लिये मैं क्या उपाय करूँ ? ॥१५॥ (इस श्लोक में समुत्कण्ठा को प्रमाणित किया गया है ।)

नाम-गाने सदा रुचि—लये कृष्णनाम ॥१७॥

जातरति भक्त की नाम-गान में अर्थात् श्रीभगवन्नाम-सङ्कीर्तन में सदा रुचि रहती हैं । वह उसमें आनन्द लाभ करता है । वह सदा श्रीकृष्ण नाम का कीर्त्तन किया करता है ॥१७॥ जैसा कि कहा है—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे रतिभक्तिलहर्य्याम् (१-३-१६)—

रोदनविन्दुमकरन्दस्यन्दिदृगिन्दीवराद्य गोविन्द ।
तव मधुरस्वरकण्ठी गायति नामावलीं वाला ॥१६॥

हे गोविन्द ! मधुरस्वर कण्ठवाली श्रीचन्द्रावलि आज आप के नामों का गान कर रही हैं । उसके नेत्रकमलों से अश्रुबिन्दु रूप मकरन्द झर रहा है ॥१६॥ (यहाँ नाम-गान में रुचि के लक्षण कहे गये हैं ।)

कृष्णगुणाख्याने हय सर्वदा आसक्ति ॥१८॥

जातरति-भक्त की सदा श्रीकृष्ण के गुणगान में आसक्ति रहती है । अर्थात् जैसे विषयासक्त जीव विषयों को छोड़ नहीं सकता, उसी प्रकार जातरति-भक्त श्रीकृष्ण-गुण गान करना छोड़ नहीं सकता । ऐसा किये बिना वह रह ही नहीं सकता ॥१८॥ इसका समर्थक श्लोक निम्नलिखित है :—

तथाहि श्रीकृष्णकर्णामृते (९२)—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम् ।
मधुगन्धिमृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ॥१७॥

हे विभो ! आपका वपु (विग्रह) मधुर है, सुमधुर है । उसमें भी आपका मुख अति मधुर है, और भी मधुर है । कारण कि उसमें मधुर सौगन्धि, मृदु मुस्कान जो हैं, वे अति मधुर और अधिक सुमधुर, मधुरतर एवं मधुरतम हैं ॥१४॥

(श्रीकृष्ण के इस प्रकार असमोर्द्ध माधुर्य के अनुभववशतः भक्त सदा उनका गुण-कीर्त्तन करने में आसक्त रहा करते हैं । इस श्लोक का यही तात्पर्य है ।)

कृष्ण-लीला-स्थाने करे सर्वदा वसति ॥१६॥

जातरति-भक्त श्रीकृष्ण-लीला-स्थानों पर सदा निवास करता है, अथवा सदा वहाँ वास करने की लालसा किया करता है ॥१६॥ जैसे कि एक भक्त ने कहा है—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-२-६०)—

कदाहं यमुनातीरे नामानि तव कीर्त्तयन् ।
उद्बाष्पः पुण्डरीकाक्ष रचयिष्यामि ताण्डवम् ॥१८॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! कब मैं यमुना तीर पर अश्रुपूर्णनेत्रों से आपकी नामावली का कीर्त्तन करते-करते नृत्य आरम्भ करूँगा ? ॥१८॥

कृष्ण रतिर चिन्ह एइ कैल विवरण । कृष्णप्रेमेर चिह्न एबे शुन सनातन ॥२०॥
यार चित्ते कृष्णप्रेमा करये उदय । तार वाक्य-क्रियामुद्रा विज्ञे ना बुझय ॥२१॥

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—"सनातन ! मैंने तुम्हें श्रीकृष्णरति के अथवा जातरति-भक्त के लक्षण सुनाए हैं, अब श्रीकृष्ण-प्रेम अथवा जात-प्रेम-भक्त के लक्षण कहता हूँ, उन्हें सुनो । जिसके चित्त में श्रीकृष्ण-प्रेम उदय होता है, उसके वचनों का मर्म व उद्देश्य तथा उसके कार्य-कलाप व आचरणादि का मर्म बुद्धिमान् व्यक्तिगण भी साधारणतः नहीं जान सकते ॥२०—२१॥ (जैसा कि भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है):—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ(भाः १—४—१२)—

धन्यस्यायं नवप्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि ।
अन्तर्वाणीभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा ॥१६॥

जिनके चित्त में इस नवीन प्रेम का उदय होता है, वे व्यक्ति धन्य हैं । उनकी (वाक्यों एवं क्रियाओं की) परिपाटी को शास्त्रवेत्तागण भी नहीं समझ सकते ॥१६॥ जैसा कि भागवतजी में भी कहा गया है :—

तथाहि (भाः ११—२—४०)—

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्त्या जातानुरागो द्रुतचित उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥२०॥

अपने प्रिय श्रीहरिनाम का सङ्कीर्त्तन करते-करते भक्त के हृदय में प्रेम उदय हो आता है, जिससे वह द्रवीभूत-चित्त होकर तथा मान-अपमान-शून्य होकर उन्मत्त की भाँति उच्च स्वर से कभी हँसने लगता है, कभी रोने तथा कभी पुकारने लगता है, कभी गाने और कभी नृत्य करने लगता है ॥२०॥

(इस प्रकार जात-प्रेम-भक्त की प्रेम-दशा को देखकर जनसाधारण ही नहीं, शास्त्र-वित् पण्डित लोग भी उसे पागल जानने लगते हैं, वस्तुतः उसके आचरण के मर्म को कोई भी समझ नहीं सकता ।)

प्रेम क्रमे बाढ़े, हय—स्नेह, मान, प्रणय । राग, अनुराग, भाव, महाभाव हय ॥२२॥

बीज इक्षु रस गुड़ तवे खण्ड सार । शर्करा सिता मिश्री शुद्ध मिश्री आर ॥२३॥
इहा यैछे क्रमे निर्मल, क्रमे बाढ़े स्वाद । रतिप्रेमादिके तैछे बाढ़ये आस्वाद ॥२४॥

वह प्रेम या रति क्रमशः बढ़ने पर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव तक वृद्धि को प्राप्त होती है ॥२२॥ बीज, ईख, रस, गुड़, शक्कर, बूरा, मिश्री एवं शुद्ध मिश्री—जिस प्रकार यह सब (स्वरूपतः एक वस्तु होते हुए भी) उत्तरोत्तर शुद्ध एवं अधिक स्वाद-जनक होते हैं, उसी प्रकार रति, स्नेह, मानादिक उत्तरोत्तर अधिक निर्मल एवं आस्वादनीय हैं ॥२४॥ (स्नेह-मानादि का विस्तरशः विवरण श्रीमद्वैष्णव सिं० र० सं० पृष्ठ ८७ पर द्रष्टव्य है ।)

अधिकारभेदे रति पञ्च परकार—। शान्त,दास्य,सख्य,वात्सल्य, मधुर रति आर ॥२५॥
एइ पञ्च स्थायिभाव हय पञ्चरस । ये रसे भक्तसुखी, कृष्ण हय वश ॥२६॥
प्रेमादिक स्थायिभाव सामग्रीमिलने । कृष्णभक्तिरस—स्वरूप पाय परिणामे ॥२७॥

अधिकार-भेद से रति पाञ्च प्रकार की होती है—१—शान्त-रति, २—दास्य ति, ३—सख्यरति, ४—वात्सल्यरति, तथा ५—मधुररति (चै० च० २-१६-५७, ५८ पयार टीका द्रष्टव्य) ॥२५॥ यह पाञ्चों-रति या भाव यथाक्रम शान्तरस, दास्यरस, सख्यरस, वात्सल्यरस, तथा मधुररस के स्थायीभाव हैं। (एक-एक रस में एक-एक रति नित्य निरवच्छिन्न भाव से अवस्थान करती है । शान्तादि पांच रति या स्थायीभाव विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव एवं व्यभिचारी भावों से मिलकर शान्तरसादि पांच रसों में परिणत हो जाती हैं । कृष्णरति जब रस में परिणित हो जाती है, तब उसे आस्वादन करके भक्ति अति सुख अनुभव करता है एवं श्रीकृष्ण तो इतने सुखी होते हैं कि वे भक्त के वशीभूत हो जाते हैं । प्रेमादिक-स्थायीभाव जब विभाव, अनुभावादि सामग्री के साथ मिलते हैं तो श्रीकृष्णभक्ति रस में परिणत होकर अपूर्व चमत्कारिता उत्पन्न करते है ॥२५—२७॥

विभाव, अनुभाव, सात्विक, व्यभिचारी । स्थायिभाव, 'रस' हय एइ चारि मिलि ॥२८॥
दधि येन खण्ड—मरिच—कर्पूर—मिलने । 'रसाला'ख्य रस हय अपूर्वास्वादने ॥२९॥
द्विविध 'विभाव'—आलम्बन,उद्दीपन । वंशीस्वरादि-'उद्दीपन',कृष्णादि-'आलम्बन' ॥३०॥
'अनुभाव'—स्मित-नृत्य-गीतादि उद्भास्वर । स्तम्भादि सात्त्विक—अनुभावेर भितर ॥३१॥
निर्वेद—हर्षादि तेत्रिश 'व्यभिचारी' । सब मेलि रस हय चमत्कारकारी ॥३२॥

विभाव, अनुभाव, सात्विक एवं व्यभिचारी—इन चारों से मिलकर (इस सामग्री से मिलकर) शान्तादि-स्थायीभाव इस रूप में परिणत हो जाते हैं (विभाव आदि का विवरण में द्रष्टव्य है) । दधि जैसे चीनी, मिर्च तथा कर्पूर के मिलने से 'रसाला' नाम से विख्यात है और अपूर्व आस्वादनीय वस्तु बन जाती है—(उसी प्रकार स्थायीभाव विभावादि से मिलकर 'रस' नाम की अपूर्व आस्वादनीय वस्तु प्रस्तुत हो जाती है ।) विभाव—दो प्रकार के हैं; १—आलम्बन-बिभाव २—उद्दीपन-विभाव । वंशीस्वर, गुण, चेष्टा, नूपुर, मोरपुच्छ आदि (जिनसे श्रीकृष्ण की स्मृति जागृत हो उठती है) ये सब 'उद्दीपन-विभाव' हैं । तथा श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण-भक्त यह दोनों 'आलम्बन-विभाव' हैं । मन्दहास्य,

नृत्यगीतादि प्रकाशमान 'अनुभाव' हैं और स्तम्भादि जो सात्त्विक भाव हैं, वे अनुभाव के अन्तर्भुक्त ही हैं। पृष्ठ ५३ द्रष्टव्य) निर्वेद-हर्षादि तेतीस व्यभिचारी भाव हैं (पृष्ठ २२४ द्रष्टव्य) इन सबके साथ स्थायीभाव (शान्तादि) मिलकर अपूर्व चमत्कारी रस की अभिव्यक्ति होती है ॥२८—३२॥

पञ्चविध रस-शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य। मधुर नाम शृङ्गार-रस सभाते प्राबल्य ॥३३॥
शान्तरसे शान्तिरति प्रेमपर्यन्त हय। दास्यरति रागपर्यन्त क्रमे त बाढ़य ॥३४॥
सख्य-वात्सल्य (रति) पाय अनुरागसीमा। सुबलाद्येर भाव-पर्यन्त प्रेमेर महिमा ॥३५॥

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—इन पांच रसों में मधुर-रस ही सब में प्रधान हैं। शान्तरस में शान्तरति प्रेम की पूर्वसीमा तक वर्द्धित होती है, (क्योंकि शान्तरति में ममताबुद्धि न होने से उसमें प्रेम-उदय की कोई सम्भावना नहीं रहती, न ही ऐसा कोई प्रमाण ही मिलता है)। दास्य-रति 'राग' की शेष सीमा तक क्रमशः वर्द्धित होती है एवं सख्य-रति तथा वात्सल्य -रति 'अनुराग' तक पहुँचती हैं। (सख्य-रति अनुराग की शेष सीमा तक नहीं पहुँचती किन्तु वात्सल्य-रति ही अनुराग की शेष सीमा तक वर्द्धित होती है।) उसमें सुबलादि जो श्रीकृष्ण के प्रिय-नर्म-सखा हैं—उनकी सख्य-रति 'भाव' पर्यन्त वर्द्धित होती है ॥३३—३५॥

चै० च० चु० *टीका*:—ब्रज में श्रीकृष्ण के सखा चार प्रकार के हैं—सुहृत्, सखा, प्रिय-सखा एवं प्रिय नर्म-सखा। सुहृत् वे हैं, जो वयस में श्रीकृष्ण से कुछ बड़े हैं, और दुष्टों से श्रीकृष्ण को रक्षा करने के लिये वे अस्त्रादि भी धारण करते हैं। उनके सख्य में वात्सल्य की भी गन्ध आती है। बलभद्र, सुभद्र, वीरभद्र, विजय, गोभट आदि श्रीकृष्ण के 'सुहृत्' हैं। सखा वे हैं, जो वयस में श्रीकृष्ण से कनिष्ठ हैं एवं उनके सख्य में दास्य की गन्ध रहती है। श्रीकृष्ण की अङ्ग सेवा में ही उनका अनुराग विशेष रहता है। विशाल, वृषभ, देवप्रस्थ, कुसुमापीड़, मणिबन्ध, करन्धम आदि श्रीकृष्ण के 'सखा' हैं। **प्रियसखा**—वयस में श्रीकृष्ण के समान हैं एवं उनका शुद्ध सख्य भाव रहता है। श्रीदामा, सुदामा, दाम, वसुदाम, किङ्किणी, स्तोककृष्ण, भद्रसेन आदि श्रीकृष्ण के 'प्रिय-सखा' हैं। **प्रिय-नर्म-सखा**—वे हैं जो अन्यान्य सखाओं से श्रेष्ठ हैं। विशेष भावशाली एवं अतिशय रहस्य पूर्ण कार्यों में नियुक्त रहते हैं। वे श्रीकृष्ण के साथ ब्रजसुन्दरियों के मिलन में सहायता करते हैं। इनकी रति ही 'भाव' पर्यन्त वर्द्धित होती है। सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, बसन्त एवं उज्ज्वलादि श्रीकृष्ण के 'प्रिय नर्म-सखा' हैं। श्रीजीव गोस्वामीपाद ने, श्रीदाम, दाम, सुदाम, वसुदाम एवं किङ्कणी—इन कई सखाओं को भी श्रीकृष्ण के प्रिय-नर्म-सखाओं में गिनाया है। प्रिय-नर्म-सखा श्रीकृष्ण के अन्तःकरणरूप कहे गये हैं। उनमें सुबल एवं उज्ज्वल सर्वप्रधान हैं। (भक्तिरसामृतसिन्धु ३—३—८ से २० द्रष्टव्य)

शान्तादि-रसेर 'योग' 'वियोग' दुइ भेद। सख्य, वात्सल्ये—योगादिर अनेक विभेद ॥३६॥
रूढ़-अधिरूढ़-भाव केवल-मधुरे। महिषीगणेर 'रूढ़' 'अधिरूढ़' गोपिका-निकरे ॥३७॥

शान्त-रस के दो भेद हैं—'योग' एवं 'वियोग'। सख्य एवं वात्सल्य रस में योग एवं वियोग के अनेक भेद हैं। केवल-मधुरा-रति में दो भेद हैं—'रूढ़' एवं 'अधिरूढ़'। महिषीगणों की (श्रीरुक्मणी सत्यभामादि की) रति रूढ़-भाव की पूर्व सीमा तक वर्द्धित होती है और ब्रजसुन्दरियों की रति अधिरूढ़-भाव की शेष सीमा तक वर्द्धित हुआ करती है ॥३६—३७॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीकृष्ण के साथ मिलन का नाम—'**योग**' है। श्रीकृष्ण के साथ मिलन के बाद बिछुर जाने का नाम—'**वियोग**' है। 'योग' के तीन भेद हैं—सिद्धि, तुष्टि एवं स्थिति। उत्कण्ठित

अवस्था में कृष्ण-प्राप्ति का नाम 'सिद्धि' है। विच्छेद के बाद कृष्ण-प्राप्ति को 'तुष्टि' कहते हैं, और श्रीकृष्ण के साथ मिलकर एकत्र रहने को 'स्थिति' कहते हैं।

वियोग के दश विभेद हैं —ताप, कृशता, जागर्य्या, आलम्ब,—शून्यता, अधृति, जड़ता, व्याधि, उन्माद- मूर्च्छा एवं मृति। चित्त की अनवस्थिति का नाम—आलम्ब—शून्यता है और अन्यान्य समस्त विषयों में अनुराग शून्यता का नाम अधृति है। मृति से यहां उस अवस्था से अभिप्राय है, जिसमें श्रीकृष्ण वियोग-जनित क्षोभाधिकता-वश भक्त मृत-प्राय हो जाता है। अन्यान्य भेदों का अर्थ सहज है (इस विषय का विस्तरशः विवरण भक्तिरसामृतसिन्धु-ग्रन्थ में द्रष्टव्य है)

मधुरा-रति—महाभाव पर्यन्त वर्द्धित होती है। मधुरा-रति के तीन प्रकार हैं। साधारणी, समञ्जसा एवं समर्था। जो रति अतिशय गाढ़ नहीं होती, जो प्राय श्रीकृष्णदर्शन से उत्पन्न होती है और सम्भोगेच्छा ही जिसका निदान है—उस रति को साधारणी—रति कहते हैं। इस रति में पहले अपने सुख का अनुभव है और फिर अपने सुख के लिये श्रीकृष्ण को सुखी करने की इच्छा होती है। कुब्जा में श्रीकृष्ण के प्रति साधारणी-रति है। साधारणी-रति प्रेम पर्यन्त वर्द्धित होती है।

समञ्जसा-रति—जो रति गुणादि के श्रवणादि से उत्पन्न होती है, जिससे पत्नीत्व की अभिमान—बुद्धि जन्मती है, और जिसमें कभी कभी सम्भोगेच्छा उत्पन्न होती है, उस गाढ़-रति को समञ्जसा-रति कहते हैं। इसमें पत्नी-रूप से सेवा करके श्रीकृष्ण को सुखी करने की बलवती इच्छा रहती है। समञ्जसा-रति अनुराग की शेष सीमा तक वर्द्धित होती है। श्रीरुक्मणी-आदि महिषियों में समञ्जसा-रति है।

समर्था-रति--जो रति श्रीकृष्ण—सुखैक—तात्पर्यमयी है। जिसमें स्व—सुख—वासना की गन्धमात्र भी नहीं है, उसे समर्था—रति कहते हैं। समर्था—रति महाभाव की शेष सीमा तक वर्द्धित होती हैं। व्रज-गोपिकागण-श्रीराधाजी आदि में समर्था—रति है। तीन प्रकार की मधुरा—रति में समर्था—रति ही प्रधाना है।

मूल पयार में कहा गया है कि मधुरा—रति, भाव पर्यन्त वर्द्धित होती है। भाव—अनुरागोत्कर्ष की उस अवस्था का नाम है जिस अवस्था में अनुरागोत्कर्ष द्वारा श्रीकृष्ण के असमोर्द्ध माधुर्य के पूर्णतम आनन्दास्वादन का अनुभव होता है और जिस अवस्था में आस्वादन की चमत्कारिता में मुग्ध होकर आस्वादक अपने को और आस्वाद्य वस्तु को भूल जाता है और केवल माधुर्य का आस्वादन मात्र ही अनुभव करता रहता है और अनुरागोत्कर्ष की जिस अवस्था में अश्रु कम्पादि सात्त्विक—भावसमूह एक ही समय देह में सुस्पष्टरूप से प्रकाशित होते हैं, तथा अनुरागोत्कर्ष की जिस अवस्था में श्रीकृष्ण-सेवा के निमित्त स्वतः प्रवृत्त होकर कुलवतीगण अकुण्ठितचित्त से स्वजनार्यपथादि पर्यन्त त्याग कर सकती हैं—उस अनरागोत्कर्षमयी अवस्था का नाम (भाव) है। श्रीजीवगोस्वामीपाद ने 'भाव' एवं 'महाभाव' को एकार्थवाचक कहा है। अतः उस आनन्दोत्कर्षमयी अवस्था की पूर्ववर्त्तिस्तर का नाम—भाव एवं उस अवस्था की पराकाष्ठा या परमतम चरमतम स्तर का नाम—'महाभव' है। महिषीगणों की रति समञ्जसा है, जो केवल अनुराग की शेष सीमा तक वर्द्धित होती है अर्थात् भाव की या रूढ़भाव की पूर्वसीमा तक ही उसकी पहुँच है। महिषीगणों में भाव या महाभाव की अभिव्यक्ति नहीं है। व्रजसुन्दरियों में ही महा-भाव की अभिव्यक्ति है। उनमें रूढ़ एवं अधिरूढ़ दोनों भाव ही अभिव्यक्त होते हैं।

अधिरूढ़ महाभाव—दुइ त प्रकार—। सम्भोगे 'मादन', विरहे 'मोहन' नाम तार ॥३८॥
मादनेर चुम्बनादि हय अनन्त विभेद। उद्घूर्णा, चित्रजल्प—मोहनेर दुइ भेद ॥३९॥
चित्रजल्प दश—अङ्ग—प्रजल्पादि नाम। भ्रमरगीता-दमशश्लोक ताहार प्रमाण ॥४०॥

अधिरूढ़-महाभाव दो प्रकार का है—'मादन' एवं 'मोहन'। सम्भोगावस्था अर्थात् मिलन-अवस्था में 'मादन-महाभाव' का विकाश होता है। मादन के विकाश में जो चुम्बनादि होते हैं, उनके अनन्त विभेद हैं। मोहन के दो भेद उद्घूर्णा तथा चित्रजल्प हैं ॥३९॥ चित्रजल्प के प्रजल्पादि नाम के दश अङ्ग हैं। श्रीमद्भागवत (दशमस्कन्ध ४७ अध्याय) भ्रमरगीत के (१२ से २१ तक के) दश श्लोक उसके प्रमाणस्वरूप हैं ॥३८—४०॥

चै० च० चु० *टीका*:—अधिरूढ़-महाभाव के दो प्रकार कहे गये हैं। **मोदन** तथा **मादन**। जिस अधिरूढ़-महाभाव में श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण—इन दोनों के शरीर पर सात्त्विक-भावादि सुष्ठुरूप से प्रकाशित होते हैं, उसे **मोदन** कहते हैं। मोदन की दो क्रियाएं दीखने में आती हैं:—१ श्रीकृष्ण के साथ मिलन में श्रीराधादि-व्रजसुन्दरीगण के चित्त में जब मोदनाख्य-महाभाव उदय होता है, तब श्रीकृष्ण के चित्त में तो क्षोभ उत्पन्न होता ही है, अधिकन्तु श्रीकृष्ण-महिषी आदि के चित्त में भी क्षोभ उत्पन्न होता है। उन महिषीगणों में क्षोभ उत्पन्न होता है जो श्रीराधा-कृष्ण मिलन स्थान पर तो उपस्थित नहीं होती, किन्तु उस स्थान से कुछ दूर स्थान से छिपकर उनका मिलन दर्शन करती हैं। २—चन्द्रावली आदि जो श्रीकृष्ण-कान्ताएं हैं और जो श्रीकृष्ण में अन्यन्त प्रचुर प्रेम करती हैं, उन सबके प्रेम से अत्यधिक प्रेम मोदनाख्य महाभाव में व्यक्त होता है। अतः सत्यभामा, चन्द्रावली आदि को त्याग करके श्रीकृष्ण श्रीराधाजी के निकट रहना चाहते हैं। मोदन एकमात्र श्रीराधाजी के यूथ में ही होता है।

मोहन-विरह-अवस्था में इसी मोदन को ही '**मोहन**' कहते हैं। मोहन में विरह-जनित विवशता हेतु समस्त सात्त्विक-भाव सुद्दीप्त हो उठते हैं। उसमें जब कम्प होता है-तो दान्त खट्-खट् करके बाजे की भाँति बजते हैं। स्वरभङ्ग में वाक्य-समूह कण्ठ में ही लीन हो जाते हैं। वैवर्ण्य में देह का वर्ण श्वेत हो जाता है—इत्यादि। श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीराधिकाजी ही में प्राय यह मोहन-भाव प्रकाशित होता है। मोहनाख्य-महाभाव के कई एक अनुभाव हैं।

उनमें एक अनुभाव **दिव्योन्माद**है, जिसमें मोहनाख्य-महाभाव किसी एक वृत्ति-विशेष को प्राप्त कर भ्रम सदृश विचित्र दशा को प्राप्त करता है। उस दिव्योन्माद के उद्घूर्णा व चित्रजल्प आदि अनेक भेद हैं। नाना प्रकार की विलक्षण वैवश्य चेष्टाओं को **उद्घूर्णा** कहते हैं। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर उनकी अनुपस्थिति को भूलकर व्रजगोपियों का अन्धकार में कुञ्जाभिसार करना, कुञ्जगृह में शय्या रचना करना इत्यादि—उद्घूर्णा के कार्य हैं।

प्राणप्रिय श्रीकृष्ण के किसी सुहृद को देखकर गूढ़ क्रोधवश जो भूरिभावमय जल्पना हैं, उसका नाम **चित्रजल्प** है। उसमें असंख्य भाववैचित्री तथा अनिर्वचनीय चमत्कारिता रहती है। उसके अन्त में तीव्र उत्कण्ठा दीखती है। मथुरा से श्रीउद्धवजी को आया देखकर श्रीराधिकाजी ने अनिर्वचनीय भावमय चित्रजल्पना की—वह श्रीमद्भागवत में भ्रमरगीत के नाम से विख्यात है। चित्रजल्प के प्रजल्पादि दश अङ्ग—इस प्रकार हैं:—

(१) **प्रजल्प**—असूया, ईर्षा एवं मदयुक्त वाक्यादि के द्वारा अवज्ञा प्रदर्शन-पूर्वक प्रेष्ठ-व्यक्ति के अकौशल को उद्गीर्ण करना 'प्रजल्प' कहलाता है।

(२) **परिजल्पः**—प्रेरित दूतादि के जो प्रेरक प्रीतम हैं, उनकी निर्दयता, शठता एवं चपलतादि दोषों का उल्लेख करके भङ्गी से मोहन-भाववती प्रेयसी का अपनी विचक्षणता को प्रकाश करना 'परिजल्प' कहलाता है।

(३) **विजल्पः**—भीतर गूढ़मान, और बाहर सुस्पष्ट असूया प्रकाश करते हुए श्रीकृष्ण के प्रति जो उपहासात्मक कटाक्षोक्ति है—उसे 'विजल्प कहते हैं।

(४) **उज्जल्पः**—गूढ़ गर्वभरी ईर्ष्या द्वारा श्रीकृष्ण की कुहकता का वर्णन करना तथा असूया-युक्त आक्षेप करने को उज्जल्प कहते हैं।

(५) **संजल्पः**—दुर्गम उपहासात्मक आक्षेप द्वारा श्रीकृष्ण की अकृतज्ञता को प्रकाश करने वाले वाक्यसमूह को 'संजल्प' कहते हैं।

(६) **अवजल्पः**—श्रीकृष्ण अत्यन्त निठुर हैं, कामुक एवं धूर्त हैं—इसलिये उनमें आसक्त होना भय का कारण है—इस प्रकार के भावों को प्रकाश करते हुए जो ईर्षा सहित उक्ति है—उसे 'अवजल्प' कहते हैं।

(७) **अभिजल्प**—श्रीकृष्ण जब पक्षियों तक को भी खेदान्वित करते हैं, तो उनका त्याग करना ही उचित है, भङ्गी द्वारा इस प्रकार के अनुताप मूलक वचनों को 'अभिजल्प' कहते हैं।

(८) **आजल्पः**—अनुतापवश श्रीकृष्ण की कुटिलता एवं दुख प्रदत्त्व जिनमें वर्णित हो, तथा भङ्गीपूर्वक दूसरे द्वारा मिले सुख का वर्णन जिन वचनों में हो—उन्हें 'आजल्प' कहते हैं।

(९) **प्रतिजल्पः**—श्रीकृष्ण के साथ अन्य स्त्री सर्वदा रहती है, अन्य-सङ्ग को त्याग करने में वे असमर्थ हैं; अतः उनके पास जाना अनुचित है, इस प्रकार का वचन एवं श्रीकृष्ण प्रेरित दूत का सम्मान जिसमें वर्णित हो—उसे 'प्रतिजल्प' कहते हैं।

(१०) **सुजल्प**—जिनमें सरलता-निबन्धन गाम्भीर्य, दैन्य चपलता एवं अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ श्रीकृष्ण विषयक संवादादि जिज्ञासा की गई हो, ऐसे वचनों को 'सुजल्प' कहते हैं।

मादनः—मादनाख्य–महाभाव का विकाश मिलन-अवस्था में ही होता है। इसमें विरह का अभाव है। इसमें रति से लेकर महाभाव पर्यन्त समस्त भाव ही सर्वोत्कर्ष से उल्लासशील होते हैं। मोहनादि से भी मादन में अपूर्व विशेषता है। यह ह्लादिनी की चरम-परिणति हैं। मादनाख्य-महाभाव श्रीराधाजी को छोड़कर और कहीं भी नहीं रहता। श्रीकृष्ण में भी इसका विकास नहीं है। श्रीराधाजी के यूथ की और किसी सखी में भी इसकी अभिव्यक्ति नहीं है। यह महाभाव-स्वरूपिणी श्रीराधाजी की निजी-सम्पत्ति है। कभी उनके भीतर और कभी उनके बाहर भी प्रकाशित होता है। मादन में अत्यन्त आनन्द-मत्तता है।

मादन की एक विशिष्टता यह है कि ईर्षा के अयोग्य वस्तु में भी यह प्रबल ईर्षा उत्पन्न करता है। जैसे—बनमाला, अचेतन-वस्तु है, उस बनमाला में किसी की ईर्षा नहीं बनती, किन्तु श्रीकृष्ण के गले में उस बनमाला को देखकर श्रीराधाजी में ईर्षा का उद्रेक होता है। इस प्रकार अधरों से लगो वंशी के प्रति भी उनकी ईर्षा होती है।

और एक विशेषता यह है कि—श्रीकृष्ण द्वारा सदा सम्भुक्त होते हुए भी, श्रीराधाजी, श्रीकृष्ण द्वारा अन्य किसी वस्तु के सम्भोग की गन्ध-मात्र भी कहीं पाती हैं, तो वह उसके सौभाग्य की स्तुति करने लगती हैं। जैसे—श्रीकृष्ण के चरण-लिप्त कुङ्कुम को स्तनों पर लगाने वाली पुलिन्द कन्याओं की भी श्रीराधाजी स्तुति करती हैं। इस प्रकार मादनाख्य-महाभाव में मोहनाख्य-महाभाव की अपेक्षा कई एक और भी विशेषताएं हैं, जिनका वर्णन उज्ज्वल-नीलमणि ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। मोहन में केवल विरह-कातरता है और मादन में केवल मिलनानन्द-मत्तता।

उद्घूर्णा–विवशचेष्टा–'दिव्योन्माद' नाम । विरहे कृष्णस्फूर्त्ति–आपनाके 'कृष्ण'-ज्ञान ।।४१।।
सम्भोग, विप्रलम्भ,—द्विविध शृङ्गार । 'सम्भोग'–अनन्त अङ्ग नाहि अन्त तार ।।४२।।
विप्रलम्भ चतुर्विध– पूर्वराग, मान । प्रवासाख्य, आर प्रेमवैचित्य-आख्यान ।।४३।।
राधिकाद्ये 'पूर्वराग' प्रसिद्ध 'प्रवास' 'माने' । 'प्रेमवैचित्य' श्रीदशमे महिषीगणे ।।४४।।

दिव्योन्माद अन्तर्गत उद्घूर्णा में विवश चेष्टाएं होती हैं, और कृष्णविरह में जब दिव्योन्माद होता है, तब श्रीकृष्ण-चिन्ता करते करते श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति होने लगती है । कभी चिन्ता की गाढ़ता से ब्रजसुन्दरीगण अपने को ही श्रीकृष्ण जानने लगती हैं । (एव श्रीकृष्णलीला का अनुकरण करने लगती हैं) शृङ्गार रस के दो प्रकार हैं—सम्भोग एवं विप्रलम्भ ! 'सम्भोग' के अनन्त अङ्ग हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती । 'विप्रलम्भ' चार प्रकार का है—पूर्वराग, मान, प्रवासाख्य तथा प्रेम-वैचित्त्य । श्रीराधिका आदि ब्रजसुन्दरियों में 'पूर्वराग, प्रवास एवं मान, उदय होते हैं, तथा मथुरा—महिषीगणों में प्रेमवैचित्त्य ऐसा श्रीमद्भागवत दशम-स्कन्ध में वर्णित हुआ है ।।४१—४४।।

चै० च० नु० टीका:—**सम्भोग**—आनुकूल्यमय दर्शन एवं आलिङ्गन-चुम्बनादि के निषेवण द्वारा नायक–नायिका के उल्लास–वर्द्धनकारी भाव को 'सम्भोग' कहते हैं । इसमें नायक–नायिका के भीतर स्व–सुख तात्पर्यमूलक कोई भी वासना नहीं होती । अतः प्राकृत काममय सम्भोग से यह सर्वथा पृथक् वस्तु है । संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पन्न तथा समृद्धिमान् इत्यादि सम्भोग के प्रकार भेद हैं जिनका वर्णन श्रीउज्ज्वलनीलमणि में द्रष्टव्य है ।

विप्रलम्भ—प्रथम मिलन से पूर्व, किंवा मिलन के पश्चात् नायक–नायिका की युक्त व अयुक्त अवस्था में एक दूसरे के अभीष्ट आलिङ्गन–चुम्वनादि की अप्राप्ति में प्रबल उत्कण्ठावशतः जो भाव प्रकटित होता है—उसे 'विप्रलम्भ' कहते हैं । विप्रलम्भ-अवस्था में मिलन की प्रबल उत्कण्ठा हुआ करती है विप्रलम्भ की दीर्घता में मिलन की उत्कण्ठा भी तीव्रता को प्राप्त होती है । तीव्र उत्कण्ठा के बाद जो मिलन है, वह अत्यन्त सुखदायक होता है । विप्रलम्भ के चार भेद इस प्रकार हैं—

पूर्वराग—नायक–नायिका के मिलन से पहले, परस्पर साक्षात् दर्शन करने से, चित्रपटादि देखने से, किंवा स्वप्नादि से अथवा किसी के मुख से एक दूसरे के प्रति जो रति उत्पन्न होती है, वह रति विभवादि के साथ मिलकर जब आस्वादनीय होती है—उसे 'पूर्वराग' कहते हैं । व्याधि, शङ्का, असूया, श्रम, क्लम, निर्वेद, औत्सुक्य, दैन्य, चिन्ता, निद्रा, प्रबोध, विषाद, जड़ता, उन्माद, मोह एवं मृत्यु आदि पूर्वराग के सञ्चारी-भाव हैं । प्रौढ़, सामञ्जस एवं साधारण भेद से पूर्वराग फिर तीन प्रकार का होता है । उनका विस्तरशः वर्णन श्रीउज्ज्वलनीलमणि में द्रष्टव्य है ।

मान—परस्पर अनुरक्त नायक एवं नायिका के एक स्थान पर रहते हुए भी उनके अभीष्ट आलिङ्गन व दर्शनादि का जो विरोधी भाव है—उसे 'मान' कहते हैं । निर्वेद, शङ्का, अमर्ष, चपलता, गर्व, असूया, अवहित्था (भावगोपन) ग्लानि एवं चिन्ता आदि मान के सञ्चारी-भाव हैं । मान भी दो प्रकार का है—सहेतु एवं निर्हेतु । इनका विशेष विवरण उज्ज्वलनीलमणि में द्रष्टव्य है ।

प्रवास—नायक-नायिका के मिलन के पश्चात् जो देश, ग्राम बन आदि से उनका एक दूसरे से व्यवधान है अर्थात् एक दूसरे का पृथक् पृथक् देशादि में निवास करना 'प्रवास' कहलाता है । हर्ष, गर्व, मत्तता, एवं लज्जा व्यतीत शृङ्गार-योग्य समस्त व्यभिचारी भाव 'प्रवास' में दीखते हैं । चिन्ता, जागर्य्या,

उद्वेग, कृशता, मलिनता प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह, एवं मृत्यु—ये दश दशा प्रवास-विप्रलम्भ में होती हैं। बुद्धिपूर्व एवं अबुद्धिपूर्वक भेद से प्रवास दो प्रकार का है। विशेष विवरण उज्ज्वलनीलमणि में द्रष्टव्य है।

प्रेम वैचित्त्यः—प्रेम के उत्कर्षवश प्रेमी के निकट रहने पर भी उससे विच्छेद होने के भय में जो पीड़ा का अनुभव है—उसका नाम 'प्रेम-वैचित्त्य' है। उदाहरण कहते हैं—एक दिन श्रीराधाजी एवं श्रीश्यामसुन्दर एक सिंहासन पर विराजमान थे। मधुमङ्गल भी पास खड़े थे। श्रीराधाजी के मुखकमल की सौरभ में लुब्ध होकर एक मधुकर बार बार प्रिया जी के मुख पर उड़ा आ रहा था एवं वह उसे अपने हस्त कमल से हटा रही थीं। थोड़ी देर में मधुकर उड़कर अन्य स्थान पर चला गया। मधुमङ्गल ने कहा—"राधे! मधुसूदन चला गया हैं।" मधुसूदन नाम मधुकर का है, और श्रीश्यामसुन्दर को भी मधुसूदन कहते हैं। इतना सुनते हो श्रीराधाजी ने यही समझा कि श्रीश्यामसुन्दर चले गये हैं—वे अत्यन्त पीड़ित हो उठीं एवं कृष्ण-विरह में विलाप करने लगीं। यद्यपि श्रीश्यामसुन्दर पूर्ववत् उनके पास ही बैठे थे—इसका नाम 'प्रेमवैचित्त्य' है। प्रेमवैचित्य का अर्थ है—प्रेमजनित विचित्तता। प्रेमी में चित्त की केन्द्रीभूततावशतः अन्यान्य विषय में अमनस्कता। विशेष विवरण श्रीउज्ज्वलनीलमणि में द्रष्टव्य है।

श्रीराधादि ब्रजसुन्दरियों के पूर्वराग, प्रवास एवं मान के सम्बन्ध में उद्धारण मूलग्रन्थ में श्रीकविराज ने उद्धृत नहीं किये हैं, किन्तु महिषियों के प्रेमवैचित्त्य का उद्धारण मूल के परवर्त्ती श्लोक ("कुररि विलपसि") में वर्णन किया है। श्रीराधादि के पूर्वराग प्रवास एवं मान का वर्णन श्रीमद्भागवत में जिन श्लोकों में हुआ है, दो चार श्लोकों का सङ्केत निम्नलिखित है।

श्रीभागवत दशम स्कन्ध इक्कीसवें अध्याय के तीसरे श्लोक ("तद्व्रजस्त्रिय" इत्यादि) में विवाहिता ब्रजसुन्दरियों का पूर्वानुराग वर्णित है। एवं दशम स्कन्ध के बाईसवें अध्याय के चौथे श्लोक में ("कात्यायनि महामाये"—इत्यादि) में कुमारीगणों का पूर्वानुराग वर्णित है।

श्रीकृष्ण का मथुरागमनादि-जनित प्रवास श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के उन्तालीसवें अध्याय में वर्णित है और पैन्तीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण के बनगमन-जनित प्रवास का उल्लेख है—"गोप्यः कृष्णे"—इत्यादि।

दशम स्कन्ध के उन्तीसवें अध्याय में श्लोक ४७ एवं ४८ में ब्रजसुन्दरियों के मान की कथा वर्णित है—"एव भगवतः"—तथा 'तासां तत्सौभगमदं"—इत्यादि में।

अब अगले श्लोक में प्रेम-वैचित्त्य के उद्धाहरण का उल्लेख करते हैं—

तथाहि (भाः १०—९०—१५)—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति राज्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चद्गाढ़ निर्विद्धचेता
नलिननयन — हासोदारली — लेक्षितेन ॥२१॥

श्रीकृष्ण के साथ जलकेलि करते करते महिषीगण तल्लीन होकर प्रेमवैवश्य के हेतु विरह-स्फूर्त्ति वश उनकी चिन्ता करते हुये प्रेमविह्वलता के साथ कुररी-पक्षी को लक्ष करके कहती हैं—'हे कुररि! हमारे पति द्वारकानाथ श्रीकृष्ण जगत् के किसी निभृत-स्थान पर गुप्त भाव से शयन कर रहे हैं, और तुम जाग रही हो एवं विलाप कर रही हो, तुम्हें नींद नहीं आती है। (यह बात तुम्हारी

अनुचित है, उनकी नींद तुम्हारे विलाप से भङ्ग हो जाएगी) हे सखि ! (तू यह तो बता—) हमारी भांति तुम भी कभी क्या कमलनैन श्रीकृष्ण के हास्ययुक्त उदार लीला कटाक्षों द्वारा गाढ़भाव से घायल हुई हो ? ॥२१॥

चै० च० चु० *टीका*:—इस श्लोक में श्रीकृष्ण की महिषीगणों के प्रेम-वैचित्य का एक उदाहरण दिया गया है। वे श्रीकृष्ण के साथ जल–केलि कर रही हैं। उनका चित्त श्रीकृष्ण में इतना निविष्ठ हो गया है कि श्रीकृष्ण का ध्यान करते करते उन्हें श्रीकृष्ण की विरह-स्फूर्ति ही होने लगी। यद्यपि श्रीकृष्ण उन के पास ही खड़े हैं, किन्तु उनका चित्त श्रीकृष्ण विरह में व्याकुल हो उठा है और कुररी-पक्षी को लक्ष्य करके श्रीकृष्ण के नैन कटाक्षों से घायल अपने चित्त के भावों को प्रकाशित कर रही हैं। श्रीकृष्ण के निकट रहते हुए भी उनके विरह में व्याकुल हो जाना—यही प्रेम-वैचित्य का लक्षण है, जो इस उदाहरण में मिलता है।

ब्रजेन्द्र-नन्दन कृष्ण—नायक शिरोमणि।
नायिकार शिरोमणि—राधा ठाकुराणी ॥४५॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"ब्रजेन्द्रनन्दन-श्रीकृष्ण ही नायक शिरोमणि अर्थात् सर्वश्रेष्ठ नायक हैं एवं श्रीराधिका जी ही समस्त नायिकाओं की शिरोमणि हैं" ॥४५॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीमहाप्रभु जी ने शान्तादि पाँच रसों के बीच मधुर-रस की श्रेष्ठता को दिखाते हुए मधुर-रस के अन्तर्गत अनेक प्रकार के भेदों का वर्णन किया है। इस पयार में प्रभु ने बताया कि ब्रज, द्वारका एवं मथुरादि श्रीकृष्ण के जितने धाम हैं, उन समस्त धामों में मधुर-रस रहते हुए भी जाति के एवं परिमाण के उत्कर्ष वशतः ब्रज की महाभाववती ब्रजसुन्दरियों के साथ श्रीकृष्ण के मिलनादि से उत्पन्न जो मधुर-रस है—वही सर्वश्रेष्ठ है और फिर उसमें भी नायिका-शिरोमणि श्रीराधिका जी के साथ नायक-शिरोमणि श्रीकृष्ण का मिलनादि-जनित मधुर-रस तो परम चरमतम श्रेष्ठ है।

नायक तथा नायिका—इन दोनों के भावोत्कर्ष के ऊपर ही मिलन-जात आनन्द-चमत्कारितादि का उत्कर्ष निर्भर करता है। अतः ब्रज के मधुर-रस की श्रेष्ठता प्रतिपादन करने के उद्देश्य से ही इस पयार में कहा गया है कि समस्त स्वरूपों में श्रीकृष्ण का ब्रजेन्द्रनन्दन-नायकरूप ही सर्वनायक-शिरोमणि है और समस्त कान्ताओं में श्रीराधिका जी का ही नायिका-रूप सर्व-नायिका-शिरोमणि है। इसलिये इन दोनों का मिलन-जात मधुर-रस भी सर्वश्रेष्ठ है। इस पयार के प्रमाणरूप में निम्नलिखित दोनों श्लोकों का उल्लेख करते हैं—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (२—१—७)—

नायकानां शिरोरत्नं कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
यत्र नित्यतया सर्वे विराजन्ते महागुणाः ॥२२॥

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नायकों में शिरोरत्न तुल्य हैं, कारण कि उनमें नायकोचित समस्त महागुणराशि नित्यरूप से विराजमान रहते हैं ॥२२॥

तथाहि गौतमीयतन्त्रे—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा ॥२३॥

श्रीराधिका जी देवी हैं, उन्हीं को श्रीकृष्णमयी, परदेवता, सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्ति, सम्मोहिनी तथा परा कहा गया है ॥२३॥ (विशेष टीकादि आदि-लीला पृष्ठ ६० पर द्रष्टव्य है ।)

अनन्त कृष्णेर गुण, चौषट्टि प्रधान ।
एक एक गुण शुनि जुड़ाय भक्तकान ॥४६॥

श्रीकृष्ण भगवान् में अनन्त गुण हैं । उनमें चौंसठ गुण प्रधान हैं । उनमें एक एक गुण ऐसा अद्भुत है कि उसे सुनकर भक्तों के कान शीतल होते हैं ॥४६॥

नायकगणों में श्रीकृष्ण का सर्वश्रेष्ठत्व दिखाने के लिये उनके प्रधान चौंसठ अनन्य सुलभ गुणों का नीचे उल्लेख करते हैं—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (२—१—११)—

अयं नेता सुरम्याङ्गः सर्वसल्लक्षणान्वितः ।
रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वयसान्वितः ॥२४॥
विविधाद्भुतभाषावित् सत्यवाक्यः प्रियंवदः ।
वावदुकः सुपाण्डित्यो बुद्धिमान् प्रतिभान्वितः ॥२५॥
विदग्धश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढ़व्रतः ।
देशकालसुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचिर्वशी ॥२६॥
स्थिरो दान्तः क्षमाशीलो गम्भीरो धृतिमान् समः ।
वदान्यो धार्मिकः शूरः करुणो मान्यमानकृत् ॥२७॥

१-श्रीकृष्ण, सुरम्याङ्ग हैं, अर्थात् उनके अङ्गों की गठन अत्यन्त रमणीय है । २-वे समस्त सत्-लक्षणों से युक्त हैं । ३-वे रुचिर हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण-सौन्दर्य दर्शन करने से नेत्रों को आनन्द मिलता है । ४-तेजयुक्त हैं । ५-वे अतिशय बलशाली हैं । ६-श्रीकृष्ण वयसान्वित अर्थात् नानाविध विलासमय नवकैशोर-वयस-युक्त हैं । ७-नानाविध भाषाओं के सुपण्डित हैं । ८-सत्यवाक् हैं अर्थात् श्रीकृष्ण का वाक्य कभी मिथ्या नहीं होता । ९-सदा एवं सब के प्रति प्रिय बोलने वाले हैं । १०-वावदुक हैं अर्थात् श्रीकृष्ण के वाक्य कानों को प्रिय लगते हैं एवं रस-भावादियुक्त हैं । ११-सुपण्डित हैं अर्थात् विद्वान् एवं नीतिज्ञ हैं । १२-बुद्धिमान हैं । १३-प्रतिभान्वित हैं अर्थात् सद्य नव-नवोल्लेख-ज्ञानयुक्त हैं । १४-विदग्ध हैं अर्थात् चौंसठ विद्याओं में एवं विलासादि में निपुण हैं । १५-चतुर अर्थात् एक समय में अनेक कार्य साधने में समर्थ हैं । १६-दक्ष अर्थात् दुष्कर कार्य को भी अति शीघ्र सम्पादन करने में समर्थ हैं । १७-कृतज्ञ अर्थात् अन्यकृत सेवादि को जानते हैं । १८-सुदृढ़-व्रत अर्थात् उनके प्रतिज्ञा एवं नियम सत्य हैं । १९-देश-काल, पात्रानुसार काम करने में निपुण हैं । २०-शास्त्रचक्षु अर्थात् शास्त्रानुसार कर्म करने वाले हैं । २१-शुचि—पापनाशक एवं दोष-वर्ज्जित हैं । जितेन्द्रिय हैं । २३-स्थिर—कार्य की सफलता हो जाने पर ही उस कार्य से निवृत्त होने वाले हैं । २४-दान्त अर्थात् दुसह होते हुए भी उपयुक्त क्लेश को सहन करने वाले हैं । २५-क्षमाशील हैं । २६-गम्भीर अर्थात् उनका अभिप्राय अन्य के पक्ष में दुर्बोध है । २७-धृतिमान् अर्थात् सदा क्षोभ-शून्य हैं । २८-सम—रागद्वेष-शून्य हैं । २९-वदान्य—दानवीर हैं । ३०-धार्मिक—स्वयं-धर्म का आचरण करने वाले हैं एवं अन्य को धर्माचरण कराने वाले हैं । ३१-शूरवीर हैं । ३२-करुण—

पराया दुख सहन नहीं कर सकते तथा ३३–वे मान्यमानकृत्—अर्थात् गुरु, ब्राह्मण एवं वृद्धों की पूजा करने वाले हैं ॥२४—२७॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीकृष्ण के दूसरे गुण में कहा गया है कि उनमें समस्त सत्-लक्षण हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उनके शारीरिक सल्लक्षण दो प्रकार के हैं—गुणोत्थ तथा अङ्कोत्थ। रक्तता (लाली) व तुङ्गता (ऊंचाई) आदि गुणों को **गुणोत्थ-सल्लक्षण** कहते हैं। उनमें नेत्रों के कोये, पादतल, करतल, तालु, अधरोष्ठ (नीचे का होंठ), जिह्वा, एवं नख—इन सात स्थानों पर रक्तता या लाली है। वक्ष, स्कन्ध, नख, नासिका, कटि एवं वदन—श्रीभगवान् के इन छः स्थानों पर उच्चता है। कटि, ललाट एवं वक्षस्थल—इन तीन स्थानों पर विशालता है, ग्रीवा, जङ्घा एवं मेहन—इन तीन स्थानों पर गम्भीरता है। नासा, भुजा, नेत्र, हनु, एवं जानु—इन पांच स्थानों पर दीर्घता है। त्वक्, केश, लोम, दन्त एवं अङ्गुलिपर्व—इन पाँच स्थानों पर सूक्ष्मता है— ये बत्तीस गुणोत्थ-सल्लक्षण हैं, जो समस्त महापुरुषों में होते हैं।

करतलादि में रेखामय-चक्रादि चिह्नों को '**अङ्कोत्थ सल्लक्षण**' कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के वामपद के तलुए में अंगूठे के मूल में 'शङ्ख' है, मध्यमा के मूल में 'अम्बर' (आकाश) है, इन दोनों के नीचे 'ज्या-हीन धनु' है, धनु के नीचे 'गोष्पद', गोष्पद के नीचे 'त्रिकोण', उसके चारों ओर चार 'कलश' हैं (कहीं तीन कलश भी कहे गये हैं) त्रिकोण के नीचे 'अर्धचन्द्र है। उसके नीचे 'मत्स्य है—ये आठ चिन्ह उनके वाम-पादतल में हैं।

श्रीभगवान् के दक्षिण-पदतल में ग्यारह चिन्ह हैं—अंगुष्ठ के मूल में 'चक्र' है। मध्यमा के मूल में पद्म के नीचे 'ध्वजा' है एवं कनिष्ठा के मूल में 'अङ्कुश' उसके नीचे 'वज्र' है। अङ्गुष्ठ के पर्व में 'यव' अङ्गुष्ठ व तर्जनी के सन्धिभाग से चरणार्द्ध पर्यन्त विस्तृत कुञ्चित 'अर्द्ध रेखा' है। चक्र के नीचे 'छत्र' है, अर्द्ध चरण के नीचे चारों ओर चार 'स्वस्तिक चिन्ह' हैं। स्वस्तिकों की चारों सन्धियों में चार 'जम्बुफल' हैं। स्वस्तिकों के बीच में 'अष्ट कोण' है—इस प्रकार श्रीभगवान् के दक्षिण-पदतल में ग्यारह चिन्ह अवस्थान करते हैं। श्रीभगवान् के कर-तलों में भी चक्र-कमलादि अनेक प्रकार के चिन्ह हैं।

दक्षिणो विनयी ह्रीमान् शरणागतपालकः।
सुखी भक्तसुहृत् प्रेमवश्यः सर्वशुभङ्करः ॥२८॥
प्रतापी कीर्त्तिमान् रक्तलोकः साधुसमाश्रयः।
नारीगणमनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान् ॥२९॥
वरीयान् ईश्वरश्चेति गुणास्तस्यानुकीर्त्तिताः।
समुद्रा इव पञ्चाशत् दुर्विगाहा हरेरमी ॥३०॥

श्रीकृष्ण ३४–दक्षिण अर्थात् सुस्वभाव-वशतः कोमल-चरित हैं, ३५–विनयी—नम्र हैं, ३६–ह्रीमान अर्थात् अन्य द्वारा स्तुत्य होने पर सङ्कुचित होने वाले हैं, ६७–शरणागत-पालक हैं, ३८–सुखी—सुख भोग करते हैं एवं उन्हें दुख स्पर्श तक नहीं कर सकता, ३९–भक्तों के सुहृत् हैं, ४२-प्रतापी अर्थात् शत्रुओं को ताप देने वाले हैं, ४३–उनकी यश-राशि विख्यात है, ४४–वे रक्त-लोक हैं, अर्थात् समस्त लोकों के वे अनुराग के पात्र हैं, ४५–साधु पुरुषों के प्रति पक्षपात विशिष्ट हैं—विशेष कृपावशतः ४६–सौन्दर्य-वैदग्ध्यादि द्वारा रमणीवृन्दों के चित्त को हरण करने वाले हैं, ४७–सब के आराध्य हैं, ४८–अत्यन्त

सम्पत्ति-शाली हैं, ४६-सर्वश्रेष्ठ हैं, ५०-ईश्वर-अर्थात् स्वतन्त्र वा अन्य-निरपेक्ष हैं एवं उनकी आज्ञा दुर्लंङ्घ्या है,—श्रीकृष्ण भगवान् के यह पचासों गुण समुद्र की भाँति असीम एवं अथाह हैं ।।२८—३०।।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—१२—१२)—

जीवेष्वेते वसन्तोऽपि विन्दुविन्दुतया क्वचित् ।
परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे ।।३१।।

(भगवान् के विशेष कृपापात्र—) जीवों में किसी समय इन पचास गुणों में से कोई कोई गुण दीखता है, किन्तु वह भी सम्पूर्णरूप से नहीं, विन्दु विन्दु रूप मात्र, एकमात्र पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में ही यह समस्त गुण परिपूर्णरूप से प्रकाशित होते हैं ।।३१।।

(ऊपर कहे गये पचास गुणों में 'सत्यवाक्' से लेकर 'ह्लीमान्' पर्य्यन्त उन्नीसगुण ही श्रीकृष्ण के कृपापात्र भक्तों में यथासम्भव रूप से दीखने में आते है)।

तत्रैव (२—१—१४ व १५)

अथ पञ्चगुणा ये सुरंशेन गिरिशादिषु ।
सदा स्वरूपसम्प्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः ।।३२।।
सच्चिदानन्द सान्द्राङ्गः सर्वसिद्धि निषेवितः ।।३३।।

५१-सदा स्वरूप—सम्प्राप्त अर्थात् माया के कार्यों में वशीभूत न होना, ५२-सर्वज्ञ, ५३-नित्य-नूतन (अर्थात् सर्वदा अनुभूयमान होकर भी जो अननुभूत के समान अपने माधुर्यादि द्वारा चमत्कारिता सम्पादन करे) ५४-सच्चिदानन्द-सान्द्राङ्ग (अर्थात् सत्-चित् एवं आनन्द के बिना अन्य कोई भी वस्तु जिसे स्पर्श तक भी नहीं कर सकती) एवं ५५-सर्वसिद्धियाँ जिसकी सेवा करती हैं, यह पांचगुण भी श्रीकृष्ण में ही पूर्णतमरूप से विद्यमान रहते हैं । श्रीशिवादि में आंशिकभाव से ही यह पांच गुण रहते हैं (श्रीशिवादि का अभिप्राय यहाँ ईश्वरकोटि-शिव तथा ईश्वर-कोटि-ब्रह्मा से जानना चाहिये । जीवकोटि-ब्रह्मा-शिवादि में यह गुण नहीं रहते ।)

तथाहि तत्रैव (२—१—१६)

अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च ये लक्ष्मीशादिवर्त्तिनः ।
अविचिन्त्यमहाशक्तिः कोटि ब्रह्माण्ड—विग्रहः ।।
अवतारावलीबीजं हतारिगतिदायकः ।
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णे किलाद्भुताः ।।३४।।

५६-अविचिन्त्य—महाशक्ति (अर्थात् ब्रह्माण्डान्तर्यामी पर्यन्त समस्त दिव्य-सृष्टि करने की शक्ति ब्रह्मा-रुद्रादिक को मोहन करने की शक्ति, भक्तजनों की प्रारब्धखण्डन की शक्ति) ५७-कोटि-ब्रह्माण्ड-विग्रह (अर्थात् जिनका शरीर कोटिब्रह्माण्डों में व्याप्त होकर अवस्थान करता है—विभु) ५८-अवतारावली-बीज (अर्थात् जिससे समस्त अवतार प्रगट होते हैं ।) ५९-हतारि-गति-दायक (अर्थात् जो शत्रुओं को मार कर मुक्ति प्रदान करते हैं) एवं ६०-आत्मारामगणाकर्षी (अर्थात् जो ब्रह्मरस में निमग्न आत्माराम गणों तक को भी आकर्षण करने वाले हैं,)— यह पांचगुण श्रीनारायणादि में रहते हुए भी श्रीकृष्ण में ही अति अद्भुतरूप से वर्त्तमान हैं ।।३४।।

तथाहि तत्रैव (२--१--१७ से १९)—

सर्वाद्भुत चमत्कारिलीलाकल्लोलवारिधिः ।
अतुल्यमधुरप्रेममण्डित — प्रियमण्डलः ॥३५॥
त्रिजगन्मानसाकर्षि — मुरलीकल—कूजितः ।
असमानोर्ध्वरूप श्रीविस्मापित—चराचरः ॥३६॥
लीलाप्रेमणा प्रियाधिक्यं माधुर्ये वेणुरूपयोः ।
इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम् ॥३७॥
एवं गुणाश्चतुर्भेदाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः ॥३८॥

६१-जो सर्वविध अद्भुत चमत्कारीलीला तरङ्गों के समुद्रतुल्य हैं (लीलामाधुर्य), ६२-जो अनुपम मधुर प्रेम द्वारा प्रियजनों को भूषित करने वाले हैं (प्रेममाधुर्य) ६३-जिनकी मुरली की मधुर कल-कूजन द्वारा तीनों लोकों का मन आकृष्ट होता है (वेणु-माधुर्य), एवं ६४-जिनके असमोर्द्ध रूप-माधुर्य द्वारा चराचर-सकल विस्मित होते हैं, (रूप-माधुर्य) उन्हीं श्रीकृष्ण के लीलामाधुर्य, प्रेममाधुर्य, वेणुमाधुर्य तथा रूपमाधुर्य—यह चारों असाधारण गुण हैं। यह चारों गुण और किसी स्वरूप में नहीं हैं। इस तरह चार प्रकार के भेदों से श्रीकृष्ण के चौंसठ गुणों का उल्लेख किया गया है ॥३५—३८॥

चौ० च० चु० टीकाः—चार प्रकार के भेद इस प्रकार हैं—(प्रथमतः) २४—३० श्लोकों में पचास गुण, (द्वितीयतः) ३२—३३ श्लोकों में पांच गुण, (तृतीयतः) ३४ श्लोक में पांचगुण, एवं (चतुर्थतः) ३५—३८ श्लोकों में चार गुणों का उल्लेख किया गया है—जो मिलकर चौंसठ होते गुण हैं। यह समस्त गुण श्रीकृष्ण के आलम्बन-विभावोचित गुण हैं। अतः यह समस्त रसों की सामग्री स्थानीय हैं।

श्रीराधिकाजी नायिकागणों में सर्वश्रेष्ठा हैं—उसे प्रमाणित करने के लिये उनके भी असाधारण गुणों का उल्लेख नीचे करते हैं—

अनन्तगुण श्रीराधिकार, पंचिश प्रधान ।
येइ गुणेरवश हय कृष्ण-भगवान् ॥४७॥

श्रीराधिका जी के भी अनन्त गुण हैं, उनमें पच्चीस गुण सर्वप्रधान हैं। श्रीकृष्ण भगवान् उन गुणों के वशीभूत हो जाते हैं ॥४७॥

तथाहि उज्ज्वनीलमणौ श्रीराधा प्रकरणे (९)

अथ वृन्दावनेश्वर्य्याः कीर्त्यन्ते प्रवरा गुणाः ।
मधुरेयं नववयाश्चलापाङ्गोज्ज्वलस्मिता ॥३९॥
चारुसौभाग्यरेखाढ्या गन्धोन्मादितमाधवा ।
सङ्गीत—प्रसराभिज्ञा रम्यवाङ्—नर्मपण्डिता ॥४०॥
विनीता करुणापूर्णा विदग्धा पाटवान्विता ।
लज्जाशीला सुमर्य्यादा धैर्य्यगाम्भीर्यशालिनी ॥४१॥

सुविलासा महाभावपरमोत्कर्षतर्षिणी ।
गोकुलप्रेमवसतिर्ज्जगच्छ्रेणीलसद्यशाः ॥४२॥
गुर्व्वर्पितगुरुस्नेहा सखीप्रणयितावशा ।
कृष्णप्रियावलीमुख्या सन्तताश्रवकेशवा ।
बहुना किं गुणास्तस्याः संख्यातीता हरेरिव ॥४३॥

श्रीकृष्ण की भांति श्रीराधाजी के भी असंख्य अप्राकृत श्रेष्ठ गुण हैं, उनमें प्रधान पच्चीस गुणों का वर्णन करते हैं :—श्रीराधिकाजी (१) मधुरा हैं अर्थात् सर्वावस्था में चेष्टाओं की एवं अङ्ग-सौष्ठवादि की चारूतायुक्त हैं, (२) नित्य-किशोर-अवस्थायुक्त हैं, (३) चलापाङ्गा—(उनकी अपाङ्ग अर्थात् दृष्टि अत्यन्त चञ्चल है), (४) समुज्ज्वल मन्दहास्ययुक्त हैं, (५) उनके पद-तल में एवं कर-तल में सौभाग्य-सूचक अति मनोहर रेखाएं हैं। (६) गन्धोन्मादितमाधवा (अर्थात् उनके गात की गंध के माधुर्य से माधव श्रीकृष्ण या मधुकर उन्मत्त हो उठते हैं,(७) संगीत-प्रसाराभिज्ञा (अर्थात् उनका कोकिला तुल्य पञ्चम स्वर है एवं सङ्गीत-विद्या में वह अत्यन्त निपुणा हैं, (८) उनके वाक्य अत्यन्त रमणीय हैं, (९) नर्म-पण्डिता—परिहास में मधुर-नर्मवाक्य प्रयोग करने में सुनिपुणा हैं, (१०) विनीता है, (११) करुणापूर्णा हैं, (१२) विदग्धा—सर्व विषय चतुरा हैं, (१३) चातुर्यशालिनी हैं, (१४) लज्जाशीला हैं, (१५) सुमर्यादा अर्थात् तीन प्रकार की, (स्वाभाविकी, शिष्टाचार-परम्परा तथा स्वकल्पिता) मर्यादायुक्ता हैं। (१६) धैर्यशालिनी हैं, (१७) गाम्भीर्यशालिनी हैं, (१८) सुविलासा अर्थात् हर्षादि-व्यञ्जक मन्दहास्य-पुलक-विकृत-स्वरतादिमय हावभावयुक्ता हैं; (१९) महाभावपरमोत्कर्षतर्षिणी हैं अर्थात् महाभाव के चरमविकाशवशतः श्रीकृष्ण-विषय में अतिशय तृष्णावती हैं। (२०) गोकुलप्रेम वसति—समस्त गोकुल-वासी उनसे प्रीति करते हैं, (२१) जगच्छ्रेणीलसद्यशा अर्थात् उनका यश समस्त जगत् में व्याप रहा है, (२२) गुर्व्वर्पित-गुरुस्नेहा—गुरुजनों (वृद्धजनों) की अतिशय स्नेहपात्री हैं, (२६) सखीप्रणयाधीना—सखियों के प्रणय के आधीना हैं, (२४) कृष्णप्रियावलीमुख्या—अर्थात् श्रीकृष्ण-प्रेयसियों में सर्वप्रधाना हैं, एवं (२५) सन्तताश्रव-केशवा-अर्थात् श्रीकृष्ण सर्वदा ही उनके वाक्याधीन रहते हैं ॥३९-४३॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीराधिकाजी के पाञ्चवें गुण में कहा गया है कि उनके पद-तल में एवं कर-तल में सौभाग्यसूचक अति मनोहर रेखाएं हैं, वे इस प्रकार हैं:—

श्रीराधिकाजी के **वाम-चरण** में—अंगूठे के मूल में 'यव', उसके नीचे 'चक्र', उसके नीचे 'चन्द्र-रेखायुक्ता कुसुममल्लिका' है, मध्यमा के नीचे, 'कमल', उसके नीचे 'पताकायुक्त-ध्वज' है। मध्यमा के दक्षिण भाग से लेकर मध्य-चरण पर्यन्त 'उर्ध्वरेखा' है तथा कनिष्ठा के नीचे 'अङ्कुश है—यह सात चिह्न हैं।

उनके **'दक्षिण-चरण'** में—अंगूठे के मूल में 'शङ्ख' है,कनिष्ठा के नीचे 'वेदी'एवं वेदी के नीचे 'कुण्डल' है, तर्जनी एवं मध्यमा के नीचे 'पर्वत' है, पार्ष्णि (ऐड़ी) के नीचे 'मत्स्य' उसके ऊपर 'रथ', रथ के दोनों ओर 'शक्ति' व 'गदा' है—यह आठ चिह्न हैं।

इसी प्रकार श्रीराधाजी के वाम-हस्त में अठारह चिह्न एवं दक्षिण हस्त में सत्रह चिह्न हैं। उनके हस्तपादों में मोटे-मोटे कुल पचास चिह्न हैं। उन सबको **'चारु-सौभाग्य-रेखा'** कहा जाता है।

नायक नायिका दुइ—रसेर 'आलम्बन'। सेइ दुइ श्रेष्ठ—राधा, व्रजेन्द्र–नन्दन ॥४८॥
एइमत दास्ये दास, सख्ये सखागण। वात्सल्ये माता पिता-आश्रयालम्बन ॥४९॥
एइ रस अनुभवे यैछे भक्तगण। यैछे रस हय, तार शुनह लक्षण ॥५०॥

नायक एवं नायिका, दोनों मधुररस के आलम्बन हैं अर्थात् नायक मधुररस का या मधुरारति का विषय-आलम्बन होता है और नायिका मधुरारति की आश्रय-आलम्बन। श्रीव्रजेन्द्रनन्दन तो समस्त नायकों में सर्वश्रेष्ठ नायक हैं और समस्त नायिकाओं में श्रीराधिकाजी सर्वश्रेष्ठा नायिका हैं। इसी प्रकार दास्य, सख्य एवं वात्सल्यरस में क्रमशः दास, सखा तथा माता-पिता उन-उन रसों के आश्रयालम्बन हैं (और श्रीकृष्ण सब रसों के विषयालम्बन हैं) भक्तगण जैसे इन रसों का अनुभव करते हैं एवं कृष्णारति जैसे इन भक्तगणों के चित्त में रस रूप में अनुभूत होती है, अर्थात् जिन साधनों से, जिसकी सहायता से भक्तगणों के हृदय में भक्ति रस का आस्वादन होता है-"सनातन! अब उस विवरण को सुनो ॥४८-५०॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (२—१—४)—

भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम्।
श्रीभागवतरक्तानां रसिकासङ्गरङ्गिणाम् ॥४४॥
जीवनीभूतगोविन्दपाद—भक्ति—सुखश्रियाम्।
प्रेमान्तरङ्गभूतानि कृत्यान्येवानुतिष्ठताम् ॥४५॥
भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला।
रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम् ॥४६॥
कृष्णादिभिर्विभाव—द्यैर्गं तैरनुभवाध्वनि।
प्रौढ़ानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम् ॥४७॥

(श्रवण-कीर्त्तनादि) साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते-करते जिनका चित्त दोषसमूह (भुक्ति-मुक्तिवासना) के दूर हो जाने से निर्मल होगया है, और उसी कारण जिनका चित्त प्रसन्न (अर्थात् शुद्ध-सत्त्व के आविर्भावयोग्य एवं (शुद्धसत्त्व के आविर्भाववशतः) उज्ज्वल हो चुका है, जो श्रीभगवत्-सम्बन्धीय विषयों में ही अनुरक्त हैं, रसज्ञ-भक्तों के सङ्ग प्राप्त करने में ही जो अत्यन्त आनन्द अनुभव करते हैं, श्रीगोविन्द के चरणकमलों में भक्तिरूप सुख-सम्पत्ति को ही जो अपना जीवन सर्वस्व जानते हैं, एवं जो प्रेम के अन्तरङ्ग-साधनों का अनुष्ठान करते रहते हैं—ऐसे उन समस्त भक्तों के हृदय में रहने वाली पिछले एवं आधुनिक इन दोनों संस्कारों द्वारा उज्ज्वलता-प्राप्त आनन्द-रूपा जो श्रीकृष्ण-रति है, वह अनुभव के पथ में श्रीकृष्णादि-विभावादि के द्वारा (अनुभवलब्ध विभाव-अनुभावादि के साथ मिलकर) आस्वाद्यता (रसरूपता) को प्राप्त होकर प्रौढ़ानन्द-चमत्कारिता की पराकाष्ठा को लाभ करती है (अर्थात् उसके आस्वादन में अपूर्व आनन्द-चमत्कारिता का अनुभव होता है ॥ ४४—४७॥

चै० च० चु० *टीका*:—ऊपर के चार श्लोकों में भक्तिरसास्वादन के उपयोगी साधन, रसास्वादन के सहायक एवं वह किस प्रकार आस्वादन होता है, यह बात कही गई है। जिनके द्वारा भक्त भक्ति-रसास्वादन की योग्यता प्राप्त करते हैं वे रसास्वादन के साधन दो हैं (१) श्रवण-कीर्त्तनादि साधन-भक्ति का अनुष्ठान तथा (२) प्रेम के अन्तरङ्ग-साधनों का अनुष्ठान। प्रेम के अन्तरङ्ग-साधनों के सम्बन्ध

में श्रीपाद सनातन गोस्वामीजी ने कहा है कि जिस भजनाङ्ग में श्रीकृष्ण की ब्रजलीला का चिन्तन एवं सङ्कीर्त्तन ही मुख्यभाव से हो—वही प्रेम का **अन्तरङ्ग-साधन** है। उसमें भी विशेषत्व यह है कि अपने इष्टदेव का नामसङ्कीर्त्तन अथवा अपने को जो भगवन्नाम अत्यन्त प्रिय हो उस नाम का सङ्कीर्त्तन करना, प्रेम का अन्तरङ्ग-तर-साधन है।

श्लोक सं० ४६ में संस्कार-युगल को रसास्वाद का सहायक कहकर वर्णन किया गया है। वे संस्कार युगल क्या हैं?—पूर्व जन्म की तथा इस जन्म की भक्तिवासना से ही संस्कार-युगल का तात्पर्य है—जो आस्वादन की विचित्रता व चमत्कारिता सम्पादन करे, उसे आस्वादन का सहायक कहा जाता है। क्षुधा या भोजन की इच्छा ही भोज्यरस-आस्वादन की चमत्कारिता विधान करती है, कारण कि क्षुधा की तीव्रता जितनी अधिक होगी भोज्यरस उतना ही अच्छा लगेगा। उसी प्रकार भक्तिरस के निमित्त यदि वासना ही न रहेगी, तो उसके आस्वादन में आनन्द नहीं मिलेगा। इसलिये भक्तिरसास्वादन के लिये भक्ति-वासना अपरिहार्य्य है। यह भक्ति-वासना जितनी भी गाढ़ होगी, आस्वादन भी उतना ही मधुर होगा। आधुनिकी अर्थात् इस जन्म की भक्तिवासना आस्वादन की मधुरता विधान करती है—यह बात सत्य है, किन्तु पूर्व जन्म की सञ्चित भक्ति-वासना यदि रहे, तो वासना की गाढ़ता तथा तीव्रता वश आस्वादन की भी अपूर्व चमत्कारिता उपलब्ध होती है। यह आवश्यक नहीं है कि पूर्वजन्म की भक्ति-वासना रहने पर ही रति में गाढ़ता या तीव्रता आती है। यदि किसी विशेष सौभाग्यवश किसी को इसी जन्म में ही कृष्णरति में तीव्र उत्कण्ठा जागृत हो जाए तो फिर पूर्वजन्म की वासना के न रहने पर भी आधुनिकी भक्ति-वासना से अपूर्व रसास्वादन प्राप्त हो सकता है। अभिप्राय यह है कि भक्ति-वासना की अधिकता ही रसास्वादन की प्रधान सहायक है। अतः संस्कार-युगल को रसास्वादन का सहायक कहा गया है।

अन्त में भक्ति रसास्वादन किस प्रकार होता है—इसके सम्बन्ध में कहते हैं—आनन्दस्वरूपा जो श्रीकृष्ण-रति है, वह कृष्णादि-विभावादि के साथ मिलकर आस्वाद्यता को प्राप्त करके प्रौढ़ानन्द-चमत्कारिता की पराकाष्ठा को लाभ करती है। तात्पर्य यह है कि भक्ति या कृष्णरति ह्लादिनीशक्ति की वृत्ति होने से स्वतः ही आनन्दस्वरूपा है। वह स्वतः ही आस्वादनीय है; किन्तु स्वतः आस्वादनीय होने पर भी केवलमात्र रति में आस्वादन-चमत्कारिता नहीं है। अतः केवल रति को रस नहीं कहा जाता, क्योंकि चमत्कारिता ही रस का सार है। दही स्वतः आस्वादनीय वस्तु है, किन्तु मिश्री-इलायची आदि मिलने से जैसे वह अपूर्व स्वादिष्टता को धारण करती है, उसी प्रकार कृष्णरति भी अनुकूल सामग्री अर्थात् विभाव—अनुभावादि के साथ मिलने से अपूर्व चमत्कारिता को धारण करके रस-रूप में परिणत हो जाती है। जो परमास्वाद्य होती है।

शान्त, दास्य, सख्यादि स्थायीभावों के साथ मिलकर विभावादि जब भक्त के अनुभव में आते हैं, तभी वह इसकी आस्वादन-चमत्कारिता को भी जान सकता है। किन्तु उस अनुभव का स्वरूप क्या है?—उसे एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—यदि हम एक बलवान् निर्दयी पुरुष को एक बालक को मारते हुए देखते हैं, तो भावना द्वारा हम अपने को बालक की अवस्थापन्न करते हुए बालक के कष्ट का किञ्चित् अनुभव करते हैं। भक्तिरस का अनुभव भी क्या इस प्रकार की भावना द्वारा लाभ किया जाता है?—भक्तिरसामृतसिन्धु कहता है—नहीं, भावना द्वारा भक्तिरस का अनुभव नहीं किया जा सकता। भावना के पथ को अतिक्रम करके एवं अतिशय चमत्कारिता का आधार-स्वरूप होकर जो सत्त्वोज्ज्वल-चित्त में आस्वादित होता है—उसे रस कहते हैं। श्रीजीवगोस्वामीपाद ने कहा है कि समाधि एवं ध्यान में

पार्थक्य है, रस और भावना में भी वही पार्थक्य है। ध्यान और भावना में अन्तःकरण की वृत्ति ध्येय वस्तु में सम्यक्‌रूप से केन्द्रीभूत नहीं होती। किन्तु समाधि में ऐसा होता है और इसीलिये अन्य समस्त विषयों में इन्द्रियों की क्रिया स्तम्भित हो जाती है। रस के सम्बन्ध में भी यही बात है। किसी वस्तु के आस्वादन में यदि ऐसा एक सुख मिले, जिसकी आस्वादन-चमत्कारिता में समस्त वहिरिन्द्रियों की तथा अन्तरिन्द्रियों की वृत्तियां केन्द्रीभूत हो जाएं एवं अन्य समस्त विषयों में इन्द्रियों की क्रिया स्तम्भित होजाए, ऐसा होने पर स्वकारणीभूत विभावादि के साथ सम्मिलित उस आनन्द-चमत्कारितामय सुख को 'रस' कहते हैं। ऐसे रस का अनुभव भावना जात अनुभव नहीं है। वह हृदय में शुद्धसत्त्व के अस्तित्व ज्ञापक अनुभव है। शरीर को वर्फ का स्पर्श होते ही जैसे शीतलता का अनुभव होता है, उसी प्रकार भक्त के चित्त में स्थायीभाव जब रसरूप में परिणत होते हैं, चित्त तभी हो उनके अस्तित्व का अनुभव करता है। शुद्धसत्त्व या रति अथवा रसरूप में परिणत-रति के स्वप्रकाशत्व गुण के कारण ही रस का इस प्रकार अस्तित्व ज्ञापित होता है। इस अस्तित्व-ज्ञापन को ही यहाँ 'अनुभव' कहा गया है। इस अनुभव के उत्पन्न होने पर ही भक्त भक्तिरस का आस्वादन किया करता है।

एइ—रस—आस्वाद नाहि अभक्तेर गणे।
कृष्णभक्तगण करे रस—आस्वादने ॥५१॥

इस प्रकार के भक्तिरस का आस्वादन एकमात्र कृष्ण-भक्त ही कर सकते हैं। जो अभक्त हैं, उनके लिये इस रस का आस्वादन असम्भव है ॥५१॥

चै० च० चु० *टीका*:—श्रीकृष्ण-भक्त किसे कहते हैं ? भक्तिरसामृतसिन्धु (२-१-१४२) में कहा है **"तद्भावभावितस्वान्ताः कृष्णभक्ता इतीरिताः"** ॥—जिसका अन्तःकरण श्रीकृष्ण-भाव से भावित है, उन्हें **श्रीकृष्ण-भक्त** कहते हैं।

श्रीकृष्ण-भक्त दो प्रकार के हैं—साधक तथा सिद्ध। श्रीकृष्ण में जो जातरति हैं, किन्तु सम्यक्‌रूप-से जिनके विघ्नों की निवृत्ति नहीं हुई एवं जो श्रीकृष्ण-साक्षात्कार के योग्य हैं, वे **साधक-भक्त** हैं। और जिनके अविद्या-अस्मितादि समस्त क्लेश व अनर्थ दूर हो चुके हैं, जो सदा ही कृष्ण-सम्बन्धीय कर्म करते हैं एवं जो सर्वदा ही प्रेम-सुखादि के आस्वादन-परायण हैं, वे **सिद्ध-भक्त** हैं। सिद्ध-भक्तों के फिर तीन भेद हैं:—साधन-सिद्ध, कृपा-सिद्ध तथा नित्य-सिद्ध।

कृष्ण-भक्ति-रस का आस्वादन, जिसकी आलोचना ऊपर की गई है, वह रसास्वादन एक मात्र उक्त सिद्ध-भक्तों के लिये ही सम्भव है। और जातरति साधक-भक्तों में जिनकी आत्यन्तिकी अनर्थ निवृत्ति हो चुकी है, उनके पक्ष में भी भक्तिरसास्वादन सम्भव हो सकता है। किन्तु जो भक्ति का आदर त्याग करके वैराग्यमात्र धारण करते हैं, किंवा शुष्क-ज्ञान के अभ्यास में तत्पर हैं, अथवा जो तर्क-कुतर्क करने वाले हैं और कर्मकाण्ड में लगे हुए हैं, तथा जो निर्विशेष—ब्रह्मानुसन्धानकारी हैं—वे भक्तिरस-आस्वादन के अधिकारी ही नहीं हैं, वे बहिर्मुख हैं—ऐसा भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है।

पीछे कहा जा चुका है कि जिनके चित्त में शुद्धसत्त्व का आविर्भाव नहीं हुआ, वे भक्ति-रस के आस्वादन के अयोग्य हैं। भक्त-व्यतीत अन्य किसी के चित्त में शुद्धसत्त्वोज्ज्वलता प्राप्त हो ही नहीं सकती, और न ही और किसी के चित्त में रति के साथ—विभावादि का मिलन ही हो सकता है, अतः भक्त के बिना और कोई भी भक्तिरस के आस्वादन करने का अधिकारी नहीं है।

भक्ति का साहचर्य लेकर जो योगमार्ग के एवं ज्ञान-मार्ग के साधक साधन किया करते हैं, अविद्या एवं विद्या के (रजमस्तमोहीन—सत्त्व के) तिरोधान हो जाने पर उनके चित्त में भी शुद्धसत्त्व

का आविर्भाव हो सकता है, किन्तु उनमें भक्ति-वासना न होने से वह शुद्धसत्त्व रतिरूप में परिणत नहीं हो सकता। अतः उनके चित्त में विभावादि की स्फूर्ति भी असम्भव है। इस प्रकार स्थायीभाव एवं विभावादि के अभाव में—शुद्धसत्त्व के आविर्भाव होने पर भी योगी तथा ज्ञानी साधकों के चित्त में भक्ति-रस सिद्ध नहीं हो सकता। अतः उनके पक्ष में भी भक्तिरस का आस्वादन असम्भव है। अतः केवलमात्र श्रीकृष्ण-भक्त ही भक्तिरस का आस्वादन कर सकता है। इसके प्रमाण में नीचे एक श्लोक का उल्लेख कहते हैं—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (२-५-७८)—

सर्वथैव दुरूहोऽयमभक्तैर्भगवद्रसः।
तत्पादाम्बुजसर्वस्वैर्भक्तैरेवानुरस्यते ॥४८॥

यह भक्तिरस अभक्त-गणों के पक्ष में सर्वप्रकार से दुष्प्राप्य है; किन्तु श्रीकृष्णपादाम्बुज ही जिनके सर्वस्व हैं, वे भक्त ही इस रस का निरन्तर आस्वादन करते रहते हैं ॥४८॥

संक्षेपे कहिल एइ 'प्रयोजन' विवरण। पञ्चम-पुरुषार्थ एइ—कृष्णप्रेम धन ॥५२॥
पूर्वे प्रयागे आमि रसेर विचारे। तोमार भाइ रूपे कैल शक्ति सञ्चारे ॥५३॥
तुमिह करिह भक्तिरसेर विचार। मथुरार लुप्ततीर्थेर करिह उद्धार ॥५४॥
वृन्दाबने कृष्णसेवा वैष्णव-आचार। भक्ति-स्मृति-शास्त्र करि करिह प्रचार ॥५५॥
'युक्तवैराग्य' स्थिति सब शिखाइल। शुष्क-वैराग्य ज्ञान सब निषेधिल ॥५६॥

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—"सनातन ! मैंने तुम्हें प्रयोजन-तत्त्व का संक्षेप से विवरण सुनाया है। 'कृष्ण-प्रेमधन' ही पञ्चम पुरुषार्थ है। पहले मैंने प्रयाग में रस-तत्व को समझाते हुए तुम्हारे भाई श्रीरूप में उस रस-तत्व मूलक शास्त्रों की रचना करने की शक्ति सञ्चार की थी तथा उनके प्रचार करने का आदेश भी दिया था। तुम भी भक्तिरस-तत्व का विचार एवं प्रचार करना। मथुरामण्डल (व्रजमण्डल) के जो समस्त तीर्थ कालवश विलुप्त होगये हैं, उनका जाकर तुम उद्धार करो अर्थात् जनसाधारण के आगे उन्हें प्रकाशित करो। श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्णमूर्त्ति-सेवा की प्रतिष्ठा तथा वैष्णवों को कैसा आचरण करना चाहिये—उसके लिये भक्ति-स्मृति-शास्त्र (अर्थात् श्रीहरिभक्तिविलास) की रचना करके तुम प्रचार करना। सबको युक्त-वैराग्य अर्थात् भक्ति के उपयोगी वैराग्य या भक्ति विकाश के लिये अनुकूल जो वैराग्य है—उसकी शिक्षा दो। और शुष्क-वैराग्य अर्थात् भगवत्-सम्बन्धी वस्तुओं का या भगवत्प्रसादी का भी त्याग या वैराग्य एवं ज्ञान अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मानुसन्धानात्मक-ज्ञान का सर्वथा निषेध करना ॥५२-५६॥

निम्नोद्धृत श्लोक में युक्त-वैराग्य का लक्षण वर्णन करते हैं—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-२-१२५)

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥४६॥

विषयों में आसक्ति-हीन होकर यथायोग्यभाव से जो विषयों का उपभोग करते हैं—(अर्थात् जो केवल कृष्ण-सेवा की अनुकूलता के लिये ही विषयों का भोग करते हैं—जितने विषयभोग के बिना भक्ति-अनुष्ठान की रक्षा ही नहीं हो सकती—उतना ही विषय-भोग जो करते हैं) उनके वैराग्य को युक्त-वैराग्य कहते हैं। उस युक्त-वैराग्य से ही श्रीकृष्ण-सम्बन्ध में आग्रह उत्पन्न होता है ॥४६॥

अब नीचे के कई एक श्लोकों में युक्त-वैराग्य-स्थित भक्तों के आचरण का उल्लेख करते हैं:—

तथाहि श्रीमद्भगवद्गीतायाम् (१२—१३ से २०)—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुखसुखः क्षमी ॥५०॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥५१॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते तु यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥५२॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥५३॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥५४॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण—सुखदुखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥५५॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥५६॥
ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥५७॥

श्रीमद्भगवत्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने श्रीअर्जुन के प्रति कहा है—"जो किसी से द्वेष नहीं करता (किसी द्वारा द्वेष किये जाने पर भी जो द्वेष नहीं करता, 'मेरी प्रारब्धानुसार परमेश्वरकी प्रेरणा से ही यह व्यक्ति मेरे साथ द्वेष करता है'—यह जानकर जो जीवमात्र के प्रति द्वेष-शून्य है); (सब जीवों में परमेश्वर अधिष्ठित हैं—यह जानकर) जो जीवमात्र के प्रति स्निग्ध है अर्थात् किसी जीव को खेद नहीं देता। जो करुण है, जो देहादि की ममता से रहित है, जो निरहङ्कार है, सुख में हर्ष से और दुख में उद्वेग से रहित है, जो सर्वविषय में सहनशील है, जो लाभ एवं क्षति में भी प्रसन्नचित्त रहता है, जो भक्ति योग-युक्त है, जो जितेन्द्रिय है, मैं भगवद्-दास हूँ—इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से जो कुतर्क आदि द्वारा विचलित नहीं होता, जिसने मन एवं बुद्धि को मुझ में अर्पण कर दिया है, वह भक्त ही मुझे प्यारा है। जिससे कोई भी उद्वेग नहीं पाता, जो लोगों द्वारा उद्विग्न नहीं होता, एवं जो हर्ष, क्रोध, भय तथा उद्वेग से मुक्त है, वह मेरा प्रिय-भक्त है। जो किसी की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखता, जो पवित्र है, जो दक्ष है, जो उदासीन अर्थात् जिसके लिये स्वपक्ष एवं पर-पक्ष नहीं है, जो गत-व्यथ है, जो भक्ति विरोधी-उद्यमादि (सर्वारम्भ) को परित्याग करता है—वह भक्त मेरा प्रिय है। जो प्रियवस्तु को पाकर हृष्ट नहीं होता, अप्रियवस्तु को पाकर जो उससे द्वेष नहीं करता, प्रियवस्तु के नष्ट हो जाने पर जो उसके लिये शोक नहीं करता, प्रिय-वस्तु के पाने के लिये जो उसकी आकाङ्क्षा नहीं करता, जिसने शुभाशुभ-कर्म परित्याग कर

दिये हैं, वह भक्तिमान् व्यक्ति ही मेरा प्रिय है। जो शत्रु एवं मित्र में, मान एवं अपमान में, शीत एवं गर्मी में, सुख एवं दुख में समभावापन्न हैं। जो आसक्ति-रहित है, निन्दा एवं स्तुति में जिसका सम-ज्ञान है, जो मौनी है अर्थात् जिसने वाक्यों को संयत कर लिया है, जो हर अवस्था में सन्तुष्ट रहता है। जो अनिकेत है अर्थात् जिसका कोई निर्दिष्ट वासस्थान नहीं है, एवं जो स्थिर-बुद्धि है—वह भक्तिमान् व्यक्ति मुझे प्रिय है। यह जो कुछ मैंने तुम्हें बतलाया है इस धर्मामृत में जो व्यक्ति श्रद्धावान् होकर मेरी उपासना करता है, वह भक्तिमान् व्यक्ति मेरा अतीव ही प्रिय है ॥५०—५७॥

तथाहि (भा: २—२—५)—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धाः किमजितोऽवति नोपसन्नान् कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥५८॥

श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेव जी ने कहा है—"हे परीक्षित ! (लज्जा-निवारण के लिये पथ में जीर्णवस्त्र क्या नहीं पड़े हैं ? परोपकारी वृक्षों ने क्या फल दान करना छोड़ दिया है ? नदियां क्या सूख गई हैं ? पर्वतों की गुफाएं क्या बन्द हो चुकी है ? भगवान् विश्वम्भरदेव ने शरणागत जनों की रक्षा करना क्या त्याग दिया है ? फिर क्यों साधुजन धन-मद में अन्धे लोगों की सेवा करते हैं ? ॥५८॥

(तात्पर्य यह है कि भक्त निरपेक्ष होकर सर्व विषय सन्तुष्ट होकर भगवद्भजन किया करते हैं, यथा लाभ सन्तुष्ट रहते हैं। किसी से कुछ याचना नहीं करते। यही वैष्णवों या भक्तों का कर्त्तव्य अथवा आचरण है)।

तवे सनातन सब सिद्धान्त पुछिल। भागवतसिद्धान्त गूढ़ सकल कहिल ॥५७॥
हरिवंशे कहियाछे गोलोकेर स्थिति। इन्द्र आसि कैल यबे श्रीकृष्ण के स्तुति ॥५८॥
मौषललीला आर कृष्ण-अन्तर्धान। केशावतार आर यत विरुद्ध व्याख्यान ॥५९॥
महिषीहरण-आदि सब मायामय। व्याख्या शिखाइल यैछे सुसिद्धान्त हय ॥६०॥

श्रीमन्महाप्रभु जी के मुख से भक्त-आचरण की व्याख्या सुनकर श्रीसनातनपाद ने समस्त सिद्धान्त (शास्त्र-सम्मत मीमांसा) की जिज्ञासा की और प्रभु ने श्रीमद्भागवत जी के समस्त गूढ़ सिद्धान्तों को उन्हें सुनाया। हरिवंश-ग्रन्थ में वर्णित गोलोक की स्थिति, जो इन्द्रने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए वर्णन की है। मौषल-लीला, एवं श्रीकृष्ण के अन्तर्धान की कथा, केशावतार—इत्यादि इस प्रकार के जो असङ्गत तथा विरुद्ध व्याख्यान हैं, उन समस्त का वास्तव रहस्य एवं सिद्धान्त प्रभु ने श्रीसनातनपाद को बताया और उन्होंने कहा कि महिषी-हरण आदि (मौषललीला, कृष्ण अन्तर्धान, महिषी-हरण आदि यह सब) लीलाएं माया द्वारा कल्पित हैं। वह सच्ची नहीं हैं—यह सब शिक्षा प्रभु ने श्रीसनातनपाद को दी ॥६०॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीमन्महाप्रभु जी ने श्रीभागवत जी के जो गूढ़ सिद्धान्त श्रीपादसनातन गोस्वामी जी को बताये, उन सब सिद्धान्तों की श्रीसनातनपाद ने स्व-रचित श्रीवैष्णवतोषणी टीका में प्रकाशित किया है। श्रीमद्भावत जी की श्रीवैष्णवतोषणी टीका—श्रीसनातनपाद द्वारा रचित एक अपूर्व महत्वशाली टीका है, जो जगत्-प्रसिद्ध है।

हरिवंश-नामक ग्रन्थ में गोवर्धनधारण-लीला के बाद इन्द्र के द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति वर्णन की गई है। उस स्तुति में इन्द्र के शब्दों में गोलोक की स्थिति या अवस्थान का वर्णन किया गया है।

किन्तु उन श्लोकों का जो यथाश्रुत अर्थ है अथवा उनमें जो गोलोक के अवस्थान के सम्बन्ध में कहा गया है, वह विचारपूर्वक नहीं है। वह क्यों और कैसे विचार पूर्वक नहीं है एवं इन्द्र की स्तुति का प्रकृत अर्थ क्या है ? —श्रीमहाप्रभु ने वह सब श्रीसनातनपाद को समझाया। श्रीपादसनातन गोस्वामी ने अपने द्वारा रचित श्रीवृहद् भागवतामृत ग्रन्थ में उन श्लोकों को उद्धृत करके स्वयं फिर उनकी टीका श्रीमहाप्रभु के अभिप्रायानुरूप लिखी है। श्लोक निम्नोद्धृत करते हैं —

स्वर्गादूर्द्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगण सेवितः।
तत्र सोमगतिश्चैव ज्योतिषाञ्च महात्मनाम् ॥ थ ॥
तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि।
स हि सर्वगतः कृष्णः महाकाशगतो महान् ॥ द ॥
उपर्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी।
याँ न विद्मो वयं पृच्छन्तोऽपि पितामहान् ॥ ध ॥
गतिः शमदमाढ्यानां स्वर्गः सुकृतकर्मणाम्।
ब्राह्मे तपसि युक्तानां ब्रह्मलोकः परागतिः ॥ न ॥
गवामेव तु गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः।
स तु लोकस्त्वया कृष्ण सीदमानं कृतात्मना ॥ प ॥
धृतो धृतिमता वीरनिघ्नतोपद्रवान् गवाम् ॥ फ ॥

(श्रीबृहद्भागवतामृत २-७-८० से ८५)

तात्पर्य यह है—इन्द्र ने कहा—स्वर्ग के ऊपर ब्रह्मर्षियों से सेवित ब्रह्मलोक या सत्यलोक है। उस ब्रह्मलोक में चन्द्र (सोम) और अन्यान्य ग्रह-नक्षत्रादि ज्योतिष्कमण्डल की गति है। उस ब्रह्मलोक के ऊपर गोलोक है। साध्यगण इस गोलोक को पालन करते हैं, गोलोक सर्वगत, महाकाशगत एवं महान है, उस गोलोक में आपकी (श्रीकृष्ण की) तपोमयीगति है, उस गति का तथ्य पितामह ब्रह्माजी से जिज्ञासा करने पर भी हम नहीं जान सकते हैं। शम-दमयुक्त पुण्यकर्मों के करने वालों की गति स्वर्ग है, और तपोयुक्त व्यक्तियों की गति ब्रह्मलोक परागादि है, गौओं की गति गोलोक है—इसकी गति दुरारोह है। यही गोलोक जब मेरे किये उपद्रवों द्वारा पीड़ित हुआ था, हे कृष्ण ! आपने तब इसकी रक्षा की थी।"

उक्त अर्थों से गोलोक का अवस्थान इस प्रकार जाना जाता है कि स्वर्ग के ऊपर ब्रह्मलोक या सत्यलोक है और उसके ऊपर ही गोलोक है। किन्तु श्रीपादसनातन गोस्वामी की टीकानुसार यह यथाश्रुत अर्थ एवं तद्रूप गोलोक का अवस्थान विचार युक्त एवं शास्त्र-सङ्गत नहीं हैं। उपर्युक्त अर्थों की नीचे आलोचना करते हैं—

चौदहलोकों में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, एवं सत्यं—यह सप्तलोक पृथ्वी से लेकर सत्यलोक तक वर्त्तमान हैं। सत्यलोक का दूसरा नाम 'ब्रह्मलोक' है। शब्द-कल्पद्रुमधृत देवी पुराण के प्रमाण से यह बात स्पष्ट है। इन सात लोकों के ऊपर या बाहर प्रकृति का आवरण मात्र है, इस आवरण को किसी लोक का नाम नहीं दिया गया है।

साधारणतः ब्रह्मलोक कहने से सत्यलोक ही समझा जाता है, श्लोक नं० (थ) में कहा गया है कि सत्यलोक में चन्द्र ग्रह, नक्षत्रादि ज्योतिष्कमण्डल की गति है। किन्तु यह बात शास्त्र-सम्मत नहीं है।

कारण कि विष्णुपुराण के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चन्द्र, सूर्य, ग्रह आदि के ऊपर ध्रुवलोक है और उसके ऊपर क्रमशः महः, जन, तपः, एवं सत्यलोक है। इससे पता लगता है कि चन्द्र-ग्रहादि ज्योतिष्क-मण्डल का स्थान सत्यलोक से बहुत नीचे है। अतः सत्य या ब्रह्मलोक में इस ज्योतिष्कमण्डल की गति असम्भव है। इसलिये ब्रह्मलोक का यथाश्रुत अर्थ सत्यलोक यहाँ असङ्गत है।

और फिर श्लोक (थ) के स्वर्ग-शब्द से स्वः-लोक से लेकर सत्यलोक तक के पांच लोकों का अभिप्राय है, क्योंकि श्रीभागवत जी (२-५-३८, ३९) में कहा गया है कि भूलोक भगवान् का चरण है भुवर्लोक उनकी नाभि है, स्वर्लोक उनका हृदय है, महर्लोक उनका वक्षस्थल है, जनलोक उनकी ग्रीवा, है, तपलोक उनके स्तनद्वय हैं तथा सत्यलोक उनका मस्तक है। इस प्रकार श्रीभगवान् के विराट-रूप की कल्पना की गई है और ब्रह्माण्ड की सीमा का वर्णन किया गया है। यह ब्रह्माण्ड या यह सब लोक प्राकृत सृष्टि के अन्तर्भुक्त हैं, सृष्टवस्तु हैं। किन्तु ब्रह्मलोक को श्रीभागवत २-५-३९ श्लोक में सनातन अर्थात् असृष्ट एवं अप्राकृत कहा गया है। अतः ब्रह्मलोक भगवान् के विराटरूप का अङ्ग नहीं है। अतः यह सप्त-लोकों के अतिरिक्त एक पृथक् लोक है, जो स्वर्ग के ऊपर अर्थात् सत्यलोक के ऊपर अप्राकृत लोक है, जिसे वैकुण्ठ कहा जा सकता है, अतः श्लोक (थ) के ब्रह्मलोक का अर्थ यहाँ वैकुण्ठ ही सङ्गत है, जिसमें ब्रह्मर्षि नारदादिकों की गति है।

इस प्रकार जब ब्रह्मलोक का अर्थ वैकुण्ठ है, तब उसी श्लोक (थ) में वर्णित 'सोम' एवं 'ज्योति' -शब्दों का यथाश्रुत अर्थ चन्द्रादि ज्योतिष्कमण्डल सङ्गत नहीं बैठता, क्योंकि चन्द्रादि-ग्रहगण की गति वैकुण्ठ में नहीं है। अतः यहाँ सोम-शब्द का अर्थ है—(स+ओम) पार्वती सहित शिव। और ज्योति का अर्थ ज्योतिःमय ब्रह्म की भाँति मायातीत मुक्तपुरुष ही हैं जो महाभागवत हैं, परम भक्ति परायण हैं. यथा सनकादि मुनि वैकुण्ठ में पार्वती सहित शिव एवं सनकादिकों की गति है। इस प्रकार श्लोक (थ) का अर्थ शास्त्रसम्मत है जो श्रीसनातन पाद ने किया है।

श्लोक (द, ध) में "गवां लोकः"—शब्द का अर्थ गोलोक ही सङ्गत है, जो वैकुण्ठ के ऊपर ही अवस्थित है। साध्यगण इस गोलोक की पालना या रक्षा करते हैं।" यहाँ साध्यगण का साधारण अर्थ देवता-विशेष ग्रहणीय नहीं है। उन साध्यगणों का लोक स्वर्ग है। वे साध्यगण अप्राकृत गोलोकधाम में नहीं जा सकते। अतः यहां साध्यगण से श्रीनन्द यशोदादि भगवत्-परिकर ही अभिप्रेत हैं, जो अपनी प्रेम सम्पत्ति द्वारा लीलारस-पुष्टि का साधन करके गोलोक के माहात्म्य की रक्षा करते हैं। वह गोलोक सर्वगत, महाकाशगत अर्थात् सर्वगत, अनन्त एवं विभु है। उस गोलोक में श्रीकृष्ण की गति है। गोलोक में गति होना, वैकुण्ठ में गति होने की अपेक्षा कठिन है। अतः उसे तपोमयी कहा गया है। एकमात्र केवल-समाधि द्वारा ही उसमें गति हो सकती है। अतः उसकी गति के सम्बन्ध में पितामह श्रीब्रह्माजी भी कुछ नहीं बता सकते।

(न) श्लोक में इन्द्र ने कहा है—"सुकृतकर्मा व्यक्तियों में जो शम-दमयुक्त हैं, स्वर्गलोक से सत्यलोक तक उनकी ही गति हो सकती है और "ब्राह्मे तपसि युक्तानां"—भगवद्विषयक तपस्या में भक्तिमार्ग के साधनों में नियुक्त जो भक्तगण हैं। उनकी ब्रह्मलोक अर्थात् वैकुण्ठ-लोक में गति है। उनके लिये वह गति परागति है, अर्थात् उन्हें वैकुण्ठ से फिर लौटना नहीं पड़ता है।

(प-फ) श्लोक में इन्द्र ने कहा है—"हे कृष्ण! आप का जो वासस्थल गोलोक है, उस गोलोक में गति कठिन है। अर्थात् गोप-गोपगणों को छोड़कर और व्यक्ति उस गोलोक को प्राप्त नहीं कर

सकता। इस प्रकार सर्वातिशायी महिमायुक्त आपका जो गोलोक या श्रीवृन्दावन-धाम है, वह मेरे द्वारा किये हुए वर्षादि उपद्रव से जब पीड़ित हुआ, तब आपने उसकी रक्षा की।''

वस्तुत: किसी प्रकार के उपद्रव द्वारा सच्चिदानन्दघन ब्रजधाम उत्पीड़ित नहीं हो सकता। ब्रजधाम की तो बात दूर, ब्रजधाम में जाने का अधिकार जिनको है, उनके लिये भी कोई किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकता। इन्द्र अपनी अज्ञतावश ही ऐसा जानता था कि उसके उपद्रवों से ब्रजधाम उत्पीड़ित हो रहा है। इस प्रकार हरिवंश में गोलोकधाम की जो स्थिति वर्णन की गई है, उसके यथाश्रुत अर्थ को विचारयुक्त न कहकर श्रीसनातनपाद ने अपने श्लोकों की उपर्युक्त शास्त्र-सम्मत अर्थ-व्याख्या की है।

मौषललीला—श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के प्रथम तथा तीसवें अध्याय में, एवं विष्णु-पुराण के ५-३७ अध्याय में एवं महाभारत के मौषलपर्व में—मौषललीला का वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है कि श्रीकृष्ण भगवान् की आज्ञा से यादवगणों ने पिण्डारक-तीर्थ में जाकर यज्ञ का अनुष्ठान किया। विश्वामित्र, कण्व, असित आदि मुनिगण भी यज्ञस्थल पर गये थे। वे सब जब यज्ञस्थल से अपने अपने आश्रमों को जाने लगे, तब रास्ते में यदुकुल के दुर्विनीत बालकों ने जाम्बवती पुत्र साम्ब को गर्भवती स्त्रीवेश में सजा लिया और उसे मुनिगणों के सामने ले आये और उनसे पूछने लगे कि इसके गर्भ से लड़की होगी या लड़का ? मुनिगण बालकों की दीठता पर कुपित हो उठे और उन्होंने कहा कि इसके गर्भ से यदुकुल के नाश करने वाला एक मूषल निकलेगा। बालकों ने जब साम्ब के पेट पर लपेटे हुए वस्त्र हटाये, तो सचमुच उन वस्त्रों में से एक लोहे का मूषल निकल पड़ा। वे बहुत भयभीत हुए और राजा उग्रसेन जी को जाकर सब वृत्तान्त सुनाया। उग्रसेन जी ने श्रीकृष्ण से कुछ न कहा और मूषल को चूर्ण करा डाला। एक कील बराबर जो अंश बच गया, उसके समेत उस सब चूर्ण को समुद्रमें फेंकवा दिया एक मत्स्य ने उस कील को झट निगल लिया और चूर्ण तरङ्गों के द्वारा तीर पर आकर संचित होगया और उससे एरक नाम की घास उत्पन्न हो आई, वह मत्स्य एक जरा-नाम व्याध के जाल में जा फंसा। व्याध को मत्स्य के पेट से जब वह लोह-कील मिला, तो उस जरा-व्याध ने उसे अपने एक बाण के अग्र-भाग पर जोड़ दिया।

कुछ समय बीतने पर समस्त द्वारका-परिकरों के साथ श्रीकृष्ण प्रभास-तीर्थ में गये, वहां मैरेय मधु पान करके यादव गण उन्मत्त हो उठे और परस्पर लड़ने लगे। वे परस्पर नानाविध अस्त्रों से युद्ध करने लगे और फिर मूसल चूर्ण से उत्पन्न हुई एरक घास से उन्होंने एक दूसरे को मार डाला। चार-पाञ्च यादव जिनमें श्रीकृष्ण के प्रपौत्र बज्रनाभ भी थे, बाकी बच गये। यादवगणों के निधन हो जाने पर बलराम जी ने समुद्र तीर पर जाकर योग अवलम्बन करके मनुष्य लोक को त्याग कर दिया। श्रीबलराम जी के निर्याण का दर्शन कर श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप ग्रहण कर भूमितल पर लेट गये। दैवात् वह जरा-व्याध शिकार खेलता हुआ वहाँ आ निकला। दूर से श्रीकृष्ण के लाल लाल चरण कमल को मृग का मुख जानकर उस व्याध ने उसी मूषलावशेष लोह खण्ड द्वारा जुड़े हुए बाण को दे मारा। समीप आकर देखने पर उसने भगवान् को देखा और उनसे अपने अपराध की क्षमा प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने कहा—"व्याध ! तुम कुछ डर मत करो, यह समस्त मेरी माया द्वारा ही किया गया हैं, तुम्हारा कुछ दोष नहीं है, तुम अब मेरी आज्ञा से वैकुण्ठ जाओ" (व्याध ने श्रीकृष्ण की तीनवार प्रदक्षिणा की और वह दिव्य विमान पर चढ़कर वैकुण्ठ चला गया। श्रीकृष्ण आग्नेयीयोग धारण कर बल से लोकाभिराम अपने शरीर को दग्ध न करके शरीर सहित अपने धाम को चले गये—ऐसा श्रीमद्भागवत जी (११-३१-५) में कहा गया है।

विष्णुपुराण (५-३८-१) श्लोक में तथा महाभारत मौषल-पर्व (७-३१) श्लोक में लिखा है कि श्रीबलराम व श्रीकृष्ण के परित्यक्त देहों का अग्निसत्कार किया गया। अन्यान्य यादवगणों के देह सत्कार की कथा भी वहाँ कही गई है।

श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण एवं महाभारत में यादवों के एवं श्रीकृष्ण के अन्तर्धान सम्बन्ध में जो कुछ वर्णित है, उसका यथाश्रुत अर्थ ही संक्षेप से ऊपर लिखा गया है, इससे ये ज्ञात होता है कि यादवों की मृत्यु हुई एवं उनके शरीर भी अग्नि में जलाए गये।

अब प्रश्न यह उठता है कि—श्रीकृष्ण यदि स्वयं भगवान् ही हैं, तो उनकी मृत्यु कैसी ? और उनके मृत-शरीर का अग्नि-सत्कार ही कैसे सम्भव हो सकता है ? क्रमशः इनका समाधान करते हैं। सर्व-प्रथम श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में आलोचना करते हैं—

श्रीकृष्ण के अन्तर्धान—के सम्बन्ध में महाभारत में इस प्रकार लिखा है (मूल-श्लोकों का अक्षरशः अनुवाद उद्धृत करते हैं)" जरानामक व्याध ने दूर से योगासन में सोये हुए श्रीकेशव को देखकर, मृग जानते हुए उनके प्रति बाण निक्षेप किया। इस बाण के लगते ही हृषीकेश का पदतल विद्ध होगया। तब वह व्याध मृग को पकड़ने की वासना से शीघ्र वहाँ आ पहुँचा। उसने देखा कि एक अनेक भुजाओं वाला पीताम्बरधारी योगासन में सोया हुआ पुरुष उसके बाण से घायल हुआ है। व्याध उसके दर्शन करने मात्र से ही अपने को अपराधी जानकर शङ्कितमन से उसके चरणों में गिर पड़ा। तब महात्मा मधुसूदन ने उसे आश्वासन प्रदान किया एवं शीघ्र आकाशमण्डल को प्रकाशमान करते हुए वे स्वर्ग को चले गये। उस समय इन्द्र, अश्विनीकुमारद्वय, एवं रुद्र, आदित्य, वसु, विश्वदेव, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व व अप्सरागण उनके प्रत्युद्गमनार्थ बाहर निकल आए, तब भगवान् नारायण उनके द्वारा सत्कार को पाकर उनके साथ अपने अप्रमेय स्थान पर आ पहुँचे। (महाभारत, चतुर्थ अध्याय)।

महाभारत के इस उल्लिखित विवरण से यह नहीं ज्ञात होता कि श्रीकृष्ण अपने शरीर को भूतल पर छोड़ गये थे। बल्कि इस विवरण से यह स्पष्ट है कि वे आकाशमण्डल को उद्भासित करते हुए शरीरसहित ही अपने अप्रमेय स्थान को चले गये। इन्द्रादि के अभ्यर्थना एवं सत्कारादि के उल्लेख से यह भी स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है कि श्रीकृष्ण देहहीन ज्योति या आत्मारूप से अपने स्थान पर नहीं गये वरं सविशेष विग्रहसहित ही निज-लोक को पधारे। श्रीमद्भागवत में कहा है—(११-३१-६)

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥ ब ॥

"जिससे धारणा के द्वारा समस्त लोग ध्यानमङ्गल प्राप्त कर सकें, उसी प्रकार की आग्नेयी योगधारणा में लोकाभिराम, अपने शरीर को दग्ध न करके, केवल योगधारणा में (शरीर सहित) अपने धाम में प्रवेश कर गये।"

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के ३१ वें अध्याय की टीका के प्रारम्भ में श्रीधरस्वामीपाद ने लिखा है-"श्रीकृष्ण ने अपनी इच्छा से अपने शरीर सहित ही अपने धाम में प्रवेश किया"। स्वच्छन्दमृत्यु-योगी आग्नेयी-योगधारणा द्वारा अपने शरीर को दग्ध करके ही लोकान्तर जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने आग्नेयी योगधारणा अवश्य दिखाई, किन्तु उन्होंने अपने शरीर को बिना दग्ध किये अर्थात् शरीर-सहित ही स्वीय धाम में प्रवेश किया। उन्होंने फिर आग्नेयी योगधारणा का अवलम्बन लिया ही क्यों ?—केवल योगियों को देहत्याग की रीति की शिक्षा देने के लिये उन्होंने ऐसा किया।

कुछ हो, भागवतजी से यह पता लगता है कि श्रीकृष्ण ने भूतल पर अपना कोई भी शरीर नहीं छोड़ा। वे सशरीर ही अपने धाम में पधारे। श्रीमद्भागवत के परवर्त्ती प्रसङ्ग से भी इसी तथ्य का प्रमाण मिलता है। वहाँ लिखा है कि मौषल लीला की कथा सुनकर देवकी, रोहिणी ने भी श्रीवसुदेव एवं श्रीकृष्ण-बलराम के शोक में प्राण त्याग दिये। सब यादवों की स्त्रियों ने अपने-अपने पति को आलिङ्गन करके चिताओं में आरोहण किया। सबके पृथक्-पृथक् नामों का श्रीशुकदेवजी ने उल्लेख किया है। किन्तु रुक्मिणी आदि के विषय में स्पष्ट कहा गया है कि—"रुक्मिणी-आदि श्रीकृष्ण पत्नीगण ने श्रीकृष्ण में चित्त सन्निवेश करके अग्नि में प्रवेश किया।" "श्रीकृष्णपत्नियों ने भी श्रीकृष्णको या श्रीकृष्ण के शरीर को आलिङ्गन करके चिता में आरोहण किया"—ऐसा कुछ भी लेख नहीं है। इससे भी प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण ने भूतल पर कोई शरीर नहीं छोड़ा, वे सशरीर ही अपने धाम में प्रवेश कर गये।

महाभारत में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान-प्रसङ्ग में कोई भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि जिससे यह सिद्ध हो कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने शरीर को भूतल पर छोड़ गये थे,—किन्तु महाभारत में आगे चलकर मौषल-पर्व के सप्तम अध्याय में कहा है कि "अर्जुन ने श्रीबलदेव एवं श्रीवासुदेव के शरीरों को भी ढूँढ़कर चितानल में भस्मसात् किया।" श्रीकृष्ण जब सशरीर ही अपने धाम को पधारे थे तो इस उक्ति के अनुसार श्रीकृष्ण का शरीर, जो अर्जुन ने भस्मसात् किया, वह कहाँ से आया था ?

विष्णुपुराण (५-३७-६८ व ६९) में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख है:—

गते तस्मिन् स भगवान् संयोज्यात्मानमात्मनि।
ब्रह्मभूतेऽव्ययेऽचिन्त्य वासुदेवमयेऽमले ॥ भ ॥
अजन्मन्यजरेऽनाशिन्यप्रमेयेऽखिलात्मनि।
तत्याज्य मानुषं देहमतीत्य त्रिविधां गतिम् ॥ म ॥

श्रीकृष्ण के अनुग्रह से जरा-नामक व्याधके वैकुण्ठ चले जाने पर भगवान्ने अमल, अव्यय, अचिन्त्य, ब्रह्मभूत वासुदेवमय स्वकीय आत्मा में आत्मा का योग करके त्रिविधात्मक प्रकृति को त्याग करके मानुष देह का परित्याग कर दिया। वासुदेवमय या वासुदेवात्मक भगवत् स्वरूप जन्म एवं जरारहित होता है, अविनाशी, अप्रमेय एवं अखिलस्वरूप होता है। और कहा गया है—"अर्जुन ने श्रीकृष्ण व बलराम के कलेवरद्वय एवं अन्यान्य यादवों के शरीर अन्वेषण करके संस्कार कराया ॥ (वि० पु० ५-३८-१)"

विष्णुपुराण के उपर्युक्त विवरण से श्रीकृष्ण के देहत्याग की बात जानी जाती है और देह-सत्कार की बात भी ज्ञात होती है, किन्तु देह-त्याग की बात जो लिखी गई है, वह यथाश्रुत अर्थमात्र ही है अर्थात् वास्तव अर्थ यह नहीं है। ऊपर के अर्थों में श्लोक के मूल "**संयोज्यात्मानमात्मनि**"—अंश के अनुवाद में कहा गया है कि "वासुदेवमय स्वकीय आत्मा में आत्मा का योग करके।" दोनों 'आत्मा'—शब्द का एक ही अर्थ करने से कुछ अभिप्राय नहीं निकलता "आत्मा में आत्मा का योग" इसका कुछ भी तात्पर्य नहीं है। यहां "आत्मनि"—शब्द का अर्थ है स्वरूप में अर्थात् अपने नित्यसिद्ध-स्वरूप में। दूसरे "आत्मानं"—शब्द का अर्थ है—मन। इस प्रकार मूल-अंश का सङ्गत एवं वास्तव अर्थ होता है। "श्रीकृष्ण ने वासुदेवमय स्व-स्वरूप में मन संयोग करके"। "वासुदेवमय स्वरूप में मन संयोग करना" और "श्रीकृष्ण का मानुष देह त्याग करना" इनमें कुछ भी भेद नहीं है। वे आत्माराम हैं—अपने में ही आप रमण करते हैं। इससे उनकी आत्मारामता ही सूचित होती है। उनका वह स्वरूप "अमल, अव्यय, अचिन्त्य, ब्रह्मभूत, जन्मजरा रहित, अविनाशी, अप्रमेय एवं

अखिल-स्वरूप है"—यह बात विष्णुपुराण के इसी ही श्लोक में कही गई है, जिनका ऐसा स्वरूप है, वे भगवान् ही हो सकते हैं। अतः श्रीकृष्ण भगवान् हैं—यह बात भी विष्णुपुराण से सिद्ध होती है। अतः भगवान् में देह-देही भेद रह ही नहीं सकता। उनका जन्म-मृत्यु नहीं होता। वे आनन्दमय हैं। उनका देह जीवों की भाँति पृथक् कुछ वस्तु नहीं है। उनका आविर्भाव-तिरोभावमात्र ही होता है। जब वे अपनी नर-लीला प्रकट करते हैं, नर-लीला की सिद्धि के निमित्त तब वे जन्म-लीला का अभिनय-मात्र करते हैं। और जब वे नर-लीला को अप्रकट करते हैं, तब वे अपना तिरोभाव-मात्र कर देते हैं। देह-त्याग का वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

"**वासुदेवमय**"—शब्द का अर्थ भी विवेच्य है। "वसुदेव" शब्द का अर्थ है "शुद्ध-सत्त्व।" श्रीमद्भागवत का "**सत्त्वं-विशुद्ध वसुदेवशब्दितम्**" वाक्य ही इसका प्रमाण है। "वासुदेव" शब्द का अर्थ है शुद्ध-सत्त्व-घटित। और "वासुदेवमय"—शब्द का अर्थ है—शुद्धसत्त्वमय—सच्चिदानन्दमय। वासुदेव मय अर्थात् सच्चिदानन्दमय जिनका स्वरूप है, उनके जन्म-मृत्यु कहाँ? सशरीर जैसे वे आविर्भूत होते हैं, सशरीर वैसे ही वे तिरोभाव को प्राप्त होते हैं। फिर विष्णुपुराण के "**तत्याज मानुषं देहं**"—मानुष देह का उन्होंने त्याग कर दिया—इस अंश का क्या तात्पर्य है?—

उत्तर—यहाँ "**मानुष-देह**"—शब्द का यदि साधारण अर्थ लिया जाए तो इसका अर्थ होता है—साधारण मनुष्य की भांति द्विभुज एक शरीर, जिसका श्रीकृष्ण ने त्याग किया। किन्तु श्रीकृष्ण का द्विभुज-शरीर था'—विष्णुपुराण में ऐसा उल्लेख नहीं है। विष्णुपुराण कहता है—'**ततश्च ददृशे तत्र चतुर्बाहुधरं नरम्**"। (वि० पु० ५-३७-६४) अर्थात् जरा व्याध ने एक चतुर्बाहु (चार बाहों वाले) मनुष्य को देखा। उसे मनुष्य-देह नहीं कहा जा सकता। अतः मनुष्य-देह का त्याग किया—इस प्रकार का यथाश्रुत अर्थ विचारपूर्वक नहीं है। वास्तविक अर्थ यहां यह है कि "मनुष्यलोक में प्रगटित-देह या श्रीविग्रह"—उसका उन्होंने त्याग कर दिया। प्रगटित-देह को त्यागने का दूसरे शब्दों में यह अर्थ है कि उन्होंने नर-लीला को भी अप्रगट कर दिया। जो विग्रह नर-लोक में वर्तमान था उसे उन्होंने अन्तर्हित कर लिया। यही अर्थ ही प्रकृत अर्थ है। ऐसा अर्थ न करने से विष्णुपुराण के वाक्यों में ही परस्पर सङ्गति नहीं रहती।

इस प्रकार के अर्थों के समर्थक युक्ति एवं न्याय के विधान भी विद्यमान हैं। यदि ऐसा कहा जाए कि—एक मनुष्य पानी से भरा हुआ सोने का कलश उठाये हुए जा रहा था, पथ में चलते-चलते वह थक गया एवं बड़ा दुखी हुआ; उसने "भरे हुए सोने के कलश का त्याग कर दिया" तो ऐसा कहने का यह अभिप्राय है कि उसने जल को फैला दिया और सोने के कलश को घर ले गया। ऐसा ही अर्थ सङ्गत है। उसने सोने का कलश भी फैंक दिया—ऐसा अर्थ ग्रहणीय नहीं है। "उसने जलपूर्ण सोने का घड़ा त्याग कर दिया"—इस वाक्य में सोने का घड़ा—विशेष्य है। "जलपूर्ण"—विशेषण है। भार उठाने में असमर्थता के कारण पथिक का सोने के कलश को त्याग करना असम्भव है, जल को फ़ैला कर खाली सोने के कलश को उठा ले जाना ही अर्थ सङ्गत है। अतः "त्याग कर देना"—इस क्रिया का सम्बन्ध विशेष्य—अर्थात् सोने के कलश के साथ समाचीन नहीं है। उसका सम्बन्ध विशेषण अर्थात् "जलपूर्ण" के साथ है। अर्थात् उसने जल का ही त्याग किया। इसी प्रकार विष्णुपुराण के "तत्याज मानुषं देहम्"—वाक्य में त्याग करने की क्रिया का सम्बन्ध विशेषण—"मानुषं" से है। विशेष्य—"देहम्" से नहीं है। अर्थात् श्रीकृष्ण ने "मानुषं" मनुष्यलोक में "प्रगटत्व" का त्याग किया; देह का त्याग नहीं किया। इस अर्थ का समर्थक न्याय वाक्य इस प्रकार है—"**सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुप संक्रामतः सति**

विशेष्यवाधे"—विशेषण-युक्त विशेष्य के साथ विधि या निषेध का योग होने पर यदि विशेष्य के साथ उस विधि या निषेध के सम्बन्ध में बाधा प्राप्त हो, तो विशेषण के ऊपर ही उस विधि-निषेध का प्रभुत्व संक्रामित होगा। यहाँ विशेष्य-पद जो 'देह' है, उसके साथ 'तत्याज'—इस क्रिया-पद-रूप विधि का सम्बन्ध जोड़ने से बाधा प्राप्त होती है। अतः विशेषण-पद "मानुष"—के साथ ही तत्याज-क्रिया का सम्बन्ध सङ्गत है इस आलोचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीकृष्ण शरीर सहित ही अन्तर्धान हुए थे। उन्होंने कोई शरीर भूतल पर नहीं छोड़ा।

प्रश्न होता है कि यदि श्रीकृष्ण सशरीर ही अन्तर्धान हुए थे तो विष्णुपुराण में यह कैसे कहा गया है कि "अर्जुन ने श्रीकृष्ण का देह अन्वेषण करके उसका सत्कार किया।" और महाभारत ने भी यही बात कही है। यदि वे सशरीर ही अपने धाम को पधारे थे तो सत्कार के लिये उनका शरीर कहां से आया था?

दो भावों से इस समस्या का समाधान किया जा सकता है—प्रथमतः, यह स्पष्ट ही जाना जा सकता है कि विष्णुपुराण तथा महाभारत–इन दोनों ग्रंथों में प्रत्येक में ही श्रीकृष्ण के अन्तर्धान सम्बन्ध में एक वचन का दूसरे वचन से विरोध है। विष्णुपुराण और महाभारत में पहले तो कह दिया गया है कि श्रीकृष्ण सशरीर अन्तर्धान हुए। फिर दोनों में ही कह दिया गया कि उनके देह का सत्कार किया गया। इन परस्पर विरोधी वचनों में एक ही वचन सत्य हो सकता है। कौनसा वचन सत्य है?—जिस वाक्य के सम्बन्ध में किसी भी ग्रन्थ में मतभेद न पाया जाय, वही वाक्य ही सर्वसम्मत एवं सत्य माना जाता है। श्रीकृष्ण सशरीर अन्तर्धान हुए—इसका उल्लेख सब ग्रन्थों में है। इसमें मतभेद नहीं है। श्रीकृष्ण के देह का अग्नि सत्कार किया गया—यह बात पुराण-शिरोमणि एवं प्रमाण शिरोमणि श्रीमद्भावगत में कहीं भी उल्लिखित नहीं है। अतः उनके त्यक्तदेह के सत्कार विषय में मतभेद है। विशेषतः जो ग्रन्थ उनके व्यक्तदेह के सत्कार का उल्लेख करते हैं, उन्हीं में उसके विरोधी वचन विद्यमान हैं। अतः उनके इस प्रकार के वाक्य जो सर्वसम्मत नहीं हैं एवं जिनका वे स्वयं विरोध करते हैं, मान्य एवं प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। किसी-किसी ऋषि की इस प्रकार की अनावधानता की कथा श्रीभागवत जी से भी प्रमाणित होती है। श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षित महाराज से कहा है-(श्री भा: १०-७४-३०)

एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः के च नान्विताः।
यत् स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्यत ॥ य ॥

हे राजर्षे! (शाल्व द्वारा मायारचित वसुदेव जी की हत्या देखकर श्रीकृष्ण शोक से व्याकुल होगये—) कोई-कोई ऋषि ऐसा कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वे ऋषि पूर्वापर का अनुसन्धान करके बात नहीं कहते हैं। अपने वचनों की परस्पर-विरुद्धता भी वे स्मरण नहीं करते।"य॥

अतः ज्ञात होता है कि विष्णुपुराण एवं महाभारत में माया-मलिन चित्त साधारण लोक-प्रतीति के अनुरूप ही इस प्रकार की बात कह दी गई है।

द्वितीयतः—कोई कोई ऐसा कह सकते हैं—श्रीबलदेव जी एवं परस्पर लड़कर मरे हुए अन्यान्य यादवों के देह वहाँ पड़े हुए थे एवं उनका देह-सत्कार भी किया गया था। श्रीबलराम श्रीकृष्ण के विलास-रूप हैं अतः उनका देह भी तो प्राकृत नहीं है। वह सच्चिदानन्द-विग्रह हैं और यादवगण भी तो श्रीकृष्ण के नित्य-पार्षद हैं। वे भी जीव-तत्व नहीं हैं। उनके भी जन्म-मृत्यु नहीं हो सकते। वे भी सच्चिदानन्द विग्रह हैं, तथापि उन्होंने जो शरीर छोड़े,उनका सत्कार किया गया, यह बात श्रीभागवत जी में भी कही गई है। यदि ऐसा सत्य है, तो फिर श्रीकृष्ण के परित्यक्त देह की अवस्थिति एवं सत्कार स्वीकार करने में क्या आपत्ति है?

उत्तर:—श्रीबलदेव एवं यादवगण श्रीकृष्ण के नित्य-पार्षद हैं, सच्चिदानन्द तत्त्व हैं, उनके जन्म-मृत्यु नहीं होते—यह बात सत्य है, और यह भी सत्य है कि उनके शरीर वहाँ पड़े रहे और उनका सत्कार भी किया गया। किन्तु जिन शरीरों का सत्कार किया गया, यह भी सत्य है कि वे देह उनके वास्तविक देह न थे—वे थे माया-कल्पित। इस प्रकार के माया-कल्पित शरीरों की कथा शास्त्र में और भी कई स्थानों पर देखी गई है। अग्निपुराण से ज्ञात होता है कि रावण ने जो श्रीसीता जी हरी थीं, वे प्रकृत श्रीसीता जी न थीं। जिसका हरण हुआ, वह अग्निदेव द्वारा माया-कल्पित श्रीसीता जी थी। (मध्यलीला नवम परिच्छेद पृष्ठ २६७ द्रष्टव्य।) महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व में कहा गया है कि राजा युधिष्ठिर जब स्वर्ग गये, तब उन्हें अपने भाई अर्जुनादि के साथ एक स्थान पर वास करने की इच्छा हुई। तब उन्हें अर्जुनादिक के पास ले जाया गया। श्रीयुधिष्ठिर ने देखा कि वे तो नरक में वास कर रहे हैं। उन्हें देखकर श्रीयुधिष्ठिर जी विस्मित हो उठे। उनके विस्मय को दूर करने के लिये श्रीधर्मराज बोले "युधिष्ठिर ! अर्जुनादि आपके भाई लोग वास्तविक नरक में अवस्थित नहीं हैं। आप जिन को नरक में देख रहे हो, ये देवराज इन्द्र द्वारा कल्पित माया मात्र है—"**न च ते भ्रातरः पार्थ नरकावस्था विशाम्पते। मायैषा देवराजेन महेन्द्रेण प्रयोजिता।**"

इसी प्रकार जो यादवगणों के देह भूतल पर पड़े रह गये थे, वे भी माया-कल्पित ही थे। केवल यादवगणों के परित्यक्त शरीर ही माया-कल्पित न थे, बल्कि सारी मौषल-लीला ही श्रीकृष्ण की माया थी। इस बात को श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से अपने सारथि-दारुक के प्रति कहा है—(भा: ११-३०-४९)

त्वन्तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः।
मन्मायारचितामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥ २ ॥

मौषल-लीला के अन्त में श्रीभगवान् ने कहा है—"दारुक ! तू भी मेरे धर्म में आस्था स्थापन-पूर्वक ज्ञाननिष्ठ एवं उपेक्षक होकर इस समग्र लीला को मेरी माया रचित जान एवं शान्ति लाभ कर।

प्रभास तीर्थ में श्रीकृष्ण की माया से ही विमोहित होकर सब यादवगण परस्पर लड़ने लगे थे, श्रीशुकदेव जी ने भी यह बात स्पष्ट कही है। "कृष्णमायाविमूढानां संघर्षः सुमहानभूत्।" (श्रीभा: ११ –३०–१३) जब श्रीकृष्ण ने अपने अन्तर्धान होने का सङ्कल्प किया था, तब उन्होंने अपने द्वारका-परिकर यादवगणों को भी अन्तर्धान करने का सङ्कल्प किया था और स्वयं ही उन्हें मुनियों द्वारा शाप दिलवाया था—यह बात भी श्रीभागवत जी (११—१—३ से ५) में स्पष्ट भाव से कही गयी है। यह समस्त लीला श्रीकृष्ण की माया-रचित इन्द्रजालवत् ही थी, यह बात श्रीशुकदेव जी ने स्पष्ट कही है। **मायाविडम्बन मवेहि यथानटस्य**' (भा: ११—३१—११) "हे राजन् ! यादवगणों का एवं श्रीकृष्ण का अपना आविर्भाव व तिरोभाव होना नट की भांति माया-विडम्बना मात्र ही है।

वस्तुत: श्रीकृष्ण भगवान् ने जब अपनी लीला के अन्तर्धान करने का सङ्कल्प किया, तब उन्होंने नित्यपरिकर-श्रीप्रद्युम्नादि को अन्तर्धान कर दिया था। लीला के आरम्भ में उनमें कन्दर्प-कार्त्तिकेयादिकों ने प्रवेश किया था। श्रीभगवान् ने उन समस्त को अलक्षित भाव से प्रद्युम्नादि के देह से निकाल दिया और माया कल्पित देह देकर उन्हें प्रद्युम्नादि के रूप में प्रतिभात करा दिया था। वही माया-कल्पित देहधारी द्वारकावासी ही प्रभास तीर्थ में गये थे एवं मैरेय-मधुपान कर भ्रष्ट-बुद्धि होकर लड़ मरे थे। वही सब माया-कल्पित शरीर वहाँ पड़े रहे और उनका ही सत्कार किया गया था। (श्रीभा: ११–३०–५ श्लोक की श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद-रचित टीका द्रष्टव्य है)—किन्तु श्रीकृष्ण का कोई माया-कल्पित शरीर न था और अन्तर्धान के पश्चात् न ही उनका कोई परित्यक्त देह हो रह गया था।

विचार करने की बात है—जो श्रीकृष्ण अपने गुरु श्रीसन्दीपन-मुनि के मृत पुत्रों को यमपुरी से प्राकृत देहों में ही लौटा कर सौंप सकते हैं, जो माता के गर्भ में परीक्षित की ब्रह्मास्त्र से रक्षा कर सकते हैं, जो काल के भी काल श्रीशङ्कर जी को बाणयुद्ध में पराभूत कर सकते हैं, जरा-नामक व्याध को भी जो शरीर सहित स्वर्ग में भेज सकते हैं, वे क्या आत्म-संरक्षण नहीं कर सकते ? वे क्या शरीर सहित अपने धाम में प्रवेश करने में असमर्थ हैं ?—कदापि नहीं।

सारांश यह है कि मौषललीला-समस्त मायामय ही थी एवं अवास्तव थी। श्रीकृष्ण की मौषल-लीला माया-कल्पित है, किन्तु मायामलिन-चित्त प्राकृत-लोग उसे समझ नहीं सकते। जो मायाबद्ध हैं, वे भगवान् की सच्चिदानन्दमयी निर्याण-लीला को भी प्राकृत समझते हैं। उनका क्या दोष है ? जब श्रीकृष्ण की माया में मुग्ध होकर अर्जुनादि भी उनकी लीला का भेद न पा सके और (विष्णु पुराण में) पाराशरादि मुनिगण एवं महाभारत में श्रीवैशम्पायन भी जब उनकी लीलाओं को साधारण लोक-प्रतीति के अनुरूप ही वर्णन कर बैठते हैं, तब मायाबद्ध मूर्ख जीवों की क्या बात है ? अर्जुन ने जिन शरीरों का अग्नि-संस्कार किया, वे समस्त मायाकल्पित थे, श्रीकृष्ण-माया में मुग्ध होकर अर्जुन भी जब इस बात को न समझ सका, फिर अन्यान्य मायामलिन चित्त लोगों की तो बात ही क्या है ?

केशावतार—का अर्थ है केश + अवतार = केशावतार। अर्थात् केश का अवतार। विष्णुपुराण में वर्णित है—"असुर-प्रकृति राजाओं से उत्पीड़ित होकर पृथ्वी जब अपने दुख की निवृत्ति के लिये ब्रह्मा जी के पास गई, तब अन्यान्य देवताओं को साथ लेकर ब्रह्मा जी क्षीरसमुद्र के किनारे पर आये और क्षीरसमुद्रशायी श्रीविष्णु की स्तुति करके पृथ्वी के दुख की बात कही—तब भगवान् ने क्या किया और क्या कहा—उसे निम्नलिखित श्लोकों में वर्णन किया गया है (वि० पु० ५-१-५९ से ६०)।

एवं संस्तूयमानस्तु भगवान् परमेश्वरः।
उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महामुने ॥ ल ॥
उवाच च सुरानेतौ मत्केशौ वसुधातले।
अवतीर्य्य भुवोभार क्लेशाहानिं करिष्यतः ॥ व ॥

(इन दोनों श्लोकों का यथाश्रुत अर्थ इस प्रकार है—पराशर ऋषि ने मैत्रेयजी से कहा है—) "हे महामुने ! भगवान् परमेश्वर ने इस प्रकार अपनी स्तुति सुनकर अपने श्वेत व कृष्ण—दो केश उखाड़े और देवताओं से कहा—'मेरे यह दोनों केश पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर पृथ्वी का भार-क्लेश दूर करेंगे।" ॥ल-व॥ विष्णुपुराण में आगे कहा गया है—"कृष्ण-केश द्वारा देवकी के अष्टमगर्भ से एवं श्वेत केश द्वारा देवकी के सप्तम गर्भ से जन्मग्रहण करके मैं कंसादि का विनाश करूँगा"—ऐसा श्रीविष्णु ने कहा। इस प्रकार विष्णुपुराण में प्रसङ्ग वर्णित है।

उल्लिखित यथाश्रुत अर्थों को देख कर कोई कोई सोचते हैं—क्षीरसमुद्रशायी-विष्णु के कृष्णवर्ण (काले) केश का अवतार श्रीकृष्ण हैं, और उनके श्वेतवर्ण (सफैद) केश का अवतार श्रीबलराम हैं। **केश**—शब्द का एक प्रचलित अर्थ है—बाल, कुन्तल इत्यादि। इसलिये वे लोग श्रीकृष्ण-बलराम को क्षीर समुद्रशायी के बालों का अवतार समझते हैं और कहते हैं कि श्रीकृष्ण-बलराम क्षीरोदशायी श्री विष्णु के सिर के ही बालों का अवतार हैं।

महाभारत में भी इसी के अनुरूप उक्ति पायी जाती है—यथाः—

श्रीकृष्ण सन्दर्भ (२९—धृतवचनम्)

"स चापि केशौ हरिरुद्ववर्हे शुक्लमेकमपरञ्चापि कृष्णम् ।
तौ चापि केशावाविशतां यदूनां कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीञ्च ॥ श ॥
तयोरेको बलभद्रो बभूव योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्यकेशः ।
कृष्णो द्वितीयः केशवः संबभूवः योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्त ॥ ष ॥

इन श्लोकों का यथाश्रुत अर्थ भी विष्णुपुराण के श्लोकों के अनुरूप ही है । इसी प्रसङ्ग में श्रीमद्भागवत (२-७-२६) उक्ति इस प्रकार है । यथाः—

भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाःक्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः ।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः कर्माणिचात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥ स ॥

"असुर-सेना निपीड़ित पृथ्वी के भार हरने के लिये श्वेत-कृष्ण-केश भगवान् अपने अंश बलदेव के साथ अवतीर्ण होकर अपने असाधारण माधुर्य एवं महिमा को प्रकाश करके लीला करेंगे । उनके वर्त्म व लीला का रहस्य समस्त के लिये दुर्ज्ञेय है ।

श्रीभागवत के इस श्लोक में पृथ्वी का भार हरण करने के लिये जिसके अवतीर्ण होने की बात कही गई है, उसे "सितकृष्णकेशः"—"श्वेत-कृष्ण-केशयुक्त" कहा गया है । विष्णुपुराण एवं महाभारत के वचनों के यथाश्रुत अर्थों के साथ सङ्गति रखते हुए इस श्लोक का भी अर्थ करने पर मन में आता है कि क्षीरसमुद्रशायी श्रीविष्णु ही पृथ्वी का भार हरने के लिये अवतीर्ण हुए थे ।

किन्तु यह यथाश्रुत अर्थ विचारपूर्वक नहीं है, क्योंकि—पूर्वोल्लिखित श्लोकों में व्यवहृत "केश" —शब्द का अर्थ यदि साधारण अर्थ—बाल समझा जाए, तो ऐसा मानना पड़ेगा कि क्षीरसमुद्रशायी श्रीविष्णु के सिर पर श्वेत तथा कृष्ण दो रङ्गों के बाल थे या हैं । अथवा पहले समस्त बाल कृष्णवर्ण के थे, समय पाकर फिर कुछ कुछ बाल श्वेत होगये होंगे, जैसे हम लोगों के वृद्धावस्था आने पर हो जाते हैं । किन्तु क्षीरसमुद्रशायी के बाल स्वभावतः श्वेत और कृष्ण—इन दो रङ्गों के हैं—ऐसा कोई भी प्रमाण कहीं भी नहीं पाया जाता । यदि यह कहा जाये कि पहले उनके सब बाल काले थे फिर कुछ श्वेत होगये—तो यह भी विचारपूर्वक नहीं है । ऐसा मानने से श्रीविष्णु या श्रीनारायण को भी प्राकृत मनुष्यों की भांति काल के आधीन मानना पड़ेगा । देवतामात्र ही जरा-वृद्धा से रहित होते हैं, फिर श्रीनारायण की तो बात ही क्या है ? वे भगवान् हैं । उनका रूप नित्य है । अतः सिद्ध होता है कि यहाँ केश-शब्द का अर्थ "बाल" विचार-पूर्वक नहीं है ।

किन्तु विष्णुपुराण, महाभारत एवं श्रीमद्भागवत सब में यही 'केश'-शब्द ही प्रयोग किया गया है, अतः जानना चाहिये कि इस 'केश'-शब्द का कोई विशेष अर्थ है । श्रीभगवान् के अंशु को (तेज, किरण, शक्ति-इत्यादि को) "केश" कहा जाता है—इसका प्रमाण महाभारत के सहस्रनाम-भाष्य में इस प्रकार है—

अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केश-संज्ञिताः ।
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहु मुनि सत्तमाः ॥ ह ॥

"मुझ में विद्यमान् अंशु-समूह (ज्योति समूह) का नाम "केश" है । अतः सर्वज्ञ मुनिसत्तम मुझे 'केशव' कहते हैं । केश+व=केशव—केश हैं जिन में अर्थात् ज्योति-समूह जिनमें विद्यमान हैं—वह 'केशव' हैं ॥ ह ॥ मोक्षधर्म में वर्णित है कि श्रीनारद जी ने भगवान् में नाना वर्णों की किरणों का दर्शन

किया। अतः इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हैं, कि 'केश'–शब्द का अर्थ यहाँ ज्योतिः या किरण-समूह ही है। श्रीनृसिंह पुराण में भी कहा गया है—"**सितासिते च मच्छक्ति--इति तच्छक्तिद्वारैव श्रीकृष्णेन तद घातनापेक्षया।**" श्रीकृष्णसन्दर्भ ॥२६॥

श्रीनृसिंहदेव ने कहा है—"मेरी सित (शुक्ल) एवं असित (कृष्ण)–शक्ति कंसादि की हत्या करेगी।" इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि श्रीनृसिंहदेव की असुर-घातनी शक्ति ही श्रीराम-कृष्ण में अभिव्यक्त होकर कंसादि की हत्या करती है। यह बात आदिलीला के चतुर्थ परिच्छेद में भी कही जा चुकी है कि स्वयं-भगवान् का काम असुर-संहार या पृथ्वी का भार–हरण नहीं है। जगत् की स्थिति एवं पालन के कर्त्ता श्रीविष्णु हैं। पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण जिस समय अवतीर्ण होते हैं, उनमें सब अवतार आकर मिल जाते हैं। अतः श्रीविष्णु के द्वारा या श्रीविष्णु के अवतार श्रीनृसिंह के द्वारा ही श्रीकृष्ण असुरों का संहार करते हैं। अंशु, किरण, तेज, ज्योति, शक्ति आदि एक ही अर्थ-वाचक-शब्द हैं।

इसी प्रकार विष्णुपुराण के श्लोक में "केश"–शब्द का अर्थ तेज एवं शक्ति ही सङ्गत बैठता है—न कि 'बाल'। और फिर विष्णुपुराण में ही अक्रूरस्तव में श्रीकृष्ण को "परम-ब्रह्म" कहा गया है एवं प्रणव-स्वरूप कहकर वर्णन किया गया है। जो प्रणव-स्वरूप एवं परमब्रह्म है, वह किसी का अंश नहीं हो सकता, अन्यान्य समस्त स्वरूप उसका ही अंश या विभूति होते हैं। विष्णुपुराण स्पष्ट शब्दों में कहता है—"**यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परब्रह्म नराकृतिम्**" ॥४–११–१२॥ जो जगत् में अवतीर्ण हुए हैं, वे नराकृति श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। अतः वे स्वयं-भगवान् हैं। विष्णुपुराण में श्रीकृष्ण को सृष्टिकर्त्ता–"**विश्वं भवान् सृजति**" कहा गया है। क्षीरसमुद्रशायी विष्णु जगत् के पालन-कर्त्ता हैं—सृष्टिकर्त्ता नहीं। श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा, विष्णु (क्षीरसमुद्रशायी) एवं शिव रूप से जगत् की सृष्टि, पालन एवं संहार करते हैं, यह बात भी विष्णुपुराण में स्पष्ट वर्णित है—"**प्रसीद सर्व सर्वात्मन् क्षराक्षरमयेश्वरा ब्रह्माविष्णुशिवाद्यभिः कल्पनाभिरुदीरितः** ॥ (५–१८–५१) विष्णुपुराण के इन समस्त प्रमाणों से ही यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं, परब्रह्म हैं एवं क्षीरोदशायी श्रीविष्णु उनका प्रकाश-विशेष या अंश हैं।

महाभारतान्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता के एवं सर्ववेद-इतिहास-सार प्रमाणशिरोमणि श्रीमद्भागवत जी के अनेक प्रमाणों से यह सिद्धान्त सर्वमान्य ही है कि श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् परब्रह्म-स्वरूप हैं और कारणसमुद्रशायी, गर्भोदकशायी, एवं क्षीरोदकशायी-नारायण श्रीकृष्ण के अंश ही हैं। श्रुतियों में एवं ब्रह्मसंहितादि समस्त शास्त्रों में एक-वाक्य से श्रीकृष्ण को स्वयं-भगवान् कहकर प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुछ भी मतभेद नहीं है। अतः विष्णुपुराण एवं महाभारत के पूर्वोलिखित श्लोकों के यथाश्रुत अर्थों के अनुसार यदि श्रीकृष्ण को क्षीरोदशायी के बालों का अवतार मान लिया जाय तो घोर अनर्थ होगा एवं शास्त्र प्रमाणों के साथ भी विरोध होगा और तो क्या विष्णुपुराण एवं महाभारत के अपने-अपने वचनों में भी विरोध उत्पन्न होगा।

विष्णुपुराण के श्लोक का विचार पूर्वक अर्थ क्या है—उसकी अब विवेचना करते हैं—"**भगवान् आत्मनः सितकृष्णौ केशौ उज्जहार**"—इस पद का अर्थ है कि "भगवान् क्षीरोदशायी ने अपने निकट श्वेत-कृष्ण ज्योतिर्द्वय प्रगटित करके दिखाई।" श्रीकृष्ण की ज्योति का नाम ही केश है, यह पहले कहा जा चुका है—प्रश्न हो सकता है कि क्षीरोदशायी में वह ज्योति कहाँ से आई ?—यह हम पहले कह आए हैं कि क्षीरोदशायी हैं—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का अंश। अंश में अंशी का धर्म या तेज अथवा शक्ति सदा वर्तमान रहती है, चाहे वह पूर्ण मात्रा में नहीं रहती। श्रीबलराम श्रीकृष्ण के विलासरूप हैं। उस ज्योति

में जो श्वेत वर्ण ज्योति थी उससे श्रीबलराम एवं जो कृष्णवर्ण ज्योति अभिव्यक्त हुई उससे श्रीकृष्ण ही सूचित होते हैं। अखण्ड सुमेरु को दिखाने के लिये अंगुली द्वारा जैसे एक अंश को दिखाकर कहा जाता है–"यह सुमेरु है"—उसी प्रकार श्रीराम-कृष्ण के किञ्चिन्मात्र श्वेत-कृष्ण तेज को दिखाकर परिपूर्ण स्वरूप श्रीराम-कृष्ण के आविर्भूत होने का इशारा क्षीरोदशायी ने किया था। सारांश यह है कि भगवान् क्षीरोदशायी ने अपने निकट अंशी श्रीराम-कृष्ण के श्वेत-कृष्ण तेज को प्रकटित करके दिखाया और देवताओं को कहा—"मुझमें जो श्रीराम-कृष्ण के श्वेत-कृष्ण तेज किञ्चित् विराजित है (मत् केशौ–मयि अवस्थित ज्योति), जिसे मैंने आपको दिखाया है–वे दोनों पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर पृथ्वी का भार-दुख हरण करेंगे।"

महाभारत के श्लोक का प्रथम अंश है—**"स च अपि हरिः केशौ उद्ववर्हे, एकं शुक्लम् अपरञ्च अपि कृष्णम्"** यहां उद्ववर्हे"—क्रियापद का अर्थ है—योगबल से अपने से विच्छिन्न करके दिखाया। और श्लोकस्थ **"स च अपि—"** अंश में **"च"**—शब्द समुच्चयार्थक है। अर्थात् जब देवताओं ने पृथ्वी का भार हरण करने की प्रार्थना की तब क्षीरोदशायी-हरि ने भी (श्वेत-कृष्ण तेज दिखाया)। **"अपि"** शब्द से ज्ञात होता है, और किसी ने भी श्वेत-कृष्ण तेज दिखाया था। क्षीरोदशायी ने भी दिखाया। श्रीराम-कृष्ण, उस तेज के प्रदर्शन के हेतु-कर्त्ता हैं। उनकी प्रेरणा से ही क्षीरोदशायी ने श्वेत-कृष्ण तेज दिखाया। उनकी इच्छा अथवा प्रेरणा बिना क्षीरोदशायी उस श्वेत-कृष्ण अंश को नहीं दिखा सकते—ऐसा सूचित होता है। इस अंश का तात्पर्य यह है कि देवता द्वारा प्रार्थित होकर उस क्षीरोदशायी—विष्णु ने अपने अंशी श्रीराम-कृष्ण की प्रेरणा से अपने पास से दो तेज विच्छिन्न करके दिखाए, एक शुक्ल एवं दूसरा कृष्ण।

श्लोक का अपरांश है—**"तौ चापि केशौ आविशतां यदुनां कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीञ्च"**।—इसका तात्पर्य प्रकाश करते हुए श्रीकृष्ण-सन्दर्भ में कहा गया है कि **"तौ चापि"** का **"च"**—शब्द अनुक्त-समुच्चयार्थ में प्रयुक्त हुआ है। उससे यह अर्थ निकलता है कि श्रीरोहिणी एवं श्रीदेवकी में श्रीराम-कृष्ण स्वयं प्रविष्ट होगये। फिर क्षीरोदशायी में प्रकाशित शुक्ल-कृष्ण ज्योतिः उन श्रीराम-कृष्ण में तादात्मता को प्राप्त होकर आविष्ट होगई। "अपि"–शब्द से ज्ञात होता है कि जिन क्षीरोदशायी-विष्णु से श्वेत-कृष्ण तेज प्रकाशित हुआ था, वे विष्णु एवं उनके सकल अंश भी श्रीकृष्ण में प्रवेश कर गये॥ अगले अंश **"तयोरेको बलभद्रो बभूव"**—इत्यादि का तात्पर्य है कि श्वेतज्योतिः श्रीबलराम में एवं कृष्ण-ज्योतिः श्रीकृष्ण में तादात्मता को प्राप्त होगई॥ तात्पर्य यह है कि स्वयं-भगवान् जब अवतीर्ण होते हैं तब उनमें समस्त अवतार आकृष्ट होते हैं। स्वयं भगवान् का काम असुरों का संहार करना नहीं है। वह काम है—क्षीरोदशायी—श्रीविष्णु का। स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने आविर्भाव के समय क्षीरोदशायी का तेज आकर्षण किया था उसी तेज को ही देवताओं ने देखा था। महाभारत के श्लोक का यही तात्पर्य है।

श्रीमद्भागवत के श्लोक **'कलया सितकृष्ण-केशः'** अंश का अर्थ क्रमसन्दर्भ में श्रीजीवगोस्वामीपाद ने इस प्रकार किया है—**कोऽसौ कलया अंशेन सितकृष्ण केशो यः। सितकृष्ण केशौ देवैर्दृष्टौ इति शास्त्रान्तर प्रसिद्धेः। सोऽपि यस्य अंशेन स एव भगवान् स्वामित्यर्थः। तदविना भावित्वात्।** जो अवतीर्ण हुए, वे कौन हैं ? जो अंश से (अंशस्वरूप क्षीरोदशायीरूप में) सित-कृष्णकेश हैं—वे अवतीर्ण हुए। शास्त्रान्तर (विष्णु पुराणादि) में प्रसिद्धि है कि देवतागणों ने (क्षीरोदशायी में) सित-कृष्ण दो ज्योति देखी थीं। अतः जिन्होंने सित-कृष्ण ज्योति दिखाई थी, वे जिनके अंश हैं, वही स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण ही अवतीर्ण हुए।

विष्णुपुराण एवं महाभारत के श्लोकों का यथाश्रुत अर्थ विचारयुक्त नहीं है और वह प्रकृत सिद्धान्त के विरुद्ध है—उल्लिखित आलोचना से यह स्पष्ट भाव से जाना जाता है।

महिषी-हरण:—महिषी-हरण के सम्बन्ध में महाभारत के मौषल-पर्व के सातवें अध्याय में इस प्रकार प्रसङ्ग है–कि वृष्णिवंशियों के देह-सत्कारादिके बाद श्रीअर्जुन जब सातवें दिन रथ पर सवार होकर इन्द्रप्रस्थ की ओर चले तो वृष्णिवंशीय कामिनीगण भी शोक से पीड़ित होकर रोती-रोती रथों पर चढ़ कर श्रीअर्जुन के साथ पीछे-पीछे चलने लगीं। तब श्रीअर्जुन की आज्ञा पाकर भृत्यगण, घुड़सवार, पुरवासी अनेक जनसमुदाय भी वृद्ध, बालक एवं स्त्रियों को परिवेष्टन करके साथ-साथ चलने लगा। अनेक लोग हाथियों पर चढ़कर आगे-आगे चलने लगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं वृष्णि व अन्धक वंशीय बालकगण श्रीवासुदेव की सोलह हजार पत्नियों को व बज्रनाभ को आगे करके चलने लगे। उस समय वृष्णि, भोज एवं अन्धकवंश की कितनी अनाथ कामिनियां श्रीअर्जुन के साथ चल रही थीं—उनकी संख्या नहीं कही जा सकती। इस प्रकार महारथी श्रीअर्जुन असंख्य यदुवंशियों के साथ द्वारकानगर से बाहर निकले—कुछ दिन पीछे वे पञ्चनद देश में आ पहुँचे। वहाँ श्रीअर्जुन को अनेक अनाथा कामिनियों को ले जाता देखकर लुटेरों ने उन्हें छुड़ा लेने का एवं उनसे धन-सम्पत्ति लूट लेने का परामर्श किया। वे लुटेरे लोग यह सोचकर लाठी-फरसादि लेकर द्वारकावासियों पर टूट पड़े। श्रीअर्जुन महावीर उनका बहुत यत्न करने भी निवारण न कर सके। तदनन्तर वे लुटेरे सैना के सामने ही अबलागणों का हरण करने लगे और कोई-कोई कामिनी निज इच्छापूर्वक उनके साथ जाने लगी।····परिशेष में वे लुटेरे वृष्णि व अन्धकवंशीय उत्कृष्ट कामिनियों को हरण करके दौड़ गये—। बाकी बची कामिनियों को एवं रत्नराशि को लेकर श्रीअर्जुन कुरुक्षेत्र में पहुँचे। श्रीअर्जुन ने फिर हार्द्दिक्य पुत्र व भोजकुल-कामिनियों को मार्त्तिकावत-नगर में एवं अवशिष्ट बालक, वृद्ध व स्त्रियों को इन्द्रप्रस्थ में तथा सात्यकीपुत्र को सरस्वती-नगरी में बसाया। इन्द्रप्रस्थ का राज्य भार श्रीकृष्ण के पौत्र श्रीबज्रनाभ को सौंप दिया।—रुक्मिणी, गान्धारी, शैब्या, हेमवती, व देवी जाम्बवती—इन सबने हुताशन में (चिता-अग्नि में) प्रवेश कर प्राण विसर्जन कर दिये। सत्यभामा आदि श्रीकृष्ण की अन्यान्य पत्नियां तपस्या के उद्देश्य से मानसारण्य में फल-मूल भोजन करती हुईं हिमालय को अतिक्रम करके कलाप ग्राम में जा पहुँची—इत्यादि।''

महाभारत के स्वर्गारोहण-पर्व में पञ्चम अध्याय में लिखा है—''श्रीवासुदेव की षोड़श-सहस्र वनिताएं भी कालक्रम से सरस्वती के जल में निमग्न होगई एवं प्राणों को त्याग दिया।''

महाभारत के उल्लिखित प्रसङ्ग से ज्ञात होता है कि सत्यभामादि श्रीकृष्ण-महिषीगण तपस्या करने के उद्देश्य से इन्द्रप्रस्थ से बन को चली गईं एवं रुक्मिणी, जाम्बवती आदि ने इन्द्रप्रस्थ में ही हुताशन में प्रवेश करके प्राण त्याग कर दिये। अर्थात् श्रीकृष्ण की अष्टप्रधाना महिषी जो श्रीअर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ आई थीं, वे पञ्चनद में लुटेरों द्वारा हरण नहीं की गईं। बाकी सोलह-हजार महिषी भी इन्द्रप्रस्थ पहुँचने के बाद कालक्रम से सरस्वती-जल में प्रवेश कर गई। अतः उनका भी हरण लुटेरों ने नहीं किया—यह बात भी महाभारत से प्रमाणित होती है। इस प्रकार महाभारत से सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण-महिषियों में से कोई महिषी भी लुटेरों द्वारा हरण नहीं हुई। औरों की किसी-किसी रमणी का वे हरण करके ले गये।

विष्णुपुराण के पञ्चमांश के ३८ अध्याय २ से ज्ञात होता है कि ''रुक्मिणी प्रमुखा-अष्टप्रधाना महिषीगण श्रीहरि के ध्यान-पूर्वक चिता में प्रवेश कर गई।'' इस प्रमाण से उन अष्ट-प्रधाना महिषीगण का श्री अर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ आने एवं लुटेरों से अपहृत होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। और फिर विष्णुपुराण (५-३८ ५१, ५२) में वर्णित है कि द्वारका-वासियों को लेकर श्रीअर्जुन ने जब पञ्चनद में आकर अवस्थान किया तो श्रीअर्जन के सामने से ही आभीर-लुटेरों ने आकर सम्मानित यदुकुल की श्रेष्ठ

स्त्रियों का अपहरण कर लिया। श्रीअर्जुन ने श्रीव्यासदेव के पास जाकर अपना वह दुःख भी प्रकाश किया और कहा कि "लुटेरों ने लाठियों द्वारा मुझे हरा दिया है और मेरे द्वारा लाई गई सहस्र स्त्रियों का एवं श्रीकृष्ण परिवार-वर्ग का अपहरण कर लिया है।" इस लेख से भी अष्टप्रधाना महिषियों के व्यतीत अन्यान्य का ही अपहरण जाना जाता है।

श्रीमद्भागवत (११-३१-२०) से यह स्पष्ट है कि—रुक्मिणी आदि कृष्ण-पत्नियों ने मौषल-लीला के पीछे तत्काल श्रीकृष्ण में चित्त सन्निवेश करके अग्नि में प्रवेश कर लिया था।" और फिर प्रथम स्कन्ध—१५-२० में वर्णित है कि मौषल-लीला के बाद द्वारका से आकर श्रीअर्जुन ने श्रीयुधिष्ठिर जी से कहा "आभीरगणों ने रास्ते में श्रीकृष्ण की षोड़श सहस्र महिषीयों को मुझ से छुड़ा लिया हैं।" इस प्रकार श्रीमद्भागवत जी से भी ज्ञात होता है कि रुक्मिणी आदि अष्टप्रधाना महिषीगण तो मौषल-लीला के बाद अग्नि में प्रवेश कर गईं, किन्तु अवशिष्ट सोलह-हजार महिषीगणों को लुटेरों ने अपहरण कर लिया।

इस विषय में विष्णुपुराण एवं श्रीमद्भागवत में मतभेद नहीं है, महाभारत, विष्णुपुराण तथा श्रीभागवत जी के उल्लिखित प्रसङ्गों से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि महाभारत के कथनानुसार महिषीगणों का श्रीअर्जुन के साथ सुरक्षितरूप में इन्द्रप्रस्थ पहुँचना और फिर किसी का सरस्वती में प्रवेश करके प्राण त्याग करना सत्य माना जाये तो यह स्वीकार करना होगा कि "श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने के बाद बहुत समय तक महिषीगण वर्तमान रहीं एवं फिर विभिन्न उपायों से उन्होंने अपने प्राणों का त्याग किया" और यदि श्रीमद्भागवत एवं विष्णुपुराण के मतानुसार अष्ट प्रधाना महिषियों का अग्नि प्रवेश करके प्राण त्यागना तथा अवशिष्ट सोलह-हजार महिषियों का लुटेरों द्वारा अपहरण सत्य मान लिया जाये तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि "श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर वे अवस्थित थी एवं उन्होंने प्राकृत जीवों की भाँति देह का त्याग किया एवं लुटेरों के हाथ में पड़ी यह दोनों पक्ष स्वीकार करने पड़ेंगे। किन्तु महिषीगणों का तत्त्व विचार करने पर ये दोनों पक्ष स्वीकार नहीं किये जा सकते।

प्रद्युम्नादि की भाँति महिषीगण भी श्रीकृष्ण का नित्य-परिकर है। वे जीव-तत्त्व नहीं हैं। वे भी शुद्धसत्त्व-विग्रह हैं, सच्चिदानन्दमय हैं। अतः उनके जन्म-मृत्यु नहीं हो सकते। उनका आविर्भाव एवं तिरोभाव-मात्र ही हो सकता है। इन समस्त कारणों से पृथ्वी पर शरीर छोड़कर उनका परलोक जाना सम्भव नहीं है, किंवा लुटेरों द्वारा उनका अपहरण भी सम्भव नहीं हो सकता। मौषल-लीला के सम्बन्ध में पहले आलोचना की जा चुकी है, कि माया कल्पित सीताहरण की भाँति मौषल-लीला समस्त माया-कल्पित है, उसी प्रकार महिषी-हरणादि-लीला भी समस्त माया-कल्पित है। श्रीकृष्ण-महिषीगणों को स्पर्श करने की सामर्थ्य किसी प्राकृत लुटेरे में भला कहाँ रह सकती है?—

श्रीमद्भागवतादि शास्त्रों के वचनों का समाधान केवल मात्र यही है कि महिषीहरण-लीला समस्त मायामय इन्द्रजाल ही है। श्रीकृष्ण ने जब प्रद्युम्नादिकों को अन्तर्धापित किया था, तब उन्होंने अपनी महिषी गणों को तथा प्रद्युम्नादि की पत्नीगणों को भी अन्तर्धानपित करा दिया था। साथ साथ उसी समय प्रद्युम्नादिकों की भांति महिषीगणों का एवं प्रद्युम्नादिकों की पत्निगणों का माया-कल्पित शरीर प्रकटित कर दिया था। उन्हीं माया-कल्पित देहों का ही किसी ने अग्नि में, किसी ने जल में आत्म-विसर्जन किया एवं कुछ एक लुटेरों द्वारा भी अपहृत हुईं। इसी प्रसङ्ग का विष्णुपुराण में एक और तथ्य भी मिलता है, जिससे इस लीला का रहस्य उद्घटित होता है। वह इस प्रकार है—विष्णुपुराण प्रसङ्गान्तर्गत—जब

श्रीअर्जुन शोकातुर होकर श्रीव्यासदेव के पास पहुँचे तो वे श्रीअर्जुन को आश्वस्त करते हुए इस प्रकार कहने लगे—"अर्जुन ! लुटेरों ने स्त्रियों का अपहरण कर लिया है—ऐसा कहकर जो तुम शोक कर रहे हो, मैं उसका विशेष वृत्तान्त तुम्हें सुनाता हूँ। पहले अष्टवक्र नामक-ऋषि सनातन-ब्रह्म-चिन्ता करते हुए अनेक वर्ष तक जब जल में वास कर रहे थे। उस समय देवगणों ने अनेक असुरों को पराजित किया था एवं उसके उपलक्ष्य में सुमेरू पर्वत पर वे एक महोत्सव मना रहे थे। अनेक देवनारियां भी उस महोत्सव में योगदान कर रही थीं। महोत्सव में जाते समय रम्भा-तिलोत्तमा आदि शत-सहस्र वराङ्गनाओं ने रास्ते में देखा कि एक ऋषि आकण्ठ-जलमग्न होकर तपस्या कर रहे हैं। उन्हें देखकर उनकी प्रसन्नता के निमित्त वे उनकी स्तुति करने लगीं। उनकी स्तुति से सन्तुष्ट होकर अष्टवक्र ऋषि ने उनसे अभीष्ट वर मांगने को कहा। तब वे रम्भा-तिलोत्तमा आदि वेद-प्रसिद्ध अप्सरागण बोलीं—"ऋषिवर ! आपके प्रसन्न होने पर और हमारे लिये क्या अप्राप्य रह जाता है ? हमें कुछ वर नहीं चाहिये।" किन्तु अन्यान्य देववराङ्गनाएं बोल उठीं—"हे विप्रेन्द्र ! यदि आप हम पर प्रसन्न हैं तो हमें आप ऐसा वर दीजिये कि जैसे हम श्री पुरुषोत्तम भगवान् को अपने पति-रूप में प्राप्त कर सकें। (–वि०पु० ५–३७–७८)" ऋषि-वर ने "तथास्तु" कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार करली। ऋषिव उस समय तक आकण्ठ जल-निमग्न खड़े थे। अतः देवाङ्गनाओं ने उनके मुख के अतिरिक्त और किसी अङ्ग को न देखा था। वरदान देने के बाद जब वे जल से बाहर निकले, तो उनके अङ्गों में आठ स्थानों पर वक्रता (टेढ़ापन) देखकर देवाङ्गनाएं हँस पड़ीं। इस पर ऋषिवर क्रुद्ध हो उठे और उन्हें शाप दिया कि "मेरे वर से तुम श्रीपुरुषोत्तम को अवश्य पति-रूप में प्राप्त करोगी, किन्तु फिर तुम समस्त लुटेरों के ही हाथ जा पड़ोगी। (वि० पु० ५–३८–७२)" देवाङ्गनाओं ने क्षमा मांग कर ऋषिवर को फिर तुष्ट किया। फिर वे बोले कि "तुम लुटेरों के द्वारा सुरेन्द्र लोक को ही जाओगी। (वि० पु० ५–३८–७३)। 'हे अर्जुन ! अष्टावक्र-मुनि के वरदान से उन सोलह हजार वराङ्गनाओं ने श्रीपुरुषोत्तम को पति-रूप में प्राप्त किया था एवं उसके अभिसम्पात से ही वे लुटेरों के हाथों पड़ी। तुम दुःख मत करो। उसी अखिलनाथ श्रीवासुदेव ने स्वयं ही उन सबका अपहरण किया है। "(वि० पु० ५–३८–८५)।"

इस प्रकार अष्टावक्र-मुनि के वर से देवाङ्गनाओं ने श्रीकृष्ण को पति-रूप में प्राप्त किया था एवं फिर उनके शाप से दस्युगणों के हाथ भी पड़ी थीं। इस प्रसङ्ग का समर्थन श्रीमद्भागवत के (१०–१–२३) श्लोक से भी होता है। यथाः—**वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः। जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥** जब पृथ्वी देवताओं को साथ लेकर क्षीरसमुद्रशायी श्रीविष्णु के पास गई थी और ब्रह्माजी ध्यान में जुड़े थे, तब उन्होंने यह आकाशवाणी सुनी थी "पृथिवी के दुख की कथा स्वयं भगवान् पहले ही जान चुके हैं, वे शीघ्र ही वसुदेव के घर अवतीर्ण होंगे एवं उनके प्रियार्थ देवताओं की स्त्रीगण भी पृथ्वी पर उत्पन्न होंगी।" इस श्लोक की टीका में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तीपाद ने लिखा है—उपेन्द्रादि जो समस्त मन्वन्तरावतारगण सुरलोक में अवस्थान करते हैं, उनकी पत्नियों को ही यहाँ "सुरस्त्री" कहा गया है। वे श्रीकृष्ण-प्रेयसीगण का अंश हैं। श्रीकृष्ण की प्रकट-लीला के समय श्रीनन्द-यशोदा के अंश द्रोणधरा जैसे उनके अंशी श्रीनन्द-यशोदा के साथ मिल गये थे। उसी प्रकार श्रीकृष्ण-कान्तागणों की अंशभूता यह समस्त सुरस्त्रीगण भी उनकी अंशिनी श्रीकृष्ण की सोलह-सहस्र महिषियों के साथ मिलित होकर श्रीकृष्ण-पत्नीत्व को प्राप्त होगई थी। ब्रह्मा के वर को उपलक्ष्य करके जैसे श्रीनन्द-यशोदा के साथ धरा-द्रोण का मिलन होगया था, उसी प्रकार अष्टावक्र-मुनि के वर को उपलक्ष्य करके उन सकल सुरस्त्री-गण का भी महिषिगण के साथ मिलन होगया था॥

श्रीकृष्ण ने जब प्रकट-लीला को अन्तर्धान करने का सङ्कल्प किया, तब उन्होंने अपने नित्य परिकर अनिरुद्धादि को अन्तर्धापित कराके उनके माया-कल्पित देहों में कन्दर्प-कार्त्तिकेयादि को स्थापित करके, उन माया-कल्पित देहों द्वारा जैसे मौषल-लीला सम्पादित कराई, उसी प्रकार नित्यपरिकर महिषीगण को भी अन्तर्धापित कराके उनके मायाकल्पित देहों में उन समस्त देवाङ्गनाओं को स्थापित कर दिया एवं फिर अष्टावक्र-मुनि के शाप को सार्थक कराने के लिये लुटेरों द्वारा उनका अपहरण करा दिया।

'श्रीकृष्ण ने स्वयं ही आभीर-दस्यु का रूप धारण करके उन महिषियों का अपहरण किया'—यह बात भी विष्णुपुराण से जानी जाती है–"तेनैवाखिलनाथेन सर्वं तदुपसंहृतम्॥ वि० पु० ५-३८-८५॥" उसी अखिलनाथ श्रीभगवान् के द्वारा ही वह समस्त लीला सम्पादित हुई। श्रीभगवान् की महिषियों में अंशरूप से जिन सुरस्त्रियों ने श्रीकृष्ण का पत्नीत्व प्राप्त किया था एवं श्रीकृष्ण द्वारा जो उपभुक्त हुई थीं—किसी दस्यु द्वारा उनका स्पर्श भी सम्भव नहीं हो सकता। स्वयं श्रीकृष्ण ही आभीर अर्थात् गोपवेशीय दस्यु के रूप में आए एवं उन्होंने अपनी माया से श्रीअर्जुन जैसे महान वीर को भी हतवीर्य कर दिया। इसी अपहरण के बहाने से श्रीकृष्ण ने उन अंशरूपा सुरस्त्रियों का अप्रकट लीला में प्रवेश करा दिया। सारांश यह है कि मौषल-लीला की भांति महिषीहरण-लीला भी मायामय ही है।

इस प्रकार हरिवंश-ग्रन्थ में इन्द्रस्तव में जो गोलोक की अवस्थिति वर्णित हैं, तथा मौषल-लीला, श्रीकृष्ण-अन्तर्धान लीला, महिषी हरण लीलादिक के जो प्रमाण विष्णुपुराण, महाभारतादि शास्त्रों में मिलते हैं और जिनका यथाश्रुत अर्थ शास्त्र-विरुद्ध एवं सिद्धान्त-विरुद्ध है, श्रीमन्महाप्रभुजी ने उन समस्त प्रमाण वचनों की उल्लिखितरूप से व्याख्या की, जिसमें समस्त शास्त्र-वचनों की एवं समस्त सिद्धान्तों की सुसङ्गति है। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने श्रीपाद सनातन गोस्वामीजी को निगूढ़ सिद्धान्तों की शिक्षा दी।

तबे सनातन प्रभुर चरणे धरिया। निवेदन कैल दन्ते तृणगुच्छ लञा ॥६१॥
नीचजाति नीचसेवी मुञि सुपामर। सिद्धान्त शिखाइले एइ ब्रह्मार अगोचर ॥६२॥
मोर मन तुच्छ, एइ सिद्धान्तामृत सिन्धु। मोर मन छुंइते नारे इहारे एक बिन्दु ॥६३॥
पङ्गु नाचाइते यदि हय तोमार मन। वर देह मोर माथे धरिया चरण ॥६४॥
'मुञि ये शिखालुं तोरे स्फुरुक् सकल'। एइ तोमार वर हैते हवे मोर बल ॥६५॥

श्रीमहाप्रभुजी के वचन सुनकर श्रीसनातनपाद ने प्रभु के चरण पकड़ लिए और दाँतों में तृण दबाकर अर्थात् अति दीन होकर निवेदन करने लगे—प्रभो! मैं नीच जाति हूँ, नीच-सेवी एवं अधम हूँ।—आपने जिस सिद्धान्त की मुझे शिक्षा दी है, वह तो ब्रह्मा के लिये भी अगोचर है। मेरा मन अति क्षुद्र है और यह सिद्धान्त एक अमृत के समुद्रवत् परम आस्वादनीय परन्तु बहुत गम्भीर है। मेरा मन तो इसका एक बिन्दु भी स्पर्श नहीं कर सकता। यदि आपका मन मुझ पङ्गु को नचाना ही चाहता है, तो मेरे माथे पर आप अपना चरण रखिये और वर दीजिये कि "जो आपने मुझे शिक्षा दी है, उस समस्त की मेरे मन में स्फूर्त्ति हो। इस प्रकार आपके वरदान के प्रभाव से मैं इस प्रकार की व्याख्या युक्त ग्रन्थों का प्रणयन करने में समर्थ हो सकूंगा" ॥६१-६५॥

तबे महाप्रभु तार शिरे धरि करे। वर दिल—'एइ सब स्फुरुक् तोमारे ॥६६॥
संक्षेपे कहिल प्रेम-प्रयोजन-संवाद। विस्तारि कहा ना याय प्रभुर प्रसाद ॥६७॥

प्रभुर उपदेशामृत शुने येइ जन। अचिराते मिले तारे कृष्णप्रेमधन ॥६८॥
श्रीरूप—रघुनाथ—पदे यार आश। चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥६९॥

तब श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीसनातनपाद के सिर पर अपना हस्त-कमल धारण करते हुए वर प्रदान किया कि "यह समस्त सिद्धान्त तुम्हारे मन में स्फुरित हों।" श्रीकृष्णदास कविराज ग्रन्थकार कहते हैं कि मैंने यहाँ संक्षेप से प्रेम-प्रयोजन विषयक श्रीमहाप्रभु एवं श्रीसनातनपाद का संवाद वर्णन किया है। श्रीसनातनपाद को लक्ष्य करके जो तत्त्व-प्रकाशनरूप अपार कृपा है, उसका विस्तार-पूर्वक वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ॥ श्रीमहाप्रभु के इस उपदेशामृत का जो पान करेगा, उसे अति शीघ्र ही श्रीकृष्ण-प्रेमधन की प्राप्ति होगी। श्रीरूपगोस्वामीपाद एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामीपाद के चरणकमलों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥६६-६९॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां
प्रयोजन—प्रेमविचारो—नाम
त्र्योविंश परिच्छेदः ॥२३॥

जयगौर

मध्य-लीला

चतुर्विंश परिच्छेद

आत्मारामेतिपद्यार्कस्यार्थांशून् यः प्रकाशयन् ।
जगत्तमो जहाराव्यात् स चैतन्योदयाचलः ॥१॥

जिन्होंने "आत्मारामाः" इत्यादि श्लोकरूप सूर्य की अर्थरूप किरणों का प्रकाश करके जगत् के (अज्ञानरूप) अन्धकार को हरण किया था, वही श्रीचैतन्यरूप उदयाचल हमारी रक्षा करें ॥१॥

चै० च० चु० *टीका:*—उदयाचल से जैसे सूर्य की किरणें प्रकाशित होकर जगत् का अन्धकार दूर किया करती हैं, उसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभु द्वारा 'आत्माराम'—श्लोक के अर्थ प्रकाशित हुए एवं उन से जगत् वासियों का अज्ञान दूर हुआ। श्रीमहाप्रभु ने श्रीपादसनातन गोस्वामी के आगे अनेक प्रकार के अर्थ प्रकाशित किये। उनका स्थूल तात्पर्य यह है कि आत्माराम मुनिगणों से लेकर स्थावर-वृक्षादि पर्यन्त सब ही अहैतुकभाव से श्रीकृष्ण का भजन कर सकते हैं, यदि उन्हें सौभाग्य से भक्तकृपा या कृष्णकृपा अथवा भक्ति की कृपा प्राप्त हो जाए।

इस परिच्छेद में "आत्मारामाश्च"—श्लोक के इकसठ प्रकार के अर्थ वर्णन किये गये हैं एवं श्रीश्रीहरिभक्तिविलास का वर्णनीय समस्त विषय संक्षेप से उल्लिखित किया गया है।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
तबे सनातन प्रभुर चरणे धरिया। पुनरपि कहे किछु विनति करिया—॥२॥
पूर्वे शुनियाछि-तुमि सार्वभौम-स्थाने। एक श्लोकेर आठार अर्थ करियाछ व्याख्याने ॥३॥

श्रीकृष्णचैतन्यदेव की जय हो जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैताचार्यप्रभु की जय हो, श्री गौरभक्तवृन्दों की जय हो। तदनन्तर श्रीसनातन गोस्वामी ने श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ कर विनयपूर्वक कहा—"प्रभो ! मैंने सुना है कि आपने श्री सार्वभौम भट्टाचार्य को आत्माराम—(निम्नलिखित) श्लोक के अठारह अर्थ व्याख्या करके सुनाए थे ॥१—३॥

तथाहि श्लोकः (भाः १—७—१०)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥२॥

उरुक्रम भगवान् श्रीहरि में ऐसे (माधुर्य-सौन्दर्यादि अपूर्व) गुण हैं, कि जिनकी माया-ग्रन्थियाँ टूट चुकी हैं—ऐसे आत्माराम-मुनिगण भी उनकी अहैतुकी-भक्ति किया करते हैं ॥२॥

आश्चर्य शुनिञा मोर उत्कण्ठित मन। कृपा करि कह यदि जुड़ाय श्रवण ॥४॥
प्रभु कहे—आमि वातुल आमार वचने। सार्वभौम वातुल--ताहा सत्य करि माने ॥५॥
किंवा प्रलापिलाम, किछु नाहिक स्मरणे। तोमार सङ्ग-बले यदि किछु हय मने ॥६॥
सहजे आमारे किछु अर्थ नाहि भासे। तोमासभार सङ्ग बले ये किछु प्रकाशे ॥७॥

श्रीसनातनपाद ने कहा–"इस श्लोक के आपने अठारह अर्थ किये थे, मुझे सुन कर बहुत आश्चर्य हुआ। मेरा मन उन्हें सुनने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है, यदि आप उन्हें कृपाकर मुझे सुनाएं तो मेरे कानों को शीतलता प्राप्त हो। श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन! मैं तो पागल हूँ और मेरे वचनों को सुनकर उस पागल सार्वभौम ने भी उन्हें सत्य मान लिया। मैंने उस समय क्या प्रलाप किया, मुझे कुछ स्मरण नहीं है। अच्छा, देखो तुम्हारे सङ्ग के बल से यदि कुछ मन में स्फूर्त्ति होती है, तो कहता हूँ, अपने आप तो मुझे कोई अर्थ स्फुरण नहीं होता, जो कभी कुछ कहता भी हूँ तो तुम सब के सङ्ग-बल को पाकर कहा करता हूँ ॥४—७॥

एकादश-पद एइ श्लोके सुनिर्मल। पृथक् नाना अर्थ पदे करे झलमल ॥८॥
'आत्मा' शब्दे—ब्रह्म, देह, मन, यत्न, धृति। बुद्धि, स्वभाव–एइ सात अर्थ प्राप्ति ॥९॥

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन। इस सुनिर्मल श्लोक में एकादश पद हैं। एक एक पद में पृथक् पृथक् अनेक अर्थ अति स्पष्टरूप से प्रकाशित हो रहे हैं। 'आत्मा'-शब्द के सात अर्थ होते हैं—ब्रह्म, देह, मन, यत्न, धृति, बुद्धि एवं स्वभाव" ॥८—९॥ (इन सातों अर्थों का तात्पर्य यथास्थान पयारों में आगे चल कर विवृत किया गया है। इन सात अर्थों का प्रमाण यह हैं)—

तथाहि विश्वप्रकाशे—

आत्मादेहमनोब्रह्मस्वभावधृतिबुद्धिषु। प्रयत्ने च ॥३॥ इति ॥

एइ साते रमे येइ, सेइ आत्मारामगण। आत्मारामगणेर आगे करिब गणन ॥१०॥
मुन्यादि-शब्देर अर्थ शुन सनातन। पृथक् पृथक् अर्थ, पाछे कराब मिलन ॥११॥
'मुनि'—शब्दे मननशील, आर कहे मौनी। तपस्वी, व्रती, यति आर ऋषि मुनि ॥१२॥
'निर्ग्रन्थ'-शब्दे कहे—अविद्याग्रन्थिहीन। विधि-निषेध-वेदशास्त्र ज्ञानादिविहीन ॥१३॥
मूर्ख-नीच, म्लेच्छ आदि शास्त्ररिक्तगण। धनसंञ्चयी, निर्ग्रन्थ, आर ये निर्धन ॥१४॥

"ब्रह्म-देहादि—इन सातों में जो रमण करते हैं, वे आत्माराम गण हैं। सनातन! इन आत्माराम गणों की आगे गणना कराऊंगा अब 'मुनि'–शब्द के अर्थों को सुनो। फिर पृथक् पृथक् सब पदों का अर्थ तुम्हें सुनाऊंगा, तदनन्तर जिसे अर्थ के साथ जिस अर्थ का मेल है, उसे मिलाकर सम्पूर्ण श्लोक का अर्थ सुनाऊंगा। 'मुनि' शब्द के मननशील, मौनी, तपस्वी, व्रती, यति ऋषि तथा मुनि-ये सात अर्थ हैं। 'निर्ग्रन्थ'-शब्द के अबिद्याग्रन्थि-हीन अर्थात् मायाबन्धन–रहित विधि-निषेधमूलक-शास्त्रज्ञान–शून्य, अर्थात् जो मूर्ख, नीच म्लेच्छ आदि शास्त्रज्ञानरहित हैं। धनसञ्चय करने वाला एवं निर्धन—ये चार अर्थ हैं (निर-शब्द का अर्थ होता है—"निश्चय" तथा "नहीं"। और ग्रन्थ–शब्द का अर्थ है 'ग्रन्थ' या 'शास्त्र' तथा 'धन'। जिन के नहीं है शास्त्र या शास्त्रज्ञान, वे मूर्ख-म्लेच्छादि निर्ग्रन्थ है-- और नहीं है धन जिन के पास—वे निरधन

निर्ग्रन्थ हैं। और निश्चय करके जिनके पास धन है—वे धन-सञ्चय करने वाले भी निर्ग्रन्थ हैं ॥१०-१४॥ (विश्वप्रकाश का प्रमाण इन अर्थों के समर्थन में उद्धृत करते हैं)—

तथाहि तत्रैव

निर्निश्चये निष्क्रमार्थे निर्निर्माणनिषेधयोः ॥४॥
ग्रन्था धनेऽथ सन्दर्भे वर्णसंग्रथनेऽपि च ॥५॥

निश्चय, निष्क्रम, निर्माण एवं निषेध—इन कई अर्थों में निर् (निः) शब्द का प्रयोग होता है। धन, सन्दर्भ (गूढ़ार्थ प्रकाशक एवं सारोक्ति सम्पन्न वचन अर्थात् शास्त्र) एवं वर्ण-विन्यास—इन कई अर्थों में ग्रन्थ-शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥४-५॥

'उरुक्रम'-शब्दे कहे—बड़ यार क्रम। 'क्रम'-शब्दे कहे—पाद-विक्षेपण ॥१५॥
शक्ति, कम्प, परिपाटी, युक्ति, शक्त्ये आक्रमण। चरण-चालने कांपाइल त्रिभुवन ॥१६॥

'उरुक्रम'-शब्द का अर्थ है—बड़ा है क्रम जिसका। 'क्रम'-शब्द का अर्थ है पाद-विक्षेपण, शक्ति, कम्प, परिपाटी, युक्ति तथा शक्ति द्वारा आक्रमण। पादविक्षेप करने में, शक्ति में, परिपाटी में, एवं युक्ति आदि में सर्वापेक्षा जो बड़ा, वृहत् है, वह 'उरुक्रम' है। भगवान् श्रीकृष्ण जिन्होंने वामनरूप से पाद-विक्षेप करके त्रिभुवन को कम्पायमान कर दिया था—वे हैं 'उरुक्रम'॥ १५-१६॥ (इसके प्रमाण में श्रीभागवतजी का एक श्लोक उद्धृत करते हैं)—

तथाहि (भा: २-७-४०)—

विष्णोर्नु वीर्य्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरभसास्खलतात्रिपृष्ठं यस्मात्त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम् ॥६॥

श्रीनारदजी के प्रति श्रीब्रह्माजी ने कहा है—"जिन (श्रीवामनभगवान्) के (पाद-विक्षेपण के) वेग में तीनों गुणों की (सत्व, रज, तम—इन तीनों गुणों की) साम्यावस्थारूप प्रकृति से लेकर सत्यलोक पर्यन्त अति अधिकरूप से कम्पित हो उठे थे, स्खलनरहित स्वीय पाद-विक्षेप द्वारा ही जिन्होंने उसी रूप में कम्पायमान सत्यलोक को स्थिर कर दिया था, जो निपुणव्यक्ति पृथ्वी के प्रमाणुओं को एक-एक करके गिन सकता है, ऐसा कोई (निपुण) व्यक्ति क्या उन भगवान् विष्णु की वीर्यगणना अर्थात् महिमा वर्णन करने में समर्थ हो सकता है? अर्थात् ऐसा कोई व्यक्ति भी उनकी महिमाका वर्णन नहीं कर सकता।

(भगवान् श्रीवामन अर्थात् श्रीकृष्ण जिन्होंने अपने पाद-विक्षेप से त्रिभुवन को कम्पायमान कर दिया था, वही 'उरुक्रम' हैं। यह इस श्लोक से प्रमाणित होता है। अगले पयार में क्रम-शब्द का दूसरा अर्थ करते हैं—

विभुरूपे व्यापे शक्त्ये धारण पोषण। माधुर्यशक्त्ये गोलोक-ऐश्वर्ये परव्योम ॥१७॥
मायाशक्त्ये ब्रह्माण्डादि परिपाठिते सृजन। 'उरुक्रम'-शब्देर एइ अर्थ निरूपण ॥१८॥

सर्वव्यापकरूप से अर्थात् व्यापकता-शक्ति द्वारा भगवान् श्रीविष्णु अनन्तकोटि प्राकृत ब्रह्माण्डों एवं अप्राकृत धामों में व्याप रहे हैं एवं उनका धारण-पोषण करते हैं। ऐसी व्यापकता-शक्ति और किसी में नहीं है। अतः शक्ति में (क्रम में) वे (उरु) सर्वश्रेष्ठ अर्थात् 'उरुक्रम' हैं। वे अपनी माधुर्य-शक्ति से गोलोक को, ऐश्वर्य शक्ति से परव्योम को एवं मायाशक्ति से प्राकृत ब्रह्माण्डों को धारण एवं पोषण

करते हैं। और सृष्टिकार्य में जो उनकी परिपाटी प्रदर्शित हो रही है—ऐसी परिपाटी अन्यत्र कहीं भी नहीं दीखती। वे इस मायाशक्ति में तथा परिपाटी में भी सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः वे श्रीकृष्ण 'उरुक्रम' हैं ॥१७-१८॥ (क्रम-शब्द के अर्थों के प्रमाण में एक श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं):—

तथाहि विश्वप्रकाशे—

क्रमः शक्तौ परिपाट्यां क्रमश्चालन कम्पयोः ॥७॥

शक्ति, परिपाटी, क्रम, चालन एवं कम्प—इन कई अर्थों में 'क्रम'-शब्द का प्रयोग होता है ॥७॥

'कुर्वन्ति' पद एइ परस्मैपद हय।
कृष्णसुखनिमित्त भजने तात्पर्य कहय ॥१९॥

'कुर्वन्ति'-पद परस्मैपद है। ('भक्ति'—जो इस आत्मारामाः श्लोक में 'भक्ति'-कर्म है और 'आत्मारामगण' कर्त्ता हैं। अर्थात् "आत्मारामगुनिगण भक्ति करते हैं—) यहाँ भक्ति का करना श्रीकृष्ण-सुख के निमित्त है ॥१९॥

चै० च० चु० *टीका*:—परस्मैपद तथा आत्मनेपद—इन दो भावों में धातुओं का रूप साधित होता है। 'कृ'—धातु के पीछे परस्मैपद का 'अन्ति'—प्रत्यय लगाने से 'कुर्वन्ति'-शब्द बनता है। कृ-धातु उभयपदी है। इसलिये इसके साथ 'आत्मनेपदी-प्रत्यय 'अन्ते' भी लगता है, जिससे 'कुर्वते'-शब्द निष्पन्न होता है। कुर्वन्ति एवं कुर्वते—इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही होता है—"करते हैं" ॥ किन्तु पार्थक्य यह है कि कार्य का फल यदि कर्त्ता स्वयं भोग करे, तो कृ-धातु के साथ आत्मनेपदी प्रत्यय लगता है। और कार्य का फल यदि कोई अन्यजन भोग करे तो परस्मैपद-प्रत्यय लगाया जाता है—ऐसा नियम है। यहां कुर्वन्ति-पद परस्मैपद के साथ मिलकर निष्पन्न हुआ है। अतः कार्य का फल कर्त्ता के अपने लिये यहाँ अभिप्रेत नहीं है। आत्मारामगुनि भक्ति करते हैं। यहाँ भक्ति केवलमात्र श्रीकृष्ण के सुख के निमित्त ही अभिप्रेत है। वे भक्ति अपने सुख के लिये नहीं करते, यही तात्पर्य है। क्रिया का फल कर्त्ता के अपने लिये अभिप्रेत न होने पर ही परस्मैपद प्रत्यय प्रयुक्त होता है, निम्नलिखित श्लोक में इसका प्रमाण देते हैं—

तथाहि पाणिनि (१-३-७२)—सिद्धान्त कौमुद्यां भ्वादिप्रकरणे—

स्वरितञितः कर्त्तृभिप्राये क्रियाफले ॥८॥

स्वरित (यजादि)-धातु एवं ञ इत् जिसका कृ-प्रभृति धातु रूप होता है। आत्मनेपद एवं परस्मैपद—इन दोनों पदों में व्यवहृत होता है। तत्तत् क्रिया का फल जब कर्त्ता के निज भोग के लिये होता है, तब तत्तत्-धातु, आत्मनेपदी होता है और जब इस क्रिया का फल कर्त्ता से भिन्न दूसरे के लिये अभिप्रेत होता है, तब वह परस्मैपद होता है ॥८॥

चै० च० चु० *टीका*:—आगे 'अहैतुकी'—शब्द का अर्थ करते हैं। हेतु नहीं है जिसका (जिस भक्ति का) वही 'अहैतुकी' है। अतः अहैतुकी का अर्थ समझने से पहले 'हेतु'-शब्द का अर्थ जानने की आवश्यकता है। इसलिये अगले पयार में हेतु-शब्द का अर्थ करते हैं :—

'हेतु'-शब्दे कहे—भुक्ति आदि वाञ्छान्तरे। भुक्ति, सिद्धि, मुक्ति-मुख्य ए तिन प्रकारे ॥२०॥
एक 'भुक्ति' कहे—भोग अनन्त प्रकार। 'सिद्धि अष्टादश', मुक्ति पञ्च परकार ॥२१॥
एइ याहां नाहि, ताहां भक्ति अहैतुकी। याहा हैते वश हय श्रीकृष्ण कौतुकी ॥२२॥

(हेतु का अर्थ है प्रवर्त्तक-कारण अर्थात् जिस, उद्देश्य से कोई काम किया जाये, वह उस काम का '**हेतु**' कहलाता है। हेतु-भजन या हैतुकी भक्ति करने के साधारणतः तीन उद्देश्य देखे जाते हैं) हेतु—शब्द से यहाँ भुक्ति आदि श्रीकृष्णप्रीति वासना—व्यतीत अन्य वासनाएं अभिप्रेत हैं। वे वासनाएं मुख्य तीन प्रकार की हैं—भुक्ति, सिद्धि एवं मुक्ति। भुक्ति—जो अनन्त प्रकार के भोग अपने सुख के लिये हैं, अष्टादश सिद्धियां तथा पाञ्च प्रकार की मुक्ति—ये तीन प्रकार की जो वासनाएं हैं अर्थात् भुक्ति वासना, सिद्धि-वासना एवं मुक्ति-वासना जिस भक्ति में नहीं हैं, वही भक्ति ही अहैतुकी है और भगवान् उसी अहैतुकी-भक्ति के ही वशीभूत होते हैं ।।२०—२२।।

चै० च० चु० *टीका*:—विषय, सम्पत्ति, सुख स्वच्छन्दता आदि जो इह-काल के भोग हैं तथा स्वर्ग के सुखादि जो परकाल के भोग हैं, उनकी प्राप्ति की वासना को **भुक्ति-वासना** कहते हैं।

अष्टादश सिद्धि:—सिद्धि अठारह प्रकार की हैं —अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशिता, वशिता, कामावशायिता, क्षुत्-पिपासादि-राहित्य, दूरश्रवण, दूरदर्शन, मनोजव, कामरूपता, परकायप्रवेश, इच्छामृत्यु, देवक्रीड़ाप्राप्ति, सङ्कल्पानुरूप-सिद्धि एवं अप्रतिहताज्ञा। पहली आठ भगवदाश्रित हैं और शेष की दश सत्त्वगुण का कार्य हैं। अणिमा लघिमा व महिमा—ये तीनों देह की सिद्धियां हैं। (विशेष विवरण पृष्ठ ५२६ पर द्रष्टव्य है)

मुक्ति:—पाँच प्रकार की हैं:-सार्ष्टि, सारुप्य, सालोक्य, सामीप्य एवं सायुज्य। (विशेष विवरण पृष्ठ १६० पर द्रष्टव्य है) सायुज्य दो प्रकार की है -निर्विशेष ब्रह्म के साथ सायुज्य (मिल जाना) तथा सविशेष (साकार) स्वरूप के साथ सायुज्य। निर्विशेष-ब्रह्म के साथ सायुज्य प्राप्ति करने के पश्चात् जीव (साधनकाल में भक्ति की वासना रहने पर) भक्ति की कृपा से स्वतन्त्र देह धारण कर श्रीकृष्ण का भजन कर सकता है--'**मुक्ताअपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते**।'' किन्तु साकार-स्वरूप के साथ सायुज्य-प्राप्त जीव स्वतन्त्र देह धारण करके श्रीकृष्ण भजन का सौभाग्य कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये ब्रह्म-सायुज्य से ईश्वर-सायुज्य अधिक दूषित मानी गई है।

पहली चारों प्रकार की मुक्तियाँ दो दो प्रकार की हैं:—सेवाशून्या, व सेवायुक्ता। जो केवल सारूप्यादि को प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते हैं, सारूप्यादि के साथ उपास्य की सेवा नहीं चाहते, उनकी मुक्ति को **सेवा-शून्या** या '**स्वसुख वासनामूला**' कहते हैं और जो सारूप्यादि के साथ साथ उपास्यदेव की सेवा भी चाहते हैं, उनकी मुक्ति '**सेवायुक्ता**' कही जाती है।

इस प्रकार जिस भक्ति में भुक्ति, सिद्धि एवं मुक्ति इन तीनों की कामना नहीं है, वही भक्ति '**अहैतुकी**' कही गई है।

प्रश्न उठता है कि श्रीकृष्ण की सुख-कामना के कारण जो भक्ति है, वह भी तो श्रीकृष्ण-सुख-कामना का हेतु रहने से सहैतुकी है, उसे अहैतुकी कैसे कहा जा सकता है? उत्तर—यह सत्य है कि अहैतुकी-भक्ति में भी कृष्णसुख-कामना रूप हेतु है, किन्तु कृष्णसुख-कामना एक भक्ति है। भक्ति से अलग और कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अतः भक्ति का हेतु भक्ति होने से उसे अहैतुकी-भक्ति कहा जाता है। साध्य से साधन जहां पृथक् होता है, वह साधन सहैतुक कहा जाता है। इस अहैतुकी भक्ति में साध्य एवं साधन एकजातीय ही हैं। अतः इसे सहैतुकी भक्ति नहीं कहा जाता।

श्रीकृष्ण को यहां **कौतुकी** कहा गया है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। असमोर्द्ध-शक्ति सम्पन्न हैं एवं परम स्वतन्त्र हैं। वे यदि स्वयं अपनी इच्छा से किसी की वश्यता स्वीकार न करें, तो कोई भी उन्हें

वशीभूत नहीं कर सकता। तत्त्वतः भक्त की शक्ति भगवान् की शक्ति की अपेक्षा बड़ी नहीं है, तथापि वे अपनी इच्छा से भक्त की वशीभूतता स्वीकार करते हैं, अतः उन्हें **कौतुकी** कहा गया है। कौतुकी होकर ही वे भक्त की वश्यता स्वीकार करते हैं। वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं आनन्दस्वरूप, आनन्द-ब्रह्म हैं। उनके आनन्दांश की अधिष्ठात्री शक्ति ही ह्लादिनी है, जिसके द्वारा वे भक्तों को आनन्द प्रदान करते हैं एवं स्वयं भी आनन्द आस्वादन करते हैं। आनन्दस्वरूप होकर भी वे आनन्द आस्वादन करना चाहते हैं— यही उनका कौतुक या लीला है।

श्रीभगवान् का आनन्द दो प्रकार का है। **स्वरूपानन्द** एवं **स्वरूप-शक्त्यानन्द**। स्वरूप-शक्त्यानन्द फिर दो प्रकार का है—**ऐश्वर्यानन्द** एवं **मानसानन्द**। इनमें मानसानन्द को श्रेष्ठ माना गया है।

भगवान् आनन्दस्वरूप हैं, अतः शक्ति की विशेष क्रिया के बिना भी उनमें एक आनन्द है। जैसे निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप। उसमें शक्ति की विशेष क्रिया नहीं है, शक्ति की विशेष अभिव्यक्ति नहीं है, तथापि वह ब्रह्म स्वरूपतः आनन्द होने से उसमें एक आनन्द विद्यमान् है। यह ब्रह्म का **स्वरूपानन्द** है। ह्लादिनी शक्ति ही आनन्द की अधिष्ठात्री-शक्ति है, अतः जहाँ ह्लादिनी जितनी अधिक वैचित्री धारण करने का सुयोग पाती है, वहाँ आनन्द की भी उतनी ही अधिक वैचित्री दीखती है। ह्लादिनी भगवान् की स्वरूपशक्ति होने से ह्लादिनी के वैचित्र्य जनित आनन्द को **स्वरूपशक्त्यानन्द** कहते है।

परव्योमादि भगवद्धाम के ऐश्वर्यादि भी स्वरूप शक्ति की ही कृति विशेष हैं। ह्लादिनी, सन्धिनी एवं सम्वित् स्वरूप शक्ति की या चित्त-शक्ति की इन तीनों वृत्तियों में से किसी को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। तीनों ही न्यूनाधिकरूप से एकत्र वर्तमान रहती हैं। अतः स्वरूप-शक्ति जब ऐश्वर्यरूप में वैचित्री धारण करती है, तब ह्लादिनी भी उसमें कुछ कुछ वैचित्री धारण किया करती है। ऐश्वर्य के साथ मिश्रित ह्लादिनी शक्ति की वह जो वैचित्री है— उसे **ऐश्वर्यानन्द** कहते हैं। किन्तु परव्योम या वैकुण्ठादि में ऐश्वर्य की प्रधानता होने से ह्लादिनी ऐश्वर्य शक्ति द्वारा सङ्कुचित हो जाती है। अतः ह्लादिनी उन धामों में यथा-सम्भव वैचित्री की अतिशयता धारण नहीं कर सकती। तात्पर्य यह है कि ह्लादिनीशक्ति ही विविध वैचित्री धारण करके विविध आनन्दरूपों में परिणत होती है एवं वही ह्लादिनी उस समस्त प्रकार के आनन्द-समूह को भगवान् एवं भक्त को आस्वादन कराती है।

भगवान् जिस आनन्द को अनुभव करते हैं किंवा भगवान् के अनुभव योग्य आनन्दस्वरूप में ह्लादिनी जो वैचित्री धारण करती है—प्रश्न उठता है, वह भगवान् में है कि उनसे बाहर भक्त में ? यदि भक्त में है तो भगवान् में नित्य अवस्थान करने वाली स्वरूप शक्ति ह्लादिनी भक्त में कहाँ से और कैसे आई ? उत्तर यह है कि शक्ति की क्रिया से ह्लादिनी भगवान् में ही वैचित्री धारण करती है और भगवान् के द्वारा वह भक्त के हृदय में भी निक्षिप्त होकर वैचित्री को धारण करती है। आनन्द-आस्वादन के लिये परम कौतुकी श्रीकृष्ण नित्य ही ह्लादिनी शक्ति की सर्वानन्दातिशायनी वृत्ति को भक्तगणों के हृदय में सञ्चारित करते रहते हैं। सञ्चारित ह्लादिनीशक्ति की वृत्ति ही भक्तों के हृदय में कृष्ण-प्रीति या भक्ति के रूपमें वैचित्री धारण करके परम आस्वाद्यता को प्राप्त होती है। भगवान् के स्वरूप में ह्लादिनी जो वैचित्री धारण करती है, उसकी उपेक्षा भक्तों के हृदय में स्थित वैचित्री अनेक अधिक आस्वाद्य होती है। एक दृष्टान्त द्वारा परिस्फुट करते हैं– वायु का गुण है, शब्द। मुख में रहने वाली वायु नाना प्रकार से मुख से बाहर निकल कर नाना प्रकार के शब्दों में अभिव्यक्त होती है। उन शब्दों का एक माधुर्य है, किन्तु वही वायु यदि मुख से निकल कर वंशीरन्ध्र में प्रवेश करे। तब ऐसे एक अनिर्वचनीय माधुर्यमय शब्दों का

उद्भव होता है कि जिसे सुनकर श्रोता एवं वंशी बजाने वाला स्वयं भी मुग्ध हो जाता है। उसी प्रकार भगवान् के स्वरूप में ह्लादिनी जो वैचित्री धारण करती है, उसकी अपेक्षा भक्त के हृदय में निक्षिप्त ह्लादिनी की वैचित्री अति अधिक माधुर्यमय एवं आस्वादनीय होती है। भक्त के हृदय में ह्लादिनी की वैचित्री धारण करने का सुयोग एवं अवकाश भी अधिक है। ह्लादिनी भक्तहृदय में ही सर्वविध वैचित्री धारण कर सकती है एवं भक्तहृदय में ह्लादिनी जो समस्त आनन्दवैचित्री धारण करती है, उसे आस्वादन करने में ही भगवान् का समाधिक कौतूहल है।

निर्विशेष ब्रह्म में शक्ति का विकाश नहीं है, करुणा, भक्तवात्सल्यादि भी उसमें नहीं हैं। इसलिये निर्विशेष ब्रह्म का भक्त भी कोई नहीं। अतः ब्रह्मानुसन्धान करने वाले साधक को ह्लादिनी के वैचित्रीमय आनन्द की प्राप्ति असम्भव है। वैकुण्ठादि भगवद्धामों में ऐश्वर्य की प्रधानता है। वहाँ शक्ति का विकाश है, तत्तत् वैकुण्ठाधिपति में करुणा, भक्तवत्सलतादि का भी विकाश है, उनके पार्षद-भक्त भी हैं। उन पार्षद-भक्तों के हृदय में ह्लादिनी वैचित्री को धारण भी कर सकती है, किन्तु उनकी भक्ति ऐश्वर्यज्ञान-मिश्रित होने से भगवान् के ऐश्वर्य ज्ञान के कारण वह सङ्कुचित हो जाती है, जिससे उनके हृदय में ह्लादिनी ऐश्वर्य द्वारा प्रतिहत हो जाती है। अतः वह वैचित्री पराकाष्ठा को प्राप्त नहीं कर पाती। इस प्रकार ऐश्वर्य द्वारा प्रतिहत ह्लादिनी की वैचित्री से उदय हुआ जो आनन्द है वह **ऐश्वर्यानन्द** है। स्वरूपानन्द की अपेक्षा आस्वादन चमत्कारिता अनेक अधिक होने पर भी ऐश्वर्यानन्द में आस्वादन-चमत्कारिता की पराकाष्ठा नहीं है।

श्रीवृन्दावन शुद्धमाधुर्यमय धाम में माधुर्य की ही सर्वातिशायिनी प्रधानता है, वहां ऐश्वर्यादि माधुर्य के अनुगत रहते हैं। यहाँ ऐश्वर्य शक्ति माधुर्य को या ह्लादिनी को प्रतिहत करने की चेष्टा भी नहीं कर सकती, वरं आप ही माधुर्य से कवलित होकर माधुर्य के साथ तादात्म्य को प्राप्त हो जाती है। अतः श्रीवृन्दावनधाम के पार्षद-भक्तों के चित्त में वह ह्लादिनी सर्वविधवैचित्री की पराकाष्ठा को प्राप्त करती है और श्रीकृष्ण को भी आस्वादन-चमत्कारिता की पराकाष्ठा का अनुभव कराती है। श्रीकृष्ण इस प्रकार का जो आनन्द अनुभव करते हैं, वह उनका **मानसानन्द** है। मनमें अनुभूत होने के कारण ऐश्वर्यानन्द तथा स्वरूपानन्द भी मानसानन्द कहे जा सकते हैं, किन्तु ऐश्वर्यानन्द या स्वरूपानन्द में आनन्दानुभव जनित जो मनः प्रसाद है वह चरम-पराकाष्ठा को प्राप्त नहीं कर सकता, अतः उसको मानसानन्द नहीं कहा जाता। श्रीभगवान् भक्ति के वशीभूत हैं, किन्तु जहां भक्ति की जितनी अधिक अभिव्यक्ति है, वहाँ उनके आस्वादन योग्य आनन्द की भी उतनी अधिक अभिव्यक्ति होती है, अतः वहां उनकी भक्तवश्यता की भी उतनी अधिक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार के आनन्द आस्वादन के लिये कौतुक-युक्त होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण को **कौतुकी** कहा गया है।

'भक्ति'-शब्देर अर्थ हय दशविधाकार। एक साधन, प्रेमभक्ति नव प्रकार ॥२३॥
रति लक्षणा, प्रेमलक्षणा इत्यादि प्रचार। भावरूपा, महाभावलक्षणारूपा आर ॥२४॥
शान्तभक्तेर रति बाढ़े प्रेमपर्य्यंत। दासभक्तेर रति हय रागदशा अन्त ॥२५॥
सखागणेर रति अनुराग पर्य्यन्त। पितृ-मातृ-स्नेह-आदि अनुराग अन्त ॥२६॥
कान्तागणेर रति पाय महाभावसीमा। 'भक्ति'-शब्देर एइ सब अर्थेर महिमा ॥२७॥

भक्ति अर्थात् सेवा का अर्थ दश प्रकार का है, या भक्ति दश प्रकार की है। साधन-भक्ति, एक प्रकार का है और साध्य या प्रेमभक्ति, नौ प्रकार की है। (रति या प्रेमाङ्कुर जन्मने से पहले तक का जो भजन

है, उसका नाम साधन-भक्ति है।) प्रेमलक्षणा-भक्ति का नाम प्रेमभक्ति है। रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव—ये प्रेमविकाश की नौ अवस्थाएँ हैं। इनमें स्थित भक्तों की नौ प्रकार की प्रेमभक्ति है, जो रतिलक्षणा-प्रेमलक्षणा, भावरूप, महाभावलक्षणा—इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। शान्त-रस के भक्तों की रति प्रेम पर्यन्त वर्द्धित होती है। दास्य-रस के भक्तों की रति राग-अवस्था (राग सीमा तक, सखागणों की रति अनुराग (आरम्भ दशा) तक, पिता-माता या वात्सल्य रति अनुराग की अन्तिम सीमा तक तथा कान्तागणों की रति या मधुरा-रति महाभाव की सीमा पर्यन्त वर्द्धित होती है। भक्ति-शब्द की अर्थ-महिमा इस प्रकार है ॥२३–२७॥

'इत्थम्भूतगुण'-शब्देर शुनह व्याख्यान। 'इत्थं' शब्देर भिन्न अर्थ 'गुण' शब्देर आन ॥२८॥
'इत्थम्भूत'—शब्देर अर्थ पूर्णानन्दमय। यार आगे ब्रह्मानन्द तृणप्राय हय ॥२९॥

"सनातन! अब 'इत्थम्भूतगुण'—शब्द की व्याख्या सुनो। इत्थं-शब्द का अर्थ भिन्न २ है। 'इत्थम्भूत'–शब्द का अर्थ है-ऐसा पूर्णानन्दमय। गुण का अर्थ है-गुण। जिसे अगले पयारों में कहेंगे अर्थात् श्रीकृष्ण में ब्रह्मानन्द-तुच्छकारी, सर्वाकर्षक, सर्वाह्लादक महारसायन, सर्वविस्मारक, भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि आदि वासना-अपसारक ऐसे पूर्णानन्दमय गुण हैं (कि आत्मारामामुनिगण भी उनकी अहैतुकी भक्ति करते हैं।) और उन गुणों के सामने ब्रह्मानन्द तो तृणवत् तुच्छ प्रतीत होता है ॥२–८२९॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-१-२६) हरिभक्ति सुधोदयवचनम् (१४-३६)

त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो ॥९॥

श्रीप्रह्लादजी ने श्रीनृसिंहदेवजी से कहा है—"हे जगद्गुरो! आपके साक्षात् दर्शन करने से जिस अप्राकृत विशुद्धानन्द समुद्र का मैं अनुभव कर रहा हूँ, उसके सामने निर्विशेष ब्रह्मानन्द मुझे गोपद की भांति अति तुच्छ लगता है" ॥९॥ (यह श्लोक ऊपर के पयार के प्रमाण में कहा गया है।)

सर्वाकर्षक सर्वाह्लादक महा–रसायन। आपनार बले करे सर्व विस्मारण ॥३०॥
भुक्ति-सिद्धि-मुक्ति सुख छाड़ाय यार गन्धे। अलौकिक शक्तिगुणे कृष्ण-कृपा बान्धे ॥३१॥
शास्त्रयुक्ति नाहि इहां सिद्धान्त विचार। एइ स्वभावगुणे याते माधुर्येर सार ॥३२॥

श्रीकृष्ण के गुण अपनी शक्ति से सबको आकर्षण करने वाले हैं, (यहाँ तक कि स्वयं श्रीकृष्ण को भी आकर्षण करने वाले हैं।) वे सबको ह्लादित करने वाले हैं। वे अत्यधिकरूप से तृप्त करने वाले हैं, वे अपनी शक्ति से (श्रीकृष्ण को छोड़कर) सबको अहं-मम भुला देने वाले हैं। श्रीकृष्ण गुणों की गन्ध या आभास प्राप्त हो जाने से भुक्ति, सिद्धि, मुक्ति आदि के सुखों की वासना दूर भाग जाती है। श्रीकृष्ण-गुणों में ऐसी अलौकिक शक्ति है कि वे जीव को कृष्णकृपारूप रज्जु से बान्ध लेते हैं, अर्थात् उसे ऐसे आनन्द की प्राप्ति होती है कि फिर वह एक क्षण के लिये भी कभी श्रीकृष्ण-चरणों को छोड़ नहीं सकता। इसमें शास्त्रयुक्ति की अपेक्षा नहीं है और न ही सिद्धान्त-विचार की अपेक्षा है। श्रीकृष्ण के सर्वाकर्षकादि गुण स्वाभाविक ही हैं, कारण कि वे माधुर्य के सारस्वरूप हैं ॥३०–३२॥

'गुण'–शब्देर अर्थ–कृष्णेर गुण अनन्त। सत्–चित्–रूप गुण–सर्व पूर्णानन्द ॥३३॥
ऐश्वर्य माधुर्य कारुण्य स्वरूप पूर्णता। भक्तवात्सल्य आत्मपर्य्यन्त–वदान्यता ॥३४॥

अलौकिक रूप–रस–सौरभादि गुण। कारो मन कोन गुणे करे आकर्षण ॥३५॥

सनकादिर मन हरिल सौरभादिगुणे ॥३६॥

अब "गुण"—शब्द का अर्थ कहते हैं। श्रीकृष्ण के गुण अनन्त व असंख्य हैं। श्रीकृष्ण के रूप एवं गुण समस्त सत् एवं चित् स्वरूप अर्थात् नित्य एवं अप्राकृत हैं,। उन समस्त का ही पूर्णानन्दस्वरूप है। श्रीकृष्ण ऐश्वर्य में, माधुर्य में, करुणा में एवं स्वरूप में सर्वविध पूर्ण हैं। भक्त के प्रति श्रीकृष्ण की पूर्ण-ममता एवं स्नेह है एवं श्रीकृष्ण आत्मपर्यन्त दानशील हैं अर्थात् भक्त के हाथों अपने आप तक को भी बेच देते हैं। श्रीकृष्ण के रूप, रस, गात्रगन्धादि समस्त गुण ही अलौकिक एवं अनिर्वचनीय हैं। (किस का मन श्रीकृष्ण के किस गुण में आकृष्ट हुआ—उसके कुछ दृष्टान्त निम्नलिखित हैं—) सनक, सनातन, सनन्दन एवं सनत्कुमार—इन श्रीसनकादिकों का मन श्रीकृष्ण के सौरभादि गुण में आकृष्ट होगया था। जैसा कि कहा गया है—

तथाहि (भा. ३—१५—४३)—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षर–जुषामपि चित्ततन्वोः ॥१०॥

उन कमल-नयन भगवान् के चरण-कमल की केशरमिश्रित तुलसी की मकरन्दयुक्त वायु ने नासारन्ध्रद्वारा भीतर प्रवेश करके उन ब्रह्मानन्द सेवी श्रीसनकादिकों के चित्त एवं शरीर में सम्यक् क्षोभ उत्पन्न कर दिया अर्थात् उनके चित्त में अतिशय हर्ष एवं देह में रोमाञ्चादि प्रकाशित होने लगे ॥१०॥ (पृष्ठ ४७७ द्रष्टव्य)।

शुकदेवेर मन हरिल लीलाश्रवणे ॥३७॥

श्रीभगवान् की लीलाओं के श्रवण में श्रीशुकदेव मुनि (जो पहले निर्विशेष-ब्रह्मध्यान–परायण थे, उन) का मन हरा गया ॥३७॥ यथाः—

तथाहि (भा: २—१—९)

परिनिष्ठतोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमः–श्लोकः–लीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यद्धीतवान् ॥११॥

श्रीशुकदेव जी ने ही कहा है—"हे महाराज परीक्षित् ! मैं निर्गुण–ब्रह्म में निष्ठा प्राप्त कर चुका था, किन्तु उत्तम श्लोक–श्रीकृष्ण की लीलाओं की कथा सुनकर मेरा चित्त आकृष्ट होगया, अतः मैंने इस श्रीमद्भागवत-नामक आख्यान का अध्ययन किया" ॥११॥ और भी कहा है—

तथाहि (भा: १२—१२—६९)—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥१२॥

श्रीसूत जी ने कहा है—"ब्रह्मानन्द में निमग्न होने से जिनका चित्त सर्वदा परिपूर्ण होते हुए भी एवं इसीलिए अन्य विषयों से मनोवृत्ति सम्यक् प्रकार से दूर रहने पर भी, जिनका मन अजित-श्रीकृष्ण की सुमधुर-लीलाकथा द्वारा (ब्रह्मानन्द से) आकृष्ट होगया एवं फिर जिन्होने उन अजित श्रीकृष्ण के तत्त्व सम्बन्ध में प्रदीपतुल्य अर्थात् श्रीकृष्ण नाम-रूप-गुण-लीला आदि का रहस्य उद्घाटन करने वाला श्रीमद्भागवत पुराण व्यक्त किया, सर्व अमङ्गल-विनाशक उन श्रीव्यासनन्दन—श्रीशुकदेव जी को मैं प्रणाम करता हूँ" ।।१२।।

श्रीअङ्गरूपे हरे गोपीगणेर मन ।।३८।।

श्रीकृष्ण के श्रीअङ्ग के रूप-सौन्दर्य ने गोपीवृन्द के मन को हर लिया। (गोपीवृन्द के पक्ष में श्रीकृष्ण का मनोहारित्व नित्य है, यहाँ केवल प्रकट-लीला की बात कही गई है) ।।३८।।

तथाहि (भा: १०—२९—३९)—

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रिगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः ।।१३।।

गोपसुन्दरियों ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा है—"हे सुन्दर ! आपके मुख मण्डल में कुण्डलों की शोभा बढ़ाने वाला जो गण्ड-स्थल है, तथा सुधामय अधर एवं मन्दमुस्कान युक्त नेत्रों की अवलोकन है, आपके उस अलकावलि-युक्त मुख-कमल का दर्शन करके एवं आपके अभयप्रद भुजदण्ड युगल को तथा अपूर्व शोभासम्पद् से परम रमणीय आपके वक्षस्थल को देख कर हम आपकी दासियाँ बन गईं हैं" ।।१३।

रूपगुण श्रवणे रुक्मिण्यादि—आकर्षण ।।३९।।

श्रीकृष्ण के रूप-गुणों को सुन कर श्रीरुक्मिणी आदि का मन आकृष्ट होगया ।।३९।।

तथाहि (भा: १०—५२—३७)—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ।।१४।।

श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके श्रीरुक्मिणी देवी ने कहा है—"अच्युत ! हे अङ्ग ! हे भुवन सुन्दर ! श्रोताओं के कर्णपथ से भीतर प्रवेश करके चित्त के समस्त सन्तापों को हरण करने वाले आपके गुणों की कथा सुनकर एवं नेत्रवान् व्यक्ति को नेत्रों की समस्त सार्थकता प्रदान करने वाले आपके रूप की कथा सुन कर, मेरा निर्लज्ज-चित्त आप में लग गया है ।।१४।।

वंशीगीते हरे लक्ष्म्यादिकेर मन ।।४०।।

श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि में श्रीलक्ष्मी आदि का मन आकृष्ट हो जाता है ।।४०।। जैसा कि कहा गया है—

तथाहि (भा: १०—१६—३६)—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ।।१५।।

कालियनाग की पत्नियों ने श्रीभगवान् के प्रति कहा है—"हे देव ! जिसके पाने की इच्छा से श्रीलक्ष्मीदेवी ने अनेक काल तक समस्त कामनाओं को छोड़कर व्रत धारण किया था एवं तपस्या की थी, वह आपकी चरण-रज कालियनाग को किन पुण्यों के फल से प्राप्त हुई है, वह हम नहीं जानती हैं" ॥१५॥

योग्यभावे जगते यत युवतीर गण ॥४१॥

श्रीकृष्ण वंशी-गीत द्वारा त्रिभुवन की युवतीगणों का मन यथायोग्य भाव से हरण करने वाले हैं :—

तथाहि (भाः १०–२९–४०)—

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीत सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विज द्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥१६॥

गोपसुन्दरियों ने कहा है—"हे कृष्ण ! त्रिलोकी में ऐसी स्त्री कौन है, जो आपके अस्फुट-मधुर-पदसम्वलित एवं दीर्घ-मूर्च्छित-स्वरालापभेदयुक्त वेणुगीत में विमोहित होकर तथा त्रिलोकी की निखिल सौन्दर्यसम्पद् जिसमें समा रही है, तुम्हारे उस रूप के दर्शन करके अपने धर्म से विचलित नहीं हो जाती ? (अर्थात् समस्त स्त्रीगण ही विचलित हो जाती हैं) स्त्रियों की तो बात दूर रही, आपकी इस वेणु-ध्वनि को सुनकर एवं आपका ऐसा रूप दर्शन करके गौएं, पक्ष, वृक्षी एवं बन-पशु पर्यन्त पुलकित हो उठते हैं ।

गुरुतुल्य स्त्रीगणेर वात्सल्ये आकर्षण । दास्य-सख्यादि-भावे पुरुषादिगण ॥४२॥
पक्षी मृग वृक्ष लता चेतनाचेतन । प्रेमे मत्त करि आकर्षये कृष्णगुण ॥४३॥

वयोवृद्ध स्त्रीगण श्रीकृष्ण की वात्सल्य-भावमयी प्रीति में आकृष्ट हो जाती हैं । पुरुष उनके दास्य एवं सख्यादि भावों में आकृष्ट हो जाते हैं । (स्त्री-पुरुष-लक्ष्मी आदि पर्यन्त सबको तो श्रीकृष्ण-गुण आकर्षण करते ही हैं) यहाँ तक कि पक्षी-पशु, वृक्ष-लता आदि जितने भी चेतन-अचेतन इस त्रिभुवन में हैं, उन्हें अपने प्रेम में मतवाला करके श्रीकृष्ण के गुण अपनी ओर खींच लेते हैं ॥४२–४३॥ जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है—

तथाहि पूर्वश्लोकस्य परार्द्धम् (१०–२९–४०)—

त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्यरूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥१७॥

त्रिलोकी की निखिल सुन्दरता जिसमें समा रही है—ऐसा जो आपका रूप है, उसे देखकर गौएँ, पशु, वृक्ष, व बन-पशु भी पुलकित हो उठते हैं ॥१७॥

'हरि'शब्देर नाना अर्थ, दुइ मुख्यतम । सर्व अमङ्गल हरे, प्रेम दिया हरे मन ॥४४॥
यैछे-तैछे योइ-कोई करये स्मरण । चारिविध पाप तार करे संहरण ॥४५॥

'हरि'-शब्द के नानाविध अर्थ हैं, उनमें कुछ अर्थ मुख्य हैं । उनमें फिर मुख्यतम दो ही अर्थ हैं । जो हरण करता है—वह 'हरि' है) प्रथमतः, श्रीकृष्ण सर्व अमङ्गलों को हरण करने वाले हैं, अतः वे हरि हैं । द्वितीयतः, वे प्रेम देकर मन को हरण कर लेते हैं, अतः वे हरि हैं । (वे अमङ्गल कैसे हरण करते हैं—उसे अगले पयारों में कहते हैं) जो कोई भी श्रद्धा-अश्रद्धा, इच्छा-अनिच्छा, स्तुति-निन्दा जिस किसी भी प्रकार से उनका स्मरण करता है, वे उसके चार प्रकार के पापों को हरण या नाश करते हैं ।

चै० च० चु० टीका:—श्रीहरि के स्मरण में देश, काल, पात्र एवं अवस्था की कोई भी अपेक्षा नहीं है। स्मरण मात्र से वे चार प्रकार के पापों को नाश कर देते हैं। चार प्रकार के पाप ये हैं—**पातक उपपातक, अतिपातक,** तथा महापातक। अथवा **कूट**—जो प्रारब्ध भाव में भोगा जा रहा है। **बीज**—जो वासनामय पाप हैं। **फलोन्मुख**—जो प्रारब्ध रूप है तथा **अप्रारब्ध-फल**—जो अभी भी कूटादि के रूप में कार्यावस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं। यह स्मरण रहे कि पापादि का नाश श्रीहरिस्मरण का मुख्य फल नहीं है। श्रीहरिस्मरण का मुख्य फल प्रेम-प्राप्ति है। श्रीहरिस्मरण से पाप नाश होते हैं—इसका प्रमाण देते हैं—

तथाहि (भा: ११-१०-१९)—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥१८॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—"हे उद्धव ! प्रज्ज्वलित अग्नि जैसे समस्त काष्ठ-राशि को भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार मद्विषयक-भक्ति समस्त पापों को निःशेष रूप से जला देती है" ॥१८॥

तबे करे भक्तिबाधक कर्माविद्या-नाश। श्रवणाद्येर फल 'प्रेमा' करये प्रकाश ॥४६॥
निजगुणे तबे हरे देहेन्द्रियमन। ऐछे कृपालु कृष्ण, ऐछे तांर गुण ॥४७॥
चारि पुरुषार्थ छाड़ाय, गुणे हरे सभार मन। 'हरि'-शब्देर एइ मुख्यार्थ करिल लक्षण ॥

चार प्रकार के पापों को नाश करने के पश्चात् श्रीकृष्ण-भक्ति में बाधा करने वाले जो शुभ एवं अशुभ कर्म हैं, श्रीहरि उन सबका नाश करते हैं और अविद्या-अर्थात् त्रिगुणमय माया अथवा तज्जनित अज्ञान—श्रीकृष्ण बहिर्मुखता-साधकज्ञान का वे हरण करते हैं। इस प्रकार श्रवण-कीर्तनादि नव-विधा-भक्ति के अनुष्ठान का फल जो प्रेमाभक्ति है उसको वे प्रकाशित करते हैं। प्रेम-प्रकाशित करने के बाद उस भक्त के देह-इन्द्रिय-मन सबको श्रीहरि अपने गुणों से हरण कर लेते हैं। ऐसे तो कृपालु श्रीकृष्ण हैं, और ऐसे ही उनके गुण हैं। श्रीकृष्ण के गुण ऐसे सर्वाकर्षक हैं कि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों की वासना को छुड़ा देते हैं—श्रीहरि इस प्रकार सबके मन को हरण करने वाले हैं। 'हरि'-शब्द के मुख्यार्थों की इस प्रकार व्याख्या की गई है।

'च अपि' दुइ शब्द अव्यय हय। येइ अर्थ लागाइये, सेइ अर्थ कहय ॥४९॥
तथापि 'च'—कारेर कहे मुख्य अर्थ सात ॥५०॥

अब आत्माराम-श्लोक अन्तर्गत 'च' और 'अपि'—शब्दों के अर्थ कहते हैं। 'च' और 'अपि'—ये दोनों शब्द व्याकरण में अव्यय कहे गये हैं। (इनका रूपान्तर कभी नहीं होता)। ये दोनों जिन अर्थों में व्यवहृत होते हैं, उन मुख्य अर्थों को कहते हैं। 'च' शब्द के सात मुख्य अर्थ हैं ॥४९-५०॥

तथाहि विश्वप्रकाशे—

चान्वाचये समाहारेऽन्योन्यार्थे च समुच्चये ।
यत्नान्तरे तथा पादपूरणेऽप्यवधारणे ॥१९॥

एक की प्रधानता में, समाहार में (एकत्रीकरण में) परस्परार्थ में, समुच्चय में (पूर्ववाक्य से अनुवर्त्तन करने में) यत्नान्त में, श्लोक के पाद पूरण करने एवं निश्चय-अर्थ में "च" का प्रयोग होता है।

'अपि'-शब्देर मुख्य अर्थ सात विख्यात ॥५१॥

'अपि'-शब्द के भी अनेक अर्थ होते हुए मुख्यतः सात अर्थ हैं, उन्हें निम्न लिखित श्लोक में वर्णन करते हैं—

तथाहि तत्रैव—

अपि सम्भावना-प्रश्न-शङ्का-गर्हा-समुच्चये ।
तथा युक्तपदार्थेषु कामाचारक्रियासु च ॥२०॥

सम्भावना, प्रश्न, शङ्का, निन्दा, समुच्चय, युक्तपदार्थ एवं कामाचार-क्रिया—इन सात अर्थों में 'अपि'-शब्द का प्रयोग होता है ॥२०॥

एइ एकादश पदेर अर्थ निर्णय । एबे श्लोकार्थ करि याहां ये लागय ॥५२॥
'ब्रह्म'-शब्देर अर्थ, तत्त्व सर्ववृहत्तम । स्वरूप ऐश्वर्य करि नाहि यार सम ॥५३॥

'आत्माराम'-श्लोक में जो ग्यारह पद हैं, उनका यहाँ तक पृथक् पृथक् अर्थ किया गया है, अब जिस पद का जहाँ जो अर्थ लगता है, उसको मिलाकर श्लोक का अर्थ कहते हैं। (पहले कहा जा चुका है कि आत्मा-शब्द का एक अर्थ ब्रह्म है। ब्रह्म कहने से क्या तात्पर्य है, उसे अब कहते हैं) ब्रह्म-शब्द का अर्थ है—सर्वापेक्षा वृहत्तम-तत्त्व, अर्थात् जो सकल विषय में सकल अपेक्षा बड़ा है, एवं और को बड़ा कर सकता है वह तत्त्व ब्रह्म कहलाता है। जिसके स्वरूप एवं ऐश्वर्य के समान किसी का स्वरूप एवं ऐश्वर्य नहीं है—वह 'ब्रह्म' है ॥५२॥५३॥

तथाहि विष्णुपुराणे (१-१२-५७)

वृहत्त्वाद् वृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्म परमं विदुः ॥२१॥

सर्वापेक्षा वृहत्त एवं सर्वव्यापक होने से, उस तत्त्व वस्तु को 'ब्रह्म' कहा गया है ॥२१॥

सेइ 'ब्रह्म' शब्दे कहे—स्वयं भगवान् ।
याहा बिनु कालत्रये, वस्तु नाहि आन ॥५४॥

उस 'ब्रह्म' शब्द से स्वयं भगवान् का तात्पर्य है (कारण कि स्वरूप-ऐश्वर्य एवं शक्ति में सर्वापेक्षा वृहत्तम स्वयं भगवान् अर्थात् सशक्तिक ब्रह्म ही है) उन स्वयं-भगवान् के बिना भूत, भविष्यत एवं वर्तमान काल में अन्य कोई भी वस्तु नहीं रह सकती—वे अद्वय-ज्ञान तत्व हैं ॥५४॥

तथाहि (भाः १—२—११)—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥२२॥

तत्त्व को जानने वाले अद्वयज्ञान को तत्त्व कहते हैं। वह अद्वयज्ञान तत्त्व ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीन नामों से विख्यात हैं ॥२२॥

सेइ अद्वय तत्त्व-कृष्ण स्वयं भगवान् ।
तिन काले सत्य सेइ शास्त्र परमाण ॥५५॥

वह अद्वय-तत्त्व स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही हैं, वे तीनों कालों में सत्य वस्तु हैं, ऐसा उनको शास्त्र प्रमाणित करता है ।।५५।। यथा—

तथाहि भाः (२—९—३२)

अहमेवा समेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहम् ।।२३।।

श्रीब्रह्मा जी को तत्त्वज्ञान का उपदेश करते समय श्रीकृष्ण अपना स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं—"ब्रह्मा जी ! सृष्टि से पहले मैं ही था, सत असत् अर्थात् स्थूल जो जगत् है, एवं उसका कारण जो प्रकृति है, वे भी मुझे से पृथक् नहीं थे । सृष्टि के पश्चात् भी मैं रहता हूँ । यह जो परिदृष्यमान् जगत् है, यह भी मैं ही हूँ, प्रलय में जो बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ ।।२३।। (विशेष टीका आदिलीला पृष्ठ १७ पर द्रष्टव्य है ।)

'आत्मा'-शब्दे कहे-कृष्ण वृहत्त्वस्वरूप ।
सर्वव्यापक सर्वसाक्षी परम स्वरूप ।।५६।।

आत्मा—शब्द का अभिप्राय वृहत्तम-स्वरूप श्रीकृष्ण से है । कारण कि वे ही सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी एवं परम या परमात्मा स्वरूप हैं, ।।५६।।

चै० च० चु० *टीका:*—आत्मा शब्द निष्पन्न होता है, आ-अत+मन् कर्त्तृवाच्ये । का 'आ' अर्थ है-सम्यकरूप से और 'अत् धातु बन्धने'—अर्थात् अत् का अर्थ है बन्धन करना । इससे आत्मा-शब्द का अर्थ होता है—जो सम्यक् प्रकार से बन्धन या वेष्टन करे वह आत्मा है । जो सब में एवं सर्वत्र व्याप्य कर अवस्थान करता है अर्थात् जो सर्वव्यापक है, वह आत्मा है । जो सर्वव्यापक है, वह समस्त की, क्रियाओं को, समस्त की चिन्ताओं को भी जानता है अर्थात् वह सर्वसाक्षी भी है । अतः जो सर्वसाक्षी है, वही आत्मा है । सर्वव्यापकता एवं सर्वसाक्षित्व की जिसमें पराकाष्ठा है, वही परम स्वरूप या परमात्मा है अर्थात् जो परमात्मा है, वही आत्मा है ।

श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वव्यापक है कारण कि वे ही आश्रय-तत्त्व हैं । वे ही एकमात्र सर्वसाक्षी हैं क्यों कि वे अद्वयज्ञान-तत्त्व हैं एवं त्रिकाल सत्य हैं । अतः सर्वव्यापक एवं सर्वसाक्षी होने से श्रीकृष्ण ही परमात्मा या वृहत्स्वरूप हैं । अतः आत्मा—शब्द का अभिप्राय श्रीकृष्ण भगवान् से ही है । इसके प्रमाण में श्रीश्रीधरस्वामीपाद के वचन नीचे उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भाः ११—२—४५)भावार्थदीपिकायाम्—

आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः ।।२४।।

स्वरूप में अति वृहत्त्व होने से एवं जगत् का कारण होने से श्रीकृष्ण ही परमात्मा कहे गये हैं ।

सेइ कृष्णप्राप्ति हेतु त्रिविध साधन— । ज्ञान, योग, भक्ति तिनेर पृथक् लक्षण ।।५७।।
तिन-साधने भगवान् तिन-स्वरूपे भासे । ब्रह्म, परमात्मा, भगवत्त्वे प्रकाशे ।।५८।।

उस अद्वयतत्व-श्रीकृष्ण की प्राप्ति के तीन प्रकार के साधन हैं । ज्ञान, योग एवं भक्ति । इन तीनों के पृथक् पृथक् लक्षण हैं ।' इन तीनों पृथक् साधनों के अनुरूप वे भगवान् ब्रह्म, परमात्मा, तथ भगवान्—इन तीन स्वरूपों में प्रकाशित होते हैं ।।५७—५८।।

चै० च० चु० टीका :—एक ही अद्वयज्ञान-तत्त्व या पर-तत्त्व तीन प्रकार के स्वरूपों से प्रकाशित होता है। उसका कारण यह है कि परतत्त्व के स्वरूप की धारणा, जीव के स्वरूप की धारणा तथा पर-तत्त्व के साथ जीव-स्वरूप के नित्य सम्बन्ध की धारणा पृथक्-पृथक् है। अतः इन धारणाओं के पार्थक्य वश ज्ञानी, योगी एवं भक्त की वह परतत्त्व-प्राप्ति भी तीन प्रकार की हो जाती है।

कोई यह शङ्का उठा सकता है कि—"परतत्त्व का स्वरूप मन एवं वाक्य से अगोचर है, अतः जीव में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है कि जिसके द्वारा परतत्त्व के स्वरूप को, जीव के स्वरूप को एवं परतत्त्व के साथ जीव के नित्य सम्बन्ध के स्वरूप को सम्यक् जान सके। ऐसी अवस्था में जीव उसकी जिस भाव से या जिस धारणा से क्यों न उपासना करें, उसे अपना मुख्य-स्वरूप ही जीव को अनुभव कराना चाहिये। यदि कोई जल की द्रावकता-शक्ति या अग्नि की दाहिका-शक्ति को न जानकर, यह धारणा करे कि जल मिश्री को नहीं घुला सकता, या अग्नि हाथ को नहीं जला सकती, तो क्या जल में मिश्री डालने से जल उसे नहीं घुलायगा? या अग्नि में हाथ देने से क्या वह हाथ को नहीं जलायेगी? निश्चय ही जल मिश्री को घुला देगा और अग्नि हाथ को जला देगी। किसी व्यक्ति की अज्ञता के कारण जल एवं अग्नि अपनी शक्ति को पूर्णरूप में प्रयोग करने में पीछे नहीं रहेंगे। उसी प्रकार, परतत्त्व के स्वरूपादि को न जानने के कारण परतत्त्व भी कभी साधक जीव के निकट अपनी अपूर्ण-शक्ति या अपूर्ण-स्वरूप को प्रकाशित क्यों करेगा? वे पूर्णतम स्वरूप से ही सकल साधकों के निकट आत्मप्रकट करेगा। अतः ज्ञानी, योगी, एवं भक्त अपने ज्ञान की अपूर्णतावश विभिन्न भावों से चाहे परतत्त्व की उपासना करते हैं, किन्तु परतत्त्व की स्वरूप की प्राप्ति तो उन्हें एक ही रूप में होनी चाहिये?

इस शंका का समाधान यह है कि परतत्त्व का स्वरूप वाक्य-मन के अगोचर है, यह बात सत्य है, तथापि वाक्य द्वारा उसके स्वरूप आदि का जितना प्रकाश किया जा सकता है, दिग्दर्शनरूप से शास्त्र उसको प्रकाशित करता है। साधक को शास्त्र के वचनों पर विश्वास करना ही होगा, नचेत् साधन ही असम्भव है। प्राकृत जगत् में वस्तु-शक्ति बुद्धि-शक्ति की कोई अपेक्षा नहीं रखती। अग्नि की दाहिका-शक्ति को न जानकर भी यदि कोई उसमें हाथ डालता है, तो अग्नि उसके हाथ को जला ही देगी। अग्नि सर्वज्ञ नहीं है, अन्तर्यामी नहीं है, सर्वशक्तिमान भी नहीं है और न ही उसके एक से अधिक स्वरूप ही हैं। हां, यदि ये सब बातें अग्नि में होतीं तो यह हो सकता था कि वह हाथ डालने वाले व्यक्ति के अभिप्राय को जान लेती, और उसकी वासनापूर्ति के निमित्त, वह अपना दूसरा स्वरूप, जिसमें दाहिका-शक्ति न होती, वही स्वरूप ही हाथ डालने वाले व्यक्ति को दिखा देती, किन्तु प्राकृत अग्नि के लिये यह सब असम्भव है, अतः अग्नि अपनी वस्तु-शक्ति ही प्रकाश कर सकती है। किन्तु परतत्त्व के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। वे बुद्धि शक्ति की अपेक्षा रखते हैं, अतः उनका नाम है—"**भावग्राही जनार्दनः**" अर्थात् वे साधक के भावानुरूप ही फल प्रदान करते हैं। श्रीगीताजी में भी कहा गया है—"**ये यथा मां प्रपद्यते तांस्तथैव भजाम्यहं।**" "जो मेरी जिस भाव से उपासना करता है, मैं भी उस पर उसी भाव से कृपा करता हूँ।" भगवान् श्रीकृष्ण ने यह नहीं कहा कि ज्ञानी, योगी, भक्त जो कोई किसी भी भाव से मेरा भजन क्यों न करे, मैं उस पर एक ही प्रकार की कृपा करता हूँ। वे साधक के भाव या धारणा के अनुसार ही फल प्रदान करते हैं। कारण कि वे परतत्त्व—भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वान्तर्यामी हैं एवं वे अनेक स्वरूपों में आत्मप्रकट कर सकते हैं। साधक की मनोवाञ्छा को वे जान सकते हैं, उसके अनुसार ही वे उसकी वाञ्छापूर्ति करते हैं।—"**यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।**" अतः ज्ञानी, योगी, एवं भक्त के साधनानुरूप—उनकी विभिन्न धारणाओं के अनुरूप परतत्त्व की प्राप्ति भी विभिन्न तीन स्वरूपों में ही होती है—एक रूप में नहीं। जैसा कि कहा गया है:—

तथाहि (भा: १-२-२१)—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥२५॥

अनुवाद इसी परिच्छेद में पृष्ठ ७२९ पर द्रष्टव्य है ।

'ब्रह्म-आत्मा' शब्दे यदि कृष्णके कहय । रूढ़िवृत्ते निर्विशेष अन्तर्यामी कय ॥५९॥
ज्ञानमार्गे निर्विशेष ब्रह्म प्रकाशे । योगमार्गे अन्तर्यामीस्वरूपेते भासे ॥६०॥

ब्रह्म एवं आत्मा—शब्दों का यद्यपि व्यापक अर्थ श्रीकृष्ण ही हैं, तथापि इन शब्दों का रूढ़ी-वृति से अर्थ—'ब्रह्म' शब्द से निर्विशेष ब्रह्म तथा 'आत्मा'—शब्द से अन्तर्यामी—परमात्मा ही समझाय ग्रहण किया जाता है ।। ज्ञानमार्ग के साधकों के निकट निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप ही प्रकाशित होता है और योगमार्ग के साधकों के निकट अन्तर्यामी-परमात्मास्वरूप ही अभिव्यक्ति होता है ॥५९-६०॥

चै० च० चु० *टीका:*—तीन प्रकार की वृत्ति से शब्दों का अर्थ ग्रहण किया जाता है—प्रथमतः-**योगिक-अर्थ**; किसी शब्द के धातु व प्रत्यय से जो अर्थ प्राप्त हो, उसे यौगिक-अर्थ कहते हैं । जैसे मद्यप, पा-धातु का अर्थ है पान करना । जो मद्य का पान करे, उसे मद्यप कहा जाता है । यहाँ मद्यप-शब्द का यौगिक-अर्थ किया गया है । द्वितीयत:—**योगरूढ़**; धातु-प्रत्ययगत अर्थ समूह में विशेष एक अर्थ जहाँ ग्रहण किया जाए, उसे योगरूढ़-अर्थ कहते हैं जैसे, पङ्कज । पङ्कज-शब्द का यौगिक-अर्थ होता है, जो पङ्क से उत्पन्न होने वाले अनेक पदार्थ पद्म, कुमुद, कीड़े आदि हैं; किन्तु पङ्कज कहने से साधारणतः केवल पद्म ही समझा जाता है, और कोई अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता । अतः पङ्कज-शब्द के पद्म अर्थ को योगरूढ़ कहते हैं , तृतीयत :—रूढ़ि; जिसमें शब्द के धातु-प्रत्यय-लब्ध अर्थ को ग्रहण न करके अन्य अर्थ ही ग्रहण किया जाए,उसे रूढ़ि-अर्थ कहते हैं । जैसे मण्डप । मण्डप-शब्द का धातु-प्रत्ययगत अर्थ होता है, जो मण्ड (माण्ड) का पान करे । किन्तु मण्डप कहने से मण्ड-पान करने वाला नहीं समझा जाता । उससे पिण्डाल, हरि-मण्डप, दुर्गामण्डप आदि अर्थ ग्रहण किये जाते हैं । मण्डप का रूढ़ी-अर्थ ही ग्रहण किया जाता है ।

इसी प्रकार 'ब्रह्म' का धातु-प्रत्ययगत अर्थ है—वृहद्-वस्तु । धातु एवं प्रत्यय से ब्रह्म का निर्विशेष अर्थ नहीं निकलता । अतः 'ब्रह्म' कहने से जो निर्विशेष स्वरूप समझा जाता है—वह 'ब्रह्म' का रूढ़ी-अर्थ है । तद्रूप, आत्मा शब्द का जो अन्तर्यामी अर्थ है, वह भी रूढ़ी अर्थ है । (ज्ञानी की एवं योगी की प्राप्ति का वर्णन करके अगले पयार में भक्त की प्राप्ति के सम्बन्ध में कहते हैं):—

रागभक्ति विधिभक्ति हय दुइरूप । स्वयंभगवत्त्वे, भगवत्त्वे—प्रकाश द्विरूप ॥
रागभक्त्ये ब्रजे स्वयं भगवान् पाय ॥६१॥

रागभक्ति या रागानुगाभक्ति तथा विधिभक्ति—भक्ति के ये दो प्रकार हैं । जो राग-मार्ग से भजन करते हैं, वह परतत्त्व उन्हें स्वयं-भगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन के रूप में प्राप्त होता है, एवं जो विधि-मार्ग से भजन करते हैं, उनके निकट वह परतत्त्व या अद्वयज्ञान तत्त्व भगवान् रूप में अर्थात् वैकुण्ठाधिपति श्रीनारायण के रूप में प्रकाशित होता है । इस प्रकार भक्ति-मार्ग से उस परतत्त्व की दो रूपों में प्राप्ति होती है । राग-मार्ग के भजन से श्रीब्रज में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की ही प्राप्ति होती हूँ ॥६१॥ जैसा कि श्रीभागवतजी में कहा गया है :—

तथापि (भा: १०—६—२१)—

नायं सुखापो भगवान् देहिनाम् गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥२६॥

श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षित जी से कहा है—"ये यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्ण भक्तिमान् (भक्त) व्यक्तियों को जैसे सुलभ एवं अनायास प्राप्त होते हैं, देहाभिमानी पुरुषों को तथा देहाभिमान शून्य ज्ञानी पुरुषों को और तो क्या ब्रह्मा, शिव व लक्ष्मी आदि भगवान् के आत्मभूत-स्वरूपों को भी उसी प्रकार अनायास एवं सुलभ रीति से प्राप्त नहीं होते हैं" ॥२६॥ (पृष्ठ २३७ द्रष्टव्य)

विधिभक्त्ये पार्षद देहे बैकुण्ठ जाय ॥६२॥

विधिमार्ग का भजन करने वाला साधक वैकुण्ठ के उपयोगी पार्षद देह को प्राप्त करके वैकुण्ठधाम को प्राप्त होता है ॥६२॥ जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है —

तथाहि (भा: ३—१५—२५)

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृष भानुवृत्त्या दूरे यमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।
भर्त्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग वैक्लव्यवाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥२७॥

श्रीब्रह्मा जी ने देवताओं के अधीश्वर श्रीभगवान् की भक्ति के प्रभाव से, जिन्होंने यम को भी दूर हटा दिया है, (भक्ति के प्रभाव से) जो हम से भी श्रेष्ठ हैं, जिनके कारुण्यादि की हम भी स्पृहा करते हैं जो परस्पर अपने प्रभु भगवान् के उपादेय यश का कीर्त्तन करते हुए अनुराग में विभोर होकर नेत्रों से अश्रु बहाते बहाते पुलकित हो उठते हैं—वे भक्तवृन्द वैकुण्ठधाम में ही गमन करते हैं ॥२७॥

सेइ उपासक हय त्रिविध प्रकार— ।
अकाम, मोक्षकाम, सर्वकाम आर ॥६३॥

उपासक तीन प्रकार के होते हैं—अकाम (जो स्वसुख-वासनादि से रहित है), मोक्ष काम (जो ब्रह्मसायुज्य मुक्ति की कामना करने वाले हैं), एवं सर्वकाम (जो सर्वविध इन्द्रिय भोगों की कामना-युक्त हैं अर्थात् भुक्ति-मुक्ति कामी जैसा कि श्रीभागवत जी में भी कहा गया है—

तथाहि (भा: २—३—१०)—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥२८॥

श्रीशुकदेव जी ने कहा है—"हे परीक्षित ! स्वसुखवासनादिशुन्य एकान्तभक्त, किंवा धन-भोगादि कामनायुक्त कर्मी, अथवा मोक्षकामी ज्ञानी—कोई भी क्यों न हो, वह यदि उदार बुद्धि या सुबुद्धि हो, तो वह ऐकान्तिक-भक्ति के साथ परम-पुरुष श्रीभगवान् का ही भजन करेगा" ॥२८॥

बुद्धिमान् अर्थे—यदि विचारज्ञ हय । निज काम-लागि तबे कृष्णेरे भजय ॥६४॥
"बुद्धिमानेर" अर्थ—यदि विचारज्ञ हय । निज काम-लागि तबे कृष्णेरे भजय ॥६४॥
भक्ति बिनु कोन साधन दिते नारे फल । सब फल देय भक्ति स्वतन्त्र प्रबल ॥६५॥
अजागलस्तनन्याय अन्य साधन । अतएव हरिभजे बुद्धिमान् जन ॥६६॥

(ऊपर के श्लोक में कहा गया है—अकामी, सर्वकामी तथा मोक्षकामी, कोई भी हो यदि वह बुद्धिमान् है तो वह श्रीकृष्ण का भजन ही करेगा । इसलिये कहते हैं कि) बुद्धिमान् का अर्थ है—विचारवान् । यदि कोई विचारवान् है तो वह अपनी अभीष्ट वस्तु को पाने के लिये श्रीकृष्ण का भजन करेगा । (इससे यह भी ध्वनित होता है कि जो श्रीकृष्ण भजन नहीं करता—वह बुद्धिमान् नहीं है) । कर्मयोग, तथा ज्ञान—जितने भी साधन हैं वे भक्ति की सहायता के बिना अपने साधनों का फल प्रदान नहीं कर सकते । किन्तु भक्ति परम स्वतन्त्र है, वह सब साधनों का फल प्रदान करने वाली है । वास्तव में देखा जाए तो कर्म, योग एवं ज्ञानादिक प्रकृत साधन भी नहीं हैं । क्यों कि साधन वही है जो साध्य को दे सके । जब ये सब अपने साधनों का फल स्तन्त्ररूप से नहीं दे सकते तो इन्हें प्रकृत साधन कैसे माना जा सकता है, तथापि इन को साधन कहा गया है जैसे बकरी के गले में लटकते हुए मांसपिण्ड को स्तन नाम से कहा जाता है । वह दूध नहीं देता, तो भी उसे स्तन कहा जाता है । उसी प्रकार कर्म-योग एवं ज्ञान यद्यपि प्रकृत साधन नहीं हैं, तो भी उन्हें साधन कहा ही जाता है । अतएव जो बुद्धिमान् हैं, वे अन्यान्य साधनों को छोड़कर श्रीहरि का भजन ही करते हैं ॥६४—६६॥

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (७—१६)

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥२९॥

श्रीमद्भगवद्गीता जी में श्रीभगवान् ने भी कहा है कि "हे भरतवंशावतंश अर्जुन ! आर्त्त (विपद्ग्रस्त), जिज्ञासु (तत्त्वज्ञानेच्छु), अर्थार्थी (धनादि-प्रार्थी) एवं ज्ञानी—ये चार प्रकार के सुकृति लोग मेरा भजन करते हैं ॥२९॥

'आर्त्त 'अर्थार्थी' दुइ सकाम भितरे गणि । 'जिज्ञासु' 'ज्ञानी' दुइ मोक्षकामी मानि ॥६७॥
एइ चारि सुकृती हये महा भाग्यवान् । तत्तत् कामादि छाड़ि मागे शुद्ध भक्तिदान ॥६८॥
साधुसङ्ग कृपा किवा कृष्णेर कृपाय । कामादि दुःसङ्ग छाड़ि शुद्धभक्ति पाय ॥६९॥

आर्त्त एवं अर्थार्थी—ये दोनों सकामी या सर्वकाम के अन्तर्भुक्त हैं और जिज्ञासु तथा ज्ञानी—ये दोनों मोक्ष कामी ही हैं । ये चारों सुकृति तभी महा भाग्यवान होते हैं जब ये अपनी अपनी कामनाओं को छोड़कर केवल मेरी शुद्धाभक्ति अर्थात् स्वसुखगंध लेशशून्य श्रीकृष्ण-सेवा का दान मांगते हैं और यह तभी हो सकता है जब उन्हें साधुजनों के सङ्ग से महत् कृपा की प्राप्ति हो किंवा श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त हो जाये । तभी वे कामादि अर्थात् भुक्ति मुक्ति रूप दुःसङ्ग को त्याग कर शुद्धाभक्ति को प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा नहीं ॥६७–६९॥

तथाहि (भाः १—१०—११)–

सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः ।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥३०॥

श्रीभागवतजी में कहा गया है कि सत्सङ्ग के प्रभाव से जिन्होंने (कृष्णभक्ति-कामना व्यतीत अन्य कामनारूप) दुःसङ्ग को परित्याग कर दिया है, वे बुद्धिमान् व्यक्ति साधुगणों के द्वारा वर्णित मनोहर भगवद्-यश को एक बार सुन लेने पर, फिर उस सत्सङ्ग को त्याग नहीं कर सकते ॥३०॥

दुःसङ्ग कहि—कैतव आत्मवञ्चना ।
'कृष्ण'-'कृष्ण भक्ति' बिनु अन्य कामना ॥७०॥

दुःसङ्ग से कैतव या आत्मवञ्चना अभिप्रेत है अर्थात् अपने को वञ्चित करने के जितने भी उपाय हैं, उन्हें दुःसङ्ग कहते हैं । वह आत्मवञ्चना क्या है ?—श्रीकृष्ण की भक्ति को छोड़कर किसी भी अन्य कामना का हृदय में रहना—आत्मवञ्चना है ॥७०॥

चै० च० चु० *टीका*:— जो सु-सङ्ग नहीं है, सत्-सङ्ग नहीं है, उसी का नाम दुःसङ्ग है । सत्-सङ्ग का अभिप्राय सत्-स्वरूप एकमात्र श्रीकृष्ण-सङ्ग से है या श्रीकृष्ण सम्बन्धीय वस्तुओं के सङ्ग से है । इसके व्यतीत जितना भी सङ्ग है—वह असत्-सङ्ग या दुःसङ्ग ही है ।

कामना के पोषण का नाम सङ्ग है । वास्तव में किसी वस्तु के या किसी व्यक्ति के सङ्ग की अपेक्षा कामना का सङ्ग ही घनिष्ठ है । वस्तु या व्यक्ति बाहर की वस्तुएं हैं, इच्छा न करने पर भी हम उनसे दूर हट सकते हैं, किन्तु कामना हृदय के भीतर की वस्तु है । हम कहीं भी रहें, कामना हमारे साथ-साथ ही रहती है । कामना हमारा नित्य-साथी है । यह कामना यदि भक्ति के पुष्टि साधन की सहायता करे, तो जीव का इसमें मङ्गल है । इस प्रकार कामना का सङ्ग ही वास्तविक सत्-सङ्ग है । किन्तु जो कामना भक्ति में बाधक हो, उसका सङ्ग दुःसङ्ग है । अतः कृष्णकामना या कृष्ण-भक्ति की कामना को ही सत्-सङ्ग कहा गया है । और इसके व्यतीत अन्य जो कुछ कामनाएं हैं—शुभकर्मों की कामना, अशुभकर्मों की कामना, अथवा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि की कामना, तात्पर्य यह है कि अपने सुख-भोग या अपनी दुःख-निवृत्ति के लिये जितनी कामनाएं हैं, जिन कामनाओं का लक्ष्य श्रीकृष्ण-सेवा नहीं है, वे सब असत्-सङ्ग या दुःसङ्ग ही है । जैसा कि श्रीभागवतजी में कहा है:—

तथाहि (भा: १-१-२)—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां ।
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥३१॥

महामुनि श्रीनारायण-कृत इस श्रीमद्भागवत में ईर्षा-द्वेष रहित साधुपुरुषों के आचरण करने योग्य कैतवशून्य अर्थात् धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्षादि-वासना रहित परमधर्म का निरूपण किया गया है । इस ग्रन्थ शिरोमणि से त्रिताप को निर्मूल करने वाली एवं परममङ्गल प्रदान करने वाली वास्तव वस्तु अर्थात् भगवद्भक्ति का स्वरूप जाना जा सकता है । अन्य शास्त्रों के द्वारा या अन्यान्य साधनों के द्वारा ईश्वर क्या शीघ्र हृदय में अवस्थित हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते । किन्तु जिन पर भक्तिरानी की कृपा हो चुकी है, ऐसे कृति भक्त इस पुराण मुकुटमणि को सुनने की इच्छा करते हैं । और श्रवण करते समय ही श्रीभगवान् उनके हृदय में आकर विराजमान् हो जाते हैं ॥३१॥

'प्र'-शब्दे मोक्षवाञ्छा—कैतवप्रधान । एइ श्लोके श्रीधरस्वामी करियाछेन व्याख्यान ॥७१॥
सकामभक्त अज्ञ जानि दयालु भगवान् । स्वचरण दिया करे इच्छार पिधान ॥७२॥

उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीश्रीधरस्वामी जी ने कहा है कि 'प्र'—शब्द से मोक्ष-वाञ्छा ही अभिप्रेत है, जो कि प्रधान कैतव है। और जो सकाम भक्त हैं, उन्हें दयालु भगवान् मूर्ख जानकर अपने आप उन्हें अपने चरणकमल प्रदान कर देते हैं और उनकी भोगों की कामना को दूर कर देते हैं॥

चै० च० चु० टीका:—उपर्युक्त श्लोक में "**प्रोज्झित-कैतव**" शब्द आया है। '**ओज्झित-कैतव**'-का अर्थ है कैतव-रहित। किन्तु यहाँ '**ओज्झित**' शब्द के साथ 'प्र"—उपसर्ग और लगा दिया गया है। "**प्र**" शब्द का अर्थ श्रीश्रीधरस्वामी ने किया है—"**अत्र प्र--शब्देन मोक्षाभिसन्धिरपिनिरस्तः।**" "**प्र**" शब्द का अर्थ है प्रकृष्टरूप से। **प्रोज्झित कैतव**—का अर्थ है जिसमें कैतव अर्थात् स्वसुखवासना प्रकृष्टरूप से परित्यक्त है। अर्थात् जिसमें स्वसुखवासना की गंधमात्र भी नहीं है, वही प्रोज्झित-कैतव धर्म है या विशुद्ध धर्म है।

प्रश्न उठता है—मोक्ष में स्व-सुखवासना की गन्ध कैसे ?-मोक्ष का अर्थ है सायुज्य-मुक्ति। जो मोक्ष चाहते हैं, उनका तो स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रहता। अतः इन्द्रियों के भोग पदार्थों का उपभोग भी उनके लिये असम्भव है। इस अवस्था में मोक्ष में फिर स्व-सुखवासना की गन्ध कैसे रह सकती है ?

स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, इसलिये सायुज्य-मुक्ति में इन्द्रियों के सुख का उपभोग सम्भव नहीं है, इसलिये मोक्ष को स्व-सुखवासनामूलक नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसमें स्वसुख की गन्ध अवश्य है। जो सायुज्य मुक्ति चाहते हैं, उनको उसके साधन में लगाने वाली क्या वस्तु है ?—माया से छुटकारा पाने की वासना ही तो उनके साधन की प्रवर्त्तक है। वे माया से क्यों छुटकारा चाहते हैं ? माया में रहकर मायातीत भगवान् की सेवा प्राप्त नहीं की जा सकती—क्या वे इसलिये माया से छुटकारा चाहते हैं ?—ऐसा नहीं है। यदि ऐसा वे चाहते तो भगवत्-सेवा के उपयोगी चिन्मय शरीर पाने की ही वे कामना करते एवं चेष्टा करते। और श्रीभगवान् का जो स्वरूप सेवा-ग्रहण करने के उपयुक्त है, उसी स्वरूप की वे उपासना करते। किन्तु वे तो चाहते हैं—भगवान् के निर्विशेष स्वरूप ब्रह्म के साथ घुल-मिल जाना; अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटा देना। इसलिये उनकी ज्ञान-साधन में प्रवृति का और कोई भी कारण नहीं है—केवलमात्र कारण है कि वे माया से छुटकारा चाहते हैं, अतः वे मोक्ष चाहते हैं। माया की मार वे सहन नहीं कर सकते, अतः वे माया से निष्कृति चाहते हैं। इससे स्पष्ट है कि सायुज्य-मुक्ति चाहने वालों का लक्ष्य अपने प्रति ही है अर्थात् अपनी दुख-निवृत्ति ही उनका उद्देश्य है। प्रत्यक्षभाव से स्वसुख-वासना न रहते हुए भी सायुज्य-मुक्ति में स्वसुख-वासना की गन्ध अवश्य है।

मोक्ष-वाञ्छा को कैतव-प्रधान अर्थात् सर्वोपरि आत्मवञ्चना कहा गया है। इसका कारण यह है कि मोक्ष कामी अपने को ब्रह्म कहकर चिन्तवन करता है। जीव स्वरूपतः कृष्णदास है। मोक्ष-साधन में साधक-जीव का सेव्य-सेवकत्व-भाव नष्ट हो जाता है। उसमें श्रीकृष्ण-सेवा-सुख के प्राप्त करने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अतः मोक्ष-वासना को कैतव-प्रधान कहा गया है।

आदि-लीला के प्रथम परिच्छेद में पयार ५०–५१ में कहा गया है कि धर्म-अर्थ, काम एवं मोक्ष-इन चारों में किसी में भी कृष्ण-कामना या कृष्ण-सेवा-वासना नहीं है अतः ये चारों ही कैतव हैं, किन्तु इनमें भी फिर मोक्ष-वासना तो प्रधान कैतव है। धर्म, अर्थ एवं काम प्राप्त करने वाले माया से मुक्त नहीं हो सकते, अतः उन्हें बार-बार संसार में आवागमन करना पड़ता है, भाग्यवशतः कभी किसी समय उन्हें नरतन की प्राप्ति होकर सत्-सङ्ग एवं महत्-कृपा की प्राप्ति हो सकती है, जिससे वे श्रीकृष्ण-भजन में प्रवृत्त होकर अपने स्वरूपानुबन्धि-धर्म श्रीकृष्ण-सेवा को प्राप्त करके कृतार्थ हो सकते हैं। किन्तु जो मोक्ष या सायुज्य प्राप्त करते हैं, वे मायायुक्त हो जाते हैं। अतः उनके लिये फिर कृष्ण-भजन को सुयोग कभी

भी प्राप्त नहीं हो सकता और न ही उनकी सम्भावना ही रह जाती है। विशेषतः जिन में पहले भक्ति की वासना कभी रही ही न हो। अतः मोक्ष-वाञ्छा को या मोक्ष को कैतव-प्रधान कहा गया है।

सकाम-भक्त श्रीकृष्ण-चरणसेवा-सुख को न जानने से ही अन्यान्य भोगों को चाहते हैं, किन्तु भगवान् जब उनके निकट जाकर उनके अभीष्ट भोगों को प्रदान करने के लिये दर्शन देते हैं, तब वे उनके चरणकमलों के माधुर्य में अपनी भोग-कामनाओं को तुच्छ जानते हैं और उन्हें भूल जाते हैं एवं फिर भगवान् से उनकी चरण-सेवा ही मांगने लगते हैं। दयासागर श्रीभगवान् भी उन्हें कृपा करके अपनी चरण-सेवा प्रदान कर देते हैं। (मध्यलीला पृष्ठ ६४५) इसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक का उल्लेख करते हैं :—

तथाहि (भाः ५-१९-२८)—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥३२॥

देवताओं ने कहा है—"श्रीभगवान् को जब अर्थार्थी व्यक्ति प्रार्थना करते हैं तो वे उनके वञ्छित पदार्थों को प्रदान करते रहते हैं। यह बात सत्य है। किन्तु इस अवस्था में श्रीभगवान् परमार्थदाता नहीं कहलाए जा सकते। अर्थात् ऐसा करने में श्रीभगवान् परमश्रेष्ठ अर्थ या वस्तु के प्रदाता नहीं कहलाते, कारण कि प्रार्थना करने वाले व्यक्ति एक वस्तु को पाकर दूसरी और दूसरी को पाकर तीसरी वस्तु की प्रार्थना करने लगते हैं अर्थात् अपने प्रार्थित वस्तुओं को पाकर वे सदा के लिये तृप्त नहीं होते। (तो क्या श्रीभगवान् किसी को भी परमार्थ दान नहीं करते ?—इसका उत्तर देते हैं कि) जो श्रीभगवान् का भजन करते हैं अन्य अभिलाषाओं को लेकर, श्रीभगवान् किन्तु उनकी समस्त अन्य कामनाओं को लुप्त कर देने वाले जब अपने चरणकमल ही उन्हें प्रदान कर देते हैं, तभी वे परमार्थदाता कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीभगवान् ऐसे परमार्थदाता हैं कि अन्य कामनाओं को लेकर उनका जो भजन करते हैं, वे उनको अपने चरण-कमल ही प्रदान कर देते हैं जिससे भजनकर्त्ता सदा के लिये तृप्त हो जाते हैं। (परिच्छेद २२ पृष्ठ ६४५ पर पयार नं० २६ की टीका द्रष्टव्य है।)

साधुसङ्ग, कृष्णकृपा, भक्तिर स्वभाव। ए तिने सब छाड़ाय, करे कृष्णभाव ॥७३॥
आगे यतयत अर्थ व्याख्यान करिब। कृष्णगुणास्वादेर एइ हेतु जानिब ॥७४॥
श्लोकव्याख्या लागि एइ करिल आभास। एबे श्लोकेर करि मूल-अर्थ प्रकाश ॥७५॥

(अन्यान्य वासनाएं कैसे छूट सकती हैं—इसके सम्बन्ध में कहते हैं) साधुसङ्ग, कृष्णकृपा तथा कृष्णभक्ति—इन तीनों का स्वभाव या स्वरूपधर्म यह है कि ये अन्य समस्त कामनाओं को छुड़ा देते हैं और श्रीकृष्ण-प्रेम को उत्पन्न करते हैं। (श्रीमहाप्रभुजी ने कहा)—"सनातन! आगे अब आत्माराम-श्लोक के जितने अर्थ व्याख्यान करूंगा अर्थात् जहाँ-जहाँ आत्मारामगण की श्रीकृष्णगुणों में आकृष्ट होकर कृष्ण-भजन की बात कही जायगी, वहाँ साधुसङ्ग, कृष्णकृपा एवं भक्ति—इन तीनों में से कोई न कोई एक श्रीकृष्ण-गुणास्वादन का हेतु समझना चाहिये। आत्माराम श्लोक की व्याख्या के लिये यहाँ तक उसकी भूमिका कही गई है, अब मैं श्लोक के मूल अर्थों को प्रकाशित करता हूँ ॥७३-७५॥

चै० च० चु० *टीकाः*—अब मूल आत्माराम-श्लोक की व्याख्या करते हैं। आत्मा शब्द के सात अर्थ पहले किये जा चुके हैं—उनमें आत्मा का एक अर्थ 'ब्रह्म' किया गया था। अब 'ब्रह्म' अर्थ को लेकर

व्याख्या करते हैं। आत्माराम अर्थात् जो आत्मा में रमण करते हैं अथवा जो ब्रह्म में रमण करते हैं—वे आत्माराम हैं। 'ब्रह्म' से (रूढ़ि-वृत्ति अर्थानुसार ज्ञानमार्ग के उपास्य) निर्विशेषब्रह्म का अभिप्राय है। अतः निर्विशेष-ब्रह्म में रमण करने वाले—आत्माराम अर्थात् ज्ञानमार्ग के साधक कितने प्रकार के हैं, उन्हें अगले पयारों में कहते हैं :—

ज्ञानमार्गे उपासक दुइ त प्रकार—। केवल-ब्रह्मोपासक, मोक्षाकाङ्क्षी आर ॥७६॥
केवल-ब्रह्मोपासक तिन भेद हय—। साधक, ब्रह्ममय, आर प्राप्तब्रह्मलय ॥७७॥
भक्ति बिनु केवलज्ञाने मुक्ति नाहि हय। भक्तिसाधन करे येइ प्राप्तब्रह्मलय ॥७८॥
भक्तिर स्वभाव, ब्रह्म हैते करे आकर्षण। दिव्यदेह दिया कराय कृष्णेर भजन ॥७९॥
भक्तदेह पाइले हय गुणेर स्मरण। गुणाकृष्ट हैया करे निर्मल भजन ॥८०॥

ज्ञान मार्ग के उपासक दो प्रकार के हैं–केवल ब्रह्मोपासक तथा मोक्षाकांक्षी। केवल ब्रह्मोपासकों के फिर तीन प्रकार हैं—साधक, ब्रह्ममय तथा प्राप्त-ब्रह्मलय। भक्ति की सहायता के बिना केवल ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, अतः जो भक्ति का साधन करते हैं, वही प्राप्त-ब्रह्मलय होते हैं। भक्ति का यह स्वभाव है कि वह उपासक को ब्रह्मानन्द से आकर्षण कर लेती है और उनको भजनोपयोगी चिन्मय देह देकर श्रीकृष्ण-भजन कराती है। भक्त-देह पाकर श्रीकृष्ण के गुणों की स्फूर्ति होती है तथा उनमें आकृष्ट होकर उपासक शुद्धाभक्ति या प्रेमा-भक्ति करने लगते हैं ॥७६-८०॥

चै० च० चु० *टीका*:—परतत्व को निराकार एवं निशक्तिक जानने वाले एवं अपने को उस ब्रह्म परतत्व से अभिन्न जानने वाले या सायुज्यकामी ज्ञान मार्ग के उपासक कहे जाते हैं। वे दो प्रकार के हैं— (१) **केवल-ब्रह्मोपासकः**—जो उपासक आत्मा की ब्रह्म-सम्पत्ति को प्राप्त करने की आशा से ब्रह्म की उपासना करते हैं और जिनकी उपासना की प्रवर्त्तक माया से निष्कृति पाने की वासना नहीं है अर्थात् जो माया से छुटकारा पाने की कामना से ब्रह्म की उपासना नहीं करते—उन्हें केवल-ब्रह्मोपासक कहते हैं। (२) **मोक्षाकाङ्क्षी**— जो केवल मुक्ति अर्थात् माया से छुटकारा पाने के लिये ही ब्रह्म की उपासना करते हैं—वे मोक्षाकांक्षी हैं।

केवल-ब्रह्मोपासक तीन प्रकार के हैं—(१) **साधक**—(श्रीमद्भागवतोक्त कवि-हरि-आदि नव योगीन्द्र की भांति मुक्त होकर जो साधकों की न्याय आचरण करते रहते हैं—वे साधक हैं। (२) **ब्रह्ममय** जो ब्रह्म में लीन नहीं हुए, यथावस्थित शरीर में विचरते हैं, अथच जिनको सर्वत्र ब्रह्म की स्फूर्ति होती है- वे ब्रह्ममय हैं। तथा (३) **प्राप्तब्रह्मलय**—जो जीव ब्रह्म में लीन हो चुके हैं वे प्राप्त-ब्रह्मलय हैं। भक्ति के बिना केवल ज्ञान से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, अतः जो भक्ति साधन करते हैं अर्थात् जो श्रीभगवान् के सविशेष-स्वरूप को स्वीकार करते हैं एवं सविशेष-स्वरूप का भजन करके उनके चरणों में माया से मुक्ति पाने की तथा उनके निर्विशेष स्वरूप से सायुज्य प्राप्ति की कामना करते हैं, वही प्राप्तब्रह्मलय उपासक हैं अर्थात् भक्ति की सहायता से ही वे ब्रह्म में लयता को प्राप्त करते हैं। वे प्राप्तब्रह्मलय—उपासक भी श्रीकृष्ण के गुणों में आकृष्ट होते हैं—किस प्रकार ? उसे कहते हैं:—जिस भक्ति की कृपा से वे ब्रह्मलय को प्राप्त करते हैं, वही भक्ति ही उनको ब्रह्म अर्थात् निर्विशेष-स्वरूप से आकर्षण करके भजनोपयोगी चिन्मय-देह देकर श्रीकृष्ण का भजन कराया करती है, क्योंकि भक्ति का यह स्वभाव ही है। इस प्रकार प्राप्त ब्रह्मलय उपासक जब भक्ति की कृपा से भक्त-देह को प्राप्त करते हैं, तब श्रीकृष्ण के गुणों की कथा उनके

स्मृति पथ पर उदित हो उठती है और फिर उन्हीं गुणों में आकृष्ट होकर वे श्रीकृष्ण का अहैतुक भजन
अन्याभिलाषिता—शून्य भजन करने लगते हैं। जैसा कि कहा गया है—

तथाहि भावार्थदीपिकायां (भा: १०-८७-२१) (नृसिंहतापनी २-५-१६) शाङ्करभाष्ये—

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते ॥३३॥ इत्यादि।

(श्रीमद्भागवत १०-८७-२७ श्लोक की टीका करते हुए श्री श्रीधर स्वामीजी ने भावार्थदीपिका में तथा नृसिंह तापनी २—५—१६ की व्याख्या करते हुए मायावादाचार्य श्री शङ्कराचार्य पाद ने कहा है कि) मुक्त-जीव अर्थात् ब्रह्मसायुज्य प्राप्त-मुक्तजीव भी (पूर्वानुष्ठित) भक्ति की कृपा से (भजनोपयोगी पार्षद) देह प्राप्त करके भगवान् का भजन किया करते हैं ॥३३॥

चै० च० चु० टीका:—यहाँ **मुक्ता**—मुक्त जीवों से ब्रह्मसायुज्य—प्राप्त जीवों का ही तात्पर्य हैं—जीवनमुक्त जीवों का नहीं। कारण कि जीवनमुक्त जीवों का शरीर रहता है, जिसके द्वारा वे भजन कर सकते हैं। ब्रह्मसायुज्य—प्राप्त जीवों का पृथक् शरीर नहीं रहता, अतः **'विग्रहं कृत्वा'**—अर्थात् 'देह प्राप्त करके'—उन्हीं के लिये कहना ही सार्थक हो सकता है। **लीलया**—का अर्थ यहाँ 'भक्ति की कृपा से' किया गया है। कारण कि ब्रह्म-लीन जीवों में मन की क्रिया तो रहती नहीं, अतः उनमें इच्छा कोई भी नहीं रहती। इसलिये यहां 'लीलया' का अर्थ 'अपनी इच्छा से' सङ्गत नहीं है।

प्रश्न उठता है—जिस भक्ति की कृपा से सायुज्य-प्राप्त जीव भजनोपयोगी देह प्राप्त करता है, वह भक्ति उसमें कहाँ से आती है और वह भक्ति मुक्तावस्था में ही क्यों उसपर कृपा करती है ?-उत्तर यह है कि उस मुक्त जीव ने साधन काल में भक्ति की सहायता से ही साधन किया होता है, नहीं तो उसे मुक्ति प्राप्त हो न होती। साधन-समय में किसी भाग्य से उस जीव में जो भक्तिवासना जाग उठती है वही भक्ति-वासना ही इस भक्ति का हेतु बन जाती है। ब्रह्मसायुज्य प्राप्ति के उद्देश्य से ज्ञान मार्ग के साधन-समय में साधक को भक्ति अङ्गों का सहायक-रूप में जो अनुष्ठान करना पड़ता है, उस अनुष्ठान के फल से अंश रूप में ही वह भक्ति साधक के चित्र में उपस्थित रहती है—किन्तु यह उस समय उदासीन-रूप से रहती है। उदासीन रूप से रहने पर भी यह भक्ति साधक की चित्त-वासना को लक्ष्य करती रहती है। जब तक साधक का निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धान चलता रहता है, तब तक भक्ति उदासीन भाव में रहती है। मुक्ति को प्राप्त हो जाने पर निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धान तो लुप्त हो जाता है। किन्तु यह भक्ति शेष रहती है, इसका लोप कभी नहीं होता। यह भक्ति उस समय उदासीनता त्याग कर मुक्तजीव की पहली भक्ति वासना को उप-लक्ष्य करके उस मुक्तजीव को भजनोपयोगी देह प्रदान कर श्रीकृष्ण का भजन कराती है। (पृष्ठ १८३ पर श्लोक नं० ८ की टीका द्रष्टव्य) मुक्ति प्राप्त जीवों के भजन की बात **"आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्"**—इस ब्रह्मसूत्र (४–१–१२) से एवं **"मुक्ता अपि एनं उपासन इति"** इस सौपर्ण श्रुतिवाक्य से भी प्रमाणित होती है। यहाँ तक ब्रह्मलय—प्राप्त—आत्माराम गणों के भजन की बात कही गई है।

ब्रह्ममय-जीव भी श्रीकृष्ण-गुणों में आकृष्ट होकर श्रीकृष्ण-भजन करते हैं, एवं उनके भजन का कारण कृष्ण-कृपा तथा कृष्ण भक्त-कृपा ही होती है—यह बात अगले तीन पयारों में वर्णन करते हैं—

जन्म हैते शुक—सनकादि हय ब्रह्ममय। कृष्ण—गुणाकृष्ट हैया कृष्णेरे भजय ॥८१॥

सनकाद्येर कृष्ण कृपाय सौरभे हरे मन। गुणाकृष्ट हञा करे निर्मल भजन ॥८२॥

श्री शुकदेव जी तथा श्री सनकादिक जन्म से ही ब्रह्ममय थे अर्थात् वे सर्वत्र ही निर्विशेष ब्रह्म की स्फूर्त्ति में आनन्द मग्न रहते थे। वे श्रीकृष्ण के गुणों में आकृष्ट होकर श्रीकृष्ण का भजन करने लगे

हैं। सनकादिकों का मन तो श्रीकृष्ण कृपा से उनके चरण कमलों की तुलसी की सुगंध में आकृष्ट हो गया। (तभी वे ब्रह्मानन्द को तुच्छ जानकर) श्रीकृष्ण गुणों में आकृष्ट होकर शुद्ध-भजन करने लगे ॥८१—८२॥

तथाहि (भाः ३-१५-४३)

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द किञ्जल्कमिश्र तुलसी मकरन्द वायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥३४॥

उन कमल-नयन भगवान् के चरण-कमलों की केशर मिश्रित तुलसी की मकरन्द युक्त वायु ने नासारन्ध्र द्वारा अन्दर प्रवेश करके उन ब्रह्मानन्द सेवी सनकादिकों के चित्त एवं देह को क्षुभित कर दिया, अर्थात् उनके चित्त में अतिशय हर्ष एवं देह में रोमाञ्चादि प्रकाशित हो उठे ॥ ३४ ॥

व्यास कृपाय शुकदेवेर लीलादिस्मरण । कृष्णगुणाकृष्ट हञा करेन भजन ॥८३॥

श्रीव्यासदेव की कृपा से (महत् कृपा से) श्रीशुकदेव जी ने श्रीकृष्ण लीलाओं (श्रीमद्भागवत) को सुना एवं श्रीकृष्ण की लीला-माधुरी में वे आकृष्ट होगये और फिर उनका भजन करने लगे ॥८३॥

तथाहि (भाः १—७—११)

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् वादरायणिः ।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥३५॥

जिनको भगवद्भक्त सर्वदा अतीव प्रिय हैं, वे भगवान् वादरायणि श्रीशुकदेव गोस्वामी हरिगुणों को सुनकर मुग्ध चित्त होगये एवं फिर उन्होंने इस विस्तीर्ण आख्यान श्रीमद्भागवत का अध्ययन किया ॥ ३५ ॥ अगले दो पयारों में साधन-ज्ञानी के सम्बन्ध में कहते हैं—

नवयोगेश्वर जन्म हैते साधक ज्ञानी । विधि-शिव-नारद-मुखे कृष्णगुण शुनि ॥८४॥
गुणाकृष्ट हञा करे कृष्णेर भजन । एकादशस्कन्धे तार भक्ति विवरण ॥८५॥

(कवि, हरि, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्यूलायन, आविर्होत्र, द्रविड़, चमस एवं करभाजन—ये) नवयोगेश्वर जन्म से ही साधक-ज्ञानी हैं, उन्होंने श्रीब्रह्मा, श्रीशिव, एवं श्रीनारद जी के मुख से श्रीकृष्ण के गुणों को सुना और उनका मन उनमें आकृष्ट हो गया। वे भी श्रीकृष्ण का भजन करते हैं। श्रीमद्भागवत जी के एकादश स्कन्ध में उनकी भक्ति का वर्णन किया गया है ॥ ८४—८५ ॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (३-१-७) महोपनिषद्वचनम्—

अक्लेशां कमलभूवः प्रविश्य गोष्ठीं कुर्वन्तः श्रुतिशिरसां श्रुतिं श्रुतिज्ञाः ।
उत्तुङ्गं यदुपुरसङ्गमाय रङ्गं योगीन्द्राः पुलकभृतो नवाप्यवापुः ॥३६॥

वेदार्थवेत्ता नवयोगीन्द्र सर्व विधि क्लेशवर्जित ब्रह्मा जी की सभा में उपस्थित होकर उपनिषद श्रवण करते करते नवों भ्राता पुलकित हो उठे एवं (श्रीकृष्ण दर्शन करने के लिये) मथुरा जाने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठे ॥३६॥

[तीन प्रकार के केवल ब्रह्मोपासक-आत्माराम भक्तों की बात कहकर अब अगले पयारों में मोक्षाकांक्षी—आत्मारामगणों के सम्बन्ध में कहते हैं]

मोक्षाकांक्षी ज्ञानी हय तिन प्रकार—। मुमुक्षु-जीवन्मुक्त, प्राप्तस्वरूप आर ॥८६॥

मुमुक्षु-जगते अनेक सांसारिक जन। मुक्ति-लागि भक्त्ये करे कृष्णेर भजन ॥८७॥

मोक्ष चाहने वाले ज्ञान-मार्ग के उपासक तीन प्रकार के हैं—मुमुक्षु, जीवन्मुक्त तथा प्राप्तस्वरूप। संसार में मुमुक्षु अर्थात् मुक्ति चाहने वाले अनेक लोग हैं। उस मुक्ति की प्राप्ति के लिये (ज्ञानमिश्रा-भक्ति के साधनों से) वे श्रीकृष्ण का भजन करते हैं ॥८६—८७॥

चै० च० चु० *टीका:*— **मुमुक्षु**—जो मुक्ति की कामना करते हैं। **जीवन्मुक्त**-वे हैं जिनके ब्रह्म साक्षात्कार वश अज्ञान और अज्ञान-कृत कर्मादि ध्वंस हो जाते हैं और जिन्हें कोई बन्धन नहीं रहता, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं। **प्राप्तस्वरूप**—वे हैं, जो ज्ञान मार्ग के साधनों से मायिक स्थूल व सूक्ष्म देह के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, जिनमें माया जनित कर्त्तृत्वादि अभिमान नहीं रहता, जो 'ब्रह्मभूत-प्रसन्नात्म' हो जाते हैं एवं जो अपनेको ब्रह्मस्वरूप जानकर अनुभव करते हैं—वे **प्राप्त—स्वरूप—ज्ञानी** कहलाते हैं। यह अवस्था प्राप्त ब्रह्मलय-ज्ञानियों की भाँति ब्रह्म-लीन अवस्था नहीं है। प्राप्त स्वरूप ज्ञानी शरीर त्यागने के अनन्तर ही प्राप्त ब्रह्मलय-ज्ञानी कहलाता है। इस प्रकार ये तीन प्रकार के मोक्षाकांक्षी हैं जो मुक्ति-प्राप्ति के लिये श्रीकृष्ण का भजन करते हैं। ये तीनों श्रीकृष्ण गुणों में आकृष्ट होकर कृष्ण—भजन करते हैं। क्योंकि श्रीकृष्ण की कृपा के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, भक्ति के साधन किये बिना श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त नहीं हो सकती। अतः मुमुक्षु-जीव मुक्ति के लिये भक्ति सहित श्रीकृष्ण—भजन करते हैं। इस बात के प्रमाण में नीचे एक श्लोक का उल्लेख करते हैं:—

तथाहि भागवते (१—२—२६)

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥३७॥

मुमुक्षु लोग, घोरस्वभाव-भैरवादिक एवं पितृगण, भूतगण एवं प्रजापति आदिक को छोड़कर असूयाशून्य होकर अर्थात् अन्यान्य देवताओं की निन्दरहित होकर शान्तस्वभाव श्रीनारायणमूर्त्ति की उपासना करते हैं ॥३७॥

सेइ सभे साधुसङ्गे गुणो स्फुराय।
कृष्णभजन कराय, मुमुक्षा छाड़ाय ॥८८॥

उन मुमुक्षु संसारी जीवों को यदि (शुद्धाभक्ति मार्ग का) साधु-सङ्ग मिल जाये, तो उस साधु-सङ्ग प्रभाव से उनके चित्त में श्रीकृष्ण के गुणों की स्फूर्त्ति होने लगती है। फिर वे श्रीकृष्णगुणों में आकृष्ट हो जाते हैं एवं श्रीकृष्ण का भजन करने लगते हैं, तब उनकी मुक्ति की वासना छूट जाती है ॥८८॥ जैसा कि भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है :—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (३-२-६)—हरिभक्तिसुधोदयवचनम् (१-५४)—

अहो महात्मन् बहुदोष दुष्टोऽप्येकेन भात्येष भवो गुणेन।
सत्सङ्गमाख्येन सुखावहेन कृताद्य नो यत्र (येन) कृशा मुमुक्षा ॥३८॥

हे महात्मन्! कैसा आश्चर्य है? यह संसार अनेक दोषों से दूषित होने पर भी सत्सङ्ग-नामक एक सुखद गुण के द्वारा शोभित हो रहा है—जिस गुण ने आज हमारी मुक्ति-वासना को क्षीण (ध्वंस) कर दिया है ॥३८॥

नारदेर सङ्गे शौनिकादि मुनिगण। मुमुक्षा छाड़िया कैल कृष्णेर भजन ॥८९॥
कृष्णेर दर्शने कारो कृष्णेर कृपाय। मुमुक्षा छाड़िया गुणे भजे तांर पाय ॥९०॥

शौनकादि मुनिगण जो मुमुक्षु थे, श्रीनारदजी के सङ्ग को प्राप्त कर उन्होंने मुमुक्षा को छोड़ दिया एवं श्रीकृष्ण-भजन करने लगे। इस प्रकार अनेक मुमुक्षुओं में कोई तो श्रीकृष्ण दर्शन के फल से, कोई कृष्णकृपा के फल से कृष्णगुणों में आकृष्ट होकर श्रीकृष्ण-भजन में प्रवृत्त हो जाता है ॥८९–९०॥ इस बात का प्रमाण नीचे देते हैं—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (३-१-१३)—

अस्मिन् सुखघनमूर्त्तौ परमात्मनि वृष्णिपत्तने स्फुरति।
आत्मारामतया मे वृथा गतो वत चिरं कालः ॥३९॥

यह आनन्दघन मूर्त्ति श्रीकृष्ण यदु-राजधानी द्वारका में स्फुरित हो रहा है। "मैं आत्माराम हूँ" इस अभिमान में मेरा बहुत समय वृथा ही बीत गया ॥३९॥

चै० च० नु० *टीका* :—कोई एक आत्माराम-महात्मा भ्रमण करते-करते जब द्वारका में आए, तो भाग्य से उनको आनन्दघन विग्रह श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त हुए। उनके दर्शन करते ही महात्मा की मुक्तिवासना कोसों दूर भाग गई। श्रीकृष्ण-सेवा तथा उनके भजन के लिये वे उत्कण्ठित हो उठे। तब उन्होंने सोचा कि श्रीकृष्ण-भजन के बिना आजतक उनका बहुत सा जीवनकाल वृथा बीत गया। तभी उन्होंने उक्त श्लोक को पढ़ा। सारांश यह है कि श्रीकृष्ण दर्शन करते ही मुमुक्षा दूर हो जाती है, एवं मुमुक्षु श्रीकृष्ण-भजन करने लगते हैं। अब जीवन्मुक्त-जीवों के सम्बन्ध में कहते हैं—

जीवन्मुक्त अनेक, सेउ दुइ भेद जानि—। भक्त्ये जीवन्मुक्त, ज्ञाने जीवन्मुक्त मानि ॥९१॥
भक्त्ये जीवन्मुक्त–गुणाकृष्ट कृष्ण भजे। शुष्कज्ञाने जीवन्मुक्त–अपराधे अधो मजे ॥९२॥

जीवन्मुक्त अनेक है, उनमें दो ही श्रेणियां हैं। एक तो भक्तिमिश्रित-ज्ञान की उपासना से जीवन्मुक्त होते हैं, और दूसरे भक्ति की सहायता बिना केवल ज्ञान की उपासना करते हैं और वे अपने आपको जीवन्मुक्त मान लेते हैं, (वास्तव में वे जीवन्मुक्त होते नहीं।) जो भक्ति की सहायता से जीवन्मुक्त-अवस्था को प्राप्त करते हैं, वे तो श्रीकृष्ण-गुणों में आकृष्ट होकर श्रीकृष्ण का भजन करते हैं। किन्तु जो शुष्क-ज्ञान से ही अपने को जीवन्मुक्त मान लेते हैं—(उनके लिये मुक्ति की तो बात दूर रही) वे श्रीकृष्ण के प्रति अपराधी होते हैं, और उनका अधोपतन होता है ॥९१—९२॥ जैसा कि श्रीभागवतजी में कहा गया है—

तथाहि (भाः १०–२–३२)—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधो नादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥४०॥

देवतावृन्द ने कहा है—"हे कमललोचन ! जो आपके विमुख हैं, आपकी भक्ति के अभाव के कारण उनकी बुद्धि अशुद्ध रहती है अतः वास्तवमें विमुक्त न होकर भी वे अपने को विमुक्त या जीवन्मुक्त मान लेते हैं। वे अत्यन्त कष्टपूर्वक विषय-सुख परित्याग कर कठोर तपस्यादि के द्वारा मोक्षसन्निहित-सत्कुलजन्मादि

श्रेष्ठपद को प्राप्त होकर भी आपके चरणों के प्रति अनादरवशतः उस पद से अधःपतित होते हैं ॥४०॥ (भक्ति द्वारा जीवन्मुक्त पुरुष के भजन को निम्नलिखित श्लोक से प्रमाणित करते हैं ।

तथाहि श्रीभगवद्गीता (१८-५४)—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥४१॥

ब्रह्मस्वरूप-संप्राप्त प्रसन्नात्मा अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्ति नष्टवस्तु के लिये शोक नहीं करता है एवं किसी वस्तु को प्राप्त करने की आकांक्षा भी वह नहीं करता । सब भूतों में समानदृष्टि करता हुआ वह मेरी (श्रीकृष्ण की) पराभक्ति को लाभ करता है ॥४१॥ (मध्यलीला (पृष्ठ १८३ श्लोक नं० ८ द्रष्टव्य)

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (३-१-२०)—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधुविटेन ॥४२॥

हम अद्वैतपथ के अनुयायियों के आराध्य थे, एवं निजानन्द सिंहासन पर बैठकर पूजा प्राप्त करते थे; अहो ! किसी गोपवधु-लम्पट शठ (श्रीकृष्ण) ने बलपूर्वक हमें अपना दास बना लिया है ॥४२॥ मध्यलीला पृष्ठ १८३ श्लोक नं० ६ द्रष्टव्य)।

[ऊपर के दोनों श्लोक पयार नं० ६२ के पूर्वार्द्ध के प्रमाण स्वरूप हैं, अर्थात् भक्ति की कृपा से जो जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त करते हैं—वे श्रीकृष्ण गुण-रूप माधुरी में लुट जाते हैं एवं ब्रह्मानन्द को भूलकर उनका भजन करने लगते हैं । अगले पयार में प्राप्तस्वरूप व्यक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं]:—

भक्तिबले प्राप्तस्वरूप दिव्यदेह पाय ।
कृष्णगुणाकृष्ट हञा भजे कृष्णपाय ॥६३॥

प्राप्तस्वरूप व्यक्ति—(साधन काल में किये हुए) भक्ति-अनुष्ठान की कृपा से भजनोपयोगी दिव्य शरीर को प्राप्त करते हैं एवं श्रीकृष्ण-चरणकमलों का भजन करते हैं ॥६३॥ प्राप्तस्वरूपता के लक्षण नीचे उद्धृत करते हैं :—

तथाहि (भाः २-१०-६)

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥४३॥

मायिक स्थूल-सूक्ष्म देह में कर्त्तापन का अभिमान परित्याग करके अपने-स्वरूप में जो अवस्थिति है—उसे प्राप्तस्वरूपावस्था कहते हैं ॥४३॥

कृष्णबहिर्मुखदोषे माया हैते भय ।
कृष्णोन्मुख भक्ति हैते मायामुक्त हय ॥६४॥

श्रीकृष्ण से बहिर्मुख होने के दोष या अपराध से जीव को भय उत्पन्न होता है अर्थात् मायिक स्थूल-सूक्ष्म-देह में आबद्ध करके माया उसे अनेक प्रकार की यन्त्रणा का भोग कराती है । श्रीकृष्ण के उन्मुख होकर जीव यदि श्रीकृष्ण की भक्ति करे, तो वह माया से मुक्त हो सकता है । (तात्पर्य यह है कि

श्रीकृष्ण भक्ति करने से प्राप्तस्वरूप-जीव माया से ही मुक्त होकर अपने शुद्ध-स्वरूप को प्राप्त कर सकता है एवं इसी कारण उसकी प्रारब्ध नष्ट हो जाती है। तभी वह भक्ति की कृपा से दिव्य देह प्राप्त कर सकता है) ॥६४॥ इस पयार के प्रथमार्द्ध के प्रमाण में श्रीमद्भागवत का एक श्लोक उद्धृत करते हैं :—

तथाहि (भा: ११-२-३)

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः ॥
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवात्मा ॥४४॥

परमेश्वर से विमुख जीवों को माया के वशीभूत होकर स्वरूप की विस्मृति उत्पन्न होती है एवं उससे देह में आत्माभिमान जन्मता है। द्वितीय वस्तु जो देहेन्द्रियादि हैं, उनमें अभिनिवेश होने से भय उत्पन्न होता है। अतएव ज्ञानी व्यक्ति गुरु में देवताबुद्धि एवं प्रियताबुद्धि स्थापन करके अव्यभिचारिणी भक्ति से परमेश्वर का भजन करते हैं ॥४४॥

उक्त पयार के शेषार्द्ध का प्रमाण निम्नलिखित श्लोक में देते हैं :—

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (७-१४)—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥४५॥

श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—"मेरी यह अलौकिकी एवं अति अद्भुता गुणात्मिका माया दुरतिक्रमणीया है। जो मेरी शरण में आता है, केवल वही ही इस दुस्तरा माया से उद्धार पा सकता है ॥४५॥" (चै० च० २-२०-१२ श्लोक पृष्ठ ६४१ द्रष्टव्य)।

भक्ति बिनु मुक्ति नाहि, भक्त्ये से मुक्ति हय ॥६५॥

(श्रीकृष्ण बहिर्मुखता से अर्थात् माया से जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता, और श्रीकृष्णशरण-ग्रहण द्वारा या भक्ति से ही माया का उद्धार हो सकता है—अतः) भक्ति के बिना कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। और जिनको मुक्ति प्राप्त हुई है, वह भक्ति की कृपा से ही प्राप्त है ॥६५॥ इस बात का समर्थन निम्नलिखित चार श्लोकों से करते हैं।

तथाहि (भा: १०-१४-४)—

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥४६॥

श्रीब्रह्माजी श्रीकृष्णभगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे विभो! मङ्गल की हेतुभूता आपकी भक्ति को त्याग कर जो केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये क्लेश उठाते हैं, चावल के बिना धान के छिलकों को कूटने वाले व्यक्ति की भांति उनके हाथ में क्लेश मात्र ही पड़ता है-और उन्हें कुछ लाभ नहीं होता ॥४६॥ (चै० च० २-२२-६ श्लोक पृष्ठ ६४१ सं० द्रष्टव्य)। और भी कहा है :—

तथाहि (भा: १०-२-३२)—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधो नादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥४७॥

देवगणों ने कहा है—"हे कमललोचन ! जो आपके विमुख हैं, आपकी भक्ति के अभाव के कारण उनकी बुद्धि अविशुद्ध रहती है; अतः वस्तुतः विमुक्त न होते हुए भी वे अपने को विमुक्त मान लेते हैं। वे अति कष्ट पूर्वक विषय सुख को त्याग करके कठोर तपस्यादि के द्वारा मोक्षसन्निहित सत्कुलादि को प्राप्त होकर भी आपके चरणों के प्रति अनादर के कारण उस श्रेष्ठ पद से अधः पतित होते हैं ॥४७॥ और भी कहा हैः—

तथाहि (भाः ११-२-३)—

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥४८॥

(चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र तथा चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, बानप्रस्थ तथा भिक्षु—) इनमें से जो व्यक्ति अज्ञानवश अपने उत्पन्न करने वाले परम पुरुष—ईश्वर का भजन नहीं करता है, वह कर्मलब्ध अधिकार से च्युत एवं अधः पतित होता है ॥४८॥

[उपर्युक्त तीनों श्लोकों से यह प्रमाणित किया गया है कि भक्ति के बिना मुक्ति की प्राप्ति तो दूर रही, उलटा अधः पतन होता है ।]

भक्त्ये मुक्ति पाइलेहो अवश्य कृष्णेरे भजय ॥९६॥

जो भक्ति की कृपा से मुक्ति प्राप्त करते हैं, वे अवश्य श्रीकृष्ण का भजन करते हैं ॥९६॥ जैसा कि कहा गया हैः—

तथाहि भावार्थदीपिकायां (भाः १०—८७—२१)—नृसिंहतापनी (२-५-१६१) शङ्कर भाष्ये—

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते ॥४९॥

श्रीशङ्कराचार्य पाद ने अपने भाष्य में लिखा है कि मुक्त जीव भी भक्ति की कृपा से (भजनोपयोगी पार्षद)—देह प्राप्त करके श्री भगवान् का भजन करते रहते हैं ॥४९॥

एइ छय आत्माराम कृष्णेरे भजय। पृथक्-पृथक् चकार इहां अपिर अर्थ कय ॥९७॥
'आत्मारामाश्च अपि' करे कृष्णे अहैतुकी भक्ति। 'मुनयः सन्तु' इति-कृष्णमनने आसक्ति॥९८॥

(केवल-ब्रह्मोपासकों में—१—साधक-आत्माराम। २—ब्रह्ममय-आत्माराम। ३—प्राप्त-ब्रह्मलय-आत्माराम और मोक्षाकांक्षी गणों में ४—मुमुक्षु-आत्माराम। ५—भक्ति द्वारा जीवन्मुक्त-आत्माराम तथा ६—प्राप्त-स्वरूप-आत्माराम)—ये छयों आत्मारामगण श्रीकृष्ण का भजन करते हैं। (ऊपर की आलोचना में यह बात प्रमाणित की गई है)। आत्माराम-शब्द के छ प्रकार के अर्थों में 'च'—कार का अर्थ यहाँ 'अपि' ही ग्रहण किया गया है अर्थात् आत्माराम-शब्द के प्रत्येक अर्थ के साथ अपि—अर्थ-वाचक "च"—शब्द का पृथक् पृथक् योग करना है, यथा साधक-आत्मारामाश्च, ब्रह्ममय-आत्मारामाश्च, प्राप्त ब्रह्मलय-आत्मारामाश्च अर्थात् साधक-आत्मारामगण भी कृष्णगुणाकृष्ट होकर भजन करते हैं, ब्रह्ममय—आत्मारामगण भी भजन करते हैं—इत्यादि ये सब आत्माराम होकर भी श्रीकृष्ण को अहैतुकी भक्ति करते हैं। ये सब मुनि अर्थात् मननशील होकर—श्रीकृष्ण मनन में आसक्ति युक्त होकर श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति करते हैं ॥९७—९८॥

'निर्ग्रन्थाः' अविद्याहीन—केहो विधिहीन। याहां येइ युक्त—सेइ अर्थेर अधीन ॥९९॥

निर्ग्रन्थ–शब्द के अनेक अर्थों में से, उक्त छः प्रकार के आत्मारामगणों के सम्बन्ध में केवल दो अर्थ ही सङ्गत हैं। अविद्या ग्रन्थ हीन तथा शास्त्र विधि हीन। इन दोनों में से जो अर्थ जहाँ उपयुक्त है, वही प्रयोज्य है ॥९९॥

चै० च० चु० *टीका*:—साधक, ब्रह्ममय, प्राप्त–ब्रह्मलय, जीवन्मुक्त एवं प्राप्तस्वरूप—इन पाञ्च आत्मारामगण के साथ **निर्ग्रन्थः**—शब्द का 'अविद्या ग्रन्थि हीन' अर्थ उपयुक्त है, कारण कि, ये सब मायातीत होने से अविद्याग्रन्थि हीन होते हैं, और संसारी–जीवरूप मुमुक्षु–आत्मारामगणों के साथ **निर्ग्रन्थः**—शब्द का—'शास्त्रविधि हीन' अर्थ ही उपयुक्त हो सकता है, कारण कि मुमुक्षुओं की अविद्याग्रन्थि नष्ट नहीं होती है।

श्लोकोक्त 'अपि'–शब्द का अर्थ 'भी' ही यहाँ लिया गया है। अर्थात् **निर्ग्रन्था अपि** अर्थात् 'अविद्याग्रन्थिहीन होकर भी', अथवा 'शास्त्र विधि हीन होकर भी'। तात्पर्य यह है कि—अविद्या–ग्रन्थि के छेदन करने के निमित्त ही लोग साधारणतः भजन में प्रवृत होते हैं; किन्तु उक्त पाँच प्रकार के आत्मारामगण अविद्याग्रन्थि हीन होकर भी श्रीकृष्ण का भजन करते हैं—श्रीकृष्ण के गुणों का माधुर्य इतना अद्भुत है कि वे उनका भजन किये बिना रह ही नहीं सकते। और संसारी जीवरूप मुमुक्षु–आत्माराम गणों के पक्ष में 'अपि'—शब्द का तात्पर्य यह है कि जो संसारी बन्धन में हैं, वे शास्त्रविधि का आचरण नहीं कर सकते। अतः उनके चित्तादि अशुद्ध होते हैं, उनके लिते भुक्ति-मुक्ति आदि की आशा त्याग कर श्रीकृष्ण–प्रीति के उद्देश्य से श्रीकृष्ण-सेवा की धारणा की सम्भावना बहुत कम हो सकती है, किन्तु वे भी श्रीकृष्ण गुणाकृष्ट होकर श्रीकृष्ण का भजन करते हैं—ऐसे परमाश्चर्यमय गुण श्रीकृष्ण में है।

इस प्रकार, आत्मा–शब्द का ब्रह्म–अर्थ ग्रहण करने से जो छः प्रकार के आत्मारामगण पाये गये हैं, उनके साथ निर्ग्रन्थ शब्द के यथायोग्य अर्थ मिलाने से आत्माराम–श्लोक के निम्नलिखित छः प्रकार के अर्थ निकलते हैं:—

(१) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि उनमें आकृष्ट होकर जो **प्राप्त ब्रह्मलय–आत्मारामगण** हैं वे प्राप्त–ब्रह्मलय होकर भी, एवं अविद्याग्रन्थि–हीन होते हुए भी मननशील होकर उरुक्रम—श्रीकृष्ण की अहैतुकी (कृष्ण सुखैकतात्पर्यमयी) भक्ति किया करते हैं।

(२) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि …………जो **ब्रह्ममय आत्मारामगण** हैं—वे ब्रह्ममय होकर भी एवं………………इत्यादि।

(३) श्रीहरि के………………जो **मुक्त-साधक–आत्मारामगण** हैं, वे मुक्त-साधक होकर भी एवं………… इत्यादि।

(४) श्रीहरि के ऐसे…………जो भक्ति प्रभाव से **जीवन्मुक्त-आत्मारामगण** हैं, वे जीवन्मुक्त होकर भी एवं…………इत्यादि।

(५) श्रीहरि के ऐसे ……… …… जो **प्राप्तस्वरूप आत्मारामगण** हैं, वे प्राप्त–स्वरूप होकर भी, एवं …………इत्यादि।

(६) श्रीहरि के ऐसे………जो संसारी अथच **मुमुक्षुआत्मारामगण** हैं—वे मुमुक्षु होकर भी एवं शास्त्रविधि हीन होते हुए भी, मननशील होकर श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।

'च'–शब्दे करि यदि, 'इतरेतर, अर्थ। आर एक अर्थ कहे, परम समर्थ ॥१००॥

(आत्माराम-श्लोक का छः प्रकार का अर्थ ऊपर कहा जा चुका है। अब एक और अर्थ करते हैं) 'च'—शब्द का 'इतरेतर'-अर्थ करने से और एक अर्थ परम प्रामाणिक निष्पन्न होता है ॥१००॥

चै० च० चु० *टीका*:—अब जिस 'च'-शब्द का अर्थ करने लगे हैं—वह श्लोकोक्त 'आत्मारामाश्च' पद का 'च' शब्द नहीं, इतरेतर-समास के व्यासवाक्य का 'च' है। एक ही विभक्तियुक्त समानरूप विशिष्ट कई एक शब्दोंके विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त एक ही शब्द समास में आबद्ध होने पर, उनमें केवल एक शब्द ही अवशिष्ट रहता है, बाकी शब्द लुप्त हो जाते हैं। उस अवशिष्ट एक शब्द द्वारा ही समस्त शब्दों का पृथक्-पृथक् अर्थ निकलता है—इस प्रकारकेसमास को **इतरेतर-समास** कहते हैं। जैसे,**रामश्च रामश्च रामश्च**-ये तीनों 'राम'-शब्द तीन विभिन्न व्यक्तियों को बताते हैं, प्रत्येक राम-शब्द प्रथमा विभक्तियुक्त है, एवं सबका **रूप** भी एक प्रकार—'**राम**' है। ये तीनों राम-शब्द यदि इतरेतर-समास में आबद्ध किये जाएँ तो समास-बद्ध-पद होगा—"**रामाः**"। दो '**राम**'-शब्द लुप्त हो जाएंगे। एक ही अवशिष्ट रहेगा। इस अवशिष्ट "राम" पद द्वारा ही तीनों 'राम'-शब्दों का पृथक्-पृथक् अर्थ सूचित होगा। "रामश्च रामश्च रामश्च इस वाक्य को इतरेतर-समास में "रामाः" शब्द का '**व्यासवाक्य**' कहते हैं। इस व्यास में जो '**च**'-शब्द है, वह **इतरेतर वा अन्योन्य व परस्पर** अर्थ प्रकाश करता है। अर्थात् व्यासवाक्य में इस '**च**'-शब्द द्वारा जितने "**राम**"-शब्द संयुक्त हुए हैं, उन समस्त में प्रत्येक का अर्थ ही समासबद्ध "रामाः"—शब्द द्वारा सूचित होगा।—ऐसा व्याकरण का नियम है।

'आत्मारामाश्च' 'आत्मारामाश्च' करि बार छय। पञ्च'आत्माराम' छय-चकारे लुप्त हय ॥१०१॥
एक आत्माराम-शब्द अवशेष रहे। एक 'आत्माराम'—शब्दे छयजने कहे ॥१०२॥

(इन दोनों पयारों में 'आत्मारामाः'—शब्द को इतरेतर-समास से निष्पन्न करके अर्थ किया गया है) पहले जिन छः प्रकार के आत्मारामगण की बात कही जा चुकी है। उन छः प्रकार के आत्माराम के अर्थों में छः आत्माराम-शब्द इतरेतर समास में आबद्ध होने पर अन्तिम एक 'आत्माराम'-शब्द में पर्यवसित हैं। आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च ये छओं 'आत्मारामाःच'—शब्द समानरूप विशिष्ट हैं एवं बहुवचनान्त प्रथमाविभक्तियुक्त हैं। इसलिये इतरेतर समास में इनमें से पाञ्चआत्मारामाः—शब्द लुप्त होगये हैं, केवल एक ही रह गया है एवं छओं 'च'-शब्द भी लुप्त हो गये हैं, अर्थात् केवल 'आत्मारामाः' अवशिष्ट रह गया है। इस एक 'आत्मारामाः' शब्द से छः आत्माराम-शब्दों के छः पृथक्-पृथक् अर्थ सूचित हो रहे हैं। इस प्रकार इस इतरेतर-समास-निष्पन्न 'आत्मारामाः शब्द का अर्थ—प्राप्तब्रह्मलय-आत्माराम, ब्रह्ममय-आत्माराम—इत्यादि छः प्रकार के आत्मारामगण से मुख्यतः अभिप्रेत हैं ॥१०१-१०२॥ व्याकरण के इस नियम का प्रमाण इस प्रकार हैः—

तथाहि पाणिनिः (१-२-६४) सिद्धान्तकौमुद्याम् अजन्त-पुलिङ्ग शब्द प्रकरणे :—

'स्वरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ उक्तार्थानामप्रयोगः।
रामश्च रामश्च रामश्च रामा इतिवत् ॥५०॥

एक शेष या इतरेतर समास में, एक ही विभक्ति में एक ही रूपविशिष्ट अनेक शब्द रहने पर, उनमें से केवल एक ही शब्द अवशिष्ट रहता है, सबका प्रयोग नहीं होता। जैसे रामश्च रामश्च रामश्च—इन तीन राम-शब्दों के स्थान पर दो का लोप होकर केवल एक राम-शब्द ही अवशिष्ट रहेगा—समास पद होगा—"रामाः" ॥५०॥

तबे ये च-कार, सेइ 'समुच्चय' कय। 'आत्मारामाश्च मुनयश्च' कृष्ण के भजय ॥१०३॥
'निर्ग्रन्था अपि' एइ 'अपि' सम्भावने। एइ सात अर्थ प्रथम करिल व्याखाने ॥१०४॥

(इस प्रकार श्लोकोक्त 'आत्मारामा:'—शब्द का अर्थ करने के पश्चात् अब 'च'-कार-का अर्थ करते हैं) 'च' यहाँ 'समुच्चय' अर्थ में व्यवहृत किया गया है। अर्थात् "आत्मारामाश्च मुनयः"—इस पद का अर्थ होगा-आत्मारामाश्च मुनयश्च"—अर्थात् आत्मारामगण तथा मुनिगण—ये सब ही श्रीकृष्ण-भजन करते हैं। इनमें एक जन भी भजन रहित नहीं है, ये समस्त ही कृष्ण-भजन करते हैं—यही समुच्चयार्थक 'च'-कार का तात्पर्य है। श्लोकोक्त निर्ग्रन्था अपि' शब्द के अन्तर्गत 'अपि' शब्द का अर्थ यहाँ 'सम्भावना' ग्रहण करते हैं। अर्थात् उन मुनिगणों में कोई (निर्ग्रन्था) अविद्याग्रन्थिहीन हैं, और ऐसी भी सम्भावना हो सकती है कि कोई शास्त्र-विधि-हीन (निर्ग्रन्था) हों, तथापि वे सब ही (निर्ग्रन्था) श्रीकृष्णगुणाकृष्ट होकर श्रीकृष्ण का भजन करते हैं। इस प्रकार उक्त श्लोक का सातवां अर्थ किया गया है ॥१०३—१०४॥

चै० च० चु० *टीका* :—आत्माराम-श्लोकोक्त च-कार का 'समुच्चय'-अर्थ ग्रहण करने से एवं 'अपि'—शब्द का सम्भावना वाचक अर्थ ग्रहण करने से श्लोक का सातवां अर्थ इस प्रकार होगा:—

(७) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि (उनमें आकृष्ट होकर) केवल-ब्रह्मोपासक साधक, ब्रह्ममय एवं प्राप्तब्रह्ममयलय, तथा मुमुक्षु, जीवन्मुक्त एवं प्राप्तस्वरूप—ये छओं प्रकार के ज्ञान-मार्गीय उपासक (आत्मारामगण) और मुनिगण, चाहे कोई अविद्याग्रन्थिहीन है, चाहे कोई शास्त्र-विधिहीन है—सभी उरुक्रम श्रीकृष्ण की कृष्णसुखैक तात्पर्यमयी भक्ति करते रहते हैं ॥

यह पहले (५८ पयार में) कहा जा चुका है कि ब्रह्म-शब्द का मुख्य-अर्थ श्रीकृष्ण होते हुए भी उपासना भेद से वह ब्रह्म ज्ञानियों के निकट निर्विशेष-ब्रह्मरूप से, योगियों के निकट परमात्मारूप से एवं भक्तिमार्ग के उपासकों के निकट भगवान् रूप से आत्म-प्रकाश करता है। इससे आत्मा-शब्द का अर्थ यदि 'ब्रह्म' किया जाए तो आत्माराम शब्द में ज्ञानी, योगी एवं भक्त—ये तीनों प्रकार के उपासक आते जाते हैं।

ऊपर कहे गये सात प्रकार के अर्थों में ज्ञानमार्ग के उपासक आत्मारामगणों की चर्चा की गई है। अब योगमार्ग के उपासक जो आत्मारामगण कहलाते हैं—उनके सम्बन्ध में अगले पयारों में आलोचना करते हैं। योगमार्ग के उपासकों से, परमात्मारामगण अर्थात् जो परमात्मा में रमण करते हैं-उन उपासकों को समझना चाहिये, कारण कि परमब्रह्म श्रीकृष्ण योगमार्ग के उपासकों के निकट परमात्मारूप में आत्मप्रकट करते हैं।

अन्तर्यामी-उपासक—'आत्माराम' कय। सेइ आत्मारामयोगी—दुइ विध हय ॥१०५॥
'सगर्भ' 'निर्गर्भ'-एइ हय दुइ भेद। एक-एक तिनभेदे छय विभेद। १०६॥

जो (योगी) अन्तर्यामी परमात्मा के उपासक हैं, उन्हें भी 'आत्माराम' कहते हैं। वे परमात्माराम योगी दो प्रकार के हैं। 'सगर्भ' तथा 'निर्गर्भ'। फिर एक-एक के तीन-तीन भेद हैं, जिससे उनके कुल छः विभेद हैं ॥१०५—१०६॥

चै० च० चु० *टीका*:—परमात्मा का दूसरा नाम अन्तर्यामी है। अतः परमात्मा के उपासकों को यहाँ अन्तर्यामी-उपासक कहा गया है।

अन्तर्यामी के भी तीन स्वरूप हैं—(१) कारणार्णवशायी महाविष्णु—जो समष्टि ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी है। (२) गर्भोदशायी सहस्र-शीर्षापुरुष—जो व्यष्टि ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी हैं। (३) क्षीरोदशायी चतुर्भुज विष्णु-जो प्रत्येक व्यष्टि जीव के अन्तर्यामी हैं। क्षीरोदशायी के साथ ही जीव का साक्षात् सम्बन्ध है। अन्तर्यामी के उपासकगण या योगीगण साधारणतः उसी जीवान्तर्यामी क्षीरोदशायी की ही उपासना किया करते हैं।

परमात्मा के उपासक दो प्रकार के हैं—सगर्भ एवं निर्गर्भ।' जो शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी प्रादेश प्रमाण चतुर्भुज परमात्मा पुरुष की अपने हृदय में धारण करके, उसके साथ मन का संयोग करते हैं—उन्हें **सगर्भ-योगी** कहते हैं और जो परमात्मा की अपने हृदय में चिन्ता न करके हृदय के बाहर अर्थात् क्षीरसमुद्र में शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज पुरुष की चिन्ता करते हुए उनके साथ मनः संयोग करते हैं—उन्हें **निर्गर्भयोगी** कहा जाता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है—परमानन्दमूर्त्ति श्रीविष्णु का स्मरण करते हुए योगी भी आनन्दसमुद्र में निमग्न हो जाते हैं और उनके शरीर में भी अश्रु-कम्प-पुलकादि सात्त्विकभाव उदय होते हैं। भक्तिमार्ग के उपासक भक्तों में भी इस प्रकार सात्त्विकभाव उदय होते हैं। फिर योगी एवं एक भक्त में पार्थक्य क्या है ?—पार्थक्य यह है कि ध्यान करते करते योगी गणों का चित्त जब परमानन्द मूर्त्ति श्रीविष्णु में निविष्ट हो जाता है, तब वे प्रचुर आनन्द का उपभोग करते हैं, किन्तु इसके बाद फिर वे धीरे धीरे या थोड़ा थोड़ा मन को श्रीविष्णु से वियुक्त कर लेते हैं (**तच्चापि चित्त-वड़िशं शनकैर्वियुङ्क्ते**)। किन्तु भक्त कभी भी श्रीभगवान् से अपने चित्त को दूर नहीं करते। योगीगणों के लिये परमात्मा का ध्यान फल-प्राप्ति पयन्त है। किन्तु भक्तों का ध्यान नित्य है इन दोनों के उपास्य में भी पार्थक्य है। भक्तों के उपास्य स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, किन्तु योगियों के ध्येय स्वयं भगवान् के अंश कलारूप श्रीविष्णु हैं। परमात्मा—मायाशक्ति-प्रचुर चिच्छक्ति के अंश-विशिष्ट हैं, किन्तु स्वयं भगवान् परिपूर्ण सर्वशक्ति विशिष्ट हैं। **"अन्तर्यामित्वमय-मायाशक्ति-प्रचुर-चिच्छक्त्यंश विशिष्टं परमात्मेति। परिपूर्ण-सर्वशक्ति-विशिष्टं भगवानेति"**—(भक्ति सन्दर्भ ॥७॥)

और फिर योगियों के उपास्य परमात्मा का भी मन भक्तों के उपास्य स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के रूपगुणादि के माधुर्याधिक्य में चञ्चल हो उठता है। (सगर्भ-योगिविषयक प्रमाण निम्नलिखित श्लोक में उद्धृत करते हैं)—

तथाहि (भाः २—२—८)—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्ग, शंख, गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥५१॥

कोई कोई (बहुत थोड़े) महात्मा अपने शरीर के भीतर हृदयावकाश में अवस्थित प्रादेश-परिमित अर्थात् तर्ज्जनी और अंगूठे के विस्तार परिमाण चतुर्भुज एवं पद्म-चक्र-शंख गदाधारी पुरुष की धारणा से चिन्ता किया करते हैं ॥५१॥

(तात्पर्य यह है कि शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी परमात्मा चतुर्भुजरूप से एक प्रादेश परिमाण चिन्मयदेह से हर एक जीव के हृदय में निवास करते हैं। जो अपने हृदय में परमात्मा के इस स्वरूप की चिन्ता करते हैं—उन्हें सगर्भ-योगी कहते हैं) और भी कहा है —

तथाहि (भाः ३—२८—३४)—

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्य वाष्पकलया मुहुरर्द्यमानस्तच्चापिचित्तवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥५२॥

इस प्रकार योगमिश्रा-भक्ति के अनुष्ठान द्वारा जो श्रीहरि में भाव को प्राप्त करते हैं, श्रवण-कीर्त्तनादि से जिनका चित्त द्रवीभूत होता है, आनन्दवश जिनके अङ्गों में पुलकावलि होने लगती है एवं उत्कण्ठा से अश्रुपूर्ण होकर जो आनन्द संप्लव में निमग्न होते हैं, उनका उस प्रकार का चित्त-वड़िश भी क्रम क्रम से ध्येय वस्तु से वियुक्त हो जाता है ॥५२॥

योगारुरुक्षु, योगारूढ़, प्राप्तसिद्धि आर।
दोंहे एइ तिनभेदे हय छय प्रकार॥१०७॥

सगर्भ-योगारुरुक्षु, सगर्भ-योगारूढ़ एवं सगर्भप्राप्तसिद्धि, तथा निर्गर्भ-योगारुरुक्ष, निर्गर्भ योगारूढ़ एवं निर्गर्भप्राप्तसिद्धि—ये कुल छः भेद हैं जो सगर्भ-योगी तथा निर्गर्भयोगी—इन दोनों के प्रत्येक के तीन-तीन भेद मिल कर होते हैं ॥१०७॥

चैं० च० चु० *टीका*:—अवस्था भेद से सगर्भ योगी तीन प्रकार के हैं, और निर्गर्भयोगी भी तीन प्रकार के हैं। वे तीन अवस्थाएं इस प्रकार हैं—विषयों से चित्त को आकर्षण करके निश्चलभाव से परमात्मा में जोड़ने का नाम योग है। जो लोग इस योग की प्राप्ति के लिये चित्त की शुद्धि करने वाले निष्काम कर्मादि किया करते हैं, वे 'योगारुरुक्षु' हैं, अर्थात् योगारोहण के इच्छुक हैं। ऐसे व्यक्तियों का मन सम्यक्रूप से स्थिर नहीं हो पाता है। वे मन को स्थिर करने की चेष्टा ही करते रहते हैं। और जिनका मन स्थिर होगया है या परमात्मा में जो मन को निविष्ट कर सकते हैं—उन्हें 'योगारूढ़' कहा जाता है। उनकी भोग्यवस्तुओं में एवं कर्मो में कुछ भी आसक्ति नहीं रहती। वे हर प्रकार की वासना से रहित होते हैं। जिन्होंने अणिमादि-सिद्धियों को प्राप्त कर लिया है, वे प्राप्तिसिद्धि योगी कहलाते हैं। सगर्भ एवं निर्गर्भ दोनों प्रकार के योगी इन तीनों अवस्थाओं में अवस्थान भेद से कुल छः प्रकार के हैं।

योगारुरुक्षु तथा योगारूढ़ योगियों के लक्षण निम्नलिखित श्लोकों में वर्णन करते हैं—

तथाहि श्रीभगवद्गीतातातम् (६—३—४)

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥५३॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्प सन्न्यासी योगारूढ़ स्तदोच्यते॥५४॥

ध्यान-निष्ठारूप योगपदवी पर आरोहण करने के जो अभिलाषी हैं, उनके लिये कर्म ही इस आरोहण का कारण है, (क्योंकि, कर्मों द्वारा हृदय विशुद्ध होता है) और योगारूढ़ व्यक्तियों के पक्ष में चित्त में विक्षेपजनक कर्मों से उपरतिरूप शम ही ध्यान विषय में दृढ़ता का कारण है। जिस समय योगाभ्यास-का साधक, भोग एवं कर्म-विषयक सङ्कल्प परित्याग करके इन्द्रियों के विषय शब्दादि में एवं कर्मों में आसक्ति शून्य हो जाता है, तभी उसे योगारूढ़ कहते हैं ।।५३—५४॥

एइ छय योगी साधुसङ्गादि—हेतु पाञा ।
कृष्ण भजे कृष्णगुणे आकृष्ट हइया ॥१०८॥

ये छः प्रकार के योगी महत् या साधुपुरुषों के सङ्गादि के प्रभाव से (एवं उनके मुख से श्रीकृष्ण-कथा श्रवण करने से) श्रीकृष्ण के गुणों में आकृष्ट होजाते हैं एवं उनका भजन करने लगते हैं। १०८॥

(आत्माराम—शब्द का योगी अर्थ करने पर श्लोकोक्त अन्यान्य शब्दों का कैसे कैसे अर्थ होगा, उसे कहते हैं):—

'च'—शब्दे अपि इहाँओ कहय । 'मुनि, निर्ग्रन्थ'—शब्देर पूर्ववत् अर्थ हय ॥१०९॥
'उरुक्रम, अहैतुकि' काहां कोन अर्थ । एइ तेर अर्थ कैल परम समर्थ ॥११०॥

यहाँ भी 'च'—शब्द का अर्थ 'अपि' वा पर्यन्त किया जाएगा और 'मुनि-शब्द' का अर्थ 'मनन-शील' तथा 'निर्ग्रन्थ'—शब्द का अर्थ अविद्याग्रन्थिहीन वा शास्त्रविधिहीन—पहले के अर्थों की भाँति रहेगा। 'उरुक्रम' तथा अहैतुकी'—शब्दों के अर्थ भी पूर्ववत् रहेंगे। इस प्रकार परम समर्थ श्रीमहाप्रभु ने (पहले सात अर्थ और अब छः अर्थ)—कुल तेरह अर्थ किये ॥ १०९—११० ॥

चैं० च० चु० टीका:—'आत्मा' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' और ब्रह्म-शब्द का अर्थ 'परमात्मा' करने से—आत्माराम-शब्द के छः प्रकार के अर्थ होते हैं। यथा—सगर्भ-योगारुरुक्षु आत्माराम, सगर्भ-योगारूढ़ आत्माराम, सगर्भ-प्राप्तसिद्धि आत्माराम, निर्गर्भ-योगारुरुक्षु आत्माराम, तथा निर्गर्भ-प्राप्तसिद्धि आत्मा-राम। इनमें से एक एक अर्थ को पृथक् पृथक् लेने से निम्नलिखित छः अर्थ निकलते हैं:—

(८) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि (उनमें आकृष्ट होकर) निर्ग्रन्थ (विधिहीन) होते हुए भी **सगर्भ-योगारुरुक्षु आत्मारामगण** पर्यन्त मननशील होकर उरुक्रम-श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।

(९) श्रीहरि के ऐसे… ………कि निर्ग्रन्थ (कोई अविद्या ग्रन्थिहीन, और कोई विधिहीन) होते हुए भी **सगर्भ-योगारूढ़ आत्मारामगण**………इत्यादि।

(१०) श्रीहरि के ऐसे………कि निर्ग्रन्थ (अविद्याग्रन्थिहीन अथवा विधिहीन) होकर भी **सगर्भ-प्राप्तसिद्धि-आत्मारामगण**………इत्यादि।

(११) श्रीहरि के ऐसे………कि निर्ग्रन्थ (विधिहीन) होकर भी **निर्गर्भ-योगारुरुक्षु, आत्मा-रामगण पर्यन्त**………इत्यादि।

(१२) श्रीहरि के ऐसे…………कि निर्ग्रन्थ (अविद्याग्रन्थिहीन अथवा विधिहीन) होकर भी **निर्गर्भ-योगारूढ़ आत्मारामगण पर्यन्त**…………इत्यादि।

(१३) श्रीहरि के ऐसे………कि निर्ग्रन्थ (अविद्या-ग्रन्थिहीन अथवा विधिहीन) होकर भी **निर्गर्भ-प्राप्तसिद्धि-आत्मारामगण** पर्यन्त………इत्यादि।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—इन पाँच रसों के पाँच प्रकार के भक्त हैं। ऊपर जो तेरह प्रकार के आत्मारामगण कहे गये हैं, वे जब श्रीकृष्ण के गुणों में आकृष्ट होते हैं और श्रीकृष्ण का भजन करते हैं -तो प्रश्न उठता है, पाञ्च प्रकार के भक्तों में से-वे तेरहों आत्मारामगण किस रस के या कौन से भक्त कहे जाएँगे ?—इस बात का उत्तर अगले पयार में देते हैं—

एइ सब शान्त यबे भजे भगवान् ।
'शान्त-भक्त' करि तबे कहि तार नाम ॥ १११ ॥

उपर्युक्त आत्मारामगण जब श्रीकृष्ण का भजन करते हैं, तब वे शान्त अवस्था अर्थात् श्रीकृष्ण में निश्चल भाव से स्थिति को प्राप्त करते हैं। अतः इन सबको 'शान्त-भक्त' ही कहा जाता है ॥१११॥

चैं० च० चु० *टीका* :—उपर्युक्त आत्मारामगणों की शान्त भक्तों में गिनती की गई है। कारण कि शान्तभक्त का लक्षण—"**शमो मन्निष्ठताबुद्धेः**" कहा गया है अर्थात् शान्तभक्त की श्रीकृष्ण में बुद्धि की निष्ठता या निश्चल भाव से स्थिति हुआ करती है और इसी अवस्था का नाम '**शम**' है। जिनमें शम है—वही शान्त हैं। उक्त तेरह प्रकार के आत्मारामगण श्रीकृष्ण में केवल निष्ठामात्र को ही प्राप्त करते हैं, किन्तु ममताबुद्धि उन्हें प्राप्त नहीं होती। इसीलिये वे भगवान् श्री व्रजेन्द्रनन्दन की प्रेम-सेवा को कभी प्राप्त नहीं कर पाते। अर्थात् दास्य-सख्यादि चारों भावों से वे श्रीकृष्ण-भजन नहीं कर सकते। उनके उपास्य परव्योमाधिपति श्रीनारायण ही होते हैं और वे परव्योम में सारूप्यादि चारों प्रकार की मुक्तियों को ही प्राप्त करते हैं। अब अगले पयार में 'आत्मा'-शब्द का अर्थ 'मन' करके आत्माराम-श्लोक का अर्थ करते हैं:—

'आत्मा'–शब्दे 'मन' कहे, मने येइ रमे।
साधुसङ्गे सेइ भजे श्रीकृष्णचरणे ॥ ११२ ॥

'आत्मा'-शब्द का एक अर्थ 'मन' है। अतः आत्माराम का एक अर्थ है—जो मन में रमण करता है अर्थात् जो मनोरामगण हैं, वे भी साधुसङ्ग के प्रभाव से श्रीकृष्ण–चरणारविन्द का भजन करते हैं ॥ ११२ ॥

चैं० च० चु० *टीका* :—इस पयार में 'मन' में रमण करने वालों को मनोराम या आत्माराम कहा गया है। वे कौन हैं?—यहाँ उन उपासकों से तात्पर्य है जो हृदयस्थित-जीवान्तर्यामी पुरुष में रमण करते हैं। जो अन्तर्यामीरूप से प्रत्येक जीव के हृदय में अवस्थान करते हैं एवं जो प्रत्येक जीव की बुद्धिशक्ति के प्रवर्त्तक हैं—उनका जो ध्यान करते हैं—उनको ही इस पयार में—'**मनोराम**' या 'मन में रमण करने वाले' कहा गया है अर्थात् बुद्धिशक्ति के प्रवर्त्तक हृदयस्थित अन्तर्यामी सूक्ष्म-ब्रह्म का जो ध्यान करते हैं—वे मनोराम हैं। वे भी साधु-कृपा को प्राप्त करके श्रीकृष्णभजन करते हैं। ऐसे मनोरमणकारी आत्मारामगणों के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला श्रीभागवत का एक श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं:—

तथाहि (भा. १०—८७—१८)—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥५५

ऋषिसम्प्रदाय में स्थूल-दृष्टि ऋषिगण उदर-मध्यस्थित मणिपूरस्थ-ब्रह्म का (अथवा क्रिया-शक्तिदायक वैश्वानरान्तर्यामी का) ध्यान किया करते हैं। अरुण के पुत्र आरुणि ऋषिगण देह में वर्तमान नाड़ीसमूह जहाँ से विभिन्न दिशाओं में प्रसारित होती हैं—उस हृदय में अवस्थान करने वाले सूक्ष्म तत्त्व की (ज्ञानशक्तिदायक जीवान्तर्यामी की) उपासना करते हैं। हे अनन्त ! उसी हृदय से ज्योतिर्मय-सुषुम्नानाड़ी ब्रह्मरन्ध्र तक ऊपर गई है—वह सुषुम्नानाड़ी आपकी उपलब्धि का स्थान है। उस सुषुम्नानाड़ी को प्राप्त कर लेने पर फिर इस संसार में मृत्यु के मुख में नहीं पड़ा जाता ॥५५॥

चैं० च० चु० *टीका* :—तन्त्रशास्त्र के मतानुसार नाभि में मणिपूर नामक एक पद्म है। (यह छः चक्रों में से एक चक्र है) ब्रह्म एकस्वरूप से इस पद्म में भी अवस्थित है। इस श्लोक में उदर-उपासना

द्वारा उदर मध्यस्थित मणिपूर नामक पद्म में अवस्थान करने वाले ब्रह्म की उपासना को ही लक्षित किया गया है अथवा (श्रीगीता १५-१४):—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणपान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥क्ष॥

इस श्लोक से पता लगता है कि श्रीभगवान् ही वैश्वानर-रूप से उदर में अवस्थित होकर चर्व्य, चूष्य, लेह्य एवं पेय—इन चार प्रकार के अन्नों को पचाते रहते हैं एवं क्रियाशक्ति दान करते हैं। अतः उदर उपासना से—इस क्रिया शक्तिदाता वैश्वानर की उपासना भी समझी जाती है। हृदय की अपेक्षा उदर स्थूलतर होने से उदर के उपासकगणों को '**कूर्पदृशः**' या '**स्थूल दृष्टि**' कहा गया है।

परितः (चारों ओर) **सरन्ति** (प्रसारित होती हैं) इति **परिसराः**। नाड़ी समूह एक स्थान से सब ओर प्रसारित होती हैं अतः नाड़ीसमूह का नाम 'परिसर' है। **परिसर-पद्धति** अर्थात् नाड़ीसमूह की **पद्धति** अर्थात् मार्ग या रास्ता। इसका तात्पर्य 'हृदय' से है। गुह्य तथा लिङ्ग के मध्यम का जो दो अगुंलि परिमाण स्थान है, उसे तन्त्रशास्त्र मत में 'मूलाधार' कहते हैं। यह मूलाधार ही शरीर की समस्त नाड़ियों का मूलस्थान माना गया है। समस्त नाड़ियाँ मूलाधार से उत्थित होकर सारे शरीर में फैली हुई हैं। इन नाड़ियों में '**इड़ा**', '**पिङ्गला**', एवं **सुषुम्ना** श्रेष्ठ मानी गई हैं। इड़ा एवं पिङ्गला के बीच सुषुम्ना नाड़ी का स्थान है। यह सुषुम्ना मेरुदण्ड के बाहर अवस्थित है। मूलाधार से आरम्भ होकर हृदय में से गुजरती हुई यह सुषुम्ना नारी ब्रह्मरन्ध्र (शिर) पर्यन्त जाती है। इसलिये सुषुम्नानाड़ी के रास्ते में अवस्थित होने से हृदय को **परिसर-पद्धति** स्वरूप कहा गया है। इस हृदय में जो सूक्ष्मतत्त्व अवस्थान करता है, वह जीवान्तर्यामी है, जिसका अङ्गु के परिमाण विग्रह है, जीव के हृदय में रहकर बुद्धि-वृत्ति को प्रवर्त्तित कर वह ज्ञान शक्ति दान करता है। इसी श्लोक की टीका करते हुए श्रीजीवगोस्वामीपादने निम्नलिखित श्रुति वचन को क्रमसन्दर्भ में उद्धृत किया है—

"महानप्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैव प्रवर्त्तकः। अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ॥

इसी अंगुष्ठ परिमाण हृदयस्थित जीवान्तर्यामी सूक्ष्म तत्त्व की आरुणि ऋषिगण उपासना करते हैं। वह सुषुम्ना नाड़ी परम ज्योतिर्मय है, जो मूलाधार से हृदय में होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक गई है। उस नाड़ी के योग से जो ब्रह्मरन्ध्र तक प्राणों की गति को चढ़ा लेते हैं, वे उपासक मोक्ष को प्राप्त करते हैं, अर्थात् मृत्यु के गाल में नहीं पड़ते हैं। अन्यान्य नाड़ी सब संसार-भ्रमण का द्वार है। अतः सुषुम्ना नाड़ी को अमृतत्व या भगवदुपलब्धि का रास्ता या स्थान कहा गया है।

हृदय का अर्थ है—मन। उक्त श्लोक से जाना जाता है कि आरुणि ऋषिगण हृदय या मन स्थित सूक्ष्म तत्त्व की उपासना किया करते हैं, अर्थात् हृदय या मन में रमण करते हैं, अतः वे **मनोरमण**-कारी या **मनोराम** कहे जाते हैं।

एहो कृष्णगुणाकृष्ट महामुनि हञा।
अहैतुकी भक्ति करे निर्ग्रन्थ हइया ॥११३॥

इस प्रकार मनोरामगण महामुनि होकर भी (साधुसङ्ग कृपा से) निर्ग्रन्थ होते हुए भी श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति करते हैं ॥११३॥

चै० च० नु० टीका:—आत्माराम-शब्द का अर्थ मनोरामगण करने से आत्माराम—श्लोक का चौदहवां अर्थ इस प्रकार से होगा—

(१४) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमयगुण हैं कि जो (बुद्धिशक्ति के प्रवर्त्तक हृदयमध्य स्थित अन्तर्यामी सूक्ष्म ब्रह्म का ध्यान करने वाले) **मनोरामगण—आत्मारामगण** हैं, वे चाहे कोई अविद्याग्रन्थि हीन है, चाहे कोई विधिहीन है, सब श्रीकृष्ण-मननशील होकर उरुक्रम श्रीकृष्ण की अहैतुको भक्ति किया करते हैं।

'आत्मा' शब्दे 'यत्न' कहे, यत्न करिया।
'मुनयोऽपि' कृष्ण भजे गुणाकृष्ट हञा ॥११४॥

अब 'आत्मा'-शब्द का अर्थ 'यत्न' करते हुए श्लोक का एक अन्य अर्थ करते हैं। आत्माराम अर्थात् यत्नाराम—(जो अत्यन्त यत्न शील हैं, जो अत्यन्त आग्रह के साथ प्रारब्ध कार्य सम्पादन के लिये यत्न करते हैं) वे मुनि भी (तपस्वी भी) श्रीकृष्णगुणों में आकृष्ट होकर उनका भजन किया करते हैं ॥११४॥ तपस्वीगण ही यत्न करके श्रीकृष्ण-भजन करते हैं इसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते है।

तथाहि (भाः १-५-१८)—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्य्यधः।
तल्लभ्यते दुखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥५६॥

ऊपर ब्रह्मलोक तक एवं नीचे स्थावर योनि पर्यन्त भ्रमण करने पर भी जीवगण जिसे प्राप्त नहीं कर सकते, उस (भक्तिसुख) की प्राप्ति के लिये यत्न करना ही बुद्धिमान् पुरुष का कर्त्तव्य है, दुःख की भांति विषय सुख तो अद्भुतशक्ति सम्पन्न पूर्वले कर्मों के फल से विना किसी चेष्टा किये, अपने आप ही सर्वत्र आकर उपस्थित होता है (अतः विषयसुख को तो प्राप्त करने के लिये यत्न का प्रयोजन ही नहीं है) ॥५६॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे साधन भक्तिलहर्य्याम् (४७)—

अचिरादेव सर्वार्थः सिद्धत्येषामभीप्सितः।
सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्वन्धिनी मतिः ॥५७॥

भगवद् धर्म के निगूढ़ तत्त्व को जानने के लिये जिन की बुद्धि अतिशय आग्रहशालिनी है अर्थात् यत्नशीला है, उनके ही अभिलषित समस्त विषय शीघ्र सिद्ध हुआ करते हैं ॥५७॥

चै० च० टीका:—भक्तिसुख अथवा भगवद् धर्मों के जानने के लिये या परमार्थ वस्तु को पाने के लिये जीव को अत्यन्त यत्नशील होना चाहिये। किंवा जो इस प्रकार यत्नशील हैं, उन्हें ही भक्ति-सुख—श्रीकृष्ण चरणसेवा की प्राप्ति होती है—यह बात ऊपर के दोनों श्लोकों में कही गई है।

देखा जाय, तो वास्तव में यत्न की सार्थकता भी इसी में है। कारण कि, दुख के लिये तो कोई यत्न करता नहीं, चेष्टा करता नहीं, चेष्टा करना तो दूर, दुख की कोई इच्छामात्र भी नहीं करता। तथापि जो दुख पूर्वले कर्मानुसार आना होता है, वह आ ही पड़ता है। कोई उसे रोक नहीं सकता। सांसारिक-सुख के लिये हम यथा साध्य यत्न—चेष्टा करते हैं। किन्तु जिस सुख के लिये हम चेष्टा करते हैं वही सुख हमें प्राप्त ही हो—ऐसा नहीं होता। कर्मानुसार जिस सुख ने आना होता है, वही मिलता है। सुख आता है कर्मफल से—जीव के यत्न से नहीं। जीव की चेष्टा सुखोद्गम की उपलक्ष्यमात्र ही है, सुख कारण नहीं है। अतः सुख की चेष्टा न करने पर भी सुख अपने कर्मानुसार मिलता ही मिलता है। किन्तु भक्ति-सुख को कोई भी व्यक्ति कभी भी बिना यत्न या बिना चेष्टा प्राप्त नहीं कर सकता। जो ब्रह्मलोक में रहते हैं,

वे भी बिना चेष्टा भक्ति-सुख को प्राप्त नहीं कर सकते। इस भक्ति-सुख के लिये यत्न का विशेष प्रयोजन है। अतः जो बुद्धिमान हैं, वे इस परमार्थ वस्तु की प्राप्ति के लिये यत्न किया करते हैं। ऐसे जो भक्ति-विषय अतिशय यत्नशील बुद्धिमान पुरुष हैं, उनको **यत्नाराम** या आत्माराम कहते हैं।

'च'-शब्दे 'अपि'—अर्थे, 'अपि'-अवधारणे।
यत्नाग्रह विना भक्ति ना जन्माय प्रेमे ॥११५॥

इस अर्थ में 'च'—शब्द का अर्थ 'अपि' ग्रहण किया जाएगा और श्लोकोक्त 'अपि' शब्द का अर्थ अवधारण अर्थात् निश्चयता करना होगा। यत्न-आग्रह के बिना भक्ति के अनुष्ठान भी प्रेम को उत्पन्न नहीं करते ॥११५॥

चै० च० चु० *टीका* :—इस प्रकार के अर्थ में श्लोक के अन्वय का यह रूप होगा :—**"मुनयः च अपि आत्मारामाः (यत्नशीलाः) निर्ग्रन्था अपि उरुक्रमे अहैतुकीं भक्ति कुर्वन्ति—हरिः इत्थम्भूतगुणः"**—इसके अनुसार श्लोक का पन्द्रहवां अर्थ निम्न प्रकार होगा :—

(१५) मुनिगण भी **यत्नशील** एवं निग्रन्थ (मायातीत) होकर भी उरुक्रम श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति करते हैं—ऐसे परमाश्चर्यमय उनके गुण हैं ॥

चेष्टा या यत्न के बिना हरिभक्ति सुदुर्लभा है—इसके प्रमाण में एक श्लोक उद्धृत करते हैं:—

तथाहि (भाः १-२-२२)—

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात् सुदुर्ल्लभा ॥५८॥

आसङ्ग रहित अर्थात् साक्षाद्-भजन की प्रवृत्ति हीन अनेक साधनों द्वारा सुचिरकाल तक भी (अनेक जन्मों तक भी) न प्राप्त होने वाली एवं श्रीकृष्ण द्वारा शीघ्र न प्रदान की जाने वाली भक्ति दो प्रकार से सुदुर्लभा है ॥५८॥

चै० च० चु० *टीका*:—यह ऊपर कहा जा चुका है कि "भक्ति बिना यत्न प्राप्त नहीं होती। भक्ति की प्राप्ति के लिये भक्ति-अङ्गों का तीव्र चेष्टा से आचरण करने को परमावश्यकता है। किन्तु केवल यत्न पूर्वक अनुष्ठान-आचरण से भी भक्ति के फल प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। यत्नपूर्वक अङ्गानुष्ठान के साथ-साथ एक बलवती आकांक्षा तथा भगवत् चरणों में एवं भक्त-पुरुषों के चरणों में अति दीनतापूर्वक भक्ति प्राप्ति की प्रार्थनी की भी अपेक्षा है।

हरिभक्ति दो प्रकार से सुदुर्लभा है,—एक तो, भक्ति कभी भी किसी को बिना यत्न अर्थात् अनासङ्ग-अनुष्ठान-आचरण से प्राप्त नहीं होती अर्थात् साक्षाद्भजन-प्रवृति के बिना साधन आचरण करने पर भी भक्ति प्राप्त नहीं होती। दूसरे, साक्षात्-भजन की प्रवृतियुक्त साधन करने पर भी, जब तक हृदय में भुक्ति एवं मुक्ति की वासना-गन्ध वर्त्तमान रहती है, श्रीकृष्ण अपनी भक्ति किसी को प्रदान नहीं करते। भुक्ति-मुक्ति की भावना रहते हुए—साधन भक्ति के श्रवण कीर्त्तनादि अनुष्ठानों का यत्नपूर्वक आचरण करने पर भी भक्ति या श्रीकृष्ण-प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः यत्नपूर्वक भक्ति साधन आचरण करने के साथ-साथ एक भक्ति-वासना की भी परमावश्यकता है भुक्ति-मुक्ति की वासना का, या स्वसुख-कामना का लेशमात्र भी जिस भक्ति में नहीं रहता, केवल श्रीकृष्णसुखैक तात्पर्यमयी—प्रीति की तीव्र

वासना जहां वर्त्तमान रहती है, वहां ही परम करुण श्रीकृष्ण अपनी सुदुर्लभा भक्ति प्रदान करते हैं। इस बात का समर्थन श्रीगीताजी के निम्नलिखित श्लोक से करते हैं :—

तथाहि श्रीमद्भगवद्गीतायाम् (१०—१०)—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥५६॥

श्रीभगवान् ने श्रीअर्जुन के प्रति कहा है:—"मुझमें सदा आसक्त चित्त होकर प्रीतिपूर्वक जो मेरा भजन करते हैं, मैं उनको ऐसा बुद्धियोग दान करता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त कर लेते हैं" ॥५६॥ विशेष टीका आदि-लीला पृष्ठ १६ पर द्रष्टव्य है) ॥

'आत्मा'-शब्दे—'धृति' कहे धैर्य्यें येइ रमे। 'धैर्य्यवन्त एव' हञा करये भजने ॥११६ ॥
'मुनि'—शब्दे—पक्षी, भृङ्ग, 'निर्ग्रन्थ'—मूर्खजन। कृष्णकृपाय साधुकृपाय दोहार भजन ।११७॥

(आत्मा-शब्द का अर्थ 'धृति' करके अन्य प्रकार का एक अर्थ कहते हैं)। आत्मा-शब्द का अर्थ है धृति अर्थात् धैर्य्य में रमण करते हैं—वे भी आत्माराम हैं। धैर्य्यवन्त होकर भी वे श्रीकृष्ण-भजन करते हैं। 'आत्मा'-शब्द का अर्थ 'धृति' करने पर 'मुनि'—शब्द का अर्थ—पक्षी व भृङ्ग करना होगा तथा 'निर्ग्रन्थ' शब्द का अर्थ—'मूर्खजन' होगा। पक्षी-भृङ्ग तथा मूर्खजन—ये दोनों भी श्रीकृष्ण कृपा से अथवा साधु-कृपा से श्रीकृष्णभजन करते हैं ॥११६—११७॥

(इस बात के प्रमाण में कुछ श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं, ६०, ६२ एवं ६३ संख्यक श्लोकों में पक्षीगणों के, ६१ संख्यक श्लोक में भ्रमरों के तथा ६४ सं० श्लोक में किरात, हूण, अन्ध्र पुलिन्द-आदि जातीय मूर्खलोगों के श्रीकृष्ण-भजन को प्रमाणित किया गया है) :—

तथाहि (भा: १०—२१—१४)—

प्रायो वताम्ब मुनयो विहगा बनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥६०॥

हे अम्ब ! इस श्रीवृन्दावन के जो पक्षीगण हैं, वे भी प्रायः मुनि हैं। कारण कि, वे श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिये मनोहर पत्रोंयुक्त वृक्षशाखाओं पर बैठकर चुपचाप एवं नेत्रों को मून्द कर श्रीकृष्ण के मधुर वेणुगीत को श्रवण करते हैं ॥६०॥

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीकृष्ण के वेणुगीत को श्रवण करना—यह भी भजन का एक अङ्ग है। मुनियों के समान आचरणशील होकर श्रीवृन्दावन के पक्षीगण इस भजनाङ्ग का अनुष्ठान करते हैं—इसका कारण एकमात्र श्रीकृष्ण-कृपा ही है। श्रीसनातनपाद ने अपनी वैष्णव-तोषणी टीका में लिखा है—कि सनकादि मुनिगण ही पक्षीरूप धारण करके श्रीवृन्दावन की वृक्षशाखाओं पर उपवेशन करके श्रीकृष्ण के वेणुगीत को श्रवण करते हैं।

तथाहि (भा: १०—१५—६, ७)—

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिल लोकतीर्थंगायन्त आदिपुरुषानुपथं भजन्ते ।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्याः गूढ़ं वनेऽपि जहत्यनघात्मदैवम् ॥६१॥

श्रीकृष्ण भगवान् श्रीबलदेव जी से कहते हैं—"हे आदिपुरुष ! ये भ्रमरगण आपका अखिल-लोक-पावन यश गान करते हुए पथ में आप का अनुगमन कर रहे हैं। हे अनघ ! ये प्रायः आपके सेवक-प्रधान मुनिगण ही हैं, ये श्रीवृन्दावन में गूढ़भाव से विचरण करने वाले अपने अभीष्टदेव आपका परित्याग नहीं करते हैं ॥६१॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीभगवान् ने कहा है—'हे बलदेव जी ! जैसे आप इस समय मानुषी-लीला के आवरण में गूढ़भाव से लीला कर रहे हैं, उसी प्रकार आपके श्रेष्ठ सेवकगण मुनिगण भी भ्रमररूप धारण कर आप का जगत्-पावनयश गान करते हुए आपका अनुगमन कर रहे हैं। इस श्लोक में भ्रमरगणों के भगवद्भजन का प्रमाण मिलता है।

तथाहि (भा: १०—१५—७)—

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥६२॥

श्रीकृष्ण भगवान् ने और कहा है—"हे स्तवनीय ! ये मयूरगण नृत्य कर रहे हैं। ये नृत्य के द्वारा ही आपका स्वागत कर रहे हैं। इसी प्रकार हरिणीगण भी गोपियों की भांति दृष्टि द्वारा, कोकिलागण मधुर ध्वनि द्वारा, आपका प्रिय साधन कर रहे हैं। इसलिये ये बनवासीगण धन्य हैं, क्यों कि घर में आये हुये अतिथियों को अपनी वस्तु निवेदन कर देने का आग्रह साधुगणों का ही स्वभाव है ॥६२॥

(इस श्लोक में भी श्रीवृन्दाबनवासी पक्षियों का श्रीकृष्ण-बलराम का आदर या स्वागतरूप भजन प्रदर्शित किया गया है)

तथाहि (भा: १०—३५—११)—

सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारु गीतहृतचेतस एत्य ।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥६३॥

सरोवर में रहने वाले सारस-हंसादि जलचर पक्षीगण श्रीकृष्ण के मनोहर वंशीगीत को सुनकर आकृष्ट चित्त होजाते हैं, एवं सरोवर से बाहर आकर वे श्रीकृष्ण के निकट आते हैं तथा मौनभाव से संयित-चित्त होकर एवं नेत्र मून्द कर श्रीकृष्ण की उपासना करने लगते हैं ॥ ६३ ॥

तथाहि (भा: २-४-१८)—

किरात हूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीरशुह्मा यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ ६४ ॥

श्रीशुकदेव जी ने महाराज परीक्षित जी से कहा है—"किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, शुह्म, यवन, खस आदि जो समस्त पाप-जातियाँ हैं एवं और जो कर्मवशतः पापात्मा हैं, वे भी श्री भगवान् के आश्रित भक्तगणों का आश्रय ग्रहण करके पवित्र होजाते हैं, ऐसे प्रभावशाली उन श्री भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६४ ॥

[इस श्लोक में भक्तकृपा द्वारा मूर्खजनों के कृष्णभजन की बात प्रमाणित की गई है]

किंवा 'धृति' शब्दे—निजपूर्णता ज्ञान कय ।
दुखाभावे उत्तम प्राप्त्ये महापूर्ण हय ॥ ११८ ॥

(११६-संख्यक पयार में 'आत्मा' शब्द का अर्थ 'धृति' अर्थात् 'धैर्य्य' किया गया है। इस पयार में 'धृति' शब्द का दूसरा अर्थ करते हैं) किंवा 'धृति' शब्द का अर्थ है—'निजपूर्णताज्ञान'। किसी को अपनी पूर्णता का ज्ञान तभी होता है, जब दुःख का अभाव होजाता है एवं जब उत्तम वस्तु अर्थात् भगवत्-प्रेम की प्राप्ति होती है ॥ ११८ ॥ [तात्पर्य यह है कि जो धृतिवान् हैं—अर्थात् जिनके लिये कुछ अभाव नहीं है, एवं जिनके हृदय प्रेमानन्द से पूर्ण हैं, अतः जो निश्चल चित्त हैं,—वे भी श्रीकृष्णभजन करते हैं—ऐसे उनके परमाश्चर्यमय गुण हैं] निम्नलिखित श्लोक में धृति के लक्षण कहते हैं—

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (२—४—७५)—

धृति स्यात् पूर्णता ज्ञानदुखाभावोत्तमाप्तिभिः ।
अप्राप्तातीतनष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत् ॥ ६५ ॥

ज्ञान, दुखाभाव, एवं भगवत्-सम्बन्धीय प्रेमरूप उत्तम वस्तु के प्राप्त करलेने पर मन की जो अचञ्चलता है—उसे 'धृति' कहते हैं। अप्राप्त, अतीत एवं नष्ट विषयों के लिये 'शोक न करना' ही इसका अनुभाव है ॥ ६५ ॥

चै० च० चु० टीका :— ज्ञान अर्थात् भगवदनुभवस्वरूप जो ज्ञान है, **दुखाभाव** अर्थात् आनन्द-स्वरूप भगवान् के सम्बन्ध के कारण जो दुख का अभाव है, तथा **भगवत्प्रेमरूप उत्तमवस्तु** की प्राप्ति—इनसे जो पूर्णता अर्थात् चित्त की चाञ्चल्यहीनता है—उसे **'धृति'** कहते हैं। ये 'धृति' के स्वरूप लक्षण हैं। **अप्राप्त** अर्थात् जो अभीष्ट वस्तु प्राप्त न हो, **अतीत** अर्थात् जो वस्तु पहले तो प्राप्त थी, किन्तु अब नष्ट हो गई हो, एवं **नष्ट** अर्थात् जो भोगने से पहले ही नष्ट होगई हो, ऐसी काम्यवस्तु के लिये जो शोकादि का अभाव उत्पन्न करती है—उसे **'धृति'** कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो धृतिवान् हैं, वे कभी भी किसी अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति में, या उसको प्राप्त करके खो बैठने में या उसके नष्ट होजाने में दुखित या शोकान्वित नहीं होते—ये धृति के तटस्थ-लक्षण हैं या अनुभाव हैं। इस प्रकार की धृति के लक्षण किस में होते हैं ?—उसे अगले पयार में कहते हैं—

कृष्णभक्त दुखहीन वाञ्छान्तरहीन ।
कृष्णप्रेम सेवा पूर्णानन्द प्रवीण ॥११९॥

श्रीकृष्ण का भक्त ही दुख हीन होता है कारण कि उसे श्रीकृष्ण-सेवा वासना के बिना और कोई वासना ही नहीं रहती, अतः वह अन्य वासनाओं के अपूर्ति जनित दुख से रहित होता है और श्रीकृष्ण प्रेम सेवा के पूर्ण आनन्द से भक्त का हृदय ही सदा पूर्ण रहता है ॥११९॥ जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है —

तथाहि (भाः ९—४—६७)—

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥६६॥

श्रीभगवान् ने दुर्वासामुनि से कहा है—"मेरे समस्त भक्त मेरी सेवा के सुख से परिपूर्ण हैं। मेरी सेवा के प्रभाव से सहज में प्राप्त होने वाली उन चार प्रकार की मुक्तियों को भी वे ठुकरा देते हैं, तो काल प्रभाव से नष्ट हो जाने वाले स्वर्गादि के सुखों को वे क्यों ग्रहण करने लगे ? अर्थात् वे श्रीकृष्ण सेवा को छोड़ कर मुक्ति, स्वर्गसुखादि अन्य किसी वस्तु को नहीं चाहते ॥६६॥

तथाहि गोस्वामिपादोक्त श्लोकः—

हृषीकेशे हृषीकाणि यस्य स्थैर्यगतानि हि ।
स एव धैर्यमाप्नोति संसारे जीवचञ्चले ॥६७॥

हृषीकेश—श्रीकृष्ण में जिसकी इन्द्रियाँ स्थिरता को प्राप्त होगई हैं, इस चञ्चल-जीवमय संसार में उसने ही धृति या धैर्य्य लाभ किया है ॥६७॥

('आत्मा'-शब्द का अर्थ 'धृति' करने से "च" एवं अपि' शब्दों के क्या अर्थ होंगे—वे अगले पयार में कहते है)

'च'—अवधारणे इहां 'अपि'—समुच्चये ।
धृतिमन्त हञा भजे पक्षि—मूर्खचये ॥१२०॥

'च'—शब्द का अर्थ यहाँ 'अवधारण' या 'निश्चय' किया जाएगा, और 'अपि' समुच्चय-वाचक है ॥१२०॥

चै० च० चु० *टीका:*—११६—११७ तथा १२० सं० पयारों में कहे गये अर्थानुसार आत्मा-राम श्लोक के अन्वय तथा अर्थ इस प्रकार होंगे —

अन्वयः—**निर्ग्रन्थाः** (मूर्खाः किरातादयः नीचाः) **मुनयः** (पक्षिणः भ्रमराः वा) **अपि आत्मारामाः** (धैर्य्यशीलाः सन्तुः) **च उरुक्रमे अहैतुकीं भक्ति कुर्वन्ति—हरिः इत्थम्भूतगुणः ।**

(१६) किरातादि नीचजातीय मूर्ख लोग एवं पक्षिभ्रमरादि भी धैर्य्यशील होकर उरुक्रम—श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति करते हैं—श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं।

और ११८ संख्यक पयार में धृति-शब्द का अर्थ पूर्णता करने पर श्लोक के अन्वय एवं अर्थ निम्न प्रकार होंगे—

अन्वयः—**निर्ग्रन्थाः** (मायातीताः) **मुनयः** (श्रीकृष्ण-मननशीलाः भक्तः) **अपि आत्मारामाः** (आत्मनि धृतौ रमन्तः भगवदनुभववशतः दुखाभावात् भगवत् प्रेम लाभतः पूर्णाः चाञ्चल्यरहिताः च सन्तुः) **च उरुक्रमे अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति, हरिः इत्थम्भूत गुणः ।**

(१७) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि अविद्या ग्रन्थिहीन श्रीकृष्णमननशील भगवद् भक्तगण भी भगवत् सम्बन्धलाभवश दुख-अभाव के कारण एवं भगवत्—प्रेमलाभवश पूर्णता के कारण चाञ्चल्यशून्य होकर श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति करते हैं।

(अब 'आत्मा'-शब्द का अर्थ 'बुद्धि' ग्रहण करके आत्माराम का अन्य प्रकार का (अठारहवाँ) अर्थ करते हैं —)

'आत्मा'-शब्दे 'बुद्धि' कहे बुद्धि विशेष । सामान्यबुद्धियुक्त यत जीव अवशेष ॥१२१॥
बुद्ध्ये रमे 'आत्माराम' दुइ त प्रकार—। पण्डित मुनिगण, निर्ग्रन्थ मूर्ख आर ॥१२२॥
कृष्णकृपाय साधुसङ्गे विचारे रतिबुद्धि पाय । सब छाड़ि शुद्धभक्ति करे कृष्ण पाय ॥१२३॥

'आत्मा'-शब्द का एक अर्थ 'बुद्धि' भी है। बुद्धि भी दो प्रकार की है—विशेषबुद्धि तथा सामान्यबुद्धि। सामन्यबुद्धियुक्त जीवों को छोड़कर जो विशेषबुद्धि में रमण करने वाले हैं वे 'आत्माराम' हैं। ऐसे आत्मारामगण भी दो प्रकार के हैं। एक पण्डित मुनिगण हैं एवं दूसरे शास्त्रज्ञानहीन या मूर्ख हैं।

ये दोनों श्रीकृष्ण-कृपा से अथवा साधुकृपा से साधुपुरुषों के साथ शास्त्रीय आलोचना या विचारादि सुनकर श्रीकृष्ण में रति अर्थात् निष्ठारूपा बुद्धि प्राप्त करते हैं एवं सब कुछ त्याग कर श्रीकृष्ण के चरणों की शुद्ध भक्ति करते हैं ॥१२१–१२३॥

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (१०—८)—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥६८॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—"हे अर्जुन ! मैं ही (प्राकृत एवं अप्राकृत)—सब वस्तुओं का उत्पत्ति स्थान हूँ, एवं मैं ही (सबकी बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि) का नियन्ता हूँ, यह जान कर पण्डित गण प्रीति सहित मेरा भजन करते हैं ॥६८॥ (पण्डित मुनिगण श्रीकृष्ण-भजन करते हैं—इस बात का प्रमाण इस श्लोक में उद्धृत किया गया है)

तथाहि (भा: २-७-४५)—

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां स्त्रीशूद्रहूणशवरा अपि पापजीवाः ।
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ॥६९॥

श्रीनारदजी के प्रति श्रीब्रह्माजी ने कहा है—"जिनका पाद-विन्यास अद्भुत है (अर्थात् जिन्होंने (वामनरूप से) पाद-विन्यास द्वारा ही तीन लोकों को आक्रमण कर लिया था), उन भगवान् के भक्तों के चरित्रों से यदि कोई शिक्षा प्राप्त करे, तो वह चाहे (वैदिककर्म-अधिकारहीन) स्त्री, शूद्र एवं हूण-शवरादि शास्त्रविरुद्धाचारी व्यक्ति ही क्यों न हो, अथवा वह पशु, पक्षी, आदि निकृष्ट प्राणी ही क्यों न हो, वह देव-माया के तत्त्व को जान लेता है एवं उससे उत्तीर्ण हो जाता है । अतएव जो वेद-शास्त्रार्थों की आलोचना करते हुए अपने चित्त को भगवद्-रूप माधुरी में लुटा चुके हैं, वे भगवद्-तत्त्व को अवगत होकर माया से उत्तीर्ण हो जाते हैं—इसमें आश्चर्य की क्या बात है ! ॥६९॥

चै० च० चु० *टीका*:—साधुसङ्ग प्रभाव से निर्ग्रन्थ मूर्ख लोग भी श्रीकृष्ण भजन करते हैं—१२२-१२३ संख्यक पयारोक्ति का प्रमाण इस श्लोक में दिया गया है । पहले कहा जा चुका है कि जो विचारपूर्वक श्रीकृष्ण-भजन करते हैं, उन्हें रति-बुद्धि प्राप्त होती है । उस विचार के फल से कैसे रति-बुद्धि-निष्ठा प्राप्त होती है—उसे अगले पयार में कहते हैं :—

विचार करिया यबे भजे कृष्णपाय ।
सेइ बुद्धि देन तारे याते तांरे पाय ॥१२४॥

विचारपूर्वक अर्थात् केवल उत्तमाभक्ति की प्राप्ति के लिये ही नहीं, अपितु अन्य वासनाओं की पूर्ति के लिये भी श्रीकृष्ण ही एक मात्र सेव्य हैं—यह ज्ञान जब जन्मता है, और इस विचारपूर्वक जब श्रीकृष्ण के चरणकमलों का भजन किया जाता है, तभी श्रीकृष्ण ही उस साधक को ऐसी बुद्धि या निष्ठा प्रदान करते हैं, जिससे वह उनको (श्रीकृष्ण को) प्राप्त कर लेता है ॥१२४॥ जैसे कि श्रीगीताजी में कहा गया है :—

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (१०—१०)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥७०॥

श्रीभगवान् ने कहा है—"मुझमें सदा आसक्त चित्त होकर प्रीतिपूर्वक जो मेरा भजन करते हैं, मैं उनको ऐसा बुद्धियोग दान करता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त करते हैं ॥ (आदि-लीला पृष्ठ १६ द्रष्टव्य है) ॥७०॥

सत्सङ्ग, कृष्णसेवा, भागवत, नाम। ब्रजेवास,—एइ पञ्च साधन प्रधान ॥१२५॥
एइ पञ्च मध्ये एक स्वल्प करय। सद्बुद्धिजनेर हय कृष्ण प्रेमोदय ॥१२६॥

(श्रीकृष्ण में रतिरूपा बुद्धि-प्राप्ति के साधन कहते हैं) सत्सङ्ग, श्रीकृष्णमूर्त्तिपूजा, श्रीभागवत-श्रवण, श्रीभगवन्नाम-सङ्कीर्त्तन, तथा श्रीवृन्दावन-वास,—श्रीकृष्ण में रतिरूपा बुद्धि प्राप्त करने के ये पाञ्चों साधन प्रधान हैं। इन पाञ्चों में से एक अनुष्ठान का अल्पमात्र भी आचरण करने से सद्बुद्धियुक्त पुरुषों में श्रीकृष्ण-प्रेम की उत्पत्ति हो सकती है ॥१२५-१२६॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१—२—११०)—

दुरूहाद्भुतवीर्य्योऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके।
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सिद्धियां भावजन्मने ॥७१॥

(साधुसङ्ग, नामकीर्त्तन, भागवत श्रवण, ब्रजवास तथा श्रद्धासहित मूर्त्तिपूजा)— ये पाञ्चों दुर्ज्ञेय एवं आश्चर्य-प्रभावशाली भजनाङ्ग हैं—इनमें श्रद्धा तो दूर की बात है। इनका अत्यल्पमात्र सम्बन्ध होने पर भी निरपराध व्यक्तियों के चित्तमें अतिशीघ्र भावका उदय हो आता है ॥७१॥ पृष्ठ ६६४ द्रष्टव्य)।

उदारा महती यार सर्वोत्तमा बुद्धि।
नाना कामे भजे, तभु पाय भक्तिसिद्धि ॥१२७॥

जिनकी बुद्धि सरला, श्रेष्ठा एवं श्रीकृष्ण-सम्बन्धिनी होने से सर्वोत्तमा है, वे यदि अनेक कामनाओं की पूर्त्ति के लिये भी श्रीकृष्ण भजन करते हैं, तो भी वे शुद्धाभक्ति की सिद्धि या फल को प्राप्त कर लेते हैं ॥१२७॥

तथाहि (भाः २—३—१०)—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥७२॥

श्रीशुकदेवजी ने कहा है :—"महाराज ! सुखवासनादिशून्य एकान्त भक्त, किंवा धनादि समस्त कामनाओं को चाहने वाले कर्मी, अथवा मोक्षकामी—ज्ञानी, कोई भी क्यों न हो, यदि वे उदारबुद्धि हैं, तो वे एकान्तिक भक्ति के साथ ही परम पुरुष भगवान् का भजन करेंगे ॥७२॥ (पृष्ठ ६४५ द्रष्टव्य)।

भक्तिप्रभावे सेइ काम छाड़ाइया।
कृष्णपदे भक्ति कराय गुणे आकर्षिया ॥१२८॥

भक्ति अपनी स्वरूपशक्ति से उनकी समस्त कामनाएं (भुक्ति-मुक्ति आदि की वासनाएं) छुड़ा देती है और श्रीकृष्णके गुणोंमें आकृष्ट करके उनके चरणोंकी भक्ति प्राप्त करा देती है ॥१२८॥ क्योंकि—

तथाहि (भाः १-७-१०)—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥७३॥

श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि अविद्याग्रन्थि हीन आत्माराम मुनि भी श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं ॥७३॥

तथाहि (भा: ५—१९—२०)—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥३२॥

देवताओं ने कहा है—"श्रीभगवान् प्रार्थित होने पर अर्थार्थी व्यक्तियों को उनका प्रार्थित विषय किया प्रदान करते हैं—यह बात सत्य है। तथापि श्रीभगवान् परमार्थदाता नहीं कहे जाते, कारण कि प्रार्थित विषय के पा लेने पर भी वे व्यक्ति फिर और वस्तु की प्रार्थना करने लगते हैं। जो लोग भगवान् का भजन तो करते हैं, किन्तु उनके चरणों की प्राप्ति के लिये उनकी इच्छा नहीं होती, भगवान् स्वयं ही उनकी अन्य कामनाओं को आच्छादन कर देने वाले अपने चरण कमल उन लोगों को प्रदान कर देते हैं। (तभी वे परमार्थ दाता कहे जाते हैं) ॥३२॥ (श्रीकृष्ण भजन से अन्य कामनाएं स्वतः ही छूट जाती है—इस बात का प्रमाण इस श्लोक में मिलता है।)

'आत्मा' शब्दे 'स्वभाव' कहे, ताते येइ रमे। 'आत्माराम' जीव यत स्थावरजङ्गमे ॥१२९॥
जीवेर स्वभाव—कृष्णदास अभिमान। देहे 'आत्मा'-ज्ञाने आच्छादित सेइ ज्ञान ॥१३०॥
कृष्ण कृपादि हेतु हैते स्वभाव-उदय। कृष्णगुणाकृष्ट हञा कृष्णेरे भजय ॥१३१॥
'च' शब्द एव-अर्थे-'अपि' समुच्चये। 'आत्माराम' एव' हञा श्रीकृष्ण भजये ॥१३२॥

(अब 'आत्मा'-शब्द का अर्थ –'स्वभाव' ग्रहण करके श्लोक का और एक अर्थ करते हैं) 'आत्मा'-शब्द का एक अर्थ –'स्वभाव' है। इस प्रकार स्वभाव में जो रमण करते हैं, ऐसे स्थावर-जङ्गम जितने भी जीव हैं—उनमें स्व-भाव अर्थात् कृष्णदासाभिमान स्फुरित हो सकता है। अतः ऐसे स्थावर-जङ्गमादि समस्त जीव आत्माराम कहे जाते हैं। जीव का स्वभाव या स्वरूप धर्म कृष्णदास-अभिमान है, अर्थात् जीव को जब यह ज्ञान हो जाता है कि वह श्रीकृष्ण का नित्य-दास है। तभी वह अपने स्वरूप में स्थित माना जाता है। किन्तु जीव माया-उपाधिवश जब अपने शरीर को ही आत्मा मान लेता है, तब उसका स्वभाव कृष्ण-दासाभिमान ढक जाता है। स्थावर-एवं जङ्गम जीवों में उनका इस प्रकार का कृष्णदासाभिमान श्रीकृष्णकृपा से स्फुरित हो उठता है एवं तब वे श्रीकृष्णगुणों में आकृष्ट होकर उनका भजन करने लगते हैं। इस स्थान पर 'च'-शब्द का अर्थ 'एवं'-'ही' होगा तथा 'अपि'-शब्द का अर्थ समुच्चय-अर्थ में ग्रहण किया जाएगा। इस प्रकार स्थावर-जङ्गम—जीव आत्माराम-होकर (कृष्णदासाभिमानयुक्त होकर) श्रीकृष्णभजन करते हैं। ॥१२९—१३२॥

सेइ जीव सनकादि सब 'मुनि' जन। 'निर्ग्रन्थ' मूर्ख नीच स्थावर पशुगण ॥१३३॥
व्यास-शुक-सनकाद्येर प्रसिद्ध भजन। निर्ग्रन्थ-स्थावराद्येर शुन विवरण ॥१३४॥
कृष्णकृपादि-हेतु हैते स्वभाव—उदय। कृष्णगुणाकृष्ट हञा तांहारे भजय ॥१३५॥

स्वभाव में रमण करने वाले जीव श्रीसनकादिक, श्रीव्यास जी श्रीशुकदेवादि ही यहाँ 'मुनि' शब्द से अभिप्रेत हैं और 'निर्ग्रन्थ'-शब्द से नीचजातीय मूर्ख लोग तथा स्थावर—गुल्म-लतादि और पशुगण समझने चाहिये। श्रीव्यास, श्रीशुक एवं श्रीसनकादिक मुनिगणों का भजन तो प्रसिद्ध है ही, निर्ग्रन्थ

जो स्थावर-गुल्मलतादि हैं, वे भजन करते हैं, उनकी कथा यहां कहते हैं। श्रीकृष्ण-कृपा से उनमें कृष्ण-दासाभिमान उदय हो आता है और वे कृष्णगुणों में आकृष्ट होकर उनका भजन करने लगते हैं ॥१३३—१३५॥ जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है—

तथाहि (भाः १०—१५—८)—

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वं पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥७५॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीबलदेव जी से कहा है—"आज आप के चरणों के स्पर्श से यह पृथ्वी एवं तृण-गुल्म धन्य हो गये हैं, आप के हाथ के स्पर्श से वृक्ष एवं लताएं, एवं आपकी करुणापूर्ण दृष्टि द्वारा नदी-पर्वत तथा पशु-पक्षी सब धन्य धन्य हो गये हैं। स्वयं लक्ष्मी भी आपके दोनों भुजाओं में वर्तमान जिस वक्षस्थल को आलिङ्गन करने के लिये लालायित रहती हैं, आपके उस आलिङ्गन को प्राप्त करके गोपीगण भी (गोपीनामक श्याम लताएं भी) धन्य होगई हैं ॥७५॥ (इस श्लोक में श्रीबलराम जी के अङ्गस्पर्श को प्राप्त कर गुल्म-लताओं के कृतार्थ होने का प्रमाण मिलता है)

तथाहि (भाः १०—२१—१९) —

गागोपकैरनुबनं नयतोरुदार वेणुस्वनैः कलपदैस्तनु भृत्सुसख्याः ।
अस्पन्दनं गतियतां पुलकस्तरूणां निर्योग पाश कृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥७६॥

(श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके किसी एक गोपी ने दूसरी से कहा है) हे सखीगण ! जो गोपगणों के साथ साथ बन बन में गौएं चराते हैं, एवं जिनके कन्धे पर निर्योग (गौ-दोहन के समय जिस रस्सी से गौ के पांव बांधे जाते हैं उसे निर्योग कहते हैं) तथा गौ बान्धने की रस्सी शोभित हो रही है—उन श्रीकृष्ण की एवं श्रीबलराम की, श्रवणों को आनन्द देने वाली मधुर वेणुध्वनि सुनकर देहधारी प्राणियों में जो वृक्षादि जङ्गम प्राणियों का निश्चलतारूप स्थावर-धर्म उदय हो आया है तथा वृक्षादि स्थावर देहधारियों में पुलकादि रूप जो जङ्गम-धर्म उदित हो आया है, यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है। अर्थात् श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि को सुनकर जो मनुष्यादि प्राणी हैं, वे तो जड़वत् निश्चल हो जाते हैं एवं जो जड़ देहधारी वृक्ष-लतादिक हैं, वे आनन्द से पुलकित हो उठती हैं—यह अति आश्चर्य है ॥७६॥ (इस श्लोक में वृक्षादिकों के पुलकादि सात्विक विकार का प्रमाण मिलता है।)

तथाहि (भाः १०—३५—९)

बनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जन्त इव पुष्पफलाढ्याः ।
प्रणतभार विटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म ॥७७॥

ब्रजगोपियों ने कहा है—"फल-पुष्पों से परिपूर्ण होने के कारण झुकी हुई शाखाओंयुक्त एवं पुलकित-शरीर होकर श्रीबन की सब लताएं, मानो उनके हृदय में श्रीकृष्ण विराजमान हैं—इसे वे प्रकाशित करती हुई आनन्द पूर्वक मधु-धारा (अश्रुधारा) बरसा रही हैं। उन लताओं के प्रति वृक्ष भी लताओं की भांति आनन्द प्रकाश कर रहे हैं। (टीका पृष्ठ २४४ पर द्रष्टव्य है।) ॥७७॥

(इस श्लोक में भी वृक्षलताओं के अश्रु-पुलक आदि सात्विक भावों का वर्णन है जो भक्ति अर्थात् श्रीकृष्णभजन को प्रमाणित करता है।

तथाहि (भाः २—४—१८)—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीरशुक्षा यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥७८॥

श्रीशुकदेवजी ने कहा है—"किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, शुक्ष, यवन, खस आदि जो समस्त पाप-जातियां हैं एवं और जो कर्मवशतः पापात्मा हैं, वे भी जिन भगवान् के आश्रित भक्तों का आश्रय ग्रहण करने से पवित्र हो जाते हैं, प्रभावशाली उन श्रीभगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ ॥७८॥

(इस श्लोक में मूर्ख-नीच जातियों के श्रीकृष्ण-भजन की बात वर्णित है)

आगे तेर अर्थ कैल, आर छय एइ ।
ऊनविंशति अर्थ हैल—मिलि एइ दुइ ॥१३६॥

पहले 'आत्माराम'-श्लोक के तेरह अर्थ कहे गये थे, और फिर छः अर्थ किये गये हैं। इस प्रकार दोनों मिलकर कुल उन्नीस अर्थ होते हैं ॥१३६।

चैं० च० चु० *टीका* :—'आत्मा'—शब्द का अर्थ 'स्वभाव' करने से श्लोक का उन्नीसवां अन्वय एवं अर्थ इस प्रकार होगा :—

मुनयः (सनकादयः) **निर्ग्रन्थाः** (मूर्खनीचादयः स्थावरादयः वा) **अपि आत्मारामाः** (आत्मनि कृष्णदासोऽहं इति अभिमानात्मके स्वभावे रमन्ते ये तादृशाः सन्तुः) **च** (एव) **उरुक्रमे अहैतुकीं भक्ति कुर्वन्ति** । अर्थ यथा :—

(१९) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि सनकादि मुनिगण एवं नीचजातीय मूर्ख जन-गण, पशु-पक्षी आदि तथा तृण-गुल्मादि स्थावरगण भी (कृष्ण-कृपादिवश)—"मैं श्रीकृष्णदास हूँ" इस प्रकार के अभिमान को प्राप्त करके श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति करते हैं।

एइ ऊनइश अर्थ कैल, आगे शुन आर । 'आत्मा'-शब्दे 'देह' कहे, चारि अर्थ तार ॥१३७॥
'देहारामी' देहे भजे—देहोपाधि ब्रह्म । सत्सङ्गे सेहो करे कृष्णेर भजन ॥१३८॥

('आत्मा'-शब्द का अर्थ 'देह' करके और चार प्रकार के अर्थ कहते हैं) इस प्रकार उन्नीस अर्थों को कहकर अब और अर्थ करते हैं—उन्हें सुनिये। 'आत्मा'-शब्द का एक अर्थ है—'देह'। अतः जो देह में रमण करते हैं उन्हें भी 'आत्माराम' कहा जाता है। देह का अर्थ चार प्रकार का है। देहारामी देह में ही देह-उपाधियुक्त ब्रह्म का भजन करते हैं—वे भी सत्पुरुषों का सङ्ग प्राप्त करके श्रीकृष्ण का भजन करते हैं ॥१३७–१३८॥

चैं० च० चु० *टीका*:—उक्त पयारों के प्रमाण में जो निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है, उसके मर्मानुसार यह ज्ञात होता है कि जो उदर में क्रियाशक्ति के प्रवर्त्तक वैश्वानर-अन्तर्यामी का भजन करते हैं तथा जो हृदय में अवस्थित बुद्धिशक्ति के प्रवर्त्तक जीवान्तर्यामी का भजन करते हैं। उनको ही इस पयार में लक्ष्य किया गया है। किन्तु जो हृदय स्थित जीवान्तर्यामी का भजन करते हैं—उनकी बात चौदहवें अर्थ में कही जा चुकी है। अतः जो उदरस्थित वैश्वानर-अन्तर्यामी का भजन करते हैं—केवल उनको ही यहाँ देहारामी कहा गया है। ऐसे देहारामी भी सत्सङ्ग प्रभाव से श्रीकृष्णभजन करते हैं—इसके प्रमाण में निम्नलिखित श्लोक कहते हैं :—

तथाहि (भाः १०—८७—१८)—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ।७६॥

ऋषि-सम्प्रदाय में स्थूल-दृष्टि ऋषिगण उदर मध्यस्थित मणिपूरस्थ-ब्रह्म का ध्यान किया करते हैं। आरुणि ऋषिगण देह में वर्त्तमान नाड़ी-समूह जहाँ से विभिन्न दिशाओं में प्रसारित होती हैं, उस हृदय में अवस्थान करने वाले सूक्ष्म-तत्व (जीवान्तर्यामी) की उपासना किया करते हैं। हे अनन्त! उसी हृदय से जो ज्योतिर्मय-सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र तक ऊपर गई है, वही आपकी उपलब्धि का स्थान है। उसे प्राप्त कर लेने पर फिर इस संसार में मृत्यु के मुख में पड़ना नहीं होता। (विशेष टीका पृष्ठ ७५२ द्रष्टव्य है।) ॥७६॥

'देहारामी'—कर्मनिष्ठ याज्ञिकादिजन ।
सत्सङ्गे कर्म त्यजि करये भजन ॥१३६॥

(इस पयार में दूसरे प्रकार के देहारामी जन की बात कहते हैं) कर्मकाण्ड में निष्ठा रखने वाले जो यज्ञ-यागादिक करने वाले व्यक्ति हैं—उन्हें भी 'देहारामीजन' कहा जाता है, कारण कि—वे कर्मकाण्ड द्वारा प्राप्त होने वाले देह के भोग-सुख को ही चाहने वाले है—दैहिक सुख चाहने से वे देहारामी हैं) ऐसे देहारामी—आत्मारामजन भी सत्सङ्ग के प्रभाव से कर्मकाण्ड को छोड़कर श्रीकृष्ण का भजन करने लगते हैं ॥१३६॥ जैसा कि श्रीभागवतजी में कहा गया है—

तथाहि भाः (१-१८-१२)—

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मानां भवान् ।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥८०॥

श्रीशौनकादि मुनिगण ने श्रीसूतजी को कहा है—"हे सूत! (अनेक विघ्नों के कारण फल-प्राप्ति की अनिश्चितता होने से) अविश्वसनीय सत्र-याग के धुआं को सेवन करते-करते हमारा शरीर भी काला पड़ गया था, आपने हमको सुमधुर श्रीगोविन्द के चरणकमलों का मकरन्द पान कराके आश्वास प्रदान किया है" ॥८०॥

चै० च० चु० *टीका* :—सत्र-याग कर्मकाण्ड के अन्तर्भुक्त एक अनुष्ठान है। शौनकादि ऋषिगण नैमिषारण्य में अनेक काल से सत्र-याग का अनुष्ठान कर रहे थे, यज्ञ करते-करते अनेक काल से उसका धुआं लग लगकर उनके शरीर भी काले पड़ गये थे। किन्तु अभी तक उन्हें यज्ञ के फल की प्राप्ति का विश्वास न था। क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों में अनेक प्रकार की आशंका होती है, उसमें देश-काल-पात्रादि का भी विचार है, मन्त्रों के उचारण में शुद्धाशुद्ध की बाधा है एवं मन्त्रोच्चारण में स्वर का भी विचार है—इत्यादि। अतः कर्मकाण्ड में अनेक त्रुटियों की सम्भावना है। त्रुटिहीन कर्मानुष्ठान की आशा करना विडम्बना मात्र ही है। अतः उस सत्रयाग के फल प्राप्त करने में शौनिकादिकों को संशय था। इस अवस्था में उनके पास जब श्रीसूतजी पहुँचे और उन्हें श्रीमद्भागवतजी की कथा सुनाई, तब उन्होंने परमानन्द का तत्काल अनुभव किया और कर्मकाण्ड के झगड़े को छोड़कर भक्तिमार्ग के भजन के लिये प्रलुब्ध हो उठे। श्रीसूतजी के सङ्ग प्रभाव से उनमें ऐसा परिवर्त्तन आगया। यह श्लोक उन्हीं की ही उक्ति है। जिससे प्रमाणित होता है कि कर्मकाण्ड में निष्ठा रखने वाले भी सत्सङ्ग के कारण श्रीकृष्ण का भजन करने लगते हैं। अगले पयार में तीसरे प्रकार के देहारामी पुरुषों की बात कहते हैं)—

तपस्विप्रभृति यत 'देहारामी' हय ।
साधुसङ्गे तप छाड़ि श्रीकृष्ण भजय ॥१४०॥

चान्द्रायणादि अनेक प्रकार के कष्ट-साध्य तप करने वाले जो तपस्वी लोग हैं-वे भी 'देहारामी' हैं, (कारण कि तपस्या का फल भी देह का सुख ही है) वे भी साधु-सङ्ग के प्रभाव से तपस्यादि को छोड़कर श्रीकृष्ण का भजन करने लगते हैं ॥१४०॥ उसका प्रमाण निम्नोद्धृत करते हैं ।

तथाहि (भा: ४-२१-३१)—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठ विनिःसृता सरित् ॥८१॥

महाराज पृथुजी ने कहा है—"जिन श्रीभगवान् के चरणकमलों की सेवा के लिये सात्विक या शुद्ध सत्त्व-स्वरूप अभिलाषा प्रतिदिन उत्तरोत्तर बढ़कर तपस्वियों की बुद्धि की मलीनता को तत्काल हीं श्रीभगवान् के चरण-अँगुष्ठ से निकली हुई गङ्गाजी की भाँति निशेषरूप से नष्ट कर देती है, उन श्रीभगवान् हरि का भजन करना चाहिये ॥८१॥

चै० च० चु० *टीका* :—तात्पर्य यह है कि तपस्वीगण अनेक काल तक तपस्या करते हैं, किन्तु उससे उनकी बुद्धि की मलीनता नष्ट नहीं होती अर्थात् उनके दैहिक सुख की वासनाएँ शान्त नहीं होतीं। ऐसे तपस्वीजन को जब महत्पुरुषों का सङ्ग प्राप्त होता है और उनके मुख से वे जब श्रीकृष्णकथा सुनते हैं तो उनका चित्त शुद्ध होजाता है, तब वे श्रीकृष्ण के गुणों में आकृष्ट होकर उनका भजन करने लगते हैं। अगले पयार में चौथे प्रकार के देहारामीगण के विषय में कहते हैं:—

'देहारामी' सर्वकाम, सब 'आत्माराम' ।
कृष्णकृपाय कृष्णभजे छाड़ि सब काम ॥ १४१ ॥

सर्वकाम अर्थात् देह के सुख निमित्त अनेक प्रकार की कामनाओं को पोषण करने वाले जितने व्यक्ति हैं, वे भी सब देहारामी कहे जाते हैं। अत: वे भी आत्माराम हैं—ऐसे अनेक प्रकार की कामनाएं रखनेवाले लोग भी जब श्रीकृष्ण-कृपा को प्राप्त करते हैं, तो वे भी अनेक कामनाओं को त्यागकर श्रीकृष्ण का भजन करने लगते हैं ॥१४१॥ (इसके समर्थन में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं):—

तथाहि हरिभक्तिसुधोदये (७-२८)—

स्थानाभिलाषीस्तपसि स्थितोऽहं त्वां प्राप्तवान् देव मुनीन्द्रगुह्यम् ।
काचं विचिन्वन्निव दिव्यरत्नं स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥८२॥

श्रीध्रुवजी ने कहा है—"प्रभो ! काँच को ढूण्ढ़ते ढूण्ढ़ते जैसे किसी को दिव्य रत्न की प्राप्ति हो जाए, मुझे भी उसी प्रकार पिता के राजसिंहासन की प्राप्ति के लिये तपस्या करते हुए देवेन्द्र व मुनीन्द्रगणों को दुर्लभ आपके चरण प्राप्त होगये हैं। स्वामिन् ! इससे अब मैं कृतार्थ होगया हूँ। अब मुझे और दूसरा कोई भी वर नहीं चाहिये" ॥ ८२ ॥

चै० च० चु० *टीका* :–तात्पर्य यह है कि श्रीध्रुवजी की कामना थी—पिता के राजसिंहासन को प्राप्त करने की। उन्होंने तपस्या की। भगवत्-कृपा से जब श्रीभगवान् उनके सामने प्रकट हुए तो श्रीध्रुवजी की कामना कोसों दूर भाग गई। वे श्रीकृष्ण-चरण को प्राप्त करके ही कृतार्थ होगये। इसी भाँति अनेक प्रकार की कामनाओं में लोलुप व्यक्ति जब किसी महत्-कृपा से अथवा श्रीकृष्ण-कृपा से भजन में प्रवृत्त होते हैं, तो उनमें श्रीकृष्ण-चरण-सेवा को छोड़कर अन्य कोई वासना रह ही नहीं जाती। वे समस्त कामनाओं को छोड़कर श्रीकृष्ण का अहैतुक भजन ही करने लगते हैं।

एइ चारि अर्थ सह हैल तेइस अर्थ ।
आर तिन अर्थ शुन परम समर्थ ॥ १४२ ॥

इस प्रकार आत्मा—शब्द का अर्थ 'देह' करने से आत्माराम—श्लोक के चार प्रकार के अर्थ निकलते हैं, जिससे कुल तेईस अर्थ होजाते हैं। इस श्लोक के तीन अर्थ और भी सुनिये ॥ १४२ ॥

चैं० च० चु० *टीका* :—'आत्मा'-शब्द का 'देह' अर्थ करने से निम्नलिखित चार प्रकार के अर्थ निकलते हैं:—

(२०) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि जो देहस्थित उदरमध्यस्थ वैश्वानर-अन्तर्यामी का भजन करते हैं वे - **देहाराम-गण भी** निर्ग्रन्थ एवं मननशील होकर भी श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।

(२१) श्रीहरि के ऐसे············हैं, कि जो दैहिक-सुख भोगार्थ यज्ञादि कर्मकाण्ड की निष्ठा रखने वाले हैं, वे **देहारामगण** भी निर्ग्रन्थ व मननशील············इत्यादि।

(२२) श्रीहरि·········जो दैहिक-सुखभोगार्थ तपस्यादि का अनुष्ठान करते हैं—ऐसे **देहाराम-गण भी**···············इत्यादि।

(२३) श्रीहरि············जो सर्वविध दैहिक सुख ही चाहते हैं, ऐसे **देहारामगण-आत्माराम-गण**············इत्यादि।

अब आगे तीन प्रकार के अन्य अर्थों का प्रकाश करते हैं—

'च' शब्दे समुच्चये आर अर्थ कय। 'आत्मारामाश्च मुनयश्च' कृष्णेरे भजय ॥ १४३ ॥
'निर्ग्रन्थाः' हइया इहाँ 'अपि' निर्द्धारणे। रामश्च कृष्णश्च यथा विहरये बने ॥ १४४ ॥

इस स्थान पर 'च'-शब्द का अर्थ समुच्चय में लेते हैं अर्थात् आत्मारामगण तथा मुनिगण—ये दोनों श्रीकृष्ण-भजन करते हैं। निर्ग्रन्था-शब्द का अर्थ पूर्ववत् अविद्याहीन अथवा शास्त्र विधिहीन रहेगा तथा 'अपि' शब्द निश्चय-अर्थ में प्रयुक्त होगा। "रामश्च-कृष्णश्च"—बन में बिहार कर रहे हैं—इस वाक्य में 'च' जैसे समुच्चय+अर्थ में प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार "आत्मारामश्च मुनयश्च" का भी अर्थ ग्रहण किया गया है ॥ १४३-१४४ ॥

चैं० च० चु० *टीका* :—इल स्थान पर 'च'-शब्द का समुच्चय अर्थ करने से 'आत्मारामा'-श्लोक का चौबीसवाँ अर्थ इस प्रकार होगाः—

(२४) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि आत्मारामगण तथा मुनिगण अविद्याहीन होकर भी दोनों समान भाव से उरुक्रम-श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति करते हैं।

'च'-शब्द—'अन्वाचये' अर्थ कहे आर। 'बटो! भिक्षामट गाञ्चानय' यैछे प्रकार ॥१४५॥
कृष्ण-मनन 'मुनि' कृष्णे सर्वदा भजय। 'आत्मारामा अपि' भजे गौण अर्थ कय ॥१४६॥
'च'-एवार्थे, मुनय एव कृष्ण भजय। 'आत्मारामा अपि'—'अपि' गर्हा-अर्थ कय ॥१४७॥
'निर्ग्रन्थ हइया' एइ दोहार विशेषण। आर अर्थ शुन यैछे साधुर सङ्गम ॥१४८॥

(अब पचीसवाँ अर्थ करते हैं:—यहाँ 'च' शब्द का अन्वाचय अर्थ करके श्लोक का अन्य अर्थ करते हैं) जैसे "बटो! भिक्षामट गाञ्चानय" वाक्य में 'च' का अर्थ—प्रयुक्त है, अर्थात् "हे बटो! तू

भिक्षा करने जा और (लौटती समय) गौ को भी लेते आना।" उसी प्रकार श्रीकृष्ण-मननशील मुनि तो सर्वदा श्रीकृष्णभजन करते ही हैं और आत्मारामगण भी (ब्रह्मोपासकगण भी) श्रीकृष्णभजन करते हैं। गौण अर्थ में उनका भजन है। 'च' शब्द का अर्थ 'एव' लेने से यह अर्थ निकलता है कि मुनिगण ही कृष्णभजन करते हैं। आत्मारामगण भी भजन करते हैं। 'अपि'-शब्द का अर्थ यहाँ गौण-अर्थ में लिया गया है। निर्ग्रन्था-शब्द यहाँ मुनिगण एवं आत्मारामगण का विशेषण माना गया है। साधुसङ्ग द्वारा जैसे श्रीकृष्णभजन प्राप्त होता है—ऐसा एक और अर्थ सुनिये ॥ १४५—१४८ ॥

चै० च० चु० *टीका* :—इस स्थान पर 'च' शब्द का अन्वाचय अर्थ किया गया है। अन्वाचय का अर्थ यह है कि 'च'-शब्द द्वारा जिन दो शब्दों का संयोग होता है, उनमें एक की प्रधानता रहती है और दूसरे की अप्रधानता सूचित होती है। जैसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट है—"हे विद्यार्थी ! तुम भिक्षा के लिये जाओ और लौटते समय गाय को लेते आना"। इस वाक्य में 'भिक्षा के लिये जाओ' और 'गाय को लेते आना' ये दोनों वाक्य 'च' (और) से मिले हुए हैं। 'भिक्षा के लिये जाओ'—यह प्रधान वाक्य है एवं 'गाय को लेते आना'—यह गौण वाक्य है। इसी प्रकार यहाँ 'च'-शब्द का 'अन्वाचय'-अर्थ किया गया है। आत्मारामश्लोकस्थं 'च' का अन्वाचय अर्थ करने से अन्वय इस प्रकार होगा:—

"मुनयः आत्मारामाः च निर्ग्रन्थाः (सन्तुः) अपि भक्तिं कुर्वन्ति – मुनयः भक्तिं कुर्वन्ति, आत्मारामाश्चभक्तिं कुर्वन्ति। अर्थात् मुनयः भक्तिं कुर्वन्ति एव, आत्मारामाः अपि भक्तिं कुर्वन्ति।" अर्थात् मुनिगण भक्ति करते ही हैं, आत्मारामगण भी भक्ति करते हैं। यहाँ मुनिगण की प्रधानता एवं आत्मारामगण की गौणता सूचित होती है। तात्पर्य यह है कि 'श्रीनारदादि मुनिगण सर्वदा ही श्रीकृष्णभजन करते हैं'—यह मुख्यार्थ है ; और 'ब्रह्मोपासक आदि आत्मारामगण भी साधुसङ्गादि के प्रभाव से अपनी ब्रह्मउपासना त्याग करके श्रीकृष्णभजन करने लगते हैं'—यह गौण अर्थ है। इस प्रकार 'च'-शब्द का अन्वाचय अर्थ करने से मूल श्लोक का अर्थ निम्नप्रकार होगा:—

(२५) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि (श्रीनारदादि कृष्णमननशील) मुनिगण निर्ग्रन्थ होकर सदा श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति करते हैं ; (ब्रह्मोपासकादि) आत्मारामगण भी (साधुसङ्गादि के प्रभाव से ब्रह्मोपासनादि का त्याग करके) निर्ग्रन्थ होकर श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति करते हैं।

'निर्ग्रन्थ'-शब्दे कहे—व्याध निर्धन। साधुसङ्गे सेहो करे श्रीकृष्णभजन ॥ १४६ ॥
'कृष्णरामाश्च एव' हय कृष्णमनन। व्याध हञा हय पूज्य भागवतोत्तम ॥ १५० ॥

(अब एक और अर्थ करते हैं) :—'निर्ग्रन्थ'-शब्द का अर्थ है—निर्धन, दरिद्र। निर्धन भी ऐसे कि जीविका-निर्वाह के लिये और कोई उपाय न देखकर जो व्यक्ति पशुघात करके व्याधवृत्ति द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, वे निर्धन व्याध भी साधुसङ्ग के प्रभाव से श्रीकृष्णभजन करने लगते हैं। (निर्ग्रन्था - शब्द का अर्थ निर्धनव्याध करने पर) 'आत्मा'-शब्द का अर्थ 'कृष्ण' एवं 'मुनि'-शब्द का अर्थ 'श्रीकृष्ण-मननशील' ग्रहण किया गया है। ऐसे व्यक्ति निर्धन व्याध होते हुए भी पूजने योग्य उत्तम भक्त होजाते हैं ॥ १४६—१५० ॥

चै० च० चु० *टीका* :—मूल श्लोक के इस अर्थ में 'निर्ग्रन्थाः' को ही 'कुर्वन्ति'-क्रिया का कर्त्ता माना गया है। अतः अन्वय एवं अर्थ इस प्रकार होंगे:—

अन्वयः—**निर्ग्रन्थाः** (व्याधादयः) **अपि आत्मारामः मुनयः च** (एव) (सन्तु) **उरुक्रमे अहैतुकी भक्तिं कुर्वन्ति, इत्थम्भूत गुणो हरिः।**

(२६) श्रीहरि में ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि निर्धन व्याधादि भी आत्माराम (श्रीकृष्ण में रमणशील अर्थात् प्रीतियुक्त) एवं मुनि (श्रीकृष्ण में मननशील) होकर ही उरुक्रम-श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।

साधु-सङ्ग प्रभाव से एक व्याध को जिस तरह भक्ति की प्राप्ति हुई, उस एक पौराणिक आख्यान को प्रसङ्गवश अगले कई एक पयारों में वर्णन करते हैं:—

एक भक्त व्याधेर कथा शुन सावधाने। याहा हैते हय सत्सङ्ग महिमाज्ञाने ॥ १५१ ॥
एक दिन श्रीनारद देखि नारायण। त्रिवेणीस्नाने प्रयाग करिला गमन ॥ १५२ ॥
वनपथे देखे मृग आछे भूमे पड़ि। बाणविद्ध भग्नपाद करे धड़फड़ि ॥ १५३ ॥
आर कथोदूरे एक देखेन शूकर। तैछे विद्ध भग्नपाद करे धड़फड़ ॥ १५४ ॥
तैछे एक शशक देखे आर कथोदूरे। जीवेर दुख देखि नारद व्याकुल अन्तरे ॥१५५॥

एक भक्त व्याध की कथा हम यहाँ कहते हैं, आप सावधान होकर सुनिये, जिससे सत्सङ्ग की महिमा प्रकाशित होती है। एक दिन श्रीनारदजी श्रीनारायण भगवान् के बदरिकाश्रम में दर्शन करके त्रिवेणी नदी में स्नान करने के लिये प्रयाग में जारहे थे। उन्होंने मार्ग में देखा कि एक मृग पृथ्वी पर पड़ा है और बाण से घायल होकर उसके पाँव टूट गये हैं। वह तड़फड़ा रहा है। थोड़ी दूर चलने पर श्रीनारदजी ने फिर देखा कि एक शूकर भी उसी प्रकार बाण से घायल होकर टाँग टूट जाने से पड़ा पड़ा तड़प रहा है। फिर उन्होंने एक खरगोश को भी थोड़ी दूर पर उसी अवस्था में देखा। जीवों का इस प्रकार दुख देखकर श्रीनारदजी हृदय में बहुत दुखी हुए ॥ १५१—१५५ ॥

कथोदूरे देखे व्याध वृक्षे ओत हैया। मृग मारिवारे आछे बाण जुड़िया ॥ १५६ ॥
श्यामवर्ण रक्तनेत्र महाभयङ्कर। धनुर्बाण हस्ते येन यमदण्ड धर ॥ १५७ ॥
पथ छाड़ि नारद तार निकटे चलिल। नारद देखिया सब मृग पलाइल ॥ १५८ ॥
क्रुद्ध हञा व्याध तारे गालि दिते चाय। नारद प्रभावे गालि मुखे ना बाहिराय ॥१५९॥
गोसाञि! प्रमाणपथ छाड़ि केने आइला। तोमा देखि मोर लक्ष्य मृग पलाइला ॥१६०॥

श्रीनारदजी ने देखा कुछ दूरी पर एक व्याध वृक्ष की ओट में खड़ा है और अन्य मृगों को मारने के लिये बाण का निशाना साध रहा है। उस व्याध का काला तो रङ्ग था, लाल लाल नेत्र, महाभयावना उसका रूप था। उसके हाथों में धनुषबाण था, मानों साक्षात् यमराज ही दण्ड धारण कर रहा हो। श्रीनारदजी अपना मार्ग छोड़कर उस व्याध की ओर चल दिये। श्रीनारदजी को आता देखकर निकट-वर्त्ती मृगगण भाग खड़े हुए। व्याध यह देखकर बहुत क्रोधित हुआ और उनको गालियाँ सुनाना चाहता था, किन्तु श्रीनारदजी के प्रभाव से उसके मुख से दुर्वचन न निकल सके। व्याध ने कहा—"साधो! आप अपना सीधा मार्ग छोड़कर इधर कैसे चले आए? आपको देखकर मेरे निशाने में आए हुए सब मृग भाग गये हैं ॥ १५६—१६० ॥

नारद कहे—पथ भुलि आइलाङ् पुछिते। मने एक संशय हय, ताहा खण्डाइते ॥१६१॥
पथे ये शूकर मृग, जानि तोमार हय? व्याध कहे-येइ कह, सेइ त निश्चय ॥१६२॥

नारद कहे–यदि जीवे मार तुमि बाण । अर्द्धमारा कर केने ना लग्रो पराण ? ।।१६३।।
व्याध कहे-शुन गोसाञि ! मृगारि मोर नाम । पितार शिक्षाते आमि करि ऐछे काम ।।१६४।।
अर्द्धमारा जीव यदि धड़फड़ करे । तबे त आनन्द मोर बाढ़ये अन्तरे ।। १६५ ।।

श्रीनारदजी ने कहा—"मैं रास्ता भूल गया हूँ–उसे मैं तुमसे पूछने आया हूँ । मेरे मन में भाई ! एक संशय होरहा है, उसे तो तुम दूर करो"। "मैंने रास्ते में मृग, शूकर आदि तड़फते पड़े देखे हैं, ज्ञात होता है, वे तुम्हारे शिकार हैं ?" व्याध ने कहा—"जी हाँ, आप ठीक कह रहे हैं"। श्रीनारदजी ने पूछा—"यदि तुम जीवों को मारना ही चाहते हो, तो तुम उन्हें अधमरा ही क्यों छोड़ देते हो ?" व्याध ने कहा—"सुनिये, महाशय ! मेरा नाम व्याध है और इस काम की शिक्षा मैंने अपने पिता से ली थी। अधमरा पशु जब तड़पता है, उसे देखकर मेरा मन अतीव आनन्द पाता है"। (इससे व्याध के हृदय की कठोरता–निष्ठुरता का परिचय मिलता है) ।। १६१-१६५ ।।

नारद कहे–एक वस्तु मागि तोमा स्थाने । व्याध कहे मृगादि लेह येइ तोमार मने ।।१६६।।
मृगछाल चाइ यदि आइस मोर घरे । येइ चाह, ताहा दिव मृग-व्याघ्राम्बरे ।।१६७।।
नारद कहे–इहा आमि किछुइ ना चाइ । आर एकदान आमि मागि तोमार ठाञि ।।१६८।।
कालि हैते तुमि येइ मृगादि मारिबे । प्रथमेइ मारिबे, अर्द्धमारा ना करिबे ।।१६९।।
व्याध कहे—किबादान मागिले आमारे ! अर्द्ध मारिले किबा हय, ताहा कह मोरे ।।१७०।।

श्रीनारदजी ने कहा—"एक वस्तु मैं तुमसे माँगता हूँ, यदि दे सको तो ?" व्याध ने कहा—"हाँ, हाँ, आपको मृगादि जो कुछ चाहिये, तो मैं दे सकता हूं। यदि आपको मृगछाला चाहिये तो फिर आप मुझे मेरे घर पर ही मिलिये। मृगछाला या सिंह की छाल, जो कुछ आपकी इच्छा हो, मैं आपको दे सकता हूँ।" श्रीनारदजी ने कहा—"व्याध ! इन वस्तुओं में से मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं तो एक दान तुमसे माँगता हूं—वह यह है कि कल से जो भी तुम मृगादि का शिकार करो, उसे एक ही बार में मारदो, अद्धमरा हुआ उसे तड़पता मत छोड़ो।" व्याध ने विस्मित होकर पूछा—"आपने माँगा तो क्या दान माँगा ? जरा मुझे यह तो बताइये कि अद्धमरा छोड़नेसे क्या होता है ? ।। १६६–१७० ।।

नारद कहे—अर्द्ध मारिले जीव पाय व्यथा । जीवे दुख दिछ, तोमार हइबे अवस्था ।।१७१।।
व्याध ! तुमि जीव मार, ए अल्प पाप तोमार । कदर्थना दिया मार, ए पाप अपार ।।१७२।।
कदर्थिया तुमि यत मारियाछ जीवेरे । तारा तैछे तोमा मारिबे जन्म-जन्मान्तरे ।।१७३।।
नारदेर सङ्गे व्याधेर मन प्रसन्न हैल । ताँर वाक्य शुनि मने भय उपजिल ।।१७४।।
व्याध कहे—बाल्य हैते एइ आमार कर्म । केमने तरिमु मुञि पामर अधम ।।१७५।।
एइ पाप याय मोर केमन उपाय ? निस्तार करह मोरे, पड़ों तोमार पाय ।।१७६।।

श्रीनारदजी ने कहा—"जीव को अद्धमरा छोड़ देने पर वह अत्यन्त व्यथा पाता है। तुम जैसे जीवों को दुःख देरहे हो, वे भी तुम्हें इसी प्रकार दुःख देंगे। तुम व्याध हो, जीवों को मारना तुम्हारा काम है—इसमें कम पाप है, किन्तु जो जीवों को तड़पा तड़पाकर मारते हो–यह उसकी अपेक्षा बहुत बड़ा पाप है। यन्त्रणा दे देकर जितने जीवों को तुमने मारा है, वे भी तुम्हें जन्म-जन्मातर में उसी प्रकार यन्त्रणा

दे देकर मारेंगे"। अब व्याध को श्रीनारदजी के मिलन में कुछ सुख का अनुभव हुआ और उनके वचन सुनकर वह मन में भयभीत होने लगा। व्याध कहने लगा—"महाराज ! मैं तो बालपन से ही यही काम कर रहा हूँ, मेरा उद्धार कैसे होगा ? मैं अति अधम हूँ, पामर हूँ। आपही कृपाकर मुझे वह उपाय बतलाइये कि जिससे मेरे पाप नाश हों। मैं आपके चरणों की शरण हूँ—आप मेरा निस्तार कीजिये"।

चै० च० चु० *टीका* :—ऊपर के पयारों में, श्रीनारदजी के वचनों में कहा गया है कि—"तुम व्याध हो, जीवों को मारना तुम्हारा काम या जीविका है—इसमें कम पाप है।" यहाँ कम पाप कहने से यह तात्पर्य है कि जीवों को यन्त्रणा दे देकर मारने की अपेक्षा वह कुछ कम पाप है। जीवों को मारना—जीविका होने पर भी व्याधादिकों के लिये भी उतना ही पाप है जितना अन्य लोगों के लिए। यह बात कभी नहीं समझनी चाहिये कि जीविका होने पर पाप पाप नहीं होता है या कम पाप लगता है। श्रीमद्भागवत (११-१७-२१) श्लोक में स्पष्टतया कहा गया है कि अहिंसा-ब्राह्मणादि-समस्त वर्णों के लोगों के लिये सद्धर्म या आचरणीय है और इसके विपरीत हिंसा समस्त वर्णों के लोगों के लिये समान अधर्म एवं पाप है। इस श्लोक की टीका लिखते हुए श्रीश्रीधर स्वामीजी ने एवं श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने लिखा है कि रजक, चर्मकार, नट-कैवर्त्त-चण्डाल-व्याधादि नीच जातीय व्यक्ति जिनका हिंसा करना, चोरिकरनादि कुल परम्परा व्यापार है, उनके ये कर्म पाप में ही आते हैं, वे दण्ड के भागी हैं। उन्हें इन अधर्मा चरणों को त्यागना ही होगा—तभी वे निष्पाप हो सकते हैं। श्रीनारदजी का तात्पर्य यह था कि तुम दो प्रकार का पाप करते हो। जीवहत्या एक पाप, एवं उन्हें अद्धमरा करके मारना—दूसरा पाप। पहला पाप दूसरे पाप की अपेक्षा कुछ कम कहा गया है। श्रीनारदजी के वचन सुनकर व्याध उनके चरणों पर गिर पड़ा और अपने पापों का प्रायश्चित जिज्ञासा करने लगा।

नारद कहें—यदि धर आमार वचन। तबे से करिते पारि तोमार मोचन ॥१७७॥
व्याध कहे-येइ कह, से-इ त करिव। नारद कहे-धनुक भाङ्ग, तबे से कहिव ॥१७८॥
व्याध कहे-धनुक भाङ्गिले वर्त्तिव केमने? | नारद कहे-आमि अन्न दिव प्रति दिने ।१७९॥
धनुक भाङ्गि व्याध तांर चरणे पड़िल। तारे उठाइया नारद उपदेश कैल—॥१८०॥

श्रीनारदजी ने कहा—"अच्छा, यदि तू मेरे वचन माने तो मैं तुम्हें उन पापों से छुटकारा दिला सकता हूँ।" व्याध ने कहा—"आप जो कहोगे, वही मैं करूंगा। आप मुझे मेरे पापों से मुक्त कराइये।" श्रीनारदजी ने कहा—"तुम पहले अपने इस धनुष को तोड़ डालो (जो हिंसा की जड़ है), फिर मैं वह उपाय तुमसे कहूँगा। व्याध नारदजी के वचन सुनकर कुछ चिन्तित हो उठा, और कहने लगा—"धनुष तो एकमात्र मेरी जीविका का साधन है, इसे तोड़ दूं, तो मेरा निर्वाह कैसे होगा ?" श्रीनारदजी ने कहा—"व्याध ! तुम चिन्ता मत कर। तुझे खाने के लिये प्रतिदिन अन्न-भोजन मैं दे दूंगा।" श्रीनारदजी के वचन सुनते ही व्याध ने अपना धनुष तोड़ डाला और उनके चरणों में गिर पड़ा। श्रीनारदजी ने उसे अपने हाथों से उठाया और उसे इस प्रकार उपदेश देने लगे—॥१७७-१८०॥

घरे गिया ब्राह्मणे देह यत आछे धन। एक-एक वस्त्र परि बाहिरे हओ दुइजन ॥१८१॥
नदीतीरे एकखानि कुटीर करिया। तार आगे एक पिण्डि तुलसी रोपिया ॥१८२॥
तुलसी परिक्रमा कर तुलसी सेवन। निरन्तर कर कृष्णनाम सङ्कीर्त्तन ॥१८३॥
आमि तोमाय बहु अन्न पाठाइव दिने दिने। सेइ अन्न निह, यत खाओ दुइजने ॥१८४॥

श्रीनारदजी ने कहा—"तुम्हारे पास जितना धन है, उसे घर जाकर ब्राह्मणों को दान कर दो और तुम और तुम्हारी स्त्री दोनों जने एक-एक वस्त्र धारण करके वन में चले जाओ। नदी के किनारे एक कुटिया बनाकर रहो। उस कुटिया के सामने एक तुलसीजी का पेड़ लगाओ। तुम दोनों प्रतिदिन उस तुलसीजी की परिक्रमा किया करो और उसकी पूजा करो। इसके साथ-साथ निरन्तर श्रीकृष्ण-नाम का सङ्कीर्त्तन करो। मैं तुम्हें प्रतिदिन बहुत सा अन्न भिजवादूंगा, किन्तु तुम्हें जितने अन्न की आवश्यकता हो, उतना ही ले लिया करना (उससे अधिक नहीं) ॥१८१–१८४॥

तबे सेइ तिन मृग नारद सुस्थ कैल। सुस्थ हञा तिन मृग धाञा पलाइल ॥१८५॥
देखिया व्याधेर मन हैल चमत्कार। घरे गेला व्याध गुरुके करि नमस्कार ॥१८६॥
यथास्थाने नारद गेला व्याध आइल घर। नारदेर उपदेश करिल सकल ॥१८७॥
ग्रामे ध्वनि हैल,व्याध वैष्णव हइला। ग्रामेर लोकसब अन्न आनि दिते लागिला ॥१८८॥

इतना कहकर श्रीनारदजी ने व्याध के देखते-देखते उन तीनों अद्धमरे पशुओं को अपनी शक्ति से स्वस्थ कर दिया और वे वहाँ से भाग गये। यह सब देखकर व्याध को बहुत चमत्कार हुआ। व्याध ने श्रीनारदजी को अपना गुरु मान कर उन्हें नमस्कार किया और अपने घर चला गया। श्रीनारदजी भी अपने स्थान पर चले गये। व्याध ने घर आकर श्रीनारदजी के कहे अनुसार सब आचरण किया। उस ग्राम में बात फ़ैल गई कि व्याध श्रीनारदजी की कृपा से वैष्णव होगया है। ग्राम के सब लोग उसे आ आकर अन्न भोजन देने लगे ॥१८५–१८८॥

एक दिने अन्न आने दश विश जने। दिने तत लय, यत खाय दुइजने ॥१८९॥
एक दिन कहिल नारद–शुनह पर्वते। आमार एक शिष्य आछे, चलह देखिते ॥१९०॥
तबे दुइ ऋषि आइला सेइ व्याध–स्थाने। दूरे हैते व्याध पाइल गुरुर दर्शने ॥१९१॥
आस्तेव्यस्ते धाञा आइसे–पथ नाहि पाय। पथे पिपोलिका इतिउति धरे पाय ॥१९२॥
दण्डवत्–स्थाने पिपीलिकारे देखिया। वस्त्रे स्थान छाड़ि पड़े दण्डवत् हञा ॥१९३॥
नारद कहे-व्याध एइ ना हय आश्चर्य। हरिभक्त्ये हिंसाशून्य हय साधुवर्य्य ॥१९४॥

एक-एक दिन में दश-बीस व्यक्ति अन्न-भोजन लाकर देने लगे, किन्तु व्याध उतना ही अन्न ग्रहण कर लेता, जितने में उन दोनों स्त्री-पुरुषों का निर्वाह हो जाता। एक दिन श्रीनारदजी ने पर्वत-नामक ऋषि से कहा—"पर्वत ! चलो अपने एक शिष्य को देख आवें।" इतना कहकर दोनों ऋषि वहाँ पहुञ्चे, जहां व्याध निवास कर रहा था। दूर से ही व्याध ने अपने श्रीगुरु देव के दर्शन किये और अतिशीघ्र दौड़ता हुआ उनके पास आने लगा, किन्तु उसे मार्ग ही न मिलता था। रास्ते में पिपीलिका-कीड़ा आदि जीवों को देखकर वह एक पांव कहीं और दूसरा पांव कहीं धर रहा था। श्रीनारदजी के पास भी पहुँच कर व्याध ने पृथ्वी पर पिपीलकाओं को अपने वस्त्र से पहले झाड़ दिया, तभी पृथ्वी पर दण्डवत् प्रणाम की। व्याध का यह आचरण देखकर श्रीनारदजी ने कहा—"व्याध ! तुम जो ऐसा कर रहे हो, कोई नई बात नहीं है। हरिभक्ति के प्रभाव से व्यक्ति हिंसाशून्य होकर साधुपुरुषों का भी पूज्य बन जाता है ॥१८९-१९४॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-२-१२८) स्कान्द वचनम्—

एते न ह्यद्भुता व्याध तवाहिंसादयो गुणाः ।
हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः ॥८३॥

श्रीनारदजी ने अपने शिष्य व्याध को कहा—"हे व्याध ! तुम्हारे में इस प्रकार अहिंसादि गुणों का उदय हो आना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, कारण कि जो हरिभक्ति में प्रवृत्त होते हैं, वे दूसरों को दुख देने की कभी इच्छा भी नहीं करते ॥८३॥

तबे सेइ व्याध दोंहा अङ्गने आनिल । कुशासन आनि दोंहा भक्त्ये वसाइल ॥१९५॥
जल आनि भक्त्ये दोंहार पाद प्रक्षालिल । सेइ जले स्त्री-पुरुषे पिया शिरे निल ॥१९६॥
कम्प पुलकाश्रु हय कृष्णगुण गाञा । ऊर्द्ध्वबाहु नृत्य करे वस्त्र उड़ाइया ॥१९७॥
देखिया व्याधेर प्रेम पर्वत महामुनि । नारदेरे कहे—तुमि हश्रो स्पर्शमणि ॥१९८॥

तब वह व्याध दोनों ऋषियों को अपने आङ्गन में ले आया और कुशासन देकर दोनों को आदर पूर्वक बिठलाया । उस व्याध ने जल लाकर श्रद्धा से उन दोनों के चरण धोये । उनका चरणामृत लेकर व्याध एवं उसकी स्त्री ने पान किया और सिर पर धारण किया । ऐसा करते ही उस व्याध के शरीर में कम्प, पुलक-अश्रु आदि सात्त्विक विकार होने लगे और वह दोनों हाथों को उठाकर नृत्य करने लगा । उस व्याध की प्रेमावस्था को देखकर पर्वत-ऋषि श्रीनारदजी से कहने लगे—"नारदजी ! आप तो पारस-मणि सदृश हो"॥१९५-१९८॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१-३-१०) स्कान्दवचनम्—

अहो धन्योऽसि देवर्षे कृपया यस्य तत्क्षणात् ।
नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धको रतिमच्युते ॥८४॥

पर्वत-मुनि ने कहा—"हे देवर्षि ! आप धन्य हो, क्योंकि अति नीच जाति व्याध ने भी आपकी कृपा प्राप्त करते ही पुलक-कम्पादि सात्त्विक विकार युक्त होकर श्रीकृष्ण की रति को प्राप्त कर लिया है ।

नारद कहे—वैष्णव ! तोमार अन्न किछु आये । व्याध कहे—यारे पाठाओ सेइ दिया याये ॥
एत अन्न ना पाठाओ किछु कार्य नाञि । सबे दुइजनार योग्य भक्ष्यमात्र चाइ ॥२००॥
नारद कहे—ऐछे रह तुमि भाग्यवान् । एत बलि दुइजने कैला अन्तर्धान ॥२०१॥
एइ त कहिल तोमाय व्याधेर आख्यान । या शुनिले हय साधुसङ्ग-प्रभाव ज्ञान ॥२०२॥

फिर नारदजी ने पूछा—"हे वैष्णव ! तुम्हें अन्न भोजन कुछ प्राप्त हो रहा है कि नहीं ?" व्याध ने कहा—"जिसके हाथ आप भिजवाते हैं, वही मुझे दे जाता है ।" किन्तु आप इतना अधिक अन्न न भिजवाया करें, इतना हमारे काम नहीं लगता है, केवल हम दोनों का जितने अन्न से निर्वाह हो जाये । मैं तो उतना ही अन्न चाहता हूँ । श्रीनारदजी ने कहा—"तुम बड़े भाग्यवान् हो, अब इसी प्रकार अपने जीवन का निर्वाह करो ।" इतना कहकर दोनों मुनि वहां से चल दिये । कविराज गोस्वामी कहते हैं इस प्रकार मैंने यहाँ व्याध की कथा कही है, जिसको साधु-सङ्ग से श्रीकृष्ण-भक्ति की प्राप्ति हुई एवं जो व्यक्ति इस कथा को सुनेगा, उसे भी साधु-सङ्ग की महिमा का ज्ञान प्राप्त हो जाएगा ॥१९९—२०२॥

एइ आर तिन अर्थ गणना ते पाइल । एइ दुइ मिलि छाब्बिश अर्थ हइल ॥२०३॥
आर अर्थ शुन, याहा अर्थेर भाण्डार । स्थूले दुइ अर्थ, सूक्ष्मे बत्रिश प्रकार ॥२०४॥
'आत्मा'–शब्दे कहे-सर्वविध भगवान् । एक स्वयं भगवान्, आर भगवानाख्यान ॥२०५॥
तांते येइ रमे, सेइ सब 'आत्माराम' । विधिभक्त, रागभक्त—दुइविध नाम ॥२०६॥

इस प्रकार पयार सं० १४७, १४८ एवं १५० में कहे गये तीन प्रकार के अर्थ जो प्राप्त होते हैं एवं पूर्वले १४२ संख्यक पयार में कहे हुए तेईस अर्थ—ये दोनों मिलकर कुल छब्बीस अर्थ होते है। 'आत्माराम' श्लोक का एक और अर्थ सुनिये, जो अर्थों का मानो भण्डार है। जिसमें स्थूलदृष्टि से अर्थात् साधारणतः दो अर्थ दीखते हैं किन्तु विशेषरूप से विचार करने पर इस अर्थ में बत्तीस प्रकार के अर्थ हैं। 'आत्मा' शब्द का एक अर्थ 'भगवान्' है। भगवान् के अन्तर्गत सब प्रकार के भगवत्-स्वरूप आ जाते हैं। एक तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं एवं दूसरे अन्यान्य भगवत्-स्वरूप हैं जिनकी भगवत्ता तो स्वयं भगवान् की भगवत्ता पर निर्भर करती है—किन्तु उनका भी नाम "भगवान्" कहा जाता है। उन भगवान् में जो रमण करते हैं—उन्हें 'आत्माराम' कहा जाता है। ऐसे आत्माराम अर्थात् भक्त दो प्रकार के हैं—एक, विधि-भक्त एवं दूसरे राग-भक्त ॥२०३—२०६॥

दुइविध भक्त हय–चारि चारि प्रकार–। पारिषद, साधन सिद्ध, साधकगण आर ॥२०७॥
जाताजातरतिभेदे साधक दुइ भेद । विधि–रागमार्गे चारि–चारि–अष्टभेद ॥२०८॥
विधिभक्त्ये नित्यसिद्ध 'पारिषद'–दास । सखा, गुरु, कान्तागण--चारि त प्रकाश ॥२०९॥
'साधनसिद्ध'–दास,सखा, गुरु, कान्तागण । उत्पन्नरति साधक-भक्त चारिविध जन ॥२१०॥
'अजातरति साधक'–भक्त ए चारि प्रकार । विधिमार्गे भक्त षोड़श भेद प्रचार ॥२११॥
राग मार्गे ऐछे भक्त षोड़श--विभेद । दुइ मार्गे 'आत्माराम' बत्रिश विभेद ॥२१२॥
'मुनि, निर्ग्रन्थ, च, अपि' चारि शब्देर अर्थ । याहां येइ लागे, ताहां करिये समर्थ ॥२१३॥
बत्रिशे छाब्बिशे मेलि अष्टपञ्चाश । आर एक भेद शुन अर्थेर प्रकाश ॥२१४॥

विधि-भक्त, राग-भक्त–ये दोनों प्रकार के भक्त चार-चार प्रकार के हैं :-पार्षद, साधनसिद्ध, जातरति-साधक तथा अजातरतिसाधक। इस प्रकार विधिभक्त चार प्रकार के और राग-भक्त चार प्रकार के मिलकर कुल आठ प्रकार के भक्त हुए। विधि-भक्ति के जो नित्य पार्षद हैं–वे फिर दास, सखा, माता-पिता गुरुजन तथा कान्तागण—ये चार प्रकार के हैं। विधिभक्ति के जो साधन-सिद्ध भक्त हैं—वे भी दास, सखा, माता-पिता तथा कान्तागण—चार प्रकार के हैं। जो जातरतिसाधक हैं, वे भी दासादि चार प्रकार के हैं और अजात-रति साधक भी दासादि चार प्रकार के हैं। इस प्रकार विधिमार्गके कुल सोलह प्रकार के भक्त हैं तथा इसी प्रकार फिर रागभक्ति के भी सोलह प्रकार के भक्त हैं—विधिभक्ति के सोलह भक्त और राग-भक्ति के सोलह भक्त मिलकर कुल बत्तीस प्रकार के भक्त या भगवान् में रमण करने वाले 'आत्माराम'-गण हैं। श्लोकस्थ 'मुनि', 'निर्ग्रन्थ', 'च' एवं 'अपि'—इन चारों शब्दों के जहाँ जैसे युक्त हैं, लगा लेने चाहिये। इस प्रकार बत्तीस प्रकार के भक्त या आत्मारामगणों के साथ—आत्माराम-श्लोक के बत्तीस अर्थ निकलते हैं—और पहले कहे गये छब्बीस अर्थ मिलकर कुल अट्ठावन अर्थ यहां तक निष्पन्न होते हैं। अब एक प्रकार का और अर्थ सुनिये ॥२०७—२१४॥

चै० च० चु० *टीका* :—ऊपर के पयारों में दो प्रकार के भक्त कहे गये हैं—१. **विधिभक्त—जो** विधिमार्ग से अथवा शास्त्रदण्ड-भय से भगवान् का भजन करते हैं वे 'विधिभक्त' हैं। २. **रागभक्त—जो** रागानुगीय मार्ग से अर्थात् श्रीकृष्ण के अनुरागवश भजन करते हैं—वे 'रागभक्त' हैं। ये दोनों प्रकार के भक्त चार-चार प्रकार के हैं;—**'पारिषद', 'साधनसिद्ध', 'जातरति साधक'** तथा **'अजातरतिसाधक'**। भगवान् के जो नित्यसिद्ध परिकर हैं—उन्हें **'पारिषद'** या **'पार्षद'** कहते हैं। जो साधन करके सिद्ध होकर परिकरत्व को प्राप्त करते हैं—उन्हें **'साधनसिद्ध'** कहते हैं। साधन करते-करते जिनके हृदय में रति या प्रेमाङ्कुर उत्पन्न होचुका है—उन्हें **'जातरति साधक'** कहा जाता है तथा जो साधक साधन कर रहे हैं, किन्तु अभी तक जिन्हें रति प्राप्त नहीं हुई—उन्हें **'अजातरति साधक'** कहते हैं। ये चारों प्रकार के विधि-भक्त दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भावोपासना भेद से चार-चार प्रकार के हैं:—

विधि-भक्ति के नित्यसिद्ध पार्षदगणों में **नित्यसिद्ध दास हैं**—श्रीहनुमानादि-श्रीजय-विजयादि ; **नित्यसिद्ध सखा हैं**—श्रीविभीषण-सुग्रीवादि ; **नित्यसिद्ध गुरूवर्ग-मातापिता हैं**—श्रीकौशल्या-दशरथादि ; एवं **नित्यसिद्ध-कान्तादि हैं**—श्रीलक्ष्मी-आदि, श्रीसीताजी आदि।

इसी प्रकार साधनसिद्ध भक्तों में, जातरति एवं अजातरति साधकों में भी चार-चार प्रकार के दास्य-सख्यादि भावों के परिकर हैं। रागभक्तों के भी इस प्रकार प्रकार-भेद जानने चाहिये—ये सब मिलकर कुल बत्तीस होते हैं। इन बत्तीस प्रकार के भक्तों या आत्मागण के साथ श्लोक का बत्तीस प्रकार का अर्थ निकलता है। दृष्टान्त के रूप में केवल एक भक्त का योग करके नीचे एक अर्थ प्रकाशित करते हैं। पाठकगण अन्यान्य भक्तों के योग से शेष के इकत्तीस अर्थ लगा लेवें :—

(२७) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमयगुण हैं, कि जो विधिभक्ति के दास्यभावयुक्त **नित्य पार्षदगण** हैं—वे (आत्मारामगण) भी अविद्या ग्रन्थिहीन होकर एवं मननशील होकर भी श्रीकृष्ण का भजन किया करते हैं।

इस प्रकार अन्यान्य ३१ प्रकार के भक्तों के योग से श्लोक के ३१ प्रकार के अर्थ जानने चाहियें। यहाँ तक कुल ५८ अर्थों का उल्लेख किया जा चुका है। अगले पयारों में 'आत्माराम'-श्लोक का उनसठवाँ (५९ वाँ) अर्थ करते हैं :—

इतरेतर 'च' दिया समास करिये। आठान्नवार 'आत्माराम' नाम लइये ॥२१५॥
'आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च' आठान्नवार। शेषे सब लोप करि, राखि एकवार ॥२१६॥

'च' शब्द का इतरेतर समास सम्बन्धि अर्थ करने से जो अट्ठावन प्रकार के अर्थ 'आत्माराम'-शब्द के किये जा चुके हैं—उन अट्ठावन बार—'आत्मारामाश्च' 'आत्मारामाश्च' में से सत्तावन बार आत्मारामाः शब्द लोप हो जाएंगे और शेष में एक बार ही 'आत्मारामाः' शब्द लिया गया है। (इतरेतर —समास १०० संख्यक पयार की टीकान्तर्गत पृष्ठ ७४७ पर द्रष्टव्य है) इस बात को पुष्ट करने के लिये पाणिनिः व्याकरण का प्रमाण उद्धृत करते हैं:—

तथाहि पाणिनिः (१—२—६४)—सिद्धान्तकौमुद्याम् अजन्तपुल्लिङ्ग शब्द प्रकरणेः—

" सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ "
उक्तार्थानामप्रयोग इति ॥ ८५ ॥

अर्थ पृष्ठ ७४७ पर द्रष्टव्य है ॥ ८५ ॥

अठान्न च—कारेर सब लोप हय ।
एक 'आत्माराम'-शब्द आठान्न अर्थकय ॥ २१७ ॥

अट्ठावन बार 'आत्मारामाः'—शब्द का इतरेतर समास करने से 'च'-कार शब्द का भी लोप हो जाएगा । केवल एक बार ही 'आत्मारामाः'—रह जायेगा, जो अट्ठावन प्रकार के आत्मारामगणों को सूचित करता है ॥ २१७ ॥

तथाहि पाणिनिः (१-२-६४)—सिद्धान्तकौमुद्याम् अजन्तपुलिङ्गशब्द प्रकरणे :—

अश्वत्थवृक्षाश्च वटवृक्षाश्च कपित्थवृक्षाश्च आम्रवृक्षाश्च—वृक्षाः ॥८६॥

दृष्टान्त द्वारा उपर्युक्त बात को स्पष्ट करते हैं—अश्वत्थवृक्षाः वटवृक्षाः कपित्थवृक्षाः आम्रवृक्षाः—इन शब्दों को इतरेतर-समास में आबद्ध करने से, समास निष्पन्न पद होगा—"वृक्षाः"; अश्वत्थ, बट, आदि शब्दों का लोप हो जायेगा । ऐसा व्याकरण का नियम है ॥८६॥ (इसी नियमानुसार अट्ठावन प्रकार के आत्माराम-शब्दों में सतावन प्रकार के आत्माराम शब्द लुप्त होकर केवल एक शब्द "आत्मारामाः" रह गया है । और एक दृष्टान्त द्वारा इस अर्थ का समर्थन करते हैं)—

'अस्मिन् बने वृक्षाः फलन्ति' यैछे हय । तैछे सब 'आत्माराम' कृष्णे भक्ति करय ॥२१८॥
'आत्मारामाश्च' समुच्चये कहिये 'च'-कार । 'मुनयश्च' भक्ति करे-एइ अर्थ तार ॥२१९॥
'निर्ग्रन्था एव हञा 'अपि'-निर्द्धारणे । एइ ऊनषष्टि अर्थ करिल व्याखाने ॥२२०॥

'अस्मिन बने वृक्षाः फलन्ति'—अर्थात् इस वन में वृक्ष फलते हैं—"इस वाक्य में 'वृक्षाः' या 'वृक्ष' से सब प्रकार के वृक्षों से तात्पर्य है जो फल लगने के उपयोगी हैं । इस प्रकार 'आत्मारामाः' य आत्मारामगण से सब प्रकार-अट्ठावन प्रकार आत्मारामगणों का अर्थ निकलता है, जो सभी श्रीकृष्ण-भक्ति करते हैं । 'च'-शब्द का अर्थ यहाँ समुच्चय में लिया गया है । अर्थात् अट्ठावन प्रकार के आत्माराम का अर्थ पृथक्-पृथक् रूप में योग करके नहीं लेना है; किन्तु अट्ठावन प्रकार के आत्मारामगणों को एक ही श्रेणी में रखकर श्लोक का अर्थ करना है । मुनयः-शब्द का योग आत्माराम-शब्द से है—अट्ठावन प्रकार के आत्मारामगण एवं मुनिगण—इस प्रकार अर्थ होगा । 'अपि'-शब्द का अर्थ यहाँ 'ही' किया गया है—इस प्रकार श्लोक का उनसठवां अर्थ निष्पन्न होता है । (जो निम्नलिखित है—)

(५९) (पूर्वोक्त अट्ठावन प्रकार के) आत्मारामगण एवं मुनिगण निर्ग्रन्थ होकर भी उरुक्रम—श्रीकृष्णचन्द्र की अहैतुकी भक्ति करते हैं—ऐसे परमाश्चर्यमयगुण श्रीहरि के हैं ।

सर्वसमुच्चये आर एक अर्थ हय— । आत्मारामाश्च मुनयश्च निर्ग्रन्थाश्च भजय ॥२२१॥
'अपि'-शब्द अवधारणे सेहो चारिवार । चारिशब्द सङ्गे 'एवेर करिवे उच्चार ॥२२२॥

(आत्मारामाश्च-श्लोक का साठवां अर्थ करते हैं—) 'च'—शब्द का समुच्चय अर्थ करके आत्मारामाः, मुनयः एवं निर्ग्रन्थाः—इन तीनों प्रथमा विभक्तियुक्त शब्दों को ('च'-शब्द द्वारा) संयुक्त करके अर्थ करते हैं—अर्थात् आत्मारामगण, मुनिगण एवं निर्ग्रन्थगण—ये सब श्रीकृष्ण-भजन करते हैं । 'अपि'-शब्द का अर्थ यहां 'अवधारण' या निश्चय अर्थात् 'एक' किया गया है और उसे चार बार ग्रहण करना होगा और 'उरुक्रमे', 'भक्तिम्', 'अहैतुकीम्', एवं 'कुर्वन्ति'—इन चारों शब्दों के साथ एवं (अपि) शब्द का योग करना होगा ॥२२२॥ जैसे कि श्रीप्रभुपाद ने व्याख्या की है—

तथाहि श्रीप्रभुपादोक्त-व्याख्या—

उरुक्रमे एव, भक्तिमेव अहैतुकीमेव, कुर्वन्त्येव ॥८७॥

'एव' शब्द का चार शब्दों के साथ योग करने से—चारों शब्दों का यह रूप होगा :—उरुक्रमेव, भक्तिमेव, अहैतुकीमेव एवं कुर्वन्त्येव ॥८७॥

चै० च० चु० *टीका* :—उपर्युक्त चारों शब्दों का तात्पर्य निम्नप्रकार से होगा:—

(१) **उरुक्रमे एव**—उरुक्रम अर्थात् **श्रीकृष्ण की ही** भक्ति करते हैं—और किसी भगवत्-स्वरूप की नहीं। 'एव'-शब्द यहाँ भजनीय वस्तु को निश्चितरूप से दिखा रहा है।

(२) **भक्तिमेव**—श्रीकृष्ण में **भक्ति ही** करते हैं, योग-ज्ञान आदि द्वारा उनकी उपासना नहीं करते हैं। 'एव'-शब्द यहाँ साधन-पन्थ को निश्चित रूप में प्रकाशित करता है।

(३) **अहैतुकीमेव**—श्रीकृष्ण में जो भक्ति की जाये, वह **अहैतुकी ही** होनी चाहिये। 'एव'-शब्द यहाँ शुद्धाभक्ति को निश्चित कर रहा हूँ।

(४) **कुर्वन्त्येव**—कुर्वन्ति-शब्द 'कृ'-धातु से परस्मैपदी से निष्पन्न होता है। 'एव'-शब्द 'कृ'-धातु एवं परस्मैपद—इन दोनों का निश्चयार्थ सूचित करता है। 'एव' के योग से 'कृ' धातु का अर्थ इस प्रकार होगा—वे श्रीकृष्ण की भक्ति **करते ही** हैं, भक्ति किये बिना वे रह ही नहीं सकते। और 'एव' का योग होने से परस्मैपद का अर्थ होगा— वे जो भक्ति **करते ही** हैं, वे अपने लिये नहीं करते, श्रीकृष्ण के लिये, श्रीकृष्ण के प्रीति-विधान के निमित्त ही करते हैं।

सब स्थानों पर 'एव' (अपि) शब्द का निश्चतार्थ होने से श्रीहरि के गुणों की महिमा प्रगट करता है, अर्थात् श्रीकृष्ण के गुणों में इतनी आकर्षणी शक्ति है कि आत्मारामादिक अन्य स्वरूपों की उपासना छोड़ कर श्रीकृष्ण की भक्ति ही, वह भी श्रीकृष्ण-सुखैक तात्पर्यमय भक्ति ही करने लगते हैं—

इस रूप में 'आत्मारामाश्च'-श्लोक का अन्वय एवं अर्थ निम्न प्रकार से होगा:—

अन्वय:—**आत्मारामाः (च) मुनयः (च) निर्ग्रन्थाः च उरुक्रमे अपि (एव) अहैतुकीमपि (एव) भक्तिमपि (एव) कुर्वन्ति अपि (एव)—हरिः इत्थम्भूतगुणः।**

(६०) श्रीहरि में ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि, क्या आत्मारामगण, क्या मुनिगण, क्या निर्ग्रन्थ व्यक्तिगण—सब श्रीकृष्ण की ही अहैतुकी भक्ति ही करते ही रहते हैं।

एइ त कहिल श्लोकेर षाटिसंख्या अर्थ। आर एक अर्थ शुन, प्रमाणे समर्थ ॥२२३॥

'आत्मा' शब्दे कहे—क्षेत्रज्ञ जीवलक्षण। ब्रह्मादि कीटपर्य्यन्त तार शक्तिते गणन।२२४॥

यहाँ तक आत्माराम श्लोक के साठ अर्थ कहे हैं, अब और एक अर्थ सुनिये। 'आत्मा'-शब्द का अर्थ है-क्षेत्रज्ञ-जीव। श्रीब्रह्माजी से लेकर एक कीट पर्य्यन्त जितने भी जीव हैं-उन सबकी (श्रीकृष्ण की) जीवशक्ति में गणना है ॥२२३—२२४॥ (समस्त जीव श्रीकृष्ण की जीव शक्ति के अंश हैं—इसका प्रमाण निम्नलिखित श्लोक में देते हैं हैं):—

तथाहि विष्णुपुराणे (६-७-६१)—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्याकर्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥८८॥

भगवान् श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण की) तीन शक्तियाँ हैं, एक का नाम परा (स्वरूप) शक्ति है, और दूसरी शक्ति का नाम क्षेत्रज्ञा है अर्थात् जीवशक्ति या तटस्था शक्ति है; एवं तीसरी शक्ति अविद्या कर्म संज्ञा अर्थात् माया-शक्ति है ॥८८॥ (आत्मा-शब्द का अर्थ जीव या क्षेत्रज्ञ है—इस बात का प्रमाण देते हैं) ।

तथा च अमरकोशे स्वर्गवर्गे (७)—

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः ॥८९॥

आत्मा-शब्द का अर्थ है—क्षेत्रज्ञ, जीव एवं पुरुष ॥८९॥

भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु-सङ्ग पाय । सभे सब त्याजि तबे कृष्णेरे भजय ॥२२५॥
षाटि अर्थ कहिल—ये कृष्णेर भजन । सेइ अर्थ हय सब अर्थेर उदाहरण ॥२२६॥
एक षष्टि अर्थ एबे स्फुरिल तोमार सङ्गे । तोमार भक्तिबले उठे अर्थेर तरङ्गे ॥२२७॥

आत्मारामगण अर्थात् जीव अनेक योनियों में भ्रमण करते-करते यदि किसी सौभाग्यवश किसी महत्-पुरुष के सङ्ग को प्राप्त करते हैं, तभी वे सब कुछ त्याग कर श्रीकृष्ण का भजन करने लगते हैं । साठ प्रकार के जितने आत्मारामगण हैं—वे समस्त जीव शक्ति के अन्तर्भुक्त हैं—वे सब श्रीकृष्ण का भजन करते हैं । श्लोक के पदों के और सब अर्थ पूर्ववत् होंगे । श्रीमहाप्रभु ने कहा—"सनातन ! यह इकसठवां अर्थ तो तुम्हारे सङ्ग से मुझे स्फुरित हुआ है । तुम्हारे भक्ति-प्रभाव से आत्माराम श्लोक के अर्थों की तरङ्गे मेरे हृदय में उठ रही हैं ॥२२५—२२७॥

चै० च० चु० *टीका*:—आत्मा-शब्द का अर्थ जीव करने से श्लोक का अन्वय एवं अर्थ इस प्रकार होंगे :—

अन्वयः—**आत्मारामाः** (ब्रह्मादिकीटान्तजीवाः) **अपि निर्ग्रन्थाः मुनय च** (सन्तुः) **उरुक्रमे अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति, इत्थम्भूत गुणोहरिः ॥**

(६१) श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमयगण हैं कि ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त समस्त जीवगण भी, निर्ग्रन्थ भी मननशील होकर भी श्रीकृष्णकी अहैतुकी भक्ति करते हैं । यहाँ तक श्रीमन्महाप्रभु ने—"आत्माराम"-श्लोक के इकसठ अर्थ वर्णन किये हैं । प्रत्येक अर्थ का तात्पर्य यही है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के गुणों में आकर्षणी शक्ति की पराकाष्ठा है और उन गुणों में आकर्षण केवलमात्र श्रीकृष्ण-कृपा या किसी श्रीकृष्ण-भक्त की कृपा से सम्भव-पर है अर्थात् यदि श्रीभगवान् या भक्त की कृपा प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त हो जाए तभी श्रीकृष्ण-गुणों का श्रवण एवं वास्तविक अनुभव एवं मनन प्राप्त हो सकता है जिनके परमाश्चर्य प्रभाव से वह व्यक्ति ज्ञानी, योगी, मुक्त, साधक सिद्ध, मुमुक्षु, नीच इत्यादि कोई भी क्यों न हो, यहां तक पशु-पक्षी, स्थावर गुल्म-लता समस्त ही उनके गुणों में खिचे चले आते हैं और समस्त प्रकार के असद् पदार्थों, इहलोक-परलोक के सुखों, पाञ्च प्रकार की मुक्तियों ऋद्धियों-सिद्धियों एवं भक्ति व्यतीत अन्यान्य समस्त साधनों को त्यागकर आनन्दकन्द श्रीव्रजेन्द्रनन्द श्रीकृष्णचन्द्र की स्वसुखवासना-गन्धलेशशून्य शुद्धाभक्ति ही करने लगते हैं और उसके किये बिना वे रह ही नहीं सकते ।

श्रीमन्महाप्रभुजी ने कहा—सनातन ! तुम्हारी भक्ति के प्रभाव से मुझमें इस प्रकार के अर्थों की स्फूर्ती हुई या हो रही है," ऐसा कहना तो उनकी लीला-मात्र है, वे सदा अपने को गोपन करते आए हैं, एवं भक्तों को बड़ाई देना श्रीभगवान् का तो स्वभाव ही है । तात्पर्य यह है कि शास्त्रों के वचनों का

रहस्य भगवत्-कृपा या उनकी भक्ति की कृपा अथवा भक्तजनों की कृपाप्राप्ति के बिना समझा नहीं जा सकता। विशेषत: श्रीमद्भागवत पुराण शिरोमणि के वचनों का आशय तो भक्ति-कृपा के बिना जानना असम्भव ही है। इस बात का समर्थन निम्नलिखित श्लोक से करते हैं:—

तथाहि प्राचीन श्लोक:—

भक्त्या भागवतं ग्राह्यं न बुद्धया न च टीकया ॥६०॥

श्रीमद्भागवत जी के अर्थ केवल भक्तिद्वारा ही बोधगम्य हो सकते हैं, बुद्धि और टीका द्वारा इसके अर्थ नहीं समझे जा सकते ॥६०॥

अर्थ शुनि सनातन विस्मित हइया। महाप्रभुरे स्तुति करे चरणे धरिया —॥२२८॥
साक्षात् ईश्वर तुमि ब्रजेन्द्रनन्दन। तोमार निश्वास सब वेद प्रवर्त्तन ॥२२९॥
तुमि वक्ता भागवतेर तुमि जान अर्थ। तोमा बिना अन्य जानिते नाहिक समर्थ ॥२३०॥
प्रभु कहे—केने कर आमार स्तवन। भागवतेर स्वरूप केने ना कर विचारण? ॥२३१॥
कृष्ण तुल्य भागवत- विभु सर्वाश्रय। प्रति श्लोके प्रत्यक्षरे नाना अर्थ कय ॥२३२॥
प्रश्नोत्तरे भागवते करियाछे निर्द्धार। याहार श्रवणे लोके लागे चमत्कार ॥२३३॥

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु जी से आत्माराम श्लोक के अर्थ सुनकर श्रीसनातन गोस्वामी विस्मित हो उठे और श्रीमहाप्रभु के चरण पकड़ कर उनकी स्तुति करने लगे—"प्रभो! आप तो साक्षात् ईश्वर स्वयं भगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन हो। आपके निश्वासों से चारों वेदों की उत्पत्ति हुई है। अत: वेदार्थरूप श्रीमद्भागवत के वक्ता आप ही हो एवं आपही उसके वास्तविक अर्थ को जानने वाले हैं। आपकी कृपा के बिना और किसी की भी उसे जानने की समर्थ नहीं हैं।" श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"सनातन! तुम मेरी स्तुति किस हेतु कर रहे हो? श्रीमद्भागवतजी के स्वरूप का तो ज़रा विचार करो।" श्रीमद्भागवत जी तो श्रीकृष्ण के तुल्य हैं। वह श्रीभागवत जी श्रीकृष्ण के समान विभु एवं सर्वाश्रय हैं। उनके प्रति श्लोक के, यहाँ तक कि प्रति अक्षर के अनेक प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं। श्रीशौनकादि ऋषिगणों के प्रश्नों एवं श्रीसूत जी के उत्तरों में श्रीभागवत् का प्राकट्य हुआ है। इनके सुनने से सब लोग चमत्कृत हो उठते हैं ॥२२८—२३३॥

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीमन्महाप्रभु जी के श्रीमुख से "आत्मारामश्च" श्लोक के इस प्रकार अनेक विचित्र अर्थ सुनकर श्रीसनातन गोस्वामी पाद चमत्कृत् हो उठे एवं श्रीमहाप्रभु जी की स्तुति करने लगे—"हे प्रभो! आप साक्षात् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन हो, आप ही वेदार्थरूप श्रीमद्भागवतजी के वक्ता हो"—इत्यादि। इसी समय श्रीसनातन गोस्वामी जी के हृदय में "आत्मारामाश्च"—श्लोक का एक और अर्थ श्रीमहाप्रभु-कृपा से, स्फुरित हो उठा, जिसे स्वयं श्रीमहाप्रभु जी ने व्यक्त न किया वे स्वयं व्यक्त करते भी कैसे?—वह था उनके अपने सम्बन्ध में। वे तो सदा अपने को गोपन ही करते आए हैं वह अर्थ इस प्रकार है—

स्कन्ध पुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवत माहात्म्य में कहा गया है—"**आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।** (२—११) तथा "**आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ आत्माराम—इति प्राज्ञै-रुच्यते गूढ़ वेदिभि:** (विशुद्धरसदीपिका १०-२९-४२)।" अर्थात् श्रीराधिका जी आत्माराम श्रीकृष्ण की निश्चितरूप से अथवा नित्य आत्मा हैं। तथा आत्मारूप श्रीराधिका जी से रमण करने से गूढ़तत्त्ववेता

प्राज्ञ व्यक्ति श्रीकृष्ण को "आत्माराम" कहकर वर्णन करते हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि आत्माराम-शब्द का एक अर्थ है—श्रीकृष्ण ! आत्मा अर्थात् श्रीराधिका जी से अभिन्न उनकी काय व्यूह स्वरूप अनन्त ब्रजसुन्दरियों से अनन्त रूपों से रमण करने वाले श्रीकृष्ण के लिये "आत्मारामश्च" बहु वचन भी प्रयुक्त किया जा सकता है। अब "आत्माराम"—शब्द का अर्थ "श्रीकृष्ण" करने से 'आत्मारामाश्च"—श्लोक का एक अर्थ इस प्रकार होता है—

श्रीकृष्ण मननशील होकर अथवा मुनिजन-उचित आश्रम व आचरण अर्थात् सन्यास ग्रहण करके अविद्याग्रन्थि रहित होकर भी अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप होकर भी अथवा वेद-शास्त्र-विधि से सर्वथा अतीत होकर भी अथवा (विरहावस्था में) हस्त-पादादि अवयवों की ग्रन्थि रहित होकर भी उरुक्रम भगवान् श्रीहरि की अहैतुकी भक्ति अर्थात् प्रेमाभक्ति करते हैं।

वस्तुत: देखा जाये तो श्रीहरि के गुणों की इससे अधिक परमाकर्षकता व परमाश्चर्यमयता और क्या होगी कि जब स्वयं श्रीहरि ही अपने गुणों में आकृष्ट होकर अपनी भक्ति आप करने लग जाते हैं। स्वयं भगवान् ही भक्त बन जाते हैं। श्रीभगवान् का वह अपूर्वस्वरूप रूप है—श्रीकृष्णचैतन्यस्वरूप। इस स्वरूप में स्वयं श्रीकृष्ण ही अपने नाम-लीला माधुर्यादि गुणों में आकृष्ट होकर अपनी प्रेमाभक्ति रस का आस्वादन व आचरण करते हैं। उन्होंने मुनि जन उचित सन्यासाश्रम को ग्रहण किया है एवं वेद-शास्त्रविधि से सर्वथा अतीत होकर भक्ति का आचरण एवं उपदेश दिया है। जब वे श्रीराधा-भावावेश में श्रीकृष्ण-विरह में व्याकुल हो उठते तो उनके हस्त-पादादि अवयवों की अस्थि-ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती—वे निर्ग्रन्थि हो जाते। (अन्त्य-लीला १४-६१ पयार द्रष्टव्य है)। इस प्रकार श्रीहरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि स्वयं श्रीहरि भी श्रीकृष्ण चैतन्यरूप में अपनी प्रेमाभक्ति का आप आचरण करते हैं।

इस प्रकार का चमत्कारी अर्थ जब श्रीसनातन गोस्वामी जी के हृदय में स्फुरित हुआ तो वे उसे प्रभु के आगे व्यक्त ही करना चाहते थे कि प्रभु ने झट कह दिया "सनातन ! तुम मेरी स्तुति क्यों करने लगे हो ? मेरे स्वरूप के चिन्तन में क्यों पड़ गये हो ? तुम श्रीमद्भागवतजी का स्वरूप विचार करो न।" इस प्रकार प्रभु ने तो उस बात को घुमा दिया। परन्तु श्रीसनातन पाद के हृदय को स्फूर्ति गुप्त न रह सकी। श्रीगौरचरणानुरागी महत् पुरुषों ने उसे जान ही लिया एवं संसार में उसे व्यक्त कर ही दिया।

श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीमद्भागवत जी को श्रीकृष्ण तुल्य कह कर वर्णन किया है, कारण कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अप्रकट हो जाने पर समस्त धर्मों ने श्रीमद्भागवत जी का आश्रय ग्रहण कर लिया एवं वह श्रीकृष्ण के समान श्रीकृष्ण के प्रतिबिम्ब रूप से जीव का मङ्गल विधान करने वाली बन गईं। अत: प्रभु ने श्रीमद्भागवत जी को श्रीकृष्ण-तुल्य कहा। इस बात के प्रमाण में निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत करते हैं—

तथाहि शौनकप्रश्नः (भा: १—१—२३)

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ? ॥६१॥

श्रीशौनकादि ऋषियों ने पूछा था—"हे सूत जी ! योगेश्वर ब्रह्मण्यदेव एवं धर्म रक्षक श्रीकृष्ण जब अपने (अप्रकट) धाम को पधार गये, तब धर्म किस की शरणागत हुआ, यह आप मुझ से कहिये ॥६१॥

तथाहि सूतोत्तरम् (१—३—४५)

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥ ६२ ॥

श्रीशौनकादिकों का प्रश्न सुनकर श्रीसूतजी ने कहा—हे शौनकादि ऋषियो ! भगवद्धर्म एवं भगवत्-ज्ञानादि के साथ श्रीकृष्ण जब अपने नित्यलीलास्थान पर चले गये, तब कलियुग में धर्म एवं ज्ञान तथा विवेकशून्य जीवों के लिये यह श्रीमद्भागवतरूप पुराण-सूर्य उदित हुआ ॥ ६२ ॥

चै० च० चु० *टीका* :—तात्पर्य यह है कि जब तक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट रहे, वे सबको धर्म एवं ज्ञान की शिक्षा प्रदान करते रहे, किन्तु जब वे अपने नित्य अप्रकट धाम को पधार गये, तब धर्म एवं ज्ञान की शिक्षा देने के लिये श्रीमद्भागवतपुराणरूप सूर्य उदित हुआ, जो जीवों के सर्वविध अज्ञान-अन्धकार को मिटा देने में समर्थ है ।

एइ त करिल एक श्लोकेर व्याख्यान । 'वातुलेर प्रलाप' करि—के करे प्रमाण ? ॥२३४॥
आमा-हेन येवा केहो वातुल हय । एइदृष्टे भागवतेर अर्थ जानय ॥ २३५ ॥
पुन सनातन कहे जुड़ि दुइ करे— । प्रभु ! आज्ञा दिले वैष्णव-स्मृति करिबारे ॥ २३६ ॥
मुञि नीच जाति किछु ना जानों आचार । मो-हैते कैछे हय स्मृति परचार ? ॥ २३७ ॥
सूत्र करि दिशा यदि कर उपदेश । आपने करह यदि हृदये प्रवेश ॥ २३८ ॥
तबे तार दिशा स्फुरे मो-नीचेर हृदय । ईश्वर तुमि ये कराह, से-इ सिद्ध हय ॥ २३९ ॥

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—"सनातन ! मैंने तुम्हारे सामने इस प्रकार आत्माराम–श्लोक की व्याख्या की है । व्याख्या तो क्या, इसे एक पागल का प्रलाप ही समझो; इसको भला कौन मनन करेगा ? हाँ, यदि मुझ जैसा कोई पागल (प्रेमोन्मत्त) हो, तभी वह इस प्रकार की बुद्धि से श्रीमद्भागवतजी के अर्थों की व्याख्या कर पायेगा ।" श्रीसनातनपाद ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो ! आपने मुझे वैष्णव-स्मृति रचना करने की आज्ञा (२३ परिच्छेद-५५ पयार में) तो की है, किन्तु मैं तो नीच जाति हूँ, कुछ आचार-विचार नहीं जानता हूँ ; भला, मुझसे वैष्णव-स्मृति की रचना कैसे सम्भव हो सकती है ? हाँ, यदि आप उन विषयों का, जिनकी मुझे वैष्णव-स्मृति में आलोचना करनी हो, कुछ उपदेश दें या सूत्ररूप में उनका इङ्गित करें और उनको मेरे हृदय में यदि स्वयं आप प्रवेश करके स्फुरित करावें, तभी मुझ नीच के हृदय में वे विषय स्फुरित हो सकते हैं । कारण कि आप ईश्वर हैं, आप जो कराना चाहें, वही सिद्ध अर्थात सफल हो सकता है ॥ २३४—२३९ ॥

प्रभु कहे—ये करिते करिबे तुमि मन । कृष्ण सेइ-सेइ तोमा करावे स्फुरण ॥ २४० ॥
तथापि सूत्ररूप शुन दिग्दरशन । सर्वकारण लिखि आदौ गुरु-आश्रयण ॥ २४१ ॥
गुरुलक्षण, शिष्यलक्षण, दोंहार परीक्षण । सेव्य भगवान्, सब-मन्त्रविचारण ॥ २४२ ॥
मन्त्र अधिकारी, मन्त्रसिद्धादि-शोधन । दीक्षा, प्रातःस्मृति-कृत्य, शौच, आचमन ॥२४३॥
दन्तधावन, स्नान, सन्ध्यादिवन्दन । गुरुसेवा, ऊद्ध्वपुण्ड्र-चक्रादि-धारण ॥ २४४ ॥
गोपीचन्दन-माल्यधृति, तुलसी-आहरण । वस्त्र-पीठ-गृह-संस्कार, कृष्ण-प्रबोधन ॥ २४५ ॥

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"सनातन ! जिस विषय की तुम आलोचना करना चाहोगे, भगवान् श्रीकृष्ण ही उस विषय की स्फूर्त्ति तुम्हारे हृदय में करावेंगे। तथापि जिन-जिन विषयों की आलोचना तुम्हें करनी है, उनका सूत्ररूप से तुम्हें दिग्दर्शन कराता हूँ। इतना कहकर श्रीमहाप्रभुजी ने आलोच्य विषयों के नामों का उल्लेखमात्र किया। जिनका नाम हम उनके संक्षिप्त विवरण के साथ टीकान्तर्गत उद्धृत करते हैं—

चै० च० चु० *टीका* :—वैष्णव-स्मृति जिसका दूसरा नाम **श्रीश्रीहरिभक्ति-विलास** है—उसकी मानो सूची का ही इन पयारों में उल्लेख किया गया है। इन समस्त विषयों का विशेष एवं विस्तृत वर्णन श्रीश्रीहरिभक्ति-विलास में द्रष्टव्य है। श्रीमहाप्रभु ने कहा—सनातन ! सर्वप्रथम **गुरु-आश्रय-ग्रहण** के सम्बन्ध में आलोचना करना, क्योंकि गुरुपदाश्रय ग्रहण किये बिना भजन का आरम्भ ही नहीं हो सकता है। फिर **गुरुलक्षणों** का वर्णन करना अर्थात् जो गुरू शास्त्रज्ञ, आचारवान्, स्नेहशील, निर्मलचरित्र, श्रीकृष्णनिष्ठायुक्त, भजनविज्ञ, श्रीकृष्णानुभवसम्पन्न, निर्लोभ एवं संसार में अनासक्त हों, उनसे ही शिष्य को दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये। फिर **शिष्यलक्षणों** का उल्लेख करना अर्थात् विनीत, सत्यवादी, संयत, सदाचारी, देव-गुरु में श्रद्धावान् एवं शास्त्रादि में श्रद्धा रखने वाला ही शिष्य करने योग्य है। अनन्तर **गुरुशिष्य-परीक्षण** के सम्बन्ध में लिखना। अर्थात् गुरु एवं शिष्य एक दूसरे की एक वर्ष तक परीक्षा करें। गुरु के लक्षण यदि किसी में वर्तमान हैं, तो शिष्य को तभी उससे दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये और दूसरी ओर गुरु भी शिष्य की परीक्षा करें, यदि उसमें शिष्य के यथेष्ट लक्षण हैं, तभी उसको दीक्षा देकर शिष्यरूप में ग्रहण करें वरना नहीं।

श्रीमन्महाप्रभुजी ने आगे कहा—"सनातन ! **श्रीकृष्णभगवान् ही सेव्य हैं**। अर्थात् आगमादि शास्त्रों में अन्यान्य देवताओं का श्रेष्ठत्व चाहे वर्णन किया गया है, तथापि श्रीकृष्ण ही एकमात्र भजनीय-तत्त्व हैं।" (इस विषय की स्थापना करने के लिये श्रीमहाप्रभु ने गोस्वामीपाद को आदेश दिया) "सनातन ! फिर **मन्त्र-विचारण** अर्थात् मन्त्रों के सम्बन्ध में विचार करना। किस मन्त्र का क्या माहात्म्य या फल है उसका विचार करना। और **मन्त्र-अधिकारी** अर्थात् कौन व्यक्ति किस मन्त्र का अधिकारी है, इस विषय पर भी प्रकाश डालना। भजन करना जीव का कर्त्तव्य है, किन्तु मन्त्रव्यतीत भजन नहीं हो सकता। अतः मन्त्र-ग्रहण करना जीव का स्वरूप-अधिकार है। श्रीकृष्णभजन में ही सबका अधिकार है, कारण कि श्रीकृष्णभजन में जाति-कुलादि का कोई विचार नहीं है। अतः श्रीकृष्ण-मन्त्र के ही समस्त जीव स्वरूपतः अधिकारी हैं। फिर **मन्त्रसिद्धादि-शोधन** के सम्बन्ध में प्रकाश डालना, अर्थात् सिद्ध-साध्यादि मन्त्र प्रदान करते समय गुरुदेव को कुल, परकुल, बालत्व, प्रौढ़त्व, स्त्रीत्व, पुंसत्व, नपुंसकत्व, राशि-नक्षत्र मेलन, सुप्त-प्रबोधन काल व ऋण-धनादि का विचार करके ही शिष्य को मन्त्रदान करना चाहिये। सिद्ध-साध्यादि के भेद से शिष्य के पक्ष में मन्त्र किस प्रकार का फल देगा—इस बात का विचार करके ही गुरु को शिष्य के प्रति मन्त्रदान करना चाहिये।" (यह स्मरण रहे कि अन्यान्य मन्त्रों के सम्बन्ध में अधिकार-विचार है, सिद्ध-साध्यादि शोधन का प्रयोजन है किन्तु श्रीगोपालमन्त्र में अधिकारी का विचार नहीं है, सिद्ध-साध्यादि शोधन का भी प्रयोजन नहीं है।) सनातन ! **दीक्षा** के सम्बन्ध में भी आलोचना करना, अर्थात् गुरुदेव से किस प्रकार दीक्षा ग्रहण की जाती है, इस विषय पर प्रकाश डालना। इसके पश्चात् **प्रातः-स्मृतिकृत्य** अर्थात् प्रातःकाल का क्या कृत्य है उसका और प्रातःकाल के स्मरणीय स्तोत्रादि का विवरण कहना। फिर **शौच** अर्थात् मल-मूत्रत्याग के पश्चात् किस प्रकार हाथ-पादादि को धोना चाहिये—इस विषय को प्रकाशित करना। (मल-मूत्रादि त्याग के पश्चात् जल एवं मृतिका से

गुह्येन्द्रियों को तीन से सात बार तक धोना विधान है एवं इसी प्रकार हाथ-पाँवादि का भी मृतिका एवं जल से मल-मलकर धोने का आदेश है) तदनन्तर **आचमन** के विषय में प्रभु ने कहा। वैष्णवों के लिये चौबीस-अङ्ग आचमन करने का विधान है, जिसका उल्लेख ग्रन्थ-विस्तार भय से यहाँ नहीं कर रहे हैं (श्रीहरिभक्ति-विलास में द्रष्टव्य है ।) फिर श्रीमहाप्रभु ने **दन्तधावन, स्नान, सन्ध्यादि बन्दन** तथा **गुरु-सेवा** एवं **ऊर्ध्वपुण्ड्र,** चक्रधारणादि के सम्बन्ध में उल्लेख करने की आज्ञा की। फिर प्रभु ने **गोपीचन्दन-माल्यधृति** तथा **तुलसी आहरण** की बात कही; अर्थात् गोपीचन्दन का तिलक धारण करना एवं तुलसी की कण्ठी धारण करने के विषय को वर्णन करने के लिये कहा। तुलसीदलों को श्रीविग्रह-सेवा के निमित्त किस प्रकार चयन किया जाए, इसे स्पष्ट करने की आज्ञा की।

श्रीमूर्तिपूजा के लिये तुलसीदल लेने का विधान इस प्रकार है—सर्वप्रथम श्रीतुलसीजी को दण्ड-वत्–प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़कर निम्नलिखित मन्त्र-पाठ द्वारा भक्तिपूर्वक श्रीतुलसीजी के चरणों में अपने अपराध की क्षमा की प्रार्थना करनी चाहिये। फिर एक-एक पत्र चयन करना चाहिये। नख से पत्र का छेदन नहीं करना चाहिये। ऐसी रीति से पत्रों को चयन किया जाए कि किसी प्रकार तुलसी-द्रुम को आघात न पहुँचे। द्वादशी तिथि में तुलसीदल का चयन न करें, एक दिन पहले ही सेवा के निमित्त चयन करके रखें। तुलसीमन्त्र इस प्रकार है:—

तुलस्यामृत—नामासि सदा त्वं केशव-प्रिया।
केशवार्थं चिनोमि त्वां वरदा भव शोभने ॥ त्र ॥
त्वद्गात्रसम्भवपत्रैर्यथा पूजयामि हरिम्।
तथा कुरु पवित्राङ्गि कलौ मलविनाशिनि ॥ ज्ञ ॥

हे तुलसी! आपका अमृत के समान मधुर नाम है एवं आप सदा श्रीकेशव भगवान् को प्रिय हो। मैं उन श्रीकेशवभगवान् की पूजा के निमित्त आपका चयन करना चाहता हूँ। आप, हे सुन्दराङ्गि! मुझे अनुमति प्रदान कीजिये। आपके गात्रोत्पन्न पत्रों द्वारा मैं श्रीहरि की जिस प्रकार पूजा करना चाहता हूँ, हे पवित्राङ्गि! हे कलिमल–भञ्जनि! आप उसी प्रकार मेरी सहायता कीजिये।

तदनन्तर श्रीप्रभु ने **वस्त्र-पीठ-गृह-संस्कार** अर्थात् श्रीविग्रह के वस्त्र, आसन, मन्दिर के संस्कार—शुद्ध करने एवं सजाने के विषय में बताया। फिर प्रभु ने **कृष्ण-प्रबोधन** अर्थात् श्रीकृष्ण-विग्रह को निद्रा से जगाने के सम्बन्ध में कहा।

पञ्च-षोड़श-पञ्चाशत्-उपचारे अर्च्चन। पञ्चकाल पूजा, आरति, कृष्णेरभोजन शयन ॥२४६
श्रीमूर्तिलक्षण, शालग्रामेर लक्षण। कृष्णक्षेत्रे·यात्रा, कृष्णमूर्ति-दरशन ॥ २४७ ॥
नाममहिमा, नामापराध दूरे वर्ज्जन। वैष्णवलक्षण, सेवा-अपराध-खण्डन ॥ २४८ ॥
शङ्ख-जल-गन्ध-पुष्प धूपादिलक्षण। जप, स्तुति, परिक्रमा, दण्डवत्, वन्दन ॥ २४९ ॥
पुरश्चरणविधि, कृष्णप्रसादभोजन। अनिवेदित-त्याग, वैष्णव-निन्दादि-वर्ज्जन ॥ २५० ॥
साधुलक्षण, साधुसङ्ग, साधुर सेवन। असत्सङ्ग त्याग, श्रीभागवत-श्रवण ॥ २५१ ॥
दिनकृत्य, पक्षकृत्य, एकादश्यादि विवरण। मासकृत्य, जन्माष्टम्यादि विधि-विचारण ॥२५२

श्रीमन्महाप्रभुजी ने फिर निम्नलिखित समस्त विषयों पर आलोचना करने की श्रीसनातनपाद को आज्ञा दी। (उपर्युक्त समस्त विषयों का संक्षिप्त विवरण हम यहाँ टीकान्तर्गत उद्धृत करते हैं)।

चै० च० चु० टीका :—पञ्चोपचार—अर्चन, गन्ध, पुष्प, धूप–दीप एवं नैवेद्य—इन पाञ्च-उपचारों से भगवान् की पूजा करना।

षोड़शोपचार :—अर्चन, आसन, स्वागत, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क, पुनराचमनीय, स्नान, वसन, आभरण, गन्ध, पुष्प, धूप–दीप, नैवेद्य एवं चन्दन—इन सोलह उपचारों से श्रीविग्रह का पूजन करना।

पञ्चाशतोपचार-अर्चन:—उपर्युक्त षोड़श-उपचारों के साथ नवासी (८९) उपचार और सम्मिलित करके कुल एकसौपाँच (१०५) उपचारों से श्रीविग्रह की पूजा करना। (इन समस्त उपचारों का विवरण श्रीहरि-भक्तिविलास के एकादश विलास में द्रष्टव्य है।)

पञ्चकालपूजा:—अतिप्रत्यूष, प्रातःकाल, मध्याह्न, सायाह्न एवं रात्रि—इन पाञ्चों कालों में पूजा करना।

आरति, श्रीकृष्ण-भोजन, श्रीकृष्ण-शयन, श्रीमूर्त्तिलक्षण, श्रीशालग्रामलक्षण, श्रीकृष्णक्षेत्र-यात्रा (श्रीकृष्णलीला-स्थलियों की यात्रा) 'श्रीकृष्णमूर्त्ति-दर्शन'—इन सबका अर्थ सहज ही है। नाम-महिमा तथा दश-नामापराध—इनका उल्लेख श्रीमद्वैष्णव सि० र० सं० में क्रमशः पृष्ठ नं० २५९ एवं १८० पर द्रष्टव्य है।

वैष्णव-लक्षण—विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अधिकार से वैष्णवों के विभिन्न लक्षण वर्णन किये गये हैं। श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—"जो एक बार भी श्रीकृष्णनाम उच्चारण करता है—वह **वैष्णव** है। जो निरन्तर नियमतः श्रीकृष्ण-नाम का उच्चारण करता रहता है, वह **वैष्णव-तर** है एवं जिसके दर्शन करने मात्र से श्रीकृष्णनाम जिह्वा पर स्फुरित होने लगे, वह **वैष्णव-तम** है।" श्रीहरिभक्तिविलास में वैष्णव-लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं:—जो विधानानुसार विष्णु-मन्त्र से दीक्षित है, जो विष्णु-सेवा-परायण है, जो महाविपद में पड़कर भी अथवा महा-आनन्द में उत्फुल्ल होकर भी श्रीएकादशी-व्रत का त्याग नहीं करता है, जो सर्व-भूतों में समचित्त है, स्व-सम्प्रदायोचित सदाचार-परायण है, और जो अपने समस्त धर्मों को श्रीविष्णु के अर्पण कर चुका है—वह **वैष्णव** है।

सेवापराध-खण्डन तथा शङ्ख-जल-गन्ध-पुष्प-धूपादि-लक्षण :—इन सबका विवरण श्रीहरि-भक्तिविलास ५ म व ८ म विलास में द्रष्टव्य हैं। **जप, स्तुति, परिक्रमा, दण्डवत, वन्दन, पुरश्चरणविधि, श्रीकृष्ण-प्रसाद-भोजन, अनिवेदित-त्याग** :—अर्थात् जो वस्तु भगवान् को निवेदित नहीं हुई—उसे ग्रहण न करना। **वैष्णवनिन्दादिवर्जन** :—अर्थात् वैष्णवापराध-निन्दादि का त्याग। **साधु-लक्षण साधुसङ्ग, साधु-सेवा, असत्सङ्ग-त्याग** :—अर्थात् जिस वस्तु का सत्-वस्तु श्रीभगवान् से कुछ सम्बन्ध नहीं अर्थात् उनके विमुख या विरोध में है—उस सबका सदा त्याग करना। **श्रीभागवत-श्रवण, दिनकृत्य** :—वैष्णवों का नित्यकर्म, प्रत्येक दिन निशान्त से लेकर रात्रि पर्यन्त किस समय क्या अनुष्ठान करना है, वह सब नित्य कर्म कहलाता है। **पक्षकृत्य**—प्रत्येक पक्ष अर्थात् पन्द्रह दिन में वैष्णव को जो विशेष अनुष्ठान आचरण करना होता है, वह पक्ष-कृत्य है। **एकादशी-विवरण** :—अर्थात् एकादशी-व्रत के सम्बन्ध में विवरण। **मासकृत्य** :—किस मास में किस अनुष्ठान का आचरण वैष्णव को करना है—वह मास कृत्य कहलाता है। **जन्माष्टमी-आदि विधि विचार** अर्थात् जन्माष्टमी, श्रीरामनवमी, वामनद्वादशी, श्रीनृसिंह-चतुर्दशी आदि व्रतों का किस प्रकार पालन करना चाहिये—इन समस्त विषयों की आलोचना करने के लिये श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीसनातनपाद को आज्ञा दी।

एकादशी, जन्माष्टमी, वामनद्वादशी। श्रीरामनवमी, आर नृसिंह-चतुर्दशी ॥२५३॥
एइ सभेर विद्धा-त्याग अविद्धा-करण। अकरणे दोष कैले भक्तिर लम्भन ॥२५४॥

तदनन्तर श्रीमहाप्रभुजी ने कहा—"सनातन ! इस बात की भी विशेषरूप से आलोचना करना कि एकादशी, जन्माष्टमी, वामनद्वादशी, श्रीरामनवमी एवं श्रीनृसिंहचतुर्दशी—इन समस्त व्रतों को विद्धा-त्याग कर अविद्धा में पालन करना चाहिये एवं जो इन व्रतों को नहीं करता–वह दोषी या अपराधी होता है और जो विद्धा त्याग कर इन व्रतों का आचारण करता है, उसी की भक्ति ही पुष्ट होती है ॥२५३-२५४॥

चै० च० चु० *टीका*:—उपर्युक्त समस्त व्रतों का विषेय विस्तरशः विवरण श्रीहरिभक्ति विलास में वर्णन किया गया है। यहां हम इनका अति संक्षेप विवरण उद्धृत करते हैं:—

एकादशी व्रत अवश्य पालनीय :—एकादशी-व्रत सबके लिए अवश्य पालनीय है। केवल वैष्णवों के लिये नहीं, हिन्दुमात्र के लिये इसका पालन करना कर्त्तव्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र, स्त्री (सधवा हो चाहे विधवा) पुरुष तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास—इन चारों आश्रमियों में हरएक के लिये एकादशी-व्रत अवश्य पालनीय है। आठ वर्ष की आयु से लेकर अस्सी वर्ष (८० वर्ष) की आयुपर्यन्त एकादशी-व्रत करने का सबके लिये विधान है। (इन सब बातों के प्रमाण में पुराणवचनों को श्रीहरि-भक्ति-विलास में उद्धृत किया गया है-जो द्रष्टव्य है)।

एकादशी अकरण-प्रत्यवाय :—एकादशी व्रत न करने से अनेक अपराध होते हैं। श्रीहरिभक्ति-विलास में पुराण वचन हैं कि ब्रह्महत्यादिक जितने पाप हैं एकादशी के दिन अन्न में निवास करते हैं, अतः जो एकादशी के दिन अन्न का भोजन करता है, वह उन समस्त पापों का भोजन करता है। एकादशी के दिन अन्न-भोजन करने वाला अपने पितरों सहित नरक में जाता है। स्वयं तो दूर, जो एकादशी के दिन दूसरों को अन्न दान करता है या अन्न खाने की प्रेरणा करता है, वह भी उक्त पापों का भागी होता है।

एकादशी व्रत-नित्यत्व :—एकादशी व्रत सदा ही पालनीय है। यह नहीं कि कोई एक एकादशी व्रत तो कर लिया और कोई छोड़ दिया। एकादशी व्रत की नित्यता का एक मुख्य कारण है। वह यह कि इसमें भगवान् श्रीहरि का सन्तोष-विधान होता है। श्रीहरि की प्रीति-विधान में ही जीव का मङ्गल हो सकता है। भक्ति-अङ्गों में यह व्रत केवल विधिमार्ग नहीं है, रागमार्ग भी है। क्योंकि रागमार्ग के साधकों का एकमात्र उद्देश्य श्रीहरि की प्रीति विधान करना ही है और एकादशी व्रत का एकमात्र उद्देश्य भी श्रीहरि की प्रीति विधान करना है। अतः रागमार्गीय साधक के लिये भी यह वर्जनीय नहीं है, वरं अवश्य पालनीय है। श्रीहरि की अन्तरङ्ग सेवा में रागमार्गीय साधक का ही प्रवेश हो सकता है, यदि वह एकादशी के दिन भोजन करता है तो उसे श्रीहरिधाम की प्राप्ति की कोई आशा नहीं रखनी चाहिये—ऐसा शास्त्र का प्रमाण है। अतः रागमार्गीय तथा विधिमार्गीय—दोनों साधकों के लिये ही एकादशी-व्रत अवश्य पालनीय है।

अनुकल्पः—जो व्यक्ति व्याधिग्रस्त होने के कारण निर्जल-उपवास करने में असमर्थ हैं, उनके लिये फल मूल, दूध-घृतादि के ग्रहण कर लेने का अनुकल्प शास्त्र-विहित है। यदि कोई यह कहे कि "साधारण अन्न को तो पापसमूह एकादशी के दिन आश्रय कर सकते हैं, किन्तु महाप्रसाद या भगवत् प्रसादान्न-पानादि को पाप आश्रय नहीं कर सकते ; अतः एकादशी के दिन महाप्रसाद–भोजन करने में कोई दोष नहीं है।" इस प्रकार की उक्ति कदाचित् सङ्गत नहीं है। श्रीकृष्णप्रीति ही एकादशी-व्रत का मुख्य उद्देश्य है और वैष्णव का उद्देश्य भी एकमात्र श्रीकृष्णप्रीति है, अतः इसका पालन करना वैष्णवों का परम कर्त्तव्य है वरं वैष्णवों के लिये यह व्रत विशेष भाव से पालनीय है—"एकादश्यां न भुञ्जीत व्रतमेतद्धि वैष्णवम्।" पाप का भक्षण हुआ, या न हुआ—इस प्रकार की चिन्ता करने से अपने अमङ्गल या सुख-दुख

की भावना आ जाती है—जो एक वैष्णव का कर्त्तव्य नहीं है। वैष्णव का कर्त्तव्य, समस्त विषयों में श्रीकृष्ण की प्रीतिके प्रति लक्ष्य रखना है। अतः श्रीकृष्ण प्रीतिके लिये एकादशी के दिन महाप्रसाद-भोजन भी त्यागने से कोई भी प्रत्यवाय नहीं हो सकता—यदि कोई महाप्रसाद-त्याग के उस प्रत्यवाय को लक्ष्य करता है तो वह अपने अमङ्गल अर्थात् सुख-दुःख को ही लक्ष्य करता है, श्रीकृष्ण प्रीति को नहीं, जो वैष्णव लक्ष्य से परे है। अतः श्रीकृष्ण प्रीति-मूलक व्रत की रक्षा करने में किसी भी भक्ति अङ्ग की अवज्ञा की सम्भावना नहीं है। और फिर यदि महाप्रसादान्न-पानादि का ग्रहण वैष्णवों के लिये एकादशी के दिन भी विधेय मान लिया जाय, तो फिर वैष्णवों के लिये अवश्य पालनीय एकादशी व्रत का स्वरूप ही क्या हो सकता है? कारण कि वैष्णव तो नित्य ही एक मात्र भगवद्-प्रसादान्न ग्रहण करता है भगवद्-निवेदित भोजन तो क्या, श्री भगवान् के अर्पण किये विना किसी और वस्तु को भी वैष्णव ग्रहण नहीं करता। अतः विधिमार्गीय या रागमार्गीय सब वैष्णवों के लिये जहां एकादशी व्रत के अवश्य पालन करने का आदेश एवं शास्त्र प्रमाण है, तो उसका अभिप्राय केवल मात्र यही है कि उन्हें महाप्रसादान्न-पानादि का भी त्याग करके उपवास करना चाहिये। जैसा कि श्री जीवगोस्वामी पाद ने अपने भक्ति सन्दर्भ (२९९) में लिखा है "**अत्र निराहारत्वं नाम महाप्रसादान्न परित्याग एव। तेषामन्य भोजनस्य नित्यमेव निषिद्धत्वात्।**" अर्थात् महाप्रसाद को छोड़कर अन्य वस्तु का भोजन करना वैष्णव के लिये नित्य ही निषिद्ध है, अतः वैष्णवों के लिये एकादशी के दिन व्रत या उपवास का अभिप्राय केवल यही है कि वह महा-प्रसादान्न-पानादि को भी ग्रहण न करें।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के आविर्भाव की तिथि को जन्माष्टमी कहते हैं, जो एक मुख्य वैष्णव व्रत है। उस दिन उपवास करके मध्य रात्रि (१२ बजे) में श्रीकृष्ण पूजा एवं अभिषेक किया जाता है।

जन्माष्टमी व्रतदिन-निश्चय—भाद्रीय कृष्णपक्ष की अष्टमी की अर्द्ध रात्रि में रोहिणी नक्षत्र का योग होने पर जन्माष्टमी व्रत होता है। व्रत दिन निर्णय करने में निम्नलिखित कुछ एक बातें विचारणीय हैं—

(१) सप्तमी संयुक्ता अष्टमी के दिन उपवास या व्रत नहीं करना चाहिये। उस दिन रोहिणी नक्षत्र होने पर भी व्रत का विधान नहीं है। किस दिन सूर्योदय के बाद यदि सप्तमी रहे और सप्तमी के बाद उसी दिन ही यदि अष्टमी आ जाती है, उस अष्टमी को **सप्तमी-विद्धा** या **सप्तमी संयुक्ता** अष्टमी कहते हैं वह सप्तमी विद्धा अष्टमी व्रत के योग्य नहीं है। यदि सूर्योदय के समय तक सप्तमी रहती है और सूर्योदय के बाद अष्टमी आ जाती है और पीछे में नवमी के साथ संयुक्ता हो जाती है—वह अष्टमी शुद्धा मानी जाती है, जो व्रत करने योग्य है।

(२) सप्तमी-वेध-शून्या अर्थात् शुद्धा अष्टमी के दिन रात में किसी समय भी यदि मुहूर्त्त मात्र भी रोहिणी नक्षत्र आ जाता है, अथवा उस शुद्धा अष्टमी के दिन आधी रात्रि के बाद भी यदि कला-मात्र भी रोहिणी नक्षत्र आता है, तो उसी दिन उपवास या व्रत होगा।

(३) सप्तमी का योग न रहने पर, अष्टमी के परे नवमी रहे और रोहिणी नक्षत्र का योग हो, तो उसी दिन व्रत होगा। वह दिन यदि सोमवार या बुधवार हो, तो महाफलदायक होता है।

(४) पूर्व दिन सोमवार व बुधवार होने से अर्थात् मंगलवार व वृहस्पतिवार होने से अष्टमी साठ घड़ी पाकर दूसरे दिन रोहिणी नक्षत्र संयुक्ता यदि हो, तो दूसरे दिन नवमी समन्विता वृद्धि-गामिनी अष्टमी (नवमी) में उपवास करना चाहिये।

(५) यदि रोहिणी नक्षत्र का योग नहीं है, तो अष्टमी के दिन उपवास करना चाहिये । वैष्णव व्रतों में पूर्वविद्धा तिथि परित्याज्या है । रोहिणी संयुक्ता अष्टमी का व्रत प्रशस्त है किन्तु सप्तमीविद्धा रोहिणी संयुक्ता अष्टमी के दिन व्रत का विधान नहीं है । व्रत रक्षा के लिये रोहिणी के योग रहित शुद्धा अष्टमी में ही उपवास करने से व्रत का पालन होता है ।

(६) इसलिये रोहिणी नक्षत्र का योग न रहने पर भी नवमी संयुक्ता अष्टमी के दिन उपवास का विधान है ।

(७) रोहिणी संयुक्ता अष्टमी यदि दोनों दिनों में रहे और इन दोनों दिनों में प्रथम दिन यदि सूर्योदय के बाद सप्तमी न रहे, तो इन दोनों दिनों में पहले ही दिन उपवास करना चाहिये और दूसरे दिन पारण करना चाहिये ।

उपर्युक्त निर्णय के समर्थक प्रमाण श्रीहरिभक्ति विलास में उल्लिखित है, जिन्हें ग्रन्थ विस्तार-भय से यहाँ उद्धृत नहीं किया गया ।

पारण—जिस अष्टमी के साथ रोहिणी-नक्षत्र का योग न रहे, उस अष्टमी में उपवास होने पर, यदि अष्टमी तिथि बढ़कर दूसरे दिन तक जाती है, तब तिथि के अन्त होने पर व्रत का पारण अर्थ अन्न-जल ग्रहण करना चाहिये, पारण के दिन यदि रोहिणी नक्षत्र तो वर्द्धित हो किन्तु अष्टमी न रहे, तो नक्षत्र के अन्त में, पारण किया जायेगा । नक्षत्र तथा तिथि यदि दोनों ही वर्द्धित हों, तब इनमें से जो कम समय तक रहे, उसी के अन्त में पारण करना चाहिये । यदि दोनों के वर्द्धित होने का काल समान हो, तो दोनों के अन्त में ही पारण किया जायगा ।

कोई कोई वैष्णव (आजकल प्रायः) उपवास के दिन अर्द्ध रात्रि को जन्म महोत्सव के बाद अर्थात् अभिषेक-पूजादि के बाद व्रत का पारण करते हैं—इस विधान के समर्थन में श्रीगरुड़पुराण तथा वायु पुराण के प्रमाण भी श्रीहरिभक्ति-विलास में उद्धृत हैं । किन्तु श्रीहरिभक्तिविलास के रचयिता श्रीपाद सनातन गोस्वामी का अपना मत यह नहीं है—यह बात '**केचिन्न भगवज्जन्ममहोत्सवदिन**'—इत्यादि श्लोक की टीका में उन्होंने व्यक्त की है ।

श्रीवामन द्वादशी—श्रीवामन भगवान् की आविर्भाव तिथि का नाम वामन द्वादशी है । श्रवण-द्वादशी के दिन वे आविर्भूत हुए थे । द्वादशी तिथि यदि क्षय हो जाय, तो एकादशी के दिन रात को ही श्रीवामनदेव की अर्चना की जाती है । उस दिन भी वैष्णवों को उपवास करना चाहिये ।

श्रीरामनवमी—श्रीरामचन्द्र भगवान् की आविर्भाव तिथि का नाम रामनवमी है । वे चैत्र शुक्ला नवमी के दिन आविर्भूत हुए थे । उस दिन भी उपवास करना चाहिये ।

श्रीरामनवमी व्रत दिन निर्णय—अष्टमी-संयुक्ता नवमी-तिथि में व्रत नहीं होता । शुद्धा नवमी में ही व्रत किया जाता है एवं दशमी के दिन पारण किया जाता है ।

रामनवमी में एक विशेष स्थल पर अष्टमी विद्धा नवमी में भी उपवास का विधान है । नवमी यदि अष्टमीविद्धा हो, तो साधारणः उस दिन व्रत नहीं हो सकता, किन्तु यह अष्टमीविद्धा नवमी यदि अति अल्प समय स्थायी हो—क्षीणा हो और उसके एक दिन बाद आने वाली एकादशी यदि शुद्धा होने से उपवास योग्य हो, तो उस अष्टमीविद्धा नवमी में व्रत या उपवास न करके यदि दशमी के दिन व्रत किया जायेगा, तो दशमी एवं एकादशी—इन दोनों दिनों में उपवास करना पड़ेगा । इसके बाद जो पारण होगा वह एकादशी का पारण माना जाएगा । नवमी का पारण न होने से नवमी का व्रत सिद्ध न होगा । अतः

ऐसा विधान है कि अष्टमी विद्धा नवमी के एक दिन बाद आने वाली एकादशी यदि शुद्धा या उपवास योग्य हो तो अष्टमीविद्धा नवमी में उपवास करना चाहिये और दशमी के दिन पारण किया जाये। इस बात का प्रमाण श्रीहरिभक्ति विलास (१४—९१) में द्रष्टव्य है।

श्रीरामनवमी यदि-पुनर्वसु-नक्षत्र युक्त हो, तो विशेष फलदायिनी मानी गई है, कारण कि पुनर्वसु नक्षत्र युक्त नवमी में ही मध्याह्न के समय श्रीरामजी का आविर्भाव हुआ था।

श्रीनृसिंह चतुर्दशी—वैशाख शुक्ला चतुर्दशी में श्रीनृसिंह भगवान् आविर्भूत हुए थे। इस तिथि को नृसिंह-चतुर्दशी कहते हैं—इस दिन उपवास का विधान है। सायंकाल में उनका आविर्भाव हुआ था।

व्रतदिन—निर्णय—त्रयोदशी-संयुक्ता चतुर्दशी में भी उपवास नहीं करना चाहिये। शुद्धा चतुर्दशी में व्रत का विधान है। दैवात् यदि इस चतुर्दशी में स्वाती नक्षत्र का योग हो एवं शनिवार भी हो, अथवा यदि सिद्धि योग हो, तब वह अत्यन्त फलदायिका होती है। किन्तु त्रयोदशी-विद्धा चतुर्दशी यदि स्वाती नक्षत्र युक्ता भी हो, तथापि उस दिन व्रत नहीं करना चाहिये।

इन समस्त दोषों-एवं गुणों को विचार कर श्रीचैतन्य देव ने श्रीसनातन पाद से कहा है कि "एकादशी, जन्माष्टमी, वामन द्वादशी, रामनवमी, नृसिंह चतुर्दशी आदि जो व्रत हैं उनमें पूर्व विद्धा तिथि त्यागकर सदा व्रत करना चाहिये। इन समस्त व्रतों से भक्ति की पुष्टि होती है। पालन न करने से भक्ति नष्ट तो होती ही है, वरं और अनेक दोषों का सञ्चार होता है।

अवस्था विशेष में तिथि को **विद्धा** और अवस्था विशेष में **सम्पूर्णा** कहा जाता है। विद्धा तिथि का परित्याग करना ही श्रीमहाप्रभु ने आदेश किया है। अतः विद्धा तिथि को समझना आवश्यक है। किन्तु उससे पहले सम्पूर्णा का ज्ञान भी होना चाहिये। अतः हम यहाँ पहले सम्पूर्णा-तिथि का तथा तदनन्तर विद्धा-तिथि का विचार करते हैं:—

सम्पूर्णा:—एकादशी तिथि को छोड़कर प्रतिपदादि अन्यान्य जितनी तिथियाँ हैं, यदि वे एक सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय पर्यन्त साठ दण्ड (घड़ी) काल वर्तमान रहें—तो उन्हें **सम्पूर्णा** कहा जाता है। किन्तु एकादशी तिथि यदि सूर्योदय से चार दण्ड पहले से आरम्भ होकर अर्थात् अरुणोदय से लेकर दूसरे दिन के सूर्योदय पर्यन्त वर्तमान रहे, तभी **एकादशी को सम्पूर्णा** कहा जाता है। केवल एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक एकादशी रहने पर उसे सम्पूर्णा एकादशी नहीं माना जाता। यदि एकादशी पहले दिन अरुणोदय से प्रारम्भ होकर दूसरे दिन सूर्योदय के बाद तक वर्द्धित हो, तब भी एकादशी सम्पूर्णा ही रहती है।

विद्धा—किसी तिथि की सम्पूर्णता के लिये जितना समय निर्द्धारित किया गया है, उसी समय में यदि दूसरी तिथि का प्रवेश—या वेध हो जाए, तो उस तिथि को **विद्धा** कहा जाता है। जैसा कि एकादशी को छोड़कर अन्यान्य तिथियां एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक सम्पूर्णा मानी गई हैं। अब उनमें किसी एक तिथि के निर्द्धारित समय में अर्थात् सूर्योदय के कुछ काल बाद तक यदि कोई पूर्वली तिथि वर्तमान रहती है—तो वह तिथि **विद्धा** हो जाती है। सूर्योदय के बाद तक यदि पूर्वली तिथि का वेध या प्रवेश हो तो **पूर्व विद्धा** कही जाती है। और दूसरे दिन आने वाली तिथि दूसरे दिन सूर्योदय के पहले ही आरम्भ हो जाये अर्थात् किसी तिथि के शेष भाग में वेध आ जाए तो उसे **परविद्धा** कहते हैं। जैसे किसी दिन सूर्योदय के बाद तक कुछ समय सप्तमी रहे और दूसरे दिन सूर्योदय के बाद तक अष्टमी रहे, तो अष्टमी को पूर्वविद्धा (सप्तमी द्वारा विद्धा) कहा जायेगा और सप्तमी को परविद्धा (अष्टमी द्वारा विद्धा) कहा जाएगा।

यह पहले कहा जा चुका है कि-एकादशी की सम्पूर्णता का एक विशेष विधान है। एक सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय तक एकादशी व्याप्त रहने पर भी वह सम्पूर्णा नहीं कहलाती जब एक अरुणोदय से दूसरे सूर्योदय तक एकादशी तिथि व्याप्त रहे तभी वह सम्पूर्णा कहलाती है। इस निर्द्धारित समय के बीच यदि आरम्भ काल में दशमी आ जाती है, तो एकादशी **दशमी-विद्धा** या **पूर्व-विद्धा** कहलाती है। और यदि द्वादशी तिथि एकादशी के शेष काल में आरम्भ हो जाती है, तो एकादशी **द्वादशी-विद्धा** या **पर-विद्धा** कही जाती है। सारांश यह है कि एकादशी की सम्पूर्णता के काल में आगे या पीछे कोई अन्य तिथि आकर मिलती है तो एकादशी **विद्धा** कहलाती है।

वैष्णवों के लिये पूर्वविद्धा—एकादशी में व्रत या उपवास करना निषिद्ध है, किन्तु परविद्धा एकादशी व्रत की आज्ञा है। एकादशी व्रत की भांति जन्माष्टमी, रामनवमी आदि समस्त व्रत पूर्वविद्धा तिथि में निषिद्ध हैं, सदा परविद्धा तिथि ही व्रत के लिये उपयुक्त हैं—ऐसा श्रीहरिभक्ति विलास में शास्त्र प्रमाणों द्वारा निर्णय किया गया है।

एकादशी तथा अन्यान्य वैष्णव व्रत तिथियों के विद्धात्व में पार्थक्य इतना है कि एकादशी का विद्धात्व अरुणोदय काल में ही अन्य तिथि के प्रवेश से माना जाता है, किन्तु अन्यान्य तिथियों का विद्धात्व सूर्योदयकाल में अन्य तिथि के प्रवेश से माना जाता है, अरुणोदयकाल से नहीं।

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"सनातन ! वैष्णवों को कोई भी व्रत पूर्व-विद्धा तिथि में नहीं करना चाहिये। अविद्धा अर्थात् परविद्धा तिथि में ही करना चाहिये।" उन्होंने यह भी बताया कि इन व्रतों को न करने से भक्ति लुप्त होती है, अधिकन्तु अनेक दोष भी होते हैं। अतः इन व्रतों का पालन वैष्णवों के लिये आवश्यक है, कारण कि इनके पालन से भक्ति पुष्ट होती है।

सर्वत्र प्रमाण दिबे पुराण-वचन। श्रीमूर्त्ति विष्णुमन्दिर—करण लक्षण ॥२५५॥
सामान्य सदाचार, आर वैष्णव आचार। कर्त्तव्याकर्त्तव्य सब स्मार्त्त व्यवहार ॥२२६॥
एइ संक्षेपे सूत्र कैल दिग्दरशन। यबे तुमि लिख कृष्ण करावेन स्फुरण ॥२५७॥
एइ त कहिल प्रभुर सनातने प्रसाद। याहार श्रवणे भक्तेर खण्डे अवसाद ॥२५८॥
निजग्रन्थे कर्णपूर विस्तार करिया। सनातने प्रभुर प्रसाद राखियाछे लिखिया ॥२५९॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने श्रीसनातन गोस्वामी पाद को अन्त में कहा कि "सनातन ! वैष्णव-स्मृति में जो भी सिद्धान्त तुम स्थापन करो, प्रत्येक स्थान पर उस सिद्धान्तानुकूल पुराणादि शास्त्र का प्रमाण उद्धृत करना।" उन्होंने कहा—"श्रीमूर्त्ति-स्थापन करने के लिये मन्दिर किस प्रकार बनवाना चाहिये, मनुष्य मात्र का सदाचार क्या है, वैष्णवों का विशेष आचार क्या है, कर्त्तव्य क्या है, अकर्त्तव्य क्या है, स्मृति-शास्त्र के अनुसार जो भी आचरण हैं, वे सब सनातन ! तुम उस वैष्णव स्मृति में प्रकाशित करना। इन सब विषयों के सूत्रों का मैंने तुम्हें संक्षेपतः दिग्दर्शन कराया है और जब तुम इनका उल्लेख करने लगोगे, स्वयं श्रीकृष्ण ही तुम्हारे हृदय में इन सब विषयों की स्फूर्त्ति कराएंगे।" ग्रन्थकार श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—"यहाँ तक मैंने श्रीमहाप्रभु की श्रीसनातन गोस्वामी पर कृपा का प्रसङ्ग वर्णन किया है, जिसे सुनकर भक्तों के समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। अपने ग्रन्थ श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक में श्री कवि कर्णपूर जी ने भी इस प्रसङ्ग को अर्थात् श्रीमन्महाप्रभु की श्री सनातन गोस्वामी पर कृपा के प्रसङ्ग को इस प्रकार उल्लिखित किया है ॥२५५—२५९॥

तथाहि श्रीचैतन्य चन्द्रोदयनाटके (९-४५)—

गौड़ेन्द्रस्य सभाविभूषणमणिस्त्यक्त्वा य ऋद्धां श्रियं
रूपस्याग्रज एष एव तरुणीं वैराग्यलक्ष्मीं दधे ।
अन्तर्भक्तिरसेन पूर्णहृदयो वाह्योऽवधूताकृतिः
शैवालैः पिहितं महासर इव प्रीतिप्रदस्तद्विदाम् ॥९३॥

जो गौड़ेश्वर (हुसैनशाह) की सभा को अलंकृत करने में मणिस्वरूप थे, जो श्रीरूप गोस्वामी के ज्येष्ठ भ्राता हैं, उन श्रीसनातन गोस्वामी पाद ने स्मृद्धा सम्पत्ति लक्ष्मी को परित्याग करके नवीन वैराग्य लक्ष्मी को ग्रहण किया था । शैवाल से आच्छादित सरोवर की भांति, वे अन्तर, निर्मल भक्तिरस से परिपूर्ण थे । (शैवाल या काई से आच्छादित सरोवर ऊपर से मलिन दीखता है किन्तु भीतर निर्मल जल से पूर्ण रहता है । उसी प्रकार) बाहर से वे अवधूताकृति धारण करते हुए भी भक्तितत्त्ववेत्ताओं के अत्यन्त प्रीति-पद थे । (श्रीमन्महाप्रभु की कृपा से ही श्रीपाद सनातन गोस्वामी ने इस प्रकार की भक्ति सम्पत्ति को प्राप्त किया था) ॥९३॥

तथाहि तत्रैव (९—४६)—

तं सनातनमुपागतमक्ष्णोर्दृष्टपूर्वं मतिमात्रदयार्द्रः ।
आलिलिङ्ग परिघायतदोर्भ्यां सानुकम्पमथ चम्पकगौरः ॥९४॥

अतिशय दयालुचित्त एवं चम्पक-कुसुमवत् गौरवर्ण श्रीचैतन्यदेव ने अपने निकट आए हुए उन श्रीसनातन गोस्वामी जी को नेत्रों के सामने पहली बार आते ही अनुकम्पा पूर्वक अपनी विशाल भुजाओं द्वारा आलिङ्गन कर लिया । (इस श्लोक से श्रीसनातन गोस्वामीपाद पर श्रीमहाप्रभु की अतीव अनुकम्पा का परिचय मिलता है) ॥९४॥

तथाहि तत्रैव (९—४८)—

कालेन वृन्दावनकेलिवार्त्ता लुप्तेति तां ख्यापयितुं विशिष्य ।
कृपामृतेनाभिषिषेच देव स्तत्रैव रूपञ्च सनातनञ्च ॥९५॥

काल प्रभाव से श्रीवृन्दावन सम्बन्धीय श्रीकृष्ण लीला-कथा विलुप्त हो चुकी थी । श्रीचैतन्यदेव ने फिर से उसे विशेष रूप से प्रकाशित करने के अभिप्राय से श्रीरूप एवं श्रीसनातन गोस्वामी जी को उस कार्य में कृपामृत द्वारा अभिषिक्त किया ॥९५॥ (परिच्छेद १९—११ श्लोक द्रष्टव्य है । श्रीमन्महाप्रभुजी ने श्रीसनातन गोस्वामी पाद में श्रीकृष्ण लीला-कथा एवं वैष्णव धर्म प्रचार करने की शक्ति सञ्चार की, इस बात का प्रमाण ऊपर के श्लोक में मिलता है ।)

एइ त कहिल सनातने प्रभुर प्रसाद । याहार श्रवणे खण्डे सब अवसाद ॥२६०॥
कृष्णेर स्वरूपगणेर सब हय ज्ञान । विधि-रागमार्गे साधन-भक्तिर विधान ॥२६१॥
कृष्णप्रेम भक्तिरस भक्तिर सिद्धान्त । इहार श्रवणे भक्त जाने सब अन्त ॥२६२॥
श्रीचैतन्य—नित्यानन्द—अद्वैतचरण । यार प्राणधन सेइ पाय एइ धन ॥२६३॥
श्रीरूप—रघुनाथपदे यार आश । चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥२६४॥

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी कहते हैं—" मैंने श्रीमन्महाप्रभु की श्रीसनातन गोस्वामी पर कृपा के प्रसङ्ग को वर्णन किया है, जिसके सुनने मात्र से सब दुखों का नाश होता है। इससे श्रीकृष्ण के समस्त स्वरूपों का ज्ञान प्राप्त होता है और विधि मार्गीय साधन-भक्ति तथा राग मार्गीय साधन भक्ति का सब विधान इस प्रसङ्ग से ज्ञात हो जाता है। श्रीकृष्ण प्रेम तत्व, भक्तिरस तत्त्व, भक्ति के समस्त सिद्धान्त इस प्रसङ्ग के सुनने से भक्तों को आद्योपान्त समझ में आ जाते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु तथा श्रीअद्वैताचार्य प्रभु के चरण-कमल जिनके प्राण धन स्वरूप हैं, वही भक्त गण ही इस भक्ति-तत्त्व विषयक शिक्षा धन को प्राप्त करते हैं। अर्थात् जिन पर श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव की कृपा होती है, वही ही श्रीकृष्ण भक्ति के सिद्धान्त एवं रसतत्त्व को जान सकते हैं, अन्यथा नहीं। श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी पाद के चरणों की अभिलाषा करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज इस प्रकार श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत का गान करते हैं ॥२६०—२६४॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां आत्माराम—
श्लोकव्याख्यायां सनातनानुग्रहो—नाम
चतुर्विंश परिच्छेदः ॥२४॥

जयगोर

मध्य-लीला

पञ्चविंश परिच्छेद

वैष्णवीकृत्य सन्न्यासिमुखान् काशीनिवासिनः ।
सनातनं सुसंस्कृत्य प्रभुर्नीलाद्रिमागमत् ॥१॥

(जो) श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव काशीनिवासी प्रकाशानन्द-सरस्वती आदि संन्यासी प्रमुख जनों को वैष्णव करके एवं भक्ति-सिद्धान्त की शिक्षा देकर श्रीसनातनगोस्वामी पाद को सुन्दररूप से संस्कृत करके नीलाचल लौट आए। (उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।) ॥१॥

(इस श्लोक में कविराज ने पच्चीसवें परिच्छेद के आलोचित विषय को उल्लिखित किया है—इस परिच्छेद में श्रीमन्महाप्रभु ने काशीवासी अवैष्णव संन्यासियों को जैसे वैष्णव किया एवं जैसे वे नीलाचल पर वापस लौटे हैं—यह सब वृत्तान्त वर्णन किया गया है।)

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द। जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥
एइमत महाप्रभु दुइ मास पर्यन्त। शिक्षाइला तांरे भक्तिसिद्धान्तेर अन्त ॥२॥

श्रीचैतन्यदेव की जय हो, जय हो, श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र प्रभु की जय हो एवं श्रीगौर-भक्तजनों की जय हो इस प्रकार श्रीमहाप्रभु ने दो मास तक काशी में रहकर श्रीसनातन गोस्वामी पाद को समस्त भक्ति-सिद्धान्तों की चरम अवधि की शिक्षा प्रदान की जिसे हम चौबीसवें परिच्छेद में वर्णन कर चुके हैं ॥१—२॥

परमानन्द कीर्त्तनीया—शेखरेर सङ्गी। प्रभुके कीर्त्तन शुनाय—अति बड़ रङ्गी ३॥
सन्न्यासीर गणे प्रभु यदि उपेक्षिल। भक्तदुख खण्डाइते तारे कृपा कैल ॥४॥
संन्यासीरे कृपा पूर्वे लिखियाछि विस्तारिया। उद्देश करिये इहां संक्षेप करिया ॥५॥

काशी में श्रीपरमानन्द कीर्त्तनीया रहते थे, जो श्रीचन्द्रशेखर के मित्र थे, वे श्रीमहाप्रभु जी को नित्य कीर्त्तन सुनाया करते थे। कीर्त्तन करने में वे अति निपुण एवं भावुक थे। काशी में रहने वाले संन्यासी समाज की श्रीमन्महाप्रभु उपेक्षा ही कर चुके थे, किन्तु अपने भक्तों के दुख को मिटाने के लिये उन्हें उन पर भी कृपा करनी पड़ी। संन्यासियों पर श्रीमहाप्रभु ने जिस प्रकार कृपा की, उस प्रसङ्ग को पहले हम (आदि-लीला सप्तम परिच्छेद में) विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुके हैं, किन्तु यहां एक विशेष उद्देश्य को लेकर उसी प्रसङ्ग को संक्षेप से पुनः वर्णन करते हैं ॥३—५॥

चै० च० चु० टीका:—काशी में उस समय श्रीप्रकाशानन्दादि प्रमुख संन्यासी निवास करते थे, जो मायावादी थे और वे सदा श्रीमहाप्रभु जी की निन्दा किया करते थे। किन्तु श्रीमहाप्रभु उनकी

निन्दा का कुछ भी प्रतिवाद न करते थे और न ही उनका मन उनकी निन्दा से क्षुब्ध ही होता था। सदा उनकी उपेक्षा करके प्रभु समान चित्त रहते थे परन्तु श्रीपरमानन्द, श्रीचन्द्रशेखर एवं श्रीतपनमिश्र आदि जो श्रीमहाप्रभु जी के भक्त काशी में रहते थे, वे उन संन्यासियों के मुख से प्रभु की निन्दा सुनकर अति दुख पाते थे, भक्त भला श्रीकृष्ण-निन्दा को कब सहन कर सकते हैं? श्रीभगवान् फिर भक्तों के दुख को भला कैसे सहन कर सकते हैं? अतः केवल अपने भक्तों के उस दुख को मिटाने के लिये श्रीमहाप्रभु जी ने उन संन्यासियों का उद्धार किया। उन पर किस प्रकार कृपा की—उसे संक्षेप से नीचे वर्णन करते हैं—

याहां ताहां प्रभुर निन्दा करे संन्यासीरगण। शुनि दुखे महाराष्ट्री करये चिन्तन ॥६॥
प्रभुर स्वभाव—ये तांरे देखे सन्निधाने। स्वरूप अनुभवि तांरे 'ईश्वर' करि माने ॥७॥
कोन प्रकारे पारों यदि एकत्र करिते। इंहारे देखि संन्यासीगण हैव इंहार भक्ते ॥८॥
वाराणसीवास आमार हये सर्वकाले। सर्वकाल दुख पाव, इहा ना करिले ॥९॥
एत चिन्ति निमन्त्रिल संन्यासीरगणे। तबे सेइ विप्र आइल महाप्रभुर स्थाने ॥१०॥

काशी में जहाँ तहाँ श्रीप्रकाशानन्दादि प्रमुख संन्यासीगण श्रीमहाप्रभु जी की निन्दा किया करते थे। वहाँ एक महाराष्ट्री ब्राह्मण रहता था जो श्रीमहाप्रभु की कृपा प्राप्त कर चुका था, वह उस निन्दा को सुनकर बहुत दुखी हुआ और मन-मन में वह सोचने लगा—"श्रीमहाप्रभु का स्वभाव है कि जो उनके पास जाकर उनका दर्शन करता है, वह उनके स्वरूप का अनुभव कर लेता है कि वे साक्षात् ईश्वर हैं। अतः यदि मैं किसी प्रकार इन संन्यासियों को तथा श्रीमहाप्रभु जी को एकत्र कर सकूं, तो ये संन्यासी गण भी उन के दर्शन कर उनकी भक्ति करने लगेंगे। यदि ऐसा नहीं किया जाए तो भला कहाँ तक प्रभु की निन्दा सुनेंगे, कारण कि हमें सर्वदा यहाँ काशी में रहना है और यह दुख भी सदा हमें भोगना पड़ेगा।" ऐसा सोच कर उस महाराष्ट्री ब्राह्मण ने सब संन्यासियों को अपने घर भोजन करने का निमन्त्रण दिया। उनकी स्वीकृति पाकर वह ब्राह्मण श्रीमहाप्रभु जी के निवासस्थान पर चला आया ॥६—१०॥

हेन काले निन्दा शुनि शेखर तपन। दुख पाञा प्रभुपदे कैल निवेदन ॥११॥
भक्तदुख देखि प्रभु मनेते चिन्तिल। संन्यासीर मन फिराइते मन हैल ॥१२॥
हेनकाले विप्र आसि कैल निमन्त्रण। अनेक दैन्यादि करि धरिल चरण ॥१३॥
तबे महाप्रभु तांर निमन्त्रण मानिला। आर दिन मध्याह्न करि तार घरे गेला ॥१४॥
ताहां यैछे कैल संन्यासीर निस्तार। पञ्च तत्त्वाख्याने ताहा करियाछि विस्तार ॥१५॥
ग्रन्थ बाढ़े—पुनिरुक्ति हये त कथन। ताहां ये ना लिखिल, ताहा करिये लिखन ॥१६॥

इधर उसी समय प्रभु की निन्दा सुनकर श्रीचन्द्रशेखर तथा श्रीतपनमिश्र भी दुखित होकर श्रीमहाप्रभु के निकट बैठ कर अपना दुख निवेदन कर रहे थे। भक्तों के दुख को जानकर श्रीमहाप्रभु भी चिन्ता करने लगे और तब आपने उन संन्यासियों की बुद्धि को घुमाने का मन में निश्चय कर लिया। इतने में उस महाराष्ट्री ब्राह्मण ने आकर अति दीनता पूर्वक चरण पकड़ कर प्रभु को निमन्त्रण किया। श्रीमहाप्रभु जी ने उसके निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन अपना मध्याह्न कृत्य करके उसके घर में पधारे। वहाँ जाकर श्रीमहाप्रभु ने जैसे उन संन्यासियों का उद्धार किया, वह सब कथा आदि-लीला सप्तम परिच्छेद में पञ्च-तत्त्व विचारान्तर्गत विस्तृतरूप से वर्णन की जा चुकी है। ग्रन्थ विस्तार-भय तथा

पुनरुक्ति दोष के कारण उसे यहाँ वर्णन नहीं करते हैं। किन्तु वहाँ जो बात नहीं कही गई थी, उसका हम यहाँ उल्लेख करते हैं ॥११—१६॥

ये दिवसे प्रभु सन्यासीरे कृपा कैल। से दिवस हैते ग्रामे कोलाहल हैल ॥१७॥
लोकेर सङ्घट्ट आइसे प्रभुरे देखिते। नाना शास्त्रे पण्डित आइसे शास्त्र विचारिते ॥१८॥
सर्वशास्त्र खण्डि प्रभु 'भक्ति' करे सार। सयुक्तिक वाक्ये मन फिराय सभार ॥१९॥
उपदेश लञा करे कृष्ण सङ्कीर्त्तन। सर्वलोक हासे गाय करये नर्त्तन ॥२०॥
प्रभु के प्रणत हैल संन्यासीर गण। आत्म मध्ये गोष्ठी करे छाड़ि अध्ययन ॥२१॥

जिस दिन श्रीमहाप्रभु जी ने संन्यासियों पर कृपा की उस दिन से काशी नगरी में कोलाहल सा मच गया (कारण कि श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती उस काल में समस्त भारतवर्ष का एक अद्वितीय पण्डित था। विद्या में उसे कोई भी परास्त न कर सकता था। काशी में ही उसके साठ हजार दण्डी शिष्य थे, भारतवर्ष में उसके कितने शिष्य होंगे, उनकी तो गिनती ही कौन कर सकता है ? उसे श्रीमहाप्रभु ने जब पराजित कर दिया और वह उनकी शरणापन्न होगया तो इस बात की जहाँ तहाँ चर्चा होनी आवश्यक थी।) श्रीमहाप्रभु जी के दर्शनों के लिए लोगों के झुण्ड के झुण्ड आने लगे और अनेक प्रकार के शास्त्रों के पण्डित शास्त्र विचार करने के लिए प्रभु के पास आने लगे। सर्व भक्ति विरोधी शास्त्रों का खण्डन करके श्रीमहाप्रभु भक्ति की ही सर्वोपरि प्रधानता स्थापन करते। प्रभु के सयुक्तिक वचनों से सब का मन अन्यान्य शास्त्रों से हट कर भक्ति की ओर आकर्षित हो जाता। वे लोग प्रभु से भक्ति की दीक्षा शिक्षा लेकर श्रीकृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन करने लगते। प्रेमोन्मत्त होकर सब लोग हंसने गाने एवं नृत्य करने लगते। श्रीमहाप्रभु की शरणापन्न हो जाने पर सब संन्यासीगण आपस में बैठ कर गोष्ठी किया करते और अध्ययन आदि उन्होंने त्याग दिया ॥१७—२१॥

प्रकाशानन्देर शिष्य एक ताहार समान। सभामध्ये कहे प्रभुर करिया सम्मान —॥२२॥
श्रीकृष्णचैतन्य हय 'साक्षात् नारायण'। व्यास सूत्रेर अर्थ करे अति मनोरम ॥२३॥
उपनिषदेर करे मुख्यार्थ-व्याख्यान। शुनि पण्डित लोकेर जुड़ाय मन-कान ॥२४॥
सूत्र-उपनिषदेर मुख्यार्थ छाड़िया। आचार्य कल्पना करे आग्रह करिया ॥२५॥
आचार्य कल्पित अर्थ पण्डित ये शुने। मुखे 'हय हय' करे हृदये ना माने ॥२६॥
श्रीकृष्ण चैतन्य-वाक्य दृढ़ सत्य मानि। कलिकाले संन्यासे संसार नाहि जिनि ॥२७॥

श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती पाद का एक शिष्य था, वह किन्तु विद्या में श्रीप्रकाशानन्द के समान ही था। एक दिन वह श्रीमहाप्रभु का सम्मान करते हुए संन्यासियों की सभा के बीच कहने लगा — "श्रीकृष्णचैतन्य साक्षात् श्रीनारायण हैं। उन्होंने श्रीव्याससूत्र अर्थात् वेदान्त-सूत्र का अत्यन्त हृदयग्राही अर्थ किया है। उन्होंने ही उपनिषदों का अर्थात् वेदों के ज्ञानकाण्ड का (जिसमें भगवत्तत्त्वादि आलोचित हुए हैं) मुख्यावृत्ति से अर्थ किया है, जिसको सुनकर पण्डित समाज के हृदय एवं मन शीतल हो गए हैं। किन्तु श्रीशङ्कराचार्य ने कल्पना करके अपने मत को स्थापन करने के लिए वेदान्तसूत्र एवं उपनिषदों का मुख्यावृत्ति द्वारा अर्थ छोड़ कर गौणी या लक्षणावृत्ति से अर्थ किया है। श्रीशङ्कराचार्यपाद के कल्पित अर्थों को जो पण्डित सुनता है, वह आचार्य पाद का मान-मर्यादा रखते हुए बाहर से अवश्य यह कह देता है कि "हाँ, ऐसे ही है, ऐसे ही है।" किन्तु उन अर्थों को उसका हृदय नहीं मानता। मैं श्रीकृष्णचैतन्य

प्रभु के वचनों को दृढ़ता पूर्वक सत्य मानता हूँ। इस कलियुग में संन्यास के द्वारा संसार से उत्तीर्ण कोई भी नहीं हो सकता ऐसा मेरा निश्चय है ॥२२—२७॥

'हरेर्नाम' श्लोकेर येइ करिल व्याख्यान। सेइ सत्य सुखदार्थ परम प्रमाण ॥२८॥
"भक्ति बिना मुक्ति नहे"—भागवते कय। कलिकाले नामाभासे सुखे मुक्ति हय ॥२९॥

उसने आगे कहा—"श्रीमहाप्रभु ने जो "हरेर्नाम हरेर्नाम"—इत्यादि श्लोक की व्याख्या की है, वह परम सत्य है, सुखद एवं परम प्रमाणरूप है (कि कलि में केवल श्रीहरिनाम ही गति है, और कोई भी गति नहीं है) श्रीभागवत जी में भी स्पष्ट कहा गया है कि भक्ति के बिना मुक्ति नहीं हो सकती और वह मुक्ति कलिकाल में तो नामाभास से सुख पूर्वक अनायास मिल जाती है ॥२८—२९॥ (जैसा कि श्रीभागवत जी में कहा गया है)—

तथाहि (भा: १०—१४—४)

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल बोध लब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥२॥

श्रीब्रह्मा जी ने श्रीकृष्णचन्द्र की स्तुति करते हुए कहा है—"हे विभो! मङ्गल की हेतुभूता आपकी भक्ति को त्याग करके जो लोग केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये (शास्त्राभ्यास व साधनों का) क्लेश उठाते हैं, चावल निकले हुए धान के छिलकों को कूटने वाले व्यक्ति की भांति उनके हाथ केवल क्लेशमात्र ही पड़ता है, उन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं होता" ॥२॥ (और भी कहा है)—

तथाहि (भा: १०—२—३२)—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन स्त्वय्यस्तभावादविशुद्ध बुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधो नादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥३॥

देवगणों ने श्रीभगवान् से कहा है—"हे कमल लोचन! जो आप से विमुख हैं, आपकी भक्ति के अभाव के कारण उनकी बुद्धि अशुद्ध ही रहती है, अतः वे विमुक्त न होते हुए भी अपने आप को विमुक्त मान लेते हैं। वे अति कष्ट से विषयों के सुख को त्यागकर कठोर तपस्यादि के द्वारा मोक्ष-सन्निहित सत्कुलादि को प्राप्त होकर भी आपके चरणों के प्रति अपराध वशतः उस सत्कुलादि से भी अधःपतित हो जाते हैं, अर्थात् भक्ति के बिना मुक्ति कभी भी प्राप्त नहीं कर पाते" ॥३॥

'ब्रह्म'-शब्दे कहे—षड़ैश्वर्यपूर्ण भगवान्। तांरे 'निर्विशेष' स्थापि 'पूर्णता' हय हान ॥३०॥
श्रुति पुराण कहे-कृष्णेर चिच्छक्ति विलास। ताहा नाहि मानि पण्डित करे उपहास ॥३१॥
चिदानन्द कृष्णेर विग्रह 'मायिक' करि मानि। एइ बड़ पाप, सत्य चैतन्येर वाणी ॥३२॥

उसने आगे कहा—"श्रीकृष्णचैतन्य देव तो 'ब्रह्म' का अर्थ षड़ैश्वर्यपूर्ण भगवान् बताते हैं, किन्तु श्रीआचार्यपाद उस ब्रह्म को निर्विशेष कहकर स्थापन करते हैं, उससे ब्रह्म की पूर्णता में हानि होती है। श्रुत एवं पुराणों में भी ब्रह्म में चित्त्शक्ति का विलास प्रमाणित किया गया है, किन्तु श्रीआचार्यपाद उसे न मान कर उपहास करते हैं। श्रीकृष्ण-विग्रह जो चिदानन्दमय है, उसे वे मायिक मानते हैं, जो सब से बड़ा पाप है। अतः मुझे तो श्रीचैतन्यदेव के वचन ही सत्य लगते हैं ॥३०—३२॥

चै० च० चु० टीका :—विचार पूर्वक देखा जाये तो षड़ैश्वर्यपूर्ण सविशेष, साकार भगवत्-स्वरूप ही पूर्णब्रह्म या परमब्रह्म कहा जा सकता है। जिस ब्रह्म को निराकार, निर्विशेष एवं निशक्तिक कहकर मायावादी निरूपण करते हैं, उस स्वरूप को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। कारण कि जिसका आकार नहीं है, जिसमें कोई गुण नहीं है, जिस में शक्ति नहीं है—अर्थात् जिस स्वरूप में इस प्रकार के अनेक अभाव हैं, वह पर्ण कैसे हो सकता है ? अतः ब्रह्म का स्वरूप यदि निर्विशेष, निराकार, आदि मान लिया जाये तो उसकी पूर्णता की हानि होती है।

पुराणों में एवं श्रुतियों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "ज्ञानं ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, वह स्वप्रकाशरूप या चिद्वस्तुरूप है, अर्थात् उसमें चित्-शक्ति का विलास है और **"परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते स्वभावकी ज्ञानबलक्रिया च"**। (श्वेताश्वतर ६—८) इस श्रुति से भी ब्रह्म में उसकी स्वाभाविक शक्ति, शक्ति की क्रिया एवं चित्स्वरूपता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। किन्तु मायावादी ब्रह्म के इस स्वरूप को न मानकर अपना कल्पित मत स्थापन करते हैं।

इसी प्रकार सच्चिदानन्द श्रीकृष्णविग्रह को वे मायिक कह देते हैं। जिससे वे श्रीभगवान् के प्रति अपराध करते हैं। श्रीभगवान् के चिदानन्द-विग्रह को श्लोक से प्रमाणित करते हैं—

तथाहि (भा: ३—९—३)—

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्च्चः।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन् भूतेन्द्रियात्मकमदस्तु उपाश्रितोऽस्मि ॥४॥

श्रीब्रह्मा जो कहते हैं—'हे परम ! आपका जो स्वरूप अनावृत प्रकाश स्वरूप है अर्थात् माया द्वारा जिसका तेज एवं शक्ति कभी प्रतिहत नहीं होती एवं जो त्रिविध भेद-शून्य है अतः जो आनन्द स्वरूप मात्र है (अर्थात् जिस स्वरूप की नाभि से मेरी उत्पत्ति हुई है—) उसे मैं इस आपके प्रकटित स्वरूप से (अर्थात् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन-स्वरूप से) भिन्न नहीं देखता हूँ, (यह वही रूप ही है।) अतः मैं आप के इस रूप का आश्रय ग्रहण करता हूँ। हे आत्मन् ! (आपका यह रूप उपासना योग्य है, कारण कि यह समस्त उपास्य स्वरूपों में मुख्य है एवं आप ही पुरुषादिरूप से विश्व की सृष्टि करने वाले हैं, किन्तु आप इस विश्व से भिन्न हो अर्थात् आपका रूप अप्राकृत, चिन्मय है। आपका यही रूप समस्त भूतों का एवं इन्द्रियों का कारण है ॥४॥ (और भी कहा है)—

तथाहि (भा: १०—४६—४३)—

दृष्टं श्रुतं भूतभवद् भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं वा।
विनाच्युताद् वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमात्मभूतः ॥५॥

भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान—काल, जो कुछ दीखता है, जो कुछ सुना जाता है, स्थावर, जङ्गम, महत् एवं अल्प या छोटा—इन में किसी वस्तु को भी अच्युत—श्रीभगवान् से पृथक या स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता, ये समस्त वस्तुएं परमात्मभूत उसी अच्युत से अभिन्न हैं ॥५॥ (इस श्लोक से भी श्रीभगवान् के विभुस्वरूप एवं भूतेन्द्रियात्मक-स्वरूप की पुष्टि होती है और भी कहते हैं)—

तथाहि (भा: ३—९—४)—

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय ध्याने स्म नो दरशितं उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं यो नादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥६॥

हे भुवनमङ्गल ! हम आपके उपासक हैं, हमारे मङ्गल के निमित्त ध्यान के समय आपने अपने इसी रूप का दर्शन कराया था; अतएव यह आपका वही रूप है, इसमें सन्देह नहीं है। अतएव हम आपको बार-बार निरन्तर नमस्कार करते हैं। हे भगवन् ! जो नराधम अनीश्वरवादियों की कुतर्क में नियुक्त हैं, वे समस्त नरक के अधिकारी हैं। (क्योंकि वे आपके सच्चिदानन्दमय-विग्रह को मायिक मानते हैं, अत: वे आपका आदर नहीं करते)।।६।। इस श्लोक से भी प्रमाणित होता है कि जो श्रीभगवान् के सच्चिदानन्द विग्रह को मायिक मानते हैं एवं ऐसा जानकर उनका अनादर करते हैं–वे नरक के भागी हैं। और भी कहा है—

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (९-११)—

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परंभावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।७।।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—"मैं भूतगणों का अधीश्वर हूँ। मेरा परम-तत्त्व न जानकर मूढ़ व्यक्ति मुझ नरवपुधारी की अवज्ञा करते हैं (अर्थात् वे समझते हैं, साधारण मनुष्यों की भाँति मेरा शरीर भी मायामय है, यही सच्चिदानन्द-विग्रह नरवपु ही मेरा स्वरूप है—वे इस तत्त्व को नहीं जानते) (इस श्लोक से भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति भगवाद् श्रीकृष्ण के नरवपु को मायिक समझते हैं, वे उनके परम-तत्त्व को नहीं जानते हैं—वे मूर्ख हैं। श्रीभगवान् और भी कहते हैं):—

तथाहि तत्रैव (१६-१९)—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।८।।

मैं ऐसे द्वेष-परायण, क्रूर एवं अमङ्गलमय नराधम व्यक्तियों को निरन्तर संसार में आसुरी योनियों में निक्षेप करता हूं ।।८।। (इस श्लोक से प्रमाणित होता है कि जो भगवान् के सच्चिदानन्द-विग्रह से द्वेष करते हैं, उन नराधमों को भगवान् निरन्तर आसुरी योनियों में डाल देते हैं।)

सूत्रेर 'परिणामवाद'–ताहा ना मानिया। 'विवर्त्तवाद' स्थापे–'व्यास भ्रान्त' बलिया ।।३३।।
ए इत कल्पित अर्थ मने नाहि भाय। 'शास्त्र' छाड़ि कल्पना 'पाषण्ड' बुझाय ।।३४।।
परमार्थ विचार गेल, करि मात्र वाद। काहां मुक्ति पाव, काहां कृष्णेर प्रसाद ? ।।३५।।
व्याससूत्रेर अर्थ आचार्य करे आच्छादन। एइ सत्य हय श्रीकृष्ण चैतन्यवचन ।।३६।।
चैतन्यगोसाञि येइ कहे, सेइ मत सार। आरयत मत—सेइ सब छारखार ।।३७।।
एत कहि सेइ करे कृष्ण सङ्कीर्त्तन। शुनि प्रकाशानन्द किछु कहेन वचन ।।३८।।

उस संन्यासी ने आगे कहा–"वेदान्त सूत्रों में जगत् को ब्रह्म की परिणति कहा गया है, अर्थात् उनमें परिणामवाद को स्थापन किया गया है, किन्तु श्रीआचार्यपाद विवर्त्तवाद को स्थापन करते हैं। इस पर भी वे ब्रह्म-सूत्र के रचयिता श्रीव्यासदेव को भ्रान्त बतलाते हैं। इस प्रकार विवर्त्तवादपरक जो उनका कल्पित अर्थ है, वह मन को जचता नहीं है। कारण कि शास्त्र को छोड़कर जो निजस्व कल्पित मत है, वह पाखण्ड ही कहा जाता है। इसमें उन्होंने केवल अपने वाद को ही स्थापन करने का हठमात्र किया है, परमार्थ वस्तु का विचार तो लुप्त हो गया है। इस प्रकार भला कैसे तो कोई मुक्ति प्राप्त कर लेगा औ

कैसे श्रीकृष्ण-कृपा को ही प्राप्त कर लेगा ? वेदान्त सूत्रों के प्रकृत-अर्थ को आचार्यपाद ने आच्छादन कर दिया है—यह बात जो श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने कही, परम सत्य है। श्रीचैतन्यदेव का जो मत है, वही सर्वमतों का सार है। उसके विपरीत जो भी मत हैं वे सब सारहीन राख के समान हैं। इतना कहकर वह संन्यासी श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन करने लगा। उसके वचन सुन कर श्रीप्रकाशानन्द कहने लगे ॥३३-३८॥

चैं० च० च० *टीका*:—**परिणामवाद**–यह जगत् ब्रह्म की परिणति है; घट जैसे मृत्तिका की परिणति है, उसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म की परिणति है—इस मत को परिणामवाद कहते हैं। श्रीजीव-गोस्वामीजी ने कहा है—तत्त्व से अन्यरूप भाव ही '**परिणाम**' है, किन्तु तत्त्व का अन्यरूप भाव नहीं है। मूल वस्तु स्वयं अविकारी रहकर यदि अन्यरूप धारण करे, तो उस अन्यरूप को उसका '**परिणाम**' कहते हैं। मन्त्रों में, मणि में, महौषधियों में इस प्रकार की अचिन्त्य-शक्ति देखी जाती है। तर्क द्वारा इस प्रकार की अचिन्त्य-शक्ति का समाधान नहीं हो सकता।

"**आत्मकृतेः परिणामात्**" ॥१-४-२६॥ इस वेदान्त-सूत्र का मुख्य अर्थ है कि ब्रह्म ही जगद्रूप में परिणत हो रहा है। इसी सूत्र के भाष्य में श्रीशङ्कराचार्यजी ने **तदात्मानं स्वयमकुरुत**—इस श्रुति का उल्लेख करते हुए कहा है कि ब्रह्म ने ही स्वयं अपने आपकी सृष्टि की। कर्त्ता भी ब्रह्म है और कर्म भी ब्रह्म है। फिर उन्होंने स्वयं यह शंका उठाई है कि ब्रह्म ही कर्त्ता और ब्रह्म ही कर्म कैसे हो सकता है ? ब्रह्म तो पूर्वसिद्ध अर्थात् अनादि, नित्य विद्यमान एवं कर्त्ता है, वह कैसे कर्म हो सकता है ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा है कि ब्रह्म ने पूर्वसिद्ध सत्-स्वरूप होते हुए भी विशेष विकारीरूप में अपने को परिणामित किया है। उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा है कि "**ब्रह्म एव विकारात्मनायं परिणामः**"। अर्थात् ब्रह्म की विकारात्मता के कारण ही यह परिणाम है। यानी यह जगत् ब्रह्म का परिणाम है—इस बात को श्रीशङ्कराचार्यपाद ने स्वीकार किया है, परन्तु इस परिणति द्वारा ब्रह्म विकारी हो जाता है—यह उन्होंने बतलाया है।

इस बात का उत्तर देते हुए श्रीगोविन्द भाष्य के कर्त्ता श्रीपाद बलदेव विद्याभूषणजी ने बतलाया है कि कूटस्थता का अविरोधी परिणाम विशेष ब्रह्ममें सम्भव होने से कर्त्ता होकर भी ब्रह्म कर्म हो सकता है। फिर उन्होंने यह भी बताया है कि ब्रह्म में पराशक्ति है, क्षेत्रज्ञाशक्ति है तथा उसमें मायाशक्ति है। इससे ब्रह्म का निमित्तत्व एवं उपादानत्व ज्ञात होता है। पराशक्तिमान् रूप से वह निमित्त बनता है और दूसरी दोनों शक्तियों के द्वारा वह उपादान बनता है। इस प्रकार निमित्त रूप में ब्रह्म कूटस्थ अर्थात् निर्विकार रहता है और उपादान रूप में वह परिणामी होता है। सूक्ष्म-प्रकृतिक रूप में कर्त्ता एवं स्थूल-प्रकृतिक रूप में वह कर्म होता है।

इस आलोचना से सिद्ध होता है कि श्रीपाद शङ्कराचार्य तथा श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण जी—दोनों ने परिणामवाद स्वीकार किया है, पार्थक्य यह है कि श्रीशङ्कराचार्यपाद कहते हैं परिणाम से ब्रह्म विकारी हो जाता है, और श्रीपादविद्याभूषण जी कहते हैं परिणाम से ब्रह्म विकारी नहीं होता है। उसका परिणाम उसकी कूटस्थता (निर्विकारत्व) के अविरोधी है। परिणामी होकर भी ब्रह्म निर्विकारी रहता है।

किन्तु परिणाम से ब्रह्म के निर्विकारत्व की हानि नहीं होती एवं कूटस्थ ब्रह्म नानाविध विरुद्ध धर्मों का आश्रय है—इन श्रुति-वाक्यों की उपेक्षा करके श्रीशङ्कराचार्यपाद ने केवल स्वीय युक्तियों पर निर्भर होकर विवर्त्तवाद की स्थापना की है एवं श्रीव्यासदेव जी को भ्रान्त कहकर वर्णन किया है। विवर्त्तवाद क्या है ? उसे संक्षेप में यहाँ उद्धृत करते हैं।

विवर्त्तवाद—अर्थात् भ्रम-वाद । रज्जु में जैसे सर्प का भ्रम होता है, सीपी में जैसे चान्दी का भ्रम होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी जगत् का भ्रम हो रहा है. परिदृष्यमान यह सब जगत् ब्रह्म में हमें भ्रमवशतः दीखता है, वास्तव में यह सब कुछ है नहीं—इस प्रकार का जो एक मत है, उसे "**विवर्त्तवाद**" कहते हैं । परिणामवाद को स्वीकार करने से ब्रह्म को विकारी मानना पड़ेगा—यह जानकर श्रीआचार्यपाद ने परिणामवाद को न मानकर उपर्युक्त विवर्त्तवाद की स्थापना की है ।

श्रीशङ्कराचार्यपाद का विवर्त्तवाद शुक्ति-रजत एवं रज्जु-सर्प के दृष्टान्तों पर ही प्रतिष्ठित है, किसी भी श्रुति-वाक्य पर प्रतिष्ठित नहीं है । सीपी को देखकर जो चान्दी का ज्ञान होता है, वह जैसे काल्पनिक एवं वास्तव सत्वाहीन होता है, उसी प्रकार रस्सी को देखकर भी जो सर्प का ज्ञान होता है, वह भी काल्पनिक एवं वास्तव सत्त्वाहीन होता है । पहले जिसने चान्दी देखी हुई है और जिसके अन्दर उसकी चमक आदि के सम्बन्ध में धारणा व संस्कार है, उसे ही सीपी को देखकर उसमें चान्दी का भ्रान्त-ज्ञान हो सकता है । उसी प्रकार पहले जिसने सर्प को देखा हुआ है, उसे ही रज्जु में सर्प का भ्रान्त-ज्ञान होता है । रज्जु को देखने से सर्प का ज्ञान होता है, वह ज्ञान भ्रान्तिमात्र है—इस बात को सीपी-चान्दी के दृष्टान्त द्वारा अच्छी प्रकार प्रतिपन्न किया जा सकता है । इसी प्रकार सीपी को देखने से जो चान्दी का भ्रान्त-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे भी रज्जु-सर्प के दृष्टान्त द्वारा सुन्दर रूप से प्रतिपन्न किया जा सकता है, कारण कि दोनों स्थलों पर दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकों में सादृश्य है । किन्तु इन दोनों दृष्टान्तों में किसी के द्वारा भी ब्रह्म के साथ जगत् का सम्बन्ध प्रतिपन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में किसी विषय में भी सादृश्य नहीं है ।

जगत् के साथ ब्रह्म का कार्य-कारण-सम्बन्ध है, ब्रह्म जगत् का निमित्त-कारण तथा उपादान-कारण है और जगत् ब्रह्म का कार्य है । यह बात श्रुति-स्मृति द्वारा प्रमाणित है । **जन्माद्यस्य यतः**" "इत्यादि ब्रह्मसूत्र में, "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्-ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व**"—इत्यादि अनेक श्रुतिवाक्यों में इस बात का सुस्पष्ट उल्लेख है । किन्तु शुक्ति-रजत एवं रज्जु-सर्प के दृष्टान्तों जैसा सम्बन्ध ब्रह्म एवं जगत् में कोई भी नहीं है । सीपी से चान्दी की उत्पत्ति नहीं है और न ही रज्जु से सर्प की उत्पत्ति है । सीपी का चान्दी के साथ और सर्प का रज्जु के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है । किन्तु ब्रह्म से जगत् का उद्भव होता है, ब्रह्म में ही जगत् की स्थिति है । ब्रह्म जगत् में ओत प्रोत भाव से अनुस्यूत है, वस्त्र में सूत्र की भाँति । कारण को छोड़कर कार्य की उपलब्धि नहीं होती । सूत्र के बिना वस्त्र की उपलब्धि नहीं हो सकती । उसी प्रकार ब्रह्म के बिना जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उपलब्धि नहीं हो सकती । कारण का धर्मविशेष ही कार्य है । कारण से कार्य और कार्य से कारण पृथक् नहीं है । इससे स्पष्ट है कि जगत् रूप कार्य ब्रह्म से भिन्न नहीं है । जब इस प्रकार का सम्बन्ध ब्रह्म एवं जगत् में सिद्ध है, तब यदि सीपी एवं रजत में अथवा रज्जु एवं सर्प में इसी प्रकार का ठीक-ठीक सम्बन्ध हो तभी शुक्ति-रजत के अथवा रज्जु-सर्प के दृष्टान्त के साथ दार्ष्टान्तिक जगत्-ब्रह्म का सादृश्य रह सकता है और तभी दृष्टान्त सार्थक हो सकता है । किन्तु यहाँ इस प्रकार की सार्थकता नहीं है । कारण कि न तो शुक्ति से रजत की उत्पत्ति है और न ही शुक्ति एवं रजत अभिन्न ही हैं । इसी प्रकार रज्जु से न तो सर्प की उत्पत्ति ही है और न ही वे दोनों अभिन्न ही हैं । ब्रह्म के बिना जगत् की कल्पना भी नहीं की जा सकती, किन्तु शुक्ति के बिना भी रजत का एवं रज्जु के बिना सर्प का एक पृथक् अस्तित्व है । विवर्त्तवाद के शुक्ति-रजत या रज्जु-सर्प के दृष्टान्त की यौक्तिकता यदि स्वीकार की जाए तो मृत्तिका के बिना घट की उपलब्धि भी स्वीकार करनी पड़ेगी । अतः इस आलोचना से सुस्पष्ट समझा

जा सकता है कि इन दृष्टान्तों की ब्रह्म-जगत् के सम्बन्ध में कुछ भी सार्थकता नहीं है, जिन दृष्टान्तों पर मायावादियों का विवर्त्तवाद प्रतिष्ठित है।

यदि कोई कहे कि ब्रह्म एवं जगत् में क्या सम्बन्ध है, इस बात को समझाने के लिये शुक्ति-रजत का दृष्टान्त नहीं दिया गया है, बल्कि शुक्ति को देखकर जिस रजत का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह रजत जैसे वास्तव सत्वा-हीन है, वह जैसे एक भ्रान्तिमात्र है, उसी प्रकार यह जो परिदृष्यमान् जगत् दीखता है, वह भी एक भ्रान्तिमात्र है, इसकी भी वास्तव कोई सत्त्वा नहीं है—यह बात समझाने के लिये ही शुक्ति-रजत का दृष्टान्त दिया गया है।

तब इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि यदि परिदृष्यमान् जगत् की वास्तव-सत्वाहीनता सिद्ध करने के लिये ही उक्त दृष्टान्त दिये गये हैं, तो विवर्त्तवादियों का यह प्रयास बिल्कुल वृथा है, क्योंकि यह श्रुति-विरोधी है। **"जन्माद्यस्य यतः"**—इत्यादि वेदान्त-सूत्रों में **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"**—इत्यादि श्रुति वाक्यों में इसी परिदृष्यमान जगत् की ही तो सृष्टि-स्थिति-विनाश की बात वर्णन की गई है। जिस वस्तु की वास्तव कोई सत्त्वा ही नहीं है, उसके जन्मादि का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। आकाश के फूलों के जन्मादि की कोई बात नहीं उठती। ब्रह्म ही जगत् का कारण है—इस सम्बन्ध में समस्त श्रुतियों का एकमत है। वेदान्त-सूत्र के भाष्य में श्रीपाद शङ्कराचार्य जी ने भी ब्रह्म का ही जगत्-कारणत्व प्रतिपन्न किया है। कार्य की यदि कोई सत्त्वा नहीं, कार्य यदि आकाश-पुष्पवत् अलीक ही है, तो कारणत्व की बात बार-बार श्रुतियां क्यों वर्णन करती हैं? एवं कार्यरूप जगत् के कारण का निर्णय करने के लिये भाष्यकारों ने ही क्यों इतना श्रम उठाया?

"एतद् वै सत्यकाम परञ्च अपरञ्च ब्रह्म यद् ओम्कारः" (प्रश्नोपनिषत्, ५-२) **"ओम् इति ब्रह्म"**। **ओम इति इदं सर्वम्"** (तैत्तिरीय, १-८)—इत्यादि इस प्रकार के अनेक श्रुतिवाक्य हैं जिनमें **"एतद्"** अर्थात् यही, **"इदम्"** अर्थात् यह—इस प्रकार के शब्दों द्वारा मानों अङ्गुलि के निर्देश पूर्वक परिदृष्यमान जगत् को दिखाते हुए उन्होंने कहा है—'यह जो तुम सर्व दिशाओं में देखते हो, यह समस्त ब्रह्म ही है।" यह जो कुछ दीखता है, यह कालाधीन है। एतद्व्यतीत जो कालातीत है, वह भी ब्रह्म है, ओंकार है।" परिदृष्यमान् जगत् काल के अधीन है, इसलिये इसकी उत्पत्ति एवं विनाश को बात भी श्रुतियों ने कही है। "सब कुछ जो यह दीखता है,इसकी कोई सत्त्वा नहीं हैं"–यह बात श्रुतियों ने नहीं कही है। यदि जगत् की कुछ सत्त्वा न होती तो, ब्रह्म को इसका अन्तर्यामी और इस जगत् की योनि (कारण) कहकर वर्णन न किया जाता। जिसकी सत्त्वा ही नहीं है, उसकी फिर कालाधीनता कैसी? वृहदारण्यक, (३-२-१) में कहा गया है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त्त एवं अमूर्त्त। जो मूर्त्त है वह मर्त्य अर्थात् विनाशी है। और जो अमूर्त्त है वह अमृत अर्थात् नित्य है। मूर्त्तरूप परिच्छिन्न है एवं सत् अर्थात् उद्भूतरूप विशिष्ट या व्यक्त-रूप विशिष्ट है; तथा अमूर्त्तरूप अपरिच्छिन्न अर्थात् व्यापक एवं त्यत् अर्थात् अनुद्भूतरूप-विशिष्ट या अव्यक्तरूप-विशिष्ट है। इससे स्पष्ट है कि परिदृष्यमान् जगत् ब्रह्म का मूर्त्तरूप है, जो परिच्छिन्न व सीमा-वद्ध एवं विनाशशील है। परिच्छिन्न एवं विनाशशील शब्दों से भी जगत् का अस्तित्व प्रमाणित होता है। वस्तुतः ब्रह्मरूप कारण के सत्यत्व में ही कार्यरूप जगत् का सत्यत्व है। ब्रह्म में ही जगत् अधिष्ठित है। कार्य के कारण में अधिष्ठित होने से कारण का ज्ञान न रहने पर भी प्रायः कार्य से कारण का ज्ञान हुआ करता है। एक वस्त्र को अच्छी प्रकार देखने से उसके कारण रूप सूत्र का ज्ञान होता है। क्योंकि कारण एवं कार्य अनन्य होते हैं, अतः कारण सत्य होने से कार्य भी सत्य होता है। इसलिये जगत् का कारण ब्रह्म जब सत्य है, तब उसका कार्यरूप जगत् भी सत्य है, अवश्य वह अनित्य है।

विवर्त्त-शब्द का अर्थ है भ्रान्ति। ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति है—यही विवर्त्तवादियों का प्रतिपाद्य है। यहाँ एक प्रश्न उठता है। सीपी को देखकर रजत की भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्ति की एक वास्तव भित्ति या बुनियाद है। जिस ने पहले वास्तविक रजत या चाँदी देखी हुई है, उसी को ही इस प्रकार का भ्रम हो सकता है, और को नहीं। किन्तु ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति किस सत्य वस्तु के देखे हुए संस्कार से उत्पन्न होती है? यदि कहा जाए वास्तव जगत् को देखने के संस्कार से इस भ्रान्ति की उत्पत्ति है तो जगत् की वास्तविकता को स्वीकार करना पड़ेगा। इस का समाधान करने के लिये यदि कोई कहे कि यह भ्रान्ति-संस्कार अनादिसिद्ध है, तो यह बात निरर्थक है। कारण कि जिस वस्तु की सत्वा ही नहीं है वह कोई संस्कार भी पैदा नहीं कर सकती। किसी देखी हुई या सुनी हुई वस्तु का ही संस्कार जन्मा करता है। जो वास्तव सत्वा हीन वस्तु है, वह देखी नहीं जा सकती, वह सुनी भी नहीं जा सकती। इसलिये वह कोई संस्कार भी नहीं जन्मा सकती। ठीक है हम कभी कभी अलीक या सत्वाहीन वस्तुओं की कल्पना किया करते हैं किन्तु वह भी सत्य वस्तुओं के संस्कार पर ही प्रतिष्ठित हुआ करती है। जैसे सत्य कुसुम के संस्कार से अलीक आकाश-कुसुम की कल्पना की जाती है। यदि जगत् में कुसुम नाम की कोई वस्तु ही न होती तो आकाश-कुसुम की कल्पना भी कभी न की जाती। इस लिये जगत् यदि वास्तव सत्वाहीन है तो फिर उस की ब्रह्म में भ्रान्ति या कल्पना नहीं की जा सकती। सत्वाहीन वस्तु को भ्रान्ति कहाँ से आई?

एक बात और भी है कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु की भ्रान्ति तभी हुआ करती है, जब उन में परस्पर किसी विषय में सदृश्यता होती है। शुक्ति में श्वेतता व चमक है और रजत में भी श्वेतता व चमक है। दोनों में इस प्रकार की सदृश्यता है। इसी प्रकार रज्जु में एवं सर्प में रंग एवं बलों की (टेढ़ेपन की) सदृश्यता है। तभी शुक्ति में रजत की तथा रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है। किन्तु शुक्ति में सर्प और रज्जू में रजत की भ्रान्ति कभी भी नहीं हो सकती, कारण कि उनमें सदृश्यता नहीं है। यदि इस प्रकार की कोई सदृश्यता ब्रह्म एवं जगत् में हो, तो भी ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति विवर्त्तवादियों के कथनानुसार स्वीकार की जा सकती है। किन्तु इस प्रकार की कोई भी सदृश्यता ब्रह्म एवं जगत् में नहीं दीखती। हम जगत् का एक स्थावर जङ्गमात्मक अनन्त वैचित्रीमय रूप देखते हैं। क्या विवर्त्त वादीगण ब्रह्म का परिदृश्यमान् जगत् की भांति अनन्त वैचित्रीमयरूप स्वीकार करेंगे?—वे तो ब्रह्म का स्वरूप निराकार, निर्विशेष, निःशक्तिक निर्द्धारित करते हैं। निराकार, निर्विशेषादि ब्रह्म में साकार, सविशेषादि जगत् की सदृश्यता ही नहीं सिद्ध होती, फिर ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति कहां से प्रतिपन्न हो सकती है?

शुक्ति में रजत का जो भ्रम होता है या रज्जु में सर्प का जो भ्रम होता है, उस भ्रम का हेतु है—अज्ञान! उस अज्ञान का आश्रय शुक्ति नहीं है और न ही रजत है। शुक्ति में रजत देखने वाला व्यक्ति ही उस अज्ञान का आश्रय है। ब्रह्म में जो जगत् का भ्रम होता है; वह भी अज्ञानवश होता है—ऐसा विवर्त्तवादी कहते हैं। भ्रम होता है जीव को। जीव ही अज्ञानवशतः ब्रह्म को जगत् जान कर भ्रम में पड़ता है। इससे उस अज्ञान का आश्रय जीव ही ठहरता है। किन्तु विवर्त्त वादी कहते हैं शुद्ध जीव ब्रह्म ही है, शुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव ज्ञानस्वरूपब्रह्म है। यह ब्रह्म जब अज्ञान द्वारा आवृत होता है, तब उसकी जीव संज्ञा होती है। जिस दिन तक उस अज्ञान का आवरण रहता है उसी दिन तक उसका जीवत्व है एवं उसी दिन तक ब्रह्म में उसको जगत् का भ्रम भी रहेगा। अब यह प्रश्न उठता है कि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म कैसे अज्ञान द्वारा आवृत हो सकता है? सर्वव्यापक ब्रह्म अज्ञानद्वारा कैसे व्याप्त हो सकता है ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का जब अज्ञान द्वारा आवृत होना असम्भव है, तब उस के पक्ष में जगत् की भ्रान्ति भी असम्भव है।

"अज्ञान द्वारा आवृत्त ब्रह्म ही जीव है"-यह बात स्वीकार करने से मुक्ति सम्भाव्यता भी समाप्त हो जाती है। कारण कि एकबार जब शुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म को अज्ञान आवृत या कवलित कर सका है, और जब उस समय उस अज्ञान से वह अतीत नहीं रह सका, तब मुक्त जीव ब्रह्म स्वरूपत्व को प्राप्त होकर फिर उसी अज्ञान से अनावृत रहेगा—इस बात की क्या निश्चयता है ? अर्थात् मुक्ति निरर्थक रह जाती है।

विवर्त्तवादियों की प्रस्तावित भ्रान्ति में एक अद्भुत विशेषत्व है, जो बुद्धि से बाहर है। व्यवहारिक जगत् में अनेक प्रकार का भ्रम हमें हुआ करता है, किन्तु उस भ्रम का कोई निश्चित नियम नहीं है। रज्जु को देखने पर सब को सर्प का भ्रम नहीं होता है, किसी को उसमें लता का भी भ्रम होता है, किसी को पृथ्वी की दरार का भी भ्रम होता है, कोई रज्जु को रज्जु ही जान लेता है, उसे कोई भ्रम नहीं होता। इस प्रकार शुक्ति को देखकर भी सब को भ्रम नहीं होता है, जिन को होता है उन सब को यह आवश्यक नहीं कि उस में चाँदी का ही भ्रम हो। कोई उसे शीशा, कोई उसे नमक इत्यादि भी जान सकता है। तात्पर्य यह है कि हमें इस प्रकार के अनेक भ्रम होते हैं, किन्तु उनका कोई एक निश्चित नियम नहीं, किन्तु विवर्त्तवादियों का जो प्रस्तावित भ्रम है वह एक अति कठोर नियम प्रणाली का ही अनुसरण करता है। एक व्यक्ति जिसे आम का वृक्ष कह कर भ्रम में पड़ता है, अन्यान्य सब व्यक्ति भी उसे आम का वृक्ष जानकर भ्रम में पड़ते हैं। आम के वृक्ष में और किसी वृक्ष का या और किसी वस्तु का भ्रम उन्हें नहीं होता। घोड़े के चार पाँवों का भ्रम जैसे एक व्यक्ति को होता है, दूसरे को भी घोड़े के उसी प्रकार चार पांव का ही भ्रम होता है—ऐसा उनका मन्तव्य है। किन्तु भ्रम में इस प्रकार का अव्यभिचारित्व नहीं रह सकता। भ्रम में सदा व्यभिचारित्व रहता है। जन्म-मृत्यु आदि के नियमों के सम्बन्ध में जैसा हमारा ज्ञान है, उसे भी विवर्त्तवादी भ्रान्ति कहते हैं; किन्तु जन्म-मृत्यु के सम्बन्ध में हमारा जो नियम ज्ञान है, वही नियम ज्ञान विवर्त्तवादियों में भी हम देखते हैं। विवर्त्तवादियों के मत में रोगादि भी तो भ्रान्ति मात्र हैं, किन्तु रोगादि की चिकित्सा के जो नियम हैं। वे नियम सब के लिये ही एक से हैं, वे अव्यभिचारी हैं। इससे ज्ञात होता है कि नियमों का या शृंखलाओं का जो अव्यभिचारित्व है, वह एकमात्र सत्य वस्तु के पक्ष में ही सम्भव है। मिथ्या या अलीक वस्तु में इस प्रकार के अव्यभिचारित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जगत् के नियमों का पूर्वोल्लिखित अव्यभिचारित्व ही यह प्रमाणित करता है कि यह जगत् मिथ्या या भ्रान्तिमात्र अलीक बस्तु नहीं है। यह जगत् सत्य है एवं सत्य पर प्रतिष्ठित है। अतः इस अव्यभिचारित्व में विवर्त्त का कोई स्थान नहीं हो सकता।

सारांश यह है कि विवर्त्तवाद को स्वीकार करने से वेद वेदान्त-उपनिषदादि में सृष्टि-स्थिति-प्रलयादि के सम्बन्ध में जो समस्त वचन हैं, उन्हें मिथ्या या अलीक जानना पड़ेगा और वैदिक कर्मानुष्ठान तथा साधन भजनादि के सम्बन्ध में जितना विवरण हैं, उसकी कुछ भी सार्थकता न रहेगी। किन्तु परिणामवाद स्वीकार करने से समस्त शास्त्रवचनों की सत्यता की रक्षा होती है एवं वैदिक कर्मानुष्ठान व साधन-भजनादि सम्बन्धीय वचनों की सार्थकता हो सकती है। व्यवहारिक जगत् के नियमों के अव्यभिचारित्व का भी सन्तोषजनक समाधान पाया जा सकता है। अतः श्रीमन्महाप्रभु जी ने विवर्त्तवाद का खण्डन करके परिणामवाद की ही स्थापना की है !

आचार्येर आग्रह—'अद्वैतवाद' स्थापिते। ताते सूत्रार्थव्याख्या करे अन्य रीते ॥३९॥

'भगवत्ता' मानिले—'अद्वैत' ना याय स्थापन। अतएव सर्वशास्त्र करये खण्डन ॥४०॥

येइ ग्रन्थकर्त्ता चाहे स्वमत स्थापिते। सहज शास्त्रेर अर्थ ना हय ताहा हैते ॥४१॥

मीमांसक कहे–ईश्वर हय कर्मेर अङ्ग । सांख्य कहे–जगतेर प्रकृति कारण प्रसङ्ग ॥४२॥
न्याय कहे–परमाणु हैते विश्व हय । मायावादी–'निर्विशेष' ब्रह्म हेतु कय ॥४३॥
पातञ्जल कहे––ईश्वर स्वरूप ज्ञान । वेदमते कहे––तेञ्हि स्वयंभगवान् ॥४४॥
छयेर छय मत व्यास कैल आवर्त्तन । सेइ सब सूत्र लैया वेदान्त वर्णन ॥४५॥

श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती ने कहा—"श्रीशङ्कराचार्यपाद का आग्रह 'अद्वैतवाद' के स्थापन करने में था। अतः उन्होंने वेदान्त सूत्रों की व्याख्या मुख्य अर्थ छोड़कर अन्य प्रकार से की। भगवत्ता' मान लेने पर फिर 'अद्वैत' की स्थापना नहीं की जा सकती। इसलिये उन्होंने सब शास्त्रों के प्रमाणों को खंडन करने की चेष्टा की है। जो ग्रन्थकर्त्ता अपने मत की स्थापना करना चाहता है, वह फिर शास्त्रों के सहज अर्थात् प्रकृत या वास्तविक अर्थों को ग्रहण नहीं करता। मीमांसक कहते हैं—"ईश्वर कर्मों का अङ्ग है।" सांख्य दर्शन कहता है—"जगत् का मूल कारण प्रकृति ही है।" न्याय शास्त्र कहता है—"परमाणुओं से ही विश्व की उत्पत्ति है।" मायावादी—शङ्कराचार्यानुयायी अद्वैतवादी कहते हैं—'निर्विशेष ब्रह्म ही इस जगत् का कारण है।" पातञ्जल दर्शन का मत है—"ईश्वर के स्वरूप मात्र का जान लेना।" और वेदों का—उपनिषदों का मत है कि "स्वयं भगवान् ही इस जगत् का मूल कारण है।" न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल, मीमाँसा एवं वेदान्त) इन छयों के छः मतों को सम्यक् प्रकार से विचार करने के पश्चात् श्रीव्यासदेव ने ब्रह्म सूत्र या वेदान्त सूत्रों को लिपिबद्ध किया है ॥३९—४५॥

चै० च० पु० *टीका*:—श्रीप्रकाशानन्द ने अपने शिष्य संन्यासी का अनुमोदन करते हुए कहा कि श्रीशङ्कराचार्य पाद का उद्देश्य अद्वैतवाद को स्थापन करना था। ब्रह्म निर्विशेष है, निराकार, निर्गुण, निःशक्तिक है। यह नाना नाम-रूपमय जो जगत् दीखता है—रज्जु में सर्प की भाँति भ्रम मात्र ही है। वास्तव में जगत् कुछ हुआ नहीं, समस्त ही ब्रह्म है और वह ब्रह्म निर्विशेष है। इस मत को **अद्वैतवाद** व **विवर्त्तवाद** तथा **मायावाद** भी कहते हैं। इस मत की स्थापना करना श्रीशङ्कराचार्यपाद का उद्देश्य था। उसका कारण आदिलीला पृष्ठ १७४ पर द्रष्टव्य है। अतः उन्होंने वेदान्त सूत्रों के मुख्य अर्थों को त्याग कर गौण-अर्थों युक्त **'शङ्कर-भाष्य'** की रचना की।

उन्होंने ब्रह्म की **भगवत्ता** को स्वीकार नहीं किया है। **भगवत्ता** अर्थात् षड़ैश्वर्य-पूर्णता यदि ब्रह्म में मान ली जाए तो अद्वैतवाद की स्थापना नहीं हो सकती, कारण कि भगवत्ता मान लेने से ब्रह्म की भक्ति एवं शक्ति के कार्य को स्वीकार करना पड़ता है। शक्ति का कार्य स्वीकार करने से ब्रह्म को सविशेष, साकार मानना पड़ता है और जीव को ब्रह्म की जीव-शक्ति का अंश मानने से ब्रह्म से पृथक देहधारी जीव को स्वीकार करना पड़ता है। इसमें फिर अद्वैतवाद कहाँ टिकता है ? अतः उन्होंने ब्रह्म की भगवत्ता को ही मिटाने का प्रयास किया है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि श्रीमन्महाप्रभु द्वैतवादी नहीं है। वेदान्तसूत्रों का मुख्या-वृत्ति से अर्थ करके उन्होंने अद्वैत-तत्त्व को ही स्वीकार करते हुए **अचिन्त्य-भेदाभेद** मत की स्थापना की है। परन्तु श्रीमन्महाप्रभु की एवं श्रीशङ्कराचार्य की अद्वैत-तत्व के स्थापन की प्रणाली एक जैसी नहीं है एवं दोनों के प्रतिष्ठित अद्वैत-तत्व का स्वरूप भी एक नहीं है।

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने किस वाद का स्थापन किया एवं उनके अद्वैत-तत्व का क्या रूप है, प्रसङ्गवश उसकी संक्षिप्त आलोचना हम यहाँ करते हैं। किन्तु उससे पूर्व मीमाँसा-सांख्यादि षड़दर्शनों का क्या मत है उनकी ओर एक दृष्टिपात कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है:—

(क) **पूर्वमीमांसा-दर्शन**—इस दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि **जैमिनी** हैं। सम्यक् विचार पूर्वक सिद्धान्त को उपनीत करने का नाम **मीमांसा** है। वेद के दो अंश हैं—**पूर्वकाण्ड व उत्तरकांड**। पूर्वकाण्ड में वैदिक कर्मों की बात कही गई है और उत्तरकाण्ड में उपनिषत् या वेदान्त का विचार किया गया है। जैमिनि ने क्रिया कर्म-विशिष्ठ पूर्वकाण्ड की आलोचना की है। अतः उनके दर्शनों को या मीमाँसाग्रन्थ को **पूर्व-मीमांसा** कहा जाता है।

(ख) **उत्तर मीमांसा दर्शन**—श्रीव्यासदेव जी ने वेदों के उत्तरकाण्ड की आलोचना करके **ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन** को प्रकटित किया है। उस वेदान्तदर्शन को **उत्तर मीमांसा** कहा जाता है।

पूर्वमीमांसा दर्शन के मतानुसार जो साधन करते हैं—वे मीमांसकगण ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं समझते। उनके मत में, जगत् का कोई भी सृष्टि कर्त्ता, पालनकर्त्ता व संहारकर्त्ता नहों है। जीव अपने कर्मों के अनुसार ही फल भोग करता है। उसमें ईश्वर का कोई भी सम्पर्क नहीं है। उनके मत में कर्म या यज्ञ ही **मुख्य साधन** है।

इन्द्रादि-देवताओं के उद्देश्य से यज्ञ-अनुष्ठान वे करते हैं, परन्तु यज्ञ ही उनका प्रधान लक्ष्य है· इन्द्रादि देवता नहीं। देवताओं का वे स्वतन्त्र अस्तित्व भी नहीं मानते। देवताओं को मन्त्रात्मक ही मानते हैं अर्थात् देवता का जो मन्त्र वेद में लिखा हुआ है, वही मन्त्र ही देवता है। मन्त्र को छोड़कर और कोई देवता नहीं है। वह मन्त्र भी यज्ञ या कर्म का अङ्ग विशेष है—ऐसा वे मानते हैं, कारण कि मन्त्र का यथायथ उच्चारण किये बिना यज्ञ का अनुष्ठान नहीं हो सकता। **स्वर्गप्राप्ति** ही उनका **परम पुरुषार्थ** है। जैमिनि के मत में परिदृष्यमान् यह जगत्—अनादि है, इसका नाश एवं प्रलय वे नही मानते—इत्यादि। वेदान्त-दर्शन में मीमांसादर्शन की जो आलोचना की गई है, उससे ज्ञात होता है कि अनित्य स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति को ही वे मोक्ष मानते हैं। अतः इस मत के अनुसरण से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति असम्भव है।

२—**सांख्य दर्शन**—सांख्य दर्शन से यहाँ **निरीश्वर-सांख्य-दर्शन** से अभिप्राय है। परमर्षि **कपिल** इस निरीश्वर-सांख्य दर्शन के प्रवर्त्तक हैं। एक और भी श्रीकपिलदेव जी हैं जो कर्दम-पत्नी देवहूति के पुत्र हैं—वे भगवद्वतार हैं, उन्होंने भी एक सांख्य दर्शन प्रकट किया है—वह निरीश्वर सांख्य-दर्शन नहीं है। महाभारत के बनपर्व में अग्निवंशज एक कपिलदेव का उल्लेख है, वही उस निरीश्वर-सांख्य-दर्शन के प्रवर्त्तक हैं।

निरीश्वर-सांख्यदर्शन कहता है—त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति ही जगत् का मूल कारण है। प्रकृति से महतत्त्व, महतत्त्व से अहंकारतत्व-इत्यादि इस क्रम से जगत् की सृष्टि हुई हैं। अतः प्रकृति ही जगत् का मूल कारण है।

सांख्यमत में प्रकृति के चौबीस तत्त्व एवं एक पुरुष इस प्रकार कुल पच्चीस तत्त्व माने गये हैं। पुरुष को वह जड़ नहीं कहता। पुरुष अनादि, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, चेतन निर्गुण, द्रष्टा, भोक्ता, अकर्त्ता, अमल (शुभाशुभ कर्मशून्य) एवं अपरिणामी मानता है। अर्थात् जीवात्मा ही उसका पुरुष है। वह पुरुष को अनेक मानता है और प्रकृति को एक रूप मानता है। प्रकृति जड़ होते हुए भी स्वयं परिणामशीला है, पुरुष के मोक्ष एवं भोग के निमित्त वह स्वतः ही परिणाम को प्राप्त होती है। ऐसा सांख्य का मत है। वह ईश्वर को भी स्वीकार नहीं करता, वह कहता है प्रकृति के परिणाम में ईश्वर का कोई सम्पर्क नहीं है। जीव के मोक्षादि में भी ईश्वर को कोई प्रयोजन नहीं है।

किन्तु वेदान्त-दर्शन से इस मत की आलोचना करने से पता लगता है कि निरीश्वर-सांख्य मत श्रुतिस्मृति के विरुद्ध है। वह केवल युक्ति के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। श्रीपाद शङ्कराचार्य ने तो यह भी

सिद्ध किया है कि ऐसा सांख्यमत युक्तिसिद्ध भी नहीं है। अतः सांख्यमत को स्वीकार करने से जीव का संसार बन्धन एवं मुक्ति भी कुछ सिद्ध नहीं होती। दुख की आत्यन्तिकी निवृत्ति को ही वह परमपुरुषार्थ मानता है।

३—न्यायदर्शन—न्याय-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि **गौतम** हैं। न्याय-मत नित्य परमाणु को स्वीकार करता है। परमाणुओं को ही अर्थात् पृथ्वी, अप, तेज एवं वायु इन चारों के अति सूक्ष्मतम परमाणुओं को वह जगत् का उपादान कहता है। केवल उपादान के रहने से कोई वस्तु प्रस्तुत नहीं हो सकती, उसका कर्त्ता कोई होना ही चाहिये। अतः वह ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानता है। परमाणु-समूह को चालित करके ईश्वर इस जगत् की सृष्टि करता है। ईश्वर भी नित्य एवं अनादि है, सृष्टि प्रवाह भी अनादि है—ऐसा न्याय का मत है। न्याय के मत में जीव को भी नित्य एवं अनादि माना गया है। जीव अनेक-संख्यक है। वह जीव एवं ईश्वर को सम्पूर्ण-रूप से पृथक् दो तत्त्व मानता है।

न्याय के मत में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजनादि जो सोलह पदार्थ माने गये हैं—उनके तत्त्व ज्ञान से ही जीव संसार-मुक्त हो सकता है। दुःख का आत्यन्तिक विनाश ही मुक्ति है। मुक्ति में वास्तव सुख का अवकाश नहीं है। मुक्तावस्था में जीव अचेतनवत् रहता है—ऐसा न्याय का मन्तव्य है।

४—**वैशेषिक दर्शन**—इसके प्रवर्त्तक **कणाद** ऋषि हैं। कणाद ने—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय—इन छः पदार्थों को स्वीकार किया है। ये छयों पदार्थ एक दूसरे से भिन्न एवं भिन्नलक्षणविशिष्ट हैं। इस मत में जीव की बहु संख्या स्वीकार की गई है। पहले जन्मों के कर्मों के फल को या शक्ति को **'अदृष्ट'** कहा गया है। उस अदृष्ट के वश होकर जीव सृष्टि प्रवाह में आता-जाता है—ऐसा वैशेषिक मानते हैं।

उपर्युक्त छः पदार्थों के तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर जीव का अदृष्ट नष्ट हो सकता है, एवं तभी जीव संसार बन्धन से मुक्ति लाभ कर सकता है। आत्यन्तिकी दुखनिवृत्ति ही मुक्ति है। इस मत में ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख कहीं भी नहीं दीखता। यह भी परमाणुओं से इस जगत् की सृष्टि मानता है।

वेदान्तदर्शन में न्याय एवं वैशेषिक को एक ही स्थान दिया गया है। दोनों एक ही सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित हैं। ये दोनों परमाणु-कारणवादी हैं। इन दोनों को श्रीव्यासजी ने एवं अन्यान्य आचार्यपादों ने अयौक्तिक कहकर उन दोनों की अपेक्षा करदी है और कहा है कि मोक्षार्थीगण कभी भी इन दोनों का आदर नहीं कर सकते।

इन दोनों को एक समझते हुए ग्रन्थकार श्रीकविराज ने भी ग्रन्थ के मूल पयारों में वैशेषिक-दर्शन का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु अगले पयार में ग्रन्थकार ने छयों की गिनती बताई है कि इन छयों का मत विचार कर श्रीव्यास जी ने ब्रह्मसूत्र की रचना की है। 'मायावाद'—जो मूल पयार में गिनाया गया है, वह छः दर्शनों या छः मतों के अन्तर्भुक्त नहीं है। कारण कि श्रीवेदव्यास जी ने सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, पातञ्जल एवं वेदान्तदर्शन—इन छयों मतों को विचार कर ब्रह्मसूत्र या वेदान्त सूत्र को लिपिबद्ध किया था। ब्रह्मसूत्र के सङ्कलन के बाद इसकी आलोचना श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि भिन्न भिन्न आचार्यों ने की। श्रीशङ्कराचार्य द्वारा जो ब्रह्म-सूत्र की आलोचना या भाष्य लिखा गया—उसका नाम है—मायावाद, जिसकी उत्पत्ति ब्रह्मसूत्र के आधार पर है। अतः श्रीव्यास जी ने जिन छयों मतों को मथकर ब्रह्मसूत्र का सङ्कलन किया उनमें मायावाद कहाँ? यह बात कहना भी असङ्गत है कि श्रीव्यास जी मायावाद की आलोचना करके ब्रह्मसूत्र का सङ्कलन किया। अतः मूल पयारोक्त छः मतों में मायावाद अन्तर्भुक्त नहीं है।

(५) **पातञ्जल-दर्शन या योगदर्शन**—इस दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि **पतञ्जलि** हैं। इस दर्शन को निरीश्वर–सांख्य दर्शन का विशेष संस्करण कह दिया जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। कारण कि, निरीश्वरवादी–कपिल ने जिन पच्चीस तत्वों को स्वीकार किया है, पातञ्जल ने भी उन्हें स्वीकार किया है। विशेषत्व इतना है कि इसने एक और तत्व भी अर्थात् ईश्वर को स्वीकार किया है। पतञ्जलि ने—क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय—इन सब से अपरापृष्ट (अस्पृष्ट) पुरुष-विशेष को ही ईश्वर माना है।

यह मत योग को ही अर्थात् चित्त-वृत्ति-निरोध को ही मोक्ष-प्राप्त का साधन कहता है और उस योग के लिये यम-नियमादि अनेक उपायों को बतलाता है। कैवल्य अर्थात् चैतन्यमात्ररूप में जीव के नित्य-अवस्थान को ही योगदर्शन परम पुरुषार्थ कहता है। इसमें जीव की आत्यान्तिकी-दुख-निवृत्ति होजाती है। सुख की प्राप्ति कुछ नहीं। कारण कि सुख स्वरूप भगवान् के साथ इस कैवल्य का कोई सम्बन्ध नहीं। निरीश्वर-सांख्यदर्शन एवं पातञ्जल दर्शन का मोक्ष एक ही है। इस मत ने ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण— स्वीकार किया है। किन्तु जिस ईश्वर को पातञ्जल ने स्वीकार किया है, वह ईश्वर श्रुति-स्मृति सम्मत ईश्वर नहीं है।

वेदान्त-दर्शन में एवं समस्त आचार्यों ने पातञ्जल मत को वेद-विरुद्ध प्रमाणित किया है। अतः इसे ग्रहण करने के अयोग्य ही घोषित किया है।

(६) **वेदान्त दर्शन या उत्तर मीमांसा दर्शन** —वेदों के उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत जो उपनिषत्-समूह हैं एवं उनके अनुगत जो स्मृति-ग्रन्थ हैं—उनका सम्यक् विचार करके श्रीव्यासदेव ने जिस मीमांसा को प्राप्त किया है, उसे उन्होंने ब्रह्मसूत्र में ग्रथित किया है—उसी **ब्रह्मसूत्र का ही दूसरा नाम वेदान्तदर्शन या उत्तरमीमांसादर्शन है।**

वेदान्तदर्शन में भी कई एक पदार्थों को स्वीकार किया गया है। किन्तु अन्यान्य दर्शनों में जो पदार्थ स्वीकार किये गये हैं, वे उन्हीं दर्शनकारों द्वारा कल्पित हैं, परन्तु वेदान्त दर्शन में जो पदार्थ स्वीकार किये गये हैं- वे श्रीव्यास देव जी द्वारा कल्पित नहीं हैं, बल्कि वे अपौरुषेय वेद के वचन हैं, अतः वे परम सत्य हैं। अन्यान्य दर्शन पौरुषेय-शास्त्र हैं, इसलिये उनमें भ्रम-प्रमादादि दोषों का अवकाश भी है। उनके सिद्धान्तों की अयौक्तिकता ही इस बात का प्रमाण है, किन्तु वेदान्तदर्शन श्रीभगवान् के वचन हैं जिनमें इस प्रकार के दोषों का कोई अवकाश नहीं है।

वेदान्तदर्शन के समस्त सिद्धान्त युक्ति सङ्गत हैं, अर्थात् यदि वेदों का अपौरुषेयत्व स्वीकार न भी किया जाये, और वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों की युक्ति के अनुरोध से विवेचना की जाये तो भी वे समस्त सिद्धान्त अकाट्य रहते हैं, परन्तु अन्यान्य दर्शनों की विवेचना करने से उनके सिद्धान्त उत्पन्न नहीं होते, असङ्गत बैठते हैं।

अन्यान्य दर्शनों में कहीं तो ईश्वर को स्वीकार ही नहीं किया गया है, और कहीं गौण रूप में एक ईश्वर की कल्पना मात्र करली गई है, किन्तु वेदान्तदर्शन ने वेद-श्रुति प्रतिपादित परमेश्वर-परब्रह्म को स्वीकार किया है। जो नित्य-सत्यस्वरूप है, कल्पित नहीं, कारण कि तत्त्वद्रष्टा ऋषिगणों ने उस वेद-श्रुति–प्रतिपादित ब्रह्म का दर्शन या अपरोक्ष अनुभव भी प्राप्त किया और अब तक भजन करने वाले साधक उस का तद्रूप अनुभव करते हैं।

अन्यान्य दर्शनों के आनुगत्य से मोक्ष असम्भव, अन्ततः अनिश्चित है। किन्तु वेदान्त-दर्शन के आनुगत्य में मोक्ष असम्भव या अनिश्चित नहीं है, निश्चित है। उपर्युक्त समस्त विशेषताओं के साथ-साथ वेदान्तदर्शन ने एक परम-पुरुषार्थ को भी निर्द्धारित किया है। वह है एक नित्य, निरवच्छिन्न एवं माया-

स्पर्श वर्जित, दुख-गन्धलेश शून्य अपर्याप्त आनन्द, जो केवल आनन्द-स्वरूपमात्र ही नहीं, बल्कि आनन्द-दाता भी है—"एष हि एव आनन्दयाति"। (तैत्तिरीय । ब्रह्मवल्ली)—अर्थात् एक मात्र वही आनन्द-दाता है। "रसं ह्येवायं लब्धानन्दीभवति" (तैत्तिरीय) उस रस स्वरूप (आनन्द-स्वरूप) ब्रह्म को प्राप्त करके ही जीव आनन्दी होता है। अर्थात् जिसको पाकर जीव का नित्य-आकाङ्क्षित परमपुरुषार्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार के परम-पुरुषार्थ का संवाद और किसी भी दर्शन में नहीं है। अतः वेदान्त-दर्शन का यह एक असाधारण एवं अपूर्व वैशिष्ट्य है।

वेदान्तदर्शन में परमब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्वरूप में ग्रहण किया गया है। उस ब्रह्म तत्त्व के परिचय में ही जीवतत्त्व, सृष्टितत्त्व, मोक्षादितत्त्व का ज्ञान अन्तर्भुक्त है। इस वेदान्तदर्शन या ब्रह्मसूत्र पर विभिन्न आचार्यपादों ने विभिन्न भाष्य किये एवं ब्रह्म के स्वरूप, तथा जीव जगदादि के स्वरूप तथा ब्रह्म के साथ जीव-जगदादि के सम्बन्ध विषय में उन्होंने विभिन्न अभिमत प्रकट करते हुए विभिन्न वादों की स्थापना की, उनका संक्षिप्त परिचय हम नीचे उद्धृत करते हैं—

(१) **श्रीपाद शङ्कराचार्य एवं अद्वैतवाद**—श्रीपाद शङ्कराचार्य ने परमतत्त्व ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में अपना अभिमत इस प्रकार प्रगट किया है—"ब्रह्म निर्विशेष, निःशक्तिक, सर्वविधगुण विवर्जित एवं निराकार है। वह ज्ञानस्वरूप है किन्तु वह ज्ञाता नहीं है। आनन्द-स्वरूप है, किन्तु आनन्द-प्रदाता या आनन्दमय नहीं है। आनन्दसत्तामात्र, चित्सत्तामात्र एवं निर्गुण है। वह जगत् का कर्त्ता नहीं, जो जगत् का कर्त्ता है, वह सगुण ब्रह्म या परमेश्वर है और निर्गुणब्रह्म ही माया के योग से सगुण ब्रह्म होता है।"

श्रीपाद शङ्कराचार्य ने केवल निर्विशेष ब्रह्म को ही सत्य वस्तु माना है। अतः उनके मत में जीव एवं जगत् मिथ्या या अस्तित्व-हीन हैं। जीव एवं जगत् का जब कुछ अस्तित्व ही वे स्वीकार नहीं करते, तब उनके मत में ब्रह्म के साथ जीव एवं जगत् के सम्बन्ध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। शुक्ति में रजत की भ्रान्ति की भांति ब्रह्म में जीव-जगदादि की भ्रांति मात्र मानते हैं। किन्तु शुक्ति जैसे रजत का अधिष्ठान नहीं है, केवल द्रष्टा की दृष्टि के भ्रम से इस प्रकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म जीव-जगदादि का अधिष्ठान नहीं है, भ्रांतिवश ब्रह्म में इनकी प्रतीति मात्र है। अतः उन्होंने ब्रह्म के साथ जीव-जगदादि के सम्बन्ध में कुछ भी अपना अभिमत प्रगट नहीं किया। उन्होंने केवल ब्रह्म के अद्वयत्व की ही स्थापना की है। अतः उनके मत को **केवलाद्वैतवाद** या **मायावाद** अथवा **विवर्त्तवाद** भी कहते हैं।

(२) **श्रीपाद रामानुजाचार्य एवं विशिष्टाद्वैतवाद**—श्रीपाद रामानुजाचार्य ने ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में अपना अभिमत इस प्रकार प्रगट किया है—ब्रह्म सर्ववृहत्तम तत्त्व है, वह अवधिरहित एवं तारतम्य रहित है। वह स्वरूपतः एवं गुणतः भी असीम है। ब्रह्म सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान है। सर्व-विधि-हेय (माया) गुण विवर्जित है। किन्तु अनन्त-कल्याण गुणाकर है। वह जगत् का कर्त्ता है, सर्वज्ञ, सर्ववित् एवं साकार है। वैकुण्ठाधिपति **श्रीनारायण** ही परब्रह्म तत्त्व है।

उन्होंने **जीवतत्त्व** इस प्रकार स्वीकार किया है—जीव चित् है, ब्रह्म का अंश है, वह नित्य एवं अनादि है, वह ज्ञानस्वरूप का ज्ञाता है, कर्त्ता एवं भोक्ता है। परिमाण में जीव अणु है, संख्या में अनन्त है एवं उसका नित्य पृथक् अस्तित्व है। श्रीपादरामानुजाचार्य ने जगत् को अचित्ब्रह्म का परिणाम या ब्रह्म का अवस्थान्तर स्वरूप माना हैं। उन्होंने जीव एवं जगत् को सत्य माना हैं एवं जीव-जगत् को ब्रह्म का शरीर माना है। अर्थात् जीव जो चिद्-वस्तु है एवं जगत् जो अचिद्-वस्तु है-चिदचिद वस्तु (जीव और जगत्)

ब्रह्म का शरीर हैं। जीव-जगत् रूप-शरीरविशिष्ट अद्वय-तत्व को उन्होंने ब्रह्म माना है। अतः श्रीपाद-रामानुजाचार्य का मत है कि जीव-जगत् ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म जीव-जगत का शरीरी है, इनके इस मत को 'विशिष्टाद्वैतवाद' कहते हैं।

३. श्रीपाद मध्वाचार्य एवं द्वैतवाद :—श्रीपाद मध्वाचार्य ने ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार निर्णय किया है :—"ब्रह्मसृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्त्ता, सर्वनियामक, अचिन्त्य अनन्तऐश्वर्यमय, परमस्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्ववित्, सर्वशक्तिमान् एवं अचिन्त्यशक्ति विशिष्ट है। ब्रह्म साकार सगुण एवं सर्वव्यापक है।

जीव-स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है—"जीव चेतन-स्वरूप है, परतन्त्र तत्त्व है, सत्य है एवं संख्या में अनन्त तथा परिमाण में अणु है। जीव, भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य-अनुचर है। जीव अधीन, अल्पज्ञ तथा ईश्वर के निरुपाधिक प्रतिबिम्ब का अंश है।

जगत् का तत्त्व उन्होंने इस प्रकार व्यक्ति किया है—"जगत् परमेश्वर कर्त्तृक सृष्ट है। ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है एवं प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जगत् सत्य है किन्तु अनित्य है, कार्यरूप में जगत् अनित्य है किन्तु कारणरूप में नित्य है, परतन्त्र तत्त्व है एवं भगवान् के वशवर्त्ती है।

ब्रह्म जीव एवं जगत् इन तीनों के सम्बन्ध का कथन करते हुए श्रीपाद माध्वाचार्य का मत यह है कि इनमें परस्पर पाँच प्रकार के भेद नित्य वर्त्तमान हैं :—(१) जीव एवं ईश्वर में भेद, (२) जीव एवं जीव में परस्पर भेद, (३) ईश्वर एवं जड़ या जगत् में भेद, (४) जीव एवं जड़ में भेद, (५) जड़ एवं जड़ में परस्पर भेद।

इन पाँच प्रकार के भेद स्थापन करने के कारण इनके मत को **'भेदवाद'** या **'द्वैतवाद'** कहा जाता है। इन्होंने स्वतन्त्र-तत्त्वरूप में एकमात्र ईश्वर परब्रह्म को स्वीकार किया है। दूसरे परतन्त्र-तत्त्व-रूप में इन्होंने ईश्वराधीन एवं ईश्वर-नियन्त्रित जीव एवं जगत् को भी स्वीकार किया है—इन दोनों तत्त्वों के स्वीकार करने से भी इनके मत को **'द्वैतवाद'** कहा जाता है।

किन्तु यदि सूक्ष्म भाव से विचार किया जाय तो उनका मत 'द्वैतवाद' नहीं कहा जा सकता, कारण कि दो वस्तुएं यदि परस्पर निरपेक्ष हों, उनमें प्रत्येक वस्तु ही यदि स्वयं सिद्ध हो, तभी उनको एक दूसरे से सम्पूर्णरूप से पृथक् दो वस्तुएं कहा जा सकता है एवं उनमें आत्यन्तिक-भेद भी स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु श्रीपाद मध्वाचार्य स्वीकृत दो तत्त्वों में एकमात्र स्वतन्त्र-तत्त्व परमेश्वर को ही अन्य निरपेक्ष स्वयंसिद्ध तत्त्व माना गया है और उनके द्वारा जो परतन्त्र तत्त्व स्वीकार किया गया है—वह अन्य निरपेक्ष स्वयंसिद्ध तत्त्व नहीं है। परतन्त्र तत्त्व में उन्होंने जीव एवं जगत् को लिया है। जीव को ईश्वराधीन, ईश्वर का अनुचर, ईश्वर का अंश भी उन्होंने स्वीकार किया है, अतः उनके स्वीकृत जीव-तत्त्व को ईश्वर-निरपेक्ष स्वयंसिद्ध तत्त्व नहीं कहा जा सकता। इनके मत में जगत् को भी "ईश्वर-सृष्ट, ईश्वर-कर्त्तृकनियन्त्रित" कहा गया है। अतः जगत् को भी ईश्वर-निरपेक्ष स्वयंसिद्ध तत्त्व नहीं कहा जा सकता। अतः यह बात कही जा सकती है कि श्रीमन्मध्वाचार्य के मतवाद को तात्विक विचार से द्वैतवाद या केवल भेदवाद कहना सङ्गत नहीं है। तात्त्विक विचार से उसे **भेदाभेदवाद** कह देना अत्योक्ति न होगी।

४. श्रीपाद निम्बार्काचार्य एवं स्वाभाविक भेदाभेद वाद :—श्रीपाद निम्बार्काचाय ने **ब्रह्म का स्वरूप** इस प्रकार निर्द्धारित किया है :—ब्रह्म सर्ववृहत्तम है, वह स्वरूप में अनन्त है एवं शक्ति में भी अनन्त है, वह कल्याणगुणाकर है, किन्तु हेय-प्राकृतगुण रहित है। वह सत्य स्वरूप, चित्स्वरूप एवं

ज्ञानस्वरूप है, सर्वज्ञ है। सृष्टि-स्थिति-प्रलय का एकमात्र कर्त्ता है, समस्त का नियन्ता है। वह जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है। साकार, ऐश्वर्य-माधुर्यमय पुरुषोत्तम है। उनके मत में श्रीराधा-समन्वित श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, जो लीलाविलासी हैं।

उनके मत में **जीव** स्वरूपतः ज्ञानस्वरूप है एवं जडविवर्जित, चित्, ब्रह्म का अंश तथा ज्ञाता एवं भोक्ता है। कर्त्ता है, सर्वावस्था में ब्रह्म कर्त्तृक नियन्त्रित है। जीव नित्य है। स्वरूप से अणु है, संख्या में अनन्त है और मुक्तावस्था में भी ब्रह्म से जीव का पृथक् अस्तित्व रहता है।

जगत् को वे अचित् व जड़ कहते हैं और अचित् के उन्होंने तीन भेद माने हैं। प्राकृत, अप्राकृत तथा काल। परिदृष्यमान् पञ्चभौतिक जगत् को वे **प्राकृतअचित्** मानते हैं और लौकिक जगत् में अचेतन वस्तुओं का उपादान जैसे जड़ प्रकृति है, उसी प्रकार भगवद्धाम, वहाँ के देहादि एवं अलङ्कारादि तथा समस्त भोगवस्तुओं के उपादान को उन्होंने अचित् के अन्तर्भुक्त **अप्राकृत-अचित्** माना है (श्रीपुरुषोत्तमाचार्य रचित 'वेदान्तरत्न मंजूषा' ग्रन्थ से ऐसा ज्ञात होता है)। काल को भी उन्होंने अचित् माना है।

जीव-जगत् का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध स्थापन करते हुए उनका मत है कि "ब्रह्म कारण है, एवं जीव उसका कार्य है, ब्रह्म पूर्ण या अंशी है और जीव उसका अंश है, वह उपास्य है एवं जीव उसका उपासक है—इत्यादि। कारण-कार्य में अंशी एवं अंश में, उपास्य-उपासक में सर्वदा भेद वर्त्तमान है। इसलिये ब्रह्म जीव में भेद है। ब्रह्म अंशी है और जगत् उसका अंश है, ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप है एवं जगत् स्थूल एवं जड़ है, अतः ब्रह्म एवं जगत् में भी भेद सर्वदा वर्त्तमान है।

फिर उन्होंने कहा है कि कारण एवं कार्य में जैसे भेद है, वैसे अभेद भी वर्त्तमान है, क्योंकि कारण ही कार्यरूप में अभिव्यक्त होता है। अंशी एवं अंश में भी अभेद वर्त्तमान है। अतः उन्होंने ब्रह्म एवं जीव-जगत् के नित्य-अभेद को भी स्वीकार किया है। ब्रह्म एवं जीव-जगत् के स्वाभाविक भेद तथा अभेद को श्रीपाद निम्बार्काचार्य ने स्वीकार किया है। अतः उनके इस मत को **"स्वाभाविक भेदाभेदवाद"** कहा जाता है।

५. श्रीपाद बल्लभाचार्य एवं शुद्धाद्वैतवाद—श्रीपाद बल्लभाचार्य जी ने **ब्रह्म के स्वरूप** को इस प्रकार स्वीकार किया है:—"ब्रह्म सच्चिदानन्दमय है, वह सर्वव्यापक, अव्यय, सर्वशक्तिपूर्ण एवं स्वतन्त्र है। सर्वज्ञ, प्राकृतिकगुणवर्जित, सत्यादि अनन्तगुणपूर्ण है। सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद वर्जित है, सर्वाधार, माया का वशीकर्त्ता, आनन्दघन-विग्रह तथा समस्त प्राकृत-प्रपञ्चगत पदार्थों से विलक्षण है। रसस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं।

जीव के सम्बन्ध में उनका अभिमत है कि जीव नित्य है, जीव ज्ञाता, भोक्ता एवं कर्त्ता है। जीव ब्रह्म का चिदंश है एवं उसका कर्त्तृत्व परब्रह्म से लब्ध है। जीव परिमाण में अणु तथा संख्या में बहु है। अनन्त एवं उच्च-नीच भावापन्न हैं। जीव सत्य है, मिथ्या नहीं। जीव की तीन अवस्थाएं हैं—शुद्ध, संसारी एवं मुक्त।

जगत् को उन्होंने ब्रह्म का कार्य माना है, ब्रह्म ही जगत् का कारण है। जगत् सत्य है एवं ब्रह्म से अभिन्न है। जगत् ब्रह्म का आधिभौतिक रूप है। ब्रह्मलीलावशतः स्वीयचिद् तथा आनन्द को तिरोहित करके केवल सदंश से इस जगत्रूप में आत्मप्रकाश करता है। ऐसा होने पर भी ब्रह्म अविकृत रहता है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है। जगत् ब्रह्म का परिणाम है। ब्रह्म जब सत्य है तो जगत् भी सत्य है, मिथ्या नहीं है।

ब्रह्म के साथ जीव-जगत् का सम्बन्ध निरूपण करते हुए उन्होंने कहा है, 'जीव ब्रह्म का सदंश है एवं जगत् भी ब्रह्म का सदंश है, अंश एवं अंशी में भेद न होने से जीव-जगत् ब्रह्म से अभिन्न हैं—परस्पर अभेद हैं।'' श्रीपाद शङ्कराचार्य की भाँति इन्होंने भी अद्वैतवाद का स्थापन किया है। पार्थक्य यह है कि श्रीपाद शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद में माया का सम्वन्ध है किन्तु श्रीपाद बल्लभाचार्य के अद्वैतवाद में माया का सम्बन्ध नहीं है। इसलिये उनके वाद को '**शुद्ध**' का विशेषण दिया गया है। ब्रह्म कारण है, जीव-जगत् उसके कार्य हैं। कार्य व कारण दोनों ही 'शुद्ध' एवं 'अभिन्न' हैं। अतः इनके वाद को '**शुद्धाद्वैतवाद**' कहा गया है।

६. श्रीपादविष्णुस्वामी एवं शुद्धाद्वैतवाद—श्रीपादविष्णु स्वामी जी ने ब्रह्मसूत्र का कोई भाष्य नहीं रचा, किन्तु श्रीश्रीधर स्वामी जी ने, श्रीपादमध्वाचार्य ने एवं श्रीजीव गोस्वामी पाद ने उनके अभिमत को अपने अपने ग्रन्थों में उल्लिखित किया है। श्रीवल्लभाचार्य पाद श्रीविष्णुस्वामी पाद के बहुत पीछे हुए हैं। शुद्धाद्वैतवाद के मूल प्रवर्त्तक श्रीविष्णुस्वामी पाद ही माने जाते हैं। उन्होंने **ब्रह्म का स्वरूप** इस प्रकार निरूपण किया है—ब्रह्म सत्स्वरूप, चित्स्वरूप, नित्य एवं अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न है। वह पूर्ण-आनन्दैक-विग्रह, साकार, देह-देही भेदशून्य तथा स्वप्रकाश है।

जीव को उन्होंने स्वरूपतः स्वप्रकाश, किन्तु परब्रह्म की माया द्वारा सम्यक्‌रूप से आवृत माना है। उसे अशेष दुख के आकर सदृश एवं माया द्वारा नाना भाव से लाञ्छित कहा है। बद्ध-जीव एवं मुक्त-जीव—इस प्रकार जीव के दो भेद उन्होंने माने हैं।

जगत् को उन्होंने ब्रह्म का कार्य माना है एवं उसे ईश्वर के आश्रित माना है।

इस प्रकार उनके मत में ईश्वर शुद्ध है, भगवदविग्रह शुद्ध है, भजनपरायण जीव शुद्ध है। जीव, जगत् एवं माया ईश्वर के आश्रित हैं। इस रूप में उन्होंने ब्रह्म के शुद्धाद्वैततत्व को सिद्ध किया है। अतः उनके वाद का नाम "**शुद्धाद्वैतवाद**" या **केवलाद्वैतवाद** कहा गया है।

७. श्रीपादभास्कराचार्य एवं औपचारिक भेदाभेदवाद—श्रीपादभास्कराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र पर भाष्य किया है। श्रीपाद शङ्कराचार्य के बाद एवं श्रीरामानुजाचार्यपाद के पहले इनका वर्त्तमान काल माना गया है।

ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए उन्होंने ब्रह्म के दो रूप माने हैं—कारणरूप एवं कार्य-रूप। कारणरूप से ब्रह्म एक एवं अद्वितीय है और कार्यरूप में वह अनेक है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण एवं उपादान कारण है। ब्रह्म निरंश होते हुए भी अपनी इच्छा से जीव एवं जगत् के रूप में परिणत होता है। ऐसा होते हुए भी वह अविकृत है। अनादि-अविद्या व कर्मों को उन्होंने 'उपाधि' कहा है। ब्रह्म की दो शक्तियाँ उन्होंने स्वीकार की हैं—'**जीव-परिणाम-शक्ति**' एवं '**अचेतन-परिणाम-शक्ति**' अथवा '**भोक्तृशक्ति**' एवं **भोग्यशक्ति**'। जीव-परिणामशक्ति से ब्रह्म उपाधियुक्त होकर **जीवरूप** में परिणत होता है, किन्तु स्वाभाविक अवस्था में जीव विभु, ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा उनका मत है। अचेतन-परिणाम शक्ति से ब्रह्म उपाधि युक्त होकर **जगत्‌रूप** में परिणत होता है—ऐसा वे मानते हैं। जीव-जगत् सत्य हैं—मिथ्या नहीं, किन्तु औपाधिक व अनित्य हैं। सृष्टिकाल में एवं स्थितिकाल में जीव-जगत् ब्रह्म से भिन्न हैं, किन्तु प्रलय में ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करते हैं।

कारणरूप ब्रह्म में एवं जीव-जगत् में उन्होंने अभेद स्वीकार किया है और भेद भी स्वीकार किया है, जिसे वे '**औपाधिक भेद**' कहते हैं। अतः उनके मत को '**औपाधिक भेदाभेदवाद**' या **औपचारिक भेदाभेदवाद** कहते हैं।

८ **श्रीमन्माध्व-गौड़ेश्वराचार्यगण एवं अचिन्त्य भेदाभेदवाद**—कलियुगपावन-प्रेमावतार महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने वेदान्त-सूत्र या ब्रह्मसूत्र के किसी पृथक् भाष्य की रचना नहीं की। उन्होंने **पञ्चम् वेद पुराण शिरोमणि श्रीमद्भागवत जी को ही** ब्रह्मसूत्र का **प्रकृत-भाष्य प्रमाणित एवं घोषित किया।** श्रीमद्भागवत-मतानुसार स्वयं भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र को ही उन्होंने अद्वयज्ञानतत्व स्वीकार किया है। उन्होंने जीव एवं जगत् को उस अनन्त शक्तिक परमब्रह्म की शक्तियों के रूप में ही स्वीकार किया है। जीव एवं जगत् का उस परमब्रह्म के साथ सम्बन्ध भी उन्होंने वही स्वीकार किया जो सम्बन्ध एक शक्तिमान का शक्ति से होता है।

परमब्रह्म श्रीकृष्णतत्त्व, जीवतत्त्व, सृष्टितत्त्व—आदि समस्त तत्त्वों की विस्तृति आलोचनायें मूलग्रन्थ में स्थान-स्थान पर वर्णित हो चुकी हैं, जो श्रीमन्महाप्रभु ने अपने श्रीमुख से श्रीपादरूपगोस्वामी, श्रीपादसनातन गोस्वामी को शिक्षा प्रदान के समय अथवा अन्यान्य अनेक प्रसङ्गों में अभिव्यक्त की हैं।

वेदों की उत्पत्ति श्रीभगवान् से हुई है। वेद अपौरुषेय हैं। वेदों का उत्तरकाण्ड जिसका नाम 'वेदान्त-दर्शन' है, उसे भगवदवतार श्रीवेदव्यास जी ने ब्रह्म-सूत्र में अभिव्यक्त या सङ्कलित किया है। तदनन्तर श्रीवेदव्यास-भगवान् ने वेदान्तदर्शन या ब्रह्मसूत्रों में प्रतिपादित विषय को परिस्फुट करने के निमित्त या जनसाधारण के सहज समझाने के निमित्त अठारह पुराणों में एवं इतिहास में प्रगटित किया। इतना कर लेने पर भी जब श्रीवेदव्यास जी का मन नहीं भरा अथवा उन्होंने जब यह अनुभव किया कि अभी वह विषय परिष्कृत नहीं हुआ, तब उन्होंने श्रीनारद जी के आदेशानुसार पञ्चमवेद स्वरूप पुराण-शिरोमणि श्रीमद्भागवत महापुराण परमसंहिता का आविर्भाव किया, जिससे वेद-वेदान्त ब्रह्मसूत्र प्रतिपादित विषय का परमोज्ज्वल स्वरूप चमक उठा अर्थात् उस अपौरुषेय वेदान्तदर्शन या वेदान्तसूत्र की परम-चरमतम पूर्णता उस अपौरुषेय पुराण शिरोमणि श्रीमद्भागवत जी द्वारा सम्पदित हो गई, इस बात का अनुभव कर श्रीवेदव्यासदेव भी परम सुख को प्राप्त हुए।

अतः स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने निजांशावतार श्रीवेदव्यास द्वारा अवतारित अपौरुषेय पुराणशिरोमणि पञ्चमवेदस्वरूप श्रीमद्भागवत जी को ही वेदान्त दर्शन का अपौरुषेय-भाष्य या प्रकृत-भाष्य बताकर—**"श्रीमद्भागवत् पुराणममलं प्रेमः पुमर्थो पुमान्"** की घोषणा की है।

एक बात और भी यहाँ उल्लेखनीय है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के स्वधाम पधारने के पश्चात् कलियुग का प्रवेश हो गया था। कुछ काल तक तो वैदिक-धर्मयुक्त भक्तिवाद प्रचलित रहा, किन्तु फिर धीरे-धीरे भक्तिवाद मिटकर कर्मकाण्ड ने ही जोर पकड़ा। यज्ञ-यागों में ही कलियुग के जीवों की इतनी तत्परता हुई कि वे यज्ञों के बहाने महान् हिंसा आदि अधर्मों में प्रवृत हो गये। हिंसात्मक यज्ञों को ही सर्वेसर्वा मानने लगे। यहाँ तक कि ईश्वर की सत्ता से भी वे मुनकर हो गये एवं अवैदिक-अनीश्वरवाद ही चल पड़ा।

उसी बीच में श्रीशाक्यसिंह गौतमबुद्ध का प्राकट्य हुआ, जिन्होंने उस सृष्टिध्वंसक हिंसात्मक प्रवृत्ति को अहिंसावाद के द्वारा बदल डाला, किन्तु इनके पीछे अनुयायियों ने वेद एवं ईश्वर का उस वाद में कुछ भी स्थान न रख कर, केवल जीव के दुख-निवृत्ति के अवैदिक धर्मो का प्रचार करते हुए 'शून्य' को ही परमतत्त्व कह कर स्थापन करने का प्रयास किया। इस प्रयास के द्वारा भी सृष्टि-उधार अथवा सृष्टि-प्रचलन तथा जीवों के कल्याण का कुछ भी उपाय न देख कर परमकरुण श्रीभगवान् ने श्रीशंकर भगवान् को जगत् में अवतीर्ण होने की आज्ञा की (आदिलीला पृष्ठ १७४ द्रष्टव्य है) श्रीभगवान् के

आदेशानुसार श्रीमहादेव जी श्रीशङ्कराचार्य के रूप में प्रगट हुए, जिन्होंने स्वकल्पित आगम शास्त्र के द्वारा शून्यवाद एवं नास्तिकधर्मों का अन्त करते हुये **'मायावाद'** की स्थापना की, किन्तु परमसाध्यतत्व सच्चिदानन्दघन विग्रह सर्वशक्तिमान परमब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को उन्होंने भी प्रतिपादित न किया अथवा जान-बूझ कर उसे प्रछन्न ही रखा। इतना स्वीकार करना ही पड़ेगा कि श्रीपादशङ्कराचार्य की अपूर्व प्रतिभा ने भारत वर्ष को नास्तिकता एवं अवैदिकता के चंगुल से निकाल कर वेदान्तदर्शन में आस्तिकता एवं उस परमानन्दघनविग्रह की चैतन्य-प्रकाशमयी अङ्ग-कांति तक,—ज्योतिःस्वरूप, सत्तामात्र, चिदानन्दघन ज्ञानस्वरूप के अनुभवानन्द तक पहुँचा ही दिया।

किन्तु रसिकशेखर, रस-स्वरूप, भक्त-पराधीन अनन्त-कल्याण-गुणगणाकर श्रीभगवान् ने जीवों के परमश्रेय को इस मार्ग में भी न देखकर निजास्वाद्य परमसाध्यतम चिन्मय सम्पत्तिस्वरूपा भक्ति को प्रदान करने के लिये अपने पार्षदों एवं परिकरों को श्रीपादवैष्णवाचार्यों के रूप में प्रेषित किया, जिन्होने जगत् में आविर्भूत होकर जीव के परमतम-श्रेय के मार्ग को निश्चित रूप से प्रचलित एवं प्रसारित किया। उन समस्त ने उस परमोपास्य अद्वयज्ञानतत्त्व सच्चिदानन्दघन के सविशेष, सर्वकारण-कारण, सर्व-शक्तिक, सर्वेश्वर, अनन्त-कल्याणगुणगणाकर, परममधुर सच्चिदानन्दघन विग्रह को जगत्-जीवों के सामने साक्षात् प्रस्तुत कर दिया एवं जीवों को उसके वशीकरण मन्त्र—प्रेमाभक्ति की शिक्षा देकर उसके सदानन्दकारी परममधुर मृदुल चरणकमलों में लपटा दिया, जिस से जीव की परम चिरन्तिनी सुखवासना सदा के लिये परिपूर्ण होगई एवं वह अपने स्वरूपधर्मानुबन्धि कर्त्तव्य को जानने लगा।

इतना होने पर भी, किन्तु विभिन्न वैष्णवाचार्यपादों द्वारा जब जीव-जगत् का परम-तत्त्व के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया, तब स्व-स्वानुभवानुसार उस सम्बन्ध-स्थापना में कुछ वैचित्री की, कुछ विभिन्नता की लहरें उठ खड़ी हुईं। किसी ने कहा "जीव-जगत् उस परब्रह्म के विशेषण हैं" और ने कहा "जीव-जगत् उस परब्रह्म से सर्वथा पृथक् हैं।" तीसरे ने कहा" ये दोनों उस से अभिन्न हैं" और किसी ने कहा "ये दोनों परब्रह्म से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी।" विभिन्न दिशाओं में चलने वाली लहरों में टकड़ाव होना स्वाभाविक ही है। अर्थात् जब किसी ने ',विशिष्टाद्वैतवाद", किसी ने 'द्वैतवाद" दूसरे ने "केवलाद्वैत या शुद्धाद्वैतवाद" और किसी ने द्वैताद्वैतवाद का निर्णयकर उस अतर्क्य एवं अचिन्त्य विषय को निर्णय करना चाहा, तो स्व-स्वाभिमत स्थापित करने वालों में न सही, किन्तु उनके मतानुयायिओं में टकड़ाव एवं परस्पर कटुता, विरोधात्मक भाव तथा स्वमहोत्कृष्टताभिमान खड़ा हो गया, जो स्वभाविक था।

इस समस्या का समाधान क्या था ?—जब किसी एक परिवार के लोगों में, अथवा जब किसी एक फर्म के सेवकों में वाद विवाद या मत-विरोध खड़ा हो जाता है तो परिवार का या फर्म का स्वामी ही उन सब का वाद-विवाद मिटा देता है अथवा उन सब का समन्वय कर देता है—उसी प्रकार श्रीभगवान् ने देखा कि मेरे परिकर-पार्षद या उनके अनुयायी किस वाद-विवाद के झगड़े में पड़ गये हैं ? उन्होंने स्वयं ही श्रीकृष्णचैतन्यदेवरूप में अवतीर्ण होकर सब वादों का समन्वय, एक ही अपौरुषेय,सर्वथा अकाट्य एवं सर्वमान्य-वाद से कर दिया, वह वाद है—"अपौरुषेय पञ्चम् वेद **श्रीमद्भागवत सिद्धान्तवाद**" जिसका नामकरण श्रीपाद जीवगोस्वामी जी ने किया— **अचिन्त्य भेदाभेदवाद।**

सारांश यह है कि श्रीमन्महाप्रभुजी ने वेदान्त सूत्रों का प्रकृत भाष्य केवलमात्र श्रीमद्भागवत जी को ही प्रमाणित घोषित किया।

श्रीमन्महाप्रभु जी की शिक्षानुसार श्रीपाद जीवगोस्वामी जी ने "श्रीभागवत-सन्दर्भ" का सङ्कलन किया, जिसे "षट्-सन्दर्भ" भी कहते हैं। (प्रथम परिच्छेद पृष्ठ ६ संख्या द्रष्टव्य)। उन्होंने षट्-सन्दर्भ के प्रतिपादित विषय का सारांश निर्णय अपने "सर्वसम्वादिनी" ग्रन्थ में प्रकाशित किया। उन्होंने अपने इन ग्रन्थों में अन्यान्य मतवादों की गवेषणापूर्ण आलोचना करते हुए यह बात सिद्ध करदी कि उन समस्त मतवादों को स्वीकार करने से श्रुति-स्मृति के साथ विरोध उपस्थित होता है। उन्होंने इस बात को सिद्ध किया—कि शक्ति एवं शक्तिमान के बीच जो सम्बन्ध है, जीव-जगत् एवं ब्रह्म के बीच भी वही सम्बन्ध है। कारण कि, जीव एवं जगत् दोनों ही स्वरूपतः परब्रह्म की शक्तियाँ हैं। अनन्तकोटि जीव स परब्रह्म की जीवशक्ति का अंश हैं और जगत् परब्रह्म की बहिरङ्गाशक्ति-माया शक्ति ही है।

केवलमात्र जीव-जगत् का ही परब्रह्म के साथ शक्ति एवं शक्तिमान के बीच जैसा सम्बन्ध है, ऐसी बात नहीं है, समस्त वस्तुओं के साथ ही ब्रह्म का यही सम्बन्ध है। श्रुति कहती है—"**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद स्यामृतं दिवि**"—इत्यादि। अर्थात् परिदृष्यमान ब्रह्माण्ड परब्रह्म की एकपाद विभूतिमात्र है। उनकी त्रिपाद-विभूति है—नित्य, अप्राकृत चिन्मय अनन्त भगवद्धाम। वहाँ की समस्त वस्तुएं, वहाँ के समस्त लीला-परिकरादि, वे समस्त ही उस परब्रह्म की स्वरूपशक्ति या चिच्छक्ति की वृत्ति-विशेष हैं। उस त्रिपाद विभूति का भी, परब्रह्म की शक्ति होने के कारण परब्रह्म के साथ वही सम्बन्ध है, जो सम्बन्ध शक्ति एवं शक्तिमान के बीच वर्तमान है।

सारांश यह है कि, श्रीपाद जीवगोस्वामी जी ने बताया कि जीव, जगत्, भगवद्धाम, भगवद्धामों की समस्त वस्तुएं, भगवद्धाम के लीला परिकर-ये समस्त स्वरूपतः परब्रह्म की शक्तियाँ हैं और इन समस्त के साथ परब्रह्म का सम्बन्ध है—शक्ति के साथ शक्तिमान का सम्बन्ध। यहाँ तक कि भगवान् के रूप-गुण-लीलादि भी उनकी स्वरूपशक्ति के ही विलास हैं। अतः स्वरूपतः वे भी भगवान् की शक्तियाँ हैं और भगवान् के रूप-गुण-लीलादि के साथ भगवान् का सम्बन्ध भी—शक्ति के साथ शक्तिमान का सम्बन्ध है।

शक्ति के साथ शक्तिमान के सम्बन्ध का स्वरूप है—"**अचिन्त्य भेदाभेद सम्बन्ध**"। श्रुति-स्मृति प्रमाणों से उन्होंने यह बताया है कि स्वरूपशक्ति, जीवशक्ति एवं बहिरङ्गा मायाशक्ति—ये तीनों शक्तियाँ उस परब्रह्म की स्वाभाविकी अर्थात् अविच्छेद्या शक्तियाँ हैं। एक दृष्टान्त द्वारा इस सिद्धान्त को परिस्फुट करते हैं—

कस्तूरी एवं उसकी गन्ध-इनका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है। कस्तूरी की गन्ध को कस्तूरी से पृथक् नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है, इन दोनों में कुछ भी भेद नहीं है। दोनों अभेद हैं। किन्तु इन की अभेदता का सिद्धान्त करते हुए भी एक समस्या दीखती है, जिससे इन्हें सर्वथा अभेद भी नहीं कहा जा सकता। समस्या यह है कि जब कस्तूरी एक कमरे में रखी हुई हो, तो हम उसकी गन्ध को उस कमरे के बाहर भी कुछ दूर तक अनुभव करते हैं। अतः कस्तूरी एवं उसकी गन्ध सर्वथा अभिन्न हैं—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता तो कस्तूरी के दूर देश तक उसकी गन्ध का अनुभव न किया जा सकता। तो क्या इन में परस्पर भेद है?—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। कस्तूरी एवं उसकी गन्ध में भेद इसलिये नहीं माना जा सकता कि ऐसा मानने पर कस्तूरी को एवं उसकी गन्ध को पृथक् दो वस्तुएं मानना पड़ेगा। कस्तूरी एवं गन्ध ये दो पृथक् उपादान सुगन्धित-कस्तूरी के मानने होंगे। सुगन्धित कस्तूरी में से यदि गन्ध बाहर निकल जाये तो शेष कस्तूरी का वजन या तोल कम हो जाना आवश्यक है, किन्तु ऐसा होता नहीं। कस्तूरी की गन्ध निकलते रहने पर भी कस्तूरी का तोल कम नहीं होता। अतः इन दोनों के भेद का भी सिद्धान्त नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार श्रीजीवगोस्वामीपाद ने दृष्टान्त द्वारा समझाया है कि कस्तूरी एवं उसकी गन्ध में केवल अभेद मानना जैसे दुष्कर है, केवल भेद मानना भी उतना ही दुष्कर है। अतः शक्ति की स्वरूप से अभिन्न रूप में भी चिन्ता नहीं की जा सकती, क्योंकि दोनों में भेद दीखता है और भिन्नरूप में भी चिन्ता नहीं की जा सकती, क्योंकि उनमें अभेद प्रतीत होता है। अतः शक्ति एवं शक्तिमान के बीच युगपत् भेद एवं अभेद दोनों ही स्वीकार करने होंगे एवं इस प्रकार का **भेदाभेद अचिन्त्य** है, यह भी स्वीकार करना होगा। इस सिद्धान्त को उन्होंने सर्वसम्वादिनी में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—**"तस्मात् स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् अभेदश्च प्रतीयत इति शक्तिशक्तिमतो भेंदाभेदावेङ्गीकृतो तौ च अचिन्त्यौ इति॥**

श्रीजीवगोस्वामीपाद ने जीव-जगत् एवं परब्रह्म के बीच केवल **"अभेद-मनन"** या **"आत्यन्तिक भेद-मनन"** दोनों को ही दोषयुक्त सिद्ध किया है। अतः उन्होंने भेद एवं अभेद दोनों को ही स्वीकार किया है। और उन्होंने बताया है कि यह भेदाभेद अचिन्त्य है।

"अचिन्त्य"—शब्द का यहाँ क्या तात्पर्य है ? उस की अब आलोचना करते हैं—श्रीपाद जीव-गोस्वामी जी ने भेद एवं अभेद के सम्बन्ध में विषद विचार करने के बाद अन्त में यह सिद्धान्त किया है कि शक्ति एवं शक्तिमान के बीच केवल भेद या केवल अभेद मानने से अनेक दोष दीखते हैं। तर्क द्वारा भी निर्दोष सिद्धान्त प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसलिये शक्ति एवं शक्तिमान का भेद सिद्ध करना जितना दुष्कर है, अभेद सिद्ध करना भी उतना ही दुष्कर है, इसलिये कोई कोई भेदाभेद साधन की चिन्ता करने में असमर्थ होकर व 'अचिन्त्य-भेदाभेदवाद' को स्वीकार करते हैं, यथा:

"अपरे तु तर्काप्रतिष्ठानात् (ब्रह्मसूत्र—२—१—११) भेदेऽप्यभेदेऽपि निर्मर्यादिदोष-सन्ततिदर्शनेन भिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदं साधयन्तः तद्वदभिन्नतयापि चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदमपि साधयन्तोऽ-चिन्त्य भेदाभेदवादं स्वीकुर्वन्ति।" सर्वसम्वादिनी।"

यह बात श्रीजीवगोस्वामीपाद ने और और लोगों की कही है, 'अपरे तु' अर्थात् और कोई ऐसा 'अचिन्त्य-भेदाभेद' स्वीकार करते हैं। वे लोग कौन है ?—जो शक्ति एवं शक्तिमान के भेद एवं अभेद की युगपत् विद्यमानता को बाध्य होकर स्वीकार करते हैं, कारण कि, उनके पास उस समस्या का कोई समाधान नहीं है, वे इस समस्या के समाधान करने में असमर्थ हैं, अतः वे इस समस्या के समाधान करने में असमर्थ हैं, अतः वे भेदाभेद के साथ 'अचिन्त्य' शब्द जोड़ देते हैं। किन्तु हम क्यों अचिन्त्य-भेदा-भेद' स्वीकार करते है—श्रीजीवगोस्वामीपाद ने इस बात का उत्तर देते हुए कहा कि—

"स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तिमयत्वादिति।" सर्वसम्वादिनी "—अर्थात् हमारे मत में या हम जो 'अचिन्त्यभेदाभेद' स्वीकार करते हैं—वह केवल अचिन्त्य शक्तिमयत्ववशतः ही अचिन्त्य भेदाभेद स्वीकार करते हैं।" इस बात को आगे और स्पष्ट करेंगे। किन्तु यहां पहले अन्याय मतों की आलोचना करते हैं।

अन्यान्य लोग 'अचिन्त्य-भेदाभेद' इसलिये स्वीकार करते हैं, कि श्रीविष्णुपुराण में उनके मत का समर्थन किया गया हैं। वहाँ श्रीमैत्रेय जी ने श्रीपराशर से जिज्ञासा की है कि "जो निर्गुण है, जो देशकालादि द्वारा अपरिच्छिन्न है, जो शुद्ध एवं राग द्वेषादि रहित है, उस ब्रह्म के पक्ष में जगत्सृष्ट्यादि का कर्त्तृत्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुये श्रीपराशर जी ने कहा है कि—(विष्णु पुराण १—३२)

"शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः :
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ।।क-ख।।

"हे तपस्वि श्रेष्ठ ! समस्त भाव-पदार्थों की शक्तियां जैसे अचिन्त्य-ज्ञानगोचर हैं, उसी प्रकार ब्रह्म की जगत्-सृष्ट्यादिभाव-शक्ति भी अचिन्त्य-ज्ञान गोचर है । अग्नि की दाहिका-शक्ति की भांति वह शक्ति भी स्वभावसिद्ध है ।"—तात्पर्य यह है कि हम देखते हैं, जगत् में अनेक पदार्थ ऐसे हैं, जिनकी शक्ति तर्कासह है, अर्थात् अचिन्त्य है, अर्थात् वह तर्क या युक्ति द्वारा निर्णीत नहीं की जा सकती । वह अचिन्त्य ज्ञान-गोचर है । जैसे मणि में सर्प के विष को हरने की शक्ति, मन्त्रों में अनेक शक्तियां—इत्यादि ये सब अचिन्त्य विषय हैं ।

श्रीश्रीधरस्वामीपाद ने कहा है—"अचिन्त्या भिन्ना भिन्नत्वादि-विकल्पैश्चिन्तयितुम् अशक्याः । अर्थात् 'जो भिन्नता एवं अभिन्नतादि विकल्प के द्वारा चिन्ता के अयोग्य है—वह 'अचिन्त्य' है ।

इस प्रकार 'अचिन्त्य'-शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थ शास्त्र सम्मत ही हैं । ब्रह्मसूत्र "श्रुतेस्तु–शब्दमूल-त्वात्" से तथा श्रीमहाभारत के निम्नलिखित श्लोक से भी इसी बात का समर्थन होता है ।

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।।क–ग।।

"जो भाव या शक्तिसमूह अचिन्त्य हैं, उनका निर्णय तर्क-युक्ति आदि से नहीं किया जा सकता । जो प्रकृति से अतीत अर्थात् प्राकृते-द्रय-मन-बुद्धि के अगोचर है— उसे 'अचिन्त्य' कहते हैं ।"

इस प्रकार 'अचिन्त्य'–शब्द के शास्त्रसम्मत अर्थों को ग्रहणपूर्वक, अन्याय लोगों द्वारा 'अचिन्त्य-भेदाभेद' की स्वीकृति को भी प्रामाणिक एवं शास्त्र-सङ्गत मानते हुए श्रीपादजीवगोस्वामीजी ने, किन्तु अपने मत में भेदाभेद के साथ 'अचिन्त्य'-शब्द का एक विशेष हेतु अभिव्यक्त किया है—जिसका किसी ने भी उल्लेख नहीं किया । उन्होंने कहा है कि "अचिन्त्य-शक्तिमयत्ववशतः हम अचिन्त्य भेदाभेद स्वीकार करते हैं । अचिन्त्य-शक्तिमयत्व किसका ? ब्रह्म के अचिन्त्य शक्तिमयत्व से उनका अभिप्राय नहीं है। क्योंकि, यदि यही उनका अभिप्रेत होता, तो यहां ब्रह्म-शब्द का उल्लेख वे अवश्य करते । अर्थात् "ब्रह्मणः अचिन्त्य-शक्तिमयत्वात्"—इस प्रकार वे उल्लेख करते; किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। विशेषतः विष्णुपुराण के "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः" इस वाक्यमें समस्त वस्तुओं की शक्ति-समूह के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है, केवल ब्रह्म की शक्ति में यह बात नहीं कही गई है । प्राकृत एवं अप्राकृत समस्त वस्तुओं के साथ उनकी शक्तियों का अचिन्त्य-भेदाभेद सम्बन्ध है। अतः ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति ही भेदाभेद सम्बन्ध का हेतु है—श्रीजीवगोस्वामीपाद का यह अभिप्रेत नहीं है । उन्होंने अचिन्त्य-शक्तिमयत्व को भेदाभेद का हो विशेषण स्थानीय माना है । भेदाभेद का अचिन्त्य शक्तिमयत्व या अचिन्त्य-प्रभाव अथवा अचिन्त्य स्वभाव ही उनका अभिप्रेत दीखता है । अर्थात् शक्ति एवं शक्तिमान के बीच जो सम्बन्ध है, उसका एक ऐसा स्वभाव व प्रभाव है कि जिससे भेद तथा अभेद युगपत् वर्त्तमान रह सकते हैं और वही स्वभाव व प्रभाव ही चिन्ता अतीत है, या 'अचिन्त्य' है ।

दृष्टान्त :—दो भाग हाइड्रोजन के साथ एक भाग आक्सीजन मिलाने से जल की उत्पति होती है—ऐसा विज्ञान-सिद्ध है । किन्तु इसका क्या कारण ?—अर्थापत्ति न्याय से यही कहा जा सकता है कि हाइड्रोजन एवं आक्सीजन में ही कोई एक ऐसी अचिन्त्य शक्ति है, जो पानी की उत्पत्ति का हेतु है । इन

दोनों को मिलाने वाले व्यक्ति की शक्ति का इसमें कुछ भी कार्य नहीं है। इन दोनों गैसों में स्वभावतः रहने वाली कोई एक शक्ति ही पानी की उत्पत्ति का हेतु है। युक्तितर्क द्वारा वह शक्ति निर्णीत नहीं हो सकती। वह एक अचिन्त्य शक्ति है। इसी प्रकार शक्ति एवं शक्तिमान में भेद एवं अभेद विद्यमान है, उनकी कोई एक अचिन्त्य शक्ति ही उनके युगपत् अवस्थान या अस्तित्व का कारण है।

ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति ही यदि परस्पर-विरुद्ध भेद एवं अभेद के युगपत् अस्तित्व का हेतु होती तो श्रीपादजीवगोस्वामीजी सहज में ही कह सकते थे कि ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से उसमें युगपत् भेद एवं अभेद की विद्यमानता है। ऐसा न कहकर किन्तु उन्होंने शक्ति एवं शक्तिमान के बीच भेदाभेद के अचिन्त्य शक्तिपयत्व को अपूर्व कथा कही है—"**तौ च अचिन्तौ।**" सर्वसम्वादिनी।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है—" **विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणो न चान्येषां शक्तयोस्ताहशाः स्युः।**" इत्यादि। अर्थात् वह पुराणपुरुष—ब्रह्म ही विचित्र-शक्ति सम्पन्न है या अचिन्त्य-शक्ति सम्पन्न है, वैसी शक्ति और किसी में नहीं है-ऐसा श्वेताश्वतर श्रुति कहती है। उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार यदि भेदाभेद सम्बन्ध की भी अचित्य-शक्ति मानली जाए, तो श्रुतिवाक्य के साथ विरोध हो जायगा?

इसके उत्तर में कहते हैं कि—ब्रह्म की अचिन्त्य-शक्ति का एक असाधारण वैशिष्ट्य है। वह अपनी अचिन्त्य-शक्ति के प्रभाव से एक होते हुए भी अन्तरात्मारूप से सर्व भूतों में वह अनुप्रविष्ट है। इस अचिन्त्य-शक्ति से वह अनेक अघटनाओं को भी घटा सकता है। उसकी अचिन्त्य-शक्ति का व्यापकतत्व सर्वातिशायी है। श्रुति ने जो कहा है—ब्रह्म की अचिन्त्य-शक्ति की भाँति अचिन्त्य शक्ति और किसी में नहीं है, उसका तात्पर्य यह है कि सर्वातिशायी व्यापकत्व विशिष्टा अचिन्त्य-शक्ति अपर किसी में नहीं है, केवल ब्रह्म में ही है। भेदाभेद-सम्बन्ध की अचिन्त्य-शक्ति केवल मात्र इसी सम्बन्ध में ही सीमाबद्ध है, इस सम्बन्ध के बाहर इसकी व्याप्ति नहीं है। अतः भेदाभेद-सम्बन्ध का जो अचिन्त्य-शक्तित्व है, वह केवल उसी सम्बन्ध में ही है, अतः वह ब्रह्म के सर्वातिशायी व्यापकत्व विशिष्ट अचिन्त्य-शक्तित्व से भिन्न है। एक जातीय होने पर भी यापकत्व में अनेक पार्थक्य है। अतः इसमें कुछ भी विरोध नहीं है। विरोध न होने से ही तो मणिमन्त्रौषधि आदि की अचिन्त्य-शक्ति सभी ने स्वीकार की है, और भाव वस्तु मात्र की ही शक्ति को भी विष्णुपुराण में अचिन्त्य-शक्ति स्वीकार किया गया है। अर्थापत्ति न्याय से भेदाभेद सम्बन्ध की उत्पत्ति के लिये जिस हेतु की कल्पना की जा सकती है, वह शक्ति एवं शक्तिमान के भेदाभेद सम्बन्ध की ही एक अचिन्त्य-शक्ति या अचिन्त्य-धर्म है।

श्रीजीवगोस्वामीपाद ने **परब्रह्म के साथ उसकी शक्ति के अचिन्त्य-भेदाभेद सम्बन्ध** को **श्रुतार्थापत्ति ज्ञान गोचर** कहा है। जो बात प्रत्यक्ष नहीं दीखती, श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र से ही जो सुनी जाती है एवं अति प्रसिद्ध हो, अथवा जिसके हेतु के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख न पाया जाये, उसके सम्बन्ध में जिस हेतु की आपत्ति या कल्पना करली जाती है, उसे '**श्रुतार्थापत्ति**' कहते हैं।

एक दृष्टान्त द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं—श्रुति से जाना जाता है कि अग्निष्टोम यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। श्रुति का वचन होने से इस बात को सब स्वीकार करते हैं, कोई भी अस्वीकार नहीं करता। किन्तु इस बात के हेतु का कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया। यदि कोई कहे कि अग्निष्टोम यज्ञ को ही तो स्वर्ग प्राप्ति का कारण कहा गया है—हेतु का उल्लेख कैसे नहीं है?—तो इसका उत्तर यह है कि हेतु का सदा फल के साथ अव्यवहित सम्बन्ध रहना आवश्यक है। जो फल से व्यवहित (सम्बन्ध रहित) है वह हेतु नहीं कहा जा सकता—ऐसा न्यायशास्त्र कहता है। अग्निष्टोम यज्ञ तो किया जाता

है—जोवित अवस्था में और यज्ञकर्त्ता को स्वर्ग की प्राप्ति होती है—मृत्यु के बाद। अतः यज्ञ एवं स्वर्ग प्राप्ति—इन दोनों के बीच समय अवस्थादि का अनेक व्यवधान है, इसलिये अग्निष्टोम यज्ञ को स्वर्ग प्राप्ति का हेतु नहीं कहा जा सकता। किन्तु यहाँ ऐसा समाधान है कि अग्निष्टोम यज्ञकर्त्ता को एक ऐसा विशेष पुण्य प्राप्त होता है, जो स्वर्ग-प्राप्ति पर्यन्त यज्ञकर्त्ता में रहता है और वही पुण्य ही स्वर्गप्राप्ति का अव्यवहित हेतु है। यहाँ श्रुतिसिद्ध वस्तु की उपपत्ति के लिये पुण्यरूप हेतु की आपत्ति या कल्पना की जाने से इसे 'श्रुतार्थापत्ति' कहते हैं।

इसी प्रकार श्रीजीवगोस्वामीपाद ने भी जो **'अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध** स्वीकार किया है—श्रुतार्थापत्ति-न्याय के आश्रित होकर स्वीकार किया है। क्योंकि परब्रह्म की स्वाभाविकी शक्ति की कथा श्रुति में वर्त्तमान है। इस शक्ति के साथ ब्रह्म के भेद की कथा भी दीखती है और शक्ति के साथ ब्रह्म के अभेद की कथा भी उल्लिखित है। अथच, केवल भेद स्वीकार करने से या केवल अभेद स्वीकार करने से दोषों का उद्भव होता है। अतः भेद एवं अभेद के युगपत् अस्तित्व को स्वीकार करना ही पड़ता है। भेदाभेद दोनों के युगपत् अस्तित्व को स्वीकार करने से ही श्रुतिवाक्यों का समन्वय हो सकता है और वह भेदाभेद सम्बन्ध केवल अचिन्त्य है। अचिन्त्यज्ञान गोचर है या श्रुतार्थापत्ति ज्ञान गोचर ही है।

श्रुतार्थापत्ति शब्द प्रमाण के समान ही प्रामाण्य होता है। अतः इसके आश्रित होकर जो सिद्धान्त श्रीजीवगोस्वामीपाद ने उपनीत किया है, वह केवल स्वकपोल-कल्पना मात्र नहीं है। वही सिद्धान्त शास्त्र सम्मत एवं अनुपेक्षणीय है उसी में ही सर्व श्रुतियों एवं सर्ववादों का समन्वय है।

श्रीपाद जीवगोस्वामी ने शास्त्र प्रमाणों से सिद्ध किया कि है जीव-जगत् स्वरूपतः परब्रह्म की शक्ति हैं। जीव-जगत् से अतीत अप्राकृत भगवद्धामसमूह, वहां के लीला-परिकर समूह एवं भगवद्धाम स्थित समस्त वस्तुएं तथा श्रीभगवान् के रूप-गुण-लीलादि भी स्वरूपतः परब्रह्म की शक्तियाँ हैं। अतः इन सब के साथ परब्रह्म का सम्बन्ध—शक्ति के साथ शक्तिमान के सम्बन्ध जैसा है। शक्ति के साथ शक्तिमान का सम्बन्ध है—'अचिन्त्य-भेदाभेद-सम्बन्ध'; अतः परब्रह्म के साथ जीव-जगत् का सम्बन्ध भी है—**"अचिन्त्यभेदाभेद-सम्बन्ध"**।

इस प्रकार श्रीपादजीव गोस्वामी जी ने श्रीमन्महाप्रभु के अभिमतानुसार श्रीमद्भागवत को ही ब्रह्मसूत्र का प्रकृत-भाष्य जानकर सर्वसाधारण के लिये श्रीमद्भागवत के परमगुह्य सिद्धान्तों को अपने 'षटसन्दर्भ' में श्रीमद्भागवत के भाष्यरूप में अभिव्यक्त किया एवं श्रुति-स्मृति तथा ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता भगवान् श्रीवेदव्यास जी के मतानुसार, श्रीमन्माध्वगौड़ेश्वर-सम्प्रदाय के **"अचिन्त्य भेदाभेद"** को अवतारित किया।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि श्रीपाद जीवगोस्वामी जी ने ब्रह्मसूत्रों के क्रमानुसार भाष्य का सङ्कलन नहीं किया था, उनके परवर्त्तीकाल में श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण जी ने ब्रह्मसूत्र के क्रमानुसार भाष्य का भी सङ्कलन किया, जो कि 'श्रीगोविन्द-भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। 'श्रीगोविन्द-भाष्य' भी अपौरुषेय भाष्य है, जैसा कि उसके आविर्भाव होने के इतिहास से सिद्ध होता है।

'श्रीगोविन्द भाष्य' का आविर्भाव-इतिहास इस प्रकार है—एक समय (१६४० शकाब्द में) श्रीश्रीरूपगोस्वामीपाद द्वारा प्रगटित श्रीश्रीगोविन्ददेव की सेवा के सम्बन्ध में जयपुर में एक विवाद खड़ा हो गया। जयपुर नरेश श्री जयसिंह ही उस समय श्रीगोविन्द जी की सेवा का प्रबन्ध करते थे। वहाँ श्रीनारायण पूजा से पहले श्रीगोविन्द जी की पूजा हुआ करती थी। वहाँ कई एक वैष्णवों ने श्रीनारायण

देव की प्रथम पूजा की प्रथा चलाने के लिये वाद-विवाद खड़ा कर दिया था। शास्त्रीय विचार के द्वारा इस विषय की मीमांसा के लिये जयपुर नरेश ने श्रीवृन्दावन से शास्त्रज्ञ पण्डितजनों को बुलवाया। गौड़ीय वैष्णवजनों की सम्पति से श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण ही जयपुर पहुँचे। उनके साथ शास्त्र विचार करने में विरुद्धपक्ष निरस्त होगया, तथापि विरुद्ध पक्षियों ने श्रीमन्माध्व गौड़ीय-सम्प्रदाय के ब्रह्मसूत्र-भाष्य को देखने की इच्छा प्रगट की। श्रीबलदेव विद्याभूषण जी ने एक दिन का अवकाश माँगा। रात्रि के समय श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण ने श्रीगोविन्द जी के मन्दिर में जाकर उनसे अपनी समस्या के समाधान की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना सुनकर भक्तवत्सल भगवान् श्रीगोविन्ददेव जी ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य बोलना आरम्भ किया एवं श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण जी ने उसे उद्धृत करना। प्रातःकाल होते ही श्रीपाद ने "श्रीगोविन्दभाष्य' को सर्व समाज के आगे प्रस्तुत कर दिया, जो ब्रह्मसूत्र का क्रमानुसार ही भाष्य है। इस प्रकार वह श्रीगोविन्द भाष्य भी अपौरुषेय-भाष्य है।

इस प्रकार हमने श्रीवेदव्यास जी द्वारा अवतारित ब्रह्मसूत्र के विभिन्न आचार्यपादों के विभिन्न अभिमतों का दिग्दर्शन कराया है। मूलग्रन्थ में ग्रन्थकार श्रीवेदव्यास जी के अभिमत को श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीपाद के शिष्य द्वारा आगे इस प्रकार—व्यक्त करते हैं—

वेदान्तमते ब्रह्म—साकार निरूपण। निर्गुण व्यतिरेके तेहों हय त सगुण ॥४६॥
परमकारण ईश्वर—केहो नाहि माने। स्व-स्व-मत स्थापे परमतेर खण्डने ॥४७॥
ताते छय दर्शन हैते तत्त्व नाहि जानि। महाजन येइ कहे से-इ सत्यमानि ॥४८॥

श्रीप्रकाशानन्द पाद के शिष्य ने कहा—"वेदान्त के मत में ब्रह्म को साकार निरूपण किया है और वह निर्गुण नहीं है, किन्तु उसमें असंख्य अप्राकृतगुण होने से वह सगुण है। सांख्य-मीमांसादि दर्शनशास्त्र कर्त्ताओं ने श्रीभगवान् को परमकारण अर्थात् सर्वकारण नहीं माना है। प्रत्येक दर्शनशास्त्र-कर्त्ता ने अपने अपने व्यक्तिगत मत को स्थापन करने की चेष्टा की है और दूसरे के मत को खण्डन किया है। अतः छः दर्शनों से मूल तत्त्व का कुछ पता नहीं लग सकता।

(श्रीवेदव्यास जी ने ब्रह्मसूत्र के भाष्यरूप श्रीमद्भागवत को अवतारित किया है एवं उसी के अभिमतानुसार ही श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने सूत्रों का अर्थ किया है। अतः इन्होंने जो अर्थ किये हैं, हम तो उसे ही सत्य मानते हैं।) क्योंकि महापुरुष जिसको प्रमाणित करते हैं वही सत्य होता है। जैसा कि कहा भी गया है—॥४६—४८॥

तथाहि महाभारते, बनपर्वणि (३१३—११७)—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः सः पन्थाः ॥९॥

तर्क द्वारा तत्त्व का निर्णय नहीं किया जा सकता, समस्त श्रुतिओं का मत भिन्न भिन्न है, ऐसा कोई ऋषि नहीं, जिस का मत भिन्न न हो, धर्म तत्त्व अति निभृत स्थानीय है, अतः महाजन अर्थात् पूर्वाचार्यगणों ने जिस पथ में विचरण किया है, वही पथ ही अवलम्बन करना चाहिये ॥९॥"

श्रीकृष्णचैतन्य-वाणी अमृतेर धार। तेहों ये कहेन वस्तु से-इ तत्त्व सार ॥४९॥
ए सब वृत्तान्त शुनि महाराष्ट्री ब्राह्मण। प्रभुके कहिते सुखे करिला गमन ॥५०॥

हेन काले प्रभु पञ्चनदे स्नान करि। देखिते चलियाछेन विन्दु माधव हरि ॥५१॥
पथे सेइ विप्र सब वृत्तान्त कहिल। शुनि महाप्रभु ईषत् हासिते लागिल ॥५२॥

उस संन्यासी ने कहा—"श्रीकृष्णचैतन्यदेव की वाणी तो अमृत की धारावत् निर्दोष एवं निर्मल है, जो कुछ उन्होंने कहा है, वही समस्त तत्त्वों का सार है। यह सब वृत्तान्त श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती की सभा में ही उस महाराष्ट्री ब्राह्मण ने सुना और उसे श्रीमहाप्रभु जी को सुनाने के लिये वह सुखपूर्वक प्रभु के पास चल पड़ा। उसी समय श्रीमहाप्रभु पञ्चनद में स्नान करके श्रीबिन्दु माधव-हरि भगवान् के दर्शन करने जा रहे थे रास्ते में ही उस ब्राह्मण ने सब वृत्तान्त प्रभु को कह सुनाया। उसे सुनकर श्रीमहाप्रभु कुछ मुस्करा दिये ॥४९—५२॥

माधव-सौन्दर्य देखि आविष्ट हइला। अङ्गनेते आसि प्रेमे नाचिते लागिला ॥५३॥
शेखर, परमानन्द, तपन, सनातन। चारिजन मेलि करे नाम सङ्कीर्त्तन ॥५४॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने श्रीबिन्दुमाधव जी के दर्शन किये एवं उनके सौन्दर्य को देखकर वे प्रेमाविष्ट हो उठे। वे आङ्गन में चले आए और प्रेमावेश में नृत्य करने लगे। श्रीचन्द्रशेखर, श्रीपरमानन्द कीर्त्तनीया श्रीतपन मिश्र एवं श्रीसनातन गोस्वामी—ये चारों जने मिलकर श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन करने लगे ॥५३—५४॥

तथाहि भक्तकृतं सङ्कीर्त्तनम्—

हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्दराम श्रीमधुसूदन ॥१०॥

सब भक्तों ने—"हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः, गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन"—इस नाम-ध्वनि का मिलकर सङ्कीर्त्तन किया ॥१०॥

चौदिके लोक लक्ष बोले 'हरि हरि'। उठिल मङ्गलध्वनि स्वर्गमर्त्त्य भरि ॥५५॥
निकटेइ ध्वनि शुनि परकाशानन्द। देखिते कौतुके आइला लञा शिष्यवृन्द ॥५६॥
देखिया प्रभुर नृत्य—देहेर माधुरी। शिष्यगण सङ्गे सेइ बोले 'हरि हरि' ॥५७॥
कम्प स्वरभङ्ग स्वेद वैवर्ण्य स्तम्भ। अश्रुधाराय भिजे लोक, पुलक-कदम्ब ॥५८॥
हर्ष-दैन्य-चापल्यादि सञ्चारि विकार। देखि काशीवासिलोकेर हैल चमत्कार ॥५९॥

श्रीमहाप्रभु के चारों ओर असंख्य लोग इकट्ठ होगये एवं 'हरि हरि' ध्वनि करने लगे उस मङ्गल-ध्वनि से आकाश-वाताश गूंज उठे। श्रीप्रकाशानन्दजी ने भी अपने निकट नामध्वनि को सुना और वे भी अपने शिष्यों को साथ लेकर कौतुक देखने के लिये वहाँ आ पहुँचे। श्रीमहाप्रभुजी के नृत्य एवं उनके माधुर्य को देखकर श्रीप्रकाशानन्द अपने को स्थिर न रख सके और अपने शिष्यों के साथ 'हरि हरि' ध्वनि करने लगे। नाम-करने से उनमें कम्प, स्वर भङ्ग, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु एवं पुलकावलि आदि प्रेम के सात्विक विकार उदय हो आए एवं हर्ष, दैन्य, चापल्यादि सञ्चारी-भावों में वे निमग्न हो गये। श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती पाद की यह दशा देख कर समस्त काशीवासी लोग चमत्कृत हो उठे, (और कहने लगे—"समस्त जीवन पर्यन्त जिसने मायावाद का प्रचार किया, इस चैतन्य-भावुक की भाव कालिमा यहाँ नहीं बिकेगी—इस प्रकार के उपहास-वचन कहने वाला यह प्रकाशानन्द! और आज इसकी यह दशा?

हरिहरि-बोलकर नृत्य कर रहा है ! इसके शरीर में प्रेम के सात्त्विक विकार ? वस्तुतः यह श्रीचैतन्यदेव की ही अपार कृपा का फल है ॥५५—५६॥

लोकसङ्घट्ट देखि प्रभुर बाह्य हैल। सन्यासीरगण देखि नृत्य सम्वरिल ॥६०॥
प्रकाशानन्देर कैल प्रभु चरण वन्दन। प्रकाशानन्द आसि तांर धरिल चरण ॥६१॥
प्रभु कहे—तुमि जगद्गुरु पूज्यतम। आमि तोमार ना हइ शिष्येर शिष्यसम ॥६२॥
श्रेष्ठ हैया केने कर हीनेर वन्दन। आमार सर्वनाश हय, तुमि ब्रह्मसम ॥६३॥
यद्यपि तोमारे सब ब्रह्ममय भासे। लोकशिक्षा-लागि ऐछे करिते ना आइसे ॥६४॥

लोगों की भीड़भाड़ देखकर श्रीमहाप्रभु जी को बाह्य स्मृति हो आई और संन्यासियों को देख कर उन्होंने अपने नृत्य का भी सम्वरण कर लिया। श्रीमहाप्रभु ने श्रीप्रकाशानन्द जी को नमस्कार की। यह देखकर श्रीप्रकाशानन्द जी ने दौड़कर प्रभु के चरण पकड़ लिये। प्रभु ने कहा—"ओहो ! यह आप क्या कर रहे हैं ? आप तो जगद्गुरु हैं, सब के पूज्य हैं। मैं तो आपके शिष्यों के शिष्य के समान भी नहीं हूँ। आप तो श्रेष्ठ हैं और मैं हीन हूँ। आप मुझ हीन व्यक्ति की क्यों वन्दना कर रहे हैं ? मुझे तो अपराध होगा और मेरा सर्वनाश हो जायेगा, क्योंकि आप तो तत्त्व ज्ञान को लाभ कर ब्रह्म के समान माया-तीत हो चुके हैं। यद्यपि आप को सब कुछ ब्रह्म ही भास्ता है, तो भी लोक शिक्षा के लिये आपको ऐसा नहीं करना चाहिये" ॥६०—६४॥

तेंहो कहे—तोमार पूर्वे निन्दा अपराध ये करिल।
तोमार चरणस्पर्शे सब क्षय हैल ॥६५॥

श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुनकर श्रीप्रकाशानन्द जी कहने लगे, "प्रभो ! मैंने पहले आपकी बहुत निन्दा की है, उस अपराध से तो सर्वनाश मेरा हुआ है। उस अपराध को ध्वंस करने के लिये मैंने आपके चरणों का स्पश किया है—और वह अपराध आज क्षय होगया है ॥६५॥

चैं० च० चु० *टीका*:—श्रीप्रकाशानन्द जी ने श्रीमन्महाप्रभु को स्वयं भगवान् रूप में पहिचान लिया। श्रीभगवान् की निन्दा करने से जो अपराध होता है, उससे वे भयभीत हो उठे। अतः वे 'भगवान् की निन्दा करने से अपराध होता है' और वह अपराध श्रीभगवान् के चरण स्पर्श करने से नष्ट होता है—इस बात के समर्थन में निम्नलिखित श्लोकों को कहने लगे—

तथाहि वासनाभाष्यधृत—परिशिष्ट वचनम्—

जीवन्मुक्ता अपि पुनर्यान्ति संसारवासनाम्।
यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः ॥११॥

यदि अचिन्त्यमहाशक्ति-शाली भगवान् के प्रति अपराध हो जाए, तो जीवन्मुक्तगण भी पुनः संसार-वासना को प्राप्त होते हैं ॥११॥

तथाहि (भाः १०—३४—९)—

स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥१२॥

महाराज परीक्षित से श्रीशुकदेव जी ने कहा है—"श्रीभगवान् के श्रीचरण स्पर्श करने से (श्रीनन्दमहाराज को दर्शन करने वाले) सर्प के समस्त अमङ्गल विनष्ट होगये एवं वह सर्प देह को त्याग कर विद्याधरों के दुर्लभ-देह को प्राप्त हो गया ॥१२॥

प्रभु कहे—विष्णु विष्णु, आमि क्षुद्रजीव हीन । जीवे 'विष्णु मानि—एइ अपराध चिन्ह॥६६॥
जीवे विष्णु बुद्धि दूरे, येइ रुद्रब्रह्मसम । नारायणे माने, तार पाषण्डीते गणन ॥६७॥

श्रीप्रकाशानन्द पाद के वचन सुनकर अपने स्वरूप को छिपाते हुए श्रीमहाप्रभु बोले—"विष्णु, विष्णु, मैं तो एक क्षुद्र हूँ । जीव को विष्णु मानना—यह तो अपराध के लक्षण हैं । जीव को विष्णु समझना अर्थात् जीव को विष्णु के समान मानना तो दूर की बात है जो श्रीशिव एवं श्रीब्रह्मा जी को श्रीनारायण या श्रीविष्णु के समान मानता है, उसकी भी पाषण्डी पुरुषों में गिनती है ॥६६-६७॥ यथा—

तथाहि हरिभक्ति विलासे (१—७३) प्रश्नोत्तरखण्डवचनम् (२३—१२)

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेत् सदा ॥१३॥

जो व्यक्ति श्रीब्रह्मा एवं श्रीरुद्रादि देवतागणों के साथ श्रीनारायणदेव (श्रीविष्णु) की समानता मानता है, वह जन निश्चय ही पाषण्डी है ॥१३॥ (पृष्ठ ५०० द्रष्टव्य)

प्रकाशानन्द कहे-तुमि साक्षात् भगवान् । तभु यदि कर तांर दास अभिमान ॥६८॥
तभु पूज्य हओ तुमि बड़ आमा हैते । सर्वनाश हय मोर तोमार निन्दाते ॥६९॥

श्रीमहाप्रभु जी के वचन सुनकर श्रीप्रकाशानन्द ने कहा—"यद्यपि आप अपने को श्रीभगवान् का दास बता रहे हो, किन्तु मैं जानता हूँ—आप साक्षात् भगवान् हो । यदि आप भगवत् भक्त हो, तो भी आप मुझ से बड़े हो और मेरे पूज्य हो, कारण कि मैं तो सर्वथा भक्ति हीन हूँ । भक्तनिन्दा से भी तो निन्दक का सर्वनाश हो जाता है, अतः आप की मैंने निन्दा की है, मेरा तो सर्वनाश होगया है । (क्या हुआ मैं अपने को जीवन्मुक्त मानता हूँ, किन्तु जीवन्मुक्त से भगवत् भक्त तो अतिश्रेष्ठ होता है । जैसा कि श्रीमद्भागवत जी में कहा गया है)—

तथाहि (भाः ६—१४—५)—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥१४॥

शुकदेव जी के प्रति परीक्षित महाराज ने कहा है—"हे महामुने ! जो जीवन्मुक्त हैं एवं जो सायुज्यमुक्ति को प्राप्त करने के निकट हैं, ऐसे कोटिजनों से भी श्रीनारायण का सेवापरायण एक भक्त सुदुर्लभ है । (पृष्ठ ५२८ द्रष्टव्य) और भी श्रीमद्भागवत जी में कहा है)—

तथाहि (भाः १०—४—६)—

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च ।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥१५॥

श्रीशुकदेव जी ने महाराज परीक्षित जी से कहा है—भक्त या महत्-पुरुषों का अपराध करने से लोगों की आयु, श्री, यश, धर्म, धर्मसाध्य स्वर्गादि लोक, स्वीयवाञ्छित विषय एवं सर्वविध कल्याण

विनष्ट हो जाते हैं। (तात्पर्य यह है कि जब भक्त या किसी महत् पुरुष के प्रति अपराध बन जाता है, तो उपर्युक्त समस्त गुण विनष्ट हो जाते हैं और भक्त की महत्-पुरुष की कृपा से समस्त मङ्गल, एवं भगवत्-भक्ति की प्राप्ति होती है।) ॥१५॥

तथाहि (भा: ७—५—३२)—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिस्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥१६॥

श्रीप्रह्लाद जी ने अपने गुरु पुत्र के प्रति कहा है—"जब तक विषयाभिमान-शून्य साधु पुरुषों की चरणधूलि द्वारा अभिषेक नहीं होता हैं, तब तक लोगों की मति भगवत्-चरणों को स्पर्श तक भी नहीं कर सकती और न ही समस्त अनर्थों की निवृत्ति ही हो सकती है ॥१६॥

चै० च० चु० *टीका:*—सारांश यह है, श्रीप्रकाशानन्द पाद ने कहा कि आप तो साक्षात् भगवान् हो। यदि आप लोकशिक्षा के लिये भक्ताभिमान को भी पोषण कर रहे हों, तो भी जब तक एक भक्त के प्रति अपराध रहता है तब तक भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती एवं अनेक प्रकार के अनर्थ उत्पन्न होते हैं—अत: मैं आपके चरणस्पर्श किये बिना कैसे रह सकता हूं ?

एवे तोमार पदाब्जे मोर उपजिवे भक्ति। तार निमित्ते करि तोमार चरणे प्रणति ॥७०॥
एत बलि प्रभु लञा ताहांइ वसिला। प्रभु के प्रकाशानन्द पुछिते लागिला ॥७१॥
मायावादे कैल यत दोषेर आख्यान। सभे जानि आचार्येर कल्पित व्याख्यान ॥७२॥
सूत्रेर करिले तुमि मुख्यार्थ विवरण। ताहा शुनि सभार हैल चमत्कार मन ॥७३॥
तुमि त ईश्वर, तोमार आछे सर्वशक्ति। संक्षेपरूपे कहि तुमि, शुनिते हय मति ॥७४॥

श्रीप्रकाशानन्द जी ने कहा "अब आपके (भक्तरूप के) चरणों में मैं ने प्रणाम की है, इसके फलस्वरूप आपके (स्वयं भगवान् रूप के) चरणों में मुझे भक्ति की प्राप्ति होगी।" इतना कहकर श्रीप्रकाशानन्द जी श्रीमहाप्रभु के साथ वहां ही बैठ गये और प्रभु से इस प्रकार बोले—"प्रभो! आपने जो मायावाद के दोषों की व्याख्या की है, वह सत्य है और हम भी यह जानते हैं कि श्रीआचार्यपाद ने सूत्रों का निज कल्पित अर्थ किया है। आपने जो सूत्रों का मुख्यावृत्ति से अर्थ व्याख्यान किया है, उसे सुन कर हम सब के मन चमत्कृत हो उठे हैं, आप साक्षात् ईश्वर हैं और आप में समस्त-शक्ति वर्त्तमान है। अत: मैं एकबार फिर आपके मुखारविन्द से सूत्रों का संक्षिप्त अर्थ सुनने की प्रार्थना करता हूं ॥७०-७४॥

प्रभु कहे—आमि जीव अति तुच्छ ज्ञान। व्याससूत्रेर गम्भीरार्थ, व्यास भगवान् ॥७५॥
तांर सूत्रेर अर्थ कोन जीव नाहि जाने। अतएव आपन सूत्रेर करियाछे व्याख्याने ॥७६॥
ये सूत्रकर्त्ता, यदि से करये व्याख्यान। तबे सूत्रेर मूल अर्थ लोकेर हय ज्ञान ॥७७॥
प्रणवेर येइ अर्थ, गायत्रीते सेइ हय। सेइ अर्थ चतु:श्लोकीते विवरिया कय ॥७८॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"मैं एक जीव हूं, और जीव का ज्ञान तो अति तुच्छ है। श्रीव्यास-देव के जो ब्रह्मसूत्र हैं, उनका बहुत ही गम्भीर अर्थ है, कारण कि श्रीव्यासदेव श्रीभगवान् के शक्त्यावेश-अवतार हैं। एक तो श्रीभगवान् द्वारा सङ्कलित दूसरे सूत्र—अर्थात् अल्पाक्षरों में अनेक ज्ञातव्य विषय जिनमें लिखित होता है—तो ऐसे सूत्रों के अर्थों को जानने की शक्ति जीव में नहीं होती। जीव इन सूत्रों

का अर्थ नहीं जान सकेंगे'—इस बात को जानकर ही श्रीव्यास जी ने अपने सूत्रों की आप ही व्याख्या की। जो सूत्र कर्त्ता हो, वह ही यदि उनकी व्याख्या करे, तभी सूत्रों के मूल अर्थों का दूसरे लोगों को ज्ञान हो सकता है। प्रणव का जो अर्थ है, वही गायत्री में विवृत हुआ है एवं गायत्री का वही अर्थ चतुः-श्लोकी-श्रीभागवत में विवृत हुआ है। (श्रीवेदव्यास देव जी ने चतुःश्लोकी का अवलम्बन करके श्रीमद्भागवत का प्रणयन किया है) ७५—७८॥

चै० च० चु० *टीका:*—यह बात जान लेना आवश्यक है कि 'श्रीव्यासदेव जी ब्रह्मसूत्र प्रणयन कर, उसकी व्याख्या करने के उद्देश्य से श्रीमद्भागवत लिखने के लिये उद्यत हुए हों'—ऐसी बात नहीं है। पहले उन्होंने ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया फिर पीछे परम्पराक्रम से श्रीनारायण से उन्हें श्रीमद्भागवत के मर्मरूप से चतुःश्लोकी प्राप्त हुई। उसे प्राप्त कर उन्होंने देखा कि चतुःश्लोकी का जो मर्म है, उनके वेदान्तसूत्र का भी वही मर्म है। यह देखकर उन्होंने वेदान्तसूत्र के भाष्यरूप में उस चतुःश्लोकी को विस्तृत करके श्रीमद्भागवत को अभिव्यक्त किया। इस प्रकार जीवों के मङ्गल के वेदान्तसूत्र के भाष्यरस में श्रीमद्भागवत जी का प्राकट्य हुआ। साक्षाद्भाव में उसके कर्त्ता श्रीवेदव्यास जी होते हुए भी उसके मूल कर्त्ता श्रीनारायण ही हैं। श्रीवेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवत में श्रीनारायण कृत अर्थरूप चतुःश्लोकी की विवृतिमात्र ही की है। अतः श्रीमद्भागवत जी को वेदान्तसूत्र का 'अपौरुषेय' एवं 'प्रकृत-भाष्य' कहा गया है। यही बात नीचे के पयारों में कहते हैं—

ब्रह्मारे ईश्वर चतुःश्लोकी ये कहिल। ब्रह्मा नारदेरे सेइ उपदेश कैल ॥७९॥
सेइ अर्थ नारद व्यासेरे कहिल। शुनि वेदव्यास मने विचार करिल ॥८०॥
एइ अर्थ—आमार सूत्रेर व्याख्यारूप। श्रीभागवत करि सूत्रेर भाष्यस्वरूप ॥८१॥
चारिवेद उपनिषद् यत किछु हय। तार अर्थ लञा व्यास करिल सञ्चय ॥८२॥
सेइ सूत्रे येइ ऋग् विषय वचन। भागवते सेइ ऋक्-श्लोक निबन्धन ॥८३॥
अतएव सूत्रेर भाष्य—श्रीभागवत। भागवत श्लोक उपनिषद्-कहे एक अर्थ ॥८४॥

(श्रीव्यासदेव जी को चतुःश्लोकी किस प्रकार प्राप्त हुई—उसे यहाँ कहते हैं) सर्वप्रथम श्रीभगवान् ने श्रीब्रह्मा जी के सामने चतुःश्लोकी को प्रकाशित किया। श्रीब्रह्मा जी ने उसका श्रीनारद जी को उपदेश किया। फिर श्रीनारद जी ने उसे श्रीव्यासदेव जी को सुनाया। उसे सुनकर श्रीव्यासदेव ने विचार कर देखा कि "इसका जो अर्थ है, वही मेरे सूत्रों की व्याख्या का मर्म है। अतः इस चतुःश्लोकी को विवृत कर मैं श्रीमद्भागवत को प्रकाश करूं जो मेरे सूत्रों का भाष्यस्वरूप होगी।" ऐसा विचार कर चारों वेदों एवं उपनिषदों का जो भी सार-तत्त्व है, उस समस्त के मर्म को श्रीव्यासदेव ने सूत्ररूप में सञ्चय किया। उस वेदान्तसूत्र में वेद-उपनिषद् का जो मन्त्र सूत्राकार में ग्रथित हुआ है, श्रीमद्भागवत में उसी मन्त्र को श्लोकाकार में ग्रथित किया गया है। अतएव वेदान्तसूत्र का प्रकृत-भाष्य, श्रीमद्भागवत ही है। श्रीमद्भागवत श्लोकों का जो अर्थ है, वही उपनिषद् के मन्त्रों का अर्थ है ॥७९—८४॥ (नीचे श्रीमद्भागवत जी का एक श्लोक उद्धृत करते हैं, जो ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र के सदृश ही है।)—

तथाहि (भा: ८—१—१०)—

आत्मावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१७॥

जगत् में जो जो वस्तुएं दीखती हैं उन समस्त को ईश्वर अपनी सत्ता एवं चेतना द्वारा व्याप्त कर रहे हैं। ईश्वर की ही ये समस्त वस्तुएं हैं, अतएव ईश्वर को अर्पण पूर्वक धन का भोग करो (अथवा ईश्वर ने जो कुछ प्रदान किया है, उसी का भोग करो) और किसी के धन की आकाँक्षा मत करो ॥१७॥

चैं० च० चु० *टीका*:—ईशोपनिषद् का प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
येनत्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥क-ख॥

इस श्लोक में एवं उपर्युक्त श्रीमद्भागवत-श्लोक में केवल एक ही शब्द का पार्थक्य है। अन्य समस्त श्लोक एक ही रूप में है। इसी प्रकार "**विष्णोर्नु वीर्य्यगणनाम्**" इत्यादि श्रीमद्भागवत जी (२—७—३९) का श्लोक भी "**विष्णोर्नु वीर्य्याणि कं प्रावोचम्**—इत्यादि ऋग्वेद (प्रथम मण्डल २२—१५४) के मन्त्र की ही प्रतिध्वनि मात्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं श्रीमद्भागवत जी के श्लोक समूह वेद एवं उपनिषदों के मन्त्रों के समान हैं। कोई कोई श्लोक तो अविकल मन्त्ररूप में ही उद्धृत कर लिया गया है और कहीं श्लोक एवं मन्त्र में दो-एक शब्दों का पार्थक्य है, या तुल्यार्थ-वाचक शब्द ग्रथित कर दिये गये हैं। अतः श्रीमद्भागवत के श्लोक वेदों की ऋचाओं के समान हैं इसलिये श्रीमद्भागवत को 'पञ्चमवेद' ही कहा गया है।

एक श्लोक देखाइया कैल दिग्दरशन। एइमत भागवत-श्लोक ऋचासम ॥८४क॥
भागवतेर सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजन। चतुःश्लोकीते प्रकट तार करियाछे लक्षण ॥८५॥
आमि 'सम्बन्धतत्त्व' आमार ज्ञानविज्ञान—। आमा पाइते साधन-भक्ति 'अभिधेय' नाम ॥८६
साधनेर फल प्रेम-मूल 'प्रयोजन'। सेइ प्रेमे पायः जीव—आमार सेवन ॥८७॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी ने एक श्लोक को कहकर दिग्दर्शन कराया कि श्रीमद्भागवत जी के श्लोक वेद-उपनिषदों की ऋचाओं के समान हैं। श्रीभागवत जी में प्रतिपादित जो सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजन तत्त्व हैं, उनके लक्षण चतुःश्लोकी में ही वर्णन किये गये है। उस चतुःश्लोकी में 'सम्बन्ध' 'अभिधेय' एवं प्रयोजन—इन तीनों तत्त्वों का श्री भगवान् ने संक्षेप से इस प्रकार वर्णन किया है—श्रीकृष्ण ने कहा है—"मैं और मेरा ज्ञान-विज्ञान ही—'सम्बन्ध तत्त्व' है। मुझे प्राप्त करने के लिये जिस साधन-भक्ति का अनुष्ठान किया जाता है, वह 'अभिधेय'-तत्त्व है। साधनों का जो फल है, वह है 'प्रेम', जो मूल 'प्रयोजन तत्त्व है, उस प्रेम को प्राप्त कर जीव मेरी सेवा को प्राप्त करता है ॥८४—क—८७॥

चै० च० चु० *टीका*—श्रीभगवान् ने श्रीब्रह्मा जी के प्रति छः श्लोक कहे हैं—जिनका उल्लेख आगे १८, से २३ संख्यक श्लोकों में किया गया है। उनमें से पहले दो श्लोक तो भूमिका स्वरूप हैं। प्रथम "**ज्ञानं परम गुह्यं**"—इत्यादि श्लोक में सम्बन्ध अभिधेय एवं प्रयोजन—यह वक्तव्य-विषय कहा गया है। द्वितीय "**यावानहं यथाभावः**"-इत्यादि श्लोक में वक्तव्य-विषय के स्वरूप ज्ञान को प्राप्त करने के लिये जिस योग्यता का प्रयोजन है, श्रीभगवान् ने कृपा-शक्ति द्वारा श्रीब्रह्मा जी को वह योग्यता दान की है। अगले चार श्लोकों में सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजन-रूप वक्तव्य विषयों का स्वरूप कहा गया है। अतः ये चार श्लोक ही मुख्य माने गये हैं। इन चारों श्लोकों में वेद-वेदान्तादि का मर्म निहित है एवं समग्र श्रीमद्भागवत इन चारों श्लोकों की ही विवृति है। श्रीमद्भागवत जी के बीज स्वरूप होने से—इन्हें "चतुःश्लोकी" कहा जाता है।

श्रीभगवान् कहते हैं—"मैं ही सम्बन्धतत्त्व हूँ। मेरा ज्ञान एवं मेरा विज्ञान भी सम्बन्ध-तत्त्व के अन्तर्भुक्त है। भगवद् विषयक शास्त्रादि से भगवत्तत्त्व का जो यथार्थ निर्द्धारण है—उसे **'ज्ञान'** कहते हैं। भगवत् स्वरूप के अनुभव व साक्षात्कार को भगवद्-विषयक **'विज्ञान'** कहते हैं। ज्ञान एवं विज्ञान के बिना भगवत्-स्वरूप की सम्यक् उपलब्धि नहीं हो सकती, अतः इन दोनों को सम्बन्ध-तत्त्व के अन्तर्भुक्त किया गया है।

श्रीभगवान् कहते हैं—"जिन साधनों से मुझे प्राप्त किया जा सकता है, वह है साधन—भक्ति। उसी साधन-भक्ति का नाम है **"अभिधेयतत्त्व"**। साधनभक्ति अर्थात् चौंसठ-अङ्ग व नवविधा भक्ति (श्रीमद्वैष्णव सि० पृष्ठ १७२ द्रष्टव्य) के अनुष्ठान करने से जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब उसमें प्रेम का आविर्भाव होता है। वह प्रेम ही जीव का मूल प्रयोजन-तत्त्व है। उस प्रेम के प्रभाव से ही जीव श्रीकृष्ण की सेवा प्राप्त कर सकता है।

प्रेम को मूल-प्रयोजनतत्त्व कहने का कारण यह है कि स्वरूपतः जीव श्रीकृष्ण का दास है। दास का एकमात्र कर्त्तव्य है—प्रभु की सेवा। श्रीकृष्ण को पाने का अर्थ ही है—श्रीकृष्ण की सेवा प्राप्त करना। सेवा न पाकर श्रीकृष्ण को पाने का कोई भी लाभ नहीं है। रसगुल्ला को यदि खाने का अधिकार नहीं है, तो उसकी प्राप्ति का क्या लाभ ? अतः सेवा का उपकरण न प्राप्त होने पर, वस्तुतः श्रीकृष्ण-प्राप्ति की सार्थकता कुछ भी नहीं है, कंस-शिशुपालादि की भांति। इसलिये सेवा-प्राप्ति में ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति की सार्थकता है। श्रीकृष्ण-सेवा ही जीव का मुख्य एवं एकमात्र कर्त्तव्य है। किन्तु यह सेवा तो बिना प्रेम के प्राप्त होती नहीं—**"नानोपचारकृत पूजनमार्त्तबन्धोः प्रेम्णैव भक्त हृदयं सुखविद्रुतं स्यात्।"** पद्यावली १३।' अतः सेवा-प्राप्ति के लिये जीव की एकमात्र प्रयोजनीय वस्तु है—प्रेम। इसलिये **प्रेम को ही प्रयोजन-तत्त्व कहा गया है।**

चतुःश्लोकी का भूमिका स्वरूप प्रथम श्लोक अब नीचे उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भाः २—९—३०)—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञान समन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया ॥१८॥

श्रीभगवान् ने श्रीब्रह्माजी के प्रति कहा—"हे ब्रह्मन्! मेरे सम्बन्ध में परम गोपनीय जो तत्त्व-ज्ञान है, उसे मैं तुम्हें कहता हूँ, तू उसे ग्रहण कर। मैं उसका अनुभव भी तुम्हारे हृदय में करा देता हूँ। उस ज्ञान में जो रहस्य है, तथा उस ज्ञान का जो सहायक है, उसे भी मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ" ॥१८॥
(विशेष टीका आदि-लीला पृष्ठ १६ पर द्रष्टव्य है।)

एइ तिन तत्त्व आमि कहिल तोमारे। जीव तुमि, एइ तिन नारिबे जानिबारे ॥८८॥
यैछे आमार स्वरूप यैछे आमार स्थिति। यैछे आमार गुण कर्म षड़ैश्वर्य शक्ति ॥८९॥
आमार कृपाय स्फुरुक ए सब तोमारे। एतबलि तिन तत्त्व कहिल तांहारे ॥९०॥

श्रीभगवान् ने श्रीब्रह्मा जी को आगे कहा—"सम्बन्धतत्त्व (विज्ञान समन्वितं ये ज्ञानं') अभिधेय-तत्त्व (तदङ्गञ्च) एवं प्रेम तत्त्व (सरहस्यं)—इन तीन तत्त्वों को जो मैंने कहा है, ब्रह्मा जी! तुम जीव हो, इन तीनों को तुम नहीं जान सकते। जैसा मेरा स्वरूप है, जैसे और जिस भाव से मैं अवस्थान करता हूँ और जैसे जैसे मेरे गुण, कर्म, षड़ैश्वर्य तथा शक्तिसमूह हैं—वे सब मेरी कृपा से ही

तुम्हारे हृदय में स्फुरित हों (कारण कि मेरी कृपा के बिना मेरे स्वरूप, मेरे अवस्थान एवं भाव तथा मेरे गुण-कर्म-शक्ति आदिक का वास्तव ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता)।" इतना कहकर श्रीभगवान् ने उन तीन तत्त्वों को श्रीब्रह्मा जी के आगे व्यक्त किया ॥८८—९०॥

तथाहि (भा: २—९—३१)—

यावानहं यथाभावो यद्रूप गुणकर्मकः ।
तथैव तत्त्व विज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥१६॥

श्रीभगवान् ने कहा—"मेरा जो स्वरूप है (गोपवेश-मुरलीधारी) तथा मेरा जो भाव अर्थात् स्वरूप लक्षण है (सच्चिदानन्दन, नित्य, विभु—आदि) एवं मेरे जो समस्त रूप-गुण एवं लीलाएं हैं—उन समस्त का यथार्थ अनुभव तुम्हें मेरी कृपा से प्राप्त हो" ॥१६॥ (विशेष टीका आदि-लीला पृष्ठ १६ पर द्रष्टव्य है ।) अब अगले पयारों से चतुःश्लोकी के प्रथम "अहमेव"—इत्यादि श्लोक का अर्थ करते हुए सम्बन्धतत्त्व का निरूपण करते हैं —

सृष्टिर पूर्वे षड़ैश्वरपूर्ण आमि हइये । प्रपञ्च प्रकृति पुरुष आमातेइ लये ॥९१॥
सृष्टि करि तार मध्ये आमि प्रवेशिये । प्रपञ्च ये किछु देख, सेइ आमि हइये ॥९२॥
प्रलयेर अवशिष्ट आमि पूर्ण हइये । प्राकृत प्रपञ्च पाय आमातेइ लये ॥९३॥

"प्राकृत प्रपञ्च की सृष्टि से पहले षड़ैश्वर्य पूर्ण मैं ही वर्त्तमान था । मायिक ब्रह्माण्ड समूह, जड़-रूपा प्रकृति तथा समस्त जीव मुझ में ही लयता को प्राप्त थे । सृष्टि करने के पश्चात् अन्तर्यामी रूप से प्रत्येक ब्रह्माण्ड एवं प्रत्येक जीव में मैं ही प्रवेश करता हूँ । जगत्-प्रपञ्च में जो कुछ भी दीखता है, वह समस्त मैं ही हूँ । सृष्टि के ध्वंस हो जाने पर अर्थात् प्रलय के बाद में भी मैं पूर्णरूप से अर्थात् ऐश्वर्य-माधुर्य, शक्ति एवं शक्ति की क्रिया समन्वित होकर वर्त्तमान रहता हूँ एवं प्राकृत समस्त जगत्-प्रपञ्च मुझ में ही लीन हो जाता है ॥९१—९३॥

चै० च० चु० टीकाः—इन तीनों पयारों में श्रीभगवान् ने अपने स्वरूप का वर्णन किया है, सारांश यह है कि प्राकृत सृष्टि के पहले श्रीभगवान् ही अवस्थान करते हैं, उस समय स्थूल जगत् तथा उनका कारणभूत प्रकृति कुछ नहीं रहता । ब्रह्मा-रुद्रादि भी कोई नहीं रहता ।

सृष्टि के पूर्व श्रीभगवान् श्रीकृष्ण किस प्रकार रहते हैं ? इसका उल्लेख करते हुए श्रीभगवान् ने कहा है—"ब्रह्मन् ! मैं साक्षात् जिस रूप से तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ, इसी साकार, सविशेषरूप से ही अवस्थान करता हूँ । विशेषतः उन्होंने रूप, गुण-लीलादि का उल्लेख भी किया है । अतः भगवान् साकार-सविशेषरूप से ही सृष्टि के पूर्व विराजमान रहते हैं कारण कि निराकार स्वरूप के रूप-गुण-लीलादि कहाँ ?

"सृष्टि के पूर्व निर्विशेष ब्रह्म ही था—"जहाँ इस प्रकार के वचन शास्त्रों में मिलते हैं, वहां केवल प्रपञ्च-जगत् को ही लक्ष्य करके ऐसा वर्णन किया गया है । जगत्-प्रपञ्च भी तो ब्रह्म—या श्रीभगवान् का ही रूप है । क्योंकि श्रीभगवान् ही जगत् रूप में परिणत होते हैं । महाप्रलय में जगत् का कुछ भी विशेष नहीं रहता, वह निर्विशेष ही रहता है । अतः ब्रह्म का जो अंश जगत् रूप में परिणत होता है, वह अंश सृष्टि के पहले निर्विशेष ही रहता है । इसलिये उसी अंश के प्रति लक्ष्य रखकर यह कहा जाता है कि महाप्रलय के बाद, या सृष्टि से पहले (प्रपञ्चरूप) ब्रह्म निर्विशेष रहता है ।

कोई कोई कहते हैं—"जो अद्वय-ज्ञान तत्त्व है, जो पूर्ण स्वरूप है, वास्तव में वह निर्विशेष अर्थात् निराकार, निर्गुण एवं निःशक्तिक है। साधारण लोग जो इस निर्विशेष स्वरूप की धारणा नहीं कर सकते, उन निम्न-अधिकारी साधकों के मङ्गल निमित्त ब्रह्म के रूप की या सविशेष रूप की कल्पना कर ली गई है। साधक जब साधनों में सिद्धि लाभ करेंगे, तभी वे जान सकेंगे कि पूर्णतम जो ब्रह्म है, वह निर्विशेष है।" उक्त युक्ति का तात्पर्य क्या है ? तर्क को स्वीकार करते हुए यदि यह मान लिया जाए कि साधकों के हित के लिये ही निर्विशेष ब्रह्म की रूप-कल्पना करली गई है, तो उस कल्पना का अर्थ क्या है ?—कल्पना-शब्द का एक अर्थ तो यह है कि आकाश के फूल की भांति अस्तित्व-हीन वस्तु के अस्तित्व को मान लेना। यदि इसी अर्थ में ब्रह्म के रूप की कल्पना करना उन लोगों का अभिप्राय है तो इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म का कोई रूप नहीं है किन्तु कल्पनाकुशल व्यक्ति जैसे अस्तित्व-हीन आकाश-कुसुम की कल्पना कर लेते हैं। वैसे साधकों के हित के लिये ब्रह्म के रूप की कल्पना कर ली गई है। ऐसा होने पर साकार-साधकों का उपास्य तो एक अलीक वस्तु या एक अस्तित्व-हीन वस्तु हो जाएगा। जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं, फिर उसकी उपासना कैसी ? और उसकी उपासना से साधक का उपकार या मङ्गल कैसे हो सकता है, जिसके लिये वह कल्पना की गई थी ? अतः यह बात असङ्गत है कि साधकों के हित के लिये ब्रह्म के रूप की कल्पना करली गई है।

कल्पना-शब्द का और एक दूसरा अर्थ है—रचना या निर्माण करना। यदि ऐसा अर्थ माना जाए तो प्रश्न उठता है कि निर्विशेष ब्रह्म के रूप व आकृति की रचना करने वाला कौन है ? यह बात निश्चित है कि निर्विशेष ब्रह्म तो इस रूप की रचना का कर्त्ता नहीं है, कारण कि उसमें भक्तवात्सल्यादि गुण रह ही नहीं सकते, क्यों कि वह निर्गुण है। अतः साधक के दुख का अनुभव कर करुणावश साधक के हित के लिये अपने निराकार या निर्विशेष रूप को साकार या सविशेष-रूप में प्रगटित करने की चेष्टा करना भी उसके पक्ष में असम्भव है। विशेषतः साकाररूप में प्रकटित होने की शक्ति भी उसमें नहीं है, कारण कि वह निःशक्तिक है। अतः ब्रह्म तो स्वयं अपने रूप की कल्पना का कर्त्ता हो ही नहीं सकता। तब मनुष्य-साधक ही क्या ब्रह्म की रूप-कल्पना का कर्त्ता है ?—यदि मनुष्य को ब्रह्म की रूप-कल्पना का कर्त्ता कहा जाए, तो वह रूप पूर्वोल्लिखित आकाश-कुसुम की भांति अस्तित्व-हीन अलीक वस्तु हो जाती है।

इसलिये यह मानना पड़ेगा कि साधकों के हित के निमित्त निर्विशेष ब्रह्म के रूप की केवल कल्पना नहीं की गई है। बल्कि अनादिकाल से नित्य सच्चिदानन्दमय सविशेष ब्रह्म ही सृष्टि के पहले एवं पीछे वर्त्तमान रहता है। निर्विशेष ब्रह्म उस सविशेष ब्रह्म के आनन्दघन विग्रह की केवल ज्योतिर्मय कान्ति ही है।

निर्विशेष ब्रह्म का कोई आकार नहीं, उसमें कोई गुण नहीं, उसमें कोई शक्ति एवं शक्ति का विकाश नहीं, इतने अभाव जिस रूप में हैं—उसे कैसे पूर्ण कहा जा सकता है ? जिस स्वरूप का आकार है, जिसमें समस्त गुण, समस्त शक्ति एवं समस्त शक्तियों की क्रिया का विकाश है, जिसमें समस्त विरुद्ध धर्मों का समावेश है—जिसमें कुछ भी अभाव नहीं है, वही तो पूर्ण स्वरूप कहा जा सकता है। अतः ब्रह्म का सविशेष सगुण, सर्वशक्तिमान, सर्व विरुद्ध धर्माश्रय परम ब्रह्म विभु स्वरूप ही पूर्ण स्वरूप है—और वह है, श्रीकृष्ण ब्रजेन्द्रनन्दन-स्वरूप। वही स्वरूप ही इस प्रपञ्च-जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय में—तीनों अवस्थाओं में पूर्णतमरूप से विराजमान रहता है। यही बात स्वयं श्रीभगवान् ब्रह्मा जी के प्रति निम्नलिखित चतुःश्लोकी के प्रथम श्लोक में कहते हैं—

तथाहि (भा: २—६—३२)—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहम् ॥२०॥

श्रीभगवान् ने कहा है—"सृष्टि से पहले मैं ही था, सत्-असत् अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म जगत् का कारण जो प्रकृति है वे भी मुझ से पृथक् नहीं थी। सृष्टि के पश्चात् भी मैं ही रहता हूँ। यह जो परिदृष्य-मान जगत् है, यह भी मैं ही हूँ। प्रलय में जो बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ ॥२०॥ (विशेष टीका आदि-लीला पृष्ठ सं० १७ पर द्रष्टव्य है।)

'अहमेव अहमेव' श्लोके तिन बार। पूर्णैश्वर्य-श्रीविग्रह-स्थितिर निर्द्धार ॥६४॥
श्रीविग्रह ये ना माने, निराकार माने। तारे तिरस्करिवारे कैल निर्द्धारणे ॥६५॥
एइ सब शब्दे हय—ज्ञान-विज्ञान-विवेक। माया कार्ये माया हैते आमि व्यतिरेक ॥६६॥
यैछे सूर्याभासस्थाने भासये आभास। सूर्य विनु स्वतन्त्र तार ना हय प्रकाश ॥६७॥
मायातीत हैले हय आमार अनुभव। एइ सम्बन्धतत्त्व कहिल, शुन आर सब ॥६८॥

उपर्युक्त श्लोक में "अहमेव" अर्थात् 'मैं ही'—यह शब्द तीन बार कहा गया है, इसका केवल यही कारण है कि पूर्णैश्वर्यमय साकार विग्रह से ही वे (भगवान्) अनादिकाल से नित्य वर्त्तमान हैं, इस बात को निर्द्धारण करने के निमित्त। अर्थात् 'सविशेषरूप से ही मैं अनादिकाल से वर्त्तमान रहता हूँ'—इस बात को निश्चयपूर्वक स्थापन करने के लिये ही श्रीभगवान् ने तीनवार 'अहमेव'—शब्द का प्रयोग किया है। जो पर-ब्रह्म के सच्चिदानन्द-विग्रह को स्वीकार नहीं करते, उनके मत का तिरस्कार या खण्डन करने के लिये ही श्रीभगवान् ने तीन बार "मैं ही" "मैं ही" शब्दों का प्रयोग किया है। इस श्लोक से एवं अगले श्लोक (ऋतेऽर्थं-इत्यादि) के शब्दसमूह से भगवत्तत्त्वज्ञान का एवं भगवत्-स्वरूप की साक्षात् अनुभूति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। माया का कार्य अर्थात् जगत् तथा माया—इन दोनों से मैं भिन्न हूँ। जैसे सूर्य की प्रतिछबि के स्थान पर सूर्य की ज्योति या किरण भासती है और सूर्य के बिना जैसे सूर्य की किरण का कुछ अस्तित्व नहीं रहता। (इसी प्रकार मेरा माया का मेरे साथ सम्बन्ध है।) माया से उद्धार पाने के बाद ही मेरे स्वरूप का अनुभव हो सकता है।" श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"इस प्रकार श्रीभगवान् ने ब्रह्मा जी के प्रति सम्बन्ध तत्त्व का वर्णन किया है।

चै० च० चु० *टीका:*—श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"श्रीभगवान् ने "अहमेवासमेवाग्रे" में श्लोक जो 'मैं ही' मैं ही, ऐसा तीन बार कहा है, इससे उनका अभिप्राय केवल यही है कि वे ही अर्थात् सविशेष-रूप से ही वे सृष्टि के पूर्व, मध्य एवं अन्त में वर्तमान रहते हैं। 'अहमेवासमेवाग्रे' श्लोक में श्रीभगवान् ने अपने स्वरूप को अन्वय-विधि से वर्णन किया है और परवर्त्ती "ऋतेऽर्थ"—श्लोक में व्यतिरेक-विधि से उन्होंने अपने स्वरूप का वर्णन किया है। व्यतिरेक-विधि से अपने स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रीभगवान् ने उपर्युक्त पयारों में कहा है कि वे माया एवं उसके कार्य अर्थात् जगत् से भिन्न हैं। ये दोनों उनसे उत्पन्न होते हैं, तो भी वे इन दोनों से पृथक् एवं स्वतन्त्र हैं। और जैसे सूर्य को किरण सूर्य से परे जल आदि में प्रकाशित होती है, और सूर्य उससे अछूता रहता है, उसी प्रकार उनकी शक्तिरूपा माया उन से ही उत्पन्न होकर उन से परे दूरदेश में ही प्रकाशित होती है—वे उससे अछूते रहते हैं। और फिर जैसे सूर्य की किरण सूर्य के बिना स्वतन्त्ररूप में उत्पन्न या प्रकाशित नहीं हो सकती, उसी प्रकार माया का भी श्रीभगवान् के बिना स्वतन्त्ररूप में कुछ भी अस्तित्व नहीं है।

श्रीभगवान् ने यह भी बताया है कि उनकी माया से उद्धार पा लेने पर ही उनके स्वरूप का अनुभव हो सकता है और उनकी माया से उद्धार पाने का एक मात्र उपाय उनकी शरण ग्रहण करना ही है। उपर्युक्त तीनों पयारों के प्रमाण स्वरूप चतुःश्लोकी के द्वितीय श्लोक को उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भा: २—९—३३)—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः ॥२१॥

श्रीभगवान् ने कहा है—"मैं ही परमार्थ वस्तु हूँ, मेरी प्रतीति न होने पर जिसकी प्रतीति होती है, और मेरी प्रतीति होने पर जिसकी प्रतीति नहीं होती, तथा (मेरे आश्रयत्व के बिना) स्वतः जिसकी प्रतीति नहीं होती, उसको तू मेरी माया जान, जैसे प्रतिबिम्ब और अन्धकार ॥२१॥ (विशेष टीका आदि-लीला पृष्ठ १८ द्रष्टव्य)

(अब श्रीमहाप्रभु अभिधेयरूप साधन-भक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं)—

अभिधेय साधनभक्तिर शुनह विचार। सर्व-जन-देश-काल-दशाते व्याप्ति यार ॥९९॥
धर्मादिविषये यैछे ए-चारि विचार। साधन भक्ति एइ-चारि-विचारेर पार ॥१००॥
सर्वदेशे काले दशाय जनेर कर्त्तव्य। गुरुपाशे सेइ भक्ति प्रष्टव्य श्रोतव्य ॥१०१॥

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—"सरस्वतीपाद! अभिधेयरूप साधन-भक्ति का विचार सुनिये। (कर्म-योग-ज्ञानादिक को अभिधेय न मानकर चौंसठ-अङ्ग साधन भक्ति को ही अभिधेय क्यों कहा गया है, उसका कारण यह है कि—) भक्ति की सब के लिए (जीवमात्र मनुष्य-पशु-पक्षी आदि सब के लिये) सर्व देशों (स्थानों) में, सब समय में, सब दशाओं में व्याप्ति है। धर्मादि अर्थात् कर्म-योग-ज्ञानादि साधन पंथों में तो जन (पात्र), देश, काल एवं दशा—इन चारों बातों का विचार है, किन्तु साधनभक्ति में पात्र, देश, काल एवं अवस्था—इन चारों बातों का कोई विचार नहीं है। सर्व स्थानों पर, सर्वकालों में, हर अवस्था में जीव-मात्र का ही साधन-भक्ति करना कर्त्तव्य है। उस साधन-भक्ति के सम्बन्ध में श्रीगुरुदेव से ही सब बात पूछनी चाहिये एवं सुननी चाहिये ॥९९-१०१॥

चै० च० चु० *टीका:*—ऊपर के पयारों में श्रीमन्महाप्रभु जी ने साधन-भक्ति का अभिधेयत्व वर्णन किया है। कर्म-योग एवं ज्ञान का जो साधन-पथ है, उसका अनुसरण करने में पात्र-देश-काल एवं अवस्था का विचार है, किन्तु साधन-भक्ति में इनमें से किसी बात का भी विचार नहीं है। मनुष्य हो, पशु हो, पक्षी हो, गुल्मलता हो, चण्डाल-ब्राह्मण हो, स्त्री-पुरुष-क्लीव हो—कोई भी क्यों न हो, जीवमात्र हर समय बाल्य-यौवन-वृद्धावस्था, पण्डित-मूर्ख, रोग-स्वास्थ्य-पाप-पुण्य—हर अवस्था में, हरस्थान पर भक्ति का अनुष्ठान कर सकता है। उस साधन-भक्ति का स्वरूप क्या है? उसके अङ्गों का आचरण कैसे किया जाता है?—इत्यादि इन समस्त विषयों के सम्बन्ध में श्रीगुरुदेव से जिज्ञासा करनी चाहिए एवं उन्हें सुनना-समझना चाहिये—ऐसा श्रीमहाप्रभु जी ने कहा। (ऊपर के तीनों पयारों के प्रमाण में चतुःश्लोकी का चतुर्थ श्लोक उद्धृत करते हैं)—

तथाहि (भा: २—९—३५)—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥२२॥

विधि और निषेध के द्वारा जो सदा, सर्वस्थान पर विद्यमान रहता है, उसी विषय या उपाय (साधन भक्ति) की जिज्ञासा, मेरे तत्त्वज्ञान को जानने के इच्छुक व्यक्ति अपने श्रीगुरुदेव से करते हैं ॥२२॥ [विशेष टीका १-१-२६ (आदिलीला) पृष्ठ सं० १६ पर द्रष्टव्य है। अगले पयारों में प्रयोजन-तत्त्व 'प्रेम' के सम्बन्ध में कहते हैं]--

आमाते ये प्रीति—सेइ प्रेम'प्रयोजन'। कार्यद्वारे कहि तारे 'स्वरूपलक्षण' ॥१०२॥
पञ्चभूत यैछे भूतेर भितर–बाहिरे। भक्तगणे स्फुरि आमि बाहिरे–अन्तरे ॥१०३॥

श्रीभगवान् ने श्रीब्रह्मा जी के प्रति कहा—"मुझ में जो प्रीति करना है—वही प्रेम है, जिसको 'प्रयोजन-तत्त्व' कहते हैं। प्रेम की क्रिया का (निम्नलिखित पयारों में) उल्लेख करके प्रेम का स्वरूप-लक्षण वर्णन करते हैं। पञ्चभूत जैसे जीवों के शरीर में एवं बाहर सर्वत्र व्याप्त हैं, प्रेमी भक्तों के भीतर तथा बाहर उसी प्रकार मैं विराजमान रहता हूँ ॥१०२-१०३॥ (इस बात का प्रमाण स्वरूप–चतुःश्लोकी का तृतीय श्लोक उद्धृत करते हैं)—

तथाहि (भा: २-६-३४)

यथा महान्ति भूतानि भूतेषुच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु नतेष्वहम् ॥२३॥

श्रीभगवान् ने कहा—"जिस प्रकार सब महाभूत समस्त प्राणियों के भीतर और बाहर अवस्थित हैं। उसी प्रकार मैं भी अपने प्रेमी भक्तों के भीतर और बाहर स्फुरित होता हूँ ॥२३॥ (विशेष टीका आदिलीला पृष्ठ सं० १६ पर द्रष्टव्य है। प्रेमिक-भक्त भीतर एवं बाहर कैसे श्रीकृष्ण को देखते हैं, उसे अब कहते हैं) --

भक्त आमा प्रेमे बान्धियाछे हृदयभितरे।
याहां नेत्र पड़े ताहां देखये आमारे ॥१०४॥

श्रीभगवान् कहते हैं--भक्तों ने मुझे प्रेमरूपी बन्धन से अपने हृदय में बाँध रखा है (क्यों कि "अहं भक्त पराधीनः–अतः वे अपने भीतर मुझे सर्वदा देखते हैं) और बाहर जहाँ जहाँ भी उनकी दृष्टि पड़ती है, वहाँ वहाँ वे मुझे ही देखते हैं। (यही प्रेम का कार्य व स्वरूप- लक्षण है) ॥१०४॥ (इस बात के प्रमाण में नीचे के दो श्लोक उद्धृत करते है)--

तथाहि (भा: ११-२-५५)

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवत-प्रधान उक्तः ॥२४॥

जिनका नाम अवश होकर उच्चारित होने में तत्क्षणात् पापपुञ्ज विनष्ट हो जाते हैं, वे श्रीहरि स्वयं प्रेमरज्जु द्वारा बद्ध–चरण होकर जिनके हृदय को परित्याग नहीं करते हैं, उन्हें ही उत्तम भागवत या प्रधान भक्त कहा जाता है ॥२४॥ (और भी कहा है)—

तथाहि (भा: ११-२-४५)--

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥२५॥

श्रीहरि-योगीन्द्र ने राजा श्रीनिमि के प्रति कहा है--"हे राजन् ! जो सर्वभूतों में अपने उपास्य-भगवान् के दर्शन करता है एवं जो अपने उपास्य में भी सर्वप्राणियों का दर्शन करता है। वही भागवतोत्तम है ॥२५॥ (और भी कहा है)—

तथाहि (भा: १०-३०-४)

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।
पप्रच्छ्ुराकाशवदन्तरं वहि-र्भूतेषु सन्तं पुरुषं बनस्पतीन् ॥२६॥

श्रीकृष्ण के रासस्थली से अन्तर्धान हो जाने पर व्रजगोपियाँ उनके विरह में विह्वलावस्था में समवेत होकर उच्चस्वर से उन के गुण गान करते करते एक बन से दूसरे बन में भटकने लगीं और उन्मत्त व्यक्ति की भाँति उन को ढूँढने लगीं। आकाश की भाँति चराचर समस्त भूतों के अन्तर व बाहर जो वर्त्तमान है, उस पूर्ण-ब्रह्म श्रीकृष्ण की वार्त्ता सब वृक्षों से पूछने लगीं ॥२६॥ (श्रीकृष्ण सर्व भूतों के अन्तर-बाहर विराजमान हैं, यह बात इस श्लोक से प्रमाणित होती है।)

अतएव भागवते एइ तिन कय— ।
सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजनमय ॥१०५॥

(श्रीमद्भागवत की बीज स्वरूप चतु:श्लोकी में, सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजन तत्त्वों का विषय वर्णित हुआ है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है) इसलिये चतु:श्लोकी की विवृति-स्वरूप श्रीमद्भागवत जी में भी सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजन--ये तीनों विषय ही आलोचित हुए हैं ॥१०५॥ (चतु:-श्लोकी के व्यतीत श्रीमद्भागवत में अन्यत्र भी सम्बन्धादि-तत्त्वों का वर्णन किया गया है. इसे दिखाने के लिये नीचे कई एक श्लोकों का उल्लेख करते हैं) --

तथाहि (भा: १-२-११)

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥२७॥

जो अद्वय-ज्ञान है, उसे ही तत्वज्ञ पण्डित लोग 'तत्त्व' कहते हैं। वही तत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—इन तीनों नामों से अभिहित किया गया है ॥२७॥ (इस श्लोक में सम्बन्ध तत्त्व के विषय में कहा गया है) --

तथाहि (भा: ३-५-२३)

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः ॥२८॥

सृष्टि के पहले सृष्टि-आदि की इच्छा उनमें लीन हो जाने से पुरुषादिपार्थिव-पर्यन्त यह समस्त विश्व श्रीभगवान् के साथ एकीभूत था अर्थात् श्रीभगवान् में ही लीन था, कारण कि वे शुद्ध जीव के भी पर-स्वरूप हैं, व्यापक एवं स्वयं-सिद्ध-स्वरूप हैं। उस समय वैकुण्ठादि नाना वैभव-उपलक्षित श्रीभगवान् ही विराजमान थे अर्थात् श्रीभगवान् अपने चिन्मयधामों, उनके लीला परिकरों आदि के साथ सृष्टि के पहले एवं उसकी प्रलय के बाद नित्य अवस्थान करते हैं ॥२८॥ (श्रीभगवान् ही जगत् के एकमात्र मूल कारण होने से वे ही 'सम्बन्ध-तत्त्व' हैं--यह बात इस श्लोक से भी प्रमाणित होती है।)

तथाहि (भा: १-३-२८)—

एते चांशकलाः पुंसाः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥२९॥

श्रीसूत जी ने कहा है—"ऊपर कहे हुए सब भगवत्स्वरूप या अवतार, पुरुष अर्थात् प्रथम पुरुष के अंश रूप और विभूतिरूप हैं, जो राक्षसों से पीड़ित जगत् को प्रतियुग में (राक्षसों का संहार करके) सुख प्रदान करते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् ही हैं ॥२९॥ (विशेष टीका आदि-लीला पृष्ठ सं० ४२ पर द्रष्टव्य है ।) इस श्लोक से भी यह प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् अर्थात् अन्य-निरपेक्ष स्वयं सिद्ध अद्वयज्ञान तत्त्व हैं, अतः वे ही सम्वन्ध-तत्त्व हैं । इस प्रकार श्रीमद्भागवत जी में अनेक श्लोकों में 'सम्वन्ध-तत्त्व' का वर्णन किया गया है ।)

एइ त 'सम्बन्ध', शुन 'अभिधेय' भक्ति ।
भागवते प्रति श्लोके व्यापे यार स्थिति ॥१०६॥

श्रीमन्महाप्रभु जी ने कहा—"सरस्वतीपाद ! यहां तक मैंने आपको 'सम्वन्ध-तत्त्व' सुनाया है, अब 'अभिधेय-तत्त्व' अर्थात् भक्ति के सम्बन्ध में सुनिये, जिसका अवस्थान श्रीभागवत जी के प्रति श्लोक में व्याप्त है । अर्थात् श्रीमद्भागवत जी का प्रति श्लोक पाठ करने से, श्रवण करने से ही साधन-भक्ति के एक अङ्ग—'भागवत-श्रवण' का आचरण हो जाता है । (अब नीचे कई एक श्लोक उल्लिखित करके यह दिखाते हैं, कि श्रीमद्भागवत जी के मत से साधन-भक्ति ही 'अभिधेय-तत्त्व' है ।)

तथाहि (भा: ११—१४—२१)—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥३०॥

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी के प्रति कहते हैं—"साधु-पुरुषों की आत्मा एवं उनका प्रिय जो मैं हूँ, सो केवलमात्र श्रद्धा सहित अनुष्ठित की हुई भक्ति द्वारा ही वशीभूत होता हूँ । मुझ में निष्ठाप्राप्त भक्ति श्वानभोजी नीच व्यक्तियों को भी जाति दोष से पवित्र करने वाली है ॥३०॥

तथाहि (भा: ११—१४—२०)—

न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्ज्जिता ॥३१॥

श्रीकृष्ण भगवान् श्रीउद्धव जी के प्रति कहते हैं—"हे उद्धव ! मेरी दृढ़ भक्ति मुझे जैसे वशीभूत करती है—योग, सांख्य, वर्णाश्रमधर्म, वेदाध्ययन, तपस्या तथा संन्यास इनमें से कोई भी उसी प्रकार मुझे वशीभूत नहीं कर सकता ॥३१॥

तथाहि (भा: ११—२—३७)—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतःस्यादीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥३२॥

परमेश्वर से विमुख जीवों को मायावश स्वरूप की विस्मृति होती है एवं उससे देह में आत्माभिमान उदय होता है। द्वितीय वस्तु जो देह-इन्द्रियादि हैं, उन में अभिनिवेश होने से ही भय उत्पन्न होता है । इसलिये ज्ञानी व्यक्ति को श्रीगुरुदेव में देवता बुद्धि व प्रियताबुद्धि स्थापन करते हुए अव्यभिचारिणी भक्तियुक्त होकर परमेश्वर का भजन करना चाहिये ।।३२।।

एवे शुन प्रेम, येइ मूल प्रयोजन ।
पुलकाश्रु नृत्य गीत याहार लक्षण ।।१०७।।

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"अब प्रेम के सम्बन्ध में सुनिये, जो मूल प्रयोजन-तत्त्व है । पुलक-अश्रु, नृत्य, गीतादि—ये सब प्रेम के लक्षण हैं ।।१०७।। (जैसा कि श्रीमद्भागवत जी में कहा गया है ।)

तथाहि (भा: ११—३—३१)—

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ।।३३।।

इस प्रकार साधन-भक्ति के प्रभाव से आविर्भूत होने वाली प्रेमभक्ति के द्वारा पाप-विनाशक श्रीहरि का स्वयं स्मरण करके एवं दूसरों को स्मरण कराते हुए (भक्तजन) रोमाञ्चित शरीर धारण करते हैं ।।३३।। (और भी कहा है)—

तथाहि (भा: ११-२-४०)—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्य ।।३४।।

इस प्रकार जो भक्त नियम से भक्ति-अङ्गों का अनुष्ठान करते हैं, अपने प्रिय श्रीहरिनाम का सङ्कीर्त्तन करते करते उनके हृदय में प्रेम उदय हो आता है, जिससे वे द्रवीभूत-हृदय होकर तथा मान-अपमान शून्य होकर उन्मत्त की तरह उच्चस्वर से कभी हंसने लगते हैं, कभी रोने तथा पुकारने लगते है, कभी गाने और कभी नाचने लगते हैं ।।३४।। (इस प्रकार मूल प्रयोजनतत्त्व 'प्रेम' के सम्बन्ध में अनेक श्लोक श्रीभागवत जी के श्रीमहाप्रभु जी ने सुनाये ।)

अतएव भागवत सूत्रेर अर्थरूप ।
निजकृत—सूत्रेर निज भाष्य स्वरूप ।।१०८।।

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"सरस्वतीपाद ! इसलिये श्रीमद्भागवत जी ही वेदान्त सूत्र का प्रकृत अर्थरूप है । श्रीवेदव्यास मुनि द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रों का उनके द्वारा रचित निजभाष्य स्वरूप श्रीमद्भागवत ही है ।।१०८।। (जैसा कि श्रीहरिभक्ति विलास में भी कहा गया है)—

तथाहि हरिभक्ति विलासे (१०-२८३) गरुड़ वचनम्—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः ।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः ।।३५।।
पुराणानां सामरूपः साक्षाद्भगवतोदितः ।
द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेद संयुतः ।
ग्रन्थोऽष्टादशसहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः ।।३६।।

जो ब्रह्मसूत्र की अभिधेय अर्थात् अर्थसदृश है, जिसमें श्रीमहाभारत का समस्त अर्थ निर्णय किया गया हैं, समस्त वेदों के अर्थों द्वारा जिसका कलेवर वर्द्धित है, जिसके द्वादश स्कन्ध हैं, जिसमें तीन सौ पैंतीस अध्याय हैं एवं जिसमें अठारह हजार श्लोक हैं--वह श्रीमद्भागवत जी स्वयं श्रीभगवान् द्वारा ही कही गई है या अवतारित की गई है ॥३५-३६॥ (और भी कहा है)--

तथाहि (भाः १-३-४२)--

सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ॥३७॥

श्रीवेदव्यास जी ने समग्र वेदों एवं इतिहासों का सार तत्त्व उद्धृत करके इस श्रीमद्भागवत का सङ्कलन किया है ॥३७॥ (और कहते हैं)--

तथाहि (भाः १२-१३-१५)--

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥३८॥

श्रीमद्भागवत समस्त वेदान्तशास्त्र का सारभूत है। जो व्यक्ति श्रीमद्भागवत के रसामृत से परितृप्त हो चुका है, उसे फिर अन्य किसी शास्त्र में रुचि या प्रीति नहीं हो सकती ॥३८॥

गायत्रीर अर्थे एइ ग्रन्थ-आरम्भन ।
'सत्यंपरं'--सम्बन्ध, 'धीमहि'—साधनप्रयोजन ॥१०६॥

गायत्री मन्त्र का जो अर्थ है, श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक का भी वही अर्थ है। इसलिये कहा जाता है कि गायत्री के अर्थ से ही श्रीमद्भागवत का आरम्भ है। श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में जिसे 'सत्यं परं' अर्थात् सत्यस्वरूप परम पुरुष कहा गया है (और गायत्री में जिसे 'सविता कहा गया है) वहीं सम्बन्ध-तत्त्व है। श्रीमद्भागवत के इस प्रथम श्लोक में 'धीमहि' अर्थात् ध्यान करता हूँ--यह जो कहा गया है (और गायत्री में भी जो 'धीमहि' कहा गया है)—उससे अभिधेय या साधन-तत्त्व की कथा को कहा गया है एवं इस प्रकार के ध्यान से ही प्रेम की प्राप्ति हो सकने से उसी 'धीमहि'—शब्द में प्रयोजन-तत्त्व का भी इङ्गित किया गया है ॥१०६॥

चै० च० चु० *टीका:*—उपर्युक्त पयार में श्रीमद्भागवत जी के प्रथम श्लोक के अर्थ एवं गायत्री मन्त्र के अर्थ में सदृशता वर्णन की गई है। उसे यहाँ दिखाते हैं—

गायत्री मन्त्र इस प्रकार है—"ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं **भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्**"। इस मन्त्र का मोटा अर्थ यह है कि "जो भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोकादि समस्त जगत्-प्रपञ्च का प्रसविता अर्थात् सृष्टिकर्त्ता है, जो हमारी बुद्धि का प्रवर्त्तक है, हम उस देव अर्थात् लीलामय-पुरुष के तेज का अर्थात् शक्ति ऐश्वर्य एवं माधुर्यादि का ध्यान करते हैं।"

श्रीमद्भागवत जी के प्रथम श्लोक का (अगले श्लोक का) मर्म भी इसी प्रकार है--"जिससे जगत्-प्रपञ्च की सृष्टि-आदि होती है, जिसने श्रीब्रह्मा जी के हृदय में वेदों को प्रकाशित किया है, अर्थात् जो ब्रह्मा की बुद्धि का प्रवर्त्तक है, अपने तेज द्वारा जो कुहक को निरस्त करता है--उसी सत्यस्वरूप परम-पुरुष का अर्थात् उसके शक्ति-ऐश्वर्य-माधुर्य का मैं ध्यान करता हूँ।"

इससे स्पष्ट है कि गायत्री के अर्थों से ही श्रीमद्भागवत जी का आरम्भ हुआ है श्रीमद्भागवत जी के प्रथम श्लोक को उद्धृत करते हैं—

तथाहि (भा: १-१-१)—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सुरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥३९॥

इस श्लोक का अर्थ आठवें परिच्छेद में पृष्ठ २४१ पर द्रष्टव्य है ॥३९॥

चै० च० चु० टीका:—श्रीपाद श्रीधर स्वामी एवं श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकाओं के अनुसार वहाँ इस श्लोक की जो व्याख्या उल्लिखित की गई है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि परम सत्य-स्वरूप श्रीकृष्ण से ही विश्वादि की सृष्टि हुई है एवं वही बुद्धि के प्रवर्त्तक हैं, एवं उनके ध्यान की कथा कही गई है। उनके ध्यानरूप साधन के फल से प्रयोजन-तत्त्व प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। अत: गायत्री में जो सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजन-तत्त्व कहे गये हैं, इस श्लोक की उल्लिखित व्याख्या में भी उन्हीं तीनों तत्त्वों का वर्णन किया गया है।

किन्तु गायत्री के 'देव'—शब्द में उस परम सत्यवस्तु की जिस लीला का इङ्गित पाया जाता है, उल्लिखित व्याख्या से वह लीला परिस्फुट नहीं होती। पर-तत्त्व के ऐश्वर्य की ही कथा अवश्य प्रकाशित की गई है, किन्तु माधुर्यात्मिका लीला का प्रकाश नहीं हुआ। श्रीपाद जीवगोस्वामी तथा श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद ने इस श्लोक के लीलापर—अर्थों को भी व्यक्त किया है। यहाँ श्रीपाद जीवगोस्वामी का टीका के आनुगत्य में श्लोक का लीलापर—अर्थ उद्धृत किया जाता हैं। लीलापर—अर्थ के लिये श्लोक का अन्वय इस प्रकार किया गया है—

अन्वय –(यस्य) आद्यस्य यत: जन्म, (ततः यः) इतरत: च अन्वयात् (अनु-अयात्), (य:) अर्थेषु अभिज्ञ:, (य:) स्वराट्, य: आदि कवये हृदा ब्रह्म तेने, यत् सुरय: मुह्यन्ति, यत् तेजो वारि मृदां यथा विनिमय: (भवति), यत्र त्रिसर्ग: अमृषा [भवति), (तम्) स्वेन धाम्ना निरस्त-कुहकं परं सत्यं धीमहि।

श्रीकृष्ण-लीला-सूचक-अर्थ—(**यस्य आद्यस्य**) जो आदि हैं अर्थात् अनादिरादि सर्वकारण कारण श्रीगोविन्द,(**यत:**) जिन्होंने मथुरामें श्रीवसुदेव के गृह में (जन्म)जन्मलीला प्रगटित की थी एवं (**ततः-तस्मात् यः**) वहाँ से (**इतरतश्च**) अन्य स्थान पर अर्थात् गोकुल में श्रीनन्दमहाराज के घर भी (**अन्वयात्**) आकर रहे थे, क्योंकि वे (**अर्थेषु**) अपने अभीष्ट उद्देश्य (अर्थात् भक्तों का प्रेम रस निर्यास आस्वान, राग-मार्गीय-भक्ति का प्रचारण एवं आनुषङ्गिकभाव से पृथ्वी के भारभूत कंसादिक-असुरों के विनाशादि विषयों) की सिद्धि में (**अभिज्ञ:**) सम्यक्रूप से ज्ञानवान् थे, (अत; वे मथुरा से गोकुल में आकर विराजमान हुए) और (**य: स्वराट्**) वे हैं भी तो स्वराट् अर्थात् वे गोकुलवासी स्वीय परिकर भक्तों के साथ नित्य विचरण एवं लीलाविलास करने वाले हैं, अर्थात् वे अपने भक्त परिकरों के प्रेम के वशीभूत हैं। प्रेम-वश्यता में ऐश्वर्य का विकास नहीं होता, किन्तु उनकी प्रेमवश्यता के होते हुये भी उनका ऐश्वर्य अव्याहत ही था। इस बात को जताने के लिये (य:) जिन आदिपुरुष श्रीगोविन्द ने (**आदि कवये**) आदिकवि श्रीब्रह्माजी के सामने (**हृदा**) हृदय द्वारा अर्थात् सङ्कल्प मात्र से (**ब्रह्म अर्थात् सत्य ज्ञानानन्तानन्द मात्रैक-रसमूर्तिमयं वैभवं**) सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप चिन्मय वैभव विस्तारित किया था अर्थात् ब्रह्म-मोहनलीला

में जिन्होंने अपनी लीलाशक्ति का अलौकिक वैभव दिखाया था और जिसे देखकर (सुरयः) भक्तगण (**मुह्यन्ति**) प्रेमातिशय के आविर्भाव के कारण विवशता को प्राप्त हो जाते हैं। और जिनकी (**यत्**) इस प्रकार की लीलाओं को देखकर (**तेजोवारि-मृदां**) तेजः, जल एवं मृत्तिका का (**यथा**) यथावत् (**विनिमयः**) विनिमय होने लगता है अर्थात् एक वस्तु में दूसरी वस्तु का धर्म प्रकाशित होने लगता है। यथा, श्रीकृष्णचन्द्र के मुखचन्द्र को देखकर तेजोमय-चन्द्र मिट्टी की भांति निस्तेज हो जाता था, एवं जिस ब्रजरज में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन क्रीड़ा करते थे, वह निस्तेज मृत्तिका उनकी अङ्गकान्ति से चमचमा उठती थी। उनकी वंशीध्वनि सुनकर तरल वस्तु जल मिट्टी एवं पाषाणवत् कठिन हो जाता था और मिट्टी-पाषाणादि कठिन वस्तुएं जल की भांति द्रवीभूत होजाती थीं—इत्यादि। और (**यत्र**) जिन श्रीकृष्ण में (**त्रिसर्गः**) गोकुल, मथुरा एवं द्वारका—इन तीनों परमानन्दमय धामों का त्रिविध वैभव प्रकाश हैं, एवं जो (**अमृषा**) सत्यस्वरूप, नित्यस्वरूप हैं, जिन्होंने (**स्वेन**) स्वीय (**धाम्ना**) धाम द्वारा, तेज या स्वरूपशक्ति द्वारा (**निरस्त कुहकम्**) माया को निरस्त कर रखा है—ऐसे (**सत्यं परं**) सत्यस्वरूप परतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण (**धीमहि**) में ध्यान करता हूँ।

रसिकशेखर स्वयं भगवान् भक्तिरस का विषयरूप से एवं आश्रय-रूप से आस्वादन करते हैं। वे श्रीव्रजेन्द्रनन्दनरूप से भक्तिरस का केवल विषय-जातीय आस्वादन करते हैं एवं श्रीशचीनन्दन-गौराङ्ग-रूप से भक्तिरस का आश्रय-जातीय आस्वादन करते हैं। जिस प्रकार 'जन्माद्यस्य''—इत्यादि श्लोक का श्रीकृष्णलीला-सूचक अर्थ उल्लिखित किया गया है, उसी प्रकार इस श्लोक का श्रीगौराङ्गलीला-सूचक-अर्थ भी श्रीपाद जीवगोस्वामीपाद ने किया है, जो निम्नोल्लिखित है—

श्रीगौराङ्गलीला सूचक अर्थ—(**आद्यस्य**) आदिपुरुष अर्थात् आश्रयरूप से स्वमाधुर्यास्वादन के लिये एवं जगत् में प्रेमभक्ति के प्रकार के निमित्त जगत् में आविर्भूत होने के लिये जिन्होंने श्रीगौराङ्ग महाप्रभुरूप से (**यतः**) श्रीश्रीशची-जगन्नाथ के गृह में (**जन्म**) जन्मलीला प्रगट की और (**ततः**) वहाँ से अर्थात् नवद्वीप से (**इतरश्च**) अन्यत्र अर्थात् नीलाचल में (**अन्वयात्**) अनुगमन किया, जो (**अर्थेषु**) विद्यार्थी-निन्दक पुरुषों के उद्धार करने में एवं प्रेमभक्तिदान विषय में (**अभिज्ञः**) निपुण हैं और (**यः**) जिन्होंने (**आदिकवये**) आदिकवि—श्रेष्ठ-कवि रायरामानन्द जी के आगे (**हृदा**) सङ्कल्प मात्र से वेदों के परम सारभूत तत्त्व अर्थात् श्रीकृष्णतत्त्व, श्रीराधा तत्त्व, रसतत्त्व प्रेमतत्त्व, साध्य-साधन तत्त्वादि विषय का (**तेने**) विस्तार या प्रकाश किया, (**यत्**) जिस विषय में (**सुरयः**) महापण्डित गण व देवता-गणी भी (**मुह्यन्ति**) मोह को प्राप्त हो जाते हैं। जिनकी ऐसी अपूर्व महिमा है कि (**तेजोवारि मृदां**) तेज, जल, पृथ्वी, वायु, एवं आकाशादि—पञ्चभूत (**यथा विनिमयः**) यथायथ भाव में परस्पर मिलकर जैसे अनन्त वैचित्रीमय जगत् रूप में उद्भूत हुए हैं, उसी प्रकार उनकी महिमा में विद्या-साधन-धन-कुल गर्व में गर्वित लोग, मूर्ख, दरिद्र, कोलभीलादि, व्याघ्र-भालुकादि, तरुलतादि पर्य्यन्त प्रेमभक्ति की कृपा प्राप्तकर भगवदुन्मुखता जनित स्व-स्वभाव वैचित्री सहित एक दूसरे के साथ मिलकर एक वैचित्रीमयी भक्ति की भूमिका में अवस्थित हुए हैं। और जिन्होंने (**स्वेन**) स्वीय (**धाम्ना**) स्वरूपशक्ति के प्रभाव से श्रीवासुदेव-सार्वभौम, श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती आदि निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धित्सु ज्ञानमार्ग के साधकगणों के (**निरस्त कुहकम्**) ज्ञान के कहुक अर्थात् भ्रम को निरस्त कर दिया, एवं (**यत्रः**) जिनका (**त्रिसर्गः**) नवद्वीप, नीलाचल एवं श्रीवृन्दावन—इन तीनों परमानन्दमय धामों में वैभव प्रकाश हुआ। जो (**अमृषा**) सदा सत्य है ऐसे (**सत्यं परं**) सत्यस्वरूप परम तत्त्व श्रीगौराङ्गसुन्दर का (**धीमहि**) मैं ध्यान करता हूँ।"

इस प्रकार श्रीजीवगोस्वामी पाद ने उक्त श्लोक का श्रीगौराङ्गलीला-सूचक-अर्थ भी प्रकाशित किया है। अब श्रीमद्भागवत जी का द्वितीय श्लोक कहते हैं, जिस के "**धर्मः प्रोज्झितकैतवः।**" पद में गायत्री के 'धीमहि'—शब्द के फलरूप प्रेम की अर्थात् प्रयोजन तत्त्व की बात कही गई है एवं "**सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र**"—इत्यादि वाक्य में श्रीमद्भागवत जी के श्रवण का साधन रूपत्व अर्थात् अभिधेयत्व--धीमहि-शब्द की विवृति सूचित होती है।

तथाहि (भाः १—१—२)—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ।।४०।।

महामुनि श्रीनारायण-कृत इस श्रीमद्भागवत जी में ईर्ष्या-द्वेष-रहित साधुपुरुषों के आचरण करने योग्य कैतवशून्य अर्थात् धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष—इन चारों की वासना से रहित परमधर्म का अर्थात् जिससे एकमात्र भगवत्प्रेम प्राप्त हो सके, उसधर्म का निरूपण किया गया है। इस पुराण-शिरोमणि से त्रितापों को निर्मूल करने वाली एवं परम मङ्गल प्रदान करने वाली वास्तव वस्तु अर्थात् भगवत्-भक्ति का ज्ञान प्राप्त होता है। अन्य शास्त्रों के द्वारा अथवा शास्त्रों में कहे गये अन्यान्य साधनों के द्वारा ईश्वर क्या शीघ्र हृदय में अवस्थित हो सकते हैं? (अर्थात् नहीं हो सकते।) किन्तु जो कृति-भक्त हैं अर्थात् जिन पर भक्ति रानी की कुछ कृपा हो चुकी है, वे इस श्रीमद्भागवत जी को सुनने की इच्छा करते हैं इसे श्रवण करते समय ही श्रीभगवान् उनके हृदय में आकर विराजमान हो जाते हैं ।।४०।।

कृष्णभक्ति-रसस्वरूप श्रीभागवत।
ताते वेदशास्त्र हैते परममहत्व ।।११०।।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत जी के श्लोकों का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए श्रीमहाप्रभु जी ने सरस्वती-पाद से कहा—"श्रीमद्भागवतजी कृष्ण-भक्ति रसस्वरूप हैं, इसलिये अन्यान्य वेद-शास्त्रों से अत्यधिकइनका परम-महत्त्व है" ।।११०।। (जैसा कि कहा भी गया है):—

तथाहि (भाः १—१—३)—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।।४१।।

यह श्रीमद्भागवत (सर्व-पुरुषार्थ-प्रद) वेदरूप कल्पवृक्ष के फल के समान है। यह फल श्रीशुक के मुख से गलित होकर अखण्डरूप से पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ है। अतएव रस-भावना-चतुर रसज्ञ व्यक्ति-गण अमृतरस युक्त इस रसमय फल का मोक्ष पर्यन्त बारम्बार पान करें ।।४१।।

इस श्लोक में श्रीमद्भागवत जी को समस्त वेद-शास्त्रों का सारस्वरूप एवं कृष्णभक्तिरस स्वरूप कहकर वर्णन किया गया है। और भी कहते हैं)—

तथाहि (भाः १—१—१९)—

वयन्तु न वितृप्याम उत्तमःश्लोक—विक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ।।४२।।

शौनकादि ऋषिगणों ने श्रीसूत जी से कहा है—"उत्तम:श्लोक श्रीभगवान् की चरित्र कथा को सुनकर हमारी तृप्ति नहीं हो रही है, क्योंकि रसज्ञ पुरुषों को इसके श्रवण करते समय पद-पद में अधिकाधिक स्वाद अर्थात् रसास्वादन मिलता है ॥४२॥

अतएव भागवत करह विचार। इहा हैते पावे सूत्र-श्रुतिर अर्थसार ॥१११॥
निरन्तर कर कृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन। हेलाय मुक्ति पावे, पावे कृष्ण प्रेमधन ॥११२॥

श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"इसलिये, सरस्वतीपाद ! आप श्रीमद्भागवत जी का हीं विचार-मनन करिये, इसमें ही वेदान्त सूत्र एवं श्रुतियों के अर्थों का सारतत्त्व आपको प्राप्त होगा। निरन्तर श्रीकृष्णनाम का सङ्कीर्त्तन करिये, इससे मुक्ति तो अनायास में ही मिल जाएगी, विशेषतः इससे आपको कृष्णप्रेम रूपी सम्पत्ति की भी प्राप्ति होगी ॥१११—११२॥

चैं० च० चु० *टीका* :—इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अनुशीलन का एवं श्रीकृष्णनाम संकीर्त्तन का उपदेश देने के बाद श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीगीताजी का एक श्लोक भी पढ़ा, जिसे नीचे उद्धृत किया गया है।

भक्ति का उपदेश सुनकर श्रीप्रकाशानन्द पाद के मन में ऐसी एक वितर्क का उठना स्वाभाविक था कि उन्होंने समस्त जीवनभर तो ज्ञान-मार्ग का अनुष्ठान किया था, अब वे शेष में भक्ति का अनुष्ठान या अनुशीलन कैसे कर सकेंगे ? उन पर भक्ति की कृपा कैसे होगी ? जान पड़ता है, श्रीमन्महाप्रभु उनके मनोगत भावों को जान गये और उनकी वितर्क का समाधान करते हुए कहने लगे :—

तथाहि श्रीभगद्गीतायाम् (१८—५४)—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥४३॥

ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होकर प्रसन्नात्मा-व्यक्ति नष्ट-वस्तु के लिए शोक नहीं करता है और अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता है। सर्वभूतों में समान दृष्टि-सम्पन्न होकर वह मेरी पराभक्ति को लाभ करता है ॥४३॥ (विशेष टीका पृष्ठ १८३ पर द्रष्टव्य है)।

चैं० च० चु० *टीका* :—इस श्लोक में श्रीमहाप्रभु ने बताया है कि, "सरस्वतीपाद ! चिरकाल पर्यन्त तुमने ज्ञानमार्ग का अनुष्ठान किया है। किन्तु अब भक्ति का अनुशीलन करने में तुम्हें कुछ भी बाधा-विघ्न नहीं है। ज्ञान के अनुशीलन द्वारा जिन्होंने ब्रह्म की भाँति चिन्मयत्व लाभ कर लिया है, अर्थात् जिन्होंने ब्रह्म-स्वरूपता को प्राप्त किया है, वे (ब्रह्मभूतः) भी मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर सकते हैं, यदि वे ज्ञानमार्गीय अनुष्ठान को छोड़ कर भक्ति का अनुष्ठान करने लग जाएं। अतः तुम अब श्रीभागवत-श्रवण एवं श्रीकृष्ण नाम संकीर्त्तन जो भक्ति के मुख्याङ्ग हैं, उनका आज से अनुष्ठान आरम्भ कर दो, जिससे तुम्हें पराभक्ति प्राप्त हो जाएगी।

यह सुनकर श्रीप्रकाशानन्द जी को कुछ आश्वासन तो मिला, फिर भी ऐसा जान पड़ता है, उनके मन में एक और आशंका उठ खड़ी हुई-वह यह कि "मैं तो वृद्ध हो चुका हूँ, अब शरीर के पात होने में देर ही क्या है ? मैं भक्ति का अनुष्ठान अब आरम्भ तो कर दूं, किन्तु उसको कितने समय तक कर पाऊंगा ? भक्ति साधन में सिद्धि प्राप्त करने से पहले ही यदि मेरा शरीर पात हो गया तो, न इधर का रहा, न उधर का रहा।" इस आशंका का समाधान करते हुए श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—

तथाहि भावार्थदीपिकायां (भाः १०—८७—२१) नृसिंहतापनी २—५—१६)—शांकरभाष्ये—

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते ।।४४।।

ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त-युक्त जीवगण भी भक्ति की कृपा से भजनोपयोगी (पार्षद)-देह को प्राप्त करके श्रीभगवान् का भजन किया करते हैं ।।४४।। (पृष्ठ ७३९ द्रष्टव्य है)

चै० च० चु० *टीका* :—श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"प्रकाशानन्द ! भक्तिसाधन में सिद्धि प्राप्त करने से पहले यदि तुम्हारा शरीर पात हो जाए, तो भी निराश होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि शरीर पात के बाद भी भक्ति की कृपा से भजनोपयोगी देह की प्राप्ति तुम्हें हो सकती है। पहले काल में अनुष्ठितज्ञान अनुष्ठान के फल से यदि तुम्हें सायुज्य-मुक्ति भी प्राप्त हो, तो भी तुम्हें संशय में पड़ने की आवश्यकता नहीं है, कारण कि मुक्त (ब्रह्मसायुज्य प्राप्त) जीव भी भजनोपयोगी देह प्राप्त कर श्रीभगवान् का भजन करते हैं। जब तुम भक्ति का आश्रय ग्रहण करोगे उसके फलस्वरूप ही भक्तिदेवी कृपा कर तुम्हें अङ्गीकार कर लेगी। यदि सायुज्य-मुक्ति तुम्हें प्राप्त हो जावे, तो भी भक्तिदेवी कृपा करके तुम्हें ब्रह्म-स्वरूपता से आकर्षण करके तुम्हें भजनोपयोगी देह प्रदान करेगी, जिससे तुम फिर भजन कर सकोगे, अतः तुम सब शंकाओं को छोड़ कर भक्ति अङ्गों का अनुष्ठान आज से आरम्भ कर दो। श्रीमद्भागवत का अनुशीलन करने से निर्गुण ब्रह्म-निष्ठा प्राप्त व्यक्ति अपने आप ज्ञान मार्गीय अनुष्ठानों को छोड़ कर श्रीभगवान् का भजन करने लगते हैं। जैसा कि श्रीशुकदेव जी ने अपने मुख से आप बीती कही है—

तथाहि (भाः २—१—९)—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमःश्लोक लीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ।।४५।।

श्रीशुकदेव जी ने राजा परीक्षित जी से कहा है—हे राजर्षे ! मैं निर्गुण-ब्रह्म में निष्ठा प्राप्त कर चुका था, परन्तु उत्तम-श्लोक श्रीकृष्ण की लीला-कथा के श्रवण में मेरा चित्त ऐसा आकर्षित हुआ है, कि मैं अब इस श्रीमद्भागवत-नामक आख्यान का अध्ययन या सदा कीर्त्तन करता रहता हूँ ।।४५।।

चै० च० चु० *टीका*—श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"प्रकाशानन्द ! श्रीमद्भागवत का अनुशीलन करने पर ही तुम यह जान सकोगे कि लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के लीला-माधुर्य में कितनी आकर्षणी-शक्ति है ? श्रीशुकदेव जी निर्गुणब्रह्म में निष्ठा को प्राप्त हो चुके थे, किन्तु श्रीकृष्ण की लीला-कथा को सुन कर वे इतने मुग्ध हुए कि ज्ञान-निष्ठा का त्याग करके निरन्तर ही वे श्रीकृष्ण-लीलामात्र का कीर्तन करने लगे थे। तुम भी तभी जान सकोगे कि श्रीकृष्ण का सौन्दर्य-माधुर्य कितना अद्भुत है ? उनके अङ्गों की सुगन्धि कैसी चित्ताकर्षक है ? अङ्ग-गन्ध की बात तो दूर, उनके श्रीचरणों में लगी तुलसी की सुगन्ध ही ब्रह्मानन्द सेवी सनकादिक मुनियों के चित्त में क्षोभ अर्थात् भगवद् भजन का लोभ एवं सात्विक विकार उत्पन्न कर देती है। जैसा कि कहा है :—

तथाहि (भाः ३—१५—४३)—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-किञ्जल्कमिश्रतुलसी मकरन्द वायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ।।४६।।

"उन कमलनयन श्रीभगवान् के चरणकमलों की केशर-मिश्रित तुलसी की मकरन्दयुक्त वायु ने जब नासिकारन्ध्रों के द्वारा श्रीसनकादिक ऋषियों के भीतर प्रवेश किया, तो उन ब्रह्मानन्द सेवी ऋषियों के चित्त में एवं शरीर में सम्यक् क्षोभ उत्पन्न हो उठा, अर्थात् चित्त में तो अतिशय हर्ष एवं उनके शरीर में पुलकावली प्रकाशित होने लगी ।।४६।।

चै० च० चु० टीका :—श्रीमहाप्रभु जी ने आगे कहा—"अतः, सरस्वती पाद ! तुम श्रीकृष्ण की लीलाओं का अनुशीलन करो एवं उनके श्रीनाम का संकीर्त्तन करो। इस बात की आशंका मत करो कि ज्ञानमार्ग का चिर-साधक होकर अब मैं भक्ति-अङ्गों का अनुष्ठान कैसे कर सकूंगा? यह भी तो कहा है—

तथाहि (भाः १—७—१०)—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणोहरिः ॥४७॥

श्रीभगवान् हरि के ऐसे परमाश्चर्यमय गुण हैं कि आत्माराम मुनिगण अविद्या ग्रन्थि से मुक्त होकर भी उन उरुक्रम भगवान् की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं ॥४७॥

चै० च० चु० टीका :—श्रीमहाप्रभु जी ने कहा—"प्रकाशानन्द ! वस्तुतः श्रीभगवान् कृष्ण के गुण समूह ऐसे अद्भुत हैं कि, उनके गुणों में आकृष्ट होकर आत्माराम मुनिगण भी उनके चरणों की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं। अतः अब तुम सब आशङ्काओं को त्याग कर श्रीकृष्ण गुण-लीला नाम का निरन्तर अनुशीलन करो। मुक्ति तो इनके आनुषङ्गिक फल के स्वरूप में तुम्हें प्राप्त हो सकती है, अधिकन्तु इन भक्ति-अङ्गों के अनुष्ठान से तुम्हें सर्वोत्कृष्ट मूलप्रयोजन तत्त्व-श्रीकृष्ण प्रेम की प्राप्ति हो जाएगी।"

हेनकाले सेइ महाराष्ट्री ब्राह्मण। सभाते कहिला एइ श्लोक विवरण ॥११३॥
एइ श्लोकेर अर्थ प्रभु एकषष्टिप्रकार। करियाछेन याहा शुनि लोके चमत्कार ॥११४॥
तबे सब लोक शुनिते आग्रह करिल। प्रभु एकषष्टि अर्थ विवरि कहिल ॥११५॥
शुनिया लोकेर बड़ हैल चमत्कार। 'चैतन्यगोसाञि कृष्ण' करिल निर्द्धार ॥११६॥

श्रीमन्महाप्रभु जी एवं श्रीप्रकाशानन्द के संवाद के समय में उस महाराष्ट्री-ब्राह्मण ने जब श्रीमहाप्रभु के मुख से—'आत्मारामाश्च'—इत्यादि श्लोक सुना, तो उसने उसी सभा में यह बात कही कि श्रीमहाप्रभु जी ने श्रीसनातन गोस्वामी को इस श्लोक के इकसठ प्रकार के अर्थ सुनाये थे। उस ब्राह्मण की इस बात को सुनकर सब लोग चमत्कृत हो उठे और सबने उन समस्त अर्थों को सुनाने का प्रभु से विनयपूर्वक आग्रह किया। श्रीमहाप्रभु जी ने उन समस्त अर्थों को उसी समय सबको सुनाया (जिनका वर्णन चौबीसवें परिच्छेद में किया जा चुका है।) जिन्हें सुनकर सब लोग आश्चर्यान्वित हो उठे। उस समय सब ने निश्चय किया कि श्रीचैतन्य गोस्वामी साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं ॥११३—११६॥

एत कहि उठिया चलिला गौरहरि। नमस्कार करे लोक हरिध्वनि करि ॥११७॥
सब काशीवासी करे नामसङ्कीर्त्तन। प्रेमे हासे कान्दे गाय करये नर्त्तन ॥११८॥
संन्यासी पण्डित करे भागवत-विचार। वाराणसी देश प्रभु करिला निस्तार ॥११९॥
निजगण लैया प्रभु आइला वासाघर। वाराणसी हैल द्वितीय नदीया-नगर ॥१२०॥

इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी श्रीप्रकाशानन्द जी को श्रीभागवत-अनुशीलन एवं श्रीनामसंकीर्त्तन करने का उपदेश देकर वहाँ से उठ कर चल दिये। समस्त लोग प्रभु को वन्दना करने लगे एवं 'हरि-हरि-ध्वनि' करने लगे। उस दिन से सब काशीवासी श्रीनामसङ्कीर्त्तन करने लगे एवं प्रेमोन्मत्त होकर कभी हँसते, तो कभी रोने लगते और कभी गान करते व नृत्य करने लगते। बड़े-बड़े विद्वान संन्यासी उसी दिन से

श्रीमद्भागवत जी का पाठ एवं मनन करने लगे। इस प्रकार श्रीमहाप्रभु जी ने काशी देश का उद्धार कर दिया। अपने परिकर-भक्तों को लेकर श्रीमहाप्रभु अपने वासस्थान पर आ पहुँचे। उस दिन से काशी मानो दूसरा नदियानगर ही बन गया ॥११७-१२०॥

निज-गण लैया प्रभु कहे हास्य कहि। काशीते बेचिते आमि अइलुं भावकाली ॥१२१॥
काशी ते ग्राहक नाहि, वस्तु न बिकाय। पुनरपि वहि देशे लञोया नाहि याय ॥१२२॥
'आमि बोझा बहिव' तोमा सभार दुख हैल। तोमा-सभार इच्छाय बिना मूल्ये बिलाइल ॥
सभे कहे—लोक तारिते तोमार अवतार। पूर्व दक्षिण पश्चिम करिले निस्तार ॥१२४॥
एक वाराणसी छिल तोमाते विमुख। ताहा निस्तारिया कैले आमा सभार सुख ॥१२५॥

जिस समय श्री महाप्रभु अपने भक्तों में विराजमान थे, तो हंस कर कहने लगे—"भाई! मैं यहाँ काशी में अपनी भाव-रूपी कालिमा बेचने आया था। (यह वचन श्रीप्रकाशानन्दजी ने प्रभु की निन्दा करते हुए एक बार कहे थे—उन्हीं वचनों को आज प्रभु व्यंग रूप में दोहरा रहे हैं) परन्तु इस काशी में मुझे कोई भी ग्राहक न मिला और मेरा सौदा नहीं बिक सका। परन्तु मैंने यह विचार किया कि फिर मैं इस बोझ को अपने देश में भी कैसे लौटा कर ले जाऊँ? यदि ऐसा करता तो एक तो मुझे फिर बोझ ढोना पड़ता और दूसरे मुझे लौटते हुए देख कर आप सब को भी दुख होता। अतः मैंने आपकी इच्छानुसार अपने सौदे को बिना मूल्य ही यहाँ वितरण कर दिया है।' प्रभु के ये वचन सुन कर सबने कहा—"भगवन्! समस्त संसार का उद्धार करने के लिये आप का अवतार हुआ है। आपने पूर्व देश, पश्चिम एवं दक्षिण-देशों को तो निस्तारित कर दिया था, यही एक काशी नगर था (उत्तर देश) जो बाकी बचा था और आपकी भक्ति से विमुख था। इसका भी आपने आज निस्तार कर दिया है, एवं हम सब को सुख प्रदान किया है ॥१२१—१२५॥

वाराणसीग्रामे यदि कोलाहल हैल। शुनि ग्रामी देशी लोक आसिते लागिल ॥१२६॥
लक्ष-कोटि लोक आइसे—नाहिक गणन। सङ्कीर्ण स्थाने प्रभुर न पाय दर्शन ॥१२७॥
प्रभु यबे स्नाने यान विश्वेश्वर दर्शने। दुइ दिगे लोक करे प्रभु-विलोकने ॥१२८॥
बाहु तुलि प्रभु कहे 'बोल-कृष्ण-हरि'। दण्डवत् पड़े लोक हरि ध्वनि करि ॥१२९॥

काशी नगर में श्रीमहाप्रभु की महिमा का कोलाहल मच गया, जिसे सुन कर दूर-दूर के देश-गांवों से अनेक लोग प्रभु के दर्शनों के लिये आने लगे। लाखों-लाखों—असंख्य लोग प्रभु के दर्शनों के लिये जमा होते किन्तु छोटा स्थान होने के कारण वे सब प्रभु के दर्शन न पा सकते। जिस समय श्रीमहाप्रभु स्नान करने अथवा श्री विश्वेश्वर के दर्शन करने के लिये बाहर आते तो सड़क गलियों के दोनों ओर किनारों पर खड़े होकर सब लोग नेत्र भरकर प्रभु के दर्शन कर लेते। श्रीमहाप्रभु सबकी ओर कृपा कटाक्ष करते हुए, अपनी दोनों भुजाओं को उठाकर—"हरे कृष्ण बोलिये," इस प्रकार उपदेश करते। सब लोग प्रभु के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करते एवं हरि-हरि-ध्वनि करने लगते ॥१२६—१२९॥

एइमत पञ्च दिन लोक निस्तारिया। आर दिन चलिला प्रभु उद्विग्न हइया ॥१३०॥
रात्र्ये उठि प्रभु यदि करिल गमन। पाछे लाग लैल तबे भक्त पञ्चजन ॥१३१॥
तपनमिश्र, रघुनाथ महाराष्ट्री ब्राह्मण। चन्द्रशेखर कीर्त्तनीया परमानन्द जन ॥१३२॥

सभे चाहे प्रभुसङ्गे नीलाचल याइते। सभारे विदाय दिल प्रभु यत्न सहिते ॥१३३॥
यार इच्छा-पाछे आइस आमारे देखिते। एवे आमि एका याव झारिखण्डपथे ॥१३४॥

इस प्रकार (श्री सनातन पाद को शिक्षा प्रदान करने के अथवा श्रीप्रकाशानन्द के उद्धार करने के बाद पाँच दिन पर्यन्त लोगों का निस्तार करके श्रीमहाप्रभु वहाँ से चलने को तैयार हुए एवं रात के समय ही वहाँ से उठ कर चल दिये। फिर भी पाञ्च जने उनके पीछे पीछे लग ही पड़े। वे थे—श्रीतपन मिश्र, श्री रघुनाथ, महाराष्ट्री ब्राह्मण, श्री चन्द्रशेखर एवं कीर्त्तनीया श्री परमानन्द। ये सब ही श्रीमहाप्रभु जी के साथ नीलाचल जाना चाहते थे, किन्तु उन्होंने यत्न पूर्वक सब को विदा कर दिया, यह कह कर कि "जिसकी इच्छा नीलाचल आने की हो, वह पीछे चला आवे, किन्तु अब तो मैं अकेला ही झारिखण्ड के रास्ते नीलाचल जाऊंगा ॥१३०—१३४॥

सनातने कहिल—तुमि याह वृन्दाबन। तोमार दुइ भाइ तथा करियाछे गमन ॥१३५॥
कांथा करङ्गिया मोर काङ्गाल भक्तगण। वृन्दाबने आइले तार करिह पालन ॥१३६॥
एत बलि चलिला प्रभु सभा आलिङ्गिया। सभेइ पड़िला ताहां मूर्च्छित हइया ॥१३७॥
कथोक्षणे उठि सभे दुखे घर आइला। सनातन गोसाञि वृन्दाबने ते चलिला ॥१३८॥

श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीपाद सनातन गोस्वामी से कहा—"सनातन! तुम अब श्रीवृन्दाबन चले जाओ, तुम्हारे दोनों भाई श्रीरूप एवं श्रीअनुपम भी वहाँ रह रहे हैं। कंथाधारी एवं करङ्गधारी (करुवा) अत्यन्त कङ्गाल जो मेरे भक्त श्रीवृन्दावन आवें तुम तीनों उनका पालन करना (वास स्थान, अन्नादि एवं भक्ति विषयक उपदेश देकर उन्हें सन्तुष्ट करना)" इतना कह कर श्रीमहाप्रभुजी सब को आलिङ्गन कर वहां से चल दिये। सब भक्त श्रीप्रभु के विरह में मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। कुछ समय के बाद सुधि सम्भाल कर वे अत्यन्त दुखी होकर अपने अपने घरों को लौट आये। श्रीसनातन गोस्वामीपाद श्रीवृन्दावन की ओर चल दिये ॥१३५—१३८।

एथा श्रीरूप गोसाञि मथुरा आइला। ध्रुवघाटे तांरे सबुद्धिराय मिलिला ॥१३९॥
पूर्वे यबे सुबुद्धिराय छिला गौड़-अधिकारी। हुसेन खां सैयद करे तांहार चाकुरी ॥१४०॥
दीघी खोदाइते तारे मनुसाव कैल। छिद्र पाञा राय तारे चाबुक मारिल ॥१४१॥
पाछे यबे हुसैन खां गौड़ेर राजा हैल। सुबुद्धिरायेरे तेंहो बहु बाढ़ाइल ॥१४२॥
तांर स्त्री तांर अङ्गे देखे मारणेर चिन्हे। सुबुद्धिराये मारिवारे कहे राजास्थाने ॥१४३॥

इस ओर श्रीरूपगोस्वामी जब मथुरा आए, तो ध्रुवघाट पर उनका सुबुद्धिराय से मिलन हुआ। सुबुद्धिराय पहले (एक मुसलमान सम्राट के अधीन) गौड़ देश के राजा थे। तब सैयद हुसैन खां इनकी चाकरी किया करता था। सुबुद्धिराय ने सैयद हुसैन खां को एक बड़े तालाब को खुदवाने का ठेका दिया, किन्तु उस कार्य में गोल माल करने पर सुबुद्धिराय ने हुसैन खां को चाबुक मार कर निकाल दिया था। कुछ समय पाकर हुसैन खां ही गौड़ देश का अधिकारी हो गया। हुसैन खाँ फिर भी सुबुद्धिराय को बहुत सम्मानित करता और उन्हें ऊँची पदवी देता था एक दिन जब हुसैन खाँ नङ्गे शरीर खड़ा था, उसकी स्त्री ने उसकी पीठ पर चाबुक के चिह्नों को देखा और हुसैन खाँ से उसका कारण पूछा। राजा हुसैन खाँ ने पिछला सब वृत्तान्त कह सुनाया। उस बात को सुन कर वह राजा से कहने लगी कि आप सुबुद्धिराय को अब मरवा डालिये ॥१३९—१४३॥

राजा कहे—आमार पोष्टा राय हय पिता। ताहारे मारिब आमि भाल नहे कथा ॥१४४॥
स्त्री कहे—जाति लह यदि प्राणे ना मारिबे। राजा कहे—जाति निले इंहो नाहि जीवे ॥१४५॥
स्त्री मारिते चाहे, राजा शङ्कटे पड़िला। करो यार पानी तार मुखे देयाइला ॥१४६॥
तबे सुबुद्धिराय सेइ छद्म पाइया। वाराणसी आइला सब–विषय छाड़िया ॥१४७॥

स्त्री की बात सुन कर राजा ने कहा—"सुबुद्धिराय ने तो मुझे पाला है, वह तो मेरे पिता के समान है, उसे मैं मरवा डालूँ—यह अच्छी बात नहीं है।" स्त्री ने कहा—"यदि आप उसे प्राणों से मारना नहीं चाहते तो, तो उसके हिन्दू धर्म को नष्ट करके उसकी जाति बिगाड़ दीजिये।" राजा ने कहा—"जाति बिगाड़ने से वह फिर जीवन नहीं रखेगा, उस जीने से वह मरना ही अच्छा समझेगा। स्त्री हठ पकड़ गई और सुबुद्धिराय को मरवा डालने पर ही तुल गई। राजा हुसैनखाँ भी एक संकट में पड़ गया। अन्त में राजा ने अपनी सुराही का जल जबरदस्ती सुबुद्धिराय के मुख में डलवा कर उसकी जाति बिगाड़ डाली उस छल-कपट को समझ कर सुबुद्धिराय वहाँ के समस्त भोग-सम्पत्ति आदिक छोड़कर, काशी में चले आए ॥१४४—१४७॥

प्रायश्चित पुछिल तेंहो पण्डितेर स्थाने। तांरा कहेन—तप्तघृत खाञा छाड़ प्राणे ॥१४८॥
केहो कहे—एइ नहे, अल्पदोष हय। शुनिञा रहिला राय करिया संशय ॥१४९॥
तबे यदि महाप्रभु वाराणसी आइला। तांरे मिलि राय आपन वृत्तान्त कहिला ॥१५०॥
प्रभु कहे—इहा हैते याह वृन्दाबन। निरन्तर कर कृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन ॥१५१॥
एक नामाभासे तोमार पापदोष यावे। आर नाम हैते कृष्ण चरण पाइबे ॥१५२॥

काशी में आकर उन्होंने पण्डित लोगों से उस दोष का प्रायश्चित पूछा। पण्डितों ने कहा कि 'तुम तपा हुआ घी पीकर अपने प्राणों का त्याग कर दो' कुछ दूसरे लोगों ने कहा—"ऐसा मत करो, यह अति अल्प दोष है।" अनेक मत सुन कर राय ने बात को विचाराधीन छोड़ दिया। जब श्रीमन्महाप्रभु जी काशी में पधारे, तब सुबुद्धिराय ने आकर उनसे अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। श्रीमहाप्रभु ने कहा—"तुम यहाँ से श्रीवृन्दावन चले जाओ और वहां जाकर सदा श्रीकृष्णनाम का सङ्कीर्तन करो। एकबार केवल नामाभास से तुम्हारा समस्त पाप-दोष नष्ट हो जाएगा और फिर जो सदा तुम नाम-सङ्कीर्तन करोगे, उस से तुम्हें श्रीकृष्णचरणों की सेवा प्राप्त हो जायेगी ॥१४८—१५२॥

चै० च० चु० *टीका*—सुबुद्धिराय के लिये काशी निवासी पण्डितों ने जो प्रायश्चित बतलाया था, वह था मनुस्मृति आदि में लिखे अनुसार साधारण प्रायश्चित। किन्तु श्रीमन्महाप्रभु जी ने जो श्रीहरिनाम-सङ्कीर्तन-रूप प्रायश्चित सुबुद्धिराय को बतलाया—वह है सर्वस्मृति-शास्त्रोल्लिखित परमश्रेष्ठ प्रायश्चित। जैसा कि विष्णुपुराण (२—६—३५) में कहा गया है—

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मात्मकानि च।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥क-ङ॥

अर्थात् तपस्यात्मक तथा कर्मात्मक जितने भी अशेष प्रकार के प्रायश्चित हैं, उन समस्त में श्रीकृष्ण का अनुस्मरण ही सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है।

श्रीकृष्ण स्मरण को सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित क्यों कहा गया है?—इसका कारण भी विष्णुपुराण के परवर्त्ती श्लोक में कहा गया है, यथा—(विष्णुपुराण २—६—३६)—

कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते।
प्रायश्चित्तन्तु तस्यैकं हरिस्मरणं परम्॥च-छ॥

पाप करने पर या हो जाने पर जिस मनुष्य के हृदय में उसका अनुपात होता है, उसी मनुष्य के लिये ही मनुस्मृति आदि में कहे गये प्रायश्चित उपयुक्त होते हैं। परन्तु जो हरिस्मरण है, वह परम प्रायश्चित है, कारण कि पाप का अनुताप न होने पर भी हरिस्मरण उस पाप को नष्ट कर देता है। किन्तु अन्यान्य प्रायश्चितों से, अनुताप व्यतीत जो पाप हैं, वे नष्ट नहीं होते।

एक और बात भी है—कर्मात्मक-प्रायश्चितों का सम्बन्ध केवल शरीर के साथ है, जीवात्मा के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु श्रीकृष्णनाम सङ्कीर्त्तन-रूप परम-प्रायश्चित का सम्बन्ध शरीर एवं आत्मा दोनों से है। वह दोनों को पवित्र करता है, यथा—

पवित्रापवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं सबाभ्यह्यान्तरः शुचिः॥

पवित्रावस्था में अथवा अपवित्रावस्था में, कैसे भी क्यों न हो, सर्वावस्थाओं में जो व्यक्ति श्रीभगवान् कमलनयन के नाम का स्मरण करता है, वह शरीर से एवं आत्मा से अर्थात् भीतर-बाहर पवित्र हो जाता है॥च-छ॥

सुबुद्धिराय यदि काशीवासी पण्डितों के बतलाये हुए प्रायश्चितानुसार तपा हुआ घृत पान करके प्राण त्याग देते, तो उससे इतना ही होता कि वे जाति-धर्म पालन में ऊंचे उठ जाते। उनके देहपात के पश्चात् उनका शव-सत्कार उत्कृष्टरूप से उनके भाई-बन्धु मना लेते, किन्तु उससे उनकी आत्मा का क्या होता?—उन्हें भजनोपयोगी दुर्लभ मनुष्य देह मिला था, उस मनुष्य शरीर की सार्थकता कहाँ रहती? जाति-रक्षा के लिये मनुष्य तन को नाश कर देने में सद्गति का साधन भगवद् भजन तो उनसे नहीं बन पाता। अतः श्रीमन्महाप्रभु जी ने सुबुद्धिराय के लिये जिस श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तनरूप प्रायश्चित का आदेश दिया, उस से उनका पाप भी क्षय होगया एवं श्रीकृष्णभजन करके उन्होंने दुर्लभ मानव-तन की भी सार्थकता प्राप्त करली।

वास्तव में श्रीमन्महाप्रभु जी का यह आदेश हरएक साधक के लिये है। प्रमादवश, पराधीनता वश एवं सङ्ग-दोषादिवश साधक से यदि इस प्रकार का कोई जाति-धर्ममूलक अथवा देह-धर्म मूलक पाप बन जाता है, तो उसके लिये कर्मात्मक-प्रायश्चित-मार्ग में फंसने की आवश्यकता नहीं है—उसके लिये सर्व पापों का सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित केवल श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन ही है।

राय आज्ञा पाञा वृन्दाबनेरे चलिला। प्रयाग अयोध्या दिया नैमिषारण्ये आइला॥१५३॥
कथोदिन तेंहो नैमिषारण्ये रहिला। तावद् वृन्दाबन देखि प्रभु प्रयाग आइला॥१५४॥
मथुरा आसिया राय प्रभु वार्त्ता पाइल। प्रभुर लाग ना पाइया मने दुखी हैल॥१५५॥
राय शुष्ककाष्ठ आनि बेचे मथुराते। पांच छय पैछा पाय एकेक बोझाते॥१५६॥
आपने रहे एक पैछार चाना-चाबाना खाइया। आर पैछा वानिया स्थाने राखेन धरिया॥
दुखी वैष्णव देखि तारे करान भोजन। गौड़िया आइले दधि-भात तैलमर्द्दन॥१५८॥

श्रीमहाप्रभु जी की आज्ञा पाकर सुबुद्धिराय श्रीवृन्दावन चले आए। प्रयाग, अयोध्या के रास्ते नैमिषारण्य में आकर कुछ दिन तक रहे। इस बीच में श्रीमहाप्रभु श्रीवृन्दावन-दर्शन करके वापस प्रयाग

में आए । जब राय मथुरा पहुँचे, तब तक श्रीमहाप्रभु श्रीवृन्दवान- मथुरा देखकर लौट गये थे । राय को प्रभु के दर्शन न पाकर बहुत ही दुःख हुआ । मथुरा में राय सूखी-लकड़ी लाकर बेचा करते थे । एक बोझा के बिकने पर उन्हें पांच-छः पैसे मिल जाते वे स्वयं एक पैसा के चना-चवेना में निर्वाह करते और बाकी के पैसे एक बनिया के पास जमा करते जाते । वे जब किसी वैष्णव को दुखी-भूखा देखते तो उसे उन पैसों से भोजन कराते एवं गौड़देश से आने वाले वैष्णवों को दही-भात भोजन कराते और शरीर पर मालिश करने के लिये तेल भी दिलवाते ।।१५३-१५८।।

रूपगोसाञि आइले तांरे बहु प्रीति कैल । आपन सङ्गे लञा द्वादशबन कराइल ।।१५९।।
मास मात्र रूपगोसाञि रहिला वृन्दाबने । शीघ्र चलि आइल सनातनानुसन्धाने ।।१६०।।
गङ्गा तीर पथे प्रभु प्रयागेरे गेला । इहा शुनि दुइ भाइ सेइ पथे चलिला ।।१६१।।

जिस समय श्रीरूप गोस्वामी मथुरा में पहुँचे, तो सुबुद्धिराय ने उनका बहुत सन्मान किया और उनके साथ जाकर उन्हें बारह-बनों के दर्शन कराये । एक मास पर्य्यंत श्रीरूपगोस्वामी श्रीवृन्दावन में रहे और फिर श्रीसनातनगोस्वामी के अनुसन्धान में चलदिये । उन्होंने सुन रखा था कि श्रीमहाप्रभु गङ्गा के किनारे मथुरा से प्रयाग गये थे, अतः श्रीरूप एवं श्रीअनुपम—दोनों गोस्वामीपाद भी उसी रास्ते से श्रीसनातनपाद का अनुसन्धान करते हुए प्रयाग की ओर चले ।।१५९—१६१।।

एथा सनातन गोसाञि प्रयागे आसिया । मथुरा आइला सरान राजपथ दिया ।।१६२।।
मथुराते सुबुद्धिराय ताहारे मिलिला । रूप-अनुपम-कथा सकल कहिला ।।१६३।।
गङ्गापथे दुइ-भाइ राजपथे सनातन । अतएव तांहासने ना हैल मिलन ।।१६४।।
सुबुद्धिराय बहु स्नेह करे सनातने । व्यवहार स्नेह सनातन नाहि माने ।।१६५।।
महाविरक्त सनातन भ्रमे वृन्दाबने । प्रतिवृक्षे प्रतिकुञ्जे रहे रात्रिदिने ।।१६६।।
मथुरा-महात्म्य-शास्त्र संग्रह करिया । लुप्ततीर्थ प्रकट कैल बनेते भ्रमिया ।।१६७।।

इस तरफ श्रीसनातन गोस्वामी काशी से प्रयाग आये एवं वहां से प्रसिद्ध सड़क से मथुरा आए । मथुरा पहुँचने पर उन्हें श्रीसुबुद्धिराय मिले और उन्होंने श्रीरूप-श्रीअनुपम गोस्वामीपाद का सब वृत्तान्त सुनाया । वे दोनों गङ्गा के किनारे मथुरा से प्रयाग की ओर गये और श्रीसनातन पाद प्रयाग से प्रसिद्ध सड़क से मथुरा आये । अतः उनका परस्पर मिलाप न हुआ । श्रीसुबुद्धिराय श्रीसनात नगोस्वामी से अत्यन्त स्नेह करते, किन्तु श्रीसनातनगोस्वामी उनके उस व्यवहारिक यथावस्थित देह के प्रति स्नेह को अच्छा नहीं मानते थे, (क्योंकि वे अपने सुख-स्वच्छन्दता के समस्त विषयों को पहले ही त्याग चुके थे । श्रीसनातन गोस्वामी पाद महाविरक्त होकर श्रीवृन्दाबन में विचरने लगे । एक एक दिन एक एक वृक्ष के नीचे और एक एक रात एक एक कुञ्ज में व्यतीत करते, अर्थात् एक स्थान पर एक दिन और एक रात से अधिक निवास न करते थे । उन्होंने मथुरा माहात्म्य सबन्धी ग्रन्थों का संग्रह किया एवं उनका अध्ययन कर मथुरा बण्डल के समस्त लुप्त-तीर्थों का स्थान निर्दिष्ट किया ।।१६२—१६७।।

एइमत सनातन वृन्दाबने रहिला । रूपगोसाञि दुइभाइ काशीते आइला ।।१६८।।
महाराष्ट्री द्विज, शेखर, मिश्र तपन । तिन जन सह रूप करिला मिलन ।।१६९।।
शेखरेर घरे वासा, मिश्रघरे भिक्षा । मिश्रमुखे शुने-सनातने प्रभुर शिक्षा ।।१७०।।

काशीते प्रभुर चरित्र शुनि तिनेर मुखे। सन्न्यासीरे कृपा शुनि पाइल बड़ सुखे ॥१७१॥
महाप्रभुर उपर लोकेर प्रणति देखिया। सुखी हैला लोकमुखे कीर्त्तन शुनिया ॥१७२॥
दिन दश रहि रूप गौड़े यात्रा कैल। सनातन–रूपेर एइ चरित्र कहिल ॥ १७३॥

इस प्रकार श्रीसनातन गोस्वामी श्रीवृन्दावन में रहने लगे। इधर श्रीरूप एवं अनुपम दोनों गोस्वामीपाद काशी में आ पहुँचे। काशी में आकर श्रीरूपगोस्वामीपाद महाराष्ट्री ब्राह्मण, श्रीचन्द्रशेखर तथा श्रीतपनमिश्र —इन तीनों से मिले। श्रीचन्द्रशेखर के घर में वे निवास करते एवं श्रीतपनमिश्र के घर भिक्षा किया करते थे। श्रीमहाप्रभु जी ने जो शिक्षा श्रीसनातनपाद को दी थी, वह सब श्रीतपनमिश्र ने श्रीरूपगोस्वामी को सुनाई उन तीनों के मुख से काशी में होने वाले श्रीमहाप्रभु के चरित्रों को सुनकर श्रीरूप अति आनन्दित हुए। विशेषतः संन्यासियों पर (श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती आदिक संन्यासियों पर) श्रीमहाप्रभु की कृपा-कथा को सुनकर उन्हें अतीव हर्ष हुआ। काशीवासी लोगों में श्रीमहाप्रभु जी के ऊपर अत्यन्त श्रद्धाभाव देखकर उनके मुख से श्रीभगवन्नाम-कीर्त्तन सुन कर श्रीरूपगोस्वामीपाद को असीम सुख हुआ। काशी में दसदिन रहकर श्रीरूपगोस्वामी गौड़देश की ओर चल दिये। श्रीकविराज-गोस्वामी कहते हैं—इस प्रकार मैं ने यहाँ प्रसङ्गवश श्रीरूप–सनातनगोस्वामीपाद का थोड़ा सा चरित्र वर्णन किया है ॥१६८—१७३॥

एथा महाप्रभु यदि नीलाद्रि चलिला। निर्ज्जन बन पथे याइते महासुख पाइला ॥१७४॥
सुखे चलि आइसे प्रभु बलभद्रसङ्गे। पूर्ववत् मृगादिसङ्गे कैल नाना रङ्गे ॥१७५॥
आठारनालाते आसि भट्टाचार्य ब्राह्मणे। पाठाइया बोलाइल निज भक्तगणे ॥१७६॥
शुनि येन भक्तगण पुनरपि जीला। देहे प्राण आइले येन इन्द्रिय उठिला १७७॥
आनन्दे विह्वल भक्त धाइया आइला। नरेन्द्रे आसिया सभे प्रभुरे मिलिला ॥१७८॥

इधर श्रीमहाप्रभु जी काशी से नीलाचल की ओर चले और निर्जन वन के रास्ते में यात्रा करते हुए उन्हें महासुख मिला। श्रीबलभद्र के साथ सुखपूर्वक प्रभु यात्रा कर रहे थे, झारिखण्ड-यात्रा की भाँति अनेक वन पशुओं के साथ कौतुक करते हुए श्रीमहाप्रभु चल रहे थे। जब प्रभु आठारनाला पर आए तो उन्होंने बलभद्र-भट्टाचार्य के सेवक-ब्राह्मण को भेज कर नीलाचल में रहने वाले भक्तों को अपने आगमन की सूचना भेज दी। श्रीमहाप्रभु के आने का समाचार पाकर भक्तगण मानो जी उठे, जैसे मृतक देह में प्राण आने पर इन्द्रियाँ प्रफुल्लित हो उठती हैं। आनन्द में विह्वल होकर सब भक्त वहाँ से दौड़ खड़े हुए और नरेन्द्र सरोवर पर आकर प्रभु से मिले ॥१७४–१७८॥

पुरी-भारतीर कैल प्रभु चरण वन्दन। दोंहे महाप्रभुरे कैल प्रेम-आलिङ्गन ॥१७९॥
दामोदरस्वरूप, पण्डित गदाधर। जगदानन्द, काशीश्वर, गोविन्द, वक्रेश्वर ॥१८०॥
काशीमिश्र, प्रद्युम्नमिश्र, पण्डित दामोदर। हरिदास ठाकुर, आर पण्डित शङ्कर ॥१८१॥
आर सब भक्त प्रभुर चरणे पड़िला। सभा आलिङ्गिया प्रभु प्रेमाविष्ट हैला ॥१८२॥
आनन्द-समुद्रे भासे सब भक्तगणे। सभा लञा चलिला प्रभु जगन्नाथ-दर्शने ॥१८३॥

श्रीपरमानन्द पुरी एवं श्रीब्रह्मानन्द भारती—(श्रीमहाप्रभु के गुरुस्थानीय होने से) इन दोनों के चरणों में श्रीमहाप्रभु ने वन्दना की। दोनों ने प्रभु को प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया। श्रीस्वरूप दामोदर श्रीगदाधर पण्डित, श्रीजगदानन्द, श्रीकाशीश्वर, श्रीगोविन्द, श्रीबक्रेश्वर, श्रीकाशी मिश्र, श्रीप्रद्युम्नमिश्र, श्रीदामोदर पण्डित, श्रीहरिदास ठाकुर, श्रीशङ्कर पण्डित आदि समस्त भक्तों ने श्रीमहाप्रभु के चरणों में प्रणाम की। सब भक्तों को आलिङ्गन कर प्रभु भी प्रेमाविष्ट हो उठे। सब भक्त प्रभु से मिल कर मानों आनन्द के समुद्र में डूब गये। सब भक्तों को साथ लेकर श्रीमहाप्रभु श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करने चले॥

जगन्नाथ देखि प्रभु प्रेमाविष्ट हैला। भक्तसङ्गे बहुक्षण नृत्यगीत कैला॥१८४॥
जगन्नाथ-सेवक आनि माला-प्रसाद दिला। तुलसी पड़िछा आसि चरण वन्दिला॥१८५॥
'महाप्रभु आइला'—ग्रामे कोलाहल हैल। सार्वभौम रामानन्द वाणीनाथ मिलिला सकल॥
सभा सङ्गे लञा प्रभु मिश्रवासा आइला। सार्वभौम पण्डितगोसाञि निमन्त्रण कैला॥
प्रभु कहे—महाप्रसाद आन एइ स्थाने। सभा सङ्गे इहाँ आजि करिब भोजने॥१८८॥
तबे दोंहे जगन्नाथ-प्रसाद आनिल। सभा सङ्गे महाप्रभु भोजन करिल॥१८९॥

श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करके श्रीमहाप्रभु प्रेमाविष्ट होगये एवं अनेक समय तक उन्होंने भक्तों के साथ वहां नृत्य-गीत किया। श्रीजगन्नाथ जी के पुजारी ने प्रसादी-माला आकर प्रभु के गले में डाली। श्रीतुलसी-पड़िछा ने आकर प्रभु के चरणों में नमस्कार किया। "श्रीमहाप्रभु लौट आए हैं"—यह बात समस्त जगन्नाथ पुरी में फैल गई। श्रीसार्वभौम, श्रीरामानन्द, श्रीवाणीनाथ इत्यादि भक्त आकर प्रभु से मिले। सब भक्तों को साथ लेकर प्रभु अपने निवास स्थान पर श्रीकाशीमिश्र के घर आए। श्रीवासुदेव सार्वभौम तथा श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी इन दोनों ने श्रीमहाप्रभु को निमन्त्रण दिया। श्रीमहाप्रभु ने कहा—"आप लोग महाप्रसाद को यहाँ ही ले आओ, आज इन सब भक्तों के साथ साथ मैं भोजन करूंगा।" तब वे दोनों श्रीजगन्नाथ जी का प्रसाद ले आए और श्रीमहाप्रभु ने सब भक्तों के साथ भोजन किया॥

एइ त कहिल प्रभु देखि वृन्दावन। पुनरपि कैल यैछे नीलाद्रिगमन॥१९०॥
इहां येइ श्रद्धा करि करये श्रवण। अचिराते पाय सेइ चैतन्य-चरण॥१९१॥
मध्यलीलार एइ कैल दिग्दर्शन। छय वत्सर कैल यैछे गमनागमन॥१९२॥
शेष अष्टादश वत्सर नीलाचले वास। भक्तगण-सङ्गे करे कीर्त्तन विलास॥१९३॥

ग्रन्थकार श्रीकविराज गोस्वामी कहते हैं—"इस प्रकार श्रीवृन्दाबन देखकर श्रीमहाप्रभु जैसे वापस नीलाचल पहुँचे हैं"—यह प्रसङ्ग मैं ने वर्णन किया है, जो व्यक्ति इसे श्रद्धापूर्वक सुनेगा, उसे शीघ्र ही श्रीचैतन्यदेव के चरणों की सेवा प्राप्त होगी। मैंने यहाँ मध्यलीला का जिस में प्रभु छः वर्ष तक इधर उधर आते-जाते रहे हैं—दिग्दर्शन कराया है। मध्यलीलान्तर्गत शेष के जो अठारह वर्ष हैं, उनमें प्रभु ने नीलाचल में ही वास किया है एवं सब भक्तों के साथ कीर्त्तनादि का आस्वादन किया है" ॥१९३॥

मध्य-लीलारक्रम एबे करि अनुवाद। अनुवाद कैले हय लीलार आस्वाद॥१९४॥
प्रथम परिच्छेदे शेष लीलार सूत्रगण। तहिं मध्ये कोन भागेर विस्तार-वर्णन॥१९५॥
द्वितीय परिच्छेदे प्रभुर प्रलाप वर्णन। तहि मध्ये नानाभावेर दिग्दरशन॥१९६॥

तृतीय परिच्छेदे प्रभुर कहिल सन्न्यास। आचार्येर घरे यैछे करिला विलास ॥१९७॥
चतुर्थे माधवपुरीर चरित्र-आस्वादन। गोपाल-स्थापन क्षीर चुरिर वर्णन ॥१९८॥
पञ्चमे साक्षिगोपाल चरित्र वर्णन। नित्यानन्द कहे, प्रभु करे आस्वादन ॥१९९॥

श्रीकविराज कहते हैं—"अब मैं यहाँ मध्यलीला का क्रमशः अनुवाद अर्थात् उसमें वर्णित विषयों का पुनरुल्लेख करता हूँ, जिससे समस्त लीलाओं का रस-आस्वादन हो जाएगा। प्रथम परिच्छेद में अन्त्य लीला का सूत्र वर्णन किया है एवं उसमें किसी अंश का विस्तारपूर्वक भी उल्लेख किया है। द्वितीय-परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु के प्रेम-प्रलापों का वर्णन किया गया है। उसी प्रसङ्ग में अनेक प्रकार के सात्विक-भावों का दिग्दर्शन कराया गया है। तृतीय परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु के संन्यास की कथा कही गई है एवं श्रीअद्वैताचार्य के घर में जिस प्रकार प्रभु ने लीलाएं की हैं, उसका वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में श्रीमाधवेन्द्र पुरी के चरित्र का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत श्रीगोपाल जी की स्थापना तथा श्रीगोपीनाथ जी की क्षीर-चोरी का चरित्र कहा गया है। पञ्चम परिच्छेद में श्रीसाक्षीगोपाल जी का चरित्र वर्णन है, जिसे श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ने कहा है एवं श्रीमन्महाप्रभु जी ने श्रवण किया है ॥१९४—१९९॥

षष्ठे सार्वभौमेर करिल उद्धारण। सप्तमे तीर्थयात्रा वासुदेव-विमोचन ॥२००॥
अष्टमे रामानन्द संवाद विस्तार। आपने शुनिल सब सिद्धान्तेर सार ॥२०१॥
नवमे कहिल दक्षिण-तीर्थ भ्रमण। दशमे कहिला सर्व वैष्णव-मिलन ॥२०२॥
एकादशे श्रीमन्दिरे वेढ़ा सङ्कीर्त्तन। द्वादशे गुण्डिचामन्दिर मार्ज्जन-क्षालन ॥२०३॥
त्रयोदशे रथ आगे प्रभुर-नर्त्तन। चतुर्दशे होरापञ्चमी-यात्रा-दरशन ॥२०४॥
तार मध्ये ब्रजदेवीर भावेर श्रवण। स्वरूप कहेन, प्रभु करे आस्वादन ॥२०५॥

षष्ठ परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य का उद्धार जिस प्रकार किया, उस कथा का वर्णन है। सप्तम परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु की तीर्थ यात्रा एवं वासुदेव के विमोचन का प्रसङ्ग वर्णित है। अष्टम परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु एवं रायरामानन्द जी का विस्तारपूर्वक संवाद वर्णन है, जिसमें सर्व-सिद्धान्तों के सार को श्रीमन्महाप्रभु ने श्रवण किया है। नवम परिच्छेद में प्रभु की दक्षिण-यात्रा की कथा उल्लिखित है। दशम परिच्छेद में नीलाचल में सब वैष्णवों के साथ श्रीमहाप्रभु का मिलन वर्णित है। एकादश-परिच्छेद में श्रीजगन्नाथ जी-मन्दिर में श्रीमहाप्रभु का महा सङ्कीर्त्तन वर्णन किया गया है। द्वादश परिच्छेद में गुण्डिचा-मन्दिर के मार्ज्जन-क्षालन की कथा है। त्रयोदश परिच्छेद में श्रीजगन्नाथ जी के रथ के सामने श्रीमहाप्रभु का नृत्य वर्णित है। चतुर्दश परिच्छेद में होरा पञ्चमी - यात्रा दर्शन का प्रसङ्ग है। उस प्रसङ्गान्तर्गत ब्रजसुन्दरियों के भावों का श्रीस्वरूपदामोदर जी ने वर्णन किया है एवं उस रस का श्रीमहाप्रभु जी ने आस्वादन किया है ॥२००—२०५॥

पञ्चदशे भक्तेर गुण श्रीमुखे कहिल। सार्वभौमघरे भिक्षा, अमोघ तारिल ॥२०६॥
षोड़शे वृन्दावन यात्रा गौड़देश-पथे। पुन नीलाचल आइला नाटशाला हैते ॥२०७॥
सप्तदशे बनपथे मथुरा-गमन। अष्टादशे वृन्दावन विहार वर्णन ॥२०८॥
ऊनविंशे मथुरा हैते प्रयागे गमन। तार मध्ये श्रीरूपेरे शक्ति सञ्चारण ॥२०९॥

विंशति परिच्छेदे सनातनेर मिलन। तार मध्ये भगवानेर स्वरूपवर्णन ॥२१०॥
एकविंशे कृष्णैश्वर्य-माधुर्य वर्णन। द्वाविंशे द्विविध साधन-भक्ति-विवरण ॥२११॥

पञ्चदश परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु जी ने भक्तों के गुणों का अपने श्रीमुख से गान किया है। श्रीसार्वभौम के घर प्रभु की भिक्षा तथा श्रीअमोघ के उद्धार की कथा भी इसी परिच्छेद में वर्णित है। षोड़श परिच्छेद में गौड़देश के रास्ते श्रीवृन्दाबन-यात्रा की कथा एवं नाटशाला से श्रीमहाप्रभु के नीलाचल वापस लौट आने का वृत्तान्त कहा गया है। सप्तदश परिच्छेद में झारि खण्ड के रास्ते श्रीप्रभु की मथुरा-वृन्दाबन यात्रा का वर्णन किया गया है। अष्टादश परिच्छेद में श्रीवृन्दाबन में श्रीमहाप्रभु के विहार का वर्णन किया गया है। उन्नीसवें परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु के मथुरा से प्रयाग लौट आने की कथा वर्णित है। उसी में ही श्रीमहाप्रभु द्वारा श्रीरूपगोस्वामी में शक्ति सञ्चार का आख्यान भी है। बीसवें परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु के साथ श्रीसनातन गोस्वामी का मिलन वर्णन किया गया है। उसी में ही श्रीभगवान् के स्वरूप-तत्त्व का कथन है। इक्कीसवें परिच्छेद में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य माधुर्य का उल्लेख है एवं बाईसवें परिच्छेद में वैधी एवं रागानुगा—दो प्रकार की साधन-भक्ति का विवरण है ॥२०६–२११॥

त्रयोविंशे प्रेमभक्ति-रसेर कथन। चतुर्विंशे आत्माराम श्लोकार्थ-विवरण ॥२१२॥
पञ्चविंशे काशीवासि वैष्णव-करण। काशी हैते पुन नीलाचले आगमन ॥२१३॥
पञ्चविंशति परिच्छेदेर एइ कैल अनुवाद। याहार श्रवणे हय ग्रन्थार्थ-आस्वाद २१४॥
संक्षेपे कहिल एइ मध्यलीलार सार। कोटि ग्रन्थे वर्णन ना याय इहार विस्तार ॥२१५॥
जीव निस्तारिते प्रभु भ्रमिला देशे देशे। आपनि आस्वादि भक्ति करिल प्रकाशे ॥२१६॥

तेईसवें परिच्छेद में प्रेमभक्ति रस का कथन किया गया है। चौबीसवें परिछेद में "आत्मारामश्च" श्लोक के अर्थों का विवरण है। पच्चीसवें परिच्छेद में श्रीमहाप्रभु ने जिस प्रकार काशीवासियों को वैष्णव किया—वह समस्त कथा वर्णित है एवं प्रभु के काशी से नीलाचल वापस पहुँचने का वृत्तान्त है। इस प्रकार मैंने (श्रीकविराजगोस्वामी ने) मध्यलीला के पच्चीसों परिच्छेदों की विषयसूची का यहां उल्लेख किया है, जिस के सुनने से समस्त ग्रन्थ की लीलाओं का एक साथ आस्वादन हो जाता है। मैंने यहाँ श्रीमन्महाप्रभु की मध्य लीला का सार ही संक्षेप से वर्णन किया है। उनकी इस लीला का विस्तार पूर्वक वर्णन तो कोटि ग्रन्थों में भी नहीं किया जा सकता। जीवमात्र का निस्तार करने के लिये श्रीमन्महाप्रभु ने देश-विदेश में भ्रमण किया। उन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति का स्वयं आस्वादन करते हुए उसका जगत् में भी प्रचार एवं प्रकाश किया ॥२१२–२१६॥

कृष्ण–तत्त्व भक्ति–तत्त्व प्रेम–तत्त्व सार। भावतत्त्व रसतत्त्व लीलातत्त्व आर ॥२१७॥
भागवत–तत्त्वरस करिल प्रचार। 'कृष्ण तुल्य भागवत' जानाइल संसार ॥२१८॥
भक्तलागि विस्तारिल आपन वदने। काहाँ भक्तमुखे कहाइ शुनिला आपने ॥२१९॥
चैतन्य समान आर कृपालु वदान्य। भक्तवात्सल नाहि आर त्रिजगते अन्य ॥२२०॥
श्रद्धाकरि एइ लीला शुन भक्तगण। इहार प्रसादे पावे चैतन्य-चरण ॥२२१॥
इहार प्रसादे पावे कृष्णतत्त्व-सार। सार्वशास्त्र–सिद्धान्तेर इहां पाइबे पार ॥२२२॥

श्रीकृष्णतत्त्व, भक्तितत्व, प्रेमतत्त्व, मूलप्रयोजन तत्त्व, भावतत्त्व, रसतत्त्व, एवं लीला तत्त्व— इन समस्त तत्त्वों का तथा श्रीमद्भागवत-तत्त्व रस का श्रीचैतन्यदेव ने जगत् में सर्वोत्कृष्ट प्रचार किया। उन्होंने जगत् को बतलाया कि श्रीमद्भागवत पुराण-शिरोमणि श्रीकृष्ण के स्वरूप तुल्य है। इन समस्त तत्त्वों को उन्होंने भक्तों के लिये विस्तार पूर्वक वर्णन किया एवं कहीं इन्हें स्वयं भक्तों के मुख से सुना भी श्रीचैतन्यदेव के समान कृपालु, परमोदार, एवं भक्तवत्सल और कोई त्रिभुवन में नहीं है। भक्तगण श्रद्धा-पूर्वक इनकी लीलाओं को सुनकर अतिशीघ्र उनकी कृपा से श्रीचैतन्यदेव की चरण-सेवा को प्राप्त करेंगे। श्रीचैतन्यदेव की कृपा से सर्वसाध्यशिरोमणि श्रीकृष्ण-तत्त्व अर्थात् श्रीकृष्णचरण-सेवा को प्राप्त होंगे। कविराज गोस्वामी कहते हैं कि इस मध्य-लीला में सवशास्त्रों के सिद्धान्तों का सार समावेशित है ॥२२२॥

यथा राग :—

कृष्णलीलामृतसार, तार शतशत धार, दशदिगे बहे याहा हैते।
से चैतन्यलीला हय, सरोवर अक्षय, मन-हंस चराह ताहाते ॥२२३॥

श्रीकविराज कहते हैं—"श्रीकृष्णलीला अमृतसार के सदृश है, जिसकी शत-शत धाराएं दशों दिशाओं में प्रवाहित हो रही हैं। उनका उत्सव श्रीचैतन्य-लीला-रूप एक अक्षय सरोवर है। उस अक्षय सरोवर पर अपने मनरूपी हंस को सदा विचरण कराओ" ॥२२३॥

चैं० च० चु० *टीका* :—उक्त त्रिपदी का तात्पर्य यह है कि यदि कोई श्रीकृष्णलीलामृत-सार का आस्वादन करना चाहता है, तो वह अपने मन को श्रीचैतन्य-लीलारूप अक्षयसरोवर में डुबकी लगवावे, जिससे श्रीकृष्ण-लीलामृत शत-शत धाराएं दशों दिशाओं को प्रवाहित हो रही हैं। उस चैतन्यलीला सरोवर में प्रवेश करने से श्रीकृष्ण-लीलामृत धाराओं का मज्जन-आस्वादन अनायास ही प्राप्त हो जाएगा। वस्तुतः श्रीचैतन्यलीला में डुबकी लेने से ही श्रीकृष्णलीला की स्फूर्त्ति हो सकती है।

भक्तगण ! शुन मोर दैन्य-वचन।
तोमासभार पदधूलि, अङ्गे विभूषण करि, किछु मुञि करों निवेदन ॥ध्रु॥२२४॥
कृष्ण–भक्ति–सिद्धान्तगण, याते प्रफुल्ल पद्मबन, तार मधु कर आस्वादन।
प्रेमरस–कुमुद–बने, प्रफुल्लित रात्रि-दिने, ताते चराओ मनोभृङ्गगण ॥२२५॥

हे भक्तगण ! आप मेरे दीनतापूर्ण वचनों को श्रवण कीजिये। आप सबके चरणों की धूलि को अपने अङ्गों का भूषण करते हुए मैं कुछ निवेदन करता हूँ। श्रीचैतन्य-लीलारूप अक्षय सरोवर में श्रीकृष्ण-भक्ति-विषयक जितने सिद्धान्त समूह हैं—वही प्रफुल्लित कमलों का वन है, उसके मकरन्द का आप आस्वादन करिये। इस सरोवर में प्रेमरसरूपी कुमुद-वन दिनरात प्रफुल्लित हो रहा है, उसमें अपने मनरूपी भँवरे को विचरण कराओ ॥२२४—२२५॥

नानाभावे भक्तजन, हंस-चक्रवाकगण, याते सभे करेन विहार।
कृष्णकेलि सुमृणाल, याहां पाइ सर्वकाल, भक्तहंस करये आहार ॥२२६॥
सेइ सरोवरे गिया, हंस-चक्रवाक हैया, सदा ताहां करह विलास।
खण्डिवे सकल दुख, पाइवे परम सुख, अनायासे हवे प्रेमोल्लास ॥२२७॥

(दास्य, सख्यादि) अनेक भावों के जो भक्तजन हैं, वही हंस, चक्रवाकादि हैं, जो इस सरोवर पर सदा विहार करते हैं। श्रीकृष्ण-केलिसुन्दर मृणाल हैं जो सर्वदा इस सरोवर में वर्त्तमान रहते हैं। भक्त-रूपी हंस सदा उनका आहार करते हैं। आप भी हंस-चक्रवाक रूप होकर इस सरोवर पर जाकर सदा विलास करिये। इससे समस्त दुःखों का नाश होगा एवं परम सुख की प्राप्ति होगी जिससे अनायास ही प्रेम की प्राप्ति हो जाएगी ॥२२६—२२७॥

चौ० च० चु० टीका :—त्रिपदी २२५ में कृष्ण-भक्ति सिद्धान्तों को कमल-बन की उपमा दी गई है और त्रिपदी २२६ में श्रीकृष्णलीला को मृणाल कहा गया है। एवं भक्तगणों को हंस-चक्रवाल के सदृश वर्णन किया है। तात्पर्य यह है कि जैसे कमल सदैव मृणाल का अवलम्बन लेकर अवस्थान करता है। उसी प्रकार भक्तिसिद्धान्त समूह भी श्रीकृष्णलीला के ऊपर प्रतिष्ठित होता है। अतः जो सिद्धान्त श्रीकृष्ण-लीला के आश्रित नहीं है, श्रीकृष्णलीला द्वारा समर्थित नहीं है—वह सिद्धान्त निराधार है एवं उसे सुसिद्धान्त नहीं कहा जा सकता।

और फिर जैसे कमल को लक्ष्य करके अग्रसर होने पर मृणाल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार भक्ति-सिद्धान्त के प्रति लक्ष्य करके जो भक्तिमार्ग में अग्रसर होता है, उसे ही श्रीकृष्णलीला का सन्धान या प्राप्ति हो सकती है। कमल को लक्ष्य रखे बिना सरोवर में उतर पड़ने से जैसे मृणाल-प्राप्ति की सम्भावना नहीं होती, उसी प्रकार भक्तिसिद्धान्त-शास्त्र की उपेक्षा करके मन-माना भजन करने से श्रीकृष्णलीला की प्राप्ति या उसमें प्रवेश होना असम्भव ही है, अधिकन्तु अनेक उत्पातों की उत्पत्ति होती है।

हंस जब सरोवरों पर विहार करते हैं, तब उन्हें मृणालों का ही आहार मिलता है, उसी प्रकार भक्तगण जब श्रीगौर-लीलारूप सरोवर पर विहार करेंगे, तब उन्हें श्रीकृष्ण-लीलारूप मृणाल का आहार मिलेगा, अर्थात् श्रीगौर-लीला में प्रवेश करने पर ही साधक श्रीकृष्ण-लीला का आस्वादन कर सकेगा, जिससे समस्त दुखों का नाश एवं परम सुख की प्राप्ति होगी तथा प्रेम-प्राप्ति पूर्वक श्रीकृष्ण-चरण-सेवा प्राप्त कर कृतार्थ हो जाएगा।

एइ अमृत अनुक्षण, साधु महान्त मेघगण, विश्वोद्याने करे वरिषण।
ताते फले प्रेमफल, भक्त खाय निरन्तर, तार शेषे जीये जगजन ॥२२८॥
चैतन्यलीलामृतपूर, कृष्णलीला–सुकर्पूर, दोंहे मिलि हय सुमाधुर्य।
साधुगुरु प्रसादे, ताहा येइ आस्वादे, से–इ जाने माधुर्य–प्राचुर्य ॥२२९॥

उस लीलारूप अमृत को साधु-महत्पुरुष मेघ बन कर (अर्थात् मेघ की भाँति माया जगत् से ऊंचे व परे रह कर, मेघ की भाँति समान दृष्टि पूर्वक) विश्वरूप बगीचा में निरन्तर वर्षण कर रहे हैं। उस लीलामृत की वर्षा से प्रेमफल फलित होता है, जिसे भक्तगण निरन्तर आस्वादन करते हैं। फिर भक्तगणों के प्रसाद को आस्वादन कर जगत् के अन्यान्य लोग भी जीवन प्राप्त करते हैं, अर्थात् भक्तगणों की कृपा से उनके सङ्गवर्त्ती व्यक्ति भी उस प्रेमफल की प्राप्ति कर के कृतार्थ हो जाते हैं। श्रीचैतन्य-लीला अमृत का सागर है एवं श्रीकृष्ण-लीला सुन्दर सुगन्धित कर्पूर है। इन दोनों के मिलन से एक अद्भुत माधुर्य निष्पन्न होता है। उस माधुर्य को साधु एवं गुरुदेव की कृपा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, उस श्रीश्रीगौर-श्रीकृष्ण-लीलामृत-माधुर्य का स्वाद अनिर्वचनीय है, एवं असीम है। उसे केवल वह ही अनुभव कर सकता है, जो उसका आस्वादन करता है ॥२२८—२२९॥

ये लीला-अमृत बिने, खाय यदि अनुपाने, तभु भक्तेर दुर्बल जीवन ।
यार एक बिन्दु पाने, प्रफुल्लित तनु-मने, हासे गाय करये नर्त्तन ॥२३०॥
ए अमृत कर पान, याहा सम नाहि आन, चित्ते करि सुदृढ़ विश्वास ।
ना पड़ कुतर्क-गर्त्ते, अमेध्य कर्कशावर्त्ते, याते पड़िले हय सर्वनाश ॥२३१॥

जो साधक भक्त श्रीश्रीगौरकृष्ण-लीलारूप अमृत के (औषधि के) सेवन बिना केवल अनुपान (श्रवण-कीर्त्तनादि का अनुष्ठान मात्र) सेवन करता रहता है, उस भक्त का जीवन अर्थात् भक्ति (रागानुगीय-भजन) दुर्बल ही (पुष्टि-रहित) रह जाता है। परन्तु श्रीश्रीगौर-कृष्णलीलामृत की एक बिन्दु मात्र आस्वादन करने से साधक का तन-मन प्रफुल्लित हो उठता है एवं वह प्रेमोन्मत्त होकर कभी हँसने, कभी गाने एवं कभी नृत्य करने लगता है। ग्रन्थकार कहते हैं—"अतः इस लीलामृत का, हे साधकगण ! नित्य पान करिये, इसके समान और कोई साध्यवस्तु नहीं है—इस बात का चित्त में दृढ़ विश्वास करिये। (सावधान रहिये) भक्ति विरोधी कुतर्करूप गर्त्त में, जो अपवित्र दुर्गन्धमय विष्ठा के आवर्त्त (भवँर) के समान है, मत जा पड़ना। उस कुतर्करूप गर्त्त में फँस जाने से तुम्हारा सर्वनाश हो जाएगा, अर्थात् भक्तिरानी अन्तर्हित हो जाएगी ॥२३०—२३१॥

चै० च० चु० *टीका* :—एक औषधि होती है और एक अनुपान, अर्थात् जिसके साथ औषधि का सेवन किया जाता है। औषधि उचित अनुपान के साथ प्रयोग करने पर ही रोगी को पूर्ण लाभ हुआ करता है। यदि कोई रोगी अनुपान के बिना औषधि का सेवन करता है, तो उसे यथेष्ठ लाभ नहीं हुआ करता। और यदि कोई औषधि न लेकर केवल अनुपान का ही सेवन करता है, तो उसे भी कुछ लाभ की प्राप्ति नहीं होती।

इसी प्रकार उक्त त्रिपदी में श्रीगौरलीला को अमृत अर्थात् औषधि रूप कहा गया है और श्रीकृष्णलीला को उसका अनुपान स्थानीय कहा गया है। अथवा श्रीकृष्णलीला को औषधिरूप एवं श्रीगौरलीला को अनुपान स्थानीय कहा गया है। केवल औषधि या केवल अनुपान का सेवन करने से जिस प्रकार रोगी को यथेष्ठ लाभ नहीं होता, उसी प्रकार केवल श्रीगौरलीला या केवल श्रीकृष्णलीला के स्मरण से साधकभक्त की भक्ति यथेष्ठ रूप से पुष्टि प्राप्त नहीं करती। इन दोनों लीलाओं का एक साथ स्मरण ही साधक के भजन को निश्चित रूप से पुष्ट करता है एवं अभीष्ट फल की प्राप्ति कराता है।

अथवा श्रीश्रीगौर-कृष्ण लीलामृत (दोनों ही लीलाएँ) औषधि स्थानीय हैं। अर्थात् रागानुगीय भजन में अन्तश्चिन्तित देह से उभय-लीलाओं का साथ साथ स्मरण करना ही मुख्य साध्य वस्तु है, एवं यथावस्थित देह से जो कि श्रवण-कीर्त्तनादि नवविधा भक्ति अङ्गों का अनुष्ठान है, वह मुख्य वस्तु का पोषक अर्थात् अनुपान है। अतः यदि कोई साधक लीला स्मरण के बिना केवल श्रवण-कीर्त्तनादि अङ्गों का आचरण करता है, तो उसकी भक्ति दुर्बल ही रह जाती है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि इन दोनों के अर्थात् लीला स्मरण के साथ-साथ श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति अङ्गों का अनुष्ठान करना एक साधक भक्त के लिये परमावश्यक है।

साधक को भक्तिविरोधी वादविवाद अथवा कुतर्क आदि से बचना अत्यावश्यक है। इस प्रकार की कुतर्कों में फँसने से भक्ति अन्तर्हित हो जाती है, जिससे समस्त साधन भजन ही नहीं अपितु साधक के जीवन ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। यही उपर्युक्त त्रिपदी-द्वै का अभिप्राय है।

श्रीचैतन्य-नित्यानन्द, अद्वैतादि भक्तवृन्द, आर यत श्रोताभक्तगण ।
तोमासभार श्रीचरण, करि शिरे विभूषण, याहा हैते अभीष्टपूरण ॥२३२॥

श्रीरूप, सनातन, रघुनाथ-जीवचरण, शिरे धरि, यार करों आश ।
कृष्ण-लीलामृतान्वित, चैतन्य-चरितामृत, कहे किछु दीन कृष्णदास ॥२३३॥

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी कहते हैं-"हे श्रीचैतन्यदेव ! हे श्रीनित्यानन्द प्रभो ! हे श्रीअद्वैताचार्य प्रभो ! हे श्रीगौरभक्तवृन्द ! एवं हे भक्त-श्रोतागण ! मैं आप सब के श्रीचरणों की धूलि को अपने मस्तक पर भूषण सदृश धारण करता हूँ, जिससे समस्त अभीष्टों की पूर्त्ति होती है । श्रीरूपगोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, श्रीजीवगोस्वामी जी के श्रीचरण कमलों को शिर पर धारण करने की अभिलाषा करते हुए मैं दीन कृष्णदास श्रीकृष्णलीलामृत से पूर्ण इस श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत का गान करता हूँ ॥२३२—२३३॥

श्रीकविराज गोस्वामी श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ को अपने श्रीइष्टदेव को समपर्ण करते हुए कहते हैं :—

श्रीमन्मदनगोपाल गोविन्ददेव तुष्टये ।
चैतन्यार्पितमस्त्वेतच्चैतन्यचरितामृतम् ॥४८॥

यह श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत श्रीमन्मदन-गोपाल की एवं श्रीश्रीगोविन्ददेव की प्रसन्नता के लिये श्रीचैतन्यदेव के अर्पण हो—यही मेरी प्रार्थना है ॥४८॥

तदिदमतिरहस्यं गौरलीलामृतं यत्,
खलसमुदयकोलैर्नादृतं तैरलभ्यम् ।
क्षतिरिहमिह का मे स्वादितं यत् समन्तात्,
सहृदयसुमनोभिर्मोदमेषां तनोति ॥४६॥

यह श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत अति गोपनीय रहस्यमय है । इस अमृत का दुष्ट पुरुष रूप शूकरसमूह आदर नहीं करेंगे, अतः यह उनके लिये अलम्भ वस्तु है । किन्तु इसमें मेरी क्या क्षति है ? (अर्थात् मेरी कुछ क्षति नहीं है ।) क्योंकि यह लीलामृत साधुचित्त एवं निर्मल मन सत्पुरुषों द्वारा आस्वादित होकर सर्वतोभावेन उनको आनन्द प्रदान करने वाला है ॥४६॥

इति श्रीश्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां [द्वितीयखण्डे]
काशीवासिवैष्णवकरण पुनर्नीलाचलगमनं नाम
पञ्चविंशति परिच्छेदः ॥२५॥

इस प्रकार श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत-मध्यलीला की
श्रीश्यामदासकृत 'चैतन्य—चरण—चुम्बिनी'—टीका
समाप्त हुई ॥

हे चैतन्य कृपालु हरे ! करुणाकर सफल प्रयास करो ।
अक्षय सरवर चरितामृत को, यामें प्रभो ! नित्य विलास करो ॥
रसराजमयी, महाभावमयी निज माधुरी हृदय प्रकास करो ।
जन 'श्यामदास भव, त्रास हरो, पदपङ्कज को नित्य-दास करो ॥

श्री हरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल श्रीधाम–वृन्दावन

का

अष्टम भावी-प्रकाशन

श्री श्री चैतन्यचरितामृत

अन्त्य-लीला (शेषखण्ड)

यह खण्ड अति शीघ्र ही पाठकवृन्द के हाथों में आ रहा है। श्रीललितमाधव–नाटक एवं श्रीविदग्धमाधव–नाटक के प्रसङ्ग, श्रीमन्महाप्रभुजी की गम्भीरा-लीला जिसमें महाभाव–स्वरूपिणी श्रीराधिका जी के प्रेमोन्मत्त तथा दिव्योन्मादमय भावों का अशेष–विशेष रसास्वादन है, इस खण्ड में वर्णित हैं। समग्र श्री श्री चैतन्यचरितामृत तथा चैतन्य–चरण–चुम्बिनी टीका में उल्लिखित परिभाषिक शब्दों की आनुक्रमिक–सूची (Index) पृष्ठ-परिचय के साथ इस खण्ड में प्रकाशित की जा रही है जो इसकी अपूर्व विशेषता है।

निवेदक—

श्री श्यामलाल हकीम

श्रीधाम–वृन्दावन

श्री हरिनामसङ्कीर्त्तन मण्डल श्रीधाम-वृन्दावन

का

नवम भावी-प्रकाशन

श्री वृन्दावन-महिमामृतम्

(११ से १७ शतक)

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती पाद रचित श्रीवृन्दावन-महिमामृतम् ग्रन्थ के १ से १० शतक मूल एवं हिन्दी अनुवाद के साथ पहले प्रकाशित किये जा चुके हैं। अब ११ से १७ शतक तक के शेष सात शतक अति शीघ्र प्रकाशित होने की आशा है।

परम रस-स्वरूप श्रीधाम-वृन्दावन की माधुर्यैश्वर्यमयी स्वरूप झांकी का साक्षात् दर्शन करने के लिये 'श्रीवृन्दावन-महिमामृतम्'-ग्रन्थ से बढ़कर और कोई भी ग्रन्थ न आज तक रसिकों को मिला और न मिलेगा। रसिक समाज अति शीघ्र पूर्ण सत्रहों खण्ड मँगाने की कृपा करें।

निवेदक—

श्री श्यामलाल हकीम

श्रीधाम-वृन्दावन

श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल श्रीधाम-वृन्दावन

द्वारा प्रकाशित

गौड़ीय वैष्णव साहित्य

●

	नाम ग्रन्थ	न्यौछावर
१.	भक्त-भाव-संग्रह ...	०·५०
२.	श्रीवृन्दावन-महिमामृतम् (१ से २ शतक)	०·६२
३.	श्रीवृन्दावन-महिमामृतम् (३ से ४ शतक)	०·६२
४.	श्रीवृन्दावन-महिमामृतम् (५ से १० शतक)	१·५०
५.	श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न-संग्रह (भूमिका)	२·५०
६.	श्री श्रीचैतन्यचरितामृत (आदिलीला)	५·००
७.	श्री श्रीचैतन्यचरितामृत (मध्यलीला सजिल्द) प्रस्तुत ग्रन्थ	१५.००
८.	श्री श्रीचैतन्यचरितामृत (अन्त्यलीला)	(प्रेस में)
९.	श्रीवृन्दावन-महिमामृतम् (११ से १७ तक)	(प्रेस में)

प्राप्ति स्थान—

श्री श्यामलाल हकीम,

श्रीधाम-वृन्दावन।